जैन चरित्र कोश

आचार्य सुभद्र मुनि

जैन चरित्र कोश

[जैन इतिहास के 1825 चरित्रों की प्रस्तुति]

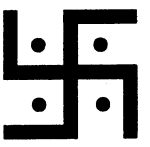

लेखक :

संघशास्ता जैन शासन-सूर्य गुरुदेव

मुनि श्री रामकृष्ण जी महाराज

के सुशिष्य

विद्यावाचस्पति आगमरत्नाकर गुरुदेव

आचार्य श्री सुभद्र मुनि जी महाराज

सम्पादक :

मुनिरत्न श्री अमित मुनि जी महाराज

प्रकाशक :

यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन

7/31, अंसारी रोड, दरिया गंज, दिल्ली

पुस्तक	:	**जैन चरित्र कोश**
लेखक	:	विद्यावाचस्पति गुरुदेव आचार्य श्री सुभद्र मुनि जी म.
सम्पादक	:	मुनिरत्न श्री अमित मुनि जी म.
सह सम्पादक	:	श्री विनोद शर्मा
आवृत्ति	:	2006
प्रकाशक	:	यूनिवर्सिटी पब्लिकेशन 7/31, अंसारी रोड, दरिया गंज, दिल्ली ISBN : 81-7555-131-3
मूल्य	:	1500 रुपये मात्र

© सर्वाधिकार सुरक्षित

समर्पण

जिनके पावन मुखारविन्द से मैंने
अपने बचपन में
जैन चरित्रों कथा-कहानियों को
सुना!
उन परम श्रद्धेय प्रातः स्मरणीय
गुरुदेव योगिराज श्री रामजीलाल जी महाराज
को
पराश्रद्धा पराभक्ति के साथ
सादर समर्पित

– आचार्य सुभद्र मुनि

लेखक की विशिष्ट कृतियां

- अहिंसा विश्वकोष (भाग 1-2-3)
- जैन एवं वैदिक धर्म की सांस्कृतिक एकता
- श्री उत्तराध्ययन सूत्र
- विश्ववन्द्य महावीर
- मैं सब का मित्र हूँ
- मैं महावीर को गाता हूँ

❖❖❖

दो शब्द

साहित्य की विविध विधाओं में कहानी (चरित्र) सर्वाधिक सरस, सरल और सुगम विधा है। इसमें पठित, अपठित, बाल-युवा-वृद्ध सभी का समान रूप से प्रवेश होता है। कहानी की कई विशेषताओं में प्रथम विशेषता यह है कि सुनते- पढ़ते ही यह स्मरण हो जाती है। इसे स्मरण करने के लिए अतिरिक्त बौद्धिक व्यायाम की अपेक्षा नहीं होती है। दूसरी प्रमुख विशेषता कहानी की यह है कि उससे पाठक/श्रोता को सद्संस्कारों और सुशिक्षाओं का अमूल्य उपहार सहज ही प्राप्त हो जाता है। यही कारण है कि जीवन विकास के प्रथम पल से ही विश्व मानव में कहानी के प्रति सहज आकर्षण रहा है।

प्रारंभ में कहानी श्रवण का विषय रही। कालांतर में लेखन और पठन का विषय बनी। ऐतिहासिक तथ्यों का यदि अनुशीलन किया जाए तो जैन परम्परा में एक हजार वर्ष से भी अधिक समय पूर्व कथा-कहानी का साहित्यिक लेखन प्रारंभ हो गया था जो अद्यतन गतिमान है। वर्तमान में कथाओं, कहानियों और संक्षिप्त चरित्रों की सैकड़ों पुस्तकें जैन परम्परा में उपलब्ध हैं। पर ऐसा कोई ग्रन्थ दृष्टि में नहीं आया जो जैन परम्परा में प्रचलित सभी प्रमुख कहानियों को एक ही कलेवर में उपलब्ध कराए। इस रिक्तता को श्रद्धेय गुरुदेव आचार्य श्री सुभद्र मुनि जी ने प्रस्तुत ग्रन्थ के माध्यम से पूर्ण कर एक ऐतिहासिक और प्रशंसनीय कार्य किया है। पूज्य आचार्य श्री ने सैकड़ों आधार ग्रन्थों का अध्ययन कर प्रस्तुत विशाल चारित्र ग्रन्थ का प्रणयन किया है। अत्यन्त संक्षिप्त शैली रखते हुए भी पूज्य श्री ने चित्रित चरित्र के समस्त पक्षों को स्पर्श करने का सफल प्रयास किया है।

कथा और चरित्र ग्रन्थों की शृंखला में प्रस्तुत 'जैन चरित्र कोश' अपना एक विशिष्ट स्थान बनाएगा ऐसा विश्वास है।

– डॉ. महेश जैन

स्वकथ्य

कथा/कहानी/चरित्र का पठन/श्रवण एक सरस विषय रहा है। अत्यंत प्राचीन काल से ही कथा-कहानियां मानव को सरस रूप में शिक्षा और संदेश देती रही हैं। छोटे से शिशु से लेकर वृद्ध तक में कथा के प्रति रुचि होती है। इसका कारण है कि कथा एक दर्पण के समान होती है। कथा का पाठक अथवा श्रोता कथा में वर्णित चरित्र के गुण-दोषों और उनके प्रभावों को हृदयंगम कर आत्मदर्शन द्वारा आत्मपरिष्कार कर सकता है। कथा की यह विशेषता होती है कि वह पाठक/श्रोता को आदेश-उपदेश न देकर उसके समक्ष आत्मचिंतन और मनोमंथन का विशाल अंतरिक्ष प्रस्तुत करती है। कथा का यही कमनीय पक्ष सहस्राब्दियों से मानव मन को आन्दोलित करता रहा है। अन्य की न कह कर अपने ही जीवन से जुड़ी बात कहूं, अनन्त पुण्यों से प्राप्त होने वाला संयम रूपी रत्न मुझे कथा के माध्यम से ही प्राप्त हुआ। शैशवावस्था से ही नई-नई कथा सुनने की सघन रुचि मेरे अन्तर्मन में थी। कथा श्रवण की मेरी रुचि ही मुझे गुरुदेव योगिराज की व्याख्यान सभा तक खींच ले गई। गुरुदेव योगिराज एक सुमधुर कथाकार थे। उनकी कथाओं के आकर्षण से मेरा मन बंध गया। फिर राग-अनुराग के पथों से यात्रा करते विराग का द्वार जीवन में उद्घाटित हुआ।

आगम-आगमेतर साहित्य का अध्ययन करते हुए पाता हूं कि असंख्य भव्य जीवों के लिए कथा महाजीवन का द्वार बनी है। कथा का यही पक्ष प्रारंभ से ही मुझे उर्मिगित, तरंगित और उत्साहित करता रहा है। परिणामस्वरूप कई कथा संकलन मैंने प्रस्तुत किए। इनमें कई पुस्तकों का प्रणयन बाल-पाठकों को लक्ष्य में रख कर किया तो 'गुरुदेव योगिराज की कहानियां' आदि कथा ग्रन्थों का लेखन प्रौढ़ कथा-पाठकों को लक्ष्य में रख कर किया गया।

मेरे द्वारा प्रस्तुत कथा-पुस्तकों से श्रद्धेय गुरुदेव मुनि श्री रामकृष्ण जी प्रसन्न तो थे पर सन्तुष्ट न थे। वे चाहते थे कि संक्षेप शैली में प्रामाणिक रूप में ऐतिहासिक व पौराणिक कथाओं का एक ऐसा कोश तैयार किया जाए जिससे पाठक शब्दकोश की भांति जिस कथा को चाहें उसे तत्क्षण पढ़ सकें। श्रद्धेय गुरुदेव के इस भावादेश को लक्ष्य बनाकर मैंने इस दिशा में कार्य प्रारंभ किया। निःसंदेह यह एक श्रम-साध्य कार्य था, पर गुरु महाराज की कृपा से यह सरलतापूर्वक मैंने पूर्ण किया।

चरित्र कोश

'चरित्र' शब्द 'चर्' धातु में 'इत्र' प्रत्यय जुड़कर बना है। 'चर्' अर्थात् चलना। मूलतः इसके अर्थ में किसी भी पदार्थ या जीव का हिलना-डुलना भी शामिल है पर मनुष्य के साथ जुड़कर 'चलना' एक साधारण क्रिया नहीं रह जाती। दिशा और उद्देश्य का भाव उसमें सम्मिलित हो जाता है। यह स्वभाव का पर्याय बन जाती है। मनुष्य का चलना मुख्यतः दो प्रकार के मार्गों पर ही होता है—सन्मार्ग और उन्मार्ग। 'चरित्र' शब्द का प्रयोग दोनों मार्गों पर चलने वालों के लिए किया जाता रहा है। सदाचारी के लिए प्रशंसा और दुराचारी के लिए व्यंग्य के रूप में। 'आचरण' और 'चालचलन' इसी शब्द के सहोदर हैं।

सदाचारी को चरित्रवान् और दुराचारी को चरित्रहीन कहना बताता है कि 'चरित्र' शब्द के प्रयोग ने केवल नैतिक आचरण का अर्थ भी दिया। चरित्रवान् का अर्थ हुआ नैतिक आचरण से युक्त और चरित्रहीन का अर्थ हुआ नैतिक आचरण से रहित। भाव के रूप में हो या अभाव के रूप में, इतना निश्चित है कि प्रत्येक अर्थ में नैतिकता बद्धमूल रही। अतः प्रस्तुत ग्रंथ के लिए 'जैन व्यक्ति कोश' या अन्य किसी नाम के स्थान पर 'जैन चरित्र कोश' नाम अधिक उचित समझा गया। इस भाव से भी कि इसका प्रत्येक चरित्र आत्मोत्थान की दृष्टि से प्रेरक हो। उसे जानना केवल जानने के लिए बनकर न रह जाए। सकारात्मक चरित्र जीवन के ग्राह्य स्वरूप द्वारा आत्मोत्थान की प्रेरणा दें और नकारात्मक चरित्र त्याज्य स्वरूप द्वारा। इस प्रकार उस विवेक का पथ प्रशस्त हो, जो तीर्थंकर-देशना का निर्णायक प्रतिपाद्य रहा है।

'चरित्र' शब्द का प्रयोग कथा-साहित्य में पात्र के लिए भी होता रहा है। एक गद्य-विधा के रूप में हिन्दी कहानी की शुरुआत भले ही बीसवीं सदी के प्रारंभ में रची गई किशोरीदास गोस्वामी की 'इंदुमती', बंगमहिला की 'दुलाईवाली' या रामचंद्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' आदि कहानियों से मानी जाती हो परंतु लोककथाओं की सुदीर्घ परंपरा बताती है कि कहानी और मनुष्य का वास्तविक साहचर्य काफी पुराना रहा है। संस्कृत और प्राकृत साहित्य में कथाओं का महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

तीर्थंकरों ने सरलता से ज्ञान को अनुभव कराने के लिए विविध प्रसंगों का उपयोग देशना में किया है। उपासकदशांग, ज्ञाताधर्मकथांग, विपाक, अंतकृद्दशांग, निरयावलिका, उत्तराध्ययन आदि आगमों में तीर्थंकर महावीर की वाणी संकलित है। इन सभी में धर्म का प्रभावक आख्यान करने वाली सहस्त्रों कथाओं एवं चरित्रों का संचयन हुआ है। आगम

साहित्य के अतिरिक्त चूर्णि और निर्युक्ति साहित्य कथाओं का एक विशाल कोश है। इसमें ऐतिहासिक, पौराणिक और उपदेशात्मक सहस्त्रों कथाएं हैं।

वास्तव में कथाओं को जन्म दिया मनुष्य के जिज्ञासा-भाव ने। अत: रूप उनका चाहे जो रहा हो पर वे पुरानी उतनी ही हैं, जितनी कि जिज्ञासा-वृत्ति। वे तभी से चली आ रही हैं, जब से कहने-सुनने की परंपरा। दूसरी बात यह है कि उनमें पात्रों का स्थान भी तभी से चला आ रहा है। किसी न किसी के बारे में तो कहानी कही या लिखी ही जाएगी न! वही उसके पात्र हैं। पात्रों के बिना कहानी उसी तरह संभव नहीं हो सकती, जिस तरह मनुष्यों के बिना जीवन का श्रेष्ठतम रूप।

मनुष्य ही हैं, जो जीवन से कथाओं में जाकर उनके पात्र बनते रहे हैं और उन्हें संभव करते रहे हैं। पात्र काल्पनिक हों तो भी कथाकार प्रयास यही करता है कि वे अधिक से अधिक जीवंत हों। गढ़े हुए या बनावटी न लगें। जीवंत अर्थात् जीवन के अधिक से अधिक निकट। स्वाभाविक और विश्वसनीय। मतलब यह कि पात्र कल्पना से आए हों तो भी उनकी सार्थकता का प्रतिमान है जीवन ही। जीवन से और जीवन के लिए होना ही उनका जीवन है।

कहानी पात्रों की होती है। पात्रों से बनती है। फिर भी वह पात्रांकन नहीं कहलाती, कहानी कहलाती है। कारण यह कि पात्रों का वह उपयोग करती है कथारस तैयार करने के लिए। उद्देश्य पात्रों का जीवन-परिचय देना नहीं है। उद्देश्य है—कथारस तैयार करना। कहानी बनाना। ऐसे में कहानी की जरूरत के अनुसार पात्रों के जीवन में परिवर्तन किया जा सकता है। किया जाता है। कहानी-कला की दृष्टि से यह वांछनीय है पर क्या पात्रों की दृष्टि से भी वांछनीय है?

सचमुच के मनुष्य पात्र बनकर कहानी को जन्म देते हैं और उसके लिए कुर्बान हो जाते हैं। सवाल यह है कि उनके जीवन को सच्चाई और पूर्णता के साथ साहित्य में अभिव्यक्त होना चाहिए या नहीं? ऐसी अभिव्यक्ति से साहित्य और समृद्ध होगा, इसमें कोई संदेह नहीं। इसलिए सवाल यह भी है कि साहित्य की कौन-सी विधा है, जो इस अभिव्यक्ति को संभव करती है?

संस्मरण एक व्यक्ति का वास्तविक जीवन उतना नहीं होता, जितना संस्मरण- लेखक के मन पर पड़ा हुआ उसका प्रतिबिम्ब होता है। आत्मीयता, मार्मिकता आदि संस्मरण के प्रयोजन हैं। रेखाचित्र का संबंध व्यक्ति के शब्द-चित्र से है पर उसके लिए चित्रात्मक कुशलता व्यक्ति के संपूर्ण जीवन से अधिक महत्वपूर्ण है। आत्मकथा अपनी ही हो

सकती है। जीवनी एक ही व्यक्ति की होती है और पाठक से भरपूर समय मांगती है। वास्तविकता यह है कि साहित्य की कोई भी विधा संक्षेप में वैविध्यपूर्ण मनुष्य जीवन की वास्तविकता का पूरी तरह अंकन करने को अपना उद्देश्य नहीं मानती।

चरित्र लेखन की जरूरत और महत्व का प्रारंभ यहीं से होता है। प्रस्तुत कोश को इस दृष्टि से भी देखा जाना चाहिए कि चरित्र-लेखन की कोई स्वतंत्र विधा भी साहित्य में हो सकती है या नहीं। मैं समझता हूं–यह एक स्वतंत्र विधा है। जनमानस में प्रतिष्ठित व्यक्तियों का सारगर्भित व्यक्तित्व सहजता और सरलता के साथ संक्षेप में उद्घाटित करने वाली विधा। यद्यपि इस रूप में उसकी चर्चा लगभग नहीं की गई है परंतु कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र द्वारा रचित तरेसठ महान् व्यक्तित्वों के चरित्र प्रस्तुत करने वाला 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र' वस्तुतः इसी विधा का सूत्रपात करने वाला एक सक्षम ग्रंथ है। इस विधा की परंपरा को जितनी ऊर्जा के साथ आगे बढ़ना चाहिए था, उतनी ऊर्जा के साथ आगे वह बढ़ नहीं सकी। प्रस्तुत कोश के माध्यम से मैंने प्रयास किया है कि एक कदम ही सही, वह परंपरा आगे बढ़े। जहां तक मैं जानता हूं, इससे पूर्व कोई और जैन चरित्र कोश सामने नहीं आया है। इस दृष्टि से इसे पहला कोश भी कहा जा सकता है।

अधिकांशतः कथाओं या प्रसंगों के रूप में ही चरित्रों को प्रस्तुत किया जाता रहा है। कोश भी कथाओं के ही अधिक सामने आए। दसवीं-ग्यारहवीं सदी के आचार्य हरिषेण का 'बृहत्कथा कोश', बारहवीं सदी के प्रभाचंद्र का 'कथा कोश', बारहवीं सदी के ही जिनेश्वर सूरि के 'कथाकोश प्रकरण' एवं 'कथानक कोश' ऐसे ही कुछ उदाहरण हैं। कथाओं के क्षेत्र में काफी काम हुआ है। श्री धर्मदास गणि, जयसिंह सूरी, आचार्य हरिभद्र प्रभृति विद्वान मुनीश्वरों ने कथा-साहित्य की भरपूर रचना की है।

आधुनिक युग के भी कई मनीषी मुनियों द्वारा सरल हिंदी में कथा-शृंखलाएं रचित और प्रकाशित हुई हैं। राजस्थान केसरी उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज की 'जैन कथाएं', युवाचार्य श्री मधुकर मुनि जी महाराज की 'जैन कथामाला', प्रवर्तक श्री रमेश मुनि जी म. की 'प्रताप कथा कौमुदी', श्वेताम्बर तेरापंथ के विद्वान मुनिराज श्री महेंद्र मुनि जी महाराज 'प्रथम' की 'जैन कहानियां' ऐसी ही शृंखलाएं हैं। इनके अतिरिक्त भी अन्य अनेक साधु-साध्वियों ने कथाओं की अनेक प्रस्तुतियां की हैं।

चरित्रों का स्थान सभी कथाओं में अक्षुण्ण रहता ही है और इन सभी कथा-रचनाओं में भी रहा है। चरित्रों के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भी इन का योगदान इतिहास में अविस्मरणीय

है। साथ ही अविस्मरणीय यह भी है कि कोई कथा एक व्यक्ति के व्यक्तित्व पर ही केन्द्रित हो, यह अनिवार्य नहीं। उसमें एकाधिक व्यक्ति भी केन्द्र में हो सकते हैं। कोई भाव या विचार भी केन्द्र में हो सकता है। कोई घटना भी केन्द्र में हो सकती है। कथा-रचना से चरित्र-लेखन इस बिंदु पर भी अलग होता है। चरित्र-लेखन के केन्द्र में अनिवार्यतः होता है—जनमानस में प्रतिष्ठित व्यक्ति का जीवन। इस जीवन का सारगर्भित रूप है चरित्र-लेखन।

जनमानस में प्रतिष्ठित होने के लिए किसी भी व्यक्तित्व का केवल लोकग्राह्य होना अपेक्षित है। ऐतिहासिक वह हो भी सकता है और नहीं भी। काल्पनिक वह हो भी सकता है और नहीं भी। अतः चरित्रों के दो मुख्य स्रोत हैं—इतिहास या परंपरा और कथा या काव्य। प्रस्तुत कोश में दोनों स्रोतों का उपयोग किया गया है। आगम, आगमाधृत साहित्य, लोकश्रुति और प्राचीन एवं नवीन जैन कथा साहित्य से ये चरित्र चुने गए हैं।

चुनाव का आधार क्या हो, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न था। लेखन-कार्य प्रारंभ करते हुए मन में भाव था कि तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर तीर्थंकर महावीर तक की कालावधि के जितने भी नाम आगम और आगमेतर साहित्य में उपलब्ध हैं, उन सबके संक्षिप्त चरित्रों का अंकन किया जाए पर जैसे-जैसे कार्य आगे बढ़ा, अनुभव हुआ कि समय-सीमा के बंधन का आग्रह रखने से अनेक महत्वपूर्ण चरित्र छूट जाएंगे।

जैन मान्यतानुसार व्यक्ति का जीवन वर्तमान भव तक ही सीमित नहीं होता। वर्तमान भव उसके पूर्वभवों का फल होता है। प्रस्तुत ग्रंथ में चरित्रों के वर्तमान भव का आलेखन किया गया है। समय-सीमा का आग्रह रखने पर जीवानंद वैद्य (पूर्वभव में प्रभु ऋषभदेव का नाम), धन्ना सार्थवाह आदि अनेक महत्वपूर्ण चरित्र छूट जाते। इसी प्रकार भगवान् महावीर के समय तक ही सीमित रहने पर आर्य जम्बू स्वामी, प्रभव स्वामी, शय्यंभव, भद्रबाहु, स्थूलिभद्र प्रभृति अनेक आधारभूत महत्व के चरित्र इस ग्रंथ से बाहर रह जाते। यह चरित्रों की दृष्टि से जैन परंपरा का यथासंभव पूर्ण परिचय न बन पाता।

अतः समय-सीमा को आधार बनाने का विचार छोड़ देना उचित लगा। जनमानस में प्रतिष्ठित व्यक्तित्वों अथवा प्रसिद्ध व्यक्तियों को ही आधार के रूप में ग्रहण किया गया। प्रयास किया गया कि ऐसे अधिक से अधिक व्यक्तियों का जीवन नैतिक दृष्टि से संक्षेप में अंकित हो। इसीलिए यहां प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान तक के विविध चरित्र प्रस्तुत किए जा सके।

कहना आवश्यक है कि जैन परंपरा के सभी चरित्र प्रस्तुत ग्रंथ में नहीं आ पाए हैं।

कारण अनेक हैं। कोश की विशालता, लेखक की सीमा, जानकारी का अभाव आदि। निश्चित ही जो नहीं हो सका, वह भी महत्वपूर्ण है परंतु जो हो सका, उस पर भी यथेष्ट ध्यान दिया जाना चाहिए। प्रयास यह रहा है कि प्रस्तुत चरित्रों के माध्यम से जैनत्व को अधिक से अधिक उजागर किया जाए।

इस कार्य की अपनी चुनौतियां थीं। शैली-मात्र की भिन्नता के साथ जिस प्रकार एक ही कथा अलग-अलग जगह अलग-अलग रूप में मिल जाया करती है, उसी प्रकार चरित्र भी मिले। कुछ चरित्रों का पूर्वपक्ष समान मिला तो कुछ का उत्तरपक्ष। इसका कारण संभवतः यह है कि प्राचीन काल में व्यापारी जब व्यापार के लिए परदेश जाते थे तो अपने साथ केवल माल ही नहीं ले जाते थे। वहां से केवल धन ही नहीं लाते थे। वे यहां से यहां की चरित्र-कथाएं भी ले जाते थे और वहां से वहां की चरित्र-कथाएं भी लाते थे। उसी तरह जैसे बच्चे अपने मामाओं के यहां से कहानियां, पहेलियां आदि सीखकर आते हैं और अपने घर के आसपास के बच्चों को सुनाते हैं या अपने घर के आसपास से सीखे हुए को अपने मामा के घर जाकर सुनाया करते हैं।

चरित्रों और उनकी कथाओं ने जब इधर से उधर यात्राएं कीं तो परस्पर आदान-प्रदान हुआ। परिणामस्वरूप एक ओर चरित्र-कथाएं समृद्ध हुईं तो दूसरी ओर उनमें समानताएं भी आ गईं। समानता मिलने पर सत्यासत्य का निर्णय कठिन था। अपनी ओर से कोई निर्णय करने की जगह जो चरित्र जैसा मिला, उसे वैसा ही अंकित करना उचित लगा और यही करने का प्रयास भी किया गया।

प्रयास यह भी रहा कि चरित्रों का चयन करते हुए दृष्टि केवल अपने संप्रदाय के चरित्रों तक ही सीमित होकर न रह जाए। अतः तटस्थ भाव से जैन धर्म के विविध संप्रदायों में मान्य एवं जनमानस में स्थान बनाने वाले प्रसिद्ध चरित्र यहां प्रस्तुत किए जा सके। कहीं-कहीं चरित्रों के बारे में अलग-अलग संप्रदायों की अलग-अलग मान्यताएं भी मिलीं। ऐसे में सभी चरित्रों का चित्रण-वर्णन श्वेतांबर स्थानकवासी जैन परंपरा की मान्यताओं के अनुरूप किया गया।

सभी चरित्रों के संदर्भ देना कोश की मांग थी, जिसे पूरी तरह पूरा नहीं किया जा सका। कुछ चरित्र लोकश्रुति-परंपरा पर आधारित हैं और जैन जनमानस के लिए उतने ही मान्य हैं, जितने कि संदर्भ-सहित मिलने वाले चरित्र। अतः उन्हें भी यहां स्थान दिया गया परंतु उपलब्ध न होने के कारण उन सभी के संदर्भ नहीं दिए जा सके। अनेक चरित्र ऐसे भी हैं, जिनका पूरा परिचय अन्य चरित्रों के अंकन में पूरा हो गया है। ऐसे में उनके

नाम के साथ 'देखिए' के बाद संदर्भित चरित्र का नाम लिख दिया गया है। यह करने का कारण पुनरावर्तन और ग्रंथ के परिमाण में होने वाली अतिशय वृद्धि से बचना रहा है। भरपूर प्रयास के बावजूद संभव है कि कुछ चरित्रों के साथ-साथ कुछ प्रसंग भी छूट गए हों। उनके बारे में सजग पाठकों से सुझाव सादर आमंत्रित हैं। इस भावना के साथ कि प्रस्तुत संस्करण में रह गई त्रुटियों को दूर और अभावों को पूर्ण किया जा सके। कोई कार्य प्रारंभ होता है तो उसमें पूर्ण होने की संभावनाएं भी रहती हैं। प्रस्तुत कोश जैन चरित्रों के विधिवत् अंकन का प्रारंभ है, समापन नहीं।

मेरे आराध्य गुरुदेव संघशास्ता शासनसूर्य श्री रामकृष्ण जी म. की अदृष्ट कृपा से यह विशालकाय ग्रंथ मैं संपन्न कर पाया हूं। इस ग्रंथ की संपन्नता के क्षण में गुरुदेव की स्मृतियों ने मन को भाव-भावित भी किया है कि गुरुदेव की कल्पना को साकार करने में मैं यत्किंचित् सफल हो पाया।

इस ग्रंथ के लेखन में मैंने सैकड़ों पुस्तकों का अध्ययन किया। उन पुस्तकों के लेखकों के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूं। मुनिरत्न श्री अमित मुनि जी का समर्पित सहयोग मेरे प्रतिक्षण का अनुगामी बना रहा। उनके स्वर्णिम भविष्य की मैं कामनाएं करता हूं। प्रिय श्री विनोद शर्मा एवं प्रिय डॉ. श्री विनय 'विश्वास' का अप्रमत्त सहकार भी इस ग्रंथ के साथ जुड़ा है। दोनों के लिए हार्दिक शुभाशीष!

अंत में, इस ग्रंथ के लेखन से प्रकाशन तक में जिन-जिन का सहयोग मुझे मिला, उन सबके लिए मंगलमय आशीष!

—आचार्य सुभद्र मुनि

अनुक्रमणिका

अ

अंक	1
अंगद	1
अंजन चोर	2
अंजना	2
अंजू (आर्या)	4
अंजूश्री	4
अंधकवृष्णि	5
अंब ऋषि	5
अंबड़ वीर	5
अंबड़ संन्यासी	6
अकंपित (गणधर)	6
अकलंक भट्ट (आचार्य)	7
अकलशा सेठ	7
अक्षोभ	8
अक्षोभ कुमार	8
अगड़दत्त	8
अग्निभूति (गणधर)	9
अग्निमित्रा	9
अग्निशर्मा	9
अग्निशिखा	10
अग्निसिंह	10
(क) अचल	10
(ख) अचल	10
(ग) अचल (कुमार)	10
(घ) अचल (बलदेव)	11
अचलभ्राता (गणधर)	11
अचला (आर्या)	11
अचिरा माता	11
अच्छंदक	11
अजापुत्र	11
अजितनाथ (तीर्थंकर)	12
अजितवीर्य स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)	12
अजित सेन	13
अट्टणमल्ल	13
अणुल्लिया	13
अतिभद्रा	13
अतिमब्बे	13
अतिमुक्त कुमार	14
अतिमुक्त मुनि	14
अतिवीर	15
अतूंकारी भट्टा	15
अदीनशत्रु	15
अनंगसेना	16
अनन्तनाथ (तीर्थंकर)	16
अनन्तमती	16
अनंतवीर्य स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)	17
अनन्त सेन	17
अनरण्य	17
अनाथी मुनि	17
अनाधृष्टि	18
अनियसेन	18
अनिरुद्ध	18
अनिहतसेन	19
अनोखी	19
अन्निकापुत्र (आचार्य)	20
अपराजित	20
अपराजिता (आर्या)	21
अप्सरा (आर्या)	21
अभग्नसेन चोर	21
अभय कुमार	22
(क) अभयदेव (आचार्य)	24
(ख) अभयदेव (नवांगी टीकाकार आचार्य)	24
(ग) अभयदेव मलधारी (आचार्य)	24
अभया	25
अभिचन्द्र कुमार	25
अभीचिकुमार	25
अभिनन्दन (तीर्थंकर)	25
अभिनन्दन मुनि	25

अभिमन्यु 26
अमर कुमार 26
अमरचंद बांठिया 27
अमरदत्त 28
(क) अमरसिंह जी म. (आचार्य) 28
(ख) अमरसिंह जी महाराज (आचार्य) 29
अमरसेन (वयरसेन) 30
अमितगति (आचार्य) 32
अमृतचन्द्र (आचार्य) 32
अमोघवर्ष (राजा) 32
अमोलक ऋषि जी (आचार्य) 32
अयवंती सुकुमाल 33
अरणक श्रावक 34
अरणिक मुनि 35
अरनाथ (तीर्थंकर) 35
अरविन्द राजा 36
अरिदमन 36
अरिष्ट 37
अरिष्टनेमि (तीर्थंकर) 37
अरुणदेव 38
अर्चिमाली (आर्या) 39
अर्जुन 39
अर्जुन माली 40
अर्हद्बलि (आचार्य) 41
(क) अर्हद्दास 41
(ख) अर्हद्दास 42
(ग) अर्हद्दास (कवि) 43
अर्हद्दासी 43
अर्हन्नक 43
अलक्ष (राजा) 44
अल्लट (राजा) 44
अवतंसा (आर्या) 44
अविनीत गंग 44
अशोक (राजा) 44
अशोकमंजरी 45
अश्वग्रीव 45
अश्वमित्र (निन्हव) 45
अश्वसेन 45
अश्विनी 45
असंध्यमित्रा 45

आ

आतपा (आर्या) 46
आत्माराम जी महाराज (आचार्य) 46
आदिनाथ 47
आदीश्वर 47
आनंदघन 47
(क) आनन्द (बलदेव) 47
(ख) आनंद (श्रावक) 48
आनन्द ऋषि जी महाराज (आचार्य) 48
आम (राजा) 49
आम्रभट्ट 49
आरामशोभा 49
आरोग्य विप्र 51
आर्द्रक कुमार 52
आर्द्रिक-आर्द्रिका 54
आर्यदत्त 54
आर्यदिन्न 54
आर्यरक्षित (आचार्य) 54
आर्यरक्षित सूरि (आचार्य) 54
आर्यिका पाम्बब्बे 55
आशाधर (कवि) 55
आशाशाह 56
आषाढ़भूति (आचार्य) 56
आषाढ़ मुनि 57
आषाढ़सेन (राजा) 59
आषाढ़ाचार्य 59
आषाढ़ाचार्य के शिष्य 59
आसकरण जी (आचार्य) 59
ओशो 60

इ

इंद्रजीत 61
इंद्रदत्त अणगार 61
इंद्रदत्त उपाध्याय 61
इंद्रदिन्न (आचार्य) 61

इंद्रभूति गौतम (गणधर) 61
इंद्रा (आर्या) 62
इक्षुकार राजा 62
इकाई राठौर 63
इला (आर्या) 63
इलायची कुमार 63

ई

ईश्वरप्रभ स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 65
ईश्वरी 65

उ

उंबरदत्त 66
उग्रसेन 67
उज्जुमइ 67
(क) उज्झित कुमार 68
(ख) उज्झित कुमार 68
उज्झिता 69
उत्तम कुमार 69
उत्तमा (आर्या) 71
उत्तरा 71
उत्पल 71
(क) उत्पला 71
(ख) उत्पला 71
(ग) उत्पला (आर्या) 71
उदकपेढ़ालपुत्र 72
उदयन 72
उदयप्रभ (आचार्य) 72
उदायन राजर्षि 73
उदायी (राजा) 73
उद्योतनसूरि (आचार्य) 73
उन्मुख 74
उपनंदनभद्र 74
उमास्वाति (आचार्य) 74
उवयालि कुमार 74
उषा 74

ऋ

ऋतुपर्ण 75
(क) ऋषभदत्त 75
(ख) ऋषभदत्त 75
(ग) ऋषभदत्त (गाथापति) 75
ऋषभदेव (तीर्थंकर) 75
ऋषभानन स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 77
ऋषिदत्ता 77

क

कंबल-संबल 79
कंस 80
कच्छ-महाकच्छ 81
कटक 81
कटकवती 81
कटपूतना 81
कदम्ब नरेश 81
कनककेतु 81
कनकतिलका 81
(क) कनकध्वज 81
(ख) कनकध्वज 81
कनकप्रभा (आर्या) 81
कनकमंजरी 81
कनकमाला 82
कनकरथ 82
कनकसुन्दरी 82
कनका (आर्या) 82
कनिष्क (राजा) 82
(क) कपिल (कपिला) 83
(ख) कपिल (केवली) 83
(ग) कपिल (ब्राह्मण) 84
कमठ 84
कमल 84
(क) कमलप्रभा 85
(ख) कमलप्रभा (आर्या) 85
(क) कमलश्री 85
(ख) कमलश्री 85

कमल सेठ 85
(क) कमला 86
(ख) कमला 86
(ग) कमला (आर्या) 87
कमलावती रानी 87
करकण्डु 87
करेणुदत्त 90
कर्ण 90
कर्मचन्द बच्छावत 91
कर्मरक्षित 91
कलाद 92
(क) कलावती 92
(ख) कलावती 93
कल्पक 93
कांपिल्य 93
काकुत्स्थ वर्मा 94
कान्हड़ कठियारा 94
कामदेव (श्रावक) 95
कामध्वजा 96
कामपताका 96
कार्तिक सेठ 96
काल 97
कालकाचार्य 97
काललदेवी 98
कालसौकरिक कसाई 98
कालहस्ती 98
कालाइशया 98
कालास्यावेषिपुत्र अणगार 99
(क) काली 99
(ख) काली (आर्या) 100
कालोदायी 100
(क) काश्यप 100
(ख) काश्यप (गाथापति) 101
किंकम गाथापति 101
किरणवेग 101
किरातराज 101
कीचक 101
कीर्तिचन्द्र 101
कीर्तिधर 102
कुंचिक सेठ 102
कुन्थुनाथ (तीर्थंकर) 102
कुन्ती रानी 103
कुंदकुंद (आचार्य) 104
कुंभकर्ण 104
(क) कुंभ 104
(ख) कुंभ (राजा) 104
(ग) कुंभ (राजा) 104
कुंडकौलिक (श्रावक) 104
कुण्डरीक मुनि 105
कुणाल 105
कुबेर 106
(क) कुबेरदत्त 106
(ख) कुबेरदत्त 106
कुबेरदत्ता 106
कुबेर सेना 106
कुमारपाल (राजा) 107
कुमारसेन 107
कुरंगक भील 109
कुरुदत्त (आचार्य) 109
कुलपुत्र क्षत्रिय 109
कुलिशबाहु 110
कुवलयचंद्र 110
कुवलयमाला 110
कुश 111
कुसुमपाल 111
(क) कुसुमवती 111
(ख) कुसुमवती 111
कुसुमश्री 112
कूपदारक कुमार 112
कूरगडुक मुनि 112
कूलबालुक मुनि 113
कृतपुण्य 113
कृतवर्मा 114
कृपाचार्य 114
कृष्ण वासुदेव 114
कृष्णराजि (आर्या) 116

(क) कृष्णा 116
(ख) कृष्णा (आर्या) 116
केकसी 116
कैकेयी 116
केतुमती (आर्या) 117
केशरी (सामायिक) 117
(क) केशव 118
(ख) केशव 119
केशी 119
केशी कुमार श्रमण 120
कैलाश गाथापति 120
कोणिक राजा 120
कौशल्या माता 123
(क) क्षुल्लक मुनि 123
(ख) क्षुल्लक मुनि 125
क्षेमक गाथापति 125

ख

खंधक मुनि 126
खंडरक्षा 126
खंडा 126
खपुट (आचार्य) 126
खरक 128
खारवेल (राजा) 128
खिमऋषि 128
खेमिल 129
खेमादेदराणी 129

ग

गंग आचार्य (निन्हव) 131
गंगदत्त श्रावक 131
गंगदत्त मुनि 132
गंग नरेश 132
गंगा 133
गंगादेवी 134
गंधसेना 134
गम्भीर 134
गजसिंह 134
गजसुकुमाल 136
गज्जु चोर 139
गर्गाचार्य 140
(क) गर्दभाली (परिव्राजक) 141
(ख) गर्दभाली (मुनि) 141
गर्दभिल्ल 141
(क) गांगेय (अणगार) 141
(ख) गांगेय (भीष्म) 141
(क) गांधारी 142
(ख) गांधारी 142
(ग) गांधारी 142
गागली 142
गुणचन्द्र 143
गुणदत्त मुनि 143
गुणधर (आचार्य) 143
गुणभद्र (आचार्य) 143
गुणपाल (दाड़मिया सेठ) 143
(क) गुणमाला 144
(ख) गुणमाला 144
गुणरत्न (आचार्य) 146
गुणवती 146
गुणसागर 146
गुणसुन्दर (आचार्य) 149
गुणसुन्दरी 149
गुणा साध्वी 150
गोत्रासिया 150
गोपालिका आर्या 150
गोभद्र सेठ 150
गोमती 150
गोयमा 151
गोविन्द राजा 151
गोविन्दाचार्य 151
गोशालक 151
गोष्ठामाहिल (निन्हव) 152
गौतम कुमार 152
गौतम स्वामी (गणधर) 153
गौरी 153

घ

घना (आर्या) 154
घासीलाल जी महाराज (आचार्य) 154
घेवरिया मुनि 154

च

चंडकौशिक 156
चंडप्रद्योत (राजा) 157
चंडरुद्राचार्य 158
चंडशासन 159
चंद्रकुंवर 159
चंदन (मलयागिरि) 159
चंदनबाला 161
चंदराजा 162
चंद्रगुप्त मौर्य 163
चंद्रच्छाया 164
चंद्रप्रभ (तीर्थंकर) 164
चंद्रबाहु स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 165
(क) चंद्रयश 165
(ख) चंद्रयश 165
चंद्रयशा 165
चंद्रवल्लभा 165
चंद्रसेन 165
चंद्रानन स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 167
(क) चंद्रावतंसक 167
(ख) चंद्रावतंसक 168
(क) चंद्रावती 168
(ख) चंद्रावती 168
चंपक 168
चंपकमाला 170
चंपक सेठ 171
चंपतराय जैन (बैरिस्टर) 173
चंपा सेठानी 174
चतुरंगचंद्र 174
चतुर्मुख 174
चमर 174
चाणक्य 174
चामुण्डाराय 175
चित्त 176
चित्त मुनि 176
चित्रगति 176
चित्रलेखा 176
चित्रश्रेणी 176
चित्रसेन 177
चित्रसेना 178
(क) चित्रांगद 178
(ख) चित्रांगद 178
चिलातीपुत्र 178
चुलनी 179
चुलनीपिता श्रावक 179
चुल्लशतक श्रावक 180
चेटक राजा 180
चेलना रानी 181
चौथमल जी महाराज (जैन दिवाकर) 182

ज

जंबू मुनि 184
जंबू स्वामी 184
जगडूशाह 185
जगच्चंद्र (आचार्य) 186
जनक 186
जन्हुकुमार 186
जमदग्नि ऋषि 187
जमाली (निन्हव) 187
(क) जयन्ती 187
(ख) जयन्ती (ब्राह्मणी) 187
(ग) जयन्ती (परिव्राजिका) 187
(घ) जयन्ती (श्राविका) 187
जयचंद्र (मधुबिंदु) 188
जय (चक्रवर्ती) 188
जयघोष 189
जयदेव 189
जयमल्ल जी (आचार्य) 190
जयवन्तसेन 190
जयरथ 191

जय-विजय 192
जयश्री 193
जयसिंह द्वितीय 193
जयसिंह सिद्धराज 193
जयसिंह सूरि (आचार्य) 194
(क) जयसुंदरी 194
(ख) जयसुंदरी 195
(क) जयसेन 195
(ख) जयसेन 195
जयसेना 195
(क) जयादेवी 195
(ख) जयादेवी 196
जयानन्द केवली 196
जराकुमार 197
जरासंध 197
जांबवती 197
जाकलदेवी 197
जालिकुमार 197
(क) जितशत्रु 198
(ख) जितशत्रु 199
(ग) जितशत्रु 200
(घ) जितशत्रु 200
(ङ) जितशत्रु 200
(च) जितशत्रु 200
(छ) जितशत्रु 201
(ज) जितशत्रु 201
(झ) जितशत्रु 201
(ञ) जितशत्रु 201
(ट) जितशत्रु 201
(ठ) जितशत्रु 201
(ड) जितशत्रु 201
(ढ) जितशत्रु राजा 201
(क) जितारि राजा 202
(ख) जितारि राजा 202
जिनकुशल सूरि (आचार्य) 202
जिनचंद्र (आचार्य) 202
जिनचंद्र कुमार 203
जिनचंद्र मणिधारी (आचार्य) 204
जिनचंद्र श्रावक 205
जिनचंद्र सूरि (आचार्य) 205
(क) जिनदत्त 206
(ख) जिनदत्त 206
(ग) जिनदत्त 207
जिनदत्त-पुत्र (सागरदत्त-पुत्र) 208
जिनदत्त सूरि (आचार्य) 208
(क) जिनदास 209
(ख) जिनदास 210
(ग) जिनदास 210
(घ) जिनदास 211
जिनदासगणी महत्तर (आचार्य) 212
जिनदेवी 212
जिनपाल 212
जिनप्रभ सूरि (आचार्य) 213
जिनभद्रगणी 'क्षमाश्रमण' (आचार्य) 213
जिनभद्र श्रावक 214
जिनरक्षित 214
जिनवल्लभ (आचार्य) 214
(क) जिनसेन 214
(ख) जिनसेन (आचार्य) 215
जिनेश्वर सूरि (आचार्य) 215
जीर्ण सेठ 216
जीवंधर 217
जीवयशा 218
जीवराज जी (आचार्य) 218
जीवानंद वैद्य 218
श्री जीतमल जी महाराज (आचार्य) 219
जुट्ठल श्रावक 220
ज्वालाप्रसाद सेठ 220

झ

झांझरिया मुनि 221

ट

टोडरमल (जैन साहित्यकार) 223

ढ

ढंक गाथापति 224
ढंढण मुनि 224
ढंढणा 225

ण

णायपुत्त 225

त

तरंगवती 226
तामली तापस 227
तारण स्वामी (कवि) 227
तारा 228
ताराचंद 228
तारा सुंदरी 228
तिलकमंजरी 229
(क) तिलक सुंदरी 229
(ख) तिलक सुंदरी 229
तिलोकसुंदरी 229
तिलोत्तमा 231
तिष्यगुप्त (निन्हव) 231
तीर्थंकर 232
तीसभद्र 232
तुलसी (आचार्य) 232
तृषलानंदन 233
तृषला माता 233
तेजपाल (वस्तुपाल) 233
तेतलीपुत्र 233
तोलाशाह 234
तोषली पुत्र (आचार्य) 234
त्रिपृष्ठ (वासुदेव) 234
त्रिभुवनपाल 235
त्रिभुवनस्वयंभू (कवि) 235
त्रैलोक्यसुंदरी 235

थ

थावच्चापुत्र 236
थावच्चा सेठानी 236

द

दंडक 237
(क) दत्त 237
(ख) दत्त 237
(ग) दत्त 237
(घ) दत्त (आचार्य) 237
(ङ) दत्त (मुनि) 238
(च) दत्त (वासुदेव) 238
दधिपर्ण 238
(क) दधिवाहन 238
(ख) दधिवाहन 239
दमदंत 239
दमयंती 239
दमसार मुनि 240
दशरथ 241
दशार्णभद्र राजा 242
दाड़मिया सेठ 242
दामनक 242
दारुक 244
दाहड़ 244
दिवाकीर्ति 244
दीर्घपृष्ठ 244
दीर्घराजा 244
दीवान अमरचंद 244
दीहभद्र 245
दुंदुक (राजा) 245
दुइज्जंत (तापस) 245
दुध 245
दुर्गंधा 246
दुर्बलिका पुष्यमित्र (आचार्य) 247
दुर्मुख 247
दुर्योधन 247
दुर्योधन चारकपाल 247
दुर्विनीत कौंगणिवृद्ध (राजा) 248
दूष्यगणी (आचार्य) 248
दृढ़चित्त 248
दृढ़नेमि 248

(क) दृढ़प्रहारी 248
(ख) दृढ़प्रहारी 249
दृढ़रथ 249
देवकी माता 249
देवकुमार 250
(क) देवदत्ता 251
(ख) देवदत्ता 251
(ग) देवदत्ता 251
(क) देवनंदी (आचार्य) 252
(ख) देवनंदी 'पूज्यपाद' (आचार्य) 253
देव ब्राह्मण 253
देवभद्र 253
देवप्रसाद 253
देवयश 254
देवयशसेन 255
देवयज्ञ स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 255
देवराय 256
देवर्द्धिगणि 'क्षमाश्रमण' (आचार्य) 256
देवशर्मा ब्राह्मण 257
देवसेन 257
देवसेन राजा 257
देवसेना 257
देवानंद 257
देवानंदा 257
देवी 258
देवेंद्र मुनि (आचार्य) 258
देवेंद्र सूरि (आचार्य) 258
दौलतराम कासलीवाल (साहित्यकार) 259
द्यानतराय (कवि) 259
द्रोणाचार्य 259
द्रौपदी 259
द्विपृष्ठ वासुदेव 261
द्विमुख 261
द्वैपायन ऋषि 262

ध

धनंजय (कवि) 263
धनकुमार 263
धनचंद्र 264
(क) धनद 264
(ख) धनद 265
(ग) धनद 266
(क) धनदत्त 268
(ख) धनदत्त 268
(ग) धनदत्त 269
(घ) धनदत्त 269
(ङ) धनदत्त 269
(च) धनदत्त 269
(क) धनदेव 270
(ख) धनदेव 270
(ग) धनदेव 270
(घ) धनदेव 270
धनपति 271
धनपति कुमार 271
(क) धनपाल 271
(ख) धनपाल 272
(ग) धनपाल (कवि) 272
(घ) धनपाल राजा 272
(क) धनमित्र 272
(ख) धनमित्र 273
(ग) धनमित्र 274
(घ) धनमित्र 274
(ङ) धनमित्र 274
धनमित्र मुनि 274
धनश्री 274
धनसंचय सेठ 275
(क) धनसागर 275
(ख) धनसागर 277
(ग) धनसागर 278
(क) धनसार 278
(ख) धनसार 279
(क) धनसेठ 279
(ख) धनसेठ 280
(ग) धनसेठ 280
(क) धनावह 280
(ख) धनावह 280

धनेश्वर सूरि (आचार्य) 280
धन्नाशाह 281
(क) धन्ना सार्थवाह 281
(ख) धन्ना सार्थवाह 282
धन्ना सेठ 282
धन्य अणगार 282
धन्य जी 283
(क) धन्य सार्थवाह 284
(ख) धन्य सार्थवाह 285
(क) धन्या 286
(ख) धन्या 286
धन्वंतरी वैद्य 286
धम्मिल 286
धर 287
धरणकुमार 287
धरणेन्द्र (पद्मावती) 287
धरसेन (आचार्य) 288
धर्म (आचार्य) 288
(क) धर्मघोष (आचार्य) 288
(ख) धर्मघोष (आचार्य) 288
(ग) धर्मघोष (गाथापति) 289
धर्मदास (आचार्य) 289
धर्मदासगणि महत्तर (आचार्य) 289
धर्मनाथ (तीर्थंकर) 290
धर्मपाल 290
धर्मराज (राजा) 292
(क) धर्मरुचि अणगार 292
(ख) धर्मरुचि अणगार 292
धर्मरुचि मुनि 292
धर्मवीर्य अणगार 293
धर्मसिंह अणगार 293
धर्मसिंह (आचार्य) 293
धर्मसेन 293
(क) धारिणी 294
(ख) धारिणी 294
(ग) धारिणी 295
(घ) धारिणी 295
(ङ) धारिणी 295
(च) धारिणी 295
(छ) धारिणी 296
(ज) धारिणी 296
(झ) धारिणी 296
(ञ) धारिणी 296
धृतराष्ट्र 296
धृतिधर गाथापति 296

न

(क) नंद 297
(ख) नंद 298
(ग) नंद 298
(घ) नंद 298
नंदन (बलदेव) 298
नंदन भद्र 298
नंदन मणिकार 298
नंदन मुनि 299
नंदयंती 299
नंदवती 300
नंदश्रेणिका 300
नंदसेना 300
(क) नंदा 300
(ख) नंदा 301
(ग) नंदा 301
(घ) नंदा 301
(ङ) नंदा 301
नंदिनीपिता श्रावक 301
नंदिवर्द्धन 301
(क) नंदीवर्धन 302
(ख) नंदीवर्धन 302
नंदीषेण कुमार 303
नंदीषेण मुनि 303
नंदोत्तरा 304
नकुल 304
नग्गति (प्रत्येक बुद्ध) 305
नन्नसूरि (आचार्य) 305
नभराय राजा 306
नमिनाथ (तीर्थंकर) 306

नमि राजर्षि (प्रत्येक बुद्ध) 306
नमि-विनमि 307
(क) नमुचि 307
(ख) नमुचि 307
नयनंदी (आचार्य) 307
नयसार 307
(क) नरवर्मा 308
(ख) नरवर्मा 308
(क) नरवाहन 308
(ख) नरवाहन 308
नरविक्रम 308
नर्मदासुंदरी 308
नल (राजा) 309
(क) नवमिका (आर्या) 310
(ख) नवमिका (आर्या) 310
नवमुख 310
नहपान 310
नाग 311
नाग गाथापति 311
(क) नागदत्त 311
(ख) नागदत्त 312
(ग) नागदत्त (गाथापति) 312
(घ) नागदत्त (सेठ) 312
नागश्री 314
नागसेन 315
नागार्जुनाचार्य 315
नाभिराय 315
(क) नारद 315
(ख) नारद 316
(क) नारायण 316
(ख) नारायण 316
निगंठ 316
(क) निन्हव 316
(ख) निन्हव 316
निम्बक 317
निरंभा (आर्या) 317
निर्मोही नृप 317
निशुंभ 318
निशुंभा (आर्या) 318
निषढ राजा 318
निषध कुमार 318
नीर 319
नेमिचंद्र (आचार्य) 319
नेमिनाथ (तीर्थंकर) 319
नेमिप्रभ स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 319
नैषध 319

प

पंडुभद्र 320
पंथक मुनि 320
पतंगसिंह 320
पद्म 321
पद्मनाभ 321
पद्मप्रभ (तीर्थंकर) 322
(क) पद्मरथ 322
(ख) पद्मरथ (राजा) 322
पद्मरुचि श्रावक 322
पद्मश्री 323
पद्मसिंह (पद्मावती) 324
(क) पद्मा 326
(ख) पद्मा (आर्या) 326
(ग) पद्मा (आर्या) 326
(क) पद्मावती 326
(ख) पद्मावती 326
(ग) पद्मावती 326
(घ) पद्मावती 326
(ङ) पद्मावती 327
(च) पद्मावती 327
(छ) पद्मावती 327
(ज) पद्मावती 328
(झ) पद्मावती (धरणेंद्र) 329
पद्मोत्तर 329
परशुराम 329
पर्वत 329
पल्लव नरेश 329
पल्लविया 330

पवनंजय 330
पाण्डु 330
पात्रकेशरी (आचार्य) 330
पादलिप्त (आचार्य) 330
पारसनाथ 332
पाराशर 332
पार्श्वनाथ (तीर्थंकर) 332
(क) पालक 333
(ख) पालक (राजा) 333
पाहिनी 333
पाहिल श्रेष्ठी 334
पिंगल निर्ग्रन्थ 334
पितृसेनकृष्णा 334
(क) पुंडरीक 334
(ख) पुंडरीक (गणधर) 334
पुणिया श्रावक 334
पुण्यभद्र 335
पुण्यपाल 335
पुण्यमित्र 336
पुण्यवती 336
पुण्यसार 336
पुण्याढ्य राजा 336
पुद्गल परिव्राजक 337
(क) पुरन्दर 338
(ख) पुरन्दर 339
(ग) पुरन्दर 339
पुष्पवती (आर्या) 340
पूर्णा (आर्या) 340
प्रभंकरा (आर्या) 340
पुरन्दरयशा 340
पुरुषपुण्डरीक (वासुदेव) 341
(क) पुरुषसिंह 341
(ख) पुरुषसिंह (वासुदेव) 341
पुरुषसेन 342
पुरुषोत्तम (वासुदेव) 342
पुष्पवती (आर्या) 342
पुष्पसेन 342
पुष्पकेतु 343
(क) पुष्पचूल 343
(ख) पुष्पचूल 343
(क) पुष्पचूला 343
(ख) पुष्पचूला 343
(क) पुष्पदंत 344
(ख) पुष्पदंत 344
(ग) पुष्पदंत (अणगार) 344
(घ) पुष्पदंत (आचार्य) 344
(ङ) पुष्पदंत (कवि) 345
पुष्पभूति (आचार्य) 345
(क) पुष्पवती 346
(ख) पुष्पवती 346
(ग) पुष्पवती 346
पुष्पसाल सुत 346
पुष्यमित्र (सामुद्रिक वेत्ता) 346
पूर्ण कुमार 347
(क) पूर्णभद्र 347
(ख) पूर्णभद्र (गाथापति) 347
(ग) पूर्णभद्र (सेठ) 347
पूर्णमित्रा 347
पूर्णा (आर्या) 348
पूषा 348
(क) पृथ्वी 348
(ख) पृथ्वी 348
(ग) पृथ्वी 348
पृथ्वी श्री 348
पेथडशाह 348
पोइणी आर्या 348
पोक्खली 348
पोटिलदेव 348
पोटिल्ला 349
प्रचण्डा 349
प्रजापति 349
प्रजापाल 349
प्रतिबुद्धि राजा 349
प्रतिष्ठ 349
प्रदेशी राजा 349
प्रद्युम्न कुमार 350

प्रधीकुमार 351
प्रभंकरा (आर्या) 351
प्रभव स्वामी (आचार्य) 351
प्रभाकर मुनि 352
प्रभाचन्द्र (आचार्य) 352
(क) प्रभावती 352
(ख) प्रभावती 353
प्रभास (गणधर) 353
प्रभु 353
प्रसन्नचंद्र राजर्षि 353
प्रसन्नजित 354
(क) प्रसेनजित 354
(ख) प्रसेनजित 354
प्रहसित 354
प्रह्लाद 354
प्रियंकर 354
प्रियंगला 355
प्रियग्रंथ 355
(क) प्रियदर्शना 356
(ख) प्रियदर्शना 356
प्रियदर्शी 356
प्रियमित्र (चक्रवर्ती) 357

फ

फलिहमल्ल 358
फल्गुरक्षित 358
फाल्गुनी 358

ब

बंकचूल 359
(क) बंधुदत्त 360
(ख) बंधुदत्त मुनि 361
(क) बंधुमती 361
(ख) बंधुमती 361
बंसाला 361
बनारसी दास (पंडित) 362
बप्पभट्टि (आचार्य) 363
बल ब्राह्मण 363
(क) बलभद्र 363
(ख) बलभद्र (चोर) 364
(ग) बलभद्र (बलदेव) 364
(घ) बलभद्र राजा 366
बलवीर कुमार 366
(क) बलि 367
(ख) बलि 367
बलिभद्र सूरि (आचार्य) 367
बलिस्सह (आचार्य) 368
(क) बहुपुत्रिका 368
(ख) बहुपुत्रिका (आर्या) 368
बहुरूपा (आर्या) 369
बहुला 369
बालचन्द्र 369
बालि 369
बाहुबली 369
बाहुस्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 370
बिंदुसार (राजा) 370
बुधजन (कवि) 371
बृहस्पतिदत्त 371
ब्रह्म गुलाल 372
ब्रह्मदत्त (चक्रवर्ती) 372
ब्रह्मदीपक सिंह (आचार्य) 374
ब्रह्म राजा 374
ब्राह्मी 375

भ

भद्दिला 376
भद्र (बलदेव) 376
भद्रकुमार 376
भद्रगुप्त (आचार्य) 376
भद्र चष्टन 376
(क) भद्रनंदी कुमार 377
(ख) भद्रनंदी कुमार 377
भद्रबाहु (आचार्य) 378
भद्रबाहु आचार्य के चार शिष्य 380
भद्रबाहु द्वितीय (आचार्य) 380
(क) भद्रा 381

(ख) भद्रा 382
(ग) भद्रा 382
(घ) भद्रा 382
(ङ) भद्रा 382
(च) भद्रा 382
(छ) भद्रा 382
(ज) भद्रा 382
(झ) भद्रा 382
(ञ) भद्रा 382
(ट) भद्रा 382
(ठ) भद्रा 382
(क) भरत 382
(ख) भरत 383
(ग) भरत (चक्रवर्ती) 383
भवदेव 383
भवानी 383
भविष्यदत्त 384
(क) भागचंद (कवि) 386
(ख) भागचंद्र (सेठ) 386
भाणा जी 387
भानुकुमार 387
(क) भानुमति 387
(ख) भानुमति 387
भामण्डल 387
भामाशाह 388
भारमल कावड़िया 388
भारिका (आर्या) 388
भावदेव 388
भाविनि 390
भिक्षु (आचार्य) 390
भीदा जी 390
(क) भीम 390
(ख) भीम 391
(ग) भीम कुमार 391
भीमसेन 392
भीमसेन (हरिसेन) 393
भुजंग स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 394
भुजगवती (आर्या) 394
भुजगा (आर्या) 395
भुवनतिलक कुमार 395
भुवनभानु केवली 395
(क) भुवनसुंदरी 396
(ख) भुवनसुंदरी 398
भुवनानंदा 398
भूतदत्त 400
भूतदत्ता 400
भूतदिन्न (आचार्य) 400
भूतबलि (आचार्य) 400
भूतश्री 401
भूता 401
भूधर जी (आचार्य) 401
भूधरदास (कवि) 402
भूमिपाल 402
भृगु पुरोहित 402
भैंसाशाह (पाडाशाह) 402
भोगवती 402
भोजकवृष्णि 403
(क) भोज राजा 403
(ख) भोज राजा 403
भ्रमरकेतु 403

म

मंकाई गाथापति 404
मंखली 404
मंगलकलश 404
मंगलावती 405
मंगू (आचार्य) 405
मंगूसूरि (आचार्य) 406
मंजुला महासती 406
मंडितपुत्र (गणधर) 407
मंडुक 407
मंदोदरी 407
(क) मकरध्वज 407
(ख) मकरध्वज 408
मघवा (चक्रवर्ती) 408
मच्छियमल्ल 408

मणिचन्द्र 408
(क) मणिचूड़ 409
(ख) मणिचूड़ 409
मणिप्रभ 409
मणिभद्र 409
मणिरथ कुमार 409
मणिरथ (राजा) 410
मणिशेखर 410
(क) मतिसागर 411
(ख) मतिसागर 413
(ग) मतिसागर 413
(क) मदन 413
(ख) मदन 413
मदन देव 415
मदनमंजरी 415
मदनरेखा 415
मदना (आर्या) 416
मदालसा 416
मद्रुक श्रावक 416
मधु 416
मनक मुनि 416
मनोरमा 416
(क) मम्मण सेठ 417
(ख) मम्मण सेठ 417
मयालि कुमार 418
मरीचि कुमार 418
मरुता 419
मरुदेवा 419
मरुदेवी माता 419
मरुभूति 419
मलयगिरि (आचार्य) 421
मलयागिरि 421
मलयासुन्दरी 421
मलूकचन्द्र जी महाराज (आचार्य) 421
मल्लदिन्न 422
मल्लवादी (आचार्य) 422
मल्लिषेण (आचार्य) 423
मल्लिनाथ (तीर्थंकर) 423
महर्द्धिक नट 424
महाकच्छा (आर्या) 424
महाकाल 424
महाकाली 424
महाकृष्णा 425
महागिरि (आचार्य) 425
महाचन्द कुमार 426
महात्मा गांधी 427
महादेवी 427
महानन्द कुमार 427
महापद्म चक्रवर्ती 428
(क) महाबल 430
(ख) महाबल 430
(ग) महाबल (कुमार) 430
(घ) महाबल (कुलपुत्र) 431
(ङ) महाबल (मलयासुन्दरी) 432
(च) महाबल (राजा) 432
(छ) महाबल (राजा) 432
(ज) महाबल (राजा) 433
महाभद्र स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 433
महाभीम 433
महामरुता 433
महारुद्र 433
महावीर (तीर्थंकर) 433
महाशतक श्रावक 434
महाशाल 435
महाशिरा 435
महासुव्रता 435
महासेन 435
महासेनकृष्णा 435
महाहरि 435
महिपाल 436
महीधर 437
महीसेन 437
(क) महेन्द्र 437
(ख) महेन्द्र 437
महेन्द्र सूरि (आचार्य) 437
(क) महेश्वरदत्त 438

(ख) महेश्वरदत्त 438
(ग) महेश्वरदत्त 439
माकंदी गाथापति 439
मागधिका गणिका 439
माणिक्यनन्दी (आचार्य) 439
मातंग 439
मातंग (यमपाश) 440
माथुर वणिक 440
माधव तृतीय 441
माधव मुनि जी (आचार्य) 441
मानतुंग (आचार्य) 441
मानदेव (आचार्य) 442
मानमर्दन 443
मानवती 443
मालुगा 444
मित्र राजा 444
मित्रश्री 445
मित्रसेन राजा 445
मित्राचार्य 445
मीनलदेवी 445
मुग्धभट्ट 445
मुचंद सेठ 446
मुद्गरपाणि यक्ष 447
मुनिपति 447
मुनि मायाराम 448
मुनिसुन्दर (आचार्य) 449
मुनिसुव्रत स्वामी (तीर्थंकर) 449
मुष्कर-मोक्कर-कौंगणिवृद्ध (राजा) 450
मूक सेठ 450
मूलदत्ता 451
मूलदेव 451
मूलश्री 452
मूला सेठानी 452
मृग सुंदरी 452
मृगांकुश 454
(क) मृगापुत्र (मृगालोढा) 454
(ख) मृगापुत्र 455
(क) मृगावती 456
(ख) मृगावती 458
(ग) मृगावती 458
मृगासुंदरी 458
मृगेश वर्मन 459
मेघ 459
मेघकुमार 459
मेघ गाथापति 460
मेघमाली 460
(क) मेघरथ राजा 461
(ख) मेघरथ राजा 461
मेघवाहन 461
मेघहस्ती 462
मेघा (आर्या) 462
मेतार्य (गणधर) 462
मेतार्य मुनि 462
मेती 465
मेरक 465
(क) मेरुतुंग (आचार्य) 465
(ख) मेरुतुंग (आचार्य) 465
मैनासुंदरी 465
मोतीचन्द्र 465
मोरध्वज 466
मोहनादेवी 467
मोहिनी 467
मौर्य ब्राह्मण 467
मौर्यपुत्र (गणधर) 467

य

यक्षदत्त 468
यक्षदिन्न 468
यक्षश्री 468
यक्षा 468
यक्षिणी 468
यवराजर्षि 469
यशा 469
(क) यशोदा 469
(ख) यशोदा 469
(क) यशोधर 469

(ख) यशोधर 469
(ग) यशोधर (राजा) 470
(क) यशोभद्र (आचार्य) 471
(ख) यशोभद्र (मुनि) 471
(क) यशोमती 471
(ख) यशोमती 472
यशोवर्मा 472
युगबाहु 473
युगमन्धर स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 473
युधिष्ठिर 473

र

रंभा (आर्या) 475
रइधू (कवि) 475
रक्षिता 475
रघुनाथ जी (आचार्य) 475
रजनी (आर्या) 476
रति 476
रतिप्रिया (आर्या) 476
(क) रतिसार 476
(ख) रतिसार 477
रतिसुंदरी 478
रत्नचन्द जी महाराज (शतावधानी) 479
रत्नचन्द्र जी महाराज 479
रत्नचूड़ 480
रत्नद्वीपा देवी 480
रत्नपाल 480
रत्नप्रभ सूरि (आचार्य) 481
(क) रत्नवती 481
(ख) रत्नवती 482
(ग) रत्नवती 482
रत्नशिख 483
रत्नशिखर 483
रत्नश्रवा 484
(क) रत्नसार 485
(ख) रत्नसार 485
रत्नाकर 486
रत्नाकर सूरि (आचार्य) 486
रत्नावती 486
रथनेमि 486
रमणीक लाल 486
रवि वर्मा 487
रसाल कुमार 487
राजसिंह 489
राजसेन 489
राजसेना 489
राजी (आर्या) 489
राजीमती 489
राज्यपाल 489
राम (बलदेव) 489
रामकृष्णा 491
रामचन्द्र (आचार्य) 491
रामरक्षिता (आर्या) 492
रामा (आर्या) 492
रामादेवी 492
रावण 492
रुक्मी 492
(क) रुक्मिणी 493
(ख) रुक्मिणी 493
(ग) रुक्मिणी 493
(क) रुद्र 494
(ख) रुद्र 494
(क) रुद्रदत्त 494
(ख) रुद्रदत्त 495
रुद्रसूरि (आचार्य) 495
रूपकला 496
रूपकांता (आर्या) 497
रूपप्रभा (आर्या) 497
रूपली 497
(क) रूपवती (आर्या) 498
(ख) रूपवती (आर्या) 498
रूपसुंदरी 498
रूपसेन 498
रूपांशा (आर्या) 498
रूपा (आर्या) 498
रूपीराज 499

(क) रेणुका 499
(ख) रेणुका 499
(क) रेवती 499
(ख) रेवती 500
(ग) रेवती 500
(घ) रेवती 500
रेवती नक्षत्र (आचार्य) 501
रैन मंजूषा 501
रोहक 501
(क) रोहगुप्त 505
(ख) रोहगुप्त (निन्हव) 505
(क) रोहिणी 506
(ख) रोहिणी 507
(ग) रोहिणी 508
(घ) रोहिणी 508
(ङ) रोहिणी (आर्या) 508
(च) रोहिणी (आर्या) 509
रोहिणेय चोर 509

ल

लकुच 510
लक्खी बनजारा 511
लक्ष्मण (वासुदेव) 511
(क) लक्ष्मणा 511
(ख) लक्ष्मणा 512
(ग) लक्ष्मणा 512
लक्ष्मी 512
लक्ष्मीधर सेठ 514
लक्ष्मीपुञ्ज 514
लक्ष्मीवती 516
लच्छीनिवास 516
(क) ललितांग 516
(ख) ललितांग 518
(ग) ललितांग 518
लव 518
लव जी ऋषि (आचार्य) 518
लीलापत 519
(क) लीलावती 520
(ख) लीलावती 520
(ग) लीलावती 521
(घ) लीलावती 521
(ङ) लीलावती 521
लेतिकापिता (श्रावक) 521
लेप गाथापति 522
लोंकाशाह 522
लोहित्य (आचार्य) 523

व

वच्छराज 524
वज्रजंघ 524
वज्रधर स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 524
वज्रनाभ 524
वज्रबाहु 524
वज्रवीर्य 525
वज्रसेन (आचार्य) 525
वज्रसेना (आर्या) 526
वज्रस्वामी (आचार्य) 526
वत्सराज 529
वनमाला 530
वनराज चावड़ा (राजा) 530
वप्रा 530
वयरसेन 530
(क) वरदत्त 530
(ख) वरदत्त (कुमार) 531
(ग) वरदत्त (गणधर) 532
(घ) वरदत्त (मुनि) 532
वरधनु 533
वराह 533
वरुण 533
वरुण देवी 533
वरुणा 533
वर्धमान 533
वल्कलचीरी 534
वल्मीक 535
वसंतमाधव 535
वसन्तर 535

वसन्तश्री 536
वसन्तसेना 536
वसुंधरा 536
वसुंधरा (आर्या) 536
(क) वसु 536
(ख) वसु (आचार्य) 537
(ग) वसु (आर्या) 537
वसुगुप्ता (आर्या) 537
वसुदत्त 537
वसुदेव 537
वसुधीर 537
वसुपाल 538
वसुपूज्य 538
(क) वसु ब्राह्मण 538
(ख) वसु ब्राह्मण 538
वसुभूति 538
(क) वसुमती 538
(ख) वसुमति 538
(ग) वसुमति (आर्या) 538
वसुमित्रा (आर्या) 538
वसुमित्र 539
वसु राजा 539
वसुसार 540
वस्तुपाल (तेजपाल) 540
वाग्भट्ट (कवि) 540
वादिदेव (आचार्य) 541
वादिराज (आचार्य) 541
वामादेवी 541
वायुभूति (गणधर) 541
वारत्त गाथापति 542
वारिखिल्ल 542
वारिषेण कुमार 542
वारुणी 542
वासवदत्ता 542
वासुदेव 542
वासुपूज्य (तीर्थंकर) 543
विंध्य 543
विकट 543
विक्रम कुमार 543
विक्रमादित्य 544
विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल साहसतुंग 545
विचित्रवीर्य 545
विजय 545
विजय कुमार 546
विजयघोष 546
(क) विजयचन्द्र 546
(ख) विजयचन्द्र 547
(क) विजय चोर 547
(ख) विजय चोर 547
विजयदेव (आचार्य) 547
विजय देवी 548
विजय (बलदेव) 548
विजयमित्र नरेश 548
विजयमित्र सेठ 548
(क) विजय राजा 548
(ख) विजय राजा 548
(ग) विजय राजा 548
विजय-विजया 548
(क) विजयसेन 549
(ख) विजयसेन (आचार्य) 549
(क) विजया 550
(ख) विजया 550
(ग) विजया 550
(घ) विजया 550
(ङ) विजया 550
(च) विजया 550
(छ) विजया 550
विदर्भ 550
(क) विदुर 550
(ख) विदुर 551
विद्यानन्द (आचार्य) 551
विद्युत् (आर्या) 551
विद्युत्गति 551
विद्युता (आर्या) 551
विद्युल्लता 551
विद्रदाज नरेश 552

विद्युत्सेन 552
विनयंधर 552
विनयवती 553
विनयसुंदरी 554
विभीषण 555
(क) विमल 555
(ख) विमल (आचार्य) 556
विमलनाथ (तीर्थंकर) 557
विमल मुनि 557
विमलवाहन 557
विमलशाह (मंत्री) 557
(क) विमला 558
(ख) विमला (आर्या) 559
(ग) विमला देवी 559
विलास 559
विशल्या 559
(क) विशाखदत्त 560
(ख) विशाखदत्त 560
विशाखा 561
विशालधर स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 561
विशुद्ध केवली 561
(क) विश्वभूति 561
(ख) विश्वभूति 562
(ग) विश्वभूति (ब्राह्मण) 562
विश्वसेन 563
विष्णु 563
विष्णुकुमार मुनि 563
विष्णुदेवी 563
विष्णु राजा 563
(क) वीर 563
वीर (आचार्य) 564
वीरक 564
वीरकुमार 564
वीरकृष्णा 565
वीर जी बोहरा 565
वीरदमन 565
वीर बंकेयरस 565
वीरमान (उदयभान) 566
वीरमती 567
वीर राजा 568
वीर श्रेणी 568
(क) वीरसेन 569
(ख) वीरसेन (आचार्य) 569
वीरसेन स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 570
(क) वीरसेना 570
(ख) वीरसेना 570
वीरांगद 570
वृद्धवादी (आचार्य) 571
वृषभदत्त 571
वृषभदेव 571
वैजयंती 571
वैदर्भी 571
वैरिसिंह 571
वैशालिक 572
वैश्यायन तपस्वी 573
वैश्रमण भद्र अणगार 573
व्यक्त स्वामी (गणधर) 573

श

शंकर सेठ 574
(क) शंख 574
(ख) शंख 574
(ग) शंख 574
(घ) शंख 575
(ङ) शंख 575
(च) शंख (राजा) 576
शकटकुमार 576
शकडाल महामंत्री 576
शक क्षत्रप षोडास 576
शतानीक 577
शत्रुञ्जय पर्वत 577
शत्रुघ्न 577
शय्यंभव (आचार्य) 577
शान्तनु राजा 579
शान्तिनाथ (तीर्थंकर) 579
शान्त्याचार्य (शान्ति आचार्य) 580

शाम्ब कुमार 580
शाकटायन (आचार्य) 580
शाल 580
शालार्य व्यंतरी 581
शालिभद्र 581
शालिशुक मौर्य 582
शिखावती 582
(क) शिव 582
(ख) शिव कुमार 582
(ग) शिव कुमार 583
शिवभद्र 584
शिव राजर्षि 584
शिवशर्म सूरि (आचार्य) 585
(क) शिवा 585
(ख) शिवा (आर्या) 585
(ग) शिवा देवी 585
शिवानन्दा 585
शिशुपाल 586
शीतलनाथ (तीर्थंकर) 586
शीलगणसूरि (आचार्य) 586
शीलपुंज 587
(क) शीलवती 587
(ख) शीलवती 588
(ग) शीलवती 588
(घ) शीलवती 589
शीलांकाचार्य 590
शुंभा (आर्या) 591
शुक अणगार 591
शुभंकर (आचार्य) 591
शुभचन्द्र (आचार्य) 591
शुभमति 591
शूर 591
शूरचन्द्र 591
शूरपाल 592
शूलपाणि (यक्ष) 593
शेषवती 593
शैलक (यक्ष) 593
शैलक राजर्षि 593
शैलोदायी परिव्राजक 594
शोभनराय (राजा) 594
शोभनाचार्य 594
शौरिकदत्त 595
श्यामदत्ता 596
श्यामाचार्य 596
श्यामारानी 597
श्येन 597
श्रमण 598
श्रमणभद्र कुमार 598
श्रीकान्ता 598
श्रीगुप्त 598
श्रीदेव राजा 599
(क) श्रीदेवी 599
(ख) श्रीदेवी 599
(ग) श्रीदेवी 599
(क) श्रीपाल (मैनासुंदरी) 599
(ख) श्रीपाल (श्रेष्ठी) 601
(क) श्रीमती 602
(ख) श्रीमती 603
(ग) श्रीमती 604
(घ) श्रीमती 604
(ङ) श्रीमती 605
(च) श्रीमती 605
(छ) श्रीमती 605
(ज) श्रीमती 605
श्रीमद् रायचंद भाई 605
(क) श्रीयक 606
(ख) श्रीयक 606
श्रीवर्म राजा 606
श्री विक्रम 606
श्रेणिक राजा 606
(क) श्रेयांस (कुमार) 608
(ख) श्रेयांस (मुनि) 609
(ग) श्रेयांस (राजा) 609
श्रेयांसनाथ (तीर्थंकर) 609

ष

षाण्डिल्य (आचार्य) 610

स

(क) संगम (देव) 611
(ख) संगम (शालिभद्र) 611
संघदत्त 612
संजय राजर्षि 612
सम्प्रति (राजा) 612
संभवनाथ (तीर्थंकर) 613
संभूतविजय (आचार्य) 613
(क) संवर 614
(ख) संवर 614
संवेग 614
सकडालपुत्र (श्रावक) 615
सखा जी 616
सगर (चक्रवर्ती) 617
(क) सज्जन 617
(ख) सज्जन कुमार 617
सती (आर्या) 617
सतेरा (आर्या) 617
सत्यकी (राजा) 617
सत्यनेमि 617
सत्यभामा 618
सत्यभूति 618
सत्यवती 618
सदयवत्स 619
सनत्कुमार (चक्रवर्ती) 619
सन्मति 620
सप्तर्षि 620
समन्तभद्र (आचार्य) 621
समन्तभद्राचार्य 621
समर केसरी 621
समरादित्य केवली 621
(क) समुद्र 624
(ख) समुद्र (आचार्य) 624
(ग) समुद्र (कुमार) 624
(क) समुद्रदत्त 624
(ख) समुद्रदत्त 626
समुद्रपाल 626
(क) समुद्रविजय 626
(ख) समुद्रविजय 626
समृद्धदत्त 626
(क) सरस्वती 627
(ख) सरस्वती 628
(ग) सरस्वती 629
(घ) सरस्वती 629
(ङ) सरस्वती (आर्या) 630
सर्वज्ञप्रभा 630
सर्वभूति 631
(क) सर्वानुभूति अणगार 631
(ख) सर्वानुभूति अणगार 631
सर्वार्थ 631
(क) सहदेव 632
(ख) सहदेव 633
(क) सहदेवी 633
(ख) सहदेवी 633
सहस्रकला 633
सहस्रमल्ल 633
सहस्रांशु 635
(क) सागर 635
(ख) सागर 635
(ग) सागर (कुमार) 635
(क) सागरचन्द्र (कुमार) 635
(ख) सागरचंद्र (मुनि) 637
(क) सागरदत्त 637
(ख) सागरदत्त 637
(ग) सागरदत्त 637
(घ) सागरदत्त 638
सामज्ज मुनि 639
सायर 639
सारण कुमार 639
सालिहीपिता श्रावक 639
सावियब्बे 639
साहसगति 639

(क) सिंह 640
(ख) सिंह 641
सिंह अणगार 641
(क) सिंहगिरि 641
(ख) सिंहगिरि (आचार्य) 641
सिंहभद्र 641
(क) सिंहरथ 642
(ख) सिंहरथ 642
सिंहल कुमार 642
(क) सिंहसेन 643
(ख) सिंहसेन 643
सिद्धर्षि (आचार्य) 643
सिद्धसेन दिवाकर (आचार्य) 644
(क) सिद्धार्थ 646
(ख) सिद्धार्थ (आचार्य) 646
(ग) सिद्धार्थ राजा 646
सिद्धार्था 646
(क) सीता 646
(ख) सीता 647
सीमन्धर स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 647
सुन्दर राजा 648
सुन्दर सेठ 649
(क) सुन्दरी 649
(ख) सुन्दरी 650
सुन्दरीनन्द 650
सुकाली 650
सुकुमारिका 650
सुकुमालिका 651
सुकृष्णा 651
सुकौशल 651
सुकौशल मुनि 651
(क) सुगन्धा 651
(ख) सुगंधा 652
(क) सुग्रीव 652
(ख) सुग्रीव (राजा) 652
(ग) सुग्रीव (राजा) 652
सुघोषा (आर्या) 652
सुजय राजर्षि 653
(क) सुजात कुमार 653
(ख) सुजात कुमार 655
सुजात स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 656
सुजाता 656
सुतारा 656
सुतारा देवी 656
(क) सुदर्शन 656
(ख) सुदर्शन 656
(ग) सुदर्शन (अर्जुनमाली) 657
(घ) सुदर्शन (गाथापति) 657
(ङ) सुदर्शन (नृप) 657
(च) सुदर्शन (बलदेव) 658
(छ) सुदर्शन (मुनि) 658
(ज) सुदर्शन सेठ (शूली-सिंहासन) 659
(क) सुदर्शना 660
(ख) सुदर्शना 661
(ग) सुदर्शना (आर्या) 661
सुदृढ़ राजा 661
सुधर्मा अणगार 661
सुधर्मा स्वामी (गणधर) 661
सुधासिन्धु 661
(क) सुनंद 662
(ख) सुनंद 662
(क) सुनन्दा 662
(ख) सुनन्दा 663
(ग) सुनन्दा 663
(घ) सुनन्दा 663
(ङ) सुनन्दा 663
(च) सुनन्दा 663
सुनक्षत्र अणगार 664
सुपार्श्वनाथ (तीर्थंकर) 664
सुप्रतिबुद्ध (आचार्य) 664
सुप्रतिष्ठित गाथापति 664
सुप्रभ (बलदेव) 665
(क) सुप्रभा 665
(ख) सुप्रभा 665
(ग) सुप्रभा 665
सुबाहु कुमार 665

सुबाहु स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 666
(क) सुबुद्धि 666
(ख) सुबुद्धि 667
(ग) सुबुद्धि 667
(घ) सुबुद्धि 667
(ङ) सुबुद्धि (प्रधान) 667
सुभगा (आर्या) 668
सुभद्र सेठ 668
(क) सुभद्रा 668
(ख) सुभद्रा 668
(ग) सुभद्रा 669
(घ) सुभद्रा 669
(ङ) सुभद्रा 669
(च) सुभद्रा 669
(छ) सुभद्रा 669
(ज) सुभद्रा (महासती) 669
सुभूम (चक्रवर्ती) 671
सुमंगल राजा 672
(क) सुमंगला 673
(ख) सुमंगला 673
(ग) सुमंगला 674
सुमणिभद्र 674
सुमतिचन्द्र 674
सुमतिनाथ (तीर्थंकर) 674
सुमति मंत्री 675
सुमतिसागर मुनि 675
सुमनचन्द्र 676
सुमनभद्र गाथापति 677
सुमनायिका 677
सुमरुता 677
सुमित्र 677
सुमित्रा 677
(क) सुमुख 677
(ख) सुमुख 677
(ग) सुमुख-दुर्मुख 677
सुरसुन्दर 677
(क) सुरसुंदरी 679
(ख) सुरसुंदरी 681
(ग) सुरसुंदरी 682
(घ) सुरसुंदरी 682
(ङ) सुरसुंदरी 682
सुरादेव (श्रावक) 682
(क) सुरूपा (आर्या) 682
(ख) सुरूपा (आर्या) 682
(क) सुलस 683
(ख) सुलस 684
(क) सुलसा 684
(ख) सुलसा 686
सुलोचना 686
सुवासव कुमार 686
सुविधिनाथ (तीर्थंकर) 687
(क) सुव्रत 687
(ख) सुव्रत 688
सुव्रत (मुनि) 688
(क) सुव्रता 688
(ख) सुव्रता (आर्या) 688
(क) सुव्रताचार्य 688
(ख) सुव्रताचार्य 688
सुशीला 689
सुषमा 689
(क) सुसीमा 689
(ख) सुसीमा 689
(ग) सुसीमा 689
सुस्वरा (आर्या) 689
सुस्थित (आचार्य) 689
(ख) सुस्थित (देव) 690
सुस्थिर (आचार्य) 690
सुहस्ती (आचार्य) 690
सुहाग सुंदरी 691
सूर 692
सूरप्रभ स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 692
सूराचार्य 692
सूर्पणखा 692
सूर्यकान्त 692
सूर्यकान्ता 693
सूर्यप्रभा (आर्या) 693
सूर्ययश 693
सेठ पूर्णचन्द 694

सेनक तापस 694
(क) सोना देवी 694
(ख) सोना देवी 694
(क) सोम 694
(ख) सोम 694
सोमचन्द्र 694
सोम जी ऋषि 695
(क) सोमदत्त 695
(ख) सोमदत्त (सोमदेव) 695
(क) सोमदेव 695
(ख) सोमदेव (आचार्य) 696
(क) सोमप्रभ (आचार्य) 696
(ख) सोमप्रभ (आचार्य) 696
(ग) सोमप्रभ (राजा) 697
सोमभूति 697
सोमवसु 697
(क) सोमशर्मा 697
(ख) सोमशर्मा 698
(क) सोमश्री 699
(ख) सोमश्री 699
सोमसुन्दर सूरि (आचार्य) 699
(क) सोमा 699
(ख) सोमा 700
(ग) सोमा 700
(घ) सोमा 700
(ङ) सोमा (परिव्राजिका) 702
सोमाई महत्तरा 702
(क) सोमिल (ब्राह्मण) 702
(ख) सोमिल (ब्राह्मण) 702
(ग) सोमिल (ब्राह्मण) 703
सोमिल (मुनि) 703
सौदामिनी (आर्या) 703
सौभाग्यमंजरी 704
सौभाग्यसुंदरी 704
(क) स्कंदक (कुमार) 704
(ख) स्कंदक (परिव्राजक) 705
स्कन्दिलाचार्य 705
स्तिमित 706
स्थूलभद्र (आचार्य) 706
स्वयंप्रभ स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) 707
(क) स्वयंभू 707
(ख) स्वयंभू (वासुदेव) 707
(क) स्वयंभूदेव 708
(ख) स्वयंभूदेव (कवि) 708
स्वरूपश्री 708
स्वस्तिका 708
स्वाति (आचार्य) 709
स्वातिदत्त 709

ह

हंस 710
हंसराज (वच्छराज) 710
हंसावली 712
हनुमान 712
हरजसराय (कवि) 712
हरिकेशी मुनि 713
हरिचन्दन गाथापति 714
हरिनन्दी 714
हरिबल 714
हरिभद्र (आचार्य) 717
हरिराजा 718
हरिश्चन्द्र राजा 719
(क) हरिसेन 720
(ख) हरिसेन (चक्रवर्ती) 720
हस्तिपाल राजा 720
हस्तीमित्र 720
हारिल (आचार्य) 721
हालिक मुनि 721
हिडिम्बा 722
हिमवन्त (आचार्य) 722
हीरविजय (आचार्य) 722
हुकुमचंद जैन कानूनगो (अमर शहीद) 723
हुक्मीचन्द जी महाराज (आचार्य) 724
हेमचन्द्र आचार्य (कलिकाल सर्वज्ञ) 724
हेमचन्द्र मलधारी (आचार्य) 725
हैमवन्त कुमार 725
होलिका 725
ह्री (आर्या) 726

जैन
चरित्र
कोश

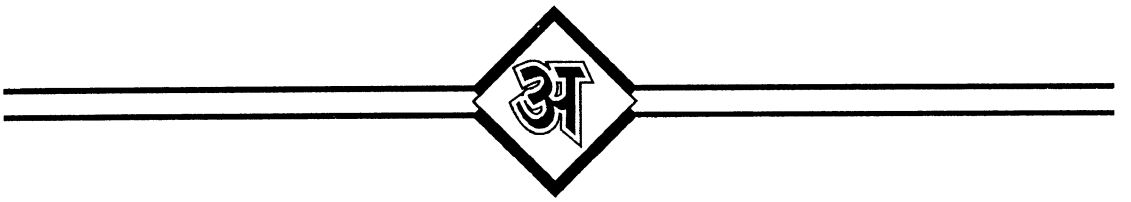

अंक

अंक-ज्ञान ज्ञान-विज्ञान और अध्यात्म का मूल हेतु है। अंक की उत्पत्ति की कथा इस प्रकार है–

प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव दीक्षा लेने से पूर्व अयोध्या नगरी के राजा थे। उनके भरत, बाहुबली आदि सौ पुत्र और ब्राह्मी व सुंदरी नामक दो पुत्रियां थीं। राजा ऋषभदेव ने जगत में कर्मयुग का सूत्रपात किया। उन्होंने जगत को यौगलिक युग से मुक्ति देकर असि, मसि, कृषि के आविष्कार द्वारा कर्म पथ पर बढ़ने की प्रेरणा दी। इस कार्य में उन्होंने अपने पुत्रों और पुत्रियों को भी सहयोगी बनाया। उसी क्रम में एक बार ऋषभदेव सिंहासन पर बैठे हुए थे। उनकी दोनों पुत्रियां ब्राह्मी और सुंदरी खेलते-खेलते उनके पास आई और उनकी गोद में बैठ गई। दायीं गोद में ब्राह्मी और बायीं गोद में सुंदरी बैठी। ऋषभदेव ने ब्राह्मी की हथेली पर वर्ण लिखे, जिनसे शब्द, वाक्य और भाषा की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मी की हथेली से उत्पन्न होने के कारण उसे 'ब्राह्मी लिपि' नामकरण प्राप्त हुआ।

बायीं गोद में बैठी हुई सुंदरी की हथेली पर ऋषभदेव ने एक-दो-तीन-चार आदि अंक लिखे। बायीं ओर बैठने के कारण वे अंक दाएं से बाएं पढ़े गए। अंक पठन की वही परंपरा आज तक चली आई है। इस प्रकार सुंदरी के माध्यम से ऋषभदेव ने अंक विद्या, गणित और विज्ञान का आविष्कार किया। सृष्टि में इस प्रकार अंकों की उत्पत्ति हुई।

–ऋषभ चरित्र

अंगद

अंगद किष्किंधा नरेश सुग्रीव का पुत्र था। उसकी माता का नाम तारा था। उसका एक सहोदर था जिसका नाम जयानंद था।

जैन रामायण के अनुसार वानरवंशी अंगद विविध विद्याओं में निष्णात, धीर, वीर और अजेय योद्धा था। वह एक भक्त हृदय युवक भी था। हनुमान की तरह ही उसके हृदय में भी श्रीराम के प्रति सुदृढ़ श्रद्धा भाव था। सीता-खोज से लेकर लंका विजय तक के प्रत्येक अभियान में वह श्रीराम का अनुगामी बना रहा। राम-रावण युद्ध में उसने अपने पराक्रम से राक्षस-सेना को चकित कर दिया था।

वैदिक रामायण के अनुसार युद्ध प्रारंभ होने से पूर्व श्रीराम ने उसे अपना दूत बनाकर रावण के पास भेजा। अंगद ने विविध प्रकार के नीतियुक्त वचनों से रावण को समझाने की कोशिश की। अपने बल के घमंड में रावण ने अंगद के नीति वचनों का उपहास उड़ाया। तब अंगद ने रावण की राज्यसभा में अपने पांव को भूमि पर जमाया। लंका का कोई भी वीर अंगद के पांव को उसके स्थान से हिला नहीं सका। 'अंगद का पैर' यह वाक्य किसी अडिग स्थिति के अर्थ रूप में आज रूढ़ हो गया है।

पिता के बाद अंगद किष्किंधा के सिंहासन पर आसीन हुआ। उसने न्याय और नीतिपूर्वक शासन किया।

–जैन रामायण

अंजन चोर

राजगृह नगरी के निकटवर्ती गिरि-गुफाओं में रहने वाला एक चोर। उसके पास दिव्य अंजन था, जिसे आंखों में आंजने पर वह अदृश्य हो जाता था। इसीलिए वह उक्त नाम से प्रसिद्ध हो गया था।

राजगृह नगर में ही एक धर्मात्मा सेठ रहता था, जिसका नाम 'जिनदत्त' था। जिनदत्त जैन धर्म का अनन्य अनुरागी था। श्रमणों के प्रति उसके हृदय में सुदृढ़ श्रद्धाभाव था। उसे गगनगामिनी विद्या सिद्ध थी। उस विद्या का उपयोग वह केवल तीर्थंकर देव के दर्शनार्थ गमनागमन में करता था, अन्य लौकिक कार्यों में नहीं।

जिनदत्त का एक विनम्र सेवक था, जिसका नाम रामदत्त था। रामदत्त की सेवाभक्ति से प्रसन्न होकर जिनदत्त ने उसे गगनगामिनी विद्या सिखा दी। विद्यासिद्धि के लिए रामदत्त जंगल में गया। सेठ द्वारा निर्देशित विधि के अनुसार उसने पूरा उपक्रम किया। एक विशाल टोकरे के छोरों पर एक सौ आठ रस्सियां बांधीं। वृक्ष की शाखा से वह टोकरा बांध दिया। टोकरे के ठीक नीचे भूमि पर तीक्ष्ण भाले-बर्छियां स्थापित किए गए। इस पूरे उपक्रम को पूर्ण कर रामदत्त टोकरे में जा बैठा और नवकार मंत्र उच्चारित करने लगा। नवकार मंत्र के प्रत्येक उच्चारण के साथ उसे एक-एक रस्सी को काटना था। परंतु उसका हृदय संदेहशील था कि कहीं रस्सियों को काट देने से वह भूमि पर आ गिरे और भालों से बिंध जाए। वह बार-बार मंत्र का उच्चारण करता पर रस्सियों को काटने का साहस न जुटा पाता।

उधर संयोग से अंजन चोर सैनिकों द्वारा घेर लिया गया। वह भूलवश अंजन को अपने निवास पर ही छोड़ गया था। वह भागता हुआ उसी स्थान पर आ गया, जहां रामदत्त विद्या सिद्ध कर रहा था। उसे देखकर अंजन चोर समझ गया कि संदेहशील होने से वह विद्या सिद्धि में पुनः पुनः असफल हो रहा है। उसने शीघ्रता से रामदत्त से मंत्र सीखा और स्वयं विद्या-सिद्धि की इच्छा प्रगट की। रामदत्त ने अंजन को अनुमति दे दी। देखते-ही-देखते अंजन चोर टोकरे में जा बैठा और सुदृढ़ विश्वास के साथ मन्त्रोच्चार करते हुए क्रमशः रस्सियों को काट डाला। सभी रस्सियों के कटते ही टोकरा भूमि पर जा गिरा और अंजन चोर आकाश में उड़ गया। यह घटना अल्प समय में ही घट गई। जब तक सैनिक वहां पहुंचे, अंजन चोर आकाश में उड़ चुका था।

रामदत्त को एक शिक्षा सूत्र मिला कि संशय विफलता का एवं श्रद्धा सफलता का मूल कारण है।

कालान्तर में अंजन चोर ने जान लिया कि जिनदत्त श्रेष्ठी से ही उसे गगनगामिनी विद्या प्राप्त हुई है। जिनदत्त को उसने अपना प्राण-रक्षक माना। उसने सेठ जी से मैत्री स्थापित की। सज्जनों की मैत्री सर्व श्रेष्ठताओं का द्वार होती ही है। जिनदत्त के साथ अंजन चोर भी श्रमणों के दर्शनों के लिए जाने लगा। उसने चौर्य कर्म का परित्याग कर दिया और सागार धर्म का अनुगामी बन कल्याण पथ का पथिक बन गया।

अंजना

जैन और वैदिक रामायणों तथा पौराणिक कथा साहित्य के अनुसार एक पतिपरायण सन्नारी, वीरवर हनुमान की जननी। महेन्द्रपुर नरेश महाराज महेन्द्र अंजना के पिता और उनकी रानी हृदयसुन्दरी अंजना की माता थी। अंजना सौ भाइयों की इकलौती बहन थी। जब वह युवा हुई तो उसके लिए अनेक राजकुलों से वैवाहिक प्रस्ताव आए। महाराज महेन्द्र को दो राजकुमार पसन्द आए—राजकुमार विद्युत्प्रभ और पवनंजय। निमित्तज्ञों से महाराज को ज्ञात हुआ कि विद्युत्प्रभ चरम शरीरी है और उसका आयुष्य अठारह वर्ष का ही

शेष है। पवनंजय दीर्घजीवी है। महाराज ने दीर्घजीवी पवनंजय से अंजना का सम्बन्ध कर दिया।

उचित समय पर महाराज प्रह्लाद अपने पुत्र पवनंजय की बारात सजाकर महेन्द्रपुर आए। विवाह के मुहूर्त्त में अभी तीन दिन शेष थे। रात्रि के समय पवनंजय के मन में अपनी होने वाली पत्नी को देखने का भाव जगा। अपने अंतरंग मित्र प्रहसित के साथ वह अंजना के महल के पास पहुंचा और दीवार की ओट लेकर सखियों से घिरी बैठी अंजना को देखने लगा। सखियां अंजना के भावी पति के बारे में ही चर्चा कर रही थीं। कोई पवनंजय की प्रशंसा कर रही थी तो कोई विद्युत्प्रभ की। बीच में अंजना ने कहा, विद्युत्प्रभ को धन्य है जो भोगों का त्याग कर मोक्ष प्राप्त करेगा। अंजना के इस वचन को सुनकर पवनंजय को लगा कि वह विद्युत्प्रभ के प्रति आकर्षित है। पवनंजय उसी क्षण अंजना का त्याग करने को तत्पर हो गया। पर पितृ-वचन की अवहेलना न हो इसलिए उसने विवाह के पश्चात् अंजना का त्याग करने का निश्चय कर लिया। विवाह होने पर अंजना पितृ-गृह का त्याग कर पति-गृह में आई। पर पवनंजय तो उसे अपनाने से पूर्व ही त्याग चुका था। अंजना की पति-प्रतीक्षा प्रतीक्षा ही बनी रही। कहते हैं कि बारह वर्षों तक पवनंजय ने अपना चेहरा भी अंजना को नहीं दिखाया।

पर अंजना ने कभी पति को दोष नहीं दिया। अपने कर्मों का दोष ही वह मानती रही। एक बार जब रावण के आदेश पर पवनंजय वरुण से युद्ध करने जा रहा था तो साहस करके अंजना पति को शकुन देने आई। पवनंजय ने ठोकर मारकर न केवल उसके शकुन पात्र को गिरा दिया, बल्कि उसे अपशब्दों से अपमानित भी किया। इस पर भी अंजना ने पति के अहित का चिंतन नहीं किया। सेना के साथ पवनंजय ने प्रस्थान किया। रात्रि विश्राम के लिए जंगल में पड़ाव डाला। जिस वृक्ष के नीचे पवनंजय ठहरा था, उस वृक्ष पर चकवा-चकवी युगल का घोंसला था। प्रकृति के नियमानुसार चकवा और चकवी रात्रि में परस्पर मिल नहीं सकते। अलग-अलग शाखाओं पर बैठे चकवा-चकवी क्रन्दन कर रहे थे। पवनंजय उस क्रन्दन को सहन न कर सका। उसने अपनी हृदय-व्यथा मित्र प्रहसित से कही। प्रहसित ने प्राकृतिक नियम की बात कही। पवनंजय को तत्क्षण अंजना का ख्याल हो आया जो बारह वर्षों से परित्यक्ता का जीवन जी रही थी। मित्र के मशविरे पर रात्रि में ही पवनंजय विद्या-बल से अंजना के महल में पहुंचा और उससे क्षमा मांगी। क्षण-भर में ही अंजना बारह वर्षीय विरह-रात्रि को भूल गई। पति-पत्नी का मधुर मिलन हुआ। निशानी के रूप में अपनी मुद्रिका अंजना को देकर पवनंजय सूर्योदय से पूर्व ही छावनी में पहुंच गया।

उधर युद्ध में पवनंजय को कई महीने लग गए। यथासमय अंजना में गर्भ के लक्षण प्रकट हुए तो सास-श्वसुर ने उसे कलंकिनी घोषित करके महलों से निकाल दिया। अंजना की कोई बात नहीं सुनी गई। अपनी दासी के साथ अंजना अपने पिता के नगर में पहुंची पर दुष्कर्मों के वेग इतने प्रबल थे कि वहां उसे शरण तो क्या मिलनी थी, पानी की बूंद तक नहीं मिली। आखिर जंगल में एक पर्वत-गुफा में अंजना ने एक पुत्र को जन्म दिया। इसी के साथ उसके भाग्य ने पलटा खाया और उसका मामा उसे अपने नगर ले गया, जहां अंजना के पुत्र को हनुमान नाम दिया गया।

युद्ध जीत कर पवनंजय लौटे। अंजना को न पाकर और वस्तुस्थिति जानकर अचेत हो गए। चेतना लौटने पर उन्होंने प्रण किया कि जब तक अंजना को नहीं देख लेंगे तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करेंगे। आखिर अंजना को ससम्मान लाया गया। आगे का जीवन सुखपूर्वक रहा। अंत समय में पवनंजय और अंजना दीक्षित हो स्वर्गस्थ हुए।

—अंजना चरित्त

अंजू (आर्या)

इनका समग्र परिचय काली आर्या के समान है। विशेषता इतनी है कि इनका जन्म हस्तिनापुर नगर में हुआ था और मृत्यु के पश्चात् ये शक्रेन्द्र महाराज की पट्टमहिषी के रूप में जन्मी। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 9, अ. 4

अंजूश्री

एक बार श्रमण भगवान महावीर स्वामी अपनी शिष्य मण्डली सहित वर्द्धमानपुर नगर में पधारे। षष्ठ तप के पारणक के लिए गौतम स्वामी नगर में गए। भिक्षा प्राप्त कर लौटते हुए उन्होंने एक रुग्ण स्त्री को देखा। उस स्त्री के शरीर का रक्त और मांस सूख चुका था। उसकी अस्थियां किट-किट ध्वनि कर रही थीं। अत्यंत कष्ट का अनुभव करते हुए उस स्त्री को देखकर गौतम स्वामी कर्मों के विपाक पर चिन्तन करने लगे। अपने स्थान पर पहुंचकर आहारादि से निवृत्त हो गौतम स्वामी भगवान महावीर के सान्निध्य में आए और वन्दन कर देखी गई उस स्त्री के बारे में जिज्ञासा प्रस्तुत की। भगवान महावीर ने उस स्त्री का पूर्वजन्म-सम्बन्धी वृत्तान्त सुनाते हुए फरमाया—

गौतम ! प्राचीन काल में इंद्रपुर नामक नगर में पृथ्वीश्री नाम की एक गणिका रहती थी। उसका रूप सुन्दर था और अनेक कलाओं में वह प्रवीण थी। अपने रूप और कलाओं के बल पर वह राजा से लेकर रंक तक का आकर्षण बनी हुई थी। विरक्तों और उदासीनों को भी वह विविध वशीकरणादि चूर्णों-मंत्रों के योग से अपने वश में कर लेती और मनुष्य सम्बन्धी कामभोगों के भोग के साथ-साथ उनके धन का भी अपहरण कर लेती थी।

इस प्रकार सुदीर्घ काल तक पृथ्वीश्री कामभोगों के दलदल में आकण्ठ डूबी रही। वहां से काल-धर्म को प्राप्त करके वह छठी नरक में गई। 22 सागरोपम के प्रलम्ब काल तक नरक की दारुण वेदनाओं को भोग कर पृथ्वीश्री का जीव वर्द्धमानपुर नगर के धनदेव सार्थवाह की पत्नी प्रियंगु के गर्भ से पुत्री रूप में जन्मा, जहां उसका नाम अंजूश्री रखा गया। यौवनावस्था में अंजूश्री का रूप-लावण्य अतिशय रूप में वृद्धि को प्राप्त हुआ। उसका विवाह नगर नरेश विजयमित्र के साथ सम्पन्न हुआ।

कर्म किसी के सगे नहीं होते। उदय काल में वे राजा और रंक में भेद नहीं करते। अंजूश्री के भी पूर्वभविक पापकर्म उदय में आए और उसे योनिशूल रोग उत्पन्न हो गया। राजरानी होने के कारण उसके लिए वैद्यों और हकीमों की कमी नहीं थी। दूर-देशों तक के हजारों वैद्य भी प्रयास करके पराजय मान बैठे पर अंजूश्री को स्वस्थ न कर सके। ज्यों-ज्यों इलाज किए गए त्यों-त्यों व्याधि बढ़ती गई। आखिर राजा ने भी अंजूश्री को उपेक्षित छोड़ दिया। निरन्तर तीव्र वेदना और आहार-विहारादि के अभाव में अंजूश्री के शरीर का रक्त और मांस सूख गया। विलाप करते हुए वह इतस्ततः भटकने लगी।

भगवान महावीर स्वामी ने फरमाया—गौतम ! जिस स्त्री को तुमने देखा है, वह अंजूश्री ही है। पृथ्वीश्री के भव में उसने जिस अनार्य आचार-विचार से दुःसह कर्मों का बन्ध किया था, उन्हीं का फल वह भोग रही है।

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन् ! अंजूश्री का भविष्य कैसा होगा ?

भगवान ने फरमाया—गौतम ! यहां से कालधर्म को प्राप्त कर अंजूश्री नरक में जाएगी। वहां से पृथ्वीकायादि विभिन्न योनियों और नरकभूमियों में भटकने के बाद सर्वतोभद्र नगर में श्रेष्ठिपुत्र के रूप में

जन्म लेगी। वहां उसे सद्धर्म की प्राप्ति का योग प्राप्त होगा। तब उसकी विकास यात्रा का शुभारम्भ होगा। कालान्तर में वह महाविदेह क्षेत्र से सिद्ध होगी।

अंजूश्री का जीवन वृत्तान्त सुनकर गौतम स्वामी समाधीत हो गए और तप व संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। —विपाक सूत्र

अंधकवृष्णि

हरिवंशीय एक प्रतापी राजा, मथुरा नरेश सूर का पौत्र और सौरीपुर नरेश महाराज सौरि का पुत्र। समुद्रविजय, वसुदेव आदि उसके दस पुत्र थे जो दशार्ह कहलाए। उसकी दो पुत्रियां थीं—कुंती और माद्री। जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर अरिहंत अरिष्टनेमि अंधकवृष्णि के पौत्र और समुद्रविजय के पुत्र थे। वासुदेव श्री कृष्ण दशम दशार्ह वसुदेव के पुत्र थे। अंधकवृष्णि की पुत्री कुंती का पाण्डु से विवाह हुआ और युधिष्ठिर, अर्जुन तथा भीम उसके पुत्र हुए।

भोजकवृष्णि अंधकवृष्णि के चचेरे भाई थे। उनके दो पुत्र थे—उग्रसेन और देवसेन। उग्रसेन के दो पुत्र हुए—कंस और अतिमुक्त। देवसेन की एक पुत्री थी—देवकी। इसी देवकी से वासुदेव श्री कृष्ण ने जन्म लिया था। समय के साथ-साथ महाराज सूर का परिवार अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त हुआ। अरिष्टनेमि, कृष्ण, बलभद्र, गजसुकुमाल जैसे परम पुरुष इसी कुल परम्परा में पैदा हुए थे। —हरिवंश पुराण

अंब ऋषि

एक सदाचारी ब्राह्मण जो पत्नी की मृत्यु के बाद संसार से विरक्त बन गया और अपने पुत्र निम्बक के साथ श्रमणधर्म में प्रव्रजित हो गया। निम्बक अविनीत था। उसे पुनः पुनः संघ और सिंघाड़ों से निकाला गया। अम्बऋषि को भी पुत्रमोह के कारण पुत्र के साथ ही यत्र-तत्र भटकना पड़ा। आखिर अम्बऋषि निम्बक को समझाने में सफल हुआ और उसकी प्रार्थना पर उसे और निम्बक को पुनः आचार्य श्री ने संघ में सम्मिलित कर लिया। (देखिए-निम्बक)

अंबड़ वीर

अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व इस नाम के दो व्यक्ति हुए, दोनों में पर्याप्त समानताएं होते हुए भी यह सहज सिद्ध है कि ये दोनों व्यक्ति अलग-अलग थे। एक थे वीर अंबड़ और दूसरे थे अंबड़ संन्यासी। नाम और काल की साम्यता होने से कई लेखकों ने अन्वेषण / अनुसंधान पर ज्यादा ध्यान न देकर दोनों अंबड़ों के जीवन की घटनाओं का सम्मिश्रण कर दिया। ऐसा होना इसलिए भी अस्वाभाविक नहीं था कि लेखकों का लक्ष्य ऐतिहासिक नहीं बल्कि जीवन और दर्शन की महत्ता का प्रतिपादन करना था।

प्रस्तुत वीर अंबड़ अपने समय का एक अद्‌भुत साहसी, परम पराक्रमी और असंभव प्रायः कार्यों को सहज ही संभव कर दिखाने वाला पुरुष था। उसका जन्म एक निर्धन परिवार में हुआ था। आजीविका के साधन अंबड़ के पास नहीं थे। पर अंबड़ अंतःप्रेरणा से इस बात को जान चुका था कि धन जीवन का अनिवार्य अंग है और उसके बिना जीवन को सुगमता से नहीं जीया जा सकता। उसने धन कमाने का निश्चय किया। पुण्ययोग से उसका सम्पर्क गोरखयोगिनी से हुआ। उसने गोरखयोगिनी से कहा कि वह निर्धन है और धन चाहता है। गोरखयोगिनी युवक अंबड़ के व्यक्तित्व से बहुत प्रभावित हुई। उसने कहा, यदि तुम मेरी सात आज्ञाओं का पालन करोगे तो न केवल तुम्हारी निर्धनता दूर हो जाएगी बल्कि तुम विश्व के सर्वाधिक धनवान और बलवान व्यक्ति बन जाओगे, साथ ही बहुत बड़े साम्राज्य का स्वामित्व भी तुम्हें प्राप्त होगा।

अंबड़ ने कहा, मैं प्राण देकर भी आपकी आज्ञाओं को पूरा करूंगा। अंबड़ के साहस और संकल्प से प्रसन्न होकर गोरखयोगिनी ने उसे सात निर्देश दिए। अंबड़ ने क्रमशः सातों आदेशों का पालन किया। वे आदेश इतने कठिन और दुःसाध्य थे कि साधारण व्यक्ति उन्हें पूरा करने की कल्पना भी नहीं कर सकता। परन्तु अम्बड़ धुन का धनी था। अनेक बार उसका जीवन विकट बाधाओं से घिरा, अनेक बार वह मृत्युमुख में जाकर भी अपने धैर्य, साहस और पुण्य के बल पर जीवित लौट आया। गोरखयोगिनी के निर्देशों को पूरा करते हुए अम्बड़ को अकूत सम्पत्ति प्राप्त हुई। सहस्रों विद्याओं का वह स्वामी बना। बत्तीस श्रेष्ठ सुन्दर राजकुमारियों और कुमारियों से उसने पाणिग्रहण किया। अनेक देशों का वह राजा भी बना।

समृद्धि और सत्ता के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ होकर भी अम्बड़ में दया, कोमलता, भद्रता, विनम्रता आदि मानवीय गुण पूर्वापेक्षया प्रखर से प्रखरतर बनते रहे। उसने केशीकुमार श्रमण से श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किए। कालान्तर में उसने कई बार भगवान महावीर के भी दर्शन किए। एक बार उसने भगवान महावीर से अपने भविष्य के बारे में पूछा। भगवान ने फरमाया, अम्बड़! तुम्हारा भविष्य समुज्ज्वल है। आगामी चौबीसी में तुम देव नामक बाईसवें तीर्थंकर बनोगे। अपना समुज्ज्वल भविष्य सुनकर अम्बड़ गद्‌गद् हो गया। अन्तिम समय में अम्बड़ ने अपना साम्राज्य (रथनूपुर) अपने ज्येष्ठ पुत्र कुरुबक को सौंप दिया। श्रावक धर्म का उत्तम-रीति से पालन करते हुए वीर अंबड़ देहोत्सर्ग कर स्वर्ग में गया।

—अम्बड़ चरित्त (अमर सुन्दर सूरि)

अंबड़ संन्यासी

महावीरकालीन एक महान संन्यासी। संन्यासी होते हुए भी वह बारहव्रती श्रावक था। बेले-बेले पारणा करता था। तप के प्रभाव से उसे अनेक लब्धियां प्राप्त हो गई थीं। वैक्रिय लब्धि, अवधिज्ञान लब्धि और सौ घरों का भोजन पचा सके, ऐसी लब्धि उसे प्राप्त थी। वह एक ही समय में सौ स्थानों पर दिखाई दे सकता था और मनचाहे रूप धारण कर सकता था। उस युग में उसका विशेष सम्मान था। उसके सात सौ शिष्य थे। सभी गुरु के अनुगामी बनकर श्रावक धर्म का पालन करते थे।

अंबड़ और उसके शिष्य व्रत-रक्षा में पूर्ण सुदृढ़ थे। प्राण देकर भी वे अपने व्रतों का पालन करते थे। किसी समय अम्बड़ अपने सात सौ शिष्यों के साथ कंपिलपुर से पुरिमताल नगर जा रहा था। प्रचण्ड गर्मी थी। संन्यासी मार्ग भूल गए और एक भयानक जंगल में जा पहुंचे। प्यास से उनके कण्ठ जल रहे थे। पास ही गंगा नदी बह रही थी। पर वे अदत्त के त्यागी थे। वहां कोई व्यक्ति न था जो उन्हें जल पीने की आज्ञा देता। उन्होंने कुछ देर प्रतीक्षा की पर कोई न आया। उन्हें लगा कि अब प्राण बच पाने संभव नहीं हैं। अंबड़ के निर्देश पर सभी शिष्यों ने गंगा की रेत में बिस्तर लगा लिए और आमरण अनशन कर लिया। कुछ ही देर बाद उन सभी का देहान्त हो गया। अम्बड़ सहित सभी शिष्य देह त्याग कर पांचवें स्वर्ग में गए।

अंबड़ महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध होगा।

अकंपित (गणधर)

विमलापुरवासी ब्राह्मण देव और उसकी पत्नी जयन्ती के अंगजात तथा तीर्थंकर महावीर के ग्यारह गणधरों में आठवें। अपापा नगरी में सोमिल ब्राह्मण द्वारा आयोजित महायज्ञ के याज्ञिकों में प्रमुख। इन्द्रभूति गौतम आदि की तरह ही वे भी महावीर को शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए उनके पास पहुंचे। महासेन उद्यान में समवसृत महावीर के इस रहस्योद्‌घाटन के साथ ही कि वे 'नरक के अस्तित्व-नास्तित्व' के संदर्भ

में शंकित हैं, उनका अहं गल गया। अपने पांच सौ शिष्यों के साथ उन्होंने महावीर का शिष्यत्व अंगीकार कर लिया। उनचास वर्ष की अवस्था में दीक्षित होने वाले अकम्पित ने अठावन वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान पाया। अट्ठत्तर वर्ष की सम्पूर्ण आयु भोगकर उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया। —महावीर चरित्त

अकलंक भट्ट (आचार्य)

जैन परम्परा के एक विद्वान और वादि-मान-मर्दक जैन आचार्य। वी.नि. की चौदहवीं शती आचार्य भट्ट अकलंक का समय अनुमानित है। वह युग शास्त्रार्थों के लिए विख्यात रहा है। जैन, वैदिक और बौद्ध अपने-अपने पक्ष को मजबूत सिद्ध करने के लिए परस्पर शास्त्रार्थ करते थे। उस समय बौद्धों का विशेष प्रभाव था। आचार्य अकलंक ने बौद्ध विद्वानों से कई बार शास्त्रार्थ किए और उन्हें पराजित किया।

आचार्य अकलंक की गृहस्थावस्था के सम्बन्ध में विभिन्न मान्यताएं हैं। 'राजवलिकथे' ग्रन्थानुसार आचार्य भट्ट अकलंक का जन्म कांची के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनकी माता का नाम जिनमती और पिता का नाम जिनदास था। आराधना कथाकोष के अनुसार पुरुषोत्तम और पद्मावती उनके पिता-माता के नाम थे। एक अन्य मान्यतानुसार उन्हें लघुहव्व नामक नरेश का ज्येष्ठ पुत्र माना गया है।

अकलंक के सहोदर का नाम निष्कलंक था। बाल्यावस्था में ही दोनों भाइयों ने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत गुरु रविगुप्त से लिया था। दोनों भाइयों में अध्ययन रुचि अत्यधिक प्रबल थी। निकट जैन शिक्षण संस्थान न होने से दोनों भाइयों ने बौद्ध विद्यालय में प्रवेश ले लिया। उस युग में धर्मान्धता पराकाष्ठा पर थी। अन्य धर्म को मानने वाला अन्य धर्मी विद्यालय का छात्र नहीं हो सकता था। अकलंक-निष्कलंक बौद्ध शिक्षकों द्वारा पहचान लिए गए कि वे जन्मना जैन हैं। उन्हें मारने का आदेश जारी हुआ। दोनों कुमार जान बचाकर भागे। अकलंक बच गए, निष्कलंक मार दिए गए।

अकलंक मुनि बने और अपनी अध्ययन रुचि के कारण अपने युग के उत्कृष्ट विद्वान हुए। कालक्रम से वे आचार्य पद पर आसीन हुए। कई राजाओं पर उनका प्रभाव रहा। अपने युग के वे अपराजेय वादी रहे।

उनकी कई रचनाएं वर्तमान में प्राप्त हैं, जो उनकी विद्वत्ता की सहज परिचायक हैं।

—आराधना कथाकोष

अकलशा सेठ

घोघापाटण नगर का रहने वाला एक धर्मात्मा और संतोषी सेठ। नगर में उसकी संतोषवृत्ति और प्रामाणिकता का बड़ा सम्मान था। सेठ का अधिकांश समय सामायिक, संवर और स्वाध्याय को ही समर्पित था। सेठ की पत्नी का नाम भद्रा था जो एक पतिपरायण महिला थी। पर भद्रा की वृत्ति पति के समान संतोषप्रिय न थी। वह चाहती थी कि उसके पास बहुत धन-दौलत हो। किसी समय भद्रा पड़ौसी सेठ हीराचन्द की पत्नी लक्ष्मीदेवी से मिलने गई। लक्ष्मी देवी के उच्चस्तरीय रहन-सहन को देखकर भद्रा को बड़ी आत्मग्लानि हुई। उसने अपने पति के पास जाकर उसे व्यापार के लिए प्रेरित किया। अकलशा सेठ ने पत्नी को समझाने का यत्न किया पर उसका प्रयत्न सफल नहीं हुआ। आखिर अकलशा सेठ ने नानचन्द नामक एक भद्र व्यक्ति के साथ मिलकर पन्द्रह हजार मुद्राओं से व्यापार प्रारंभ किया। उसे पर्याप्त लाभ हुआ। दो वर्ष के पश्चात् व्यापार में लगाई गई सम्पत्ति कई गुणा हो गई। अकलशा ने नानचन्द को स्पष्ट निर्देश दिए थे कि वह अपनी मूल पूंजी से अधिक भाव कभी न लगाए। पर एक दिन एक सुरक्षित प्रस्ताव देखकर नानचन्द ने अधिक लाभ के लोभ में पन्द्रह लाख मुद्राएं भाव पर लगा दीं। दुर्दैववश भाव विपरीत रहा और उसके सिर पर पन्द्रह

लाख मुद्राओं की देनदारी आ गई। उसने सेठ अकलशा को वस्तुस्थिति से परिचित कराया। सुनकर सेठ पर वज्रपात हो गया। उसके जीवन भर की प्रतिष्ठा दांव पर लग गई। अदायगी के लिए इतनी बड़ी राशि उसके पास नहीं थी। उसने आत्महत्या का निश्चय कर लिया। आखिर भद्रा ने पति को सान्त्वना दी और कहा, कष्ट में धर्म ही सहायक होता है। उन्हें धर्म का सहारा लेना चाहिए। दोनों पति-पत्नी धर्माराधना में तल्लीन हो गए।

घोघापाटण नगर के राजा का नाम मानसिंह था। मानसिंह का छोटा भाई हमीरसिंह था जो चारित्रवान् और धर्मात्मा कुमार था। मानसिंह की रानी कामलता ने हमीरसिंह पर अपना प्रेम प्रकट किया। हमीर सिंह द्वारा उसका प्रस्ताव ठुकराए जाने पर उसने उस पर बलात्कार का आरोप मढ़ दिया। विवेकान्ध मानसिंह ने बिना सत्य की जांच-पड़ताल किए अनुज हमीरसिंह को देश-निर्वासन का दण्ड दे दिया।

हमीरसिंह के पास उसके माता-पिता से प्राप्त पर्याप्त व्यक्तिगत सम्पत्ति थी। उस सम्पत्ति को लेकर हमीरसिंह अकलशा सेठ के पास पहुंचा। सेठ को अपनी सम्पत्ति अर्पित करते हुए राजकुमार ने कहा, सेठ जी ! यह मेरी धरोहर है। इसे आप संभालें! इस सम्पत्ति का आप व्यापार में उपयोग भी कर सकते हैं। कभी मेरा भाग्य सरल होगा तो जितनी सम्पत्ति चाहें मुझे लौटा दें!

अकलशा गद्‌गद् हो गया। उसने राजकुमार की सम्पत्ति स्वीकार करने से कई बार इन्कार किया, पर राजकुमार का विश्वास सेठ पर स्थिर था। सेठ ने राजकुमार से वचन ले लिया कि वह अपने कुशल-संवाद निरन्तर उसे भेजता रहेगा।

धर्म के चमत्कार से सेठ अकलशा की प्रतिष्ठा सुरक्षित रही। इतना ही नहीं, व्यापार में उसे अप्रत्याशित लाभ भी हुआ। उसने राजा से सम्पर्क बढ़ाया और उसका प्रियपात्र बन गया। रानी के पाप का घट भर चुका था। राजा ने किसी पुरुष के साथ उसे अनाचार सेवन करते देख लिया। राजा की आंखें खुल गईं। वह अपने निरपराध भाई को याद कर आंसू बहाने लगा। आखिर अकलशा सेठ हमीर सिंह को प्रदेश से ले आया। राजा हमीर सिंह को राज्य देकर दीक्षित हो गया। सेठ अकलशा और भद्रा भी विरक्त होकर प्रव्रजित हो गए। तीनों ने ही संयम का पालन कर सद्‌गति का अधिकार पाया। —जैन कथाएं

अक्षोभ

द्वारिका के राजा अन्धकवृष्णि और रानी धारिणी के अंगजात। इनका परिचय गौतम के समान है। (देखिए-गौतम) —अंतकृद्‌दशांग सूत्र, वर्ग 1

अक्षोभ कुमार

समग्र परिचय गौतमवत् है। (देखिए-गौतम) —अंतकृद्‌दशांग सूत्र, वर्ग 2

अगड़दत्त

उज्जयिनी निवासी सारथी अमोघरथ और उसकी पत्नी यशोमती का अंगजात। उसके जीवन में बहुत उतार-चढ़ाव आए। बाल्यावस्था में ही उसके पिता का देहान्त हो गया था। उसने कौशाम्बी नगरी में जाकर अपने पिता के मित्र दृढ़प्रहारी से सारथि-विद्या सीखी। पर वापिस लौटने पर राजा ने उसे नौकरी देने से इन्कार कर दिया।

उन्हीं दिनों उज्जयिनी में एक चोर ने आतंक फैला रखा था। अगड़दत्त ने न केवल उस चोर को पकड़ लिया बल्कि उसके द्वारा लूटा हुआ धन भी वास्तविक स्वामियों को सौंप दिया। इससे उसका यश चारों ओर

फैल गया। कौशाम्बी निवासी यक्षदत्त सेठ ने उससे अपनी पुत्री श्यामदत्ता का विवाह कर दिया। विवाह करके जब वह कौशाम्बी से उज्जयिनी लौट रहा था तो मार्ग में उसे एक सार्थ मिला। वह अपनी पत्नी के साथ सार्थ के साथ हो लिया। मार्ग में एक धूर्त परिव्राजक भी सार्थ में मिल गया। अगड़दत्त परिव्राजक की धूर्तता को भांप गया और उससे सावधान रहने लगा। एक दिन उस धूर्त परिव्राजक ने विषमिश्रित खीर खिलाकर सार्थ के सभी सदस्यों को मार डाला। सावधान रहने के कारण अगड़दत्त और उसकी पत्नी बच गए। अगड़दत्त ने परिव्राजक से युद्ध करके उसे मार डाला।

मार्ग में अर्जुन नामक चोर को मारकर तथा विभिन्न बाधाओं को पार करता हुआ अगड़दत्त उज्जयिनी पहुंचा और राजा की सेवा करते हुए जीवनयापन करने लगा। किसी समय राजाज्ञा से नगर के बाहर उद्यान में उत्सव मनाया गया। अगड़दत्त अपनी पत्नी के साथ उस उत्सव में सम्मिलित हुआ। वहां एक नाग ने उसकी पत्नी को डस लिया। उसे अपनी पत्नी पर गहन अनुराग था। वह आधी रात तक अपनी पत्नी के शव के पास बैठकर रोता रहा। उधर आकाश-मार्ग से दो विद्याधर जा रहे थे। उन्हें अगड़दत्त पर करुणा आ गई। मन्त्रोपचार से उन्होंने श्यामदत्ता को विषमुक्त बना दिया।

अर्ध-रात्रि का घोर तिमिर था। प्रकाश करने के लिए थोड़ी ही दूरी पर स्थित श्मशान से अग्नि लेने के लिए अगड़दत्त गया तो वहां अर्जुन चोर के छह भाई, जो अगड़दत्त को खोजते हुए वहां आ पहुंचे थे और उसे मारने का अवसर देख रहे थे, वे श्यामदत्ता के सामने प्रकट हो गए और उन्होंने बता दिया कि वे उसे और उसके पति को मारकर अपने भाई की हत्या का बदला लेंगे। श्यामदत्ता ने त्रियाचरित्र दिखाते हुए कहा कि वे उसे छोड़ दें तो वह स्वयं ही अपने पति का वध कर देगी। इस पर छहों सहमत हो गए। अगड़दत्त के लौटने पर श्यामदत्ता ने अपने पति को मारने का प्रयत्न किया, पर अगड़दत्त बच गया। साथ ही वह पत्नी की कुटिलता को भी नहीं समझ सका।

सुबह होने पर अगड़दत्त श्यामदत्ता के साथ अपने घर लौट गया। उधर अर्जुन चोर के छहों भाई स्त्री की कुटिलता को देखकर विरक्त बन गए और दृढ़चित्त अणगार के पास दीक्षित हो गए। फिर किसी समय वे छहों अणगार दो-दो के सिंघाड़े से अगड़दत्त के घर भिक्षा के लिए आए। यौवन में उनकी तपस्विता देखकर अगड़दत्त बहुत प्रभावित हुआ। उपाश्रय पहुंचकर उसने मुनियों से उनके वैराग्य का कारण पूछा तो मुनियों ने पूरी घटना कह दी। मुनियों की वैराग्य-प्रधान घटना में स्वयं को प्रमुख पात्र पाकर और अपनी पत्नी का यथार्थ जानकर अगड़दत्त विरक्त और दीक्षित हो गया। —वसुदेव हिंडी पीठिका

अग्निभूति (गणधर)

इन्द्रभूति गौतम के अनुज और वेद-वेदांगों के प्रखर पण्डित। कर्म के अस्तित्व-नास्तित्व का महावीर से समाधान पाकर वे अपने पांच सौ शिष्यों के साथ उनके धर्मसंघ में दीक्षित हो गए। वे द्वितीय गणधर बने। सैंतालीस वर्ष की अवस्था में दीक्षित होकर बारह वर्षों तक गणधर पद पर रहने के पश्चात् उनसठ वर्ष की अवस्था में केवलज्ञानी बने। चौहत्तर वर्ष की अवस्था में वे सिद्ध हुए। —महावीर चरित्त

अग्निमित्रा

प्रसिद्ध श्रमणोपासक सकडालपुत्र कुम्भकार की धर्मपत्नी। (देखिए-सकडाल पुत्र श्रावक)

अग्निशर्मा

बलसारा ग्रामवासी एक निर्धन ब्राह्मण। (देखिए-आरामशोभा)

अग्निशिखा

कुसट्ट देश के बलसारा ग्राम के एक निर्धन ब्राह्मण अग्निशिख शर्मा की अर्द्धांगिनी। (देखिए-आरामशोभा)

अग्निसिंह

वाराणसी नरेश, सप्तम वासुदेव दत्त के पिता। (देखिए-दत्त वासुदेव)

(क) अचल

निव्वयपुर नगर का रहने वाला एक सहस्रयोधी सुभट। एक बार नगर में एक चोर का ऐसा आतंक व्याप्त हुआ कि सभी नागरिकों ने मिलकर नगर-नरेश रामचन्द्र से प्रार्थना की कि चोर से उनकी रक्षा की जाए। राजा को अचल पर विश्वास था कि वही एक ऐसा योद्धा है जो इस कठिन कार्य को पूरा कर सकता है। राजा के संकेत पर अचल चोर को पकड़ने के लिए चल दिया। परन्तु चोर उसे नहीं मिला। चोरियां निरन्तर होती रहीं। अचल हैरान-परेशान हो गया। 'वह राजा के विश्वास पर खरा नहीं उतर सका' इस विचार ने उसे दुखी कर दिया। उसने आत्महत्या करने का संकल्प कर लिया। श्मशान में गया। वहां उसे एक महापिशाच मिला। महापिशाच क्षुधातुर था। उसने अचल से मांस की याचना की। अचल ने विचार किया कि मुझे तो मरना ही है, यह देह किसी की क्षुधा की उपशान्ति का निमित्त बन जाए तो इससे श्रेष्ठ क्या हो सकता है। उसने अपने शरीर का मांस काट-काट कर महापिशाच को प्रदान किया। उसके शरीर के अधिकांश भाग का आहार करने पर भी महापिशाच की क्षुधा नहीं मिटी तो अचल ने स्वयं को सर्वांगतः उसके समक्ष डाल दिया। उसके इस समर्पण से महापिशाच अति प्रसन्न हुआ। उसने उसे स्वस्थ बना दिया और साथ ही उस चोर के बारे में बता दिया, जिसे न पकड़ पाने के प्रायश्चित्तस्वरूप अचल मरने के लिए उद्यत हुआ था।

वह चोर एक साधुवेशी था, जो दिन में लोगों को सदाचार का उपदेश देता था और रात्रि में चौर्य कर्म जैसे दुराचार का आचरण करता था। अचल के उपक्रम से चोर को बन्दी बना लिया गया। राजा ने उसे मृत्युदण्ड दिया। अचल के मन के अन्दर यह भाव बैठ गया कि चोर की मृत्यु का कारण वह स्वयं है। उसे आत्मग्लानि हो गई। उसी अवसर पर उसे एक मुनि के दर्शनों का सुसंयोग प्राप्त हो गया। मुनि के उपदेश से अचल प्रव्रजित हो गया। उसने अध्ययन और तप से अपनी आत्मा को निर्भार बनाया। श्रीसंघ में अचल मुनि का आदर-मान निरंतर वर्धमान होता गया। आखिर अचल मुनि के ही कृपा-उपदेश से राजा रामचन्द्र ने भी जैन धर्म को अंगीकार किया। 'यथा राजा तथा प्रजा' के सिद्धान्तानुसार निव्वयपुर की पूरी जनता भी जैन धर्मानुरागिणी बन गई। धर्म की महाप्रभावना से अचल मुनि ने तीर्थंकर गोत्र का अर्जन किया। आयुष्य पूर्ण कर अचल मुनि सौधर्म कल्प में देव बने। देवायु पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में जयमित्र नामक राजकुमार बने। युवावस्था में जयमित्र प्रव्रजित हुए। केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थ की स्थापना की और तीर्थंकर पद पर आरूढ़ हुए। असंख्य भव्यों के लिए कल्याण का कारण बनकर वे सिद्ध हुए। —कथा रत्नकोष : भाग 1

(ख) अचल

द्वारिका के राजा अन्धकवृष्णि और रानी धारिणी के पुत्र। इनका जीवन परिचय गौतम के समान है। (देखिए-गौतम)

—अन्तगड सूत्र, प्रथम वर्ग, षष्ठम अ.

(ग) अचल (कुमार)

समग्र परिचय गौतमवत् है। (देखिए-गौतम)

—अन्तगड सूत्र, द्वितीय वर्ग, प्रथम अध्ययन

(घ) अचल (बलदेव)

पोदनपुर नरेश महाराज प्रजापति और महारानी भद्रा के आत्मज। भगवान महावीर का जीव पूर्वभव में त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप में इनका भाई था। वे प्रथम बलदेव थे। भाई की मृत्यु से इन्हें वैराग्य हो आया और दीक्षित हो गए। चौरासी लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर ये सिद्ध हुए। ये ग्यारहवें तीर्थंकर भगवान श्रेयांसनाथ के समय में हुए।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 4, सर्ग 1

अचलभ्राता (गणधर)

भगवान महावीर के नौवें गणधर। कौशाम्बी निवासी वसु ब्राह्मण व नन्दा के पुत्र। इन्द्रभूति आदि की तरह ही ये भी सोमिल ब्राह्मण के यज्ञ में अपने तीन सौ शिष्यों के साथ सम्मिलित हुए थे। भगवान महावीर के पास आठ ब्राह्मण विद्वानों के अपने-अपने शिष्यों सहित दीक्षित हो जाने के पश्चात् ये भी महासेन उद्यान में पहुंचे। महावीर ने इनके मन में छिपी पुण्य और पाप सम्बन्धी शंका का निरसन कर दिया तो ये भी अपने शिष्यों सहित महावीर के धर्मसंघ में दीक्षित हो गए। सैंतालीस वर्ष की अवस्था में दीक्षित होने वाले अचलभ्राता ने उनसठ वर्ष की अवस्था में केवलज्ञान पाया और बहत्तर वर्ष की अवस्था में मुक्ति प्राप्त की।

—महावीर चरित्त

अचला (आर्या)

आर्या अचला का जन्म साकेत नगर में हुआ। कालधर्म को प्राप्त कर यह शक्रेन्द्र महाराज की पट्टरानी के रूप में जन्मी। इनका शेष परिचय काली आर्या के तुल्य है। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 9, अ. 7

अचिरा माता

सोलहवें अरिहंत प्रभु शांतिनाथ की जननी। (देखिए-शांतिनाथ तीर्थंकर)

अच्छंदक

एक ज्योतिषी, जो मोराक सन्निवेश का निवासी था और ज्योतिष के आधार पर अपनी आजीविका चलाता था। साधनाकाल के द्वितीय वर्ष में भगवान महावीर मोराक सन्निवेश पधारे तो उनकी विद्यमानता से अच्छंदक चिंतित हो गया। उसे अपनी आजीविका का आधार खिसकता हुआ-सा प्रतीत हुआ। उसने एक दिन भगवान से एकांत में विनीत प्रार्थना की और अपनी मनोदशा कही। करुणाशील महावीर उसकी दशा देख वहां से विहार कर गए।

अजापुत्र

एक परम सौभाग्यवान, पराक्रमी और परोपकार के लिए अपने प्राणों को दांव पर लगा देने वाला युवक। उसका जन्म तो चन्द्रानमी नगरी के धर्मधीरज नामक प्रकाण्ड पण्डित की धर्मपत्नी गंगादेवी की कुक्षी से हुआ था, पर उसका पालन-पोषण एक गडरिए के घर हुआ। धर्मधीरज धर्मशास्त्रों के साथ ज्योतिषशास्त्र का भी प्रकाण्ड विद्वान था। उसने अजापुत्र के जन्मते ही यह जान लिया था कि उसका यह पुत्र क्षत्रिय-धर्मी होगा। धर्मधीरज ने इसे अपने कुल की अवनति के रूप में देखा। उसने जैसे-तैसे अपनी पत्नी को राजी किया और वह अपने नवजात शिशु को जंगल में छोड़ आया। एक गडरिए ने नवजात शिशु को देखा। उसे उठाकर वह अपने घर ले गया। उसकी पत्नी ने नवजात शिशु को कण्ठ से लगा लिया और भगवान का वरदान मानकर उसे पालने लगी। निरन्तर बकरियों के मध्य रहने से शिशु का नाम ही अजापुत्र पड़ गया।

अजापुत्र आठ वर्ष का हुआ तो एक बार उसकी भेंट राजा से हुई। उसी समय राजा की कुल देवी ने राजा को सावधान किया कि वह बालक उसका वध करके उसके सिंहासन पर अधिकार करेगा। भविष्य को जानकर राजा तलवार लेकर अजापुत्र की ओर दौड़ा। मंत्री ने राजा को वैसा करने से रोका और कहा कि वैसा करने से नाहक ही उसका अपयश होगा। अपयश से बचने का यही उपाय है कि बालक को जंगल में अकेला छोड़ दिया जाए, जहां वह स्वतः ही जंगली जानवरों का आहार बन जाएगा। वैसा ही किया गया। अजापुत्र राजा के प्रति क्रोध का भाव लेकर जंगल में भटकने लगा। यहीं से अजापुत्र के परोपकार और पराक्रम की कथा शुरू हुई। उसने अपने पराक्रम से असंभव से दिखाई देने वाले कार्यों को सहज संभव बना दिया। उसके जीवन-पथ पर कई बार अलौकिक और चमत्कारिक घटनाक्षण भी आए, कठिन से कठिन क्षणों में भी उसने अपनी परोपकार वृत्ति और परामक्रमशीलता का परित्याग नहीं किया और उसी के बल पर उसने अकूत वैभव प्राप्त किया। अंत में उसने चन्द्रानमी नरेश का वध कर उसका राज्य भी प्राप्त किया। उसके पिता का ज्योतिषशास्त्र अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ। अनेक वर्षों तक राजपद पर रहकर अजापुत्र ने अंतिम अवस्था में दीक्षा ली और स्वर्ग पद पाया। —अजापुत्र कथानकम्

अजितनाथ (तीर्थंकर)

भगवान अजितनाथ जैन परम्परा के द्वितीय तीर्थंकर थे। उनका जन्म अयोध्या नगरी के राजा जितशत्रु की रानी विजया देवी की रत्नकुक्षी से माघशुक्ला ८ को हुआ था। परम पुण्यशाली पुत्र के जन्म से राजा जितशत्रु के यश और गौरव में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। दुर्दान्त शत्रु उनके समक्ष नतमस्तक हो गए। संसार में वे अविजित सम्राट् का गौरव पा गए। राजा ने अपने इस यश और प्रतिष्ठा का कारण अपने पुण्यवान् पुत्र को ही माना और उसका नाम अजितनाथ रखा।

अजितनाथ युवा हुए। पिता ने उन्हें राजपद पर प्रतिष्ठित कर दिया। सुदीर्घ काल तक उन्होंने न्याय और नीति से शासन किया। जब उनका आयुष्य एक लाख पूर्व का शेष रह गया तो उन्होंने अपने चाचा सुमित्रविजय के पुत्र सगर को राजपद प्रदान करके दीक्षा धारण कर ली। बारह वर्ष के साधनाकाल के पश्चात् उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। वे तीर्थंकर बन गए। उनके उपदेशों से लाखों भव्यजीवों ने जीवन के सम्यक् लक्ष्य को पहचाना और आत्म-कल्याण का मार्ग प्रशस्त किया। एक लाख पूर्व तक चारित्र का पालन करके और लाखों प्राणियों के लिए कल्याण का द्वार बनकर भगवान अजितनाथ मोक्ष में पधारे।

भगवान अजितनाथ के दो पूर्वभवों का वर्णन प्राप्त होता है, यथा—1. राजा विमल वाहन और 2. विजय देवलोक।

दो भव पूर्व भगवान अजितनाथ का जीव महाविदेह क्षेत्र में विमलवाहन नामक एक परम प्रतापी सम्राट् था। एक मुनि के उपदेश से विमलवाहन भोगों से विरक्त बन गया। उसने जिनदीक्षा धारण करके उग्र तपश्चरण किया। फलस्वरूप तीर्थंकर गोत्र का अर्जन किया। आयुष्य पूर्ण कर वह विजय नामक देवलोक में गया। वहां से च्यव कर अजितनाथ के रूप में उत्पन्न हुआ। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

अजितवीर्य स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

बीसवें विहरमान तीर्थंकर। पुष्करार्ध द्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की नलिनावती विजय की वीतशोका नामक नगरी में प्रभु का जन्म हुआ। महाराज राज्यपाल और महारानी कर्णिका प्रभु के पिता और माता हुए। रत्नमाला के चिह्न से सुशोभित प्रभु का पाणिग्रहण स्वस्तिका नामक राजकन्या से हुआ। तिरासी लाख पूर्व

तक प्रभु गृहवास में रहे। तदनन्तर वर्षीदान देकर मुनि बने। केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मतीर्थ की स्थापना की। चौरासी लाख पूर्व की आयुष्य पूर्ण कर प्रभु मोक्ष जाएंगे।

अजित सेन

नन्दपुर नगर के सेठ रत्नाकर का पुत्र और महासती शीलवती का पति। (देखिए-शीलवती)

अट्टणमल्ल

उज्जयिनी नरेश जितशत्रु की मल्लशाला का प्रधान मल्ल और अपने समय का सुनामी पहलवान। पड़ौसी राज्य सोपारक में होने वाले वार्षिक मल्ल-महोत्सव में हमेशा ही अट्टणमल्ल विजयी होता। धन और प्रतिष्ठा पाता। इससे खीझ कर सोपारक नरेश सिंहगिरि ने एक युवक मच्छेरे को खिला-पिलाकर मल्ल विद्या में पारंगत बनाया और उसे मच्छियमल्ल नाम दिया। वार्षिक मल्ल युद्ध महोत्सव में मच्छियमल्ल ने अट्टणमल्ल को धूल चटा दी। तदनन्तर अट्टणमल्ल ने भी एक युवा और बलिष्ठ किसान को मल्ल विद्या में पारंगत बनाया और उसे फलिहमल्ल नाम दिया। आगामी वर्ष मच्छियमल्ल और फलिहमल्ल की सुबह से शाम तक कुश्ती चली पर जय-पराजय का निर्णय न हो सका। रात्रि में अट्टणमल्ल के पूछने पर फलिहमल्ल ने अपने शरीर के दर्द कर रहे भागों के बारे में बताया और लक्षपाक तैल की मालिश से अट्टणमल्ल ने उसे तन्दुरुस्त बना दिया। उधर मच्छियमल्ल से भी राजा ने वैसा ही प्रश्न किया जिस पर उसने अहंकारी स्वर में कहा कि उसे कहीं दर्द नहीं है। दूसरे दिन के मल्ल युद्ध में तरोताजा फलिहमल्ल ने मच्छियमल्ल को क्षण भर में ही परास्त कर दिया।

(आलोचना-प्रतिक्रमणादि से साधक स्वस्थ / आत्मस्थ बन शीघ्र ही आत्मलक्ष्य को साध लेता है। जो शल्यों को छिपाता है, वह मंजिल से दूर ही रहता है।) —उत्त. टीका

अणुल्लिया

यवपुर नगर के महाराज यव की पुत्री। (देखिए-यवराजर्षि)

अतिभद्रा

प्रभास गणधर की जननी।

अतिमब्बे

चालुक्य राजवंश के महादण्डनायक वीर नागदेव की धर्मप्राण धर्मपत्नी। वह एक तेजस्विनी महिला और पतिव्रता सन्नारी थी। जैन धर्म और जिन भगवान के प्रति उसके हृदय में दृढ़ अनुराग था।

एक बार मालवराज परमार नरेश मुंज ने तैलपदेव के राज्य पर आक्रमण किया। नागदेव के नेतृत्व में चालुक्य सेना ने उसका प्रबल विरोध किया। परमार सेना को धकेलते हुए नागदेव उनके राज्य की सीमा के अन्दर तक ले गया। पर इस युद्ध में वह स्वयं बुरी तरह घायल हो गया। युद्ध जीतकर लौटते हुए चालुक्य सेना को एक विकट स्थिति का सामना करना पड़ा। गोदावरी नदी में भयंकर बाढ़ आ गई। नदी को पार करने के साधन मौजूद नहीं थे और सेनापति नागदेव गंभीर रूप से घायल था। नदी के दूसरे किनारे पर रहे हुए चालुक्य सैनिक और अधिकारी काफी चिन्तित थे। पति की घायलावस्था के समाचार को जानकर अतिमब्बे भी गोदावरी तट पर उपस्थित हुई। पति की अवस्था को वह देख न सकी। गोदावरी तट के निकट एक टीले पर चढ़कर उसने उच्च स्वर में कहा, यदि मैंने आजीवन पतिव्रत धर्म का पालन किया है

और जिनदेव को अपना अनन्य धर्मदेव माना है तो गोदावरी मेरे पति और उसके साथी सैनिकों को मार्ग दे दे।

महासती के चमत्कार से गोदावरी ने नागदेव और उसके सैनिकों को मार्ग दे दिया। इस चमत्कारिक घटना से महासती अतिमब्बे की जय-जयकार हुई। घायल नागदेव ने पत्नी की गोद में जीवन यात्रा पूर्ण की।

महासती अतिमब्बे ने धर्म-ध्यान और दान-पुण्य में अपने जीवन को सफल बनाया। अतिमब्बे 11वीं सदी ई. की वीरांगना और धर्मशीला सन्नारी थी।

अतिमुक्त कुमार

पोलासपुर के महाराज विजय और उनकी रानी श्रीदेवी के अंगजात। बालक अतिमुक्त एक बार साथी बालकों के साथ उद्यान में खेल रहा था। उधर से गौतम स्वामी भिक्षा के लिए गुजर रहे थे। मुनि को देखकर अतिमुक्त खेल को भूल गया और दौड़कर मुनि के पास आया। उनका परिचय पूछा। पूरी बात जानकर उनकी अंगुली पकड़कर अपने महल में लाया। धर्मजहाज की अंगुली पकड़े अपने पुत्र को देख श्रीदेवी का रोम-रोम खिल गया। भिक्षा लेकर गौतम स्वामी लौटने लगे तो अतिमुक्त उनके साथ ही भगवान महावीर के पास गया। भगवान महावीर के दर्शन करके वह अति प्रसन्न हुआ। भगवान ने उसे उपदेश दिया, जिसे सुनकर वह मुनि बनने के लिए उत्सुक हो गया। घर आकर माता से अपनी इच्छा कही। नन्हे पुत्र के मुख से इतनी बड़ी इच्छा सुनकर श्री देवी खूब हँसी। आखिर उसे पुत्र के भावों की गहराई ज्ञात हो गई। माता-पिता के आग्रह पर अतिमुक्त एक दिन के लिए पोलासपुर का राजा बना।

अतिमुक्त मुनि बना। एकदा बालमुनि स्थविर मुनियों के साथ शौचार्थ जंगल में गया। कुछ समय पहले वर्षा हुई थी। पहाड़ियों से बहकर जल तलहटियों में जमा हो रहा था। बहते जल को देखकर बाल मन चंचल बन गया। उसने एक जगह पर पानी पर पाल बांध दी। जल संचित हो गया। उसमें अपनी पात्री को तैराकर अतिमुक्त गाने लगा - मेरी नाव तिरे - मेरी नाव तिरे।

स्थविर मुनि शौच से लौटे। मुनि अतिमुक्त को जल में खेलते देखा। बाल मुनि को वहीं छोड़कर स्थविर मुनि भगवान के पास आए और भगवान से उसकी शिकायत की। भगवान ने कहा—मुनियो ! अतिमुक्त चरम शरीरी है। उसकी आशातना मत करो ! उसकी भक्ति करो !

अतिमुक्त मुनि ने दीर्घकाल तक साधना की। गुणरत्नसंवत्सर आदि कठिन तप किए। अन्त में केवली बनकर विपुलगिरि पर संथारा करके मोक्ष प्राप्त किया। —अंतगडसूत्र, वर्ग 6

अतिमुक्त मुनि

मथुरानरेश उग्रसेन के पुत्र और कंस के सहोदर। कंस ने जब अपने पिता को पिंजरे में बन्दी बना दिया तो अतिमुक्त को बड़ा दुख हुआ। वे विरक्त बन गए। मुनि बनकर आत्मसाधना करने लगे। साधना से उन्हें अनायास ही अनेक सिद्धियां मिल गईं। देवकी-वसुदेव के विवाह के प्रसंग पर संयोगवश अतिमुक्त मुनि मथुरा आ गए। वे भिक्षा के लिए कंस के महल में गए। मदिरा में मत्त बनी कंस की रानी जीवयशा ने उनका मार्ग घेर लिया और अपने साथ नृत्य करने के लिए उन्हें बाध्य करने लगी। मुनि ने जीवयशा को विभिन्न विधियों - शब्दों से समझाकर मार्ग छोड़ने को कहा, पर वह नहीं मानी। तब मुनि के मुख से सहसा ही भविष्य प्रगट हो गया कि जिसके विवाह में तुम इतनी मत्त बनी हो, उसकी सातवीं संतान तुम्हारे पति का

काल होगी। सुनकर जीवयशा का नशा उतर गया। मुनि को मार्ग मिल गया। वे अपने स्थान पर चले गए।

अपने स्थान पर पहुंचकर अतिमुक्त मुनि ने वचन दोष का प्रायश्चित्त किया। उग्रसाधना से केवल-ज्ञान प्राप्त कर वे मोक्ष पधारे।

अतिवीर

महावीर का ही एक नाम। इस नाम के प्रचलित होने के पीछे एक घटना है जो इस प्रकार है—

एक बार राज्य का प्रधानहस्ती मत्त बन गया और बन्धन तोड़कर तथा महावतों को रौंदकर भाग छूटा। संभावित महाविनाश से आशंकित नगरजन त्राहिमाम्-त्राहिमाम् करने लगे। हाथी को वश करने के समस्त उपाय व्यर्थ सिद्ध हो गए। तब वर्धमान ने निर्भय और निर्द्वन्द्व मन से आगे बढ़कर उस मत्त हस्ती को सहज भाव से वश में कर लिया। उससे नगरजनों ने वर्धमान को 'अतिवीर' कहकर पुकारा और इस नाम से वे विख्यात हो गए।

अतूंकारी भट्टा

अवन्ती नगरी के श्रेष्ठी धन की पुत्री जो आठ भाइयों की इकलौती और सबसे छोटी बहन थी। उसकी माता का नाम कमलश्री था। पिता और भाइयों का उस पर अनन्य अनुराग था और पिता का आदेश था कि उसे कोई 'तू' कहकर न बुलाए। अपूर्व लाड़-प्यार ने अतूंकारी को अभिमानिनी बना दिया। युवा होते-होते उसका अहंकार भी युवा हो गया। उसने अपने माता-पिता से स्पष्ट कह दिया कि वह उसी पुरुष से विवाह करेगी जो उसकी आज्ञा मानेगा। फलतः वह काफी वर्षों तक कुंवारी ही रही। सब ओर चर्चा फैली। उत्सुक हो राजा के मंत्री जितशत्रु ने उससे विवाह कर लिया और उसके आदेशानुसार चलने लगा। अतूंकारी ने पति से कहा कि वह जल्दी घर आया करे। पर वह ठहरा मंत्री। एक बार राजकार्यवश घर आने में उसे विलंब हो गया तो क्रोधित होकर अतूंकारी घर से निकल गई। मार्ग में उसे चोरों ने पकड़ लिया। चोरों के स्वामी पल्लीपति ने उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा। पर अतूंकारी पतिव्रता थी। उसने पल्लीपति की पत्नी बनने के स्थान पर आत्महत्या की चेतावनी दी। इससे पल्लीपति ने उसे एक रक्तव्यापारी को बेच दिया। रक्तव्यापारी उसका रक्त निकाल कर बेचने लगा। किसी समय रक्तव्यापारी उसे लेकर अवन्ती नगरी गया। वहां अतूंकारी भट्टा के भाई ने बहन को पहचान लिया और उसे उसके पति के घर पहुंचाया।

अहंकार और क्रोध का फल अतूंकारी देख ही चुकी थी। सो उसने समता का संकल्प लेकर जीवन यापन शुरू किया। क्रोध और अहंकार को वह मानो बिल्कुल ही भूल गई। कहते हैं कि उसके जीवन में इतना महान परिवर्तन घटित हुआ कि इन्द्र ने भी उसकी समता की प्रशंसा देवसभा में की। एक देव मुनि का रूप धारण कर उसकी समता की परीक्षा लेने आया। मुनि ने उससे लक्षपाक तैल की याचना की। उसने दासी को लक्षपाक तैल का घड़ा लाने को कहा, पर देव ने माया से दासी के हाथ से एक-एक करके तीन घड़े गिरवा दिए। लाखों के नुकसान पर भी अतूंकारी को क्रोध नहीं आया। देव ने उसकी समता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। समता की साधना से जीवन पूर्ण कर अतूंकारी स्वर्ग में गई। —उपदेशमाला (धर्मदासगणि)

अदीनशत्रु

हस्तिनापुर का राजा और पूर्वजन्म का प्रभु मल्लि का अभिन्न मित्र। एक बार उसके राज्य में एक चित्रकार आया और उसने राजा के समक्ष मल्लि भगवती के रूप की भूरि-भूरि प्रशंसा की। मल्लि के प्रति राजा के हृदय में गहनतम अनुराग का भाव उमड़ आया। उसने महाराज कुंभ के पास अपना दूत भेजा और

उनकी पुत्री का हाथ अपने लिए मांगा। कुंभ ने रुष्ट होकर दूत को भगा दिया। इससे अदीनशत्रु भारी दल-बल के साथ मिथिला पर चढ़ आया। आखिर भगवती मल्लि की युक्ति से अदीनशत्रु प्रतिबुद्ध हुआ और प्रभु मल्लि के साथ ही प्रवर्जित बन उसने सिद्धत्व प्राप्त किया। (देखिए-मल्लिनाथ)

अनंगसेना

मोटपल्ली नगर की गणिका। (देखिए-उत्तम कुमार)

अनन्तनाथ (तीर्थंकर)

अवसर्पिणी काल की चौबीसी के चौदहवें तीर्थंकर। अयोध्या नगरी के महाराज सिंहसेन की महारानी सुयशा की रत्नकुक्षी से वैशाख वदी त्रयोदशी को प्रभु का जन्म हुआ। कहते हैं कि उस समय अयोध्या नगरी चारों ओर से शत्रुओं से घिरी हुई थी। प्रभु के गर्भ में आते ही समस्त शत्रु पराभव को प्राप्त हो गए। इसे महाराज ने गर्भस्थ शिशु का पुण्य प्रभाव माना और शिशु के जन्म लेने पर नामकरण के दिन उक्त प्रसंग को प्रकाशित करते हुए उन्होंने शिशु को अनन्तजित नाम दिया। अनन्तजित आगे चलकर अनन्तनाथ के नाम से सुख्यात हुए। यौवन वय में अनन्तनाथ ने विवाह किया और राजपद पर आरूढ़ हुए। प्रलम्ब काल तक सुशासन करने के पश्चात् वैशाख वदी चतुर्दशी के दिन दीक्षा धारण की। तीन वर्ष की साधना के पश्चात् प्रभु केवली बने। धर्मतीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर कहाए। अन्त में सात हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर से सिद्धत्व प्राप्त किया। —त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

अनन्तमती

चम्पापुरी नगरी के धनी-मानी श्रेष्ठी प्रियदत्त की पत्नी बुद्धिश्री की अंगजात, एक सुशीला, दृढ़-धर्मिणी और अनिंद्य सुन्दरी कन्या। एक बार चम्पापुरी के बाह्य भाग स्थित उपवन में जैन आचार्य धर्मकीर्ति का पदार्पण हुआ। नगरजन मुनि-दर्शन के लिए उमड़ मड़े। अनन्तमती भी मुनिदर्शन के लिए गई। आचार्य श्री ने धर्मोपदेश की सरिता प्रवाहित की। प्रवचन का विषय था—ब्रह्मचर्य। मुनि-मुख से ब्रह्मचर्य की महिमा को सुनकर और उस में अंतर की श्रद्धा से निमज्जित होकर अनंतमती ने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का भीष्मव्रत ग्रहण कर लिया।

कालक्रम से प्रियदत्त अपनी पुत्री के लिए वर की खोज करने लगे। इस पर अनंतमती ने पिता को अपने संकल्प की बात बताई। आजीवन अविवाहित रहने के अपनी पुत्री के संकल्प की बात सुनकर पिता चिंतित हो गया। पुत्री ने अपने युक्तियुक्त वचनों से पिता को आश्वस्त किया। प्रियदत्त अपनी पुत्री के संकल्प और धर्मसाधना की दृढ़ता से परिचित था, फलतः वह शीघ्र ही आश्वस्त हो गया। शनैः शनैः अनंतमती के भीष्मव्रत से उसका यश पूरे नगर में प्रसारित हो गया।

किसी समय अपनी सहेलियों के साथ अनंतमती उद्यान में झूला झूल रही थी। आकाशमार्ग से एक विद्याधर अपने विमान में बैठा जा रहा था। अनंतमती पर विद्याधर की दृष्टि पड़ी तो वह उसके रूप पर मुग्ध बन गया। उसने बाज की तरह झपटते हुए अनंतमती का अपहरण कर लिया। पर उसे अपनी पत्नी का तीव्र विरोध झेलना पड़ा। पत्नी के उग्र रूप से घबराकर विद्याधर ने अनंतमती को जंगल में पटक दिया। उधर एक भीलपल्ली थी। पल्लीपति ने अनंतमती को अपनी अर्द्धांगिणी बनाने का प्रयत्न किया। पर अनंतमती ने सख्ती से भील का विरोध किया। भील ने एक सेठ को अनंतमती बेच दी। सेठ ने अनंतमती को अपनी पत्नी बनाना चाहा। उसने बलात्कार की चेष्टा की तो शील सहायक देवी ने अनंतमती के शील की रक्षा की और सेठ को दण्डित किया। पराभूत बने सेठ ने एक वेश्या के हाथ अनंतमती को बेच दिया। वहां भी

अनंतमती ने अपने शील पर आंच नहीं आने दी। अनंतमती को अपने अनुकूल बनाने के लाख यत्न करके भी वेश्या उसे अपने आचरण में नहीं ढाल सकी। हार मानकर वेश्या ने अयोध्या के राजा को अनंतमती भेंट कर दी। पंक्तिबद्ध बनकर कर्म अनंतमती के साहस और संकल्प को निरंतर चुनौती दे रहे थे। पर अनंतमती ऐसी सबला बाला थी कि वह प्रत्येक चुनौती को मुंहतोड़ उत्तर दे रही थी। अयोध्या-नरेश की रानी ने अनंतमती की सहायता की और उसे एक कुशल दासी द्वारा जंगल में पहुंचा दिया।

जंगल में अनंतमती को एक श्रमणी के दर्शनों का पुण्य लाभ प्राप्त हुआ। साध्वी के दर्शन से अनंतमती को विश्वास हो गया कि अब उसके अशुभ कर्म अशेष बन गए हैं। वह साध्वी जी के साथ रहने लगी। संयोग से प्रियदत्त अपनी पुत्री को खोजते-खोजते उधर से गुजरा। पुत्री को देखकर उसे बड़ा हर्ष हुआ। पिता-पुत्री का मिलन हुआ। अनंतमती ने पूरी कथा पिता को बताई और अपना संकल्प सुना दिया कि अब वह संयम धारण कर शेष जीवन साधना को समर्पित करेगी। पिता ने पुत्री को समझाया कि वह अपने घर चले, वहीं पर उसका दीक्षा समारोह आयोजित किया जाएगा। वैसा ही हुआ। प्रियदत्त की प्रार्थना पर साध्वी जी भी चम्पापुरी पधारीं। महान उत्सव के साथ अनंतमती ने दीक्षा धारण की। उच्च संयम की आराधना करते हुए देहोत्सर्ग करके अनंतमती स्वर्ग में गई। स्वर्ग से च्यव कर मानवदेह प्राप्त कर वह सिद्धि प्राप्त करेगी।

अनंतवीर्य स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

अष्टम विहरमान तीर्थंकर। धातकीखण्ड के पश्चिम महाविदेह की नलिनावती विजय में स्थित वीतशोका नगरी के राजा मेघराज की रानी मंगलावती के पुण्य गर्भ से प्रभु ने जन्म लिया। यौवन में विजयादेवी से विवाह किया और तिरासी लाख पूर्व की अवस्था में मुनिव्रत स्वीकार कर केवलज्ञान प्राप्त किया तथा तीर्थ की स्थापना की। चौरासी लाख पूर्व का कुल आयुष्य भोग कर प्रभु निर्वाण पधारेंगे।

अनन्त सेन

देवकी पुत्र। (देखिए-अनियसेन) —अन्तगड, तृतीय वर्ग, द्वितीय अ.

अनरण्य

अयोध्या के एक सूर्यवंशी नरेश। उनके पुत्र का नाम दशरथ था, जो श्री राम के पिता थे। अनरण्य ने लम्बे समय तक राज्य किया। अन्तिम वय में अपने पुत्र दशरथ को राजपद पर अधिष्ठित कर उन्होंने प्रव्रज्या अंगीकार की और आत्मकल्याण किया। —जैन रामायण

अनाथी मुनि

अनाथी मुनि का मातृ-पितृ-प्रदत्त नाम गुणसुन्दर था। कौशाम्बी के धनपति धनसंचय नामक श्रेष्ठी उनके पिता थे। कई सुन्दर कन्याओं के साथ उनका विवाह हुआ था। उनके जीवन में सब सुख थे। एक बार उन्हें अक्षवेदना हो गई। उनके पिता ने बड़े-बड़े वैद्य बुलाए। धन को पानी की तरह बहाया, पर वेदना शान्त होने के बजाय दोगुने वेग से बढ़ती चली गई। गुणसुन्दर आठों प्रहर पीड़ा से तिलमिलाता रहता। उसे न भूख लगती और न नींद आती। कई दिन बीत गए। अभिभावकों द्वारा किए गए समस्त उपाय निरुपाय सिद्ध हुए। गुणसुन्दर को अनुभव हो गया कि वह अनाथ है। माता-पिता-पत्नी और धन निःसार हैं। ये किसी के नाथ नहीं हैं। धर्म ही मनुष्य का नाथ है। उसने संकल्प किया—यदि मेरी वेदना शान्त हो जाए तो मैं मुनि बन जाऊंगा।

उक्त संकल्प के साथ ही गुणसुन्दर को नींद आ गई। प्रातःकाल वह उठा तो पूर्णतः स्वस्थ था। अपने अभिभावकों से उसने अपने संकल्प की बात बताई और दीक्षित हो गया। यही गुणसुन्दर जगत में अनाथी मुनि के नाम से ख्यात हुए।

एक बार अनाथी मुनि राजगृह के मण्डीकुक्षी नामक उद्यान में ध्यानस्थ थे। मगधेश श्रेणिक उद्यान भ्रमण को आया। उस समय तक श्रेणिक बौद्ध धर्मी था। सुन्दर युवक को मुनि वेश में देखकर उसके मन में कई प्रश्न उठे। उसने मुनि से युवावस्था में मुनि बनने का कारण पूछा तो मुनि ने उत्तर दिया कि वह अनाथ था इसलिए मुनि बन गया। श्रेणिक ने कहा कि वह उसका नाथ बनेगा। वह उसके साथ राजमहल चले। उसके पास हजारों हाथी, घोड़े और विशाल सेना है। वह सुन्दर बालाओं से उसका विवाह करेगा। मुनि ने स्पष्ट किया कि यह सब तो उसके पास भी था। इन समस्त साधनों का सनाथता से सम्बन्ध नहीं है।

श्रेणिक की जिज्ञासा पर अनाथी मुनि ने अपनी पूरी कहानी उस को सुनाई। सुनकर श्रेणिक के अन्तर्चक्षु खुल गए। वह नाथ और अनाथ की पूरी परिभाषा से परिचित बन गया। उसी दिन से उसने जैन धर्म स्वीकार कर लिया। विशुद्ध संयमाराधना से सर्व कर्म खपा कर अनाथी मुनि निर्वाण को उपलब्ध हुए।

—उत्तराध्यनन सूत्र

अनाधृष्टि

महाराज वसुदेव और रानी धारिणी के पुत्र। (इनका शेष परिचय दारुकवत् है) (देखिए-दारुक)

—अंतकृद्दशांगसूत्र वर्ग 3, अध्ययन 13

अनियसेन

वासुदेव श्री कृष्ण के अग्रज तथा देवकी और वसुदेव के पुत्र। इनका परिचय इस प्रकार है—भद्दिलपुर वासी नाग नामक गाथापति की पत्नी का नाम सुलसा था। उसे एक नैमित्तिक ने बताया कि वह मृतवत्सा होगी। उसके छह पुत्र होंगे पर वे सभी मरे हुए होंगे। सुलसा ने आराधना से हरिणगमेषी देव को प्रसन्न किया और वरदान मांगा कि वह जीवित पुत्रों की मां बनना चाहती है। हरिणगमेषी देव ने ज्ञानोपयोग से देखा कि देवकी द्वारा जन्म दिए जाने वाले सभी पुत्र दीर्घायुष्य वाले हैं। पर कंस की क्रूर दृष्टि उन पर टिकी है। सो उसने देव शक्ति से ऐसा विधान किया कि देवकी और सुलसा एक साथ पुत्रों को जन्म देतीं। वह सुलसा के मृतपुत्रों के साथ देवकी के जीवित पुत्रों को बदल देता। इस प्रकार उसने देवकी के प्रथम छह पुत्र सुलसा की गोद में पहुंचा दिए। उनके नाम रखे गए—अनीयसेन, अनन्तसेन, अनिहतसेन आदि।

उक्त छह पुत्र देवकी के अंगजात होते हुए भी सुलसा-पुत्र कहलाए। यौवन वय में अनियसेनादि के विवाह किए गए। बाद में किसी समय भगवान अरिष्टनेमि का प्रवचन सुनकर ये छहों भाई प्रतिबुद्ध हो गए। दीक्षा ग्रहण की। उग्र तपाराधना से केवली बनकर सिद्ध हुए।

इन छहों भाइयों के रंग-रूप एक समान थे। दर्शक भ्रमित हो जाते थे।

—अन्तगडसूत्र तृतीय वर्ग, प्रथम अध्ययन

अनिरुद्ध

प्रद्युम्न का वैदर्भी से उत्पन्न पुत्र। यौवनावस्था प्राप्त होने पर वह इन्द्र जैसा रूप-बल सम्पन्न बना। विद्याधर नरेश बाण की पुत्री उषा से उसने विवाह रचाया। बाण की सेना से अनिरुद्ध का युद्ध भी हुआ।

बाण को कई विद्याएं सिद्ध थीं। उसने अनिरुद्ध को नागपाश में जकड़ लिया। आखिर प्रद्युम्न और श्रीकृष्ण के पहुंचने पर बाण की पराजय सुनिश्चित हो गई। उषा से विवाह रचाकर अनिरुद्ध द्वारिका लौट आया। कालान्तर में भगवान अरिष्टनेमि के चरणों में अनिरुद्ध प्रव्रजित बना। वह उसी भव में मोक्ष को उपलब्ध हुआ।

—जैन महाभारत/अन्तगडसूत्र, वर्ग 4, अध्ययन 8

अनिहतसेन

देवकी पुत्र। सुलसा व नाग इनके पालक माता-पिता थे। (देखिए-अनियसेन)

—अन्तगडसूत्र, तृतीय वर्ग, तृतीय अध्ययन

अनोखी

विक्रमपुर नगर के रहने वाले एक साधारण शिल्पकार की पुत्री, जो अपठिता होते हुए भी अद्वितीय बुद्धिमती थी। कर्णसिंह विक्रमपुर का युवराज था जो स्वभावतः हठी और दंभी था। युवराज्ञी स्वर्णमंजरी को वह प्रतिदिन पांच जूते मारकर अपने दंभ का पोषण करता था। यह चर्चा पूरे नगर में फैल गई थी कि राजकुमार अपनी पत्नी को प्रतिदिन पांच जूते मारता है। अनोखी ने एक बार अपनी सखियों से कहा कि यदि वह स्वर्णमंजरी के स्थान पर होती तो युवराज के झूठे दंभ को तोड़ देती। इतना ही नहीं, वह युवराज से अपने पैर दबवाती, उससे जूते पहनती और अपना पगधोवन तक उसे पिला देती।

कान दर कान अनोखी की यह गर्वोक्ति युवराज कर्णसिंह के कानों तक भी पहुंच गई। उसका अहं कसमसा उठा। उसने अनोखी से विवाह कर लिया। सुहागरात के समय अहंकार और क्रोध में उबलता हुआ युवराज अनोखी के शयन कक्ष में पहुंचा। जूता निकालकर बोला, स्वर्णमंजरी को तो मैं प्रतिज्ञावश जूता छुआता ही हूं पर तुम्हारी तो ऐसी पिटाई करूंगा कि तुम सारी गर्वोक्ति भूल जाओगी। अनोखी ने विनम्रता से कहा, मैं आपके जूते खाने के लिए प्रस्तुत हूं पर उससे पहले अपने पौरुष का तो मुझे प्रमाण दो। युवराज ने कहा, क्षत्रियों के पौरुष का प्रमाण तो रणक्षेत्र में प्राप्त होता है, वैसा अवसर आएगा तो मैं अपने पौरुष का प्रमाण अवश्य दूंगा। अनोखी ने कहा, पौरुष के प्रमाण के लिए रणक्षेत्र की आवश्यकता नहीं है। उसका एक अन्य उपाय भी है और वह है बीसाबोली नामक राजकुमारी से विवाह करना। उस राजकुमारी ने अनेक राजाओं और राजकुमारों को अपना बन्दी बना लिया है। यदि आप उस राजकुमारी को अपना बना सके तो यह आपके पौरुष का प्रमाण होगा। युवराज ने गर्व से कहा, मैं वैसा अवश्य ही करूंगा, पर तुम्हारी उन गर्वोक्तियों का क्या होगा, जिनमें तुमने कहा था कि तुम मुझे अपना चरणोदक पिलाओगी, कि मेरे हाथों से जूते पहनोगी और मुझसे पैर दबवाओगी। अनोखी ने कहा, यदि आप इसके लिए मुझे बाध्य करते हो तो मैं वैसा अवश्य करूंगी।

युवराज कर्णसिंह ने कहा, तुम वैसा कदापि नहीं कर पाओगी। मैं बीसाबोली से विवाह करके शीघ्र ही लौटूंगा और प्रतिदिन के गणित से पांच जूते मारूंगा। कहकर युवराज रवाना हो गया। वह बीसाबोली के नगर में पहुंचा। वहां पहुंचकर उसे ज्ञात हुआ कि जो भी राजा या युवराज बीसाबोली के बीस प्रश्नों का उत्तर देगा, उसे बीसाबोली के साथ-साथ उसके पिता का विशाल साम्राज्य भी प्राप्त होगा। कर्णसिंह बीसाबोली के प्रश्नों के उत्तर देने के लिए उसके पास पहुंचा और प्रथम प्रश्न पर ही अटक गया। परिणामतः उसे बन्दी बनाकर घोड़ों की सेवा में लगा दिया गया।

अनोखी जानती थी कि कर्णसिंह की क्या दशा होने वाली है। कई मास तक जब कर्णसिंह नहीं लौटा

तो उसे पूर्ण विश्वास हो गया कि उसका पति बन्दी बना लिया गया है। अनोखी ने एक योजनानुसार कार्यक्रम सुनिश्चित किया। सास-श्वसुर की आज्ञा प्राप्त कर वह अपने पितृ-गृह चली गई। वहां पिता को अपनी योजना से अवगत कराया और पुरुषवेश धारण कर, वह बीसाबोली के देश में पहुंची। उसने बीसाबोली के बीसों प्रश्नों का सटीक उत्तर दिया। फलतः बीसाबोली ने उसे पति रूप में चुन लिया, साथ ही उसे विशाल साम्राज्य भी मिला। अनोखी ने कर्णसिंह के अतिरिक्त समस्त राजाओं और राजकुमारों को ससम्मान स्वतंत्र कर दिया। कर्णसिंह ने पुरुषवेशी अनोखी से प्रार्थना की कि उसे भी स्वतंत्र कर दिया जाए। अनोखी ने कहा, तुम हमें अपनी सेवा से संतुष्ट करो तो तुम्हें भी स्वतंत्र कर दिया जाएगा। स्वतंत्रता प्राप्ति की उमंग में कर्णसिंह अनोखी की सेवा में तन-मन-प्राण से जुट गया। उसी अवधि में अनोखी ने कर्णसिंह से जूते भी पहने, पैर भी दबवाए और चरणोदक भी पिलाया। फिर राजदरबार में अनोखी ने घोषणा की कि मैं बीसाबोली और प्राप्त साम्राज्य का दान अपने मित्र कर्णसिंह को करता हूं, क्योंकि कर्णसिंह इस सब के लिए सर्वभांति सुयोग्य युवक है।

कर्णसिंह को अकल्पनीय पुरस्कार प्रदान कर अनोखी अपने नगर में आ गई और राजमहल में पहुंच गई। उधर कर्णसिंह भी बीसाबोली के साथ अपने नगर में पहुंचा। शीघ्र ही समय निकालकर वह अनोखी के कक्ष में पहुंचा और जूता लेकर उसकी ओर बढ़ा। अनोखी के कक्ष के कोने में उसका पुरुषवेश टंगा देखकर कर्णसिंह के पांवों के तले की धरा खिसक गई। उसके हाथ का जूता गिर गया। अनोखी ने पति के चरण स्पर्श कर कहा, महाराज! आपकी जिद्द के कारण मुझे यह सब करना पड़ा, मेरे किए पर मुझे क्षमा कर अपनी उदारता का परिचय दीजिए।

युवराज ने अनोखी को कण्ठ से लगाते हुए कहा, तुम जैसी अपठित विदुषी पत्नी को पाकर मैं धन्य हो गया हूं।

बुद्धिमती अनोखी ने जीवन के उत्तरार्ध में संयमपथ की आराधिका बन सद्गति प्राप्त की।

अन्निकापुत्र (आचार्य)

एक अति प्राचीन जैनाचार्य जिनके उपदेश को सुनकर पुष्पचूला विरक्तमती बनी थी। (देखिए-पुष्पचूला)

अपराजित

सिंहपुर नगर के राजा हरीनन्दी का पुत्र, एक सुयोग्य और साहसी राजकुमार। योग्य वय में अपराजित बहत्तर कलाओं में निपुण बन गया। रूप, गुण और बल का अपूर्व संगम अपराजित में हुआ था। उसका एक मित्र था, जिसका नाम विमलबोध था। दोनों मित्र आमोद-प्रमोद पूर्वक जीवन यापन कर रहे थे।

एक बार दोनों कुमार अश्वारूढ़ होकर वन विहार को गए। अश्व वक्रशिक्षित थे। लगाम खींचते ही हवा से बातें करने लगे। सूदूर पर्वतों से घिरे वन में पहुंचकर जब दैवयोग से वल्गा ढीली हुई तो अश्व स्वतः ही रुक गए। दोनों मित्रों ने विचार किया, हम नगर से बहुत दूर आ गए हैं, अब नगर में लौटने के बजाय हमें देशाटन करना चाहिए। इस विचार के साथ दोनों मित्र आगे चल दिए। यात्रापथ पर अपराजित के बल और बुद्धि की अनेक परीक्षाएं हुईं। उसने अपने पराक्रम और परोपकारिता से कई लोगों के प्राणों की रक्षा की। उस यात्रा में राजकुमार ने कई राजपुत्रियों से पाणिग्रहण भी किया। कई अवसरों पर उसे युद्ध भी लड़ने पड़े। पुण्य-पराक्रम के कारण राजकुमार को सर्वत्र सफलता प्राप्त हुई ।

राजा जितशत्रु की पुत्री का नाम प्रीतिमति था। राजकुमारी रूप और गुणों से सम्पन्न थी। राजा ने

अपनी पुत्री के विवाह के लिए स्वयंवर की रचना की। उधर यात्रा क्रम में राजकुमार अपराजित प्रीतिमति के स्वयंवर में उपस्थित हुआ, जहां प्रीतिमति ने पूर्व जन्म की प्रीतिवश उसका वरण किया।

अनेक राजकन्याओं से विवाह करके विपुल सम्पत्ति के साथ अपराजित अपने नगर में लौटा। पुत्र को पाकर माता-पिता के हर्ष का पारावार न रहा। राजा हरीनन्दी ने अन्तिम अवस्था में अपराजित को राज्यारूढ़ किया और स्वयं प्रव्रजित हो गया।

अपराजित ने सुदीर्घ काल तक राज्य किया। राजकाज का दायित्व वहन करते हुए भी अपराजित ने धर्म को विस्मृत नहीं किया। प्रीतिमति भी धर्माराधना में अपने पति की पूर्ण रूप से अनुगामिनी बनी रही।

एक बार महाराज अपराजित अपनी रानी के साथ उद्यान क्रीड़ा को गए। वहां उन्होंने एक सुरूप युवक को अनेक रमणियों के साथ आमोद-प्रमोद करते देखा। अपराजित ने अपने सेवकों से उस युवक का परिचय पूछा, सेवकों ने बताया—अनंगदेव नामक यह युवक आपके ही नगर के समृद्धिशाली सेठ का पुत्र है।

दूसरे दिन राजा अपराजित किसी कार्यवश कहीं जा रहे थे। उन्होंने एक अर्थी देखी। पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि श्रेष्ठिपुत्र अनंगदेव का विशूचिका के कारण रात्रि में निधन हो गया। यह उसी की अन्तिम यात्रा है।

इस घटना को देखकर महाराज अपराजित का मन जीवन की नश्वरता और क्षणभंगुरता पर चिन्तनशील हो गया। चिन्तन से वैराग्य का उदय हुआ। उसी दिन नगर में मुनि पधारे। राजपद त्याग कर अपराजित दीक्षित हो गए। प्रीतिमति ने भी पति का अनुगमन किया। तप और संयम से आत्मा को भावित करते हुए अपराजित और प्रीतिमति आयुष्य पूर्ण कर आरण देवलोक में इन्द्र के सामानिक देव बने। वहां से तृतीय भव में अपराजित का जीव ही तीर्थंकर अरिष्टनेमि के रूप में जन्मा। प्रीतिमति का जीव राजीमती के रूप में उत्पन्न हुआ।

—तीर्थंकर चरित्र

अपराजिता (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 28

अप्सरा (आर्या)

आर्या अप्सरा का जन्म साकेत नगर में हुआ। कालधर्म को प्राप्त कर यह शक्रेन्द्र महाराज की पट्टमहिषी के रूप में जन्मी, जहां इनका आयुष्य सात पल्योपम का है। इनका शेष समग्र परिचय काली आर्या के समान है। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 9, अ. 8

अभग्नसेन चोर

अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व पुरिमताल नगर के निकटवर्ती जंगलों में रहने वाला एक कुख्यात और महा-अधर्मी चोर। उसके पिता का नाम विजय था, जो स्वयं एक कुख्यात तस्कर था और पांच सौ चोरों का सरदार था। वह पुरिमताल नगर के निकट जंगल में फैली पहाड़ियों में पल्ली बनाकर रहता था। पिता का उत्तराधिकार उसके पुत्र ने पूर्ण दायित्व से संभाला और पिता से भी बढ़कर कुख्यात और चालाक चोर बना। पूरे पुरिमताल साम्राज्य में उसका आतंक फैल गया। अभग्नसेन के नाम से पूरा क्षेत्र कांप उठता था।

पुरिमताल नरेश महाराज महाबल ने अभग्नसेन चोर को पकड़ने के लिए अनेक यत्न किए। अपने सैनिकों को पूर्ण स्वतन्त्रता दी पर अभग्नसेन को गिरफ्तार करने में उसे सफलता नहीं मिली। आखिर उसने

एक उपक्रम किया। उसने पुरिमताल नगर में दस दिनों तक चलने वाले एक महोत्सव का आयोजन किया। उस महोत्सव में अभग्नसेन को भी आमंत्रित किया।

अभग्नसेन को अपने चातुर्य पर अभिमान था। उसे यह मान हो गया था कि उसे कोई नहीं पकड़ सकता। सो उसने राजा का आमंत्रण स्वीकार कर लिया। वह वेश-परिवर्तन कर समारोह में शामिल हुआ। सैनिकों ने उसे और उसके साथियों को मद्य-मांस का आहार करा बेभान बना दिया। इस प्रकार जब वह अपने साथियों सहित मदिरा के नशे में चूर था तो उसे गिरफ्तार कर लिया गया। राजा ने उसे शूली का दण्ड दिया। कठिन लौह बन्धनों में बांध कर सैनिक उसे वधस्थल की ओर ले चले।

उधर भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गणधर गौतम भिक्षा के लिए पुरिमताल नगर में भ्रमण कर रहे थे। उन्होंने लौह बन्धनों में बंधे और वधस्थल पर ले जाए जा रहे उस चोर को देखा। उसे देखकर उनका मन खिन्नता से भर गया। वे भगवान के पास पहुंचे और उन्होंने भगवान से पूछा—भगवन्! अभग्नसेन ने ऐसे क्या पाप किए थे, जिन के फलस्वरूप उसे शूली पर चढ़ाया जा रहा है? भगवान ने कहा—गौतम! पूर्वभव में अभग्नसेन इसी नगर का निन्हव नामक एक वणिक था, जो अण्डों का बहुत बड़ा व्यापारी था। यह स्वयं भी अण्डे खाता था और दूसरों को भी खिलाता था। आयुष्य पूर्ण कर वह तीसरी नरक में गया। वहां से निकलकर यह अभग्नसेन बना है। यहां भी इसने चोरी जैसे निंदनीय कर्म को अपनाया और फलस्वरूप आज दिन के तृतीय प्रहर में यह शूली पर लटका दिया जाएगा। यहां से मरकर प्रथम नरक में जाएगा। तत्पश्चात् अनेक भवभ्रमण करके वाराणसी नगरी में श्रेष्ठीकुल में जन्म लेकर संयम स्वीकार करेगा और सिद्ध होगा।

—विपाक सूत्र

अभय कुमार

मगध नरेश महाराज श्रेणिक के ज्येष्ठ पुत्र और मगध देश के महान बुद्धिमान् महामंत्री। उनकी माता का नाम नन्दा था, जो महाराज श्रेणिक की प्रथम परिणीता थी। कुमारावस्था में ही श्रेणिक को सहोदरों के विद्वेष के कारण गृहत्याग करना पड़ा था। फलतः वे भटकते हुए वेणातट नामक नगर में पहुंचे और वहां भद्र नामक श्रेष्ठी के अतिथि बने। श्रेष्ठी को श्रेणिक इतने भाए कि उसने अपनी पुत्री नन्दा का विवाह उनसे कर दिया। कुछ दिन श्रेष्ठी गृह में बिताकर और नन्दा को वहीं छोड़कर तथा उसे सांकेतिक भाषा में अपना परिचय लिखित रूप में देकर श्रेणिक अपने नगर को चले गए। शीघ्र ही वे मगध देश के राजा बन गए।

अभयकुमार का जन्म अपने ननिहाल में हुआ। अभय जब युवा हुआ तो उसने अपने पिता की खोज की और अपने बुद्धिबल से वह मगध का महामंत्री बन गया। वह इतना कुशाग्र-बुद्धि और औत्पत्तिकी बुद्धि का स्वामी था कि उसने मगध देश को अनेक बार बड़े-बड़े संकटों से रक्षित किया। महाराज श्रेणिक की कई व्यक्तिगत उलझनों को उसने सुलझाया।

एक बार श्रेणिक चेटक पुत्री सुज्येष्ठा के रूप पर मोहित हो गया और उसने चेटक से उसकी पुत्री की मांग की। महाराज चेटक का यह प्रण था कि वे अपनी सभी पुत्रियों का विवाह जैन कुल में ही करेंगे। श्रेणिक उस समय तक जैन धर्मी नहीं बने थे। सो चेटक ने श्रेणिक का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। इस से श्रेणिक निराश हो गए। आखिर पितृ-निराशा को अभय कुमार ने ही दूर किया। अपने बुद्धि-कौशल से उसने वह सब संयोजना सृजित कर दी, जिससे गुप्त रूप से श्रेणिक चेटक के महलों में जा पहुंचे। परन्तु अन्तिम क्षणों में दैववश सुज्येष्ठा छूट गई और उसकी बहन चेलना महाराज श्रेणिक के साथ आ गई। यही चेलना महाराज श्रेणिक की पटरानी बनी।

इसके अतिरिक्त एक बार उज्जयिनी नरेश चण्डप्रद्योत ने राजगृह को सदलबल घेर लिया। पर अभयकुमार ने अपने बुद्धिबल से उसे ऐसी मात दी कि वह रात में ही अपने देश भाग गया। उसने अपने बुद्धिबल से धारिणी, चेलना आदि विमाताओं के ऐसे दोहद पूर्ण कराए, जो असंभव से प्रतीत होते थे।

अभयकुमार भगवान महावीर का अनन्य उपासक था। एक बार भगवान का उपदेश सुनकर वह विरक्त हो गया। उस ने दीक्षा लेने का संकल्प कर लिया। परन्तु एतदर्थ महाराज श्रेणिक ने उसे आज्ञा नहीं दी। उसने पूछा, आखिर उसे आज्ञा कैसे मिलेगी। श्रेणिक ने कहा—जिस दिन मैं तुम्हें नाराज होकर अपनी आंखों से दूर चले जाने को कहूं, उस दिन तुम भगवान के पास दीक्षा ले सकते हो।

अभयकुमार ऐसे अवसर की तलाश और प्रतीक्षा में रहने लगा। आखिर उसे एक दिन महाराज श्रेणिक की नाराजगी का अवसर मिल ही गया। घटना इस प्रकार घटी—एक दिन महाराज श्रेणिक अपनी पटरानी चेलना के साथ भगवान महावीर के दर्शनों के लिए जा रहे थे। कड़ाके का जाड़ा पड़ रहा था। चेलना ने देखा, उस सर्द मौसम में एक मुनि ध्यानस्थ हैं। उस मुनि को देखकर रानी का हृदय उनके प्रति श्रद्धा से भर गया। वह हृदय की गहराई से उस मुनि से प्रभावित हुई।

रात्रि में महाराज श्रेणिक और चेलना निद्राधीन थे। रानी का एक हाथ कम्बल से बाहर रह गया। शीत की अधिकता से उसका हाथ सुन्न हो गया। उसकी आंखें खुलीं तो उसने अपना हाथ कम्बल में खींच लिया। साथ ही उसके मुख से निकला—धन्य है उसे ! कैसे सहता होगा इस विकराल शीत को! ऐसा कहकर रानी पुनः सो गई। परन्तु ये शब्द श्रेणिक के कानों में पड़ गए। वह संदेह का शिकार हो गया। उसे लगा कि उसकी रानी अपने किसी प्रेमी का स्मरण कर रही है।

संदेह विनाश का कारण होता ही है। राजा ने जैसे-तैसे सुबह की। वह कक्ष से बाहर निकला। अभय कुमार को सामने पाकर राजा ने आदेश दिया कि चेलना के महल में आग लगा दो और ध्यान रहे कि चेलना बचने न पाए। कहकर राजा भगवान के दर्शन-वन्दन को चला गया। पर अभयकुमार तो बहुत बुद्धिमान था। वह समझ गया कि उसके पिता अवश्य ही किसी संदेह के शिकार हो गए हैं। उसने ऐसा उपाय किया कि उसे पित्राज्ञा भी मिल जाए और विमाता का भी कोई अहित न हो। उसने महल के पास ही घास-फूस का ढेर लगवाकर उसमें आग लगवा दी।

श्रेणिक भगवान के पास पहुंचे। श्रेणिक के संदेह को दूर करने के लिए भगवान ने कहा—महाराज चेटक की सातों पुत्रियां परमशीलवती सन्नारियां हैं। भगवान की बात सुनकर श्रेणिक चौंक गए। 'कहीं अन्याय न हो जाए' इस आशंका के साथ वे तत्काल महलों की ओर चल दिए। मार्ग में ही उन्हें अभयकुमार मिल गया। श्रेणिक ने अभय से पूछा—तुमने मेरे आदेश को क्रियान्वित तो नहीं किया?

अभय बोला—राजाज्ञा और पित्राज्ञा के उल्लंघन का दुःसाहस मैं कैसे कर सकता हूं। सामने देखो, आग की लपटें उठ रही हैं!

श्रेणिक स्तंभित हो गए। उनके मुख से निकला—अभय! अन्याय कर दिया है तुमने! दूर चले जाओ मेरी आंखों से!

अभय को मनमांगी मुराद मिल गई। उन्हीं कदमों से वह भगवान के पास जाकर दीक्षित हो गया। पांच वर्षों तक संयम पालन करके उसने विविध तपस्याओं द्वारा कर्मों को हल्का किया और आयुष्य पूर्ण कर विजय विमान में पैदा हुआ। वहां से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वह सिद्ध होगा।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र

(क) अभयदेव (आचार्य)

उक्त नाम के तीन प्रसिद्ध आचार्य जैन परम्परा में हुए हैं—1. नवांगी टीकाकार अभयदेव सूरि, 2. मलधारी अभयदेव सूरि, 3. 'वादमहार्णव' के टीकाकार अभयदेव सूरि।

यहां वादमहार्णव के टीकाकार अभयदेव सूरि का परिचय विवेचित है। आचार्य अभयदेव सूरि का जन्म राजपरिवार में हुआ था। चन्द्रगच्छ के आचार्य प्रद्युम्न सूरि के पास अभयदेव दीक्षित हुए और एक विद्वान आचार्य के रूप में उनकी ख्याति हुई। आचार्य अभयदेव और उनके शिष्यों का कई राजवंशों पर प्रभाव था, जिनमें धारा नरेश मुंज विशेष था।

आचार्य अभयदेव सूरि रचित वादमहार्णव एक सुप्रसिद्ध टीका ग्रन्थ है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के 'सम्मति तर्क' नामक ग्रन्थ पर यह टीका ग्रन्थ रचा गया है। जैन न्याय और दर्शन का यह प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है।

आचार्य अभयदेव सूरि का सत्ताकाल वी.नि. की 15वीं 16वीं शती माना जाता है।

(ख) अभयदेव (नवांगी टीकाकार आचार्य)

जैन परम्परा में आचार्य अभयदेव की ख्याति नवांगी टीकाकार के रूप में है। उन्होंने नौ अंग आगमों पर टीकाएं लिखीं। उन द्वारा टीकाकृत आगम ये हैं—1. स्थानांग, 2. समवायांग, 3. व्याख्याप्रज्ञप्ति, 4. ज्ञाताधर्मकथांग, 5. उपासकदशांग, 6. अन्तकृद्दशांग, 7. अनुत्तरौपपातिकदशांग, 8. प्रश्नव्याकरण, 9. विपाक सूत्र। उपांग सूत्र औपपातिक पर भी आचार्य श्री ने टीका का निर्माण किया। आचार्य हरिभद्र कृत दो ग्रन्थों - षोडशक और पञ्चाशक पर भी उन्होंने टीकाएं लिखीं। टीकाओं के अतिरिक्त भी उन्होंने कुछ ग्रन्थों का निर्माण किया था। इससे सहज ही सिद्ध होता है कि आचार्य अभयदेव दिग्गज विद्वान मुनिराज थे।

आचार्य अभयदेव का जन्म धारानगरी में वी.नि. 1542 में एक श्रेष्ठी परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम महीधर और माता का नाम धनदेवी था। अभय देव आचार्य जिनेश्वर के उपदेश से प्रबुद्ध होकर उनके शिष्य बने। अध्ययन में वे मेधावी सिद्ध हुए और आगमों के तलस्पर्शी अध्येता बने। शासनदेवी की पावन प्रेरणा पाकर उन्होंने आगमों पर टीकाओं की रचना का कार्य प्रारंभ किया। जैन जगत में आचार्य अभयदेव कृत टीका ग्रन्थों का सर्वोच्च स्थान है।

टीका साहित्य की रचना के पश्चात् एक बार आचार्य अभयदेव कुष्ठ रोग से ग्रस्त हो गए। उनके प्रभाव से ईर्ष्या करने वालों ने अपवाद फैला दिया कि उत्सूत्र की प्ररूपणा करने के कारण उन्हें कुष्ठ हुआ है। आचार्य श्री के लिए वे विकट क्षण थे। परन्तु उन्होंने अपने धैर्य को डोलने नहीं दिया। आखिर धरणेन्द्र देव ने आचार्य श्री का उपचार कर उन्हें स्वस्थ बनाया।

आचार्य अभयदेव 15वीं, 16वीं (वी.नि.) शताब्दी के विद्वान आचार्य थे। —प्रभावक चरित्र

(ग) अभयदेव मलधारी (आचार्य)

वी.नि. की 17वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक तेजस्वी आचार्य। 'मलधारी' उनका यह उपनाम उनके उत्कृष्ट आचार और क्रियानिष्ठा की ओर संकेत करता है। आचार्य अभयदेव शरीर पर जमे मैल का निराकरण न करके मल परीषह को प्रसन्न भाव से सहन करते थे। उनके त्याग और तप से तत्युगीन साधारण जन से लेकर सम्राटों तक प्रभावित थे। गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह, शाकम्भरी नरेश पृथ्वीराज, गोपगिरि नरेश

भुवनपाल आदि राजा आचार्य अभयदेव के परम भक्त थे। सिद्धराज जयसिंह ने उन्हें मलधारी पद प्रदान किया था।

उत्कृष्ट आचार के आराधक आचार्य मलधारी ग्रीष्म ऋतु में मध्याह्न में गोचरी के लिए निकलते। अपरिचित और अजैन गृहों में गोचरी करते। घृत विगय के अतिरिक्त शेष चार विगयों का आजीवन परित्याग उन्होंने किया था।

वी. नि. 1638 में आचार्य मलधारी ने अजमेर में संलेखना-संथारे सहित देहोत्सर्ग किया। उन्हें 47 दिन का संथारा आया। —प्रभावक चरित्र

अभया

चम्पा नगरी के नरेश दधिवाहन की पटरानी। उसने अपने त्रिया चरित्र में श्रेष्ठीवर्य सुदर्शन को फांस कर उसे शूली का दण्ड दिलवाया था। पर अन्ततः सुदर्शन के शील धर्म के चमत्कार से शूली सिंहासन बन गई थी। (देखिए-सुदर्शन सेठ) —आवश्यक कथा

अभिचन्द्र कुमार

समग्र परिचय गौतमवत् है। (देखिए-गौतम) —अन्तगड सूत्र, द्वितीय वर्ग, अष्टम अ.

अभीचिकुमार

सिन्धु-सौवीर के सम्राट् उदायन का पुत्र और प्रभावती का आत्मज। महाराज उदायन मुनि बनने लगे तो उन्होंने 'राज्येश्वरी-नरकेश्वरी' का विचार करते हुए अपना राज्य अपने पुत्र को न देकर भाणजे केशी को दे दिया। पिता के उच्च भावों को अभीचिकुमार समझ न सका और मन ही मन उनके प्रति द्वेष से भर गया। वीतभय नगर को छोड़कर वह अपने मौसेरे भाई कोणिक के पास चला गया। किसी समय सन्तदर्शन से वह प्रतिबुद्ध हुआ और उसने श्रावक धर्म अंगीकार कर लिया। आयु के अन्त में उसने पन्द्रह दिन का अनशन किया। अपने पिता को शेष रखते हुए उसने चौरासी लाख जीवयोनियों के जीवों से क्षमापना की। देह त्यागकर वह देव बना।

देवयोनि से च्यव कर अभीचिकुमार का जीव महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा। वहां अपनी भूल को सुधारकर तथा संयम पालकर सिद्ध होगा।

अभिनन्दन (तीर्थंकर)

चौबीस तीर्थंकरों में चतुर्थ। अयोध्याधिपति संवर और उनकी महारानी सिद्धार्था के आत्मज। यौवनावस्था में भगवान ने राजपद को सुशोभित किया। आयु के अन्तिम भाग में दीक्षित होकर तीर्थंकर पद प्राप्त किया और जगत के लिए कल्याण का महाद्वार बने।

महाबल राजा के भव में भगवान ने अप्रतिम सरलता और साधुता को जीकर तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया था। वहां से एक भव अनुत्तर देवलोक का करके वे अभिनन्दन के रूप में जन्मे और सिद्ध हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र

अभिनन्दन मुनि

शान्त और सरल प्रकृति के एक मुनि। ज्ञानाराधना में उनकी बहुत रुचि थी। वे पूरा दिन आगम स्वाध्याय में संलग्न रहते। वे सरल थे, स्वाध्याय-रुचि सम्पन्न थे, पर उन्हें स्वाध्याय और अस्वाध्याय के

काल और दोषों का परिज्ञान नहीं था। काल-अकाल का भेद किए बिना वे अध्ययन में जुटे रहते, ज्ञानातिचार लगाते रहते। परिणामतः बहुत पढ़कर भी उन्हें कुछ स्मरण नहीं रहता, वे पढ़ते जाते और पढ़े हुए को भूलते जाते। परिणामतः उनका ज्ञान और आचार दोनों अपूर्ण रह गए। उनका सम्यक्त्व भी विशुद्ध नहीं रह पाया। आयुष्य पूर्ण कर मुनि अभिनन्दन गंगा में मत्स्य योनि में जन्मे।

किसी समय एक मुनि गंगा के किनारे बैठे हुए स्वाध्याय कर रहे थे। स्वाध्याय के स्वर मत्स्य के कानों में पड़े। वे स्वर उसे मधुर लगे। उसके अन्तर्मानस में चिन्तन चलने लगा कि वे स्वर उसके द्वारा पहले भी सुने जा चुके हैं, पर कहां सुने, उसे कुछ स्मरण नहीं आया। पुनः पुनः उसने स्मृति पर जोर दिया और उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसे सब स्मरण हो गया कि पूर्वजन्म में वह मुनि था, पर अकाल-दुष्काल स्वाध्याय से उसने ज्ञान के अतिचारों का सेवन किया और चारित्र का पालन करके भी उसके मधु परिणाम से वंचित रहा।

मत्स्य को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई। उसने श्रावक धर्म अंगीकार कर लिया। श्रद्धापूर्वक चित्त से श्रावक धर्म का पालन करके वह मत्स्य देवलोक में गया। —बृहत्कथा, कोष भाग 1 (आ. हरिषेण)

अभिमन्यु

अर्जुन का सुभद्रा से उत्पन्न पुत्र, एक वीर शिरोमणि युवक। उसका विवाह विराटराज की पुत्री उत्तरा के साथ सम्पन्न हुआ था।

वैदिक महाभारत के अनुसार अभिमन्यु ने मातृगर्भ में रहते हुए ही चक्रव्यूह को भेदने की कला सीख ली थी और महाभारत के युद्ध में आवश्यकता पड़ने पर उसने ऐसा करके भी दिखाया था। कौरव पक्ष के कई महारथियों ने एक साथ मिलकर अभिमन्यु से युद्ध किया। वीरता से लड़ते हुए अभिमन्यु की मृत्यु हुई। उसके शौर्य और युद्ध कौशल से कौरव पक्ष के महारथी चकित रह गए थे। —जैन महाभारत

अमर कुमार

मगध देश की राजधानी राजगृह नगरी के रहने वाले दीन-दरिद्र ब्राह्मण ऋषभदत्त के चार पुत्रों में सबसे छोटा पुत्र, जो स्वभाव से ही सरल, विनीत और सौम्य था। अमर का परिवार निर्धनता और अभाव की चक्की में ऐसा पिस रहा था कि पूरे परिवार द्वारा जी तोड़ मेहनत करने पर भी भरपेट रोटी प्राप्त नहीं कर पाता था। अल्पायुषि अमर अग्रजत्रय के साथ जंगल में लकड़ियां लेने जाता था।

किसी समय जंगल में जाते हुए अमरकुमार को एक मुनि के दर्शन हुए। मुनिदर्शन से अमर का मन पुलक से भर गया। मुनि ने बालक अमर को धर्म का मर्म समझाया और महामंत्र नवकार स्मरण कराया। मुनि ने कहा, नवकार मंत्र के श्रद्धापूर्वक जाप से व्यक्ति के समस्त कष्ट कट जाते हैं। अमर ने नवकार मंत्र को स्मरण कर लिया और अविचल श्रद्धाभाव से वह प्रतिदिन उसका जाप करने लगा।

उन दिनों श्रेणिक राजगृह का राजा था। जिस समय का यह वृत्त है, उस समय तक श्रेणिक वैदिक क्रियाकाण्डों का विश्वासी था। उसने एक महल बनाने का निश्चय किया। महल की दीवारें बनाई गईं, लेकिन रात्रि में वे दीवारें ढह गईं। कई बार दीवारें बनाई गईं और प्रत्येक बार बिना किसी शिल्प दोष के ही दीवारें ढह गईं। पुरोहित ने राजा को इसे प्रेत बाधा का कारण बताया और कहा कि नरबलि के बिना यह बाधा दूर नहीं की जा सकती है। श्रेणिक ने राज्य में घोषणा करा दी कि जो भी पुरुष अथवा नारी अपने पुत्र को बलि कर्म के लिए राजा को अर्पित करेगा, उसे उसके पुत्र के वजन के तुल्य स्वर्ण प्रदान किया जाएगा। इस

घोषणा को ब्राह्मण ऋषभदत्त की भार्या भद्रा ने भी सुना। भद्रा ने इसे यथेच्छ स्वर्ण-प्राप्ति का एक सुअवसर माना। राजपुरुषों को बुलाकर उनको अपना पुत्र अमर कुमार प्रदान कर दिया और पुत्र के वजन के तुल्य स्वर्ण प्राप्त कर लिया। माता के इस अकल्पित आचरण से अमर सहम गया। उसने पिता और भाइयों से आत्मरक्षा की प्रार्थना की। परन्तु सभी ने उससे मुंह फेर लिया। बलिवेदी पर अमर को लाया गया। अमर ने पंचों और राजा से प्राणरक्षा की दुहाई दी। पर किसी ने उसकी रक्षा नहीं की। उस क्षण अमर को मुनि के वचन स्मरण हो आए। उसने आंखें मूंद लीं और महामंत्र नवकार का जाप करने लगा।

मन्त्रोच्चार के मध्य याज्ञिकों ने अमर को उठाया और प्रज्ज्वलित अग्निकुण्ड में फेंक दिया। उसी क्षण महाचमत्कार घटित हुआ। अग्निकुण्ड जलकुण्ड बन गया। देवराज इन्द्र ने हाथों पर अमर को ग्रहण कर लिया। रक्तवमन करता हुआ श्रेणिक भूमि पर लुढ़क गया। इस महान चमत्कार से भयभीत होकर याज्ञिक सिर पर पांव धरकर भाग खड़े हुए। श्रेणिक बालक अमर के पैरों में गिरकर क्षमा मांगने लगा। उसने अपना राजमुकुट उतारकर अमर के सिर पर रख दिया और कहा, आज से तुम मगधेश हो, मैं तुम्हारा अनुचर हूं।

अमर ने राजमुकुट लौटा दिया। उसी क्षण मुनिवेश धारण कर वह जंगल में चला गया और तप करने लगा। कहते हैं उसी रात उसकी माता भद्रा ने इस विचार से कि कहीं राजा स्वर्ण वापिस न ले ले, मुनि अमर का वध कर दिया। शान्त-प्रशान्त भावों से नमस्कार सूत्र का जप करते हुए मुनिवर अमर ने देहोत्सर्ग कर बारहवें स्वर्ग को प्राप्त किया। एक भव मनुष्य का लेकर वह सिद्धत्व को प्राप्त करेगा।

पुत्र का वध करके लौट रही भद्रा को एक सिंहनी ने अपना आहार बना लिया। मरकर वह छठी नरक में गई।

अमरचंद बांठिया

अमरचंद बांठिया का नाम भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के अमर सेनानियों में स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

अमरचंद बांठिया का जन्म जैन परिवार में हुआ। परिणामतः उनका जीवन जैन संस्कारों से सुसंस्कारित था। वे सन् 1835 में बीकानेर से ग्वालियर में आकर बस गए थे। उनके पिता का नाम अबीरचंद था और वे सात भाइयों में सबसे छोटे थे।

अपनी सत्यनिष्ठा, प्रामाणिकता और कार्यकुशलता के बल पर अमरचंद बांठिया ग्वालियर राज्य के प्रधान राजकोष गंगाजली के कोषागार के प्रधान कोषाध्यक्ष नियुक्त हुए। सिंधिया नरेशों के इस राजकोष में अकूत संपत्ति जमा थी। ग्वालियर राजवंश में यह परम्परा थी कि कोष में संचित धनराशि को न तो कोई देख सकता था और न ही उससे धन निकाल सकता था। यही कारण था कि कोष में विशाल संपत्ति संचित हो गई थी।

1857 में भारतवर्ष में स्वतंत्रता संग्राम अपने चरम पर था। अंग्रेजों के विरुद्ध भारतवासी कड़ा संघर्ष कर रहे थे। मध्यप्रदेश में महारानी झांसी, तात्या टोपे जैसे वीर सेनानी भारत की स्वतंत्रता के लिए निर्णायक युद्ध लड़ रहे थे। निरंतर संघर्ष से स्वतंत्रता सेनानियों को शस्त्रों और अन्नाभाव का सामना करना पड़ रहा था। ऐसे में अमरचंद बांठिया ने राजकोष में संचित धनराशि स्वतंत्रता सेनानियों के लिए समर्पित कर दी। इतना ही नहीं उन्होंने अपनी निजी संपत्ति को भी सैनिकों के वेतन के रूप में वितरित कर दिया।

बांठिया जी के इस उदार और साहसिक सहयोग ने स्वतंत्रता सेनानियों के मंद पड़ते शौर्य को जगा दिया। अंग्रेजों के विरुद्ध जोरदार युद्ध लड़ा गया, जिसमें अंग्रेज सेना को भारी क्षति उठानी पड़ी। अंग्रेजों के

पास आधुनिक शस्त्रास्त्र और भारी सैन्य बल था। हजारों स्वतंत्रता सेनानियों ने अपने प्राणों की आहुति दी। आखिर ग्वालियर पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। इस युद्ध में महारानी लक्ष्मीबाई भी वीरगति को प्राप्त हुई

स्वतंत्रता सेनानियों को भारी सहायता पहुंचाने के आरोप में अंग्रेजों ने अमरचंद जी बांठिया को गिरफ्तार कर लिया। संक्षिप्त मुकदमा चलाकर उन्हें 22 जून 1858 को ग्वालियर के सर्राफा बाजार में नीम के पेड़ से फांसी के फंदे पर लटका दिया। फांसी के फंदे को गले में धारण करते हुए अमर शहीद बांठिया इस बात से संतुष्ट और सुप्रसन्न थे कि वे एक महान उद्देश्य के लिए अपने जीवन का बलिदान कर रहे हैं।

अमरदत्त

रत्नपुर नगर के श्रेष्ठि जयघोष का पुत्र। जयघोष वंशानुगत बौद्धमत का अनुयायी था। परिणामतः अमरदत्त को भी वही संस्कार प्राप्त हुए। एक बौद्धमतानुयायी परिवार में ही अमरदत्त का विवाह हुआ। एक बार अमरदत्त अपने मित्रों के साथ वन-विहार के लिए गया। उसने एक जैन श्रमण के चरणों में बैठे हुए एक दरिद्र व्यक्ति को देखा। वह भी मुनि के पास जाकर बैठ गया। दरिद्र व्यक्ति ने अपनी कष्टकथा मुनि को सुनाई, जिसे सुनकर मुनि ने स्पष्ट किया कि सभी जीवों को अपने-अपने कृतकर्मों को भोगना पड़ता है। मुनि ने उस व्यक्ति को उसका पूर्वभव सुनाया, जिसे सुनकर वह सम्बोधि को प्राप्त हो गया। इससे अमरदत्त के हृदय में भी सम्यक्त्व उत्पन्न हुआ। उसने भी मुनि से श्रावक धर्म अंगीकार कर लिया।

घर लौटने पर अमरदत्त के मित्रों ने उसके धर्मान्तिरण की बात उसके पिता को बताई। इससे पिता बहुत नाराज हुआ और अमरदत्त को जिनधर्म त्यागने के लिए विवश करने लगा। परन्तु अमरदत्त इसके लिए तैयार नहीं हुआ। इस पर अमरदत्त का श्वसुर भी नाराज हुआ और बोला, मेरी पुत्री से सम्बन्ध रखना चाहते हो तो जिनधर्म को छोड़ दो। अमरदत्त की माता ने पुत्र को मध्यम मार्ग सुझाया, पुत्र! तुम जिनधर्म का त्याग भले ही मत करो, परन्तु अपनी कुलदेवी 'अमरा' की आराधना से मुंह मत फेरो। अमर उसके लिए भी राजी न हुआ। इस पर अमरा देवी भी नाराज हो गई। अमर के स्वप्न में प्रकट होकर उसने कहा, अमर! तू जिनधर्म को छोड़ दे, अन्यथा तुझे भयंकर कष्टों का सामना करना पड़ेगा।

इस पर भी अमरदत्त की श्रद्धा जिनधर्म से न्यून न हुई। बल्कि पूर्वापेक्षया और अधिक सुदृढ़ बन गई। तब देवी ने उसे अनेक प्रकार के कष्ट दिए। पर अमर ने उन कष्टों को समभावपूर्वक सहन किया। आखिर अमरादेवी अमरदत्त की दृढ़धर्मिता के समक्ष नतमस्तक हो गई। वह स्वयं भी जिनोपासिका बन गई। उसने अमरदत्त को उच्च सिंहासन पर बैठाकर उस पर पुष्प वर्षा की और उसकी तथा उसके ग्रहीत धर्म की प्रशंसा की।

इससे परिवार-परिजनों के हृदय भी बदल गए। अपनी कुलदेवी को भी जिनोपासिका देखकर सभी ने जिनधर्म स्वीकार कर लिया। सभी ने अमरदत्त से अपनी मूढ़ता के लिए क्षमा मांगी। अमरदत्त ने श्रावक-धर्म का पालन किया। अंतिम वय में उसने दीक्षा धारण की और वह देवलोक में गया। वहां से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वह मुक्त हो जाएगा।

—धर्मरत्न प्रकरण, गाथा 67, भाग-2

(क) अमरसिंह जी म. (आचार्य)

विक्रम की अठारहवीं सदी के स्थानकवासी परम्परा के एक तेजस्वी आचार्य। आपका जन्म दिल्ली में

वि.सं. 1719 आश्विन शुक्ल चतुर्दशी रविवार के दिन हुआ। तातेर गौत्रीय जौहरी श्री देवीसिंह जी आपके पिता तथा श्रीमती कमलादेवी आपकी माता थी। बाल्यावस्था से ही अमरसिंह एक होनहार बालक थे। अध्ययन रुचि प्रबल थी। उन्होंने संस्कृत, उर्दू, अरबी, फारसी आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। बाल्यकाल में ही तत्युगीन परम्परानुसार आपको विवाहसूत्र में बांध दिया गया था। परन्तु वह सूत्र आपके लिए बन्धन नहीं बन सका। आपने आचार्य श्री लालचन्द जी महाराज का प्रवचन सुनकर सम्बोधि प्राप्त की और मात्र इक्कीस वर्ष की अवस्था में आपने सपत्नी ब्रह्मचर्य व्रत का नियम ले लिया।

वि.सं. 1741 चैत्र कृष्णा दशमी के दिन आपने आचार्य श्री लालचन्द जी महाराज के सान्निध्य में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षित होने पर आप गुरुसेवा और स्वाध्याय में प्राणपण से समर्पित हो गए। दीक्षा पर्याय के कुछ ही वर्षों में आप जैन जगत के यशस्वी मुनियों में गिने जाने लगे। गुरुदेव के स्वर्गगमन के पश्चात् अमृतसर नगर में संवत् 1762 में आप आचार्य पाट पर प्रतिष्ठित हुए।

आचार्य श्री अमरसिंह जी महाराज ने राजाओं से लेकर रंकों तक को प्रभावित किया। मुगल बादशाह बहादुरशाह आचार्य श्री से बहुत प्रभावित था। कई कठिन प्रसंगों पर आचार्य श्री ने बादशाह का मार्गदर्शन किया था।

जोधपुर के महामंत्री खींवसी जी भण्डारी आचार्य श्री के श्रावकों में प्रमुख थे। उन्हीं की विशेष प्रार्थना पर आचार्य श्री ने राजस्थान में धर्मोद्योत किया। जयपुर, पाली, जोधपुर, अजमेर आदि नगरों में शुद्ध धर्म की ज्योत जलाई और जड़ पूजा के विश्वासी मतों का निरसन किया।

आचार्य श्री की दृष्टि में तेज और वाणी में ओज था। उन्होंने सहस्रों लोगों को शुद्ध धर्म का अनुयायी बनाया। अनेक को कष्टमुक्त किया। बलिप्रथा आदि से अनेकों को मुक्ति दी।

आचार्य श्री अपने युग के एक तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी संत थे। इतिहास में उनका नाम सदा अमर रहेगा। वि.सं. 1812 में पांच दिन के संथारे के साथ अजमेर नगर में उनका स्वर्गारोहण हुआ।

—जैन जगत के ज्योतिर्धर आचार्य (देवेन्द्र मुनि)

(ख) अमरसिंह जी महाराज (आचार्य)

आप का जन्म अमृतसर (पंजाब) में सं. 1862 में हुआ। श्रीमान बुद्धसिंह जी आपके पिता तथा श्रीमती कर्मदेवी आपकी माता थी। मात्र सोलह वर्ष की अवस्था में ज्वालादेवी नामक कन्या से आपका पाणिग्रहण हुआ। क्रम से आपको पांच संतानों —दो पुत्रियों और तीन पुत्रों की प्राप्ति हुई। दो पुत्र तो जन्म के कुछ दिन बाद ही चल बसे। तृतीय पुत्र भी आठ वर्ष की अवस्था में स्वल्प रुग्णता के बाद दिवंगत हो गया। इस घटना ने अमरसिंह के अचल धैर्य को चलायमान कर दिया। संसार की नश्वरता का दर्शन उनके लिए आत्मदर्शन का राजमार्ग सिद्ध हुआ। दिल्ली में विराजित आचार्य श्री रामलाल जी के सान्निध्य में पहुंचकर उन्होंने सं. 1899 वैशाख शुक्ल द्वितीया के दिन दीक्षा धारण कर ली। शीघ्र ही उन्होंने जैनागमों का पारायण कर लिया। वे एक प्रभावशाली मुनि के रूप में मान्य हुए। उनके 12 शिष्य हुए। सं. 1913 में दिल्ली में ही आपको पंजाब परम्परा का आचार्य नियुक्त किया गया। उत्तर भारत में आज का समस्त मुनि-मण्डल आपका ही शिष्य-प्रशिष्य परिवार है। छत्तीस वर्षों के संयम जीवन में आपने पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश और राजस्थान में विचरण कर सहस्रों लोगों को सत्पथ का पथिक बनाया। सं. 1938 में आषाढ शुक्ला द्वितीया के दिन आपका स्वर्गवास हुआ।

अमरसेन (वयरसेन)

हस्तिनापुर के राजा शूरसेन का पुत्र। उसका एक लघुभ्राता था—वयरसेन। इन दोनों कुमारों की माता का नाम विजया था। दोनों कुमार धीर, वीर और गुणी थे। परिवार और प्रजा में दोनों भ्राताओं का विशेष सम्मान था। राजा की लघु रानी का नाम निरंकुशा था। उसके एक पुत्र था—इन्दुसेन। निरंकुशा पर राजा का विशेष अनुग्रह भाव था। पर निरंकुशा देह से उजली होकर भी मन से काली थी। वह अमरसेन और वयरसेन के सम्मान से मन ही मन जलती रहती थी। एक दिन उसने स्वांग रच कर अमर और वयर पर आरोप मढ़ दिया कि उन दोनों ने उसके साथ कुचेष्टा करने का प्रयास किया है। विवेकान्ध राजा ने बिना सत्य की जांच किए ही चाण्डाल को आदेश दे दिया कि वह अमरसेन और वयरसेन, दोनों को जंगल में ले जाकर उनका वध कर दे। चाण्डाल दोनों कुमारों को जंगल में ले गया, पर वह उनकी हत्या नहीं कर सका। उसने दोनों कुमारों को देशान्तर भाग जाने के लिए कहा और वह दो मृगशावकों की आंखें निकालकर राजा के पास पहुंचा। उन्हें पुत्रों की आंखें समझकर राजा संतुष्ट हो गया कि दुष्टों का अन्त हो गया है।

उधर दोनों कुमार—अमर और वयर निर्जन वनों को नापते हुए गहरे जंगल में पहुंच गए। रात्रि घिरने लगी तो दोनों भाइयों ने बारी-बारी से सोने और पहरा देने का निर्णय किया। रात्रि के पूर्वार्द्ध भाग में अमरसेन सो गया और वयरसेन जागकर पहरा देने लगा। जिस वृक्ष के नीचे ये दोनों कुमार ठहरे हुए थे, उस वृक्ष पर एक शुक युगल रहता था। शुकी ने शुक से कहा, हमारे वृक्ष के नीचे दो अतिथि युवक पधारे हैं, हमें इनका आतिथ्य करना चाहिए। शुक ने कहा, तुम्हारा कथन युक्तियुक्त है। मैं अभी दो आम्र फल लेकर आता हूं, जिन्हें खाकर एक युवक तो सातवें दिन राजपद प्राप्त कर लेगा और दूसरे के मुख से प्रतिदिन पांच स्वर्णमुद्राएं प्रकट हुआ करेंगी। कहकर तोता उड़ गया। कुछ ही देर में वह लौटा तो उसकी चोंच में दो आम्र फल थे। उसने वे दोनों फल वयरसेन की गोद में गिरा दिए। वयरसेन ने अमरसेन को जगाया और शुकयुगल की वार्ता का संदर्भ बताते हुए दोनों भाइयों ने एक-एक फल खा लिया।

प्रभात खिलते ही दोनों भाई आगे बढ़े। एक जलाशय के किनारे स्नान-कुल्ला करने लगे। कुल्ला करते हुए वयरसेन के मुख से पांच स्वर्णमुद्राएं प्रगट हुईं। इससे दोनों कुमारों को पक्षीयुगल की बातों पर पूर्ण विश्वास हो गया। भ्रातृयुगल आगे बढ़े। कंचनपुर नामक नगर में पहुंचे। अमरसेन उद्यान में विश्राम करने लगा। वयरसेन ने विचार किया, अमरसेन को तो शीघ्र ही राजपद की प्राप्ति होने वाली है। अब उसे भी स्वतंत्र विचरण कर अपने भाग्य की चमक की परख करनी चाहिए। ऐसा विचार कर वह चल दिया और कंचनपुर के बाजारों में घूमने लगा। अपने गृह-गवाक्ष में बैठी एक गणिका की दृष्टि वयरसेन पर पड़ी। गणिका ने दासी को भेजकर वयरसेन को अपने पास बुला लिया। वयरसेन ने उसे पांच स्वर्णमुद्राएं भेंट कीं। गणिका ने उसे अपने रूप का दीवाना बना लिया। वयर प्रतिदिन गणिका को पांच स्वर्णमुद्राएं देता और सुखपूर्वक वहीं पर रहता।

उधर कंचनपुर नरेश निःसंतान अवस्था में ही कालधर्म को प्राप्त हो गया तो सुसज्जित हस्तिनी छोड़कर नए राजा के चयन का उपक्रम नागरिकों ने किया। हस्तिनी ने उद्यान में विश्रामरत अमरसेन के गले में पुष्पाहार पहना राजा के रूप में उसका चयन किया। अमरसेन कंचनपुर के राजसिंहासन पर बैठकर प्रजा का पालन करने लगा।

कहावत है कि गणिका कभी एक पुरुष से संतुष्ट नहीं होती है। वयरसेन से प्रतिदिन पांच स्वर्ण-मुद्राएं पाकर भी वह गणिका संतुष्ट नहीं बनी। एक दिन उसने वयरसेन से प्रतिदिन बिना कमाए मुद्राएं

प्राप्त करने का रहस्य पूछा तो वयरसेन ने सरलमन से मुद्रा प्राप्ति का रहस्य बता दिया। गणिका ने गणित बैठाया कि क्यों न वयरसेन को वमन कराके एक साथ बहुत सी स्वर्णमुद्राएं प्राप्त कर ली जाएं। अपने गणित के अनुसार उसने वयरसेन को वमन की औषधि दे दी। वयरसेन ने वमन किया तो वमन में आम की गुठली निकली। उसी दिन से वयर के मुख से प्रकट होने वाली मुद्राएं प्रकट होनी बन्द हो गईं। धन की प्यासी गणिका ने वयरसेन को अपने घर से निकाल दिया।

वयरसेन यत्र-तत्र भटकते हुए एक वन में पहुंचा। उसका पुण्य उदय में आया और उसे तीन अलौकिक वस्तुएं प्राप्त हो गईं। प्रथम—एक कंथा, जिसे झटकने से उसमें से स्वर्णमुद्राएं बरसती थीं, दूसरा—एक लकुट था, जो आदेश देने पर बड़े से बड़े पराक्रमी शत्रु को परास्त करने में सक्षम था, और तीसरी—उड़नखटाऊं थीं, जिन्हें धारण करके इच्छित स्थान पर पहुंचा जा सकता था। इन वस्तुओं को प्राप्त कर वयरसेन पुनः गणिका के पास पहुंचा। उड़नपादुकाओं का रहस्य पाकर गणिका बड़ी प्रसन्न हुई और उन्हें हथियाने का षड्यंत्र रचने लगी। एक दिन गणिका ने वयरसेन से यक्षद्वीप में यक्षमंदिर में पूजा करने का आग्रह किया। वयरसेन उड़नपादुकाओं के द्वारा गणिका को यक्षद्वीप ले गया। वहां पर जैसे ही पादुकाएं यक्षालय के द्वार पर निकालकर वयरसेन अन्दर घुसा, वैसे ही गणिका पादुकाएं पहनकर अपने नगर में आ गई। वयरसेन चारों ओर से समुद्र से घिरे उस द्वीप पर एकाकी रह गया। गणिका के विश्वासघात पर उसे बड़ा क्रोध आया, पर वह कर ही क्या सकता था। आखिर एक विद्याधर की कृपा से वह उस द्वीप से मुक्त हुआ। साथ ही उसे उस द्वीप से दो पुष्प भी मिले, जो दिव्य थे। उनमें से एक पुष्प को सूंघने से मनुष्य गधा बन जाता था और दूसरे को सूंघने से अपने मूल रूप में लौट आता था। उन फूलों को लेकर वयरसेन कंचनपुर पहुंचा। गणिका के घर गया तो गणिका सहम गई। उसने बात बनाते हुए कहा, वयर! जैसे ही तुम यक्षायतन के अन्दर गए, वैसे ही वहां एक चोर आ गया और तुम्हारी पादुकाएं पहनकर मुझे उठाकर आकाश में उड़ गया।

वयरसेन ने अपने मनोभावों को छिपाते हुए गणिका पर प्रेम प्रकट किया और उससे कहा, इस बार मुझे एक अद्‌भुत फूल प्राप्त हुआ है, जिसे सूंघने मात्र से नारी अक्षत-यौवना बन जाती है। गणिका ने मुग्ध बनकर उस फूल को सूंघने का आग्रह किया। वयरसेन ने गणिका को फूल सुंघाकर गर्दभी बना दिया। फिर उसने लकुट को आदेश दिया कि वह गर्दभी की पिटाई करे। वैसा ही हुआ। गर्दभी गली-बाजारों में भागने लगी। लकुट निर्ममता से उसे मारता रहा। आखिर गणिका की मां ने राजा से रक्षा की गुहार लगाई। राजा ने वयरसेन को बन्दी बनाने के लिए राजपुरुष भेजे। पर लकुट की प्रचण्ड मार के समक्ष राजपुरुष टिक नहीं पाए और उलटे कदमों से भागे। राजा अमरसेन स्वयं वयरसेन से निपटने के लिए चला। इस प्रकार दोनों भाइयों का मिलन हुआ। वयरसेन का क्रोध भ्रातृदर्शन के आनन्द के प्रवाह में बह गया। उसने दूसरा पुष्प सुंघाकर गणिका को उसके मूल रूप में लौटा दिया और उसके विश्वासघात की कथा सभी के समक्ष प्रकट की, जिसे सुनकर सभी लोग गणिका को धिक्कारने लगे।

अमर और वयर सुखपूर्वक राजसुख का उपभोग करते हुए समय बिताने लगे। एक बार माता और पिता की स्मृति ने उन्हें व्याकुल बना दिया तो उन्होंने एक दूत हस्तिनापुर भेजकर पिता से पूछवाया कि उसने किस अपराध के बदले में अपने पुत्रों के वध का आदेश दिया था। वर्षों से पुत्र-विरह की अग्नि में जल रहे राजा शूरसेन ने जब यह जाना कि उसके पुत्र जीवित हैं तो उसके आनन्द का पारावार न रहा। वह रानी विजया और राजपरिवार सहित कंचनपुर आया। पिता-माता और पुत्रों का मिलन हुआ। राजपरिवार के सुख के दिन लौट आए।

अमरसेन को राजपद प्रदान कर शूरसेन दीक्षित हो गए। अमरसेन ने सुदीर्घ काल तक राज्य किया और अंतिम वय में चारित्र की आराधना कर स्वर्ग प्राप्त किया। स्वर्ग से च्यव कर मनुष्य भव धारण कर वह सिद्ध होगा। वयरसेन पंचम भव में सिद्धि प्राप्त करेगा। —मतिनन्दगणि (16वीं शती)

अमितगति (आचार्य)

आचार्य अमितगति दिगम्बर जैन परम्परा के एक उच्चकोटि के विद्वान और श्रुतसम्पन्न आचार्य थे। उनके गुरु का नाम माधवसेन था। मुनि-जीवन की भूमिका में प्रवेश के बाद अमितगति ने जैन-जैनेतर दर्शनों का तलस्पर्शी अध्ययन पूर्ण किया। अध्ययन की परिसमाप्ति पर वे साहित्य सृजन की दिशा में गतिमान हुए। उन्होंने कई कालजयी ग्रन्थों की रचना की। सुभाषित रत्न संदोह, धर्म परीक्षा, पंच संग्रह, उपासकाचार, भावना द्वात्रिंशिका, आराधना, तत्वभावना और योगसार उनके द्वारा रचित ग्रन्थ हैं।

आचार्य अमितगति नाम के दो आचार्य जैन परम्परा में हुए हैं। प्रस्तुत अमितगति द्वितीय हैं। कुछ विद्वान योगसार नामक ग्रन्थ को अमितगति प्रथम की रचना मानते हैं।

आचार्य अमितगति का समय वी.नि. की 16वीं शती माना जाता है।

—आराधना प्रशस्ति / पंचसंग्रह प्रशस्ति

अमृतचन्द्र (आचार्य)

दिगम्बर परम्परा के एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार आचार्य। अपने जीवन काल में उन्होंने कई ग्रन्थों पर टीकाओं की रचना की तथा कई स्वतंत्र ग्रन्थों का प्रणयन भी किया। उनके रचित और टीकाकृत ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है—पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, तत्त्वसार, समयसार टीका, समयसार कलश, प्रवचनसार टीका, पञ्चास्तिकाय टीका आदि।

आचार्य श्री की उत्कृष्ट विद्वत्ता और विशद व सूक्ष्म चिन्तन के दर्शन प्रस्तुत ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से होते हैं।

आचार्य अमृतचन्द्र वी.नि. की पन्द्रहवीं शती के उत्तरार्द्ध के विद्वान मुनिराज थे।

अमोघवर्ष (राजा)

दक्षिणापथ के मान्यखेट नगर का राष्ट्रकूटवंशीय एक महाराजाधिराज। अमोघवर्ष वी.नि. की चौदहवीं सदी का शक्तिशाली और प्रतापी नरेश था। प्राप्त उल्लेखों के अनुसार उसके राज्य में तीन बार विद्रोहाग्नि भड़की, जिसे उसने अपने शौर्य से शान्त कर दिया।

अमोघवर्ष आत्मोन्मुखी राजा था। जीवन के पश्चिम प्रहर में उसने स्वेच्छा से राजपाट का त्याग कर दिया और अपना अधिकांश समय जैन आचार्यों की सेवा-आराधना में व्यतीत किया। वह एक विद्वान राजा था। उसने कुछ ग्रन्थों का भी प्रणयन किया था। 'कविराज मार्गालंकार' और 'रत्नमालिका', ये दो ग्रन्थ उसके लिखे हुए हैं।

वी.नि. 1402 में अमोघवर्ष ने स्वेच्छा से राज्य त्याग कर अपना समय जैनाचार्यों की संगति और साहित्य साधना में अर्पित किया था।

अमोलक ऋषि जी (आचार्य)

स्थानकवासी ऋषि सम्प्रदाय के एक तेजस्वी और आगमोद्धारक आचार्य।

आप श्री का जन्म भोपाल में सं. 1934 में हुआ। आपके पिता का नाम श्रीमान केवलचन्द जी कांसटिया और माता का नाम श्रीमती हुलासीबाई था। आपकी बाल्यावस्था में ही आपकी मातेश्वरी का निधन हो गया। जब आप दस वर्ष के थे तब पहले आपके पिताश्री ने और बाद में आपने मुनिधर्म अंगीकार कर लिया। पण्डित रत्न श्री रत्नऋषि जी म. के सान्निध्य में रहकर आपने हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश आदि भाषाओं का गहन अध्ययन किया। तदनन्तर आपने आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन और मनन किया। जैनेतर दर्शनों का भी आपने काफी अध्ययन किया।

आपश्री की आगम रुचि अद्‌भुत थी। आपका चिन्तन था कि आगम ज्ञान सर्वगम्य बने। परन्तु आगमों की भाषा अर्धमागधी होने से वे सर्वगम्य नहीं बन सकते थे। आपने दृढ़ संकल्प के साथ आगमों का हिन्दी अनुवाद कार्य प्रारंभ किया। निरन्तर तीन वर्ष तक एकासने की तपस्या करते हुए आपने यह गुरुतर कार्य पूर्ण किया। आगमों का सर्वप्रथम हिन्दी भाषा में रूपान्तरण आपश्री ने ही किया। आप द्वारा अनुवादित आगमों का प्रकाशन सेठ ज्वालाप्रसाद जी ने कराया और निशुल्क बत्तीसी का वितरण सभी जैन स्थानकों में किया। आपश्री ने 'जैन तत्व प्रकाश' प्रभृति 101 ग्रन्थों का लेखन संकलन किया।

वि.सं. 1989 में इन्दौर में आप ऋषि सम्प्रदाय के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए।

आपश्री जी जहां प्रकाण्ड पण्डित मुनिराज थे, वहीं विनय की प्रतिमूर्त्ति भी थे। सं. 1989 में अजमेर में बृहद् मुनि सम्मेलन हुआ। उस समय की घटना है। प्रातःकाल अन्धेरे में ही एक मुनि आते और क्रमशः सभी छोटे-बड़े संतों को वन्दन कर अपने स्थान पर लौट जाते। यह क्रम कई दिनों तक चला। आखिर जिज्ञासा होने पर एक प्रमुख संत ने आपका अनुगमन किया। सत्य से परिचित होकर वे मुनि दंग रह गए। आपके चरणों में नत होकर उन्होंने पूछा, आचार्य देव ! आप छोटे-बड़े सभी संतों को वन्दन करते हैं, ऐसा किसलिए ?

आप ने सहजता से कहा, मुनिवर! संत तो संत होता है। उसमें क्या छोटा और क्या बड़ा ! कौन जाने कौन आत्मा निकट भवी है। संतों को वन्दन कर मैं अपनी आत्मा को हल्की कर रहा हूं।

आपकी विनयवृत्ति की यह चर्चा सकल संघ में हुई। सभी ने आपकी विनय वृत्ति की मुक्त कण्ठ से अनुशंसा की।

वि.सं. 1993 में धूलिया नगर (महाराष्ट्र) में आपका स्वर्गवास हो गया।

अयवंती सुकुमाल

अयवंती सुकुमाल प्रथम स्वर्ग के नलिनीगुल्म विमान से च्यव कर उज्जयिनी नगरी के कोटीश्वर श्रेष्ठी धन की धर्मपत्नी भद्रा की रत्नकुक्षी से उत्पन्न हुआ था। वह अत्यन्त सुकोमल बालक था, इसीलिए उसे अयवंती सुकुमाल नाम दिया गया था। यौवनकाल में बत्तीस श्रेष्ठी-कन्याओं से उसका पाणिग्रहण हुआ। कुमार सुखपूर्वक जीवन यापन करने लगा।

किसी समय आर्य सुहस्ति उज्जयिनी पधारे और वे अयवंती सुकुमाल के महल के नीचे उसकी वाहनशाला में ठहरे। एक बार रात्रि के अन्तिम प्रहर में आचार्य देव स्वाध्याय कर रहे थे। वे नलिनीगुल्म विमान के अधिकार का सस्वर पाठ कर रहे थे। कुमार ने इसे सुना। यह स्वर उसे अत्यन्त कर्णप्रिय लगा। वह नीचे आकर आचार्य देव के पास बैठ गया और एकाग्रचित्त से इसे सुनने लगा। सुनते-सुनते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने जान लिया कि वह नलिनीगुल्म विमान से च्यव कर यहां आया है। वहां भोगे गए सुखों से

उसका मन बंध गया। उसने आचार्य देव से पूछा—भगवन्! नलिनीगुल्म विमान की पुनर्प्राप्ति की विधि क्या है?

आचार्य ने उसे धर्मोपदेश दिया जिसे सुनकर अयवंती सुकुमाल दीक्षा लेने को तत्पर हो गया। परिवार और पत्नियों की आज्ञा लेकर वह दीक्षित हो गया। उसने आचार्य देव से कहा—गुरुदेव! प्रलम्ब संयम साधना को साधने में मेरे शरीर की सुकोमलता बाधा है। मैं साधना का छोटा मार्ग अपनाना चाहता हूं। आचार्य देव ने उसे वह मार्ग बता दिया।

मुनि अयवंती साभिग्रह अनशन स्वीकार कर श्मशान की ओर चल दिए। पथ के कांटों ने उनके पगतलों को रक्तरंजित बना दिया। वे श्मशान में पहुंचकर अविचल समाधि लगाकर खड़े हो गए। पगतलों से बहे रक्त की गंध से आकर्षित होकर एक शृगाली अपने बच्चों के साथ वहां पहुंच गई। वह मुनि के पैरों पर लगे रक्त को चाटने लगी। रक्त के साथ-साथ उसे मांस का स्वाद भी आने लगा। वह और उसके बच्चे मुनि के पैरों का मांस नोच-नोचकर खाने लगे। मुनि मरणान्तक वेदना से गुजर रहे थे। परन्तु उन्हें एक ही ध्यान था कि उन्हें नलिनीगुल्म विमान को प्राप्त करना है और उसके लिए वे कोई भी मूल्य चुकाने को प्रस्तुत हैं। यद्यपि आचार्य देव ने उन्हें निष्काम साधना करने का उपदेश दिया था परन्तु अयवंती का मन नलिनीगुल्म के आकर्षण में बंधा था और उन्होंने साधना के फल के रूप में उक्त विमान में उत्पन्न होने का प्रतिफल सुनिश्चित कर लिया था।

शृगाली और उसके बच्चों ने मुनि के पैरों को मांसरहित बना डाला। मुनि गिर गए और देह त्याग कर नलिनीगुल्म विमान के अधिकारी बने। कहते हैं कि वह शृगाली किसी पूर्व जन्म की अयवंती सुकुमाल की पत्नी थी। शृगाली ने मुनि के पूरे शरीर का आहार कर लिया।

उधर दूसरे दिन अयवंती सुकुमाल की माता और पत्नियां मुनि-दर्शन को गईं। आचार्य ने अयवंती सुकुमाल की प्रकृष्ट साधना की पूरी गाथा उन्हें सुनाई। सुनकर भद्रा और उसकी वधुएं सिहर उठीं। उनके हृदय वैराग्यपूर्ण बन गए। भद्रा और इकतीस पत्नियों ने आचार्य से दीक्षा ग्रहण की और वे आत्मसाधना में लीन बन गईं। एक पत्नी सगर्भा थी इसलिए वह दीक्षित नहीं हुई। कालक्रम से उसने पुत्र को जन्म दिया। आगे चलकर उस पुत्र ने अपने पिता की स्मृति में एक मंदिर का निर्माण कराया जो महाकाल नाम से आज भी उज्जयिनी में विद्यमान है।

—दर्शन शुद्धि प्रकरण

अरणक श्रावक

चम्पानगरी का निवासी एक दृढ़धर्मी श्रावक। उसके पास अपार धन था। उसका व्यवसाय आयात-निर्यात का था। अर्जित धन का दशमांश वह दानादि पुण्य कर्मों में अर्पित करता था। उसके अतिरिक्त मर्यादा से अधिक अर्जित धन को भी वह जरूरतमंदों में बांट देता था।

अरणक की धर्मश्रद्धा अति सुदृढ़ थी। सामायिक, पौषधादि में वह कभी भी प्रमाद नहीं करता था। ग्रहीत व्रतों और मर्यादाओं का एकनिष्ठ चित्त से अनुपालन करता था।

एक बार अरणक व्यापार के लिए समुद्री यात्रा कर रहा था। अन्य अनेक व्यापारी भी उसके साथ थे। एक देव अरणक की दृढ़धर्मिता की परीक्षा लेने के लिए आया। देव ने विशाल और रौद्र रूप धारण कर सामायिक-साधनारत अरणक को चेतावनी दी कि वह सामायिक का ढोंग छोड़कर उसकी शरण ग्रहण कर ले अन्यथा वह उसे उसके साथियों और माल सहित समुद्र में डुबो देगा। देव की इस चेतावनी का अरणक पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने सागारी अनशन कर लिया और जिनस्तुति में तल्लीन बना रहा। देव ने

अरणक को पुनः पुनः चेतावनी दी। अन्त में देव ने जहाज को समुद्र से उठा लिया और आकाश में ले गया। साथी व्यापारी त्राहि-त्राहि करने लगे। पर अरणक के एक रोम में भी भय उत्पन्न नहीं हुआ।

अरणक की दृढ़धर्मिता देखकर देव दंग रह गया। उसने जहाज को यथास्थान स्थापित कर दिया। अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर उसने अरणक की दृढ़धर्मिता की स्तुति की और उसे दिव्य कुण्डल युगल देकर अपने स्थान पर चला गया।

धर्म सम्पन्न जीवन यापन कर अरणक उत्तम गति का अधिकारी बना। —ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र

अरणिक मुनि

तगरा नगरी के दत्त श्रेष्ठी के पुत्र और माता भद्रा के आत्मज। किसी समय मित्राचार्य नामक आचार्य का धर्मोपदेश सुनकर दत्त, भद्रा और अरणिक, तीनों ही विरक्त हो गए और तीनों ने ही जिन-दीक्षा धारण कर ली।

अरणिक अत्यन्त सुकुमार था। पिता दत्त मुनि उसका पूरा ध्यान रखते। स्वयं गोचरी लाते। साध्वाचार के अन्य कार्य भी स्वयं पूर्ण करते। परिणाम यह हुआ कि संयम-पथ पर बढ़कर भी अरणिक सुकुमार ही बना रहा। कष्ट क्या होता है इस बात से वह अपरिचित ही रह गया।

दत्त मुनि काल-धर्म को प्राप्त हो गए। भिक्षादि का दायित्व अरणिक पर आ पड़ा। वह भिक्षा के लिए चला। सूर्य प्रचण्ड ताप बरसा रहा था। नीचे जमीन जल रही थी और ऊपर आसमान सुलग रहा था। अरणिक की देह झुलस गई। एक विशाल भवन की पौड़ियों पर बैठकर वह विश्राम करने लगा।

उस भवन की स्वामिनी पति-विरह से व्यथित एक महिला थी। युवा मुनि को देखकर उसका मन चंचल बन गया। दासी भेजकर उसने मुनि को ऊपर बुला लिया। मधुर वार्ता और हावों-भावों से उसने मुनि को अपने वश में कर लिया। अरणिक को वहां बड़ा सुख मिला।

उधर साध्वी भद्रा मुनि संघ में अपने पुत्र को न पाकर विचलित हो उठी। पुत्र को खोजने के लिए वह गली-गली में भटकने लगी। उसके मुख से एक ही पुकार प्रकट हो रही थी—'अरणिक'। तीन दिनों तक पागलों की तरह घूमते हुए संयोग से वह उसी भवन के पास आ गई। अरणिक के कानों में मातृ-पुकार पड़ी। वह दौड़कर नीचे आया। मां की ममता और दशा देखकर उसे अपने आप से बड़ी ग्लानि हुई। उसने मां के चरण छू कर प्रतिज्ञा की कि वह सदा के लिए सुकुमारता को नष्ट कर देगा। अरणिक पुनः दीक्षित हो गया। वह प्रतिदिन सूर्य की आतापना लेने लगा। उसमें कष्ट-सहिष्णुता की शक्ति का विकास हो गया और उसी भव मे केवलज्ञान प्राप्त कर उसने मुक्ति प्राप्त की। —आवश्यक कथा

अरनाथ (तीर्थंकर)

अवसर्पिणी काल के अठारहवें तीर्थंकर और षटखण्डजयी चक्रवर्ती। उन्होंने अपने जीवन में पहले चक्रवर्ती बनकर जगत का सर्वोच्च शिखर चूमा, बाद में दीक्षा लेकर तीर्थंकर बने और आध्यात्मिक जगत के सर्वोच्च शिखर पर प्रतिष्ठित हुए।

अरनाथ हस्तिनापुर नरेश सुदर्शन और उनकी रानी महादेवी के आत्मज थे। महादेवी ने चौदह महान स्वप्नों के अतिरिक्त रत्नमयी छह आरों वाला एक चक्र भी स्वप्न में देखा था। फलतः उन्होंने अपने पुत्र का नाम अरनाथ रखा। यौवनावस्था में अरनाथ ने षटखण्डों को साधकर चक्रवर्ती पद पाया। सुदीर्घ काल तक उन्होंने न्याय और नीतिपूर्वक शासन किया। बाद में प्रव्रजित बनकर केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थंकर हुए।

उनके द्वारा प्रवर्तित तीर्थ में असंख्य भव्यात्माओं ने आत्मस्नान कर परम पद पाया। उनके गणधरों की संख्या बत्तीस थी, जिनमें कुंभ प्रमुख थे। आखिर चौरासी हजार वर्ष का कुल आयुष्य पूर्ण कर भगवान अरनाथ एक हजार श्रमणों के साथ मासिक संथारे में सम्मेद शिखर पर सिद्ध हुए। —त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र

अरविन्द राजा

पोतनपुर नगर नरेश। एक धर्मनिष्ठ और सदाचारी राजा। एक बार महाराज अरविन्द अपने राजमहल की छत पर खड़े प्राकृतिक सुषमा का आनन्द ले रहे थे। मेघ जल बरसा कर अभी थमे ही थे। आकाश पर इन्द्रधनुष खिला था। इन्द्रधनुष के विविध रंगों पर महाराज का मन मुग्ध था। अकस्मात् तेज वायु बहने लगा। देखते ही देखते इन्द्रधनुष छितर गया। इससे राजा को सम्बोधि का सूत्र प्राप्त हुआ कि मानव जीवन रूपी इन्द्रधनुष भी काल की वायु चलने पर शीघ्र ही बिखर जाता है। राजा प्रबुद्ध हो गया और अपने पुत्र राजकुमार महेन्द्र को राजपद सौंपकर समंतभद्राचार्य के पास प्रव्रजित बनकर तप-जप में लीन हो गया। विशुद्ध संयम की आराधना कर उच्च गति का अधिकारी बना। —पार्श्वनाथ चरित्र

अरिदमन

जीवन में व्रत-नियम के सुफल को प्रदर्शित करने वाली अरिदमन की कथा इस प्रकार है—

प्राचीन काल में वसंतपुर नामक नगर के बाह्य भाग में एक धीवर बस्ती थी जहां पर जीवन सिंह नामक धीवर रहता था। समुद्र से मछलियां पकड़कर जीवन सिंह अपने परिवार का उदरपोषण करता था। एक बार वह मछलियां पकड़ने के लिए सागर के किनारे जा रहा था। वहां उसे एक मुनि के दर्शन हुए। मुनि ने जीवन सिंह को धर्मोपदेश दिया और उसे हिंसा-त्याग की प्रेरणा दी। जीवन सिंह ने हिंसा के त्याग को अपने लिए अशक्य बताया। इस पर मुनि ने कहा—तुम पूर्ण रूप से हिंसा का त्याग नहीं कर सकते हो तो आंशिक हिंसा का त्याग कर लो! उसके लिए तुम अपने जाल में आने वाली प्रथम मछली को जीवनदान देने का नियम ले लो!

जीवन सिंह ने आंशिक हिंसा त्याग का नियम ले लिया। वह सागर किनारे पहुंचा और सागर में जाल फैला दिया। संयोग से उसके जाल में एक बड़ा मत्स्य फंस गया। परंतु मुनि द्वारा प्रदत्त नियम के अनुसार उसे उस मत्स्य को जीवनदान देना पड़ा। पहचान के लिए उसने उस मत्स्य की पूंछ काट दी और उसे जल में छोड़ दिया। उसके बाद उसने पुनः जाल फैलाया। संयोग से वही मत्स्य उसके जाल में फंसा जिसे वह जीवनदान दे चुका था। फलतः उस मत्स्य को उसे पुनः जल में छोड़ देना पड़ा। जीवन सिंह ने कई बार जाल फैलाया और प्रत्येक बार वही मत्स्य उसके जाल में फंसता रहा। आखिर संध्या समय वह खाली हाथ ही घर लौटा। पत्नी के पूछने पर उसने नियम की बात बताई और खाली लौट आने की पूरी कहानी सुना दी।

जीवन सिंह की पत्नी प्रचंड स्वभाव की स्त्री थी। उसने पति को चेतावनी दी—या तो अपने नियम को छोड़ दो या इस घर को छोड़ दो। जीवन सिंह ने नियमत्याग पर गृहत्याग को प्रमुखता दी और वह गृहत्याग कर निकल गया। रात्रि में वह एक वृक्ष के नीचे सो गया। रात्रि में सहसा वृक्ष की शाखा टूट कर उस पर गिर पड़ी और उसका देहावसान हो गया।

नियम के फलस्वरूप जीवन सिंह मृत्यु के पश्चात् उसी नगर के एक समृद्ध श्रेष्ठी के पुत्र रूप में जन्मा। वहां उसका नाम अरिदमन रखा गया। अशुभ कर्मों का भार भी उसके साथ था। परिणामस्वरूप बाल्यकाल में ही उसके माता-पिता का निधन हो गया। लक्ष्मी भी उस घर से रूठ गई। अल्पायु अरिदमन को एक

श्रेष्ठी के घर में दास का कार्य प्राप्त हुआ। एक बार एक ज्योतिषी सेठ का मेहमान बना। अरिदमन की हस्तरेखाओं पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसने घोषणा की—यह बालक ही इस घर का स्वामी होगा।

ज्योतिषी की बात सुनकर सेठ चिंतित हो गया। उसने एक चाण्डाल को पर्याप्त धन देकर अरिदमन की हत्या करने को कहा। चाण्डाल अरिदमन को जंगल में ले गया। आखिर चाण्डाल भी एक मानव ही था। निर्दोष और सुकुमार अरिदमन का वध करते हुए उसका हृदय कांप उठा। उसने अरिदमन को पूरी बात बता दी और उसकी अंगुली काट कर उसे किसी दूसरे नगर में भाग जाने के लिए कहा। चाण्डाल ने सेठ को हत्या के प्रमाण के रूप में अरिदमन की अंगुली प्रस्तुत कर संतुष्ट कर दिया।

अरिदमन भटकता हुआ एक अन्य नगर में पहुंच गया। वहां एक श्रीसंपन्न श्रेष्ठी के घर में उसे कार्य मिल गया। वह कालक्रम से युवा हो गया। वसंतपुर के श्रेष्ठी का उक्त श्रेष्ठी से लेन-देन चलता था। उसी कार्यवश वसंतपुर निवासी सेठ उस से मिलने आया। उसने वहां अरिदमन को देखा और पहचान लिया। अरिदमन की कटी हुई अंगुली को देखकर उसका विश्वास सुदृढ़ बन गया। उसने मित्र सेठ से कहा—आवश्यक कार्यवश मुझे एक पत्र अपने पुत्र के लिए प्रेषित करना है। सेठ ने कहा—मेरे सेवक को आप पत्र दे दीजिए। यह आपका कार्य संपन्न कर देगा।

सेठ ने अपने पुत्र के लिए एक गुप्त पत्र लिखा। पत्र में लिखा 'पत्रवाहक को विष दे दिया जाए।' पत्र लेकर अरिदमन वसंतपुर के लिए रवाना हुआ। वसंतपुर पहुंचकर वह नगर के बाह्य भाग में स्थित उद्यान में विश्राम करने लगा। वहां उसी सेठ की पुत्री—विषा देवपूजन के लिए आई थी। वह अरिदमन के रूप पर मोहित हो गई। वार्तालाप में संदर्भ खुल गए। विषा ने पिता का पत्र पढ़ा तो वह सहम गई। उसने कुशलतापूर्वक पिता द्वारा लिखे गए विष शब्द के समक्ष आकार लगा दिया।

अरिदमन ने श्रेष्ठी के घर पहुंचकर उसके पुत्र को पत्र प्रदान किया। पत्र पढ़कर श्रेष्ठी-पुत्र अत्यंत प्रसन्न हुआ। अरिदमन के साथ उसने अपनी बहन का विवाह संपन्न कर दिया। अरिदमन उसी घर में गृह-दामाद बनकर रहने लगा।

यथासमय सेठ अपने नगर में लौटा। अरिदमन को गृह-दामाद के रूप में देखकर उसका मस्तक चकरा गया। उसने पुनः एक षड्यंत्र रचकर अरिदमन की हत्या का प्रयास किया, पर दैववश उस षड्यंत्र में सेठ को अपना ही पुत्र खोना पड़ा।

पुत्र-मृत्यु से सेठ को तीव्र आघात लगा और उसका भी निधन हो गया। इस प्रकार ज्योतिषी की भविष्यवाणी के अनुरूप अरिदमन उस घर का स्वामी बन गया। आंशिक अहिंसा व्रत के पालन से अरिदमन के जीवन की दिशा बदल गई।

कालांतर में एक मुनि ने अरिदमन को उसके पूर्वजन्म की कथा सुनाई। उसे सुनकर अरिदमन के हृदय में सम्यक्त्व का बीज सुदृढ़ बन गया। उसने श्रावक धर्म ग्रहण किया। आदर्श धर्ममय जीवन का पालन कर वह सद्गति का अधिकारी बना। —पौराणिक जैन कथा के आधार पर

अरिष्ट

पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ के तेंतालीस गणधरों में से प्रथम गणधर। (देखिए-धर्मनाथ तीर्थंकर)

अरिष्टनेमि (तीर्थंकर)

जैन धर्म परम्परा के बाइसवें तीर्थंकर, सोरियपुर नरेश महाराज समुद्रविजय की रानी शिवादेवी के अंगजात

और वासुदेव श्री कृष्ण के चचेरे भाई। भावी तीर्थंकर होने के कारण वे अपरिमित बलशाली थे। किसी समय घूमते हुए वे वासुदेव श्री कृष्ण की आयुधशाला में चले गए। वहां रखे हुए श्री कृष्ण के निजी शस्त्रास्त्रों से यों खेलने लगे जैसे बालक खिलौनों से खेलता है। श्री कृष्ण के अतिरिक्त उन शस्त्रों को कोई उठा तक नहीं सकता था। पर कुमार अरिष्टनेमि उन शस्त्रों से खेल रहे थे। शस्त्रों को उठाने और रखने से महान शोर हो रहा था। अरिष्टनेमि ने वहां रखे हुए दिव्य शंख को उठाकर फूंक दिया। उससे प्रकट हुए प्रचण्ड घोष से द्वारिका की प्राचीरें हिल गईं। श्री कृष्ण दौड़कर आयुधशाला में पहुंचे। पूरा भेद जानकर उन्हें संतोष हुआ। साथ ही उन्हें अरिष्टनेमि के परमबली होने का ज्ञान भी मिल गया। उनके बल की थाह पाने के लिए श्री कृष्ण ने मुस्कराते हुए अपना बाहु फैलाया और अरिष्टनेमि से उसे झुकाने के लिए कहा। अरिष्टनेमि ने श्रीकृष्ण का हाथ तिनके की तरह झुका दिया। तदनन्तर उन्होंने अपने हाथ की छोटी अंगुली सामने की। श्रीकृष्ण अपना पूरा बल लगाकर भी उसे झुका न सके। भाई के अप्रतिम बल को देखकर श्री कृष्ण अत्यन्त प्रसन्न हुए।

अरिष्टनेमि यौवन में भी भोगों से विमुख थे। वैवाहिक प्रस्ताव उन्होंने स्वीकार नहीं किए। माता शिवा देवी ने श्री कृष्ण पर अरिष्टनेमि को विवाह के लिए राजी करने का दायित्व डाला। श्री कृष्ण ने यह दायित्व अपनी रानी सत्यभामा को सौंप दिया। सत्यभामा चतुर और कुशल नारी थी। अरिष्टनेमि को अपने वाग्जाल में फांस कर वह विवाह के लिए उनकी मौन स्वीकृति लेने में सफल हो गई। श्री कृष्ण ने उग्रसेन राजा की पुत्री राजीमती के साथ अरिष्टनेमि का लग्न तय कर दिया। नियत समय पर बारात रवाना हुई। उग्रसेन के नगर-द्वार पर पहुंचते ही अरिष्टनेमि के कानों में पशुओं और पक्षियों की करुण चीत्कारें पड़ीं। उन्होंने सारथी से इसका कारण पूछा। सारथी ने स्पष्ट कर दिया कि ये पशु-पक्षी बारातियों के भोजन के लिए बाड़े में बन्द किए गए हैं और आसन्न मृत्यु की कल्पना से चीत्कार कर रहे हैं।

सुनकर अरिष्टनेमि का हृदय करुणा से विगलित हो गया। उन्होंने बाड़ों के द्वार खोलकर सभी पशु-पक्षियों को मुक्त कर दिया और तोरण द्वार से ही रथ को घुमाकर वे द्वारिका की दिशा में प्रस्थित हो गए। समुद्रविजय व श्रीकृष्ण ने उन्हें समझाने के अनेक यत्न किए। अरिष्टनेमि का एक ही उत्तर था कि वे ऐसी शादी नहीं करेंगे जिससे हजारों की बर्बादी संभावित हो।

एक वर्ष तक वर्षीदान देकर श्री अरिष्टनेमि एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गए। चौवन दिन की साधना के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त करके उन्होंने धर्मतीर्थ की संस्थापना की।

आर्यबालाओं की ही भांति राजीमती ने अरिष्टनेमि का अनुगमन किया। वह भी साध्वी बनकर मुक्त हुईं। तीन सौ वर्ष की आयु में प्रवर्जित होने वाले प्रभु अरिष्टनेमि सात सौ वर्ष तक तीर्थंकर पद पर रहकर एक हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर सिद्ध हुए। उनके उपदेशों से लाखों भव्य जीवों ने आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त किया।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 8

अरुणदेव

ताम्रलिप्ति नगरी के धनपति श्रेष्ठी कुमारदेव का पुत्र। शिक्षा-दीक्षा पूर्ण कर अरुण देव घर लौटा तो पिता ने उसका विवाह पाटलिपुत्र नगर की श्रेष्ठीकन्या देयिणी के साथ कर दिया। अरुण देव व्यापार और व्यवहार में पूर्ण कुशल था। उसका एक मित्र था महेश्वर दत्त। दोनों में प्रगाढ़ प्रेम सम्बन्ध थे। दोनों मित्र साथ-साथ रहते, साथ-साथ खाते-पीते और आनन्दपूर्वक जीवन को बिता रहे थे। एक बार देयिणी जब

पीहर गई हुई थी तो उसकी याद में अरुणदेव उदास रहने लगा। महेश्वरदत्त ने मित्र को उदास देखा तो कहा, मित्र ! उदास क्यों बनते हो ! पाटलिपुत्र है ही कितना दूर, चलिए हम भाभी को ले आते हैं। इस पर अरुणदेव ने कहा, हमें अवश्य ही पाटलिपुत्र चलना चाहिए। पर हम ठहरे वणिक पुत्र, ऐसा कुछ करेंगे कि तुम्हारी भाभी को भी ले आएं और लाभ भी कमा लाएं। इसलिए हमें जहाजों में माल भरकर पाटलिपुत्र चलना चाहिए। महेश्वरदत्त को भी अरुणदेव की बात जंच गई। दोनों मित्रों ने जहाजों में माल भरा और पाटलिपुत्र के लिए चल दिए। पर व्यक्ति जो सोचता है, वैसा ही नहीं होता है। उसकी सोच के विपरीत भी बहुत कुछ होता है। वैसा ही हुआ। सागर में तूफान जाग उठा। जहाज जल में विलीन हो गए। पुण्योदय से काष्ठफलक के सहारे अरुणदेव और महेश्वरदत्त पांच दिन बाद किनारे पर आ लगे। सौभाग्यवश यह पाटलिपुत्र का ही तट था। दोनों मित्र नगर में गए। अरुणदेव ने इस दीन दशा में ससुराल जाना उचित नहीं समझा। वह एक उद्यान में लेट गया और महेश्वरदत्त खाने के लिए सामग्री लेने नगर में चला गया। उधर ऐसा संयोग घटित हुआ कि देयिणी उद्यान भ्रमण के लिए वहां आई। एक चोर ने कंगणों के लोभ में देयिणी के दोनों हाथ काट दिए और एक दिशा में भागा। देयिणी ने शोर मचाया तो चोर भयभीत बन गया। वह उद्यान के कोने में सो रहे अरुण देव के निकट तलवार और कंगण फैंककर चम्पत हो गया। उद्यान रक्षकों ने अरुण देव को पकड़कर राजा के समक्ष पेश किया। राजा ने उसे शूली का दण्ड दिया। उधर महेश्वरदत्त उद्यान में पहुंचा तो उसे वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ। वह दौड़कर उस स्थान पर पहुंचा, जहां अरुण देव को शूली दी जाने वाली थी। उसने अरुणदेव का परिचय राजपुरुषों को दिया कि अरुणदेव नगरसेठ की पुत्री देयिणी का पति है। वह अपनी पत्नी के हाथ भला क्योंकर काटेगा। अवश्य ही वास्तविक अपराधी बचकर निकल गया है।

उधर देयिणी के पिता को वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ तो वह दौड़कर शूलीस्थल पर आया और दामाद को मुक्त कराया। इधर यह सब चल रहा था, उधर अतिशय ज्ञानी चारण मुनि वहां उपस्थित हुए। उन्होंने धर्मोपदेश दिया और अरुणदेव तथा देयिणी का पूर्वभव विस्तार से सुनाया। पूर्वभव में कहे गए कटु शब्दों के परिणामस्वरूप अरुण देव को शूली देखनी पड़ी और देयिणी को हाथ कटाने पड़े। अपना पूर्वभव सुनकर अरुणदेव और देयिणी को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। ज्ञान का सहज फल है वैराग्य। परिणामतः दोनों ने चारित्र धारण कर शुभ गति प्राप्त की।

—पार्श्वनाथ चरित्र

अर्चिमाली (आर्या)

आर्या अर्चिमाली का जन्म स्थान अरक्खुरी नगरी तथा माता-पिता का नाम इन्हीं के नामानुरूप था। इनका शेष परिचय काली आर्या के समान जानना चाहिए। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 7, अ. 3

अर्जुन

हस्तिनापुर नरेश महाराज पाण्डु और कुन्ती का पुत्र, एक वीर शिरोमणि और अपने युग का धुरन्धर धनुर्धर। जैन और जैनेतर पौराणिक साहित्य के सहस्रों कथानकों के अर्जुन नायक रहे हैं। वैदिक परम्परा का विश्व प्रसिद्ध शास्त्र श्रीमद्भगवद्गीता कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिए गए उपदेश का ही संकलन है। गीता में अर्जुन की जिज्ञासाएं सहज ही सिद्ध करती हैं कि अर्जुन केवल विश्वविजयी धनुर्धर ही न था बल्कि एक सच्चा जिज्ञासु भी था। युद्ध को जीत लेने की सामर्थ्य होते हुए भी उसके भीतर यह चिन्तन जागृत होता है कि सभी सगे-सम्बन्धी और रिश्तेदार ही मर जाएंगे तो फिर राज्यप्राप्ति का औचित्य ही क्या होगा? सगे-

सम्बन्धियों और पूज्यजनों को मारकर प्राप्त होने वाला साम्राज्य व्यर्थ है। अर्जुन के इस चिन्तन को श्रीकृष्ण ने मोड़ दिया और उसे सत्य को समझाने वाला उपदेश दिया। तदनन्तर अर्जुन युद्ध के लिए तैयार हुआ। युद्ध में उसने अद्वितीय शौर्य का प्रदर्शन किया। वासुदेव श्रीकृष्ण ने अर्जुन का सारथी बनकर उसके गौरव को सदा-सदा के लिए शाश्वत बना दिया। भीष्म, द्रोण और कर्ण जैसे दुर्जेय योद्धाओं को अर्जुन ने युद्ध में परास्त किया।

अर्जुन ने अपने जीवनकाल में अनेक विवाह किए। द्रौपदी उसकी प्रथम पत्नी थी, जिसे उसने मत्स्य वेध कर जीता था। श्रीकृष्ण की बहन सुभद्रा भी अर्जुन की पत्नी थी। सुभद्रा से ही अभिमन्यु का जन्म हुआ था। अर्जुन की जीवन गाथा अत्यन्त विशाल, गहन और प्रलम्ब है। उसका मधुरतम परिचय यही है कि वह श्रीकृष्ण का अनन्य अनुरागी था। युद्ध शुरू होने से पहले जब अर्जुन और दुर्योधन श्रीकृष्ण से युद्ध-सहायता मांगने के लिए पहुंचे तो श्रीकृष्ण ने कहा, एक पक्ष में मेरी सकल सेना रहेगी और द्वितीय पक्ष में मैं निहत्था रहूंगा। अर्जुन ने निहत्थे कृष्ण को मांग कर अपनी कृष्णभक्ति का परिचय दिया।

अंत में अपने भाइयों के साथ प्रव्रजित बनकर अर्जुन ने भी सुगति प्राप्त की।

अर्जुन माली

राजगृह नगर का रहने वाला एक माली, जिसकी अपनी एक पुष्पवाटिका थी। उसकी पत्नी का नाम बन्धुमती था। अर्जुन अपनी पुष्पवाटिका में विभिन्न प्रकार के फूल उगाता था। राजगृह नगर में फूल विक्रय कर वह अपनी आजीविका चलाता था। अर्जुन की पुष्पवाटिका में मुद्गरपाणि नामक यक्ष का पुश्तैनी यक्षायतन था। प्रतिदिन अर्जुन माली अपनी पत्नी के साथ मिलकर वाटिका से फूल चुनता, चुने हुए फूलों में से कुछ श्रेष्ठ फूल वह यक्ष प्रतिमा पर चढ़ा कर उसकी पूजा करता, तदनन्तर वह फूल बेचने के लिए नगर में जाता। उसका यही दैनिक कार्यक्रम था।

एक दिन एक घटना ने अर्जुन माली के सरल और शान्त जीवन की दशा और दिशा बदल डाली। उस दिन अर्जुन ने फूल चुनने के बाद कुछ फूल यक्ष प्रतिमा पर अर्पित किए और यक्ष को वन्दन करने के लिए झुका। उधर छह युवक जिन्हें ललित-गोष्ठी के नाम से जाना जाता था, बन्धुमती के रूप पर आसक्त बनकर और पूरे षड्यन्त्र के साथ पहले ही यक्षायतन में कपाटों के पीछे छिपे थे। उन्होंने एकाएक धावा बोलकर झुके हुए अर्जुन को दबोच लिया और रस्सियों से बांध डाला। उसके बाद उसके ही समक्ष उन्होंने उसकी पत्नी को अपमानित और पतित किया। यह सब देख अर्जुन के क्रोध का आर-पार न रहा। उसका क्रोध ऐसे में यक्ष पर उतरा। उसने यक्ष को धिक्कारा—रे यक्ष! तू काष्ठनिर्मित ही नहीं है, तेरा हृदय भी काष्ठ है! व्यर्थ पूजा करता रहा हूं तुम्हारी आज तक! तुम्हारे ही मंदिर में तुम्हारी प्रतिमा के समक्ष मैं बन्धन ग्रस्त बना पड़ा हूं और वे दुष्ट मेरी पत्नी को पतिता बना रहे हैं! धिक्कार है तुझे! धिक्कार सुनकर यक्ष अर्जुन के शरीर में प्रविष्ट हो गया। फिर क्या था। यक्ष की शक्ति से आवेष्टित अर्जुन की देह में अपरिमित बल उत्पन्न हो गया। सूत के कच्चे धागों की तरह उसने अपने बन्धनों को तोड़ डाला और यक्ष प्रतिमा के हाथ से मुद्गर लेकर देखते-ही-देखते उन छहों उद्दण्ड युवकों और अपनी पत्नी को मार डाला। इससे भी अर्जुन का क्रोध शांत नहीं हुआ। वह उसी अवस्था में राजमार्ग पर उतर आया और सामने आने वाले स्त्री-पुरुषों का वध करने लगा। राजगृह नगरी में अर्जुन का आतंक फैल गया। उसे बन्दी बनाने के समस्त राज-प्रयास विफल बन गए। राजा श्रेणिक समझ गया कि अर्जुन यक्ष से संक्रान्त है। ऐसे में उसे वश नहीं किया जा सकता है। प्रजा की सुरक्षा के लिए उसने नगर-द्वार बन्द करवा दिए।

पांच मास तेरह दिन तक अर्जुन प्रतिदिन एक स्त्री और छह पुरुषों का वध करता रहा। उसने ग्यारह सौ इकतालीस व्यक्तियों का इस अवधि में वध किया।

उन्हीं दिनों राजगृह नगरी के बाहर भगवान महावीर पधारे। श्रेणिक सहित सहस्रों श्रावक और श्राविकाएं भगवान की पर्युपासना के लिए जाने को उत्साहित बने, परन्तु अर्जुन के आतंक ने सभी के उत्साह शीत बना दिए। पर उसी नगर का रहने वाला श्रावक सुदर्शन सेठ अपने हृदय में बह रही महावीर की भक्ति से प्रेरित हो और अर्जुन के आतंक की अवगणना कर भगवान के दर्शनों के लिए चल पड़ा। पारिवारिकों, मित्रों और राजा के समझाने से भी उसका उत्साह शांत नहीं हुआ। सुदर्शन नगर-द्वार से बाहर निकला। शीघ्र ही उसके सामने विकराल रौद्र रूप बना अर्जुन आ धमका। उपसर्ग को सामने देखकर सुदर्शन ने सागारी संलेखना के साथ ध्यान प्रकोष्ठ में प्रवेश पा लिया। अर्जुन ने समाधिस्थ सुदर्शन पर मुद्गर प्रहार करना चाहा, पर तपस्तेज के समक्ष यक्ष-बल क्षीण बन गया। अर्जुन के हाथ स्तंभित हो गए। ऐसे में यक्ष उसके शरीर से निकलकर मुद्गर को साथ लेकर अपने स्थान पर चला गया।

छह मास का भूखा-प्यासा अर्जुन निढाल बनकर सुदर्शन के कदमों पर गिर पड़ा। सुदर्शन ने उसे धैर्य दिया और उसे अपने साथ महावीर की सन्निधि में ले गया। भगवान के उपदेश से अर्जुन प्रतिबुद्ध हो गया और उसने मुनि व्रत अंगीकार कर लिया। अर्जुन का चिन्तन था, कि उसने राजगृह में रहकर ही महाहिंसा के द्वारा पाप का ढेर संचित किया है, उस पाप का प्रक्षालन भी उसे राजगृह में रहकर ही करना होगा। अर्जुन मुनि बेले-बेले का तप करता। आहार के लिए नगर में जाता तो लोग उसे अपने सगे-सम्बन्धियों का हत्यारा मानकर उस पर पत्थर बरसाते, मारते। पर अर्जुन इस मार को समता से सहता। यों छह महीने की कठोर समता की साधना में ही उसने सर्वकर्म खपा कर कैवल्य साध लिया। 15 दिन के अनशन के साथ वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बन गया। —अन्तगडसूत्र 6/3

अर्हद्बलि (आचार्य)

दिगम्बर परम्परा के एक प्रभावक आचार्य। उनका समय वी.नि. की छठी शताब्दी का उत्तरार्ध माना जाता है। आचार्य अर्हद्बलि का जन्म पुण्ड्रवर्धन नगर में हुआ था। मुनिधर्म में प्रवेश कर कालक्रम से वे आचार्य पाट पर विराजित हुए। उल्लेख है कि वेणा नदी के तटवर्ती महिमा नामक नगर में उनके सान्निध्य में एक महामुनि-सम्मेलन भी हुआ था, जिसमें कई संघनायक अपने-अपने गण के साथ उपस्थित हुए थे। उसी सम्मेलन में आचार्य अर्हद्बलि ने नंदीसंघ, वीर संघ, अपराजित संघ आदि ग्यारह नवीन संघों की स्थापना की थी। —नंदीसंघ पट्टावली

(क) अर्हद्दास

उत्तर मथुरा का रहने वाला एक धर्मनिष्ठ और धनी श्रेष्ठी। जिनधर्म पर उसकी अविचल श्रद्धा थी। उसकी आठ पत्नियां थीं। प्रथम सात पत्नियों की भी धर्म पर अविचल श्रद्धा थी। सेठ की आठवीं पत्नी कुन्दलता भी पति के धर्म-कर्म में उसकी अनुगामिनी थी, पर सम्यक्त्व का सम्यक् बोध उसे प्राप्त नहीं था।

एक बार नगर में कौमुदी महोत्सव था। कौमुदी महोत्सव के नियमानुसार नगर की सभी महिलाएं नगर के बाहर स्थित उपवन में संध्या ढलते ही एकत्रित हो जातीं और दूसरे दिन प्रभात में नगर में लौटतीं। राजा का कड़ा आदेश था कि कौमुदी महोत्सव की रात्रि में कोई स्त्री नगर में न रहे, और कोई पुरुष नगर से बाहर न जाए।

शरद पूर्णिमा की रात में कौमुदी महोत्सव के अवसर पर उपरोक्त घोषणा राजा ने नगर में कराई। अर्हद्दास अपनी आठों पत्नियों के साथ अष्टमी से पूर्णिमा तक अष्ट दिवसीय उपवास कर रहा था। उसने अपनी धर्म बाध्यता के प्रश्न पर राजा से पहले ही अनुमति प्राप्त कर ली थी कि उसकी पत्नियां अष्ट दिवस की पौषधोपवासिनी होने के कारण नगर से बाहर नहीं जा पाएंगी।

रात्रि में समस्त नारियां नगर के बाहर प्रमदवन में जाकर आमोद-प्रमोद में तल्लीन बन गईं। राजरानियां भी उस महोत्सव में सम्मिलित थीं। राजा ने अकेलापन अनुभव किया। वह अपने मंत्री के साथ नगर-भ्रमण के लिए निकला। घूमते-घूमते राजा और मंत्री के कदम अर्हद्दास की पौषधशाला के बाहर ठिठक गए। उसी समय स्वर्णखुर नामक चोर भी उधर से अदृश्य होकर गुजर रहा था। उसके कदम भी पौषधशाला के निकट ठिठक गए। वह एक वृक्ष पर चढ़कर पौषधशाला के भीतर चल रहे संवाद को सुनने लगा। राजा और मंत्री भी एक दीवार की आड़ लेकर भीतर का संवाद सुनने लगे।

अर्हद्दास ने पत्नियों से कहा, आज हमारे पौषधव्रत की अंतिम रात्रि है। इस रात्रि को हमें धर्म-जागरिका के साथ व्यतीत करना चाहिए। इसके लिए उपयुक्त यह रहेगा कि हम सब अपनी-अपनी उन घटनाओं को सुनाएं जिनसे हमें सम्यक्त्वरत्न की प्राप्ति हुई। यह निर्णय हुआ। सेठ अर्हद्दास और उसकी सातों पत्नियों ने अपनी-अपनी सम्यक्त्व प्राप्ति की घटनाएं क्रमशः सुनाईं। वे घटनाएं इतनी वैराग्योत्पादक थीं कि वैराग्य रस का समुद्र प्रवाहित हो गया। बाहर बैठे राजा और मंत्री सहित वृक्ष पर बैठे स्वर्णखुर चोर का हृदय भी वैराग्य से भर गया।

आठवीं पत्नी की बारी आई तो उसने कहा, तुम्हारी कहानियां तो मात्र कहानियां ही प्रतीत होती हैं। मेरी कहानी अद्भुत है।

इससे पूर्व कि आठवीं पत्नी कुन्दलता अपनी कहानी शुरू करती, प्रभात खिल गया। मन न होते हुए भी राजा, मंत्री और स्वर्णखुर को अपने-अपने स्थानों पर लौटना पड़ा। पर वे तीनों आठवीं पत्नी की कहानी सुनने को व्यग्र थे। तीनों ही स्नानादि से निवृत्त होकर सेठ के घर पहुंचे। सेठ अपनी आठों पत्नियों के साथ अठाईं का पारणा लेने को बैठ ही रहे थे कि राजा, मंत्री और स्वर्णखुर को अपने द्वार पर देखकर परम हर्षित हुए। सेठ ने तीनों का स्वागत किया और अकस्मात् आगमन का कारण पूछा। राजा ने रात्रि में कथा-श्रवण की बात बताई और कहा कि हम आपकी आठवीं पत्नी कुन्दलता की कहानी नहीं सुन सके। उसे ही सुनने के लिए आए हैं।

कुन्दलता बोली, महाराज! मेरे पति और मेरी बहनों की कहानी को मैंने इसलिए 'कहानी मात्र' कहा कि ऐसी अद्भुत घटनाओं को जीकर भी वे संसार से कैसे चिपकी हैं। मेरी सम्यक्त्व प्राप्ति की कहानी तो मात्र इतनी ही है कि इन सभी की कहानियां सुनकर मुझे सम्यक्त्व की प्राप्ति हो गई है, और मेरा सम्यक्त्व मुझे पल भर का भी प्रमाद किए बिना संयम की दीक्षा लेने को प्रेरित कर रहा है। मैंने निश्चय किया है कि आज ही मैं दीक्षा धारण कर आत्मसाधना में तल्लीन बन जाऊंगी।

कुन्दलता की कहानी ने सभी को वैराग्य में डुबो दिया और सभी एक साथ संयम धारण करने के सम्यक् संकल्प में बंध गए। फलतः सेठ अर्हद्दास, उसकी आठों पत्नियों, राजा, मंत्री और स्वर्णखुर ने उसी दिन दीक्षा धारण कर ली। उत्कृष्ट संयम साधना से सभी ने मोक्ष प्राप्त किया। —सम्यक्त्व कौमुदी कथा

(ख) अर्हद्दास

कच्छ देश का एक श्रेष्ठी। (देखिए-विजय-विजया)

(ग) अर्हद्दास (कवि)

वि.सं. की तेरहवीं सदी के उत्तरार्द्ध अथवा चौदहवीं सदी के पूर्वार्द्ध के एक महान जैन कवि। आपके जीवन पर तेरहवीं सदी में हुए जैन कवि आशाधर जी का विशेष प्रभाव था। उन्हीं की प्रेरणा से अथवा उनके साहित्य की प्रेरणा से आप जिनानुरागी बने और अपने जिनानुराग को आपने अपने उत्कृष्ट काव्य में अभिव्यंजित किया।

आपकी लेखनी गद्य और पद्य दोनों ही विधाओं में पूरे अधिकार से गतिमान हुई। 'मुनि सुव्रत काव्य', 'पुरुदेवचम्पू' और 'भव्यजन कण्ठाभरण' ये तीन ग्रन्थ आपकी ख्यातिलब्ध रचनाएं हैं।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग-4)

अर्हद्दासी

अर्हद्दास की अर्द्धांगिनी। (देखिए-विजय-विजया)

अर्हन्नक

उन्नीसवें तीर्थंकर प्रभु मल्लीनाथ के समय का एक दृढ़धर्मी श्रावक। प्रभु मल्ली ने जिस समय दीक्षा नहीं ली थी, उस समय चम्पा के इस धनी श्रेष्ठी श्रावक ने उन्हें भेंट स्वरूप दो दिव्य स्वर्णकुण्डल प्रदान किए थे, जिन्हें उसने एक देव से प्राप्त किया था। देव से कुण्डलयुगल-प्राप्ति की घटना इस प्रकार है—

किसी समय अर्हन्नक व्यापार के लिए समुद्र यात्रा कर रहा था। एक मिथ्यात्वी देव ने जहाज में ही अर्हन्नक को धर्मध्यान करते हुए देखा। अर्हन्नक की धर्मश्रद्धा को खण्डित करने के लिए देव ने समुद्र में सहसा ही तूफान पैदा कर दिया। तीव्र वायु में जैसे पीपल का पत्ता कांपता है, वैसे ही समुद्री लहरों पर अर्हन्नक का जहाज कांपने लगा। जहाज पर सवार समस्त कर्मचारी मृत्यु भय से चीखने-चिल्लाने लगे, पर अर्हन्नक पूर्ण निर्भय मन से सागारी अनशन के साथ ध्यानमग्न था। देव ने विकराल रूप बनाकर अर्हन्नक को चेतावनी दी कि वह धर्मध्यान को भूल जाए। यदि वह धर्मध्यान छोड़ देगा तो उसके प्राणों की रक्षा हो सकती है। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो उसे उसके समस्त ऐश्वर्य के साथ समुद्र में डुबो दिया जाएगा। अर्हन्नक बोला, वह उस धर्म को कैसे छोड़ दे जो उसे मृत्यु-भय उपस्थित होने पर भी अभय बनाए रखता है। वह मर सकता है पर धर्म को नहीं छोड़ सकता है।

कुपित देव ने अपना आकार अति विशाल बनाया और वह जहाज को उठाकर आकाश में ले गया। उसने पुनः चेतावनी दी कि यदि अर्हन्नक धर्म ध्यान नहीं छोड़ेगा तो उसे इसी क्षण उसके जहाज सहित समुद्र में फैंक दिया जाएगा, वह अपने विनाश का तो कारण बनेगा ही, साथ ही अपने सैकड़ों कर्मचारियों की मृत्यु का भी कारण बनेगा।

इस पर भी अर्हन्नक के मन के किसी भी तल पर भय का कोई भाव नहीं जागा। वह सामायिक की आराधना में लीन रहा। आखिर देव को ही सम्यक् मति प्राप्त हो गई। उसने जहाज को समुद्र में स्थापित कर दिया और अपने वास्तविक रूप में प्रकट होकर अर्हन्नक की दृढ़धर्मिता की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगा। देवदर्शन अमोघ होते हैं, फलतः उसने दिव्य कुण्डल युगल अर्हन्नक को भेंट किए और अपने स्थान पर चला गया। अर्हन्नक ने यही कुण्डलयुगल भगवती मल्ली को भेंट स्वरूप प्रदान किए।

विशुद्ध श्रावकाचार को पूर्ण निष्ठा और दृढ़ता से जीकर अर्हन्नक स्वर्ग का अधिकारी बना।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अ.-8

अलक्ष (राजा)

वाराणसी नगरी नरेश। किसी समय भगवान महावीर वाराणसी नगरी के बाहर स्थित काममहावन नामक उद्यान में पधारे। राजा भगवान का उपदेश सुनने आया। उपदेश सुनकर वह विरक्त हो गया। अपने बड़े पुत्र को राजपद देकर वह दीक्षित हो गया। बहुत वर्षों तक चारित्र पालकर वह विपुलाचल से सिद्ध हुआ।

—अन्तगडसूत्र वर्ग 6, अध्ययन 16

अल्लट (राजा)

चित्तौड़ के शिशोदिया राजवंश का महाराणा। जैन धर्म के प्रति उसके हृदय में अगाध आस्था थी। जैन धर्म के प्रति उसके आकर्षित होने के पीछे की जो घटना थी, वह इस प्रकार है—अल्लट की पटरानी महालक्ष्मी एक बार असाध्य रोग से ग्रस्त हो गई। रोग निवारण के लिए किए गए समस्त उपचार व्यर्थ सिद्ध हुए। उस अवधि में आचार्य यशोभद्र सूरि के शिष्य बलिभद्र चित्तौड़ में पधारे। बलिभद्र ने अपने तपःप्रभाव से रानी को रोग मुक्त कर दिया। इस घटना से अल्लट बलिभद्र के तपोमय जीवन से अतिशय रूप से प्रभावित हुआ और वह जिनोपासक बन गया। राणा अल्लट की प्रेरणा से उसके राज्य के बहुत से श्रेष्ठी भी श्रावक बने। महाराणा अल्लट ने बलिभद्र को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित भी किया।

महाराणा अल्लट ने जिनधर्म की प्रभावना के कई कार्य किए। उसका शासन काल वि.स. 922 से 1010 तक का माना जाता है।

अवतंसा (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 17

अविनीत गंग

गंग वंशीय एक जिनभक्त नरेश। अविनीत गंग कुशल राजनीतिज्ञ, शूरवीर और जिन-धर्मानुयायी नरेश था। उसे अजेय योद्धा और विद्वानों में अग्रगण्य माना जाता है। उसका शासन काल ई. सन् 425 से 478 तक का मान्य है।

अशोक (राजा)

मौर्यवंश का तृतीय सम्राट्, चन्द्रगुप्त मौर्य का पौत्र और बिन्दुसार का पुत्र। अशोक को उसकी राजनीतिक कुशलता, सर्वधर्म समन्वय भावना, प्रजा प्रेम, दानवीरता और सुशासन के कारण 'महान' कहा जाता है।

अशोक महाराज बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था, परन्तु अपने सभी भाइयों में वह बुद्धिमान था। बिन्दुसार के शासन के अन्तिम दिनों में तक्षशिला में उठे जनविद्रोह को उसने अपनी कुशलता से शान्त कर दिया। इससे उसे पर्याप्त सुयश मिला। उसे युवराज घोषित किया गया। इससे उसे भाइयों का भी विद्रोह झेलना पड़ा। पर कुछ ही वर्षों में उसने अपने शासन को निष्कण्टक बना लिया।

अशोक का कलिंगयुद्ध उसके जीवन का श्याम पक्ष रहा। उस समय कलिंग पर चंडराय नामक एक जैन राजा का शासन था। कलिंग को अपने अधीन बनाने के लिए अशोक ने कलिंग पर आक्रमण किया। कलिंग के रणबांकुरों ने अशोक का तीव्र विरोध किया और भयंकर युद्ध हुआ जिसमें लाखों सैनिक मारे गए। कलिंग का वह युद्ध अशोक के जीवन-परिवर्तन का कारण भी बना। निर्दोष युवकों के शवों को देखकर

अशोक का हृदय कांप उठा, उसने कभी युद्ध नहीं करने का निश्चय किया। उसने अपना शेष जीवन प्रजा की भलाई में अर्पित कर दिया। उसने साफ-सुथरे राजपथ बनवाए, धर्मशालाएं, दानशालाएं, विद्यालय और चिकित्सालय खोले। सभी धर्मों का वह समान रूप से आदर करता था। अपने महनीय कार्यों से उसने स्वयं को सर्वकालीन महान शासक सिद्ध किया।

अशोक का विवाह असन्ध्यमित्रा नामक एक जैन कन्या से हुआ था। असन्ध्यमित्रा से ही कुणाल का जन्म हुआ था। अशोक का कुलधर्म जैनधर्म था। उसके बौद्ध धर्मी होने के भी पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं। परन्तु उसके शिलालेखों के सूक्ष्म अध्ययन और पौराणिक ग्रन्थों के कई सन्दर्भों से वह एक जैन राजा सिद्ध होता है।

अशोकमंजरी

रत्नविशाला नगरी के धीर-वीर और दृढ़प्रतिज्ञ युवक रत्नसार की पत्नी। (देखिए-रत्नसार)

अश्वग्रीव

प्रथम प्रतिवासुदेव जिसका वध त्रिपृष्ठ वासुदेव ने किया था। (देखिए-त्रिपृष्ठ वासुदेव)

अश्वमित्र (निन्हव)

समुच्छेदवाद का प्रचारक एक जैन श्रमण जो भगवान महावीर के निर्वाण के 220 वर्ष के पश्चात् हुआ। वह आचार्य महागिरि का प्रशिष्य और कौण्डिन्य मुनि का शिष्य था। विपरीत प्ररूपणा के कारण उसे संघ से निष्कासित कर दिया गया। आखिर काम्पिल्यपुर नगर के खण्डरक्षा नामक श्रमणोपासक की सटीक युक्ति से अश्वमित्र को सत्य का बोध प्राप्त हुआ और वह आलोचना, प्रायश्चित्त से विशुद्ध बन पुनः जिन आज्ञा का आराधक बन गया। —ठाणांग वृत्ति-6

अश्वसेन

वाराणसी नगरी के महाराज और प्रभु पार्श्वनाथ के जनक। (देखिए-पार्श्वनाथ तीर्थंकर)

अश्विनी

नंदिनीपिता श्रमणोपासक की अर्द्धांगिनी और भगवान महावीर की अनन्य उपासिका।

असंध्यमित्रा

मौर्यवंशी सम्राट् अशोक की रानी। असंध्यमित्रा विदिशा नगरी के जैन श्रेष्ठी की पुत्री थी। कुणाल असंध्यमित्रा का आत्मज था। माता से जैनधर्म के संस्कार प्राप्त कर कुणाल भी जिनोपासक बना।

सम्राट् अशोक के पश्चात् उनके राजपरिवार में जैन धर्म का काफी प्रभाव रहा। अशोक के पौत्र और भारतवर्ष के यशस्वी सम्राट् सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में वही योगदान दिया जो अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में दिया था। इस सब के मूल में संभवतः असंध्यमित्रा का जैन होना और उसकी पावन प्रेरणा रही हो। (देखिए-अशोक राजा)

●●●

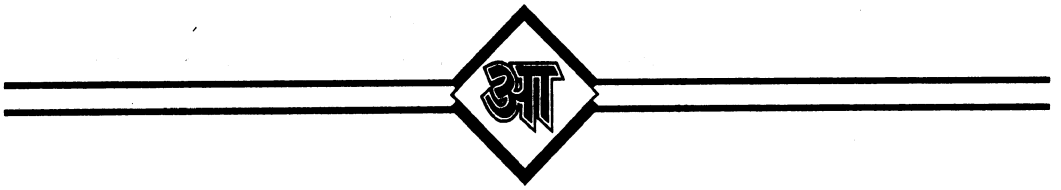

आतपा (आर्या)

आर्या आतपा अरक्खुरी नगरी की रहने वाली थी और इन आर्या आतपा के माता-पिता का नाम इन्हीं के अनुरूप था। मृत्यु के पश्चात् यह ज्योतिष्केन्द्र की पट्टमहिषी बनी। इनका शेष परिचय काली आर्या के समान है। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 7, अ. 2

आत्माराम जी महाराज (आचार्य)

श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के प्रथम पट्टधर आचार्य।

आप का जन्म वि.सं. 1939 भाद्रपद शुक्ला द्वादशी के दिन एक क्षत्रिय परिवार में जालंधर जिले के राहों ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम श्रीमान् मनसाराम जी एवं माता का नाम श्रीमती परमेश्वरी देवी था। आपकी बाल्यावस्था में ही आपके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। उसी अवधि में पुण्योदय से आपको आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। वि.सं. 1951 में आपने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। पूज्य श्री शालिगराम जी महाराज आपके दीक्षा गुरु बने। आचार्य श्री मोतीराम जी महाराज आपके शिक्षागुरु थे। उनके सान्निध्य में आपने हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश आदि भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही जैन आगमों का भी आपने सांगोपांग अध्ययन किया। जैनेतर दर्शनों का भी आपने सूक्ष्मता से अध्ययन किया। आपकी स्वाध्याय रुचि जितनी विलक्षण थी, उतनी ही विलक्षण आपकी स्मरण शक्ति भी थी। बत्तीसों आगम आपकी प्रज्ञा में प्राणवन्त बन गए थे।

दीक्षा के कुछ ही वर्षों के बाद आपकी गणना एक विद्वद्वरेण्य मुनि के रूप में होने लगी। साधु-साध्वियों को आप निरन्तर शास्त्रों का अध्ययन कराते थे। सं. 1969 में आचार्य श्री सोहनलाल जी महाराज ने आपको उपाध्याय पद पर नियुक्त किया।

आपश्री ने अनुभव किया—आगम-ज्ञान सर्वगम्य बने। परन्तु आगमों की भाषा प्राकृत होने से वे सर्वगम्य नहीं बन सकते थे। आपने अपने मन में सुदृढ़ संकल्प किया और आगमों पर हिन्दी भाषा में बृहद् व्याख्याएं लिखनी शुरू कीं। आपने कठोर श्रम करके अठारह आगमों पर बृहद् व्याख्याओं का लेखन किया। आप के उस विशाल लेखन कार्य को देखकर आज भी बड़े-बड़े विद्वान् और कलम-कलाधर हैरत में पड़ जाते हैं।

आगमीय व्याख्याओं के अतिरिक्त जैनागम न्याय संग्रह, जैनागमों में स्याद्वाद, जैनागमों में परमात्मवाद, जैनागमों में अष्टांग योग, तत्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय, जैन तत्व कलिका विकास आदि कई दर्जन ग्रन्थों का आपने लेखन किया। आपका प्रत्येक ग्रन्थ आगम-आधृत और पूर्ण प्रामाणिक है। विद्वानों ने आपको जैनागम ज्ञान का विश्वकोष कहा है।

वि.सं. 2003 में आपश्री को पंजाब प्रान्त के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। वि.सं. 2009 में समग्र स्थानकवासी जैन मुनि संघ का सादड़ी में महासम्मेलन हुआ। उस अवसर पर सभी पदवीधारी मुनिराजों ने संघैक्य के लिए अपने-अपने पदों से त्यागपत्र दिए। श्री वर्द्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ के ध्वज के

नीचे प्रायः सभी स्थानकवासी सम्प्रदाय एकत्रित हो गईं। उस अवसर पर सभी ने एकमत से आपको प्रथम पट्टधर आचार्य सम्राट् के रूप में चुना। आपके सुविशाल व्यक्तित्व को प्रमाणित करने के लिए यही एक घटना अपने आप में पर्याप्त है।

आपका समग्र जीवन महान गुणों से पूर्ण था। आप की क्षमा अपूर्व थी। सहनशीलता बेमिसाल थी। अन्तिम अवस्था में कैंसर जैसे दुःसाध्य रोग के उपस्थित हो जाने पर भी आपकी शांति दर्शनीय थी।

वि.सं. 2018 – (सन् 1961) माघ वदी नवमी के दिन संलेखना सहित आपने स्वर्गारोहण किया।

वर्तमान में पंजाब में आपके शिष्यों, प्रशिष्यों, शिष्यानुशिष्यों की संख्या सर्वाधिक है। वर्तमान में आपके ही पौत्र शिष्य ध्यान योगी श्री शिव मुनि जी म. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ के चतुर्थ पट्टधर के रूप में शासनोन्नति कर रहे हैं।

आदिनाथ

भगवान ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर थे। प्रथम तीर्थंकर होने के कारण ही वे लोक में 'आदिनाथ' नाम से भी सुख्यात हुए। (विशेष परिचय के लिए–देखिए-ऋषभदेव तीर्थंकर)।

आदीश्वर

प्रभु ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर एवं ईश्वर रूप विराट व्यक्तित्व के स्वामी होने के कारण आदीश्वर कहा जाता है।

आनंदघन

भक्तिकाल के एक जैन मुनि। आनंदघन आध्यात्मिक साधना में सदैव तल्लीन रहते थे। वे एक कवि-हृदय संत थे। उनकी कविताएं अरिहंत देवों के प्रति समर्पित थीं। कहते हैं कि अरिहंत भक्ति में लीन आनंदघन ने एक बार एक ही स्थान पर बैठे हुए तेईस तीर्थंकरों की स्तुति का गान किया। उस समय आनंदघन की आंखें बन्द थीं और हृदय के तार अरिहंत प्रभु के चरणों से जुड़े हुए थे। वहां बैठे एक व्यक्ति ने आनंदघन के मुख से निकले हुए स्तुति-गानों को कलमबद्ध कर लिया। सहसा आनंदघन ने आंखें खोलीं और उस व्यक्ति को लेखनरत देखा। उसी क्षण उन्होंने स्तुति बंद कर दी और उस स्थान से उठकर अन्यत्र चले गए।

वस्तुतः लोकैषणा से आनंदघन कोसों दूर थे। उनकी कविता प्रदर्शन का नहीं, आत्मानन्द का हेतु होती थीं। यही कारण है कि उनकी कविताओं/स्तुतियों में भक्ति की आत्मा का दर्शन होता है।

लोकैषणा से दूर रहने वाले आनंदघन के प्रति उस युग का जनमानस अतिशय श्रद्धा से पूर्ण था। सामान्य जन से लेकर सम्राटों तक के हृदय में आनंदघन के प्रति श्रद्धा थी। परन्तु इन सबसे विमुख आनंदघन विशुद्ध संयमाराधना और प्रभु भक्ति में तल्लीन बने रहते थे। उनके जीवन से जुड़े कई चमत्कारिक कथा प्रसंग आज भी लोक में सुने-सुनाए और पढ़े-लिखे जाते हैं।

(क) आनन्द (बलदेव)

छठे बलदेव और पुरुषपुण्डरीक वासुदेव के बड़े भाई। ये दोनों एक पिता तथा दो माताओं के पुत्र थे। चक्रपुर नरेश महाशिर इनके पिता और उनकी रानियां वैजयंती तथा लक्ष्मीवती क्रमशः इनकी माताएं थीं। इन दोनों भाइयों का पारस्परिक प्रेम राम और लक्ष्मण के समान था। दोनों ने मिलकर तत्कालीन प्रतिवासुदेव बलि के सुदृढ़ साम्राज्य का पतन कर तीन खण्ड पर अपना साम्राज्य स्थापित किया।

पुरुषपुण्डरीक वासुदेव का जब देहान्त हो गया तो आनन्द को बहुत दुख हुआ। छह मास तक तो वे भाई के विरह में उन्मादित बने भटकते रहे। जब उनका शोक शान्त हुआ तो उन्होंने आर्हती दीक्षा धारण कर उग्र तप से सर्व कर्म खपा कर सिद्धत्व प्राप्त किया। उनका कुल आयुष्य 84 हजार वर्ष का था।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

(ख) आनंद (श्रावक)

उपासकदशा में वर्णित भगवान महावीर के दस श्रावकों में से एक। उसने अपनी भार्या शिवानन्दा के साथ भगवान महावीर से श्रावकधर्म की दीक्षा ली थी। वह वाणिज्य ग्राम के निकटवर्ती कोल्लाकसन्निवेश का रहने वाला एक कोटीश्वर गाथापति था। उसके पास चालीस हजार गाएं तथा बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं थीं।

अनेक वर्षों तक शुद्ध श्रावक धर्म का पालन करते हुए अन्तिम समय में आनंद श्रावक ने आमरण अनशन किया। उस समय उसे विपुल अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई। संयोग से उन्हीं दिनों वहां भगवान महावीर पधारे। गौतम स्वामी भिक्षार्थ घूमते हुए आनंद श्रावक के घर गए। आनंद के अनशन की बात जानकर गौतम स्वामी उसे दर्शन देने के लिए पौषधशाला में पधारे। आनंद ने सभक्ति वन्दन करके गौतम स्वामी को अपनी आत्मा में प्रकट हुए विपुल अवधिज्ञान की बात कही। आनंद की बात सुनकर गौतम का मन शंका से भर गया। उन्होंने कह दिया कि वह मिथ्या कह रहा है, श्रावक को विपुल अवधिज्ञान नहीं हो सकता है, अतः उसे मिथ्या भाषण के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिए।

आनंद ने विनम्रता से पूछा—भगवन्! प्रायश्चित्त सत्य का होता है या असत्य का ? गौतम स्वामी ने कहा—असत्य का। इस पर आनंद ने कहा—भगवन्! प्रायश्चित्त के पात्र आप हैं क्योंकि असत्य संभाषण आपने किया है! इसका निर्णय आप भगवान से करा सकते हैं!

सशंकित मन के साथ गौतमस्वामी भगवान के पास पहुंचे। भगवान ने निर्णय दिया—आनंद ने सत्य बोला है, गौतम ! उसके सत्य को असत्य कहकर तुम प्रायश्चित्त के अधिकारी बन गए हो। सरलचेता गौतम उसी क्षण आनंद के पास पहुंचे और उन्होंने आनंद से क्षमापना की।

एक मास के अनशन के साथ देह त्याग कर आनंद श्रावक प्रथम स्वर्ग में गया। वहां से महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध होगा।

आनन्द ऋषि जी महाराज (आचार्य)

श्री वर्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ के द्वितीय पटट्धर आचार्य।

आपका जन्म वि.सं. 1957 श्रावण शुक्ल 9, तदनुसार 26 जुलाई सन् 1900 में अहमदनगर के निकटस्थ गांव चिंचोड़ी में हुआ। आपके पूज्य पिता जी का नाम देवीचन्द जी और पूज्या माता जी का नाम हुलासा बाई था। वि.सं. 1970 मार्गशीर्ष शुक्ल नवमी के दिन पूज्य श्री रत्नऋषि जी महाराज के श्री चरणों में मिरीगांव में आप ने दीक्षा व्रत लिया।

वि.सं. 1999 में आप ऋषिसम्प्रदाय के आचार्य बने। तदनन्तर वि.सं. 2019 माघकृष्णा 9 (30 जनवरी 1963) को आप श्री वर्धमान स्थानकवासी श्रमणसंघ के आचार्य पद पर विराजमान हुए।

आप विविध भाषाओं के ज्ञाता और कुशल उपदेष्टा थे। समन्वय और संगठन के आप सदैव पक्षधर रहे। विद्वान और अधिकारसम्पन्न होते हुए भी आप अत्यन्त विनम्र और मृदु थे। आपकी स्वाध्याय और

संयम की साधना उत्कृष्ट थी। आपकी प्रेरणा से कई शिक्षा संस्थानों की स्थापना हुई जिसमें पाथर्डी बोर्ड अहमदनगर प्रमुख है।

आपका काफी साहित्य भी प्रकाश में आया है। 'आनन्द प्रवचन' नाम से आपके प्रवचनों के कई संग्रह प्रकाशित हुए हैं। सन् 1992 में अहमदनगर में समाधि भाव से आपका स्वर्गवास हुआ।

आम (राजा)

वी.नि. की 13वीं शताब्दी का एक जैन राजा। वह कान्यकुब्ज नगर का राजा था। उसने आचार्य बप्पभट्टि से जैनधर्म की शिक्षा प्राप्त की थी। अन्तिम अवस्था में उसने जैन दीक्षा भी धारण की। वी.नि. 1360 में उसका निधन हुआ। (देखिए-बप्पभट्टि आचार्य)

आम्रभट्ट

गुजरात नरेश महाराज कुमारपाल के यशस्वी मंत्री उदयन का पुत्र, जो अपने पिता के पश्चात् गुजरात का महामंत्री बना। आम्रभट्ट परम जिनभक्त और शूरवीर था। उसने अनेक युद्धों में गुजरात की सेना का सफल संचालन किया था और विजय प्राप्त की थी। गुजरात नरेश कुमारपाल उसका बड़ा सम्मान करते थे। प्रजा में भी उसके प्रति भारी सम्मान और प्रेम था।

कुमारपाल की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र अजपाल सिंहासन पर बैठा। अजपाल अदूरदर्शी और दुष्ट स्वभाव का था। उसे चाटुकारों की चाटूक्तियों में रस था। चाटुकारों ने एक बार उसके कान भर दिए कि आम्रभट्ट उन्हें नमस्कार नहीं करता है। संयोग से उसी समय आम्रभट्ट ने सभा में प्रवेश किया। चाटुकारों ने आम्रभट्ट से कहा, मन्त्रिवर! महाराज अजपाल को वन्दन करो! इस पर आम्रभट्ट ने कहा, मेरा सिर देवरूप में जिनेश्वर प्रभु के समक्ष, गुरुरूप में आचार्य हेमचंद्र के समक्ष और स्वामीरूप में महाराज कुमारपाल के समक्ष ही झुकता है, अन्य किसी के समक्ष नहीं।

आम्रभट्ट की इस उक्ति से अजपाल भड़क उठा। उसने आम्रभट्ट को ललकारा। आम्रभट्ट सावधान था। वह तत्क्षण अपने घर लौट गया। जिनेश्वर प्रभु को प्रणाम कर उसने आमरण अनशन कर लिया। अजपाल के चाटुकार सैनिकों ने उस पर आक्रमण कर दिया। आम्रभट्ट ने शौर्य से लड़ते हुए वीरगति प्राप्त की।

आरामशोभा

आरामशोभा एक विपन्न कुल में जन्म लेकर पाटलिपुत्र नरेश की पटरानी बनी। यह पुण्य का प्रभाव तो था ही, उसके भीतर प्रवाहित परोपकार का साक्षात् चमत्कार भी था। आरामशोभा कुसट्ट देश के बलासा ग्रामवासी अग्निशर्मा ब्राह्मण और उसकी अर्द्धांगिनी अग्निशिखा की अंगजात थी। उसका जन्मना नाम विद्युत्प्रभा था। विद्युत्प्रभा पांच वर्ष की हुई तो उसकी माता का देहान्त हो गया। पुत्री की समुचित देखभाल को सुनिश्चित करने के लिए अग्निशर्मा ने पुनर्विवाह कर लिया। सौतेली मां को विद्युत्प्रभा फूटी आंख न सुहाई। घर का समस्त कार्यभार उसने नन्ही विद्युत्प्रभा पर डाल दिया। एक ही वर्ष में उसने एक पुत्री को जन्म दे दिया जिससे विद्युत्प्रभा पर काम का दबाव दोगुणा हो गया। दोपहर तक वह गृहकार्य करती, बाद में गाएं चराने जंगल में जाती।

एक दोपहर में जब विद्युत्प्रभा गाएं चरा रही थी तो उसने अपनी ओर आते एक सर्प को देखा। वह डर गई। सर्प मानव-वाणी में बोला कि वह उससे भयभीत न बने, इस क्षण वह स्वयं भयभीत है। कुछ गारुड़ि उसके पीछे पड़े हैं। उनसे वह उसकी रक्षा करे। विद्युत्प्रभा ने परोपकार की भावना से सर्प को अपनी गोद में

छिपा लिया। गारुड़ि आए। उनके पूछने पर विद्युत्प्रभा बोली, उसे तो सर्प से बहुत भय लगता है, उसके सामने सर्प का नाम न लिया जाए। गारुड़ि चले गए तो विद्युत्प्रभा की गोद में छिपा सर्प देव रूप में प्रगट होकर बोला, मैं नाग देव हूं, तुमने मेरी रक्षा की है। वरदान मांगो! विद्युत्प्रभा ने कहा—मेरी गाएं धूप में चरती हैं, उनके लिए वृक्ष पैदा कर दो। विद्युत्प्रभा की परोपकारी वृत्ति से नाग देव अभिभूत हो गया। उसने एक दिव्य बाग लगा दिया और कहा कि यह बाग सदैव उसके साथ रहेगा, वह जहां जाएगी बाग उसका अनुगामी बनकर उसके साथ-साथ चलेगा।

इस घटना से अग्निशर्मा अत्यन्त प्रसन्न हुआ, पर उसकी विमाता जल-भुन गई। उधर एक दिन जब विद्युत्प्रभा जंगल में अपनी गाएं चरा रही थी तो उधर से पाटलिपुत्र नरेश जितशत्रु अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ गुजरा। शीतल और फलदार बाग को देखकर उसने वहां सैन्य पड़ाव डाल दिया। हाथियों और घोड़ों से डरकर गाएं भाग खड़ी हुईं। विद्युत्प्रभा गायों को इकट्ठा करने के लिए भागी तो उसका बाग उसके पीछे-पीछे सरकता गया। देखकर राजा दंग रह गया। उसने विद्युत्प्रभा से पूरी बात जानी तो वह उसकी परोपकार वृत्ति और पुण्य प्रभाव से अति प्रभावित हुआ। उसने विद्युत्प्रभा से वैवाहिक प्रस्ताव किया जिसे उसने स्वीकार कर लिया। राजा ने विद्युत्प्रभा को नया नाम दिया—आरामशोभा। राजा उसे अपने साथ पाटलिपुत्र ले गया।

विमाता विद्युत्प्रभा के भाग्य से बहुत ईर्ष्या करती थी। वह विद्युत्प्रभा को मार्ग से हटाकर अपनी पुत्री को राजरानी बनाना चाहती थी। उसने तीन बार विषमिश्रित लड्डू विद्युत्प्रभा के पास भेजे, पर सहायक देव ने तीनों ही बार लड्डुओं को विषरहित बना दिया। आरामशोभा का प्रसव काल निकट आया तो विमाता ने कुलरीति की बात कहकर उसे अपने घर बुलवा लिया। आरामशोभा को पुत्र पैदा हुआ, जिसका नाम मलयसुन्दर रखा गया। अपने षड्यन्त्र को साकार करने के लिए विमाता प्रसव के चार-पांच दिन बाद आरामशोभा को कुएं पर ले गई। उसने कहा, पुत्रवती को कुएं के जल में अपना प्रतिबिम्ब देखना चाहिए, वैसा करने से उसका पुत्र दीर्घायु होता है। आरामशोभा कुएं पर झुकी तो विमाता ने धक्का देकर उसे कुएं में पटक दिया। रक्षक नागदेव ने उसकी रक्षा की। कुएं से निकालकर वह उसे नागलोक ले गया।

उधर विमाता ने आरामशोभा के स्थान पर अपनी पुत्री को लिटा दिया। आरामशोभा की संरक्षक दासियों ने ऐतराज किया तो विमाता बोली, यह आरामशोभा ही है। कुएं में परछाईं देखने से इसका रूप बदल गया है। यही बात राजा को कही गई। पर राजा के मन में संदेह बना रहा कि यह कोई दूसरी स्त्री है। वह रहस्य को जानने के लिए पड़ताल करता रहा। उसने पूछा कि उसका बाग कहां है। इस पर नकली आरामशोभा ने कहा—वह परछाईं-दर्शन के साथ ही विलुप्त हो गया। राजा असमंजस में था। उसने सत्य की तह तक पहुंचने तक उससे शरीर-सम्बन्ध न रखने का निश्चय कर लिया।

नागदेव के संरक्षण में आरामशोभा जान गई कि उसकी बहन राजरानी बन चुकी है। उसने बहन का सुख न उजाड़ने का संकल्प कर लिया। पर पुत्र-दर्शन के लिए वह अति-व्याकुल थी। उसने नागदेव से पुत्र-दर्शन के लिए जाने की आज्ञा मांगी। नागदेव ने उसे इच्छित गमन विद्या प्रदान की, साथ ही चेतावनी दी कि वह रात्रि में ही अपने पुत्र को देखने जाए। प्रभात होने का अर्थ होगा उसकी समस्त विद्याओं सहित उसके बाग का खो जाना।

आरामशोभा रात्रि में पुत्र से मिलने जाने लगी। एक रात उसने अपने बाग के फूलों से पुत्र का पालना सजा दिया। सुबह दिव्य फूलों को देखकर राजा जान गया कि रात में आरामशोभा आती है। एक रात्रि में

वह छिपकर बैठ गया। आरामशोभा आई तो उसने उसकी कलाई पकड़ ली। उसने आरामशोभा को पूरी बात का सत्य बताने के लिए विवश बना दिया। आरामशोभा ने स्पष्ट किया कि अगर वह वैसा करेगी तो उसका बाग और उसकी सारी विद्याएं नष्ट हो जाएंगी। राजा ने कहा, उसे न बाग चाहिए और न विद्याएं, उसे तो आरामशोभा चाहिए। राजा के अपने प्रति प्रेमभाव को इतना प्रकृष्ट पाकर आरामशोभा गद्‌गद हो गई। उसने अथान्त घटनाक्रम इस शर्त के साथ सुना दिया कि उसकी विमाता और बहन के अपराध क्षमा कर दिए जाएंगे।

आरामशोभा पुनः सुखपूर्वक राजा के साथ रहने लगी। कालक्रम से मलयसुन्दर युवा हुआ। उसे युवराज पद दिया गया। एक बार वीरभद्र नामक आचार्य पाटलिपुत्र पधारे। वे अतिशय ज्ञानी थे। राजा-रानी दर्शनार्थ गए। प्रवचन सुना। उसके बाद आरामशोभा ने अपने जीवन में आए विचित्र उतार-चढ़ावों का रहस्य आचार्य से जानना चाहा। आचार्यश्री ने उसका पूर्वभव उसे यथारूप सुनाया–

पूर्वजन्म में तुम चम्पापुरी के कुलधर सेठ की कुलानन्दा सेठानी की आठ पुत्रियों में सबसे छोटी पुत्री थी। तुम्हारे जन्मते ही सेठ श्रीहीन बन गया। तुम्हें निर्भागा नाम से पुकारा गया। यौवन में तुम्हारा विवाह एक निर्धन वणिक-पुत्र नन्दन से किया गया, जो तुम्हें अवन्ती नगरी के चैत्य में सोती हुई छोड़कर भाग गया। अवन्ती निवासी श्रमणोपासक मणिभद्र के यहां तुम्हें शरण मिली। उसने तुम्हें अपनी पुत्री मान लिया। वहीं से धर्मसंस्कार तुम्हें प्राप्त हुए। तुम श्राविका का जीवन जीने लगी। किसी समय मणिभद्र का उद्यान दैवयोग से उजड़ गया। तुमने अपने शील के प्रभाव से उद्यान को पुनः हरा-भरा बना दिया।

आचार्य ने कहा, पूर्वभव में प्रारंभिक जीवन में तुमने धर्मध्यान नहीं किया, फलतः इस जीवन में तुम यौवन द्वार तक पहुंचने से पूर्व निर्धन और दुखी बनी रही। पूर्वजन्म में तुमने यौवन में प्रभूत रूप से धर्मध्यान किया, फलस्वरूप यहां तुम्हें राजसी सुख प्राप्त हुए। पूर्वजन्म का मणिभद्र श्रमणोपासक ही नागदेव बना है जिसने तुम्हें उसके बाग को हरा करने के फल रूप में दिव्य बाग प्रदान किया।

पूर्वभव सुनकर आरामशोभा को धर्म के वास्तविक प्रभाव का ज्ञान हुआ। उसने दीक्षित होने का संकल्प कर लिया। राजा ने भी उसका अनुगमन किया। मलयसुन्दर को राज्य सौंपकर राजा और रानी ने दीक्षा धारण कर ली। संयम पाल कर दोनों स्वर्ग में गए। जन्मान्तर में पुनः संयमाराधना करके मोक्ष प्राप्त करेंगे।

–वर्धमान देशना 1

आरोग्य विप्र

उज्जयिनी नगरी के ब्राह्मण देवदत्त का पुत्र। उसकी माता का नाम नन्दा था। वह जन्म से ही रोगी था। पिता ने अनेक वैद्यों से उसके उपचार कराए, पर वह स्वस्थ नहीं हुआ। देवदत्त रोगी पुत्र से ऐसा संत्रस्त हुआ कि उसने उसका उपचार बन्द कर दिया और भावना भाने लगा कि वह मर ही जाए तो शुभ है। पुत्र का कोई नाम भी नहीं रखा गया। माता-पिता उसे 'रोग' नाम से ही पुकारते।

माता नन्दा अपने भाग्य को कोसती रहती और यथासंभव पुत्र की देखभाल करती। पुत्र दस वर्ष का हो गया, पर रोग के कारण वह इतना दुर्बल था कि न बैठ सकता था और न ही खड़ा हो सकता था। एक बार नगर के बाहर उद्यान में एक मुनि पधारे। नन्दा अपने पुत्र को मुनि के पास ले गई और मुनि से पुत्र की स्थिति कही। मुनि ने फरमाया, बहन! मनुष्य कृत्-कर्मों का ही उपभोग करता है। तुम्हारे पुत्र ने पूर्वजन्म में अभक्ष्य भक्षण कर दुःसह कर्मों का बन्ध किया है। उसका उपचार यही है कि वह अभक्ष्य भक्षण का मन-वचन और काय से परित्याग करे तथा समता भाव से रोग के परीषह को सहन करे।

पुत्र देह से दुर्बल था, पर उसका मस्तिष्क स्वस्थ था। उसने मुनि से अभक्ष्य भक्षण का आजीवन के लिए त्याग ग्रहण कर लिया। वह समता भाव से रोगों को सहन करने लगा। उसकी समता भावना इतनी प्रकृष्ट बनी कि एक बार देवराज इन्द्र ने भी उसके समता भाव और व्रतनिष्ठा की प्रशंसा देवसभा में की। एक देव ब्राह्मण-पुत्र की परीक्षा लेने आया। देव ने वैद्य का रूप धारण किया और वह नन्दा के गृहद्वार पर पहुंचा। नन्दा वैद्य को अपने पुत्र के पास ले गई। वैद्य रूपी देव ने कुछ औषधि दी और कहा, इस औषधि को यदि मदिरा के साथ ग्रहण किया जाए तो समस्त प्रकार के रोग पलक झपकते ही दूर हो जाएंगे।

ब्राह्मण-पुत्र 'रोग' ने उस औषधि को लेने से स्पष्ट इन्कार कर दिया और कहा, उसे रुग्णावस्था स्वीकार है पर मदिरा का सेवन स्वीकार नहीं है। देव ने विभिन्न तर्क देकर ब्राह्मण-पुत्र को मदिरा-सेवन के लिए उकसाया, पर ब्राह्मण-पुत्र के मन में भी मदिरा सेवन का भाव तक नहीं जागा।

ब्राह्मण-पुत्र की व्रत निष्ठा देखकर देव गद्‌गद गया। वह वास्तविक रूप में प्रकट हुआ। उसने ब्राह्मण-पुत्र को दिव्य बल से स्वस्थ कर दिया और उसकी व्रत-निष्ठा की प्रशंसा करता हुआ अपने स्थान पर चला गया।

तदनन्तर ब्राह्मण पुत्र जगत में 'आरोग्य विप्र' नाम से ख्यात हुआ। आजीवन दृढ़ता पूर्वक व्रत पालन कर वह सद्‌गति का अधिकारी बना। —धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 36

आर्द्रक कुमार

समुद्र के मध्य स्थित आर्द्रकपुर नामक एक अनार्य देश का राजकुमार। महाराज आर्द्रिक और उनकी रानी आर्द्रिका उसके माता-पिता थे। आर्द्रक कुमार अनार्य से कैसे आर्य बने और फिर कैसे भगवान महावीर तक पहुंचे तथा केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षगामी बने, यह एक दिलचस्प घटनाक्रम है। वस्तुतः इस का सूत्र मैत्री से प्रगट हुआ। आर्द्रकपुर तथा मगध के राजाओं के मध्य पुश्तैनी मैत्री सम्बन्ध थे। यह मैत्री सम्बन्ध मगधेश श्रेणिक और आर्द्रिक राजा तक पहुंचते-पहुंचते घनिष्ठतम बन गए थे। दोनों नरेश अपने-अपने देशों की बहुमूल्य वस्तुएं एक-दूसरे के पास उपहार स्वरूप भेजा करते थे। उपहारों का यह सिलसिला आर्द्रककुमार और अभयकुमार के मध्य भी प्रारंभ हो गया। आर्द्रककुमार के मैत्री-पत्रों की भाषा से अभय कुमार को लगा कि उसके हृदय में धर्मसंस्कार जगाए जा सकते हैं। सो एक बार अभय ने अन्य उपहारों के साथ एक पेटिका में मुनि वेश के प्रतीक वस्त्र, मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि रखकर आर्द्रक कुमार के पास भेजे। साथ ही संवाहक से आर्द्रक को सूचित कराया कि उक्त पेटिका को वह एकान्त में खोले। आर्द्रक अभय की भेंट पाकर अतीव प्रसन्न हुआ। उसने मित्र की बात का अनुपालन करते हुए पेटिका को एकान्त कक्ष में खोला। उन उपकरणों को देखकर आर्द्रक चकित रह गया। वैसे उपकरण उसने कभी देखे न थे। आखिर इन उपकरणों की उपयोगिता क्या हो सकती है? इन्हें भेजने का अभय का अभिप्राय क्या हो सकता है? एकान्त में गहन चिन्तन करते हुए आर्द्रक कुमार को जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति हुई। उसे अपना पूर्वभव स्पष्ट दिखाई देने लगा। उसने जान लिया कि वह पूर्वजन्म में मुनि जीवन जी चुका है। 'संयम ही जीवन का सार है' इस विचार ने उसे भारत आने के लिए सम्प्रेरित किया। वह भारत आकर संयम साधना साधने के लिए कृतसंकल्प बन गया। एतदर्थ उसने पित्राज्ञा चाही। पर पिता ने सख्ती से इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं, आर्द्रक अकहे ही भारत न चला जाए, उसके लिए उसने आर्द्रक पर दृष्टि रखने के लिए पांच सौ सुभट तैनात कर दिए।

आर्द्रक स्वयं को बन्दी महसूस करने लगा। उसने सैनिकों का विश्वास जीतने का उपक्रम किया, जिसमें वह शीघ्र ही सफल भी हो गया। इसी का लाभ उठाकर एक दिन एक जहाज में चढ़कर आर्द्रक कुमार भारत पहुंच गया। संयम को जीने के लिए वह इतना आतुर था कि उसने भारत पहुंचते ही मुनि दीक्षा धारण कर ली। दीक्षा लेते हुए देववाणी ने आर्द्रक को चेताया कि उसके भोगावलि कर्म अभी अशेष नहीं हुए हैं, अतः दीक्षा लेने में वह शीघ्रता न करे, पर उमंगित आर्द्रक ने देववाणी को अनसुना कर दिया।

एक बार आर्द्रक मुनि बसन्तपुर नगर में आए। वहां उद्यान में ध्यानस्थ मुद्रा में खड़े हो गए। उधर कुछ बालाएं क्रीड़ा के लिए उद्यान में आईं। उन बालाओं में श्रीमती नामक एक रूप-शील सम्पन्न श्रेष्ठी पुत्री भी थी। बालाएं क्रीड़ामग्न बन गईं। क्रीड़ामग्न बालाएं स्तम्भों को पकड़-पकड़कर उन्हें अपना पति घोषित करने लगीं। अजाने से श्रीमती ने मुनि को स्पर्श कर उसे अपना पति घोषित कर दिया। पर वस्तुस्थिति जानकर वह स्तंभित हो गई। शीघ्र ही स्वयं को सहज करते हुए उसने संकल्प किया, चाहे जो भी हो, वह विवाह करेगी तो इस मुनि से करेगी, अन्यथा आजीवन अविवाहिता रहेगी। देवों ने रत्नराशि का वर्षण कर उसके संकल्प की सराहना की।

उपसर्ग जानकर आर्द्रक मुनि अन्यत्र विहार कर गए। श्रीमती के पिता श्रेष्ठी उद्यान में आए। रत्नराशि और पुत्री को लेकर घर चले गए। श्रीमती ने माता-पिता से साग्रह निवेदन किया कि वह विवाह करेगी तो उन मुनि से ही करेगी। माता-पिता ने उसकी बात स्वीकार कर ली। पर मुनि को खोजा कहां जाए, यह यक्ष प्रश्न था। श्रीमती के पिता ने एक दानशाला खोलकर उसका प्रबंधन श्रीमती को इस विचार से सौंप दिया कि कभी तो वे मुनि इधर से भिक्षा आदि लेने आएंगे, जिन्हें श्रीमती ही पहचान सकती है।

बारह वर्ष पश्चात् श्रीमती की मनोकामना पूर्ण हुई। आर्द्रक मुनि संयोग से उधर आए तो श्रीमती ने उनके चरण पकड़ लिए और स्वयं को स्वीकार करने की मुनि से प्रार्थना करने लगी। श्रेष्ठी ने जाना तो वह भी मुनि के पास पहुंचा। स्वयं नगर के राजा ने भी मुनि से प्रार्थना की कि वे श्रीमती को पत्नी रूप में स्वीकार कर लें। आखिर इस चहुंमुखी दबाव से आर्द्रक ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। वे गृहस्थ बनकर श्रीमती के साथ रहने लगे। कालक्रम से उन्हें एक पुत्र भी प्राप्त हुआ। पुत्र तुतलाकर बोलता तो आर्द्रक को बहुत मधुर लगता।

यह सब था पर आर्द्रक के मन में अपने पतन पर पश्चात्ताप प्रत्येक पल बना रहता था। यह पश्चात्ताप एक दिन प्रबल बना तो उन्होंने पुनर्दीक्षा का संकल्प कर लिया। उन्होंने पत्नी श्रीमती को अपने संकल्प से अवगत करा दिया। बहुत मनाने पर भी आर्द्रक नहीं माने। श्रीमती उदास होकर एक कोने में बैठ गई। आर्द्रक विचारों में खोए हुए चारपाई पर लेटे थे। उसी क्षण बाहर से खेलकर पुत्र आया। माता को रुआंसी देखकर उसका कारण अपनी तोतली जबान से पूछने लगा। माता ने पूरी बात बता दी कि उसके पिता उन्हें छोड़कर मुनि बनने जा रहे हैं। सुनकर पुत्र ने कहा, देखता हूं पिता जी कैसे जाते हैं। मैं इन्हें बांध दूंगा। कहकर नन्हे-नन्हे हाथों से सूत के धागे से उसने आर्द्रक को बांध दिया। पुत्र की इस प्रतिक्रिया ने आर्द्रक को पुनः बांध लिया। उन्होंने सूत के अंटों को गिना तो उन्हें बारह पाया। आर्द्रक ने पुनः बारह वर्ष घर में रहने का विचार बना लिया।

बारह वर्ष पश्चात् पुत्र योग्य बन गया। उसे गृहदायित्व देकर आर्द्रक कुमार पुनः मुनि बन गए। उधर वे पांच सौ सुभट आर्द्रक के भारत आ जाने के कारण राजदण्ड से बचने के लिए स्वयं भी भारत आ गए थे और पेट पालन के लिए चौर्यादि कार्यों में प्रवृत्त बन गए थे। एक बार सहसा उनकी भेंट आर्द्रक मुनि

से हुई। मुनि ने उपदेश दिया, जिससे प्रतिबुद्ध होकर उन पांच सौ सुभटों ने दीक्षा धारण कर ली। यों पांच सौ शिष्यों के साथ आर्द्रक मुनि ने तीर्थंकर महावीर के दर्शनों के लिए मगध देश की दिशा में प्रस्थान किया। मार्ग में उनसे गोशालक, बौद्ध, भिक्षुओं, वैदिकों, हस्तितापसों एवं दण्डी आदि विभिन्न मत के आचार्यों ने अपने-अपने मत में प्रवेश करने का आग्रह किया और महावीर के श्रमणधर्म की निन्दना की।

अपनी कुशाग्र बुद्धि से आर्द्रक मुनि ने उन सभी के मतों का खण्डन और महावीर के श्रमणधर्म का मण्डन करके सबको निरुत्तर बना दिया और वे महावीर के पास पहुंचकर अपना श्रद्धा-अर्घ्य उन चरणों पर अर्पित कर सविधि संघ में सम्मिलित हो गए। उसी दौरान उनका मिलन अभय कुमार से हुआ। अपनी मैत्री को यों विकसित और सुफलित देख अभय भी गद्‌गद बन गए।

उत्कृष्ट-प्रकृष्ट संयम पालकर और अन्ततः कैवल्य साधकर आर्द्रक मुनि ने परम धाम मोक्ष प्राप्त किया।

—सूत्रकृतांग 2/6

आर्द्रिक-आर्द्रिका

समुद्र के मध्य बसे आर्द्रपुर देश के राजा और रानी। ये आर्द्रक मुनि के जनक और जननी थे। (देखिए- आर्द्रक कुमार)

आर्यदत्त

प्रभु पार्श्वनाथ के अनेक गणधरों में से प्रमुख गणधर। —समवायांग

आर्यदिन्न

कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य सुहस्ती की परम्परा में आर्य दिन्न हुए। उनके जीवन के संबंध में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। —कल्पसूत्र स्थविरावली

आर्यरक्षित (आचार्य)

वीर निर्वाण के लगभग साढ़े पांच सौ वर्ष पश्चात् हुए एक प्रभावक जैन आचार्य और नौ पूर्वों के ज्ञाता मुनि। उनका जन्म दशपुर नगर के ब्राह्मण सोमदेव की पत्नी सोमा के गर्भ से हुआ था। जब वे पाटलिपुत्र से विद्याध्ययन करके लौटे तो उनकी माता ने उन्हें दृष्टिवाद का ज्ञान सीखने के लिए आचार्य तोषलीपुत्र के पास भेजा। आचार्य श्री ने उन्हें मुनिदीक्षा दी और शास्त्राभ्यास कराया। विशिष्ट ज्ञानार्जन के लिए उन्हें आर्य वज्रस्वामी के पास भेजा। उन्होंने आर्य वज्रस्वामी से नौ पूर्वों का ज्ञानार्जन किया। तदनन्तर संसारपक्षीय भाई फल्गुरक्षित की आग्रहभरी प्रार्थना पर वे दशपुर गए। वहां उनके प्रभाव से उनका पूरा परिवार दीक्षित हुआ। वहां के राजा ने भी सम्यक्त्व ग्रहण किया। वे तेरह वर्षों तक आचार्य पद पर रहकर पचहत्तर वर्ष की अवस्था में स्वर्गस्थ हुए। —उपदेश प्रासाद भाग-5

आर्यरक्षित सूरि (आचार्य)

अंचल गच्छ के संस्थापक आचार्य। परम्परा और पद का मोह त्यागकर आर्य रक्षित ने शिथिलाचार के विरुद्ध क्रांति का बिगुल बजाया। क्रियोद्धार के लिए उन्होंने आजीवन श्रम किया। पूजा-प्रतिष्ठा आदि में प्रचलित सावद्य क्रियाओं पर प्रतिबंध लगाया और निरवद्य विधियों को स्थापित किया। अपने नवीन गच्छ-अंचल-गच्छ के लिए उन्होंने नवीन सामाचारी की रचना की।

आर्य रक्षित का जन्म आबू पर्वत के निकटवर्ती ग्राम दंताणी में वी.नि. की सतरहवीं शताब्दी में हुआ था। उनके पिता का नाम द्रोण और माता का नाम देदी था। गृहस्थ जीवन में उनका नाम गोदुह कुमार था। गोदुह कुमार ने बड़गच्छ परम्परा के जयसिंह सूरि से दीक्षा ली। दीक्षा के समय उनका नाम विजयचन्द्र रखा गया। आगमों का पारायण कर विजयचन्द्र एक विद्वान मुनि बने। उपाध्याय पद पर उनकी नियुक्ति हुई। संघ में उन्हें काफी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। परन्तु आगमज्ञ मुनि विजयचन्द्र को गच्छ में व्याप्त शिथिलाचार रुचिकर नहीं था। उन्होंने समान विचारधारा के तीन अन्य मुनियों के साथ संघमुक्त होकर अन्यत्र विहार कर दिया। पावागिरि शिखर पर मन्दिर में उन्होंने मासोपवास की आराधना की। यशोधन नामक श्रेष्ठी का सम्यक् सहयोग प्राप्त कर उन्होंने क्रियोद्धार किया और अंचल गच्छ की स्थापना की। संघ ने उन्हें इस नवीन गच्छ का आचार्य मनोनीत किया और 'आर्य रक्षित सूरि' यह नया नाम प्रदान किया।

आर्य रक्षित सूरि ने दीप, फल, बीज आदि के स्थान पर तन्दुल पूजा की प्रतिष्ठा की। श्रावक श्राविकाओं के लिए वस्त्र के अंचल से षडावश्यक क्रियाओं को करने का विधान किया। संभवतः इसी नवविधान के कारण उनका गच्छ अंचलगच्छ कहलाया।

आर्य रक्षित आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन माने जाते हैं। आर्य रक्षित का अंचल गच्छ उनके अपने समय में ही पर्याप्त प्रसिद्धि पा गया था। मंदिरमार्गी परम्परा में आज भी यह एक महनीय गच्छ है।

लगभग 100 वर्ष की अवस्था में वि.सं. 1236 में आचार्य रक्षित का तिमिर नगर में स्वर्गवास हुआ। वे वी.नि. की 17वीं-18वीं सदी के एक प्रतिष्ठित आचार्य थे। —वीरवंश पट्टावली

आर्यिका पाम्बब्बे

गंग नरेश बूतुग द्वितीय की बड़ी बहन, जिसने राजसी-समृद्धि का परित्याग करके जिनदीक्षा धारण की और अपने जीवन को तप और त्यागपूर्वक व्यतीत किया। उसने तीस वर्षों तक संयम का पालन कर समाधिमरण द्वारा सद्गति प्राप्त की।

ई. की दसवीं सदी उसका समय माना जाता है।

आशाधर (कवि)

वि. की तेरहवीं सदी के एक जैन कवि। उत्कृष्ट काव्यकार होने के साथ ही आशाधर धर्म, दर्शन, साहित्य आदि के भी मनीषी विद्वान थे। उनके ग्रन्थ उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रमाण हैं।

कविवर आशाधर जी का जन्म माण्डलगढ़ (मेवाड़) में हुआ था। मेवाड़ पर शहाबुद्दीन गौरी के आक्रमण से उत्पन्न अस्तव्यस्तता के कारण वे सपरिवार मालवा में चले गए और धारा नगरी में रहने लगे। आशाधर जी के पिता का नाम सल्लक्षण और माता का नाम श्रीरत्नी था। उनकी पत्नी का नाम सरस्वती और पुत्र का नाम छाहड़ था। वे बहोरवाल जाति के जैन श्रावक थे।

कविवर आशाधर ने धारानगरी में रहकर ही अध्ययन किया। उनके गुरु का नाम पंडित महावीर था।

कालान्तर में कविवर आशाधर नलकच्छपुर चले गए जहां नेमिचैत्यालय में 35 वर्ष रहकर उन्होंने साहित्य साधना की। उन्होंने कई उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। उत्कृष्ट साहित्य साधना के कारण कविवर सामान्य व्यक्ति से लेकर नरेशों तक के सम्माननीय और पूज्य बने। उनके जीवन काल में नलकच्छपुर पर पांच राजाओं ने शासन किया। इन सभी ने आशाधर का विशेष सम्मान किया।

अपने ज्ञान गांभीर्य और धर्ममय जीवन के कारण आशाधर जी पूज्य पद पा गए थे। कहते हैं कि साधारण और उच्च गृहस्थ वर्ग के अलावा कई मुनियों और भट्टारकों ने भी उन्हें गुरुतुल्य पद दिया था।

कविवर आशाधर रचित डेढ़ दर्जन से अधिक ग्रन्थों की सूची उपलब्ध होती है। वर्तमान में उपलब्ध अध्यात्म रहस्य, धर्मामृत, जिनयज्ञकल्प त्रिषष्ठि स्मृतिशास्त्र आदि उनके उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थ हैं। ग्रन्थों के नामों से ही उनके वर्ण्य विषय स्पष्ट ध्वनित हो रहे हैं। –तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 4)

आशाशाह

मेवाड़ के इतिहास का एक साहसी जैन श्रावक। आशाशाह कुम्भलमेर दुर्ग के दुर्गपाल पद पर नियुक्त था। उस समय चित्तौड़ में राणा परिवार पर कष्ट के बादल घिरे। महाराणा रत्नसिंह की मृत्यु के पश्चात् दासीपुत्र बनवीर ने उत्तराधिकारी विक्रमाजीत को मौत के घाट उतार कर सिंहासन पर अधिकार कर लिया। विक्रमाजीत का लघुभ्राता उदयसिंह अभी शिशु था। बनवीर उसे भी मार कर अपने मार्ग को निष्कण्टक करना चाहता था। उस समय पन्नाधाय ने अपने पुत्र का बलिदान देकर उदयसिंह के जीवन की रक्षा की। शिशु उदयसिंह को लेकर पन्नाधाय चित्तौड़ से निकल गई और अनेक सामन्त-सरदारों के पास जाकर उसने उदयसिंह के लिए शरण की याचना की। परन्तु मृत्युभय से उसे किसी ने शरण नहीं दी। उस समय पन्नाधाय आशाशाह के पास पहुंची। पहले-पहल आशाशाह भी झिझके। आशाशाह की जननी पुत्र की झिझक देखकर कटार निकाल कर उस पर झपटी और बोली, ऐसे कायर पुत्र से मैं निपूती भली।

आशाशाह के अन्दर माता के रौद्र रूप ने साहस का संचार कर दिया। उसने शिशु राणा उदयसिंह को गोद में ले लिया और प्रण किया–मैं प्राण देकर भी मेवाड़ के शिशु राणा की रक्षा करूंगा।

आशाशाह ने वैसा ही किया। उसने उदयसिंह को अपना 'भतीजा' प्रचारित कर उसका पालन-पोषण किया और समय आने पर उदयसिंह चित्तौड़ के सिंहासन पर आसीन हुआ।

आषाढ़भूति (आचार्य)

उत्तराध्ययन वृत्ति के अनुसार आषाढ़भूति आचार्य के सौ शिष्य थे। ये सभी शिष्य परम विनीत और गुरुभक्त थे। पर संयोग ऐसा बना कि ये सभी शिष्य अल्पकालावधि में ही अपने गुरु की आंखों के समक्ष एक-एक कर कालधर्म को प्राप्त हो गए। सबसे छोटा शिष्य, जिस पर आचार्य का विशेष अनुराग भाव था, जब दिवंगत होने लगा तो आचार्य ने उससे कहा कि वह देवगति से लौटकर उन्हें वहां की स्थिति की सूचना दे। गुरु के वचन में बंधकर शिष्य परलोकवासी बन गया। वह स्वर्ग में उत्पन्न हुआ। पर वहां के सुख में वह ऐसा मग्न हुआ कि उसे गुरु को दिया गया वचन विस्मरण हो गया।

आचार्य आषाढ़भूति शिष्य के लौटने की प्रतीक्षा करते रहे पर शिष्य नहीं लौटा। इससे आचार्यश्री की धर्मश्रद्धा डावांडोल हो गई। उनके भीतर चिन्तन चला–यदि आगमों की बात सही है तो उनके शिष्य को स्वर्ग में जाना चाहिए और उनका शिष्य स्वर्ग में जाता तो अपने वचनानुसार लौटकर उन्हें सूचित करता। प्रतीत होता है कि आगम कपोलकल्पित हैं, स्वर्ग, नरक, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म और अध्यात्म सब कल्पना से सृजित हैं। जब यह सब कुछ नहीं है तो यों परीषह उपसर्ग सहकर जीवन बिता देने में समझदारी नहीं है। मुझे गृहस्थ के सुख-भोग भोगने चाहिएं। आचार्य की श्रद्धा डोल उठी। श्रद्धा डोल जाए तो व्यक्ति को पथभ्रष्ट बनते समय ही कितना लगता है ! फलतः आचार्य गृहस्थ होने के विचार से चल दिए।

उधर देव बने शिष्य को अपना वचन स्मरण हुआ। उसने अवधिज्ञान के उपयोग से देखा तो उसे गुरु

की स्थिति पर बड़ा कष्ट हुआ। इसके लिए उसने स्वयं को दोषी माना। गुरु को पुनः सन्मार्ग पर लाने का उसने संकल्प किया। उसने विचार किया कि अगर उसके गुरु में करुणा और लज्जा—इन दो गुणों में से एक गुण भी शेष है तो उन्हें सन्मार्ग पर लाया जा सकता है। परीक्षा के लिए उसने देव-विकुर्वणा से छह अबोध बच्चों की विकुर्वणा की। वे बच्चे गहनों से लदे थे। वे आचार्य के समक्ष आए और उन्होंने आचार्य को वन्दन किया। आचार्य द्वारा उनका परिचय पूछने पर उन्होंने पृथ्वीकाय, अपूकाय, तेजस् काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय अपने नाम बताए तथा बताया कि वे अपने अभिभावकों के साथ आपके ही दर्शनों के लिए निकले थे, पर अभिभावकों से बिछुड़ कर मार्ग भटक गए हैं। अच्छा हुआ कि आपके दर्शन हो गए।

आषाढ़भूति आचार्य का ध्यान बच्चों के शरीर पर धारण किए हुए गहनों में उलझ गया। उन्होंने विचार किया कि गृहस्थ में जिस चीज की सबसे बड़ी आवश्यकता होती है, वह है धन। षड्जीवों की दया पालते बहुत समय बिताया है पर दयाधर्म तो असत्य सिद्ध हुआ। धन ही सत्य है जिसके प्रभाव से गृहस्थ सुख भोगते हैं। अतः मुझे इन बालकों से इनके गहने छीन लेने चाहिएं। आचार्य ने बालकों के गहने छीन लिए और उनके कण्ठ मसोस कर छहों की हत्या कर दी। पात्रों में आभूषण भर कर आचार्य आगे बढ़े।

तदनन्तर देव रूपी शिष्य ने एक अन्य उपक्रम किया। आचार्य कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें सामने श्रावकों का एक समूह मिला। सभी श्रावकों ने भक्ति-नत हो वन्दन किया और आहार ग्रहण करने की प्रार्थना की। आचार्य ने आहार लेने से इन्कार कर दिया। आखिर आहार लेते भी तो कैसे? पात्रों में तो आभूषण भरे थे। परन्तु श्रावकों ने अत्याग्रह दर्शाया और आचार्य की झोली पकड़कर आहार देने को प्रस्तुत हुए। पर पात्रों में नामांकित आभूषण देखकर श्रावकों ने आचार्य पर हत्या का आरोप लगाया।

आचार्य का पाप प्रकट हो चुका था। लज्जा से वे जमीन में धंसे जा रहे थे। अपने कृत्य पर उन्हें महान् पश्चात्ताप हो रहा था। आचार्य की इस मनोदशा को देखकर शिष्य देव प्रकट हुआ। उसने अपने वचन विस्मरण के लिए क्षमा मांगी। आचार्य ने भी अपने पतन पर घोर पश्चात्ताप किया और वे शीघ्र ही पुनः धर्मश्रद्धा में अवस्थित बन गए।

तदनन्तर आचार्य आषाढ़भूति ने उत्कृष्ट अहिंसा, तप और संयम की आराधना की और केवलज्ञान साधकर उसी भव में मोक्ष के अधिकारी बने। —उत्तराध्ययन वृत्ति

आषाढ़ मुनि

जैन कथा साहित्य के पृष्ठों पर आषाढ़ मुनि का चरित्र भावपूर्ण शब्दावलि में अंकित हुआ है। संक्षेप में उस महामुनि के जीवन की परिचयात्मक रेखाएं निम्नोक्त हैं—

आषाढ़ बाल्यकाल में ही मुनि बन गया था। उसके गुरु का नाम था आचार्य धर्मरुचि। यौवन-द्वार पर कदम रखते-रखते आषाढ़ मुनि ने उत्कृष्ट तप के द्वारा रूपपरावर्तिनी आदि अनेक दिव्य लब्धियां प्राप्त कर ली थीं। वह तपस्वी था, लब्धिधारी था, पर रसना इन्द्रिय पर उसका पूरा अंकुश न था। यही इकलौता छिद्र था उसकी संयम रूपी नौका में।

किसी समय गुरु के साथ आषाढ़ मुनि राजगृह नगरी पधारे। वहां के राजा का नाम सिंहरथ था। आषाढ़ भिक्षा के लिए चले। संयोग से महर्द्धिक नट के द्वार पर गए। नट की दो सुन्दर कन्याएं थीं—भुवनसुंदरी और जयसुंदरी। उन्होंने मुनि को भिक्षा में एक मोदक दिया। मोदक के रूप और गन्ध में आषाढ़ का मन अटक गया। गली में पहुंचते-पहुंचते विचार जगा कि एक मोदक तो गुरु के लिए है। ऐसा विचार आते ही

उन्होंने लब्धिबल से एक बाल मुनि का रूप बनाया और एक और मोदक प्राप्त कर लिया। पर उन्हें पुनः विचार जगा कि यह मोदक तो ज्ञानगुरु के लिए है। उन्होंने पुनः एक वृद्ध मुनि का रूप बनाया तथा एक और मोदक प्राप्त कर लिया। अब आषाढ़ सन्तुष्ट थे। भिक्षा लेकर वे चले गए।

मुनि आषाढ़ के इस पूरे चरित्र को झरोखे से महर्द्धिक नामक नट देख रहा था। उसे विचार आया कि काश! उसके पास भी वैसी लब्धि होती तो उसका नाट्य सजीव बन जाता और वह प्रभूत धन संचित कर लेता। विचार शृंखला में चले। एक विचार आया कि इस मुनि को ही अपनी नट मण्डली में शामिल कर लिया जाए तो हमारी मण्डली जगजयी नटमण्डली बन जाएगी। उसने तत्क्षण अपनी पुत्रियों को बुलाया और कहा, उक्त मुनि स्वाद के वश प्रतीत होता है। उसे उत्कृष्ट आहार दिया जाए और उसे वश करने का पूर्ण प्रयत्न किया जाए। नट कन्याओं ने अपना जाल फैला दिया। आषाढ़ भिक्षा के लिए आते तो वे उन्हें स्वादिष्ट व्यंजन प्रभूत मात्रा में प्रदान करतीं और हाव-भाव से उन्हें चलित करने का प्रयत्न करतीं। साताकारी आहार के मोह में बंधे आषाढ़ नटगृह में प्रतिदिन आने लगे। शनैः शनैः आहार के साथ-साथ वे नट-कन्याओं के प्रेम-पाश में भी बन्ध गए। चतुर बालाओं ने मुनि की मनःस्थिति को पढ़ते हुए उनसे वैवाहिक प्रस्ताव किया और कहा कि उनके बिना वे प्राण त्याग देंगी। आषाढ़ बोले, मुझे तुम्हारा प्रस्ताव स्वीकार है। पर एतदर्थ गुर्वाज्ञा आवश्यक है। आषाढ़ गुरु के पास पहुंचे और गृहस्थ होने का अपना संकल्प गुरु को सुना दिया। गुरु ने आषाढ़ को समझाने के बहुत प्रयत्न किए, पर उसके न समझने पर उन्होंने कहा, वत्स! भले ही जाओ, पर गुरु की एक सीख को सदैव स्मरण रखना, मद्य-मांस से सदैव दूर रहना, न स्वयं इनका उपयोग करना तथा इन्हें उपयोग करने वालों से भी दूर रहना!

गुरु-सीख को हृदय पर अंकित करके आषाढ़ नट-कन्याओं के पास पहुंचे। उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा से उन्हें परिचित कराया, कि यदि उस घर से मांस-मदिरा दूर रहेगी तो वे उनके साथ रहने को प्रस्तुत हैं। नट कन्याओं ने प्रतिज्ञा की कि वे मांस-मदिरा से दूर रहेंगी। इस प्रकार आषाढ़ गृहस्थ होकर नट-कन्याओं के साथ रहने लगे। शीघ्र ही वे इतने विचक्षण नट बन गए कि उनके जैसा नाट्य-कला-प्रवीण अन्य कोई न था। आषाढ़ की इस कला के बल पर महर्द्धिक नट ने प्रभूत समृद्धि संचित कर ली।

एक बार आषाढ़ को किसी कार्यवश ग्रामान्तर जाना पड़ा। छह मास तक उनके लौटने की आशा न थी। नट कन्याएं आषाढ़ की अनुपस्थिति में स्वतंत्र बन गईं। मांस-मदिरा के उनके संस्कार जाग उठे। उन्होंने जी भरकर मांस-मदिरा का सेवन करना प्रारंभ कर दिया। पर निश्चित अवधि से पूर्व ही आषाढ़ लौट आए। पत्नियों को मद्य-मांस से छकी देखा तो उनके प्रेम-पाश तड़-तड़ टूट गए। उन्होंने पत्नियों को धिक्कारा और पुनः अपने गुरु की शरण में जाने को तत्पर हो गए। नट कन्याओं ने लाख अनुनय-विनय की, पर आषाढ़ निष्प्रभावी बने रहे। आखिर नट कन्याओं ने कहा, तुम्हें जाना ही है तो हमारे लिए इतने धन की व्यवस्था करके जाओ जिससे हमारा जीवन सुख से बीत सके। आषाढ़ बोले कि वे उनके लिए एक नाटक खेल सकते हैं और यह नाटक उनके जीवन का अप्रतिम परन्तु अन्तिम नाटक होगा।

राजा को एतदर्थ आषाढ़ ने सूचना दी और कहा कि वे अपने जीवन का अन्तिम नाटक खेलना चाहते हैं। यह नाटक भरत चक्रवर्ती के जीवन पर आधृत होगा। राजा ने इस नाटक का प्रायोजन अपने हाथों में ले लिया। एतदर्थ बहुप्रचार भी किया गया। निर्धारित समय पर राजा सहित सहस्रों लोग इस नाटक को देखने के लिए उमड़ पड़े।

नाटक प्रारंभ हुआ। भरत का अभिनय स्वयं आषाढ़ ने किया। जीवंत अभिनय से दर्शक मुग्ध और

आत्मविभोर बनते चले गए। दर्शक भूल गए कि वे नाटक देख रहे हैं अथवा वास्तविक भरत महाराज उनके समक्ष प्रस्तुत हैं। साथ ही स्वयं आषाढ़ भी इस अभिनय में इतना तल्लीन बन गए कि उन्हें भी अपने आषाढ़ होने की स्मृति न रही। शीशमहल मे कैवल्य प्राप्ति के मंचन के क्षण में आषाढ़ भरत जी की ही भावधारा का स्पर्श कर रहे थे। और उस अभिनय को भाव तल पर आषाढ़ इतनी तन्मयता से जी गए कि उन्हें केवलज्ञान हो गया।

फिर तो पूरी तस्वीर ही बदल गई। पंचमुष्टि लुंचन करके आषाढ़ ने उसी क्षण मुनि वेश धारण कर लिया। उन्होंने एकत्रित जनसमूह को धर्मोपदेश दिया। पांच सौ भव्यात्माएं प्रबुद्ध बनीं। उन्हें दीक्षित कर आषाढ़ गुरु की सन्निधि में पहुंचे। अपने शिष्य को केवली अवस्था में देखकर गुरु को जो सुख मिला वह अकथ्य है।

आषाढ़ उत्थान, पतन और पुनरुत्थान को जीकर सिद्ध हुए। —उपदेश प्रासाद भाग 4

आषाढ़सेन (राजा)

ई. पूर्व प्रथम सदी अथवा उसके आस-पास के समय का एक जैन राजा जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा नगरी थी। उसके जीवन पर जैन धर्म का बहुत प्रभाव था। शेष विवरण अप्राप्त।

आषाढ़ाचार्य

एक जैन आचार्य। (देखिए-आषाढ़ाचार्य के शिष्य)

आषाढ़ाचार्य के शिष्य

महावीर निर्वाण के 214 वर्ष बाद आचार्य आषाढ़ श्वेताम्बिका नगरी के पोलास उद्यान में अपने शिष्यों को योगाभ्यास का शिक्षण दे रहे थे। एक रात्रि में अकस्मात् हृदयशूल से आचार्य श्री का निधन हो गया। वे देवलोक में उत्पन्न हुए। उन्होंने उपयोग लगाया और जाना कि उनके शिष्यों का शिक्षण अधूरा है। उनका शिक्षण पूर्ण हो, इस विचार से वे अपने ही मृत शरीर में प्रविष्ट हो गए और क्रमशः शिष्यों को योगाभ्यास का शिक्षण देने लगे। शिक्षा पूरी होने पर आचार्य श्री ने सत्य का उद्घाटन किया और अव्रती होकर व्रतियों से वंदनादि सम्मान लेने के लिए क्षमापना कर देवलोक में चले गए। इससे शिष्यों के मन में यह शंका हो गई कि कौन जाने मुनिसंघ में कौन मुनि है और कौन देव है। वे अव्यक्तवाद की प्ररूपणा करने लगे। स्थविर मुनियों ने उनको समझाया, पर वे अपने हठाग्रह पर अडिग रहे। एक बार भ्रमण करते हुए राजगृह नगर में आए। वहां के श्रमणोपासक राजा बलभद्र ने उनको प्रतिबोध देने की दृष्टि से गिरफ्तार कर लिया और सैनिकों को आदेश दिया कि इन्हें कोड़े लगाए जाएं। राजा के विपरीत व्यवहार और आदेश को सुन संत सहम गए और बोले, आप श्रमणोपासक होकर निरपराध श्रमणों के साथ ऐसा व्यवहार कर रहे हैं, क्या यह शोभनीय है?

राजा ने कहा, महाराज! मैं आपके ही वाद का समर्थन कर रहा हूं। कौन जाने मैं श्रमणोपासक हूं या नहीं, फिर यह भी कैसे माना जाए कि आप श्रमण हैं अथवा नहीं। राजा की युक्ति सफल रही। मुनियों को अपनी भूल का परिबोध हो गया। उन्होंने जिन-संघ में पुनः लौटने का संकल्प कर लिया। उनके सम्यक्-संकल्प को जानकर राजा ने अपने असम्यक्-उपाय के लिए क्षमा-याचना की।

आसकरण जी (आचार्य)

आचार्य श्री जयमल्ल जी म. की परम्परा के एक प्रभावशाली और कवि हृदय आचार्य।

आपका जन्म राजस्थान प्रान्त के तिवरी ग्राम में सं. 1812 मार्ग शीर्ष कृष्णा द्वितीया के दिन हुआ। आपके पिता का नाम श्रीमान रूपचन्द जी और माता का नाम श्रीमती गीगादेवी था। वि.सं. 1830 में आपने आचार्य श्री जयमल्ल जी महाराज के श्रीचरणों में दीक्षा धारण की। सन् 1868 में आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। 1882 में आपका स्वर्गवास हुआ।

आपका जीवन असंख्य सद्गुण रूपी सुमनों का उपवन था। आपका कवित्व गुण सर्वाधिक ध्वनित हुआ जिसकी ध्वनि आज भी सहस्रों हृदयों में भक्ति की रस गंगा बनकर प्रवहमान है। आपने खण्ड काव्य और मुक्तक काव्य में पर्याप्त लेखन किया। भाषा की दृष्टि से आपकी रचनाएं राजस्थानी भाषा में हैं। माधुर्य और भक्ति रस आपकी कविताओं की आत्मा रही है।

ओशो

विगत शती के एक क्रांतदर्शी दार्शनिक।

ओशो का जन्म 11 दिसंबर 1931 को मध्यप्रदेश के कुचवाड़ा नामक ग्राम में एक जैन परिवार में हुआ। वे बाल्यकाल से ही प्रतिभासंपन्न और साहसी थे। प्रारंभिक शिक्षा गांव में पूर्ण करने के बाद उन्होंने उच्च शिक्षा के लिए जबलपुर महाविद्यालय में प्रवेश किया। 1957 में उन्होंने सागर विश्वविद्यालय से प्रथम श्रेणी में एम.ए. की परीक्षा उत्तीर्ण की।

शिक्षा पूर्ण कर ओशो जबलपुर विश्वविद्यालय में दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक के पद पर नियुक्त हुए। वहां उनका अध्यापन काल नौ वर्ष का रहा। उसके बाद उन्होंने प्राध्यापक पद से त्याग-पत्र दे दिया और भारतवर्ष के विभिन्न अंचलों में भ्रमण कर वे व्याख्यान देने लगे। पुरातन परम्पराओं के वे विरोधी रहे। उनकी तर्कणा शक्ति अद्भुत थी। भारतीय और पाश्चात्य दर्शनों का उनका अध्ययन भी विस्तृत था। उन्होंने महावीर, बुद्ध, कृष्ण, कबीर, गुरुनानक, मीरा, रैदास आदि महापुरुषों के वचनों के आधार पर सामयिक प्रवचन दिए। तर्क की कसौटी पर महापुरुषों के वचन को कसकर उन्हें सामयिक स्वरूप प्रदान किया। ओशो के जीवन-दर्शन का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक महापुरुष के प्रति उनके हृदय में अपार सम्मान था।

ओशो का जन्मना नाम रजनीश चंद्रमोहन था। एक समयावधि में वे 'भगवान रजनीश' भी कहलाए। जीवन के अंतिम वर्षों में उन्होंने अपने लिए 'ओशो' नाम को स्वीकार किया।

विश्व के अनेक देशों में ओशो ने भ्रमण किया। उनका प्रभा-क्षेत्र सुविशाल बनता रहा। पूर्व और पश्चिम के हजारों लोग उनके अनुयायी हैं। उनके प्रवचनों की सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं।

19 जनवरी 1990 में पूना में उनका स्वर्गवास हुआ।

तीर्थंकर महावीर के प्रति उनका अपार प्रेम भाव रहा। महावीर के वचनों पर उनकी कई प्रवचन-पुस्तकें हैं। उन्होंने घोषणा की थी—आणविक युग में यदि विश्व को महाविनाश से बचना है तो उसे महावीर की अहिंसा को चुनना होगा।

महावीर के प्रति उनका अपार सम्मान उनके जैन संस्कारों का प्रमाण है।

●●●

इंद्रजीत

लंकानरेश रावण का प्रबल पराक्रमी पुत्र। पौराणिक आख्यानों में उल्लेख है कि इंद्र को जीत लेने के कारण उसका उक्त नाम प्रचलित हुआ था। राम-रावण युद्ध में उसने अद्‌भुत पराक्रम दिखाया। जैन रामायण के अनुसार आखिर उसे राम का बन्दी बनना पड़ा। युद्धोपरान्त मुक्त होने पर उसे संसार से विरक्ति हो गई और प्रव्रजित होकर आत्मसाधना द्वारा उसने सद्‌गति का अधिकार पाया। (देखिए-जैन रामायण)

इंद्रदत्त अणगार

एक दीर्घ तपस्वी अणगार। वे निरन्तर मासखमण तप की आराधना करते थे। (देखिए-महाबल कुमार)

—विपाक सूत्र द्वि. श्रु. अ. 6

इंद्रदत्त उपाध्याय

उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित कपिल केवली के श्रावस्ती निवासी अध्यापक। वे विद्वान और लोकमान्य ब्राह्मण थे। (देखिए-कपिल केवली)

इंद्रदिन्न (आचार्य)

आर्य सुहस्ती की परम्परा में इंद्रदिन्न नामक आचार्य हुए। वी.नि. की चतुर्थ शताब्दी के उत्तरांश में उनकी उपस्थिति अनुमानित है। आर्य इंद्रदिन्न आचार्य सुस्थित के पांच शिष्यों में प्रथम थे।

—कल्पसूत्र स्थविरावली

इंद्रभूति गौतम (गणधर)

गोबर ग्रामवासी गौतम गोत्रीय ब्राह्मण वसुभूति एवं ब्राह्मणी पृथ्वी के पुत्र, चरम तीर्थंकर भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य, ग्यारह गणधरों में प्रथम गणधर तथा चौदह हजार मुनियों के नेता। आवश्यक चूर्णि के अनुसार गौतम उपनाम से ख्यात इंद्रभूति चारों वेदों के विद्वान तथा प्रकाण्ड पण्डित थे। उनके गुरुकुल में पांच सौ छात्र पढ़ते थे।

एक बार अपापा निवासी सोमिल ब्राह्मण ने एक महायज्ञ का आयोजन किया, जिसमें इंद्रभूति गौतम आदि भारत के समस्त ख्याति-प्राप्त ब्राह्मण विद्वानों को आमंत्रित किया गया। इंद्रभूति उस यज्ञ के सूत्र-धार थे। यज्ञ जारी था। संयोग से उसी समय भगवान महावीर केवलज्ञान प्राप्त कर अपापा के महासेन उद्यान में समवसृत हुए थे। असंख्य देव आकाश से महासेन उद्यान में उतरने लगे। इंद्रभूति को लगा कि देवगण उसके यज्ञ में भाग लेने के लिए आ रहे हैं। पर देव विमानों को महासेन उद्यान की ओर मुड़ते देखकर उनका अहं आहत हो उठा। उन्होंने पूरी स्थिति की जानकारी प्राप्त की। महावीर को शास्त्रार्थ में पराजित करने के लिए महासेन उद्यान में पहुंचे। द्वार से ही उन्होंने स्वर्ण सिंहासन पर विराजित महावीर को देखा। महावीर की महिमा देखकर उनका उत्साह क्षीण हो गया।

भगवान महावीर ने गौतम को उनके नाम से पुकारा। गौतम ने विचार किया कि मैं तो जग-विख्यात हूं। महावीर मेरा नाम जानते हैं, यह उनकी सर्वज्ञता का प्रमाण नहीं है। मेरे मन के गुह्य प्रश्न को ये अनावृत करें तो इनकी सर्वज्ञता स्वीकार की जा सकती है।

गौतम के मन के द्वन्द्व को अन्तर की आंख से देख रहे महावीर ने रहस्य को अनावृत करते हुए कहा—गौतम! तुम आत्मा के अस्तित्व में संदेहशील हो! परन्तु आत्मा का अस्तित्व है। वेदों में 'द' का मंत्र आता है जिसका अर्थ दमन, दान और दया किया गया है। यदि आत्मा न हो तो किसका दमन? किसको और क्यों दान? किस पर दया? इंद्रभूति को अन्तर की आंख मिल गई। वे पांच सौ शिष्यों के साथ महावीर के पास दीक्षित हो गए। महावीर से आयु में आठ वर्ष बड़े होते हुए भी वे परम विनीत थे। एक नन्हे बालक की तरह महावीर से प्रश्न करते रहते थे। वर्तमान में उपलब्ध भगवती सूत्र में ही गौतम द्वारा महावीर से पूछे गए छत्तीस हजार प्रश्नों का संकलन है।

गौतम का महावीर पर दृढ़ अनुराग था। परन्तु राग ही केवलज्ञान की बड़ी बाधा है। गौतम के बाद दीक्षित हुए अनेक मुनि केवली बन गए, पर वे केवली न बन सके। इस बात से वे प्रायः खिन्न हो जाते थे। महावीर ने अनेक बार गौतम को मोहजय का उपदेश दिया। पर गौतम का मोह महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् ही खण्डित हो पाया।

पावापुरी में विराजित भगवान महावीर ने अपने परिनिर्वाण के क्षण को सन्निकट देखकर गौतम को निकटस्थ ग्रामवासी देव शर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध देने भेजा। गौतम के चले जाने के पश्चात् महावीर निर्वाण को उपलब्ध हो गए। लौटते समय मध्यमार्ग में ही गौतम को यह समाचार ज्ञात हुआ। वे खेदखिन्न हो उठे। विलाप करने लगे। अन्ततः मन मुड़ा—कौन गुरु? कौन शिष्य? आत्मा ही गुरु है, आत्मा ही शिष्य है। क्षपकश्रेणी चढ़कर गौतम केवली बन गए। पचास वर्ष की अवस्था में दीक्षा लेने वाले गौतम अस्सी वर्ष की अवस्था में केवली बने और बानवे वर्ष की अवस्था में सिद्ध हुए। —तीर्थंकर चरित्र

इंद्रा (आर्या)

इंद्रा आर्या का सम्पूर्ण जीवन वृत्त इला आर्या के समान है। (देखिए-इला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., तृ.वर्ग, अध्ययन 4

इक्षुकार राजा

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार इक्षुकार नगर का राजा। 'कमलावती' उसकी रानी का नाम था। राजा के पुरोहित का नाम भृगु और पुरोहित की पत्नी का नाम यशा था। भृगु के दो पुत्र थे - यशोभद्र और देवभद्र। ये छहों प्राणी पूर्वजन्म में नलिनीगुल्म विमान में देवता थे। छहों का परस्पर प्रगाढ़ प्रेम था।

भृगु के पास पर्याप्त धन था। एक बार भृगुपुत्र मुनि दर्शन कर प्रबुद्ध हो गए। भृगु और यशा ने पुत्रों को घर से बांधे रखने का भरसक प्रयास किया पर उन्हें सफलता न मिली। आखिर पुत्रों के साथ ही वे भी दीक्षा लेने को तैयार हो गए।

प्राचीन परम्परा के अनुसार जिस धन का कोई स्वामी न हो, उसका स्वामी राजा होता था। भृगु के घर में पीछे कोई उसके धन का स्वामी न था। परिणामतः उसने अपना सारा धन गाड़ियों में रखकर राजकोष में भिजवा दिया। महल के गवाक्ष से रानी कमलावती ने धन से भरी गाड़ियां देखीं। उसने अपने पति इक्षुकार से उस धन के विषय में पूछा। इक्षुकार ने भृगु पुरोहित के सपरिवार दीक्षित होने की बात रानी को बता दी।

इससे कमलावती का मन बड़ा प्रभावित हुआ हो। वह विरक्त बन गई। उसने धन और जीवन की नश्वरता का दर्शन अपने पति को समझाया। इससे इक्षुकार भी विरक्त हो गया। इस प्रकार भृगु, यशा, यशोभद्र, देवभद्र, कमलावती और इक्षुकार, छह व्यक्तियों ने दीक्षित होकर आत्मकल्याण किया।

इकाई राठौर

इकाई राठौर अथवा एकादि राष्ट्रकूट प्राचीनकालीन विजयवर्धमान नामक ग्राम का स्वामी था। अन्य पांच सौ ग्रामों पर भी उसका शासन चलता था। शासन और शक्ति के मद में चूर बनकर वह महान अधर्मी बन गया। अतीव दुःसह कर्मों का संचय करके वह प्रथम नरक में गया। वहां से निकलकर मृगा ग्राम के राजा के पुत्र रूप में जन्मा। मनुष्य भव पाकर भी वह मांस पिण्ड के तुल्य था। वहां से आयुष्य पूर्ण कर नरक और निम्न जातियों में असंख्य बार जन्म-मरण कर वह कभी धर्म के निकट आएगा और क्रम से महाविदेह क्षेत्र से सिद्ध होगा। (देखिये-मृगालोढ़ा)

—विपाक सूत्र प्र.श्रु. अ. 9

इला (आर्या)

भगवान पार्श्वनाथ के युग में वाराणसी नामक नगरी में इला नाम का एक धनी सार्थवाह रहता था। उसकी पत्नी का नाम इलाश्री और पुत्री का नाम इला था। एक बाद भगवान पार्श्वनाथ वाराणसी नगरी के काममहावन नामक चैत्य में पधारे। प्रभु के धर्मोपदेश से कुमारी इला संसार से विरक्त हो गई और उसने प्रभु के श्रमणीसंघ में प्रव्रज्या धारण कर ली। उसने श्रमणी प्रमुखा आर्या पुष्पचूला से सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों तक का अध्ययन किया तथा तप संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगी।

कालांतर में इला आर्या शरीर बकुशा बन गई। संयम में उसकी रुचि कम हो गई। फलतः उसे संघ से अलग होना पड़ा। अनालोचना की अवस्था में काल कर वह भवनपति देवों के इंद्र धरणेन्द्र की पट्टमहिषी के रूप में जन्मी। वहां उसका आयुष्य अर्द्ध-पल्योपम से कुछ अधिक है। देव गति से च्यव कर इला महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर विशुद्ध चारित्राराधना द्वारा मोक्ष प्राप्त करेगी। इला आर्या का समग्र जीवन वृत्त काली आर्या के समान ही आगम में वर्णित हुआ है। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., तृ.वर्ग, अध्ययन 1

इलायची कुमार

इलावर्धन नगर के धनकुबेर श्रेष्ठी धनदत्त का इकलौता सुकुमार पुत्र। श्रेष्ठी ने अपनी कुलदेवी इलादेवी की आराधना पर इस पुत्र को पाया था। फलतः पुत्र को इलाकुमार —इलायची कुमार नाम दिया गया। इलायचीकुमार माता-पिता का आज्ञाकारी, विनम्र और मृदु-हृदयी युवक था।

एक बार एक नटमण्डली इलावर्धन नगर में आई। इलायचीकुमार नाटक देखने गया। नाट्य कला प्रवीण नट-कन्या पर वह मोहित हो गया। उसने संकल्प कर लिया कि वह विवाह करेगा तो नटकन्या से करेगा अन्यथा अविवाहित ही रह जाएगा। घर पहुंचकर उसने माता-पिता को अपने निर्णय से अवगत करा दिया। पिता ने पुत्र को कुल की मान-मर्यादाएं समझाकर उसे अपना निर्णय बदलने के लिए कहा। पर इलायचीकुमार ने इसे अपनी विवशता मानते हुए पिता की बात अस्वीकार कर दी। आखिर पुत्र की प्रसन्नता के लिए धनदत्त सेठ नट के पास पहुंचा और उसकी पुत्री की याचना अपने पुत्र के लिए की। उसने उसकी पुत्री के वजन का स्वर्ण तौल कर नट को देने का प्रस्ताव किया। पर नट ने इसे अस्वीकार करते हुए तर्क दिया कि पिता की सम्पत्ति पर पलने वाले युवक को वह अपनी पुत्री नहीं देगा। उसकी पुत्री को पाने के लिए

उस युवक को नाट्यकला में प्रवीण बनना पड़ेगा और अपनी कला से इतना धन अर्जित करना होगा, जिससे वह हमारी पूरी जाति को भोज से सन्तुष्ट कर सके। उस पर ही वह मेरी पुत्री को पा सकता है।

निराश धनदत्त अपने घर लौट गया। उसने पुत्र को नट की असाध्य शर्त बता दी और कहा कि वह उस कन्या को विस्मृत कर दे। पर इलायचीकुमार उस कन्या को विस्मृत नहीं कर सका। नटों के जाने के बाद एक रात वह भी चुपके से अपने घर से निकलकर नटमण्डली में जा मिला। उसने नट को विश्वास दिला दिया कि वह उसकी शर्त पूरी करेगा। नटों के साथ रहकर इलायचीकुमार पूर्ण समर्पण से नाट्यकला सीखने लगा। कुछ ही समय में वह इस कला में प्रवीण बन गया। धीरे-धीरे उसकी ख्याति चतुर्दिक् फैल गई। राजा और बड़े श्रीमन्त भी उसे नाटक दिखाने के लिए आमंत्रित करने लगे।

एक बार एक राजा के आमंत्रण पर इलायचीकुमार नटमण्डली के साथ नाट्यकला प्रदर्शन के लिए पहुंचा। साथ ही नटकन्या भी थी। इलायचीकुमार को राजा से प्रभूत पुरस्कार प्राप्त होने की आशा थी। उसने बांस पर चढ़कर कला प्रदर्शन प्रारंभ किया। एक प्रहर तक कला दिखाकर उसने दर्शकों को मंत्र-मुग्ध बना दिया। पर राजा का ध्यान इलायचीकुमार की कला पर न होकर नट पुत्री के रूप पर मुग्ध बन गया था। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह नाट्यश्रम से इलायचीकुमार को इतना श्रांत बना देगा कि वह बांस से गिरकर मर जाए।

एक प्रहर तक कला दिखाने के पश्चात् इलायचीकुमार बांस से नीचे उतरा और उसने राजा की ओर पुरस्कार पाने के भाव से देखा। पर राजा कब पुरस्कार देने वाला था। राजा ने कहा—उसे अभी कला से आनन्द ही नहीं मिला है, अभी और खेल दिखाया जाए। इलायचीकुमार पुनः बांस पर चढ़ गया। कला दिखाने लगा। नटकन्या तालियां बजाकर उसका उत्साहवर्धन कर रही थी। पुनः एक प्रहर तक कला-प्रदर्शन के पश्चात् इलायचीकुमार बांस से नीचे उतरा। पर इस बार भी राजा का वही उत्तर था। उसने एक बार पुनः एक प्रहर तक बांस पर खेल दिखाए। पर इस बार भी राजा का उत्तर यथावत् था। इलायचीकुमार राजा की दुष्ट भावना समझ गया। उसे मालूम पड़ गया कि राजा उसे थकाकर मार देना चाहता है। वह निराश हो गया। परन्तु नटकन्या ने उसका उत्साहवर्धन किया और पुनः बांस पर चढ़ने को प्रेरित किया। तीन प्रहर के निरन्तर कठिन श्रम से इलायचीकुमार का अंग-प्रत्यंग पीड़ा उगल रहा था। पर नटकन्या की प्रेरणा ने उसे पुनः बांस पर चढ़ने को प्रेरित बना दिया। बांस पर चढ़े इलायचीकुमार की दृष्टि सामने एक गृह कक्ष पर पड़ी। उसने देखा, एक अप्रतिम सुन्दरी युवती एक युवा मुनि को भिक्षा बहरा रही है। रूप की देवी साक्षात् होने पर भी मुनि की दृष्टि जमीन पर है। एक बार भी मुनि ने युवती के मुख को नहीं निहारा है। इस दृश्य ने इलायचीकुमार के आत्मचिन्तन को झकझोर डाला। चिन्तन चला—कहां ये मुनि और कहां मैं? एक नटकन्या के रूप की आसक्ति ने आज राजा को मेरे प्राणों का प्यासा बना दिया है। धिक्कार है मुझे ! चिन्तन ऊर्ध्वमुखी होता गया और इलायचीकुमार को बांस पर चढ़े हुए ही केवलज्ञान हो गया। देवों ने दिव्य ध्वनि के साथ केवली इलायचीकुमार का अभिनन्दन किया।

इलायचीकुमार नीचे उतरे। नाट्यमंच ही धर्ममंच बन गया। केवली प्रभु ने वहीं से धर्मोपदेश की शत-शत धाराएं प्रवाहित कीं। राजा को अपनी दुष्टता पर इतना प्रकृष्ट पश्चात्ताप हुआ कि उसे भी केवलज्ञान हो गया। उधर नटकन्या का चिन्तन भी विशुद्धता की उच्चतम भावभूमि का स्पर्श कर रहा था, फलतः वह भी केवली बन गई। श्रेष्ठी पुत्र से नट, और नट से केवली बने इलायचीकुमार ने अनेक भव्यात्माओं के लिए कल्याण का द्वार उद्घाटित कर सिद्धत्व प्राप्त किया। —आख्यानक मणिकोश

ईश्वरप्रभ स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

पन्द्रहवें विहरमान तीर्थंकर। पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व महाविदेह क्षेत्र की वत्स विजय में स्थित सुसीमापुरी नगरी में प्रभु का जन्म हुआ। प्रभु के पिता का नाम महाराज राजसेन और माता का नाम महारानी यशोज्ज्वला था। चन्द्र चिह्न से संयुक्त प्रभु ने यौवन काल में चन्द्रावती नामक राजकन्या से पाणिग्रहण किया। पिता के राजपद त्याग के पश्चात् प्रभु ने राज्य संचालन का दायित्व वहन किया और तिरासी लाख पूर्व की अवस्था तक प्रभु राजा रहे। उसके बाद एक वर्ष तक मुक्त हस्त से दान देकर प्रभु दीक्षित हुए। केवलज्ञान प्राप्त कर प्रभु ने धर्मतीर्थ की स्थापना की और असंख्य भव्य प्राणियों के लिए कल्याण का परम-पथ प्रशस्त किया। चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य होने पर प्रभु निर्वाण को उपलब्ध होंगे।

ईश्वरी

ईश्वरी सोपारक नगर के श्रेष्ठी जिनदत्त श्रावक की पत्नी थी। उसके चार पुत्र थे—नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर।

उस समय देश में भीषण दुष्काल पड़ा था। अन्न के कण-कण के लिए लोग तरस रहे थे। श्रमण मुनिराज भी दूर-दूर नगरों में विचरण कर साधना में संलग्न थे। आर्य वज्रसेन मुनि से गुरु ने कहा था—जिस दिन तुम्हें भिक्षा में चारों प्रकार का उत्तम आहार उपलब्ध होगा, वह दुर्भिक्ष का अंतिम दिन होगा।

ईश्वरी श्राविका का परिवार भी दुर्भिक्ष का दुर्दैव झेल रहा था। घर में जो सामग्री शेष थी, उससे एक ही समय का भोजन तैयार हो सकता था। भविष्य की भूख की कल्पना से ईश्वरी के प्राण कांप गए। नर-कंकालों को वह देखकर कांप जाती थी। उसके पुत्रों और पति की भी वैसी ही दशा होगी, इस कल्पना ने उसे विचलित कर दिया। उसने एक भयावह निर्णय कर लिया। शेष सामग्री से उसने उत्तम भोजन तैयार किया। भोजन तैयार करने के पश्चात् जैसे ही वह उसमें विष का संचरण करने जा रही थी—वैसे ही आर्य वज्रसेन मुनि उसके घर पधारे। मुनि को अपने द्वार पर देखकर ईश्वरी का हृदय धड़क उठा। उसने रो कर अपनी योजना मुनि से कही, महाराज! मैं भोजन में विष मिलाकर लम्बे दुखमय जीवन से स्वयं को और अपने परिवार को मुक्ति देने जा रही हूं।

मुनि को उत्तम भोजन का योग देखकर गुरु का कथन स्मरण हो आया। उन्होंने कहा, बहन! दुष्काल का आज अंतिम दिन है। कल से सुभिक्ष का सुप्रभात उदय होगा। ईश्वरी ने भाव भरे हृदय से मुनि को आहार दान दिया।

दूसरे ही दिन अन्न से भरे पोत सोपारक नगर पहुंच गए और दुर्भिक्ष के दुर्दिन विदा हो गए।

इस घटना से ईश्वरी को आत्मबोध मिला। उसने संसार त्याग कर प्रव्रज्या धारण कर ली। जिनदत्त ने भी अपने चारों पुत्रों के साथ आर्य वज्रस्वामी के चरणों में दीक्षा धारण की। आर्य वज्र के उन चारों शिष्यों के नाम पर ही नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर गच्छों की उत्पत्ति हुई।

—उपाध्याय विनयविजय जी-कल्पसूत्र

उंबरदत्त

पाटलिखण्ड नामक नगर में सागरदत्त नाम का एक सार्थवाह रहता था। उसकी पत्नी का नाम गंगादत्ता था। गंगादत्ता ने कई संतानों को जन्म दिया, पर दुर्दैववश उसकी सभी सन्तानें मृत पैदा हुईं। आयु में वृद्धि के साथ ही साथ गंगादत्ता के हृदय में दीर्घायुषि सन्तान प्राप्ति की कामना भी वृद्धि पाती गई। नगर के बाह्य भाग में उम्बरदत्त नामक यक्ष का यक्षायतन था। नगरजनों में यक्ष की महती मान्यता थी। गंगादत्ता ने भी उम्बरदत्त यक्ष की आराधना कर दीर्घायुषि पुत्र की मनौती मांगी। भाग्यवश कालान्तर में उसे एक दीर्घायुषि पुत्र हुआ। माता-पिता ने पुत्र को उम्बरदत्त यक्ष की मनौती का परिणाम मानकर उसका नाम उम्बरदत्त रखा।

कालक्रम से उम्बरदत्त युवा हुआ। सागरदत्त का व्यापार दूर देशों में फैला हुआ था। व्यापार के लिए वह अक्सर समुद्री यात्राएं करता रहता था। एक बार उसने नागरिकों से भारी कर्ज उठाकर व्यापार को और अधिक फैलाने का संकल्प किया। विशाल जहाज में माल भरकर वह देशान्तर के लिए निकला। परन्तु दुर्दैववश समुद्र के मध्य में ही जहाज खण्डित हो गया। सागरदत्त जहाज सहित सागर में डूब गया।

सागरदत्त की मृत्यु और उसके जहाज के डूब जाने की सूचना पाटलिखण्ड पहुंची तो गंगादत्ता को भारी आघात लगा। हृदय गति रुक जाने से उसका भी निधन हो गया। लेनदार नागरिकों ने उम्बरदत्त को उसके घर से निकाल दिया और उसकी चल-अचल पैतृक सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया।

उम्बरदत्त लाड़-प्यार में पला था। उदरपोषण का कोई आधार या विधि न पाकर वह भीख मांगने लगा। कालान्तर में उसके शरीर में अनेकानेक व्याधियां उत्पन्न हो गईं। श्वास, काश, कोढ़ादि सोलह महारोगों से आक्रान्त उम्बरदत्त का जीवन नरकतुल्य बन गया। रुधिर और पीप का वह निरन्तर वमन करता था। उसके शरीर पर असंख्य फोड़े उभर आए, जिनसे निरन्तर मवाद बहता रहता। उस पर मक्खियां भिनभिनाती रहतीं। सभी लोग उससे घृणा करते। ऐसी दुखद और दारुण दशा में द्वार-द्वार पर भीख मांगते हुए वह समय बिताने लगा।

एक बार भगवान महावीर पाटलिखण्ड नगर के बाह्य भाग में स्थित वनखण्ड नामक उद्यान में पधारे। षष्ठ तप के पारणे के लिए गौतम स्वामी भिक्षार्थ नगर में गए। उन्होंने पूर्व दिशा द्वार से नगर में प्रवेश किया। जब भिक्षा प्राप्त कर गौतम स्वामी अपने स्थान पर लौट रहे थे तो उनकी दृष्टि उम्बरदत्त पर पड़ी। उसकी दयनीय दशा देख कर गौतम स्वामी का हृदय करुणा से भर गया। कर्मों की विचित्र लीला पर चिन्तन करते हुए वे भगवान के पास लौट आए। भगवान को भिक्षा दिखाकर और निरासक्त भाव से उसका उपभोग कर स्वाध्याय और ध्यान में संलग्न हो गए।

द्वितीय षष्ठ तप के पारणे के अवसर पर गौतम स्वामी ने नगर के दक्षिण-द्वार से प्रवेश किया। उस बार भी उन्होंने उक्त रोगाक्रान्त पुरुष को देखा। तृतीय और चतुर्थ पारणे के अवसर पर गौतम स्वामी ने क्रमशः पश्चिम और उत्तर दिशा-द्वार से नगर में प्रवेश किया। प्रत्येक बार संयोग से उन्होंने उस रुग्ण पुरुष

को देखा। उसके नारकीय जीवन को पुनः-पुनः देखने पर गौतम स्वामी के हृदय में उसके अतीत-अनागत के बारे में जानने की जिज्ञासा वर्धमान हो गई।

भगवान महावीर के चरणों में पहुंचकर और उन्हें वन्दन कर गौतम स्वामी ने उस रुग्ण पुरुष की संपूर्ण दशा भगवान को कही और पूछा, प्रभु ! उस रुग्ण पुरुष ने ऐसे कौन-से अशुभ कर्म किए जिनके फलस्वरूप वह ऐसे दारुण दुख भोग रहा है?

भगवान महावीर ने उम्बरदत्त की पूर्वभव, इहभव और आगामी भवों की पूरी कथा कही। भगवान ने फरमाया—गौतम ! विजयपुर नाम का एक नगर था। वहां पर कनकरथ नामक राजा राज्य करता था। उसी नगर में धन्वन्तरी नाम का एक वैद्य रहता था। उस वैद्य की नगर में बड़ी मान्यता थी। नगर नरेश भी उसका सम्मान करता था। धनवन्तरी के पास चिकित्सा के लिए सैकड़ों लोग प्रतिदिन आते। धनवन्तरी रोगियों को ऐसे उपचार बताता, जिनसे प्रचंड हिंसा होती। वह स्वयं भी मांसभोजी था और रोगियों को भी विभिन्न जलचरों, स्थलचरों और खेचरों के मांस खाने का निरन्तर उपदेश दिया करता था। इस अनार्य चिकित्सा पद्धति से धनवन्तरी वैद्य ने अतिशय दुःसह कर्मों का संचय किया। बत्तीस सौ वर्षों की आयु का उपभोग करके वह धनवन्तरी वैद्य कालमास में काल कर छठी नरक में गया।

बाईस सागरोपम तक नरक की भीषण यातनाएं झेलकर धनवन्तरी वैद्य का जीव पाटलिखंड में सागरदत्त की भार्या गंगादत्ता की कुक्षी से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ, जहां उसका नाम उम्बरदत्त रखा गया। यहां उसके माता-पिता का क्रमशः निधन हुआ और उसे घर से निकाल दिया गया।

यहां से यह उम्बरदत्त बहत्तर वर्ष की आयु में कालधर्म को प्राप्त होकर प्रथम नरक में जाएगा। वहां से पृथ्वीकाय आदि स्थावरों में असंख्यात बार जन्म-मरण करेगा और क्रमशः सातों ही नरकों में दारुण यातनाओं का अनुभव करेगा।

असंख्यात काल व्यतीत होने पर उम्बरदत्त का जीव हस्तिनापुर नगर में कुर्कुट योनि में उत्पन्न होगा। वहां गोष्ठिकों द्वारा मार दिए जाने पर उसी नगरी में एक श्रेष्ठिकुल में जन्म लेगा, जहां उसे श्रमण स्थविरों के सत्संग का पुण्ययोग प्राप्त होगा। वहां से उसकी विकास यात्रा का प्रारंभ होगा और क्रम से महाविदेह क्षेत्र में संयम की आराधना द्वारा वह मोक्ष में जाएगा।

भगवान महावीर के श्रीमुख से रोगाक्रान्त पुरुष की आद्योपान्त जीवन-यात्रा का वर्णन सुनकर गौतम स्वामी की जिज्ञासा को समाधान का शीतल जल प्राप्त हो गया। वे तप-संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

—विपाक सूत्र, प्र.श्रु., अ. 7

उग्रसेन

उग्रसेन मथुरा के एक धर्मात्मा राजा थे। पुण्य के उदय से उन्हें जहां अतिमुक्त कुमार जैसा पुण्यवान् और धर्मात्मा पुत्र प्राप्त हुआ, वहीं पाप के उदय से कंस जैसा दुराचारी और अत्याचारी पुत्र भी प्राप्त हुआ। कंस ने उनको पिंजरे में डाल दिया था।

उग्रसेन जी की पुत्री सत्यभामा का विवाह श्रीकृष्ण के साथ कंस की मृत्यु के पश्चात् हुआ था।

—जैन महाभारत

उज्जुमइ

आचार्य संभूतविजय के एक शिष्य।

—कल्पसूत्र स्थविरावली

(क) उज्झित कुमार

नन्दिपुर नरेश रत्नसार का पुत्र। उसका उक्त नाम इसलिए पड़ा क्योंकि उसके जन्म लेते ही उसकी जननी रंभा ने उसको उकुरड़ी पर फैंकवा दिया था। उसकी वैसा करने के पीछे कोई दुर्भावना नहीं थी, बल्कि एक मान्यता थी कि वैसा करने से उसका पुत्र दीर्घजीवी होगा। संयोग से उसकी मान्यता सुफला सिद्ध हुई और कुमार दीर्घजीवी हुआ। उससे पूर्व रंभा के कई पुत्र अल्पावस्था में ही चल बसे थे। उज्झितकुमार को माता-पिता, परिजनों और पुरजनों से इतना प्रेम और दुलार मिला कि वह अविनीत बन गया। वह बड़ा होता गया और उसका अहंकार भी बढ़ता गया। गुरुकुल में वह आचार्य को अपमानित करने से नहीं चूकता था। आचार्य ने उसे गुरुकुल से निकाल दिया। वस्तुस्थिति से परिचित होने पर महाराज रत्नसार ने पुत्र को समझाया। पर उज्झितकुमार ने पिता को भी अपमानित कर दिया। उसकी अहंवृत्ति को तोड़ने के लिए महाराज रत्नसार ने उसको देश-निकाला दे दिया। वन-प्रांतर में भटकते हुए उज्झितकुमार तापसों के एक आश्रम में पहुंचा। पर अपनी अविनीतता के कारण वहां भी उसे शरण नहीं मिली। वन-पथ पर एक सिंह ने उसका भक्षण कर लिया। मरकर वह गर्दभ बना। तिर्यंचायु पूर्ण कर नंदिपुर के पुरोहित का पुत्र बना और वेद-वेदांगों का पण्डित बन गया। पर उसकी अहंवृत्ति यथावत् थी। वहां से मरकर वह चाण्डाल-पुत्र बना। उस चाण्डाल-पुत्र पर पुरोहित और उसके परिजनों का विशेष अनुराग भाव था। पर उस अनुराग का कोई कारण पुरोहित जान नहीं पाता था। एक बार एक केवली मुनि नन्दीपुर पधारे। पुरोहित ने मुनि से चाण्डालपुत्र के प्रति उसके अनुराग का कारण पूछा। चाण्डालपुत्र भी मुनि-परिषद में उपस्थित था। मुनि ने चाण्डाल-पुत्र के पूर्वभव सुनाए। चाण्डाल-पुत्र अपने पूर्वभव सुनकर प्रतिबुद्ध हो गया। अहं त्याग कर उसने विनय वृत्ति धारण कर ली। आगे के भवों में वह मोक्ष प्राप्त करेगा। पुरोहित भी प्रतिबोध प्राप्त कर दीक्षित हो गया।

—उपदेश सप्ततिका

(ख) उज्झित कुमार

अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व वाणिज्य ग्राम नगर निवासी विजयमित्र सेठ और सुभद्रा का अंगजात, जिसे जन्मते ही माता ने उकुरुड़ी पर फिंकवा दिया था, पर मोहवश पुनः अपने पास मंगवा लिया। इसी कारण उसका नाम उज्झितकुमार पड़ा। वह बड़ा हुआ तो एक-एक कर सातों कुव्यसनों का शिकार बन गया। उसी नगर में रहने वाली कामध्वजा वेश्या, जो राजवेश्या थी और जिसे राज्य की ओर से प्रतिदिन एक हजार स्वर्णमुद्राएं मिलती थीं, के प्रति उज्झितकुमार विशेष रूप से आकर्षित था। वेश्या का भी उसके प्रति पूर्ण अनुराग भाव था।

किसी समय राजा की रानी गुप्त रोग की शिकार बन गई। राजा ने कामध्वजा को अपने अन्तःपुर में रख लिया। उज्झितकुमार के लिए यह बड़ा कष्टप्रद था। वह कामध्वजा को देखे बिना रह नहीं सकता था। एक दिन पहरेदारों की आंख बचाकर वह अन्तःपुर में कामध्वजा के पास पहुंच गया। उसी समय राजा वहां आ गया। उज्झितकुमार को नाक-कान काटकर शूली पर चढ़ाने का कठोर दण्ड राजा ने दिया।

वधिकों ने उज्झितकुमार के नाक-कान काटकर उसे नगर में भ्रमण कराया। वे उसके शरीर से मांस के टुकड़े काटकर पक्षियों को खिला रहे थे और ऊपर से बुरी तरह मार रहे थे। उधर से गौतम स्वामी भिक्षा लेकर गुजरे। युवक की यह दशा देखकर उनका मन खिन्नता से भर गया। उन्होंने भगवान के पास पहुंचकर पूरी स्थिति बताते हुए पूछा—भगवन्! किन दुःसह कर्मों के कारण उसे ऐसी यातनाएं झेलनी पड़ रही हैं?

भगवान ने उज्झितकुमार का पूर्वभव सुनाया जो इस प्रकार है—हस्तिनापुर नगर में सुनंद नामक राजा राज्य करता था, जिसकी एक विशाल गोशाला थी। वहीं भीम नाम का एक गुप्तचर रहता था। भीम की पत्नी का नाम उत्पला था। किसी समय वह गर्भवती हुई तो उसे गोमांस खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। पत्नी का दोहद जानकर भीम रात्रि में छिपकर राजा की गोशाला में पहुंचा, वहां एक गाय को मारकर उसका मांस लाकर अपनी पत्नी को दिया। उसे खाकर पत्नी ने दोहद पूर्ण किया। सवा नौ मास के पश्चात् उसने एक पुत्र को जन्म दिया। जन्म लेते ही उस बालक ने इतनी जोर से ध्वनि की कि गौ आदि पशु भयभीत होकर इधर-उधर दौड़ गए। इसी से उसका नाम गौत्रासक पड़ गया। बड़ा होकर वह महाक्रूरकर्मी बना। नगरजन उसके कर्मों से संत्रस्त हो गए। राजा ने उसे सुधारने की दृष्टि से उसके कन्धों पर दायित्व डालने का विचार किया और उसे अपना सेनापति नियुक्त कर दिया। वह शक्तिशाली तो था ही, अधिकार भी पा गया। इससे उसकी क्रूरता में और भी वृद्धि हो गई। रात्रि में वह गौशाला में पहुंच जाता और गांयों को मारकर खा जाता। इस प्रकार उसने दुस्सह कर्मों का बन्ध किया और मरकर दूसरे नरक में गया।

भगवान ने कहा—गौत्रासक का जीव ही इस भव में उज्झितकुमार बना है और उसने अपने क्रूर कर्मों और दुर्व्यसनों के कारण शूली का दण्ड पाया है। यहां से मरकर यह नरक में जाएगा। प्रलम्ब काल तक विभिन्न गतियों में भटकने के पश्चात् उसे सद्धर्म की प्राप्ति होगी और अन्त में वह मोक्ष भी प्राप्त करेगा।

विपाक सूत्र, प्र. श्रु., अध्ययन 2

उज्झिता

राजगृह नगर के समृद्ध सार्थवाह धन्ना की चार पुत्रवधुओं में से ज्येष्ठ, एक स्थूलबुद्धि महिला। (देखिए-धन्ना सार्थवाह)

उत्तम कुमार

वाराणसी नगरी के राजा महाराज मकरध्वज का पुत्र। एक साहसी, शूर और उच्च चारित्र सम्पन्न राजकुमार। योग्य वय में कुमार ने बहत्तर कलाओं में निपुणता प्राप्त की। शिक्षा पूर्ण कर कुमार चिन्तनशील बना—मुझे देशाटन करके अपने साहस और शौर्य की परीक्षा करनी चाहिए, पर क्या इसके लिए मुझे माता-पिता की आज्ञा प्राप्त हो पाएगी? निश्चित ही मेरे माता-पिता मुझे अपने से विलग नहीं होने देंगे। मेरे लिए यही उत्तम है कि बिना किसी को सूचित किए मैं देशाटन के लिए प्रस्थान करूं और अपने साहस, शौर्य और बुद्धि की परीक्षा करूं। ऐसा निश्चय कर उत्तमकुमार एक रात्रि में बिना किसी को सूचित किए अपने नगर से प्रस्थित हो गया। गांव-नगरों और विजन वनों में भ्रमण करते हुए कुमार मेदपाट—मेवाड़ देश की राजधानी चित्रकूट में पहुंचा। उद्यान में वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर विश्राम करने लगा। नगर-नरेश महीसेन अश्व परीक्षा के लिए कुछ अनुचरों और घोड़ों के साथ उद्यान की दिशा में आया। शेष सब अश्वों की परीक्षा कर ली गई पर उत्तम जाति के एक घोड़े की परीक्षा राजा और उसके अनुचर नहीं कर पाए। बड़ी ही विनम्रता दर्शाते हुए उत्तमकुमार राजा के निकट आया और उसने सहज रूप में ही उस अश्व की परीक्षा कर दी। राजा उत्तमकुमार की विनम्रता और कला से बहुत प्रभावित हुआ। उसका कुल-गोत्र राजा ने ज्ञात किया। राजा निःसंतान था। उसे उत्तमकुमार में अपने सुयोग्य उत्तराधिकारी के दर्शन प्राप्त हो गए। राजा ने उसे अपना पुत्र मान लिया और राजपद देना चाहा। पर उत्तमकुमार ने कहा, वह अभी देशाटन पर है। कालान्तर में वह उनके आदेश का पालन करेगा।

कुछ समय चित्रकूट में बिताकर उत्तमकुमार आगे बढ़ा। घूमते हुए वह गुजरात प्रान्त के भृगुकच्छ (भरूच) नगर में पहुंचा। वहां उसका परिचय कुबेरदत्त नामक एक समुद्री-व्यापारी से हुआ। दोनों के स्नेह-सम्बन्ध सुदृढ़ बने। एक बार जब कुबेरदत्त व्यापार के लिए विदेश जा रहा था तो उसने उत्तमकुमार से अपने साथ चलने का आग्रह किया। उत्तमकुमार ने समुद्री-यात्रा को अपने लिए सुप्रसंग माना और कुबेरदत्त का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। यात्रा प्रारम्भ हुई। मार्ग में मीठा पानी लेने के लिए जहाजों को शून्य द्वीप के तट पर रोका गया। यह द्वीप लंका देश का भूभाग था और उस समय लंका पर राक्षसराज भ्रमरकेतु का साम्राज्य था। अक्सर उधर से गुजरने वाले जहाजों पर भ्रमरकेतु आक्रमण करता था और व्यापारियों को मारकर उनका धन-माल लूट लेता था। कुबेरदत्त के जहाज पर भी भ्रमरकेतु ने आक्रमण किया। उत्तमकुमार ने राक्षसराज से युद्ध किया। उत्तमकुमार जब भ्रमरकेतु से युद्ध कर रहा था तो कुबेरदत्त अपने जहाजों को लेकर आगे बढ़ गया। भ्रमरकेतु उत्तमकुमार का सामना नहीं कर पाया और पीठ दिखाकर भाग गया।

उत्तमकुमार तट पर लौटा तो उसने जहाजों को नदारद पाया। कुबेरदत्त के इस विश्वासघाती और कृतघ्नतापूर्ण व्यवहार पर उसे बहुत कष्ट हुआ। वह द्वीप पर लौट आया और यत्र-तत्र निरुद्देश्य टहलने लगा। एक देवी ने उत्तमकुमार के चारित्र की परीक्षा ली। परीक्षा में उत्तमकुमार उत्तीर्ण हुआ और प्रसन्न होकर देवी ने बारह करोड़ मूल्य की रत्नराशि उसे भेंट की। इसी द्वीप पर घूमते हुए मदालसा नामक भ्रमरकेतु की पुत्री ने उत्तमकुमार से विवाह किया। मदालसा और उत्तमकुमार तट पर घूमने आए तो उन्होंने देखा, वहां पर कुबेरदत्त अपने जहाज के साथ उनकी प्रतीक्षा कर रहा है। उत्तमकुमार को देखते ही कुबेरदत्त ने अभिनय करते हुए कहा, मित्र! राक्षसराज से भयभीत बनकर मैं अपने जहाज को तट से दूर ले गया था। पर जब मुझे विश्वास हो गया कि आपके समक्ष राक्षस ठहर नहीं पाएगा तो आपको लेने के लिए समुद्र के मध्य से मैं वापिस आया हूं। मुझे क्षमा देकर अपने बड़प्पन का परिचय दीजिए और जहाज पर पधारिए जिससे हम आगे की यात्रा शुरू कर सकें। कुबेरदत्त के कपट नाटक को उसकी सरलता और सच्चाई मानकर उत्तमकुमार मदालसा और बारह करोड़ मूल्य के रत्नों के साथ जहाज पर सवार हो गया।

जहाज आगे बढ़ने लगे। कुबेरदत्त की दृष्टि मदालसा के रूप और बहुमूल्य हीरों पर अटक चुकी थी। उसने उत्तमकुमार को अपने पथ की बाधा माना और एक दिन सागर-दर्शन के बहाने उत्तमकुमार को जहाज के ऊपर ले जाकर समुद्र में धक्का दे दिया। तदनन्तर उसने मदालसा को लुभाने का प्रयास किया। पर मदालसा ने अपनी बुद्धिमत्ता से अपने शीलधर्म को अक्षुण्ण रखा। कुबेरदत्त का जहाज मोटपल्ली नगर के तट पर लगा। वहां का राजा नरवर्मा एक न्यायशील राजा था। अवसर साधकर मदालसा ने राजा के समक्ष कुबेरदत्त का वास्तविक चेहरा प्रकट किया तो राजा ने कुबेरदत्त को कारागृह में बन्द करवा दिया और उसका समस्त धन-माल राजकोष में भिजवा दिया।

कहावत है कि आयुष्य शेष हो तो स्वयं यमराज भी कुछ नहीं बिगाड़ सकता। उत्तमकुमार का आयुष्य शेष था। वह एक मत्स्य की पीठ पर गिरा। मत्स्य तट पर आया तो उत्तमकुमार को नए जीवन का सा अनुभव प्राप्त हुआ। घूमता-भटकता उत्तमकुमार मोटपल्ली नगर में पहुंचा। वहां की राजकुमारी तिलोत्तमा को एक जहरीले नाग ने डस लिया था और अनेक उपचारों के पश्चात् भी उसे स्वस्थ नहीं किया जा सका था। उत्तम कुमार सर्प के विष को दूर करने का मंत्र जानता था। उसने राजकुमारी को निर्विष कर दिया। इससे राजा इतना प्रसन्न हुआ कि उसने उत्तमकुमार के साथ अपनी पुत्री का पाणिग्रहण तो किया ही, साथ ही उसे अपना उत्तराधिकारी भी घोषित कर दिया। यहीं पर रहते हुए उत्तमकुमार को उसकी प्रथम पत्नी

मदालसा भी प्राप्त हुई। अनंगसेना और सहस्रकला नामक दो अन्य युवतियों से भी उत्तमकुमार का पाणिग्रहण हुआ। सुख के झूले में झूलता हुआ उत्तमकुमार न्याय और नीतिपूर्वक राज्य का संचालन करने लगा। कई वर्ष व्यतीत होने पर उसे लगा कि अब उसे अपने माता-पिता के पास लौटना चाहिए। सुयोग्य और विश्वस्त अधिकारियों को मोटपल्ली का राज्यभार सौंपकर अपनी चार पत्नियों के साथ उत्तमकुमार ने वाराणसी नगरी के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में चित्रकूट नरेश महीसेन ने उत्तमकुमार का स्वागत किया और अपना राज्य पूर्व वचनानुसार उसे अर्पित कर दिया। मार्ग में कई राजाओं से प्रेमपूर्वक तथा कइयों से बलपूर्वक निपटते और निकटता स्थापित करते हुए उत्तमकुमार अपने नगर में पहुंचा। माता-पिता वर्षों के पश्चात् पुत्र को देखकर दंग रह गए। उनके हर्ष का आर-पार न रहा।

आखिर महाराज मकरध्वज उत्तमकुमार को राजसिंहासन पर बैठाकर प्रव्रजित बन गए। उत्तमकुमार ने अनेक वर्षों तक चक्रवर्ती सम्राट् की तरह निर्भय, निर्द्वन्द्व और न्याय व नीतिपूर्वक राज्य किया। अंतिम अवस्था में अपने ज्येष्ठ पुत्र को अपना उत्तराधिकार प्रदान कर उत्तमकुमार ने दीक्षा धारण की और उत्कृष्ट तप की आराधना कर देवलोक में देव हुए। भविष्य में मनुष्य भव प्राप्त कर सिद्धि प्राप्त करेंगे।

—उत्तमकुमार चरित (शुभशील गणि)

उत्तमा (आर्या)

उत्तमा आर्या की कथा कमला आर्या की कथा के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 11

उत्तरा

विराटराज की पुत्री, जिसका पाणिग्रहण अर्जुन पुत्र अभिमन्यु के साथ हुआ था।

—जैन महाभारत

उत्पल

महावीरकालीन एक निमितज्ञ और ज्योतिषशास्त्र का वेत्ता। पहले वह प्रभु पार्श्व की परम्परा में दीक्षित हुआ था। बाद में वह संयमच्युत हो गया। भगवान महावीर ने शूलपाणि यक्ष के यक्षायतन में मुहूर्त्त भर की निद्रा में जो दस स्वप्न देखे थे, उनका अर्थ उत्पल ने ही गांववासियों को बताया था। —तीर्थंकर चरित्र

(क) उत्पला

सावत्थी निवासी श्रमणोपासक शंख की आज्ञाकारिणी, पतिव्रता और धर्मप्राण पत्नी। (देखिए-शंख)

—भगवती सूत्र

(ख) उत्पला

भीम नामक गुप्तचर की पत्नी। (देखिए-उज्झितकुमार)

(ग) उत्पला (आर्या)

आर्या उत्पला की सम्पूर्ण कथा-गाथा कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 3

उदकपेढ़ालपुत्र

प्रभु पार्श्व की परम्परा के एक जिज्ञासु मुनि। इंद्रभूति गौतम से उन्होंने संवाद किया और सत्य का बोध पाकर वे महावीर के पंच महाव्रत धर्म संघ में सम्मिलित हो गए।

उदयन

कौशाम्बी नरेश शतानीक और महासती मृगावती का पुत्र। शतानीक की मृत्यु के समय उदयन अल्पायुष्क था। यौवन में वह एक पराक्रमी राजा बना। वह संगीत का रसिक था। अपने समय का लब्धप्रतिष्ठित वीणावादक था। उज्जयिनीपति चण्डप्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता वीणावादन सीखने को उत्सुक थी। सभी की दृष्टि उदयन पर स्थिर हुई। पर चण्डप्रद्योत शंकित था कि वासवदत्ता और उदयन परस्पर आकर्षित न हो जाएं। अपने मन में उसने एक योजना बनाई। अपने कुशल सुभटों को उसने एक काष्ठनिर्मित हाथी में बैठाया और उसे जंगल में छोड़ दिया। यांत्रिक हाथी दौड़ने लगा। जंगल में उदयन ने हाथी को देखा। वह उसे वश में करने के लिए दौड़ा। पर हाथी में बैठे सुभटों द्वारा स्वयं पकड़ लिया गया। उदयन को चण्डप्रद्योत के समक्ष पेश किया गया। चण्डप्रद्योत ने सुविचारित योजनानुसार उदयन से कहा कि उसकी पुत्री वीणावादन सीखना चाहती है। पर वह एकाक्षी है। अतः संकुचाती है। वह पर्दे के पीछे रहकर विद्या सीखेगी। उधर अपनी पुत्री से राजा ने कह दिया कि वीणा सिखाने वाला तो मिल गया है पर वह कुष्ठरोगी है। अतः एक विशेष दूरी रखकर तुम वीणा वादन सीख सकती हो। संक्रामक रोग से तुम पीड़ित न हो जाओ इसलिए तुम दोनों के मध्य पर्दा डाला जाएगा।

चण्डप्रद्योत की योजनानुसार उदयन वासवदत्ता को वीणावादन सिखाने लगा। एक दिन वासवदत्ता का मन अध्ययन में नहीं लग रहा था। वह पुनः-पुनः गलती कर बैठती। उदयन ने क्रोधित स्वर में कहा—एकाक्षी! ठीक से बोल!

वासवदत्ता भी राजकुमारी थी। क्रोधित होकर बोली—कुष्ठी! ढंग से बोल। उदयन ने चकित होकर पूछा—कुष्ठी कौन? कन्या ने भी प्रतिप्रश्न किया—एकाक्षी कौन?

आखिर पर्दा उठा। उदयन और वासवदत्ता एक-दूसरे को देखकर चकित रह गए। दोनों के हृदयों में प्रेमांकुर फूट आए। चण्डप्रद्योत के सब यत्न निष्फल हो गए। उदयन वासवदत्ता को लेकर अपने नगर की ओर भाग चला। स्थिति से भिज्ञ बनकर चण्डप्रद्योत आपे में न रहा। परन्तु विज्ञ शुभचिन्तकों के परामर्श पर उसने उदयन और वासवदत्ता का विवाह कर दिया।

उदयन ने बहुत वर्षों तक शासन किया। साध्वी बनी अपनी माता मृगावती से उसने सपत्नी श्रावक धर्म अंगीकार किया। न्याय-नीतिपूर्वक राज्य करते हुए और व्रती जीवन जीते हुए सुगति का अधिकारी बना।

उदयप्रभ (आचार्य)

एक प्रभावशाली जैन आचार्य। गुजरात नरेश वीरधवल के दरबार में महामात्य पद पर आसीन वस्तुपाल और तेजपाल आचार्य उदयप्रभ के अग्रगण्य श्रावक थे।

आचार्य उदयप्रभ बाल्यकाल में ही दीक्षित हुए थे। नागेन्द्र गच्छ के विजयसेन उनके गुरु थे। अध्ययन में उदयप्रभ काफी गहरे उतरे। व्याख्यान कला में भी वे विशेष प्रवीण थे। साहित्य सृजन के क्षेत्र में भी उन्होंने पर्याप्त सुयश अर्जित किया। उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना की।

वी.नि. की सतरहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध आचार्य उदयप्रभ का समय माना जाता है।

आचार्य उदयप्रभ का शासनकाल गुजरात में जैन धर्म का उत्कर्ष काल माना जाता है। अमात्य बन्धुओं—वस्तुपाल और तेजपाल ने जैन धर्म के प्रचार और प्रसार में अपना पूरा योगदान अर्पित किया था।

उदायन राजर्षि

सिन्धु सौवीर देश की राजधानी वीतभय नगर के शासक। उनकी रानी का नाम प्रभावती था, जो महाराज चेटक की पुत्री थी एवं अनन्य श्रमणोपासिका थी। राजा स्वयं तापस धर्म का अनुयायी था। प्रभावती ने दीक्षा धारण की और शुद्ध संयम पालकर देवलोक में देवी बनी। देवलोक से आकर उसने अपने पति को प्रतिबोध दिया। उदायन श्रमणोपासक बन गए। किसी समय पौषध की आराधना करते हुए उदायन ने विचार किया—वे नगर और जनपद धन्य हैं, जहां भगवान महावीर विचरण करते हैं। भगवान यदि मेरे नगर में पधारें तो मैं भी मुनिदीक्षा धारण करके आत्म-कल्याण करूं!

भक्त की पुकार में बंधे भगवान महावीर वीतभयनगर पधारे। उदायन ने अपना राज्य 'राज्येश्वरी नरकेश्वरी' के चिन्तन से प्रभावित होकर अपने पुत्र अभीचिकुमार को न देकर भानजे केशी को दे दिया और स्वयं दीक्षित हो गए। राजर्षि उदायन उग्र तप करते हुए विचरने लगे। उग्र तप से उदायन बहुत कृश हो गए। एकदा विचरते हुए वीतभय पधारे। केशी के मंत्रियों ने उसके कान भर दिए कि उदायन अपना राज्य पुनः लेने आए हैं। केशी ने नगर में घोषणा करा दी कि कोई भी उदायन राजर्षि को ठहरने का स्थान न दे तथा भिक्षा भी न दे। राजाज्ञा-उल्लंघन करने वाले को कठोर दण्ड दिया जाएगा। फलतः अपने ही नगर में उदायन राजर्षि को भिक्षा और आवास नहीं मिला। आखिर एक कुम्भकार ने साहस कर मुनि को ठहरने का स्थान दे दिया। केशी ने पैंतरा बदलते हुए छल का आलंबन लिया। कृत्रिम विनय प्रदर्शित करते हुए उसने मुनि को भोजन में विष दे दिया। समभावी मुनि अपनी साधना में निश्चल रहे। एक क्षण के लिए भी उनके मन में केशी के लिए द्वेष अथवा क्रोध का भाव नहीं जगा। अन्तिम श्वास के साथ केवलज्ञान प्राप्त कर उदायन राजर्षि मोक्ष पधारे।

उदायी (राजा)

मगधाधिपति महाराज श्रेणिक का पौत्र और कोणिक का पुत्र। श्रेणिक की मृत्यु के पश्चात् जिस प्रकार कोणिक ने राजगृह को छोड़कर चम्पानगरी को अपनी राजधानी बनाया था, उसी प्रकार उदायी ने कोणिक की मृत्यु के पश्चात् पाटलिपुत्र नामक नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया।

वी.नि.सं. 18-19 में उदायी मगध के सिंहासन पर आसीन हुआ। अपने युग का वह एक महाप्रतापी नरेश था। उसने अपनी राज्य की सीमाओं का विस्तार भी किया था। उसके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह अपने पितामह और पिता की तरह दृढ़धर्मी श्रावक था। प्रत्येक पक्ष की अष्टमी और चतुर्दशी के दिन वह नियमित रूप से पौषध किया करता था।

कतिपय ग्रन्थों के अनुसार एक छद्म साधु वेशधारी राजपुत्र ने पौषधावस्था में महाराज उदायी की हत्या की थी। उदायी निःसंतान अवस्था में ही कालधर्म को प्राप्त हुआ। उसकी मृत्यु के पश्चात् मगध पर नंदों के शासन का प्रारंभ हुआ था। —आवश्यक चूर्णी आवश्यक वृत्ति/परिशिष्ट पर्व

उद्योतनसूरि (आचार्य)

एक जैन आचार्य जो बड़गच्छ अथवा बृहद्गच्छ के संस्थापक माने जाते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में विमल

सुयश के धनी आचार्य उद्योतनसूरि ने अपने जीवन में कई बार तीर्थयात्राएं कीं। आबू पर्वत की तलहटी में बसे तेली ग्राम में उन्होंने काफी समय रहकर ज्ञान-ध्यान की आराधना की।

एक बार उन्होंने वटवृक्ष के नीचे एक साथ आठ शिष्यों को दीक्षा प्रदान की। एक अन्य कथन के अनुसार वटवृक्ष के नीचे उन्होंने अपने आठ विद्वान शिष्यों को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया, जिससे वट-शाखाओं की भांति उनका शिष्य परिवार विशेष वृद्धि को प्राप्त हुआ। वट वृक्ष के नीचे दीक्षाओं अथवा आचार्य पद प्रदान की महनीय घटना के कारण उनका गच्छ बड़गच्छ अथवा बड़ा गच्छ के नाम से ख्यात हुआ। आचार्य उद्योतनसूरि का समय वी.नि. की 15वीं शती माना जाता है। —उत्तराध्ययन सूत्र वृत्ति

उन्मुख

वर्तमान अवसर्पिणी काल के नवम और अन्तिम नारद। ये अपरनाम 'कच्छुल' से भी पुकारे जाते हैं। एक बार इनके आगमन पर द्रौपदी ने इनका समुचित समादर नहीं किया तो ये नाराज हो गए और द्रौपदी को सबक सिखाने की ठान बैठे। फिर इन्होंने धातकीखण्ड के राजा पद्मनाभ के हृदय में द्रौपदी को पाने की इच्छा जगाई। पद्मनाभ ने जब द्रौपदी का हरण करवा लिया तो इन्हीं नारदजी ने श्रीकृष्ण को सूचना दी थी कि उन्होंने द्रौपदी जैसी नारी धातकीखण्ड की अमरकंका नगरी में देखी है। नारद सदैव भ्रमणशील और कलहप्रिय होते हैं। (देखिए-नारद)

उपनंदनभद्र

भगवान महावीर की पट्टपरम्परा के छठे पट्टधर आचार्य संभूतविजय के एक शिष्य।

उमास्वाति (आचार्य)

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में समान-रूप से मान्य एक उत्कृष्ट विद्वान जैन आचार्य। आचार्य उमास्वाति श्री तत्वार्थ सूत्र के रचयिता माने जाते हैं, जो सूत्र शैली में लिखा गया सर्वाधिक प्राचीन जैन ग्रन्थ है। तत्वार्थ सूत्र के दस अध्याय हैं और इसके सूत्रों की संख्या 357 है। यह जैन ज्ञान, विज्ञान, भूगोल-खगोल, कर्मसिद्धान्त, आत्मतत्व, पदार्थ विज्ञान आदि मुख्य विषयों का आधारभूत ग्रन्थ है। वर्तमान जैन धर्म की सभी परम्पराओं में यह ग्रन्थ विशेष रूप से समादृत है।

आचार्य उमास्वाति के बारे में कहा जाता है कि उन्होंने अपने जीवन काल में 500 ग्रन्थों की रचना की थी। आचार्य उमास्वाति के समय के बारे में विभिन्न विद्वानों में मतैक्य नहीं है। पर यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि वे वी. नि. की 5वीं से 8वीं शताब्दी के मध्य हुए हैं।

—जैन शिलालेख संग्रह, भाग-1 / तत्वार्थ भाष्य कारिका

उवयालि कुमार

वसुदेव और धारिणी के पुत्र। शेष परिचय जालिवत्। —अंतकृद्दशांग सूत्र

उषा

शुभनिवास नगर नरेश बाण की रूप-गुण निधान पुत्री, जिसका विवाह श्रीकृष्ण के पौत्र और प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध के साथ हुआ था। —जैन महाभारत

●●●

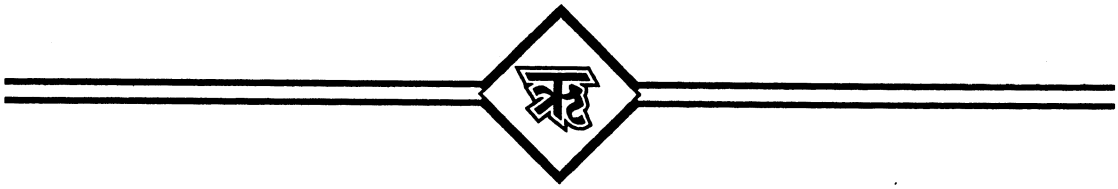

ऋतुपर्ण

अचलपुर नरेश। दमयन्ती का मौसा, जिसके यहां दमयन्ती कष्टकाल में स्वयं को दमयन्ती की दासी बताकर दासी रूप में रही थी। (देखिए-दमयन्ती)

(क) ऋषभदत्त

ब्राह्मणकुण्ड ग्राम का रहने वाला एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण। उसकी पत्नी का नाम देवानन्दा था, जिसके गर्भ में भगवान महावीर का जीव दसवें देवलोक से च्यव कर आया था, परन्तु "तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में ही जन्म लेते हैं" इस तथ्य से प्रेरित बनकर इंद्र के आदेश का पालन करते हुए हरिणगमैषी देव ने साहरण विधि से भगवान को क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में स्थापित कर दिया। भगवान जब ब्राह्मणकुण्ड ग्राम पधारे तो अपनी पत्नी देवानन्दा के साथ ऋषभदत्त ने दीक्षा धारण की और विशुद्ध संयम की परिपालना कर मोक्ष प्राप्त की। (देखिए-देवानन्दा)

—भगवती सूत्र 9/33

(ख) ऋषभदत्त

जंबूस्वामी के जनक। (देखिए-जंबूस्वामी)

(ग) ऋषभदत्त (गाथापति)

इक्षुसार नगर का एक समृद्ध और धर्मात्मा श्रेष्ठि। एक बार पुष्पदत्त नामक अणगार उसके घर भिक्षा के लिए पधारे। मुनि मासोपवासी थे। ऋषभदत्त ने उत्कृष्ट भावों से मुनिवर को दान दिया। परिणामतः उसने महान पुण्यों का अर्जन किया। वहां का आयुष्य पूर्ण कर ऋषभदत्त वीरपुर नरेश वीरकृष्णमित्र के रूप में जन्मा। वहां उसका नाम सुजात कुमार रखा गया। सुजात कुमार ने भगवान महावीर के श्रीचरणों में प्रव्रज्या अंगीकार की। वहां से वह देवलोक में गया। कुछ भवों के बाद महाविदेह क्षेत्र से मोक्ष में जाएगा। (देखिए-सुजात कुमार)

—विपाक सूत्र, द्वि.श्रु., अ. 3

ऋषभदेव (तीर्थंकर)

वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर। ऋग्वेदादि मूल वैदिक ग्रन्थों में भी ऋषभदेव का वर्णन उपलब्ध होता है। जैनागमों के अनुसार जब कालचक्र का तृतीय आरा समाप्त होने वाला था, तब नाभि नामक सातवें कुलकर की पत्नी मरुदेवी ने एक रात्रि के अन्तिम प्रहर में चौदह महास्वप्न देखे। वे चौदह महास्वप्न क्रमशः यों थे—1. गज, 2. वृषभ, 3. सिंह, 4. लक्ष्मी, 5. पुष्पमाला, 6. चन्द्र, 7. सूर्य, 8. ध्वजा, 9. कुम्भकलश, 10. पद्मसरोवर, 11. क्षीर समुद्र, 12. देव विमान, 13. रत्नराशि और 14. निर्धूम अग्नि।

प्रातःकाल मरुदेवी ने अपने पति नाभि को अपने स्वप्न बताए। पति ने बताया कि उसके स्वप्न अति श्रेष्ठ हैं और इस बात के संसूचक हैं कि वह एक महान पुत्र को जन्म देगी। नियत समय पर मरुदेवी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम ऋषभदेव रखा गया। उसने एक कन्या को भी जन्म दिया, जिसका नाम सुमंगला रखा गया।

यौगलिक परम्परा के अनुसार युवावस्था प्राप्त होने पर ऋषभदेव और सुमंगला पति-पत्नी बन गए। एक अन्य कन्या, जिसका नाम सुनन्दा था, का सहजात पुरुष अकाल मृत्यु को प्राप्त हो गया था। उसका लालन-पालन नाभिराय और मरुदेवी ने ही किया था। उसका लग्न भी ऋषभदेव के साथ सम्पन्न किया गया। कालक्रम से सुमंगला ने भरत प्रमुख निन्यानवे पुत्रों व ब्राह्मी नामक एक पुत्री को जन्म दिया। सुनन्दा ने बाहुबली नामक एक पुत्र व सुन्दरी नामक एक पुत्री को जन्म दिया।

यौगलिक युग के मनुष्यों की आवश्यकताएं अत्यन्त सीमित थीं। कल्पवृक्षों से उनकी समस्त आवश्यकताएं सहज ही पूर्ण हो जाती थीं। पर समय बदल रहा था। एकरस चली आ रही प्राकृतिक मर्यादाएं बदल रही थीं। चतुर्थ आरे के निकट आते-आते जनसंख्या में तीव्रता से वृद्धि होने लगी थी। कल्पवृक्षों की शक्ति क्षीण हो चली थी। ऐसे में यौगलिकों में असंतोष पनपने लगा। उस समय ऋषभदेव ने अपने जन्मजात ज्ञान के बल पर कर्मयुग का सूत्रपात किया। मनुष्य को कर्म करना सिखाया। असि, मसि और कृषि का आविष्कार किया।

उस समय कुलकर व्यवस्था प्रभावहीन हो रही थी। अतः देवों की प्रार्थना पर भगवान ऋषभदेव ने राजनीति की आधारशिला रखी। राजव्यवस्था के नियम बनाए। यौगलिकों और देवताओं की प्रार्थना पर ऋषभदेव ही प्रथम राजा बने। देवताओं ने अयोध्या नाम की नगरी बसाकर ऋषभदेव का राजतिलक किया।

भगवान ऋषभदेव ने अपनी पुत्री ब्राह्मी के हाथ से ब्राह्मी आदि अठारह लिपियों और सुन्दरी के हाथ से गणित विद्या का आविष्कार किया। इस प्रकार तिरासी लाख पूर्व तक गृहस्थ में रहते हुए ऋषभदेव ने जगत को समस्त भौतिक कर्मों में पारंगत बना दिया।

उस समय तक जनता धर्म शब्द तक से भी अपरिचित थी। भगवान ऋषभदेव ने समस्त जागतिक दायित्व पूर्ण करने के पश्चात् अध्यात्म में प्रवेश करने का संकल्प किया। उन्होंने अपने राज्य के सौ भाग कर अपने पुत्रों में समान विभाग बांट दिए। भरत को अयोध्या का तथा बाहुबली को बहली प्रदेश का राज्य मिला। शेष अठानवें पुत्रों को विभिन्न नगरों और देशों के राज्य मिले।

ऋषभदेव ने एक वर्ष तक वर्षीदान किया। तदुपरान्त वे चार हजार राजाओं के साथ दीक्षित हुए। वे कर्मयुग के प्रथम मुनि बने। उस समय की जनता मुनि के नियमोपनियमों से पूर्ण रूप से अपरिचित थी। मुनि भिक्षाजीवी होता है। पर लोग भिक्षाविधि के ज्ञान से सर्वथा शून्य थे। भगवान भिक्षा के लिए नगर में जाते तो लोग उन्हें ससम्मान हीरे-मोती, हाथी-घोड़े आदि भेंट करते। भगवान इन भेंटों को अस्वीकार कर देते। किसी को यह नहीं सूझता कि भगवान को हीरे-मोती नहीं, बल्कि भोजन चाहिए। भगवान आते और चले जाते। एक वर्ष तक भगवान निराहारी रहे।

भिक्षा प्राप्त न होने से कच्छ-महाकच्छ आदि अनेक मुनि भूख से व्याकुल हो गए। वे संयम से चलित होकर कन्दमूलादि से उदर-पोषण करने लगे। उन्हीं से जैनेतर परम्पराओं का प्रारंभ हुआ।

एक दिन भगवान ऋषभदेव भिक्षा के लिए नगर में भ्रमण कर रहे थे। भगवान का पौत्र श्रेयांस कुमार अपने महल के द्वार पर खड़ा था। उसने भगवान को देखा। निर्निमेष देखता रहा। आखिर उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। पूर्वजन्मों की स्मृति आते ही उसे भिक्षा विधि का ज्ञान मिल गया। अपने ज्ञान बल से उसने जान लिया कि भगवान एक वर्ष से निराहारी हैं। उसने भगवान से भिक्षा ग्रहण करने की प्रार्थना की। शुद्ध-प्रासुक इक्षुरस का दान भगवान को दिया। 'अहोदानं' की दिव्य ध्वनियों से नभमण्डल गूंज उठा। पंच द्रव्यों की वृष्टि हुई। दान धर्म का प्रचलन प्रारंभ हुआ। वह दिन वैशाख शुक्ल तृतीया का दिन था। आज भी उस दिन

को अक्षयतृतीया के रूप में मनाया जाता है। भगवान के वर्षीतप के उपलक्ष्य में आज भी जैन धर्म में वर्षीतप का बहुप्रचलन है।

एक हजार वर्ष तक साधना करने के पश्चात् भगवान को पुरिमताल नगर में केवलज्ञान प्राप्त हुआ। भगवान ने धर्मतीर्थ की संस्थापना की। उनके पुंडरीक आदि चौरासी गणधर थे। एक लाख पूर्व तक अरिहंत पद पर रहकर भगवान ऋषभदेव दस हजार मुनियों के साथ माघ वदी 13 को अष्टापद पर्वत पर सिद्ध हुए।

ऋषभानन स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

सप्तम विहरमान तीर्थंकर, जो वर्तमान में धातकी खण्ड के पूर्व महाविदेह क्षेत्र की वपु विजय में विचरणशील हैं। वपु विजय की सुसीमा नगरी में प्रभु का जन्म हुआ था। महाराज कीर्तिराय और उनकी पट्टमहिषी वीरसेना प्रभु के जनक और जननी हैं। यौवन वय में राजकुमारी जयादेवी के साथ प्रभु का पाणिग्रहण हुआ। तिरासी लाख पूर्व की अवस्था तक प्रभु ने शासन सूत्र संभाला। तदनन्तर वर्षीदान देकर प्रभु प्रव्रजित बने। केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थ की संस्थापना की और तीर्थंकर पद पाया। असंख्य भव्यजनों को आत्मकल्याण का अमृत-पान कराते हुए चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर प्रभु निर्वाण को उपलब्ध होंगे।

ऋषिदत्ता

राजर्षि हरिषेण की पुत्री। उसका जन्म जंगल में ही हुआ था। जन्म की घटना विचित्र है। एक राजकुमारी होते हुए भी उसे जंगल में जन्म इसलिए लेना पड़ा क्योंकि जब वह गर्भ में थी, तभी उसके पिता ताम्बावती नरेश महाराज हरिषेण और उनकी रानी प्रीतिमती ने तापस धर्म की प्रव्रज्या ले ली थी। फलतः जंगल में तापसी प्रव्रज्या का पालन करते हुए प्रीतिमती ने पुत्री को जन्म दिया, जिसका नाम ऋषिदत्ता रखा गया। पुत्री के जन्म के दसवें दिन ही प्रीतिमती का देहान्त हो गया। पुत्री का लालन-पालन राजर्षि हरिषेण ने किया।

ऋषिदत्ता जंगल में कंदमूल खाकर जवान हुई। एक बार रथमर्दनपुर नगर के महाराज हेमरथ का पुत्र कनकरथ उसी मार्ग से, जिस मार्ग के निकट राजर्षि हरिषेण की पर्णकुटी थी, अपनी चतुरंगिणी सेना के साथ काबेरी नगरी की राजकुमारी रुक्मिणी से विवाह करने के लिए जा रहा था। उधर से गुजरते हुए कनकरथ की दृष्टि ऋषिदत्ता पर पड़ी। वह उसके रूप पर मोहित हो गया। कनकरथ को देखते ही ऋषिदत्ता एक दिशा में चली गई। राजकुमार उसके पीछे-पीछे गया। राजर्षि हरिषेण से उसका परिचय हुआ। राजर्षि ने भी अपना परिचय दिया और ऋषिदत्ता के जन्म की घटना वर्णित की। राजकुमार कनकरथ ने राजर्षि से उनकी पुत्री की याचना अपने लिए की, जिसे राजर्षि ने सहर्ष स्वीकार कर लिया। फलतः जंगल में ही ऋषिदत्ता से विवाह रचाकर कनकरथ वापिस अपने नगर को लौट गया। ऋषिदत्ता के रूप और गुणों पर वह ऐसा मुग्ध हुआ कि उसे रुक्मिणी का विचार ही नहीं आया। अपने नगर में पहुंचकर वह आनन्दपूर्वक रहने लगा।

उधर काबेरी नरेश ने सुनिश्चित समय पर अपनी पुत्री के विवाह के समस्त प्रबन्ध किए थे। परन्तु यह जानकर कि राजकुमार कनकरथ मार्ग में ही किसी कुमारी से पाणिग्रहण कर वापिस लौट गया है, काबेरी राजपरिवार में शोक व्याप्त हो गया। रंग में भंग देखकर राजकुमारी रुक्मिणी मूर्च्छित हो गई। राजा ने पुत्री को संभाला और सान्त्वना दी कि उसका विवाह किसी अन्य राजकुमार से किया जाएगा। रुक्मिणी ने पितृ-प्रस्ताव को नकारते हुए कहा कि अगर वह विवाह करेगी तो कनकरथ से ही करेगी, अन्यथा आजीवन अविवाहित रहेगी।

आर्त्तध्यान में रत रुक्मिणी ने अपने दुर्भाग्य के लिए ऋषिदत्ता को दोषी माना। ऋषिदत्ता को मार्ग से हटाने के लिए वह उपाय सोचने लगी। परन्तु कोई भी सरल उपाय वह खोज न सकी। आखिर उसने सुलसा नामक योगिनी की सहायता ली। प्रचुर धन का प्रलोभन पाकर सुलसा योगिनी ने रुक्मिणी को विश्वस्त कर दिया कि शीघ्र ही वह ऋषिदत्ता को उसके मार्ग से हटा देगी। सुलसा योगिनी अपने विद्याबल से रथमर्दनपुर नगर में पहुंची। रात्रि में अपनी योगविद्या से उसने एक पुरुष का वध किया और उसके मांसपिण्ड ऋषिदत्ता की शैया पर डाल दिए। साथ ही रुधिर से ऋषिदत्ता का मुंह पोत दिया। परिणाम यह हुआ कि ऋषिदत्ता को नरभक्षिणी घोषित कर मृत्युदण्ड दे दिया गया। नगर से दूर आर्द्र लकड़ियों की चिता सजाकर ऋषिदत्ता को उस चिता में डालकर आग लगा दी गई।

राजर्षि हरिषेण देह त्याग कर देव हुए थे। पुत्री की यह दुर्दशा देखकर वे वहां आए और उसकी रक्षा की। पुत्री को रूपपरावर्तिनी विद्या देकर और अपने खोए हुए पद व गौरव की पुनर्प्राप्ति की युक्ति बताकर वे अपने स्थान पर लौट गए।

राजकुमार कनकरथ ऋषिदत्ता को भूल नहीं पाया। उसे विश्वास नहीं था कि ऋषिदत्ता नरभक्षिणी हो सकती है। वह अहर्निश उसी की स्मृति में खोया रहता। रुक्मिणी ने अपना पथ प्रशस्त पाकर अपने पिता से कहकर रथमर्दनपुर दूत भिजवाया। राजा हेमरथ ने दूत का स्वागत किया और शीघ्र ही अपने पुत्र के विवाह के लिए आने का वचन दे दिया। कनकरथ पुनर्विवाह के लिए तैयार नहीं था, पर पिता के वचन की रक्षा के लिए उसे काबेरी के लिए प्रस्थान करना पड़ा। उधर ऋषिदत्ता एक ऋषि युवक का वेश धरकर कनकरथ के मार्ग पर बैठ गई। दोनों में परस्पर घनिष्ठता निर्मित हुई। कनकरथ ने युवक ऋषि को अपने साथ रहने के लिए मना लिया। बारात काबेरी पहुंची और कनकरथ के साथ रुक्मिणी का विवाह सम्पन्न हो गया। पति-पत्नी की प्रथम भेंट में दोनों के मध्य परस्पर वार्तालाप हुआ। ऋषिदत्ता के प्रसंग पर भावुक बनकर रुक्मिणी ने स्पष्ट किया कि उसने ही अपने प्रियतम को पाने के लिए ऋषिदत्ता को मार्ग से हटाया है। इससे कनकरथ चौंक गया। वस्तुस्थिति जानने के लिए उसने कृत्रिम प्रेम दिखाते हुए रुक्मिणी से पूछा कि उसने ऋषिदत्ता को मार्ग से हटाने के लिए क्या किया। इस पर रुक्मिणी ने विश्लेषणपूर्वक पूरी बात बता दी।

कनकरथ का ऋषिदत्ता पर अनन्य अनुराग भाव था। रुक्मिणी के षड्यन्त्र के कारण उसे अपनी पत्नी को खोना पड़ा है, यह बात जानकर कनकरथ के क्रोध का पारावार न रहा। उसने तलवार खींच ली और कड़ककर बोला, दुष्टे! तू एक निरपराधिनी स्त्री की हत्यारी है! मैं तुझे जीवित नहीं छोड़ूंगा!

पास के कक्ष में विश्रामशील ऋषि युवक कनकरथ के वचन सुनकर सावधान हो गया। उसने तत्क्षण मध्यस्थता की और कनकरथ को शान्त किया, साथ ही उसे विश्वास दिलाया कि उसे उसकी पूर्व पत्नी ऋषिदत्ता भी प्राप्त हो जाएगी। पास के कक्ष में जाकर ऋषि युवक ने अपना वास्तविक रूप प्राप्त किया और पति के पास पहुंचकर उसके चरण स्पर्श किए। कनकरथ के हर्ष का पार न रहा। ऋषिदत्ता की प्रार्थना पर कनकरथ ने रुक्मिणी को क्षमा कर दिया। इस प्रकार ऋषिदत्ता ने अपकारी पर भी उपकार कर नारी की गौरव-गरिमा को बढ़ा दिया।

—इसिदत्ता चरियं

●●●

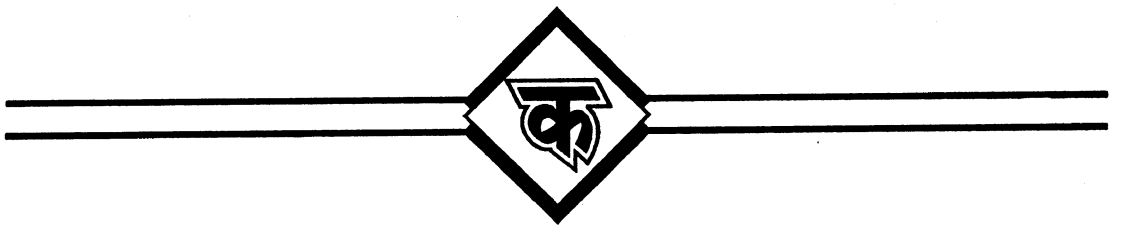

कंबल-संबल

नागकुमार जाति के ये दो देव पूर्वभव में दो बैल थे। मथुरा नगरी के श्रावक जिनदास के घर में रहने के कारण और उसके धर्म-कर्म का मौन आचरण करने के कारण ये दोनों बैल मरकर देव बने। जिनदास ने यह नियम लिया था कि वह व्यवसाय अथवा गृहकार्य के लिए पशु नहीं रखेगा। वह दूध-घृतादि एक ग्वाले से खरीदा करता था। ग्वाला सेठ को श्रेष्ठ और शुद्ध घी-दूध देता। इससे सेठ का अनुराग भाव ग्वाले पर बढ़ता गया। ग्वाले के घर किसी उत्सव के प्रसंग पर सेठ ने पर्याप्त धन-सामग्री देकर उसकी सहायता की। ग्वाले का मान गांव में काफी बढ़ गया। उसने इसके लिए सेठ जी को ही निमित्त माना। उसके यहां युवा और सुन्दर वृषभों की एक जोड़ी थी। वह वृषभों की उस जोड़ी को सेठ जी को भेंट देने के लिए आया। परन्तु सेठ जी ने उसे अस्वीकार कर दिया। इससे भी ग्वाला निराश नहीं हुआ और चुपके से सेठ के घर बैलों को बांधकर चला गया।

इससे सेठ धर्मसंकट में फंस गया। उसने विचार किया, यदि मैं बैलों को अपने घर से निकालता हूं तो कोई न कोई व्यक्ति उन्हें पकड़ लेगा और मनमाना काम लेगा। मेरे लिए यही युक्तियुक्त है कि इन बैलों को अपने पास रखूं और अपने नियम के अनुसार इनसे काम न लेकर भी इनका भरण-पोषण करूं। उक्त संकल्प के साथ सेठ ने बैलों को अपने पास रख लिया और उनके खान-पान की समुचित व्यवस्था कर दी। निरंतर संपर्क से सेठ का अनुराग बैलों पर बढ़ता गया। बैल भी सेठ से विशेष अनुराग रखने लगे। सेठ पर्व-तिथियों को उपवास करते तो उन दिनों में बैल भी निराहारी रहते। इससे सेठ के प्रेम में उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही।

किसी समय नगर में बैल-दौड़ का आयोजन हुआ। सेठ का एक मित्र था जो इस प्रतियोगिता में भाग लेने को उत्सुक था। परन्तु उसके बैल इस योग्य नहीं थे कि उन्हें प्रतियोगिता में उतारा जाए। वह सेठ के पास आया। सेठ घर पर नहीं थे। मित्र सेठ की अनुमति के बिना ही बैलों को ले गया। प्रतियोगिता में उसने उन बैलों को उतारा और विजयी हुआ। शाम को वह बैलों को सेठ के घर बांधकर चला गया। बैलों ने जीवन में प्रथम बार ऐसा कठोर श्रम किया था। यह एक ऐसा श्रम था जिसने बैलों के शरीर के संध तोड़ दिए थे। चाबुकों की मार से बैल अधमरे बन गए थे। सेठ घर लौटे तो बैलों की दशा पर बहुत दुखी हुए। मित्र के आचरण पर उन्हें बड़ा कष्ट हुआ। बैलों की दशा देखकर सेठ समझ गए कि उन्हें बचाया नहीं जा सकता। सेठ ने पूर्ण प्रेमभाव से बैलों को सहलाया और उन्हें नवकार मंत्र सुनाया। कुछ ही देर में बैलों की मृत्यु हो गई। मृत्यु को प्राप्त होकर दोनों बैल कंबल और संबल नामक नागकुमार जाति के देव बने। इन्हीं कंबल और संबल देवों ने एक बार भगवान महावीर पर आए उपसर्ग से उन की रक्षा की थी। घटना इस प्रकार है—

भगवान महावीर एक बार गंगा नदी को पार करने के लिए शुद्धदंत नामक नाविक की नौका पर आरूढ़ हुए। जैसे ही नौका चली, किनारे पर स्थित वृक्ष पर बैठा हुआ उल्लू बोलने लगा। नौका में खेमिल नामक शकुन शास्त्री भी था। उसने कहा, प्रतीत होता है कि हम पर मरणान्तिक उपसर्ग आने वाला है। आशा की

एक ही किरण है और वह है यह श्रमण। इस श्रमण के कारण ही हमारी रक्षा हो सकती है।

उधर जैसे ही नौका गंगा की मध्य धार में पहुंची वैसे ही एकाएक तूफान आ गया। यह तूफान प्रभु के पूर्वजन्म के वैरी सिंह के जीव ने उत्पन्न किया था, जो सुदंष्ट्र नाम का देव बना था। पीपल के पत्ते की भांति नौका कांपने लगी। यात्री चीखने-चिल्लाने लगे। पर भगवान महावीर भय से अतीत ध्यान में निमग्न थे। किसी भी क्षण नौका जल में विलीन हो जाने वाली थी। सहसा कंबल और संबल देवों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ। प्रभु के जीवन को संकट में देखकर दोनों देव तत्क्षण वहां पहुंचे। एक ने सुदंष्ट्र देव को मार भगाया तथा दूसरे ने नौका को उठाकर किनारे पर पहुंचा दिया। इस प्रकार भगवान महावीर की अदृष्ट कृपा से सभी यात्रियों के प्राणों की रक्षा हुई। सभी यात्री प्रभु को प्रणाम कर अपनी-अपनी दिशाओं में चले गए। प्रभु भी अपने गन्तव्य की ओर बढ़ गए।

कंस

मथुरा के राजा उग्रसेन और धारिणी का पुत्र। जब वह मातृगर्भ में आया तो धारिणी को पति के कलेजे का मांस खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। इसी से धारिणी को विश्वास हो गया कि उसके गर्भ में जो जीव आया है, वह उसके पति का शत्रु है। सो उसने पुत्र को जन्म देते ही उसे कांसी की पेटी में बन्द करके नदी में प्रवाहित कर दिया। शौरीपुर के सेठ सुभद्र ने उस पेटी को निकाला। बालक को देखकर वह अत्यन्त हर्षित हुआ। कांसी की पेटी में होने से उसका नाम कंस रख दिया।

बाल्यकाल से ही कंस बड़ा उद्दण्ड था। वह बच्चों को बिच्छुओं से डसवा देता, उन्हें पीड़ा से बिलबिलाता देख कर अति प्रसन्न होता। उसकी उच्छृंखलता से परेशान होकर सुभद्र सेठ ने उसे महाराज वसुदेव के पास नौकर रख दिया। महाराज वसुदेव ने कंस को शस्त्र कला में निष्णात बना दिया। किसी समय प्रतिवासुदेव जरासंध के आदेश पर वसुदेव सिंहरथ से युद्ध करने गए। कंस उनके साथ था। युद्ध में कंस का युद्ध कौशल सर चढ़कर बोला। उसने सिंहरथ को बन्दी बना लिया। कंस के शौर्य से प्रसन्न होकर जरासंध ने उससे अपनी पुत्री जीवयशा का विवाह कर दिया।

कंस को अपने जन्म का भेद ज्ञात हुआ तो वह क्रोध से भर गया। उसने जरासंध से मथुरा का राज्य कर मोचन में मांग लिया। उसने अपने पिता महाराज उग्रसेन को न केवल पदच्युत किया अपितु उन्हें पिंजरे में डालकर नगरद्वार पर भी लटका दिया।

कंस ने अपनी चचेरी बहन देवकी का विवाह वसुदेव से किया। उसी दौरान जीवयशा द्वारा देवर मुनि अतिमुक्तक से उपहास किया गया। मुनि ने कहा—जिसके विवाह में तुम इतनी उन्मत्त हो, उसकी सातवीं संतान तुम्हारे कुल का नाश करेगी। मुनि की भविष्यवाणी से परिचित हो कंस अति क्रूर बन गया। उसने छल से देवकी और वसुदेव को कारागृह में बन्द करवा दिया।

हरिणगमेषी देव देवकी और सुलसा के पुत्रों को बदलता रहा। मृत पुत्रों को प्रस्तर पर पटककर कंस प्रसन्न होता रहा। सातवीं संतान के रूप में देवकी ने कृष्ण को जन्म दिया। कृष्ण गोकुल में पले बढ़े। उनके पुण्य के कवच को कंस भेद नहीं पाया। उसने कृष्णवध के अनेक निष्फल प्रयत्न किए। आखिर मथुरा की राज्यसभा में ही कृष्ण ने कंस का वध किया। महाराज उग्रसेन और अपने माता-पिता को मुक्त कराया। उग्रसेन को पुनः मथुरा के सिंहासन पर आसीन किया गया।

अपने क्रूर कर्मों के कारण कंस मरकर नरक में गया।

कच्छ-महाकच्छ

भगवान ऋषभदेव के साथ दीक्षित होने वाले दो राजा। सुदीर्घ काल तक भोजन न मिल पाने के कारण ये संयम से चलित होकर कन्दमूलादि का आहार करने लगे। इस प्रकार जैनेतर संन्यासी परम्परा का प्रारंभ हुआ।

कटक

काशीदेश का राजा। (देखिए-ब्रह्मराजा)

कटकवती

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की एक रानी। (देखिए-ब्रह्मराजा)

कटपूतना

एक व्यंतरी जो शालिशीर्ष ग्राम के बाहर उद्यान में रहती थी। साधना काल के छठे वर्ष में जब भगवान महावीर उस उद्यान में ध्यानावस्थित थे तो उस व्यंतरी ने भगवान को अनेक लोमहर्षक उपसर्ग दिए थे।

कदम्ब नरेश

ईसा की दूसरी सदी में वनवास प्रदेश में कदम्ब राजवंश की स्थापना हुई। इस राजवंश का संस्थापक पुक्कण अपरनाम त्रिनेत्र माना जाता है। इस राजवंश में कई नरेश हुए। उनमें से अधिकतर नरेश जैन धर्म से विशेष रूप से प्रभावित थे। कुछ नरेशों ने प्रव्रज्या भी धारण की थी।

कदम्ब वंश के कुछ राजाओं के नाम इस प्रकार हैं—काकुत्स्थवर्मन कदम्ब, मृगेशवर्मन कदम्ब, हरिवर्मन कदम्ब, देववर्मन आदि। ये सभी नरेश जैन आचार्यों का विशेष मान करते थे। इन्होंने कई जिनालयों का निर्माण कराया और दान में भूमियां प्रदान कीं।

कनककेतु

सावत्थी नगरी का राजा और खंधक मुनि का जनक। (देखिए-खंधक मुनि)

कनकतिलका

तिलकानगरी नरेश महाराज विद्युत्गति की अर्द्धांगिनी। (देखिए-मरुभूति)

(क) कनकध्वज

पृथ्वीभूषण नगर का राजा। (देखिए-सुनन्दा)

(ख) कनकध्वज

कनकरथ का पुत्र। (देखिए-तेतलीपुत्र)

कनकप्रभा (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 16

कनकमंजरी

एक वृद्ध चित्रकार चित्रांगद की अत्यन्त बुद्धिमती और चित्रकारिता में निपुण कन्या, जिसकी बुद्धिमत्ता

और वाक्चातुर्य पर मुग्ध होकर क्षितिप्रतिष्ठितपुर के राजा जितशत्रु ने उससे विवाह किया था। यही कनकमंजरी भवान्तर में कनकमाला बनी और राजा जितशत्रु प्रत्येकबुद्ध नग्गति बने।

—उत्तराध्ययन टीका (भावविजयकृत)

कनकमाला

मेघकूट नगर के विद्याधर राजा मेघसंवर की अपुत्रवती पटरानी, जिसने रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न कुमार का पालन-पोषण किया था।

कनकरथ

एक राज्यलिप्सु राजा, जो अपने पुत्रों को इस विचार से मार देता था कि वे उसके राज्य पर उत्तराधिकार न जताने लगें। (देखिए-तेतलीपुत्र)

कनकसुन्दरी

चम्पानगरी के श्रमणोपासक श्रेष्ठी जिनदत्त की पुत्री, एक बुद्धिमती और धर्मसमर्पिता बाला। उसका विवाह अयोध्या नगरी के श्रेष्ठी धनदत्त के पुत्र मदनकुमार से सम्पन्न हुआ था। पर मदनकुमार विवाह से पूर्व ही वेश्यापुत्री गुलाब के प्रेमपाश में बंधा था। गुलाब की माता गणिका कामलता को जब यह ज्ञात हुआ कि उसकी पुत्री के प्रेमी मदनकुमार का विवाह चम्पानगरी की कनकसुन्दरी नामक अनिंद्य सुन्दरी बाला से सम्पन्न होने जा रहा है तो उसने मदनकुमार के कान भर दिए कि कनकसुन्दरी तो कानी है और उसके समकक्ष नहीं है। कानों के कच्चे मदनकुमार ने कनकसुन्दरी से विवाह तो कर लिया पर उससे बात करना तो दूर, उसका घूंघट तक उठाकर नहीं देखा कि वह एकाक्षी ही है। विवाह के पश्चात् भी गुलाब के प्रेम-पाश से वह मुक्त नहीं हुआ।

कनकसुन्दरी जिनोपासिका थी। उसने पतिविमुखता को अपने कर्मों का ही दोष माना। वह धर्मध्यान-पूर्वक जीवनयापन करने लगी। किसी समय कौमुदी महोत्सव हेतु जाते हुए नगरनरेश की दृष्टि कनकसुन्दरी के रूप पर पड़ी। उसने जाल फैलाकर कनकसुन्दरी को अपना बनाना चाहा। पर कनकसुन्दरी ने अपनी बुद्धिमत्ता से राजा को सुपथ पर ला दिया और राजा ने उसे बहन का मान देकर सम्मानित किया। आखिर कनकसुन्दरी ने मदनकुमार को भी सुपथगामी बना लिया। मदनकुमार ने जब अपनी पत्नी का घूंघट उठाया तो उसे सर्वांगपूर्ण सुन्दरी देखकर वह चकित रह गया। गणिका के कपटजाल को जानकर उसे उससे घृणा हो गई और अपनी पत्नी के साथ वह सानन्द जीवनयापन करने लगा। कनकसुन्दरी ने अपने पति को भी जिन धर्म का उपासक बना दिया। धर्म-ध्यानपूर्वक जीवन यापन करते हुए आयु के अंतिम पक्ष में कनकसुन्दरी और मदनकुमार ने दीक्षा धारण की और अंत में मोक्षपद प्राप्त किया।

कनका (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 15

कनिष्क (राजा)

मथुरा नगरी पर ई. की प्रथम सदी से लेकर तृतीय सदी तक कुषाण राजाओं का शासन रहा, जिनमें कनिष्क नामक राजा का विशेष प्रभाव रहा। वह सर्वधर्म समन्वय की नीति का संवाहक था। जैन धर्म की

ओर उसका पर्याप्त झुकाव था। उसके समय के मथुरा से प्राप्त शिलालेखों में से कई जैन शिलालेखों पर उसका नाम भी अंकित है। —मथुरा के शिलालेख

(क) कपिल (कपिला)

कपिल चम्पानरेश दधिवाहन का राजपुरोहित था और कपिला उसकी पत्नी थी। (देखिए-सुदर्शन सेठ)

(ख) कपिल (केवली)

उत्तराध्ययन सूत्र में इनका विस्तृत वर्णन है। इनका संक्षिप्त परिचय निम्न रूप में है—

कौशाम्बी के राजपुरोहित काश्यप ब्राह्मण कपिल के पिता थे। इनकी माता का नाम श्रीदेवी था। माता-पिता के लाड़-प्यार के कारण कपिल अपठित रह गए। दुर्दैववश काश्यप अकालकाल-कवलित बन गए। अपठित होने से कपिल अपने पिता का पद न पा सका। एक अन्य पण्डित को राजा ने राजपुरोहित बना दिया। परिणामतः कपिल और उसकी माता आर्थिक संकट से घिर गए।

किसी समय नए राजपुरोहित की सवारी निकल रही थी। पुरानी स्मृतियों में खोकर श्रीदेवी साश्रुनयना हो गई। कपिल के पूछने पर उसने बता दिया कि किसी समय तुम्हारे पिता की सवारी ऐसे ही निकलती थी। उनकी मृत्यु के पश्चात् इस पद पर तुम्हारा अधिकार होता। पर तुम तो अपठित हो। इसलिए राजा ने इस नए पण्डित को राजपुरोहित बना दिया है।

सुनकर कपिल में पढ़ने की उमंग जागी। उसने संकल्प किया कि वह पढ़कर अपने पिता का उत्तराधिकार प्राप्त करेगा। श्रीदेवी ने उसे अपने पति के मित्र श्रावस्ती निवासी उपाध्याय इन्द्रदत्त के पास अध्ययन के लिए भेज दिया। इन्द्रदत्त ने एक सेठ के यहां कपिल के भोजन और आवास की व्यवस्था करवा दी। कपिल का भोजन एक दासी बनाती थी। दासी युवा थी। कपिल भी युवा था। प्रतिदिन का पारस्परिक मिलन प्रेम में बदल गया। कपिल का मन अध्ययन से भटक गया। भेद खुला तो सेठ ने अपनी सेवाएं वापिस ले लीं। कपिल और दासी को उदर पोषण कठिन हो गया। दासी ने ही इसका समाधान निकाला। उसने कपिल को बताया कि यहां के महाराज प्रतिदिन प्रातः उनके पास सर्वप्रथम पहुंचने वाले ब्राह्मण को दो मासा सोना दान देते हैं। वे महाराज के पास जाएं और सोना प्राप्त करें।

कपिल सर्वप्रथम पहुंचने की उमंग में आधी रात को ही राजमहल के द्वार पर पहुंच गया। पहरेदारों ने उसे चोर समझकर पकड़ लिया और प्रातःकाल महाराज के समक्ष पेश किया। राजा के पूछने पर कपिल ने अपनी कहानी अथान्त कह दी। उसकी निश्छलता से राजा बहुत प्रभावित हुआ। उसने कहा, वह जो चाहे मांग ले, उसे मुंह मांगा वरदान मिलेगा। कपिल ने सोचने के लिए कुछ समय मांगा। वह महल के पीछे उद्यान में चला गया। उसने सोचा—चार मासा सोना मांग लूं? पर चार से क्या होगा? आठ मांग लूं? यूं सोलह, बत्तीस, चौंसठ से बढ़ते-बढ़ते वह पूरा राज्य मांगने को तैयार हो गया। पर उसी क्षण उसकी विचार-धारा बदल गई। विचार मुड़े। उसने स्वयं को धिक्कारा। भाव दशा निर्मल, सुनिर्मल और परम सुनिर्मल बन गई। कर्मकाराएं कट गईं। कपिल को केवलज्ञान हो गया। देव-दुंदुभियां बज उठीं। राजा, प्रजा और देव कपिल के चरणों में नत हो गए।

किसी समय कपिल केवली एक जंगल से गुजर रहे थे। वहां उन्हें बलभद्र प्रमुख पांच सौ तीस चोरों ने घेर लिया। कपिल ने ऐसा वैराग्योत्पादक गीत गाया जिससे वे पांच सौ तीस चोर प्रबुद्ध होकर मुनि बन गए। दीर्घ काल तक धर्मोपदेशों से भव्यों का उद्धार करते हुए कपिल सिद्ध हुए। —उत्तराध्ययन सूत्र

(ग) कपिल (ब्राह्मण)

एक श्रमणोपासक ब्राह्मण। उसका पुत्र कल्पक नन्द साम्राज्य के प्रथम नरेश नंद का मंत्री था। अनुमानतः कपिल सर्वज्ञ जंबूस्वामी के समय का श्रमणोपासक था। —परिशिष्ट पर्व, सर्ग-7

कमठ

भगवान पार्श्वकालीन एक तापस। पार्श्व चरित्र के अनुसार भगवान पार्श्व और कमठ के जीव का विगत कई जन्मों से परस्पर किसी न किसी रूप में सम्बन्ध रहा। अहंकार और द्वेष के वश होकर कमठ का जीव पार्श्व के जीव को विभिन्न प्रकार से प्रताड़नाएं देता रहा, पर पार्श्व का जीव समता और क्षमा भाव के द्वारा निरन्तर आत्मविकास करता रहा।

किसी अज्ञात पुण्य के फलस्वरूप मानव भव प्राप्त कर कमठ ने तापसवृत्ति अंगीकार की और वह अज्ञान तप करने लगा। पंचाग्नि तप से उसने लोक में पर्याप्त यश अर्जित कर लिया। पंचाग्नि में जल रहे एक बड़े लक्कड़ में रहे हुए सर्पयुगल का भेद खोलकर राजकुमार पार्श्व ने कमठ के अज्ञान तप से जनता को सावधान किया। तप से हो रही हिंसा को साक्षात् देखकर जनता ने कमठ को धिक्कारा। उसका यश अपयश में बदल गया।

निरंतर आर्त्त और रौद्रध्यान में रहकर अज्ञान तप करते हुए कमठ ने आयुष्य पूर्ण किया। अज्ञान तप के फलस्वरूप वह भवनवासी देवों में मेघमाली नामक देव बना। वहां भी उसके मन में प्रभु पार्श्व के प्रति रहा हुआ ईर्ष्याभाव कम नहीं हुआ। एक बार उसने घनघोर वर्षा कर प्रभु पार्श्व को जल में डुबोना चाहा। आखिर धरणेन्द्र पद्मावती की प्रभु-भक्ति के समक्ष कमठ भयभीत बन गया और प्रभु को उपसर्ग मुक्त कर तथा क्षमा मांग कर अपने स्थान पर चला गया। —तीर्थंकर चरित्र

कमल

श्रीपुर नगर के बारहव्रती श्रावक श्रीपति श्रेष्ठी का इकलौता पुत्र, एक उद्दण्ड, अविनीत और दुर्व्यसनी युवक। ऐसी कोई बुराई नहीं थी, जो उसके जीवन में नहीं थी। श्रीपति अग्रगण्य श्रावक थे। सभी संत उस पर कृपावर्षण करते थे। कितने ही संतों ने कमल को सन्मार्ग पर लाने का प्रयास किया, पर चीकने घड़े पर जैसे जलबिन्दु नहीं ठहरता, वैसे ही कमल पर किसी भी संत की शिक्षा का प्रभाव नहीं पड़ा।

एक बार एक आचार्य श्रीपुर नगर में पधारे। उन्होंने कमल से कहा, कोई एक नियम तुम धारण कर लो! उपहास की शैली में कमल ने कहा, 'तो मेरे पड़ौसी कुम्हार का मुंह देखे बिना भोजन नहीं करना' यह नियम करा दीजिए। ज्ञानी आचार्य ने कमल को नियम करा दिया और कहा, छोटे से छोटे नियम का भी श्रद्धा से पालन किया जाए तो उसका महान फल होता है। कमल कुम्हार का मुंह देखकर प्रतिदिन भोजन करता। एक दिन वह भोजन करने बैठा तो उसे नियम स्मरण आया। उस समय कुम्हार घर पर नहीं था। उसे ज्ञात हुआ कि वह तो जंगल में मिट्टी लेने गया है। कमल दौड़कर जंगल में पहुंचा। उधर मिट्टी खोदते हुए कुम्हार को पर्याप्त धन मिला था। दूर से ही कमल ने कुम्हार का मुंह देखा और 'देख लिया—देख लिया' कहकर घर की ओर भागा। कुम्हार चिन्तित हुआ कि कमल बात फैला देगा तो धन उसे राजकोष में देना पड़ेगा। वह दौड़ा-दौड़ा कमल के पास पहुंचा और बोला, हम आधा-आधा धन बांट लेंगे, किसी से मत कहना! कमल पूरी बात समझ गया। उसने कुम्हार से आधा धन प्राप्त कर लिया।

रात्रि में अपनी शैया पर लेटा हुआ कमल अचिन्त्य धन की प्राप्ति पर प्रसन्न हो रहा था। चिन्तन

प्रवाह चलते-चलते गृहीत-नियम पर आकर ठहर गया। उसे आचार्य श्री के शब्द स्मरण हो आए.....छोटे-से छोटे नियम का भी श्रद्धा से पालन किया जाए तो उसका भी महान फल होता है। कमल का चिन्तन ऊर्ध्वमुखी हो गया, यदि मैं आचार्य श्री द्वारा निर्दिष्ट नियमों का श्रद्धापूर्वक पालन करूं तो उनका कितना महान फल होगा, उसकी तो कल्पना ही संभव नहीं है। इसी चिन्तन में उसने रात्रि बिता दी। दूसरे दिन सुबह उसने पिता को प्रणाम किया और बोला, पिताजी ! मैं आचार्य श्री के दर्शन करना चाहता हूं। पुत्र के उक्त वचन सुनकर पिता को मानो स्वर्ग का साम्राज्य मिल गया हो! कमल पिता के साथ आचार्य श्री के पास पहुंचा। उसने आचार्य श्री से प्रार्थना की कि उसके लिए जो-जो उचित हैं, वे नियम उसे करा दें। आचार्य श्री ने कमल को सप्तकुव्यसनों का त्याग कराया और श्रावक के व्रत प्रदान किए। कमल का जीवन आमूलचूल बदल गया। दृढ़तापूर्वक श्रावकधर्म का पालन करते हुए वह सद्गति का अधिकारी बना।

—विनोद कथा संग्रह, पत्र 1 (राजशेखर सूरि रचित, 14वीं शती)

(क) कमलप्रभा

(देखिए-श्रीपाल)

(ख) कमलप्रभा (आर्या)

प्रभु पार्श्व के धर्मतीर्थ में हुई कमलप्रभा आर्या का समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 2

(क) कमलश्री

हस्तिनापुर नगर के नगरसेठ धनसार की पतिव्रता पत्नी। (देखिए-भविष्यदत्त)

(ख) कमलश्री

अवन्ती नगरी के धन सेठ की पत्नी। (देखिए-अतूंकारी भट्टा)

कमल सेठ

विजयपुर नगर का रहने वाला एक सत्यवादी और धर्मात्मा सेठ। कमलसेठ एक जैन श्रावक था। उसे प्राणों से अधिक प्रण प्रिय थे। उसका एक पुत्र था, जिसका नाम विमल था और वह स्वच्छन्दाचारी, असत्यभाषी तथा धूर्त था। पिता ने पुत्र को पुनः-पुनः समझाने और सत्पथ पर लाने का प्रयत्न किया, परन्तु विमल को अपने पिता के आदर्श स्वीकार नहीं थे। वह धन को ही सफलता की कुंजी और जीवन का श्रेयस् मानता था। धन के लिए वह दूसरों को ठगने के लिए सदैव तत्पर रहता था।

एक बार विमल व्यापार के लिए विदेश गया और धूर्तकला द्वारा पर्याप्त धन अर्जित करके लौटा। उसी नगर का एक अन्य सेठ सागरदत्त भी उसी दिन पर्याप्त धनार्जन के साथ विदेश से लौटा। विमल और सागर विदेश में भी कई स्थानों पर साथ-साथ रहे थे तथा विमल ने धूर्तकला द्वारा सागर को कई प्रसंगों पर ठगा था। विजयपुर पहुंचकर विमल ने सागर के साथ आग्रहपूर्वक कोई शर्त लगाई। विमल को विश्वास था कि वह शर्त जीतेगा और सागरदत्त का पूरा धन हड़प कर लेगा। पर वह शर्त हार गया और उसके पूरे धन पर सागरदत्त का अधिकार हो गया। यह शर्त कमल सेठ की मौजूदगी में ही तय हुई थी। कमल सेठ नगर के प्रामाणिक व्यक्ति थे। उनके कथन को राजा भी प्रामाणिक मानता था। विमल को विश्वास था कि उसका पिता उसी का पक्ष लेगा। इसी विश्वास के आधार पर विमल ने सागरदत्त के विरुद्ध राजा के समक्ष शिकायत

की कि उसने उसका समस्त धन हड़प लिया है। राजा ने सागरदत्त को राजसभा में बुलवाया। वादी और प्रतिवादी—विमल और सागरदत्त ने राजा के समक्ष अपने-अपने पक्ष रखे। परन्तु सत्य और असत्य का निर्णय नहीं हो पाया। तब वादी और प्रतिवादी की सहमति से कमल सेठ को न्याय करने का अधिकार दिया गया। इससे विमल प्रसन्न हुआ। उसे विश्वास था कि उसका पिता उसी के लाभ का फैसला सुनाएगा। पर सागरदत्त को यह विश्वास था कि कमल सेठ दूध का दूध और पानी का पानी करेगा।

कमल सेठ न्याय के सिंहासन पर बैठे। उन्होंने न्याय करते हुए कहा, विमल के आग्रह पर ही सागरदत्त ने शर्त स्वीकार की और वह शर्त जीत गया, इसलिए विमल के धन पर सागरदत्त का ही अधिकार है। कमल सेठ के इस न्याय पर सभा में उनकी प्रामाणिकता की जय-जयकार हुई। विमल का मन बैठ गया। राजा ने उसे दण्डित किया। कमल सेठ को राजा ने अपना न्यायाधिकारी नियुक्त किया।

जीवन के उत्तर पक्ष में कमल सेठ ने संयम ग्रहण किया और निरतिचार संयम की आराधना कर वे मोक्ष गए।

—जैन कथा रत्नकोष-भाग-2/ धर्मरत्न प्रकरण टीका

(क) कमला

श्रीबाल नामक नगर के राजा नरवाहन की रानी। (देखिए-ललितांग कुमार)

(ख) कमला

भृगुकच्छ नरेश महाराज मेघरथ की पुत्री और सोपारपुर नरेश रतिवल्लभ की अर्द्धांगिनी। एक परम पतिपरायणा, उदारहृदया और रूप-गुण सम्पन्न सन्नारी। किसी समय गिरिवर्धन नगर का राजा कीर्तिध्वज व्यापारियों के मुख से कमला के रूप की प्रशंसा सुनकर उसे प्राप्त करने के लिए अधीर बन गया। उसने अपने विद्याधर मित्र के सहयोग से कमला को पलंग सहित अपहरण करा अपने महल में मंगवा लिया। प्रभात खिलने पर कमला ने अपने को नए स्थान पर पाया। जब तक वह कुछ सोच पाती, कीर्तिध्वज वहां आया। उसने कमला को पूरी घटना बताई और अपना मन्तव्य स्पष्ट कर दिया कि वह उसे अपनी रानी बनाना चाहता है।

कमला ने कीर्तिध्वज को कठोर वचनों से प्रताड़ित किया और कहा कि वह उसके पति के कोप से बच नहीं पाएगा। पर उसके कठोर वचनों का कीर्तिध्वज पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उसने विभिन्न युक्तियों से कमला को अपने अनुकूल बनाना चाहा पर उसे सफलता नहीं मिली। आखिर उसे उसने जंजीरों में जकड़कर अन्धेरी कोठरी में डाल दिया। राजा को विश्वास था कि कुछ दिनों तक कष्ट भोगकर कमला उसे अपना लेगी।

उधर राजा रतिवल्लभ ने चतुर्दिक् अपनी रानी की खोज कराई, पर उसे सफलता नहीं मिली। कुछ समय पश्चात् एक अतीन्द्रिय ज्ञानी से रतिवल्लभ को ज्ञात हुआ कि उसकी पत्नी कीर्तिध्वज राजा की बन्दिनी बनी हुई है और अपने शील की रक्षा में तत्पर है। रतिवल्लभ ने विशाल सेना सजाकर गिरिवर्धन नगर के लिए कूच कर दिया।

उधर गिरिवर्धन नगर में भी एक मुनि आए। राजा मुनिवन्दन के लिए गया। मुनि को वन्दन कर राजा ने उनसे धर्मोपदेश देने की प्रार्थना की। मुनि अतिशय ज्ञानी थे। उन्होंने राजा से कहा, राजन्! एक सती को बन्दिनी बनाकर तुम धर्मोपदेश सुनना चाहते हो ? उस सती की हितशिक्षा ही तुम्हारे लिए सबसे बड़ा धर्मोपदेश है। शीघ्र ही उस सन्नारी को स्वतन्त्र कर दो अन्यथा सती के कोप से तुम्हारा बच पाना असंभव होगा!

मुनि के वचन सुनकर राजा की सद्बुद्धि जाग्रत हो गई। उसने महासती कमला को मुक्त कर दिया 7और उसके चरणों में गिर कर क्षमा मांगने लगा। उसने उसे भगिनी का पद दिया और आश्वासन दिया कि वह उसे शीघ्र ही उसके पति की शरण में पहुंचा देगा। उसने अपने वचन के अनुरूप पूर्ण बहुमानपूर्वक कमला को उसके पति के पास पहुंचा दिया और अपने अक्षम्य अपराध के लिए राजा रतिवल्लभ से क्षमा मांगी।

महासती कमला ने अंतिम अवस्था में प्रव्रज्या धारण कर सद्गति प्राप्त की। —शीलोपदेशमाला

(ग) कमला (आर्या)

पुरुषादानीय प्रभु पार्श्वनाथ के समय नागपुर नाम का एक नगर था। उस नगर में कमल नाम का एक धनी सार्थवाह रहता था। उसकी पत्नी का नाम कमलश्री था। उसकी एक पुत्री थी, जिसका नाम कमला था।

एक बार नागपुर नगर के बाह्य भाग में स्थित सहस्राम्रवन नामक उद्यान में प्रभु पार्श्वनाथ अपने शिष्य समुदाय के साथ पधारे। विशाल परिषद् प्रभु का उपदेश सुनने के लिए उद्यान में एकत्रित हुई। कुमारी कमला भी उस परिषद् में उपस्थित थी। प्रभु की आत्मकल्याणकारी देशना को सुनकर कमला को संसार से वैराग्य हो आया। माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर वह प्रभु के श्रमणी संघ में सम्मिलित हो गई। पुष्पचूला आर्या के सान्निध्य में उसने एकादश अंगों का अध्ययन किया और तप-संयम में रमण करती हुई विचरने लगी।

कालांतर में काली आर्या की तरह कमला आर्या भी शरीर-बकुशा बन गई और अंतिम समय में विराधक अवस्था में मृत्यु को प्राप्त कर वह वाणव्यंतर देवों के स्वामी पिशाचेन्द्र की अग्रमहिषी के रूप में जन्मी। उसने भी काली देवी के समान ही भगवान महावीर की धर्मसभा में नाट्यविधि का प्रदर्शन किया।

गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर में तीर्थंकर देव महावीर स्वामी ने कमला देवी का इत्तिवृत्त प्रकट किया और स्पष्ट किया कि वह देवलोक से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगी। वहां संयम की निरतिचार आराधना द्वारा मोक्ष प्राप्त करेगी। —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 1

कमलावती रानी

राजा इक्षुकार की रानी। (देखिए-इक्षुकार)

करकण्डु

ये प्रत्येकबुद्ध थे। प्रत्येकबुद्ध वह होता है, जो किसी घटना अथवा दृश्य को देखकर स्वयं प्रतिबुद्ध होकर संयम धारण करे। विचित्र घटनाक्रमों से गुजरकर करकण्डु एक पराक्रमी राजा बना। राजा बनने तक उसे अपने वास्तविक माता-पिता का ज्ञान नहीं था। चाण्डाल-गृह में पलने से वह स्वयं को चाण्डालपुत्र ही मानता था। वस्तुतः वह जन्म से ही राजकुमार था, पर अशुभ कर्मों के कारण उसका बाल्यकाल अत्यन्त कष्टप्रद स्थितियों में बीता। उसका सम्पूर्ण परिचय निम्नोक्त है—

अंगदेश की राजधानी चम्पानगरी में महाराज दधिवाहन राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम पद्मावती था, जो महाराज चेटक की पुत्री थी। पद्मावती गर्भवती हुई। गर्भ प्रभाव से उसे एक विचित्र दोहद उत्पन्न हुआ कि वह महाराज की वेशभूषा में हाथी पर बैठे और स्वयं महाराज उस पर छत्र तानें। इस प्रकार वह वन-विहार को जाए। संकोचवश इस दोहद को छिपा लेने से पद्मावती दुर्बल होने लगी। राजा ने जोर देकर पूछा तो संकुचाते हुए रानी ने अपने हृदय की बात कह दी। राजा ने मुस्कराते हुए इसे सहज ही पूर्ण करने

की पूरी तैयारी करा दी। रानी राजसी-पुरुषवेश में हाथी पर बैठी। राजा उसके सिर पर छत्र तानकर उसके पीछे बैठा। इस प्रकार राजा और रानी वनविहार को निकले। सहसा मौसम बदलने लगा। नभ मेघों से संकुल हो गया। वर्षा की फुहारें गिरने लगीं। ऐसे में हाथी मत्त हो गया। महावत को उसने नीचे फैंक दिया और राजा-रानी को अपनी पीठ पर लिए तीव्र वेग से गहन जंगलों में दौड़ गया। राजा और रानी का जीवन संकट से घिर चुका था। जिस मार्ग पर हाथी दौड़ा जा रहा था, उस मार्ग पर सामने एक झुकी हुई शाखाओं वाला वृक्ष था। राजा ने रानी को सचेत किया कि हाथी जब उस वृक्ष के नीचे से गुजरे तो उन्हें शाखाएं पकड़ प्राण रक्षा करनी चाहिए। जैसे ही हाथी उस वृक्ष के नीचे से गुजरा, राजा ने तो शाखा पकड़ ली लेकिन रानी वैसा न कर सकी। राजा ने रानी को पीठ पर लिए हाथी को दूर सघन जंगलों में विलीन होते देखा। निराश-हताश राजा अपने नगर को लौट गया।

उधर हाथी बहुत दूर निकल गया। एक जगह जलाशय देखकर हाथी पानी पीने के लिए रुक गया। रानी ने अवसर पाकर जलाशय में छलांग लगा दी और तैर कर दूसरे तट पर पहुंच गई। वह एक दिशा में चली तो उसे एक तापस मिला, जिसने उसे बताया कि यहां से कुछ ही दूरी पर दत्तपुर नगर है, वहां का राजा उसकी यथेच्छ सहायता कर सकता है। तापस ने कुछ दूर तक साथ जाकर पद्मावती को नगर का सीधा मार्ग बता दिया।

पद्मावती दत्तपुर पहुंची। नगर प्रवेश करते ही उसे कुछ श्रमणियां दिखाई दीं। वह उनके साथ उपाश्रय में चली गई। साध्वियों ने पद्मावती को उपदेश दिया। रानी का हृदय जीवन की नश्वरता अनुभव कर पहले ही विरक्त बन चुका था। सो वह साध्वी बन गई। संकोचवश रानी ने अपने गर्भवती होने की बात छिपा ली। लेकिन समय पर तो यह बात प्रकट होनी ही थी। उसने गुरुणी को पूरी बात कही। आखिर एक विश्वस्त श्रमणोपासिका के घर प्रसव-क्रिया सम्पन्न कराई गई। पद्मावती ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। उसे लेकर वह श्मशान भूमि में गई और वहां बालक को रख दिया। स्वयं झाड़ियों के पीछे छिपकर देखने लगी कि बालक को कौन उठाएगा। श्मशान रक्षक चाण्डाल उधर आ गया। नवजात शिशु को देखकर उसने उसे उठा लिया और अपने घर ले गया। पद्मावती सन्तुष्ट होकर उपाश्रय लौट आई और उसने कल्पित सूचना गुरुणी को दी कि मृत शिशु पैदा हुआ था, जिसे श्मशान में विसर्जित कर दिया गया है।

निःसंतान चाण्डाल संतान पाकर अतीव प्रसन्न था। उसने शिशु का नामक अववर्णिक रखा। पर वह शिशु अपने हाथ से अपने शरीर को खुजलाता रहता था, जिससे उसे करकण्डु कहा जाने लगा। छह वर्ष की अवस्था में ही करकण्डु श्मशान का कार्यभार संभालने लगा। एक दिन वह श्मशान के द्वार पर खड़ा था। उधर से दो मुनि गुजरे। गुरु ने श्मशान भूमि में उगे एक बांस को देखकर शिष्य से कहा—जब यह बांस चार अंगुल का होगा, इसे जो धारण करेगा, वह निश्चित ही राजा बनेगा। करकण्डु ने तो मुनि की यह बात सुनी ही, एक ब्राह्मणपुत्र ने भी इसे सुन लिया। बांस के उस पौधे पर अधिकार को लेकर दोनों में विवाद हो गया। आखिर यह विवाद पंचों तक पहुंच गया। पंचों ने बांस करकण्डु को देते हुए कहा कि जब वह राजा बन जाए, एक गांव उस ब्राह्मणपुत्र को दे दे। करकण्डु ने इसे पूरे मान से स्वीकार कर लिया।

पंचों का निर्णय ब्राह्मणों के गले न उतरा। उन्होंने इसे अपना अपमान समझा और करकण्डु को मारने का षड्यन्त्र रचने लगे। किसी तरह चाण्डाल इस बात को जान गया। वह रात्रि के अन्धेरे में नगर छोड़कर अपनी पत्नी और पुत्र के साथ दूर निकल गया। भटकते हुए यह परिवार कलिंग देश की राजधानी कंचनपुर में पहुंचा। कुछ ही दिन पूर्व कलिंग देश का राजा निःसंतान रहते हुए ही कालधर्म को प्राप्त हो गया था। नए

राजा के चुनाव के लिए बुद्धिमान मंत्रियों ने हस्तिनी, अश्व आदि पंच दिव्य सजाए और उनके पीछे-पीछे चलने लगे। करकण्डु के पास पहुंचकर हथिनी ने उसके गले में पंचवर्णी पुष्पों की माला डाल दी। घोड़े ने भी हिनहिना कर अपनी सहमति प्रकट की। इस प्रकार करकण्डु को कलिंग देश का राजा मान लिया गया। कुछ लोगों ने इस बात का विरोध किया कि एक चाण्डाल-पुत्र राजा कैसे हो सकता है। इस पर करकण्डु ने राजदण्ड को घुमाते हुए कहा कि यह राज्य उसने भिक्षा में नहीं पाया है, इसकी सुरक्षा वह अपने भुजदण्डों से करेगा। करकण्डु के इस पराक्रमी स्वरूप को देखकर विरोधियों के विरोध पस्त हो गए। करकण्डु एक प्रतापी राजा बना।

उधर उस ब्राह्मण को ज्ञात हो गया कि करकण्डु कलिंग का राजा बन गया है। वह उसके पास पहुंचा और वचनानुसार उससे उसी गांव की याचना की, जिसमें वह निवास करता था। करकण्डु ने 'तथाऽस्तु' शब्द के साथ उसकी याचना को मान प्रदान किया। परन्तु उसे ज्ञात हुआ कि वह गांव तो अंगदेश के राजा दधिवाहन के राज्य का अंग है। करकण्डु ने दधिवाहन के पास दूत भेजकर कहलवाया कि इस ब्राह्मण को इच्छित गांव दे दीजिए, बदले में कलिंग राज्य की उतनी ही अथवा दोगुनी भूमि ले लीजिए। दधिवाहन ने उपहास और उपेक्षा से करकण्डु का प्रस्ताव यह कहते हुए ठुकरा दिया कि अदला-बदली का कार्य बनियों का होता है, क्षत्रियों का नहीं। क्षत्रिय इच्छित वस्तु की याचना नहीं करते, वे तो अपने भुजबल से उसे छीन लिया करते हैं।

दधिवाहन की इस सीधी चेतावनी से करकण्डु का स्वाभिमान घायल हो गया। युद्ध की ठन गई। अंग और कलिंग की सेनाएं आमने-सामने आ गईं। उधर साध्वी पद्मावती को ज्ञात हुआ कि पिता और पुत्र रणभूमि में आमने-सामने आ डटे हैं। वह अपनी गुरुणी की आज्ञा लेकर रणभूमि में पहुंची और पिता-पुत्र के मध्य का रहस्य स्पष्ट कर दिया। पिता और पुत्र गले मिले। पूरी कथा जानकर और कर्मलीला की विचित्रता पर चिन्तन करते हुए दधिवाहन अपना राज्य भी करकण्डु को देकर दीक्षित हो गए। करकण्डु अंग और कलिंग के विशाल साम्राज्य का स्वामी बन गया।

करकण्डु की एक विशाल गौशाला थी। गायों के प्रति उसमें विशेष प्रेमभाव था। स्वयं भी वह गौशाला में निरीक्षण के लिए जाता रहता था। एक दिन उसने एक दुग्ध धवल नवजात बछड़े को देखा। उसे वह बहुत प्रिय लगा। उसने गौशाला निरीक्षक को आदेश दिया कि उक्त बछड़े का विशेष लालन-पालन हो। करकण्डु जब भी गौशाला जाता, उस बछड़े के साथ खेलता। बछड़ा भी उसे देखकर कुलांचे भरता। कुछ ही समय में वह बछड़ा युवा और बलिष्ठ बैल बन गया। वह साधिकार गौशाला में स्वच्छन्द विचरण करता था।

एक बार कई वर्षों तक करकण्डु गौशाला नहीं जा सका। जब गया तो उसने अपने प्रियपात्र बैल के बारे में पूछा। दूर कोने में एक हड्डियों के ढांचे मात्र बैल की ओर इंगित करके बताया गया कि वही है वह बैल। उस पर मक्खियां भिनभिना रही थीं और उसमें इतनी शक्ति शेष न थी कि वह मक्खियों को उड़ा सके। उसे देखकर करकण्डु को एक झटका-सा लगा। उसकी उस स्थिति के बारे में पूछने पर निरीक्षक ने बताया कि वृद्धावस्था के कारण उसकी वैसी स्थिति हुई है। यौवन में छिपे बुढ़ापे और बल में छिपे अबल को निहार कर करकण्डु चिन्तनशील हो गया कि इस जगत में सब कुछ परिवर्तनशील है, अस्थिर है। इससे पूर्व कि परिवर्तन का वह नियम मुझ पर घटित हो, मुझे परभव की तैयारी कर लेनी चाहिए।

करकण्डु ने राजपाट ठुकराकर मुनिव्रत धारण कर लिया। प्रत्येकबुद्ध बनकर वे पृथ्वी पर विचरण करने लगे। विशुद्ध संयम की आराधना की। तप से पूर्वबद्ध कर्मों को जीर्ण-शीर्ण कर केवलज्ञान पाया। इस प्रकार प्रत्येकबुद्ध करकण्डु ने सिद्धत्व प्राप्त किया। —उत्तराध्ययन, अध्ययन 18/आवश्यक निर्युक्ति 1311

करेणुदत्त

हस्तिनापुर का राजा। (देखिए-ब्रह्मराजा)

कर्ण

एक शूरवीर और दानवीर राजा। अंग देश का राजा बनने से पूर्व कर्ण का जीवन संघर्षों से भरा जीवन रहा। पाण्डु और कुन्ती के गन्धर्व विवाह के परिणामस्वरूप कर्ण का जन्म हुआ। लोकापवाद से बचने के लिए कुन्ती ने नवजात पुत्र को पेटिका में रखकर गंगा नदी में प्रवाहित कर दिया। विश्वकर्मा नामक सारथि ने उस पेटिका को निकाला। उसमें तेजस्वी नवजात शिशु को देखकर सारथि अत्यन्त प्रसन्न हुआ। वह निःसंतान था। उसने अपनी पत्नी राधा को वह नवजात शिशु लाकर दे दिया। शिशु के कानों में कुण्डलाकृति होने से उसे कर्ण नाम दिया गया।

योग्य वय में कर्ण ने आचार्य परशुराम के सान्निध्य में शिक्षा ग्रहण की। वह धनुर्विद्या में विशेष निपुण बना। बाद में दुर्योधन के साथ उसके मैत्री सम्बन्ध स्थापित हो गए। कौरव-पाण्डव कुमारों के कला प्रदर्शन समारोह में अपनी कला के प्रदर्शन के लिए कर्ण भी उपस्थित हुआ। प्रतियोगिता के लिए उसने अर्जुन को ललकारा। उस समय कुलगुरु कृपाचार्य ने यह कहकर कर्ण को हतोत्साहित करना चाहा कि यह राजाओं और राजकुमारों के लिए कला-प्रदर्शन मण्डप है। साधारण व्यक्ति के लिए यहां कला प्रदर्शन की अनुमति नहीं है। उस समय कर्ण को अर्जुन का प्रतिद्वन्द्वी मानकर दुर्योधन ने उसे अंग देश का राजा बना दिया और कहा, कर्ण अब राजा बन गया है, इसलिए उसे कला प्रदर्शन का अब पूरा अधिकार है।

इस घटना से कर्ण दुर्योधन का ऋणी बन गया और आजीवन उसका उपकार मानता रहा। मैत्री धर्म को निभाने के लिए कर्ण ने दुर्योधन को अन्याय पथ पर मानते हुए भी उसका साथ दिया। आखिर महाभारत के युद्ध में द्रोण के निधन के बाद कर्ण ने कौरव सेना का सेनापति पद प्राप्त किया और अपने युद्ध कौशल से सभी को चमत्कृत कर दिया। अन्ततः अर्जुन से युद्ध करते हुए कर्ण वीरगति को प्राप्त हुआ।

युद्धवीर के अतिरिक्त कर्ण दानवीर भी था। उसकी दानवीरता के कई चमत्कृत कर देने वाले प्रसंग जैन और जैनेतर साहित्य में प्राप्त होते हैं। कहते हैं कि एक बार अंग देश में अतिवृष्टि के कारण लोगों को शुष्क लकड़ी का प्राप्त होना दुर्लभ हो गया। शुष्क लकड़ी के अभाव में लोग भोजन कैसे पकाते? प्रजा कर्ण के पास पहुंची और अपनी समस्या उसके समक्ष रखी। कर्ण का अपना महल चन्दन की लकड़ियों से निर्मित था। प्रजा को शुष्क लकड़ी उपलब्ध कराने के लिए कर्ण ने अपना वह महल तुड़वा डाला और प्रजा को यथेच्छ शुष्क चन्दन की लकड़ी प्रदान की।

कर्ण कुन्ती के ज्येष्ठ पुत्र थे। महाभारत का युद्ध प्रारंभ होने के समय कुन्ती का हृदय इस बात को स्वीकार नहीं कर सका कि उस के अपने ही अंगजात एक-दूसरे के विरुद्ध लड़ें। कुन्ती कर्ण के शिविर में गई। उसने आद्योपान्त घटनाक्रम कह कर कर्ण को कण्ठ से लगा लिया। अपना परिचय पाकर कर्ण भी गद्‌गद बन गया। उसने कुन्ती से कहा, मां ! मेरे लिए आदेश करो कि मैं आपकी क्या सेवा करूं ! कुन्ती ने कहा, पुत्र ! मैं अपने पांचों पुत्रों के जीवन की भिक्षा मांगती हूँ। कर्ण ने 'न' कहना सीखा ही नहीं था। उसने कुन्ती को वचन दिया कि पांच पाण्डवों की माता तुम सदैव बनी रहोगी। यदि युद्ध में मैंने अर्जुन को धराशायी कर दिया तो मैं तुम्हारे पास चला आऊंगा और यदि अर्जुन ने मुझे मार गिराया तो वह तुम्हारे पास रहेगा ही। शेष चार सहोदरों पर मैं प्राणघातक वार नहीं करूंगा, यह मेरा वचन है।

'साकेत' नामक प्रबन्ध ग्रन्थ के अनुसार अर्जुन की कर्ण से रक्षा के लिए वृद्ध ब्राह्मण का रूप धर कर इन्द्र कर्ण के पास पहुंचा और दान में उसके कवच-कुण्डलों की याचना की। कहते हैं कि कर्ण की देह पर जन्म से ही कवच और कुण्डलों की आकृति थी और उसे वरदान प्राप्त था कि जब तक वे कवच-कुण्डल उसके शरीर पर अंकित हैं, तब तक वह अजेय रहेगा। परन्तु दानवीरों के लिए कुछ भी अदेय नहीं होता। वृद्ध ब्राह्मण की याचना पर कर्ण ने अपने शरीर से छील कर कवच-कुण्डल उसकी झोली में डाल दिए।

जैन-जैनेतर महाभारत तथा अन्य साहित्यिक ग्रन्थों में कर्ण का चरित्र चित्रण स्वर्णाक्षरों में अंकित हुआ है। कुछ साहित्यकारों और विद्वानों ने तो उसे कृष्ण और भीष्म की कोटि का उत्तम पुरुष माना है।

—जैन महाभारत

कर्मचन्द बच्छावत

वी.नि. की सोलहवीं सदी का एक शूरवीर, मेधावी, दूरदर्शी और परम जिनोपासक जैन श्रावक। वह बीकानेर का रहने वाला था। बीकानेर के संस्थापक राव बीका के समय से ही कर्मचन्द के पूर्वज दीवान पद पर रहते आए थे और बीकानेर राज्य के निर्माण और विकास में उनका बहुत बड़ा योगदान था। उसी परम्परा में बीकानेर का राव रायसिंह हुआ। कर्मचन्द बच्छावत उसी का दीवान था। कर्मचन्द ने जैन धर्म के उत्थान के कई कार्यक्रम किए। मुस्लिमों के कब्जे से उसने 1050 जैन प्रतिमाएं मुक्त कराई थीं। आचार्य जिनचन्द्र सूरि का उसने बीकानेर में भारी स्वागत कराया था। 1578 ई. में जब बीकानेर में दुष्काल पड़ा तो कर्मचन्द ने अकाल पीड़ितों के लिए अन्नशालाएं खोली थीं। इस प्रकार राजस्थान के इतिहास में जैन शिरोमणि कर्मचन्द बच्छावत का स्थान बहुत ऊंचा है।

राव रायसिंह उच्छृंखल, अदूरदर्शी और फिजूलखर्च करने वाला राजा था। उसके इन दुर्गुणों के कारण राज्य की स्थिति बिगड़ने लगी। कर्मचन्द बच्छावत ने इसके लिए राव रायसिंह को सावधान किया तो राव उसी का विरोधी हो गया। वह कर्मचन्द को सपरिवार नष्ट करने का षड्यन्त्र रचने लगा। दूरदर्शी कर्मचन्द ने सपरिवार बीकानेर का त्याग करके बादशाह अकबर की शरण ली। अकबर भी बच्छावत के सद्गुणों पर मुग्ध था। उसने बच्छावत का स्वागत किया और आश्रय दिया। बच्छावत सपरिवार बादशाह अकबर की शरण में रहा। परन्तु 1605 में अकबर की मृत्यु के पश्चात् कर्मचन्द भी दिवंगत हो गए। मृत्यु से पूर्व कर्मचन्द ने अपने परिवार को सावधान किया था कि कोई भी सदस्य बीकानेर न जाए।

उधर राव रायसिंह भी मृत्यु को प्राप्त हुआ। मृत्यु से पूर्व उसने भी अपने उत्तराधिकारियों को सावधान कर दिया कि जैसे भी हो उन्हें बच्छावत परिवार से प्रतिशोध अवश्य लेना है। रायसिंह का उत्तराधिकारी सूरसिंह कर्मचन्द बच्छावत के भोले-भाले पुत्रों भागचन्द्र और लक्ष्मीचन्द्र को अपने वाग्जाल में फंसाने में सफल हो गया और सन् 1613 में उन्हें सपरिवार बीकानेर ले गया। बच्छावत परिवार में 500 सदस्य थे। दुष्ट राव ने अवसर साधकर पूरे परिवार को मृत्यु के घाट उतार दिया। बच्छावत परिवार की एक महिला, जो अपने मायके में थी और सगर्भा थी, वही जीवित रह पाई। अद्यतन उसी से बच्छावत वंश चल रहा है।

—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं

कर्मरक्षित

वसंतपुर नगर के श्रेष्ठी जिनदास का पुत्र, जिसे बचपन से ही 'भवितव्यता' और 'होनहार' पर अटल विश्वास था। उसके इसी विश्वास ने उसे निर्भय और समस्त परिस्थितियों में प्रसन्नचित्त रहने वाला बना

दिया था। कर्मरक्षित जब कलाचार्य के पास विद्याध्ययन कर रहा था तो नगर-नरेश जितशत्रु की पुत्री राजकुमारी भाविनी भी उसकी सहपाठिका थी। एक बार कर्मरक्षित अपने सहपाठियों को कर्मसिद्धान्त की पुष्टि करने वाला एक श्लोक सुना रहा था। श्लोक का वाक्यांश "चलतीयं भाविनी कर्मरेखा" को सुनकर राजकुमारी भ्रमित बन गई। उसने इसे अपना अपमान माना और काष्ठपट्टिका कर्मरक्षित के सिर पर दे मारी। इसी से वह संतुष्ट नहीं हुई। उसने अपने पिता से हठ करके कर्मरक्षित को कठोर सजा भी दिलाई। राजा के सिपाहियों ने कर्मरक्षित की कोड़ों से पिटाई की और मृत मानकर उसे श्मशान में फैंक दिया।

कर्मरक्षित कर्मों से रक्षित था, अतः जीवित बच गया। निकट ग्राम के एक ब्राह्मण ने कर्मरक्षित को सेवा-शुश्रूषा और औषधोपचार से कुछ ही दिनों में स्वस्थ बना दिया। ब्राह्मण ज्योतिष शास्त्र का पारगामी पण्डित था। उसने कर्मरक्षित की हस्तरेखाओं का अध्ययन कर घोषणा की कि वह निकट भविष्य में राजा बनेगा। कर्मरक्षित स्वस्थ होने पर उपकारी ब्राह्मण की अनुमति लेकर यत्र-तत्र भ्रमण करता हुआ कंचनपुर नगर में पहुंचा। वहां एक शुष्क उद्यान में ठहरा। ब्राह्मण ने कर्मरक्षित को विदा देते हुए एक पोटली में कुछ लड्डू बांधकर पाथेय के रूप में दिए थे। कर्मरक्षित क्षुधा-शान्ति के लिए लड्डूओं का आहार करने बैठा तो उधर से एक मासोपवासी मुनि गुजरे। अत्युच्च भावों से भरे हृदय से कर्मरक्षित ने मुनि को आहार प्रदान कर महान शुभ कर्मों का अर्जन किया। रात्रि में कर्मरक्षित ने उसी उद्यान में विश्राम किया। उसके पुण्य प्रभाव से शुष्क उद्यान हरा-भरा हो गया। यह उद्यान नगर सेठ यशोधर का था। दूसरे दिन उद्यान के हरे-भरे हो जाने की सूचना पाकर यशोधर उद्यान में आया। वह कर्मरक्षित को अपने घर ले गया और अपनी रूप-गुण सम्पन्न पुत्री कनकमंजरी का विवाह कर्मरक्षित से कर दिया। कर्मरक्षित कुछ समय तक कंचनपुर में रहा। एक बार उसने एक कलाकार को श्वसुर प्रदत्त अढ़ाई लाख मूल्य के कड़े इनाम में दिए। इस पर श्वसुर ने खीझकर कटूक्ति की। कर्मरक्षित को श्वसुर की कटूक्ति चुभ गई और वह रात्रि में ही घर से प्रस्थित हो गया। वह जावा नगर में पहुंचा, जहां उसका पुण्य पूरे वेग से भास्वरमान हो उठा। निःसंतान जावापति के निधन पर पंच दिव्यों ने कर्मरक्षित को जावानरेश के रूप में चुना। जावा की राजपुत्री गुणसुन्दरी का पाणिग्रहण भी कर्मरक्षित के साथ सम्पन्न हुआ। जावापति कर्मरक्षित ने अपनी प्रथम पत्नी को भी जावा बुला लिया। कर्मरक्षित के कुशल शासन से जावा में रामराज्य स्थापित हो गया।

कर्म रेखाएं अटल होती हैं और भवितव्यता होकर ही रहती है। वसंतपुर नरेश ने अपनी पुत्री भाविनी के विवाह के लिए अनेक देशों के राजाओं के चित्र मंगवाए। भवितव्यतावश जावापति कर्मरक्षित ही उन्हें सर्वोत्तम वर जंचा और अपनी पुत्री का विवाह उससे कर दिया। कर्मरक्षित के अतिरिक्त भवितव्यता की इस पदचाप को कोई नहीं पहचान पाया। आखिर एक दिन एक छोटे से घटनाक्रम के संदर्भ में भेद स्पष्ट हुआ। भाविनी पश्चात्ताप के अतल में डूब गई। पश्चात्ताप से उसके पूर्वकृत कर्म हल्के हो गए।

कर्मरक्षित ने अपने माता-पिता और उपकारी ब्राह्मण को अपने पास बुलाकर उनकी सेवा से अपने जीवन को धन्य किया। सुदीर्घ काल तक सुशासन कर जीवन के उत्तरार्ध भाग में उसने प्रव्रज्या धारण की और उत्तम गति प्राप्त की।

—उपदेश प्रासाद, भाग 4

कलाद

एक स्वर्णकार। पोटिल्ला का पिता और तेतलीपुत्र का श्वसुर। (देखिए-तेतलीपुत्र)

(क) कलावती

भोगपुर नगर के राजा शत्रुंजय की पुत्री, एक रूप-गुण सम्पन्न कन्या। (देखिये-पुरन्दर)

(ख) कलावती

देवशाल नगर के महाराज विजयसेन और महारानी श्रीमती की पुत्री तथा शंखपुर के राजा शंख की रानी। कलावती अद्भुत लावण्य की स्वामिनी थी। महाराज शंख का उस पर अनन्य प्रेमभाव था। उससे विवाह करने के लिए शंख ने सरस्वती की आराधना कर उसका आशीष प्राप्त किया था। क्योंकि कलावती की यह शर्त थी कि वह उसी पुरुष से विवाह करेगी, जो उसके चार प्रश्नों के उत्तर दे देगा।

एक बार कलावती का भाई उसके पास आया और उसने उसे सोने के दो अतिसुन्दर कंगन दिए। रानी हर्षित होकर अपनी दासी को अपने भाई के प्रति उसके प्रेम के बारे में बता रही थी। यह प्रेमालाप की बात अचानक उधर आ गए महाराज के कानों में पड़ी। बिना यह जाने कि रानी किस से प्रेम करती है, राजा ने सशंकित बनकर चाण्डालियों को आदेश दिया कि वे उसके हाथ काटकर उसे जंगलों में धकेल आएं। वैसा ही किया गया। कलावती ने इसे अपने दुष्कर्मों का फल माना। रानी गर्भवती थी। एक नदी के किनारे उसने एक शिशु को जन्म दिया। पर कलावती के पास हाथ तो थे नहीं, जिनसे वह शिशु को उठाती। मां और नवजात शिशु की अवस्था पर नदी की देवी को करुणा आई और उसने कलावती को दो हाथ लगा दिए। बाद में शंख को जब यह ज्ञात हुआ कि कंगण कलावती के भाई ने ही उसे भेंट किए हैं तो उसे अपने कृत्य पर सघन पश्चात्ताप हुआ। उसने अपने सैनिक कलावती की खोज में दौड़ाए। अंततः कलावती को खोज लिया गया। राजा ने पश्चात्तापपूर्वक रानी से क्षमा मांगी।

किसी समय एक ज्ञानी मुनि से राजा ने पूछा कि निरपराधिनी कलावती के हाथ मैंने क्यों कटवाए? वह किस जन्म के कर्मों का उदय था? ज्ञानी मुनि ने बताया, कलावती पिछले जन्म में महेन्द्रपुरनरेश नरविक्रम की पुत्री सुलोचना थी और तुम एक तोते की योनि में थे। सुलोचना ने तोते को बड़े प्रेम से पाला था। वह हर समय तोते को अपने पास रखती थी। एक बार जब वह मुनिदर्शन को गई तो मुनि का व्याख्यान सुनकर तोते को जातिस्मरण ज्ञान हो गया और उसने जान लिया कि पूर्वजन्म में संयम की विराधना करने से उसे तोते की योनि मिली है। तोते ने मन में प्रण कर लिया कि वह भविष्य में मुनिदर्शन करके ही अन्न-जल ग्रहण किया करेगा।

बहुत दिनों तक उसका यह क्रम चलता रहा। एक बार वह कई दिनों तक वापिस नहीं आया। सुलोचना को यह बहुत बुरा लगा। जब तोता वापिस आया तो उसने उसके पंख काट दिए ताकि वह उड़ न सके।

ज्ञानी मुनि ने कहा, राजन्! तोते के पंख काट देने के कारण ही सुलोचना से कलावती बनी तुम्हारी रानी के हाथ काटे गए। कर्म की विचित्रता सुनकर राजा और रानी प्रतिबुद्ध हो गए। उन्होंने संयम धारण कर स्वर्ग गति प्राप्त की। ग्यारहवें भव में वे निर्वाण को उपलब्ध होंगे। —पुहवीचंद चरियं

कल्पक

प्रथम नन्द का एक बुद्धिमान अमात्य, जो जन्मना ब्राह्मण और जैन धर्म का अनुयायी था। अपनी दूरदर्शिता और कुशल नीतियों से उसने नन्द साम्राज्य की जड़ों को मगध में सुदृढ़ बनाया था। उसका कार्यकाल आचार्य शय्यंभव के शासनकाल में होना अनुमानित है। —परिशिष्ट पर्व सर्ग-7

कांपिल्य

इनका पूरा परिचय गौतम कुमार के समान है। (देखिए-गौतम कुमार)

—अन्तगड सूत्र प्रथम वर्ग, सप्तम अध्ययन

काकुत्स्थ वर्मा

कदम्ब वंश का एक राजा। जैन धर्म के प्रति उसके हृदय में दृढ़ आस्था थी। अपने राज्य में उसने जैन धर्म को प्रभूत प्रश्रय दिया। अरिहंत देव को वह सर्वोच्च देव और जैन धर्म को सर्वोच्च धर्म मानता था।

काकुत्स्थ वर्मा ने गुप्त और गंग वंशों में अपनी पुत्रियों के विवाह कर उनसे मैत्री संबंध स्थापित किए थे। गुप्तवंशीय महाराज चन्द्रगुप्त और गंगवंशीय राजा तडंगाल (माधव तृतीय) भी जैन राजा थे।

काकुत्स्थ वर्मा का शासन काल ई. सन् 430 से 450 तक का माना जाता है।

—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं

कान्हड़ कठियारा

अयोध्या नगरी का रहने वाला एक दीन-हीन दरिद्र लकड़हारा। बाल्यावस्था में ही उसके माता-पिता का निधन हो गया था। वह अनपढ़ था, नगर के बाह्य भाग में एक तृण-कुटीर में रहता था। जंगल से लकड़ियां काटकर लाता और बाजार में लकड़ियों को बेचकर उदरपोषण करता था। वह धर्म-कर्म को नहीं जानता था पर मानता था कि धर्म से ही मनुष्य का कल्याण होता है। एक बार जब वह लकड़ियां लेने जंगल में जा रहा था तो नगर के बाहर उद्यान में आचार्य धर्मघोष धर्मोपदेश कर रहे थे। कान्हड़ के कदम ठिठक गए। मुदित मन से वह उपदेश सुनने के लिए उद्यान में गया और दूर से ही आचार्य श्री को प्रणाम करके बैठ गया। आचार्य धर्मघोष ने ब्रह्मचर्य की महिमा पर उपदेश दिया। उपदेश समाप्ति पर सभी श्रोताओं ने यथेच्छ व्रत-नियम ग्रहण किए। कान्हड़ भी आचार्य श्री के सम्मुख पहुंचा। वन्दन कर बोला, भगवन्! मेरे लिए जो समुचित हो, वही नियम मुझे दे दीजिए। आचार्य श्री ने पूर्णमासी की रात को ब्रह्मचर्य पालन का नियम कान्हड़ को करा दिया। गुरु के कथन को हृदय पर अंकित कर कान्हड़ अपने पथ पर चला गया।

एक बार वर्षाकाल में निरंतर चार दिनों तक कान्हड़ लकड़ियां लेने जंगल नहीं जा सका। कारण था—जंगल और नगर के मध्य की वह नदी, जो निरंतर वर्षा के कारण उफान पर थी। चार दिन का क्षुधातुर कान्हड़ पांचवें दिन अपनी झोंपड़ी से चला। नदी किनारे पहुंचा। नदी में जलावेग इतना तीव्र था कि उसे पार नहीं किया जा सकता था। निराश होकर वह नदी के किनारे बैठ गया। सहसा उसकी दृष्टि एक काष्ठ खण्ड पर पड़ी, जो नदी में पीछे से बहकर आया था। कान्हड़ ने नदी में छलांग लगा दी और काष्ठ-खण्ड को वह तट पर खींच लाया। लकड़ी के छोटे-छोटे टुकड़े करके, गट्ठर बांधकर वह बाजार में गया। अयोध्या के एक धर्मप्राण श्रेष्ठी श्रीपति ने कान्हड़ के सिर पर रखी लकड़ियों को देखा। सेठ को समझते देर न लगी कि वे लकड़ियां बावना चन्दन हैं। सेठ जानता था कि लकड़हारे को उन लकड़ियों का मूल्य ज्ञात नहीं है। सेठ ने इस विचार से कि कोई उस निर्धन लकड़हारे को ठग न ले, उसे अपने पास बुलाया और उसे उसकी लकड़ियों का मूल्य बताया। कान्हड़ की सहमति पर सेठ ने लकड़ियों के वजन का स्वर्ण तोलकर उसे दे दिया। कान्हड़ चमत्कृत हो गया। एक वस्त्र में स्वर्ण मुद्राओं को बांधकर वह अपनी झोंपड़ी की दिशा में चल दिया। मार्ग में कामलता गणिका का भवन था। गणिका की दृष्टि ने कान्हड़ के सिर पर रखी गठरी में रही हुई स्वर्णमुद्राओं को देख लिया। दासी को भेजकर उसने कान्हड़ को ऊपर बुलाया। कामलता का दिव्य रूप कान्हड़ का चिर-स्वप्न था। वह गणिका के पास पहुंचा और स्वर्णमुद्राओं की गठड़ी उसे अर्पित कर दी। गणिका चमत्कृत हो गई। उसने कान्हड़ की सेवा की और उसे भवन के ऊपरी कक्ष में उसकी प्रतीक्षा करने को कहा।

कान्हड़ कामलता के भवन के ऊपरी कक्ष में सुखशैया पर लेटा था। सहसा आकाश में खिले पूर्णमासी

के चन्द्र पर उसकी दृष्टि अटक गई। वह एकाएक उठ बैठा और उसने निश्चय किया कि वह अपने नियम को खण्डित नहीं होने देगा। वह उठा और धन की गठड़ी वहीं छोड़कर अपनी झोंपड़ी में आ गया। उसे संतोष था कि उसने धन गंवाकर भी अपने धर्म की रक्षा कर ली है।

गणिका गणिका थी, पर उसमें भी धर्मबुद्धि शेष थी। वह कान्हड़ द्वारा छोड़े गए धन को लेकर राजा के पास पहुंची। धन राजा को देते हुए कामलता ने पूरी बात कह सुनाई और स्पष्ट कर दिया कि उस धन पर उसका अधिकार नहीं है। गणिका की प्रामाणिकता से राजा बहुत प्रभावित हुआ और उसने धन के वास्तविक स्वामी को पहचान कर उसका धन उसे ही लौटाने का निश्चय किया। राजा ने तत्सम्बन्धी घोषणा कराई। घोषणा सुनकर कान्हड़ राजदरबार में पहुंच गया। वेश्या ने पुष्टि कर दी कि यही व्यक्ति धन का स्वामी है। राजा ने कान्हड़ का परिचय पूछा और पूछा कि वह धन को छोड़कर क्यों भाग गया था। कान्हड़ ने व्रत ग्रहण से शुरू कर पूरी कहानी राजा को सुना दी। कान्हड़ की नियम-निष्ठा देखकर राजा-प्रजा ने उसे धन्य-धन्य कहा।

राजा ने धन की गठड़ी कान्हड़ को देनी चाही तो उसने उसे ग्रहण करने से इन्कार कर दिया और कहा, एक लघु से नियम के कारण आज उसे अचाहे ही इतना धन और प्रतिष्ठा मिल रही है, अब उसने महाव्रत धारण करने का संकल्प कर लिया है, अब वह आचार्य धर्मघोष का शिष्य बनकर आत्मधन प्राप्त करना चाहता है।

आखिर वैराग्य की प्रबल धारा बही। कान्हड़ के साथ ही श्रीपति सेठ, कामलता गणिका और राजा ने भी संयम धारण कर आत्मकल्याण किया।

कामदेव (श्रावक)

चम्पानगरी का रहने वाला एक समृद्ध गाथापति और भगवान महावीर का अनन्य उपासक। उसने अपनी पत्नी भद्रा के साथ भगवान से श्रावक धर्म स्वीकार किया और पूर्ण निष्ठा से उसकी परिपालना की। उसकी समृद्धि इस तथ्य से स्वतः सिद्ध है कि उसक पास अठारह कोटि स्वर्णमुद्राएं तथा साठ हजार गाएं थीं।

कामदेव की धर्मनिष्ठा देवलोक में भी चर्चित होने लगी थी। किसी समय देवराज इन्द्र द्वारा उसकी धर्मदृढ़ता की प्रशंसा किए जाने पर एक देव उसकी परीक्षा लेने आया। आनन्द पौषधशाला में पौषध की आराधना में लीन थे। देव ने रौद्र रूप धर कर कामदेव को डराने का प्रयास करते हुए उसे जिनधर्म छोड़ने के लिए कहा। उनके अविचलित रहने पर देव ने सिंह, हाथी, व्याघ्र, सर्प आदि के रूप बनाकर उन्हें अनेक कष्ट दिए। तलवार से उन पर वार किया। पर कामदेव विचलित न हुए। देवता को विश्वास हो गया कि कामदेव एक दृढ़धर्मी श्रावक है। वह उनके चरणों में गिर पड़ा और अपने द्वारा ली गई कठोर परीक्षा के लिए क्षमायाचना कर अपने लोक को चला गया।

तब भगवान महावीर चम्पानगरी में ही विराजित थे। प्रभात होने पर कामदेव उपवास में ही भगवान के दर्शन के लिए गए। भगवान ने कामदेव की देव-परीक्षा की चर्चा परिषद् में की और अपने श्रमणों को उद्बोधित किया—श्रमणो! कामदेव ने गृहस्थ में रहते हुए देवकृत उपसर्गों को निरस्त कर दिया। तुम तो श्रमण हो! तुम्हें भी ऐसा ही करना चाहिए। मरणान्तिक उपसर्गों और परीषहों में भी धर्मच्युत नहीं होना चाहिए।

महावीर के श्रीमुख से कामदेव की प्रशंसा सुनकर परिषद् भी उनकी प्रशंसा करने लगी। यों कामदेव

ने सुदीर्घ काल तक श्रावक धर्म की सम्यक् आराधना की। कालान्तर में उन्होंने गृह-दायित्व अपने ज्येष्ठ पुत्र को सौंप दिए। एक मास के संथारे के साथ देह विसर्जित कर प्रथम देवलोक के अरुणाभ विमान में महान समृद्धिशाली देवता बने। वहां से च्यव कर वे महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और संयम की निरतिचार आराधना कर मोक्ष जाएंगे। —उपासकदशांग सूत्र

कामध्वजा

एक गणिका। (देखिए-उज्झित कुमार)

कामपताका

कौशाम्बी नगरी की एक गणिका। (देखिए-सहस्रमल्ल)

कार्तिक सेठ

बीसवें तीर्थंकर अरिहंत मुनिसुव्रत स्वामी के समय का एक धर्मनिष्ठ श्रावक। देव, गुरु और धर्म के प्रति उसकी अनन्य आस्था थी। अपने युग का वह एक बहुत बड़ा व्यापारी था। उसका व्यापार इतना फैला हुआ था कि उसके प्रबंधन के लिए एक हजार मुनीम नियुक्त किए गए थे।

उस नगर का राजा अन्यमतावलम्बी था। एक बार जब राजा का गुरु नगर में आया तो सभी नगरवासी उसके दर्शनों के लिए गए, पर कार्तिक सेठ नहीं गया। इस पर किसी विद्वेषी ने राजा के गुरु के कान भर दिए कि कार्तिक सेठ आपको गुरु नहीं मानता है। वह श्रमणों के अतिरिक्त किसी के समक्ष नहीं झुकता है और न किसी को गुरु मानता है। राजा के गुरु को राजगुरु होने का गर्व था। उसने कार्तिक सेठ को अपना बल दिखाने का निश्चय कर लिया। उधर राजा ने अपने गुरु को आमंत्रित किया तो गुरु ने कहा कि वह राजमहल में तब ही भोजन कर सकता है, जब उसकी थाली कार्तिक सेठ की पीठ पर रखी जाए, अन्यथा वह तपरत ही रहेगा।

गुरु की प्रसन्नता के लिए राजा ने कार्तिक सेठ को अपने पास बुलाया और पूरी बात कही। कार्तिक राजाज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता था। आखिर राजगुरु को बुलाया गया और कार्तिक सेठ को उसके समक्ष इस ढंग से बैठाया गया कि उसकी पीठ पर थाली रखी जा सके। गर्म खीर से भरी हुई थाली राजगुरु ने कार्तिक सेठ की पीठ पर रखी और दर्पान्ध बनकर पर्याप्त समय लगाकर भोजन किया। कार्य निपट गया। पर कार्तिक सेठ को बड़ी आत्मग्लानि हुई। उसने सोचा कि धिक्कार है उस संसार में रहना, जहां रहकर राजा के उचित-अनुचित सभी आदेश मानने पड़ें। इस चिन्तन के साथ वह गृह त्यागकर अनगार बन गया। विशुद्ध संयम की परिपालना कर प्रथम स्वर्ग का इन्द्र (शक्रेन्द्र) बना। उधर वह राजगुरु अज्ञान तप के प्रभाव से देवलोक में तो गया पर उसे वहां जो दायित्व मिला, वह था ऐरावत हाथी का। वह इन्द्र का हाथी बना। हाथी बने राजगुरु ने अवधिज्ञान में अपने पूर्वभव को जाना तो उसका अहंकार फुफकार उठा। साथ ही वह आत्महीनता से भी भर गया कि उसे उसी व्यक्ति को आजीवन पीठ पर बैठाना होगा, जिसकी पीठ को उसने गर्म खीर से जलाया था। इन्द्र को कहीं जाना था, सो ऐरावत पर आरूढ़ हुआ। ऐरावत ने विकुर्वणा से अपने दो रूप बना लिए। इन्द्र ने एक पर अपना वज्र रख दिया तथा दूसरे पर स्वयं बैठ गया। ऐरावत ने तीसरा रूप बना लिया। इन्द्र ने उस पर अपनी तीसरी वस्तु रख दी। ऐरावत प्रत्येक बार अपने रूप बढ़ाता रहा। आखिर इन्द्र को ऐरावत की मानसिकता का पता चल गया। उसने उस पर वज्र का प्रहार किया। पीड़ा से तिलमिलाते हुए ऐरावत ने अपनी विकुर्वणा को समेट लिया और मान मारकर इन्द्र का आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

तब से इन्द्र महाराज तीर्थंकर भगवंतों के कल्याणोत्सवों पर उसी ऐरावत पर सवार होकर आते हैं।

—भगवती सूत्र 18/2

काल

वर्तमान अवसर्पिणी काल के पञ्चम नारद। (देखिए-नारद)

कालकाचार्य

वी. नि. की पांचवीं शताब्दी में हुए एक महान जैन आचार्य। वे धारानगरी के राजकुल में पैदा हुए थे। उनके पिता का नाम वैरसिंह और माता का नाम सुरसुन्दरी था। उनकी एक बहन थी, जिसका नाम सरस्वती था।

एक बार राजकुमार कालक अश्वारूढ़ होकर वन विहार को जा रहे थे। वहां उन्हें एक मुनि के दर्शन हुए। मुनि का नाम गुणाकार था। कालक ने मुनि को वन्दन किया और मुनि ने कालक को धर्म का मर्म समझाया। कालक विरक्त हो गया और उसने दीक्षा धारण करने का संकल्प किया। अनन्य अनुराग के कारण बहन सरस्वती ने भी कालक के साथ ही जिन दीक्षा धारण की। कालक ने गुरु चरणों में रहकर अल्प समय में ही श्रुत-सागर का पारायण कर लिया। थोड़े समय में ही कालक एक प्रभावशाली मुनि बन गए। गुरु ने उन्हें आचार्य पद प्रदान किया। कालकाचार्य के अनेक शिष्य बन गए। जनपदों में धर्मोद्योत करते हुए विशाल संघ के साथ कालकाचार्य विचरने लगे।

एकदा कालकाचार्य का पदार्पण उज्जयिनी नगरी में हुआ। उस समय गर्दभिल्ल नामक राजा उज्जयिनी का अधिपति था। किसी समय गर्दभिल्ल राजा की दृष्टि साध्वी सरस्वती पर पड़ी। वह साध्वी के रूप पर मुग्ध हो गया और उसने अपने सुभटों से उसका अपहरण करा लिया। कालकाचार्य के लिए यह दोहरा आघात था। वे राजदरबार में पहुंचे और उन्होंने राजा को विभिन्न युक्तियों से समझाया। नगरजनों ने भी राजा से निवेदन किया कि वह साध्वी को मुक्त कर दे। परन्तु हठी राजा पर किसी की बात का कोई प्रभाव नहीं हुआ।

कालकाचार्य खिन्न हो गए। राजा को उचित दण्ड देने का संकल्प लेकर वे लौट आए। संघीय दायित्व योग्य शिष्य को देकर कालकाचार्य एकाकी विहार कर गए। वे किसी ऐसे शासक की खोज में थे, जो गर्दभिल्ल का दर्प दलन कर सके। उसके लिए उन्होंने सुदूर प्रान्तों और देशों की यात्रा की।

दूर-दूर तक उन्हें कोई ऐसा राजा नहीं मिला जो गर्दभिल्ल पर भारी पड़ सके। कालकाचार्य पश्चिम दिशा में सिंधु तट पर पहुंचे। वहां शारवी देश के शक शाह को उन्होंने अपने प्रभाव में लिया और गर्दभिल्ल को दण्डित करने के लिए उसे तैयार किया। भरोंच नगर नरेश बलमित्र और भानुमित्र संसार पक्ष में कालकाचार्य के निकट सम्बन्धी थे। शारवी के शक शाह तथा बलमित्र और भानुमित्र के संयुक्त सैन्यदल के साथ गर्दभिल्ल पर आक्रमण किया गया। गर्दभिल्ल पराजित हुआ। साध्वी सरस्वती को मुक्त कराया गया। कालकाचार्य के कहने पर गर्दभिल्ल को सत्ताच्युत कर छोड़ दिया गया।

समुचित्त प्रायश्चित्त से आत्मशुद्धि करने के पश्चात् कालकाचार्य अपने गण में लौट आए। कालकाचार्य का विमल सुयश सुदूर देशों तक व्याप्त हुआ। श्रुत और आचार के प्रति कालकाचार्य की गहरी निष्ठा थी। जब वे अंतिम वय में थे तो श्रुत और स्वाध्याय के प्रति अपने शिष्य वर्ग में उदासीनता देखकर वे खिन्न हो गए। पुनः पुनः प्रेरणा देने पर भी शिष्य वर्ग ने प्रमाद नहीं छोड़ा तो कालकाचार्य शिष्य वर्ग को छोड़कर

अन्यत्र चले गए। बाद में शिष्य समूह को अपनी भूल ज्ञात हुई और वह कालकाचार्य के सान्निध्य में पहुंचा। आचार्य से शिष्य समूह ने हार्दिक क्षमापना की और संघ में फिर से श्रुत-सरिता बहने लगी।

कालकाचार्य ने अनेक वर्षों तक श्रमण संघ को कुशल प्रशासन दिया। उनकी गणना जैन परम्परा के प्रभावक आचार्यों में होती है। वे ही प्रथम जैन आचार्य थे, जिनका विहार ईरान, सुमात्रा और जावा तक प्रसृत हुआ। —प्रभावक चरित्र

काललदेवी

ईसा की 10वीं सदी की एक श्रमणोपासिका। जैन धर्म के प्रति उसके हृदय में अनन्य आस्था थी।

काललदेवी गंगनरेश के महामंत्री चामुण्डराय की माता थी। काललदेवी की प्रेरणा से ही चामुण्डराय ने विश्वविश्रुत गोमटेश्वर (बाहुबली) की 57 फुट ऊंची प्रतिमा का निर्माण कराया था। यह प्रतिमा शिल्पकला तथा मूर्तिविज्ञान की अद्‌भुत कलाकृति है। ई.स. 978 में इस प्रतिमा की स्थापना की गई थी।

कालसौकरिक कसाई

राजगृह नगर का एक कुख्यात कसाई। वह पांच सौ भैंसे प्रतिदिन मारता था और मांस विक्रय कर प्रभूत धन कमाता था। एक बार जब महाराज श्रेणिक ने भगवान महावीर से अपनी नरकगति को तोड़ने का उपाय पूछा तो भगवान ने स्पष्ट किया कि यह संभव नहीं है। सम्राट् श्रेणिक के पुनः-पुनः आग्रह पर भगवान ने कहा कि यदि वह कालसौकरिक कसाई को एक दिन उसके व्यवसाय से / हिंसा-कर्म से दूर रख सके तो उसके नरक के बन्धन टूट सकते हैं। राजा कालसौकरिक के पास पहुंचा और एक दिन के लिए उसे हिंसा न करने के लिए कहा। कालसौकरिक ने कहा, यह उसके व्यवसाय के साथ-साथ उसका कुलधर्म भी है। वह अपने कुलधर्म को नहीं छोड़ सकता है। राजा ने उसे अपना राज्य देने का प्रलोभन दिया, पर वह अपने कुल- धर्म को छोड़ने के लिए राजी नहीं हुआ। आखिर राजा ने उसको पैरों से रस्सी बांधकर कुएं में उलटा लटकवा दिया। श्रेणिक को भरोसा हो गया कि उसने कालसौकरिक को एक दिन के लिए हिंसा नहीं करने दी है। वह भगवान के पास पहुंचा और अपनी सफलता की बात कही। भगवान ने कहा, श्रेणिक! तुम असफल रहे हो! कुएं में उलटे लटके कालसौकरिक ने अपने बदन के मैल के पांच सौ भैंसे बनाकर उनका वध किया है। वह भाव हिंसा कर चुका है।

ऐसे गाढ़कर्मी कालसौकरिक का वर्णन एक अन्य कथा में भी आता है, जब उसके सम्बन्ध में एक देव ने कहा था कि कालसौकरिक का न जीना श्रेष्ठ है और न ही मरना। क्योंकि जीवित रहते हुए वह हिंसा करेगा और मरने पर उसे दुर्गति में जाना होगा। कालसौकरिक ने कई बार भगवान का उपदेश भी सुना। पर उसने हिंसा को ही सदा अपना धर्म माना और मरकर नरक गति में गया।

कालहस्ती

कलंबुका सन्निवेश का एक जमींदार। जमींदार होकर भी वह अपने भाई मेघहस्ती के साथ मिलकर आस-पास के क्षेत्रों में चोरी किया करता था। एक बार कालहस्ती ने भगवान महावीर को बन्दी बना लिया। मेघहस्ती महावीर को पहले क्षत्रियकुण्ड में देख चुका था, अतः महावीर को पहचान कर उसने उनका विनय किया और अपने भाई के अपराध के लिए क्षमा मांगी।

कालाइशया

मथुरा नरेश जितशत्रु का पुत्र। राजा जितशत्रु कालाइ नामक गणिका में विशेष मुग्ध था। उसने उस

गणिका को अपने महल में रख लिया। उससे जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम कालाइशया रखा गया।

किसी समय कालाइशया अपने महल में सो रहा था। एक श्रृगाल का शब्द सुनकर उसकी निद्रा भंग हो गई। उसे श्रृगाल पर बहुत क्रोध आया। अनुचरों से उसने श्रृगाल को पकड़वा कर मंगवाया और उसका वध कर दिया। मृत्यु को प्राप्त कर श्रृगाल का जीव व्यंतर जाति का देव बना। कालान्तर में कालाइशया मसा रोग से पीड़ित हो गया। रोग ठीक न होने से उसे वैराग्य हो गया और वह साधु बन गया। दीक्षा के समय ही उसने आजीवन उपचार और औषधादि ग्रहण न करने की प्रतिज्ञा भी धारण कर ली।

देहव्याधियों से घिरे मुनि कालाइशया समभाव से जीवन बिताने लगे। विचरण करते हुए मुनिवर मुशाल नगर में पहुंचे। वहां के राजा से कालाइशया की बहन का विवाह हुआ था। बहन ने भाई की रुग्णावस्था को देखा और औषधमिश्रित आहार तैयार किया। मुनि भिक्षा लेने पधारे। बहन ने वह आहार मुनि के पात्र में बहरा दिया। अपने स्थान पर लौटकर मुनि ने आहार की विशेष गंध से ज्ञात कर लिया कि आहार औषध मिश्रित है। बिना किसी ग्लानि और उत्तेजना के मुनि श्री ने आहार न करने का संकल्प कर लिया। उस आहार को लेकर वे जंगल में चले गए। स्थंडिल भूमि पर आहार को परठ कर मुनि श्री ने संथारा ग्रहण कर लिया। पूर्व पाप के विपाक स्वरूप व्यंतर देव वहां प्रकट हुआ। श्रृगाल रूप धारण कर उसने मुनि श्री के शरीर को नोचना शुरू कर दिया। प्रशान्त समाधि में लीन मुनिवर का शरीर श्रृगाल का आहार बन गया। देहोत्सर्ग कर मुनिवर देवलोक में गए, जहां से भवान्तर में मोक्ष जाएंगे। —उत्तराध्ययन वृत्ति

कालास्यावेषिपुत्र अणगार

प्रभु पार्श्व की परम्परा के एक अणगार। भगवान महावीर के तीर्थ के एक स्थविर मुनि से उन्होंने सामायिक, प्रत्याख्यान, संयम, संवर आदि से सम्बन्धित कई प्रश्न पूछे। जब वे पूर्णतः समाधान को प्राप्त हो गए तो उन्होंने चातुर्याम धर्म से पंच महाव्रतात्मक धर्म में प्रवेश किया और सम्यक् व शुद्ध चारित्र की आराधना कर सुगति के अधिकारी बने।

(क) काली

महाराजा श्रेणिक की रानी, कालकुमार की माता और चम्पाधिपति राजा कोणिक की विमाता। कोणिक की राज्यलिप्सा के कारण मगध देश की राजनीति में भयंकर उथल-पुथल मची तथा अनेक अनहोनी घटनाएं घटीं। कोणिक शीघ्र ही राजसिंहासन पर बैठकर राजसुख लूटने को व्यग्र था। पर उसका मन्तव्य तब तक पूरा नहीं हो सकता था, जब तक उसके पिता श्रेणिक सिंहासनासीन थे। कोणिक ने अपने पिता को मार्ग से हटाने के लिए एक षड्यन्त्र रचा। उसने षड्यन्त्र को क्रियान्वित करने के लिए कालकुमार आदि अपने दस सौतेले भाइयों को अपने पक्ष में कर लिया तथा एक दिन समुचित अवसर देखकर अपने पिता महाराज श्रेणिक को बन्दी बनाकर बन्दीगृह में डाल दिया। तदनन्तर उसने मगध साम्राज्य के ग्यारह भाग किए। एक भाग अपने पास रखा तथा शेष दस भाग अपने दस सौतेले भाइयों में बांट दिए।

कोणिक के दो अन्य सहोदर थे, हल्ल और विहल्ल। किसी समय राजा श्रेणिक ने अपने इन दो पुत्रों को बहुमूल्य अठारहसरा हार और सिंचानक हाथी दिए थे। कोणिक ने राजा बनने पर अपने भाइयों से हार और हाथी मांगे। हल्ल और विहल्ल ने अपने नाना चेटक की शरण ली। अन्ततः कोणिक और चेटक के मध्य महाभयंकर इतिहास प्रसिद्ध युद्ध हुआ, जिसमें वैशाली का वैभव नष्ट हो गया तथा कालकुमार आदि दस भाई मारे गए।

भगवान महावीर चम्पानगरी में पधारे तो काली रानी भगवान के दर्शनों के लिए गई। उसने अपने पुत्र के बारे में भगवान से पूछा। भगवान ने स्पष्ट कर दिया कि उसका पुत्र युद्ध में मृत्यु को प्राप्त हो गया है। काली को बहुत दुख हुआ। पुत्र-विरह की वेदना से उसे वैराग्य हो आया और वह दीक्षित हो गई। दीक्षा लेकर उसने सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों तक का अध्ययन किया और विभिन्न प्रकार के छोटे-बड़े तप करने लगी। उसने अपने संयमी जीवन में विशेष रूप से रत्नावली तप की आराधना की। यह एक अति कठिन तप विधि है। इसमें चार परिपाटियां हैं। प्रत्येक परिपाटी में तीन सौ चौरासी दिन तपस्या के तथा अठासी दिन पारणे के होते हैं। दूसरी परिपाटी में काली आर्या ने विगय रहित पारणे किए, तृतीय परिपाटी में लेप- रहित पारणे किए तथा अन्तिम परिपाटी में पारणे में आयम्बिल की आराधना की। इस तप में कुल पांच वर्ष दो मास और अट्ठाइस दिन का समय लगा। इस उग्र तप से काली आर्या का शरीर सूख गया। वह चलती तो उसकी हड्डियों से ऐसी आवाज निकलती थी, जैसी आवाज शुष्क लकड़ियों से भरी चलती हुई गाड़ी से निकला करती है। अन्त में स्वयं के शरीर का पूरा-पूरा सम्यक् उपयोग हुआ जानकर काली आर्या ने अपनी गुरुणी आर्या चन्दनबाला की आज्ञा लेकर संथारा किया और अन्तिम श्वास के साथ केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गई।

—अन्तगड सूत्र, वर्ग 8, अध्ययन 1

(ख) काली (आर्या)

प्रभु पार्श्व के धर्मतीर्थ की एक साध्वी। श्रमणी बनने से पूर्व वह अमलकल्पा नगरी के एक धनाढ्य सेठ की पुत्री थी। पर पूर्वजन्म के अशुभ कर्मों के कारण उसके शरीर की संरचना ऐसी थी कि वह जवानी में ही वृद्धा दिखाई देती थी। फलतः कोई युवक उससे विवाह के लिए तैयार नहीं हुआ। उन्हीं दिनों प्रभु पार्श्वनाथ अमलकल्पा नगरी में पधारे। कुमारी काली भी प्रभु की देशना सुनने के लिए गई। उसे प्रभु की देशना सुनकर वैराग्य हो गया और वह प्रव्रजित हो गई। आर्यिका पुष्पचूला जी के निर्देशन में उसने ज्ञानाराधना और तपसाधना शुरू की। पर कालान्तर में वह शरीर-बकुशा—अपने शरीर की साता-सज्जा आदि का विशेष ध्यान रखने वाली बन गई। गुरुणी ने उसे पुनः-पुनः प्रमाद के प्रति सचेत किया, पर काली ने गुरुणी की आज्ञानुसार आचरण नहीं किया। अन्ततः काली साध्वीसंघ से अलग रहकर साधना करने लगी। शरीर सज्जा के प्रति उसकी विशेष जागरूकता ने उसे संयम के प्रति अजागरूक बना दिया। अंत में वह शरीरबकुशाजन्य दोष की शुद्धि किए बिना ही अर्धमासिक संलेखना के साथ देहोत्सर्ग कर भवनपति की चमरचंचा राजधानी में देवी रूप में उत्पन्न हुई।

किसी समय भगवान महावीर राजगृह नगर के गुणशीलक उद्यान में विराजमान थे। काली देवी भगवान के समवसरण में आई। प्रभु की पर्युपासना कर उसने नाट्यविधि का प्रदर्शन किया और अपने स्थान पर लौट गई। गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान महावीर ने काली देवी का पूर्वभव सुनाया और साथ ही फरमाया कि कालीदेवी महाविदेह में जन्म लेकर संयम की आराधना कर सिद्धत्व प्राप्त करेगी।

कालोदायी

राजगृह के राजोद्यान गुणशीलक के निकट ही आश्रम में रहने वाला परिव्राजक, जो श्रमणोपासक मद्रुक से वार्ता में परास्त होकर जिनधर्म के प्रति उत्सुक बना और कालान्तर में श्रमणधर्म में प्रविष्ट भी हुआ। (देखिए-मद्रुक)

(क) काश्यप

कोशाम्बी के राजा के विद्वान पुरोहित और कपिल केवली के पिता। (देखिए-कपिल केवली)

(ख) काश्यप (गाथापति)

इनका परिचय मकाई गाथापति के समान है। (देखिए-मंकाई-गाथापति) —अन्तगडसूत्र वर्ग 6, अध्ययन 4

किंकम गाथापति

इनका परिचय मकाई गाथापति के समान है। (देखिए-मंकाई गाथापति) —अन्तगड सूत्र वर्ग 6

किरणवेग

तिलकानगरी नरेश महाराज विद्युत्गति का पुत्र। (देखिए-मरुभूति)

किरातराज

राढ़देश की राजधानी कोटिवर्ष का राजा। किसी समय साकेत नगरी का एक श्रमणोपासक व्यापारी व्यापार के लिए कोटिवर्ष देश में गया। उसने किरातराज को कुछ बहुमूल्य हीरे भेंट किए। किरातराज हीरे पाकर बहुत प्रसन्न हुआ और हीरों के प्रलोभन में भारत आ गया। साकेतनरेश ने उसका आतिथ्य किया। संयोग से उन्हीं दिनों वहां भगवान महावीर पधारे। उमड़ती जनता को देख किरातराज ने जिज्ञासा प्रस्तुत की तो साकेतनरेश ने कहा, हमारे नगर में हीरों का महाव्यापारी आया है। उसी के दर्शनार्थ लोग उमड़ रहे हैं। किरातराज ने भी हीरों के महाव्यापारी से भेंट की इच्छा व्यक्त की। किरातराज जिनदेव श्रावक के साथ भगवान महावीर के पास गया। भगवान ने द्रव्य और भाव रूप हीरों का भेद प्रस्तुत किया और भाव हीरों की महिमा प्रतिपादित की। सुनकर किरातराज कृतकृत्य बन गया और प्रव्रजित बन साधना में संलग्न हो गया।

कीचक

विराटराज का साला और उसकी सेना का प्रमुख। कीचक इतना शक्तिशाली और प्रभावशाली व्यक्ति था कि उससे विराटराज भी भय मानता था तथा उस द्वारा किए गए न्याय-अन्याय को मान्य करता था। वनवास काल का तेरहवां वर्ष पांचों पाण्डवों ने द्रौपदी के साथ नाम-वेश परिवर्तन कर विराट नगर में बिताया। द्रौपदी विराट नरेश की रानी की परिचारिका बनी थी। उस समय कीचक की कुदृष्टि द्रौपदी के रूप पर पड़ी और वह उस पर मुग्ध हो गया। उसने द्रौपदी से अपना काम-प्रस्ताव कहा। द्रौपदी ने उसे घृणा से अस्वीकार कर दिया। कीचक ने द्रौपदी पर बल प्रयोग करना चाहा और भरी सभा में उसे अपमानित किया। द्रौपदी ने राजा से न्याय की याचना की, पर राजा मौन रहा। इस पर द्रौपदी ने विवश होकर पाचक वेश में रह रहे भीम से अपनी व्यथा कही। भीम ने अवसर साध कर कीचक का वध कर डाला। —जैन महाभारत

कीर्तिचन्द्र

चम्पा नगरी का राजा। एक न्याय और नीति निपुण नरेश, जिसके साम्राज्य में प्रजा सुखी और सन्तुष्ट थी। राजा कीर्तिचन्द्र का एक छोटा भाई था, जिसका नाम समरविजय था। कीर्तिचन्द्र अपने अनुज पर प्राण लुटाता था और उसे युवराज पद पर आसीन किया था। एक बार दोनों भाई नगर के निकट बहने वाली बरसाती नदी में नौका विहार कर रहे थे। सहसा बाढ़ आ गई और उनकी किश्ती तीव्र वेग से बहकर चम्पानगरी से बहुत दूर निकल गई। जैसे-तैसे दोनों भाइयों को किनारा मिला। चतुर्दिक् सघन वन था। सहसा समरविजय की दृष्टि मणिरत्नों के अकूत ढेर पर पड़ी। मणिरत्नों को देखते ही समरविजय का मन लोभाविष्ट बन गया। उसके मन में अनेक कल्पनाएं जाग उठीं—कि मुझे भाई का वध करके यह मणिरत्नों का ढेर और राज्य प्राप्त कर लेना चाहिए। समरविजय ने तलवार निकालकर भाई पर प्रहार करना चाहा, पर कीर्तिचन्द्र सावधान

था। उसने समरविजय को पकड़ लिया और उससे तलवार छीनकर फैंक दी। उसने मधुर-मिष्ट वचनों से समरविजय को समझाया कि राजपाट सब उसी का है, उसके लिए वह अपने मन में बुराई को न आने दे। पर समरविजय का हृदय तो पूर्वजन्मों की वैरपरम्परा की अग्नि में जल रहा था। वह मौन होकर एक दिशा में चला गया। उसने एक गिरोह का गठन किया और चम्पानगरी में चोरियां करने लगा।

महाराज कीर्तिचन्द्र को अपने भाई के आचरण से बड़ा कष्ट था। एक बार आरक्षियों ने समरविजय को चोरी करते पकड़ लिया और कीर्तिचन्द्र के समक्ष उपस्थित किया। अनुज-अनुराग में बंधे कीर्तिचन्द्र ने उसे क्षमा कर दिया। इस पर भी समरविजय सुपथ पर नहीं आया। भाई के इस आचरण को देखकर महाराज कीर्तिचन्द्र बहुत दुखी हुए। दुख से वैराग्य का जन्म हुआ। अपने भानजे को राजपद देकर कीर्तिचन्द्र प्रव्रजित हो गए और कठोर तप करने लगे।

एक बार जंगल में मुनि कीर्तिचन्द्र ध्यानमुद्रा में लीन थे। समरविजय उधर से गुजरा। भाई को देखकर समरविजय का पूर्वजन्म का वैर ज्वाला बनकर जाग गया। उसने सोचा, इसने मुझे राज्य नहीं दिया, भानजे को दिया, इसका मैं ऐसा बदला लूंगा कि यह जन्मों-जन्मों तक याद रखेगा। क्रूर भावों में भरकर समरविजय ने मुनि की गर्दन पर तलवार का प्रहार किया। समता भरे चित्त से मुनि ने देहोत्सर्ग किया और देवलोक में गए। देवभव से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में वे मनुष्य भव प्राप्त करेंगे और मोक्ष जाएंगे।

समरविजय वैर के वश हो अनन्त भव परम्परा में बह गया। —धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 12

कीर्तिधर

(देखिए-सुकौशल)

कुंचिक सेठ

अवन्तीनगरी का रहने वाला एक सेठ। (देखिए-मुनिपति)

कुन्थुनाथ (तीर्थंकर)

प्रवहमान अवसर्पिणी काल के सत्रहवें तीर्थंकर और छठे चक्रवर्ती। प्रभु ने जीवन के पूर्वार्द्ध भाग में भौतिकता के चरम शिखर छुए और उत्तरार्ध भाग में आध्यात्मिकता के उच्चतम सोपान पर आरोहण किया। भगवान अपने पूर्वभव में पूर्व महाविदेह क्षेत्र के आवर्त्त विजय में खड्गी नाम की नगरी के राजा थे जहां उनका नाम सिंहावह था। महाराज सिंहावह ने संसार से विरक्त होकर संवराचार्य से मुनिव्रत धारण किया। उत्कृष्ट संयम की परिपालना कर, अनशनपूर्वक देह त्यागकर वे सर्वार्थसिद्ध नामक पांचवें अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुए। सर्वार्थसिद्ध विमान का तैंतीस सागरोपम का सुखमय जीवन यापन करके प्रभु का जीव हस्तिनापुर के महाराज शूर की महारानी श्रीदेवी की रत्नकुक्षी में अवतरित हुआ। प्रभु के पुण्य प्रभाव को प्रदर्शित करने वाले चौदह महास्वप्न माता श्रीदेवी ने देखे। साथ ही उसने कुंथु नामक रत्नों की राशि भी स्वप्न में देखी। इसी के फलस्वरूप प्रभु के जन्म लेने पर उन्हें कुन्थुनाथ नाम प्रदान किया गया।

कुन्थुनाथ युवा हुए तो अनेक सुन्दर राजकुमारियों के साथ उनका पाणिग्रहण कराया गया। आयुधशाला में चक्ररत्न के अवतरण के साथ ही उन्होंने दिग्विजय अभियान प्रारंभ किया, जिसमें 600 वर्ष लगे। षट्खण्ड को साधकर वे चक्रवर्ती बन गए।

सैंतालीस हजार पांच सौ वर्षों तक सुशासन करने के पश्चात् वर्षीदान देकर प्रभु ने अभिनिष्क्रमण

किया। सोलह वर्ष की साधना के पश्चात् प्रभु ने केवलज्ञान पाया और धर्मतीर्थ की संस्थापना के साथ ही तीर्थंकर पद पाया। स्वयंभू प्रमुख भगवान के पैंतीस गणधर थे। हजारों श्रमण, श्रमणियां, श्रावक और श्राविकाएं प्रभु के धर्मसंघ के सदस्य थे। सुदीर्घ काल तक कल्याण के स्रोत प्रवाहित कर भगवान ने मासिक अनशन सहित एक हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर पर्वत से सिद्धि प्राप्त की।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 6

कुन्ती रानी

सोलह प्रसिद्ध महासतियों में एक। पांच वीर-वर पुत्र, जिन्हें पाण्डव कहा गया, में से प्रथम तीन युधिष्ठिर, अर्जुन और भीम की जननी तथा कर्मयोगी वासुदेव श्री कृष्ण की बुआ। कुन्ती एक विलक्षण सन्नारी थी। वह शौरीपुर नृप अन्धकवृष्णि की पुत्री और समुद्रविजय आदि दस दशार्हों की सहजता थी। उसका विवाह हस्तिनापुर नरेश महाराज पाण्डु से हुआ था। परन्तु इस प्रत्यक्ष विवाह से पूर्व वह गन्धर्व विवाह के माध्यम से पाण्डु से पहले ही बन्ध चुकी थी, जिसके परिणामस्वरूप उसने एक पुत्र को भी जन्म दिया था, पर लोकलाज के भय से उसने उस नवजात पुत्र को एक पेटिका में रखकर नदी में बहा दिया था। यही पुत्र आगे चलकर कर्ण नाम से ख्यात हुआ, जो छठा पाण्डव था।

कुन्ती एक परम पतिव्रता नारी के साथ-साथ एक वीर क्षत्राणी और वीर माता भी थी। युधिष्ठिर जब चौपड़ के पासों पर अपना सर्वस्व हार गए, स्वयं सहित अपने भाइयों और द्रौपदी को भी हार गए, तब उन्हें तेरह वर्षों का निर्वासित जीवन जंगलों में बिताना पड़ा। ऐसे में कुन्ती ने महलों के सुख को ठुकराकर वनों की खाक छानना स्वीकार किया। एक बार द्रौपदी के कहने पर भीम एक जलाशय से कमल लेने गए तो वे वापिस नहीं लौटे। उनके पीछे क्रमशः अर्जुन, नकुल, सहदेव और युधिष्ठिर भी गए, पर ये सब भी जलाशय में समा गए। वस्तुतः वह जलाशय एक नागराज के अधिकार में था और उसी ने पाण्डवों को बन्दी बना लिया था। पुत्रों के न लौटने से कुन्ती और द्रौपदी घबरा उठी। पर कुन्ती के विवेक ने उसे सचेत किया कि घबरा कर बैठ जाना संकट का समाधान नहीं है। उसने नवकार मंत्र की आराधना प्रारंभ कर दी। द्रौपदी ने भी उसका अक्षरशः अनुगमन किया। एक साथ दो-दो महासतियों की पुकार से इन्द्रासन हिल गया। इन्द्र ने अपने अवधिज्ञान से पूरी बात जानी और सख्त आदेश के साथ एक देवता नागराज के पास भेजा। इन्द्र के आदेश से भयभीत नागराज ने पांचों पाण्डवों को मुक्त कर दिया।

वह कुन्ती ही थी, जिसने अपने पुत्रों को धर्ममय संस्कारों से इतना रंगा था कि उसका बड़ा पुत्र तो आज भी धर्मराज के रूप भी वन्दित होता है। महाभारत के प्रलयंकारी युद्ध में भी कुन्ती अपने पुत्रों को युद्ध-नियमों में बंधकर युद्ध करने की प्रेरणा दिया करती थी। युद्ध जीत लेने पर कुन्ती राजमाता के पद पर प्रतिष्ठित हुई।

कालान्तर में जब धातकी खण्ड की अमरकंका नगरी के राजा पद्मनाभ ने द्रौपदी का हरण कर लिया था और पांचों पाण्डव वासुदेव श्री कृष्ण की कृपा से उसे मुक्त कराके ला रहे थे, तब गंगा महानदी को पार करने के प्रश्न पर पाण्डवों ने श्रीकृष्ण के बल की परीक्षा लेने की भूल की तो श्रीकृष्ण ने क्रोधित बनकर पाण्डवों को अपने राज्य से निष्कासित कर दिया। तब कुन्ती श्रीकृष्ण के पास पहुंची और उसने उनसे कहा—तीन खण्ड पर तुम्हारा शासन है, ऐसे में मेरे पुत्र जाएं तो कहां जाएं?

श्री कृष्ण ने समुद्र के किनारे थोड़ा-सा स्थान पाण्डवों को रहने के लिए दिया और उस स्थान को

त्रिखण्ड से स्वतंत्र घोषित कर दिया। वहां पाण्डवों ने पाण्डुमथुरा नाम का एक नगर बसाया और उसमें रहने लगे। अभी तक कहावत प्रचलित है—तीन लोक से मथुरा न्यारी।

बाद में कुन्ती ने अरिहंत अरिष्टनेमी के चरणों में दीक्षा धारण कर मोक्ष प्राप्त किया।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र / ज्ञाता धर्मकथांग, अ. 16

कुंदकुंद (आचार्य)

ईसा की प्रथम शती में हुए एक अध्यात्मयोगी दिगम्बर जैन आचार्य। श्वेताम्बर परम्परा में जो स्थान आचार्य स्थूलभद्र का है, वही स्थान दिगम्बर परम्परा में आचार्य कुंदकुंद का है।

आचार्य कुंदकुंद का जन्म दक्षिण भारत के नगर कौण्डकुन्दपुर में एक वैश्य परिवार में हुआ। उनके पिता का नाम करमण्डू और माता का नाम श्रीमती था। जन्म नगर के नाम पर ही उनका नाम कुंदकुंद पड़ा। उच्चारण सुविधा के कारण कौण्डकुन्द का कुंदकुंद नाम प्रचलित हुआ।

आचार्य कुंदकुंद एक विद्वान आचार्य थे। उन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। समयसार, प्रवचन-सार, पञ्चास्तिकाय, नियमसार, अष्टपाहुड़ आदि कई ग्रंथ वर्तमान में भी उपलब्ध हैं, जिनके प्रणेता आचार्य कुंदकुंद थे।

—बोधपाहुड़, समयसार टीका

कुंभकर्ण

रावण का लघु भ्राता, एक महाबली योद्धा तथा कई दिव्य विद्याओं का स्वामी। राम-रावण युद्ध में कुंभकर्ण वीरता से लड़ा, अंततः उसे बन्दी बना लिया गया। युद्ध समाप्ति पर श्री राम ने सभी युद्ध बन्दियों के साथ ही कुंभकर्ण को भी मुक्त कर दिया। भाई की हठ और उसकी परिणति मृत्यु में देखकर कुंभकर्ण विरक्त हो गया और प्रव्रज्या धारण कर सद्गति का अधिकारी बना। (देखिए-जैन रामायण)

(क) कुंभ

तीर्थंकर अरनाथ के बत्तीस गणधरों में प्रमुख गणधर।

(ख) कुंभ (राजा)

अमरपुर नगर के राजा। (देखिए-कूरगडुक)

(ग) कुंभ (राजा)

मिथिला के राजा एवं तीर्थंकर मल्लिनाथ के पिता। (देखिए-मल्लीनाथ तीर्थंकर)

कुंडकौलिक (श्रावक)

उपासकदशांग में आख्यायित एक श्रमणोपासक, दृढ़धर्मी और तर्कपटु व्यक्ति। वह कम्पिलपुर नगर का धन्ना सेठ था। उसके छह गोकुलों में साठ हजार गाएं थीं। वह अठारह कोटि स्वर्णमुद्राओं का स्वामी था। उसकी पत्नी पूषा एक पतिव्रता सन्नारी थी। कुण्डकौलिक ने भगवान महावीर से सपत्नी श्रावक धर्म अंगीकार किया था। उसने व्रतों की परिपालना पूर्ण निष्ठा से की। किसी समय वह अपनी अशोक वाटिका में बैठा धर्म चिन्तन में लीन था। उसने अपनी नामांकित मुद्रिका और उत्तरीय को उतारकर पास ही रख छोड़ा था। एक मिथ्यादृष्टि देव वहां उपस्थित हुआ। उसने कुंडकौलिक की मुद्रिका उठा ली और बोला कि तुम्हारा धर्म-चिंतन मिथ्या है। भगवान महावीर का यह कथन कि 'सब कुछ प्रयत्न साध्य है' एकदम निराधार है। गोशालक का नियतिवाद सत्य है। प्रयत्न से कुछ नहीं होता है, जो होता है, सब नियति के कारण होता

है। अतः उसे गोशालक के मत की आराधना करनी चाहिए।

तत्त्वज्ञ कुण्डकौलिक ने देवता की असत्य बात का प्रतिकार किया। उसने उससे पूछा कि उसे जो दिव्य ऋद्धि मिली है वह प्रयत्न से मिली है या अप्रयत्न से। देवता विमोहित हो गया। वह कोई उत्तर न दे सका। यदि वह कहे कि उसे अप्रयत्न से मिली है तो प्रश्न उभरता है कि वह पहाड़ों और वृक्षों को क्यों नहीं मिली क्योंकि वे पूर्ण रूप से अप्रयत्न में जीते हैं। और यदि कहे कि प्रयत्न से मिली है तो उसकी अपनी ही बात का खण्डन हो जाता। वह निरुत्तर हो गया। उसकी मिथ्यामति विदा हो गई। उसने कुण्डकौलिक को प्रणाम किया तथा उसकी और महावीर के धर्म की प्रशंसा करता हुआ अंतर्धान हो गया।

कुण्डकौलिक भगवान के दर्शन करने गया। भगवान ने श्रोता परिषद् में कुण्डकौलिक और देव के मध्य चले संवाद की चर्चा की और श्रमण, श्रमणियों से कहा कि उन्हें कुण्डकौलिक की धर्म-दृढ़ता से सीख लेकर मिथ्या तर्कों का निरसन करना चाहिए।

आखिर चौदह वर्ष तक श्रावकाचार का पालन कर मासिक अनशन के साथ कुण्डकौलिक प्रथम स्वर्ग में गया। वहां से महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा। —उपासकदशांग सूत्र

कुण्डरीक मुनि

पुंडरीकिणी नगरी का युवराज-पद त्याग कर कुण्डरीक मुनि बन गया। अरस-विरस आहार के कारण एक बार मुनि के शरीर में दाहज्वर हो गया और बढ़ता ही गया। गुरु के साथ विचरण करते हुए मुनि एक बार अपनी नगरी में आया, जहां उसका सहोदर पुंडरीक राज्य करता था। पुंडरीक ने सहोदर मुनि की रुग्णावस्था देखकर उससे प्रार्थना की कि वे उसकी दानशाला में रहकर समुचित उपचार कराएं। गुरु की आज्ञा से कुण्डरीक ने सहोदर राजा की प्रार्थना स्वीकार कर ली। उसने दानशाला में रहकर विविध औषधोपचारों से शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ प्राप्त कर लिया। कालक्रम से वह शरीर से तो स्वस्थ हो गया पर मन से अस्वस्थ हो गया। उसका मन अनुकूल आहार और सुखद विश्राम में रम गया। वह संयम का परित्याग कर गृहवास में लौटने का चिन्तन करने लगा। पुण्डरीक ने भाई की मनोदशा को जान लिया। उसने भाई को अनेक- विध युक्तियों और उक्तियों से समझाया पर समझा न पाया। आखिर पुंडरीक ने अपना राजमुकुट अपने सहोदर कुण्डरीक को दे दिया और स्वयं संयम लेकर साधना करने लगा। कुंडरीक अपने समक्ष भोगोपभोग के असंख्य साधन पाकर उन्हें भोगने लगा। पर अतिशय कामवर्धक भोज्य पदार्थों के अति आहार से वह शीघ्र ही रुग्ण हो गया और मरकर सातवीं नरक में गया। पुंडरीक मुनि भी अरस-विरस आहार से रुग्ण हो गए और समतापूर्वक देहोत्सर्ग कर सर्वार्थसिद्ध विमान में देव बने।

कुण्डरीक और पुण्डरीक का चरित्र भावों की महिमा को दर्शाता है। कुण्डरीक एक हजार वर्षों तक चारित्र पालकर अन्तिम अवस्था में फिसलने के कारण चन्द ही दिनों में इतना भारी कर्मा बन गया कि वह सातवीं नरक में गया। पुण्डरीक ने एक हजार वर्षों तक राजसी सुख भोगे, पर अन्तिम अवस्था में चन्द दिनों के संयम के कारण वे सर्वार्थसिद्ध विमान में उत्पन्न हुए। वस्तुतः व्यक्ति के उत्थान और पतन में चारित्र के अल्पत्व और बहुत्व की अपेक्षा उसके भावों का विशेष महत्व होता है। भावों से ही व्यक्ति उत्थित और पतित होता है। —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अ. 19

कुणाल

मौर्यवंशी सम्राट् अशोक का पितृभक्त और धर्मात्मा पुत्र। कुणाल की माता का नाम असन्ध्यमित्रा था

जो विदिशा नगर के जैन श्रेष्ठी की कन्या थी। उसके जीवन में जैन धर्म के संस्कार कूट-कूट कर भरे हुए थे। वही संस्कार कुणाल में भी विकसित हुए थे। कुणाल के हृदय में जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ आस्था थी।

कुणाल सुन्दर और बुद्धिमान युवक था। कुणालपक्षी की भांति कुणाल की आंखें अति सुन्दर थी। अंततः उसका सौन्दर्य ही उसके लिए घातक सिद्ध हुआ। अशोक की एक युवा रानी—तिष्यरक्षिता कुणाल के रूप पर आसक्त हो गई। उसने कुणाल से अनैतिक प्रस्ताव किया, जिसे कुणाल ने ग्लानिभाव से अस्वीकार कर दिया। इससे तिष्यरक्षिता प्रतिशोध की अग्नि में जल उठी। उसने एक षड्यंत्र रचकर कुणाल की आंखें फुड़वा दीं। षड्यन्त्र का भेद खुलने पर तिष्यरक्षिता को महान अपयश और मृत्यु प्राप्त हुई।

कुणाल का विवाह रूप गुण सम्पन्न कंचनमाला नामक एक कन्या से हुआ था जो एक जैन श्रेष्ठी की पुत्री थी। उसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम सम्प्रति प्रसिद्ध हुआ। सम्राट् अशोक ने अपने पौत्र कुणाल के पुत्र संप्रति को ही अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

कुबेर

नल राजा का लघु भ्राता जो स्वभाव से दुष्ट और छलिया था। वह कपट-द्यूत में निपुण था। कहीं-कहीं साहित्य में उसका नाम कूबर भी आता है। (देखिए-नल)

(क) कुबेरदत्त

भृगुकच्छ (भरूच) नगर का रहने वाला एक समुद्री व्यापारी, एक लम्पट और लोभी वणिक। (देखिए उत्तम कुमार)

(ख) कुबेरदत्त

मथुरा नगरी की गणिका कुबेरसेना का पुत्र। (देखिए-कुबेरदत्ता)

कुबेरदत्ता

मथुरा नगरी की रहने वाली गणिका कुबेरसेना की पुत्री। उसका एक सहोदर भी था, जिसका नाम कुबेरदत्त था। उत्पन्न होते ही अपनी इन दोनों संतानों को गणिका कुबेरसेना ने इनकी नामांकित मुद्रिकाएं पहनाकर काष्ठपेटिका में इन्हें लिटाकर यमुना में प्रवाहित कर दिया था। शौरीपुर के दो सेठों के घर इनका अलग-अलग पालन-पोषण हुआ। जब ये दोनों युवा हुए तो इनका परस्पर विवाह कर दिया गया। पर सुहागरात से पूर्व ही यह भेद खुल गया कि वे परस्पर भाई बहन हैं। इस विचित्रता से उन दोनों को बड़ी आत्मग्लानि हुई। कुबेरदत्ता विरक्त होकर साध्वी बन गई। कुबेरदत्त भी नगर छोड़कर अन्यत्र चला गया। कुबेरदत्ता ने साधना से अवधिज्ञान प्राप्त किया। भाई का पता लगाने के लिए उसने अपने ज्ञान का उपयोग लगाया तो देखा कि कुबेरदत्त मथुरा में कुबेरसेना के साथ भोगों में आसक्त है और उससे उसे एक पुत्र भी प्राप्त हुआ है। यह देखकर कुबेरदत्ता को बड़ी वितृष्णा हुई और अपनी गुरुणी की आज्ञा लेकर वह मथुरा नगरी में गई। वेश्या के घर ठहरी और एक युक्ति के द्वारा उसने माता और पुत्र के इस कुत्सित सम्बन्ध को विराम दिया। रहस्य अनावृत होने पर कुबेरसेना और कुबेरदत्त भी विरक्त हो गए और साधना में रत बन गए।

—जम्बू चरित्त

कुबेर सेना

मथुरा की एक गणिका। (देखिए-कुबेरदत्ता)

कुमारपाल (राजा)

कुमारपाल गुजरात का यशस्वी सम्राट् था। चौलुक्य वंश की प्रशाखा सोलंकी वंश में उसका जन्म ई. सन् 1093 में दधिस्थल गांव में हुआ था। उसके पिता का नाम त्रिभुवनपाल और माता का नाम कश्मीरा देवी था। त्रिभुवनपाल गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह का भतीजा था। वह धर्मात्मा और राजभक्त था। जयसिंह का भी उस पर अनुराग भाव था। पर अपने राज्यकाल के अंतिम वर्षों में जयसिंह सिद्धराज त्रिभुवनपाल से नाराज हो गया और उसने उसकी हत्या करवा दी। वह कुमारपाल की भी हत्या करना चाहता था। पर कुमारपाल प्राण बचाकर देशान्तर चला गया और कई वर्षों तक देशान्तर में भटकता रहा।

सिद्धराज जयसिंह का कोई पुत्र नहीं था। एक पुत्री थी। पुत्री से उत्पन्न पुत्र सोमेश्वर को उसने अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। पर जयसिंह की मृत्यु होने पर आचार्य हेमचंद्र के आशीर्वाद से राज्य के मंत्रियों और सभासदों ने अन्हिलपुर पाटन के सिंहासन पर कुमारपाल का राजतिलक किया। सिंहासन पर बैठते समय कुमारपाल की आयु पचास वर्ष थी। परन्तु उसका उत्साह और शौर्य जवानों जैसा था। शासन के प्रारंभिक वर्षों में कुमारपाल ने कई राज्यों को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया। उसने उत्तर में पश्चिमी पंजाब, पूर्व में गंगा तट, पश्चिम में समुद्र तट तथा दक्षिण में सह्याद्रि प्रदेश पर्यंत विजय पताका फहराई।

विशाल राज्य की सीमाओं को सुरक्षित करने के पश्चात् महाराज कुमारपाल अध्यात्म की ओर मुड़े। अपना अधिक समय वे अपने गुरु कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचंद्र के चरणों में बिताने लगे। उन्होंने आचार्य श्री के उपदेशों से प्रभावित होकर अपने विशाल साम्राज्य में अमारि घोषित कर दी, द्यूत, शिकार और मद्य-निषेध का आदेश जारी किया। श्रावक व्रत धारण कर उन्होंने प्रजा के समक्ष एक आदर्श गृहस्थ और आदर्श राजा का उदाहरण प्रस्तुत किया। उनके शासनकाल में रामराज्य का आदर्श साकार हुआ। प्रजा में नैतिक मूल्यों का प्रभूत विकास हुआ। गुजरात में समृद्धि और शान्ति का वह चरमोत्कर्ष काल रहा।

जैन धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा भाव के कारण महाराज कुमारपाल ने अपने शासनकाल में 1440 नवीन जैन मंदिरों का निर्माण कराया तथा 1600 पुराने मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया। साहित्य और संस्कृति का वह स्वर्णयुग रहा। साहित्य के क्षेत्र में आचार्य हेमचंद्र और उनके शिष्य रामचंद्र आदि मुनिराजों ने अद्भुत ग्रंथों की रचना की।

महाराज कुमारपाल के स्वर्ण शासन का अन्त ई.स. 1172 में तब हुआ, जब आचार्य हेमचंद्र का अकस्मात् स्वर्गवास हो गया। गुरु के विरह को कुमारपाल सह न सके और एक मास के पश्चात् इनका भी स्वर्गवास हो गया।

भारत के इतिहास में और विशेष रूप से गुजरात के इतिहास में महाराज कुमारपाल का शासनकाल स्वर्णयुग और रामराज्य के रूप में स्वर्णाक्षरित हुआ है। कई इतिहासकारों ने अशोक के समान महान नरेश के रूप में उनका प्रशस्ति- गान किया है। —प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं

कुमारसेन

एक राजकुमार, जिसकी इच्छा थी कि वह उसी राजकुमारी अथवा बाला से विवाह करेगा, जिसमें रूप-वैभव और बुद्धि-वैभव का पूर्ण सामंजस्य हो। उसने अपने पिता राजा सूर्यसेन और माता रानी ज्योत्स्ना से अपने हृदय की बात कही। राजा ने अपने पुत्र के विवाह के लिए ऐसी कन्या की खोज दूर देशों में कराई, पर उसकी इच्छा पूर्ण न हो सकी। आखिर राजा ने अपने पुत्र से कहा कि वह स्वयं देशाटन करे और अपने

लिए अपने अनुकूल पत्नी को खोजे। कुमारसेन स्वयं भी यही चाहता था। अपने साथ कुछ चुने हुए कुशल अंगरक्षकों को लेकर कुमारसेन ने देशाटन किया। पर संयोग से उसे उसके अनुकूल कोई कन्या न मिली। निराश होकर वह अपने नगर को लौट चला। मार्ग में विकट वन था। राजकुमार को प्यास लगी। दूर-दूर तक कहीं जल दिखाई न पड़ा। एक दिशा में पहाड़ी पर एक झोंपड़ी दिखाई दी। सैनिक पानी की खोज में झोंपड़ी पर पहुंचे। झोंपड़ी के द्वार पर पहुंचकर सैनिकों ने आवाज देकर पानी मांगा और वस्तुस्थिति कही कि उनके राजकुमार प्यासे हैं। झोंपड़ी के भीतर से एक बाला का स्वर गूंजा, प्यासे को स्वयं कुएं पर जाना होता है, कुआं प्यासे तक नहीं जाता। तुम्हारे राजकुमार से कहो कि वे स्वयं उपस्थित हों। सैनिकों ने लौटकर राजकुमार को सारी बात कही। कुमारसेन में भी कौतूहल जगा और वह झोंपड़ी के द्वार पर पहुंचा। उसके द्वार पर पहुंचते ही एक षोडशी बाला चांदी की जलझारी लिए उसके समक्ष उपस्थित हुई। राजकुमार ने शीतल जल पीकर प्यास शान्त की। वह उस कन्या के रूप को देखकर विस्मित हो गया। उसे लगा कि जैसे उसके समक्ष कोई देवकन्या ही खड़ी है। बाला की बुद्धिपरीक्षा के लिए उससे वार्तालाप शुरू करते हुए राजकुमार ने पूछा, तुम्हारे पिताजी कहां हैं? बाला ने कहा, वे आकाश की बूंद को रोकने का प्रबंध करने गए हैं। राजकुमार ने उसकी माता के बारे में भी वही प्रश्न दोहराया, जिसके उत्तर में बाला ने कहा कि वह एक का दो करने गई हैं। राजकुमार कुछ समझ न सका। उसने पूछा, तुम अंदर क्या कर रही थी? बाला ने कहा, मैं एक को पटकनी दे चुकी थी और दूसरी को देने ही जा रही थी कि आप आ गए। बाला ने तीन बातें कही, पर राजकुमार तीनों ही बातों के अर्थ नहीं समझ सका। उसने बाला से उसकी बातों के अर्थ स्पष्ट करने की प्रार्थना की। बाला ने पूछा कि वैसा करने पर उसे क्या पारितोषिक मिलेगा। राजकुमार ने कहा, मैं अपना सर्वस्व तुम्हें अर्पित कर दूंगा। बाला ने कहा, मेरे तीनों ही कथन यूं तो अति साधारण हैं। पर तुम्हारे लिए वे गूढ़ पहेलियां सिद्ध हुए हैं। अतः मैं उन पहेलियों का स्पष्टीकरण तुम्हारे राजदरबार में ही करूंगी। राजकुमार ने बाला की बात स्वीकार कर ली और समय सुनिश्चित कर वह अपने नगर में लौट गया। वह मन ही मन प्रसन्न था कि उसने उस बाला को खोज लिया है, जिसकी उसे वर्षों से तलाश थी। उसने अपने माता-पिता को वस्तुस्थिति से परिचित करा दिया।

सुनिश्चित समय पर राजदरबार सजा। वह बाला अपने तेजस्वी माता-पिता के साथ दरबार में उपस्थित हुई। राजा ने बाला से प्रार्थना की कि वह उस द्वारा कही गई पहेलियों के अर्थ स्पष्ट करे। बाला ने कहा, महाराज! मेरी एक शर्त है, यदि उसे आप पूरी करने का वचन दें तो मैं अपनी पहेलियों को स्पष्ट करूं। राजा बाला के रूप और वाग्चातुर्य से प्रभावित था। उसने वचन दे दिया। उसके बाद बाला ने अपनी पहेलियां स्पष्ट कीं। उसने कहा, मेरा प्रथम उत्तर था कि मेरे पिता आकाश की बूँद रोकने का प्रबंध करने गए हैं। इसका अर्थ सहज ही है। हम घास की झोंपड़ी में रहते हैं। वर्षा ऋतु आने वाली है और हमारी झोंपड़ी में स्थान-स्थान पर छिद्र हैं। मेरे पिता उन छिद्रों को बंद करने के लिए जंगल से घास और बांस लेने गए थे। दूसरी बात—जैसा कि मैंने कहा मेरी मां एक का दो करने गई हैं। इसका अर्थ था, हमारे घर में घरट्टिका नहीं थी, इसलिए मेरी मां मूंग व चने की दाल बनाने के लिए दूसरों के घर गई थी। तृतीय उत्तर था कि मैं झोंपड़ी में एक को पटकनी दे चुकी हूं और दूसरी को देने वाली हूं। स्पष्ट है कि मैं रोटी बना रही थी। एक रोटी को मैं पलट चुकी थी और दूसरी को पलटने ही वाली थी कि राजकुमार झोंपड़ी द्वार पर उपस्थित हो गए।

बाला के समाधानों से राजा, राजकुमार और उपस्थित सभासद मुग्ध हो गए। तब राजा ने बाला से उसकी शर्त पूछी। बाला ने कहा, मेरी शर्त यह है कि राजकुमार कुमारसेन कुसुमपुर के राज्य को जीतकर आएं।

बाला की इस शर्त को सुनकर राजा ने पूछा, बेटी! कुसुमपुर राज्य से तुम्हारी क्या शत्रुता है? राजा के प्रश्न का उत्तर बाला के वृद्ध पिता ने खड़े होकर दिया, राजन्! मैं कुसुमपुर नरेश विमलसेन हूं। चन्द्रसेन नामक पड़ौसी राजा ने अकस्मात् मेरे राज्य पर धावा बोल दिया। मुझे विवश होकर वन में शरण लेनी पड़ी।

चन्द्रसेन की धृष्टता की कथा सुनकर राजकुमार कुमारसेन का रक्त खौल उठा। उसने दलबल के साथ चन्द्रसेन पर चढ़ाई कर दी। चन्द्रसेन को बन्दी बना लिया गया। विमलसेन को पुनः राज्यारूढ़ किया गया।

शुभ मुहूर्त्त में कुमारसेन का विमलसेन की बुद्धिमती पुत्री से पाणिग्रहण हुआ। कालान्तर में कुमारसेन ही कुसुमपुर का राजा बना। उसने न्यायनीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया। श्रावकधर्म को अंगीकार कर उसने अपने जीवन को धर्ममय बनाया। आयुष्य पूर्ण कर वह शुभ गति का अधिकारी बना।

कुरंगक भील

कमठ का जीव पूर्व के एक भव में उक्त नाम का एक हिंसक भील था। (देखिए-मरुभूति)

कुरुदत्त (आचार्य)

उत्कृष्ट आचार का पालन करने वाले एक आचार्य। किसी समय आचार्य कुरुदत्त एक ग्राम के बाहर वृक्ष के नीचे विराजमान हुए। सांध्य प्रतिक्रमण के पश्चात् रात्रि में चार प्रहर पर्यंत कायोत्सर्ग में लीन रहने के संकल्प के साथ आचार्य श्री ध्यान मुद्रा में लीन हो गए। उधर ग्राम में रात्रि में चोर घुस गया। लोग जाग गए। जागरण देखकर चोर भाग खड़ा हुआ। लोग उसके पीछे भागे। जहां आचार्य कुरुदत्त ध्यान प्रतिमा में लीन थे, लोग वहां आए। लोगों ने उनसे चोर के बारे में पूछा। कायोत्सर्ग के संकल्पी आचार्य मौन रहे। लोगों ने उनकी हीलना-निंदना की और अंततः उन्हें ही चोर घोषित कर दिया।

लोगों ने मुनि के सिर पर मिट्टी की पाल बांधकर उसमें अग्नि उंडेल दी। मुनिश्री का सिर जलने लगा। असह्य वेदना हुई। परन्तु आचार्य कुरुदत्त ने अपनी ध्यान मुद्रा को बाधित नहीं होने दिया। समता भाव से देहोत्सर्ग करके वे उच्च गति के अधिकारी बने। आगामी भव में वे सिद्धत्व प्राप्त करेंगे।

—उत्तराध्ययन वृत्ति

कुलपुत्र क्षत्रिय

एक क्षत्रिय कुलपुत्र के भाई की किसी ने हत्या कर दी। हत्या करके हत्यारा कहीं छिप गया। भाई की हत्या पर कुलपुत्र के शोक का पार न रहा। अहर्निश भाई की स्मृति में वह आंसू बहाता रहता।

कुलपुत्र की यह दशा देखकर उसकी माता ने कहा, पुत्र! कायरों की तरह ऐसे कब तक आंसू बहाता रहेगा! तेरा कर्त्तव्य है कि तू अपने भाई के हत्यारे को खोज और उसे उचित दण्ड दे!

माता को प्रणाम कर क्षत्रिय कुलपुत्र नंगी तलवार लेकर घर से निकल गया। भाई के हत्यारे को वह निरन्तर खोजता रहा। गांव-गांव, नगर-नगर और वन-वन भटका। बारह वर्ष बीत गए पर न तो उसे भाई का हत्यारा मिला और न ही उसके क्रोध व प्रतिशोध की ज्वालाएं कम हुईं। शत्रु को खोजते-खोजते उसे स्वयं खो जाना तो स्वीकार्य था पर बिना सफल हुए घर लौटना स्वीकार नहीं था।

आखिर एक दिन उसे सफलता मिल ही गई। हत्यारे को समक्ष पाकर वह उस पर टूट पड़ा और उसे बंदी बना लिया। उसे लेकर वह अपनी मां के पास पहुंचा और उसे अपनी माता के चरणों पर पटक दिया। कुलपुत्र ने मां से कहा, मां! यह है हमारा अपराधी! इसने आपके पुत्र और मेरे भाई की हत्या की है। इसे

मृत्यु दण्ड दीजिए!

पुत्र की सफलता पर मां को प्रसन्नता हुई और अपने पुत्र के हत्यारे को समक्ष पाकर उसका हृदय घृणा और क्रोध से भर गया। कुलपुत्र ने मां से कहा—मां! आदेश दो कि मैं इसका सिर धड़ से अलग करके अपना प्रतिशोध पूर्ण करूं!

हत्यारा क्षत्राणी के कदमों पर गिरकर पुनः-पुनः अपने जीवन की भिक्षा मांग रहा था। वह गिड़गिड़ाते हुए कह रहा था—मां! तुम जैसी ही मेरी मां है, वह मेरे विरह में जी नहीं पाएगी। मेरी पत्नी और मेरे बच्चे अनाथ हो जाएंगे। मुझे क्षमा कर आप कई प्राणियों की रक्षा कर सकती हो। मुझे क्षमा कर दो!

हत्यारे के वचन सुनकर वृद्धा क्षत्राणी का हृदय पसीज गया। वह पुत्र-मृत्यु की वेदना का अनुभव कर चुकी थी। उसके कारण कोई अन्य वैसी ही पीड़ा का अनुभव करे, उसके कारण कोई स्त्री और कुछ बच्चे अनाथ हो जाएं, यह उसके लिए सह्य न था। उसने अपने पुत्र के हाथ से तलवार ले ली और कहा, पुत्र! इसे क्षमा कर दो! क्षमा से बड़ा प्रतिशोध अन्य नहीं है। हिंसा से हिंसा का स्रोत कभी सूख नहीं सकता। क्रोध से क्रोध की आग कभी शान्त नहीं हो सकती। रक्त-सने वस्त्र के प्रक्षालन के लिए रक्त की नहीं, शुद्ध जल की आवश्यकता होती है। इसे क्षमा कर इस वैर-परम्परा का मिटा दो!

मां के वचन सुनकर कुलपुत्र सहम गया। जिस शत्रु की खोज में वह बारह वर्षों तक भूखा प्यासा भटकता रहा था, क्या उसे बिना दण्डित किए छोड़ दिया जाए? पर माता के आदेश के समक्ष कुलपुत्र ने अपने प्रतिशोध को तिलांजलि दे दी। उसने तलवार फैंक दी।

कुलपुत्र ने भोजन कराकर उस व्यक्ति को विदा किया और क्षमा का अनुपम उदाहरण मानवीय इतिहास के पृष्ठ पर अंकित कर दिया। —उत्तराध्ययन, अ. 1 (कमल संयमी टीका)

कुलिशबाहु

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में स्थित पुरानपुर नगर का राजा। (देखिए-मरुभूति)

कुवलयचंद्र

अयोध्या नगरी का एक तेजस्वी राजकुमार। (देखिए-कुवलयमाला)

कुवलयमाला

प्राचीन भारतवर्ष की विजया नगरी की रूप-गुण सम्पन्न एक राजकुमारी। कुवलयमाला का विवाह पूर्वजन्म के मित्र और अयोध्या नगरी के राजकुमार कुवलयचंद्र के साथ हुआ। विवाह के पश्चात् कुवलयमाला और कुवलयचंद्र ने सुदीर्घ काल तक सांसारिक सुख भोगे। जीवन के पश्चिम प्रहर में दोनों ने प्रव्रज्या धारण कर संयम की आराधना की। दोनों ही आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में देव हुए।

देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर कुवलयचंद्र का जीव काकंदी नगरी के राजकुमार मणिरथ कुमार के रूप में जन्मा। उसने भगवान महावीर के पास संयम धारण कर सर्व कर्म क्षय कर मोक्ष को प्राप्त किया।

उधर कुवलयमाला का जीव देवायुष्य पूर्ण कर मगधनरेश श्रेणिक के पुत्र रूप में जन्मा, जहां उसका नाम महारथ कुमार रखा गया। आठ वर्ष की अवस्था में ही महारथ कुमार ने भगवान महावीर के श्री चरणों में प्रव्रज्या अंगीकार की। उत्कृष्ट तपाराधना से केवलज्ञान प्राप्त कर वह भी सिद्ध हुआ।

—उद्योतन सूरि कृत कुवलयमाला

कुश

श्रीराम और सीता का पुत्र। कुश बचपन से ही बहुत शूरवीर था। अपने भाई लव के साथ मिलकर उसने किशोरावस्था में ही त्रिखण्डजयी अयोध्या की सेना को धूल चटा दी थी। (देखिए-सीता)

कुसुमपाल

राजगृह नगर का एक धनी श्रेष्ठी। (देखिए-धन्य जी)

(क) कुसुमवती

देवपुरा नामक ग्राम के वणिक विनोदीलाल की पुत्री। कुसुमवती चार भाइयों की इकलौती बहन थी। वणिक ने अपनी पुत्री का लग्न निकटस्थ नगर कनकपुर के श्रेष्ठी ऋषभदास के पुत्र हीरालाल से कर दिया। परंतु विवाह से पूर्व ही ऋषभदास और उसकी पत्नी का देहान्त हो गया। इतना ही नहीं, लक्ष्मी भी उस घर से रूठ गई। व्यापार तो चौपट हुआ ही, हीरालाल से उसका घर भी लेनदारों ने कब्जा लिया। समय के पलटते ही विनोदीलाल ने भी हीरालाल को भुला दिया और वह अपनी पुत्री के लिए अन्य वर की तलाश करने लगा। पर कनकवती को पिता का यह व्यवहार उचित नहीं लगा। उसने पिता से इसका विरोध किया और स्पष्ट किया कि उसका लग्न जहां किया गया है, वहीं उसका विवाह किया जाना चाहिए। आखिर पुत्री की जिद के समक्ष पिता को झुकना पड़ा। उसने पुत्री का विवाह हीरालाल से कर दिया पर प्रीतिदान में फूटी कौड़ी भी नहीं दी। कुसुमवती को उसकी आवश्यकता भी नहीं थी।

कनकपुर आकर कुसुमवती अपने पति के साथ तृण-कुटीर में रहने लगी। कुसुमवती देव, गुरु और धर्म के प्रति सुदृढ़ आस्थावान थी। उसने हीरालाल को भी धर्म का मर्म समझाया। हीरालाल धर्मध्यान के प्रति समर्पित हो गया। वह जंगल से लकड़ियां काटकर लाता और उससे अर्जित धन से दोनों उदरपोषण कर आनन्द मानते। उनके कुटीर के पीछे बिना किसी के स्वामित्व की भूमि थी। कुसुमवती ने पति को प्रेरित किया कि उस भूमि पर कृषि करने से उनके भाग्य का अवश्यमेव उदय होगा। भूमि पथरीली थी। पति-पत्नी दोनों जमीन को खोदकर उर्वरा बनाने के श्रम में जुट गए। उसी क्रम में उन्हें वहां पर गड़ा हुआ प्रभूत स्वर्ण प्राप्त हुआ। उससे कुसुमवती और हीरालाल का भाग्य बदल गया। झोंपड़ी का स्थान विशाल भवन ने ले लिया। कुसुमवती के दिशा-निर्देशन में हीरालाल ने व्यापार शुरू किया। उसने दिन दोगुनी और रात चौगुनी उन्नति की। शीघ्र ही वह नगर का सबसे समृद्ध श्रेष्ठी बन गया। उसने कुसुमवती के निर्देश पर कम से कम दो बार राजा के प्राणों की रक्षा की। प्रथम बार राजा ने उसे नगरसेठ बनाया और दूसरी बार उसे आधा राज्य दिया।

एक बार एक म्लेच्छ राजा ने कनकपुर पर आक्रमण किया। कुसुमवती के दिशा-निर्देश पर हीरालाल ने रणजौहर दिखाए और म्लेच्छ राजा को परास्त कर दिया। उसका यश चतुर्दिक् वर्धमान हुआ।

कुसुमवती और हीरालाल ने धर्मध्यानपूर्वक जीवन बिताया। जीवन के उत्तरार्ध पक्ष में दोनों ने संयम का पालन कर मोक्ष प्राप्त किया।

(ख) कुसुमवती

कुसुमपुर नगर की एक श्रेष्ठी पुत्री, जो परम बुद्धिमती कन्या थी। कुसुमवती के पिता का व्यापार विदेशों में फैला हुआ था। एक बार जब पिता व्यापारार्थ विदेश गए हुए थे तो युवा कुसुमवती का चित्त चंचल हो गया। उसने सांकेतिक भाषा में एक पत्र पर कुछ वस्तुएं लिखीं और दासी को उन वस्तुओं को

लाने के लिए बाजार में भेजा। कुसुमवती किसी ऐसे युवक की तलाश में थी जो बुद्धिनिधान हो। इसीलिए उसने वस्तुओं के नाम सांकेतिक भाषा में लिखे थे। आखिर उसका मन्तव्य पूर्ण हुआ। कुसुमसेन नामक एक सुन्दर, सच्चरित्र युवक उसके संकेतों की सीढ़ियों से चढ़ता हुआ रात्रि में उसके घर आ गया। घर पर भी कुसुमवती और कुसुमसेन सांकेतिक भाषा में बतियाए। आखिर कुसुमसेन अपने घर लौट गया।

नगर नरेश जयसिंह गवाक्ष से कुसुमवती और कुसुमसेन के संकेतों को देख रहा था, पर वह संकेतों का रहस्य नहीं जान पाया। दूसरे दिन कुसुमसेन को दरबार में बुलाकर राजा ने उनके संकेतों के रहस्य पूछे। मौन रहने पर राजा ने श्रेष्ठी-पुत्र को शूली का दण्ड तक दे डाला। पर श्रेष्ठीपुत्र ने अपना मौन नहीं तोड़ा। आखिर कुसुमवती से संकेत पाकर कुसुमसेन ने संकेतों के रहस्य स्पष्ट किए, जिन्हें सुनकर राजा-प्रजा कुसुमसेन और कुसुमवती की बुद्धिमत्ता, सच्चरित्र और कुल-मर्यादा को देखकर गद्‌गद बन गए। आखिर राजा ने कहा कि वह स्वयं उन दोनों को परिणय सूत्र में बांधकर अपना अहोभाव प्रकट करना चाहता है। इस पर कुसुमवती और कुसुमसेन ने स्पष्ट किया कि वे दोनों तो आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य के पालन का संकल्प ले चुके हैं। सुनकर राजा और प्रजा कुसुमवती और कुसुमसेन के चरणों में नत हो गए। कुसुमवती को राजा ने अपनी बहन बनाया और कुसुमसेन को नगरसेठ के पद से सम्मानित किया। अखण्ड ब्रह्मचर्य को आजीवन साधते हुए दोनों सद्‌गति के अधिकारी बने।

कुसुमश्री

लंकानगरी के पुष्पबटुक नामक राजमाली की पुत्री और हरिबल की परिणीता। (देखिए-हरिबल)

कूपदारक कुमार

महाराज बलदेव और रानी धारिणी के अंगजात। (इनका परिचय सुमुख के समान है)

—अन्तकृद्दशांग सूत्र वर्ग 3, अध्ययन 11,

कूरगडुक मुनि

आचारांग चूर्णि के अनुसार कूरगडुक एक ऐसे मुनि थे, जो क्षुधावेदनीय कर्म के कारण एक दिन भी निराहारी नहीं रह सकते थे। परन्तु उनमें समता पराकाष्ठा की थी। कैसी भी विपरीत स्थितियों में वे अपनी समता को खण्डित नहीं होने देते थे। यों वे राजपुत्र थे। अमरपुर के महाराज कुम्भ के वे पुत्र थे। कुमारावस्था में उनका नाम ललितांगकुमार था। वे सुन्दर और कोमलांग थे। आचार्य धर्मघोष के उपदेश से विरक्त बनकर उन्होंने दीक्षा ली थी। दीक्षित होते ही उन्होंने सरस पदार्थों का त्याग कर दिया और अग्नि संस्कारित कूर नामक धान्य को भोजन रूप में चुना। उस नीरस भोजन को वे घृत-शक्कर के समान मधुर मानकर उदरस्थ करके संयम का परिपालन करते। मात्र कूर धान्य का आहार करने के कारण उन्हें कूरगडुक कहा जाने लगा।

एक बार वर्षावास काल में देववाणी हुई कि किसी भव्यात्मा को सम्वत्सरी पर्व पर केवलज्ञान की प्राप्ति होगी। इस देववाणी से श्रमणों और श्रावकों में विशेष रूप से तप-रुचि का जागरण हुआ। अनेक श्रमणों और श्रावकों ने बढ़-चढ़कर तप किए।

सम्वत्सरी के दिन उपाश्रय में तप की विशेष बहार थी। नन्हे-मुन्ने बालकों ने भी तप किए थे। पर कूरगडुक उस दिन भी तप न कर सके। भिक्षा का समय होते-होते वे क्षुधा से निढाल हो जाते थे। उन्होंने आचार्य श्री से भिक्षा की अनुमति मांगी। आचार्य ने घृणा से मुंह फेर लिया। कूरगडुक शान्त भाव से भिक्षा

(कूर का धान्य) ले आए। साध्वाचार के अनुरूप उन्होंने आचार्य को भिक्षा दिखाई। आचार्य ने अपशब्दों से कूरगडुक की तप-अक्षमता को धिक्कारते हुए उनके भोजन पर थूक दिया। इस पर भी कूरगडुक मुनि के हृदय में एक भी अन्यथा भाव नहीं उपजा। आहार करने बैठे तो स्वयं को धिक्कारने लगे। तपस्वियों के प्रति परम श्रद्धा और गुणगान का भाव उनमें उपज रहा था। उत्कृष्ट भावों तथा अखण्ड समता के बल पर कूरगडुक केवली बन गए। देवदुंदुभियां बज उठीं। सभी ने अनुभव किया कि आहार-त्याग वास्तविक तप नहीं है, वास्तविक तप तो कषाय-त्याग है। —आचारांग चूर्णि

कूलबालुक मुनि

कूलबालुक एक अविनीत और हठी शिष्य था। एक बार जब वह अपने वृद्ध गुरु के साथ एक पहाड़ी से उतर रहा था तो गुरु आगे थे और वह पीछे था। पीछे से उसने एक शिलाखण्ड सरका दिया। शिला की आवाज से वृद्ध मुनि चौकन्ने हो गए और किसी तरह उन्होंने अपनी रक्षा की। तब उन्होंने शिष्य को श्राप दिया कि वह किसी स्त्री के संसर्ग से पतित होकर दुर्गति का अधिकारी होगा। गुरु के श्राप को मिथ्या सिद्ध करने के लिए कूलबालुक सुनसान और गहन वन में एक पर्वतीय नदी के तट पर रहकर घोर साधना करने लगा। उसकी साधना इतनी कठोर थी कि जब नदी किनारों को तोड़कर बहने लगी, तब भी वह समाधिस्थ बैठा रहा। उसकी साधना से प्रभावित होकर एक देवी ने नदी का प्रवाह बदल दिया। इसी से उस मुनि का नाम कूलबालुक पड़ गया। कूलबालुक कभी नगर अथवा ग्राम में भिक्षा के लिए नहीं जाता था। कोई यात्री अथवा पथिक उधर से गुजरता तो उसी से प्राप्त भिक्षा से पारणा करता, अन्यथा तपस्या ही करता रहता था।

चेटक-कोणिक संग्राम में जब दस दिनों के युद्ध में कोणिक के दस भाई मारे गए तो उसे अपनी मृत्यु भी साक्षात् दिखाई देने लगी। तब उसने शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र की सहायता से वैशाली की सेना का विनाश कर दिया। महाराज चेटक ने वैशाली दुर्ग-द्वार बंद करवा दिए। कोणिक सहस्रों उपाय करके भी वैशाली के दुर्ग की दीवारों को नहीं तोड़ पाया। तब एक व्यंतरी ने कोणिक को बताया कि मागधिका वेश्या यदि कूलबालुक मुनि को वश में कर ले तो उसके सहयोग से वैशाली का दुर्ग ध्वस्त किया जा सकता है। कोणिक ने बहुत सा धन देकर मागधिका को इस कार्य के लिए राजी कर लिया। मागधिका ने कपटश्राविका का स्वांग रचकर कूलबालुक को पथभ्रष्ट कर दिया। योजनानुसार कूलबालुक ने वैशाली में जाकर वहां स्थित मुनिसुव्रत स्वामी का चैत्य खंडित करवा दिया। चैत्य के खंडित होते ही दुर्ग दीवारें ध्वस्त हो गईं। कोणिक ने वैशाली नगरी में गधों से हल चलवा कर अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण की। पतित कूलबालुक गुरु श्राप के कारण दुर्गति का अधिकारी बना।

कृतपुण्य

राजगृह नगर के धनाढ्य श्रेष्ठी धनदत्त का पुत्र। कृतपुण्य का जीवन विभिन्न उतार-चढ़ावों से पूर्ण रहा। वह कई वर्षों तक देवदत्ता नामक वेश्या के घर रहा। पिता का सारा धन वेश्या की माता ने हरण कर लिया। घर लौटा तो उसके माता-पिता का निधन हो चुका था। उसकी पत्नी जयश्री ने उसका स्वागत किया। धनार्जन के संकल्प के साथ कृतपुण्य ने घर से प्रस्थान किया तो वह राजगृह नगरी की चम्पा सेठानी के षड्यन्त्र में फंस गया। सेठानी के घर में रहकर उसे उसकी पुत्रवधुओं को एक निर्धारित समय सीमा के लिए पत्नी बनाना पड़ा। वहां वह बारह वर्षों तक रहा। प्रत्येक पत्नी से उसे चार-चार पुत्र हुए। स्वार्थ पूरा हो जाने पर चम्पा सेठानी ने कृतपुण्य को अपने घर से निकाल दिया। पत्नियों ने गुप्त रूप से चार मोदक कृतपुण्य

की पोटली में बांध दिए थे। प्रत्येक मोदक में एक-एक जलकान्त मणि थी। कृतपुण्य घर गया। आखिर जलकान्त मणि ही कृतपुण्य के भाग्योदय का कारण सिद्ध हुई। उसी के कारण वह महाराज श्रेणिक का दामाद बना। अभयकुमार के सहयोग से उसने चारों पत्नियों को खोज निकाला। देवदत्ता भी निंद्य कर्म का परित्याग कर कृतपुण्य के पास आ गई। वह सौ गांवों का स्वामी भी बन गया। सात पत्नियों के साथ वह सुखपूर्वक रहने लगा।

एक बार भगवान महावीर राजगृह नगर में पधारे। कृतपुण्य पत्नियों और पुत्रों के साथ भगवान के दर्शनों के लिए गया। कृतपुण्य ने भगवान से अपनी समृद्धि का मूल कारण पूछा। भगवान ने उसका पूर्वभव सुनाया और स्पष्ट किया कि वह सब सुपात्रदान का फल है। उसने एक मुनि को चढ़ते भावों के साथ खीर का दान दिया था। उसी पुण्य के फलस्वरूप स्वतः ही स्थितियां कृतपुण्य के अनुकूल होती रहीं और बिना श्रम से ही उसे अकूत लक्ष्मी और अन्य साधन सामग्री मिली।

अपनी पत्नियों के साथ कृतपुण्य प्रभु के पास दीक्षित हुआ और सुगति का अधिकारी बना।

कृतवर्मा

कंपिलपुर के प्रतापी नरेश और तेरहवें अरिहंत श्री विमलनाथ भगवान के जनक। (देखिए-विमलनाथ तीर्थंकर)

कृपाचार्य

कुरु राज परिवार के कुलगुरु और एक विद्वान तथा बलवान आचार्य। धृतराष्ट्र और पाण्डु के पुत्रों की प्राथमिक शिक्षा-दीक्षा उनके सान्निध्य में हुई थी। उन्हें हस्तिनापुर राज्यसभा में उच्चासन प्राप्त था। वे शस्त्रास्त्र विद्या में भी निपुण थे और महाभारत के युद्ध में भी दुर्योधन के पक्ष में उन्होंने युद्ध किया था।

—देखिए-जैन महाभारत

कृष्ण वासुदेव

जैन मान्यता के अनुसार एक प्रबल पराक्रमी पुरुष, त्रिखण्डाधिपति और नवम् वासुदेव। वैदिक मान्यतानुसार विष्णु के पूर्णावतार, मानव रूप में परब्रह्म परमेश्वर। जैन और वैदिक, दोनों परम्पराओं के ग्रंथों में श्रीकृष्ण का चरित्र पर्याप्त समानताओं और असमानताओं के साथ चित्रित हुआ है। जैन पुराणों के अनुसार श्रीकृष्ण का चरित्र यों है—

श्रीकृष्ण, वसुदेव और देवकी के पुत्र थे। उनका जन्म उनके मामा कंस के कारावास में हुआ था। वसुदेव जब देवकी से विवाह रचाने मथुरा गए तब उनके विवाह की प्रसन्नता में कंस की रानी जीवयशा, जो प्रतिवासुदेव जरासंध की पुत्री थी, मद्यपान करके नाच रही थी। उसी समय कंस के लघुभ्राता अतिमुक्तक, जो कई वर्ष पहले ही मुनि बन गए थे, भिक्षा के लिए जीवयशा के महल में आए। मद्य से मत्त बनी जीवयशा ने देवर मुनि से उपहास शुरू कर दिया। क्षुब्ध होकर मुनि ने कह दिया—जिस देवकी के विवाह की खुशी में तुम इतनी अविवेकी हो रही हो, उसी की सातवीं संतान तुम्हारे वैधव्य का कारण बनेगी!

मुनि की बात सुनकर जीवयशा का नशा उतर गया। कंस को भी मुनि की भविष्यवाणी की बात ज्ञात हुई। उसने छल से वसुदेव और देवकी को कारावास में डाल दिया और प्रतिज्ञा की कि वह उनकी समस्त संतानों को जन्म लेते ही मार डालेगा।

कालक्रम से देवकी ने एक-एक कर छह पुत्रों को जन्म दिया। हरिणगमेषी देव ने देवकी के पुत्रों को

भद्दिलपुर की सुलसा गाथापत्नी के पास पहुंचा दिया और उसके मृत पुत्रों को देवकी के पास लाकर रख दिया। मृत बालकों को देवकी की संतान मानकर कंस उन्हें शिला पर पटकता और संतुष्ट हो जाता।

भाद्रपद कृष्ण अष्टमी की अर्धरात्रि को देवकी ने सातवीं संतान, जो एक परम तेजस्वी पुत्र था, को जन्म दिया। बालक के पुण्य प्रभाव से कारागृह रक्षक सो गए। द्वारों पर लगे ताले खुल गए। वसुदेव अपने नवजात पुत्र को गोकुल में रहने वाले अपने मित्र नन्द को दे आए। यही पुण्यवान बालक 'कृष्ण' नाम से लोक में सुख्यात हुआ। नन्द की पत्नी यशोदा ने कृष्ण का लालन-पालन किया। इसीलिए श्रीकृष्ण को नन्दलाला और यशोदानन्दन भी कहा जाता है।

गोकुल मे कृष्ण पल रहे थे। कंस ने उन्हें मरवाने के अनेक यत्न किए। पर कृष्ण के पुण्य बल के समक्ष कंस के समस्त बल कुंद पड़ गए। आखिर एक दिन श्रीकृष्ण ने कंस को उसी की राजसभा में मार डाला। अपने माता-पिता को कारागृह से मुक्त किया।

जीवयशा के मुख से कंस-वध की सूचना सुनकर प्रतिवासुदेव जरासंध क्रोधित हो उठा। उसने श्रीकृष्ण के वध का संकल्प कर लिया। समुद्रविजय आदि प्रमुख यादव श्रीकृष्ण को लेकर पश्चिम की ओर समुद्र तट पर पहुंचे। वहां पर देवताओं ने श्रीकृष्ण के लिए द्वारिका नाम की एक सुंदर नगरी बसाई। श्रीकृष्ण वहां के राजा बने। अवसर पाकर जरासंध ने द्वारिका पर आक्रमण कर दिया। श्रीकृष्ण के नेतृत्व में यादव वीरों ने जरासंध की सेना को परास्त कर दिया। श्रीकृष्ण ने जरासंध के ही सुदर्शन चक्र से उसका वध कर दिया। देवताओं ने श्रीकृष्ण का जयघोष किया और नवम् वासुदेव के रूप में उनका अभिनन्दन किया।

द्वारिका को राजधानी बनाकर श्रीकृष्ण ने तीन खण्डों पर शासन किया। पांचों पाण्डव उनके नजदीकी मित्र थे। वैदिक परम्परानुसार श्रीकृष्ण के ही बूते पर पाण्डवों ने विशाल और अजेय कौरव सेना को परास्त किया था।

सत्यभामा, रुक्मिणी, जांबवती, गौरी आदि श्रीकृष्ण की आठ पटरानियां व सोलह हजार अन्य रानियां थीं। प्रद्युम्न प्रमुख उनके हजारों पुत्र थे। कुल छप्पन करोड़ यादवों के वे प्रमुख और सर्वमान्य नेता थे।

गजसुकुमार श्रीकृष्ण के लघुभ्राता थे। सोलह वर्ष की अल्पायु में वे मुनि बने। दीक्षा के प्रथम दिन ही उनका निर्वाण हो गया। भाई के अकाल विरह ने श्रीकृष्ण के मानस को मथ दिया। श्रीकृष्ण प्रभु श्री अरिष्टनेमि के चरणों में सर्वात्मना समर्पित थे। प्रभु से उन्होंने अपनी मृत्यु और अपनी नगरी का भविष्य पूछा। भगवान ने स्पष्ट कर दिया कि उनकी नगरी का विनाश मदिरा के कारण होगा तथा उनकी मृत्यु उन्हीं के चचेरे भाई जराकुमार के हाथ से होगी।

श्रीकृष्ण ने अपनी नगरी में मदिरापान पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिया। साथ ही यह घोषणा करा दी कि जो भी व्यक्ति दीक्षा लेना चाहे, उसके परिवार का सम्पूर्ण दायित्व श्रीकृष्ण स्वयं वहन करेंगे। उक्त घोषणा का चमत्कारिक प्रभाव हुआ। हजारों-हजार नागरिकों ने एक ही दिन दीक्षा ग्रहण की। श्रीकृष्ण की हजारों रानियों, अनेक पुत्रों और पौत्रों ने भी भगवान का शिष्यत्व ग्रहण किया। उत्कृष्ट धर्मदलाली से श्रीकृष्ण ने तीर्थंकर गोत्र का बंध किया। अगली चौबीसी में वे अगम नाम के बारहवें तीर्थंकर होंगे।

एक बार यादव कुमारों ने अनजाने में मदिरापान कर द्वैपायन ऋषि को महान कष्ट दिया। ऋषि ने निदान करके प्राणोत्सर्ग किया और वह मरकर अग्निकुमार देव बना। जब तक द्वारिका नगरी में धर्म- ध्यान होता रहा, तब तक वह देवता नगरी का कोई अहित न कर सका। एक दिन ऐसा आया जब द्वारिका नगरी में धर्मध्यान नहीं हुआ। अग्निकुमार देव को अवसर मिल गया। उसने अंगारों की घनघोर वर्षा कर द्वारिका

नगरी को भस्मीभूत कर दिया। पास ही अथाह समुद्र लहरा रहा था पर वह किसी काम न आया।

श्रीकृष्ण और बलराम माता-पिता को रथ में बैठाकर द्रुत गति से चले। पर सिंहद्वार रथ पर गिर पड़ा। वसुदेव और देवकी का अवसान हो गया। कर्मलीला को देखते-विचारते दोनों भाई आगे बढ़े। कौशाम्बी वन में पहुंचकर श्रीकृष्ण को प्यास लगी। बलराम पानी की तलाश में निकले। श्रीकृष्ण एक वृक्ष के नीचे पैर पर पैर रखकर लेट गए। पीताम्बर वायु में लहरा रहा था। शिकार के लिए भटकते जराकुमार ने दूर से श्रीकृष्ण के पैर में चमक रहे पद्म को मृग की आंख समझकर बींध डाला। श्रीकृष्ण का निधन हो गया। श्रीकृष्ण के जीवन की महिमा और गरिमा की परिचायक हजारों कहानियां जगत में प्रचलित हैं।

कृष्णराजि (आर्या)

आर्या कृष्णराजि का समग्र परिचय आर्या काली तथा आर्या कृष्णा के समान आगम में वर्णित है। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 10, अ. 2

(क) कृष्णा

महाराज श्रेणिक की रानी और कृष्णकुमार की माता। इनका शेष परिचय कालीवत् है। विशेष इतना है कि कृष्णा ने महासिंहनिष्क्रीड़ित तप किया। इस तप की एक परिपाटी में एक वर्ष, छह मास और अठारह दिन लगते हैं तथा चारों परिपाटियों में छह वर्ष, दो मास और बारह अहोरात्र लगते हैं।

—अन्तकृद्दशांग सूत्र, वर्ग 8, अध्ययन 4

(ख) कृष्णा (आर्या)

आर्या कृष्णा का जन्म वाराणसी नगरी में हुआ। इनके माता-पिता के नाम क्रमशः धर्मा और राम थे। प्रभु पार्श्व के पास इन्होंने प्रव्रज्या धारण की। शरीर-बकुशा बन कालधर्म को प्राप्त हुई। यह ईशानेन्द्र की पट्टमहिषी के रूप में जन्मी। वहां से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र से सिद्ध होंगी। इनका समग्र परिचय काली आर्या के समान आगम में इंगित किया गया है। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 10, अ. 1

केकसी

रत्नश्रवा नामक राक्षसवंशी विद्याधर रत्नश्रवा की पत्नी और रावण, कुंभकर्ण तथा विभीषण की माता।

—देखिए-जैन रामायण

कैकेयी

महाराज दशरथ की रानी, भरत की माता और श्रीराम की लघुमाता। कैकेयी एक पतिव्रता सन्नारी थी। उसने अपनी पतिभक्ति का परिचय उस क्षण ही दे दिया था, जब महाराज दशरथ से उसका पाणिग्रहण हुआ। घटना यूं थी—

रावण उस युग का महाबली राजा था। एक बार रावण के पूछने पर किसी ज्योतिषी ने बताया था कि दशरथ-नंदन राम के हाथ से उसकी मृत्यु होगी। रावण ने अपने गुप्तचर विभाग से सूचनाएं एकत्रित कीं। उसे ज्ञात हुआ कि अभी तक तो दशरथ के कोई पुत्र ही उत्पन्न नहीं हुआ है। परन्तु इसी बात से संतोष नहीं किया गया और दशरथ-वध का ही निश्चय किया गया। लंकेश का अनुज विभीषण अयोध्या पर चढ़ आया। व्यर्थ रक्तपात से बचने के लिए दशरथ वेश बदलकर अयोध्या से निकल गए। अयोध्या की सेना ने

भी विभीषण को कोई प्रतिरोध नहीं दिया। वस्तुतः यह सब कूटनीति का अंग था। गुप्त रूप से ऐसी व्यवस्था की गई थी कि विभीषण को यह विश्वास हो जाए कि दशरथ की हत्या में वह सफल हो गया है। महाराज दशरथ का एक पुतला बनाकर उनकी शैया पर लिटाया गया था। विभीषण दनदनाता हुआ अयोध्या के राजमहल में घुस आया और पुतले को दशरथ मानकर तलवार के प्रहार से उसका सर काट दिया।

साधारण वेश-भूषा में घूमते हुए दशरथ उत्तरापथ के कौतुकमंगल नगर में पहुंचे। वहां के राजा शुभमति और रानी पृथ्वीश्री की आत्मजा कैकेयी का स्वयंवर समायोजित था, जिसमें दूर देशों के अनेक राजा सम्मिलित थे। दशरथ भी दर्शकदीर्घा में जा बैठे। कैकेयी ने सभी राजाओं को अदेखा करते हुए दर्शकदीर्घा मे खड़े दशरथ के गले में वरमाला डाल दी। इससे आमंत्रित राजाओं में नाराजगी फैलना स्वाभाविक था। सभी राजाओं ने योजना बनाकर दशरथ-वध का संकल्प किया। दशरथ भी कब पीठ दिखाने वाले थे! वे एक रथ पर चढ़ गए। कैकेयी अपने पति की सारथि बनी। घोर संग्राम हुआ। दशरथ ने सभी राजाओं को मार भगाया। कैकेयी की पतिभक्ति और सारथ्यकला से गद्‌गद दशरथ ने उसे वर मांगने को कहा। कैकेयी ने समुचित अवसर के लिए उस वर को पति के पास धरोहर रूप में रख छोड़ा।

कालांतर में जब दशरथ चतुर्ज्ञानी मुनि सत्यभूति का उपदेश सुनकर आर्हती दीक्षा के लिए तैयार हुए तो भरत भी पिता के अनुगामी बनने को उत्सुक हो गए। कैकेयी के लिए ये कठिन क्षण थे। वह एक साथ पति और पुत्र के वियोग को सह न सकी। उसने पति के पास धरोहर रूप में रख छोड़ा अपना वर भरत के राजतिलक के रूप में मांग लिया।

दशरथ के लिए राम और भरत में भेद न था। उन्होंने अपने वचन की रक्षा के लिए राम के स्थान पर भरत का राजतिलक करने की घोषणा कर दी। परन्तु अग्रज राम का अनन्य प्रेमी भरत भला कब इस बात को स्वीकार कर सकता था! स्थिति विचित्र और विकट बन गई। तब श्री राम ने वन का पथ चुन लिया। श्रीराम की दृष्टि में उक्त विकट स्थिति से निपटने का वही एक उपाय था।

श्रीराम के साथ सीता और लक्ष्मण भी वन में चले गए। इन सब के लिए लोक में कैकेयी को उत्तरदायी माना गया। पर जैनरामायण के अनुसार कैकेयी के हृदय में राम के लिए तिलमात्र भी द्वेषभाव न था। वह राम को वापस लाने के लिए वन में गई।

आखिर गहन पश्चात्ताप की ज्वालाओं में जलते हुए कैकेयी ने चौदह वर्ष बिताए। लंका विजय के पश्चात् श्रीराम अयोध्या लौटे। तब कैकेयी को सुख और संतोष हुआ। आखिर में कैकेयी प्रव्रजित हुई। निरतिचार संयम और उग्र तपश्चर्या से उसने समस्त कर्म-राशि को भस्मीभूत कर परम पद पाया।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 7

केतुमती (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान जानना चाहिए। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 18

केशरी (सामायिक)

कामपुर नगर के धनी व्यापारी संघदत्त का पुत्र और एक सदाचारी बालक। बाल्यावस्था में ही केशरी ने मुनियों से सामायिक की महिमा को सुना और जाना था तथा प्रतिदिन एक शुद्ध सामायिक करने का अपने मन में सुदृढ़ संकल्प किया था। वह नित्य एक शुद्ध सामायिक की आराधना करता। पर जैसे-जैसे वह

बड़ा हुआ, उसके जीवन में चोरी का दुर्गुण आ गया। युवा होते-होते वह एक नामी चोर हो गया। पिता और परिजनों ने उसे बहुत समझाया पर वह नहीं माना। दुखी होकर पुत्र के विरुद्ध पिता ने ही नगर नरेश विजयचन्द्र से शिकायत की। राजा ने केशरी को प्रेमपूर्ण वचनों तथा दण्ड का भय दिखाकर चोरी छोड़ने के लिए कहा। पर जब उसने राजा की बात भी नहीं मानी तो राजा ने उसे अपने नगर से निकाल दिया। नगर से निकल कर केशरी एक जंगल में पहुंचा। वहां उसने देखा, एक व्यक्ति आकाश से उतरा, अपनी चमत्कारिक पादुकाएं उसने एक झाड़ी में छिपाई और वह स्नान करने के लिए जलाशय में प्रवेश कर गया। केशरी उन पादुकाओं को उठाकर चम्पत हो गया। उन्हें धारण कर वह आकाश में उड़ने में समर्थ हो गया। अब वह बहुत ढीठता से चोरी करने लगा। सर्वप्रथम उसने आकाश मार्ग से जाकर अपने पिता का वध किया और उसके घर में चोरी की। तदनन्तर वह प्रतिदिन बड़े-बड़े सेठों के घरों में चोरियां करता। उसके पास अपरिमित धन संचित हो गया। पर चोर को संतोष कहां ? उसने चौर्यकर्म जारी रखा।

यह सब था, पर केशरी की सामायिक की श्रद्धा अखण्ड थी। वह प्रतिदिन एक सामायिक अवश्य करता था।

केशरी का आतंक सब ओर फैल गया था। राजा के सैनिक उसे पकड़ नहीं पाते थे। तब राजा ने स्वयं उसे पकड़ने का निश्चय किया। कुछ चुनिंदा सैनिकों को साथ लेकर राजा जंगलों-पर्वतों में घूमकर केशरी को खोजने लगा। एक बार जब वह एक जंगल से गुजर रहा था, उसने चण्डिका देवी का एक मंदिर देखा। राजा मंदिर में गया। वहां एक व्यक्ति देवी की पूजा कर रहा था। राजा ने उसका परिचय पूछा तो उसने बताया कि वह कुछ दिन पूर्व तक अत्यन्त दरिद्रावस्था में जीवन यापन कर रहा था। जब से उसने इस मंदिर में आना शुरू किया है, उसकी दरिद्रता दूर हो गई है। प्रतिदिन पर्याप्त धन उसे देवी के मंदिर से मिल जाता है। कुछ विचार करते हुए राजा अपने सैनिकों के साथ मंदिर से निकला। वह पास ही वृक्षों के झुरमुट में सैनिकों के साथ छिप गया। दूसरे दिन उसका अनुमान सत्य सिद्ध हुआ। पर्याप्त धन लिए हुए केशरी वहां आया। उसने पादुकाएं निकालीं और उन्हें बाएं हाथ में पकड़कर वह देवी की आराधना के लिए मंदिर में प्रविष्ट हुआ। राजा और उसके सैनिकों ने फुर्ती से मंदिर को घेर लिया। केशरी सहम गया। पादुकाएं उसके हाथ से छिटक गईं। वह सर पर पैर रखकर भागा। पीछे-पीछे राजा और सैनिक भागे। तीव्र गति से भागते हुए केशरी को एक मुनि दिखाई दिए। भागते-भागते ही उसने मुनि से उद्धार का उपाय पूछा तो मुनि ने कहा, राग-द्वेष से मुक्ति ही उद्धार का उपाय है। तत्क्षण केशरी ध्यान लगाकर बैठ गया। रागातीत साधना में संलग्न हो गया। कहते हैं कि जब तक राजा और उसके सैनिक केशरी तक पहुंचे तब तक केशरी केवली हो चुके थे। देव-दुंदुभियां बज उठीं। राजा भी चमत्कृत हो गया। उसने केशरी केवली से इस चमत्कार के बारे में पूछा तो केवली प्रभु ने बताया कि उसकी सामायिक की दैनिक साधना का ही यह प्रभाव है जिससे उसने क्षणभर में सर्व कर्म राख कर परमपद प्राप्त कर लिया है। —वर्धमान देशना 1/9

(क) केशव

कुण्डपुर निवासी व्यापारी यशोधर का पुत्र। केशव का एक सहोदर था, जिसका नाम हंस था। एक बार दोनों सहोदरों को जैन मुनियों का उपदेश सुनने का सुअवसर मिला। मुनि-उपदेश से प्रभावित होकर दोनों भाइयों ने रात्रि में भोजन करने का त्याग कर दिया। पर उनका यह त्याग उनके माता-पिता को फूटी आंख न सुहाया। पुत्रों के पक्ष का निर्ममता से विरोध करते हुए माता-पिता ने उनको रात्रि-भोजन के लिए विवश किया। पुत्रों की प्रार्थना पर भी दिन में भोजन नहीं बनाया। इस प्रकार निरंतर पांच दिनों तक दोनों

भाई—केशव और हंस क्षुधा से पीड़ित होते रहे। छठे दिन भी पुत्रों को हठ पर डटे देखकर यशोधर ने अपना निर्णय सुना दिया कि यदि उन्हें रात्रि-भोजन अस्वीकार है तो उनके लिए उसके घर में कोई स्थान नहीं है।

पिता के इस कठोर निर्णय के समक्ष हंस का संकल्प चलित हो गया। पर केशव का संकल्प निरंतर सुदृढ़ बना रहा। वह घर छोड़कर निकल गया। जिस रात्रि में उसने घर छोड़ा, उसी रात्रि में एक देवता ने उसकी दृढ़धर्मिता की कठिन परीक्षा ली। पर देव भी केशव को चलित नहीं कर पाया। इस पर देव बहुत प्रसन्न हुआ। उसने केशव को वरदान दिया कि जो भी तुम्हारे चरणांगुष्ठ को धो कर उस जल को पीएगा अथवा अपने शरीर पर छींटे देगा, वह रोगमुक्त हो जाएगा। साथ ही देव ने कहा कि चिंता के क्षण में वह जैसा चिंतन करेगा, वैसे ही फल की उसे प्राप्ति होगी। इस प्रकार दो वरदान देकर देव ने केशव को साकेत नगर के उद्यान में पहुंचा दिया और स्वयं अपने स्थान पर चला गया। उद्यान में आचार्य श्री धर्मदेव धर्मोपदेश दे रहे थे। केशव भी उपदेश सुनने लगा। उपदेश समाप्त होने पर नगर नरेश धनंजय ने आचार्य श्री से पूछा, भगवन्! रात्रि में मैंने स्वप्न में देखा कि आपकी प्रवचन परिषद् में एक सुयोग्य व्यक्ति आएगा, जो मेरे राज्य को अच्छी तरह संभालेगा। कृपा फरमाएं कि वह सुयोग्य व्यक्ति कौन है, ताकि उसे राजगद्दी प्रदान करके मैं प्रव्रजित हो सकूं!

आचार्य श्री अतिशय ज्ञानी थे। उन्होंने केशव की ओर इंगित करते हुए कहा कि यही वह सुयोग्य व्यक्ति है, जो अच्छी तरह से तुम्हारे राज्य का संचालन करेगा। राजा ने केशव का स्वागत-सत्कार किया और उसे राजपद प्रदान कर प्रव्रज्या धारण कर ली। केशव ने निरपेक्ष भाव से सुशासन की स्थापना की।

एक दिन केशव अपने महल के गवाक्ष में बैठा हुआ नगर की शोभा देख रहा था तो उसकी दृष्टि एक ऐसे व्यक्ति पर पड़ी, जिसके वस्त्र फट चुके थे और साक्षात् दारिद्र्य की प्रतिमा बनकर राजमार्ग पर चला जा रहा था। केशव ने निकट आने पर उस व्यक्ति को पहचान लिया, क्योंकि वह उसका पिता यशोधर ही था। केशव ने दौड़कर पिता को प्रणाम किया और उसे महल में ले आया। पिता की सेवा-भक्ति की और उसकी उक्त दशा के बारे में पूछा। यशोधर ने बताया, पुत्र ! जिस रात्रि में तुमने घर छोड़ा, उसी रात्रि में हंस भोजन करने बैठा था, उसके भोजन में घायल सर्प के रक्त की बूंदें गिर गईं और उस भोजन के करने से उसके शरीर में कुष्ठ उत्पन्न हो गया। तुम्हारा भाई अंतिम सांसें गिन रहा है। मुझे मेरी भूल का अहसास हो गया और मैं तुम्हारी खोज में भटकते-भटकते यहां आया हूं।

भाई की दशा सुनकर केशव विह्वल हो गया। देव ने तत्काल केशव को हंस के पास पहुंचा दिया। केशव ने अपना पादांगुष्ठ धोकर जल हंस को पिलाया और उसे स्वस्थ बना दिया। केशव ने हजारों लोगों के रोगों का हरण किया। सुदीर्घ काल तक राज्य में रामराज्य को साकार करते हुए केशव ने शासन किया और सद्गति का अधिकार पाया। —वर्धमान देशना 1/6

(ख) केशव

लोकसेवा में संलग्न एक श्रेष्ठीपुत्र, जो भवान्तर में भगवान ऋषभदेव के पौत्र श्रेयांसकुमार के रूप में जन्मा था।

केशी

वीतभय नगर के स्वामी महाराज उदायन का भानजा। उदायन ने दीक्षित होने से पूर्व केशी को अपना सिंहासन प्रदान किया था। एक बार राजर्षि उदायन वीतभय नगर पधारे तो संभ्रमित केशी ने इस विचार से

कि उदायन अपना राज्य वापिस न मांग लें, उन्हें भोजन में विष दे दिया। केशी एक स्वार्थी और कानों का कच्चा राजा था।

केशी कुमार श्रमण

तेईसवें अरिहंत प्रभु पार्श्व की परम्परा के प्रभावक और तेजस्वी आचार्य। किसी समय वे अपने विशाल शिष्य परिवार सहित श्रावस्ती नगरी के तिन्दुकवन नामक उद्यान में पधारे। उधर भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम भी अपने अनेक शिष्यों के साथ उसी नगरी के कोष्ठक उद्यान में विराजे। दोनों के शिष्यों ने भिक्षादि के लिए नगर में परिभ्रमण करते हुए एक-दूसरे को देखा। वेश-वैभिन्न्य को देखकर दोनों ओर के शिष्यों के मनों में जिज्ञासाएं वर्धमान हुईं कि एक ही लक्ष्य की साधना में रत दो गुरुओं के शिष्यों के वेशों में भिन्नता क्यों? इन्द्रभूति गौतम ने शिष्य-मनों को पढ़ा और वे अपने शिष्यों के साथ केशीकुमार श्रमण के पास तिन्दुकवन में गए। दो महामुनियों का प्रेम-पूर्वक मिलन हुआ। केशीकुमार श्रमण ने वेश-वैभिन्न्य, महाव्रतों की न्यूनाधिकता आदि से सम्बन्धित बारह प्रश्न इन्द्रभूति से पूछे। इन्द्रभूति ने सम्यक् समाधान दिए, जिन्हें सुनकर दोनों ओर के शिष्य समाधीत हो गए।

केशी कुमार श्रमण ने अपने शिष्य-समुदाय के साथ चातुर्याम धर्म से पंच महाव्रत रूप धर्म में प्रवेश किया। अन्त में केवलज्ञान पाया और निर्वाण को प्राप्त हुए। —उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 23

कैलाश गाथापति

साकेत नगर के एक समृद्ध गाथापति। इन्होंने भगवान महावीर के उपदेश से प्रतिबुद्ध बनकर दीक्षा ली तथा बारह वर्षों तक विशुद्ध संयम की आराधना करने के पश्चात् विपुलाचल से सिद्ध गति पाई।

—अन्तगड सूत्र वर्ग 6, अध्ययन 7

कोणिक राजा

कोणिक अपने युग का एक पराक्रमी राजा था। उसने अपने जीवन काल में अनेक छोटे-बड़े युद्ध लड़े और अपने साम्राज्य का विस्तार किया। अति महत्वाकांक्षा उसके जीवन का सबसे बड़ा दुर्गुण और भगवान महावीर का भक्त होना उसका सबसे बड़ा गुण था। उसकी परिचय रेखाएं निम्न हैं—

कोणिक मगध देश के महाराज श्रेणिक का पुत्र था। उसकी माता का नाम चेलना था। कोणिक का जीव जब चेलना के गर्भ में आया तो परमपतिपरायणा चेलना का मानस अपने ही पति के प्रति वैर भाव से पूर्ण बन गया। गर्भकाल में नारी के भीतर उत्पन्न होने वाली प्रबलेच्छा को दोहद कहा जाता है। एक क्रूर दोहद चेलना के मन पर छा गया। उसका वह दोहद था कि वह अपने पति के कलेजे का मांस खाए। चेलना जानती थी कि उसके गर्भ में अवतरित हुआ जीव उसके पति का दुश्मन है। पर उस गर्भस्थ शिशु की इच्छा में वह इतनी बन्ध गई कि पति के कलेजे का मांस न मिलने के कारण अत्यन्त कृश हो गई। श्रेणिक ने अनुमान लगा लिया कि उसकी रानी दोहद से संक्रमित है। उसने रानी से पुनः पुनः पूछा। आखिर चेलना ने अपने दुष्ट दोहद की बात पति को बता दी। मामला अत्यन्त जटिल था। आखिर एक युक्ति निकालकर अभयकुमार ने इस समस्या का समाधान कर दिया। उससे राजा का भी अहित नहीं हुआ और रानी का दोहद भी पूर्ण हो गया। यह सब तो हो गया पर चेलना अपने पैदा होने वाले पुत्र के प्रति विशेष सजग बन गई। और जब उसने प्रसव किया तो निर्धारित योजनानुसार उस नवजात शिशु को उकुरड़ी पर फिंकवा दिया गया। पर संयोग बना कि उधर दासी नवजात राजकुमार को उकुरड़ी पर फैंक कर आ रही थी और इधर

महाराज श्रेणिक उसी मार्ग से जा रहे थे। चेलना की विश्वस्त दासी को अनपेक्षित स्थान पर देखकर श्रेणिक ने उससे उधर जाने का कारण पूछा। दासी सत्य को छिपा न सकी। पूरी बात का यथार्थ जानकर श्रेणिक पुत्रमोह से विह्वल हो गए। उन्होंने उकुरड़ी से अपने पुत्र को उठा लिया। उन्होंने देखा, शिशु निरन्तर रो रहा है। परीक्षण करने पर उन्होंने पाया कि शिशु की छोटी अंगुली किसी मुर्गे द्वारा चबा ली गई है। अंगुली से रक्त और पीप रिस रहा था जिससे शिशु को असह्य वेदना हो रही थी। श्रेणिक ने शिशु की अंगुली को अपने मुख में लेकर पीप को चूसकर थूक दिया। इससे शिशु की पीड़ा कम हो गई। अंगुली पूरी तरह व्रणरहित हो जाने पर भी कुछ छोटी पड़ गई, जिससे शिशु का नाम कूणिक / कोणिक पड़ गया। वैसे उसका नाम अजातशत्रु रखा गया था।

कालक्रम से कोणिक युवा हुआ। पटरानी का पुत्र होने से तथा महाराज श्रेणिक के अन्य ज्येष्ठ पुत्रों अभय, मेघ, नंदीषेण आदि के दीक्षित हो जाने के कारण कोणिक युवराज पद का अधिकारी बना। परंतु अपनी प्रबल महत्त्वाकांक्षाओं के कारण कोणिक इतने से ही संतुष्ट नहीं था। वह तो शीघ्र ही राजा बनना चाहता था। उसकी सोच थी—महाराज श्रेणिक वृद्ध हो गए हैं, इस पर भी राजगद्दी से चिपके हुए हैं। जब तक ये जीवित रहेंगे, तब तक मुझे राज्य करने का अवसर नहीं मिलेगा। तब तक मैं स्वयं वृद्ध हो जाऊंगा। बुढ़ापे में राज्य करने का आनन्द ही क्या ? राज्य का सुख तो यौवन में ही भोगा जा सकता है। पर इसके लिए पिता को मार्ग से हटाना होगा। उसने अपनी सोच को क्रियान्वित करने के लिए कालिककुमार आदि अपने दस सौतेले भाइयों को अपने प्रभाव में ले लिया और उन्हें राज्यांश का लोभ देकर पूर्णतः अपने पक्ष में कर लिया। फिर एक रात्रि में अवसर साधकर उसने अपने देवसदृश पिता महाराज श्रेणिक को कारागृह में बंद कर दिया और स्वयं मगध देश का शासक बन बैठा।

पूरे मगध जनपद में कोणिक के नाम का आतंक फैल गया। चारों ओर से उसकी परोक्ष निन्दा होने लगी, पर सत्ता और शक्ति के मद में अंधे बने कोणिक ने इसकी परवाह न करते हुए सार्वजनिक रूप से यह प्रतिबंध लगा दिया कि श्रेणिक से कोई भी व्यक्ति मुलाकात नहीं कर सकेगा। इतना ही नहीं उसने श्रेणिक को भोजन देना भी बंद कर दिया।

इधर कोणिक में विद्वेष का भाव चरम पर था, उधर श्रेणिक इसे अपने कर्मों का फलभोग मानकर शांतचित्त से इसे सह रहे थे।

कोणिक की माता चेलना अपने पति की इस दुरावस्था को सह नहीं पा रही थी। उसने कोणिक को विविध प्रकार से समझाया। कोणिक अपनी जिद्द पर अड़ा रहा पर उसने माता को श्रेणिक से मिलने की आज्ञा अवश्य दे दी। चेलना अपने जूड़े में भोजन छिपाकर श्रेणिक के पास ले जाती, जिससे श्रेणिक की उदरपूर्ति होती रहती।

आखिर एक छोटी सी घटना ने कोणिक को सजग किया। वह घटना इस प्रकार थी—एक दिन कोणिक अपने नन्हे पुत्र को गोद में लिए भोजन कर रहा था। शिशु ने लघुशंका कर दी जो कोणिक की थाली में भी गिर गई। कोणिक ने मूत्र पोंछ दिया और उससे भीगे भोजन को एक ओर कर शेष भोजन खाने लगा। सामने बैठी माता चेलना से कोणिक बोला, माता! संसार में मुझ जैसा ममतापूर्ण पिता शायद दूसरा नहीं मिलेगा। कोणिक की दर्पोक्ति सुनकर चेलना के भीतर का ज्वालामुखी फूट पड़ा। बोली, धिक्कार है तुझ जैसे पुत्र को! तुम अपने को सबसे बड़ा ममत्वपूर्ण पिता कह रहे हो! अरे ममत्व तो तुम्हारे पिता में था तुम्हारे प्रति, जिन्होंने समस्त सम्भावनाओं को एक ओर करके न केवल तुम्हारे लिए अपने कलेजे का मांस

दिया बल्कि तुम्हारी अंगुली की पीप को भी अपने मुख में चूस कर तुम्हें पीड़ामुक्त किया। उसी देव सदृश पिता को तुमने यह पुरस्कार दिया कि काल कोठरी में डाल दिया?

पूरा घटनाक्रम जानकर कोणिक फफक कर रो पड़ा और अपने परम उपकारी पिता का पिंजरा काटने के लिए परशु लेकर दौड़ पड़ा। दूर से ही श्रेणिक ने उसे देखा और विचार किया कि कोणिक उनका वध करने के लिए आ रहा है। पुत्र के हाथों मरने से श्रेष्ठ उन्होंने आत्महत्या को माना और हीरे की अंगूठी निगलकर प्राण त्याग दिए। मृत पिता को देखकर कोणिक की पीड़ा का पार न रहा, पर अब सब व्यर्थ था।

कालांतर में कोणिक का अपने दो भाइयों—हल्ल और विहल्ल से मनमुटाव हो गया। वह उनसे दिव्य हार और सिंचानक हाथी मांगने लगा। हल्ल-विहल्ल ने अपने को असुरक्षित पाया तो वे अपनी रानियों तथा हार व हाथी के साथ अपने नाना चेटक की शरण में चले गए। धर्मपरायण महाराज चेटक ने उन्हें अपना शरणागत बना लिया। इसी प्रसंग के चलते कोणिक और महाराज चेटक में बात खिंच गई। अंततः यह बात इतनी खिंच गई कि मगध और वैशाली की सेनाएं आमने-सामने आ डटीं। कोणिक का साथ कालिककुमार आदि उसके दस भाई दे रहे थे और चेटक के साथ उनके गण के अठारह शूरवीर राजा थे। भयानक युद्ध हुआ। कोणिक के दसों भाई मारे गए। लाखों सैनिक हताहत हुए। आखिर कोणिक ने देवसहयोग से वैशाली की सेना को परास्त कर डाला। बचे-खुचे सैनिकों के साथ महाराज चेटक को अपने दुर्ग में लौट आना पड़ा। वैशाली का दुर्ग अभेद्य था। परन्तु कूलबालुक मुनि को अपना सहयोगी बनाकर कोणिक ने उसे भी ध्वस्त कर डाला। इस प्रकार कोणिक विजयी हुआ। पर जिस हार और हाथी के लिए यह युद्ध लड़ा गया था, कोणिक के हाथों में पहुंचने से पहले ही वह दिव्य हार देवताओं ने वापिस ले लिया तथा सिंचानक हाथी युद्ध में मारा गया।

इस विजय से कोणिक का विजयोन्माद शिखर छूने लगा। उसने अपने भीतर एक दिवास्वप्न संजो लिया कि वह चक्रवर्ती बनेगा। उसी कालखंड में वह भगवान महावीर के पास गया। वार्ता-प्रसंग में उसने भगवान से अपनी भावी गति के बारे में पूछा। भगवान ने स्पष्ट कर दिया कि मृत्यु के बाद वह छठी नरक में जाएगा। एक क्षण के लिए तो वह कांप गया। पर शीघ्र ही सामान्य बनते हुए उसने भगवान से पूछा, भगवन्! छठी नरक में और कौन जाता है? भगवान ने कहा, चक्रवर्ती की भोगासक्त पट्टमहिषी छठी नरक में जाती है। भोगासक्त चक्रवर्ती की गति पूछने पर भगवान ने स्पष्ट किया कि भोगासक्त चक्रवर्ती सातवीं नरक में जाता है।

कोणिक का दंभ फुफकार उठा। वह बोला, वह वहां नहीं जाना चाहेगा, जहां एक स्त्री जाती है। वह चक्रवर्ती बनेगा और सातवीं नरक में जाएगा। भगवान ने कोणिक को समझाया कि वह स्वयं पर संयम रखे, वह चक्रवर्ती नहीं बन सकता। पर मदांध कोणिक ने भगवान की बात नहीं मानी। उसने कृत्रिम रत्नों का निर्माण कराया और दिग्विजय के लिए निकल पड़ा। छोटे-बड़े कई राजाओं को परास्त करता हुआ वह तमिस्रा गुफा के द्वार पर पहुंच गया। उसने कृत्रिम दंड-रत्न से गुफा-द्वार पर प्रहार किया। गुफारक्षक देव की चेतावनी को असुना करते हुए उसने गुफाद्वार पर पुनर्प्रहार किया। वहां से एक महाज्वाला प्रकट हुई, जिसमें देखते ही देखते कोणिक भस्म हो गया और मरकर छठी नरक में गया।

कोणिक के जीवन का शुक्ल पक्ष मात्र यह प्रतिज्ञा थी कि वह भगवान महावीर का कुशल-संवाद सुनकर ही अन्न-जल ग्रहण करता था।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र पर्व 10, सर्ग 12

कौशल्या माता

अयोध्यापति दशरथ की पटरानी और मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम की माता। जैन और वैदिक साहित्य में उसका चरित्र चित्रण पूरे गौरव के साथ हुआ है। वह श्रीराम की माता थी, इसीलिए साहित्यकारों ने उसे स्वर्णाक्षर नहीं दिए हैं बल्कि उसके आदर्श जीवन ने साहित्यकारों की कलम को आकर्षित किया है। उसका संक्षिप्त शब्द-चित्र यों है–

कौशल्या कुशस्थल नरेश सुकौशल की पुत्री थी। उसकी माता का नाम अमृतप्रभा था। जब उसका जन्म हुआ तो उसका नाम अपराजिता रखा गया, पर पितृनामानुसार वह कौशल्या नाम से ही ख्यात हुई। दशरथ दिग्विजय करते हुए कुशस्थल आए। अयोध्या और कुशस्थल की सेनाओं के मध्य युद्ध के पश्चात् कुशस्थल नरेश को दशरथ की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। उसने अपनी पुत्री कौशल्या का विवाह दशरथ के साथ कर दिया। दशरथ ने कौशल्या को अपनी पटरानी बनाया। कालान्तर में दशरथ ने तीन अन्य राजकन्याओं–सुमित्रा, कैकेयी और सुप्रभा से विवाह किया। कौशल्या ने सपत्नियों को सौतभाव के स्थान पर सहजात बहनों-सा प्यार दिया। उसने जिस पुत्र को जन्म दिया, उन श्रीराम का जीवन समस्त जगत के लिए आज भी परम आदर्श है।

पति के वचन की रक्षा के लिए कौशल्या ने अपने पुत्र और पुत्रवधू को राजतिलक के स्थान पर वन में जाने की आज्ञा देकर भारतीय नारी की माता की ममता पर उसकी आदर्श कर्त्तव्यपरायणता अंकित की। पुत्र का विरह और पति की मृत्यु भी उसके मन में कैकेयी के प्रति अणु मात्र भी विद्वेष उत्पन्न न कर सकी। पारिवारिक तनाव के विष का उसने शिव बनकर गरलपान कर लिया।

रावण-वध के पश्चात् श्रीराम अयोध्या लौटे तो कौशल्या का सुख-सूर्योदय हुआ। पर सुख में भी उसने अपने आत्मलक्ष्य को विस्मृत नहीं किया। आत्मकल्याणार्थ उसने पुत्र की आज्ञा लेकर संयम ग्रहण किया और सर्वकर्म खपाकर निर्वाण प्राप्त किया। जैन जगत में अर्चित सोलह महासतियों में कौशल्या भी एक हैं।

–त्रिषष्टि शलाकापुरुष चारित्र, पर्व 7

(क) क्षुल्लक मुनि

एक मुनि जो बाल्यावस्था में ही मुनिधर्म में प्रव्रजित हो गया था और जिसका मन संयम पर्याय के अड़तालीस वर्षों तक संयमरूपी गृह से बाहर ही भटकता रहा। आखिर एक नटी के गाथा पद को सुनकर वह संयमच्युत होने के बाद भी पुनः संयम में सुस्थिर बन गया। उसका कथानक निम्नोक्त है–

साकेत नगर के राजा का नाम पुंडरीक था। पुंडरीक का अनुज कुंडरीक युवराज था। कुंडरीक की पत्नी थी सुभद्रा, जो परम रूपसी और पतिव्रता नारी थी। किसी समय राजा पुंडरीक अनुज-वधू के रूप पर मोहित हो गया और उसने उसे प्राप्त करने के लिए अनुज का वध कर दिया। सुभद्रा अपने शील की रक्षा के लिए जंगलों में चली गई और एक साध्वी मंडल में प्रव्रजित हो गई। प्रव्रज्या के समय सुभद्रा को गूढ़गर्भ था। यथासमय गर्भ के लक्षण प्रकट होने लगे तो उसने गुरुणी से वस्तुस्थिति कही। गुरुणी ने एक श्राविका के घर प्रसव की व्यवस्था करा दी। सुभद्रा का पुत्र श्राविका के घर पला-बढ़ा। जब वह बड़ा हुआ तो उसे दीक्षित करा दिया गया। उसका नाम क्षुल्लक मुनि रखा गया। परन्तु युवावस्था में प्रवेश पाते ही क्षुल्लक मुनि का मन संयमरूपी गृह से बाहर दौड़ने लगा। वह अपनी माता साध्वी सुभद्रा के पास गया और उसने अपनी मनोस्थिति कही। माता ने कहा, वह उसके कहने पर बारह वर्षों तक संयम पर्याय का पालन अवश्य

करे। क्षुल्लक मुनि माता के कहने पर बारह वर्षों के लिए रुक गया। बारह वर्ष बीतने पर जब वह पुनः माता से आज्ञा लेने गया तो प्रवर्तिनी आर्या ने उसे बारह वर्षों तक के लिए रोक लिया। उसके बाद वह बारह-बारह वर्षों के लिए आचार्य श्री और उपाध्याय श्री के कहने पर रुक गया। इस विधि से उसने अड़तालीस वर्षों तक संयम पालकर उसका त्याग कर दिया। क्षुल्लक मुनि की पालित माता ने उसे एक रत्नकम्बल दिया और उसका वंश परिचय दिया कि वह साकेत के सिंहासन का अधिकारी है। वह अपने ज्येष्ठ पिता के पास जाए और अपना सिंहासन प्राप्त कर ले।

क्षुल्लक कुमार साकेत पहुंचा। राजमहल के बाहर प्रांगण में एक नाटक चल रहा था। क्षुल्लक कुमार नाटक देखने में लीन हो गया। नटकन्या विभिन्न नाट्य दिखा रही थी। प्रभात खिलने को आया था पर राजा ने उसे अभी तक पुरस्कृत नहीं किया था। नटकन्या थक चुकी थी। उसके कदम लड़खड़ाने लगे थे। तब नटकन्या की माता ने पुत्री को सम्बोधित करते हुए एक गाथा पढ़ी, जिसका भावार्थ था—"हे श्याम सुंदरी! सुंदर नृत्य कर ! सुंदर गीत गा ! यह लंबी रात्रि सुंदर गाते-नाचते बीत गई है। अब तो रात्रि का अवसान होने को है। अब कुछ ही क्षण के लिए प्रमाद मत कर!"

यह गाथा सुनते ही क्षुल्लक कुमार ने अपना रत्न-कम्बल नटी को पुरस्कार में दे दिया। तभी राजकुमार ने अपना बहुमूल्य कुण्डल युगल नटी की झोली में डाल दिया। श्रीकान्ता नामक सार्थवाही ने अपना बहुमूल्य हार नटी को दिया। मंत्री ने अपना सोने का कड़ा और महावत ने स्वर्णनिर्मित अंकुश नटी को दे दिया।

इस आकस्मिक और अकल्पित पुरस्कार-वर्षा को देखकर राजा पुंडरीक हैरान हो गया। उसने सर्वप्रथम क्षुल्लक कुमार से ही उसके दान का कारण पूछा। क्षुल्लक कुमार ने अपनी आत्मकथा को अथांत कहा और बोला, नर्तकी की माता की गीतिका ने मुझे मेरे पथ पर पुनः बढ़ने के लिए प्रेरित किया है। इसीलिए मैंने उसे रत्नकम्बल प्रदान कर दिया।

तब राजा ने राजकुमार से उसके पुरस्कार की प्रेरणा के बारे में पूछा। राजकुमार ने स्पष्ट किया, पिता जी! मैं सिंहासन प्राप्त करने के लोभ में अंधा बनकर आपके वध की योजना बना चुका था। पर उक्त गीतिका ने मुझे प्रतिबोध दिया कि अब तो थोड़े ही समय बाद आप स्वयं मुझे राज्य देंगे ही, अतः पितृवध का भागी बनना उचित नहीं।

राजा के प्रश्न पर श्रीकांता सार्थवाही ने कहा, मेरे पति वर्षों से विदेश गए हैं। मेरा मन चंचल बन चुका था, पर इस गीतिका ने मेरे मन को पुनः सुस्थिर बना दिया है। उसी क्रम में मंत्री ने कहा कि वह पड़ौसी राजा के प्रस्ताव पर लुब्ध होकर उसे अपने राज्य की गुप्त सूचनाएं देने को तैयार हो गया था पर गीतिका ने मुझे मेरे कर्त्तव्य पथ पर पुनः सुदृढ़ बना दिया है। महावत ने अपनी बात कही, मैं भी पड़ौसी राजा के प्रलोभन में फंस कर राजहस्ति को मारने का मन बना चुका था, पर उक्त गीतिका ने मुझे मेरे कर्त्तव्य के प्रति सचेत कर दिया, इसीलिए मैंने स्वर्ण अंकुश उसे पुरस्कार में दे दिया।

राजा सभी की बात सुनकर प्रबुद्ध हो गया। बोला, अब मैं भी राज्य से चिपका नहीं रहूंगा। जीवन के इस अंतिम पड़ाव पर संयम धारण कर आत्मकल्याण करूंगा। राजा के साथ ही श्रीकांता, मंत्री, महावत आदि ने भी दीक्षित होने का संकल्प ले दिया। ये सभी लोग क्षुल्लक कुमार के अनुगामी बनकर आचार्य श्री के पास पहुंचे और सभी ने प्रव्रज्या अंगीकार कर आत्मकल्याण किया।

—धर्मोपदेश माला, गाथा-18, कथा 19/ऋषिमंडल प्रकरण, पत्र-93

(ख) क्षुल्लक मुनि

एक युवा और तेजस्वी जैन श्रमण। उसकी तेजस्विता लोक में उस क्षण प्रकट हुई, जब चम्पानगरी के राजा सिंहसेन के आदेश पर उसके बुद्धि सम्पन्न और धर्मज्ञ महामंत्री रोहगुप्त ने राजसभा में एक धर्मसभा का आयोजन किया और देश-देशान्तर के धर्माचार्यों को उस धर्मसभा में आमंत्रित किया। राजकीय घोषणा में कहा गया कि सभी धर्माचार्यों के समक्ष एक गाथा-पद रखा जाएगा, जो भी धर्माचार्य उस पद को उत्कृष्ट अर्थ से सज्जित गाथा में संगुंफित करेगा, उसे राजगुरु के पद से अलंकृत किया जाएगा। वह पद था—सकुंडलं वा वयणं न वेत्ति।

सभी धर्माचार्यों ने उक्त पद की अपने-अपने ढंग से संपूर्ति की, पर कोई भी नारी के शरीर की महिमा और रूपासक्ति से ऊपर नहीं उठ पाया। राजा को किसी भी संपूर्त्ति से संतोष नहीं हुआ। राजा ने पूछा, सभी मतों के धर्माचार्य उपस्थित हैं पर जैन धर्म का प्रतिनिधि कोई मुनि उपस्थित नहीं है। जैन मुनि को भी आमंत्रित किया जाए। मंत्री ने कहा, महाराज! जैन मुनि किसी के आदेश अथवा निमंत्रण में नहीं बंधते हैं। फिर भी हम कोशिश करेंगे कि कोई जैन श्रमण स्वभावतः इधर आया हो तो उसे आमंत्रित करें। सहसा उक्त क्षुल्लक मुनि राजसभा के निकट से गुजर रहे थे। मंत्री के विशेष आग्रह पर क्षुल्लक मुनि धर्मसभा में आए और उन्होंने गाथापद को वैराग्यमयी निबंध में बांधकर पूरी धर्मसभा और राज्य को चकित कर दिया। साथ ही क्षुल्लक मुनि ने वीतरागता को धर्म का मूल सिद्ध करते हुए वीतराग के धर्म की महिमा का सुन्दर प्रतिपादन किया।

राजा ने क्षुल्लक मुनि को राजगुरु के पद के लिए आमंत्रित किया। पर राजा के प्रस्ताव को अनासक्त चित्त से अस्वीकार कर यह कहते हुए क्षुल्लक मुनि विदा हो गए कि वीतराग प्रभु के उपासक निर्ग्रन्थ के लिए आत्मजय का पद ही परम पद है।

क्षेमक गाथापति

काकंदी नगरी निवासी एक धनाढ्य गाथापति। एक बार भगवान महावीर काकंदी नगरी में पधारे। भगवान का उपदेश सुनकर क्षेमक विरक्त हो गया और प्रव्रजित बनकर तथा सोलह वर्षों तक उत्कृष्ट संयम का पालन कर विपुलगिरि पर सिद्ध हुआ। —अन्तगड सूत्र वर्ग 6, अध्ययन 5

●●●

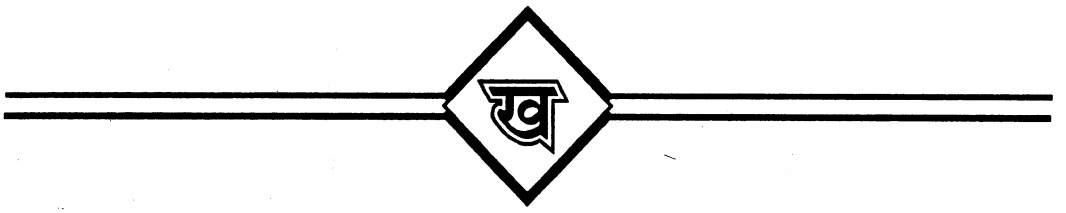

खंधक मुनि

सावत्थी नगरी नरेश महाराज कनककेतु और महारानी मलयासुंदरी के अंगजात खंधक कुमार विजयसेन मुनि का उपदेश सुनकर प्रबुद्ध और प्रव्रजित बने। शीघ्र ही जप, तप और आगमों के पारगामी हो गए। विशेष साधना के लिए एकलविहारी बन जनपदों में विचरण करने लगे। खंधक मुनि की संसारपक्षीय सुनंदा नामक एक भगिनी थी, जो कुन्तीनगर के महाराज पुरुषसिंह से विवाहित हुई थी। किसी समय खंधक मुनि कुन्तीपुर आए और भिक्षा के लिए नगर में गए। महल के झरोखे में बैठे राजा और रानी चौपड़ खेल रहे थे। सहसा सुनंदा की दृष्टि मुनि पर पड़ी। वह भाई को पहचान तो न सकी, पर उसे यह विचार आया कि उसका भाई भी कहीं न कहीं ऐसे ही घूम रहा होगा। इस विचार से वह साश्रु हो गई और खेल से उसका ध्यान हट गया। अदूरदर्शी राजा सशंकित बन गया। राजसभा में जाकर उसने जल्लाद को बुलाकर आदेश दिया कि वह अमुक मुनि को वधस्थल में ले जाकर उसकी चमड़ी उतार दे। जल्लाद ने राजा के आदेश का पालन किया। उसने मुनि के शरीर से सारी चमड़ी छील दी। परम समता में निमग्न मुनि केवली बनकर निर्वाण को प्राप्त हो गए।

शीघ्र ही मुनि की जघन्य हत्या का समाचार सारे नगर में फैल गया। सब ओर राजा का अपयश फैल गया। सच्चाई जानकर सुनंदा तो अचेत ही हो गई। आखिर उधर आचार्य धर्मघोष पधारे।

राजा ने पश्चात्ताप में जलते हुए उस द्वारा हुए उस जघन्य कार्य का कारण आचार्य श्री से पूछा। आचार्य श्री ने स्पष्ट किया कि पूर्वभव में खंधक के जीव ने बड़े ही उग्र भावों से एक काचर (फल विशेष) का छिलका छीला था। उस काचर में तुम भी एक जीव थे। उसका बदला इस जन्म में तुमने मुनि की चमड़ी छिलवा कर लिया है। उसके बाद राजा के जीवन में महान परिवर्तन हो गया। वह विचारवान और विवेकशील बन गया।

—आवश्यक कथा

खंडरक्षा

काम्पिल्यपुर नगर का एक श्रमणोपासक। (देखिए-अश्वमित्र निन्हव)

खंडा

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की एक रानी। (देखिए-ब्रह्मराजा)

खपुट (आचार्य)

वी. नि. की पांचवीं शताब्दी में हुए एक विद्या सिद्ध आचार्य। खपुटाचार्य ने अपने विद्याबल से कई बार जैन संघ को संकट मुक्त किया। उनके कई शिष्य थे, जिनमें आर्य भुवन और आर्य महेन्द्र विश्रुत और योग्य शिष्यरत्न थे। भुवन अनेक विद्याओं में पारंगत होने के साथ श्रुतसागर के भी पारगामी थे। भृगुकच्छ राज्य खपुटाचार्य की विहारस्थली थी। भृगुकच्छ का राजा बलमित्र बौद्ध भक्त था। एकदा बौद्ध भिक्षुओं ने

जैन श्रमणों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। खपुटाचार्य के आदेश पर आर्य भुवन ने बौद्ध भिक्षुओं से शास्त्रार्थ किया और विजयी हुए। जिनशासन की महती प्रभावना हुई और राजा भी जिन धर्मानुयायी बन गया।

गुड़शस्त्रपुर नामक नगर में यक्ष प्रकोप से जैन संघ विशेष रूप से आक्रान्त बन गया। संघ खपुटाचार्य के चरणों में आत्मरक्षा की प्रार्थना लेकर पहुंचा। खपुटाचार्य संघरक्षा हित तत्क्षण तैयार हो गए। उन्होंने अपनी विद्याओं की पुस्तक शिष्य भुवन को सुपुर्द करते हुए निर्देश दिया कि वह उस पुस्तक की विशेष सुरक्षा करे और उसे खोलकर न देखे। ऐसा निर्देश देकर आचार्य श्री गुड़शस्त्रपुर नगर में पहुंचे। उपद्रवी यक्ष के यक्षायतन को ही उन्होंने निवास के लिए चुना। खड़ाऊँ यक्ष प्रतिमा के कानों में डालकर आचार्य श्री विश्राम करने लगे। आचार्य श्री के यक्ष प्रतिमा के प्रति इस अशोभन व्यवहार पर पुजारी कुपित हो गया। उसने राजा से शिकायत की। राजा के आदेश पर राजपुरुष आचार्य खपुट के शरीर पर डण्डों से प्रहार करने लगे। इससे आचार्य श्री को कुछ भी आघात नहीं लगा, पर अंतःपुर में हाहाकार मच गया। अदृश्य दण्ड प्रहारों से रानियों के कोमल शरीर घायल हो गए। राजा ने जान लिया कि यह सब चमत्कार खपुटाचार्य का ही है। वह तत्क्षण यक्षायतन में पहुंचा। उसने राजपुरुषों को डांट कर आचार्य श्री से दूर किया और स्वयं आचार्य श्री के पादपद्मों पर अवनत होकर उसने अपने अक्षम्य अपराध के लिए क्षमायाचना की। इसी अवधि में यक्ष भी आचार्य श्री का भक्त बन गया। आचार्य श्री का यश सब ओर फैल गया तथा जिनशासन की महान प्रभावना हुई। राजा और नगरजन जैन धर्म के अनन्य अनुरागी बन गए।

उधर शिष्य भुवन ने गुरु के आदेश को विस्मृत कर उन द्वारा दी गई विद्या-पुस्तक को खोल लिया। अकस्मात् विचित्र और विरल विद्याओं को प्राप्त कर उसका धैर्य डावांडोल हो गया। विद्याबल से वह गृहस्थों के घरों से सरस आहार का आह्वान करता और उसका उपभोग करता। स्थविरों ने उसे वैसा न करने के लिए सावधान किया तो उनकी अवज्ञा कर वह बौद्ध धर्म में सम्मिलित हो गया। बौद्ध घरों से सरस आहार के थाल वह आकाश मार्ग से आमंत्रित करता और उसका उपभोग करता। स्थविरों ने भुवन की उद्दण्डता की सूचना आचार्य श्री खपुट तक पहुंचाई। आचार्य खपुट भृगुकच्छ लौट आए। उन्होंने भुवन द्वारा आहूत आहार के पात्रों को आकाश में ही खण्डित कर दिया। भुवन विद्याओं को विफल होते देखकर जान गया कि उसके गुरु उसके मार्ग में आ गए हैं। उसका गर्व चूर हो गया। उसे अपनी भूल ज्ञात हो गई। बौद्ध धर्म का त्याग कर वह गुरु-चरणों में अवनत हो गया। अपने प्रमाद के लिए उसने गुरु से क्षमा मांगी और विनीत शिष्य बनकर वह श्रुताराधना में तल्लीन हो गया।

एक अन्य प्रसंग पर पाटलिपुत्र नरेश दाहड़ ने ब्राह्मणों के अतिप्रभाव में आकर आदेश जारी किया कि श्रमण समुदाय ब्राह्मणों को नमन करे। आदेश का उल्लंघन करने वाले श्रमणों का शिरोच्छेदन कर दिया जाएगा। जिनशासन पर आए इस विकट संकट की सूचना खपुटाचार्य को प्राप्त हुई। आचार्य श्री ने अपने शिष्य महेन्द्र को दाहड़ राजा को शिक्षित करने के लिए भेजा। आर्य महेन्द्र दाहड़ नरेश की सभा में पहुंचे और वहां उन्होंने अपने विद्याबल को प्रदर्शित किया। आर्य महेन्द्र के अप्रतिम विद्या बल को देखकर राजा और ब्राह्मण समुदाय नतमस्तक हो गया। राजा ने अपना अनुचित आदेश वापिस ले लिया और आर्य महेन्द्र से क्षमा मांगकर जिन धर्मानुयायी बन गया। इससे जैन शासन की महती प्रभावना हुई।

खपुटाचार्य जैन साहित्य के पृष्ठों पर विद्या चक्रवर्ती और आचार्य सम्राट् जैसे अलंकरणों से अलंकृत/चित्रित हुए हैं।

—प्रबन्धकोष, खपुटाचार्य प्रबन्ध, पृष्ठ 11

खरक

महावीरकालीन एक वैद्य, जिसने प्रभु के कानों से ग्वाले द्वारा ठोकी गई कीलें निकाली थीं। (देखिए-सोमिल)

—महावीर चरित्र

खारवेल (राजा)

वी.नि. की तीसरी-चौथी सदी का एक राजा। महामेघवाहन और भिक्खुराय इन दो उपनामों से भी खारवेल प्रसिद्ध हैं। खारवेल कलिंग देश के राजा थे। हैहयवंश के गणाध्यक्ष महाराज चेटक के वे वंशज थे। वैशाली विध्वंस के पश्चात् महाराज चेटक का पुत्र शोभनराय अपने श्वसुर कलिंग नरेश सुलोचन के पास चला गया। सुलोचन के कोई पुत्र नहीं था। उसने शोभनराय को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। शोभनराय की दसवीं पीढ़ी में खारवेल हुए। खारवेल जैन धर्म के प्रति पूर्णरूप से समर्पित थे।

खारवेल के कलिंग के सिंहासन पर आसीन होने के आठवें वर्ष में, मौर्यवंश के राजा बृहद्रथ को मारकर मगध शासन पर आसीन होने वाले पुष्यमित्र ने जैनों और बौद्धों पर अत्याचार प्रारंभ कर दिए। स्वधर्मियों पर आए इस संकट की सूचना पाकर खारवेल ने मगधनरेश पुष्यमित्र पर आक्रमण किया। खारवेल ने अपने शासनकाल के आठवें और बारहवें वर्ष में पुष्यमित्र पर आक्रमण किया और उसे पराजित कर जैन शासन की रक्षा की।

महाराज खारवेल द्वारा किया गया दूसरा महनीय कार्य यह था—उन्होंने कुमारगिरि पर्वत पर एक बृहद् श्रमणसम्मेलन का आह्वान किया और द्वादशवर्षीय अकाल में विलुप्त हुई श्रुतराशि की सुरक्षा के हित श्रुत वाचना कराई। भोजपत्रों और ताड़पत्रों पर सर्वसम्मत द्वादशांगी का लेखन कराया गया। महाराज खारवेल द्वारा आहूत उस महासम्मेलन में जिनकल्प तुल्य साधना करने वाले आर्य बलिस्सह प्रमुख 200 श्रमण, स्थविर-कल्पी आर्य सुस्थित प्रमुख 300 श्रमण, आर्या पोइणी प्रमुख 300 आर्याएं, 700 श्रावक और 700 श्राविकाओं ने भाग लिया था। यह महासम्मेलन वी. नि. के 328-329वें वर्ष में हुआ।

वी. नि. 330 में जिनशासन के परमभक्त महाराज खारवेल का स्वर्गवास हुआ।

—हाथी गुफा के शिलालेख/हिमवन्त स्थविरावलि

खिमऋषि

चैत्यवासी परम्परा में सांडेरागच्छ के आचार्य यशोभद्र सूरि के शिष्य। खिमऋषि अपने नाम के अनुरूप क्षमाशील और उग्र तपस्वी साधक थे। गृहवास में उनका नाम बोधा था। चित्तौड़ के निकटवर्ती बड़ग्राम के वे निवासी थे। जाति से वणिक थे। अतीव निर्धनावस्था में वे जीवन जी रहे थे। आचार्य यशोभद्र के उपदेश से प्रतिबोधित होकर उन्होंने मुनिदीक्षा धारण की। गुर्वाज्ञा से एकान्त स्थानों शून्यागारों, वनों और श्मशानों में रहकर वे ध्यान और तप करते। परीषहों और उपसर्गों में समभाव धारण करने से वे जगत में खिमऋषि नाम से विख्यात हुए।

किसी समय खिमऋषि अवन्ती नगरी के निकटवर्ती ग्राम धामनोद के बाह्यभाग में पधारे। वहां वे उग्र तप-साधना में लीन हो गए। ग्राम के ब्राह्मण कुल के उद्दण्ड बालक उस स्थान पर आए और ध्यानस्थ मुनि को नानाविध कष्ट देने लगे। मुनि ध्यान में अविचलित रहे। ब्राह्मण बालकों ने उग्र बनकर मुनि पर पत्थर बरसाए, दण्ड प्रहार किए। इस पर भी मुनि अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए और न ही उन्होंने बालकों पर

तनिक भी रोष किया। दण्ड-प्रहारों से मुनि का शरीर रक्तरंजित हो गया। पास ही रही हुई किसी दिव्य शक्ति ने मुनि की उस अवस्था को देखा। उद्दण्ड बालकों को उचित शिक्षा देने के लिए दिव्य शक्ति ने उनके मुख और नाक से रक्त प्रवाहित कर दिया। रक्त वमन से बालक भयभीत हो गए और अपने घरों की ओर दौड़े। अपने बच्चों की दुर्दशा देखकर ब्राह्मण वर्ग में हलचल मच गई। वस्तुस्थिति से परिचित बनकर पूरा ग्राम मुनि के चरणों में पहुंचा और बालकों के अपराध के लिए मुनि से क्षमा याचना करने लगा। इस पर भी मुनि खिमऋषि ध्यान में मग्न बने रहे।

किसी ग्राम-वृद्ध ने उपाय बताया—मुनि का चरणोदक बालकों को पिलाया जाए। संभव है उससे बालक स्वस्थ हो जाएं। वैसा ही किया गया और बालक स्वस्थ हो गए।

खिमऋषि के तप की महिमा दूर-दूर तक व्याप्त हो गई थी। खिमऋषि लम्बे-लम्बे तप करते और कठिन अभिग्रहपूर्वक तप का पारणा करते। एक बार उन्होंने एक कठिन अभिग्रह धारण किया—धारा नगरी के राजा मुंज के लघु सहोदर सिंधुल का प्रियमित्र रावकृष्ण यदि विकीर्ण केश और उद्विग्न मनःस्थिति में 21 पूड़े भिक्षा में प्रदान करे तो वे पारणा करेंगे, अन्यथा आजीवन निराहार रहेंगे।

3 मास और 8 दिनों के बाद खिमऋषि का यह कठिन अभिग्रह पूर्ण हुआ। मुनिवर के तप के साथ ही कृष्ण राव की दानशीलता को भी पर्याप्त सुयश प्राप्त हुआ।

रावकृष्ण को खिमऋषि से ही ज्ञात हुआ कि उसका आयुष्य छह मास अवशेष है। इस से रावकृष्ण ने अपना शेष जीवन अध्यात्म साधना में व्यतीत करने का संकल्प किया। परिजनों से आज्ञा प्राप्त कर उसने मुनि दीक्षा धारण की और शेष आयुष्य तप-जप में व्यतीत किया। छह मास के पश्चात् मुनि रावकृष्ण दिवंगत हो गए।

60 वर्ष का तपोमय जीवन जीकर 90 वर्ष की अवस्था में खिमऋषि का स्वर्गवास हुआ।

आचार्य यशोभद्र सूरि विक्रम की दसवीं सदी के आचार्य थे। तदनुसार खिमऋषि भी विक्रम की दसवीं सदी के महान यति सिद्ध हैं। —जैन धर्म का मौलिक इतिहास

खेमिल

महावीर कालीन एक निमित्तज्ञ जो निमित्त-शास्त्र और ज्योतिष का अच्छा जानकार था। वह निमित्त-शास्त्र का ऐसा विद्वान था कि आस-पास घट रहे घटनाक्रम को देखकर भविष्य में घटने वाले शुभाशुभ घटनाक्रमों की अग्रिम सूचनाएं दे दिया करता था। (देखिए-कंबल-संबल) —महावीर चरित्र

खेमादेदराणी

सोलहवीं शती का एक दानवीर शिरोमणी श्रेष्ठी रत्न। भारतवर्ष में और विशेष रूप से गुजरात में आज भी खेमादेदराणी अपनी उदारता और दानशीलता के रूप में एक किंवदंती बने हुए हैं।

खेमादेदराणी गुजरात के एक छोटे से गांव हडाला का रहने वाला था। वह ओसवाल था और अनन्य जिनोपासक था। वह तेल और अनाज का व्यवसाय करता था। अपनी सत्यनिष्ठा और प्रामाणिकता के कारण उसने अब्जों की सम्पत्ति संचित कर ली थी।

खेमादेदराणी की उदारता से सम्बन्धित एक सुप्रसिद्ध घटना लोक में प्रचलित है। कहते हैं कि एक बार (वि. सं. 1539 में) गुजरात में भयंकर अकाल पड़ा। बादशाह ने गुजरात की जनता के लिए अन्न का

निःशुल्क प्रबन्ध करने का दायित्व शाहों (जैन श्रावकों) पर डाल दिया। इस दिशा में राज्य के श्रीमन्त श्रावकों ने भरपूर सहयोग दिया और मितियां लिखाईं। बादशाह ने शाहों को एक महीने का समय दिया था। परन्तु पच्चीस दिन के अथक श्रम के बाद एक सौ नब्बे मितियां ही लिखी जा सकीं। चांपानेर के श्रेष्ठियों ने मिलकर चार महीने की तथा पाटण के श्रेष्ठियों ने दो महीने की मितियां लिखाईं। शाह लोग अन्य मितियों के प्रबन्ध के लिए पाटण से धोलका होते हुए धुंधका के लिए चले। मार्ग में हडाला ग्राम में रुके। वहां पर खेमादेदराणी ने शाहों का स्वागत किया। शाहों के उतरे हुए चेहरों को देखकर उसने विनम्रता से कारण पूछा। शाहों ने संक्षेप में वस्तुस्थिति खेमादेदराणी को कही। सुनकर खेमादेदराणी ने कहा, आप लोग बड़े नगरों के रहने वाले हो। आपको तो जनता की सेवा का लाभ बराबर मिलता ही रहता है। मैं चाहता हूं कि अपना साधर्मी बन्धु समझकर पुण्य का यह कार्य मुझे प्रदान कर दीजिए और वर्षभर की मितियां मेरी ओर से लिख लीजिए!

खेमादेदराणी की बात सुनकर शाह श्रावकों ने समझा कि यह व्यक्ति भोला है और उनके उद्देश्य को समझ नहीं पाया है। शाहों ने बादशाह के आदेश का विस्तार से खुलासा किया और कहा कि वह एकाध मिती लिखवा ले।

खेमादेदराणी शाहों की शंका को समझ गया। उसने कहा—भाइयो! आप मेरी वेशभूषा और रहन-सहन पर मत जाइए! मैंने जैसा कहा है जिन धर्म की महिमा के कारण मैं वैसा ही करने में समर्थ भी हूं। ऐसा कहकर खेमादेदराणी शाहों को अपने घर के अन्दर ले गया और तिजोरियां खोल दीं। सीधे-सादे खेमादेदराणी की तिजोरियों में रही हुई अकूत संपत्ति को देखकर श्रेष्ठी दंग रह गए। उन्होंने कहा, भाई! तुम बारह महीने ही नहीं, बल्कि बारह वर्षों तक भी गुजरात की जनता का भरण-पोषण कर सकते हो!

अपने वचनानुसार खेमादेदराणी ने अपनी तिजोरियों और अन्न-भण्डारों के मुख खोल दिए और सं. 1539 में बारह महीनों तक गुजरात की जनता का भरण-पोषण किया। एक छोटे से ग्राम में रहने वाले खेमादेदराणी की अकूत संपत्ति और अपार उदारता को देखकर बादशाह शाह-श्रेष्ठियों का विशेष सम्मान करने लगा।

●●●

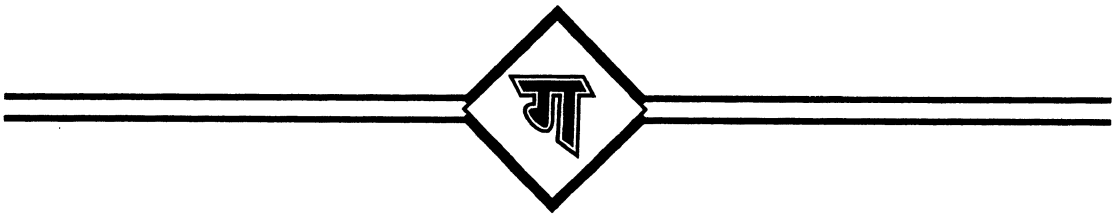

गंग आचार्य (निन्हव)

आचार्य महागिरि के प्रशिष्य जो उल्लुका नदी के तट पर स्थित खेड़े में निवास करते थे। नदी के पार उल्लुकातीर नामक नगर था, जहां आचार्य गंग के गुरु आचार्य धनगुप्त रहते थे। एक बार आचार्य गंग अपने गुरु के दर्शनों के लिए गए। नदी पार करते हुए वे विभ्रम का शिकार हो गए। पानी में चलते हुए उनके पैरों को जल ठिठुरा रहा था और लुंचित सर पर सूर्य का ताप पड़ने से उनके सर को गर्मी लग रही थी। उनके मन में विचार आया—आगमों में उल्लेख है कि एक समय में एक ही क्रिया का वेदन होता है, परन्तु आगम का वह उल्लेख सच नहीं है, क्योंकि मैं एक ही समय में शीतलता और उष्णता, दोनों को अनुभव कर रहा हूं। गुरु के पास पहुंचकर उसने अपने अनुभव को सच और आगमोल्लेख को असच कहा। गुरु ने उसे समय की सूक्ष्मता और अनुभव की स्थूलता का तथ्य विभिन्न तर्कों से समझाने का यत्न किया, पर वह नहीं समझा। वह अपने दुराग्रह पर डटा रहा, फलतः उसे संघ से निकाल दिया गया। फिर एक बार जब आचार्य गंग राजगृह नगर के निकट महातपः तीर प्रपात के पास ही स्थित मणिप्रभ चैत्य में ठहरे तो वहां मणिनाग ने प्रकट होकर उन्हें चेताया। मणिनाग का प्रयास सफल हुआ और आचार्य गंग आलोचना / प्रायश्चित्त से विशुद्धात्म बनकर पुनः गुरु की सन्निधि में आ गए। —ठाणांग वृत्ति-7

गंगदत्त श्रावक

शंखपुर नगर का रहने वाला एक श्रेष्ठी, जिसने एक मुनि से श्रावक धर्म अंगीकार किया और उसका पालन आजीवन पूर्ण श्रद्धा भाव से किया। एक बार गंगदत्त अपनी पौषधशाला में बैठा आत्मचिन्तन कर रहा था। उसके भाव चढ़े और उसने देशावकाशिक व्रत—किसी भी अवस्था में पौषधशाला की चारदीवारी से बाहर न जाने का व्रत ले लिया।

संध्या समय गंगदत्त का एक मित्र उसके पास आया और बोला, मित्र गंगदत्त! सागर तट पर एक व्यापारी आया है, वह बड़े ही सस्ते मूल्य में किरयाणा दे रहा है। यह विशेष लाभ का सुअवसर है। हमें इसी क्षण चलकर पर्याप्त मात्रा में माल खरीद लेना चाहिए, क्योंकि प्रभात होते ही वह व्यापारी आगे के लिए प्रस्थान कर देगा।

गंगदत्त ने निरपेक्ष भाव से मित्र की बात सुनी और उत्तर दिया, मैंने देशावकाशिक व्रत लिया है, आज मैं किसी भी स्थिति में पौषधशाला से बाहर नहीं जाऊंगा।

मित्र ने गंगदत्त को उकसाया, धर्म तो आन्तरिक भाव की बात है, उसे कल भी किया जा सकता है, पर बाहर के भाव का आज जो सुयोग है, वह तो जीवन में कभी-कभी ही प्राप्त होता है।

इस पर गंगदत्त ने कहा, यह अपने-अपने सोचने का ढंग है। मैं बाह्य-लाभ के लिए आत्मलाभ को नहीं ठुकरा सकता हूं। तुम जा सकते हो!

गंगदत्त अपने व्रत पर अडिग रहा। दूसरे दिन भी कारणवश वह विदेशी व्यापारी शंखपुर में ही रुक गया। गंगदत्त ने उससे पर्याप्त माल खरीदा और प्रभूत लाभ अर्जित किया। पर बाह्य-लाभ को वह वास्तविक लाभ नहीं मानता था। उसने धन का उपयोग सदैव जनकल्याण में ही किया। सादगीपूर्ण धर्ममय जीवन जीकर वह देवगति में गया और वहां से च्यव कर वह मानव बनकर सिद्धि को प्राप्त करेगा।

गंगदत्त मुनि

तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी के समय के एक मुनि। मुनि-दीक्षा लेने से पूर्व गंगदत्त हस्तिनापुर नगर के एक समृद्ध गाथापति थे। कालान्तर में पूर्वजन्म के अशुभ कर्म उदय में आए और वे विपन्न बन गए। इससे गंगदत्त निराश और दुखी नहीं हुए। बल्कि कर्मों की विचित्रता से उनकी धर्म-श्रद्धा और सुदृढ़ बन गई तथा वे गृहस्थ धर्म का त्याग कर अणगार धर्म में प्रव्रजित हो गए। त्याग-तप पूर्वक साधुधर्म का पालन करके गंगदत्त मुनि देहोत्सर्ग के पश्चात् सातवें देवलोक में देव बने।

एक बार जब भगवान महावीर उल्लुकतीर नगर में विराजमान थे तो गंगदत्त देव प्रभु के दर्शनों के लिए आया। उस समय शक्रेन्द्र भगवान के चरणों में बैठा हुआ था। गंगदत्त देव के आते ही शक्रेन्द्र वहां से शीघ्र ही चला गया। गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा, भंते! क्या कारण है कि गंगदत्त देव के आते ही शक्रेन्द्र त्वरित गति से चला गया?

भगवान ने फरमाया, गौतम! गंगदत्त देव सातवें देवलोक का देवता है और ऋद्धि-सिद्धि और पुण्य-प्रताप में शक्रेन्द्र से ज्येष्ठ है। शक्रेन्द्र उसके तेज को सहन नहीं कर पाया और अपने स्थान पर लौट गया।

प्रस्तुत संदर्भ में टीकाकार ने शक्रेन्द्र के गमन को चिह्नित करते हुए एक अन्य कारण का उल्लेख भी किया है। टीकाकार लिखते हैं, शक्रेन्द्र पूर्वभव में हस्तिनापुर नगर का कार्तिक नामक सेठ था और गंगदत्त का समकालीन था। दोनों में परस्पर ईर्ष्याभाव था। गंगदत्त सेठ जब विपन्न बन गया, तब कार्तिक सेठ की समृद्धि पहले से भी अधिक बढ़ गई। उस समय समृद्धि और तेज में कार्तिक ज्येष्ठ था और वर्तमान में गंगदत्त ज्येष्ठ है। पूर्वभव का मात्सर्यभाव यहां भी उदित हुआ और शक्रेन्द्र गंगदत्त देव को देखते ही अपने स्थान पर लौट गया। गंगदत्त देव देवलोक से च्यव कर महाविदेह में मनुष्य भव धारण करेगा और उत्कृष्ट चारित्र की आराधना कर सिद्धत्व को प्राप्त होगा।

गंग नरेश

गंग राजवंश का अभ्युदय और विकास कर्नाटक प्रदेश में हुआ। इस वंश के आदिम पुरुष थे –दद्दिग और माधव। आचार्य सिंहनन्दि के आशीर्वाद और मार्गदर्शन में दद्दिग और माधव ने गंगवंश की स्थापना की। गंग वंश के राजाओं ने एक हजार वर्ष से अधिक समय तक कर्नाटक (मैसूर) पर शासन किया। गंग वंश के राजाओं में कुछ के नाम इस प्रकार हैं–दद्दिग और माधव, अविनीत गंग, दुर्विनीत गंग, मुष्कर गंग, शिवमार प्रथम, श्री पुरुष मुत्तरस, शिवमार द्वितीय, राचमल्ल सत्यवाक्य प्रथम, एरेयगंग नीतिमार्ग प्रथम रणविक्रम, राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीय, एयरप्प एरेयगंग नीतिमार्ग द्वितीय, सत्यवाक्य महेन्द्रान्तक, राचमल्ल सत्यवाक्य तृतीय, बूतुग द्वितीय गंग-गांगेय, मरुलदेव, मारसिंह आदि।

गंग वंश की स्थापना में जैन आचार्य सिंहनन्दि का मार्गदर्शन और आशीर्वाद प्रमुख रहा। इसीलिए इस राजवंश के समस्त नरेश जैन धर्म से अतिशय रूप में प्रभावित रहे। गंग नरेशों का व्यक्तिगत धर्म और राजधर्म जैन धर्म रहा। इन सभी नरेशों ने अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार जैन धर्म की प्रभावना में अपनी भूमिकाएं निभाईं।

प्राप्त उल्लेखों से ज्ञात होता है कि ई. की द्वितीय सदी से प्रारंभ हुआ यह राजवंश ई. की 16वीं सदी तक किसी न किसी रूप में अस्तित्व में रहा। मध्यकाल में इस राजवंश ने पर्याप्त रूप से अपना प्रभाव स्थापित किया था और राज्य-सीमाओं को विस्तृत किया था। राष्ट्रकूट राजवंश से गंगवंश का निकट का सम्बन्ध रहा था।

गंगा

रत्नपुरी नगरी के विद्याधर राजा जन्हु की पुत्री। एक रूप-गुण सम्पन्न राजकुमारी, जिसने यौवनावस्था प्राप्त कर यह प्रतिज्ञा की थी कि वह उसी युवक से पाणिग्रहण करेगी, जो उसकी आज्ञा का पालन करेगा। गंगा की यह एक विचित्र प्रतिज्ञा थी, और उसके पिता ने उसकी प्रतिज्ञा को यह समझ कर मान दिया था कि उसकी पुत्री का कोई भी संकल्प दुःसंकल्प नहीं हो सकता। राजा जन्हु ने ज्योतिषियों से अपनी पुत्री के पति के बारे में पूछा। ज्योतिषियों के भविष्यकथन के अनुरूप जन्हु ने गंगा को एक वन में वनवासिनी रूप में रहने को कहा। गंगा वन में अपनी सखियों के साथ आश्रम बनाकर रहने लगी।

किसी समय हस्तिनापुर नरेश शान्तनु उस वन में शिकार खेलने गया। वहां पर उसकी मुलाकात राजकुमारी गंगा से हुई। शान्तनु गंगा के रूप और गुणों पर मुग्ध हो गया। गंगा की सखियों ने शान्तनु को समझा दिया कि राजकुमारी गंगा उसी पुरुष का पाणिग्रहण करेगी जो उसकी आज्ञा का पालन करेगा। रूप-मुग्ध शान्तनु ने गंगा की शर्त स्वीकार कर ली। गंगा ने शान्तनु को पहली ही आज्ञा यह दी कि वह भविष्य में कभी शिकार नहीं खेलेगा। गंगा की इस आज्ञा से शान्तनु गद्‌गद हो गया। उसे विश्वास हो गया कि उसकी रानी अहिंसा भगवती की उपासिका है, और अहिंसा भगवती की उपासिका नारी की कोई भी आज्ञा पति के गौरव के प्रतिकूल नहीं हो सकती।

गंगा के पिता जन्हु वन में विवाह-सामग्री के साथ उपस्थित हो गए। उन्होंने शान्तनु के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। शान्तनु गंगा को लेकर हस्तिनापुर चला गया।

कालक्रम से गंगा ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम गांगेय कुमार रखा गया। राजा का जीवन अत्यन्त सुखी और सरस बन गया। पर एक प्रसंग पर गंगा की आज्ञा की अवहेलना करके शान्तनु शिकार खेलने चला गया। इससे गंगा मर्माहत हो उठी। वह अपने नवजात शिशु को अपने साथ लेकर हस्तिनापुर को त्याग कर चली गई। गंगा अपने नवजात शिशु के साथ पांच वर्षों तक अपने सहोदर पवनवेग के साथ रत्नपुरी में रही। गांगेय पांच वर्ष का हुआ तो उसने अपने मामा से सभी दिव्य और चमत्कारी विद्याएं सीख लीं। तदनन्तर गंगा गांगेय को साथ लेकर वन में चली गई। वहां निरन्तर मुनि-दर्शन से गांगेय के धर्म संस्कार परिपक्व हो गए। विद्याओं के अभ्यास से वह अजेय बन गया।

उधर पत्नी और पुत्र के बिना शान्तनु का जीवन रूक्ष बन गया। उसने स्वयं को पूर्णतः आखेट-व्यसन में डुबो दिया। वर्षों बीत गए। एक बार जब शान्तनु आखेटक बना मृगसमूह के पीछे अश्व दौड़ा रहा था तो गांगेय ने उसका मार्ग रोक लिया। पिता-पुत्र में पहले शालीन शब्दों में वाग्युद्ध और बाद में बाणयुद्ध हुआ। गांगेय ने शान्तनु के धनुष की प्रत्यंचा छिन्न करके उसे निःशस्त्र बना दिया और आदेश दिया कि वह निरीह वन्य प्राणियों का कभी वध न करे!

आखिर गंगा ने उपस्थित होकर पिता-पुत्र को एक-दूसरे का परिचय दिया। गांगेय पितृचरणों में अवनत हो गया। शान्तनु ने गंगा से क्षमायाचना कर हस्तिनापुर लौटने की प्रार्थना की। परन्तु गंगा ने शान्तनु का

प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। त्याग का अप्रतिम आदर्श प्रस्तुत करते हुए गंगा ने गांगेय को शान्तनु को अर्पित कर दिया। वह स्वयं वन में रही और निष्काम साधना में जीवन समर्पित कर उच्चगति की अधिकारिणी बनी। —जैन महाभारत

गंगादेवी

उन्नीसवें विहरमान तीर्थंकर श्री देवयज्ञ स्वामी की जननी। (देखिए-देवयज्ञ स्वामी)

गंधसेना

एक राजकुमारी जिसका पाणिग्रहण राजकुमार भुजंग (विहरमान तीर्थंकर) से हुआ था। (देखिए- भुजंगस्वामी)

गम्भीर

अन्तगडसूत्र के अनुसार गम्भीर द्वारिका के राजा अन्धकवृष्णि और रानी धारिणी के पुत्र थे। उन्होंने भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा लेकर शत्रुंजय पर्वत पर मासिक संलेखना के साथ सिद्धि पाई।

—अन्तगडसूत्र प्रथम वर्ग, चतुर्थ अध्ययन

गजसिंह

एक अपूर्व साहसी, शूरवीर और चारित्र का धनी राजकुमार, जिसने अपने शौर्य और भाग्य के बल पर कई राजाओं को अपने वश किया, कई राजकुमारियों से पाणिग्रहण किया और अन्त में मोक्षधाम भी प्राप्त किया। उसका जीवनवृत्त निम्नोक्त है—

माण्डवगढ़ के राजा जामजशा की एक रानी थी दामवती। राजा और रानी जिनोपासक थे। दोनों में परस्पर प्रगाढ़ प्रीतिभाव था। विवाह के कई वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी उन्हें कोई संतान नहीं हुई। इससे राजा का रानी से प्रीतिभाव कम हो गया। कम होते-होते पूर्वजन्म के कर्मों के कारण प्रीतिभाव पूर्णतः विलीन हो गया। राजा ने एक-एक कर छह अन्य राजकुमारियों से पाणिग्रहण कर लिया। नवागन्तुक छहों रानियां ईर्ष्या की पिटारियां थीं। छहों ने मिलकर राजा के मन में दामवती के प्रति वैरभाव भर दिया। अकारण ही राजा दामवती को देशनिकाला देने पर तुल गया। पर मंत्री फूलसिंह की बुद्धिमत्ता से राजा वैसा नहीं कर सका। उसने राजमहल से आधा कोस की दूरी पर दामवती को एक भवन में भेज दिया और उसके भरण-पोषण का दायित्व राजकीय कोष से कर दिया।

सात विवाह करके भी राजा निःसंतान रहा। आखिर जंगल में जाकर उसने पद्मावती देवी की आराधना की। देवी ने राजा को सात आम दिए और कहा कि उसकी प्रत्येक रानी एक-एक आम शुद्ध भाव से खाए। वैसा करने पर उसे प्रत्येक रानी से एक-एक पुत्र प्राप्त होगा। राजा राजमहल लौट आया। छहों रानियों ने निश्चय किया कि वे दामवती को आम नहीं देंगी। उन छहों ने सातों आम खा लिए। दामवती भी आमों का रहस्य जान चुकी थी। उसने अपनी चतुर दासी भेजकर उन आमों की गुठलियां मंगवा लीं। उन गुठलियों को गंगाजल में धोकर उसने पीस लिया। आधा चूर्ण उसने स्वयं खा लिया और आधा अपनी घोड़ी को खिला दिया। कालक्रम से सातों पत्नियों ने सात पुत्रों को जन्म दिया। पर राजा की प्रिय छह रानियों के पुत्र अपंग, कुरूप और दुर्बुद्धि हुए जबकि दामवती का पुत्र अपूर्व तेजोदीप्त और सुन्दर था। राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा पूर्ण हुई। दामवती का पुत्र गजसिंह ही शिक्षा में भी सर्वोपरि रहा। वह प्रजा की आंखों का तारा था। पर पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण और छहों विमाताओं द्वारा निरन्तर विषवमन के कारण वह राजा के प्रेम का अधिकार नहीं पा सका।

गजसिंह कुमार ने माण्डवगढ़ से कुछ ही दूरी पर एक अशासित भूखण्ड पर दुर्ग निर्माण कराया और वहां पर एक छोटा सा राज्य स्थापित कर रहने लगा। इससे उसका पिता ही उसका शत्रु बन बैठा। वह पुत्र गजसिंह से युद्ध के लिए तैयार हो गया। दामवती एक पतिव्रता नारी थी। उसने अपने पुत्र को पिता के विरुद्ध युद्ध न करने के लिए मना लिया। आखिर गजसिंह ने देशाटन का संकल्प किया और माता की आज्ञा प्राप्त कर वह देशाटन के लिए प्रस्थित हो गया। उसने पुरपइठानपुर के राजा गुलाबसिंह की इकलौती पुत्री चम्पकमाला से विवाह किया। पत्नी को पितृगृह में छोड़कर ही गजसिंह पोतनपुर नगर पहुंचा। वहां वह पोतनपुर नरेश रूपसेन का प्रीतिपात्र बन गया और राजा का अंगरक्षक बन गया। किसी समय राजा के साथ गजसिंह वन-विहार को गया। एक राक्षस ने राजा पर आक्रमण किया। गजसिंह ने अद्‌भुत शौर्य प्रदर्शित करते हुए राक्षस को मार डाला। इससे गजसिंह की कीर्ति देश-प्रदेशों में व्याप्त हो गई। धारानगरी की राजकुमारी फूलदे मन ही मन गजसिंह को अपना पति मान बैठी। पुत्री के मन की इच्छा जानकर राजा सुरेन्द्र सिंह ने अपने मंत्री को पोतनपुर भेजा। मंत्री के आगमन का आशय जानकर राजा रूपसेन गजसिंह के भाग्य से ईर्ष्या करने लगा। उसने धारानगरी के मंत्री को साम-दामादि से अपने पक्ष में कर लिया और इस बात के लिए तैयार कर लिया कि वह राजकुमारी फूलदे का विवाह उसके साथ कराए। मंत्री धारानगरी पहुंचा। उसने राजा को समझा दिया कि गजसिंह तो एक साधारण अनुचर है, इसलिए उसने उनकी पुत्री के लिए रूपसेन को वर के रूप में पसन्द किया है। राजा ने भी मंत्री से अपनी सहमति जता दी।

इधर फूलदे घटनाक्रम के यथार्थ से परिचित बनी तो उसका हृदय आहत हो गया। उसने गजसिंह के पास अपना प्रेमसंदेश प्रेषित कर दिया। आखिर एक लम्बे चौड़े घटनाक्रम के चलते गजसिंह ने ही फूलदे से पाणिग्रहण किया। इससे रूपसेन गजसिंह से अन्यमनस्क बन गया। राजा की नाराजगी को गजसिंह ने अपने लिए सुअवसर माना। वह देशाटन के लिए निकला ही था। सो उसने पोतनपुर से प्रस्थान कर दिया। वह विराटनगर पहुंचा। वहां उसने राजकन्या सुघड़दे, मंत्रीकन्या देवलदे और श्रेष्ठीपुत्री रत्नदे से पाणिग्रहण किया और सुखपूर्वक रहने लगा।

एक मुनि का उपदेश सुनकर विराटनगर का राजा चन्द्र प्रतिबुद्ध बन गया। जामाता गजसिंह को राजपद देकर उसने मुनिव्रत अंगीकार कर लिया। गजसिंह ने शासन-सूत्र संभाला और अल्प समय में ही वह प्रजा के हृदयों पर शासन करने लगा। बाद में सुयोग्य मंत्री के हाथों में शासन सूत्र सौंप कर गजसिंह अपनी तीनों पत्नियों के साथ धारानगरी पहुंचा। धारा-नरेश ने भी गजसिंह को शासन देकर दीक्षा धारण कर ली। पोतनपुर नरेश रूपसेन भी विरक्त बन गया। उसने भी गजसिंह को ही अपना उत्तराधिकार प्रदान कर संयम का पथ चुना। धारानगरी और पोतनपुर राज्यों के शासन सूत्र भी गजसिंह ने सुयोग्य मंत्रियों को सौंपे और अपनी चतुर्थ पत्नी फूलदे को साथ ले—चारों पत्नियों के साथ वह पुरपइठानपुर पहुंचा। वहां चम्पकमाला गजसिंह की व्यग्र प्रतीक्षा कर ही रही थी। पति-पत्नी का मिलन हुआ। सुयोग्य और तेजस्वी जामाता गजसिंह को राज्य अधिकार प्रदान कर महाराज गुलाबसिंह भी प्रव्रजित हो गए।

इस प्रकार गजसिंह चार साम्राज्यों का स्वामी बनकर पांच पत्नियों के साथ अपने नगर माण्डवगढ़ पहुंचा। उधर महाराज जामजशा भी वस्तुस्थिति से परिचित बन चुके थे और दामवती से क्षमापना कर उसे पटरानी का गौरव प्रदान कर चुके थे। गजसिंह को आया जानकर महाराज जामजशा और महारानी दामवती के हर्ष का पारावार न रहा। नगर में दीपमालाएं प्रज्ज्वलित कर प्रजा ने अपने युवराज का सम्मान / स्वागत किया। महाराज जामजशा ने गजसिंह को उत्तराधिकार प्रदान कर दीक्षा ग्रहण की और आत्मकल्याण में रत हो गया।

गजसिंह ने पांच-पांच राज्यों का कुशलतापूर्वक संचालन किया। उसे पांचों पत्नियों से पांच पुत्र हुए। योग्यवय में पांचों पुत्रों को पांचों राज्यों का शासन-अधिकार प्रदान कर गजसिंह ने संयम धारण किया। निरतिचार संयम की आराधना कर उसने अंततः केवलज्ञान प्राप्त किया। सर्वकर्म खपाकर मुनि गजसिंह मोक्ष को गए।

गजसुकुमाल

वसुदेव और देवकी के सबसे छोटे पुत्र, त्रिखण्डाधीश वासुदेव श्रीकृष्ण के अनुज और एक ऐसे वीरवर महासाधक, जिन्होंने दीक्षा के प्रथम दिन ही अपनी परम मंजिल को प्राप्त कर लिया। अन्तगडसूत्र के पृष्ठों पर गजसुकुमाल का चरित्र चित्रण विस्तृत रूप से हुआ है, जिसका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार से है–

देवकी मथुरा के राजा उग्रसेन की बहन थी। देवकी का विवाह महाराज वसुदेव के साथ निश्चित हुआ। विवाह के प्रसंग पर कंस की रानी जीवयशा मदिरापान कर उन्मत्त हो नाचने लगी। जीवयशा तत्कालीन प्रतिवासुदेव जरासंध की पुत्री थी। उसे अपने रूप तथा अपने पिता की शक्ति का बहुत घमण्ड था। उसमें मदिरा-पान आदि कई दुर्गुण थे। अतिमुक्त कुमार मुनि, जो संसार पक्ष में जीवयशा के देवर थे तथा कुमारावस्था में ही मुनि बन गए थे, वहां आ गए। मदिरा से उन्मत्त बनी जीवयशा ने मुनि से विनोद करना शुरू कर दिया। मुनि द्वारा पुनः पुनः समझाने पर भी जब जीवयशा का उन्माद कम न हुआ तो भविष्यद्रष्टा मुनि ने उसका उन्माद उतारने के लिए कहा, जीवयशे ! तुम्हारा यह आमोद अस्थायी है! जिस देवकी के साथ तुम क्रीड़ा कर रही हो, यह महान और अनन्य आठ पुत्रों को जन्म देगी तथा इसका सातवां पुत्र तुम्हारे पति का वध करेगा!

मुनि की भविष्यवाणी सुनकर जीवयशा का उन्माद उतर गया। उसने अपने पति कंस को मुनि की भविष्यवाणी की बात बताई। कंस भी भयभीत हो गया। इसी भय के फलस्वरूप कंस ने देवकी और वसुदेव के विवाह-प्रसंग पर ही उन दोनों को धोखे से बन्दी बना लिया। कारागृह में बन्द देवकी जब-जब पुत्र को जन्म देती तो हरिणगमेषी देव उसके सर्वांग सुन्दर पुत्रों को ले जाकर भद्दिलपुर नगर निवासिनी सुलसा के पास पहुंचा देता और सुलसा के मृत पुत्रों को देवकी के पास पहुंचा देता। इस प्रकार देवकी के प्रथम छह पुत्र सुलसा की गोद में पल-पुसकर बड़े हुए। (देखिए-अनीयसेन)

कृष्ण के रूप में देवकी ने सातवें पुत्र को जन्म दिया। पुण्यवान पुत्र के जन्म से वसुदेव बन्धन-मुक्त हो गए और पहरेदार निद्राधीन हो गए। वसुदेव कृष्ण को अपने मित्र नन्द को दे आए। नन्द और यशोदा के घर में कृष्ण बड़े हुए। बाद में कृष्ण ने कंस का वध कर अपने माता-पिता को कारागृह से मुक्त कराया।

कालान्तर में श्रीकृष्ण ने समुद्र के किनारे द्वारिका नाम की एक भव्य नगरी बसाई। जरासंध ने श्रीकृष्ण पर आक्रमण किया। श्रीकृष्ण ने जरासंध को मारकर वासुदेव का पद पाया। श्रीकृष्ण के नेतृत्व में यादव साम्राज्य का महान उत्कर्ष हुआ। इसी वंश में अरिहंत अरिष्टनेमि का जन्म हुआ। अरिहंत अरिष्टनेमि ने प्रव्रजित होकर केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। हजारों पुरुषों और स्त्रियों ने उनके धर्मसंघ में प्रवेश किया।

अरिहंत अरिष्टनेमि अक्सर द्वारिका नगरी में पधारते थे। एक बार जब भगवान द्वारिका में पधारे तो उनके साथ समान रूप-गुण वाले छह अणगार थे। एक दिन पारणे के लिए ये छहों अणगार दो-दो के सिंघाड़े से द्वारिका नगरी में गए। संयोग से तीनों ही सिंघाड़े थोड़ी-थोड़ी देर के अन्तराल से देवकी के महल में गए। देवकी ने केसरिया मोदक मुनियों को भिक्षा में दिए। एक समान रूप, आयु और गुण होने से देवकी के मन

में संदेह जागृत हुआ। उसने सोचा, क्या द्वारिका नगरी इतनी विगत-पुण्य बन गई है कि वहां अणगारों को भिक्षा उपलब्ध नहीं होती है, जिसके परिणामस्वरूप मुनियों को पुनः पुनः एक ही द्वार पर आना पड़ता है! ऐसा सोचकर उसने अपने हृदय की बात तृतीय सिंघाड़े के मुनियों से कही। वस्तुस्थिति को तत्क्षण समझते हुए मुनियों ने देवकी के संशय का निवारण करते हुए कहा, महारानी! जैसा आप सोच रही हैं, बात वैसी नहीं है! द्वारिका नगरी में मुनियों के लिए आहार का अभाव नहीं है। साथ ही यह भी सच है कि हम दोनों मुनि आपके द्वार पर तीसरी बार आहार के लिए नहीं आए हैं। हमसे पहले जो दो अन्य सिंघाड़े आपके द्वार पर भिक्षा लेने आए थे, वे भी दो भिन्न-भिन्न मुनियों के सिंघाड़े थे।

मुनि-युगल ने देवकी के संशय-निवारण के लिए स्पष्ट किया, महारानी! भद्दिलपुर निवासी नाग तथा सुलसा के हम छह अंगजात पुत्र समान रूप-गुण वाले हैं। हम छहों भ्राताओं ने भगवान अरिष्टनेमि से एक ही दिन दीक्षा धारण की तथा बेले-बेले पारणा करने का संकल्प लिया। आज हम छहों मुनियों के पारणे का दिन है। हम दो-दो के समूह में भिक्षा के लिए द्वारिका नगरी में आए हैं। संयोग से हम छहों अणगारों के तीनों समूह आपके द्वार पर आ गए और आप हमारे समान रूप-गुण को देखकर संशयशील हो गईं!

मुनियों की बात सुनकर देवकी का संशय धुल गया। उसने श्रद्धा-सहित मुनियों को विदा दी। पर मुनियों के जाते ही देवकी का मन अन्य संकल्पों-विकल्पों से भर गया। सुलसा के महाभाग्य पर चिन्तन करते हुए उसे अतिमुक्त मुनि के भविष्य-कथन की स्मृति हो आई। अतिमुक्त मुनि ने कहा था कि देवकी नलकूबर के समान आठ पुत्रों को जन्म देगी। वैसे पुत्रों को भरतक्षेत्र में अन्य कोई माता जन्म न दे सकेगी।

देवकी ने सोचा, मुनि का कथन कभी अन्यथा नहीं हो सकता। मुझे भगवान के पास जाकर अपने संशय का निवारण करना चाहिए।

देवकी भगवान के पास पहुंची। अन्तर्यामी भगवान ने देवकी के प्रश्न को स्वयं विश्लेषित करते हुए समाधान दिया, देवकी! तुमने आज जिन छह अणगारों के दर्शन किए हैं, वस्तुतः वे तुम्हारे ही पुत्र हैं! सुलसा ने तो उनका पालन-पोषण भर किया है। भगवान ने अतीत का पूरा घटनाक्रम देवकी को कह सुनाया।

सत्य से परिचित होकर देवकी गद्गद बन गई। भगवान को वन्दन कर वह उन छहों अणगारों के पास पहुंची और उन्हें एकटक निहारने लगी। वात्सल्य के उद्रेक से उसके स्तनों से दुग्धधार बह चली। मन भर कर अपने अंगजात मुनियों को देखकर देवकी अपने महल में लौट आई। महल में पहुंचने पर एक अन्य विचार ने देवकी को व्यथित कर दिया। वह इस चिन्ता से उद्विग्न हो गई कि उसने सात पुत्रों को जन्म दिया पर वह अपने किसी भी पुत्र की बाललीलाएं नहीं देख सकी। इस भाव ने देवकी को गहन चिन्ता और उद्वेग में डाल दिया।

आखिर श्रीकृष्ण ने इस चिन्ता की सम्यक् चिकित्सा की। उन्होंने हरिणगमेषी देव की आराधना की और उसके परिणामस्वरूप उन्हें ज्ञात हुआ कि शीघ्र ही उनके छोटे भाई का जन्म होगा। उक्त सूचना श्रीकृष्ण ने अपनी माता को दी, जिससे देवकी के हर्ष का पारावार न रहा।

कालक्रम से देवकी ने एक पुत्र को जन्म दिया। यह बालक हाथी के तालु के समान कोमल था। अतः उसका नाम गजसुकुमार रखा गया। गजसुकुमार बड़े होने लगे। यौवनावस्था की दहलीज पर कदम धरते ही श्रीकृष्ण ने अनुज के लिए सोमिल ब्राह्मण की पुत्री सोमश्री की मांग की तथा उसे अविवाहित कुमारिकाओं के अन्तःपुर में रख लिया।

उन्हीं दिनों अरिहंत अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी में पधारे। गजसुकुमार भी भगवान का उपदेश सुनने के

लिए गए। भगवान का उपदेश सुनकर वे प्रतिबुद्ध हो गए। घर आकर उन्होंने माता-पिता और भाई से दीक्षा की अनुमति मांगी। सभी ने गजसुकुमार को विभिन्न विधियों से संयम न लेने के लिए मनाया। पर गजसुकुमार रुके नहीं। आखिर अग्रज श्रीकृष्ण के कहने पर गजसुकुमार ने एक दिन के लिए राजपद स्वीकार कर लिया। सिंहासन पर बैठते ही गजसुकुमार ने अपने लिए दीक्षा की तैयारी का आदेश दिया।

समारोहपूर्वक गजसुकुमार दीक्षित हुए। उस क्षण माता देवकी ने गजसुकुमार को सीख देते हुए कहा था, पुत्र! ऐसी साधना करना कि तुम्हारे लिए किसी अन्य माता को आंसू न बहाने पड़ें!

दीक्षा के प्रथम दिन ही भगवान की आज्ञा लेकर अणगार गजसुकुमार ने द्वारिका नगरी के महाकाल नामक श्मशान में जाकर भिक्षु की बारहवीं प्रतिमा अंगीकार कर ली। उधर से गुजरते हुए सोमिल ब्राह्मण ने मुनि गजसुकुमार को देखा तो उसका पूर्वजन्मों का वैर-भाव जागृत हो आया। उसने मन ही मन कहा, इसने मेरी पुत्री को अपनाकर भी छोड़ दिया। अब मेरी पुत्री का क्या होगा?

पुत्री के भविष्य का चिन्तन निमित्त बन गया। सोमिल क्रोध से उबल पड़ा। उसने गजसुकुमार को सबक सिखाने के लिए तालाब से आर्द्र मिट्टी लेकर गजसुकुमार के सर पर पाल बांध दी और एक ठीकरे में जलती चिता से अंगारे भरकर मुनि के सर पर उंडेल दिए। मुनि का सर धू-धू कर जलने लगा। अनन्त देह पीड़ा का गरलपान करते हुए भी मुनि गजसुकुमार ने क्षमा और उपशम की भावधारा को खण्डित नहीं होने दिया। क्षपक श्रेणी चढ़कर अन्तिम श्वास के साथ मुनि गजसुकुमार सिद्ध हो गए।

भय से कांपता हुआ सोमिल अपने घर चला गया।

दूसरे दिन वासुदेव श्रीकृष्ण भगवान के दर्शनों के लिए चले तो उन्होंने एक वृद्ध व्यक्ति को देखा, जो ईंटों के विशाल ढेर से एक-एक ईंट उठाकर अपने घर में रख रहा था। वृद्ध की सहायता के लिए श्रीकृष्ण ने ढेर से एक ईंट उठाकर उसके घर रख दी। श्रीकृष्ण का अनुगमन करते हुए उनकी अनुगामिनी भीड़ ने भी वैसा ही किया, जिससे हजारों चक्करों में पूर्ण होने वाला वृद्ध का कार्य क्षणभर में ही निपट गया। तदनन्तर श्रीकृष्ण भगवान के पास पहुंचे। भगवान को वन्दन करने के पश्चात् वे अपने अनुज अणगार गजसुकुमार को यत्र-तत्र देखने लगे। श्रीकृष्ण की मनःस्थिति को देखकर भगवान ने कहा, वासुदेव! अणगार गजसुकुमार ने अपना लक्ष्य साध लिया है।

सुनकर श्रीकृष्ण सन्न रह गए। उन्होंने भगवान से पूरी बात स्पष्ट करने की प्रार्थना की। भगवान ने फरमाया, वासुदेव! जैसे तुम्हारे सहयोगी बनने से वृद्ध के हजारों चक्कर समाप्त हो गए, ऐसे ही अणगार गजसुकुमार को भी एक सहयोगी मिल गया, जिसके सहयोग से सुदूर सिद्धि को मुनि ने शीघ्र ही साध लिया।

व्यथित और दुखित श्रीकृष्ण ने पूछा, भगवन्! मेरे अनुज को अकाल में मृत्यु-मुख में धकेलने वाले उस अधम पुरुष को मैं कैसे पहचानूंगा?

भगवान ने कहा, जो पुरुष तुम्हें समक्ष पाकर निष्प्राण हो जाएगा, जान लेना वही वह पुरुष है!

भ्रातृविरह-व्यथित श्रीकृष्ण नगरी की ओर लौट चले। राजपथ का परित्याग कर उन्होंने एक संकरे मार्ग से नगर में प्रवेश किया। उधर सोमिल ब्राह्मण ने सोचा, प्रातः श्रीकृष्ण भगवान के पास जाएंगे और सब भेद जानकर, न जाने मुझे कैसी मृत्यु से मारेंगे। अच्छा यही है कि मैं शीघ्र ही द्वारिका नगरी से कहीं दूर चला जाऊं। इस विचार से वह भी छोटे मार्ग से द्वारिका से बाहर जाने के लिए निकला। सामने से श्रीकृष्ण को

आते देखकर सोमिल कांप उठा। भय की अधिकता से वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा और उसके प्राण निकल गए।

श्रीकृष्ण जान गए कि इसी व्यक्ति ने उनके भाई का वध किया है। उन्होंने सोमिल के शव को चीलों-कौवों के समक्ष फिंकवा दिया और उस पृथ्वी को जल से शुद्ध करवाया।

गजसुकुमार का जीवनवृत्त क्षमा का एक अनुपम उदाहरण है। —अन्तगडसूत्र वर्ग 3, अध्ययन 8

गज्जु चोर

राजगृह नगरी के निकटवर्ती पर्वत शृंखला में छिपकर रहने वाला एक दुर्दान्त चोर। उसे अवस्वापिनी विद्या प्राप्त थी, जिसके बल पर वह स्वच्छन्द चोरी करता था। उसका एक सहोदर था—भज्जु। ये दोनों मिलकर चोरियां करते और चुराए हुए धन को सप्त कुव्यसनों में खो देते।

एक बार दोनों सहोदर राजगृह नगर में चोरी करने के लिए जा रहे थे। मार्ग में स्थित गुणशील उद्यान में आचार्यवर्य वरदत्तगिरी प्रवचन फरमा रहे थे। गज्जु का मन आचार्य श्री का प्रवचन सुनने के लिए उत्सुक हुआ। भज्जु ने गज्जु को वैसा करने से रोका। गज्जु ने भज्जु को प्रवचन सुनने के लिए प्रेरित किया। पर दोनों अपने-अपने आग्रह पर दृढ़ रहे। गज्जु प्रवचन सभा में जा बैठा और भज्जु चोरी करने के लिए नगर में चला गया।

आचार्य श्री ने सत्य की महिमा का भावोत्पादक वर्णन किया। गज्जु पर प्रवचन का गहरा प्रभाव पड़ा और उसने आचार्य श्री से सत्यव्रत ग्रहण कर लिया। व्रत ग्रहण कर गज्जु गुणशील चैत्य से निकलकर राजपथ पर पहुंचा। उसने वहां चर्चा सुनी कि भज्जु चोर मारा गया है। भ्रातृ-मृत्यु से उसे गहरा आघात लगा। पर क्या करता? किसे कहता? वह अपने स्थान पर लौट गया।

कुछ दिन बाद जब उसका शोक कुछ कम हो गया तो वह चोरी करने के लिए निकला। उसने चम्पा नगरी के राजकोष को अपना लक्ष्य बनाया। वह चम्पा नगरी के पथ पर बढ़ चला। मार्ग में उसे धन्ना नामक एक वणिक मिला, जिसके पास एक रत्नमंजूषा थी। वणिक सयाना था और उसने अनुमान लगा लिया कि हो न हो यह चोर है। वह सावधान हो गया और उसने कई प्रयास किए कि वह गज्जु से आगे या पीछे हो जाए। पर गज्जु ने उसके सब प्रयत्न विफल कर दिए। वह वणिक के साथ ही रुकता और उसके साथ ही यात्रा शुरू करता। वणिक ने गज्जु से उसका परिचय पूछा। गज्जु ने अपना परिचय देते हुए कहा कि वह गज्जु चोर है और चम्पा का राजकोष चुराने जा रहा है। उसका परिचय सुनकर वणिक भयभीत हो गया। गज्जु को प्रसन्न करने के लिए उसने उसे भोजन कराया। गज्जु ने उसे अपना मित्र मान लिया। दोनों ने मैत्री की शपथ ली। वणिक का भय कुछ कम हो गया। मार्ग में देहशंका से निपटने के लिए वणिक एक स्थान पर रुका। उसने रत्नमंजूषा गज्जु को थमाई और कहा, मित्र! इसमें विषैले जीव-जन्तु हैं, इसे खोलना मत! कहकर वह एक दिशा में चला गया।

गज्जु भी कम अनुभवी नहीं था। पर वणिक की आशंका पर उसे कष्ट हुआ। उसने मंजूषा को छिपा दिया। वणिक ने लौटकर मंजूषा मांगी तो गज्जु ने कहा, विषैले जन्तुओं से भरी उस मंजूषा को मैंने कहीं छिपा दिया है। वणिक आर्त्तनाद कर उठा और बोला, उसमें विषैले जन्तु नहीं हैं, उसमें तो मेरे जीवन का संचित सारा धन है। उसे मुझे लौटा दीजिए। गज्जु ने कहा, वणिक होकर भी तुम झूठ बोलते हो! तुम तो अक्सर मुनिराजों के उपदेश सुनते हो, उस पर भी झूठ बोलना नहीं छोड़ पाए, मैंने तो एक प्रवचन सुना और

झूठ का त्याग कर दिया। यदि तुम जीवन में झूठ का त्याग करो तो मैं तुम्हारी मंजूषा लौटा सकता हूं। वणिक ने तत्क्षण झूठ का त्याग कर दिया। गज्जु ने उसकी मंजूषा उसे लौटा दी।

इस घटना से वणिक गज्जु से काफी प्रभावित हुआ। उसे विश्वास हो गया कि गज्जु जो कहता है, सत्य कहता है, और अपने कहे अनुसार वह चम्पा का राजकोष अवश्य लूटेगा। चम्पा के निकट पहुंचकर वणिक गज्जु से विदा लेकर सीधा राजा के पास पहुंचा और रात्रि में राजकोष लूटे जाने की अग्रिम सूचना राजा को दी। राजा भी सावधान हो गया। उसने राजकोष पर कड़े पहरे लगा दिए। फिर स्वयं रात्रि में वेश बदलकर घूमने लगा। एक स्थान पर उसकी गज्जु से भेंट हो गई। राजा ने उसका नाम और घूमने का प्रयोजन पूछा। गज्जु ने बता दिया कि उसका नाम गज्जु है और वह राजकोष चुराने जा रहा है। उसकी सत्यवादिता पर राजा चकित हो गया। गज्जु के पूछने पर राजा ने अपना परिचय भी एक चोर के रूप में दिया। इससे गज्जु प्रसन्न हो गया और बोला—एक से दो भले। दोनों राजमहल के निकट पहुंचे। गज्जु ने अवस्वापिनी विद्या से सभी सैनिकों को निद्राधीन कर दिया। तब उसने चोर रूपी राजा से कहा, हममें से एक अन्दर जाकर कोष चुराएगा और दूसरा बाहर खड़ा रहकर पहरा देगा। जो अन्दर जाएगा, उसे चुराए गए धन के तीन हिस्से मिलेंगे और जो बाहर खड़ा होगा, उसे चौथा भाग मिलेगा। राजा ने बाहर खड़े होना स्वीकार किया। गज्जु कोषागार में घुसा और ताले तोड़कर चार रत्नमंजूषाएं चुरा लाया। बाहर आकर उसने एक मंजूषा राजा को दी और शेष तीन अपने पास रख लीं। तब उसने कहा, मित्र! मेरा कार्य पूर्ण हो चुका है, अब मैं लौट रहा हूं।

राजा ने कहा, मित्र! सुबह निकट है। ऐसे में तुम कहां जाओगे? गज्जु ने कहा, नगर के बाहर शून्य देवालय में रात्रि व्यतीत कर.मैं सुबह अपने स्थान के लिए निकल जाऊंगा। गज्जु को विदा देकर राजा राजमहल पहुंचा। तब तक कोषागार के रक्षक सैनिक भी जाग चुके थे। कोष को लुटा देखकर वे राजा के पास पहुंचे। राजा ने सैनिकों को चोर का पता बताते हुए कहा, उस चोर को ससम्मान बन्दी बनाकर दरबार में उपस्थित करो!

प्रभात में गज्जु को दरबार में उपस्थित किया गया। राजा के पूछने पर गज्जु ने रात्रि की घटना का अक्षरशः बखान कर दिया। राजा ने कहा, राजकोष से चार रत्नमंजूषाएं चुराई गई हैं। तीन मंजूषाएं तुमने दे दी हैं, चौथी मंजूषा कहां है? गज्जु ने कहा, चौथी मंजूषा पर मेरे मित्र का अधिकार था और वह मैंने उसे दे दी है। राजा ने बनावटी रोष दर्शाते हुए कहा, तुम्हारा मित्र कहां है, उसे भी दरबार में लाया जाए!

गज्जु ने कहा, महाराज! वह तो पहले से ही दरबार में उपस्थित है। और वह स्वयं आप हैं।

गज्जु की बात सुनकर राजा गद्‌गद बन गया। सिंहासन से उठकर उसने गज्जु को गले से लगा लिया। उसके बाद राजा ने गज्जु की सत्यवादिता और रात्रि की घटना से सभी दरबारियों को परिचित कराया। राजा ने गज्जु को अपने दरबार में सम्मानित पद दिया और चौर्य कर्म छोड़ने के लिए कहा। गज्जु ने मित्र की बात को स्वीकार कर लिया और चोरी का त्याग कर दिया।

कालान्तर में आचार्य वरदत्तगिरी चम्पा नगरी में पधारे। गज्जु ने आचार्य श्री के सान्निध्य में दीक्षा धारण की और शुद्ध संयम की आराधना द्वारा सद्‌गति का अधिकार पाया।

गर्गाचार्य

एक प्रसिद्ध जैनाचार्य। उनके पांच सौ शिष्य थे। पर सभी अविनीत और उच्छृंखल थे। एक बार

गर्गाचार्य अस्वस्थ हो गए। किसी भी शिष्य ने उनकी सेवा नहीं की। आचार्य कोई काम कहते तो शिष्य टालमटोल कर देते। शास्त्राध्ययन कराते तो शिष्य उसमें मन न लगाते। इन सब बातों से गर्गाचार्य को बड़ी असमाधि होती। एक दिन उन्होंने अपने मन को दृढ़ किया और सभी शिष्यों को छोड़कर एकलविहारी हो गए। संयम की विशुद्ध आराधना करते हुए उन्होंने केवलज्ञान पाया और मोक्ष में गए।

(क) गर्दभाली (परिव्राजक)

वैदिक परम्परा का सफल संवाहक महावीरकालीन एक परिव्राजक। (देखिए-स्कंदक)

(ख) गर्दभाली (मुनि)

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार गर्दभाली एक महान आचार्य थे। किसी समय वे पांचाल देश के कांपिल्यपुर नगर के केशर उद्यान में ध्यानमग्न थे। उधर संयति अथवा संजय राजा शिकार के लिए आया। उसने हिरणों को बाणों से बींधना शुरू कर दिया। एक घायल हिरण दौड़ता हुआ गर्दभाली के निकट आकर गिरा। मृगानुगामी राजा वहां पहुंचा। मृग को मुनि के निकट देखकर उसने सोचा—हो न हो, यह मृग मुनि का है! अगर मुनि क्रोधित हो गए तो उसे उसके राज्य सहित भस्म कर डालेंगे। भयभीत संजय ने मुनि के चरण पकड़ लिए और अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी।

गर्दभाली मुनि ने संजय को आश्वस्त करते हुए कहा कि उसे उनकी ओर से भय नहीं है पर उसे भी जीवों को अभय देना चाहिए। समस्त प्राणियों को अपने प्राण उतने ही प्रिय हैं, जितने उसे उसके प्राण प्रिय हैं। धन, यौवन और जीवन, सब कुछ क्षणभंगुर है। फिर क्षणभंगुर जीवन के लिए इतने पाप क्यों?

मुनि के उपदेश से संजय प्रतिबुद्ध हो गया। वह मुनि बन गया और उत्कृष्ट आत्मसाधना में तल्लीन हो गया। गर्दभाली आचार्य भी केवलज्ञान का उपार्जन कर सिद्ध हुए।

गर्दभिल्ल

यवपुर नरेश महाराज यव और रानी धारिणी का पुत्र। (देखिए-यवराजर्षि)

(क) गांगेय (अणगार)

प्रभु पार्श्व की परम्परा के एक अणगार। वाणिज्यग्राम के द्युतिपलाश उपवन में गांगेय अणगार ने प्रभु महावीर का प्रवचन सुना और कुछ प्रश्न प्रभु से पूछे। समाधान पाकर चातुर्याम धर्म से पंचमहाव्रतात्मक धर्म में प्रवेश कर वे सिद्ध हुए।

(ख) गांगेय (भीष्म)

हस्तिनापुर नरेश शान्तनु और गंगा का अंगजात। उसका लालन-पालन उसके मामा के घर रत्नपुरी में हुआ। पांच वर्ष की अवस्था में ही गांगेय शस्त्र और शास्त्रों में कुशल बन गया था तथा अनेक दिव्य-विद्याएं उसने अपने विद्याधर मामा से सीख ली थीं। गांगेय कुमार की इस प्रतिभा पर उसके समवयस्क बालक उससे ईर्ष्या रखने लगे। उसी कारण से गंगा गांगेय को लेकर वन में चली गई। वन में गांगेय को निरन्तर मुनि-दर्शन का पुण्य लाभ प्राप्त होता रहा। जिससे उसके धार्मिक संस्कार पुष्ट बनते गए, साथ ही उन्मुक्त वातावरण में रहकर उसने मामा से प्राप्त विद्याओं का निरन्तर अभ्यास किया और वह शैशवावस्था पार करते-करते ही विश्व का सर्वश्रेष्ठ शस्त्र संचालक बन गया। धार्मिक भावों से ही प्रेरित होकर उसने उस वन के समस्त प्राणियों को अभयदान दिया था। किसी शिकारी को वह शिकार नही करने देता था। संयोग से

एक बार राजा शान्तनु उसी वन में शिकार के लिए आया तो गांगेय ने उसका मार्ग रोक लिया और उसे प्राणियों के शिकार के विरुद्ध चेतावनी दी। शान्तनु को शासक और शक्ति-सम्पन्न होने का दंभ था। उसने गांगेय को युद्ध के लिए ललकारा। क्षण-भर में ही गांगेय ने शान्तनु के धनुष की प्रत्यंचा काट डाली। शान्तनु का आत्मभ्रम हवा हो गया। तब गंगा ने वहां उपस्थित होकर पिता-पुत्र को एक-दूसरे का परिचय दिया।

शान्तनु गांगेय कुमार को हस्तिनापुर ले गया। कालान्तर में धीवर की शर्त और पितृ-प्रसन्नता के लिए गांगेय कुमार ने राजसिंहासन पर न बैठने और आजीवन ब्रह्मचारी रहने की भीषण प्रतिज्ञा की, जिसके कारण उन्हें महान सुयश प्राप्त हुआ और उन्हे लोक में 'भीष्म' उपनाम से पुकारा जाने लगा।

महाभारत के युद्ध की परिसमाप्ति तक भीष्म कुरु राज्य और कुरु परिवार के मेरुदण्ड बने रहे। उनके प्रयास से ही विचित्रवीर्य (सत्यवती-पुत्र) का विवाह काशीराज की तीन पुत्रियों—अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका से हुआ। उन तीनों से क्रमशः धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर उत्पन्न हुए।

कालान्तर में सिंहासन-संघर्ष के कई पृष्ठ उघड़े। अपनी बुद्धि और प्रभाव से भीष्म संघर्षों को समाधान देते रहे। पौत्रपरिवार तक पहुंचते-पहुंचते भीष्म वृद्ध हो गए थे और दुर्योधन आदि कुमारों ने पितृ-मोह को ढाल बनाकर उनके आदेशों की गरिमा को कम कर दिया था। हस्तिनापुर के सिंहासन की सुरक्षा के वचन में बंधे भीष्म को कई निर्णायक अवसरों पर मौन के विष का घूंट भी पीना पड़ा। वचनबद्धता के कारण ही उन्होंने दुर्योधन के अन्याय पक्ष का सेनापतित्व भी वहन किया। अत्यन्त वृद्धावस्था में भी उनके शौर्य के समक्ष कोई टिक नहीं सकता था। आखिर शिखण्डी को सामने कर अर्जुन ने पितामह भीष्म पर बाण बरसाए। क्लीव को सामने देखकर भीष्म ने युद्ध बन्द कर दिया। वैदिक महाभारत के अनुसार अर्जुन ने भीष्म को बाणों से बींधकर धराशायी कर दिया। जैन महाभारत के उल्लेख के अनुसार शिखण्डी को सामने देखकर भीष्म ने शस्त्र त्याग दिए। अर्जुन ने उनको घायल कर दिया। भीष्म को युद्ध से विमुख देख दोनों पक्षों के योद्धा शान्त हो गए। भीष्म ने दुर्योधन को युद्ध को रोक देने की शिक्षा दी। दुर्योधन की अस्वीकृति पर भीष्म ने रणांगण छोड़ दिया। उनके मित्रदेव ने उनके लिए मुनिवेश प्रस्तुत किया, जिसे धारण कर वे आत्मसाधना में लीन हो गए। काफी समय तक विशुद्ध चारित्र की आराधना कर गांगेय अणगार ब्रह्म देवलोक में गए। अनुक्रम से वे सिद्धि प्राप्त करेंगे। (देखिए-शान्तनु और गंगा) —जैन महाभारत

(क) गांधारी

बल नामक चाण्डाल की पत्नी और हरिकेशबल मुनि की जननी। (देखिए-हरिकेशी मुनि)

(ख) गांधारी

वासुदेव श्रीकृष्ण की एक रानी। भगवान अरिष्टनेमि के प्रवचन से प्रतिबुद्ध बन गांधारी प्रव्रजित हुई और उसने सिद्ध पद प्राप्त किया। —अन्तगडसूत्र वर्ग 5, अध्ययन 3

(ग) गांधारी

धृतराष्ट्र की रानी, दुर्योधन की माता। एक पतिव्रता सन्नारी। —जैन महाभारत

गागली

पृष्ठचम्पा नगरी का राजा और शाल-महाशाल का भानजा। वह इन्द्रभूति गौतम से प्रतिबुद्ध बन दीक्षित हुआ और अपने उच्च भावों के परिणामस्वरूप प्रभु की परिषद् में पहुंचने से पूर्व ही केवली बन गया। उसके केवली होने की सूचना स्वयं भगवान महावीर ने इन्द्रभूति गौतम को दी थी।

गुणचन्द्र

(देखिए-मेतार्य मुनि)

गुणदत्त मुनि

वचनगुप्ति के उत्कृष्ट आराधक एक मुनि। किसी समय मुनि गुणदत्त विहार यात्रा में थे। मार्ग में उन्हें चोरों का एक दल मिला। चोरों ने मुनि से कहा, आप हमारे बारे में किसी को सूचना न दें! मौन भाव से मुनिवर आगे बढ़ गए। मार्ग में कुछ आगे मुनि को अपने परिजन मिले। मुनि ने उनको धर्मोपदेश दिया। धर्मोपदेश सुनकर परिजन अपने गन्तव्य पर बढ़े। मार्ग में उन्हीं चोरों ने उनको लूट लिया। चोर परस्पर कहने लगे कि मुनि ने हमारी सूचना इन्हें नहीं दी, अन्यथा ये इधर नहीं आते। चोरों की बात सुनकर मुनि की माता बोली, मेरी कोख से ऐसा पैदा हुआ, जिसने मुझे ही लुटवा दिया। चोरों ने सुना और जाना कि यह मुनि की माता है। जिसने ऐसे सुव्रती पुत्र को जन्म दिया, वह माता भी वन्दनीय है, ऐसा सोचकर चोरों ने उस परिवार का लूटा हुआ धन लौटा दिया और संत की माता को प्रणाम किया। माता ने अनुभव किया कि उसने एक ऐसे पुत्र को जन्म दिया है, जिसने उपदेश दिए बिना ही चोरों के हृदय बदल दिए। —उत्त. वृत्ति

गुणधर (आचार्य)

दिगम्बर परम्परा के एक प्रभावशाली आचार्य, जिनका समय वी.नि. की चतुर्थ शताब्दी का उत्तरार्ध अनुमानित है। आचार्य गुणधर ने 'कषाय पाहुड़ सुत्त' नामक उत्तम ग्रन्थ की रचना की थी। यह ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा में कर्मविज्ञान सम्बन्धी प्रतिनिधि ग्रन्थ माना जाता है। आचार्य गुणधर एक प्रभावशाली आचार्य थे। उनके नाम पर 'गुणधर संघ' की स्थापना हुई थी।

गुणभद्र (आचार्य)

एक गुणनिधान जैनाचार्य। आचार्य गुणभद्र के गुरु आचार्य जिनसेन थे। अपने गुरु के समान ही आचार्य गुणभद्र प्रख्यात विद्वान और यशस्वी आचार्य थे। गुरु के प्रति अगाध आस्था उनके हृदय में थी जिसका दर्शन उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में होता है। उत्तर पुराण, आत्मानुशासन और जिनदत्त चरित्र उनके द्वारा रचित उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं। उनका समय वी.नि. की 15वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

—उत्तर पुराण प्रशस्ति

गुणपाल (दाड़मिया सेठ)

वसन्तपुर नगर से चार योजन की दूरी पर बसे एक अनार्य गांव में रहने वाला सद्गृहस्थ। पूरे गांव में वह अकेला व्यक्ति (उसका परिवार—वह स्वयं और उसकी पत्नी) ही ऐसा था, जिसका खान-पान और व्यवहार शुद्ध और सात्विक था। संयोग से उस गांव से होकर आचार्य धर्मघोष और उनके शिष्य वसंतपुर नगर की ओर वर्षावास हेतु जा रहे थे। गांव में पहुंचते ही वर्षा प्रारंभ हो गई। कई दिनों तक वर्षा निरंतर होती रही। मार्ग अवरुद्ध हो गए। बाध्य होकर मुनिद्वय को उस ग्राम में ही वर्षावास हेतु रुकना पड़ा। गुणपाल श्रेष्ठी ने मुनिसेवा का चढ़ते भावों से भरपूर लाभ लिया। मुनिद्वय भी ग्राम की स्थिति को पहचान कर कई-कई दिनों तक उपवासी रहते। गुणपाल के आग्रह पर उसके घर भिक्षा को जाते। वह निर्दोष आहार मुनियों को बहराता और पत्नी सहित स्वयं उपवास ग्रहण कर लेता। उसकी आर्थिक स्थिति भी कमजोर थी। चार मास तक उसने और उसकी पत्नी ने मुनिद्वय के पारणे के दिन उपवास किए। उसकी श्रद्धा और धर्मनिष्ठा देखकर

आचार्य धर्मघोष का मन अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

वर्षावास के पश्चात् गुरु शिष्य वसन्तपुर पहुंचे। वहां एक कोटीश्वर श्रेष्ठी के घर भिक्षा को गए। श्रेष्ठी ने अत्युच्च भावों से मुनियों को आहार बहराया। शिष्य ने गुरु से श्रेष्ठी के उच्च भावों की प्रशंसा की तो गुरु ने कहा, निश्चय ही श्रेष्ठी के भाव बहुत ऊंचे हैं पर गुणपाल से उसकी समता नहीं है। आचार्य श्री के ये वचन कोटीश्वर श्रेष्ठी के कानों में भी पड़ गए। वह गुणपाल के प्रति प्रेम और स्नेह से भर गया। उसने विचार किया कि गुणपाल निश्चय ही महान पुण्यात्मा गृहस्थ है, जिसकी भक्ति-भावना की प्रशंसा निस्पृह-अणगार भी करते हैं। श्रेष्ठी ने मुनियों से गुणपाल का परिचय ज्ञात कर लिया। फिर उसने गुणपाल को अपने घर आमंत्रित किया और उसकी आर्थिक स्थिति से परिचित होकर उसकी सहायता करनी चाही। पर स्ववृत्ति में संतुष्ट गुणपाल ने श्रेष्ठी की सहायता को प्रेमपूर्वक अस्वीकार कर दिया और निवेदन किया कि वह अपनी वृत्ति और आय से ही सन्तुष्ट है। परन्तु श्रेष्ठी इससे सन्तुष्ट नहीं हुआ। वह चाहता था कि गुणपाल जैसे धर्मनिष्ठ व्यक्ति को निर्धनता से किसी न किसी तरह मुक्त करना चाहिए। उसने गुणपाल से ज्ञात कर लिया कि उसके पास छोटा सा एक बाग है, जिसमें अनार के वृक्ष लगे हैं। सेठ ने गुणपाल से एक थैला अनार प्राप्त किए और उन्हें अपने मुनीम को देकर कहा कि विदेश में व्यवसाय करते हुए इन अनारों को ऊंचे से ऊंचे दामों में बेचना।

विदेशों में व्यापार करते हुए मुनीम अनारों के थैले को अपने साथ रखता था। एक राज्य में मुनीम व्यापारार्थ गया। संयोग से वहां के राजकुमार को किसी असाध्य रोग ने घेर लिया। वैद्यों ने राजा से कहा, यदि अनार रस के साथ उक्त दवा राजकुमार को दी जाए तो उसके प्राण बच सकते हैं। उस देश में अनार नहीं होते थे। गंभीर समस्या राजा के समक्ष थी। नगर भर में यह बात फैल गई कि अनार रस ही राजकुमार के प्राणों का रक्षक हो सकता है। उक्त बात मुनीम के कानों तक भी पहुंची। उसने राजा के समक्ष अनारों का भरा थैला प्रस्तुत किया। राजा को मानों प्राण मिल गए। राजा ने खुशी से अनारों के वजन के हीरे मोती तोलकर मुनीम को प्रदान किए।

आखिर अनारों से प्राप्त उस धन को लेकर मुनीम अपने देश पहुंचा और सेठ को वस्तुस्थिति से परिचित कराया। सेठ उस धन को लेकर गुणपाल के पास पहुंचा और धन से भरा वह थैला उसके समक्ष रख दिया। गुणपाल ने उस धन को लेने से इन्कार कर दिया। आखिर सेठ ने उसको सब भांति विश्वास दिलाया कि यह धन उसके दाड़िमों (अनारों) की बिक्री से ही प्राप्त हुआ है, अतः इस पर उसी का अधिकार है।

गुणपाल विश्वस्त हो गया तो उसने वह धन प्राप्त कर लिया। अपने लिए थोड़ा धन रखकर शेष धन उसने असहाय और जरूरतमंदों की सहायता में लगा दिया। चूंकि वह धन दाड़िमों की बिक्री से प्राप्त हुआ था, फलस्वरूप गुणपाल 'दाड़मिया सेठ' के नाम से विख्यात हो गया।

सुसंस्कृत और धर्मनिष्ठ जीवन जीकर गुणपाल–दाड़मिया सेठ सद्गति का अधिकारी बना।

(क) गुणमाला

(देखिए-श्रीपाल)

(ख) गुणमाला

पतिव्रत धर्म को प्राणों से भी प्रिय मानने वाली एक राजकुमारी। वह तिलकपुर नरेश सिंहरथ की इकलौती पुत्री थी और रूप में रति के समान तथा गुणों में अपनी उपमा स्वयं थी। जैन धर्म पर उसकी

अगाध आस्था थी। कर्म सिद्धान्त पर उसका अटल विश्वास था। वह मानती थी कि मनुष्य को जो भी सुख-दुख प्राप्त होते हैं, उनका कारण वह स्वयं ही होता है। इसके विपरीत उसका पिता सिंहरथ जीता-जागता अहं का पुतला था और सोचता था कि प्रजा और परिजनों के सुखों-दुखों का नियंता वह स्वयं है। एक बार पिता और पुत्री के मध्य कर्म सिद्धान्त पर मतभेद उत्पन्न हो गया। राजा का कहना था कि वह सर्वशक्ति सम्पन्न है, जिसे चाहे सुखी बना सकता है और जिसे चाहे दुखी बना सकता है। जबकि राजकुमारी का कहना था कि मनुष्य तो क्या, देवता भी पुण्यवान को दुखी और अपुण्यवान को सुखी नहीं कर सकते। पुत्री की बातें राजा के अहं को प्रताड़ित कर रही थी। खीझकर राजा ने कहा, गुणमाला! तुझे अपने सिद्धान्त पर बड़ा घमण्ड है! मैं चाहूं तो तुम्हें किसी राजा की रानी भी बना सकता हूं और भिखारिन भी बना सकता हूं! पिता के इस अहंकार को दूर करने के लिए गुणमाला ने पुनः कर्म सिद्धान्त की पुष्टि की, पितृदेव! मेरे पुण्य जागृत हैं तो आप मुझे भिखारिन नहीं बना सकते और यदि मेरे पुण्य अशेष हो गए हैं तो आप मुझे सुखी नहीं बना सकते!

राजा ने इसे अपने लिए सीधी चुनौती माना। उसने क्रोध और दंभ से भरकर कहा, गुणमाला! देखता हूं कि तुम्हारे पुण्य कैसे तुम्हारी रक्षा करते हैं! राजा ने वर्षों के रोगी एक पुरुष के साथ राजकुमारी का विवाह कर दिया। वह रोगी पुरुष एकाकी था, न उसका कहीं घर था और न कोई परिजन। राजकुमारी ने उक्त पुरुष को ही अपना प्राणेश्वर स्वीकार कर लिया। उसकी अंगुली पकड़कर वह एक दिशा में चल दी। दोनों ने जंगल में एक वृक्ष के नीचे रात्रिविश्राम का निश्चय किया। पति को जब तक निद्रा नहीं लगी तब तक गुणमाला उसके चरण चांपती रही। उसके सो जाने के पश्चात् वह महामंत्र नवकार के जाप में लीन हो गई। उसके मन में खिन्नता और ग्लानि का कण भी नहीं था। उसे कर्म सिद्धान्त पर अटल आस्था थी। उसकी आस्था से बंधी चक्रेश्वरी देवी उसके समक्ष प्रकट हुई और उसने उसके पति के स्वास्थ्य का उपाय बताया। साथ ही देवी ने यह भी बताया कि जिस वृक्ष के नीचे बैठी वह जाप कर रही है, ठीक उसके आसन के नीचे चार हाथ की गहराई पर बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं दबी हुई हैं। कहकर देवी अन्तर्धान हो गई।

दूसरे दिन गुणमाला ने देवी के बताए उपाय से अपने पति को स्वस्थ किया और फिर जमीन खोदकर बारह कोटि स्वर्णमुद्राएं प्राप्त कीं। एक ही रात्रि में अपने पुण्यों के बल पर वह पुनः समृद्धि और सुख पा गई। उसने अपने पति से उसका परिचय पूछा तो उसने बताया कि वह राजपुर नगर के राजा वीरधवल का पुत्र है और विमाता द्वारा रुग्ण बना दिया गया था। गुणमाला और गुणसेन एक-दूसरे को पाकर हर्षाभिभूत थे। दोनों ने किसी नगर में निवास व्यवस्था कर रहने का निश्चय किया। गुणसेन ने एक रथ का प्रबन्ध किया और दोनों रथ में बैठकर पोतनपुर नगर में पहुंचे। गुणमाला को नगर के बाहर ही छोड़कर गुणसेन आवास की व्यवस्था जुटाने के लिए नगर में गया। उधर एक गणिका ने गुणमाला को अपने कपट जाल में फंसा लिया। गुणसेन नगर से लौटा तो गुणमाला को न पाकर अधीर हो गया। वह पत्नी को खोजते हुए नगर में भटकने लगा। उधर गणिका के घर में प्रवेश करते ही गुणमाला समझ गई कि उसके साथ छल हुआ है। गणिका ने गुणमाला को अपना आचार समझाया। पर गुणमाला ने उसके आचार को अपनाने के स्थान पर मर जाने को श्रेष्ठ माना। पर गणिका इतनी चतुर थी कि उसने गुणमाला को मरने भी नहीं दिया। पांच दासियां उसने गुणमाला की सेवा और सुरक्षा में नियुक्त कर दीं।

गुणसेन की भेंट एक योगी से हुई। गुणसेन की सेवा से संतुष्ट और प्रसन्न होकर योगी ने उसे कई चमत्कारी विद्याएं प्रदान कीं। विद्याओं के बल पर गुणसेन ने शीघ्र ही गुणमाला को खोज लिया और

गणिका को दण्डित भी किया। पोतनपुर नरेश की दृष्टि भी गुणमाला को देख मैली हो गई। उसने शक्ति के बल पर गुणमाला को अपनाना चाहा तो गुणसेन ने उसे भी दण्डित किया।

गुणसेन और गुणमाला विलासपुर नगर गए। पुण्ययोग से गुणसेन विलासपुर का राजा बन गया। यहीं से एक बार एक विद्याधर ने गुणमाला का अपहरण कर लिया। गुणमाला ने अनेक कष्ट सहकर भी अपने शीलधर्म को अक्षुण्ण रखा। आखिर गुणमाला और गुणसेन का पुनर्मिलन हुआ।

कालान्तर में गुणसेन ने सिंहरथ को पराजित कर गुणमाला के समक्ष प्रस्तुत किया। सिंहरथ का मिथ्या दर्प गल गया और उसने पुत्री से क्षमा मांगी। उसने गुणसेन को राज्य प्रदान कर दीक्षा धारण कर ली।

वहां से गुणसेन गुणमाला के साथ अपनी जन्मभूमि राजपुर नगर पहुंचा। पिता-माता पुत्र को देखकर गद्‌गद हो गए। विमाता ने अपना अपराध स्वीकार कर गुणसेन से क्षमा मांगी। वीरधवल ने पुत्र का राजतिलक किया और अपनी दोनों रानियों के साथ प्रव्रजित हो गया।

गुणसेन तीन साम्राज्यों का स्वामी था। उसने न्याय और धर्मनीति से सुदीर्घ काल तक प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। गुणमाला ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम गुणविलास रखा गया। गुणविलास के युवा होने पर गुणसेन ने उसको राजपद देकर अपनी रानी गुणमाला के साथ आर्हती प्रव्रज्या धारण की और निरतिचार तपाराधना/संयमसाधना से मोक्ष प्राप्त किया।

गुणरत्न (आचार्य)

वी.नि. की 20वीं सदी के एक मनीषी आचार्य। दर्शनशास्त्र और तर्कशास्त्र के वे पारगामी पण्डित मुनि थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में कई उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। कल्पान्तर्वाच्य, तर्क रहस्य दीपिका, क्रियारत्न समुच्चय आदि उनके प्रमुख ग्रन्थ हैं। उन्होंने चार अन्य ग्रन्थों पर अवचूरि की भी रचना की।

गुणरत्नाचार्य तपागच्छ के आचार्य थे और उनके गुरु का नाम देवेन्द्र सूरि था। वी.नि. 1912 में आचार्य पद पर उनकी नियुक्ति हुई। अवचूरि साहित्य की रचना उन्होंने वी.नि. 1929 में तथा 'क्रियारत्न समुच्चय' की रचना 1936 में की। इन उल्लेखों के अनुसार प्रमाणित होता है कि वे वी.नि. की 20वीं सदी के पूर्वार्द्ध के आचार्य थे।

गुणवती

प्रतिवासुदेव मधु की जननी।

गुणसागर

उज्जयिनी नगरी का रहने वाला एक श्रेष्ठी पुत्र। अपने धीर, वीर, गम्भीर और विनीत स्वभाव व व्यवहार से गुणसागर सभी का प्रीतिपात्र था। उसके पिता का देहान्त तब हो गया था, जब वह मातृगोद में खेलता था। माता भद्रा ने ही उसका पालन-पोषण और शिक्षण-दीक्षण किया।

एक दिन गुणसागर भोजन करने बैठा तो माता ने कहा, क्या बासी भोजन ही खाता रहेगा, बासी खाने से क्या लाभ? माता की उक्त पहेली का रहस्य गुणसागर समझ न सका। उसने माता से उसके कथन का रहस्य सूत्र स्पष्ट करने को कहा। माता ने कहा, इस कथन का रहस्य सूत्र तुम्हें नगर के बाहर उपवन में पदार्पित आचार्य सुमतिसागर बताएंगे, वहां जा! माता को नमन कर गुणसागर आचार्य श्री के पास पहुंचा। उसने आचार्य श्री का प्रवचन सुना। श्रोताओं के चले जाने पर गुणसागर ने माता के कथन का रहस्य आचार्य

श्री से पूछा। आचार्य श्री ने कहा, वत्स! तुम्हारी माता का कथन सत्य है, तुम बासी भोजन ही कर रहे हो! पर इस कथन का रहस्य-सूत्र तुम्हें चम्पापुर नगरी के रहने वाले श्वपाक पुत्र चेटक से प्राप्त होगा!

आचार्य श्री को प्रणाम कर गुणसागर घर पहुंचा और उसने अपनी मां को आचार्य श्री के मार्गदर्शन के बारे में बताया। माता ने पुत्र को सहर्ष चम्पा जाने की अनुमति दे दी। कई दिनों की यात्रा के पश्चात् गुणसागर चम्पानगरी पहुंचा। खोज-खबर करता हुआ वह श्वपाक (भंगी) चेटक के द्वार पर पहुंच गया। चेटक ने गुणसागर का भावभीना स्वागत किया और आने का कारण पूछा। गुणसागर ने अथान्त आत्मकथा चेटक के समक्ष कह दी। चेटक यह जानकर अति प्रसन्न हुआ कि गुणसागर भी जिनोपासक है। उसने कहा, युवक! हम दोनों जिनोपासक हैं, अतः नियमतः हम सहधर्मी भाई हुए। ऐसे में मेरा प्राथमिक कर्त्तव्य यह है कि मैं सर्वप्रथम आपको भोजन कराऊं। गुणसागर श्वपाक के घर में भोजन करने से झिझका। उसने कहा, भाई! मुझे आपके घर में भोजन करने पर कोई आपत्ति नहीं है पर सामाजिक व्यवस्थाओं के अनुरूप मुझे संकोच अनुभव हो रहा है। चेटक ने गुणसागर की हृदय दशा को समझा और कहा, मैं आपके भोजन की व्यवस्था किसी श्रेष्ठी के गृह में कर देता हूं। पहले आप भोजन करें, उसके बाद आपके प्रश्न का समाधान करूंगा।

इससे गुणसागर सहमत हो गया। चेटक उसे साथ लेकर एक श्रेष्ठी की दुकान पर पहुंचा और श्रेष्ठी को चार रुपए देकर कहा कि वह उसके अतिथि को भोजन करा दे। श्रेष्ठी उत्कृष्ट कोटि का लोभी था। उसने तत्क्षण चार रुपए मुट्ठी में दबा लिए और वचन दिया कि वह अतिथि को भोजन करा देगा। गुणसागर को वहां छोड़कर चेटक अपने घर के लिए रवाना हो गया। उधर दुकान पर ग्राहक कम हो गए तो श्रेष्ठी गुणसागर को साथ लेकर अपने घर गया। अपनी पत्नी सुशीला को उसने निर्देश दिया कि वह अतिथि को रूखा-सूखा भोजन करा दे। गुणसागर को घर पर छोड़कर श्रेष्ठी पुनः दुकान पर लौट गया। सुशीला वस्तुतः सुशीला ही थी, पर लोभी पति ने अपने आदेशों से उसे ऐसा जकड़ दिया था कि वह चाहकर भी दान-पुण्य नहीं कर पाती थी। उसने गुणसागर का परिचय पूछा। गुणसागर ने अपना परिचय दिया तो सुशीला का हृदय खिल गया। बोली, तुम तो मेरे काका के पुत्र हो! मैं भी उज्जयिनी की हूं और हम दोनों के पिता भाई थे। भाई-बहन का मिलन हुआ। दोनों बड़े प्रसन्न हुए। सुशीला ने गुणसागर को अपने पति की अतिशय लोभ-प्रवृत्ति का परिचय दिया और बताया कि वे पैसे को ही परमात्मा मानते हैं। भाई-बहन के मध्य लम्बा वार्तालाप चला। गुणसागर ने चम्पा आने का अपना मन्तव्य सुशीला को बताया। सुशीला ने सान्ध्यकालीन भोजन का आग्रह गुणसागर से किया, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। तब गुणसागर बहन की अनुमति प्राप्त कर चेटक के घर की ओर चल दिया।

उधर चेटक गुणसागर को श्रेष्ठी के पास छोड़कर अपने घर पहुंचा। घर पहुंचते-पहुंचते वह अस्वस्थ हो गया और क्षणों में ही परलोक सिधार गया। गुणसागर चेटक के घर पहुंचा तो वहां की दशा देखकर वह सन्न रह गया। मानव जीवन की अस्थिरता उसके समक्ष थी। चेटक की धर्मप्रियता, मधुर व्यवहार और सज्जनता को स्मरण कर गुणसागर का हृदय भर आया। संस्कार क्रिया उसने सम्पन्न कराई। उसके बाद वह सुशीला के घर की ओर चल दिया। उसे चेटक की मृत्यु पर तो खेद था ही, साथ ही इस बात का भी उसे कष्ट था कि उसे समाधान प्राप्त नहीं हुआ।

संध्या समय श्रेष्ठी घर पहुंचा तो सुशीला ने उसको गुणसागर का परिचय दिया और कहा कि उसने उसे सांध्य भोजन पर आमंत्रित किया है। सुशीला ने कहा, वह मेरा भाई है, मैं उसे उत्तम भोजन कराऊंगी। उसके लिए घेवर बनाऊंगी। सेठ ने सुना तो भड़क उठा। उसने कहा, धन का ऐसा अपव्यय मैं सहन नहीं

कर सकता। पति-पत्नी के मध्य एक लम्बा विवाद चला। आखिर हार्दिक आघात अनुभव करता हुआ सेठ अपनी शैया पर जा गिरा।

गुणसागर उदासमना सुशीला के घर पहुंचा और चेटक की मृत्यु का समाचार उसे सुनाया। सुनकर सुशीला भी खिन्नमना बन गई। कुछ देर वार्तालाप के बाद सुशीला ने गुणसागर से भोजन करने के लिए कहा। गुणसागर ने भोजन करने से इन्कार कर दिया और कहा कि उसका मन भारी है तथा उसे भूख भी नहीं है। पर सुशीला के बार-बार के आग्रह पर गुणसागर को भोजन का प्रस्ताव स्वीकार करना पड़ा। गुणसागर ने कहा, वह अपने जीजा जी के साथ भोजन करेगा, उन्हें भी बुला लो। सुशीला पति को बुलाने कक्ष में गई तो देखकर सन्न रह गई कि सेठ का अवसान हो चुका है। उसके कण्ठ से चीख फूट पड़ी। गृह वातावरण एकाएक बदल गया। भारी मन से गुणसागर ने सेठ का संस्कार किया और उसे सुशीला की प्रार्थना पर चम्पा में रहकर ही सेठ का व्यवसाय संभालना पड़ा। वस्तुतः उस समय सुशीला सगर्भा थी और चाहती थी कि जब तक वह पुत्रवती बने, तब तक गुणसागर उस के घर को संभाले।

नौ मास व्यतीत होने पर सुशीला ने एक सुन्दर सलोने पुत्र को जन्म दिया। उधर उसी दिन चेटक श्वपाक की पत्नी ने भी एक पुत्र को जन्म दिया। सुशीला के पुत्र ने जन्म लेते ही गुणसागर को 'मामा' शब्द से सम्बोधित करते हुए कहा, चेटक की पत्नी अपने नवजात शिशु को मार डालना चाहती है, ऐसा वह अभावग्रस्त होने के कारण कर रही है, आप तत्काल वहां जाएं और अन्न-वस्त्रादि से श्वपाकी को सन्तुष्ट कर उस नवजात शिशु की रक्षा करें! ये शब्द बोलकर सुशीला का नवजात शिशु शैशव भाव में स्थिर हो गया।

यह आश्चर्यजनक था, पर उस समय ज्यादा चिन्तन करने का अवकाश गुणसागर के पास नहीं था। वह अन्न, धन, वस्त्रादि अपने साथ लेकर श्वपाकी के घर पहुंचा! वह सामग्री श्वपाकी को देकर उसने नवजात शिशु के प्राणों की रक्षा की। साथ ही उसने श्वपाकी को विश्वस्त किया कि उसे जिस वस्तु की भी आवश्यकता हो, वह निःसंकोच उससे प्राप्त कर सकती है।

सुसंयोग से उन्हीं दिनों आचार्य सुमतिसागर चम्पानगरी में पधारे। यह सुसंवाद जानकर गुणसागर का तन-मन प्रफुल्लित हो गया। वह दर्शनार्थ आचार्य श्री के पास गया। उसने आचार्य श्री से निवेदन किया, भगवन्! उसने कई विचित्रताएं तो देखीं, पर उसका अपना प्रश्न अभी तक अनुत्तरित ही है।

आचार्य श्री ने फरमाया, गुणसागर! तुम्हें समाधान तो प्राप्त हो चुका है, पर तुम समझ नहीं पाए हो! सुनो! चेटक श्वपाक सत्कर्मों की पूंजी का अर्जन कर मृत्यु को प्राप्त हो सुशीला के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ है। यहां उसे बिना प्रयास किए ही विशाल सम्पत्ति का स्वामित्व प्राप्त हुआ है। उधर सेठ जी बिना पुण्य कमाए चल बसे एवं श्वपाकी के गर्भ से पुत्ररूप में जन्मे। यहां पर वह श्वपाक पुत्र घोर दारिद्र्य से जीवन जीएगा। गुणसागर! मनुष्य को जो सुख-समृद्धि प्राप्त होती है, वह उसके पूर्वजन्म के पुण्यों का ही फल होता है। 'बासी भोजन' की पहेली का यही गूढ़ार्थ है कि तुम अपने पूर्वजन्म के पुण्यों का फल यहां पा रहे हो। यहां सत्कर्म करोगे तो पुण्यों का अर्जन होगा और उनके फलस्वरूप तुम्हें भविष्य में भी सुख प्राप्त होंगे। दान, पुण्य, धर्माचरण आदि ताजा भोजन है, जो प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए।

गुणसागर को समाधान प्राप्त हो चुका था। वह सुशीला की अनुमति प्राप्त कर अपने नगर पहुंचा। मातृदर्शन से उसका हृत्कमल खिल उठा। वह दान-पुण्य में पूरे भाव से समर्पित हो गया। एक श्रेष्ठ जीवन जीकर वह सद्गति का अधिकारी बना।

गुणसुन्दर (आचार्य)

तीर्थंकर महावीर के जिनशासन के एक युगप्रधान आचार्य। आचार्य गुणसुन्दर एक प्रभावशाली और पुरोधा आचार्य थे। आचार्य गुणसुन्दर का जन्म वी.नि. 235 में हुआ था। उन्होंने वी.नि. 259 में दीक्षा ग्रहण की और वी.नि. 291 में वे युगप्रधान पद पर आरूढ़ हुए। लगभग सौ वर्ष की अवस्था में उनका स्वर्गारोहण हुआ। सम्राट् सम्प्रति आचार्य गुणसुन्दर के प्रति अनन्य आस्थाशील थे। आचार्य सुहस्ती और आचार्य गुणसुन्दर के शासन काल में सम्राट् सम्प्रति ने जिनशासन के प्रचार-प्रसार और प्रभावना में विशेष योगदान दिया था।

—कल्प सूत्र स्थविरावली

गुणसुन्दरी

भद्दिलपुर नरेश अरिमर्दन की इकलौती पुत्री, समस्त कलाओं में प्रवीण और शास्त्रों की ज्ञाता राजकुमारी। बाल्यावस्था से ही जिनधर्म पर उसकी अटूट आस्था थी, फलतः जिनेश्वर देव के सत्-सिद्धान्त उसके जीवन-सिद्धान्त बन गए थे। जब वह युवा हुई तो राजा उसके लिए किसी सुयोग्य वर की खोज में जुट गया।

राजा अरिमर्दन में एक योग्य राजा के समस्त गुण थे। पर एक दुर्गुण था, वह था उसका अहंकार। वह सोचता था कि वह जिसे चाहे सुखी बना सकता है और जिसे चाहे दुखी बना सकता है। उसके दरबारी भी चाटुकार थे और राजा के अहं को तृप्त करने वाले वचनों से उसे संतुष्ट करते रहते थे। एक बार राजा दरबार में बैठे थे। राजकुमारी गुणसुन्दरी भी राजा के पास ही बैठी थी। दरबारी राजा की प्रशंसा कर रहे थे और उसे ही प्रजा के सुख का स्रष्टा कहकर उसकी अहंवृत्ति को सन्तुष्ट बना रहे थे। राजा अपने गुण-गौरव को सुनकर गद्गद बना जा रहा था। गुणसुन्दरी से पिता की मनःस्थिति छिपी नहीं थी। वह जोर से खिलखिलाकर हंस पड़ी। राजा के पूछने पर पुत्री ने विनीत और संयत शब्दों से स्पष्ट कर दिया कि दरबारी चाटुकार हैं और मिथ्या प्रशंसा से आप को भ्रमित बना रहे हैं। राजा ने पुत्री से पूछा कि दरबारियों का कथन मिथ्या क्योंकर है? राजकुमारी ने कहा, पिता जी! इतना सच है कि आप एक सुयोग्य शासक हैं परन्तु यह सच नहीं है कि आप जिसे चाहें सुखी और दुखी बना सकते हैं, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्मों के कारण ही सुख और दुख प्राप्त करता है।

राजा का अहंकार आसमान का स्पर्श करने लगा। उसने अकड़कर कहा कि धर्म-कर्म की बातें कपोल-कल्पना हैं। मैं जिसे चाहूं राजा बना सकता हूं और जिसे चाहूं रंक बना सकता हूं। राजकुमारी ने पुनः पितृ-वचनों का विरोध किया। इससे राजा का अहंकार इस कदर घायल हुआ कि उसने एक विचित्र निर्णय कर लिया। उसने जंगल से एक लकड़हारे को पकड़कर उसके साथ गुणसुन्दरी का विवाह कर दिया और उससे समस्त राजसी वस्त्राभूषण उतरवा कर साधारण-सी साड़ी में उसे विदा दी। विदा देते हुए उसने कहा, पुत्री! यह है मेरी शक्ति का चमत्कार! तुमने मेरी शक्ति को ललकारा तो मैंने क्षण में ही तुम्हें राजकुमारी से लकड़हारिन बना दिया! गुणसुन्दरी ने मुस्करा कर कहा, पिता जी! आप तो निमित्त मात्र हैं, अपने कर्म के कारण ही मैं राजकुमारी थी, अपने कर्म के कारण ही मैं लकड़हारिन हूं और अपने कर्म से ही सुख या दुख भविष्य में प्राप्त करूंगी।

गुणसुन्दरी का साथ मिलते ही लकड़हारे के पुण्यों का उदय हो आया। जंगल में उसे बावनाचन्दन का वृक्ष मिल गया। गुणसुन्दरी के मार्ग निर्देशन में बावनाचन्दन की लकड़ियों का व्यापार कर लकड़हारा कोटीश्वर श्रेष्ठी बन गया। गुणसुन्दरी ने अपने पति पुण्यपाल (लकड़हारे का नाम) को पढ़ना-लिखना सिखाया। पुण्यपाल

का पुण्य इतना चमकता चला गया कि उसने जिस भी कार्य में हाथ डाला, सफलता पाई। मिट्टी सोना बनती चली गई। गुणसुन्दरी के निर्देशन पर पुण्यपाल अपने व्यापार को बढ़ाता गया। एक दिन पुण्यपाल इतना समृद्ध बन गया कि राजा अरिमर्दन की समृद्धि भी उसकी समृद्धि के समक्ष बौनी सिद्ध हो गई।

पिता को सत्य से परिचित बनाने के लिए विशाल लावलश्कर के साथ गुणसुन्दरी अपने नगर में आई। किसी बड़े व्यापारी का आगमन-संदेश सुनकर राजा भी उसके स्वागत के लिए गया। पुण्यपाल ने राजा के लिए भोज की व्यवस्था की। आखिर पुत्री और जामाता को पहचान कर राजा का मिथ्या अहंकार गल गया। उसने पुण्यपाल को राजपाट सौंपकर मुनिव्रत धारण कर लिया।

सुदीर्घ काल तक राजसुख भोगकर गुणसुन्दरी और पुण्यपाल ने संयम धारण किया और अंत में निर्वाण पद प्राप्त किया।

गुणा साध्वी

गुजरात प्रान्त की एक विदुषी जैन साध्वी। उन्होंने सिद्धर्षि सूरि कृत 'उपमिति भव प्रपंच कथा' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ का संस्कृत भाषा में विद्वत्ता पूर्ण अनुवाद किया था। गुणा जी का हस्तलिखित यह ग्रन्थ आज भी 'भंडारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना' में सुरक्षित है।

गोत्रासिया

एक गुप्तचर का पुत्र और हस्तिनापुर नरेश सुनंद का सेनापति। वह अति क्रूरकर्मा और मांसप्रिय था। (देखिए-उज्झित कुमार)

गोपालिका आर्या

प्राचीनकालीन एक जैन श्रमणी। (देखिए-नागश्री)

गोभद्र सेठ

राजगृह नगर के कोटीश्वर श्रेष्ठी, शालिभद्र के पिता और धन्य जी के श्वसुर। कहते हैं कि गोभद्र सेठ का अपने पुत्र शालिभद्र पर इतना सघन अनुराग था कि वह स्वर्ग से प्रतिदिन अपने पुत्र और बत्तीस पुत्र-वधुओं के लिए नितनूतन वस्त्राभूषण भेजा करते थे। (देखिए-शालिभद्र एवं धन्य जी)

गोमती

प्राचीनकालीन श्रीपुर नगर की रहने वाली एक अनवस्थित-चित्त महिला, जो धन-धान्य और परिवार से सम्पन्न व सुखी होने पर भी अपने अनवस्थित-चित्त के कारण सदैव अशांत और दुखी रहती थी। वह गृह-सेवकों से तो पूरा दिन लड़ती ही थी, पुत्र और पुत्रवधू से भी लड़ती रहती थी। उसके पुत्र ने विचार किया कि यदि उसकी माता को धर्मश्रवण का अवसर दिया जाए तो संभव है, उसकी आदतों का प्रक्षालन हो जाए और उसे शांति प्राप्त हो जाए। उसने एक दिन मधुर शब्दों से अपनी मां को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह प्रतिदिन एक प्रहर तक धर्मकथा का श्रवण किया करेगी। पुत्र ने एक कथावाचक को उसकी माता को धर्मकथा सुनाने के लिए नियुक्त कर दिया। पण्डित गोमती को धर्मकथा सुनाने के लिए उसके घर उपस्थित होने लगा। पर अपने अनवस्थितचित्त के कारण गोमती धर्मकथा का एक शब्द भी नहीं सुन पाती। पण्डित के समक्ष बैठकर भी उसका चित्त गृहकार्यों में ही उलझा रहता। घर में पत्ता भी खड़कता तो वह पण्डित जी को कथा कहते हुए छोड़कर पूरे घर का परीक्षण करती, सेवकों पर बरसती। प्रतिदिन

उसकी उसी दशा को देखकर पण्डित ने उसके पुत्र से क्षमापना कर विदा ले ली।

कलहपूर्ण और अशांत-अनवस्थितचित्त रहकर ही उसने आयु पूर्ण की और अन्धकारपूर्ण जीवन-मृत्यु के प्रवाह में खो गई। —उपदेश रत्नाकर / जैन कथा रत्नकोष, भाग 6

गोयमा

भगवान महावीर के प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम का आगमीय भाषा में व्यवहृत हुआ नाम। विशेष परिचय के लिए (देखिए-इन्द्रभूति-गणधर)

गोविन्द राजा

राष्ट्रकूट नगर के राजा। गोविन्द राजा जैन धर्म के प्रति अनन्य आस्थाशील थे। वी.नि. की चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध उनका शासन काल अनुमानित है।

गोविन्दाचार्य

आचार्य परम्परा के एक महान अनुयोगधर आचार्य। नन्दी स्थविरावली में उनका गुणार्चन निम्नोक्त शब्दावली में हुआ है—

गोविंदाणं पि नमो, अणुओगे विउलधारणिंदाणं।
णिच्चं खंति-दयाणं, परूवणे दुल्लभिंदाणं।।

अर्थात् अनुयोग सम्बन्धी विपुल धारणा वालों में तथा दया-क्षमा आदि की प्ररूपणा में रुद्र के लिए भी दुर्लभ ऐसे गुणसम्पन्न आचार्य गोविन्द को मैं नमस्कार करता हूँ।

नन्दी स्थविरावली के अनुसार गोविन्दाचार्य नागार्जुनाचार्य के उत्तरवर्ती आचार्य थे। उनका श्रुतज्ञान विशाल था और दया-क्षमा आदि गुणों की वे अक्षय निधि थे। —नन्दी स्थविरावली

गोशालक

राजगृह के निकटस्थ श्रवण ग्राम के रहने वाले मंखली और सुभद्रा का पुत्र, जो गोशाला में पैदा होने के कारण गोशालक कहलाया। बड़ा होने पर अपने पिता के समान ही वह भी चित्रपट हाथ में रखकर भिक्षावृत्ति करता और आजीविका चलाता था। एक बार जब भगवान महावीर राजगृह नगर में एक बुनकरशाला में साधना काल का द्वितीय वर्षावास बिता रहे थे, संयोग से गोशालक भी उसी बुनकरशाला में आकर ठहर गया। मासोपवासी भगवान ने विजय सेठ के घर से भिक्षा लेकर पारणा किया। सुपात्रदान की महिमा गाते हुए देवों ने प्रभूत धन की वर्षा की। यह घटना गोशालक ने भी देखी और सुनी। वह भगवान से बहुत प्रभावित हुआ। उसे विश्वास हो गया कि भगवान का शिष्य बन जाने पर उसकी आजीविका की कठिनाई दूर हो जाएगी। उसने भगवान से प्रार्थना की कि वे उसे शिष्य रूप में स्वीकार कर लें। उसकी प्रार्थना पर भगवान मौन रहे। भगवान के दूसरे, तीसरे और चौथे मासोपवास के पारणे पर भी धन की वर्षा हुई। गोशालक भी निरन्तर भगवान से प्रार्थना करता रहा कि वे उसे शिष्य रूप में स्वीकार कर लें। आखिर भगवान ने उसका आग्रह स्वीकार कर लिया। गोशालक भगवान के साथ-साथ घूमने लगा, पर उसका लक्ष्य आत्म-साधना न था, वह तो भगवान से कुछ चमत्कारी विद्याएं सीखना चाहता था। वह यथावसर भगवान के ज्ञान की परीक्षा लेने से भी नहीं चूकता था। कई ऐसे प्रसंग आए जब उसने भगवान के कथन को मिथ्या सिद्ध करने के प्रयास किए, पर हर बार भगवान का वचन सत्य सिद्ध हुआ।

एक बार भगवान के पीछे-पीछे चलता हुआ गोशालक कूर्म ग्राम के बाह्य भाग से गुजर रहा था। वहां वैश्यायन नाम का एक तापस वृक्ष से उल्टा लटक कर सूर्य की आतापना ले रहा था। वैश्यायन की जटाएं लम्बी थीं और उनसे जूएं निकलकर नीचे गिर जाती थीं। वैश्यायन नीचे गिरी जूओं को उठाकर पुनः अपने सिर में रख लेता था। वैसा करते देखकर गौशालक ने तपस्वी का उपहास किया। नाराज तपस्वी ने गोशालक पर तेजोलेश्या छोड़ दी। गोशालक का शरीर दहकने लगा। उसकी दुरावस्था पर करुणा कर भगवान ने शीतललेश्या छोड़कर उसकी पीड़ा का हरण कर लिया। तेजोलेश्या की शक्ति से गोशालक चमत्कृत हो गया। उसने तेजोलेश्या की साधना-विधि भगवान से पूछी और तदनुसार छह मास की साधना के पश्चात् वह उसे प्राप्त करने में सफल भी हो गया। तब वह अपने आपको सर्वशक्तिसम्पन्न समझने लगा। छह वर्षों तक भगवान के साथ रहने के पश्चात् उसने भगवान का साथ छोड़ दिया। भगवान पार्श्व की परम्परा के संयमच्युत छह साधुओं से उसका सम्पर्क हो गया और उसने उनसे अष्टांग निमित्त सीख लिया। वह लोगों को सुख-दुख, हानि-लाभ आदि के बारे में बताने लगा, जिससे लोगों में उसकी मान्यता काफी बढ़ गई। वह अपने आपको सर्वज्ञ और तीर्थंकर घोषित करने लगा।

एक बार जब भगवान महावीर श्रावस्ती नगरी में पधारे तो इन्द्रभूति गौतम के एक प्रश्न का समाधान देते हुए प्रभु ने स्पष्ट किया कि गोशालक तीर्थंकर नहीं है और छद्मस्थ अवस्था में वह उनका शिष्य रह चुका है। यह बात नगरी में फैल गई। क्रोध से तमतमाता हुआ गोशालक भगवान के पास पहुंचा। उसने भगवान के दो शिष्यों—सुनक्षत्र और सर्वानुभूति अणगार को तेजोलेश्या छोड़कर जला दिया। तब उसने भगवान पर भी उसी लेश्या का प्रक्षेपण किया। पर वह लेश्या भगवान के शरीर का स्पर्श कर लौट आई और गोशालक के ही शरीर में प्रवेश कर गई। दाहदग्ध बनकर बड़बड़ाता हुआ गोशालक अपने स्थान पर लौट गया और सातवें दिन उसका देहावसान हो गया। मृत्यु से पूर्व उसे सद्बुद्धि प्राप्त हो गई और उसने अपने भक्तों को बुलाकर आत्मनिन्दा की। फलतः देहोत्सर्ग कर वह बारहवें देवलोक में देव रूप में जन्मा। —भ.सूत्र, श. 25

गोष्ठामाहिल (निन्हव)

आचार्य आर्य रक्षित का शिष्य और अबद्धिकवाद का प्ररूपक। कर्म प्रवाद की वाचना लेते हुए स्पृष्टबद्ध निकाचित के स्वरूप पर उसे शंका उत्पन्न हुई और शंका से दुराग्रह का जन्म हुआ। उसकी मान्यता थी कि कर्म जीव के साथ स्पृष्ट होते हैं, बद्ध नहीं होते। आचार्य श्री और अन्य स्थविरों ने उसे समझाया, संघ ने समझाया, संघाराधित देव ने तीर्थंकर देव से सही उत्तर लाकर उसे दिया, पर वह अपने आग्रह पर डटा रहा। अंततः उसे संघ से निष्कासित कर दिया गया। निन्हवावस्था में ही अपरिमित भव-भ्रमण का बोझ लेकर वह इस लोक से विदा हुआ। —ठाणांग वृत्ति-7

गौतम कुमार

राजा अन्धकवृष्णि और रानी धारिणी के अंगजात। यौवन वय में इनका आठ राजकुमारियों के साथ पाणिग्रहण हुआ। किसी समय भगवान अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी में पधारे। भगवान का उपदेश सुनकर गौतम प्रतिबुद्ध हुए और माता-पिता से अनुज्ञा प्राप्त कर कर्मशत्रुओं से लोहा लेने के लिए भगवान के पास प्रव्रजित हो गए। उन्होंने सामायिक से लेकर ग्यारह अंगों तक का अध्ययन किया। बारह भिक्षु-प्रतिमाओं की उन्होंने आराधना की। साथ ही गुणरत्न तप की आराधना की। बारह वर्षों तक विशुद्ध संयम की परिपालना कर गौतम मुनि शत्रुंजय पर्वत पर मासिक संलेखना के साथ मोक्ष पधारे। —अन्तगडदशा प्रथम वर्ग, प्रथम अ.

गौतम स्वामी (गणधर)

भगवान महावीर स्वामी के ग्यारह गणधरों में प्रथम। उनका नाम इन्द्रभूति था, परन्तु गौतम गौत्रीय होने के कारण वे गौतम नाम से ही अधिक विख्यात हुए। (इनके विशद परिचय के लिए देखिए-इन्द्रभूति गणधर)

गौरी

वासुदेव श्रीकृष्ण की एक रानी। गौरी भगवान अरिष्टनेमि से प्रव्रजित बनकर और विशुद्ध चारित्र की आराधना कर सिद्ध हुई। —अन्तगडसूत्र वर्ग 5, अध्ययन 2

●●●

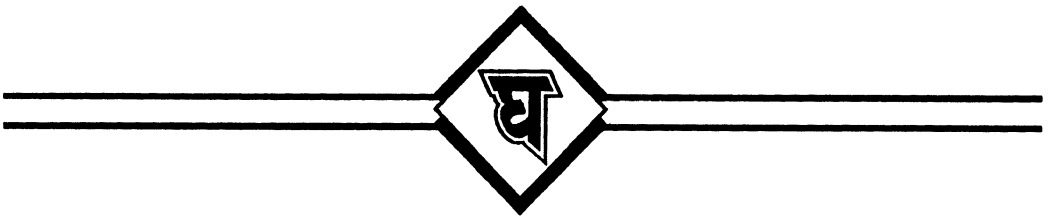

घना (आर्या)

घना नामक आर्या का जीवन परिचय इला आर्या के समान है। (देखिए-इला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., तृ.वर्ग, अध्ययन 5

घासीलाल जी महाराज (आचार्य)

एक विद्वान और आगमज्ञ आचार्य।

आपश्री का जन्म वि.सं. 1941 में मेवाड़ के बनोल ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम प्रभुदत्त और माता का नाम विमलाबाई था। आपकी बाल्यावस्था में ही आपके पिता का निधन हो गया। अपनी माता के मार्गदर्शन में आपने गृहदायित्व वहन किए। पर कुछ वर्षों बाद माता भी चल बसी। वैराग्य से आपका हृदय पूर्ण बन गया। वि.सं. 1958 में गोगुन्दा में आचार्य श्री जवाहर लाल जी महाराज के चरणों में आपने दीक्षा धारण कर ली।

कहते हैं कि प्रारंभ में आप स्थूल बुद्धि के थे। नवकार मंत्र को याद करने में आपको अठारह दिन लगे। बुद्धि को तीक्ष्ण करने के लिए आपने आयंबिल वर्द्धमान तप की आराधना की। तदनन्तर आपने संस्कृत, प्राकृत, पाली, मराठी, गुजराती, हिन्दी, उर्दू और फारसी आदि भाषाओं का तलस्पर्शी अध्ययन किया। आगमों का अनेक बार अध्ययन किया। आगम सर्वगम्य बन सकें, इसके लिए आपने बत्तीसों आगमों की संस्कृत, हिन्दी और गुजराती भाषा में बृहद् टीकाओं का लेखन किया। यह एक कठिन और श्रम साध्य कार्य था, जो आप जैसे दिव्य पुरुष से ही संभव था। आगम साहित्य के अतिरिक्त भी आपने आगम-आधृत पर्याप्त साहित्य का सृजन किया।

अपने युग के आप एक प्रभावशाली मुनिराज थे। कोल्हापुर नरेश, उदयपुर नरेश आदि कई राजा आप से प्रभावित थे।

वि.सं. 2029 में समाधि संथारे सहित अहमदाबाद नगर में आपका स्वर्गवास हुआ।

घेवरिया मुनि

घेवरिया मुनि का वृत्त इस प्रकार है—

राजगृह नगर में सुखदत्त नामक एक निर्धन युवक रहता था, जो श्रीपति नामक श्रमणोपासक के घर सेवावृत्ति द्वारा अपना निर्वाह करता था। उसे उतना ही वेतन मिलता था, जिससे वह रूखा-सूखा भोजन कर सके। एक दिन एक तपस्वी मुनि श्रीपति श्रेष्ठी के घर भिक्षार्थ पधारे। श्रेष्ठी के घर में घेवर बने थे। श्रेष्ठी ने मुनि को घेवर बहराया। मुनि ने श्रेष्ठी से आधा घेवर देने के लिए कहा, पर श्रेष्ठी ने आग्रह दर्शाते हुए पूरा घेवर मुनि के पात्र में बहरा दिया।

इस घटना को सुखदत्त भी देख रहा था। घेवर का वर्ण और गन्ध देखकर उसका मन उसे खाने के लिए ललचा उठा। पर कैसे खाए, यह विकट समस्या थी। जीवन में उसने घेवर देखा तो कई बार था पर खाने का अवसर उसके जीवन में नहीं आया था। उसके मन में ऊहा-पोह मचने लगा। वह मुनि के पीछे-पीछे चल दिया। मुनि अपने स्थान पर पहुंचे। सुखदत्त ने मुनि को नमस्कार किया और कहा कि पहले वे स्वयं घेवर खाएं, शेष जो बचे, वह उसे दे दें। सुखदत्त की सोच थी कि मुनि को तो आधे घेवर की ही आवश्यकता है। पर वह मुनि की आचार-मर्यादा से अभिज्ञ था। मुनि ने उसको मुनि का आचार समझाया और स्पष्ट किया कि एक मुनि अपने समान आचार वाले मुनि को ही अपना लाया हुआ आहार दे सकता है, अन्य को नहीं। उसके आहार में संविभागी बनने के लिए उसे भी उनके समान आचार का पालन करना होगा।

मुनि की बात सुनकर सुखदत्त एकाएक साधु बनने के लिए तैयार हो गया। मुनि ने सुखदत्त के स्वभाव और भाव को परखा तथा उसकी सरलता से सन्तुष्ट होकर उसे प्रव्रजित कर लिया। चूंकि घेवर के आकर्षण में बंधकर युवक सुखदत्त साधु बना था, इसलिए वह जगत में घेवरिया मुनि के उपनाम से सुख्यात हुआ।

गुरु के उपदेश से शीघ्र ही घेवरिया मुनि ने रसनेन्द्रिय पर विजय पा ली और वे तप, संयम और स्वाध्याय में समग्रभावेन दत्तचित्त हो गए। विशुद्ध चारित्र की आराधना द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर वे मोक्ष के अधिकारी बने।

●●●

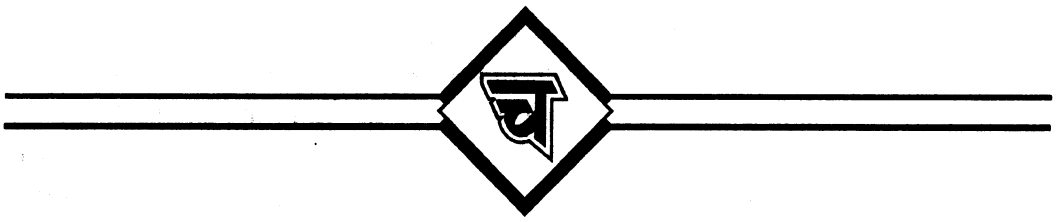

चंडकौशिक

एक अति भयानक और दृष्टि विष सर्प। जहां वह रहता था, वहां दूर-दूर तक के वृक्ष भी उसकी विष-दृष्टि से जल गए थे। वह मार्ग और क्षेत्र जनशून्य और पशु-पक्षियों से रहित हो गया था। उसकी विषकथा पूर्वजन्मों से प्रारंभ हुई थी, जिसका विवरण इस प्रकार है–

एक गुरु और शिष्य विहार कर रहे थे। अनजाने में एक मेंढ़की गुरु के पैर के नीचे दबकर मर गई। शिष्य ने गुरु से आलोचना करने को कहा। गुरु ने शिष्य की बात अनसुनी कर दी। नियत स्थान पर पहुंचकर शिष्य ने पुनः गुरु को आलोचना करने के लिए कहा। गुरु को शिष्य की टोकाटाकी बहुत बुरी लगी। उसे क्रोध तो बहुत आया पर उसने कोई उत्तर न दिया। संध्या प्रतिक्रमण के समय शिष्य ने गुरु को पुनः प्रायश्चित्त करने की बात कह दी। गुरु का क्रोध उफन पड़ा। वह शिष्य को मारने दौड़ा। शिष्य ने एक ओर होकर आत्म बचाव कर लिया। अन्धेरा होने के कारण गुरु एक खम्भे से टकरा गया। सिर में गहरी चोट लगी। जिससे उसकी मृत्यु हो गई। मरकर वह ज्योतिषी देवों में उत्पन्न हुआ। वहां से च्यव कर कनखल के आश्रम के कुलपति के पुत्ररूप में पैदा हुआ। वहां उसका नाम कौशिक रखा गया। पिता की मृत्यु के पश्चात् कौशिक कुलपति बना। वह अति क्रोधी था। इसलिए लोग उसे चंडकौशिक कहने लगे। उसे अपने आश्रम और उपवन से विशेष मोह था। वह वहां से किसी को एक फूल अथवा पत्ता तक नहीं तोड़ने देता था। कोई तोड़ता तो उसके पीछे वह डण्डा लेकर दौड़ता था। किसी समय कुछ बच्चों ने कौशिक की आंख बचाकर उसके उपवन से फूल तोड़ लिए। कौशिक को ज्ञात हुआ तो वह क्रोध से अन्धा बन गया और फरसा लेकर बालकों को मारने दौड़ा। बालक भाग गए। क्रोध से अन्धा बना कौशिक एक गड्ढे में गिर गया। उसका फरसा उसी के सिर में लगा, जिससे उसकी मृत्यु हो गई। क्रोध में उबलते हुए मृत्यु को प्राप्त होने के कारण वह मरकर अपने ही उपवन में सांप बना। इतना भयंकर सांप बना कि उसके नेत्रों से अग्नि ज्वालाएं फूटती रहती थीं। जिस पशु-पक्षी अथवा मनुष्य पर वह दृष्टि डाल देता था, वह तत्क्षण भस्म हो जाता था। परिणामतः चंडकौशिक के क्रोध-विष से वह क्षेत्र जीवमात्र से शून्य बन गया।

अन्ततः अन्तिम तीर्थंकर महावीर ने अपने साधनाकाल में चंडकौशिक को प्रतिबोध दिया। क्रोध से प्रारम्भ हुई उसकी पतनकथा उसे सुनाकर प्रतिबोधित किया। चंडकौशिक को ज्ञान की आंख मिली। उसने महावीर की साक्षी से ग्यारह श्रावक व्रत अंगीकार किए और अपने मुंह को बिल में रखकर निश्चेष्ट हो लेट गया।

सर्प के परिवर्तन की कथा आस-पास गांवों में फैल गई। अन्धविश्वासी लोग उस पर घृत-गुड़ चढ़ाने लगे। गन्ध से आकृष्ट बनी चींटियां सर्प के शरीर को चूंटने लगीं। चंडकौशिक को असह्य वेदना हुई। पर वह उसे समभाव से सहता रहा। देह छलनी हो चुकी थी। सर्प मृत्यु को प्राप्त हो गया। मरकर वह देव बना। भविष्य में मानव देह पाकर वह सिद्ध होगा।

चंडप्रद्योत (राजा)

भगवान महावीरकालीन उज्जयिनी नगरी का सम्राट्। कहने को तो वह एक जैन राजा था पर जैनत्व का कोई भी गुण उसके जीवन में नहीं था। कई बार वह भगवान के प्रवचनों में भी सम्मिलित हुआ, पर प्रस्तर पर पड़ी बूँद की तरह उसका हृदय अमृत-प्रवचनों से सरसब्ज न बन सका। वह जैन कुल से था इसीलिए महाराज चेटक ने उससे अपनी पुत्री शिवा देवी का लग्न किया था। शिवा देवी परम पतिपरायण सन्नारी थी। पर चंडप्रद्योत का स्वभाव सर्वथा विपरीत था। वह विशाल सैन्य का स्वामी और शक्ति सम्पन्न तो था पर अपनी कामुकता के कारण उसे जीवन में पुनः पुनः प्रताड़ना और पराजय का मुंह देखना पड़ा। उसकी कामुकता उस समय लज्जाहीनता की पराकाष्ठा पर जा पहुंची, जब उसने अपनी साली मृगावती को हथियाने के लिए कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। मृगावती के पति और कौशाम्बी नरेश महाराज शतानीक इस अकस्मात् आक्रमण से इतने विचलित और त्रस्त हो गए कि उन्हें अतिसार हो गया और उनका देहान्त हो गया। साढू का देहान्त भी चंडप्रद्योत का हृदय न पिघला सका। ऐसे में मृगावती को अपना बना लेने का उसका उत्साह शतगुणित बन गया। मृगावती चंडप्रद्योत की मानसिकता और कामक्रूरता को जानती थी। उसने बुद्धिमत्ता से काम लेते हुए, प्रथम तो अपनी नगरी के द्वार बन्द करवा दिए, फिर चंडप्रद्योत के पास कूटनीतिक सन्देश भिजवाया कि मृगावती चंडप्रद्योत को अपनाने के लिए तैयार है पर वह उसकी प्रेम-परीक्षा चाहती है। इस रूप में कि वह उज्जयिनी के किले को तुड़वाकर उन ईंटों से कौशाम्बी के किले का परकोटा चिनवाए।

कामान्ध विवेकान्ध भी होता है। चंडप्रद्योत प्रेम-परीक्षा में सफल होने के लिए उतावला बन गया। उसने अपने अनुचरों को आदेश दे दिया कि जैसा उनकी नई महारानी चाहती है, वैसा ही किया जाए।

मृगावती ने यह चाल इसलिए चली थी कि इस कार्य में षड्मासाधिक का समय तो लग ही जाएगा और तब तक वह अपनी रक्षा का कोई न कोई मार्ग तलाश ही लेगी। हुआ भी वैसा ही। उधर उसी अवधि में भगवान महावीर कौशाम्बी नगरी के बाहर उद्यान में पधार गए। मृगावती भगवान के दर्शनों के लिए गई। उसने दीक्षा लेने का संकल्प कर लिया। अपने अल्पायुष्क पुत्र उदयन को चंडप्रद्योत की गोद में सौंपकर वह दीक्षित हो गई। चंडप्रद्योत देखता ही रह गया।

ऐसे ही एक बार चंडप्रद्योत ने मगधाधिप महाराज श्रेणिक को संदेश भिजवाया कि वह सिंचानक हाथी और चेलना रानी उसके पास भेज दे। ईंट का जवाब पत्थर से देते हुए महाराज श्रेणिक ने उसे कहलवाया कि वह अपना अनलगिरि हाथी और अपनी रानी को राजगृह भिजवा दे। श्रेणिक के क्लिष्ट उत्तर से विदग्ध बनकर और अपनी आज्ञा की अवहेलना देखकर चंडप्रद्योत क्रोधित हो गया और उसने अकस्मात् ही राजगृह को आ घेरा। श्रेणिक उसके प्रतिरोध की तैयारी करने लगे तो अभय कुमार ने उनसे वैसा न करने के लिए कहा। तब अभयकुमार ने एक चाल चली। उसने चंडप्रद्योत के सामन्तों के शिविरों के आस-पास गुप्त रूप से स्वर्णमुद्राओं की थैलियां गड़वा दीं और रात में चंडप्रद्योत से मिलने पहुंचा। बात बनाते हुए और चेहरे के हाव-भाव बदलते हुए उसने चंडप्रद्योत को यह विश्वास दिला दिया कि महाराज श्रेणिक ने स्वर्णमुद्राओं का लोभ देकर उसके सामन्तों को अपने पक्ष में कर लिया है। अभय ने गड़े हुए धन को भी चंडप्रद्योत को दिखाया। चंडप्रद्योत को बात जम गई। अर्धरात्रि में ही वह अपने अनलगिरि हाथी पर चढ़कर उज्जयिनी भाग गया। प्रभात में अपने राजा के पलायन की बात को जानकर सेना भी उज्जयिनी लौट गई।

चण्प्रद्योत की कामुक वृत्ति ने उसे कदम-कदम पर अपमानित कराया। एक बार सिन्धु सौवीर देश के

वीतभयपत्तन नगर के राजा उदायन के महलों में काम करने वाली स्वर्णगुल्लिका नामक दासी को चंडप्रद्योत उठाकर ले गया। नारी की मान-मर्यादा के रक्षक महाराज उदायन चंडप्रद्योत की इस धृष्टता को सहन नहीं कर पाए और उन्होंने सुदूर स्थित उज्जयिनी पहुंचकर घोर संग्राम के पश्चात् न केवल स्वर्णगुल्लिका को मुक्त कराया बल्कि चंडप्रद्योत को भी बन्दी बना लिया। उन्होंने बन्दी चंडप्रद्योत के मस्तक पर तप्त शलाका से 'मम दासीपति' का दाग लगवा दिया।

चंडप्रद्योत को बन्दी बनाकर महाराज उदायन अपने देश को चले। मार्ग में वर्षा से मार्ग अवरुद्ध हो जाने से उन्होंने उचित स्थान पर सैन्य शिविर डलवा दिए। सम्वत्सरी के दिन उदायन ने पौषधोपवास किया और सान्ध्य-प्रतिक्रमण की बेला में उन्होंने चौरासी लाख जीवयोनियों के प्राणियों से क्षमापना की। उसी क्रम में वे चंडप्रद्योत के पास पहुंचे और सांवत्सरिक क्षमापना करने लगे। चंडप्रद्योत ने इसे समुचित अवसर मानकर कहा—यह कैसी क्षमापना! यह तो ढोंग है। मुझे बेड़ियों में जकड़ा है और मुझ से क्षमा मांग रहे हैं! उदायन को चंडप्रद्योत की बात उचित लगी और उन्होंने उसे न केवल मुक्त कर दिया अपितु उसका जीता हुआ राज्य भी उसे लौटा दिया।

अपनी लोभवृत्ति के कारण चंडप्रद्योत को महाराज द्विमुख (प्रत्येकबुद्ध) से भी मुंह की खानी पड़ी। महाराज द्विमुख के पास एक ऐसा मुकुट था, जिसे धारण करने पर धारणकर्त्ता के दो मुख दिखाई देते थे। उसे धारण करने के कारण ही महाराज द्विमुख का ऐसा नाम ख्यात हुआ था। चंडप्रद्योत उस मुकुट को पाने के लिए ललचाया, पर द्विमुख ने उसे धूल चटा दी।

चंडप्रद्योत के जीवन के अन्यान्य भी कितने ही प्रसंग हैं। निष्कर्ष यह है कि वह एक कामी और लोभी राजा था। इन्हीं दुर्गुणों के कारण शक्तिसम्पन्न होते हुए भी वह पुनः पुनः पराजित, प्रताड़ित और अपमानित होता रहा।

—मलयगिरि

चंडरुद्राचार्य

एक जैनाचार्य, जो अपने नाम के अनुरूप ही क्रोधी-प्रकृति थे। वे वृद्ध और रुग्ण बन चुके थे, देह जीर्ण हो चली थी पर क्रोध जीर्ण न हुआ था। किसी समय जब वे उज्जयिनी नगरी के बाहर उद्यान में ठहरे थे तो उधर उसी नगरी के रहने वाले कुछ युवक मित्र घूमते हुए उनके पास पहुंचे। उस मित्रमण्डली में चंद्रयश नाम का एक युवक भी था, जिसका हाल ही में विवाह हुआ था और जिसके विवाह का प्रतीक हाथ का कंगना भी नहीं खुला था। मित्रों ने हास्य में चंद्रयश की ओर इंगित कर आचार्य से कहा कि महाराज! इसे बड़ा वैराग्य हो आया है, इसे साधु बना लीजिए, जिससे इसके भावों को मंजिल मिलेगी और आपको इस बुढ़ापे में सेवा करने वाला शिष्य मिल जाएगा!

आचार्य चंड प्रकृति के तो थे ही। उन्होंने पास ही पड़ी राख से झट से मुट्ठी भरी और चंद्रयश के बालों का लुंचन कर दिया। चंद्रयश ने इस हास्य को अन्तर्हृदय से स्वीकार करते हुए मुनिव्रत ग्रहण कर लिया। यह देखकर मित्रदल खिसक गया। चंद्रयश ने गुरुदेव को राय दी कि उसके पारिवारिक उसे परेशान न करें, अतः रात्रि में ही उन्हें विहार कर देना चाहिए। आचार्य ने चलने में अपनी असमर्थता बताई तो चंद्रयश ने उन्हें कन्धे पर बैठाकर ले चलने की बात कही। आचार्य की स्वीकृति पर चंद्रयश उन्हें कन्धे पर बैठाकर चल दिया। ऊबड़-खाबड़ मार्ग पर पैर ऊपर-नीचे पड़ते तो कन्धे पर बैठे आचार्य को बहुत पीड़ा होती। उनका क्रोध उबलता। वे अपशब्दों से शिष्य की भर्त्सना करते और रजोहरण के दण्ड से उसके सर पर प्रहार करते।

चंद्रयश स्वयं को दोषी मानता। समता और गुरुभक्ति की पराकाष्ठा पर पहुंचकर मार्ग पर चलते-चलते ही उसे केवलज्ञान हो गया। वह सीधे-सीधे चलने लगा। गुरु ने उसका कारण पूछा तो शिष्य ने गुरु कृपा के फलित होने की बात बता दी। यह जानकर कि वह केवली के कन्धों पर बैठे हैं चंडरुद्राचार्य को गहन पश्चात्ताप हुआ। वे नीचे उतरे। पश्चात्ताप से भावों में निर्मलता उतर आई और वे भी केवली हो गए।

—उत्तराध्ययन वृत्ति

चंडशासन

मलय भूमि का एक मित्र-द्रोही राजा। (देखिए-पुरुषोत्तम)

चंद्रकुंवर

उज्जयिनी नगरी के राजा चंद्रकेतु और महारानी चंद्रवती का पुत्र। एक पुण्यवान, साहसी और शूरवीर राजकुमार। उसका पालन-पोषण तथा उसकी शिक्षा-दीक्षा उसके नाना तारातम्बोल नगर-नरेश महाराज मानतुंग के सान्निध्य में सम्पन्न हुई। नाना के नगर में रहते हुए ही चंद्रकुंवर ने अनेक चमत्कारी विद्याएं सीखीं। वह अपने पुण्य प्रभाव के कारण अल्प कालावधि में ही अनेक विद्याओं का स्वामी बन गया था। परन्तु उसने उन दिव्य विद्याओं का उपयोग कभी पर-पीड़न अथवा अपने ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए नहीं किया। उसने सदैव परोपकार के कार्यों में ही अपने विद्याबल का उपयोग किया। उसने अनेक राजकुमारियों तथा श्रेष्ठि- कन्याओं से पाणिग्रहण किया। उसकी परिणीताओं में शिवमाला नामक एक विद्याधर-पुत्री भी थी, जो परम रूपवान और अनेकानेक विद्याओं में प्रवीण थी।

कालान्तर में माता-पिता के आमंत्रण पर चंद्रकुंवर अपने नगर में लौट आया। वहां पर उसने अपने ही नगर के सेठ जिनदत्त की पुत्री चंद्रकला से विवाह किया। चंद्रकला रूप और गुणों का अपूर्व संगम थी। चंद्रकुंवर चंद्रकला को पाकर शिवमाला को भूल गया। शिवमाला स्वयं को उपेक्षिता अनुभव करने लगी। उसके कई प्रयत्नों और आमंत्रणों पर भी जब चंद्रकुंवर ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया तो वह खिन्न हो गई। वह विद्याधरी तो थी ही, फलतः उसने विद्याबल से चंद्रकुंवर को तोता बना दिया और उसे अपने साथ लेकर उज्जयिनी का परित्याग कर अन्यत्र चली गई। इस प्रकार अनेक वर्षों तक चंद्रकुंवर को चंद्रकला और उज्जयिनी से दूर रहना पड़ा। फिर एक समय एक मुनि के उपदेश से शिवमाला को प्रतिबोध प्राप्त हुआ। उसने चंद्रकुंवर को तोते की देह से मुक्ति दे दी और स्वयं प्रव्रजित हो गई। चंद्रकुंवर अपने नगर में लौट आया और अपने माता-पिता तथा पत्नी चंद्रकला के साथ सुखपूर्वक रहने लगा।

वह युग विद्याओं के चरमोत्कर्ष का युग था। उज्जयिनी नगरी का ही रहने वाला एक काष्ठशिल्पी काष्ठनिर्मित वस्तुओं की अद्‌भुत कला में निपुण था। एक बार उसने काष्ठनिर्मित एक आकाशगामी घोड़ा चंद्रकुंवर को भेंट किया। यात्रा का शौकीन राजकुमार उस घोड़े को पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने उस घोड़े के द्वारा पूरे विश्व का भ्रमण किया और भ्रमण काल में कई राजबालाओं से पाणिग्रहण भी किया।

वृद्धावस्था में महाराज चंद्रकेतु ने अपना राज्य युवराज चंद्रकुंवर को प्रदान किया और प्रव्रजित होकर मोक्षपद पाया। चंद्रकुंवर ने सुदीर्घ काल तक उज्जयिनी पर शासन किया। एक विविध रंगी प्रलम्ब जीवन जीकर जीवन के उत्तर पक्ष में उसने प्रव्रज्या धारण की और सद्‌गति का अधिकार पाया।

चंदन (मलयागिरि)

कुसुमपुर नगर के नरेश। उनकी रानी का नाम मलयागिरि था। उनके दो पुत्र थे, सायर और नीर।

राजकुमार जब छोटे ही थे तो दुर्दैव-वश राजा चंदन को अपने राज्य से स्वेच्छया सपरिवार निर्वासन लेना पड़ा। ये चारों प्राणी कनकपुरी नगरी के किसी श्रेष्ठी के घर में सेवा-कार्य करने लगे। गृहकार्यों से जो समय बचता, उसका उपयोग मलयागिरि स्वयं के लिए करती। वह जंगल में जाती और वहां से लकड़ियां बीनकर बाजार में बेच देती। इससे कुछ अतिरिक्त आय हो जाती।

एक बार लक्खी नामक एक बंजारा अपने विशाल सार्थ के साथ कनकपुरी आया। नगरी के बाहर उसने अपने तंबू गाड़ दिए और व्यापार करने लगा। एक दिन लकड़ियां बेचती हुई मलयागिरि पर लक्खी की नजर पड़ गई। वह उसके रूप पर मोहित हो गया और सुविचारित योजनानुसार वह दोगुने मूल्य पर प्रतिदिन उसकी लकड़ियां खरीदने लगा। फिर एक दिन उसने मलयागिरि को बन्दिनी बना लिया और अन्यत्र प्रस्थान कर गया। उसने मलया को अपनी पत्नी बनाना चाहा। विभिन्न प्रलोभन दिए। पर अपने सतीत्व को प्राणों पर अधिमान देने वाली मलया के समक्ष उसकी एक न चली।

उधर चंदन और उसके पुत्र—सायर और नीर मलया के न लौटने से अधीर बन गए और उसे खोजने के लिए निकल पड़े। जंगल में एक बरसाती नाले को पार करने के क्रम में राजा चंदन जल-प्रवाह में बह गया। सौभाग्यवश उसे एक लकड़ी हाथ लग गई, जिसके सहारे तैरता हुआ वह बहुत दूर तक चला गया। दूसरे दिन वह एक नगर के किनारे आ लगा। जल प्रवाह से निकलकर एक दिशा में चलने लगा। मार्ग में एक गांव में एक महिला चंदन के रूप पर आसक्त हो गई और उसे अपनाने के लिए उसकी सेवा करने लगी। स्वदार-संतोषी चंदन महिला के मनोभावों को जान गया और वहां से भाग निकला। वह चम्पापुर पहुंचा और वहां एक उद्यान में एक वृक्ष के नीचे लेट कर सो गया।

चम्पापुर नरेश का निःसंतान रहते हुए ही निधन हो गया था। नए राजा के चुनाव के लिए पंच दिव्य मंत्रियों ने सजाए, जिन्होंने उद्यान में सोते हुए चंदन का राजा के रूप में चयन कर लिया। दुर्दैव के बादल छंट चुके थे। चंदन का सौभाग्य-सूर्य पुनः चमक उठा और वह चम्पापुर का राजा बन गया।

उधर सायर और नीर की रक्षा एक दयालु सार्थवाह ने की। सार्थवाह ने सायर और नीर के कुल और गोत्र का परिचय प्राप्त कर उन्हें क्षत्रियोचित शिक्षा दिलाई। जब वे दोनों भाई सुशिक्षित और युवा हो गए तो श्रेष्ठी ने प्रयास कर उनको चम्पापुर नरेश के आरक्षी दल में नौकरी भी दिलवा दी।

एक बार लक्खी बंजारा चम्पापुर आया। उसने राजा से अपने सार्थ की रक्षा के लिए आरक्षियों की मांग की। राजा के आदेश पर सेनापति ने सायर और नीर को लक्खी बंजारे के सार्थ की रक्षा में नियुक्त कर दिया। रात्रि के समय पहरा देते हुए दोनों भाई अपने अतीत पर वार्ता करने लगे। मलयागिरि भी सार्थ के साथ ही थी। सायर और नीर की वार्ता सुनकर उसने जान लिया कि वे उसी के पुत्र हैं। मां और पुत्रों का मिलन हुआ। लक्खी बंजारे को इस भेद का ज्ञान हुआ तो आत्मरक्षा के हित वह राजा के पास पहुंचा और उसने अपना अपराध स्वीकार करते हुए राजा से अपने जीवन की भीख मांगी। सायर और नीर भी न्याय की फरियाद लेकर राजा के पास पहुंचे। मलयागिरि भी उपस्थित हुई। प्रत्येक ने प्रत्येक को पहचान लिया और बिखरा हुआ परिवार पुनः मिल गया।

बाद में महाराज चंदन को कुसुमपुर का राज्य भी प्राप्त हो गया। आयु के अन्तिम पड़ाव पर राजा चंदन ने अपने बड़े पुत्र सायर को कुसुमपुर का तथा छोटे पुत्र नीर को चम्पापुर का राज्य सौंपकर आचार्य सुस्थिर के पास दीक्षा धारण कर ली। मलयागिरि ने भी अपने पति का अनुगमन किया। विशुद्ध संयम की आराधना कर दोनों ने ही उत्तम गति प्राप्त की।

—चंदन मलयागिरि रास

चंदनबाला

भगवान महावीर के साध्वी संघ की प्रमुख। सोलह महासतियों में से एक। एक राजकुमारी होते हुए भी चंदनबाला ने एक लम्बी कष्ट-शृंखला को जीया पर वह अपने धर्म से तिलमात्र भी विचलित नहीं हुई। उसके साध्वी-जीवन से पूर्व का वृत्त यों है–

चंदनबाला चम्पानरेश महाराज दधिवाहन और रानी धारिणी की इकलौती पुत्री थी। वह अपने माता-पिता को अति प्रिय थी। एक बार चम्पानगरी पर कौशाम्बी नरेश शतानीक ने अकस्मात् आक्रमण कर दिया। व्यर्थ रक्तपात से बचने के लिए दधिवाहन वन में चला गया। शतानीक के आदेश पर उसकी सेना ने चम्पा में लूट-पाट की। एक रथिक के कुछ हाथ न लगा तो वह राजमहल में घुस गया। उसने महारानी धारिणी और चंदनबाला को बलात् रथ में बैठाया और कौशाम्बी की ओर चल दिया। मार्ग में धारिणी के रूप पर उसकी दृष्टि मैली हो गई। उसने महारानी से विनोद किया। धारिणी ने अपने शील की रक्षा के लिए अपनी जबान खींचकर प्राण दे दिए। चंदनबाला ने मां का अनुसरण करना चाहा। पर रथिक के भाव बदल चुके थे। उसने चंदनबाला को अपनी पुत्री बना लिया। उसे अपने घर ले गया। पर रथिक की पत्नी ने वहां चंदनबाला को एक क्षण रुकने न दिया। उसने अपने पति को बाध्य कर दिया कि वह तत्काल बाजार में जाकर चंदना को बेच दे। रथिक ने चंदना को बाजार में बेच दिया। उसे वेश्याओं के एक दल ने भारी मूल्य चुका कर खरीद लिया। चंदना को जब यह बात ज्ञात हुई कि उसे वेश्याओं ने खरीद लिया है तो उसे बड़ा दुख हुआ। वह रोने लगी। उसके रुदन से आर्द्र बने सेठ धनावह ने वेश्याओं को बहुत-सा धन देकर चंदना को मुक्त करा लिया। वह उसे अपने घर ले आया। उसने चंदना को अपनी पुत्री मान लिया। वहां भी सेठ की पत्नी मूला चंदना की शत्रु बन बैठी। उसका मन इस संदेह से भर गया कि उसके पति कालान्तर में चंदना को अपनी सेठानी बनाएंगे। वह चंदना को सबक सिखाने के लिए अवसर की प्रतीक्षा करने लगी।

किसी समय धनावह सेठ को व्यापारिक कार्य हेतु तीन दिन के लिए ग्रामान्तर जाना पड़ा। मूला को अवसर मिल गया। उसके भीतर की राक्षसी वृत्तियां जाग उठीं। उसने निरपराध चंदनबाला को कठोर दैहिक और मानसिक यातनाएं दीं। उसे डण्डों से पीटा। उसकी केशराशि कतर दी। वस्त्र छीन कर उसे एक कछनी पहना दी। लौह-शृंखलाओं में उसके अंग-प्रत्यंग को जकड़ दिया। उसे तहखाने में पटक कर वह अपने पीहर चली गई।

चंदनबाला रक्ताश्रुओं-भरा जीवन जी रही थी। उसकी कष्टकथा सुरसा का कण्ठ बन गई थी। उस क्षण उसने विचार किया–अब धर्म ही मेरी रक्षा कर सकता है। मैं धर्म की शरण ग्रहण करती हूं। उसने तहखाने में पड़े हुए ही तीन दिन के उपवास का प्रत्याख्यान ले लिया।

तीसरे दिन धनावह लौटे। घर में द्वार-द्वार पर ताले देख उनका मन शंकित हो गया। पूछने पर पड़ोस की एक वृद्धा ने पूरी घटना सेठ को सुना दी। दयार्द्र सेठ का हृदय हाहाकार से भर गया। ताले तोड़कर उसने चंदना को बाहर निकाला। घर में खाने को कुछ न था। यहां-वहां देखा। घोडों के लिए उड़द के बांकले रखे थे। बर्तन न पाकर सेठ ने एक सूप के कोने में उन्हें डाला और चंदना को थमा दिया। चंदना को उनसे मन बहलाने की कहकर सेठ उसके लौह बन्धन कटवाने के लिए लोहार को लेने चले गए।

बन्धनों में बंधी चंदना सूप में उड़द बांकले लिए गृह-द्वार पर बैठी थी। उसका मन किसी अतिथि की बाट जोह रहा था। आंखें मार्ग पर बिछी थीं।

उन्हीं दिनों महाश्रमण महावीर कौशाम्बी में विराजित थे। उन्होंने एक कठिनतम अभिग्रह धारण किया था। उनका अभिग्रह था—1. राजकन्या हो, 2. बाजार में बिकी हो, 3. मुण्डित सर हो, 4. हाथों में हथकड़ी हो, 5. पैरों में बेड़ी हो, 6. तीन दिन की उपवासी हो, 7. दोपहर बीत रही हो, 8. एक पैर घर के भीतर हो, 9. दूसरा पैर बाहर हो, 10. सूप में, 11. उड़द बांकले लिए हो, 12. आंखों में आंसू हों और 13. मुख पर मुस्कान हो। ऐसी कन्या के हाथ से मैं भोजन लूंगा अन्यथा निराहारी रहूंगा।

उक्त कठिन अभिग्रह धारण किए भगवान को पांच महीने और पच्चीस दिन हो चुके थे। संयोग से उस दिन भगवान भिक्षा के लिए उधर ही आ निकले, जहां गृह-द्वार पर बैठी चंदना किसी अभ्यागत की प्रतीक्षा कर रही थी। चंदना ने महा अतिथि को अपने द्वार पर देखा। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। वह खड़ी हो गई। मुख पर मोक्ष-सा आनन्द खिल गया। भगवान ने देखा। ज्ञानोपयोग लगाया। एक को छोड़कर समस्त प्रतिज्ञाएं फलित हो रही थीं। आंखों में आंसू न थे। महावीर ने कदम घुमा दिए।

चंदना के पैरों तले से जमीन खिसक गई। जो कुछ आज तक घटा था, वह अकल्प्य न था। जो वर्तमान क्षण में घटने जा रहा था, वह अकल्प्य था। चंदना विश्वास न कर सकी कि महावीर उसे ठुकरा सकते हैं। उसके कण्ठ से रोदन फूट पड़ा। महावीर रुक गए। मुड़े, देखा। महावीर को मुड़ते देख चंदना पुनः हर्ष से भर गई। आंसू और मुस्कान एक साथ देखकर महावीर के तेरह संकल्प फलित हो गए। महा अतिथि ने अपने हाथ फैला दिए। चंदना ने दान दिया।

उसी क्षण सब बदल गया। चमत्कार घटा। चंदनबाला के समस्त बन्धन स्वतः खुल गए। वह स्वर्णाभूषणों और दिव्य वस्त्रों से सज्जित हो गई। जैन पुराणों के अनुसार करोड़ों स्वर्णमुद्राओं का वर्षण हुआ। सब ओर चंदना का यश फैल गया।

कालान्तर में भगवान महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। चंदनबाला भगवान की प्रथम शिष्या बनी। वह साध्वी संघ की प्रवर्तिनी नियुक्त हुई। अनेक वर्षों के तप-संयममय जीवन से उसने सर्वकर्म खपा दिए और केवलज्ञान साधकर सिद्ध हो गई।

चंदराजा

प्राचीनकालीन एक राजा। आभानगरी उसकी राजधानी थी। उसकी रानी का नाम गुणावली था, जो परम पतिपरायण सन्नारी थी। चंद द्वारा राज्य-पदारोहण के तत्काल बाद ही उसके पिता और माता ने प्रव्रज्या धारण कर ली थी। चंद राजा की विमाता का नाम वीरमती था, जो ईर्ष्या, क्रोध और अहंकार का पिटारा थी। वह अकारण ही चंद को अपना शत्रु मानती थी, परन्तु उसका अहित नहीं कर सकती थी। उसी अवधि में उसे कुछ अलौकिक विद्याएं प्राप्त हो गईं। विद्याएं प्राप्त करके वीरमती बहुत बलवती बन गई। उसने गुणावली और चंद के मध्य विषमता का बीज बोने का प्रयास किया। उसमें सफल नहीं हो सकी तो चंद की हत्या करने पर उतारू हो गई। चंद को मारकर वह स्वयं आभा नगरी की साम्राज्ञी बनना चाहती थी। पर गुणावली की करुण और विनम्र प्रार्थना के कारण उसने चंद की हत्या नहीं की। उसने चंद राजा को विद्या-बल से मुर्गा बना दिया। गुणावली ने चंद राजा के उपकृत मित्र शिवकुमार नामक नट-नायक को वह मुर्गा इस आशा से सौंप दिया कि उसके पति वीरमती की कोपदृष्टि से दूर रहकर पुनः मानव-तन प्राप्त कर सकेंगे। मुर्गे की देह में चंद राजा कई वर्षों तक नट के संरक्षण में रहा। कालान्तर में वह मुर्गा विमलापुरी नगरी की राजकुमारी प्रेमलालच्छी के संरक्षण में आ गया। प्रेमला राजा चंद की परिणीता थी। सोलह वर्ष मुर्गे की देह में बिताकर पुण्योदय होने पर चंद राजा ने मानव-तन पुनः प्राप्त किया। उधर वीरमती के कलुष-आचरण के

कारण उसकी विद्याएं क्षीण हो गई थीं। पर उसके हृदय की ईर्ष्या यथावत् थी। वीरमती को जैसे ही यह ज्ञात हुआ कि चंद ने पुनः मानव-तन प्राप्त कर लिया है तो उसका हृदय ईर्ष्या के विष से दग्ध हो गया। वह चंद का वध करने के लिए विमलापुरी पहुंची। उसने चंद पर तलवार का प्रहार किया। परन्तु चंद राजा के अपुण्य क्षीण हो चुके थे। वीरमती का प्रहार व्यर्थ गया। उसके द्वारा फैंकी हुई तलवार प्रस्तर से टकराकर उछली और उसी के उदर के पार हो गई। वीरमती की मृत्यु हो गई।

चंद राजा प्रेमलालच्छी के साथ आभापुरी लौटा। गुणावली से पुनर्मिलन हुआ। शिवकुमार नट की पुत्री शिवमाला से भी उसने विवाह किया। उसके सुशासन में प्रजा में पुनः सुख-समृद्धि छा गई। अनेक वर्षों तक उसने शासन किया। उसके कई योग्य पुत्र हुए। जीवन के उत्तर पक्ष में ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर चंद ने दीक्षा धारण की और निरतिचार संयम की आराधना कर मोक्ष प्राप्त किया।

—चंद राजा नो रास, श्री मोहन विजय जी कृत, 18वीं शती

चंद्रगुप्त मौर्य

वी.नि. की चतुर्थ शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल में हुआ भारतवर्ष का एक तेजस्वी सम्राट्। चंद्रगुप्त मौर्य से पहले भारतवर्ष के विशाल भूभाग पर नंदवंश का शासन था। सौ से अधिक वर्षों तक नंदों ने भारत के विशाल क्षेत्र पर शासन किया। नन्दों के साम्राज्य का प्रमुख क्षेत्र मगध रहा और पाटलिपुत्र उनकी राजधानी रही। लम्बे समय तक शासन करने के कारण नन्दों के राज्यसंचालन में शिथिलता आ गई थी। न्याय प्रणाली सुस्त पड़ गई थी और प्रजा का उनसे मोह भंग हो गया था। इस अवस्था में क्षत्रिय-पुत्र चंद्रगुप्त ने विद्वान् ब्राह्मण चाणक्य के दिशानिर्देशन में अपने अपूर्व साहस और अजेय शौर्य के बल पर नन्दवंश को भूलुण्ठित कर मौर्य राजवंश की स्थापना की।

चंद्रगुप्त मौर्य का जन्म मयूरग्राम में ई.पू. लगभग 345 में हुआ। मयूर ग्राम में व्रात्य जाति के क्षत्रियों की बहुलता थी। उन लोगों का मूल व्यवसाय मयूर पंखों का था। वहां बहुतायत से मूयरपालन होता था। चंद्रगुप्त ग्राम-प्रमुख क्षत्रिय की पुत्री के पुत्र थे। चंद्रगुप्त जब गर्भ में थे तो उनकी माता को चंद्रपान का दोहद उत्पन्न हुआ था। परन्तु इस असंभव दोहद की पूर्ति के अभाव में ग्राम-प्रमुख की पुत्री कृश बन गई। उधर नन्द साम्राज्य को धूल में मिला देने का स्वप्नद्रष्टा चाणक्य उस ग्राम में आया। वह ग्राम-मुखिया के घर रुका। ग्राम-मुखिया की पुत्री के दोहद की बात उसने जानी। चाणक्य ने कहा, इस कन्या से उत्पन्न होने वाले पुत्र को यदि उसे देने का वचन दिया जाए तो वह दोहद पूर्ण कर सकता है। ग्राम-प्रमुख द्वारा वचन दे दिए जाने पर चाणक्य ने अपने बुद्धिकौशल से कन्या का दोहद पूर्ण करा दिया।

कालक्रम से उस कन्या ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम चंद्रगुप्त रखा गया। चंद्रगुप्त जब 8-9 वर्ष का हो गया तो चाणक्य उसे अपने साथ ले गया। चाणक्य ने बालक चंद्रगुप्त की शिक्षा-दीक्षा की उत्तम व्यवस्था की। उसे शस्त्र और शास्त्र विद्याओं में निपुण बनाया। चंद्रगुप्त जब समर्थ युवा हुए तो उन्होंने एक सेना का गठन किया। इस कार्य में उन्हें चाणक्य का दिशानिर्देशन प्राप्त हुआ और उन्होंने कई अन्य वंशों और छोटे-छोटे राजाओं का भी सहयोग लिया।

युवा सैनिकों की एक टुकड़ी के साथ चाणक्य और चंद्रगुप्त ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। पर इस प्रथम आक्रमण में उन्हें घोर पराजय का सामना करना पड़ा। शक्ति संगठन में उन्हें पुनः कई वर्ष लगे और एक वृद्धा से विजय का सरलसूत्र प्राप्त कर उन्होंने पहले मगध साम्राज्य के छोटे-छोटे सीमान्त प्रदेशों को अपने अधीन किया। बाद में पर्वत नामक एक राजा के साथ मिलकर पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया। चंद्रगुप्त

ने अभूतपूर्व शौर्य का प्रदर्शन किया और नन्द सेना को धराशायी कर दिया।

इस प्रकार चंद्रगुप्त मगध के सिंहासन पर आरूढ़ हुए। उन्होंने अपने प्रबल पराक्रम के बल पर भारतवर्ष के सभी साम्राज्यों को अपने अधीन किया। ई.पू. 305 में यूनान नरेश सेल्युकस ने भारत पर आक्रमण किया। सम्राट् चंद्रगुप्त ने सेल्युकस को करारी मात दी और यूनानी दासता में भारतवर्ष के काबुल और कान्धार तक के प्रदेशों को मुक्त कराकर वहां अपना साम्राज्य स्थापित किया। ज्ञात इतिहास में चंद्रगुप्त मौर्य आज तक के सबसे बड़े सम्राट् हुए। बाद में अंग्रेज और मुस्लिम शासक भी एकरूपता से समग्र भारत पर वैसा सफल शासन नहीं कर पाए, जैसा चंद्रगुप्त ने किया।

ऐतिहासिक कड़ियों के जोड़ से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि चंद्रगुप्त एक जैन राजा थे। वे सर्वधर्म समन्वय में विश्वास रखते थे, पर व्यक्तिगत रूप से वे जैन धर्म को अपना धर्म मानते थे। जन्म से ही उन्हें जैन धर्म का वातावरण प्राप्त हुआ था। उनके गुरु चाणक्य भी जैन थे।

आचार्य भद्रबाहु और महाराज चंद्रगुप्त की कई घटनाएं प्राप्त होती हैं। एकदा चंद्रगुप्त ने 16 स्वप्न देखे, जिनका परिणामात्मक विश्लेषण आचार्य भद्रबाहु ने किया।

उल्लेखों से यह भी प्रमाणित होता है कि 25 वर्ष शासन करने के पश्चात् चंद्रगुप्त ने अपने पुत्र बिन्दुसार को राज्यभार प्रदान कर आर्हती प्रव्रज्या ग्रहण की थी। श्रवणबेलगोल पर तपस्या साधना में अपने अन्तिम जीवन को समर्पित कर श्रमण चंद्रगुप्त ने संलेखनापूर्वक देहोत्सर्ग किया।

चंद्रच्छाया

प्रभु मल्लि के समय का चम्पा नगरी का एक राजा, प्रभु मल्लि के पूर्वभव का मित्र। अर्हन्नक चम्पा नगरी का रहने वाला एक दृढ़धर्मी श्रावक था। वह समुद्र मार्ग से दूर देशों की यात्राएं कर व्यापार करता था। एक बार जब अर्हन्नक यात्रा से लौटा तो राजा को भेंट देने पहुंचा। राजा ने उससे पूछा, तुम दूर देशों में घूमते हो, क्या कोई अद्भुत वस्तु देखी? अर्हन्नक ने कहा, विदेहराज की पुत्री मल्लि इस ब्रह्माण्ड की अद्भुत कन्या है। रूप-गुण का वैसा संगम त्रिकाल में भूतो न भविष्यति। अर्हन्नक की बात सुनकर राजा मल्लि के प्रति आकर्षित हो गया और उसने महाराज कुंभ के पास दूत भेजकर मल्लि का हाथ अपने लिए मांगा। युद्ध तक की स्थिति बनी। पर मल्लि की युक्ति से चंद्रच्छाया जागृत और दीक्षित हो सिद्ध हुआ।

चंद्रप्रभ (तीर्थंकर)

ये वर्तमान चौबीसी के आठवें तीर्थंकर थे। इनका जन्म चंद्रानना नगरी के स्वामी महाराज महासेन की पट्टरानी लक्ष्मणा के गर्भ से पौषवदी द्वादशी के दिन हुआ था। गर्भकाल में महारानी को चंद्रपान का दोहद उत्पन्न हुआ था। उसी कारण पुत्र का नाम चंद्रप्रभ रखा गया।

यौवनवय में चंद्रप्रभ का अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह किया गया। पिता की मृत्यु के पश्चात् वे सिंहासन पर बैठे और लम्बे समय तक शासन करते रहे। उचित समय पर लोकान्तिक देवों की प्रार्थना सुन उन्होंने वर्षीदान दिया और गृहत्याग कर अनगार बने। मात्र तीन महीने की साधना के पश्चात् उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया और नर से नारायण बन गए। तीर्थ की संस्थापना कर तीर्थंकर कहलाए। दत्त प्रमुख उनके 93 गणधर थे। दो भव पूर्व महाराज पद्म के भव में उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया था। मध्य में वैजयन्त नामक देवलोक का एक भव कर वे चंद्रप्रभ के भव में आए और सिद्धत्व को प्राप्त हुए।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र 3/5

चंद्रबाहु स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

तेरहवें विहरमान तीर्थंकर। पुष्करार्द्ध द्वीप के पूर्व महाविदेह क्षेत्र की पुष्कलावती विजय में स्थित पुण्डरीकिणी नगरी के स्वामी महाराज देवानन्द की महारानी रेणुका देवी की रत्नकुक्षी से प्रभु ने जन्म लिया। पद्मकमल प्रभु का चिह्न है। सुगंधा नामक राजकुमारी से प्रभु ने पाणिग्रहण कर तिरासी लाख पूर्व का आयुष्य गृहवास में व्यतीत किया। तब वर्षीदान देकर प्रभु प्रव्रजित हुए। केवलज्ञान को साध कर धर्मतीर्थ की संस्थापना की। असंख्य भव्य जीवों के लिए प्रभु ने निर्वाण प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त किया। चौरासी लाख का आयुष्य पूर्ण कर प्रभु निर्वाण को प्राप्त होंगे।

(क) चंद्रयश

उज्जयिनी नगरी के एक धनाधीश श्रेष्ठी के पुत्र। विवाह के दिन ही हास्य-हास्य में उन्होंने चण्डरुद्राचार्य से दीक्षा ले ली। उस युवक में समता और गुरुभक्ति की ऐसी पराकाष्ठा थी कि दीक्षा वाले दिन ही न केवल स्वयं उन्होंने केवलज्ञान को साध लिया बल्कि अपने गुरु के केवली होने में भी वे निमित्त बने। (देखिए- चण्डरुद्राचार्य)

—उत्तराध्ययन वृत्ति

(ख) चंद्रयश

युवराज युगबाहु और मदनरेखा का आत्मज तथा सुदर्शन नगर का परम प्रतापी सम्राट्। युवराज युगबाहु की हत्या के पश्चात् जब मणिरथ भी एक सर्प द्वारा दंशित होने के कारण मृत्यु को प्राप्त हो गया तो सुदर्शन नगर के सभ्य सभासदों द्वारा अल्पायुष्क चंद्रयश का राजतिलक किया गया। वह अपने समय का शूरवीर और कुशल शासक सिद्ध हुआ। किसी समय एक हाथी को लेकर उसके अनुज मिथिलाधिपति नमि से उसका विवाद हो गया और दोनों ओर की सेनाएं रणक्षेत्र में उतर आईं। उस समय उन दोनों की माता महासती मदनरेखा ने रणभूमि में पहुंचकर उन्हें उनका परिचय दिया। दोनों सहोदर गले मिले। चंद्रयश संसार की तस्वीर को अपनी माता द्वारा दिखाए जाने पर विरक्त हो गया। उसने अपना राजपाट अपने अनुज नमि को सौंप दिया और स्वयं तप करने के लिए मुनि बन गया।

चंद्रयशा

दमयंती की मौसी। (देखिए-दमयन्ती)

चंद्रवल्लभा

राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष रासकृता की पुत्री, जिसका पाणिग्रहण राजा राजमल द्वितीय के साथ हुआ था। उसके मन में जैन धर्म के प्रति सुदृढ़ अनुराग था। शुभचंद्र सिद्धान्तदेव उसके गुरु थे। उसने एक विशाल जिन प्रतिमा की स्थापना कराई थी। तत्कालीन राजवंश में वह उच्च पद पर आसीन थी।

शौर्य और सौन्दर्य की प्रतिमा चंद्रवल्लभा ने एक यशस्वी और धर्ममय जीवन जीया। अंतिम अवस्था में उसने संलेखना सहित देहोत्सर्ग कर अपने तपोमय जीवन की इति श्री की। ई.स. 918 में उसका स्वर्गवास हुआ।

चंद्रसेन

चंद्रपुर नगर के राजा रणधीर का पुत्र, एक धीर, वीर, गम्भीर और संकल्प का धनी युवक। उसके अग्रज का नाम जयसेन था। जयसेन का विवाह लीलावती नामक राजकन्या से हुआ। पिता के प्रव्रजित हो

जाने पर जयसेन राजा बना और लीलावती राजरानी बनी। लीलावती और चंद्रसेन के मध्य माता-पुत्र का सा अनन्य अनुराग भाव था। वह पानी भी लीलावती के हाथ से ही पीता था। एक बार जब लीलावती किसी कार्य में तल्लीन थी तो चंद्रसेन बाहर से आया और भाभी से पानी मांगा। लीलावती ने अपनी विवशता बताकर उसे स्वयं पानी ले लेने को कहा। चंद्रसेन ने बालहठ दिखाई और भाभी को ही पानी देने को कहा। भाभी ने ठिठोली करते हुए कहा, चंद्रावती के हाथ का पानी पीओगे तो ही तुम पानी का स्वाद जान पाओगे! कहकर भाभी हंसी और चंद्रसेन को पानी का पात्र प्रदान किया।

चंद्रसेन ने पानी का पात्र रख दिया और चंद्रावती के बारे में जानने का आग्रह करने लगा। लीलावती ने चंद्रसेन को बहलाने के बहुत प्रयास किए पर वह उसके आग्रह को मिटा न सकी। चंद्रसेन द्वारा विवश कर दिए जाने पर आखिर लीलावती को बताना ही पड़ा। उसने बताया, चंद्रावती कंचनपुर नगर की राजकुमारी है। वह अतिशय रूपवान कन्या है। अनेक राजा और राजकुमार उससे विवाह करने को उत्सुक हुए। पर कोई भी उसे प्राप्त नहीं कर पाया। वह एक राक्षस के अधिकार में है। राक्षस ने चंद्रावती को प्राप्त करने की आकांक्षा से आए अनेक राजाओं और राजकुमारों को मौत के घाट उतार दिया है। राक्षस का चंद्रावती से पूर्वजन्म का सम्बन्ध है। इस पर भी उस राक्षस का एक सद्गुण यह है कि वह चंद्रावती से जबरदस्ती नहीं करता है। वह हर रोज रात्रि में चंद्रावती को कंचनपुर से उठा ले जाता है और सुबह होने पर वापस छोड़ जाता है। कंचनपुर नरेश ने यह घोषणा की है कि जो भी पुरुष चंद्रावती को राक्षस के चंगुल से छुड़वाएगा, उसे वह आधा राज्य देगा और चंद्रावती का पाणिग्रहण उसके साथ करेगा।

चंद्रसेन ने भाभी के मुख से यह किस्सा सुना और उसने घोषणा कर दी, अब मैं चंद्रपुर नगर का अन्न-जल तभी ग्रहण करूंगा, जब चंद्रावती को चंद्रपुर की वधू बना दूंगा। चंद्रसेन की यह भीष्म-प्रतिज्ञा सुनकर लीलावती के प्राण कण्ठ में अटक गए। जयसेन, लीलावती सहित सभी ने चंद्रसेन को हठ त्यागने के लिए मनाया, पर वह मानने को तैयार नहीं हुआ और बोला, यह मेरा हठ नहीं है, यह मेरा वज्र संकल्प है। यह एक क्षत्रिय की प्रतिज्ञा है और बहुत ही शीघ्र मैं अपने संकल्प को साकार करके दिखाऊंगा। विवश बनकर सभी ने चंद्रसेन को अनुमति दे दी। चंद्रसेन अकेला ही कंचनपुर के लिए चल दिया। मार्ग में एक तांत्रिक के चंगुल से चंद्रसेन ने मदनमंजरी नामक राजकुमारी को मुक्त कराया। मदनमंजरी चम्पावती नगरी के राजा चित्रकेतु की पुत्री थी। राजा चित्रकेतु ने मदनमंजरी का विवाह चंद्रसेन से कर दिया और उसे आधा राज्य भी प्रदान किया।

मदनमंजरी को अपनी प्रतिज्ञा से अवगत करा और उसकी अनुमति प्राप्त कर चंद्रसेन कंचनपुर के लिए चल दिया। मार्ग में इन्द्रपुरी नामक एक नगरी पड़ी, जो एक राक्षस द्वारा उजाड़ दी गई थी। चंद्रसेन ने अपनी वीरता और बुद्धिमत्ता से उस राक्षस को वश में किया और वहां की राजकुमारी तिलकसुंदरी से पाणिग्रहण किया। कुछ दिन उस नगरी में बिताकर चंद्रसेन आगे बढ़ा। तिलकसुंदरी भी पुरुषवेष धारण कर चंद्रसेन के साथ हो ली। तांत्रिक और राक्षस को परास्त करते हुए चंद्रसेन को रूपपरावर्तिनी, बलवर्द्धिनी आदि विद्याएं प्राप्त हो चुकी थीं। पर सबसे बड़ी विद्या तो व्यक्ति का अपना साहस और संकल्प ही होता है, जो चंद्रसेन के जीवन में पहले से ही मौजूद था।

चंद्रसेन और तिलकसेन (तिलकसुंदरी) कंचनपुर पहुंचे। दोनों ने वहां राजा के अंगरक्षक के रूप में नौकरी प्राप्त की। कुछ दिन वहां रहकर चंद्रसेन ने राक्षस के क्रियाकलापों के बारे में पूरी जानकारी एकत्रित कर ली। फिर एक दिन उसने राजा को अपनी प्रतिज्ञा के बारे में बता दिया कि वह राक्षस का वध करने के

संकल्प के साथ वहां आया है। राजा चंद्रसेन के कुछ ही दिन के सामीप्य से उसके साहस और संकल्प से परिचित हो चुका था। उसने राक्षस-वध में अपने पूर्ण सहयोग का वचन चंद्रसेन को दिया। सुविचारित योजनानुसार चंद्रसेन उस शैया पर चादर तानकर सो गया, जिस शैया पर राजकुमारी चंद्रावती सोती थी। संध्या समय राक्षस आया और चंद्रसेन को चंद्रावती समझकर शैया सहित उठा ले गया। अपने निवास पर पहुंचकर राक्षस ने शैया रख दी। प्रतिदिन की भांति राक्षस ने अपनी प्रणय-प्रार्थना प्रस्तुत की। राक्षस सावधान नहीं था, चंद्रसेन पूरी तरह तैयार और सावधान था। राक्षस द्वारा चादर खींचते ही चंद्रसेन उछलकर उसकी छाती पर सवार हो गया। बलवर्द्धिनी विद्या से उसका बल निरंतर वर्धमान बनता गया। राक्षस को उसने परास्त कर दिया और उससे वचन ले लिया कि वह भविष्य में किसी भी निरपराध प्राणी को परेशान नहीं करेगा।

राक्षस की पराजय और चंद्रसेन की जय का संवाद कंचनपुर पहुंचा तो सब ओर हर्ष व्याप्त हो गया। राजा ने चंद्रावती का विवाह चंद्रसेन से किया और उसे आधा राज्य भी प्रदान किया। कुछ दिन वहां रहने के पश्चात् चंद्रसेन अपनी तीन पत्नियों और विशाल वैभव और सेना के साथ अपने नगर में आया। भाई, भाभी और पुरवासियों ने उसका भावभीना स्वागत किया।

सुदीर्घ काल तक राजसी सुख भोगते हुए चंद्रसेन ने जीवन के अंतिम भाग में प्रवेश किया। जीवन के अंतिम भाग में उसने समस्त अर्जन को विसर्जित करके त्याग प्रधान जीवन की आराधना की और उत्तम गति का अधिकार प्राप्त किया।

चंद्रानन स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

बारहवें विहरमान तीर्थंकर, जो वर्तमान में धातकीखण्ड द्वीप के अन्तर्गत नलिनावती विजय में विराजमान हैं। उक्त विजय में स्थित वीतशोका नामक नगरी में प्रभु का जन्म हुआ। महाराज वल्मीक और महारानी पद्मावती प्रभु के जनक और जननी थे। यौवनावस्था में लीलावती नामक राजकन्या से प्रभु का पाणिग्रहण हुआ। प्रभु वृषभ चिह्न से युक्त हैं। तिरासी लाख पूर्व की अवस्था तक प्रभु गृहवास में रहे। वर्षीदान देकर मुनिव्रत धारण किया और केवलज्ञान को साधा। तीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर बने। चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर प्रभु मोक्ष जाएंगे।

(क) चंद्रावतंसक

वैशाली की राजपरम्परा के एक धर्मात्मा राजा।

चंद्रावतंसक जहां कर्मशूर थे, वहीं धर्मशूर भी थे। श्रावक मर्यादानुसार वे अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णमासी को पौषधोपवास की आराधना किया करते थे।

एक बार अमावस्या को राजा ने पौषध किया। संध्या ढलते-ढलते अमा का घोर तिमिर अपने आगमन की सूचना देने लगा था। पौषधशाला में महाराज चंद्रावतंसक खड़े होकर ध्यान मुद्रा में लीन हो गए। उधर अंधेरा घिरते देख दासी ने कक्ष के कोने में रखे दीपक को प्रज्ज्वलित कर दिया। महाराज की दृष्टि दीपक की लौ पर ठहर गई। अन्तः प्रेरणा से राजा ने संकल्प किया—जब तक दीप जलता रहेगा, तब तक मैं यथारूप कायोत्सर्ग में लीन रहूंगा।

घड़ी और मुहूर्त्त बीते। दीप का तेल चुकने लगा। लौ डगमगाने लगी। सेवानिष्ठ दासी ने इस विचार से कि महाराज की समाधि भंग न हो, दीप को पुनः तैल से भर दिया। महाराज के मन में ध्यान का दीप और

पौषध-कक्ष के कोने में मृण्मय दीप—दोनों एक साथ जलते रहे। जब-जब मृण्मय दीप की लौ डगमगाती, दासी उसे पुनः तैल से भर देती। महाराज की संकल्प समाधि दूने और चौगुने वेग से सुदृढ़ बनती जाती। महाराज के मन के किसी भी तल पर दासी के प्रति खीझ न उभरी। बल्कि उनके मन ने दासी को धन्यवाद ही दिया—कि आज तुमने सच्ची सेवा की!

अविचल समाधि में लम्बे समय तक स्थिर रहने से महाराज की देह दर्द उगल रही थी। रोम-रोम में थकावट और भारीपन उतर आया था। पैरों का रक्त जमते-जमते जम गया। उधर प्रभात का सूर्य उगते देख दासी ने दीप बुझा दिया। पर महाराज का कायोत्सर्ग मुद्रा में प्रज्ज्वलित ध्यान दीप तब भी अखण्ड रहा। देह ने अपनी सीमाएं स्वीकारते हुए पराजय मान ली। देह गिर गई। महाराज की आत्मा में अध्यात्म का दीप जलता ही रहा—जलता ही रहा। उसी प्रज्ज्वलित दीप के साथ वह दिव्य लोकों की ओर प्रयाण कर गई।

—मरण समाधि प्रकीर्णक/आख्यान मणिकोश (आम्रदेव सूरि) 41/126

(ख) चंद्रावतंसक

साकेत नगर का एक धर्मनिष्ठ राजा। (देखिए-मेतार्य)

(क) चंद्रावती

कंचनपुर नरेश की पुत्री, एक अतिशय रूप-गुण सम्पन्न राजकुमारी। (देखिए-चंद्रसेन)

(ख) चंद्रावती

एक राजकुमारी, जिसका पाणिग्रहण राजकुमार ईश्वर स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) से हुआ था। (देखिए-ईश्वर स्वामी)

चंपक

चम्पापुरी नगरी का एक कोटीश्वर श्रेष्ठी। देव, गुरु और धर्म पर उसकी अगाध आस्था थी। एक रात्रि में लक्ष्मी ने सेठ को दर्शन दिए और कहा, सेठ! तुम्हारे पुण्यकर्म जीर्ण हो चुके हैं, अब मैं तुम्हारे घर में नहीं रुक सकती हूं। कहकर लक्ष्मी अन्तर्धान हो गई। दूसरे ही दिन सेठ की दुकानों में आग लग गई। वह एक ही दिन में अरबपति से खाकपति हो गया।

चंपक के दो पुत्र थे—चंद्रकान्त और सूर्यकान्त। सेठ ने विचार किया कि किसी अपरिचित नगर में रहकर उसे अपने दुर्दिन बिताने चाहिएं। इस विचार के साथ एक रात्रि में वह अपनी पत्नी और दोनों पुत्रों के साथ चम्पापुरी से रवाना हो गया। कई दिन के सफर के पश्चात् श्रेष्ठी परिवार श्रीपुर नामक नगर में पहुंचा। वहां एक तृणकुटीर डालकर चंपक अपने परिवार के साथ रहने लगा। जंगल से लकड़ियां काटकर और उन्हें नगर में बेचकर वह अपना और परिवार का पोषण करने लगा। यह क्रम सुदीर्घ काल तक चलता रहा। एक बार चंपक लकड़ियां लेने के लिए जंगल की ओर जा रहा था तो पुण्ययोग से उसे एक मुनि के दर्शन हुए। मुनि ने उसे धर्मोपदेश दिया। साथ ही उसे प्रत्याख्यान कराया कि महीने की दोनों चतुर्दशियों को वह हरी लकड़ी जंगल से न काटे।

चंपक उक्त नियम का सुदृढ़तापूर्वक पालन करने लगा। एक बार एक देव ने उसकी परीक्षा ली, जिसमें सेठ अपने नियम पर खरा सिद्ध हुआ। देव ने प्रसन्न होकर सेठ को दो जड़ी दीं और बताया कि प्रथम जड़ी को खाने वाला राजा बनेगा और दूसरी जड़ी को खाने वाले के आंसू मोती बनेंगे। सेठ दोनों जड़ियों को लेकर

अपने घर पहुंचा। उसने जड़ियों का माहात्म्य अपनी पत्नी को बताया। पति-पत्नी ने निर्णय किया कि दोनों जड़ियों को पीस कर, उनके दो अलग-अलग लड्डू बनाकर राजा को भेंट कर देने चाहिएं। ऐसा निश्चय कर सेठानी ने दोनों जड़ियों को पीसकर, उनके दो अलग-अलग लड्डू बना दिए। दूसरे दिन प्रभात में राजा को भेंट देने के विचार से वे दोनों लड्डू सेठानी ने संभाल कर रख दिए। उधर चंपक और पत्नी अपने-अपने कार्यों में व्यस्त हो गए। दोनों भाई—चंद्रकान्त और सूर्यकान्त घर में आ गए। दोनों ने लड्डूओं को देखा, और इस विचार से दोनों ने एक-एक लड्डू खा लिया कि उनकी मां ने वे उन्हीं के लिए रखे होंगे। साथ ही उन्हें विनोद भी सूझा और उसी आकार के दो मिट्टी के मोदक बनाकर यथास्थान रख दिए और उन पर वस्त्रखण्ड ढांप दिया।

दूसरे दिन चंपक सेठ उन लड्डुओं को ज्यों के त्यों उठाकर राजा के पास ले गया और भेंट अर्पित कर बोला, महाराज! इनमें से एक लड्डू को खाने वाला राजा बनेगा और दूसरे लड्डू को खाने वाले के आंसू मोती बन जाएंगे। राजा ने प्रसन्न होकर वे लड्डू ग्रहण कर लिए। पर लड्डुओं पर से वस्त्र खींचते ही राजा की आंखों में खून उतर आया। उसने चीखते हुए कहा, तुम मिट्टी के मोदक हमारे लिए लेकर आए हो, रंक होकर राजा का उपहास करते हो! सेठ कांप गया। स्थिति उसकी समझ में आ गई। उसने स्पष्ट किया, महाराज ! प्रतीत होता है कि मेरे पुत्रों ने उन लड्डुओं को खा लिया है और उनके स्थान पर मिट्टी के ये मोदक रख दिए हैं!

क्रोधान्ध राजा ने चंपक सेठ और उसकी पत्नी को कारागृह में डाल दिया तथा उसके दोनों पुत्रों के वध का आदेश दे दिया। वधिकों के हृदय फूल से कुमारों का वध करते हुए कांप उठे। उन्होंने दोनों कुमारों से कहा कि वे कहीं दूर भाग जाएं और पुनः इस नगर में न आएं। चंद्रकान्त और सूर्यकान्त दोनों कुमार विजन वनों में भटकते-भटकते आगे बढ़े। वन में रात्रि हो गई। अनुक्रम से जाग कर दोनों भाई रात्रि व्यतीत करने लगे। रात्रि के अंतिम प्रहर में चंद्रकान्त को एक सर्प ने डस लिया। प्रातः जाग कर सूर्यकान्त ने भाई की दशा देखी तो वह सिहर उठा। वैद्य की खोज में वह एक दिशा में दौड़ा। पास ही चंद्रपुरी नाम की एक नगरी थी। वहां पर धनसार नामक एक कपटी और लोभी सेठ के चंगुल में सूर्यकान्त फंस गया। उसकी आंखों से टपकते मोती ही उसके बन्धन का कारण बन गए।

उधर जंगल से कुछ सपेरे गुजरे। उन्होंने चंद्रकांत को मंत्रौषधि से विषमुक्त बना दिया। भाई को खोजता हुआ चंद्रकान्त चंद्रपुरी नगरी में पहुंचा। नगर नरेश का निःसंतान अवस्था में ही देहान्त हो गया था। पंच-दिव्यों ने चंद्रकान्त को राजा चुन लिया। राजपद पर अधिष्ठित होकर चंद्रकान्त ने अपने भाई की खोज में चारों दिशाओं में अपने सैनिक दौड़ा दिए। पर वह भाई को नहीं खोज पाया।

कई वर्ष बीत गए। अपने धर्मनिष्ठ स्वभाव से चंपकसेठ और उसकी पत्नी श्रीपुर के कारागृह से मुक्ति पा गए। भटकते-भटकते चंद्रपुरी पहुंचे और पुण्ययोग से अपने पुत्र राजा चंद्रकान्त के पास पहुंच गए। उधर मोतियों का लोभी धनसार सूर्यकान्त को प्रतिदिन डण्डों से पीटकर मोती बटोरने में लगा था। आखिर उसके पापों का घट भर गया और राजा को रहस्य ज्ञात हो गया। भाई-भाई मिले, माता-पिता पुत्र से मिले। अखण्ड आनन्दनद प्रवाहित हो गया। धनसार को देश-निर्वासन का दण्ड दिया गया।

कालक्रम से चंपकसेठ, उसकी पत्नी, चंद्रकान्त, सूर्यकान्त और उनकी दोनों रानियां—यों छहों भव्य जीवों ने चारित्र की आराधना कर स्वर्ग पद प्राप्त किया। आगे के भवों में ये छहों भव्य जीव मोक्ष प्राप्त करेंगे।

चंपकमाला

विशाला नगरी के राजा ललितांग की पुत्री, स्त्री की चौंसठ कलाओं में निपुण, धर्म और दर्शन में निष्णात तथा सम्यक्त्व-स्नात बाला। युवावस्था में उसका पाणिग्रहण कुणाला नगरी के राजा अरिकेसरी से सम्पन्न हुआ। चंपकमाला ने महाराज अरिकेसरी को भी जिनोपासक बना दिया। राजा चंपकमाला के रूप और गुणों पर मंत्रमुग्ध था। चंपकमाला से विवाह के पश्चात् वह अपनी अन्य रानियों से प्रायः विमुख रहने लगा। पटरानी दुल्लहदेवी ने पति-विमुखता का कारण चंपकमाला को माना। पर वह चंपकमाला का कुछ अहित इसलिए नहीं कर सकती थी कि प्रथम तो वह राजा को प्रिय थी और दूसरे वह विदुषी और बुद्धिमती थी। दुल्लहदेवी ने बहुत चिन्तन-मनन करने के पश्चात् सुलसा नामक एक परिव्राजिका को पर्याप्त धन से प्रसन्न कर चंपकमाला को अपमानित और निन्दित करने का दायित्व दिया। परिव्राजिका इस कार्य को अपने बाएं हाथ का कार्य समझती थी। उसने चंपकमाला से स्नेह-सम्बन्ध स्थापित कर उसे पुत्र-प्राप्ति के लिए कालीदेवी की पूजा करने को प्रेरित किया। पर चंपकमाला तो एक दृढ़धर्मिणी सन्नारी थी। उसने परिव्राजिका का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। परिव्राजिका ने वाक्चातुर्य से चंपकमाला को पुनः तदर्थ मनाना चाहा। इतना ही नहीं, उसने जिनधर्म की निन्दा भी कर दी। इस पर चंपकमाला ने उसे डांट-फटकारकर अपने महल से भगा दिया। इससे सुलसा घायल सर्पिणी के समान बन गई। उसे अपनी तन्त्र-शक्ति पर घमण्ड था। उसने चंपकमाला को सबक सिखाने का निश्चय कर लिया। रात्रि में उसने तन्त्र का प्रयोग किया। तन्त्र ने अपना कार्य किया। जिस समय रात्रि में राजा अरिकेसरी चंपकमाला के महल में आया, तन्त्र के प्रभाव से राजा को एक पुरुष चंपकमाला के कक्ष से निकलता हुआ दिखाई दिया। राजा के देखते ही देखते वह पुरुष आकाश में अदृश्य हो गया। यह देखकर राजा शंकित हो गया कि चंपकमाला के अवैध सम्बन्ध किसी विद्याधर से हैं। राजा का मन खेदखिन्न हो गया। राजा ने उसी दिन से चंपकमाला से देह-सम्बन्ध समाप्त कर दिए। पर वह चंपकमाला के पास प्रतिदिन आता रहा। वह चंपकमाला को इसलिए उपकारिणी मानता था क्योंकि उसने उसे जिनत्व का अमृतपान कराया था। उसी कारण वह प्रतिदिन कुछ समय के लिए चंपकमाला के पास आता था।

चंपकमाला पति के बदले हुए व्यवहार को पढ़ रही थी। वह जानती थी कि सुलसा ने ही तन्त्रबल से उसके पति को उससे विमुख किया है। पर वह सुलसा को तो निमित्त मात्र मानती थी। उसे ज्ञात था, व्यक्ति के सुख-दुख का मूल कारण उसके अपने कर्म ही होते हैं। सब कुछ जानकर भी चंपकमाला मौन भाव से समताशील बनी रही।

सुलसा को इतने-भर से सन्तुष्टि नहीं हुई। उसने नगर-भर में चंपकमाला के चरित्र के सम्बन्ध में अवर्णवाद फैला दिया। चंपकमाला के कानों तक भी यह सूचना पहुंच गई। उसे अपनी निन्दा से खिन्नता न थी, पर उसकी निन्दा से परोक्ष रूप से उसके पति का कुल भी निन्दित हो रहा था। अपने पति को निन्दा से मुक्त करने के लिए चंपकमाला ने अग्नि-परीक्षा देने का संकल्प कर लिया। उसने राजा को भी एतदर्थ सूचना दे दी। राजा ने चंपकमाला से कहा, मैंने स्वयं तुम्हारे कक्ष से विद्याधर को निकलते देखा है, फिर भी तुम अग्नि परीक्षा देने का दुःसाहस कर रही हो? चंपकमाला ने कहा, महाराज! अग्निस्नान स्वयं निर्णय करेगा कि आंखों का देखा हुआ भी मिथ्या हो सकता है। आपके कुल के सम्मान की रक्षा के लिए मेरे पास एकमात्र यही विकल्प शेष है कि मैं अग्नि-परीक्षा दूं।

आखिर राजा ने चंपकमाला के संकल्प से प्रबुद्ध और मान्य सभासदों को परिचित कराया। सबकी

सम्मति से एक विशाल अग्निकुण्ड निर्मित कराया। सुनिश्चित समय पर कुण्ड में अग्नि प्रज्ज्वलित की गई। चंपकमाला अग्निकुण्ड के समीप खड़ी हो गई। परम्परानुसार अग्नि में उड़द के कण डाले गए। उससे अग्नि ने ऐसा विकराल रूप धारण किया कि सर्वत्र अग्नि लीला फैल गई। उपस्थित विशाल जनसमूह को लगा कि यदि तत्क्षण अग्नि को शान्त न किया गया तो क्षण भर में ही वह पूरे नगर को स्वाहा कर देगी। सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गई। वस्तुस्थिति को अनुभव कर चंपकमाला ने गंभीर स्वर में उद्घोषणा की, यदि मैंने तन, मन, वचन से शीलधर्म का पालन किया है तो अग्नि शान्त हो जाए!

चंपकमाला की इस उद्घोषणा के साथ ही अग्नि शान्त हो गई। शासन संरक्षिका देवी ने चंपकमाला पर पुष्पवर्षा की। उपस्थित जनसमुदाय चंपकमाला के शील का चमत्कार देख चुका था। सभी लोग चंपकमाला की जय-जयकार करने लगे।

सुलसा भयभीत होकर चंपकमाला के चरणों पर आ गिरी। उसने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। राजा ने उसे मृत्युदण्ड दिया। पर चंपकमाला ने सुलसा के पश्चात्ताप से निर्मल बने हृदय को देखकर उसे क्षमादान दिया। दुल्लहदेवी को भी अपनी भूल का अनुभव हो चुका था। उसने भी चंपकमाला और राजा से अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी।

चंपकमाला का सुयश दशदिक् में व्याप्त हो गया। राजा का प्रेम उस पर श्रद्धा की कोटि तक जा पहुंचा। कालक्रम से चंपकमाला ने दो पुत्रों और एक पुत्री को जन्म दिया। राजकुमार और राजकुमारी अनुक्रम से शिक्षित-दीक्षित होकर युवा हुए। महाराज अरिकेसरी के मन में संकल्प जगा कि वे अपने पुत्र को राज्य-भार प्रदान कर दीक्षा ग्रहण करें। सम्यक् संकल्प सुफलित हुआ। एक केवली मुनि नगर में पधारे। महाराज अरिकेसरी पुत्र को राज्यभार प्रदान कर दीक्षित हो गए। चंपकमाला ने भी पति का अनुगमन किया और उसने भी प्रव्रज्या धारण कर ली। निरतिचार संयम की आराधना से राजर्षि अरिकेसरी और साध्वी चंपकमाला ने मोक्ष प्राप्त किया। —सुपार्श्वनाथ चरित्र / जैन कथा रत्न कोष भाग 6 / बालावबोध गौतमकुलक

चंपक सेठ

पांचाल देश के काम्पिल्यपुर नगर के श्रेष्ठी त्रिविक्रम की एक दासी पुष्पश्री का पुत्र। दासी-पुत्र होकर भी चंपक अपने समय का विख्यात धनकुबेर व्यापारी बना। यह उसकी श्रमनिष्ठा और बुद्धिकौशल का तो परिचायक था ही, साथ ही उसके पूर्वजन्म के पुण्यों को भी सहज सिद्ध करता था। जन्म से ही चंपक को एक प्राणघातक शत्रु की कुटिल छाया के तले जीना पड़ा, पर पूर्वजन्म के पुण्यों के कारण वह शत्रु के प्रत्येक प्रहार से रक्षित बनता रहा, और उसका शत्रु ही अन्ततः अपने ही प्रहार का शिकार होकर काल का ग्रास बन गया। चंपक का वह जन्मजात शत्रु था चम्पानगरी का धनी सेठ वृद्धदत्त। वृद्धदत्त के पास अपार वैभव था। कहते हैं कि छियानवे करोड़ स्वर्णमुद्राएं तो उसने भूमि में छिपाकर रखी थीं। दान-पुण्य से उसका दूर का भी रिश्ता नहीं था। वह निःसंतान था और उसे पुत्र की कामना मात्र इसलिए थी कि वह पुत्र के साथ मिलकर और अधिक धन कमा सके। परन्तु उसे पुत्र की प्राप्ति नहीं हुई। वृद्धदत्त की पत्नी कौतुकवती चाहती थी कि उसे संतान की प्राप्ति हो, फिर भले ही वह संतान कन्या ही हो।

एक बार रात्रि में वृद्धदत्त को उसकी कुलदेवी ने दर्शन दिए और उससे कहा, सेठ! तुम्हारे धन का उपभोग करने वाला बालक शीघ्र ही एक दासी के उदर से जन्म लेने वाला है। सेठ ने पूछा, वह कौन दासी है? कुलदेवी ने बताया, वह काम्पिल्यपुर नगर के सेठ त्रिविक्रम की दासी पुष्पश्री है। उसके गर्भ में जो जीव पल रहा है, वही तुम्हारी सम्पत्ति का उपभोक्ता होगा। कहकर कुलदेवी अन्तर्धान हो गई।

कुलदेवी की अग्रिम सूचना से सेठ वृद्धदत्त बहुत चिन्तित हो गया। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया कि वह पुत्र को जन्म देने से पूर्व ही दासी पुष्पश्री को मार डालेगा, जिससे न रहेगा बांस और न बजेगी बांसुरी। ऐसा विचार कर वृद्धदत्त ने व्यापार के बहाने काम्पिल्यपुर के लिए प्रस्थान कर दिया। काम्पिल्यपुर पहुंचकर उसने सेठ त्रिविक्रम से मित्रता स्थापित कर ली। कुछ दिन साथ रहने के बाद जब वृद्धदत्त विदा होने लगा तो सुनियोजित योजनानुसार उसने त्रिविक्रम को बहुमूल्य भेंट प्रदान की। प्रत्युत्तर में त्रिविक्रम ने भी वृद्धदत्त को भेंट में कुछ देना चाहा। इस पर वृद्धदत्त ने कहा, मित्र! कुछ देना ही चाहते हो तो अपनी दासी पुष्पश्री मुझे दे दीजिए! इसने सेवाभाव से मेरा मन मोह लिया है। त्रिविक्रम ने कहा, मित्र! मैं आपके कथन को अवश्य पूरा करूंगा, पर कुछ दिन बाद! क्योंकि पुष्पश्री गर्भ से है। आजकल में ही वह संतान को जन्म देने वाली है। प्रसव के पश्चात् आप पुष्पश्री को प्राप्त कर सकते हैं। इस पर सेठ वृद्धदत्त ने कहा, मित्र! पुष्पश्री का वैसा ही ध्यान मैं रखूंगा, जैसा आपके घर में रखा जाता है। आप निश्चिन्त रहिए और पुष्पश्री को भेंट में मुझे दे दीजिए! त्रिविक्रम ने वृद्धदत्त की बात स्वीकार कर ली और अपनी दासी को वृद्धदत्त को भेंट कर दिया।

मन ही मन प्रसन्न होते हुए वृद्धदत्त ने काम्पिल्यपुर से चम्पानगरी के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में ही उसने पुष्पश्री का गला घोंटकर उसकी हत्या कर दी और शीघ्र कदमों से आगे बढ़ गया। वह कुलदेवी की बात को असत्य सिद्ध कर अपने भीतर खुशी से समा नहीं पा रहा था। पर यह सच है कि मारने वाले से बचाने वाला सदैव बलशाली होता है। सेठ के जाते ही प्राणहीन पुष्पश्री के गर्भ से एक शिशु बाहर आकर गिरा। उसका पालन-पोषण उज्जयिनी नगरी की रहने वाली एक वृद्धा के घर पर हुआ। उसका नाम चंपक रखा गया। योग्य वय में उसे विद्यालय में प्रवेश दिलाया गया। एक बार सहपाठियों ने उसके कुलगोत्र पर अंगुलियां उठाईं तो उसने वृद्धा से अपना परिचय पूछा। वृद्धा ने अथान्त अक्षरशः उसका परिचय कह दिया। इससे चंपक के मन में यह भावना प्रबल बनी कि जन्म से भले ही वह दासीपुत्र है पर अपने कर्म से वह सिद्ध कर देगा कि व्यक्ति जन्म से नहीं बल्कि कर्म से ही श्रेष्ठ होता है।

अध्ययन पूर्ण कर चंपक ने व्यवसाय प्रारंभ किया। श्रम, निष्ठा और प्रामाणिकता के बल पर उसका व्यवसाय चमक उठा। कुछ ही समय में उसकी गणना नगर के प्रमुख व्यवसाइयों में होने लगी।

उधर वृद्धदत्त की पत्नी ने एक पुत्री को जन्म दिया जिसका नाम तिलोत्तमा रखा गया। तिलोत्तमा ने भी शिक्षा-दीक्षा पूर्ण कर युवावस्था में प्रवेश किया। किसी समय उज्जयिनी के किसी श्रेष्ठी के पुत्र की बारात चम्पानगरी के निकटस्थ ग्राम में आई। चंपक भी बारात में आया था। वृद्धदत्त के कन्यापक्ष से मैत्री सम्बंध थे, सो उसे भी आमंत्रित किया गया था। वृद्धदत्त की दृष्टि चंपक पर पड़ी तो उसने उसे अपनी पुत्री के सर्वथा योग्य पाया। वृद्धदत्त ने चंपक से उसका कुल-गोत्र पूछा। चंपक्र ने बिना कुछ छिपाए अपना परिचय सेठ को बता दिया। सेठ को लगा कि वह हत्या का दोषी बनकर भी कुलदेवी के कहे को मिथ्या नहीं कर पाया है। उसने पुनः एक षड्यंत्र रचा और एक पत्र लिखकर चंपक को दिया। उसने कहा, वह उसके घर जाए और उसके भाई साधुदत्त से मिले। साधुदत्त उसके लिए एक ऐसे व्यापार का प्रबन्ध करेगा, जिसमें उसे अल्पकाल में ही करोड़ों का लाभ होगा। सरल चित्त चंपक सेठ का पत्र लेकर चम्पानगरी पहुंचा। सेठ के घर गया तो संयोग से उसकी मुलाकात तिलोत्तमा से हो गई। तिलोत्तमा ने पत्र पढ़ा तो वह कांप गई कि उसके पिता एक सर्वगुण सम्पन्न युवक की हत्या करना चाहते हैं। साथ ही तिलोत्तमा चंपक के रूप और गुणों पर भी मुग्ध हो चुकी थी। उसने पिता के पत्र को फाड़ दिया और पिता की ही शैली में एक अन्य पत्र

तैयार किया, जिसमें लिखा कि उक्त युवक के साथ शीघ्र ही तिलोत्तमा का पाणिग्रहण कर दिया जाए!

आखिर वैसा ही हुआ। वृद्धदत्त के भाई साधुदत्त ने भाई का पत्र पढ़कर शीघ्रातिशीघ्र अपनी भतीजी तिलोत्तमा का विवाह चंपक के साथ सम्पन्न कर दिया। चंपक तिलोत्तमा के साथ सुखपूर्वक जीवन यापन करने लगा। सेठ गांव से लौटा तो वस्तुस्थिति से परिचित बनकर सिर धुनकर रोने लगा। पर उसने हिम्मत नहीं हारी। उसने अपनी पत्नी को आदेश दिया कि वह विषमिश्रित आहार देकर चंपक को मार्ग से हटा दे। परन्तु तिलोत्तमा ने अपने माता-पिता की कोई चाल सफल न होने दी। सेठ ने कुछ पहलवान चंपक की हत्या के लिए नियुक्त कर दिए। परन्तु एक दिन चारपाई पर सेठ को सोते देखकर उसे चंपक समझकर पहलवानों ने मार डाला। षड्यन्त्रकारी स्वयं अपने ही षड्यन्त्र का शिकार होकर काल-गाल में समा गया।

चंपक तिलोत्तमा के साथ रहकर वृद्धदत्त की अकूत सम्पत्ति का उपभोग करने लगा। परन्तु वह केवल उपभोग ही नहीं करता था, दान और पुण्य में भी प्रभूत धन अर्पित करता था। पिछले जन्म में किए गए दान के फलस्वरूप उसे वर्तमान जन्म में अपार संपदा मिली थी। इस सत्य का उसे भलीभांति ज्ञान था। वर्तमान जन्म में भी उसने दया-दान के फलस्वरूप महान पुण्यों का संचय किया। आयुष्य पूर्ण कर वह देवगति में गया। देव गति से च्यव कर मानव जन्म पाकर वह मोक्ष जाएगा। —सोमसुन्दर सूरि (15वीं शती)

चंपतराय जैन (बैरिस्टर)

विगत सदी के पूर्वार्ध के एक जैन वकील, जिन्होंने जैनधर्म और जैन संस्थाओं के विकास के लिए अनेक रचनात्मक कार्य किए।

आपके पिता श्री चन्द्रमल जी देहली में कूचा परमानन्द में रहते थे। आपके माता-पिता जिनोपासक थे और जैनधर्म तथा जैन नियमोपनियमों पर उनकी दृढ़ आस्था थी। आपके पिता जी ने आजीवन दही का परित्याग कर दिया था। एक बार वे रुग्ण हुए और डॉक्टर ने उन्हें दही खाने के लिए कहा। उन्होंने डॉक्टर से कहा, मुझे रुग्णावस्था में ही मृत्यु स्वीकार है, पर अपने त्याग को खण्डित करना स्वीकार नहीं।

चंपतराय के जीवन में भी माता-पिता के धार्मिक संस्कार यथारूप प्रकट हुए।

बचपन में ही आप अपने वंशज सोहनलाल बांकेलाल के यहां गोद चले गए। वे बहुत धनी और धर्मात्मा थे। उन्होंने आपकी शिक्षा का उच्चस्तरीय प्रबन्ध किया। सेंट स्टीफन कालेज की पढ़ाई की पूर्णता पर बैरिस्टरी पढ़ने के लिए आपको इंग्लैंड भेजा गया। 1897 में बैरिस्टरी की पढ़ाई पूर्ण कर आप स्वदेश लौट आए।

आयु के साथ-साथ जैन धर्म के संस्कार भी आप में परिपक्व होते गए। आपने झूठे मुकदमे न लेने का प्रण किया था। अदालत में आपने सदैव सत्य को सत्य कहा और असत्य को परास्त किया। आपने अपनी बुद्धिमत्ता से कई लोगों को फांसी के फन्दे से भी बचाया था। जैन जगत और भारतीय समाज में आपका काफी यश और सम्मान था।

आप कुछ समय तक (1922 में) लखनऊ दिगम्बर जैन महासभा अधिवेशन के अध्यक्ष भी रहे। बाद में आपने दिगम्बर जैन परिषद् का गठन किया।

जैन तीर्थ श्री सम्मेद शिखर के विकास और संरक्षण में आपने काफी योगदान दिया और अपनी आवाज लंदन प्रिवी कौंसिल तक पहुंचाई। लंदन में ही आपने ऋषभ जैन लायब्रेरी की स्थापना भी की। आपने 'जैन लॉ' का निर्माण कराया और देश-विदेश में जैन धर्म पर आपने कई बार भाषण दिया। जैन पुरातात्विक खोज और जैन साहित्य के विकास में भी आपका योगदान सदैव स्मरणीय रहेगा।

चंपा सेठानी

राजगृह नगर की एक समृद्ध महिला। (देखिए-कृतपुण्य)

चतुरंगचंद्र

कंचनपुर नरेश। एक न्यायनीति सम्पन्न, भक्त हृदय और श्रमणोपासक सम्राट्। उसने भगवान महावीर स्वामी से श्रावक के द्वादशव्रत ग्रहण किए थे, जिनका वह पूर्ण यत्न और समर्पित मन से पालन करता था।

एक दिन संध्या-सामायिक के लिए राजा अपने साधना कक्ष में पहुंचा। घृतदीप की सात्विक रोशनी कक्ष में व्याप्त थी। राजा ने सामायिक ग्रहण की और निश्चल देह और एकाग्र मन से कायोत्सर्ग में खड़े हो गए। उन्होंने अपनी दृष्टि को घृतदीप की लौ पर सुस्थिर करते हुए संकल्प किया कि जब तक लौ जलती रहेगी, तब तक वे अखण्ड समाधि में तन्मय बने रहेंगे। इस वज्र संकल्प के साथ सुमेरु की तरह अडोल बनकर राजा खड़े हो गए। एक प्रहर बीतने को आया, दीप का घृत चुकने लगा। कक्ष परिचारिका दासी ने राजा की साधना में विघ्न उत्पन्न न हो, इस विचार से धीरे से वहां जाकर दीप को पुनः घृत से पूर्ण कर दिया। दासी के इस कार्य को देखकर राजा अपने मन में किंचित् भी विचलित नहीं हुए। उनका संकल्प सुदृढ़ से सुदृढ़तर बनता गया। जब-जब घृत चुकने को आता, दासी दीप को घृत से पूर्ण कर देती। प्रहरों पर प्रहर बीत गए। राजा को विशेष साधना में तन्मय जानकर राजमहल के किसी भी सदस्य ने उनकी साधना में विघ्न उपस्थित करना उचित नहीं समझा। आखिर अपलक / अडोल समाधि में रहते हुए ही राजा देहोत्सर्ग कर स्वर्गस्थ हो गए।

कहते हैं कि महाराज चतुरंगचंद्र का थोड़ा आयुष्य और शेष होता तो वे जिस भावभूमि पर विहार कर रहे थे, वहां से सीधे मोक्ष में जाते। आयुष्य पूर्ण कर राजा बारहवें देवलोक में गए। वहां से आयुष्य पूर्ण कर एक भव मनुष्य का लेकर निर्वाण को प्राप्त करेंगे।

चतुर्मुख

वर्तमान अवसर्पिणी काल के सप्तम नारद। (देखिए-नारद)

चमर

भगवान सुमतिनाथ के सौ गणधरों में से प्रथम।

चाणक्य

एक विद्वान और चतुर राजनीतिज्ञ ब्राह्मण, जिसका नीति सम्बन्धी लिखा हुआ 'चाणक्य नीति' नामक ग्रन्थ आज भी विश्व प्रसिद्ध है। वह इतना बुद्धिमान और चतुर ब्राह्मण था कि साधनहीन होते हुए भी उसने नन्दराज्य को उखाड़कर चंद्रगुप्त नामक युवक को राजपद पर अधिष्ठित किया। वही इतिहास प्रसिद्ध चंद्रगुप्त मौर्य भारतवर्ष के सबसे शक्तिशाली राजाओं में परिगणित होता है।

चाणक्य का जन्म चणक ग्रामवासी एक विद्वान ब्राह्मण के घर में हुआ। चाणक्य के पिता चणी ब्राह्मण होते हुए भी निर्ग्रन्थ परम्परा के श्रावक थे। उनकी माता भी श्रमणोपासिका थी। जन्म से ही चाणक्य के मुख में बत्तीस दांत थे। एक बार एक जैन आचार्य चणी के घर पर रुके। चणी ने अपने पुत्र का भविष्य आचार्य श्री से पूछा। आचार्य श्री ने फरमाया—जन्म से ही जिस शिशु के मुख में पूरे दांत हों, वह राजा बनता है। पुत्र का भविष्य सुनकर पिता प्रसन्न नहीं हुआ। उसकी मान्यता थी कि राजा मरकर नरक में

जाता है। ब्राह्मण नहीं चाहता था कि उसके पुत्र को नरक में जाना पड़े। उसने ललाट-रेखा को मिटाने के लिए पुत्र के दांतों को घिसा दिया। वैसा करके उसने पुनः आचार्य से पुत्र का भविष्य पूछा तो आचार्य श्री ने कहा, अब यह राजा तो नहीं बनेगा, पर देश का भाग्य विधाता अवश्य बनेगा। राजा भी इसकी आज्ञा मानेगा।

कालक्रम से चाणक्य युवा हुआ। शिक्षा-दीक्षा पूर्ण होने पर एक ब्राह्मण कन्या से उसका विवाह हुआ। पर चाणक्य की आर्थिक स्थिति बहुत दयनीय थी। उसी कारण पीहर में विवाह के प्रसंग पर उसकी पत्नी को तिरस्कृत होना पड़ा। इस से दुखित होकर चाणक्य नन्द राजा के पास दान पाने की आशा में गया। पर संयोग से राजा ने उसे अपमानित कर बिना कुछ दिए ही भगा दिया। राजा के तिरस्कार ने चाणक्य में प्रतिशोध की आग जला दी। उसने नन्द साम्राज्य के विनाश का संकल्प कर लिया। दर-बदर भटकते हुए चाणक्य मोरपोषक गांव में गया। वहां ग्राम के अधिपति की पुत्री को गर्भावस्था में चंद्रपान का दोहद उत्पन्न हुआ था। परन्तु दोहद पूर्ण न हो पाने से वह महिला दुर्बल हो गई थी। ग्राम-अधिपति से इस शर्त पर चाणक्य ने दोहद पूर्ति कराई कि उसकी पुत्री से उत्पन्न संतान पर उसका अधिकार होगा। कालक्रम से ग्राम-अधिपति की पुत्री पुत्रवती बनी। पुत्र का नाम चंद्रगुप्त रखा गया। चंद्रगुप्त में बचपन से ही राजा के गुण प्रकट होने लगे थे। वह बालकों को एकत्रित कर लेता और उनका राजा बनकर न्याय करता। उधर चाणक्य पुनः उस गांव में आया और चंद्रगुप्त को अपने साथ ले गया। उसने चंद्रगुप्त को शिक्षित-दीक्षित किया। चंद्रगुप्त युवा हो गया। युवा चंद्रगुप्त के साथ मिलकर चाणक्य ने एक छोटी-सी सेना तैयार की और पाटलिपुत्र पर आक्रमण कर दिया। नन्दराजा की विशाल वाहिनी के समक्ष चंद्रगुप्त की सेना के पैर शीघ्र ही उखड़ गए। चाणक्य और चंद्रगुप्त जान बचाकर भाग खड़े हुए।

एक वृद्धा से चाणक्य को शिक्षा-सूत्र मिला कि सीधे राजधानी पर आक्रमण करने के स्थान पर पहले सीमान्त गांवों पर आक्रमण किया जाए। छोटे-छोटे ग्रामों को विजय करते हुए राजधानी पर विजय की जाए। उसी अवधि में हिमालय प्रदेशीय पर्वत नामक एक राजा से चाणक्य ने मैत्री स्थापित की। पर्वत की सहायता और चंद्रगुप्त के शौर्य के बल पर चाणक्य ने पाटलिपुत्र पर विजयी ध्वज फहरा दिया। नन्दराजा धर्मद्वार से अपने प्राणों की भीख मांगकर अन्यत्र चला गया।

चाणक्य की नीतियों और दूरदर्शिता पूर्ण निर्देशन से चंद्रगुप्त ने पाटलिपुत्र को राजधानी बनाकर सम्पूर्ण भारतवर्ष पर शासन किया। चाणक्य की नीतियों के कारण ही चंद्रगुप्त के शासन काल में भारत 'सोने की चिड़िया' नाम से विश्व में विख्यात हुआ।

भारतवर्ष के महामंत्री के गरिमामयी पद पर रहते हुए भी चाणक्य ने अत्यन्त सादगी का जीवन जीया। वह एक झोंपड़ी में रहता था और झोंपड़ी में जीवनोपयोगी अत्यन्त अल्प साधन मौजूद थे। चंद्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र बिन्दुसार राजगद्दी पर बैठा। तब भी चाणक्य महामंत्री था। कुछ विद्वेषी लोगों ने बिन्दुसार के हृदय में चाणक्य के प्रति विभ्रम उत्पन्न कर दिया। बिन्दुसार की दृष्टि को पहचानकर चाणक्य विरक्त हो गया और उसने जंगल में जाकर आमरण अनशन कर लिया। बिन्दुसार को अपनी भूल का अनुभव हुआ और वह चाणक्य को लौटाने के लिए जंगल में गया पर चाणक्य ने लौटने से इन्कार कर दिया। अनशन-पूर्वक देहोत्सर्ग कर चाणक्य महर्द्धिक देव बना।

—उपदेश पद-गाथा 7, वृत्ति

चामुण्डाराय

ई. की 10वीं सदी का एक प्रतिभाशाली, शक्तिशाली और धर्मप्राण महामंत्री और सेनापति। चामुण्डाराय

गंगवंश के राजा राचमल्ल सत्यवाक्य चतुर्थ का महामंत्री था। वह बहुत बुद्धिमान और कुशल योद्धा था। इसीलिए मंत्रीपद के साथ ही सेनापति पद भी उसके पास था। उसने कई युद्धों में अपना अद्भुत पराक्रम दिखाया। उसके नाममात्र से शत्रुदल में चिन्ता और भय व्याप्त हो जाता था। गंग वंश के तीन राजाओं के राज्यकाल में चामुण्डराय ने मन्त्रीपद का दायित्व निर्वहन किया।

चामुण्डाराय की माता का नाम काललदेवी था, जो जैन धर्म की अनन्य अनुरागिणी थी। उस युग के विद्वान जैन मुनि श्री नेमिचंद्राचार्य का चामुण्डाराय पर विशेष प्रभाव रहा।

चामुण्डाराय जैन धर्म का अनन्य उपासक था। जिन शासन की उन्नति के उसने कई कार्य किए। उसने कई जिनालयों का निर्माण कराया। उसके द्वारा निर्मित कराई गई गोम्मटेश्वर बाहुबली की 57 फुट की प्रतिमा शिल्पकला का अद्भुत नमूना है, जो विश्व के आश्चर्यों में गिनी जाती है। यह प्रतिमा विन्ध्यगिरि नामक पर्वत पर स्थित है, जो कर्नाटक के हासन जिले में है। इस प्रतिमा की भारी ख्याति है। विश्व के कोने-कोने से लोग इसे देखने के लिए आते हैं। इस प्रतिमा की अपनी कुछ विशेषताएं हैं। इस पर कभी धूल नहीं जमती, इसकी छाया नहीं पड़ती और इस पर पक्षी नहीं बैठते।

ई.स. 990 के आस-पास चामुण्डाराय का स्वर्गवास हुआ।

चित्त

श्वेताम्बिका नगरी का धर्मनिष्ठ और नीति कुशल महामात्य, जिसके कुशल उपक्रम से राजा प्रदेशी नास्तिक से आस्तिक और हिंसक से अहिंसक बना था। (देखिए-राजा प्रदेशी)

चित्त मुनि

उत्तराध्ययन और त्रिषष्ठिशलाकापुरुष चरित्र के अनुसार एक निरतिचार संयम के आराधक मुनीश्वर। उन्होंने मोक्षपद प्राप्त किया था। (देखिए-ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती)

चित्रगति

चक्रवर्ती सम्राट सूरतेज का पुत्र। विनीत और साहसी राजकुमार। कालक्रम से चित्रगति युवा हुआ। अनेक कलाओं और विद्याओं में वह निपुण बन गया। वह करुणाशील युवक था। परोपकार में उसे विशेष आनन्द की प्राप्ति होती थी। उसने अपने जीवन में परोपकार के कई कार्य किए। पूर्वजन्मों के स्नेह के कारण संयोगों की संरचना हुई और उसका विवाह शिवमंदिर नगर के राजा अनंगसिंह की पुत्री रत्नवती के साथ हुआ। अनन्य प्रीतिभाव को जीते हुए चित्रगति और रत्नवती ने श्रावक धर्म धारण किया। कालक्रम से चित्रगति ने राजपद का उपभोग किया और अंतिम वय में रत्नवती सहित उसने जिनदीक्षा ग्रहण की। विशुद्ध चारित्र की आराधना करते हुए वे दोनों महेन्द्रकल्प देवलोक में देव पद के अधिकारी बने। प्रलम्ब काल तक उन्होंने स्वर्गीय सुखों का उपभोग किया। देवभव से पांचवें भव में वे दोनों क्रमशः अरिष्टनेमि और राजीमती के रूप में जन्मे। अरिष्टनेमि जैन धर्म के बाइसवें तीर्थंकर थे।

चित्रलेखा

कनकावती नगर की राजकुमारी और वच्छराज की परिणीता। (देखिए-हंसराज)

चित्रश्रेणी

कलिंग देश के वसन्तपुर नगर का पितृभक्त, सद्गुणी और सुरूप राजकुमार।

चित्रश्रेणी के पिता वीरश्रेणी वसन्तपुर के नरेश थे। एक दिन प्रजा ने राजा से शिकायत की कि राजकुमार चित्रश्रेणी की सुरूपता नगर की कन्याओं और कुलवधुओं के अमर्यादित आचरण का कारण बन रही है। इसलिए राजकुमार के नगर में स्वच्छन्द विहार पर प्रतिबन्ध लगाया जाए।

प्रजा को पुत्रवत् प्रेम करने वाले नरेश वीरश्रेणी ने अपने निर्दोष पुत्र चित्रश्रेणी को देशनिर्वासन का आदेश दे दिया।

चित्रसेन ग्रामों-नगरों में परिभ्रमण करते हुए रत्नपुर नामक नगर में पहुंचा। वहां भी उसका रूप आकर्षण का केन्द्र बन गया। वहां की राजकुमारी पद्मावती ने यह प्रण किया था कि वह उसी युवक से विवाह करेगी, जो रूप में उससे इक्कीस होगा। फलतः चित्रश्रेणी के रूप पर वह मुग्ध हो गई। उसके पिता ने चित्रश्रेणी के साथ उसका विवाह सम्पन्न कर दिया। नरेश की प्रार्थना पर चित्रश्रेणी रत्नपुर में ही रहने लगा।

भगवान महावीर अपने धर्मसंघ के साथ कलिंग देश के कुमारी पर्वत पर समवसृत हुए। पूरे देश में प्रभु के पदार्पण का सुसंवाद व्याप्त हो गया। चित्रश्रेणी भी प्रभु के दर्शनों के लिए गया। उसके पिता महाराज वीरश्रेणी भी प्रभु की परिषद् में उपस्थित थे। वीरश्रेणी प्रभु की देशना सुनकर मुनिदीक्षा लेने को तत्पर हो गए। उन्होंने पुत्र चित्रश्रेणी को राजपद देकर आर्हती प्रव्रज्या अंगीकार कर ली।

चित्रश्रेणी और पद्मावती ने श्रावक धर्म की दीक्षा धारण की।

कालान्तर में चित्रश्रेणी और पद्मावती ने भी निर्ग्रन्थ धर्म में प्रवेश कर आत्मकल्याण किया।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 1)

चित्रसेन

कलिंग देश की राजधानी वसन्तपुर के राजा वीरसेन का पुत्र। अपूर्व और अद्भुत रूप-गुण सम्पन्न राजकुमार। कहते हैं कि चित्रसेन कामदेव के समान रूपवान था। जब वह नगर में घूमने निकलता तो कुलीन बालाएं और विवाहित नारियां कुलधर्म और मान-मर्यादा को भूलकर एकटक उसे देखने लगती थीं। प्रतिदिन ऐसा ही होने लगा तो नगर के बड़े-बूढ़े नागरिक चिन्तित हुए। उन्होंने मिलकर उक्त समस्या राजा के समक्ष रखी। राजा भी गंभीर हो गया। उसने नागरिकों को आश्वस्त कर लौटा दिया। राजा ने गहन गंभीर चिन्तन के पश्चात् अपने पुत्र को देश निर्वासन का आदेश दे दिया। उस अद्भुत और दुखद आदेश के पीछे राजा की एक हिताकांक्षा यह थी कि देशाटन से उसका पुत्र अपने भाग्य की परीक्षा भी करेगा।

पिता के आदेश को शिरोधार्य कर चित्रसेन अपने नगर से चल दिया। मंत्रीपुत्र रत्नसार राजकुमार का मित्र था। सो उसने भी मित्र का अनुगमन किया। दोनों मित्र कई वर्षों तक देश-विदेशों में भ्रमण करते रहे। एक जगह एक देवमंदिर में एक प्रस्तर-पुतली को देखकर राजकुमार का हृदय अनुराग से भर गया। एक ज्ञानी मुनि से उसने अपने हृदय की स्थिति निवेदित की। इस पर मुनि ने स्पष्ट किया कि वह प्रस्तर-पुतली पद्मपुर नगर के महाराज पद्मरथ की पुत्री पद्मावती की प्रतिमा है। पद्मावती और चित्रसेन पूर्वजन्म में हंस-युगल थे। इसीलिए पद्मावती की प्रतिमा को देखते ही चित्रसेन उस पर अनुरक्त हो गया है। चित्रसेन की प्रार्थना पर मुनि ने उसका पूर्वभव उसे इस प्रकार सुनाया—

चित्रसेन! पूर्वजन्म में तुम हंस थे और पद्मावती हंसिनी थी। तुम्हारे दो नवजात पुत्र भी थे। एक बार तुम पुत्रों के लिए जलाशय से जल लेने गए तो सहसा वन में आग लग गई। हंसिनी तुम्हारी प्रतीक्षा करती रही, पर जलाशय दूर होने के कारण तुम समय पर नहीं पहुंच सके। इससे हंसिनी के हृदय में नर के प्रति

वितृष्णा के भाव पैदा हो गए। वह अपने बच्चों के साथ अग्नि में जल मरी। बाद में तुम वहां पहुंचे और पत्नी तथा पुत्रों को जलते देखकर तुमने भी अग्नि में कूदकर प्राण त्याग दिए। वहां से आयुष्य पूर्ण कर हंसिनी राजकुमारी पद्मावती बनी है और हंस प्राण त्याग कर तुम्हारे रूप में उत्पन्न हुआ है।

अपना पूर्वजन्म सुनकर चित्रसेन का अनुराग भाव शतगुणित हो गया। वह अपने मित्र रत्नसार के साथ पद्मपुर नगर में पहुंचा। उसने हंस-हंसिनी के पूर्वजन्म को स्पष्ट करने वाले तीन चित्र बनाए और किसी तरह राजकुमारी तक पहुंचा दिए। अद्भुत चित्रों को देखकर पद्मावती को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। परिणामतः वह भी अपने पूर्वजन्म के पति से मिलने के लिए लालायित हो गई। रत्नसार राजकुमारी से मिला और उसे स्वयंवर आयोजित करने के लिए योजना समझाई। आखिर राजकुमारी का स्वयंवर आयोजित किया गया। अंतःप्रेरणा से ही साधारण वेश में उपस्थित चित्रसेन को राजकुमारी ने पहचान लिया और उसके गले में वरमाला डाल दी। उपस्थित राजाओं और राजकुमारों ने इस बात का विरोध किया कि राजकुमारी ने एक साधारण युवक को वर रूप में चुनकर उनका अपमान किया है। इस पर रत्नसार ने चित्रसेन का राजकुमार के रूप में परिचय दिया तो सभी ने मौन साध लिया।

कुछ दिन पद्मपुर में बिताकर चित्रसेन और रत्नसार पद्मावती के साथ अपने नगर में लौट आए। पिता के बाद चित्रसेन राजा बना। उसने न्यायनीतिपूर्वक प्रजा का पालन किया और अंतिम वय में पद्मावती के साथ प्रव्रजित होकर देवलोकगमन किया। कालक्रम से वे दोनों मोक्ष में जाएंगे।

—चित्रसेन-पद्मावती चरित्र

चित्रसेना

कनकावती नगर की राजकुमारी और वच्छराज की परिणीता। (देखिए-हंसराज)

(क) चित्रांगद

एक वृद्ध चित्रकार। (देखिए-कनकमंजरी)

(ख) चित्रांगद

महाराज शान्तनु का रानी सत्यवती से उत्पन्न पुत्र। (देखिए-सत्यवती)

चिलातीपुत्र

राजगृह निवासी धन्ना सार्थवाह के घर में काम करने वाली चिलाती नामक दासी का पुत्र। जब वह बारह-तेरह वर्ष का हुआ तो सेठ ने अपनी अल्पवयस्का पुत्री सुषमा को खिलाने और खेलाने का कार्यभार उसे सौंप दिया। सुषमा और चिलातीपुत्र का पारस्परिक अनुराग प्रगाढ़ हो गया। चिलातीपुत्र दुर्व्यसनी होने के कारण अवसर पाकर सुषमा से कुचेष्टाएं भी कर देता था। सेठ द्वारा देख लिए जाने पर चिलातीपुत्र को डांट-फटकारकर घर से निकाल दिया गया। यहां-वहां भटकता हुआ वह राजगृह के बाहर सिंहपल्ली नामक चोरों की पल्ली में पहुंच गया। पल्ली का स्वामी विजय नामक चोर पांच सौ चोरों का सरदार था और उसका अपना इकलौता पुत्र मर चुका था। उसने चिलातीपुत्र को अपना पुत्र बना लिया और समस्त चौर्य कलाओं में शीघ्र ही उसे सिद्धहस्त बना दिया। विजय चोर की मृत्यु के पश्चात् चिलातीपुत्र चोरों का सरदार बन गया। वह विजय चोर से भी बड़ा चोर बना। शीघ्र ही उसका आतंक मगध प्रदेश में व्याप्त हो गया।

एक बार उसे सुषमा की स्मृति हो आई। उसने चोरों को बुलाकर हिदायत दी कि रात्रि में राजगृहवासी

धन्ना सेठ के घर चोरी की जाएगी और उसके धन के साथ-साथ उसकी पुत्री सुषमा का अपहरण भी किया जाएगा। चोरी में प्राप्त समस्त धन तुम्हारा होगा और अकेली सुषमा मेरी होगी। तय योजनानुसार धन्ना के घर चोरी की गई। चिलातीपुत्र ने सोई हुई सुषमा को कन्धे पर उठा लिया। पर उसी समय धन्ना सेठ की आंख खुल गई। चोर भागे। धन्ना ने अपने पांचों पुत्रों और कुछ राज्य कर्मचारियों के साथ चोरों का पीछा किया। कुछ ही दूर जाकर चोरों को लगा कि वे पकड़ लिए जाएंगे। धन की गठड़ियां डालकर वे भाग गए। आरक्षियों ने धन बटोरा और लौट गए। पर धन्ना और उनके पुत्रों के लिए तो सुषमा को प्राप्त करना लक्ष्य था। वे पूरे वेग से चिलातीपुत्र के पीछे भागते रहे। जंगल में पहुंचकर चिलातीपुत्र के पांव जवाब देने लगे। सेठ और उसके पुत्र उसके निकट ही पहुंच चुके थे। ऐसे में उसने सुषमा का सर काट दिया और उसे लेकर तीव्र वेग से भागा। सुषमा का धड़ देखकर सेठ और उसके पुत्रों के हौंसले पस्त हो गए। वे वहीं रुक गए।

चिलातीपुत्र भागा जा रहा था। सहसा उसे विचार आया कि यह भी कोई जीवन है ! भागते रहो, पल-पल भय के साए में जीओ! तभी एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ एक श्रमण पर उसकी दृष्टि पड़ी। उसने विचार किया—सच्चा जीवन तो यह है! कितनी शान्ति है ! वह मुनि के पास गया। तलवार और सुषमा का सर एक ओर रखकर उसने मुनि से शान्ति का उपाय पूछा। रक्त से सने शरीर वाले युवक को देखकर मुनि को लगा कि एक भटकी हुई आत्मा मार्ग की तलाश में है। मुनि ने उसे शान्ति का उपाय बताया— उपशम, विवेक, संवर।

एक वृक्ष के नीचे बैठकर चिलातीपुत्र विचारमग्न हो गया। उसने शब्दों के अर्थों पर चिन्तन किया कि उपशम का अर्थ है क्रोध की अग्नि को शान्त करना। विवेक का अर्थ है परिग्रह का परित्याग और संवर का अर्थ है इन्द्रियों का निग्रह करना। ऐसा करने वाले व्यक्ति को ही शान्ति मिलती है। चिलातीपुत्र का चिन्तन गहन होता गया। उधर रक्त की गंध से आकृष्ट बनी वज्रमुखी चींटियां उसके शरीर को चूंट-चूंट कर खाने लगीं, पर उपशम का पाठ वह पढ़ चुका था। पूर्ण शान्त भाव से उसने उस पीड़ा का गरलपान किया। चींटियों ने उसका शरीर छलनी कर दिया। समभाव से प्राण त्याग कर चिलातीपुत्र देवलोक में गया।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र

चुलनी

एक दुष्टचरित्र रानी। अन्तिम चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त उसी के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। (देखिए-ब्रह्मदत्त)

चुलनीपिता श्रावक

वाराणसी नगरी का एक धन-धान्य सम्पन्न गाथापति। उपासकदशांग सूत्र में उसका चरित्र सविस्तार चित्रित हुआ है, जिसके अनुसार वह चौबीस करोड़ स्वर्णमुद्राओं तथा अस्सी हजार गौओं का स्वामी था। भगवान महावीर की वाणी सुनकर उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया था। वह दृढ़धर्मी श्रावक था। किसी समय जब वह अपनी पौषधशाला में बैठा धर्म जागरण कर रहा था, उस समय एक मिथ्यात्वी देव ने उसकी धर्मदृढ़ता की कठोर परीक्षा ली। देव ने उसके तीन पुत्रों की हत्या कर दी और उनके रक्त से उसके शरीर को सींचा। इस पर भी वह चलित न हुआ। तदनन्तर देव ने उसकी माता भद्रा को उसके समक्ष उपस्थित किया और उस पर प्रहार करने को तत्पर हुआ। चुलनीपिता का चित्त माता के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और ममत्व से पूर्ण था। मां पर मृत्यु का क्षण वह देख न सका। मातृरक्षा के लिए वह शोर करता हुआ दुष्ट देव को पकड़ने लपका। देवता आकाश में उड़ गया। उसके हाथ में एक स्तंभ आया।

शोर सुनकर भद्रा पौषधशाला में आई। उसके पूछने पर चुलनीपिता ने सारी बात माता को बताई। तत्त्वज्ञा भद्रा सब समझ गई कि किसी देव की ही यह माया थी। उसने चुलनीपिता को शान्त और सन्तुष्ट किया और सर्वकुशलता से अवगत कराया।

चुलनीपिता ने प्रायश्चित्त से अपने व्रतों की विशुद्धि की। अनेक वर्षों तक श्रावक धर्म का पालन कर वह प्रथम देवलोक में गया। वहां से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष जाएगा।

चुल्लशतक श्रावक

भगवान महावीरकालीन आलंभिका नगरी का रहने वाला एक वैभवसम्पन्न सद्गृहस्थ। वह अठारह कोटि सोनैयों तथा दस-दस हजार गायों के छह गोकुलों का अधिपति था। उसकी पत्नी का नाम बहुला था। पति-पत्नी ने भगवान महावीर से श्रावक धर्म की दीक्षा ली थी। एक रात्रि में जब चुल्लशतक पौषध की आराधना कर रहा था तो एक मिथ्यामति देव ने उसे भयानक उपसर्ग दिए। धर्म से चलित करने के लिए देव ने उसके तीनों पुत्रों की हत्या कर दी और उनके रक्त को कड़ाहे में उबालकर उसके शरीर पर गर्म रक्त के छींटे दिए। पर चुल्लशतक अविचलित रहा। विस्मित देव इतने से ही सन्तुष्ट न हुआ। उसने चुल्लशतक को चेतावनी दी कि वह उसके समस्त धन को गली और बाजारों में बिखेर देगा। वह अन्न के दाने-दाने के लिए मोहताज हो जाएगा। चुल्लशतक के हृदय में धन का आकर्षण शेष था। सो वह चलित हो गया। अपने धन की रक्षा के लिए दौड़ा तो एक स्तंभ से टकरा गया। अपना काम करके देव अदृश्य हो गया।

कोलाहल सुनकर बहुला दौड़कर पौषधशाला में आई। उसने पति को शान्त किया। चुल्लशतक समझ गया कि यह देवमाया थी और वह परीक्षा में असफल हो चुका है। उसने अपने मन में बसे लोभ को धिक्कारा और अलोभ की साधना के लिए दृढ़ संकल्पी बन गया। कालान्तर में मासिक संलेखना सहित देह विसर्जित कर प्रथम स्वर्ग में गया। वहां से च्यव कर विशुद्ध संयम की आराधना कर मोक्ष में जाएगा।

चेटक राजा

महावीरयुगीन वैशाली के अधिशास्ता तथा विश्व में गणतंत्रीय शासन प्रणाली के प्रणेता प्रथम पुरुष। वैशाली गणतंत्र में नौ मल्ली तथा नौ लिच्छवी जाति के अठारह राजा थे। महाराज चेटक उस गण के अध्यक्ष थे।

चेटक मूलतः जैन राजा थे। भगवान महावीर की माता उनकी बहन थी। उन्होंने बारह व्रत अंगीकार किए थे। स्थूल हिंसा के त्यागी होते हुए भी उन्हें राजधर्म की रक्षा तथा मानवीय मूल्यों की रक्षा के लिए अनेक बार युद्धों में उतरना पड़ा। चेटक–कोणिक संग्राम इतिहास प्रसिद्ध युद्ध है। यहां चेटक की शरणागतवत्सलता के दर्शन होते हैं। उनका यह प्रण था कि वे एक दिन के युद्ध में एक ही बाण छोड़ेंगे। उनका वह एकमात्र बाण अमोघ होता था। 'चेटक–कोणिक' संग्राम के प्रथम दस दिनों में ही उन्होंने कोणिक के कालकुमार आदि दस भाइयों को धराशायी कर दिया था। आखिर कोणिक द्वारा देव सहायता प्राप्त कर लिए जाने के कारण चेटक को पराजित होना पड़ा। समाधि-मृत्यु का वरण कर वे बारहवें देवलोक में गए।

महाराज चेटक की सात पुत्रियां थीं, जिनके नामक क्रमशः इस प्रकार हैं–1. प्रभावती, 2. पद्मावती, 3. मृगावती, 4. ज्येष्ठा, 5. शिवा, 6. सुज्येष्ठा और 7. चेलना। सुज्येष्ठा के अतिरिक्त शेष छह उस युग के प्रसिद्ध राजाओं के साथ विवाहित हुई थीं। सुज्येष्ठा कौमार्यावस्था में ही साध्वी बन गई थी।

–आवश्यक कथा

चेलना रानी

चेलना वैशाली नरेश गणाध्यक्ष महाराज चेटक की सात पुत्रियों में से सबसे छोटी पुत्री थी। वह शीलवती और सुसंस्कारी कन्या थी। उसका लालन-पालन अत्यधिक लाड़-प्यार से हुआ था। चेलना की बड़ी बहन का नाम था सुज्येष्ठा। वह भी परम रूपवान कन्या थी। एक बार उसकी सौन्दर्य-कथा सुनकर मगध नरेश श्रेणिक उससे विवाह करने को लालायित हो गया। उसने अपना वैवाहिक प्रस्ताव महाराज चेटक के पास भेजा। पर चेटक का यह संकल्प था कि वे अपनी सभी पुत्रियों का विवाह जैन कुल में करेंगे। उस समय तक श्रेणिक बौद्ध धर्मानुयायी थे। फलतः चेटक ने श्रेणिक का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। परन्तु श्रेणिक किसी भी विधि से सुज्येष्ठा से विवाह करना चाहता था। पिता की इच्छा अभयकुमार को ज्ञात हुई तो उसने सुज्येष्ठा-श्रेणिक विवाह सम्पन्न कराने के लिए एक योजना बनाई और उस योजना पर वह कार्य करने लगा। वह व्यापारी बनकर वैशाली गया। वहां उसने दासियों के माध्यम से राजकुमारी सुज्येष्ठा के मन में महाराज श्रेणिक के प्रति अनुराग उत्पन्न कर दिया। तदनन्तर उसने दूर जंगलों से सुज्येष्ठा के महल तक सुरंग का निर्माण कराया। साथ ही उसने सुज्येष्ठा को निश्चित समय बता दिया कि उक्त समय पर महाराज श्रेणिक सुरंग मार्ग से उसे लेने आएंगे।

सुज्येष्ठा और चेलना में पारस्परिक घनिष्ठ प्रेम था। वे दोनों एक दूसरी के बिना रह नहीं सकती थीं। वे साथ-साथ रहती, खाती और टहलती थीं। सो उन दोनों ने यह संकल्प किया कि दोनों ही महाराज श्रेणिक के साथ जाएंगी और उनकी रानियां बनेंगी। इस सम्बन्ध में उन्होंने अभय कुमार को भी अवगत करा दिया।

निर्धारित समय पर सुरंग मार्ग से अपने बत्तीस अंगरक्षकों के साथ महाराज श्रेणिक सुज्येष्ठा के महल पर पहुंचे। सुज्येष्ठा और चेलना पहले से ही प्रतीक्षारत थीं। परन्तु ठीक प्रस्थान के क्षण में सुज्येष्ठा को स्मरण आया कि वह अपनी रत्नमंजूषा साथ लाना भूल गई है। वह रत्नमंजूषा लेने के लिए पुनः महल में चली गई। परन्तु उसी क्षण महल के रक्षक सैनिक सजग हो गए। महाराज श्रेणिक चेलना को साथ लेकर रवाना हो गए। उनके अंगरक्षकों ने सैनिकों का मार्ग रोक लिया और सभी ने अपने प्राणों की आहुति देकर भी सैनिकों को श्रेणिक तक नहीं पहुंचने दिया।

चेलना मगधदेश की पटरानी बनी। श्रेणिक का उसके प्रति विशेष अनुराग था। पर दोनों में एक बात थी, जो विपरीत थी, वह थी धर्मभिन्नता। श्रेणिक बौद्ध धर्मावलम्बी थे तो चेलना जैन धर्मावलम्बी थी। दोनों एक-दूसरे को अपने-अपने मत की ओर आकर्षित करने के लिए प्रयासरत रहते थे। आखिर एक दिन उस समय चेलना की प्रसन्नता का पारावार न रहा, जब उसे ज्ञात हुआ कि उसके पति ने अनाथी मुनि से जैन संस्कारों की दीक्षा ले ली है।

चेलना और श्रेणिक भगवान महावीर के अनन्य उपासक थे। राजगृह नगर पर भगवान की विशेष कृपा रही। भगवान ने अपनी कैवल्य अवस्था के अनेक वर्षावास राजगृह नगरी में बिताए। चेलना और श्रेणिक भगवान की उपस्थिति का पूरा लाभ उठाते थे।

एक घटना ने चेलना के प्रति श्रेणिक का प्रेम शतगुणित कर दिया। एक दिन चेलना और महाराज श्रेणिक भगवान के दर्शनों के लिए गए। यह एक कड़कड़ाती सर्द सुबह थी। चेलना अनेक ऊनी वस्त्र धारण किए होने पर भी शीत से कांप रही थी। ऐसे में उसने एक अल्पवस्त्रधारी मुनि को ध्यानलीन देखा। उस मुनि की शीतजयी साधना से चेलना अत्यन्त प्रभावित हुई। उसने मन ही मन विचार किया—एक मैं हूं, जो

इतने वस्त्र धारण करके भी शीत से कांप रही हूं और एक ये महामुनि हैं, जो अल्प वस्त्र देह के साथ अकंप खड़े हैं। रात में महारानी चेलना सोई तो उसका एक हाथ कंबल से बाहर रह गया। सर्दी से उसका हाथ ठिठुर गया। उसने हाथ को कंबल में खींच लिया। उस अर्धनिद्रित अवस्था में उसके मुख से निकला—उसका क्या हाल होगा, कैसे सह रहा होगा वह इस शीत को!

सहसा चेलना के ये शब्द राजा श्रेणिक के कानों में भी पड़े। रानी निद्रित अवस्था में किसे स्मरण कर रही है ? दुराशंकाओं से पूरित बन गया राजा का मानस। उसके भीतर भयानक क्षोभ जाग गया। सुबह होने पर श्रेणिक अपने कक्ष से बाहर आए। सामने अभय को पाकर उन्होंने आदेश दिया—चेलना के महल में आग लगा दो! कहकर श्रेणिक भगवान के दर्शनों के लिए चले गए। अभयकुमार ने बुद्धिमत्ता से कार्य किया और महल के परिसर के एक कोने में घास-फूस एकत्रित कराकर उसमें आग लगवा दी। उधर श्रेणिक भगवान के पास पहुंचे। श्रेणिक की मनोव्यथा के उपचार के लिए भगवान ने सप्रसंग कहा— महाराज चेटक की सातों पुत्रियां परम शीलवती नारियां हैं।

भगवान की बात सुनकर श्रेणिक चौंका। उसने रात वाली बात भगवान से कही और पूछा, भगवन्! चेलना निद्रा में किसे स्मरण कर रही थी? भगवान ने पहले दिन चेलना द्वारा देखे गए मुनि और उनकी शीतजयी साधना से उसके प्रभावित होने की पूरी घटना सुनाते हुए कहा कि चेलना उसी मुनि के बारे में चिन्तित थी।

श्रेणिक तत्क्षण तेज कदमों से महल की ओर चल दिए। दूर से उठते धुएं को देखकर उनका मन और अधिक सशंकित बन गया। रास्ते पर, भगवान के दर्शनों के लिए निकले अभय को देखकर श्रेणिक ने पूछा—क्या तुमने आग लगा दी? अभय ने उत्तर दिया—महाराज! भला मैं राजाज्ञा का उल्लंघन कैसे करता? मैंने आपके आदेश का पालन कर दिया है। सुनकर श्रेणिक विषाद और क्रोध से बोले—अभय! मेरे नेत्रों के सामने से दूर चले जाओ! तुमने महान अकार्य कर दिया है!

शीघ्रता से श्रेणिक महलों में पहुंचे। रानी चेलना को सुरक्षित पाकर उनके हर्ष का पारावार न रहा। उन्होंने अपनी आशंका के लिए चेलना से क्षमापना की और बोले—देवि! तुम धन्य हो! परम धन्य हो! आज स्वयं देववन्दित तीर्थंकर भगवान ने तुम्हारे शील की अनुशंसा की है!

इस घटना के बाद राजा और चेलना का पारस्परिक प्रेम पूर्वापेक्षया शतगुणित हो गया।

अजातशत्रु कोणिक चेलना का ज्येष्ठ पुत्र था जो कालान्तर में महाराज श्रेणिक की मृत्यु का कारण बना। पति मृत्यु के बाद चेलना ने संयम स्वीकार कर लिया और विविध प्रकार के तपों द्वारा आत्मकल्याण किया।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

चौथमल जी महाराज (जैन दिवाकर)

स्थानकवासी जैन परम्परा के अतिशय प्रभावशाली मुनिराज। आपका जन्म नीमच नगर में श्रीमान गंगाराम जी की धर्मपत्नी श्रीमती केसरबाई की रत्नकुक्षी से वि.सं. 1934 कार्तिक सुदी त्रयोदशी, रविवार के दिन हुआ। सोलह वर्ष की अवस्था में मानकुंवर नामक कन्या से आपका पाणिग्रहण हुआ। भ्राता और पिता के देहान्त ने आपके भीतर संसार की अस्थिरता और नश्वरता का सम्यक् बोध जागृत कर दिया। ममत्व के बन्धनों को तोड़कर आप ने सं. 1952 में कविवर्य श्री हीरालाल जी महाराज के श्री चरणों में दीक्षा धारण कर ली।

जैन जगत के क्षितिज पर आप एक महान यशस्वी, वर्चस्वी और तेजस्वी मुनिराज के रूप में उभरे। जनसमूह पर आपका अद्‌भुत प्रभाव पड़ता था। आप जहां भी विचरे, जैन-अजैन वर्ग पर आपने अमिट छाप छोड़ी। मध्यप्रदेश में जंगली भीलों के कुटीरों से लेकर राजाओं के राजप्रासादों तक आपका अखण्ड प्रभाव था। आपकी वाणी में जादू था जो आबालवृद्ध को बांध लेती थी।

आपने सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन में विशेष श्रम किया। बलिप्रथा और मृतकभोज बन्द करवाए। सहस्रों लोगों को कुव्यसनों से मुक्ति दिलाकर उनके जीवन का रूपान्तरण किया। चित्तौड़ में आपकी प्रेरणा से वृद्धाश्रम की स्थापना भी हुई।

शिक्षा और सेवा के क्षेत्र में आपकी प्रेरणा से कई संस्थाओं का निर्माण हुआ।

आप एक सहृदय कवि और लेखक भी थे। स्तुतिपरक और उपदेश-प्रधान आपकी कविताएं/गीतिकाएं माधुर्य और भक्ति रस से भरी हुई हैं।

'जैन दिवाकर' के उपनाम से अर्चित, वन्दित, चर्चित उस दिव्य पुरुष का जैन-जैनेतर जगत पर महान् उपकार है, जो सदैव वन्दनीय रहेगा।

●●●

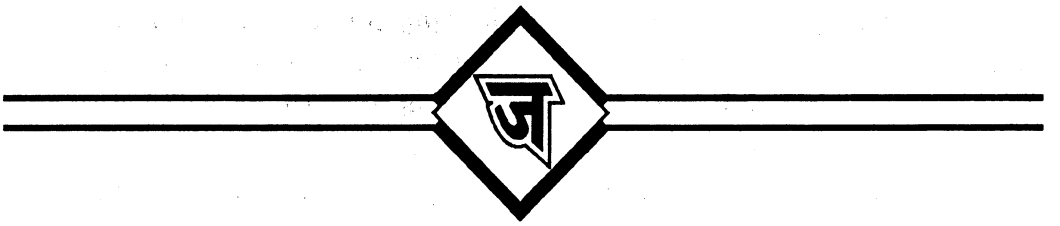

जंबू मुनि

आचार्य संभूतविजय के एक शिष्य।

जंबू स्वामी

भगवान महावीर के शासन के द्वितीय पट्टधर और पंचम गणधर आर्य सुधर्मास्वामी के प्रमुख शिष्य। वे प्रवहमान अवसर्पिणी काल के अन्तिम केवली और अन्तिम मोक्षगामी महापुरुष थे। वे जब मुनि बने, उस समय तीर्थंकर महावीर निर्वाण को प्राप्त हो चुके थे। उन्होंने महावीर के धर्म और उनके उपदेशों को अपने गुरु आर्य सुधर्मा के श्रीमुख से श्रवण किया। आर्य जंबू एक महान जिज्ञासु शिष्य थे। जंबूस्वामी का जीवन संक्षेप में इस प्रकार है–

जंबू राजगृह निवासी सेठ ऋषभदत्त और धारिणी के अंगजात थे। सोलह वर्ष की अवस्था में सम्पन्न श्रेष्ठियों की आठ कन्याओं से उनका सम्बन्ध तय कर दिया गया। संयोग से उन्हीं दिनों तीर्थंकर महावीर के पंचम गणधर आर्य श्री सुधर्मा स्वामी राजगृह नगरी में पधारे। जंबूकुमार भी उनका उपदेश सुनने के लिए गए। उपदेश सुनकर विरक्त हो गए। उन्होंने दीक्षित होने का संकल्प कर लिया। घर लौटकर माता-पिता को अपना संकल्प सुना दिया। इकलौते पुत्र का ऐसा संकल्प सुनकर माता-पिता का चिन्तित होना स्वाभाविक था। उन्होंने जंबू को समझाने-मनाने के अनेक उपक्रम किए, पर जंबू के संकल्प के समक्ष माता-पिता द्वारा उपस्थित किए गए समस्त तर्क बालू पर खींची गई लकीर साबित हुए। हारकर पिता ने उन्हें उनके निश्चित किए गए सम्बन्ध की बात कही और साग्रह कहा कि उसके द्वारा वैवाहिक प्रस्ताव को तोड़ दिए जाने पर उसे समाज में अपयश का पात्र बनना पड़ेगा।

अपने निर्णय से पिता को अपयश सहना पड़े, यह बात जंबू को स्वीकार न थी। उन्होंने पिता से कहा, वे विवाह हेतु तैयार हैं पर दूसरे ही दिन वे संयम लेने के लिए भी स्वतंत्र हैं। यह पूरी बात उन कन्याओं और उनके अभिभावकों के समक्ष स्पष्ट कर दी जाए।

सेठ ऋषभदत्त ने जंबू का उक्त संदेश आठों सेठों के पास पहुंचा दिया। कन्याएं भी जंबू के सन्देश से अवगत हुईं। आठों ने मिलकर परस्पर मंत्रणा की। आठों की ही यह सोच थी कि जब तक वे नहीं पहुंचती हैं तभी तक जंबू दीक्षा लेने की बात करते हैं। उनके पहुंचते ही उनका दीक्षा लेने का संकल्प ध्वस्त हो जाएगा। यदि ऐसा न हुआ तो वे भी पति की अनुगामिनी बन जाएंगी। आठों ने मिलकर अपने अभिभावकों को अपने विचारों से सूचित कर दिया।

आठ कन्याओं से जंबूकुमार का विवाह हो गया। वधू-पक्ष ने अपार धन सामग्री दहेज में दी। पर उस समय धन की संभाल की किसी को चिन्ता न थी, जो चिन्ता थी, वह थी दूसरे ही दिन जंबूकुमार के दीक्षित होने की। आठों कन्याओं के पास चार प्रहर की एक रात थी जिसमें उनके भविष्य की गति का लेखा-जोखा होना था। आठों पत्नियां सुहागरात के लिए जंबू के कक्ष में पहुंच गईं और उन्हें रिझाने लगीं।

उधर प्रभव नामक कुख्यात चोर-सरदार को ज्ञात हो गया कि ऋषभदत्त के पुत्र के विवाह में दहेज स्वरूप विपुल द्रव्य आया है। प्रभव के पास दो विद्याएं थीं, अवस्वापिनी और तालोद्घाटिनी। वह अपने पांच सौ साथियों के साथ आया और अवस्वापिनी विद्या से उसने पूरे नगर को निद्राधीन बना दिया। उसके साथियों ने ऋषभदत्त के घर में घुसकर धन की गठड़ियां बांध लीं। पर जैसे ही वे चलने लगे उनके पैर जमीन से चिपक गए। इससे प्रभव घबरा गया। उसी समय उसके कानों में कुछ स्वर पड़े। उसने कक्ष के निकट जाकर गवाक्ष से देखा तो अन्दर चल रहे संवाद और दृश्य को सुन/देखकर उसका हृदय आत्मग्लानि से भर गया। उसने मन ही मन जंबूकुमार के महान त्याग की प्रशंसा की और स्वयं उसका अनुगामी बनने का संकल्प कर लिया।

जंबूकुमार को दीक्षित होने से रोकने के लिए उसकी आठों पत्नियों ने एक-एक दृष्टान्त कहा। जंबू ने उनके दृष्टान्तों के प्रत्युत्तर में एक-एक दृष्टान्त कहकर न केवल उन्हें निरुत्तर कर दिया बल्कि उन्हें अपने साथ दीक्षित होने के लिए भी तैयार कर लिया।

उधर प्रभव भी जंबू के चरणों में गिर गया। पश्चात्ताप के आंसुओं से अपने पापों को प्रक्षालित करते हुए उसने भी दीक्षित होने का संकल्प किया। फिर उसने अपने साथियों को भी इसके लिए प्रेरित किया। पांच सौ चोरों के संकल्प भी सम्यक् बन गए, उन्होंने भी अपने सरदार का अनुगमन करने का निश्चय कर लिया। ऐसा निश्चय करते ही वे स्तंभन से मुक्त हो गए।

दूसरे दिन वैराग्य का जो महानद बहा, उसमें एक साथ पांच सौ अट्ठाईस लोगों ने गोते लगाए। वे पांच सौ अट्ठाईस लोग थे—जंबूकुमार और उनके माता-पिता, उनकी आठ पत्नियां और उन आठों के माता-पिता तथा प्रभव और उसके पांच सौ साथी।

जंबूकुमार ने सोलह वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली, छतीस वर्ष की अवस्था में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और अस्सी वर्ष की अवस्था में वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। (देखिए-प्रभव)

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र परिशिष्ट पर्व

जगडूशाह

वी.नि. की अठारहवीं सदी का एक सुविख्यात दानवीर श्रेष्ठी। उसका जन्म भद्रेश्वर नगर में हुआ था। उसका विशाल व्यवसाय प्रामाणिकता के आधार पर अति विस्तार को प्राप्त कर गया था। एक बार उसने ज्योतिषविद्या के पारंगत एक जैनाचार्य के मुख से सुना कि वी.नि. 1785 से वी.नि. 1787 की अवधि में भीषण देशव्यापी अकाल पड़ने वाला है। आचार्य श्री के इस भविष्य कथन को सुनकर जगडूशाह ने अपने कर्त्तव्य को पहचाना। उसने देश के कोने-कोने में फैले अपने व्यवसाय को संभालने वाले मुनीमों को निर्देश दिया कि प्रभूत मात्रा में धान्यों का संग्रह किया जाए। उसके निर्देश पर उसके मुनीमों ने देश के कोने-कोने में धान्यों के हजारों गोदामों की व्यवस्था की। कालक्रम से आचार्य श्री का कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ। देशव्यापी अकाल पड़ा और प्रजा में अन्न का अभाव हो गया। उस समय दानवीर जगडूशाह ने देशभर में भोजनशालाएं खुलवा दीं। निरन्तर तीन वर्षों तक उसने भोजनशालाएं चलाईं और बिना किसी जातीय भेदभाव के उसने भोजन दान दिया। भीषण दुष्काल में भी प्रजा ने अन्नाभाव महसूस नहीं किया।

जगडूशाह की दानवीरता के अनेक कहानी-किस्से किंवदन्तियों के रूप में देशभर में आज भी सुने-सुनाए जाते हैं। एक अनुश्रुति के अनुसार एक देव ने जगडूशाह को पारस पत्थर की सूचना देकर उसकी सम्पन्नता

को अक्षय बना दिया था, जिससे वह मुक्त हस्त से दान देकर भी सदैव सम्पन्न बना रहा। उसके पास पारस रहा हो या न रहा हो, पर उसके उत्कृष्ट भावों में पारस का चमत्कार अवश्य था, जिनके कारण वह दोनों हाथों से सदैव बांट कर भी समृद्ध बना रहा।

कहते हैं कि अकाल के भीषण दौर में उसने कई नरेशों को उनकी प्रजा के भोजन के प्रबन्ध के लिए हजारों-हजार मण धान्य निःशुल्क दिया था। जगडूशाह की इस दानवीरता पर गद्‌गद होकर गुजरात नरेश बीसलदेव ने उसका बहुत सम्मान किया और उससे विनम्र निवेदन किया था कि वह उन्हें प्रणाम नहीं करेगा, क्योंकि वह स्वयं प्रणम्य है।

जगच्चंद्र (आचार्य)

एक उत्कृष्ट तपस्वी और क्रियोद्धारक जैन आचार्य। आचार्य जगच्चंद्र का विमल सुयश जगत में तारामण्डल के मध्य चंद्रमा के समान था। बड़गच्छ के मणिरत्न सूरि उनके दीक्षा गुरु थे।

आचार्य जगच्चंद्र का जन्म पोरवाल वंश में हुआ था। उनके पिता का नाम पूर्णदेव था। जगच्चंद्र तीन भाइयों में सबसे छोटे थे। उनका गृहनाम जिनदेव था। दीक्षा लेने के पश्चात् मुनि जिनदेव ने स्वयं को तप और शास्त्राध्ययन में नियोजित किया और वे कुछ वर्षों में ही संघ के एक विद्वान मुनि के रूप में मान्य हुए। संघ में व्याप्त शिथिलाचार से जगच्चंद्र मुनि का मन खिन्न था। उन्होंने क्रियोद्धार के लिए आजीवन आयंबिल तप का विशेष संकल्प किया। उनकी तपस्विता से प्रभावित होकर मेवाड़ नरेश जैतसिंह ने उनको 'तपा' नामक उपाधि प्रदान की। इस उपाधि के कारण ही आचार्य जगच्चंद्र का गच्छ 'तपागच्छ' नाम से जाना गया।

गुजरात के महामात्य बन्धुयुगल वस्तुपाल और तेजपाल आचार्य जगच्चंद्र के प्रति विशेष निष्ठावान थे। उनकी प्रार्थना पर आचार्यश्री ने गुजरात की यात्रा की थी। मेवाड़ प्रान्त में एक अवसर पर तीस विद्वानों के साथ आचार्य श्री ने शास्त्रार्थ किया और विजय प्राप्त की।

आचार्य जगच्चंद्र के सहोदर वरदेव के बड़े पुत्र का नाम साढ़ल था। साढ़ल के दो पुत्रों ने आचार्य श्री के चरणों में दीक्षा धारण की थी। साढ़ल के ज्येष्ठ पुत्र का नाम धीणाक था। धीणाक एक दृढ़धर्मी श्रावक था। जैन धर्म और जैन साहित्य के प्रति उसके हृदय में अगाध श्रद्धा थी। साहित्य सुरक्षा के लिए उसने तन, मन और धन से अपना सहयोग दिया।

वी.नि. 1757 में मेवाड़ प्रान्त के वीरशालि नामक ग्राम में आचार्य जगच्चंद्र का स्वर्गवास हुआ।

—आख्यानमणि कोष, सवृत्ति, प्रस्तावना

जनक

मिथिला के राजा और सीता के पिता। जनक एक धर्मनिष्ठ, न्यायनीति परायण और प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले नरेश थे। जैन रामायण ने उन्हें जहां एक धर्मात्मा और न्याय नीति सम्पन्न नरेश माना है, वहीं वैदिक रामायण और पुराणों में जनक जी को विदेह, राजर्षि आदि अलंकरणों से अलंकृत कर उनकी श्रेष्ठता स्वीकार की है। (देखिए-जैन रामायण)

जन्हुकुमार

एक धीर, वीर युवक। जन्हु कुमार द्वितीय चक्रवर्ती सगर का ज्येष्ठ पुत्र था। वह एक महान पितृभक्त

युवक था। अनुश्रुति है कि वह प्रतिदिन नया कुआं खोदकर अपने पिता को पानी पिलाता था। नागकुमार देवों के कोप के कारण उसे अकाल मृत्यु झेलनी पड़ी। (देखिए-सगर चक्रवर्ती)

जमदग्नि ऋषि

महाभारत और पुराणों में वर्णित एक ऋषि। पुत्र के बिना गति नहीं, इस सिद्धान्त से प्रेरित बनकर उसने वृद्धावस्था में रेणुका नामक राजकुमारी से विवाह रचाया। रेणुका से उसे जिस पुत्र की प्राप्ति हुई वह परशुराम था, उसी ने सात बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन बनाया था। जैन कथा साहित्य के अनुसार कृतवीर्य ने जमदग्नि का वध किया था। (देखिए-सुभूम)

जमाली (निन्हव)

क्षत्रियकुण्ड ग्राम का एक क्षत्रिय युवक, जो भगवान महावीर का संसार-पक्षीय भानजा और जामाता था। भगवान महावीर के उपदेश से प्रभावित बनकर उसने पांच सौ क्षत्रिय युवकों के साथ श्रमणधर्म अंगीकार किया। पर कुछ ही काल बाद वह भगवान के सिद्धान्त 'क्रियमाण कृत' के विपरीत प्ररूपणा करने लगा और स्वयं को सर्वज्ञ घोषित करने लगा। उसने इन्द्रभूति गौतम से शास्त्रार्थ भी किया और उसमें पराजित हुआ। उसकी पत्नी प्रियदर्शना (भगवान की संसारपक्षीय पुत्री) भी एक हजार श्रमणियों के साथ उसके साथ आ मिली। पर श्रमणोपासक ढंक गाथापति के समझाने पर उसे सत्य का बोध हो गया और वह भगवान के पास लौट आई। जमाली जिनवाणी के विरुद्ध प्ररूपणा करने के कारण निन्हव कहलाया।

(क) जयन्ती

(देखिए-दत्त वासुदेव)

(ख) जयन्ती (ब्राह्मणी)

अकंपित गणधर की जननी।

(ग) जयन्ती (परिव्राजिका)

महावीरकालीन एक परिव्राजिका। (देखिए-सोमा परिव्राजिका)

(घ) जयन्ती (श्राविका)

कौशाम्बी नरेश महाराज शतानीक की बहन, उदयन की बुआ और भगवान महावीर की प्रमुख श्राविका। भगवती सूत्र के अनुसार वह भगवान महावीर के साधुओं की प्रथम शय्यादाता तथा तत्त्वज्ञा महिला थी। उसने भगवान महावीर से अनेक तात्त्विक तथा पैने प्रश्न किए थे। प्रथमतः उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया तथा बाद में दीक्षा धारण कर कैवल्य साधकर सिद्धि प्राप्त की।

जयन्ती द्वारा भगवान महावीर से पूछे गए कुछ प्रमुख प्रश्न निम्नरूप में हैं—

जयन्ती—भंते! जीव भारी कैसे होता है?

महावीर—अठारह पाप स्थानों का सेवन करने से।

जयन्ती—भंते! जीव हल्का कैसे होता है?

महावीर—अठारह पाप स्थानों से विरत होने से।

जयन्ती—भगवन्! सोना अच्छा है या जागना?

महावीर—अधर्मियों का सोए रहना अच्छा है और धर्मियों का जागते रहना अच्छा है।

जयन्ती—यह कैसे, भंते?

महावीर—जयन्ती! धर्मनिष्ठ व्यक्ति जब तक जागता रहेगा, वह धर्माराधना ही करता रहेगा। वह अन्य अनेक व्यक्तियों में भी धर्मरुचि उत्पन्न करेगा। इसलिए मैंने कहा कि धर्मात्मा का जागना अच्छा है। अधर्मी व्यक्ति जब तक सोया रहेगा तब तक हिंसादि अधर्म से बचा रहेगा। अन्य अनेक प्राणी भी उसके सोए रहने से जीवित बचे रहेंगे। जागते ही वह हिंसा में लिप्त हो जाएगा। इसलिए मैंने कहा, अधर्मी का सोए रहना उसके जागने से अच्छा है।

ये और ऐसे अनेक प्रश्नोत्तर जो जयन्ती और भगवान महावीर के मध्य चले, भगवती सूत्र में संग्रहीत हैं। —भगवती सूत्र

जयचंद्र (मधुबिंदु)

हस्तिनापुर नगर का व्यापारी। एक बार उसने धनपाल नामक सार्थवाह के साथ देशाटन किया। किसी समय सार्थ एक निर्जन वन में विश्राम के लिए रुका। जयचंद्र निर्विघ्न विश्राम के लिए सार्थ से दूर जाकर एक वृक्ष के नीचे सो गया। जब उसकी निद्रा टूटी तो उसने पाया कि सार्थ जा चुका था। वह घबराया। उसकी घबराहट तब चरम पर पहुंच गई, जब उसने एक विशालकाय हाथी को अपनी ओर दौड़ते हुए देखा। वह वृक्ष पर चढ़ गया। हाथी ने वृक्ष को सूंड में लपेटा और हिला दिया। वृक्ष से गिरते हुए जयचंद्र को वृक्ष की एक शाखा हाथ में आ गई। उसने देखा, दो चूहे उस शाखा को बड़ी तत्परता से काट रहे थे। नीचे झांका तो पाया कि एक अन्धकूप में चार विशाल अजगर मुंह खोले उसके गिरने का इन्तजार कर रहे थे। वृक्ष के हिलने से उस पर रहा हुआ मधुमक्खियों का छत्ता हिल गया। असंख्य मक्खियां जयचंद्र को डसने लगी। पर छत्ते के हिलने से बूँद-बूँद मधुबिन्दु उसके मुख में टपकने लगा। उस मिठास में वह ऐसा आसक्त बना कि भूल ही गया कि वह चारों ओर से मृत्यु से घिरा है।

कहते हैं कि उधर से एक देव विमान गुजरा। जयचंद्र की दुरावस्था पर देव को करुणा आ गई। उसने अपना विमान जयचंद्र के निकट किया और उसे विमान पर बुलाया। पर मधुबिन्दु का लोभी जयचंद्र 'एक बूँद और एक बूँद और' कहकर देवता के आमंत्रण से जी चुराता रहा। आखिर चूहों ने डाली को कुतर डाला और अजगरों ने जयचंद्र को निगल लिया।

(एक चरित्रकथा के साथ-साथ यह एक शिक्षा-कथा भी है। जयचंद्र जीवात्मा है। वृक्ष जीवन है, जिसे दिन और रात रूपी दो चूहे निरंतर कुतर रहे हैं। कालरूप हाथी है। चार अजगर चार गतियां हैं। देव का आमंत्रण सद्गुरु का आमंत्रण है। पर इन्द्रियों के बूँद मात्र रस के लिए जीवात्मा चारों ओर खड़ी मृत्यु को विस्मृत कर देता है और परिणामतः चतुष्पातिरूप अजगरों का आहार बन जाता है)।

जय (चक्रवर्ती)

वर्तमान अवसर्पिणी काल के ग्यारहवें चक्रवर्ती। राजगृह नरेश विजय तथा उनकी रानी के अंगजात। उनका जन्म इक्कीसवें तीर्थंकर भगवान नेमिनाथ के शासन काल में हुआ। षट्खण्ड साधकर चक्रवर्ती पद पर आरूढ़ हुए। अनेक वर्षों तक राजपद पर रहने के पश्चात् मुनि बने। अन्त में कैवल्य साधकर तथा तीन हजार वर्ष का सर्वायु भोगकर मुक्त हुए।

जयघोष

वाराणसी नगरी का रहने वाला एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण। वैराग्योत्पादक किसी दृश्य को देखकर वह विरक्त हो गया और उसने श्रमण दीक्षा ले ली।

अनेक वर्ष पश्चात् जयघोष मुनि वाराणसी नगरी में आए। वे मासोपवासी थे। पारणे के लिए चले। संयोग से वे अपने ही सहोदर विजयघोष के यज्ञस्थल पर भिक्षा के लिए पहुंचे। विजयघोष भाई को पहचान न सका। उसने जयघोष को तिरस्कारपूर्ण वचनों से कहा कि इस यज्ञस्थल में केवल ब्राह्मण ही भोजन पा सकते हैं, अन्य नहीं, तुम चले जाओ।

जयघोष मुनि विजयघोष को प्रतिबोधित करना चाहते थे। उन्होंने उससे ब्राह्मणत्व का अर्थ पूछा। उत्तर में विजयघोष ने ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न व्यक्ति को ब्राह्मण बताया। इसे अतार्किक सिद्ध करते हुए जयघोष ने कहा कि व्यक्ति जन्म अथवा जाति से ब्राह्मण या शूद्र नहीं होता है। व्यक्ति की जाति का सम्बन्ध उसके कर्म से होता है। अतः सच्चा ब्राह्मण वह है, जो ब्रह्मचर्य का पालक हो।

विजयघोष को मुनि की बात तर्कसंगत लगी। तदनन्तर दोनों भाइयों के मध्य प्रश्नोत्तर रूप में लम्बा संवाद चला। परिणामतः विजयघोष प्रतिबुद्ध बन गया और पौद्गलिक यज्ञ का त्याग कर आध्यात्मिक यज्ञ की साधना के लिए श्रमणधर्म में दीक्षित हो गया। अन्ततः दोनों मुनि मोक्ष में गए।

—उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन 25

जयदेव

हस्तिनापुर नगर के रहने वाले कुशल रत्न पारखी श्रेष्ठी नागदेव का पुत्र। जयदेव स्वयं भी रत्नपरीक्षा कला में प्रवीण था। उसके घर में नौ पीढ़ियों से रत्नों का व्यापार होता रहा था। फलतः उसके रत्नभण्डार में एक से एक मूल्यवान रत्न थे। शास्त्रों में वर्णित सभी रत्न उसके भण्डार में मौजूद थे, पर एक रत्न नहीं था, वह था चिन्तामणि रत्न। जयदेव की हार्दिक कामना थी कि उसके भण्डार में चिन्तामणि रत्न भी हो। उसने अपने मन में संकल्प कर लिया कि वह चिन्तामणि की खोज में अपना जीवन अर्पित कर देगा। उसने अपने माता-पिता से आज्ञा प्राप्त की और चिन्तामणि रत्न की खोज में चल दिया। उसने पूरा जगत छान डाला—दूर देशों में गया, बड़े-बड़े रत्न व्यापारियों से मिला, निर्जन वनों और अलंघ्य पर्वतों को लांघा पर उसका संकल्प सफल नहीं बन पाया। थककर एक स्थान पर एक वृक्ष से पीठ टिका कर वह निराश हो गया। उसी समय उसे एक गडरिया दिखाई दिया, जो भेड़ों के झुण्ड को लिए जा रहा था। उसकी लकुटिया पर एक चमकीला पत्थर बंधा था। जयदेव ने उसे देखते ही जान लिया कि वह चिन्तामणि रत्न ही है। जयदेव ने मधुर-मिष्ठ शब्दों से गडरिए को अपने पास बैठाया। उससे उस रत्न-प्राप्ति के बारे में पूछा। गडरिए ने बताया कि उसे वह पत्थर पर्वत पर प्राप्त हुआ है। जयदेव ने गडरिए से वह रत्न मांगा। पर गडरिए ने देने से इन्कार कर दिया। जयदेव ने गडरिए को उस रत्न का महत्व समझाया और कहा, यथाविधि से पूजा-अर्चना से यह रत्न व्यक्ति को इच्छित वस्तुएं देता है।

गडरिए को जयदेव की बात पर विश्वास नहीं था। वह दौड़कर अपनी भेड़ों के पास जा पहुंचा और उन्हें हांकने लगा। जयदेव जानता था कि दिव्य रत्न को गडरिए के लिए संभाल पाना असंभव है। इसलिए वह उसके पीछे-पीछे चल दिया। मार्ग में गडरिया रत्न को 'हुंकार' का दायित्व देकर एक कहानी सुनाने लगा। रत्न द्वारा 'हुंकार' न दिए जाने पर गडरिया नाराज हो गया और उसने रत्न को क्रोध में भरकर एक

दिशा में यह कहते हुए फैंक दिया कि जो मेरी बात न माने, वह मेरे साथ क्यों रहे।

जयदेव जानता था कि वैसा ही कुछ होगा, और हो भी गया। मणि प्राप्त कर जयदेव अपने नगर की दिशा में बढ़ चला। मार्ग में महापुर नगर में वह ठहरा। वहां पर उसने नगर सेठ की रत्न-परीक्षा सम्बन्धी समस्या सुलझाई, जिससे चमत्कृत होकर नगरसेठ ने उससे अपनी पुत्री का विवाह कर दिया।

चिन्तामणि रत्न और नारीरत्न के साथ जयदेव अपने नगर पहुंचा और नगर के सभ्य श्रेष्ठियों तथा राजा द्वारा अभिनन्दित बना। उसका रत्न भण्डार समस्त रत्नों में प्रधान रत्न—चिन्तामणि रत्न से चमचमा उठा, समृद्ध हो गया। —धर्मरत्न प्रकरण, गाथा 3

जयमल्ल जी (आचार्य)

आपका जन्म सं. 1765 में राजस्थान में मेड़ता के निकटस्थ लाम्बिया ग्राम में हुआ। श्रीमान मोहन लाल जी और श्रीमती महिमा देवी आपके जनक-जननी का नाम था। लक्ष्मीदेवी नामक कन्या से आपका विवाह हुआ।

एक बार आप व्यापारिक कार्य के लिए मेड़ता गए। उस समय आचार्य श्री भूधर जी वहां विराजमान थे। आप उनका प्रवचन सुनने गए। आचार्य श्री ने सुदर्शन श्रेष्ठी की ढाल सुनाई। प्रवचन का आपके हृदय पर गहरा प्रभाव पड़ा। आपने ब्रह्मचर्य के महत्व को समझा। उसी दिन से आपने आजीवन के लिए दुष्कर ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर लिया। आखिर सं. 1787 में मेड़ता में ही आपने आचार्य भूधर जी से संयम व्रत अंगीकार कर लिया।

मुनि धर्म में प्रव्रज्या के क्षण से ही आपने स्वयं को तप और अध्ययन में नियोजित कर दिया। आपने निरन्तर 16 वर्षों तक एकान्तर तप किया। आपकी स्मरण शक्ति भी अद्भुत थी। थोड़े ही समय में आपने प्रतिक्रमण कण्ठस्थ कर लिया। कप्पिया, कप्पवडंसिया, पुप्फिया, पुप्फचूलिया और वन्हिदशा—ये पांच आगम आपने एक प्रहर में कण्ठस्थ कर लिए थे।

आपका आचार अत्यन्त कठोर था। आचार्य भूधर जी का स्वर्गवास वि.सं. 1804 में हुआ। उस समय आपने एक कठिन प्रतिज्ञा धारण की—कि मैं आजीवन लेटकर नहीं सोऊंगा। निरन्तर पचास वर्षों तक आप श्री लेटे नहीं। बैठे-बैठे ही स्वल्प निद्रा ले लिया करते थे।

सं. 1805 में आप आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। आप एक प्रभावशाली आचार्य हुए। कालान्तर में आपका मुनिसंघ आपके नाम से ही प्रसिद्ध हुआ।

आपश्री के जीवन में जहां असंख्य सद्गुण थे, वहीं आप में एक अति विशिष्ट गुण था कवित्व का। आपकी काव्य कला अद्भुत थी। भक्ति की रसधारा आपके काव्य से प्रवाहित हुई। आपकी अनेक रचनाएं आज भी जन-जन की जिह्वा पर चढ़ी हुई देखी-सुनी जाती हैं।

आपके शिष्यों की संख्या 50 से अधिक थी।

सं. 1853 में 31 दिन के संथारे के साथ आप ने परलोक के लिए प्रस्थान किया।

जयवन्तसेन

विशालपुर नगर का एक नीति-निपुण और चतुर नरेश। एक बार राजा को अपनी विद्वत्ता और चातुर्य पर घमण्ड हो गया। घमण्ड व्यक्ति के पतन का कारण बनता ही है। राजा अपनी राज्यसभा में अपने चातुर्य

की प्रशंसा करने लगा। एक स्पष्टवादी पार्षद ने कहा, राजन् ! व्यक्ति का चातुर्य त्रियाचरित्र के समक्ष कुन्द पड़ जाता है। त्रिया ही चतुरों में चतुर है। आपका चातुर्य भी उसके समक्ष नगण्य है। राजा ने अपने चातुर्य को त्रियाचातुर्य पर इक्कीस सिद्ध करने के लिए अपनी नई रानी के लिए एक पातालमहल बनवाया। उसी में अपनी रानी को रखा। पातालमहल में ही अहर्निश रहने वाली रानी पातालसुंदरी के नाम से जानी जाती थी। पातालसुंदरी के लिए पातालमहल से बाहर जाना निषिद्ध था। आखिर पातालसुंदरी के उपपति ने अपने भवन से पातालमहल तक एक सुरंग खुदवाई और वह पातालसुंदरी से मिलने लगा। पातालसुंदरी का उपपति प्रदेशी सेठ हीरालाल था, जो राजा का भी विश्वास पात्र था। एक बार पातालसुंदरी ने अपने चातुर्य-दर्शन के लिए हीरालाल से कहकर राजा को उसके घर भोज पर बुलाया। पातालसुंदरी ने सुरंग मार्ग से जाकर राजा को अपने हाथों से भोजन परोसा। उसे देखकर राजा दंग रह गया। भोजन को छोड़कर वह शीघ्र ही पातालमहल पहुंचा, पर उससे पूर्व ही पातालसुंदरी सुरंग मार्ग से अपने स्थान पर पहुंच गई। राजा संतुष्ट हो गया।

अंततः पातालसुंदरी एक दिन अपने उपपति हीरालाल के साथ जहाज पर सवार हो उसके नगर के लिए रवाना हो गई। राजा हीरालाल को विदा देने समुद्र तट पर आया था। उसने पातालसुंदरी को जहाज पर सवार होते भी देखा था, पर उसने उसे भोजन परोसने वाली वही स्त्री माना जिसे देखकर पहले भी उसकी आंखें धोखा खा चुकी थी। राजा अपने महल में पहुंचा। पातालसुंदरी को खोजा पर वह नहीं मिली। बहुत खोजने पर सुरंग-द्वार अवश्य खोज लिया गया। त्रियाचरित्र देखकर राजा के चातुर्य और विद्वत्ता का घमण्ड चूर-चूर हो गया। उसे भोगों से विरक्ति हो गई। राजपाट का त्याग कर राजा जयवन्तसेन प्रव्रजित हो गया। उत्कृष्ट तपःसाधना और निरतिचार संयम का पालन कर राजर्षि ने केवलज्ञान प्राप्त किया और लाखों भव्य जीवों के लिए वे कल्याण का द्वार बने।

पातालसुंदरी सेठ हीरालाल के साथ जहाज पर बैठकर रवाना हुई तो मार्ग में ही वह हीरालाल के सहोदर पन्नालाल पर आसक्त हो गई। पन्नालाल को भी अपनी ओर आकर्षित पाकर उसने छल-बल से हीरालाल को समुद्र में फैंक दिया। पातालसुंदरी के अप्रत्याशित व्यवहार से हीरालाल दंग रह गया। एक मगर की पीठ पर बैठकर वह तट पर लगा और पुण्ययोग से एक मुनि के दर्शन पाकर स्वयं भी मुनि बन गया। पातालसुंदरी द्वारा भाई को समुद्र में फैंक दिए जाने की घटना ने पन्नालाल के हृदय में पातालसुंदरी के प्रति घृणा को जन्म दे दिया। उसे विश्वास हो गया कि किसी अन्य पुरुष को पाकर वह उसे भी मार डालेगी। पन्नालाल भी विरक्त हो गया। जहाज तट पर लगा तो पन्नालाल को सहोदर हीरालाल के मुनि रूप में दर्शन हुए। वह भी भाई का अनुगामी बनकर चारित्र की आराधना में तन्मय हो गया।

पातालसुंदरी अपने निकृष्ट और पापपूर्ण चरित्र के कारण कई लोगों के वैराग्य का कारण बनी। अंततः उसका यौवन ढल गया और देह से कुष्ठ फूट पड़ा। गहन आर्त्तध्यान में डूबकर, आयुष्य पूर्ण कर वह नरक में गई।

जयरथ

जयपुर नगर का न्यायप्रिय राजा। उसने अधेड़ावस्था में शृंगारमंजरी नामक एक युवती से विवाह किया जो अनन्य रूपवती थी। वह शरीर से तो सुन्दर थी पर मन से कुरूपा थी। उसने धनंजय नामक एक युवक से प्रणय सम्बन्ध स्थापित किए हुए थे। धनंजय युवा था और इसीलिए शृंगारमंजरी का उस पर सघन अनुराग भाव था। नगर के बाह्य भाग में स्थित उद्यान से महल तक धनंजय ने एक सुरंग बनवाई थी। उसी सुरंग

मार्ग से दोनों का मिलन होता था। एक बार शृंगारमंजरी ने धनंजय से कहा कि उसे उन दोनों के मध्य में उसका पति राजा जयरथ बाधा प्रतीत होता है। यह बाधा दूर हो जाए तो उनके आनन्द का पारावार न रहे। धनंजय ने कहा, इस बाधा से पार पाने का तो कोई भी उपाय नहीं है। शृंगारमंजरी ने कहा, क्यों नहीं है उपाय! मैं आज रात्रि में ही उपाय कर देती हूं। मैं राजा का वध कर दूंगी।

रात्रि में धनंजय को नींद नहीं आई। वह सुरंग मार्ग से शृंगारमंजरी के महल में जा पहुंचा। उसने देखा—शृंगारमंजरी कपटनिद्रा में सो रही है। कुछ ही क्षण बाद राजा भी सो गया। शृंगारमंजरी को जब विश्वास हो गया कि राजा सो चुका है तो वह उठी। उसने तलवार निकाली और राजा पर प्रहार करने को तैयार हुई। धनंजय ने शृंगारमंजरी के हाथ से तलवार छीन ली। उसने कहा, यदि वह राजा का वध करेगी तो उसे भी खो देगी। धनंजय की चेतावनी पर शृंगारमंजरी ने अपना संकल्प बदल दिया।

धनंजय अपने घर लौट आया। एक स्त्री के ऐसे चरित्र को देखकर वह विरक्त हो गया और दीक्षित होकर जंगल में चला गया। उधर एक दिन वक्रशिक्षित अश्व पर बैठकर राजा वन विहार को निकला। वल्गा खींचने पर अश्व तीव्र गति से दौड़ने लगा। राजा समझ गया कि अश्व को वक्र शिक्षा दी गई है। सो उसने वल्गा को ढीला छोड़ दिया। कुछ ही देर में अश्व अपने आप रुक गया। राजा ने वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ एक मुनि को देखा। युवा मुनि को देखकर राजा उसके निकट गया और वन्दन कर बैठ गया। मुनि के ध्यान पूर्ण करने पर राजा ने पूछा, महाराज! इस युवावस्था में आपने संयम किस निमित्त से धारण किया? मुनि ने कहा, आपके निमित्त से। राजा चौंका। उसने पूछा, मैंने आपको कभी देखा तक नहीं, फिर मैं आपके वैराग्य का निमित्त कैसे हो सकता हूं?

धनंजय मुनि ने अपना परिचय दिया और समग्र गुप्तकथा कहकर राजा के नेत्र खोल दिए। राजा को अपनी रानी पर बहुत क्रोध आया। परन्तु अपने क्रोध को उसने वैराग्य में बदल दिया। वह राजमहल लौटा। रानी शृंगारमंजरी को धिक्कार देकर उसने दीक्षा धारण कर ली और निरतिचार चारित्र की आराधना कर परम गति प्राप्त की।

कालान्तर में शृंगारमंजरी की देह में कुष्ठ उत्पन्न हो गया। उसी रोग से मरकर वह नरक में गई।

—शृंगारमंजरी रास (जयवंत सूरि सं. 1614)

जय-विजय

नन्दीपुर नगर के राजा धर्मसेन के पुत्र, साहसी, शूरवीर और दृढ़धर्मी राजकुमार। जय की माता का नाम श्रीकान्ता तथा विजय की माता का नाम श्रीदत्ता था। अलग-अलग माताओं के पुत्र होने पर भी जय और विजय में घनिष्ठतम आत्मभाव था। राजा और प्रजा भ्रातृयुगल पर प्राण लुटाते थे। राजा धर्मसेन की एक अन्य रानी थी—श्रीमती। श्रीमती का भी एक पुत्र था—नयधीर। नयधीर आत्मोन्मुखी था। उसे एकान्त में रहना अच्छा लगता था। श्रीमती को जय और विजय की लोकप्रियता पर ईर्ष्या हो आई। उसने अत्यन्त चतुराई से एक षड्यंत्र रचा और जय-विजय को देशनिकाला दिला दिया।

जय और विजय ने दण्ड को अपने पूर्वजन्म के दुष्कर्मों का फल माना। दोनों भाई नन्दीपुर से निकलकर प्रदेश के लिए चल दिए। विजन वन में रात्रि विश्राम के लिए रुके। वहां एक यक्ष ने दोनों भाइयों को तीन दैवी वस्तुएं दीं। वे वस्तुएं थीं—एक मणि, जिससे इच्छित धन प्राप्त किया जा सकता था, रूप बदला जा सकता था और आकाश में उड़ा जा सकता था। दूसरी—महौषधि, जिससे सभी रोग शान्त किए जा सकते

थे। तृतीय—एक मंत्र, जिसके सप्त दिवसीय जप से राज्य प्राप्त किया जा सकता था। राज्य प्राप्त करने का मंत्र विजय ने सीखा और शेष दो वस्तुएं जय ने अपने पास रखीं। परिणामतः सातवें ही दिन विजय को कामपुर देश का राजपद मिल गया। शेष दो वस्तुओं के बल पर विजय ने भी कई देशों का राज्य प्राप्त किया और कई राजकुमारियों से पाणिग्रहण किया। बाद में दोनों भाई एक साथ रहने लगे। समस्त भौतिक ऐश्वर्य उन्हे प्राप्त थे। कालान्तर में दोनों भाई नन्दीपुर आए। पिता और माताओं से मिलकर उनके पुत्र-विरह को शान्त किया। श्रीमती रानी को भी अपनी भूल का अहसास हुआ। उसने पति तथा पुत्रों से क्षमा मांगी। जय-विजय सुदीर्घ काल तक शासन सुख भोगकर, अंतिम अवस्था में प्रव्रजित बने और निर्वाण को उपलब्ध हुए। —जय-विजय चरित्र

जयश्री

कृतपुण्य की अर्द्धांगिनी। (देखिए-कृतपुण्य)

जयसिंह द्वितीय

ई. की ग्यारहवीं सदी का चालुक्यवंशी एक जैन राजा। जयसिंह रणशूर होने के साथ ही धर्मशूर भी था। जैन धर्म और जैन श्रमणों का वह बहुत सम्मान करता था। तत्कालीन जैन आचार्य वादिराज सूरि जयसिंह के गुरु थे। वादिराज सूरि ने नरेश के प्रश्रय में पार्श्वचरित, यशोधर चरित आदि कई ग्रन्थों की रचना की थी। जयसिंह नरेश की सभा में आचार्य श्री ने कई शास्त्रार्थ भी किए और विजय प्राप्त की।

जयसिंह सिद्धराज

ई. सन् 11वीं-12वीं सदी के गुजरात के तेजस्वी सम्राट्। जयसिंह महाराजा कर्ण सोलंकी और महारानी मीनलदेवी का पुत्र था। वह अपने पराक्रम और तेज के कारण सिद्ध चक्रवर्ती कहलाया।

जयसिंह धर्मप्रेमी नरेश था। वह सभी धर्मों का आदर करता था, पर जैन धर्म के प्रति उसके हृदय में अगाध आस्था थी। पैतृक परम्परा से ही उसे जैन धर्मानुयाइयों से विशेष सहयोग प्राप्त हुआ था। मुंजाल मेहता नामक श्रावक उसके पिता महाराज कर्ण का विश्वस्त मंत्री और सेनानायक था। सिद्धराज की माता मीनलदेवी मुंजाल मेहता का बहुत सम्मान करती थी। अन्य कई जैन श्रेष्ठी राज्य में विभिन्न उच्च पदों पर कार्यरत थे।

उस युग में आचार्य हेमचंद्र का गुजरात की जनता पर विशेष प्रभाव था। सिद्धराज भी आचार्यश्री से बहुत प्रभावित था। सिद्धराज की प्रार्थना पर आचार्य श्री ने कई उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' नामक प्राकृत व्याकरण सिद्धराज की विशेष प्रार्थना पर ही आचार्य श्री द्वारा रचा गया प्रथम प्राकृत व्याकरण है। इस ग्रन्थ के पूर्ण होने पर राजकीय महोत्सव मनाया गया और ग्रन्थ को हाथी के हौदे पर रखकर नगर में प्रवेश कराया गया। राजा ने कई लिपिकों द्वारा इस ग्रन्थ की सैकड़ों प्रतियां लिखाकर देश के सुदूरवर्ती ग्रन्थालयों में भेजीं।

सिद्धराज जयसिंह आचार्य हेमचंद्र की ज्ञान प्रतिभा से अतिशय प्रभावित थे। उन्होंने ही आचार्य श्री को 'कलिकाल सर्वज्ञ' विरुद से सम्मानित किया था। सिद्धराज जयसिंह ने जैन मंदिरों के निर्माण में भी काफी धन व्यय किया। गिरनार पर्वत पर उसने भगवान नेमिनाथ का भव्य मंदिर बनवाया। अन्य कई जिनालयों का निर्माण भी उसने कराया।

सिद्धराज जयसिंह का शासनकाल गुजरात के इतिहास का स्वर्ण युग कहा जा सकता है।

जयसिंह सूरि (आचार्य)

अंचल गच्छ के द्वितीय पट्टधर आचार्य। अंचल गच्छ के संस्थापक आर्य रक्षित सूरि मुनि जयसिंह के दीक्षा गुरु थे। आचार्य जयसिंह सूरि वी.नि. की 18वीं सदी के पूर्वार्ध के एक विद्वान जैन आचार्य के रूप में ख्यात हुए।

आचार्य जयसिंह सूरि का जन्म कोंकण प्रदेश के प्रतिष्ठित नगर सोपारक में हुआ था। उनके पिता का नाम दाहड़ और माता का नाम नेढ़ी था। आचार्य जयसिंह का गृहस्थावस्था का नाम जासिग था।

संतों से जम्बूचरित्र का श्रवण करते हुए जासिग विरक्त हुए और माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर मुनि जीवन में दीक्षित हुए। शास्त्रों का अध्ययन कर वे एक विद्वान मुनि बने और कालक्रम से आचार्य पद पर आसीन हुए। अंचल गच्छ के वे अति प्रभावशाली आचार्य माने जाते हैं। दूर-दूर के क्षेत्रों में विचरण कर उन्होंने जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया। अनेक मुमुक्षु उनके शिष्य भी बने। वी.नि. 1728 में उनका स्वर्गवास हुआ।

(क) जयसुंदरी

सिन्धुदेश की राजधानी पाटणपुर नगर के धनी श्रेष्ठी सुन्दरशाह की अर्द्धांगिणी, एक बुद्धिमती, उदार हृदया और पतिव्रता वीरांगना। वह द्वादशव्रत-धारिणी श्राविका थी। उसके पति ने भी द्वादशव्रत धारण किए थे, पर व्रत और धर्म पर उसकी आस्था नाम मात्र को ही थी। जयसुंदरी तन-मन-प्राण से धर्म को समर्पित थी और किसी भी याचक को अपने द्वार से निराश नहीं लौटने देती थी। एक बार एक परिव्राजक ने जयसुंदरी के द्वार पर अलख जगाई तो जयसुंदरी ने एक बड़ी झारी अनाज की भरकर परिव्राजक की झोली में डाल दी। सुन्दरशाह को यह बहुत बुरा लगा और उसने पत्नी को आदेश दिया कि भविष्य में उसके धन-धान्य का वैसा दुरुपयोग न हो। पत्नी ने दान की महिमा का निरूपण किया। पति-पत्नी के मध्य का यह छोटा सा विवाद इतना बड़ा बन गया कि सेठ ने पत्नी जयसुंदरी को अपने घर से निकाल दिया और ताना दिया कि अब देखता हूं कैसे तू दान देगी!

जयसुंदरी बुद्धिनिधान थी। उसने निश्चय कर लिया कि वह अपने पति को दान धर्म की महिमा दिखाएगी। नगर के बाह्य भाग में झोंपड़ी डालकर जयसुंदरी धर्मध्यानपूर्वक जीवनयापन करने लगी। पत्नी को घर से निकाल देने के कारण सेठ को नागरिकों की निन्दा का पात्र बनना पड़ा। इससे क्षुब्ध होकर सेठ अपनी चल-अचल संपत्ति को बेचकर एक अन्य नगर में जाकर रहने लगा। जयसुंदरी का स्थान ही बदला था, भाग्य नहीं। भाग्य से उसे पर्याप्त मात्रा में तेजमंतरी रेत मिल गया। पाटणपुर में तेजमंतरी रेत का मूल्य कोई नहीं जानता था। सो एक विदेशी व्यापारी को तेजमंतरी रेत बेचकर जयसुंदरी ने आशाधिक धन प्राप्त किया। उसने अपने पति द्वारा बेचे गए अपने घर को पुनः खरीद लिया और दोनों हाथों से दान देते हुए धर्मध्यानपूर्वक जीवन यापन करने लगी।

एक बार नगर के राजा के इकलौते पुत्र को सर्प ने डस लिया। मांत्रिकों और गारुड़िकों की कतार लग गई। पर कोई भी राजकुमार को विषमुक्त नहीं बना सका। राजा की आशाएं डूबने लगीं तो उसने घोषणा कराई कि जो भी व्यक्ति राजकुमार को विषमुक्त करेगा, उसे यथेच्छ ईनाम दिया जाएगा। जब कोई भी राजकुमार को स्वस्थ नहीं कर पाया तो जयसुंदरी ने राजकुमार को विषमुक्त करने का निश्चय किया। वह

राजकुमार के पास पहुंची और हाथ में जल लेकर बोली—यदि मैं तन-मन-वचन से पतिव्रता हूं तो मेरी अंजुली के जल का स्पर्श प्राप्त करते ही राजकुमार विषमुक्त बन जाए! वैसा ही हुआ भी। इससे राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने जयसुंदरी के चरणों पर अपना मुकुट रखा और यथेच्छ मांगने के लिए कहा। पर जयसुंदरी ने कुछ भी मांगने से इन्कार कर दिया। राजा ने उसे अपनी बहन बना लिया और भाई के नाते अपार धन देकर विदा किया।

जयसुंदरी पति से मिलने के लिए घर से निकली। उक्त नगर में पहुंचकर नगर के बाहर उद्यान में उसने एक कक्ष किराए पर लिया। ग्वालिन का वेश बनाकर वह गोरस की मटकी सिर पर रखकर सेठ के घर के निकट पहुंची। गवाक्ष से ग्वालिन को देखकर सेठ उसके रूप पर मुग्ध हो गया। उसने ग्वालिन को ऊपर बुलाया और गोरस खरीद लिया। साथ ही उसने अपने मन के भाव ग्वालिन से कहे। ग्वालिन ने सेठ से यह वचन लिया कि वे उसका कभी परित्याग नहीं करेंगे। सेठ ने वचन दे दिया। प्रतिदिन सेठ ग्वालिन से मिलने उद्यान में जाने लगा। इससे ग्वालिन (जयसुंदरी) गर्भवती हो गई। एक दिन ग्वालिन का वेश त्यागकर जयसुंदरी अपने नगर पाटणपुर में आ गई। कालक्रम से उसने एक पुत्र को जन्म दिया और योग्य वय में उसे अस्त्र-शस्त्र-शास्त्रादि समस्त कलाओं में निपुण बना दिया। पुत्र जवान हो गया। वह रूप-गुण का निधान बन गया था।

सेठ को परदेस में रहते हुए बीस वर्ष बीत गए। उसे अपने नगर की स्मृति सताने लगी तो वह पाटणपुर पहुंचा। पाटणपुर पहुंचकर उसे जन-जन के मुख से जयसुंदरी की प्रशंसा सुनाई दी। वह पत्नी के पास पहुंचा। पत्नी को देखकर उसने अपने किए पर पश्चात्ताप किया और क्षमा मांगी। पर जब उसका पुत्र सेठ के सामने आया तो वह क्रोध से लाल-पीला हो गया। आखिर जयसुंदरी ने रहस्य प्रकट किया तो सेठ पानी-पानी हो गया। जयसुंदरी की बुद्धिमत्ता और चारित्रनिष्ठा से उसने स्वयं को धन्य माना। उसने अपने व्रतों का शुद्धिकरण किया और पूर्ण श्रद्धाभाव से उनका पालन करने लगा।

कालान्तर में जयसुंदरी और सुन्दर सेठ ने संयम ग्रहण किया और विशुद्ध संयम का पालन करते हुए परम पद प्राप्त किया।

(ख) जयसुंदरी

एक सुरूपा नट कन्या। (देखिए-आषाढ़ मुनि)

(क) जयसेन

चंद्रपुर का राजा। (देखिए-चंद्रसेन)

(ख) जयसेन

देवशाल नगर के राजा विजयसेन का पुत्र और कलावती का सहोदर। (देखिए-कलावती)

जयसेना

एक राजकन्या जिसका विवाह सुजात स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) से हुआ था। (देखिए-सुजात स्वामी)

(क) जयादेवी

एक राजसुता, यौवन वय में जिसका विवाह श्री ऋषभानन राजकुमार (सप्तम विहरमान तीर्थंकर) से हुआ था। (देखिए-ऋषभानन स्वामी)

(ख) जयादेवी

चम्पानगरी के महाराज वसुपूज्य की रानी और बारहवें तीर्थंकर प्रभु वासुपूज्य की जननी। (देखिए-वासुपूज्य)

जयानन्द केवली

जया नामक नगरी के राजकुमार जय का पुत्र। एक सदाचारी, सदय, शालीन, शूरवीर और धर्मप्राण राजकुमार। जय के अग्रज विजय जया नगरी के नीतिनिपुण राजा थे। उनका भी एक पुत्र था, जिसका नाम सिंहसार था। सिंहसार बड़ा था और जयानन्द छोटा था। साथ ही जयानन्द में मौजूद समस्त गुणों के विरोधी गुण—अर्थात् अवगुण सिंहसार में मौजूद थे। वह स्वभाव से कायर, कपटी, कामी और ईर्ष्या का जीवंत पर्याय था। इन दोनों भाइयों की शिक्षा-दीक्षा एक साथ हुई। अपने सद्गुणों के कारण जयानन्द सभी की आंखों का सितारा बन गया, सभी उसकी प्रशंसा करते। इसके विपरीत सिंहसार अपने दुर्गुणों के कारण किसी को फूटी आंखों नहीं सुहाता था। राजा भी मन ही मन जयानन्द को युवराज बनाने का विचार करने लगे थे। सिंहसार मन ही मन जयानन्द के बढ़ते प्रभाव से कुढ़ता था। उसने विचार किया—जयानन्द के जीवित रहने पर उसे सदा छोटा सिद्ध होना पड़ेगा, क्योंकि तुलना के लिए वह सदैव उसके समक्ष उपस्थित रहता है। श्रेष्ठ यही है कि मैं उसका वध कर दूं। परन्तु वह मुझसे अधिक बलशाली है। छल से ही उसका वध संभव है।

सिंहसार ने जयानन्द को विदेश भ्रमण के लिए उकसाया और कहा कि वे दोनों भाई विदेश घूमने जाएंगे और भाग्य परीक्षण करेंगे। सिंहसार का विचार था कि वह मार्ग में ही छल-बल से जयानन्द का वध कर देगा और वापिस लौटकर जया नगरी का राजा बनेगा। उसकी चाल सफल हो गई और जयानन्द ने उसके साथ चलने की स्वीकृति दे दी। दोनों भाई परदेस के लिए रवाना हो गए। सिंहसार प्रतिक्षण जयानन्द को अपने मार्ग से हटाने के विचार से ग्रसित रहता था। परन्तु जयानन्द इतना सजग और जागरूक रहता था कि सिंहसार को अपने लक्ष्य में सफलता नहीं मिली। मार्ग में एक नगर में दोनों कुमार रुके। वहां के राजा ने जयानन्द के शील-स्वभाव से प्रभावित बनकर उससे अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। एक अन्य नगर में गए तो वहां पर जयानन्द को राजपद की प्राप्ति हो गई। जयानन्द को कदम-कदम पर अकल्प्य निधियां प्राप्त होती थीं। इससे सिंहसार की ईर्ष्या और सघन बनती जा रही थी। एक बार दोनों भाई एक जंगल में एक पर्वत पर स्थित देवालय में गए। वहां पर पहुंचते-पहुंचते जयानन्द थक गया। वह विश्राम करने के लिए एक वृक्ष की शीतल छाया में लेट गया। इसे अनुकूल अवसर जानकर सिंहसार ने जयानन्द की दोनों आंखें फोड़ डालीं और वहां से भाग खड़ा हुआ। सिंहसार सोचता था कि दृष्टि के अभाव में जयानन्द पर्वत से गिरकर अपने आप ही मर जाएगा। पर उसका सोचा हुआ पूरा नहीं हुआ। जयानन्द देवालय में अखण्ड समाधि जमाकर बैठ गया और महामंत्र नवकार का जाप करने लगा। देवालय की अधिष्ठात्रि देवी महामंत्र के प्रभाव से वहां उपस्थित हुई और उसने जयानन्द को स्वस्थ बना दिया।

उसके बाद जयानन्द ने सिंहसार का साथ छोड़ दिया और एकाकी रहकर ही देशाटन किया। वह परम पुण्यशाली पुरुष रत्न था। जहां भी गया समृद्धि और सौभाग्य दास-दासी बने उसके सहयात्री बने रहे। उसने अपनी यात्रा में सहस्रों लोगों के कष्ट हरण किए, अनेक देशों का वह राजा बना और अनेक राजकुमारियों से उसने पाणिग्रहण किया।

आयु के उत्तरार्ध पक्ष में जयानन्द ने श्रमणधर्म में प्रवेश किया और निरतिचार चारित्र की आराधना द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। अनेक वर्षों तक केवली अवस्था में जनकल्याण का शंखनाद करते हुए जयानन्द मोक्षधाम में जा विराजे।

—जयानन्द केवली रास

जराकुमार

वासुदेव श्रीकृष्ण का चचेरा भाई। जब वासुदेव श्रीकृष्ण ने प्रभु अरिष्टनेमि से अपनी मृत्यु का कारण पूछा तो प्रभु ने फरमाया, जराकुमार के बाण से आपकी मृत्यु होगी। जिस समय प्रभु ने ऐसा फरमाया, उस समय जराकुमार भी श्रोता परिषद् में उपस्थित था। अपने आपको भ्रातृमृत्यु का निमित्त जानकर जराकुमार आत्मग्लानि से भर गया और उसने स्वेच्छया आत्मनिर्वासन ले लिया। वह कौशाम्बी वन में चला गया और भीलवृत्ति से जीवन निर्वाह करने लगा। पर भवितव्यता भला टल ही कैसे सकती है? द्वारिकादहन के पश्चात् श्रीकृष्ण और बलभद्र पाण्डुमथुरा जाते हुए कौशाम्बी वन से गुजरे। वहां श्रीकृष्ण को जोर की प्यास लगी। बलभद्र पानी की तलाश में निकले। वटवृक्ष के नीचे वासुदेव श्रीकृष्ण पैर पर पैर रखकर विश्राम के लिए लेट गए। दूर से जराकुमार ने श्रीकृष्ण के पैर में स्थित पद्म को मृग की आंख समझकर उसे तीर का निशाना बना दिया। उसी से वासुदेव श्रीकृष्ण का निधन हो गया।

जरासंध

मगध देश का पराक्रमी सम्राट्। प्रतिवासुदेव होने के कारण उसने त्रिखण्ड के राजाओं को आतंकित कर अपने अधीन कर लिया था। उसकी पुत्री जीवयशा मथुरानरेश कंस के साथ विवाहित थी। कंस-वध के समाचार से जरासंध श्रीकृष्ण का शत्रु बन बैठा। अन्त में उसने द्वारिका पर आक्रमण कर दिया। भीषण संग्राम में वह श्रीकृष्ण के हाथों मृत्यु को प्राप्त हुआ।

वैदिक पुराणों में जरासंध के जन्म की कहानी यों दी गई है—मगधेश बृहद्रथ की दो रानियों ने आधे-आधे शरीर के दो शिशुओं को जन्म दिया। जरा नाम की राक्षसी ने उन आधे-आधे शरीर वाले शिशुओं को जोड़ दिया। इस संधि से एक पूर्ण शिशु बन गया। जरा द्वारा संधित वह बालक ही जरासंध कहलाया।

जांबवती

वासुदेव श्रीकृष्ण की रानी। भगवान अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित बनकर इसने सिद्धत्व प्राप्त किया।

—अन्तगड सूत्र वर्ग 5, अध्ययन 6

जाकलदेवी

चालुक्यवंशी राजा त्रिभुवनमल्ल विक्रमादित्य की रानी। जाकलदेवी का जन्म जैन कुल में हुआ था। उसके मन में जैन धर्म के संस्कार रचे बसे थे। परन्तु राजा त्रिभुवनमल्ल में धर्म के प्रति अनास्थाभाव था।

जाकलदेवी विदुषी और समयज्ञा थी। उसने अपने बुद्धिबल और निरन्तर प्रेरणा से अपने पति को भी जैनधर्म के प्रति आस्थावान बना दिया। जाकलदेवी और महाराज त्रिभुवनमल्ल ने अपने राज्य में जैन धर्म का काफी प्रचार-प्रसार किया तथा धर्मोन्नति के कई उपक्रम भी किए।

जालिकुमार

महाराज वसुदेव और महारानी धारिणी के अंगजात। अरिहंत अरिष्टनेमि के उपदेश से बोधि को प्राप्त कर इन्होंने राजसी सुख-समृद्धि को ठोकर मारकर तथा पचास पत्नियों का त्याग कर संयम व्रत ले लिया।

इन्होंने सोलह वर्ष पर्यंत संयमाराधना करने के पश्चात् मासिक संलेखना के साथ शत्रुंजय पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया।

—अन्तगड सूत्र, वर्ग 4, अध्ययन 1

(क) जितशत्रु

भद्रपुर नरेश जिनचंद्र का पुत्र, धीर, वीर और कला-कोविद राजकुमार। जिनचंद्र का एक अन्य पुत्र भी था, जिसका नाम जिनदत्त था। जिनदत्त बड़ा और जितशत्रु छोटा था। जितशत्रु का जन्मना नाम सूरदत्त था। उसके साहस, शौर्य और शत्रुओं को विजित कर लेने के कारण उसका उक्त गुणसम्पन्न नाम लोक में विश्रुत हुआ था।

जिनदत्त और सूरदत्त—दोनों कुमारों की शिक्षा-दीक्षा साथ-साथ हुई। पर जिनदत्त स्वभाव से ही आलसी, भोगप्रिय और भीरु था। परिणामतः वह पूरे मन से शिक्षाएं भी नहीं सीख पाया था। पर परम्परानुसार युवराज का पद उसे ही प्राप्त हुआ। एक बार एक म्लेच्छ राजा ने भद्रपुर पर आक्रमण किया। महाराज जिनचंद्र ने जिनदत्त को युद्ध का नेतृत्व प्रदान किया। जिनदत्त आधे-अधूरे मन से युद्धक्षेत्र में गया और पराजित हो गया। इससे महाराज जिनचंद्र का खेदखिन्न हो जाना स्वाभाविक था। महाराज स्वयं युद्ध क्षेत्र में जाने की तैयारी करने लगे। कुमार सूरदत्त ने पिता से प्रार्थना की कि युद्धक्षेत्र में जाने की अनुमति उसे दी जाए। महाराज का विचार था कि सूरदत्त बालक है और वह बलवान शत्रु का सामना नहीं कर पाएगा। इसी विचार से उन्होंने सूरदत्त की प्रार्थना अस्वीकार कर दी। पर सूरदत्त उत्साही युवक था और वह अपने कर्त्तव्य को भली-भांति पहचानता था। उसने पिता से पुनः आग्रह भरी प्रार्थना की और निवेदन किया कि योग्य पुत्रों के होते हुए पिता को युद्ध में जाना पड़े, यह पुत्रों के लिए अशोभनीय है। उसे एक अवसर दिया जाए। उसे विश्वास है कि वह उनके विश्वास को खण्डित नहीं होने देगा। आखिर राजा ने सूरदत्त को युद्ध में जाने की अनुमति प्रदान कर दी। सूरदत्त अपनी थोड़ी सी सेना के साथ विशाल शत्रुसेना पर टूट पड़ा। सूरदत्त के साहस और शौर्य के समक्ष शत्रुसेना भाग खड़ी हुई। सूरदत्त विजयी होकर लौटा। महाराज जिनचंद्र के हर्ष का पार न रहा। सूरदत्त का राजा और प्रजा ने मिलकर अभिनन्दन किया।

सूरदत्त के शौर्य और साहस की प्रशस्तियां व्यक्ति-व्यक्ति के मुख पर चढ़ गईं। दुर्जेय शत्रु को जीत लेने के कारण उसे 'जितशत्रु' नाम से पुकारा जाने लगा। धीरे-धीरे लोग भूल ही गए कि राजकुमार का नाम सूरदत्त है। सब उसे 'जितशत्रु' के गुणनिष्पन्न नाम से पुकारने लगे। राजा ने अपने बड़े पुत्र जिनदत्त का युवराज पद निरस्त करके जितशत्रु को युवराज पद प्रदान कर दिया। इससे जिनदत्त को बहुत खेद हुआ। वह मन ही मन जितशत्रु से ईर्ष्या भाव रखने लगा, पर प्रकट रूप से वह उससे स्नेह ही करता था।

अक्सर राजसभा में जितशत्रु के शौर्य की प्रशंसा होती थी। एक बार सभी सभासद जितशत्रु के शौर्य और साहस की प्रशंसा कर रहे थे। जिनदत्त भी सभा में उपस्थित था। उसने वचनों का कुशल संयोजन करते हुए कहा, निःसंदेह जितशत्रु कुशल और साहसी योद्धा है, पर जिनमत के अनुसार तो असली योद्धा की परिभाषा कुछ और ही है। जितशत्रु ने अग्रज से पूछा, तात! जिनमत में असली योद्धा की परिभाषा क्या है? जिनदत्त ने कहा, प्रिय अनुज! जिनमत का कथन है—लाखों योद्धाओं को परास्त कर देने वाला योद्धा सच्चा योद्धा नहीं है। सच्चा योद्धा तो वह है, जो क्रोधादि कषायों से रंजित अपनी आत्मा को जीत लेता है। स्वयं को जीतने वाला ही वस्तुतः 'जितशत्रु' कहलाने का अधिकारी है।

जिनदत्त का तीर निशाने पर लगा। उसकी बात सुनकर जितशत्रु उसी क्षण अपने आसन से उठ खड़ा

हुआ। उसने घोषणा की, अग्रज जिनदत्त का कथन युक्तियुक्त है। अब मैं उस पथ पर बढ़ने को कृत्संकल्प हूं, जिस पर बढ़कर व्यक्ति सच्चे अर्थों में योद्धा बनता है। मैं आत्मजय के लिए प्रव्रज्या धारण करूंगा।

पिता, माता, परिजनों और पुरजनों ने अनेकानेक तर्क उपस्थित कर जितशत्रु को संसार में रोकना चाहा, पर उसके संकल्प के समक्ष समस्त बाधाएं—समस्त तर्क कुन्द पड़ गए। जितशत्रु प्रव्रजित हो गए और आत्मजय प्राप्त कर सच में 'जितशत्रु' बन गए। केवलज्ञान प्राप्त कर जितशत्रु मोक्ष में जा विराजे।

—बृहत्कथा कोष, भाग-1 (आ. हरिषेण)

(ख) जितशत्रु

चम्पानगरी का युवा नरेश। उसने सुकुमालिका नामक एक राजकुमारी से विवाह किया जो अद्वितीय सुंदरी और सुकोमल शरीर वाली थी। राजा रानी पर इस कदर आसक्त हुआ कि राजकाज को ही भूल बैठा। राजा काम में सो गया तो प्रजा में अनैतिकता, अनाचार और अपराधों की बाढ़ आ गई। मंत्रिमण्डल ने राजा को पुनः पुनः उसके राजधर्म के प्रति सचेत किया, पर राजा सुकुमालिका में ऐसा अनुरक्त था कि अंतःपुर से बाहर कदम नहीं रखता था। आखिर मंत्रिमण्डल ने एक कठोर निर्णय लिया और उस निर्णय के अनुसार निद्राधीन राजा व रानी को पलंग सहित गहन जंगल में छोड़ दिया गया। युवराज को राजपद पर अधिष्ठित कर दिया गया।

प्रभात हुई तो राजा और रानी ने स्वयं को जंगल में पाया। दोनों हत्प्रभ और दुखी हुए। जितशत्रु भले ही रागान्ध बना था पर उसे यह समझ अवश्य थी कि मंत्रिमण्डल ने उसे उचित ही सजा दी है। प्राप्त सजा को विधि का आलेख मानकर जितशत्रु ने मेहनत मजदूरी द्वारा उदरपोषण करने का निश्चय किया।

जंगल सुविशाल था। दोनों चले। मार्ग में सुकुमालिका को प्यास लगी। जितशत्रु ने दूर-दूर तक जल की तलाश की, पर कहीं जल न मिला। जितशत्रु सुकुमालिका को प्यास से तड़पते हुए नहीं देख सका। उसने अपना शरीर चीरकर अपने रक्त से सुकुमालिका की प्यास बुझाई और अपनी जंघा के मांस से उसकी क्षुधा को शान्त किया। सुकुमालिका ने बिना झिझके पति के रक्त और मांस का आहार किया। इस पर भी जितशत्रु के राग में कहीं न्यूनता न आई। आखिर दोनों एक नगर में पहुंचे। एक छोटा सा मकान किराए पर लेकर रहने लगे। जितशत्रु को एक सेठ के यहां नौकरी मिल गई। उदर-पोषण ठीक चलने लगा।

एक दिन सुकुमालिका ने जितशत्रु से कहा, आप तो दिनभर मुझसे दूर रहते है! मुझ अकेली का समय काटे नहीं कटता है। मेरे लिए किसी मनोरंजन का प्रबन्ध कर दीजिए! जितशत्रु ने वैसा करने का आश्वासन दिया। नौकरी से लौटते हुए जितशत्रु ने एक पंगु गवैये को गाते देखा। उसे वह मनोरंजन का उचित साधन प्रतीत हुआ और उसे अपने साथ ले आया। जितशत्रु की अनुपस्थिति में पंगु भजन गाकर सुकुमालिका का मनोरंजन करने लगा। निरंतर सामीप्य अनुराग में शीघ्र ही परिवर्तित हो गया। सुकुमालिका पंगु के साथ स्वच्छन्द जीवन जीने लगी। पंगु और सुकुमालिका का पारस्परिक आकर्षण ऐसा बढ़ा कि उन्हें जितशत्रु राह का कांटा दिखाई देने लगा। आखिर सुकुमालिका ने एक दिन उस कांटे को राह से हटाने का निर्णय कर लिया।

एक दिन जब जितशत्रु अवकाश पर था तो सुकुमालिका ने उससे दरिया तट पर घूमने का आग्रह किया। बरसात की ऋतु थी और दरिया उफान पर था। उचित अवसर पाकर सुकुमालिका ने जितशत्रु को दरिया में धक्का दे दिया। दरिया में गिरते-गिरते जितशत्रु की आंखों के समक्ष त्रियाचरित्र का नग्न दुष्टपक्ष

साकार हो गया। दरिया के तीव्र प्रवाह में जितशत्रु को बहते देखकर सुकुमालिका संतुष्ट बनकर अपने स्थान पर लौट आई। पुण्योदय से एक काष्ठखण्ड जितशत्रु के हाथ लग गया। वह कई दिन तक दरिया में बहते-बहते आखिर किनारे लग गया। किनारे पर बैठकर वह त्रियाचरित्र पर चिंतन करने लगा। उसे प्रसन्नता और संतोष इसलिए था कि उसकी आंखें खुल गईं थी।

संयोग से उस नगर के निःसंतान राजा का उसी दिन अवसान हुआ था। परम्परा के अनुसार नागरिकों ने सुसज्जित अश्व को नए राजा के चयन के लिए छोड़ा हुआ था। अश्व ने जितशत्रु का चयन किया। इस प्रकार जितशत्रु पुनः राजा बन गया। मंत्रियों ने राजा से विवाह करने की प्रार्थना की। पर राजा को तो स्त्रीजाति से ही अविश्वास हो चला था। उसने अविवाहित रहने का ही निर्णय किया। जितशत्रु ने अपने बुद्धिबल से ऐसा सुशासन स्थापित किया कि प्रजा उसकी पूजा करने लगी।

उधर पंगु और सुकुमालिका ने गली-गली घूमकर उदर पोषण का विकल्प तलाशा। सुकुमालिका पंगु को कंधे पर बैठाकर चलती। पंगु गीत गाता। गीत समाप्ति पर सुकुमालिका लोगों को कल्पित आत्मकथा सुनाते हुए कहती कि उसके माता-पिता ने उसका विवाह इस पंगु से किया है, पर वह एक पतिव्रता नारी है, उसके लिए अब यह पंगु ही पूज्य है। उसकी कल्पित कथा पर लोग सहानुभूति से भर जाते और उसे धन देते।

घूमते-घामते पंगु और सुकुमालिका एक बार उस नगर में पहुंचे, जहां जितशत्रु राजा बना था। इस अनमेल युगल की चर्चा जितशत्रु के कानों तक भी पहुंची। जितशत्रु को विश्वास हो गया कि निश्चित ही यह पंगु और सुकुमालिका ही होने चाहिएं। राजा के आदेश पर इस युगल को दरबार में बुलाया गया। हर्षित हो दोनों दरबार में पहुंचे। पंगु ने गीतों से समा बांधा तो सुकुमालिका ने कल्पित आत्मकथा से लोगों की सहानुभूति बटोरी। लोग उसकी दुखद कथा सुनकर दयार्द्र बन गए। पर जितशत्रु ठहाका लगाकर हँसने लगा। सुकुमालिका ने ध्यान से राजा को देखा तो वह उसे पहचान गई। उसके पांव तले की धरा खिसक गई। वह राजा के चरणों में गिरकर क्षमा मांगने लगी। आखिर सभासदों की उत्सुकता को शांत करने के लिए राजा ने सुकुमालिका की वास्तविक कथा सुनाई। लोग त्रियाचरित्र का ऐसा विद्रूप सुनकर सुकुमालिका को धिक्-धिक् कहने लगे। राजा ने उसे अपने नगर से निकाल दिया।

न्यायनीतिपूर्वक राजधर्म का सुदीर्घ काल तक पालन करते हुए देहोत्सर्ग के पश्चात् राजा सद्गति का अधिकारी बना।

—आख्यानक मणिकोश-22-70

(ग) जितशत्रु

चम्पानगरी का राजा। (देखिए-ललितांग कुमार)

(घ) जितशत्रु

क्षितिप्रतिष्ठित नगर का राजा। (देखिए-कनकमंजरी)

(ङ) जितशत्रु

अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व श्रावस्ती नगरी का राजा।

(च) जितशत्रु

अत्यन्त प्राचीन काल में पाटलिपुत्र का एक न्यायनीतिपूर्वक राज्य करने वाला राजा। (देखिए-आराम-शोभा)

(छ) जितशत्रु

चम्पानगरी का एक प्राचीन नरेश, जो अपने सुबुद्धि नामक प्रधान से तत्व दर्शन का बोध पाकर सिद्ध-बुद्ध बना था। (देखिए-सुबुद्धि प्रधान)

(ज) जितशत्रु

कांपिल्यपुर का राजा। वह पूर्वजन्म में प्रभु मल्लि के जीव महाबल राजा का अंतरंग सखा था। पूर्वजन्म का स्नेह वर्तमान जन्म में भी प्रसंग पाकर उभर आया। राजा के महल में एक बार चोक्खा नाम की परिव्राजिका आई। वह शौचमूलक धर्म को ही धर्म कहती थी। पूर्व में वह भगवती मल्लि से भी मिल चुकी थी और उनसे संवाद-वार्ता में पराजित हो चुकी थी। राजा ने चोक्खा से उस द्वारा देखी गई किसी अपूर्व वस्तु के बारे में पूछा तो चोक्खा ने भगवती मल्लि के रूप-गुणों की प्रशंसा करते हुए कहा, वैसा रूप जगतितल पर दुर्लभ है। सुनकर जितशत्रु मल्लि को पाने के लिए मचल उठा। उसने महाराज कुंभ के पास दूत भेजा। कुंभ की अस्वीकृति से खिन्न बने जितशत्रु ने भारी सेना के साथ मिथिला को घेर लिया। आखिर भगवती मल्लि के प्रयास से राजा जितशत्रु प्रतिबुद्ध और संयम धारण कर सिद्ध हुआ। (देखिए-मल्लिनाथ तीर्थंकर)

(झ) जितशत्रु

उज्जयिनी नगरी का राजा जो मल्लविद्या का प्रेमी था। (देखिए-अट्टणमल्ल)

(ञ) जितशत्रु

अवन्ती नगरी का राजा। (देखिए-अतूंकारी भट्टा)

(ट) जितशत्रु

श्रावस्ती नरेश जितशत्रु, जो बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत स्वामी के शासनकाल में हुए तथा जिनके पुत्र स्कन्दककुमार तथा पुत्री पुरन्दरयशा ने भगवान के पास आर्हती दीक्षा ली थी।

(ठ) जितशत्रु

द्वितीय तीर्थंकर भगवान अजितनाथ के जनक।

(ड) जितशत्रु

कलिंगाधिपति। राजकुमारी यशोदा, जिसके साथ वर्धमान का पाणिग्रहण हुआ था, इन्हीं जितशत्रु नरेश की पुत्री थी।

धर्मोद्योत करते हुए भगवान महावीर अपने शिष्य समूह के साथ कलिंग में पधारे और कुमारी पर्वत (वर्तमान नाम उदयगिरि) पर समवसृत हुए। प्रभु के पदार्पण का संवाद सुनकर जितशत्रु हर्षाभिभूत हो उनके वन्दन के लिए गया। प्रभु का प्रवचन सुनकर वह प्रतिबुद्ध हुआ और राज्य त्याग कर मुनिधर्म में प्रव्रजित हो गया। प्रव्रजित होकर जितशत्रु तप-संयम की आराधना में तल्लीन हो गया।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा

(ढ) जितशत्रु राजा

चिकित्सिका नगरी के एक धर्मात्मा राजा। एक बार महाराज जितशत्रु ने उत्कृष्ट भावों से धर्मवीर्य नामक एक मासोपवासी अणगार को आहार देकर अतिशय शुभ कर्मों का संचय किया। परिणामतः वे भवान्तर

में चम्पानगरी में राजकुमार महाचन्द के रूप में जन्मे, जहां उन्होंने यथासमय भगवान महावीर से श्रमण धर्म अंगीकार कर परमपद प्राप्त किया। (देखिए-महाचन्द कुमार) —विपाक सूत्र, द्वि.श्रु.,अ. 9

(क) जितारि राजा

श्रीपुर नगर का एक राजा, जो धर्म का विश्वास करने वाला नहीं था पर महामंत्री मतिसागर के द्वारा धर्म की महिमा सिद्ध कर दिए जाने पर संसार त्याग कर मुनि बन गया और उसी भव में मोक्ष गया। (देखिए-मतिसागर)

(ख) जितारि राजा

सावत्थी नरेश। तृतीय तीर्थंकर संभवनाथ के पिता।

जिनकुशल सूरि (आचार्य)

'छोटे दादा' नाम से श्वेताम्बर मंदिरमार्गी परंपरा में अर्चित-वन्दित एक प्रभावक जैन आचार्य। मंदिरमार्गी श्वेताम्बर परम्परा में चार दादा गुरुओं की परम्परा है। जिनदत्त सूरि प्रथम और मणिधारी जिनचंद्र सूरि द्वितीय दादा गुरु नाम से सुविख्यात हैं। ये दोनों बड़े दादा गुरु कहलाते हैं। जिनकुशल सूरि छोटे दादा नाम से ख्यात हैं और दादा गुरुओं में उनका क्रम तृतीय है।

आचार्य जिनकुशल सूरि के गुरु का नाम जिनचंद्र सूरि था, जो 'कलिकाल केवली' उपाधि से अलंकृत थे।

आचार्य जिनकुशल सूरि का जन्म छाजेड़ गौत्रीय वैश्य वंश में वी.नि. 1807 में समियाणा नगर में हुआ था। समियाणा के मंत्री जेसल श्रेष्ठी उनके पिता तथा जयंतश्री उनकी माता थी। आचार्य श्री का गृहनाम करमण था। दस वर्ष की अवस्था में करमण दीक्षित हुए और कुशलकीर्ति नाम से जाने गए। आगम-आगमेतर दर्शनों के अध्ययन से वे अपने समय के मान्य विद्वान मुनिवर बने। वी.नि. 1847 में आचार्य पद पर उनकी नियुक्ति हुई और 'जिनकुशल सूरि' उनका नामकरण हुआ। राजस्थान और सिन्ध प्रदेश आचार्य श्री के विहार क्षेत्र रहे। अपने समय के वे एक चमत्कारी आचार्य थे। उनके भक्तों की संख्या विशाल थी। उनका स्वर्गवास देवराजपुर (वर्तमान पाकिस्तान) में वी.नि. 1859 में हुआ। वर्तमान में कई नगरों में उनकी चरण-पादुकाएं स्थापित हैं, जिनके प्रति काफी लोग श्रद्धाभक्ति रखते हैं। उनकी चरण-पादुकाओं को आज भी चमत्कारी माना जाता है।

जिनचंद्र (आचार्य)

जैन शासन के एक प्रभावक आचार्य। ये आचार्य मणिधारी जिनचंद्रसूरि से भिन्न थे। इन्हें भी दादा नाम से सम्मान प्राप्त है। चार दादा गुरुओं में इनका चतुर्थ क्रम है।

आचार्य जिनचंद्र का जन्म वी.नि. 2065 में वैश्य वंश में बड़ली ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम शाह श्रीवंत और माता का नाम श्रीदेवी था। 8 वर्ष की अवस्था में ये जिनमाणिक्यसूरि के शिष्य बने। 17 वर्ष की अवस्था में खरतरगच्छ मुनि संघ के आचार्य पाट पर नियुक्त हुए।

आचार्य जिनचंद्र का व्यक्तित्व प्रभावशाली और प्रवचनशैली आकर्षक थी। एक बड़ा मानव समाज उनसे प्रभावित हुआ। बादशाह अकबर भी उनसे प्रभावित था। कश्मीर जाते हुए अकबर ने आचार्य जिनचंद्र से आशीर्वाद प्राप्त किया था और कश्मीर में सात दिनों के लिए अमारि घोषित की थी। बादशाह की इस

घोषणा का अनुसरण कर अन्य अनेक राजाओं ने भी अपने-अपने राज्यों में अमारि की घोषणाएं कीं, जिससे अहिंसा भगवती की आराधना और जिनशासन की प्रभावना हुई। शहंशाह जहांगीर भी आचार्य जिनचंद्र के प्रति निष्ठाभाव रखता था।

आचार्य जिनचंद्र का स्वर्गवास वी.नि. 2140 (वि.सं. 1670) में विलाड़ा ग्राम में हुआ।

जिनचंद्र कुमार

विजयपुर नगर के नगरसेठ धनावह का इकलौता पुत्र। एक पुण्यशाली युवक, जिसे अचाहे और अयाचे ही सुख-समृद्धि और भोगोपभोग के साधन प्राप्त होते रहे। वह जब सोलह वर्ष का हुआ तो उसने एक दिन विचार किया, युवावस्था में पितृ-धन का उपभोग करने वाला पुत्र पाप का भागी होता है। मैं युवा हूं। मेरा दायित्व बनता है कि मैं स्वयं धनार्जन करूं और उस धन को स्व-पर कल्याण में नियोजित करूं। पर मेरे माता-पिता का अनुराग मेरे विदेश-गमन में बाधा बनेगा। वे मुझे विदेश जाने की अनुमति नहीं देंगे। उचित यही है कि माता-पिता को सूचित किए बिना ही मुझे विदेश चले जाना चाहिए। इस विचार के साथ जिनचंद्र कुमार सीधा सागर तट पर पहुंच गया। वह उधर से गुजरने वाले किसी जहाज की प्रतीक्षा करने लगा। सागर तट पर चहलकदमी करते हुए उसने एक स्थान पर तीन लोगों को वार्तालाप करते देखा। तीनों ही भिन्न-भिन्न दोषों को गिनकर सागर की निन्दा कर रहे थे। एक ने कहा, अथाह जल का स्वामी होने पर भी सागर किसी की प्यास नहीं बुझा सकता। दूसरे ने कहा, रत्नाकर कहलाकर भी किसी को फूटी कौड़ी नहीं देता। तीसरे ने भी अपनी खीझ प्रकट की। उनके इस वार्तालाप को सुनकर जिनचंद्र ने कहा, भाइयो! तुम्हारे देखने और सोचने का ढंग ही उलटा है। सागर की विशेषताओं को तुम विपरीत बनाकर कह रहे हो! सागर गंभीरता का सबक हमें सिखाता है। वह हमें मर्यादा में रहने की सीख देता है। वह रत्नाकर है और गहरे पैठने वालों को रत्न और मुक्ताएं भी देता है।

समुद्र के अधिष्ठाता देव ने जिनचंद्र की बातें सुनीं। उसकी गुण-दृष्टि पर प्रसन्न होकर वह जिनचंद्र के समक्ष प्रकट हुआ। उसने उसकी गुणदृष्टि की प्रशंसा की और उसे पांच बहुमूल्य रत्न दिए। जिनचंद्र के कहने पर उसने उसे सागर पार के नगर तारापुर पहुंचा दिया। साथ ही कहा कि जब भी उसे उसकी आवश्यकता अनुभव हो, स्मरण कर ले, वह उपस्थित हो जाएगा।

तारापुर नगर के राजोद्यान में जिनचंद्र कुमार विश्राम करने लगा। उधर राजकुमारी मदनमंजरी, मंत्री पुत्री कुसुममंजरी, नगरसेठ की पुत्री पुष्पमंजरी और राजपुरोहित की पुत्री काममंजरी उद्यान भ्रमण के लिए आईं। ये चारों अंतरंग सखियां थीं और चारों का निश्चय था कि वे एक ही पुरुष से विवाह करेंगी। संयोग से एक कृष्ण विषधर ने उन चारों कन्याओं का रास्ता रोक लिया। भयातुर कन्याएं चिल्लाईं। जिनचंद्र दौड़कर वहां पहुंचा। उसने मधुर स्वर में कहा, नागराज! आप साक्षात् देव रूप हैं, इन बालाओं को क्षमा कर दो! इनसे यदि आपका कुछ अहित हुआ है तो उसका दण्ड मुझे दीजिए!

चमत्कार घटा। नाग चला गया। चारों कन्याओं के हृदय में जिनचंद्र बस गया। राजा, मंत्री आदि के कानों तक जिनचंद्र की कीर्तिगाथा पहुंची। अंततः चारों कन्याओं का विवाह जिनचंद्र से सम्पन्न हुआ। कुछ दिन ससुराल में बिताकर जिनचंद्र ने स्वदेश के लिए प्रस्थान किया। प्रीतिदान-स्वरूप कई जहाज धन-धान्य से भरकर राजा ने उसे प्रदान किए। चारों पत्नियों के साथ यात्रा अतीव सुखद थी। पर अकस्मात् पाप कर्म का उदय हुआ और तूफान में फंसकर जहाज समुद्र में समा गए। पूर्वजन्म के मित्र एक देव ने हाथी का रूप धारण कर जिनचंद्र और उसकी चारों पत्नियों की रक्षा की और उन्हें तट पर पहुंचा दिया। यह रत्नद्वीप का

तट था। वहां उन्हें एक मुनि के दर्शन हुए। धर्मदेशना सुनकर पांचों ने श्रावक धर्म अंगीकार किया। रत्नद्वीप पर रहकर जिनचंद्र कुमार ने व्यापार किया और पर्याप्त धन अर्जित किया। आखिर धन को रत्नों में बदलवा कर एक श्रेष्ठी के जहाज पर सवार होकर जिनचंद्र अपनी पत्नियों के साथ अपने देश के लिए रवाना हुआ। मार्ग में श्रेष्ठी की दृष्टि जिनचंद्र की पत्नियों पर पड़ी तो वह उनके रूप पर मुग्ध हो गया। उसने अपने साथियों के सहयोग से जिनचंद्र को समुद्र में फैंक दिया। सेठ ने मदनमंजरी आदि चारों बालाओं के समक्ष काम-प्रस्ताव रखा। चारों बालाओं ने सिंहनी बनकर सेठ को ललकारा तो वह भय से कंपित हो गया। उसने अपने नगर चंद्रपुर पहुंचकर ये चारों बालाएं राजा को भेंट कर दीं।

उधर कई दिनों तक काष्ठखण्ड के सहारे जिनचंद्र सागर के वक्ष पर तैरता रहा। एकाएक उसे देवमित्र की स्मृति हुई। देव उपस्थित हुआ और उसने जिनचंद्र की प्रार्थना पर उसे चंद्रपुर पहुंचा दिया। जिनचंद्र ने दरबार में जाकर सेठ के विरुद्ध शिकायत की। राजा ने वस्तुस्थिति से परिचित बनकर सेठ को अपने देश से निर्वासित कर दिया और जिनचंद्र को उसकी चारों पत्नियां ससम्मान लौटा दीं। साथ ही जिनचंद्र के आचार-व्यवहार और व्यक्तित्व पर मुग्ध होकर राजा ने अपनी पुत्री का विवाह भी उससे कर दिया। राजा ने प्रीतिदान में हाथी, घोड़े, रथ और पर्याप्त धन सामग्री जिनचंद्र कुमार को दी। वहां से जिनचंद्र पांच पत्नियों और पर्याप्त ऐश्वर्य के साथ अपने नगर लौटा। माता-पिता पुत्र और पुत्रवधुओं को देखकर हर्षाभिभूत हो गए। पुत्र और पुत्रवधुओं को गृहदायित्व देकर सेठ धनावह पत्नी सहित प्रव्रजित हो गए।

जिनचंद्र पांचों पत्नियों के साथ श्रावकधर्म का पालन करते हुए सुखपूर्वक जीवन-यापन करने लगा। उनकी धर्मश्रद्धा सुदृढ़ से सुदृढ़तर बनती रही। कालक्रम से पांचों पत्नियों ने एक-एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जब योग्य हो गए तो जिनचंद्र कुमार ने उनको गृहदायित्व प्रदान किए और वह स्वयं पांचों पत्नियों के साथ प्रव्रजित होकर साधनारत बन गया। उन पांचों साधकों ने आयुष्य पूर्ण कर देवभव प्राप्त किया। कालक्रम से पांचों ही मोक्ष जाएंगे। —जैन कथा रत्न कोष भाग 6 / गौतम कुलक बालावबोध / षड्पुरुष चरित्र

जिनचंद्र मणिधारी (आचार्य)

एक यशस्वी और प्रभावशाली जैन आचार्य। 'मणिधारी आचार्य जिनचंद्र' और 'बड़े दादा', इन दो नामों से वे जैन जगत में विख्यात हैं। कहते हैं कि जन्म से ही उनके मस्तक में मणि थी, जिसकी सूचना उन्होंने अपने स्वर्गवास से कुछ समय पूर्व ही संघ को दी थी।

आचार्य जिनचंद्र मणिधारी जी का जन्म राजस्थान प्रान्त के विक्रमपुर गांव में एक वैश्य परिवार में वी. नि. 1661 में हुआ था। उनके पिता का नाम रासलाल और माता का नाम देल्हण देवी था। बारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने बड़े दादा जिनदत्त सूरि के श्री चरणों में दीक्षा धारण की और आगम वांगमय का पारायण किया। अपने युग के वे एक विद्वान और प्रभावशाली मुनि थे। गुरु के स्वर्गारोहण के पश्चात् वे खरतरगच्छ के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए।

दिल्ली नरेश मदनपाल आचार्य जिनचंद्र मणिधारी का अनन्य भक्त था।

आचार्य श्री अपने युग के विश्रुत विद्वान थे। शास्त्रार्थ के कई प्रसंग उनके जीवन में आए, जिनमें वे विजयी रहे।

वी.नि. 1693 में दिल्ली में उनका स्वर्गवास हुआ। वर्तमान में दिल्ली के उपनगर महरौली नामक स्थान पर उनका स्मृति स्तूप विद्यमान है, जो दादावाड़ी नाम से पुकारा जाता है। —श्री जिनचंद्र सूरि चरित

जिनचंद्र श्रावक

सुप्रतिष्ठित नामक नगर का रहने वाला एक दृढ़धर्मी श्रावक। उसकी पत्नी का नाम सुंदरी था। जिनचंद्र समृद्ध था पर धर्मानुष्ठान और धर्माचरण को ही वह अपनी वास्तविक समृद्धि मानता था। मास में चार पौषध करना उसका नियम था। उसकी धर्मदृढ़ता की ख्याति भूलोक पर तो फैली ही, देवलोक में भी फैल गई। एक बार देवराज इन्द्र ने उसकी धर्मदृढ़ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। एक देव जिनचंद्र की दृढ़ता की परीक्षा लेने पृथ्वी पर आया। जहां पर जिनचंद्र पौषध की आराधना कर रहा था, वहां उपस्थित होकर देव ने कई प्रकार के अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित किए। जिनचंद्र को कई प्रकार से विभ्रमित करने के प्रयास किए पर वह उसकी समाधि को तोड़ने में सफल नहीं हो सका।

अन्ततः देव असफल हो गया। वह जिनचंद्र के चरणों पर झुक गया और उसने क्षमा प्रार्थना की तथा निवेदन किया, महानुभाव! देवदर्शन कभी मिथ्या नहीं जाते, आप जो चाहें मुझसे मांग सकते हैं! जिनचंद्र ने कहा, मैं अपने आप में संतुष्ट और प्रसन्न हूं, मुझे कुछ नहीं चाहिए। पर देव ने पुनः-पुनः निवेदन किया और कुछ मांगने के लिए जिनचंद्र को बाध्य किया। आखिर जिनचंद्र ने कहा, कुछ ऐसा करो कि जनता में जिनधर्म के प्रति श्रद्धा जागे! देव जिनचंद्र की मांग सुन गद्‌गद हो गया। उसने जगह-जगह तीर्थंकरों की अतिशय महिमा को व्यक्त करने वाली घटनाओं का प्रदर्शन किया। लोगों में रोमांच जगा और जिनधर्म की ओर आकर्षण उनके हृदयों में उत्पन्न हुआ। जिनधर्म की महती प्रभावना कर देव अपने निवास पर चला गया।

जिनचंद्र भी श्रावक व्रतों का विशुद्ध आराधन कर देवलोक में गया। एक भव करके वह सिद्ध-बुद्ध होगा।

जिनचंद्र सूरि (आचार्य)

आगमिक गच्छ के एक प्रभावशाली और वादनिपुण आचार्य। उनकी वाणी में अद्‌भुत ओज था। जब वे वीर रस पर व्याख्यान देते तो श्रोता शौर्य से भर जाते, करुण रस पर बोलते तो श्रोता अश्रु बरसाने लगते और हास्य रस पर बोलते तो श्रोता हँसी से लोट-पोट हो जाते। उनके इसी महान गुण के कारण उन्हें 'नव रसावतार तरंगिणी' का विरुद प्राप्त था।

एक बार आचार्य जिनचंद्र सूरि लोलियाणक नगर में विराजमान थे। वहां का राजा आचार्य श्री का परम भक्त था। एक बार नगर में दामोदर नामक एक पण्डित आठ याज्ञिकों के साथ आया। उसने एक यज्ञ का आयोजन किया। यज्ञ में बलि के लिए 32 बकरे लाए गए। इससे अहिंसक जैन समाज में चिन्ता की लहर दौड़ गई। आचार्य श्री तक सूचना पहुंची। आचार्य श्री ने याज्ञिक से कहलवाया कि वह यज्ञ में हिंसा न करे। परन्तु याज्ञिक दामोदर ने आचार्य श्री की बात अस्वीकार कर दी। आचार्य श्री ने राजा से इस सम्बन्ध में कहा और राजाज्ञा प्रसृत कराई कि यज्ञ में हिंसा के समर्थन और निषेध पर शास्त्रार्थ हो। जय-पराजय के आधार पर ही हिंसा और अहिंसा का विधान हो।

आखिर जिनचंद्र सूरि और ब्राह्मण विद्वान दामोदर के मध्य शास्त्रार्थ हुआ। यह शास्त्रार्थ अठारह दिनों तक चला। राजा और प्रजा ने इस शास्त्रार्थ में भारी रुचि ली। अठारहवें दिन आचार्य जिनचंद्र सूरि के अकाट्य तर्कों के समक्ष दामोदर निरुत्तर हो गया। हिंसा की पराजय और अहिंसा की विजय हुई। 32 बकरों को प्राणदान प्राप्त हुआ। आचार्य जिनचंद्र आगमिक गच्छ के पांचवें प्रभावक आचार्य थे। उनके शासनकाल में आगमिक गच्छ ने काफी विकास किया।

(क) जिनदत्त

पुरिमताल नगर का एक धनी श्रेष्ठी, जिसके जीवन में उत्थान-पतन के कई कष्टकारी क्षण उपस्थित हुए। (देखिए-रत्नपाल)

(ख) जिनदत्त

एक श्रमणोपासक, सच्चरित्र और प्रामाणिक श्रावक। उसका व्यापार दूर देशों में फैला हुआ था। एक बार विदेश प्रस्थान करते हुए उसने अपने मित्रों और पारिवारिकों से पूछा कि वह विदेश से उनके लिए क्या लाए। सभी ने अपनी-अपनी पसंद की वस्तुएं उसे बता दीं। उसी क्रम में नगर नरेश ने अपने लिए चार सार मंगवाए।

विदेश में जाकर जिनदत्त ने व्यापार किया। लौटते हुए उसने सभी के लिए इच्छित वस्तुएं खरीद लीं। पर राजा की वस्तुएं वह नहीं खरीद सका। आखिर एक अनुभवी वृद्ध ने उसका मार्गदर्शन करते हुए कहा, उसे चार सार गणिका वसंतसेना से प्राप्त हो सकते हैं। जिनदत्त गणिका के पास पहुंचा और उससे चार सार मांगे। गणिका ने चार सार के लिए चार लक्ष मुद्राएं जिनदत्त से मांगी। जिनदत्त ने चार लक्ष मुद्राएं प्रदान कर चार सार खरीद लिए। वे चार सार थे—1. क्रोध के वश होकर कोई कार्य न करे, 2. अति निद्रा न ले, 3. शत्रु को प्रेम से वश में करे, 4. स्त्री के वशवर्ती न बने।

जिनदत्त अपने नगर पहुंचा। सभी की इच्छित वस्तुएं उसने प्रदान कर दीं। राजा को भी उसके चार सार प्रदान कर दिए। राजा ने विचार किया कि चार सारों की परीक्षा करनी चाहिए। वह उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। एक बार उसे दरबार में विलम्ब हो गया। देर रात वह अपने शयन कक्ष में पहुंचा तो उसने अपनी रानी के साथ किसी पुरुष को सोए हुए देखा। यह देखकर राजा की भ्रूकुटी चढ़ गई। क्रोध से वह थर-थर कांपने लगा। तलवार खींच ली। जैसे ही उसने उक्त पुरुष पर वार करना चाहा, उसे जिनदत्त द्वारा दिए गए सार का स्मरण हो आया कि क्रोध के वश होकर कोई कार्य न करे। राजा ने इस सार की परीक्षा के लिए अपने क्रोध पर अंकुश लगा दिया। वह अपनी शैया के निकट गया। वह यह देखकर दंग रह गया कि उसकी छोटी बहन ही पुरुष वेश में अपनी भाभी के साथ सो रही है। तभी पुरुषवेशी बहन की निद्रा भी टूट गई। उसने मुस्कराते हुए कहा, भैया! खेल-खेल में मैंने आज आपके वस्त्र पहन लिए और भाभी की गोद में कब नींद आ गई इसका पता ही नहीं चला!

राजा ने बहन को कण्ठ से लगा लिया। साथ ही सार की परीक्षा से वह अतीव प्रसन्न हुआ। उसे विश्वास हो गया कि उस द्वारा व्यय किया गया धन व्यर्थ नहीं गया है। अब वह शेष सारों को आजमाने को उतावला हो गया। वह पूर्वापेक्षया कम निद्रा लेने लगा। एक रात्रि में वह जग रहा था। उसे एक नारी के रुदन का स्वर सुनाई दिया। वह महल के बाहर निकला। कुछ दूरी पर जाने के बाद उसे एक सुसज्जित स्त्री दिखाई दी। राजा ने उसका परिचय और रोने का कारण पूछा। उस स्त्री ने बताया कि वह नगर रक्षिका देवी है और इसलिए रो रही है कि कल सर्पदंश से नगरनरेश की मृत्यु हो जाएगी। उसकी बात सुनकर क्षणभर के लिए राजा सन्न रह गया। तदनन्तर उसने अपने भावों पर अंकुश लगाते हुए नगररक्षिका देवी से यह पूछा कि सर्प किस दिशा से आकर राजा को डँसेगा। देवी ने बता दिया कि सर्प पूर्वदिशा से आएगा। देवी को मधुर वचनों से सान्त्वना देकर राजा अपने महल में लौट आया। कम निद्रा लेने रूप सार का मूल्य वह जान चुका था। उसने तृतीय सार को आजमाने का निश्चय किया कि शत्रु को प्रेम से जीतो।

प्रभात खिलते ही राजा ने पूर्व दिशा के राजपथ को फूलों और फलों से सजवा दिया। स्थान-स्थान पर दुग्धपात्र रखवा दिए। पूर्व दिशा से नागराज आया तो अपने स्वागत में सजे राजपथ को देखकर उसका वैरभाव शान्त हो गया। वस्तुतः वह नाग जाति का देव था। उसने अपने अवधिज्ञान में राजा के शुभ मनोभावों को पहचान लिया। राजा से मित्रता का सम्बन्ध स्थापित कर और उसे पशु-पक्षियों की भाषा समझने तथा मृतकों की भावी गति को देखने-जानने का वरदान देकर लौटने लगा। लौटते हुए नागराज ने राजा से कहा कि वह इन वरदानों का भेद किसी को न बताए। यदि इस रहस्य को वह किसी से कहेगा तो तत्क्षण उसकी मृत्यु हो जाएगी।

राजा तीन सारों को आजमा चुका था। चतुर्थ सार को आजमाने के लिए वह उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। राजा का साला उसके साथ ही रहता था। वह दंभी और व्यभिचारी था, पर अपने आपको धार्मिक और सच्चरित्र प्रदर्शित करता था। एक दिन अकस्मात् उसकी मृत्यु हो गई। राजा ने उपयोग लगाया और देखा कि उसका साला मरकर नरक में उत्पन्न हुआ है। राजा के मुख पर स्मित मुस्कान तैर गई, उसका चिन्तन था कि दुष्कर्म कितने ही छिप कर किए जाएं, अंततः उनका फल तो मनुष्य को मिलता ही है। उधर भाई की मृत्यु पर राजा को मुस्काते देख रानी के हृदय में शूल चुभ गया।

दूसरे ही दिन राजमहल के सफाईकर्मी की मृत्यु हो गई। राजा ने उपयोग लगाकर देखा तो पाया कि वह स्वर्ग में गया है। उसकी मृत्यु पर राजा की आंखों में आंसू तैर आए। यह देखकर रानी बिफर उठी। उसने त्रियाचरित्र फैलाते हुए राजा से उसके भाई की मृत्यु पर मुस्काने और सफाई कर्मी की मृत्यु पर आंसू बहाने का रहस्य पूछा। राजा ने रानी को अनेकविध समझाया कि वह उक्त रहस्य किसी को नहीं बता सकता, और अगर किसी को बताता है तो उसे स्वयं मृत्यु का ग्रास बनना पड़ेगा। राजा के इस कथन पर भी रानी ने अपनी जिद्द नहीं छोड़ी और कहा, यदि यह रहस्य नहीं बताओगे तो मैं अपने प्राण दे दूंगी। राजा का अपनी रानी पर अत्यधिक अनुराग था। आखिर उसने उक्त रहस्य रानी को बताने का निश्चय कर लिया। जैसे ही वह उक्त रहस्य को रानी के समक्ष प्रकट करने लगा, तभी उसकी दृष्टि महल की मुंडेर पर बैठे हंस-हंसिनी युगल पर पड़ी। राजा नागराज के वरदानस्वरूप पक्षियों की भाषा समझता था। राजा ने सुना— हंसिनी हंस से आग्रह कर रही थी कि वह रानी के उत्तरीय में टंके मोती उसके लिए लाए। हंस के समझाने पर भी हंसिनी ने अपना आग्रह नहीं छोड़ा और प्राण त्याग की धमकी दे डाली। तब हंस ने कहा, मैं राजा जैसा मूर्ख नहीं हूं, जो तुम्हारी धमकी के समक्ष नतमस्तक होकर अपने प्राणों को दांव पर लगाऊं!

हंस के वचन सुनकर राजा को एक झटका लगा। उसे अपनी भूल ज्ञात हो गई। साथ ही उसका मिथ्या मोह भी विदा हो गया। उसे निश्चय हो गया कि जो रानी अपनी जिद्द के कारण उसके प्राणों को संकट में डाल रही है, उसका प्रेम भी मिथ्या ही है। राजा ने रानी से स्पष्ट कह दिया कि वह मरे या जिए पर वह उसे उक्त मुस्कान और रुदन का कारण नहीं बताएगा।

राजा चारों सारों के मूल्य से परिचित हो चुका था। उसने श्रेष्ठी जिनदत्त को आमंत्रित कर सम्मानित किया और मंत्री पद प्रदान किया। बाद में राजा ने गणिका वसंतसेना को भी अपने राज्य में आमंत्रित किया और उसे बहुत से पारितोषिक दिए। राज-सम्मान पाकर गणिका ने भी निन्दनीय व्यवसाय का परित्याग कर धर्मसाधनामय जीवन जीने का व्रत ले लिया।

(ग) जिनदत्त

चम्पानगरी निवासी एक सेठ। (देखिए-नागश्री)

जिनदत्त-पुत्र (सागरदत्त-पुत्र)

चम्पानगरी में दो मित्र रहते थे। उनमें से एक जिनदत्त सेठ का पुत्र था और दूसरा सागरदत्त सेठ का। एकदा दोनों मित्र नगरी के बाहर स्थित सुभूमिभाग नामक उद्यान में आमोद-प्रमोद के लिए गए। वहां एक झाड़ी में एक मोरनी ने सुंदर अंडे दिए थे। अण्डों को देखकर दोनों मित्र प्रसन्न हुए। दोनों एक-एक अण्डा अपने-अपने घर ले गए और मुर्गियों के स्थान पर सुरक्षित रख दिया, जिससे कि मुर्गियां उन्हें सेकर उनसे मयूर-शावक उत्पन्न करें।

सागरदत्त-पुत्र शंकालु हृदय का युवक था। वह पुनः पुनः अण्डे को स्पर्श कर और हिला कर देखता। ऐसा करने से कुछ ही दिनों में अण्डा सड़ गया। उसे मयूर-शावक तो क्या मिलना था, पंचेंद्रिय जीव की हत्या का भार भी उसके सिर आ गया।

उधर जिनदत्त-पुत्र को किसी भी प्रकार का संदेह नहीं था। उसे सुदृढ़ विश्वास था कि उसे एक दिन अवश्य ही मयूर-शावक प्राप्त होगा। हुआ भी वैसा ही, काल के पकने पर अण्डे से मयूर-शावक निकला जिसे देखकर जिनदत्त-पुत्र अत्यन्त हर्षित हुआ।

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र की इस कथा का कथ्य है कि संदेहशील व्यक्ति इच्छित लाभ से वंचित रह जाता है और श्रद्धाशील इच्छित लाभ को अवश्यमेव प्राप्त करता है। —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अध्ययन 3

जिनदत्त सूरि (आचार्य)

खरतरगच्छ के संस्थापक और बड़े दादा के सम्माननीय नाम से सुख्यात श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा के एक आचार्य।

आचार्य जिनदत्त सूरि का जन्म गुजरात प्रान्त के धवलक नगर में वी.नि. 1602 में हुआ। वे वैश्य वंशज थे। उनकी माता का नाम वाहड़ा देवी और पिता का नाम वाच्छिग था। यह जैन धर्म के प्रति निष्ठा रखने वाला परिवार था। वाच्छिग गुजरात नरेश के दरबार में अमात्य पद पर प्रतिष्ठित थे। जिनदत्त को माता-पिता से धार्मिक संस्कार विरासत में प्राप्त हुए थे।

बाल्यावस्था में ही साध्वियों की प्रेरणा से जिनदत्त का मन वैराग्य रंग से रंग गया। उन्होंने उपाध्याय धर्म देव से मात्र नौ वर्ष की अवस्था में आर्हती प्रव्रज्या अंगीकार की। अध्ययन में समर्पित हुए। आगमों का तलस्पर्शी अध्ययन किया। जैनेतर दर्शनों के भी पारगामी पण्डित बने। मंत्र विद्या का भी पारायण किया। वे संघ के मनीषी मुनियों में गिने जाने लगे। शास्त्रार्थ के अनेक प्रसंगों पर उन्होंने विजयश्री प्राप्त की। वी. नि. 1639 में उन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। बाद में वे युगप्रधान आचार्य बने।

आचार्य जिनदत्त सूरि के युग में चैत्यवासियों ने अपना प्रभाव पर्याप्त विस्तृत किया हुआ था। आचार्य जिनदत्त सूरि सुविहित मार्गी थे। उन्होंने चैत्यवासी श्रमणों को कई बार शास्त्रार्थ में परास्त कर सुविहित मार्ग का गौरव बढ़ाया। उन्होंने अपने जीवन काल में सहस्राधिक मुमुक्षुओं को जिन दीक्षा दी, जिससे पर्याप्त रूप में जिन धर्म की प्रभावना हुई।

आचार्य जिनदत्त सूरि ने कई अमूल्य ग्रन्थों की रचना भी की।

वी.नि. 1681 में आचार्य जिनदत्त सूरि का स्वर्गवास अजमेर में हुआ। उनके नाम से बनी दादावाड़ी वहां आज भी मौजूद है। अन्य अनेक नगरों और प्रान्तों में भी उनके नाम से दादावाड़ियां हैं।

(क) जिनदास

एक आदर्श युवक, जिसने अग्रजों के दुर्व्यवहार का विषपान करके भी सदैव उनकी कल्याण-कामना का ही अमृत वर्षण किया। उसकी पत्नी का नाम सुगुणी था, जो अपने नाम के अनुरूप ही परम गुणवान और सुरूपा थी। उक्त आदर्श दम्पती का संक्षिप्त परिचय निम्नोक्त है–

जिनदास महेन्द्रपुर नगर के श्रेष्ठी सोहन साहू के चार पुत्रों में सबसे छोटा था। सेठ के तीन अन्य पुत्रों के नाम थे–आबड़, जाबड़ और खाबड़। आबड़ के जन्म लेते ही सेठ की समृद्धि आधी रह गई। जाबड़ ने जन्म लिया तो सेठ कंगाल हो गया और खाबड़ के जन्म से झोंपड़ी में रहकर भी सेठ को अन्न के दाने-दाने के लिए भटकना पड़ा। पुण्य योग से चतुर्थ पुत्र जिनदास के जन्म लेते ही सेठ की समृद्धि लौट आई। वह पहले से भी अधिक धनी बन गया। घर में सभी भांति के ऐश्वर्य सजीव हो गए। चारों भाइयों के विवाह हो गए। जिनदास का विवाह सुगुणी नामक नगर सेठ की पुत्री से सम्पन्न हुआ।

जिनदास और सुगुणी, दोनों के हृदयों में देव, गुरु और धर्म के प्रति अनन्य आस्था थी। दोनों अपना अधिकांश समय धर्माराधना में व्यतीत करते थे। आबड़, जाबड़ और खाबड़, तीनों बड़े भाइयों और उनकी पत्नियों को धर्म का बोध नहीं था और न ही धर्म में उनकी रुचि थी। वे ईर्ष्यालु, झगड़ालु और दंभी प्रकृति के प्राणी थे। नगर में जिनदास का बड़ा यश था। इससे तीनों भाई उससे द्वेष रखते थे। दिन-प्रतिदिन किसी न किसी उपाय से जिनदास को अपमानित करने का उपक्रम करते। परन्तु जिनदास भाइयों की विनयभक्ति करता, उन्हें प्रसन्न रखने की चेष्टा करता। सुगुणी को भी निरन्तर जेठानियों की कटूक्तियों और दुर्व्यवहार को झेलना पड़ता। परन्तु वह सहनशीलता की प्रतिमूर्त्ति थी। जेठानियों से अनादर पाकर भी वह उनका आदर करती थी।

जिनदास की प्रतिष्ठा से व्यथित अग्रजों ने उसे अलग करने का निर्णय किया, परन्तु जिनदास ने अपनी विनयभक्ति से उन्हें वैसा नहीं करने दिया। जेठानियां भी निरन्तर अलग घर बसाने को उत्सुक रहती थीं। आखिर एक दिन तीनों भाइयों और भाभियों ने अलग होने की हठ पकड़ ली। सेठ सोहन साहू ने भी अपने हृदय को कड़ा कर चारों पुत्रों को अलग करने का मन बना लिया। पर जिनदास जानता था कि पिता का वह फैसला उनके लिए अति कठिनाई और विवशता में लिया गया फैसला है। उसने अपनी पत्नी से विचार-विमर्श किया और उसके अनुसार दोनों पति और पत्नी खाली हाथों से घर छोड़कर विदा हो गए। दूसरे दिन प्रातः माता-पिता ने जब यह जाना कि उनका पुत्र और पुत्रवधू घर छोड़कर चले गए हैं तो वे इस कष्ट को सह नहीं सके और परलोक सिधार गए।

जिनदास और सुगुणी ने कुछ दिन भारी अभाव और कठिनाई से बिताए। पर वे दृढ़धर्मी और पुण्यशाली थे, फलतः कुछ ही दिनों में समृद्धि उनके चरण पखारने लगी। पोलासपुर नगर में जाकर जिनदास व्यापार करने लगा और संक्षिप्त समय में ही नगर का समृद्धिशाली श्रेष्ठी बन गया। उधर जिनदास के घर से विदा होते ही आबड़, जाबड़, और खाबड़ का भाग्य रूठ गया। घर में चोर घुसे और घर को खाली कर गए। गोदाम आग की भेंट चढ़ गए। व्यापार चौपट हो गया। भिखारी बनकर दर-दर भटकते हुए पोलासपुर पहुंचे। नियति ने उनको जिनदास से मिला दिया। जिनदास ने भाइयों और भाभियों को हार्दिक मान दिया। अग्रजों के हृदयों के मैल भी धुल चुके थे। टूटा परिवार पुनः जुड़ गया। सब सानन्द रहने लगे।

जीवन को धर्मध्यानपूर्वक व्यतीत करते हुए अंतिम अवस्था में जिनदास और सुगुणी ने संयम धारण किया और आयुष्य पूर्ण कर स्वर्ग पद पाया। जन्मान्तर में वे दोनों निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध होंगे।

(ख) जिनदास

क्षितिप्रतिष्ठितपुर नगर का रहने वाला एक जिनोपासक श्रावक। जिनवचन और जिन प्रवचन पर उसकी अगाध आस्था थी। व्रत-नियम-सामायिक-पौषध और नवकार-आराधना उसकी दिनचर्या के अनन्य अंग थे। उधर नगरनरेश राजा बल भोगवादी प्रवृत्ति का व्यक्ति था। एक बार कोतवाल ने बाढ़ के जल से भरी नदी से एक बड़े आकार का बीजोरा फल निकाल कर राजा को भेंट किया। राजा ने वह फल खाया तो उसे वह स्वादिष्ट और बलवर्द्धक लगा। राजा ने कोतवाल को आदेश दिया कि वह वैसे फल की खोज करे और प्रतिदिन एक फल लाकर उसे दे। कोतवाल नदी के किनारे चलता-चलता एक सघन वन के निकट पहुंचा। उसे वह वृक्ष भी दिखाई पड़ गया, जिस पर बड़े-बड़े बीजोरा फल लगे थे। पर जैसे ही वह उन फलों को तोड़ने के लिए वृक्ष के निकट पहुंचा, ग्वालों ने उसे सावधान किया और बताया कि उन फलों को तोड़ने वाला निश्चित ही मरण को प्राप्त होता है। ग्वालों की बात सुनकर कोतवाल भयभीत हो गया और उसने राजा के पास पहुंचकर वस्तुस्थिति वर्णित की। परन्तु राजा तो जिह्वा का गुलाम था। उसने आदेश दिया, सभी नागरिकों के नाम पर्चियों पर लिखकर एक बड़े घड़े में डाले जाएं, और प्रतिदिन एक पर्ची निकाली जाए। जिस दिन जिसके नाम की पर्ची निकले वही व्यक्ति फल लाए।

इस प्रकार प्रतिदिन एक व्यक्ति की बलि ली जाने लगी। राजा की रसलोलुपता पर नागरिक संत्रस्त हो गए थे। उसी क्रम में एक दिन जिनदास के नाम की पर्ची निकली। जिनदास ने अपनी दैनिक क्रियाएं कीं। सामायिक की आराधना की। सागारी अनशन किया और नवकार मंत्र के उद्घोष के साथ वन में प्रवेश किया। वह वन वाणव्यंतर देव से अधिष्ठित था। नवकार मंत्र का उद्घोष सुनकर व्यंतर देव सशंकित हो गया। वह चिन्तनशील बना। अवधिज्ञान के उपयोग से उसने जान लिया कि वह पूर्वजन्म में एक संत था और संयम की विराधना के कारण वाणव्यंतर बना है। उसे अपने पतन पर पश्चात्ताप हुआ। उसे सम्यक्त्व-रत्न की प्राप्ति हो गई। इसका निमित्त उसने जिनदास को ही माना। उसने जिनदास को गुरु पद दिया और कहा, प्रतिदिन एक बीजोराफल वह उसके पास पहुंचा दिया करेगा।

जिनदास प्रतिदिन बीजोराफल राजा की सेवा में प्रस्तुत करने लगा। जिनदास के धर्मप्रभाव के कारण नगर जन अभय को प्राप्त हो गए। —वृन्दारुवृत्ति / जैन कथा रत्न कोष / नेम वाणी / कविवर्य नेमिचंद्र

(ग) जिनदास

पाटलिपुत्र नगर निवासी बारहव्रती श्रावक, अनन्य श्रमणोपासक और दृढ़धर्मी पुरुषरत्न। एक बार वह अनेक व्यापारियों के साथ समुद्रमार्ग से व्यापार के लिए सुवर्णद्वीप जा रहा था। उसके साथी व्यापारी भी श्रमणोपासक थे। सभी यान के कक्ष में बैठे धर्मचर्चा में लीन थे। अचानक कालिक नामक दैत्य विशाल रूप बनाकर आकाश पर महामेघ की भांति प्रकट हुआ। उसने जिनदास को सम्बोधित कर सभी व्यापारियों को चेतावनी दी कि वे पाखण्डरूप जिनधर्म की चर्चा बन्द करें! जिनधर्म की निन्दना करें, जिनधर्म की आराधना न करने का संकल्प करें! यदि वे ऐसा नहीं करेंगे तो वह उन सबको उनके धन-माल सहित समुद्र में डुबो देगा!

सभी व्यापारी भय से कांप उठे। पर जिनदास के एक रोम में भी भय का स्पंदन नहीं हुआ। दैत्य ने पुनः अपनी चेतावनी को दोहराया। इस पर सभी व्यापारियों ने जिनदास से प्रार्थना की, श्रेष्ठिवर्य! यदि प्राण और धन की रक्षा होती है तो जिन धर्म की निन्दना हमें कर देनी चाहिए। प्राण बच गए तो घर लौटकर

दोगुने उत्साह से जिनधर्म की आराधना कर लेंगें। जिनदास ने कहा, मित्रो ! कष्ट में ही तो धर्म की परीक्षा होती है। मेरा तो आप सभी के लिए यही कहना है कि हमें अपने धर्म पर सुदृढ़ रहना चाहिए। जो धर्म पर, दृढ़ रहता है, उसे एक तो क्या, हजार दैत्य भी मिलकर मार नहीं सकते हैं। जिनदास की प्रेरणा से सभी व्यापारियों के खिसकते संकल्प पुनः सुदृढ़ बन गए। दैत्य ने एक बार फिर अपनी चेतावनी को दोहराया। पर सभी श्रावक अपने धर्म पर सुदृढ़ थे। दैत्य ने ज्यों ही यान को डुबोना चाहा, शासन रक्षक देवों ने दैत्य पर आक्रमण कर दिया। दैत्य दुम दबाकर भाग खड़ा हुआ। देवों ने जिनदास और उसके मित्र व्यापारियों की दृढ़धर्मिता की प्रशंसा की और उनकी यात्रा में वे सहायक बन गए। इससे श्रावकों की धर्मश्रद्धा पूर्वापेक्षया और अधिक सुदृढ़ बन गई।

—बृहत्कथा कोष, भाग 1 (आ. हरिषेण)

(घ) जिनदास

अढाई हजार वर्ष पूर्वकालीन सौगन्धिका नगरी का राजकुमार। उसके पिता का नाम महाचन्द्र और माता का नाम अर्हदत्ता था। उसके पितामह महाराज अप्रतिहत नगर नरेश थे और उसकी दादी का नाम सुकृष्णा देवी था।

जिनदास कुमार अनुपम रूप और विरल गुणों का स्वामी था। साधारणतः इस जगत में मानव के लिए जो कुछ भी दुर्लभ होता है, वह सब उसे पूर्व पुण्योदय से सहज ही प्राप्त था।

एक बार सौगन्धिका नगरी के बाहर स्थित नीलाशोक नामक राजोद्यान में अपने धर्मसंघ के साथ भगवान महावीर स्वामी पधारे। नागरिकों और राजपरिवार के साथ जिनदास कुमार श्री प्रभु के दर्शनों के लिए उद्यान में गया। वहां प्रभु का उपदेश सुनकर उसे आत्मिक सुख की प्राप्ति हुई और उसने भगवान से श्रावक व्रत अंगीकार किए।

नागरिकों और जिनदास कुमार के अपने-अपने स्थानों पर लौट जाने के पश्चात् गौतम स्वामी ने भगवान महावीर स्वामी से जिनदास कुमार के पूर्वभव और आगामी भव के बारे में जिज्ञासा की। भगवान महावीर ने फरमाया—गौतम ! राजकुमार जिनदास अपने पूर्वभव में माध्यमिका नामक नगरी का राजा था, जहां उसका नाम मेघरथ था। मेघरथ अत्यन्त उदार और नीति-निपुण नरेश था।

एक बार सुधर्मा नामक अनगार महाराज मेघरथ के महल में पधारे। मुनि मासोपवासी थे। मेघरथ ने अत्यन्त उत्कृष्ट भावों से मुनि को आहार दान दिया और महान पुण्यराशि का संचय किया। वहां का सुखद आयुष्य भोगकर मेघरथ का जीव वर्तमान जिनदास के रूप में जन्मा है। यह जिनदास कई वर्षों तक श्रावक धर्म का पालन करेगा। बाद में प्रव्रजित होगा और उत्कृष्ट संयम की आराधना द्वारा सिद्ध पद प्राप्त करेगा।

भगवान के वचनों को सुनकर गौतम स्वामी तथा उपस्थित श्रोता वर्ग सन्तुष्ट हो गया।

कुछ समय सौगन्धिका नगरी में विराजकर भगवान महावीर अन्यत्र विहार कर गए।

एक बार पौषधशाला में तेले की आराधना करते हुए जिनदास को यह आध्यात्मिक चिन्तन उत्पन्न हुआ—वे नगर और उद्यान धन्य हैं, जहां भगवान महावीर स्वामी के चरण अंकित होते हैं। कितना शुभ हो कि भगवान महावीर मेरी नगरी में भी पधारें! यदि भगवान यहां पधारें तो मैं ममत्व के बन्धनों को छिन्न करके उनके श्री चरणों में आर्हती दीक्षा अंगीकार करूं!

उधर कालक्रम से ग्रामानुग्राम विचरण करते भगवान महावीर सौगन्धिका पधारे। जिनदास कुमार की प्रसन्नता का पारावार न रहा। वह अपने आराध्यदेव के श्री चरणों में पहुंचा। प्रवचन सुन प्रतिबुद्ध हुआ।

माता-पिता और परिजनों की अनुमति प्राप्त कर वह प्रव्रजित हो गया। उत्कृष्ट संयम और तप की आराधना द्वारा उसने परम पद प्राप्त किया।

—विपाक सूत्र, द्वितीय श्रुत, अ. 5

जिनदासगणी महत्तर (आचार्य)

चूर्णि साहित्य के रचयिताओं में आचार्य जिनदासगणी महत्तर का नाम प्रमुख है। नन्दी, अनुयोग, निशीथ आदि कई आगमों पर आचार्य श्री ने चूर्णि साहित्य का लेखन किया। आठ आगमों पर चूर्णि के रचयिता के रूप में आचार्य श्री विश्रुत हैं।

आचार्य जिनदासगणी महत्तर का गृहस्थकालीन परिचय लगभग अनुपलब्ध है। इतने भर संकेत हैं कि उनके पिता का नाम नाग और माता का नाम गोपा था। वे स्वयं सहित सात भाई थे। उनका स्वयं का क्रम चतुर्थ था।

आचार्य जिनदास गणी महत्तर आगम साहित्य के तलस्पर्शी अध्येता और पारगामी पण्डित थे। उन द्वारा लिखित चूर्णि साहित्य विशाल और गहन है।

आप वी. नि. की 12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के मान्य आचार्य थे।

—चूर्णि साहित्य

जिनदेवी

अमरपुर नगर के नगर सेठ वृषभदत्त की अर्द्धांगिनी, एक जैन श्राविका। (देखिए-सुलस कुमार)

जिनपाल

चम्पानगरी निवासी माकन्दी नामक एक समृद्ध गाथापति का पुत्र और भद्रा का आत्मज। उसका एक सहोदर था, जिसका नाम जिनरक्षित था। उन दोनों भाइयों ने लवणसमुद्र से ग्यारह बार देशाटन किया और प्रभूत धन संचित किया। बारहवीं बार पुनः वे यात्रा के लिए तैयार हुए तो माता-पिता ने उन्हें वैसा न करने के लिए कहा और संतोषवृत्ति की सीख दी। पर माता-पिता की सीख को विभिन्न तर्कों से निरस्त करते हुए वे समुद्री यात्रा पर निकल पड़े। बीच समुद्र में तूफान के भंवर में उनका जहाज फंस गया और टूटकर बिखर गया। दोनों भाई लकड़ी के पट्टों के सहारे तैरते हुए एक किनारे पर आ लगे। यह रत्नद्वीप का तट था। रत्नद्वीपा देवी वहां की अधीश्वरी थी। वह हाथ में तलवार लेकर उनके पास आई और बोली, जीना चाहते हो तो मेरे साथ मेरे महल में रहो और मेरे साथ भोग भोगो! भयभीत दोनों भाई देवी के दास बनकर उसके साथ रहने लगे।

एक बार लवणसमुद्र के स्वामी सुस्थित देव ने रत्नद्वीपा को लवणसमुद्र की सफाई का कार्य सौंपा। रत्नद्वीपा ने दोनों भाइयों को आदेश दिया कि वह शीघ्र ही लौट आएगी, फिर भी उनका मन उचट जाए तो वे महल के आस-पास उद्यान में भ्रमण कर सकते हैं, पर ध्यान रहे, वे दक्षिण दिशा के उपवन में न जाएं! कहकर वह चली गई।

निषेध आकर्षण बनता ही है। दोनों भाई घूमते हुए दक्षिण दिशा में गए तो वहां असह्य दुर्गन्ध उन्हें अनुभव हुई। कुछ आगे बढ़ने पर उन्होंने वहां शूली की नोक पर लटके एक व्यक्ति को देखा। उस व्यक्ति ने रत्नद्वीपा की हकीकत बयान करते हुए उनको बताया कि वे दोनों उसे तभी तक प्रिय हैं, जब तक उसे अन्य कोई पुरुष नहीं मिल जाता। अन्य पुरुष के मिलते ही उनकी भी वही दशा होने वाली है, जो उसकी हुई है। जिनपाल ने रत्नद्वीपा के चंगुल से मुक्ति का उपाय पूछा तो शूली पर लटके हुए व्यक्ति ने बताया,

पूर्व दिशा में सेलक नाम के यक्ष का आयतन है, उसे भक्ति-स्तुति से तुम प्रसन्न कर सके तो वह तुम्हारी रक्षा कर सकता है। दोनों भाई सेलक यक्ष के यक्षायतन में गए। स्तुति से यक्ष को उन्होंने प्रसन्न किया और आत्मरक्षा की प्रार्थना की। सेलक घोड़े के रूप में प्रकट हुआ और बोला, मैं तुम्हें तुम्हारे इच्छित स्थान पर पहुंचा दूंगा। पर ध्यान रहे, रत्नद्वीपा तुम्हारा पीछा करेगी, उसकी कोई बात मत सुनना! वैसा करोगे तो वहीं पटक दिए जाओगे!

दोनों भाइयों की स्वीकृति पर सेलक देव दोनों भाइयों को अपनी पीठ पर बैठाकर चम्पा नगरी के लिए उड़ने लगा। उधर रत्नद्वीपा अपने महल में पहुंची। महल को शून्य पाकर अपने ज्ञानोपयोग से उसने दोनों भाइयों का पता लगाया। वह तत्क्षण उनका पीछा करने लगी। निकट पहुंचकर गिड़गिड़ाते हुए बोली, कम से कम एक बार मुझे देख तो लो! जिनपाल अविचलित रहा। पर जिनरक्षित विचलित बन गया। उसने आंख उठाकर रत्नद्वीपा की ओर देखा तो वह सेलक द्वारा गिरा दिया गया। अट्टहास करते हुए रत्नद्वीपा ने तलवार से उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए।

जिनपाल को सेलक ने उसके घर पहुंचा दिया। उक्त घटना से जिनपाल विरक्त हो गया। संयम धारण कर और निरतिचार रूप से संयमाराधना कर उसने सिद्ध पद प्राप्त किया। —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र 9

जिनप्रभ सूरि (आचार्य)

कई उत्कृष्ट ग्रन्थों के रचनाकार एक विद्वान आचार्य। खरतरगच्छीय जिनेश्वर सूरि के शिष्य। अपने युग के वे एक प्रभावशाली आचार्य थे। विभिन्न भाषाओं और विषयों के अधिकारी विद्वान होने के साथ-साथ वे तन्त्र-मंत्र विद्या के भी ज्ञाता थे। किसी मुसलमान बादशाह पर जैन धर्म का प्रभाव स्थापित करने वाले संभवतः वे प्रथम जैन आचार्य थे।

आचार्य जिनप्रभ सूरि का जन्म हीलवाड़ी नामक ग्राम में हुआ। उनके माता-पिता का नाम क्रमशः खेतलदेवी तथा रत्नपाल था। गृहवास में उनका स्वयं का नाम सुहड़पाल था। वी.नि. 1796 में सुहड़पाल ने जिनसिंह सूरि के चरणों में दीक्षा धारण की। दीक्षा के समय उनका नाम जिनप्रभ रखा गया। पन्द्रह वर्ष की संयमी पर्याय में किढ़वाणानगर में श्रीसंघ ने उन्हें आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

मुसलमान बादशाह मोहम्मद तुगलक को जैन धर्म से प्रभावित करने का कार्य आचार्य जिनप्रभ सूरि ने किया। मोहम्मद तुगलक पर जिनधर्म और आचार्य श्री का अतिशय प्रभाव था। आचार्य श्री के कहने पर बादशाह ने राज्य में कई बार अमारि की घोषणा कराई थी।

विधिमार्ग प्रपा, विविध तीर्थकल्प आदि कई ग्रन्थों की रचना आचार्य जिनप्रभ सूरि ने की थी। वे वी. नि. की 19वीं सदी के—तदनुसार वि.सं. 14वीं सदी के मान्य आचार्य थे।

जिनभद्रगणी 'क्षमाश्रमण' (आचार्य)

एक विद्वान जैन आचार्य। सुविख्यात भाष्यकार। जैन धर्म की सभी परम्पराओं में और विद्वद्वर्ग में आचार्य जिनभद्रगणी के भाष्य ग्रन्थ विशेष और गौरवमयी स्थान रखते हैं। वर्तमान में उनकी नौ रचनाएं उपलब्ध हैं।

आचार्य जिनभद्रगणी 'क्षमाश्रमण' उपनाम से सुख्यात हैं। उनके जन्म स्थान, माता-पिता तथा गुरु आदि का स्पष्ट परिचय अनुपलब्ध है। विभिन्न विद्वानों के मतानुसार वे वी.नि. की बारहवीं शताब्दी के आचार्य थे।

विशेषावश्यक भाष्य, जीतकल्प भाष्य आदि उनके द्वारा रचित भाष्य ग्रन्थ ज्ञान के अक्षय सागर हैं।

जिनभद्र श्रावक

राजगृह नगर का रहने वाला एक धनी श्रमणोपासक जिसकी विचारशीलता ने सुव्रत नामक मुनि को न केवल पतित होने से बचाया बल्कि उसके कुशल व्यवहार ने मुनि के चिन्तन को भी प्रबुद्ध बना दिया और मुनि कैवल्य पद पा गए। (देखिए-सुव्रत)

जिनरक्षित

(देखिए-जिनपाल)

जिनवल्लभ (आचार्य)

एक सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैन आचार्य। वर्तमान में प्राप्त उन द्वारा सृजित ग्रन्थों की संख्या डेढ़ दर्जन के लगभग है। आचार्य जिनवल्लभ सूरि पहले चैत्यवासी संघ में दीक्षित हुए थे। बाद में आचार्य अभयदेव (नवांगी टीकाकार) के सान्निध्य में अध्ययन करने से उनका चैत्य से मोह भंग हो गया। जीवन का सार उन्होंने आचार में देखा और सुविहित मार्गी आचार्य जिनेश्वर सूरि के वे शिष्य बन गए। एक उल्लेख के अनुसार आचार्य अभयदेव उनके गुरु थे।

आचार्य अभयदेव के बाद जिनवल्लभ आचार्य पाट पर विराजमान हुए।

वी.नि. 1637 में तीन दिन के अनशन सहित आचार्य जिनवल्लभ स्वर्गवासी हुए।

(क) जिनसेन

एक पराक्रमी और धर्मप्राण राजकुमार, जो कनकपुर के राजा जयमंगल की रानी जिनसेना का अंगजात था। जयमंगल की छोटी रानी का नाम रत्नवती था, जो रूपवान तो थी पर उसका हृदय ईर्ष्यादि दुर्गुणों से भरा हुआ था। उसने स्त्रैणचित्त जयमंगल को अपने रूपजाल से बांध लिया था और जिनसेना के विरुद्ध षड्यन्त्र रचकर उसे महलों से दूर राजोद्यान में निर्वासिता का जीवन जीने पर विवश कर दिया था। जिनसेना के हृदय में जिनेश्वर देव की भक्ति का निवास था। अपने निर्वासन के लिए उसने न तो रत्नवती को दोषी माना और न ही अपने पति जयमंगल को। उसने अपने ही पूर्वोपार्जित कर्मों को अपने निर्वासन का कारण माना। निर्वासन का दुखद जीवन जीते हुए भी वह आनन्दमग्न थी और जिनेश्वर देव के ध्यान में डूबी रहती थी। वहीं पर उसने जिस पुत्र को जन्म दिया, वह जगत में जिनसेन नाम से सुख्यात हुआ। रत्नवती ने भी एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम रामसेन रखा गया। जिनसेन जहां धीर, वीर और धर्मात्मा था, वहीं रामसेन में इन गुणों का वैसा विकास नहीं था। कालक्रम से दोनों राजकुमार युवा हुए। जिनसेन बड़ा था और प्रजा का प्रिय भी था। युवराज पद पर उसका स्वाभाविक अधिकार था। पर रत्नवती चाहती थी कि उसका पुत्र युवराज बने। उसने राजा को इसके लिए विवश किया। राजा ने दरबारियों और मंत्रियों के समक्ष उक्त प्रस्ताव रखा। पर्याप्त वाद-विवाद और दलीलों के बाद निर्णय लिया गया कि दोनों कुमार अपनी-अपनी कलाओं का प्रदर्शन करें। इसमें जो इक्कीस सिद्ध होगा, वही युवराज पद का अधिकारी होगा। कला प्रदर्शन का आयोजन हुआ। जिनसेन की कला के समक्ष रामसेन बुरी तरह पराजित हुआ। फलतः जिनसेन को युवराज पद प्रदान किया गया।

एक बार जिनसेन ने अकेले ही विजयपुर नगर के एक हजार सैनिकों को एक मुठभेड़ में पीठ दिखाने

पर विवश कर दिया। इस बात से प्रभावित होकर विजयपुर नरेश चंद्रसेन ने अपनी पुत्री मदनमालती का विवाह जिनसेन से कर दिया। एक अन्य कन्या—चम्पानगरी की राजकुमारी चंपकमाला से भी जिनसेन ने विवाह किया।

निरन्तर वर्धमान जिनसेन की सुख्याति से रत्नवती की ईर्ष्या भी निरन्तर वर्धमान बनती चली गई। उसने एक बार जिनसेन को विषमोदक खिला कर मारना चाहा। पर जिसका आयुष्य बल शेष हो उसे कोई भला कैसे मार सकता है! जिनसेन ने अपनी विमाता की मानसिक शान्ति के लिए देशाटन का संकल्प कर लिया। माता-पिता की आज्ञा लेकर उसने देशाटन के लिए प्रस्थान किया। सिंहलद्वीप के राजा के पास उसने नौकरी की और अपने शौर्य बल से कई बार राजा के प्राणों की रक्षा की। जिनसेन के सहयोग से सिंहलद्वीप अनेक कठिनाइयों से मुक्त हुआ।

जिनसेन ने एक आदर्श जीवन जीया। उसने सदैव अपने प्राणों पर अपने धर्म को अधिमान दिया। अपने जीवन काल में उसने कई ऐसे शौर्यपूर्ण कार्य किए कि साधारण व्यक्ति से उनकी कल्पना नहीं की जा सकती है। अंततः कनकपुर की जनता और पिता के आग्रह भरे निमंत्रण पर उसने वहां का राजपद स्वीकार किया। उसी अवधि में उसने एक और विवाह किया। उसने सुदीर्घकाल तक शासन किया और प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। अंतिम अवस्था में उसने अपने पुत्र को राज्य प्रदान किया और अपनी तीनों रानियों के साथ आर्हती दीक्षा अंगीकार की। उच्च संयम का पालन कर देहोत्सर्ग कर वह देवगति में गया। वहां से च्यव कर, मनुष्य भव धारण कर वह निर्वाण प्राप्त करेगा।

(ख) जिनसेन (आचार्य)

वी.नि. की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक मनीषी जैन आचार्य। आचार्य जिनसेन आचार्य वीरसेन के शिष्य थे। अपने गुरु की भांति वे भी उद्भट विद्वान और साहित्य साधक आचार्य थे। आचार्य वीरसेन के अधूरे टीकाग्रन्थ जयधवला को उन्होंने पूर्ण किया। उसके अतिरिक्त 'पार्श्वाभ्युदय' तथा 'आदिपुराण' नामक बृहद् ग्रन्थों की उन्होंने रचना की। आदिपुराण-उत्तरपुराण ग्रन्थ में चौबीस तीर्थंकरों के जीवन वृत्तों का अंकन है। यह ग्रन्थ महाकाव्य की कोटि का ग्रन्थ माना जाता है।

आचार्य जिनसेन तेजस्वी, वर्चस्वी और यशस्वी आचार्य थे। वे अखण्ड ब्रह्मचर्य के धारक, विनीत और विद्वान आचार्य थे। राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष पर उनका अच्छा प्रभाव था।

—जयधवला प्रशस्ति / उत्तर पुराण प्रशस्ति

जिनेश्वर सूरि (आचार्य)

श्वेताम्बर जैन परम्परा के सुविहितमार्गी एक प्रख्यात जैन आचार्य। उनके गुरु का नाम वर्धमान सूरि था, जो बड़गच्छ के उद्योतन सूरि के शिष्य थे।

जिनेश्वर सूरि का गृहवास में श्रीधर नाम था। उनका एक भाई था, जिसका नाम श्रीपति था। जन्मना वे ब्राह्मण थे। बचपन से ही अध्ययन रुचि के कारण युगल बन्धु यौवन द्वार तक पहुंचते-पहुंचते वैदिक शास्त्रों के विद्वान बन गए। युगल बन्धुओं की स्मृति प्रखर थी। वे एक बार जिस बात को सुन अथवा पढ़ लेते, उसे भूलते नहीं थे। विद्या निष्णात युगलबन्धु देश-देशान्तर में भ्रमण करते हुए धारा नगरी पहुंचे। उस समय धारा नगरी में राजा भोज का शासन था। नगरी में कोटीश्वर श्रेष्ठी लक्ष्मीधर रहता था। युगलबन्धु कई बार भोजन के लिए लक्ष्मीधर के घर आए। लक्ष्मीधर ने करोड़ों रुपए के लेन-देन का ब्यौरा अपने घर

की दीवारों पर लिख रखा था। दुर्दैववश एक दिन सेठ के घर में आग लग गई। घर तो जला ही साथ ही लेन-देन का ब्यौरा भी निःशेष हो गया। इससे सेठ उदास हो गया। उधर युगल बन्धु सेठ के पास पहुंचे। उन्होंने सेठ की उदासी का कारण ज्ञात किया। युगल बन्धुओं ने अपनी स्मरण शक्ति के बल पर दीवारों का लेखा-जोखा कागज पर लिखकर सेठ के हाथ में थमा दिया। इससे सेठ को हार्दिक प्रसन्नता हुई। उसने सोचा, इन ब्राह्मण युवकों से जिन धर्म की अच्छी प्रभावना संभव है। युगलबन्धुओं को अपने साथ लेकर सेठ लक्ष्मीधर वर्धमान सूरि के पास गया। वन्दन-दर्शन-आसन ग्रहण के पश्चात् सेठ ने आचार्य श्री को युगल बन्धुओं का परिचय दिया। लक्षण शास्त्र के विशेषज्ञ आचार्य श्री ने युगल बन्धुओं के उत्कृष्ट लक्षणों का अध्ययन किया और उन्हें उपदेश देकर प्रतिबोधित किया। युगल बन्धुओं की प्रार्थना पर आचार्य श्री ने उनको दीक्षा प्रदान की। युगलबन्धुओं को आचार्य श्री ने जिनेश्वर और बुद्धिसार नाम प्रदान किए।

आचार्य वर्धमान सूरि के सान्निध्य में युगल मुनियों ने आगम साहित्य का अध्ययन किया। थोड़े ही समय में वे जैन दर्शन के दिग्गज विद्वान बन गए। गुरु ने दोनों को सूरि पद प्रदान किया।

आचार्य जिनेश्वर और बुद्धि सागर गुर्वाज्ञा से स्वतंत्र विचरण कर जैन धर्म की प्रभावना करने लगे। विचरण क्रम में युगलबन्धु पाटण नगर में पहुंचे। वहां चैत्यवासी श्रमणों का विशेष प्रभाव था। चैत्यवासी श्रमणों ने पाटण के पूर्व नरेश वनराज चावड़ा से यह आदेश जारी करा लिया था कि चैत्यवासी श्रमणों की अनुमति के बिना अन्य श्रमण पाटण में नहीं आ सकते। यह क्रम लम्बे समय तक चला। इस क्रम को सुविहितमार्गी आचार्य जिनेश्वर ने खण्डित किया। उन्होंने तत्कालीन पाटण नरेश दुर्लभ राज की सभा में चैत्यवासी श्रमणों को शास्त्रार्थ में पराजित कर उनके प्रभाव को न्यून बना दिया।

आचार्य जिनेश्वर एक धुरन्धर विद्वान और वादी आचार्य के रूप में प्रख्यात हुए। उन्होंने कई ग्रन्थों की रचना भी की।

आचार्य जिनेश्वर और बुद्धिसागर का समय वी.नि. की 16वीं शताब्दी माना जाता है।

—खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि

जीर्ण सेठ

विशाला नगरी का रहने वाला एक ऐसा सेठ, जिसकी धन, सम्पत्ति और समृद्धि क्षीण हो चुकी थी। किसी समय वह नगरी का समृद्ध श्रेष्ठी था और उसका नाम जिनदत्त था। समृद्धि जीर्ण हो जाने से लोगों ने उसे जीर्ण सेठ के नाम से ही पुकारना प्रारंभ कर दिया था। समृद्धि जीर्ण हो गई थी पर आध्यात्मिक समृद्धि से वह समृद्ध था। वह धर्मध्यान करता और श्रमणों के प्रति विशेष श्रद्धा-भक्ति रखता था।

विशाला नगरी में छद्मस्थ अवस्था में भगवान महावीर चातुर्मासिक उपवास के साथ वर्षावास व्यतीत कर रहे थे। नगर के बाह्य भाग में स्थित बलदेव मंदिर में भगवान प्रतिमा धारण किए हुए ध्यानस्थ थे। जीर्ण सेठ उधर गया। भगवान को वन्दन कर उसने भिक्षार्थ पधारने की प्रार्थना की। घर जाकर वह भगवान के पधारने की प्रतीक्षा करने लगा। पर भगवान तो उपवासी थे। नहीं आए। जीर्ण सेठ प्रतिदिन भगवान की पर्युपासना के लिए जाता और भिक्षा की प्रार्थना करके लौट आता तथा भिक्षा का समय होने पर प्रभु की प्रतीक्षा करता। भगवान के न आने पर इस विचार से समाधीत बन जाता कि प्रभु तपरत हैं।

जीर्ण सेठ का यह क्रम निरन्तर चार मास तक चलता रहा। चातुर्मास के अन्तिम दिन उसे पूर्ण विश्वास था कि आज उसके प्रभु अवश्य उसे कृतार्थ करेंगे। प्रासुक और कल्प्य आहार सामग्री के साथ वह गृह-द्वार

पर बैठकर मार्ग पर पलक-पांवड़े बिछाकर महाश्रमण की प्रतीक्षा करने लगा। उसका रोम-रोम श्रद्धा और भक्ति से रोमांचित बन रहा था। प्रभु की प्रतीक्षा में उसका मानसिक चिन्तन उच्च और उच्चतर बनता जा रहा था। पर उसी समय अहोदानं-अहोदानं की दिव्य ध्वनि सुनकर उसकी चिन्तन-धारा खण्डित हो गई। वह पश्चात्ताप की मूर्त्ति बनकर अपने दुर्भाग्य को धिक्कारने लगा।

वस्तुतः भगवान बिना किसी लक्ष्य के भिक्षार्थ पधारे थे और पूर्ण नामक सेठ के द्वार पर जब पधारे तो सेठ ने अन्यमनस्कता से अपनी दासी के हाथों भगवान को उड़द-बांकुले दिलाए थे। अन्यमनस्कता से भी दिए गए उस दान की इतनी महिमा थी कि देवों ने पंच दिव्य बरसा कर उसकी सराहना की थी।

कुछ ही दिन बाद नगरी में एक ज्ञानी मुनिराज पधारे। एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने जीर्ण सेठ को उत्कृष्ट दान-दाता बताया। लोगों ने पूर्ण के दान की बात कही तो ज्ञानी मुनि ने स्पष्ट किया कि यदि चंद पल और जीर्ण श्रेष्ठी को यह ज्ञात न होता कि प्रभु ने पारणा कर लिया है तो वह आहारदान की उस उच्चतम भाव भूमि का स्पर्श कर रहा था कि समस्त कर्म जीर्ण कर केवलज्ञान प्राप्त कर लेता। इसलिए पूर्ण सेठ ने तो भौतिक दान ही दिया, पर जीर्ण ने तो भाव से वह दान दिया है, जिसकी महिमा अपरम्पार है।

जीर्ण सेठ आयुष्य पूर्ण कर बारहवें देवलोक में गया। वहां से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

जीवंधर

हेमांगद देश का राजा।

जीवंधर हेमांगद देश की राजपुरी नगरी के राजा सत्यन्धर का पुत्र था। काष्ठांगार नामक मंत्री महाराज सत्यंधर का अतिविश्वासपात्र था। राजा ने समस्त राज्यभार काष्ठांगार को प्रदान कर दिया और स्वयं महलों में रहकर अपनी रानियों के साथ सुखोपभोग में तल्लीन हो गया। काष्ठांगार राज्य लोभ में पड़कर अपने महाराज का शत्रु बन बैठा। मंत्री की विश्वासघाती प्रवृत्तियों पर सत्यंधर को अति क्षोभ हुआ। उसने अपनी सगर्भा रानी विजया को किसी तरह नगर से बाहर भेज दिया और स्वयं काष्ठांगार से उलझ गया। पर प्रजा को भूलकर विषयासक्ति में लीन होने वाले राजा को प्रजा का सहयोग कैसे मिलता? अपने मुट्ठीभर विश्वसनीय सैनिकों के साथ सत्यंधर काष्ठांगार से जूझते हुए मृत्यु का ग्रास बन गया।

राजपुरी नामक नगरी के श्मशान में रानी विजया ने एक पुत्र को जन्म दिया। शिशु का पालन-पोषण उस नगरी के गन्धोत्कट सेठ के घर हुआ जहां वह जीवंधर नाम से जाना गया। जीवन्धर वीर, विज्ञ और उत्साही युवक था। उसने देश-विदेशों में भ्रमण कर अपने पौरुष से पर्याप्त ख्याति, धन अर्जित किया और कई सुन्दर बालाओं से पाणिग्रहण किया। अन्ततः काष्ठांगार को युद्ध में परास्त कर उसने अपना पैतृक राज्य भी हस्तगत किया। जीवंधर ने कई वर्षों तक प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। उसकी कई पत्नियां थीं जिनमें गन्धर्वदत्ता प्रधान थी। गन्धर्वदत्ता से उसे जो पुत्र प्राप्त हुआ, उसका नाम वसुंधर कुमार रखा गया।

कालान्तर में ग्रामानुग्राम धर्मोद्योत करते महाश्रमण महावीर धर्मसंघ सहित हेमांगद देश में पधारे। वहां पर सुरमलय उद्यान में भगवान समवसृत हुए। जीवंधर नरेश भगवान की वाणी सुनकर प्रबुद्ध हुआ। अपने पुत्र वसुंधर कुमार को राजपद देकर वहां प्रभु के पास दीक्षित हो गया। राजा से मुनि हुए जीवंधर ने विशुद्ध संयम और तप की आराधना करते हुए आत्मकल्याण का संपादन किया।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा / (ले. डा. नेमिचन्द्र शास्त्री)

जीवयशा

जरासंध की वह पुत्री, जिसका विवाह कंस से हुआ था। वह एक अभिमानिनी और मदिरापायी नारी थी। मदिरा के नशे में उस द्वारा किए गए उपहास से ही रुष्ट होकर अतिमुक्तक मुनि के मुख से भविष्य प्रकट हुआ तथा देवकी और वसुदेव को सुदीर्घ कारावास भोगना पड़ा था।

जीवराज जी (आचार्य)

एक क्रियोद्धारक जैन मुनि। उनका जन्म गुजरात प्रदेश के सूरत शहर में वी.नि. सं. 2051 (वि.सं. 1581) में हुआ था। उनके पिता का नाम वीर जी और माता का नाम केशरबाई था।

जीवराज जी बाल्यावस्था से ही अध्ययनशील थे। यतियों से उन्होंने जैन ग्रन्थों का अध्ययन किया और वैराग्य भाव को प्राप्त होकर दीक्षा धारण की। उनकी आगमनिष्ठा उत्कृष्ट थी। आगम-विरुद्ध यति वर्ग का आचार देखकर उनका मन खिन्न हो गया। उन्होंने अपने दीक्षागुरु जगा जी यति से क्रियोद्धार के लिए निवेदन किया। परन्तु वृद्ध यति जी ने उसके लिए अपनी असमर्थता व्यक्त की। साथ ही उन्होंने क्रियोद्धार के लिए जीवराज जी को अपना आशीर्वाद प्रदान किया।

वी.नि. 2078 (वि. 1608) में जीवराज जी ने अपने पांच साथी मुनियों के साथ क्रियोद्धार के लिए भीष्म संकल्प किया। उन्होंने पंच महाव्रत रूप दीक्षा धारण की। अल्प वस्त्र, अल्प पात्र, मुखपत्ती, रजोहरण, प्रमार्जिका—ये उपकरण साधु के लिए ग्राह्य रखे। ससूत्र मुखवस्त्रिका बांधने का विधान किया। 11 अंग, 12 उपांग, 4 मूल, 4 छेद और 1 आवश्यक सूत्र—इन 32 आगमों को प्रामाणिक स्वीकार किया।

लोंकाशाह की धर्मक्रान्ति को जीवराज जी ने विस्तारित किया। यतिवर्ग की ओर से उनका तीव्र विरोध हुआ। पर उनकी धर्मनिष्ठा और संकल्प वज्रोपम था। उनके तपो-त्यागमय जीवन का जनता पर विशेष प्रभाव पड़ा और उनके श्रावकों व भक्तों की संख्या वृद्धि पाती गई।

वर्तमान में श्वेताम्बर स्थानकवासी सम्प्रदाय का जो वेशविन्यास और आचार-व्यवहार है, वह आचार्य जीवराज जी से ही निःसृत हुआ है। आचार्य जीवराज जी का स्वर्गारोहण अनशन व समाधिपूर्वक हुआ।

जीवानंद वैद्य

जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र के क्षितिप्रतिष्ठ नगर में रहने वाले सुविधि नामक वैद्य का एक सुयोग्य पुत्र। जीवानंद बाल्यकाल से ही सुसंस्कारी बालक था। पूर्वजन्म के सद्संस्कारों का अमृतकोश साथ लेकर वह जन्मा था। करुणा, धर्मनिष्ठा, परोपकार-वृत्ति आदि सद्गुण उसके स्वभाव में रचे-बसे थे। पिता के सान्निध्य में उसने वैद्यक-विद्या का सांगोपांग अध्ययन किया और वह युवावस्था तक पहुंचते-पहुंचते एक कुशल और विख्यात वैद्य बन गया। नगर नरेश पुत्र महीधर, मंत्रीपुत्र सुबुद्धि, सार्थवाह पुत्र पूर्णभद्र, श्रेष्ठीपुत्र गुणाकर और केशव—ये पांच युवक जीवानंद के अन्तरंग मित्र थे। छहों युवक प्रायः साथ-साथ रहते और आमोद-प्रमोदपूर्वक जीवन व्यतीत करते थे।

किसी समय छहों मित्रों ने कृमिकुष्ठ रोग से ग्रस्त एक तपस्वी श्रमण को देखा। मुनि की रुग्णावस्था पर छहों मित्रों के हृदय दयार्द्र हो उठे। जीवानंद ने कहा, मुनिवर का उपचार तो मैं कर सकता हूँ पर उसके लिए पूरे साधन मेरे पास नहीं हैं। राजपुत्र ने कहा, मित्र ! तुम साधनों की चिन्ता मत करो, जो भी वस्तुएं अपेक्षित हैं, बताओ, हम शीघ्र ही उनका प्रबन्ध कर देंगे। जीवानंद ने कहा, मुनिवर के उपचार के लिए

लक्षपाक तैल, गोशीर्षचंदन और रत्नकम्बल की आवश्यकता होगी। इनमें से लक्षपाक तैल तो मेरे पास है, शेष दो वस्तुएं मेरे पास नहीं हैं। पांचों मित्रों ने कहा, हम यथाशीघ्र इन दोनों वस्तुओं का प्रबन्ध करते हैं, तुम मुनिवर के उपचार की तैयारी करो। राजपुत्र सहित पांचों मित्र बाजार में गए। कई व्यापारियों के पास घूमने के पश्चात् आखिर एक वृद्ध श्रेष्ठी के पास उन्हें ये दोनों वस्तुएं प्राप्त हो गईं। राजपुत्र ने श्रेष्ठी से कहा, महाशय ! हमें रत्नकम्बल और गोशीर्षचंदन चाहिए, इनका जो भी मूल्य होगा, आपको प्राप्त होगा। वृद्ध श्रेष्ठी ने कहा, युवको ! इन दोनों वस्तुओं में प्रत्येक का मूल्य एक लाख स्वर्ण मुद्रा है। राजपुत्र ने कहा, आप मूल्य की चिन्ता मत कीजिए, पूरा मूल्य आपको मिलेगा। युवकों की उत्सुकता देखकर वृद्ध श्रेष्ठी भी उत्सुक बना। उसने पूछा, क्या मैं जान सकता हूँ कि इन मूल्यवान वस्तुओं की जरूरत आपको किसलिए पड़ गई है? राजपुत्र ने श्रेष्ठी को मुनि की रुग्णावस्था की पूरी बात कह सुनाई। पूरी बात सुनकर और युवकों की परोपकार-वृत्ति देखकर श्रेष्ठी गद्गद बन गया। उसने कहा, भद्र युवको ! तुम्हें धन्य है! इस पुण्यमयी कार्य के लिए मैं तुम्हें गोशीर्षचंदन और रत्नकम्बल अवश्य दूंगा, पर मूल्य नहीं लूंगा।

प्रसन्नमन से श्रेष्ठी ने दोनों वस्तुएं युवकों को दे दी। पांचों युवक जीवानंद के पास पहुंचे। जीवानंद पूरी साधन सामग्री लेकर पांचों मित्रों सहित जंगल में उस स्थान पर आया, जहां मुनिराज ध्यान-मुद्रा में लीन थे। मित्रों ने मुनिवर के ध्यान पूर्ण होने तक प्रतीक्षा की। ध्यान पूर्ण होने पर जीवानंद ने मुनि से उनके उपचार की आज्ञा प्राप्त की और उपचार प्रारंभ कर दिया। पांचों मित्रों ने जीवानंद का सहयोग किया। कई घण्टों के मर्दनादि उपचार के पश्चात् मुनिवर रोगमुक्त हो गए।

उत्कृष्ट भावों से जीवानंद और उसके मित्रों ने मुनिवर की शुश्रूषा और उपचार किया, जिससे उन्होंने महान कर्मों की निर्जरा की और उत्कृष्ट पुण्य का बन्ध किया। जीवन के अन्तिम भाग में जीवानंद और उसके मित्रों ने प्रव्रज्या अंगीकार की और चारित्र की आराधना कर छहों अच्युत देवलोक में इंद्र के सामानिक देव बने। वृद्ध श्रेष्ठी ने भी उत्कृष्ट भावों से दान दिया था, वह भी चारित्र धर्म का पालन कर मोक्ष में गया।

यही जीवानंद का जीव भवान्तर में श्री ऋषभदेव प्रभु के रूप में जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध हुआ।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र / उसह चरियं

श्री जीतमल जी महाराज (आचार्य)

स्थानकवासी परम्परा के तेजस्वी आचार्यों में आपका नाम ऊपरी पंक्ति में है। आप अपने समय के समर्थ विद्वान, प्रभावी वक्ता, कवि और लेखक मुनीश्वर थे।

आचार्यप्रवर श्री जीतमल जी महाराज का जन्म हाड़ोती राज्य के रामपुरा ग्राम में हुआ। आपके पिता का नाम श्रीमान सुजानमल जी और माता का नाम श्रीमती सुभद्रा देवी था। वि.सं. 1826 में आप का जन्म हुआ।

सं. 1834 में अल्पायु में ही आपने अपनी माता के साथ आचार्य श्री सुजानमल जी महाराज के चरणों में आर्हती दीक्षा धारण की। दीक्षा के पश्चात् आपने हिन्दी, संस्कृत, उर्दू, फारसी आदि भाषाओं तथा जैन-जैनेतर दर्शनों का तलस्पर्शी अध्ययन किया। लेखन में आपकी विशेष रुचि थी। कहते हैं कि आप एक ही समय में दोनों हाथों और दोनों पैरों से लिख सकते थे। आपने जीवन काल में तेरह हजार ग्रन्थों की प्रतिलिपियां लिखी थीं। बत्तीसों आगमों की बत्तीस प्रतिलिपियां भी आपने लिखीं। आप कुशल चित्रकार भी थे। आपकी चित्रकला में भी विशेषता थी। उत्कृष्ट कोटि के और बहुत ही सूक्ष्म चित्र बनाने में आप सिद्धहस्त थे।

आपने कई ऐसे चित्र बनाए, जो लैंस विशेष से ही देखे जा सकते थे। ऐसा ही एक हाथी का चित्र बनाकर आपने जोधपुर नरेश मानसिंह को चमत्कृत कर दिया था।

राजस्थान और मध्यप्रदेश आपका विचरण क्षेत्र रहा। जोधपुर में आपने समय-समय पर वृद्ध-ग्लान मुनियों की सेवा के कारण कई वर्षावास किए।

वि.सं. 1913 में अनशनपूर्वक देह त्याग कर आप स्वर्गवासी हुए।

जुट्ठल श्रावक

बाईसवें तीर्थंकर अरिहंत अरिष्टनेमि के समय का भद्दिलपुर वासी धनकुबेर गाथापति। वह अड़तालीस करोड़ स्वर्णमुद्राओं का स्वामी था। उसने सोलह करोड़ स्वर्णमुद्राएं व्यापार में, सोलह करोड़ स्वर्णमुद्राएं कृषि में तथा सोलह करोड़ स्वर्णमुद्राएं जमीन में सुरक्षित रख छोड़ी थीं। दस-दस हजार गायों के सोलह गोकुलों का वह स्वामी था। उसने बत्तीस श्रेष्ठी-कन्याओं से पाणिग्रहण किया था।

इतनी विशाल सम्पदा का स्वामी होते हुए भी जुट्ठल सादा जीवन यापन करता था। एक बार अरिहन्त अरिष्टनेमि का प्रवचन सुनकर उसकी भोग रुचि अत्यन्त सीमित हो गई। उसने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किए। भात, चने की दाल और जल, ये तीन द्रव्य रखकर शेष द्रव्यों का जीवन-भर के लिए परित्याग कर दिया। आभूषणों में एक मुद्रिका अपने पास रखी। आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर, बेले-तेले आदि की तपस्या करता हुआ अपनी पौषधशाला में ही रहने लगा।

पति की भोगविमुखता उसकी पत्नियों को रुचिकर न लगी। उन्होंने उससे भोग प्रार्थना की, उसे अपनी ओर आकर्षित करने के अनेक उपक्रम किए, पर जुट्ठल की प्रतिज्ञा की सुदृढ़ता के समक्ष उनकी एक न चली। जुट्ठल ने श्रावक की ग्यारह-प्रतिमाओं की आराधना प्रारंभ की। ग्यारहवीं प्रतिमा के उन्नीस दिन व्यतीत होने पर उसे अवधिज्ञान हो गया। अवधिज्ञान में श्रावक जी ने देखा कि उसे अग्नि का उपसर्ग होने वाला है, जिसमें उसका आयुष्य अशेष हो जाएगा। उसने पूर्ण समता भाव रखते हुए आमरण अनशन कर लिया। जुट्ठल की पत्नियों ने उसे अपने लिए निरुपयोगी पाकर एक दिन पौषधशाला में आग लगा दी। समता की साधना में लीन जुट्ठल देह त्याग कर देवलोक के अधिकारी बने। वहां का आयुष्य पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र से सिद्ध होंगे।

ज्वालाप्रसाद सेठ

सेठ श्री ज्वालाप्रसाद जी विगत शती के पूर्वार्ध के एक यशस्वी दानवीर श्रावक थे। वे मूलतः महेंद्रगढ़ (हरियाणा) के थे। हैदराबाद में उन्होंने जवाहरात का व्यवसाय किया। प्रामाणिकता और सत्यनिष्ठा के बल पर उन्होंने व्यापार में काफी प्रगति की। जैन जगत के प्रतिष्ठित और समृद्ध श्रावकों में उनकी गणना हुई।

श्रीयुत् ज्वालाप्रसाद जी के जीवन का जो सर्वाधिक उत्कृष्ट गुण था, वह था उनका उदार और परोपकारी व्यक्तित्व। उनका अधिकांश धन जरूरतमंदों के लिए समर्पित होता था। साधर्मी सेवा के लिए वे सदैव प्रस्तुत रहते थे। धर्मप्रभावना के क्षेत्र में उन्होंने उत्कृष्ट कार्य किए। आचार्य श्री अमोलक ऋषि जी महाराज ने प्रथम बार बत्तीस आगमों का हिन्दी भाषा में अनुवाद किया। आचार्य श्री की उस महान आगम साहित्य साधना को सर्वसुलभ बनाने के लिए श्रीयुत् ज्वालाप्रसाद जी ने संपूर्ण आगम वाङ्मय को प्रकाशित कराके भारतवर्ष के प्रमुख-प्रमुख जैन स्थानकों में निःशुल्क वितरित कराया। अपने इस महनीय कार्य के रूप में सेठ ज्वालाप्रसाद जी लम्बे समय तक जैन जगत में अर्चित, वंदित और प्रशंसित रहेंगे। ●●●

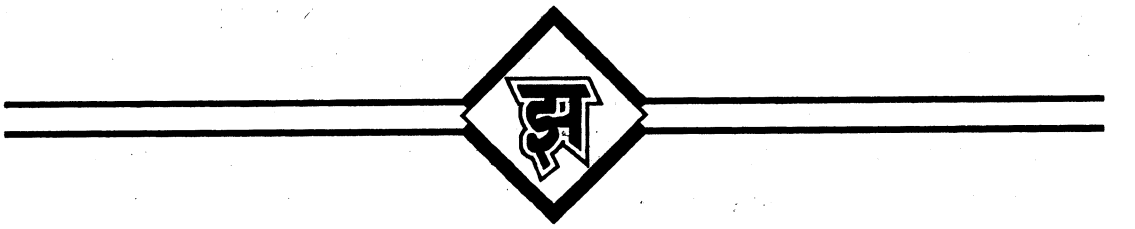

झांझरिया मुनि

झांझरिया मुनि का वास्तविक नाम तो मुनि मदनब्रह्म था, पर एक घटना विशेष के कारण वे लोक में उक्त नाम से ख्यात हुए। मुनि मदनब्रह्म कौन थे और वे उक्त नाम से कैसे जाने गए, इसका विवरण इस प्रकार है–

प्रतिष्ठानपुर नगर के राजा मकरध्वज के दो संतानें थीं, एक पुत्र–मदनब्रह्म, और दूसरी एक पुत्री–जयश्री। राजा ने जयश्री का विवाह कंचनपुर नरेश कीर्तिधर से किया और पुत्र मदनब्रह्म का विवाह बत्तीस कुमारियों से किया। एक बार एक मुनि का उपदेश श्रवण कर युवराज मदनब्रह्म विरक्त हो गया और उसने मुनिदीक्षा धारण कर ली। अल्पकाल में ही मुनि मदनब्रह्म आगमज्ञ बन गए और गुरु की आज्ञा से एकलविहार प्रतिमा को धारण कर एकाकी विचरण करने लगे। एक बार मुनि मदनब्रह्म त्रम्बावती नगरी पधारे। भिक्षार्थ नगर में गए। राजमहल के निकट ही एक गृहस्थ का घर था। गृहस्थ कई वर्षों से परदेस गया हुआ था। उस घर में उस गृहस्थ की पत्नी अकेली ही निवास करती थी। उस महिला ने युवा और तेजस्वी मुनि को देखा तो वह कामान्ध बन गई। भिक्षा के बहाने वह मुनि मदनब्रह्म को अपने घर ले गई और उसने मुनि के समक्ष अपना काम प्रस्ताव प्रस्तुत किया। मुनि ने युक्तियुक्त वचनों से महिला को सन्मार्ग दिखाने की चेष्टा की। पर महिला पर तो काम का भूत सवार था। उसने अनेक-अनेक उपायों से मुनि को रिझाने का प्रयास किया। पर मुनि अपने वज्रसंकल्प पर अडोल थे। इससे वह महिला खीझ उठी। उसने मुनि को सबक सिखाने का निश्चय कर लिया। प्रकटतः विनय प्रदर्शित करते हुए वह मुनि के चरणों से लिपट गई और अपने पैर की झांझर मुनि के पैर में बांध दी। मुनि उस महिला के पाश से मुक्त होकर जैसे ही उसके द्वार से बाहर निकले, महिला ने शोर मचाकर मुनि पर बलात्कार का आरोप लगा दिया। लोग एकत्रित हो गए और मुनि को मारने लगे। संयोग से नगरनरेश अजातशत्रु ने गवाक्ष से उस महिला का पूरा नाटक देख लिया था। राजा तत्क्षण वहां उपस्थित हुआ और सत्य का उद्घाटन कर मुनि के चरणों पर नत होकर क्षमा मांगने लगा। लोग भी आत्मग्लानि से भर गए और मुनि से क्षमा मांगने लगे। सभी ने मुनि की जयकार झांझरिया (पैर में झांझर बंधे होने से) नाम से की। उस घटना के बाद मुनि मदनब्रह्म झांझरिया मुनि के नाम से सुख्यात हो गए। राजा ने उस महिला को अपने राज्य से निष्कासित कर दिया।

एक बार झांझरिया मुनि कंचनपुर नगर पधारे। भिक्षा के लिए नगर में गए। उसी नगर में मुनि की संसारपक्षीय बहन जयश्री नगरनरेश से विवाहित हुई थी। मुनि भिक्षा के लिए टहल रहे थे, उधर जयश्री अपने पति राजा कीर्तिधर के साथ महल के गवाक्ष में बैठी चौपड़ खेल रही थी। सहसा राजपथ पर चल रहे मुनि पर उसकी दृष्टि पड़ी। वह भाई को पहचान नहीं पाई। यह सोचकर उसकी आंखों में आंसू आ गए कि उसका भाई भी कहीं ऐसे ही भिक्षा के लिए भ्रमण कर रहा होगा। रानी की आंखों में आंसू देखकर राजा भ्रमित हो गया। बिना कुछ कहे ही वह उठकर चला गया। उसने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि जैसे ही

मुनि भिक्षा लेकर, नगर से बाहर निकले वैसे ही उसका वध कर दिया जाए। सैनिकों ने राजाज्ञा का पालन किया। परम समता भाव में लीन वध परीषह से गुजरकर मुनि केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में जा विराजे।

एक पक्षी मुनि का रक्तरंजित रजोहरण लेकर उड़ा तो वह उसके मुख से छूटकर राजमहल की छत पर गिरा। भाई के रजोहरण को पहचानकर जयश्री दुराशंका से कांप उठी और विलाप करने लगी। रहस्य ज्ञात कर राजा कीर्तिधर भी महा-प्रायश्चित्त में डूब गया। मुनि के शव के पास जाकर उसने गहन पश्चात्ताप किया। उसके भाव ऐसे सुनिर्मल बने कि उसे भी केवलज्ञान प्राप्त हो गया। जयश्री भी विरक्त होकर साधनाशील बन गई।

●●●

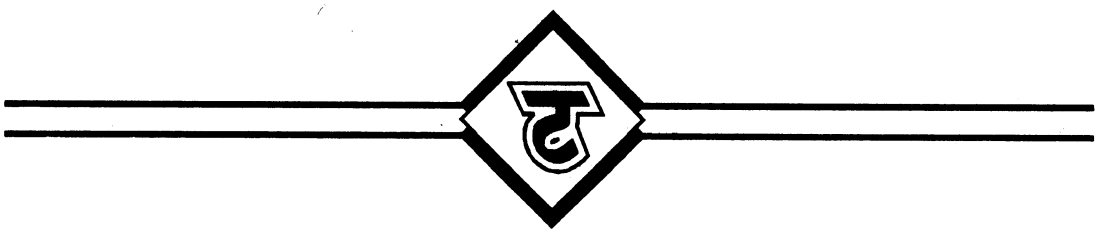

टोडरमल (जैन साहित्यकार)

विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न एक जैन श्रावक।

टोडरमल जी अपनी विलक्षण विद्वत्ता और अगाध ज्ञान के कारण 'पंडित' और 'आचार्यकल्प' उपनामों से विश्रुत हुए।

पंडित जी का जन्म जयपुर में वि.सं. 1797 में हुआ। आपके पिता का नाम जोगीदास और माता का नाम रमादेवी था। जाति से आप खण्डेलवाल थे। आप अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान थे। बाल्यकाल से ही आप प्रखर मेधा सम्पन्न थे। तत्त्वों को समझने और सुलझाने में आपकी बुद्धि अद्भुत थी।

वाराणसी से आमन्त्रित एक विद्वान के सान्निध्य में आपकी शिक्षा-दीक्षा हुई। अल्पकाल में ही आप संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं तथा दर्शन और व्याकरण के मर्मज्ञ बन गए।

पंडित टोडरमल जी 15-16 वर्ष की अवस्था में ही लोक में प्रसिद्ध हो गए थे। वे प्रवचन करते थे और जयपुर के गण्यमान्य लोग उनका प्रवचन सुनने आते थे। शास्त्र स्वाध्याय के साथ ही साहित्य रचना के क्षेत्र में भी पण्डित जी ने काफी काम किया। मात्र अठारह-उन्नीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने गोम्मटसार, लब्धिसार, क्षपणसार एवं त्रिलोकसार पर 65000 श्लोक परिमाण टीका की रचना की थी, जो अलौकिक-सी बात लगती है।

पण्डित टोडरमल की चार मौलिक रचनाएं भी हैं—(1) मोक्षमार्ग प्रकाशक (2) आध्यात्मिक पत्र (3) अर्थ संदृष्टि और (4) गोम्मटसार पूजा। उन के टीकाकृत ग्रन्थों की संख्या सात है, जिनकी नामावली इस प्रकार है—(1) गोम्मटसार (जीवकाण्ड) (2) गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) (3) लब्धिसार (4) क्षपणसार (5) त्रिलोकसार (6) आत्मानुशासन (7) पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय। अन्तिम ग्रन्थ की टीका अपूर्ण रह गई है।

अल्पवय में ही पंडित टोडरमल की सुख्याति कुछ धर्म-द्वेषियों की ईर्ष्या का कारण बन गई और पंडित जी उनके षड्यन्त्र के शिकार बनकर मात्र 27 वर्ष की अवस्था में ही दिवंगत हो गए। वि. सं. 1824 में उनका स्वर्गवास हुआ।

पंडित टोडरमल जी आगमवेत्ता, व्याख्याता, गद्य-पद्य विधाओं के लेखक और टीकाकार थे। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के अतिरिक्त कन्नड़ भाषा पर भी उनका असाधारण अधिकार था, जो उन्होंने बिना पढ़े ही मात्र स्व-अभ्यास से सीख ली थी।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा

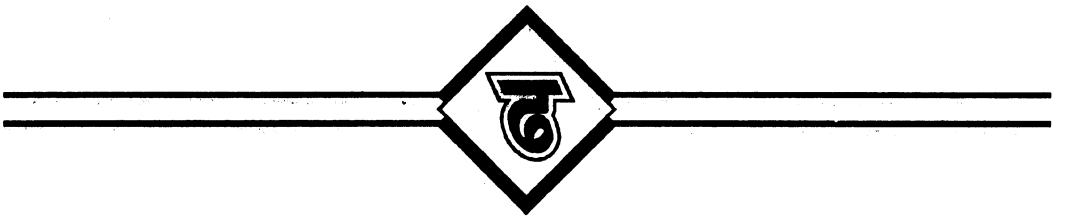

ढंक गाथापति

महावीरकालीन एक श्रमणोपासक एवं समृद्ध गाथापति, जिसके समझाने पर श्रमणी प्रियदर्शना जमाली का साथ छोड़कर पुनः भगवान महावीर के धर्म संघ में लौट आई थी। (देखिए-जमाली)

ढंढण मुनि

वासुदेव श्रीकृष्ण की ढंढणा रानी से उत्पन्न पुत्र, जो अत्यन्त सुकुमार था। अरिहंत अरिष्टनेमि का उपदेश सुनकर ढंढण विरक्त हो गए और मुनिदीक्षा लेकर विचरण करने लगे। पर दीक्षा लेते ही उनके अन्तराय कर्म ऐसे उदित हुए कि उन्हें भिक्षा का सुयोग नहीं मिल पाता था। अन्य मुनियों के साथ भिक्षा के लिए जाते तो उन्हें भी भिक्षा नहीं मिलती ।

कर्मों की विशेष निर्जरा के लिए ढंढण मुनि ने अभिग्रह कर लिया कि मुझे मेरी लब्धि की भिक्षा मिलेगी तो ही मैं आहार करूंगा अन्यथा नहीं। प्रतिदिन भिक्षा के लिए जाते पर भिक्षा का सुयोग नहीं मिलता । छह मास बीत गए। देह से कृश गात बन गए पर समता में सुदृढ़ रहे।

उसी अवधि मे अरिहंत अरिष्टनेमि के अनुगामी बने ढंढणमुनि द्वारिका नगरी में आए। भिक्षा के समय भिक्षा के लिए प्रस्थित हुए। वासुदेव श्री कृष्ण प्रभु अरिष्टनेमि की सन्निधि में बैठे थे। उन्होंने भगवान से पूछा कि उनके मुनियों में सर्वश्रेष्ठ करणी वाला मुनि कौन है ? भगवान ने ढंढण मुनि का नाम लिया और पूरी बात बताते हुए कहा कि उन्हें दीक्षा लेने के बाद से आज तक आहार का सुयोग नहीं मिला है परन्तु वे अक्लान्त चेता बने पूर्ण समाधिस्थ भाव में तल्लीन रहते हैं।

वासुदेव अपने महलों को लौट रहे थे तो मार्ग में उन्होंने हड्डियों का ढांचा शेष रह गए ढंढण मुनि को देखा । उन्होंने हाथी के हौदे से उतरकर पूर्ण भक्तिभाव से मुनि की पर्युपासना की।

पास के मकान में ठहरे एक कंदोई ने वासुदेव श्री कृष्ण को यों वन्दन करते देखा तो प्रभावित हुआ और मुनि के सम्मुख पहुंचकर भिक्षा की प्रार्थना की। मुनि ने उससे पूछा कि क्या वह उसके गुरु अथवा पिता को जानता है। कंदोई ने उत्तर में कहा कि वह न उनके गुरु को जानता है, और न पिता को, वह तो मात्र इतना जानता है कि वे एक तपस्वी अणगार हैं।

ढंढण मुनि को लगा कि यह भिक्षा मेरी ही लब्धि की है। पूर्ण भक्ति भाव से कंदोई ने मुनि को मोदक बहराए । भिक्षा के साथ मुनि प्रभु अरिष्टनेमि के पास पहुंचे और उन्हें भिक्षा दिखाई। प्रभु बोले—मुने ! यह भिक्षा तुम्हारे लिए अकल्प्य है! यह भिक्षा तुम्हें वासुदेव श्रीकृष्ण की लब्धि से उपलब्ध हुई है।

भगवान की बात सुनकर मुनि आश्वस्त हो गए। उन्होंने पूछा—प्रभु! मैंने ऐसे क्या कर्म किए हैं, जिनसे मुझे अन्तराय रहती है ?

भगवान ने मुनि का पूर्वभव सुनाया—पूर्वजन्म में तुम मगध देश के पूर्वार्ध नगर के पाराशर नामक

सम्पन्न किसान थे। तुम्हारे खेत में छह सौ हल चलते थे। एक बार भोजन के समय भी तुम काम के लोभ में हलों को चलवाते रहे। छह सौ हाली और बारह सौ बैल भूख से व्याकुल थे पर तुम्हारे आदेश से विवश हुए काम कर रहे थे। उस क्षण तुमने जो अन्तराय कर्म बांधा, वही आज उदय में आया है।

पूर्वभव के वृत्तान्त के सत्य ने ढंढण मुनि की समता को और अधिक प्रकृष्ट बना दिया। मोदकों को लेकर वे प्रासुक भूमि पर पहुंचे और उन्हें चूर-चूर कर परठने लगे। भावों की सुनिर्मलता से उनके कर्म भी चूर्ण हो गए। केवलज्ञान प्राप्त कर वे मोक्ष में जा पहुंचे ।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र

ढंढणा

त्रिखण्डाधीश वासुदेव श्री कृष्ण की एक रानी, जिसके पुत्र का नाम ढंढण कुमार था। (देखिए-ढंढण मुनि)

●●●

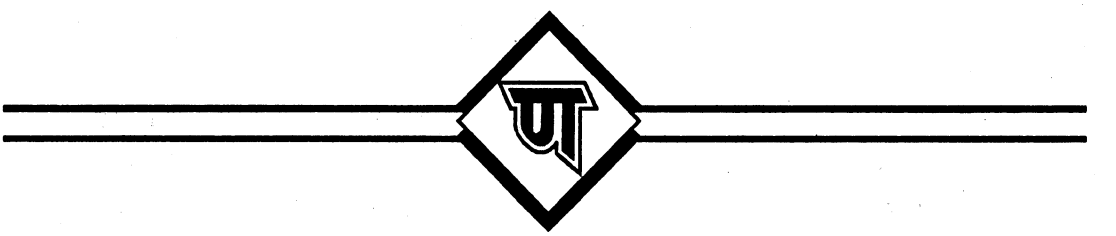

णायपुत्त

णायपुत्त अर्थात् ज्ञातपुत्र, ज्ञातृपुत्र। ज्ञातृ कुल में जन्मे होने से तीर्थंकर महावीर का एक नाम णायपुत्त भी विख्यात है।

●●●

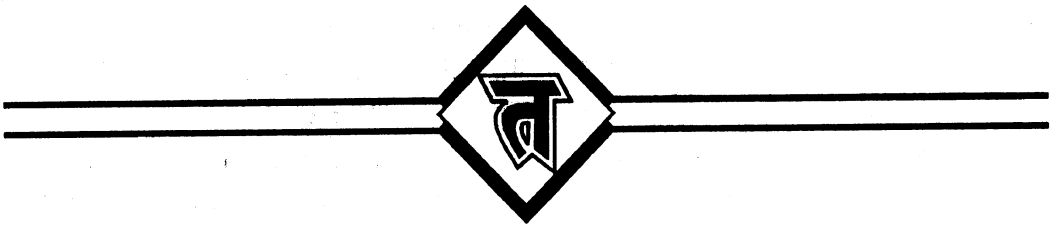

तरंगवती

कौशाम्बी नगरी के नगर सेठ ऋषभदत्त की पत्नी सुनन्दा की आत्मजा। ऋषभदत्त और सुनन्दा अनन्य श्रमणोपासक थे। सामायिक, संवर, नियम, व्रत आदि पर उनकी अगाध आस्था थी। परिणामतः जैन धर्म के संस्कार तरंगवती को विरासत में प्राप्त हुए थे। कौशाम्बी नगरी से थोड़ी ही दूरी पर श्रेष्ठी ऋषभदत्त का विशाल और भव्य पुष्पोद्यान था। उद्यान के मध्य में एक सरोवर था, जिसमें अनेक जातियों के पक्षी तैरा करते थे। एक दिन तरंगवती अपनी एक विश्वस्त सखी के साथ अपने पुष्पोद्यान में भ्रमण के लिए गई। सरोवर में एक चक्रवाक युगल को जलक्रीड़ा और प्रेमालापरत देखकर तरंगवती को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपने ज्ञान में देखा कि पूर्वजन्म में एक जंगल में स्थित सरोवर में वह भी एक चक्रवाकी थी और अपने मित्र चक्रवाक के साथ ऐसे ही प्रेमालाप करती थी। एक दिन एक शिकारी के बाण से चक्रवाक की मृत्यु हो गई। अपने प्रिय की मृत्यु पर चक्रवाकी के क्रन्दन से पूरा वातावरण करुणामय बन गया। शिकारी भी करुणा में भीग कर जार-जार रोया। फिर उसने एक चिता जलाकर उसमें चक्रवाक के शव को रख दिया। चक्रवाकी भी उसी चिता में जल मरी।

तरंगवती ने देखा कि चक्रवाकी का शरीर छोड़कर मैं तरंगवती बनी हूं। तरंगवती अपने पूर्वजन्म के साथी चक्रवाक से मिलने के लिए व्याकुल हो गई। पर उसे कैसे पाए, कैसे जाने कि वह कहां है, उसके समक्ष यह एक अबूझ पहेली थी। आखिर बहुत चिन्तन-मनन करने पर उसे एक युक्ति सूझी। उसने अपने पूर्वभव की स्थिति को स्पष्ट करने वाले कुछ चित्र बनाए और कौमुदी महोत्सव के दिन अपनी दासी से वे चित्र उस बाजार में रखवाए, जहां से प्रायः सभी लोग गुजरते थे। कौशाम्बी के सार्थवाह धनदेव का पुत्र पद्मदेव बाजार से गुजरा। चक्रवाक-युगल के चित्रों को देखकर उसके कदम ठिठक गए। एकटक हो वह उन चित्रों को देखने लगा और देखते-देखते मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। उसके मित्रों ने उसके मुख पर जल-बिन्दु डालकर उसे सचेत किया। सचेत होकर 'हा चक्रवाकी' कहकर वह रोने लगा।

सखी ने जाकर तरंगवती को अपनी सफलता की बात बताई। सखी ही तरंगवती और पद्मदेव के मध्य परिचारिका बनी। पद्मदेव की प्रार्थना पर उसका पिता धनदेव तरंगवती के पिता ऋषभदत्त के पास अपने पुत्र के लिए उसकी पुत्री का हाथ मांगने आया। परन्तु ऋषभदत्त समुद्री व्यापारी के साथ अपनी पुत्री का विवाह इसलिए नहीं करना चाहता था कि उसकी पुत्री को पुनः-पुनः पति-विरह की प्रताड़ना झेलनी पड़ेगी। इसी विचार से ऋषभदत्त ने धनदेव का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। तरंगवती और पद्मदेव को यह जानकर बड़ा कष्ट हुआ कि उनका विवाह नहीं होगा। सो एक रात्रि में वे दोनों ही कौशाम्बी से पलायन कर गए। मार्ग में उन्होंने गंधर्व विवाह कर लिया। जंगल में उनको अनेक प्रकार के कष्ट झेलने पड़े। डाकुओं का बन्दी बनना पड़ा, पर अपने पुण्य कर्मों के कारण वे सुरक्षित रहे।

उधर सेठ ऋषभदत्त और धनदेव को उनके पुत्री-पुत्र के पूर्वजन्म के स्नेह-सम्बन्ध ज्ञात हुए तो वे अधीर

हो गए। चतुर्दिक् खोजी दल दौड़ाए गए। आखिर तरंगवती और पद्मदेव को खोज लिया गया। उनको ससम्मान कौशाम्बी में लाकर उनका पाणिग्रहण कराया गया।

बारह वर्षों तक तरंगवती और पद्मदेव ने दाम्पत्य सुख भोगा। बाद में एक मुनि से प्रबुद्ध बनकर उन्होंने संयम धारण किया और चारित्र का पालन कर दोनों ने देवभव प्राप्त किया। आगे के भवों में वे दोनों मोक्ष में जाएंगे।

—तरंगवती कथा

तामली तापस

एक तापस।

तापस प्रव्रज्या धारण करने से पूर्व वह ताम्रलिप्ति नगरी का एक समृद्ध गाथापति था। आगामी भव में भी समृद्धि को अक्षुण्ण रखने के लिए तापस दीक्षा अंगीकार कर उग्र तपश्चरण करने लगा। वह सूर्य की आतापना लेता, शीत परीषह सहता और अति रुक्ष आहार से पारणा करता। अंत में जब उसका शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया तो उसने पादपोपगमन संथारा कर लिया।

कहते हैं कि उस समय असुरकुमार देवों की राजधानी बलिचंचा इन्द्रविहीन थी। असुरकुमारों ने ज्ञानोपयोग से तामली तापस को समाधिमरण की अवस्था में देखा। उन्होंने संकल्प किया कि वे तामली तापस को निदान के लिए उकसाकर अपने इन्द्र के रूप में जन्म लेने के लिए मनाएं। असुरकुमार देव तामली तापस के पास पहुंचे और विभिन्न राग-रंग और नाटक दिखाकर उसे प्रसन्न करने की कोशिश करने लगे। अपना मंतव्य प्रकट करते हुए उन्होंने तापस से प्रार्थना की कि वह उनके इन्द्र के रूप में जन्म लेने का निदान करें। पर तामली तापस ने उनकी बात को नहीं सुना और अपनी साधना में लीन रहा। देहोत्सर्ग करके वह दूसरे स्वर्ग के ईशानेन्द्र के रूप में पैदा हुआ।

उधर असुरकुमार देवों ने इसे अपना अपमान माना और वे धरती पर आकर तामली तापस के शव का अपमान करने लगे। दूसरे स्वर्ग के देवों ने अपने स्वामी के पूर्वजन्म के शरीर की उक्त दशा देखी। उन्हें यह बुरा लगा और ईशानेन्द्र से शिकायत की। ईशानेन्द्र भी क्रोधित हो गया। उसने असुरकुमारों पर तेजोलेश्या का वार कर दिया। सभी असुरकुमारों के शरीर दग्ध होने लगे। वस्तुस्थिति से परिचित बनने पर वे नतशिर अवस्था में ईशानेन्द्र के पास गए और अपने दुष्कृत्यों के लिए क्षमा मांगने लगे। ईशानेन्द्र ने तेजोलेश्या का साहरण कर लिया। तभी से असुरकुमार देव ईशानेन्द्र के अधीन हो गए।

तारण स्वामी (कवि)

एक संवेगी श्रावक, धर्मोपदेशक और साहित्यकार।

आपका जन्म कटनी ग्राम (मध्यप्रदेश) में हुआ। आपके पिता का नाम गाढ़ाशाहू और माता का नाम वीरश्री था।

आपने अपने जीवन काल में चौदह ग्रन्थों की रचना की, जो तारण-अध्यात्मवाणी के नाम से विश्रुत हैं। आप द्वारा प्रणीत ग्रन्थों की नामावली निम्नरूपेण है—

(1) मालारोहण (2) पण्डित पूजा (3) कमल बत्तीसी (4) श्रावकाचार (5) ज्ञान समुच्चयसार (6) उपदेशशुद्धसार (7) त्रिभंगीसार (8) चौबीस ठाना (9) ममलपाहुड (10) श्वातिकाविशेष (11) सिद्धिस्वभाव (12) सुन्न स्वभाव (13) छद्मस्थवाणी (14) नाममाला।

ये सभी ग्रन्थ अध्यात्म सूत्रों और चिन्तन से पूर्ण हैं।

आपके ग्रन्थों की भाषा तत्कालीन बोलचाल की भाषा है, जो अपभ्रंश के निकट है।

वि.सं. 1772 में आप का स्वर्गवास हुआ।

तारा

ज्योतिपुर नरेश ज्वलनशिख की पुत्री और किष्किन्धानरेश महाराज सुग्रीव की रानी। तारा अत्यन्त रूपवती थी। उसके विवाह से पूर्व ही अनेक राजा और राजकुमार उससे विवाह करने को आतुर थे। उनमें से एक था राजकुमार साहसगति। तारा का विवाह हो जाने के पश्चात् भी साहसगति ने हिम्मत नहीं हारी। उसने रूपपरावर्तिनी विद्या को सिद्ध किया और एक दिन जब महाराज सुग्रीव राजमहल से बाहर गए थे तो वह उनका रूप धारण कर महल में घुस आया। असली सुग्रीव लौटे तो द्वारपालों ने उन्हें रोक दिया। दो सुग्रीवों का विवाद पूरे जनपद में फैल गया। मंत्रियों, अधिकारियों और बुजुर्गों के सहस्रों प्रयासों से भी असली-नकली सुग्रीव का निर्णय नहीं किया जा सका। युद्ध और मल्लयुद्ध से भी सच सामने नहीं आया। आखिर सुग्रीव की श्रीराम से भेंट हुई। श्रीराम ने नकली सुग्रीव को दण्ड देने का वचन दिया। दोनों सुग्रीवों को एक साथ बुलाया गया। श्री राम ने अपने वज्रावर्त धनुष से धनुष्टंकार की। उस प्रचण्ड ध्वनि से भयभीत बनकर साहसगति की विद्या लुप्त हो गई। उसी धनुष से श्री राम ने साहसगति का वध कर दिया। तारा को उसका असली पति मिल गया। —त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र - पर्व 7

ताराचंद

भारमल कावड़िया का ज्येष्ठ पुत्र और भामाशाह का सहोदर, एक शूरवीर और परम जिनोपासक। ताराचंद ने अपना पूरा जीवन मेवाड़ के उद्धार में लगा दिया था। राणा उदयसिंह ने वीरवर ताराचंद को गौड़वाड़ प्रदेश का प्रशासक नियुक्त किया था। बाद में वह महाराणा प्रताप का भी विश्वसनीय सिपाही रहा। मुगल सेना के विरुद्ध हल्दीघाटी युद्ध में उसने महाराणा प्रताप के नेतृत्व में अद्भुत युद्ध कौशल दिखाया था। हल्दीघाटी युद्ध में पराजय के पश्चात् भी वीरवर ताराचंद शान्त नहीं बैठे। उन्होंने मुगलों के विरुद्ध संघर्ष जारी रखा। मेवाड़ में पुनः प्रताप को शासनारूढ़ करने में उसका अपूर्व योगदान रहा।

ताराचंद सादड़ी के निवासी थे। उनके पाषाण-उत्कीर्णित चित्र अब भी वहां विद्यमान हैं।

तारा सुंदरी

राजपुर के सेठ लक्ष्मीपति की पुत्री, जो स्त्री की चौंसठ कलाओं में निपुण थी। वह बुद्धिमती, रूपवती और धर्मप्राण बाला थी। राजपुर नगर का राजकुमार मदनसेन तारासुंदरी के रूप और गुणों पर मुग्ध हो गया। उसने उससे विवाह कर लिया। कालक्रम से तारासुंदरी ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम पद्मसेन रखा गया।

एक बार तारासुंदरी राजमहल की छत पर सो रही थी। उसके रूप पर मुग्ध होकर एक विद्याधर ने उसका अपहरण कर लिया। दूसरे दिन तारासुंदरी निद्रा से जगी तो उसने अपने आपको अन्यत्र पाया। जब तक वह किसी निष्कर्ष पर पहुंच पाती, विद्याधर उसके समक्ष उपस्थित हुआ और उसने स्पष्ट किया कि वह उसका अपहरण कर लाया है और उसे अपनी अर्द्धांगिनी बनाएगा। तारासुंदरी ने युक्तियुक्त बातों से विद्याधर को समझाया, पर वह समझने को तैयार नहीं हुआ। तब तारासुंदरी ने उग्ररूप धारण करते हुए कहा, दुष्ट! तू इस देह पर मोहित हो रहा है, देख इस देह का रूप! कहकर उसने अधोवस्त्र के अतिरिक्त अपने सभी वस्त्र उतार दिए। फिर उसने कहा, यह चमड़ी भी तो एक वस्त्र ही है! कहकर उसने अपने नाखूनों से अपनी

चमड़ी को भी खुरच डाला। वह रक्तरंजित हो गई। एक मांसपिण्ड की तरह दिखाई देने लगी। इस पर भी विद्याधर को सद्बुद्धि नहीं जगी। वह गुर्राया, ऐसा करके भी तू मेरे चंगुल से मुक्त नहीं हो सकती है। मेरे पास ऐसी औषधियां हैं, जिनके स्पर्श-मात्र से तुम्हारी देह के घाव भर जाएंगे। कहकर वह औषधि लेने चला गया।

उधर तारासुंदरी को मांस-पिण्ड समझकर एक भारण्ड पक्षी अपने पंजों में दबोचकर आकाश में ले उड़ा। एक अन्य भारण्ड पक्षी ने उसका पीछा किया। दोनों पक्षी परस्पर लड़ने लगे। उसी अवधि में तारासुंदरी भारण्ड के पंजों से छूट गई और समुद्र में जा गिरी। एक मगरमच्छ उसे अपनी पीठ पर बैठाकर किनारे पर छोड़ गया। समुद्र के क्षार-जल ने मरहम का काम किया और तारासुंदरी के जख्म सूख गए। समुद्र तट से थोड़ी ही दूरी पर एक जलाशय था। वहीं पर एक पर्वत गुफा में रहकर तारासुंदरी धर्माराधना करने लगी।

एक बार एक जंघाचारी मुनि ने तारासुंदरी को दर्शन दिए और धैर्य दिया कि छह मास तक उसे पति विरह सहना होगा। उसके बाद उसका पति मिलन होगा। इससे तारासुंदरी के धैर्य को पर्याप्त बल प्राप्त हुआ। वह दोगुने उत्साह से धर्मध्यान में संलग्न हो गई।

उधर तारासुंदरी को छत पर न पाकर राजपरिवार में शोक छा गया। राजकुमार मदनसेन के शोक का पारावार न था। उसकी दशा विक्षिप्तों जैसी हो गई। चारों दिशाओं से खोजी दल निराश लौट आए। अंततः मदनसेन स्वयं अपनी पत्नी को खोजने निकल पड़ा। ढूंढ़ते-ढूंढ़ते वह एक पर्वत पर पहुंचा। थक कर वह चूर-चूर बन गया। उसने वहीं रुकने का निश्चय कर लिया। भाग्य पर भरोसा कर वह वहीं रुक गया।

तारासुंदरी जिस पर्वतगुफा में साधना कर रही थी, उधर से एक सार्थ गुजरा। सार्थवाह एक धर्मात्मा व्यक्ति था। उसने तारासुंदरी को पुत्री का मान दिया और विश्वास दिया कि वह उसे उसके नगर पहुंचा देगा। तारासुंदरी सार्थ के साथ यात्रा करने लगी। यह सार्थ उस पर्वत के निकट से गुजरा जहां मदनसेन अपनी पत्नी की प्रतीक्षा में रह रहा था। आखिर वहीं पर तारासुंदरी और मदनसेन का मिलन हुआ। सार्थवाह को बहुत-बहुत धन्यवाद देकर मदनसेन तारासुंदरी को साथ लेकर अपने नगर में पहुंचा। सर्वत्र हर्ष छा गया। मदनसेन को राजपद देकर महाराज रूपसेन ने प्रव्रज्या धारण कर ली। मदनसेन ने सुदीर्घ काल तक न्याय-नीतिपूर्वक शासन किया। अंतिम वय में अपनी रानी तारासुंदरी के साथ प्रव्रज्या धारण कर उसने सद्गति प्राप्त की।

तिलकमंजरी

कनकपुरी नगरी की राजकुमारी, जिसने धीर-वीर और दृढ़ प्रतिज्ञ वणिक-पुत्र रत्नसार से विवाह रचाया था। (देखिए-रत्नसार)

(क) तिलक सुंदरी

इन्द्रपुरी नगरी की राजकुमारी। (देखिए-चंद्रसेन)

(ख) तिलक सुंदरी

भविष्यदत्त की परिणीता पतिव्रता पत्नी। (देखिए-भविष्यदत्त)

तिलोकसुंदरी

एक पतिपरायणा और सत्य-शील की अमर साधिका, जिसने अपने शील के रक्षण के लिए असंख्य

कष्टों को तो गले लगा लिया पर अपने शील पर आंच नहीं आने दी। तिलोकसुंदरी सुदर्शनपुर नगर के धनी श्रेष्ठी पुष्पदत्त के कनिष्ठ पुत्र चित्रसार की अर्द्धांगिनी थी। जिन धर्म पर उसकी अगाध आस्था थी। सामायिक, संवर, पौषध उसके जीवन के अनिवार्य अंग थे। सागरदत्त चित्रसार का सहोदर (अग्रज) था। दोनों भाइयों के मध्य राम-लक्ष्मण सा स्नेह-समर्पण भाव था। एक बार जब चित्रसार व्यापार के लिए वेनातट नगर गया हुआ था तो सागरदत्त की दृष्टि अनुजवधू तिलोकसुंदरी पर पड़ गई। तिलोकसुंदरी के रूप लावण्य को देखकर सागरदत्त कामान्ध बन गया। उसने एक दूती के द्वारा अपना प्रणय-निवेदन तिलोकसुंदरी के पास भेजा। तिलोकसुंदरी का चण्डी रूप देखकर दूती दूतीकर्म भूल बैठी। सागरदत्त रात्रि में स्वयं अनुज-वधू के गृहद्वार पर पहुंचा। तिलोकसुंदरी ने विभिन्न नीति-वचनों से सागरदत्त को सन्मार्ग पर लाने का यत्न किया। पर कामान्ध सागरदत्त नीति को भूल चुका था। अंततः तिलोकसुंदरी ने कठोर वचनों से सागरदत्त को तिरस्कृत कर दिया। सागरदत्त तिलोकसुंदरी को अपहरण की चेतावनी देकर लौट गया। मार्ग में उसे उसका मित्र नगररक्षक मिला। उसने नगररक्षक को अपने हृदय के कुत्सित भाव कहे और उससे उक्त कार्य में सहयोग की याचना की। सागरदत्त को विश्वस्त कर नगररक्षक तिलोकसुंदरी के द्वार पर पहुंचा। गवाक्ष से तिलोकसुंदरी को देखकर वह स्वयं उसके रूप का दीवाना बन गया। उसने मधुर और कठोर—दोनों तरह के वचनों का उपयोग कर तिलोकसुंदरी से द्वार खुलवाना चाहा। पर तिलोकसुंदरी सावधान थी। उसने कठोर फटकार से नगररक्षक को चौंका दिया। नगररक्षक ने भी उसे अपहरण की चेतावनी दी और अपने घर को लौट गया।

तिलोकसुंदरी ने अपने शील को राहु-केतु से घिरा महसूस किया। उसने प्रभात होने से पूर्व ही सुदर्शनपुर नगर को छोड़ दिया। वह कई दिनों तक चलती रही और गहरे जंगल में पहुंच गई। वहां एक गिरि-गुहा में रहकर धर्माराधना करने लगी। उसे वहां पर चम्पानगरी का श्रमणोपासक व्यापारी श्रेष्ठी गुणपाल मिला, जो उसे पुत्री मानकर अपने घर ले आया। पर वहां भी तिलोकसुंदरी अधिक दिनों तक सुखपूर्वक नहीं रह पाई। सेठ के मुनीम की कुदृष्टि उसके रूप पर पड़ गई। असफल होने पर उसने तिलोकसुंदरी के कक्ष में मद्य-मांस रखवा कर उसे श्रेष्ठी-गृह से निकलवाने का षड्यंत्र रच दिया। सेठ को तिलोकसुंदरी पर पूर्ण विश्वास था। पर सेठानी का विश्वास चलित बन गया। एक सहस्र स्वर्णमुद्राएं तिलोकसुंदरी को देकर सेठ ने विदा किया।

तिलोकसुंदरी अपने सत्यशील पर सुदृढ़ थी। पर भिन्न-भिन्न रूपों में पुरुष उसे ठगने को उतावला बनता रहा। इसी क्रम में पुष्पक सेठ और लक्खी बंजारे ने तिलोकसुंदरी से विश्वासघात किया। अपने शील की रक्षा के लिए तिलोकसुंदरी को अथाह सागर में कूदना पड़ा। पर आयुष्य-बल शेष होने से वह तट पर लग गई । पुण्य-अपुण्य के पृष्ठ उलटते-पलटते रहे। आखिर तिलोकसुंदरी के शुभ कर्मों का उदय हुआ। उसे रूपपरावर्तिनी, सर्वरोगहारिणी आदि अनेक जड़ी-बूटियां प्राप्त हो गईं। पुरुषवेश बनाकर और अपना नाम तिलोकसुन्दर रख कर तिलोकसुंदरी वेनातट नगर पहुंची। वह जानती थी कि उसका पति चित्रसार वेनातट नगर में ही व्यापार के लिए गया हुआ है। वेनातट नगर मे पहुंचकर तिलोकसुंदरी ने कुष्ठ रोग ग्रस्त राजा का उपचार किया। स्वस्थ होकर राजा ने अपनी पुत्री गुणसुंदरी का विवाह तिलोकसुंदर से कर दिया।

उधर सागरदत्त और नगररक्षक के पाप का घड़ा फूट गया। दोनों की देह से कुष्ठ फूट पड़ा। राजा ने दोनों को अपने देश से निकाल दिया। ऐसे में सागरदत्त को अपने भाई की स्मृति आई। वह नगररक्षक को

साथ लेकर वेनातट पहुंच गया। पुष्पक सेठ, मुनीम और लक्खी बंजारा भी कुष्ठग्रस्त होकर वेनातट नगर में आ गए। कर्मयोग से पांचों एकत्रित होकर चित्रसार के पास पहुंचे। चित्रसार की प्रार्थना पर तिलोकसुंदर ने उनका उपचार करने की स्वीकृति दे दी। सुनिश्चित समय पर तिलोकसुंदर उनके उपचार के लिए चित्रसार के निवास पर पहुंचा। तिलोकसुन्दर ने पांचों कुष्ठ रोगियों को अपने सामने बैठाया और कहा, कुष्ठ रोग कृत्कर्म के फलस्वरूप प्रकट होता है। मैं तुम्हारा उपचार इस शर्त पर करूंगा कि तुम सभी अपने-अपने कृत्कर्म का स्पष्टीकरण करोगे। आखिर मरते क्या न करते। सभी ने अपने दुष्कर्म स्वीकार कर लिए। उनके दुष्कर्मों की कथा सुनकर चित्रसार मूर्च्छित हो गया और चेतना लौटने पर अपनी पत्नी तिलोकसुंदरी को पुकार-पुकार कर विलाप करने लगा। तिलोकसुंदर ने चित्रसार को धैर्य बंधाया और कहा कि एक नारी को तिरस्कृत करने वाले ये पांच पुरुष दूर देश में एक ही अवस्था को प्राप्त होकर एकत्रित हो सकते हैं तो यह किंचित्मात्र भी असंभव नहीं है कि तिलोकसुंदरी भी आपको प्राप्त हो।

चित्रसार को आश्वस्त कर तिलोकसुंदर ने पांचों कुष्ठ रोगियों के कुष्ठ का उपचार कर दिया। पांचों ही स्वस्थ बनकर उसके चरणों पर गिर पड़े। तिलोकसुंदर ने पांचों को दूसरे कक्ष में भेज दिया और स्वयं भी एक कक्ष में चला गया। अपने मूल रूप को प्राप्त कर तिलोकसुंदरी पति के पास पहुंची। पति-पत्नी के हर्ष का पारावार न रहा । रहस्य से परिचित बनकर पांचों ने महासती से अपने-अपने कृत्यों के लिए क्षमा मांगी और श्रेष्ठ जीवन जीने का प्रण लिया ।

आखिर गुणसुंदरी का पाणिग्रहण चित्रसार से सम्पन्न हुआ। चित्रसार, तिलोकसुंदरी और गुणसन्दरी तीनों ने देव, गुरु और धर्म की आराधना करते हुए सुदीर्घ जीवन जीया और अंतिम अवस्था में चारित्र की आराधना करके सद्गति प्राप्त की।

तिलोत्तमा

मोटपल्ली नगरी की राजकुमारी। (देखिए-उत्तम कुमार)

तिष्यगुप्त (निन्हव)

जैन परम्परा में एक शब्द आता है, निन्हव। निन्हव उसे कहा जाता है, जो मुनि वेश में रहते हुए ही जैन दर्शन के किसी सिद्धान्त की अन्यथा प्ररूपणा करता है। तिष्यगुप्त एक निन्हव हुआ है। किसी समय जब वह आचार्य वसु के साथ राजगृह नगर के गुणशीलक उद्यान में ठहरा हुआ था तो चतुर्दशपूर्वी आचार्य वसु ने वाचना देते हुए भगवान महावीर के सिद्धान्त के अनुसार जीव के स्वरूप का कथन इस प्रकार किया—जीव न तो एक प्रदेश को कहा जाता है, न दो, तीन, चार और संख्यात प्रदेश वाले को जीव कहा जाता है, अखण्ड चेतन द्रव्य में एक प्रदेश कम को भी जीव नहीं कहा जाता है। असंख्यात प्रदेशी अखण्ड चेतन द्रव्य ही जीव कहलाता है।

तिष्यगुप्त ने अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थ ग्रहण करते हुए यही माना कि जीव का अन्तिम प्रदेश ही जीव है, और वह यही प्ररूपणा भी करने लगा। आचार्य ने उसे बहुत समझाया पर उसे समझ न आया। आखिर उसे संघ से बाहर कर दिया गया। इससे भी वह खिन्न न हुआ और अपने मत का प्रचार करते हुए एक बार वह आमलकल्पा नगरी में आया। वहां पर मित्रश्री नाम का एक जैन श्रावक रहता था। मुनि की प्ररूपणा सुनकर वह समझ गया कि वह जिनमत के विपरीत प्ररूपणा कर रहे हैं। मुनि को जिनमार्ग पर लाने के लिए उसने अपने ही ढंग का प्रयास किया। वह मुनि की भक्ति करता और नित्य प्रवचन सुनता। एक

बार वह पूर्ण भक्तिपूर्वक प्रार्थना कर मुनि को भिक्षा के लिए अपने घर ले गया। बहुत प्रकार के भोज्य-पदार्थ बनाए गए थे। सभी पदार्थों में से एक-एक कण श्रावक जी ने मुनि के पात्र में डाला और कहा कि उन्होंने उसके घर पधार कर बड़ी कृपा की। इस आहारदान पर मुनि रुष्ट हो गए और बोले कि उसने उनका अनादर किया है। श्रावक ने कहा, महाराज! मैंने आपकी मान्यतानुसार ही आपको आहार दिया है। आप अन्तिम आत्म प्रदेश को ही जीव मानते हो, तो उसी मान्यतानुसार आहार का अन्तिम अंश ही आहार हो सकता है।

मित्रश्री की युक्ति काम कर गई। मुनि ने अपनी भूल को पहचाना और गुरु के पास जाकर आलोचना-प्रतिक्रमण से अपनी आत्मा को शुद्ध किया और पुनः संघ में सम्मिलित हो गया। —ठाणांग वृत्ति 7

तीर्थंकर

तीर्थ की संरचना करने के कारण और लाखों भव्य जीवों को इस तीर (संसार) से उस तीर (मोक्ष) तक पहुंचाने वाले होने के कारण महावीर को उक्त नाम से पुकारा जाता है। "तीर्थंकर" धार्मिक जगत का सर्वोच्च पद है, जिसकी प्राप्ति में उत्कृष्ट तप और उत्कृष्ट पुण्य निमित्त बनते हैं। वर्तमान से तृतीय भव पूर्व 'नन्दन मुनि' के भव में महावीर ने उत्कृष्ट तपस्या की आराधना करते हुए 'तीर्थंकर पद' का अर्जन किया था।

तीसभद्र

भगवान महावीर के धर्मसंघ के छट्ठे पट्टधर आचार्य संभूतविजय के एक शिष्य।

—कल्पसूत्र स्थविरावली

तुलसी (आचार्य)

श्वेताम्बर तेरा पंथ धर्म संघ के नवम् युगप्रधान आचार्य।

आचार्य श्री तुलसी का जन्म वि.सं. 1971 कार्तिक शुक्ला द्वितीया को राजस्थान प्रांत के लाडनूं शहर में हुआ। खटेड़वंशीय श्रीमान् झूमरमल जी आपके पिता और श्रीमती वदनां जी आपकी माता थीं। नौ भाई-बहनों में आपका क्रम आठवां था।

श्रीमान् झूमरमल का पारिवारिक वातावरण प्रारंभ से ही जैन धर्म-संस्कारों से ओत-प्रोत था। स्पष्ट है कि बालक तुलसी को जन्म से ही धार्मिक संस्कार विरासत में प्राप्त हुए। उनके अग्रज श्री चम्पालाल जी पहले ही विरक्त होकर दीक्षित हो चुके थे। अग्रज की प्रेरणाओं से प्रभावित बनकर आप भी दीक्षा लेने को उत्सुक हुए और वि.सं. 1982 को अपनी बहन लाडो जी के साथ आप आचार्य श्री कालूगणी के धर्मसंघ में दीक्षित हो गए। दीक्षा के समय आपकी अवस्था मात्र ग्यारह वर्ष थी।

अल्पायु में तेरापंथ धर्मसंघ में प्रव्रजित मुनिवर तुलसी जी में बहुमुखी प्रतिभा का विकास हुआ। संस्कृत, प्राकृत, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओं का आपने तलस्पर्शी अध्ययन किया। न्याय, दर्शन और व्याकरण के आप अध्येता बने। शीघ्र ही संघ और समाज में आपने एक विशिष्ट स्थान बनाया। परिणामतः मात्र बाईस वर्ष की अवस्था में ही आप तेरापंथ धर्मसंघ के नवम् आचार्य नियुक्त किए गए। आप के अनुशासन में तेरापंथ धर्मसंघ ने अत्युच्च ऊंचाइयों का स्पर्श किया। अध्ययन, अनुशासन, साहित्य और ध्यान के क्षेत्र में तेरापंथ संघ ने काफी प्रगति की। अणुव्रत के प्रचार में आपने महान श्रम किया और देश में अणुव्रत अनुशास्ता के रूप में विख्यात हुए।

23 जून 1997 में गंगाशहर (राजस्थान) में पूर्ण समाधि की अवस्था में आपका स्वर्गवास हुआ।

वर्तमान में प्रेक्षा ध्यान के प्रणेता आचार्य श्री महाप्रज्ञ आपके उत्तराधिकारी और तेरापंथ धर्मसंघ के दशम् आचार्य के रूप में धर्म प्रचार-प्रसार में संलग्न हैं।

तृषलानंदन

महावीर का एक नाम। माता तृषला के अंगजात होने से महावीर को 'तृषलानंदन' अथवा 'तृषलानंदन' नाम से भी पुकारा जाता है।

तृषला माता

वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष महाराज चेटक की बहन और क्षत्रियकुण्ड नगर के महाराज सिद्धार्थ की पटरानी। तृषला चरम तीर्थंकर भगवान महावीर की माता थी। महावीर के अतिरिक्त उसकी दो और संतानें थीं, एक पुत्र—नन्दीवर्धन और एक पुत्री सुदर्शना। तृषला भगवान पार्श्वनाथ के श्रमणों की उपासिका थी। वह श्राविका धर्म का पालन करती थी। वर्धमान जब अट्ठाईस वर्ष के हुए तो वह अनशनपूर्वक देह त्याग कर देवलोक में गई। —आवश्यक चूर्णि

तेजपाल (वस्तुपाल)

गुजरात का महामंत्री और सेनानायक। तेजपाल और वस्तुपाल सहोदर थे। दोनों भ्राताओं के जीवन में जैन धर्म के सुदृढ़ संस्कार थे। गुजरात के उत्थान के लिए तथा जनता के कल्याण के लिए उन्होंने अनेक उपक्रम किए। साथ ही कई जिनालयों का जीर्णोद्धार तथा कई जिनालयों का नवनिर्माण भी उन्होंने कराया था। गुजरात के इतिहास में इन भ्रातृद्वय का उल्लेख स्वर्णाक्षरों में हुआ है। (देखिए-वस्तुपाल)

तेतलीपुत्र

तेतलीपुर नगर के राजा कनकरथ का बुद्धिमान प्रधानमंत्री। चरमशरीरी होते हुए भी उसमें कुछ दुर्बलताएं थीं। किसी समय वन-भ्रमण को जाते हुए उसकी दृष्टि एक स्वर्णकार की पुत्री पोट्टिला पर पड़ी। उसके रूप पर मुग्ध होकर वह उसे पाने के लिए व्याकुल बन गया। अपने सूत्रों से उसने ज्ञात कर लिया कि वह कन्या कलाद नामक सोनी की पत्नी भद्रा की आत्मजा है। तेतलीपुत्र ने कलाद के पास उसकी पुत्री पोट्टिला से विवाह करने का अपना इच्छापत्र भेजा। कलाद की सहर्ष स्वीकृति पर तेतलीपुत्र और पोट्टिला प्रणयसूत्र में बंध गए।

राजा कनकरथ भयंकर राज्यलिप्सु था। वह नहीं चाहता था कि कोई उसका उत्तराधिकारी बने। उसके जो भी पुत्र पैदा होते, वह उनके अंग भंग कर देता। उसकी रानी पद्मावती एक चतुर महिला थी। उसने तेतलीपुत्र को अपना सहयोगी बनाया। सुसंयोग से पद्मावती और पोट्टिला ने एक साथ प्रसव किया। पोट्टिला ने एक मृत कन्या तथा पद्मावती ने एक सर्वांगपूर्ण सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। तेतलीपुत्र ने बड़ी कुशलता से अपनी मृतपुत्री पद्मावती के पास पहुंचा दी और उसका पुत्र अपनी पत्नी के पास पहुंचा दिया। पुत्र का नाम कनकध्वज रखा गया।

कालान्तर में पोट्टिला पर से तेतलीपुत्र का अनुराग कुछ कम हो गया। इससे खिन्न बनी पोट्टिला ने सुव्रता आर्या से श्रावक धर्म अंगीकार कर लिया। फिर किसी समय वह दीक्षित होने को तत्पर बनी। एतदर्थ पति की अनुज्ञा मांगी। तेतलीपुत्र ने इस शर्त पर उसे आज्ञा दी कि वह उसे उचित अवसर पर प्रतिबोधित

करेगी। पोट्टिला ने इस शर्त को स्वीकार कर लिया और वह साध्वी बन गई।

कालक्रम से राजा कनकरथ कालधर्म को प्राप्त हो गया। राज्य का उत्तराधिकारी कौन हो, सबके समक्ष यह एक यक्ष प्रश्न था। पूरा भेद अनावृत कर तेतलीपुत्र ने कनकध्वज को राज्यपद पर आरूढ़ करा दिया। इससे राजा और प्रजा में तेतलीपुत्र की दूरदर्शिता को बहुत सम्मान प्राप्त हुआ। अधिक सम्मान पाकर वह सांसारिक वैभव में अत्यधिक गृद्ध बन गया। उस समय उसकी पत्नी पोट्टिला, जिसने साध्वी बनकर स्वर्ग प्राप्त किया था, ने उसे प्रतिबोध देने के लिए उसके और राजा के मध्य दुराव उत्पन्न कर दिया। राजा की नाराजगी से तेतलीपुत्र भयभीत और दुखी हो गया। वह आत्महत्या करने को तैयार हो गया। उस समय पोट्टिल देव ने प्रकट होकर उससे पूछा—प्रधान ! सामने खाई हो, पीछे हाथी का भय हो, दोनों ओर घोर अन्धकार हो, गांव सुलग रहा हो, जंगल धधक रहा हो, ऐसे में बुद्धिमान मनुष्य को क्या करना चाहिए?

तेतलीपुत्र ने कहा—ऐसे में मनुष्य को संयम ग्रहण कर लेना चाहिए।

देव अन्तर्धान हो गया। तेतलीपुत्र को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। पंचमुष्टी लोच कर वह मुनि बन गया। घाती कर्मों को मिटाकर उसने केवलज्ञान प्राप्त किया। कनकध्वज को ज्ञात हुआ तो वह मुनि चरणों में पहुंचा और क्षमा मांगने लगा। मुनि ने उसे प्रतिबोध दिया।

बहुत वर्षों तक कैवल्य अवस्था में रहने के पश्चात् तेतलीपुत्र मुनि ने मोक्ष प्राप्त किया।

तोलाशाह

एक जैन श्रेष्ठी। तोलाशाह महाराणा सांगा का परम मित्र था। वह अनन्य जिनानुरागी और निर्धनों के लिए कल्पवृक्ष तुल्य था। उसके द्वार से कभी कोई रिक्त नहीं लौटता था।

तोषली पुत्र (आचार्य)

जैन परम्परा के एक प्रभावक और दृष्टिवाद के ज्ञाता आचार्य। (देखिए-आर्यरक्षित)

त्रिपृष्ठ (वासुदेव)

प्रवहमान अवसर्पिणी काल के प्रथम वासुदेव, पोतनपुर के महाराज प्रजापति के पुत्र, महारानी मृगावती के आत्मज, एक वीरवर पुरुष। अपने प्रखर पराक्रम के बल पर त्रिपृष्ठ ने तीन खण्ड को साधकर और उस युग के सबसे पराक्रमी प्रतिवासुदेव राजा अश्वग्रीव का वध कर वासुदेव का पद पाया।

वासुदेव त्रिपृष्ठ का संगीत में अत्यधिक आकर्षण था। एक बार रात्रि के समय संगीत का कार्यक्रम चल रहा था। वासुदेव अपनी शैया पर लेटा हुआ संगीत का रस ले रहा था। उसने अपने शैयापालक को आदेश दिया कि जब उसे निद्रा लग जाए तो संगीत का कार्यक्रम बन्द करवा दे। कुछ देर बाद राजा को नींद आ गई। शैयापालक स्वयं संगीत में इस कदर बेभान बना हुआ था कि उसे वासुदेव का आदेश भी विस्मृत हो गया। प्रभात तक संगीत सभा जमी रही। वासुदेव की निद्रा टूटी और उसने संगीत के कार्यक्रम को जारी देखा तो उसे बहुत क्रोध आया। उसने अपने आदेश की अवहेलना करने वाले शैयापालक को इसके लिए दोषी मानते हुए आदेश जारी किया—शैयापालक के कानों को संगीत बहुत प्रिय है, अतः उसके कानों में पिघला हुआ शीशा डाल दिया जाए!

वासुदेव के आदेश का उल्लंघन करने का साहस किसी में न था। शैयापालक के कानों में पिघला हुआ शीशा डाल दिया गया। शैयापालक ने तड़पते हुए दम तोड़ दिया।

कालान्तर में त्रिपृष्ठ वासुदेव का जीव ही अनेक शुभाशुभ गतियों में भ्रमण करता हुआ भगवान महावीर के रूप में उत्पन्न हुआ। शैयापालक भी जन्म-मरण करता हुआ ग्वाले के रूप में जन्मा। भगवान महावीर को देखते ही ग्वाले के पुराने वैर के संस्कार जाग उठे। उसने भगवान के कानों में कीलें ठोंककर अपने वैर का हिसाब बराबर किया।

त्रिपृष्ठ के अग्रज का नाम अचल था। अचल बलदेव थे।

त्रिपृष्ठ चौरासी लाख वर्ष का आयुष्य भोगकर सातवीं नरक का अधिकारी बना।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 4

त्रिभुवनपाल

श्रीपाल का ज्येष्ठ पुत्र। (देखिए-श्रीपाल)

त्रिभुवनस्वयंभू (कवि)

ईसा की नवम् शती के एक प्रतिभाशाली जैन कवि।

कविवर्य त्रिभुवनस्वयंभू कविराज स्वयंभूदेव के पुत्र थे। कवित्व में उनका अप्रतिहत प्रवेश था। उन्होंने पितृ रचित पउमचरिउ, रिट्ठनेमिचरिउ आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों को परिष्कृत और पूर्ण किया था। कविराज चक्रवर्ती उनका विरुद था।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा

त्रैलोक्यसुंदरी

चम्पानगरी के महाराज सुरसुंदर की इकलौती और बुद्धिमती पुत्री। (देखिए-मंगलकलश)

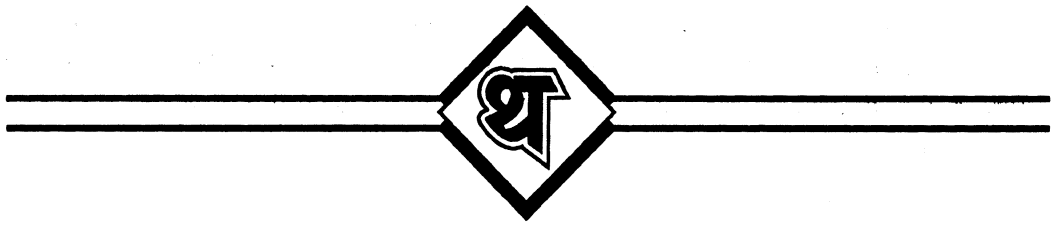

थावच्चापुत्र

द्वारिका नगरी में रहने वाली समृद्ध श्राविका थावच्चा सेठानी का पुत्र थावच्चापुत्र नाम से ही विश्रुत हुआ। उसे बचपन में ही एक घटना को देखकर संसार से वैराग्य हो गया। घटना ऐसे थी–

बालक थावच्चापुत्र अपने भवन की छत पर खेल रहा था। उसे पड़ौसी के घर से सुमधुर गीतों के स्वर सुनाई दिए जो उसे बहुत मधुर लगे। पर कुछ ही क्षण बाद वे गीत रुदन में बदल गए। रुदन के स्वर थावच्चा-पुत्र को अत्यन्त कटु लगे। उसने नीचे आकर पड़ौसी के घर पहले गीत और बाद में विलाप का कारण अपनी माता से जानना चाहा। माता ने बता दिया कि पड़ौसी के घर पुत्र उत्पन्न हुआ था, पर कुछ ही समय बाद वह पुत्र मर गया। उसके जन्म की खुशी में पहले गीत गाए जा रहे थे, उसके मरने पर विलाप किया जा रहा है। इस घटना ने थावच्चापुत्र के बाल-हृदय को झिंझोड़ दिया और उसने अपनी मां से एक प्रश्न पूछ डाला कि क्या एक दिन उसे भी मरना होगा। मां ने बात बदलने के भरसक प्रयास किए पर पुत्र ने मां को उत्तर के लिए विवश कर दिया। आखिर मां को सच कहना ही पड़ा कि एक दिन उसे भी मरना होगा। पुत्र ने मां से मृत्यु को तैरने का मार्ग पूछा, तो मां ने कहा–मृत्यु को तैरने का उपाय तो अरिहंत अरिष्टनेमि ही जानते हैं। थावच्चापुत्र ने अरिहंत अरिष्टनेमि का शिष्य होने का संकल्प कर लिया। मां की प्रसन्नता के लिए थावच्चापुत्र ने बत्तीस स्त्रियों से विवाह भी किया।

अरिहंत अरिष्टनेमि जब द्वारिका आए तो थावच्चापुत्र ने दीक्षा लेने की आज्ञा अपनी माता से मांगी। माता ने अनेक तर्कों से पुत्र को रोकना चाहा। पर थावच्चापुत्र के सबल तर्कों के समक्ष मां निरुत्तर हो गई और उसने पुत्र को दीक्षा की आज्ञा प्रदान कर दी।

स्वयं श्रीकृष्ण ने थावच्चापुत्र के वैराग्य की थाह को टटोला। श्रीकृष्ण ने कहा, युवक! तुम घर में रहकर ही साधना करो, मैं तुम्हारी रक्षा करूंगा! थावच्चापुत्र ने कहा, यदि मृत्यु से आप मेरी रक्षा करने का वचन दें तो मैं अरिहंत अरिष्टनेमि की शरण में न जाकर आपकी शरण में आ सकता हूं। इससे श्रीकृष्ण भी निरुत्तर हो गए। थावच्चापुत्र के वैराग्य का ऐसा प्रभाव हुआ कि एक हजार अन्य पुरुष भी उसके साथ दीक्षित हुए। सुदीर्घ काल तक निरतिचार संयम की आराधना करके और हजारों भव्य प्राणियों के लिए कल्याण का द्वार बनकर थावच्चापुत्र अणगार सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गए।

–ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र-5

थावच्चा सेठानी

द्वारिका नगरी की एक श्रमणोपासिका तथा धनाढ्य महिला। थावच्चापुत्र की मां। (देखिए-थावच्चापुत्र)

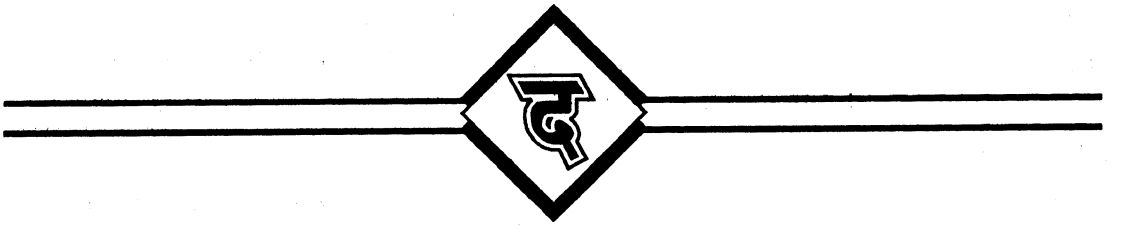

दंडक

दंडक देश का राजा, जिसकी अदूरदर्शिता तथा अविवेक के कारण न केवल पांच सौ मुनियों का वध हुआ अपितु वह अपने नगर तथा नागरिकों के साथ स्वयं भी विनाश को प्राप्त हो गया। (देखिए-स्कन्दक कुमार)

(क) दत्त

तगरा निवासी एक श्रेष्ठी। दत्त श्रेष्ठी अपने पुत्र अरणिक और पत्नी भद्रा के साथ दीक्षा लेकर मुनि बने। (देखिए- अरणिक)

(ख) दत्त

भगवान चंद्रप्रभु के 13 गणधरों में ज्येष्ठ गणधर।

(ग) दत्त

वत्स देश के तुंगिक नगर के एक ब्राह्मण। ये भगवान महावीर के दसवें गणधर मेतार्य के पिता थे।

—आवश्यक चूर्णि

(घ) दत्त (आचार्य)

आचार्य दत्त जंघाबल क्षीण होने के कारण श्रावस्ती नगरी में विराजमान हुए। दुर्दैववश कालान्तर में दुष्काल पड़ा। मुनियों को शुद्ध आहार की प्राप्ति कठिन हो गई। अन्नाभाव की स्थिति में लोगों के मन में दानादि की प्रवृत्ति क्षीण हो गई। समयज्ञ आचार्य श्री ने अन्य मुनियों को विहार के लिए प्रेरित किया। आचार्य श्री स्वयं नगर के विभिन्न भागों में विहार करते। आयंबिल और उपवास की तपस्या करते। यथासमय अरस-विरस आहार का योग होने पर आहार करते। ऐसे उन्होंने 12 वर्ष व्यतीत कर दिए। नगररक्षक देव आचार्य श्री की उत्कृष्ट वृत्ति देखकर उनका भक्त हो गया।

कालान्तर में आचार्य श्री का दत्त नामक शिष्य श्रावस्ती नगरी में आया। उसने आचार्य श्री को उपालंभ दिया—आप तो यहां सानन्द रह रहे हो और हमें विहार करा दिया! उसके उपालंभ पर आचार्य श्री मौन रहे। दत्त भिक्षा के लिए गया। उसे कहीं भी शुद्ध आहार का योग नहीं मिला। क्षुधातुर दत्त ने एक श्रेष्ठीपुत्र की व्यंतर-व्याधि दूर कर उसके घर से भिक्षा प्राप्त की। उसके उपाश्रय में लौटने पर वस्तुस्थिति से अवगत बनकर आचार्य श्री ने उससे कहा, वत्स! तुम द्वारा लाया गया आहार साध्वाचार के अनुकूल नहीं है। आलोचना-निंदना आदि से आत्मशुद्धि करो! इस पर क्षुधातुर दत्त रोषारुण हो गया और बोला, आप मेरे आहार में दोष देखते हैं, बारह वर्षीय दुष्काल में आपने कैसे निर्दोष आहार प्राप्त किया होगा?

दत्त मुनि की अविनीतता देख कर आचार्यश्री की सेवा में रहने वाला देव प्रकट हुआ। उसने दत्त मुनि

को उसकी अविनीतता पर प्रताड़ित किया और उसके समक्ष आचार्य श्री की उत्कृष्ट चर्या की भूरि-भूरि प्रशंसा की। दत्त मुनि को अपनी भूल का परिज्ञान हो गया। उसने आचार्य श्री से अपनी अविनय के लिए क्षमा मांगी और आलोचना प्रायश्चित्तादि से आत्मशुद्धि की। —उत्त. वृत्ति

(ङ) दत्त (मुनि)

एक अविनीत और दोषदृष्टि वाला शिष्य। एक बार आचार्य संघ-सहित कुल्लपुर ग्राम में पधारे। आचार्य श्री ने अपने ज्ञानोपयोग से जान लिया कि उस क्षेत्र में भयानक अकाल पड़ने वाला है, सो उन्होंने मुनि संघ को अन्यत्र विहार करा दिया। आचार्य श्री वृद्ध थे और विहार करने में असमर्थ थे, सो उन्होंने उसी नगर में स्थिरवास का निश्चय किया। दत्त नामक मुनि आचार्य श्री की सेवा में रह गया। पर दत्त मुनि की दृष्टि दोष-दर्शन के दुर्गुण से दूषित थी। वह अकारण ही आचार्य श्री के प्रत्येक कार्य में दोष देखता था।

शासनदेवी को दत्तमुनि की दोषदृष्टि अच्छी नहीं लगी। आचार्य श्री की महानता से उसे परिचित कराने के लिए एक संध्या शासनदेवी ने जब दत्त मुनि प्रतिक्रमण के पश्चात् अपने स्थान पर लौट रहा था तो उसका मार्ग सघन अन्धकार से आछन्न कर दिया। ऐसे सघन अन्धकार की दत्त मुनि ने कभी कल्पना तक न की थी। उसे लगा जैसे वह काजल की काली कोठरी में बन्द हो गया है। वह भयभीत हो गया और चिल्लाया, गुरु महाराज! मुझे रास्ता दिखाओ!

आचार्य श्री भी दत्त मुनि के हृदय के कलुष से अपरिचित नहीं थे। पर उनके पास एक गुरु का हृदय था, जो शिष्य को प्रकाश-पथ पर ले जाने के लिए सदैव तत्पर था। आचार्य श्री ने अपनी अंगुली पर थूक लगाया। उससे आचार्य श्री की अंगुली दीये की भांति प्रकाशमान हो गई। उस प्रकाश में दत्त मुनि आचार्य श्री के निकट आ गया और बोला, आप अपने पास महारंभ का कारक दीपक भी रखते हैं!

शासनदेवी ने क्रोध में भरकर दत्तमुनि को फटकारा। शासनदेवी की फटकार से दत्त मुनि के ज्ञान-नेत्र खुल गए। उसने अपनी दोषदृष्टि को त्यागकर आचार्य श्री से क्षमा मांगी। उसके बाद उसने आचार्य श्री की बहुमानपूर्वक सेवा की। परिणामतः वह सद्गति को प्राप्त हुआ। —उपदेशमाला

(च) दत्त (वासुदेव)

प्रवहमान अवसर्पिणी का सप्तम् वासुदेव। उसने तिलकपुर के राजा प्रतिवासुदेव प्रह्लाद का वध कर वासुदेव पद पाया था। दत्त के पिता का नाम अग्निसिंह था, जो वाराणसी नगरी का स्वामी था।। जयंती और शेषवती—ये दो अग्निसिंह की रानियां थीं। जयंती के पुत्र का नाम नन्दन था, जो सप्तम् बलदेव हुआ। शेषवती दत्त की माता थी।

दत्त ने सुदीर्घ काल तक षट्खण्ड पर शासन किया और छप्पन हजार वर्ष का कुल आयुष्य भोग कर पांचवीं नरक में गया। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र 6/5

दधिपर्ण

नल कालीन सुंसुमारपुर नरेश, जिसके यहां महाराज नल वनवास काल में स्वयं को नल का रसोइया बता कर रहे थे। (देखिए-नल)

(क) दधिवाहन

चम्पानरेश। महासती धारिणी के पति और महासती चंदनबाला के पिता। एक शान्तिप्रिय राजा।

(ख) दधिवाहन

चम्पानगरी का राजा। (देखिए-सुदर्शन सेठ)

दमदंत

महाभारतकालीन एक न्याय-नीति-निपुण नरेश। वह हस्तिशीर्ष नगर का राजा था। उसका तेज और बल अप्रतिम था। वह प्रतिवासुदेव जरासन्ध का अधीनस्थ नरेश था इसीलिए जरासंध के प्रति उसके हृदय में भक्ति तथा प्रीतिभाव था। युद्धों के प्रसंगों पर वह जरासंध के पक्ष से युद्ध किया करता था। जरासंध श्रीकृष्ण और कुरुवंश को अपना शत्रु मानता था। श्रीकृष्ण और कुरुवंशी भी जरासंध और उसके मित्र-नरेशों को अपना शत्रु मानते थे। इसी आधार पर दमदंत भी कुरुवंशियों के लिए एक शत्रु राजा था। एक बार जब दमदंत जरासंध से मिलने के लिए राजगृह नगर गया हुआ था तो कौरवों और पाण्डवों ने मिलकर हस्तिशीर्ष पर आक्रमण कर दिया और राजकोष लूट कर ले गए।

दमदंत को लौटने पर वस्तुस्थिति का परिज्ञान हुआ। उसने चतुरंगिणी सेना सजाकर हस्तिनापुर को चारों ओर से घेर लिया। युधिष्ठिर के आदेश पर नगरद्वार बन्द कर लिए गए। दमदंत पाण्डवों और कौरवों को निरन्तर ललकारता रहा, पर कौरव और पाण्डव उससे लड़ने का साहस नहीं संजो सके। कौरव और पाण्डव महाबली थे, पर उस प्रसंग में न्याय उनके पक्ष में नहीं था इसलिए दमदंत का सामना करने का साहस वे नहीं जुटा पाए। दमदंत कौरवकुल को गीदड़कुल कहकर अपने नगर लौट गया।

कालान्तर में दमदंत राजपाट त्याग कर प्रव्रजित हो गए। उन्होंने समता की साधना में स्वयं को समग्रतः समर्पित कर दिया। विहारक्रम में मुनि दमदंत हस्तिनापुर पधारे और नगर के निकटस्थ वन में ध्यान-साधना में लीन हो गए। उधर कौरव-पाण्डव वन क्रीड़ा के लिए गए। युधिष्ठिर ने मुनि को कायोत्सर्ग मुद्रा में देखा। दमदंत को पहचान कर युधिष्ठिर का हृदय विशेष भक्ति-भाव से पूर्ण हो गया। मुनि की स्तुति-वन्दना कर वे आगे बढ़ गए। भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव भी युधिष्ठिर की भांति ही मुनि को बहुमान देकर आगे बढ़ गए। उनके पीछे दुर्योधन अपने भाइयों के साथ उधर से गुजरा। मुनि दमदंत को पहचानकर दुर्योधन प्रतिशोध से भर उठा। उसने और उसके भाइयों ने मुनि पर पत्थर बरसाए। मुनि को घायल कर वे आगे बढ़ गए। मुनि युधिष्ठिर की स्तुति और दुर्योधन की प्रस्तरवर्षा, दोनों अवस्थाओं में समता भाव में लीन रहे।

वन-विहार से लौटते हुए युधिष्ठिर ने मुनि को घायल-अवस्था में देखा। उनका हृदय कंपित हो गया। दुर्योधन ने मुनि को घायल किया है, यह बात जानकर युधिष्ठिर ने दुर्योधन को प्रताड़ित किया और मुनि से क्षमापना कर अपने नगर को चले गए।

समता-साधना से मुनिवर दमदंत परम गति के अधिकारी बने।

—आवश्यक निर्युक्ति / आवश्यक बृहद् वृत्ति / ऋषिमण्डल प्रकरण वृत्ति

दमयंती

सोलह महासतियों में से एक। विदर्भ देश के कुंडिनपुर के महाराज भीम की रानी पुष्पवती की सुपुत्री। दमयन्ती रूप और गुणों में अद्वितीय थी। उसके पिता ने उसके लिए स्वयंवर का आयोजन किया। उसने अयोध्यापति महाराज नल के गले में वरमाला डालकर उसे पति रूप में चुना। महाराज नल एक नीतिज्ञ शासक और धर्मज्ञ व्यक्ति थे। पर उनमें एक दुर्गुण भी था। द्यूतक्रीड़ा उनका प्रिय शौक था। किसी समय वे अपने भाई कुबेर के साथ द्यूत खेलने लगे। दुर्दैववश वे द्यूत में अपना सर्वस्व हार गए। तय शर्त के अनुसार

उन्हें वनवास स्वीकार करना पड़ा। नल ने दमयंती को उसके पिता के घर भेजना चाहा। पर पतिपरायण दमयंती ने पति की बात को अस्वीकार करते हुए कष्ट के क्षण में उनकी देहच्छाया बने रहने का संकल्प कर लिया। निर्जन वन में एक वृक्ष की छाया में नल-दमयंती विश्राम करने लगे। निद्राधीन दमयंती के आंचल पर उसके मायके का मार्ग लिखकर नल एक दिशा में विदा हो गए। दमयंती निद्रा से जागी तो हत्प्रभ हो गई। अपने हृदय में प्रलय-सा अनुभव करते हुए उसने पति का निर्देश पढ़ा। पर वह अपने घर न गई। एक पर्वत गुफा में रहकर धर्मध्यान करने लगी। वहां रहते हुए उसने पांच सौ तापसों को जिनेश्वर देव का सम्यक् पथ दिखाया। फिर किसी समय एक सार्थ के साथ वह अचलपुर पहुंची। वहां के राजा का नाम ऋतुपर्ण था, जो दमयंती का मौसा था। ऋतुपर्ण की रानी चंद्रयशा उसकी मौसी थी। पर दमयंती ने वहां अपना परिचय नहीं दिया। वह स्वयं को दमयंती की दासी बताकर वहां दासी का काम प्राप्त करने में सफल हो गई। कुछ समय पश्चात् कुंडिनपुर से आए एक ब्राह्मण द्वारा पहचान लिए जाने पर भेद उजागर हो गया। महाराज भीम पुत्री को कुंडिनपुर ले गए।

वन में भटकते हुए नल को एक नाग ने काट लिया, जिससे वे विद्रूप और कुब्ज हो गए। सुंसुमारपुर नरेश दधिपर्ण के यहां स्वयं को नल का रसोइया बताकर महाराज नल ने अपना कष्ट का समय बिताया। नल को खोजने के लिए महाराज भीम ने दमयंती का स्वयंवर पुनः रचा। नल उस स्वयंवर में पहुंचे और पति-पत्नी का पुनर्मिलन हो गया। नल ने अपना राज्य फिर से प्राप्त कर लिया। कालान्तर में दमयंती ने दीक्षा धारण की और आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में गई।

—भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति गाथा 8 / त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 8, सर्ग 3

दमसार मुनि

दमसार कृतांगला नगरी का राजकुमार था। उसके पिता महाराज सिंहरथ नगर नरेश थे। माता का नाम सुनंदा था।

दमसार की युवावस्था में जब उसके माता-पिता उसके विवाह की तैयारी कर रहे थे तो उसी अवधि में तीर्थंकर महावीर कृतांगला नगरी में पधारे। दमसार भगवान की वाणी सुनकर प्रतिबोधित हो गया। उसने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति मांगी। माता-पिता ने पुत्र को संसार में बांधे रखने के लिए सभी तरह से समझाया, मनाया, प्रलोभन दिए, पर सब व्यर्थ रहा। अन्ततः उन्हें आज्ञा दे दी।

दमसार—राजकुमार से मुनि बन गया। अध्ययन के पश्चात् उसने अपने लिए तप का मार्ग चुना। कठोर तप करने लगा। उसने प्रभु की आज्ञा प्राप्तकर निरन्तर मासखमण करने की प्रतिज्ञा धारण कर ली। दुर्धर्ष तप से उसका शरीर हड्डियों का ढांचा मात्र रह गया। पर उसे कैवल्य की प्राप्ति नहीं हुई। इससे उसका मन संशय ग्रस्त हो गया कि—मैं अभव्य तो नहीं हूं! वह प्रभु के चरणों में उपस्थित हुआ और उसने अपना संशय प्रभु के समक्ष प्रकट किया। प्रभु ने फरमाया—दमसार! तुम भव्य हो और इसी भव में मोक्षगामी हो, पर उसके लिए तुम्हें अपने नामानुरूप कषायों के शमन हेतु विशेष श्रम करना चाहिए!

दमसार दोगुने उत्साह से साधना में तल्लीन हो गया।

एक बार मासोपवास के पारणक पर मुनि दमसार तृतीय प्रहर में चम्पानगरी में पधारे। सूर्य आग बरसा रहा था। धरती जल रही थी। कदम-कदम चल पाना तपस्वी मुनि के लिए कठिन सिद्ध हो रहा था। रास्ते में एक व्यक्ति से मुनि ने नगरी में प्रवेश के लिए सुगम मार्ग पूछा। संयोग से वह व्यक्ति श्रमण-द्वेषी

था। मुनि के प्रश्न पर उसका श्रमण-द्वेष तीव्र हो गया। उसने मुनि को एक दुर्गम मार्ग पर जाने का इंगित कर दिया।

प्रचण्ड ताप और दुर्गम-ऊबड़-खाबड़ मार्ग। नुकीले पत्थरों और तीक्ष्ण कण्टकों से तपस्वी अणगार के पगतल बिंध गए। मुनि ने समझ लिया कि नागरिक ने द्वेषवश दुर्गम मार्ग बताया है। क्षण भर के लिए मुनि दमसार भूल गए कि वे मुनि हैं। नागरिकों पर रोषारुण बन गए और कृत्संकल्प हुए कि ऐसे नागरिकों को दण्ड मिलना ही चाहिए। एक स्थान पर स्थिर होकर मुनि दमसार 'उत्थान श्रुत' के उद्वेग उत्पन्न करने वाले पाठ का उच्चारण करने लगे।

उद्वेग उत्पन्न करने वाले मंत्र शब्दों के प्रकट होते ही नगर भर में उद्वेग फैल गया। आबालवृद्ध नागरिक घबराकर इधर-उधर भागने लगे।

नगर में त्राहि-त्राहि मच गई। पर मुनि का मन अधिक देर तक नागरिकों की करुण चीत्कारें सुन सकने में असमर्थ हो गया। मुनि ने तत्क्षण 'उत्थान श्रुत' के उद्वेगशामक मंत्र का उच्चारण किया। क्षण भर में ही नागरिक स्वस्थ हो गए, ऐसे जैसे कुछ हुआ ही नहीं।

पर इस घटनाक्रम से मुनि का मन पश्चात्ताप से भर गया। भगवान महावीर के वचन उनकी स्मृतियों में कौंध उठे—कषाय का शमन करो! कषाय के शमन पर ही कैवल्य ही निष्पत्ति निर्भर है।

बिना आहार ग्रहण किए ही दमसार लौट आए। प्रभु के चरणों में पहुंचकर उन्होंने प्रायश्चित्त ग्रहण किया और उपशम की अप्रमत्त साधना में तल्लीन हो गए।

सातवें दिन का सूरज डूबने से पहले ही उपशम के साधक दमसार मुनि की आत्मा में केवलज्ञान का सूर्य उदय हो गया। दमसार मुनि जन्म-जरा-मरण के दैत्यों का दलन कर अजर-अमर हो गए।

दशरथ

अयोध्या के परम प्रतापी राजा, श्रीराम, लक्ष्मणादि के जनक, और वचन के धनी एक रघुवंशी राजा। दशरथ के पिता का नाम अनरण्य और बड़े भाई का नाम अनन्तरथ था। अनरण्य का एक मित्र था—माहिष्मती नरेश सहस्रांशु। कहते हैं कि दशरथ जब एक माह के थे, तभी अनरण्य ने सहस्रांशु के साथ मुनि दीक्षा ले ली थी। अनन्तरथ ने भी अपने पिता का अनुगमन कर दीक्षा धारण कर ली।

दशरथ, जिनका एक अन्य नाम क्षीरकण्ठ भी था, युवा होने पर अयोध्या के राजा बने। उनकी चार रानियां थीं—कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा और सुप्रभा। इन चारों रानियों के चार पुत्र थे—राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न।

एक बार सत्यभूति नामक मुनि अयोध्या पधारे। उनका उपदेश सुनकर दशरथ विरक्त बन गए। भरत भी पिता के साथ ही दीक्षा लेने को तैयार हो गए। कैकेयी के लिए पति और पुत्र दोनों का एक साथ वियोग असह्य हो गया। उधर महाराज दशरथ राम को राजपद देकर दीक्षा लेना चाहते थे। कैकेयी ने भरत को अपनी आंखों के समक्ष रखने के लिए एक युक्ति निकाली। उसने पति के पास सुरक्षित अपने वचन को भरत के राजतिलक के रूप में मांग लिया। दशरथ के लिए राम और भरत में विभेद न था। दशरथ यह भी जानते थे कि राम के मन में राज्य का कोई आकर्षण नहीं है। इसलिए उन्होंने कैकेयी के कथन अनुसार भरत के राजतिलक की घोषणा कर दी। परन्तु भरत राजगद्दी पर बैठने के लिए तैयार न हुए। एक विचित्र स्थिति बन गई। श्रीराम ने उस विचित्र स्थिति के निदान के लिए वन-पथ स्वीकार कर लिया। श्रीराम को विश्वास

था कि वैसा करने पर ही पिता के वचन की रक्षा और माता कैकेयी की इच्छापूर्ति हो सकती है। लक्ष्मण और सीता ने श्रीराम का अनुगमन किया।

राम के वनगमन से भरत और कैकेयी को बहुत दुख हुआ। राम को वापिस लाने के लिए वे दोनों जंगल में भी गए। पर प्रण के धनी श्रीराम ने सभी को समझा-बुझाकर वापस लौटा दिया।

दशरथ का वैराग्य और अधिक परिपक्व बन गया। मुनि दीक्षा-धारण कर उन्होंने उत्कृष्ट संयम का पालन किया और उत्तम गति के अधिकारी बने। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 7

दशार्णभद्र राजा

दशार्णभद्रपुर नगर का एक श्रमणोपासक शासक। भगवान महावीर के प्रति उसके हृदय में अनन्य आस्था थी। भगवान के सुख-संवाद जानकर ही वह प्रतिदिन अन्न-जल ग्रहण करता था।

एक बार भगवान उसके नगर में आए। राजा ने विचार किया कि अपने प्रभु की पर्युपासना के लिए ऐसे ऐश्वर्य के साथ जाऊं कि पहले कोई न गया हो। पूर्ण साज-सज्जा और ऐश्वर्य के साथ राजा अपने प्रधान हस्ती पर आरूढ़ होकर प्रभु की पर्युपासना को चला। अपनी ऋद्धि और समृद्धि पर राजा मन ही मन इतरा रहा था।

सौधर्मेन्द्र ने राजा के अहं को देखा। भक्ति में भी अहं, उसे यह बात उचित न लगी। राजा के अहं के खण्डन के लिए उसने एक विशाल हाथी बनाया, जिसके पांच सौ मुंह थे। प्रत्येक मुंह पर आठ-आठ दन्तशूल, प्रत्येक दन्तशूल पर आठ-आठ विशाल बावड़ियां, प्रत्येक बावड़ी में एक लाख पंखुड़ी वाला कमल और कमल की प्रत्येक पंखुड़ी पर बत्तीस प्रकार के नाटक खेले जा रहे थे। इस दिव्य समृद्धि के साथ इन्द्र दशार्णभद्र राजा के निकट से गुजरा। उस आश्चर्यजनक समृद्धि को देखकर राजा का अहं गल गया। साथ ही वह इस सत्य को भी समझ गया कि इन्द्र ने उसे नीचा दिखाने के लिए यह उपक्रम किया है। उसने विचार किया—इन्द्र उसे भौतिक समृद्धि में तो परास्त कर सकता है पर आध्यात्मिक समृद्धि में वह उसे परास्त नहीं कर सकता। ऐसा विचार कर राजा भगवान के पास पहुंचा और समस्त भौतिक समृद्धि का परित्याग कर महावीर के चरणों में दीक्षित हो गया।

इन्द्र राजा के मनोभावों का अध्ययन कर रहा था। राजा की इस महाव्रत रूपी समृद्धि का मुकाबला करने का उसके पास कोई उपाय नहीं था। वह राजा से श्रमण बने दशार्णभद्र के चरणों में नत हो गया।

तप और संयम की उत्कृष्ट परिपालना के बाद केवलज्ञान प्राप्त कर दशार्णभद्र ने सिद्धि प्राप्त की।

—ठाणांग वृत्ति 10

दाड़मिया सेठ

(देखिए-गुणपाल)

दामनक

राजगृह नगर का रहने वाला एक युवक। यौवन द्वार तक पहुंचते-पहुंचते उसके जीवन में तीन ऐसे अवसर आए, जब उसकी हत्या के षड्यन्त्र रचे गए, पर पूर्व पुण्यों के बल पर वह तीनों ही बार बच गया। इतना ही नहीं, उसने न केवल भौतिक समृद्धि के शिखर स्पर्शे, बल्कि आयु के अन्तिम पड़ाव पर संयम-शिखरों का भी स्पर्श किया।

दामनक एक धनी सेठ का पुत्र था। उसके परिवार में कई सदस्य थे। एक बार सेठ के परिवार में महामारी फैल गई। पड़ोसियों ने इस विचार से कि इस परिवार की बीमारी उनके परिवारों तक न पहुंच जाए, रात्रि में सेठ के घर के चारों ओर इस विधि से कांटों की बाड़ लगा दी कि घर से न कोई बाहर आ सकता था और न कोई अन्दर जा सकता था। शीघ्र ही दामनक को छोड़कर उसका पूरा परिवार महामारी की चपेट में आ गया और एक-एक कर सभी सदस्य मर गए। पर पूर्व पुण्य के कारण दामनक घर से निकल भागने में सफल हो गया। अनाथ अष्टवर्षीय बालक जहां-तहां टुकड़ा पा जाता, उसे पेट में डालकर जहां-तहां सोकर रात बिता लेता। एक बार उसे देखकर सागरदत्त नामक सेठ को उस पर दया आ गई। वह उसे अपने घर ले गया। दामनक की विनम्रता, सेवा और ईमानदारी से सेठ अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

किसी समय दो मुनि सेठ के घर भिक्षा के लिए आए। दामनक को देखकर वृद्ध मुनि ने युवा मुनि से कहा, इस किशोर का भाग्य जल्दी ही खुलने वाला है। एक समय आएगा, यह इस घर का स्वामी बन जाएगा। यह बात सेठ ने भी सुन ली। इससे वह दामनक को मारने के लिए उतारू हो गया। उसने एक चाण्डाल को पर्याप्त धन देकर दामनक की हत्या के लिए तैयार कर लिया। चाण्डाल मिथ्या बात बनाकर दामनक को जंगल में ले गया। पर जैसे ही उसे मारने को तत्पर हुआ, भोले-भाले युवक पर उसे करुणा आ गई। चाण्डाल ने उससे कहा कि वह कहीं दूर भाग जाए और पुनः इस नगर में न आए।

दामनक भाग गया। एक गांव में एक ग्वाले से उसकी मित्रता हो गई। वहां रहकर वह ग्वाले की गाय चराने लगा। खाने-पीने को उसे पर्याप्त घृत-दुग्ध मिलने लगा। वह कुछ ही दिनों में हृष्ट-पुष्ट और बलवान बन गया। सभी ग्रामीण उससे प्रेम करने लगे। किसी समय सागरदत्त सेठ उस गांव में आया। दामनक को देखते ही वह उसे पहचान गया। सेठ ने पुनः उसकी हत्या का षड्यन्त्र रचा। उसने एक पत्र लिखकर गांव वालों से कहा कि वे इस युवक के हाथ से यह पत्र उसके घर तक पहुंचवा दें। दामनक गांव वालों की बात मानकर सेठ का पत्र लेकर नगर में पहुंचा। वह चलते-चलते बहुत थक गया था। नगर के बाहर उद्यान में एक वृक्ष के नीचे लेटकर वह विश्राम करने लगा। कुछ ही देर में उसे निद्रा आ गई।

उधर संयोग से सेठ सागरदत्त की पुत्री, जिसका नाम विषा था, उद्यान में स्थित मंदिर में देवपूजा के लिए आई। उसकी दृष्टि दामनक पर पड़ी तो वह उसके रूप पर मोहित हो गई। एकटक उसे देखने लगी। उसकी दृष्टि उस पत्र पर पड़ी, जो निद्रा के कारण दामनक के हाथ से छिटककर उसके पास ही गिर पड़ा था। पत्र पर अपने पिता के हस्ताक्षर देखकर विषा ने कौतूहलवश उस पत्र को उठाया और पढ़ने लगी। पत्र में सेठ ने अपने बेटे को लिखा था—पत्रवाहक का खूब स्वागत करो और इसे विष दे दो! इस कार्य में तनिक भी विलम्ब न किया जाए!

विषा तो दामनक की दीवानी बन चुकी थी। उसने विष शब्द के समक्ष आकार जोड़ दिया जिससे विष का विषा बन गया। पत्र को दामनक के पास छोड़कर वह अपने घर लौट आई। दामनक जगा और सेठ के घर पहुंचकर पत्र सेठ के पुत्र को थमा दिया। सेठ के पुत्र ने पिता की आज्ञा का पालन करते हुए उसी दिन दामनक का विवाह अपनी बहन से कर दिया।

सेठ घर लौटा तो वस्तुस्थिति को जानकर सर धुनने लगा। पर तब भी उसने दामनक की हत्या का संकल्प नहीं बदला। उसने अपने विश्वस्त सेवकों को प्रभूत धन देकर दामनक की हत्या के लिए नियुक्त कर दिया। सेवक उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगे। एक दिन दामनक और श्रेष्ठी पुत्र किसी मित्र के घर आयोजित नाटक देखने गए। देर रात में दामनक घर लौटा और घर के बाहर पड़ी चारपाई पर लेट गया।

पर चारपाई में खटमल थे, सो उसे निद्रा न आई और वह पुनः नाटक देखने चला गया। उधर श्रेष्ठी-पुत्र का मन भी नाटक में नहीं लगा और वह घर आकर उसी चारपाई पर लेटकर सो गया। सेठ के अनुचरों ने उसे दामनक समझकर मार डाला।

दूसरे दिन पुत्र का शव देखकर सेठ विलाप कर उठा। उसे अपने आप से घृणा हो गई। उसने संत की बात को अकाट्य मानते हुए दामनक को अपनी समस्त सम्पत्ति का स्वामी बना दिया।

दामनक ने लम्बा और सुखमय जीवन जीया। एक बार एक श्लोक सुनकर उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपने पूर्वभव को देखा और जाना कि पूर्वभव में वह एक मच्छेरा था और एक संत के उपदेश से उसने अहिंसा धर्म अपनाया था। उसी अहिंसा धर्म का यह पुण्य प्रताप था कि वह न केवल पुनः मनुष्य बना बल्कि पुनः-पुनः मृत्यु के द्वार खटखटाने पर भी उसके जीवन की रक्षा स्वतः ही होती रही। दामनक ने पूर्ण-अहिंसा को साधने के संकल्प के साथ दीक्षा धारण कर ली और अहिंसा भगवती की आराधना करते हुए निरतिचार संयम का पालन किया। आयुष्य पूर्ण कर वह स्वर्ग में गया। भविष्य में वह मोक्ष प्राप्त करेगा।

दारुक

महाराज वसुदेव और धारिणी रानी के पुत्र। भगवान अरिष्टनेमि से प्रव्रज्या लेकर इन्होंने शत्रुंजय पर्वत से मोक्ष प्राप्त किया था। (शेष वर्णन सुमुखवत्) —अन्तगड सूत्र वर्ग 3, अध्ययन 12

दाहड़

ग्यारहवीं सदी का एक जैन श्रेष्ठी श्रावक। वह दूबकुण्डपुर राजा विक्रमसिंह के शासनकाल में नगर सेठ था। वह परम जिनभक्त श्रावक था। उसने चण्डोभ नगर में एक विशाल जिनालय का निर्माण कराया था।

दिवाकीर्ति

कौशाम्बी नगरी का रहने वाला एक नापित। (देखिए-सहस्रमल्ल)

दीर्घपृष्ठ

यवपुर नगर का महामात्य। (देखिए-यवराजर्षि)

दीर्घराजा

ब्रह्मदत्त चक्रवर्तीकालीन एक दुश्चरित्र और विश्वासघाती राजा। (देखिए-ब्रह्मदत्त)

दीवान अमरचंद

दीवान अमरचंद जयपुर नरेश के विशेष कृपापात्र थे। सत्यनिष्ठा, मधुरव्यवहार और करुणादि सद्गुणों के कारण जहां राजदरबार में उनका विशेष मान था, वहीं जनसाधारण में भी उनके प्रति श्रद्धा और सम्मान का भाव था।

एक बार राजा ने एक शेर पकड़ा। उन्होंने दरबारियों से कहा—कहो कौन दरबारी इस शेर के लिए मांसादि का उचित प्रबन्ध करेगा? इस पर दीवान जी ने कहा, महाराज! क्या यह अनिवार्य है कि शेर को मांस ही खिलाया जाए? नरेश ने मृदु व्यंग्य किया—दीवान जी! तो क्या आप शेर को जलेबियां खिलाएंगे?

दीवान अमरचंद ने विश्वासपूर्वक कहा—क्यों नहीं महाराज! शेर जलेबियां भी खा सकता है। आप

आज्ञा दें तो मैं शेर को जलेबियां भी खिला सकता हूं!

नरेश ने शेर के भोजन का दायित्व दीवान जी को सौंप दिया। दीवान जी ने निरंतर तीन दिनों तक जलेबियों के थाल शेर के पिंजरे में रखवाए, पर शेर ने उन्हें नहीं खाया। चौथे दिन जलेबियों का थाल लेकर दीवान जी स्वयं शेर के पिंजरे में गए। उन्होंने कोमल शब्दों में शेर से कहा—वनराज! ये जलेबियां खाकर अपनी क्षुधा शान्त करो, अन्यथा मैं प्रस्तुत हूं, मुझे खाकर अपनी भूख मिटाइए!

कहते हैं कि पहले तो शेर गुर्राया, पर शीघ्र ही वह शान्त हो गया। उसने जलेबियां खाकर अपनी क्षुधा शान्त कर ली। इस प्रकार एक अहिंसा के पुजारी श्रावक ने जन्मना हिंसक जानवर को अहिंसा में दीक्षित कर दिया।

दीहभद्र

आचार्य संभूतविजय के एक शिष्य। —कल्पसूत्र स्थविरावली

दुंदुक (राजा)

एक जैन राजा। वी.नि. की चौदहवीं शताब्दी में वह कान्यकुब्ज के सिंहासन पर आसीन हुआ। आचार्य बप्पभट्टि का उस पर विशेष प्रभाव रहा। जैन धर्म के संस्कार उसे आचार्य श्री से तथा अपने पिता महाराज आम से विरासत में प्राप्त हुए थे। (देखिए-बप्पभट्टि आचार्य)

दुइज्जंत (तापस)

मोराक सन्निवेश के बहिर्भाग में स्थित आश्रम का कुलपति। वह महाराज सिद्धार्थ का मित्र था। उसकी प्रार्थना पर भगवान महावीर ने उसके आश्रम में साधना-काल का प्रथम वर्षावास बिताने का उसे वचन दिया था। वर्षावास के पन्द्रह दिन ही भगवान ने उसके आश्रम में बिताए। वर्षावास के शेष मास भगवान ने अस्थिक ग्राम के शूलपाणि यक्ष के यक्षायतन में बिताए।

दुइज्जंत एक तापस था और अनेक तापस उसके आश्रम में रहकर तप करते थे। सभी तापसों को अलग-अलग तृण कुटीर दिए गए थे। महावीर को भी दुइज्जंत ने एक तृणकुटीर दिया था। यह नियम था कि प्रत्येक तपस्वी अपने-अपने कुटीर की रक्षा स्वयं करेगा। जब यही नियम महावीर के लिए भी निर्देशित किया गया तो महावीर ने कुटीर-रक्षा को अपनी साधना में बाधा माना और उन्होंने कुटीर का त्याग कर शूलपाणि यक्ष के यक्षायतन में शेष वर्षावास बिताया।

दुध

चम्पा नगरी का रहने वाला एक युवक। नागदत्त नामक एक श्रेष्ठी-पुत्र से उसकी मैत्री थी। प्रारंभ में ये दोनों युवक संपन्न थे, पर दुर्दैववश समस्त समृद्धि खो बैठे। परिवार-पालन भी भार बन गया तो दोनों ने देवाराधना से धन प्राप्त करने का निश्चय किया। दोनों कालिंजर पर्वत पर पहुंचे। दुध अपने कुलदेवता कुबेरयक्ष की आकांक्षारहित चित्त से आराधना में तल्लीन हो गया और शीघ्र ही यक्ष-कृपा से समृद्ध बन गया। नागदत्त ने आकांक्षा से भरे चित्त से अपनी कुलदेवी की आराधना प्रारंभ की। पांच दिन तक वह निराहार रहकर देवी की आराधना करता रहा। छठे दिन एक पुरुष उसके पास आया। पुरुष ने कहा, तुम व्यर्थ इस देवी की आराधना में शरीर और समय बर्बाद कर रहे हो! पास ही सिद्धत्व देव का आयतन है। तुम उस देव की आराधना करो और समृद्ध बनो! नागदत्त ने देवी की आराधना छोड़कर सिद्धत्व देव की

आराधना शुरू कर दी। उसकी आराधना में आराधना का भाव शून्य और आकांक्षा का भाव प्रधान था। फलतः अनेक दिन उपवासी रहकर भी उसकी विपन्नता न मिटी।

कांक्षा के साथ की गई आराधना व्यर्थ और निष्फल ही सिद्ध होती है। कांक्षारहित बनकर की गई आराधना शीघ्र ही फलवती हो जाती है। —कथा रत्न कोष, भाग-1

दुर्गंधा

एक वेश्यापुत्री, जिसका पालन-पोषण एक अहीरन ने किया और जो किशोरावस्था प्राप्त करते ही मगधदेश की महारानी बनी। दुर्गंधा का उत्थान-पतनमय परिचय-पत्र निम्नोक्त है—

एक बार भगवान महावीर राजगृह नगरी में पधारे। महाराज श्रेणिक दर्शनों के लिए निकले। नगर के बाहर एक स्थान पर तीव्र दुर्गन्ध उठ रही थी। राजा के आदेश पर अनुचरों ने दुर्गन्ध का कारण खोज निकाला और राजा को बताया, महाराज! एक सद्यजात कन्या उकुरड़ी पर पड़ी है। उसी के शरीर से यह दुर्गन्ध उठ रही है।

राजा उस नवजात कन्या के जीवन पर विचार करता हुआ भगवान के पास पहुंचा। प्रवचन के पश्चात् राजा ने प्रभु से उस दुर्गन्धा कन्या के बारे में पूछा। भगवान ने फरमाया—राजन्! तुम्हारे ही राज्य के अन्तर्गत शालीग्राम में यह कन्या पूर्वजन्म में एक सेठ की पुत्री थी। एक बार जब उसका विवाहोत्सव हो रहा था तो वह स्नान करने के पश्चात् उत्तम वस्त्राभूषणों से सज्जित बनकर तथा विविध सुगन्धित लेपों से युक्त बनकर शैया पर बैठी थी। उसी समय कुछ मुनि भिक्षा के लिए उसके घर आए। पिता के कहने पर वह आहार देने के लिए मुनियों के निकट आई। मुनियों के प्रस्वेद-युक्त देह और मलिन वस्त्रों को देखकर उस कन्या का हृदय घृणा से भर आया। उसी घृणा का यह फल हुआ कि आयुष्य पूर्ण कर वह कन्या यहां राजगृह नगरी में एक वेश्या के गर्भ में उत्पन्न हुई। इसके गर्भ में आते ही वेश्या को तीव्र उदरशूल रहने लगा। वेश्या ने गर्भ गिराने के अनेक यत्न किए पर वह सफल नहीं हुई। इसे जन्म देते ही वेश्या ने उकुरड़ी पर फिंकवा दिया। उसी कन्या को तुमने आज देखा है।

कर्म-कथा सुनकर श्रेणिक की जिज्ञासा वर्धमान हुई। उसने पूछा, भंते ! इस कन्या का भविष्य क्या होगा? भगवान ने फरमाया, राजन्! भविष्य में यह कन्या तुम्हारी पटरानी बनेगी। राजा का आश्चर्य और कौतूहल बढ़ा। उसने पूछा, प्रभु ! मैं इसे कैसे पहचानूंगा? भगवान ने कहा, राजन्! तुम्हारी जो रानी तुम्हें घोड़ा बनाकर तुम्हारी पीठ पर सवार हो जाए, समझ लेना वह यही कन्या है!

कालान्तर में प्रभु का कथन अक्षरशः सिद्ध हुआ। कौमुदी-महोत्सव के अवसर पर राजा श्रेणिक अहीरी द्वारा पालित कन्या—जो किशोरी हो चुकी थी और नवयौवना दिखाई देती थी, पर मुग्ध हो गया और उससे विवाह रचा लिया। एक बार राजा जब अपनी रानियों के साथ कोई खेल खेल रहा था। खेल की शर्त निर्धारित की गई थी कि जो हारेगा, उसे घोड़ा बनकर विजयी को पीठ पर बैठाना होगा। खेल में राजा हार गया। अन्य रानियों ने तो राजा की पीठ पर अपना वस्त्र रखकर नियम निभा लिया पर अहीर कन्या ने वैसा नहीं किया। वह उछलकर राजा की पीठ पर चढ़ बैठी। उसी क्षण राजा को प्रभु का वचन स्मरण हो आया। राजा बोला, आखिर है तो वेश्या पुत्री ही!

रानी को यह बात चुभ गई। उसके पूछने पर राजा ने पूर्वजन्म से लेकर वर्तमान तक का पूरा कथानक कह दिया। इससे रानी प्रतिबुद्ध हो गई और आर्या चंदना के पास प्रव्रजित होकर तप-संयम में संलग्न बन गई।

दुर्बलिका पुष्यमित्र (आचार्य)

श्रमण परम्परा के एक प्रभावशाली श्रुतधर आचार्य। आचार्य सुहस्ती की गण परम्परा के महान आचार्य आर्य रक्षित उनके गुरु थे। दुर्बलिका पुष्यमित्र का जन्म वी.नि. 550 में हुआ। सत्रह वर्ष की अवस्था में उन्होंने आर्य रक्षित के पास दीक्षा धारण की। दीक्षा के पश्चात् उन्होंने आगमों का गहन अध्ययन किया और नौ पूर्वों के विशाल ज्ञान को हृदयंगम किया।

कहते हैं कि ध्यान साधना में विशेष रूप से लगे रहने के कारण वे कृशकाय थे। किसी समय बौद्ध भिक्षुओं ने बौद्ध परम्परा की ध्यान प्रणाली की आर्यरक्षित के समक्ष अत्यधिक अनुशंसा की और कहा, जैन परम्परा में ध्यान की वैसी प्रणाली नहीं है। तब आर्यरक्षित ने अपने शिष्य दुर्बलिका पुष्यमित्र की ओर इंगित करके कहा कि यदि तुम जैन परम्परा की ध्यान प्रणाली जानना चाहते हो तो मेरे इस शिष्य से जान सकते हो। आर्यरक्षित की आज्ञा से आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र कई दिनों तक बौद्ध भिक्षुओं के साथ रहे। दुर्बलिका पुष्यमित्र की ध्यान साधना विधि और उनकी ध्यान में गहराई को देखकर बौद्ध भिक्षुओं का मिथ्या अहं गल गया।

आर्यरक्षित के कई सुयोग्य शिष्य थे, जिनमें प्रमुख थे—दुर्बलिका पुष्यमित्र, फल्गुरक्षित, विन्ध्य, गोष्ठामाहिल, घृतपुण्यमित्र, वस्त्रपुण्यमित्र आदि। इन शिष्यों की अपनी-अपनी विशिष्टताएं थीं। इनमें से कई लब्धिधारी और कई विद्वान और वादकुशल थे।

आर्यरक्षित ने अपना उत्तराधिकार आर्य दुर्बलिका पुष्यमित्र को प्रदान किया। दुर्बलिका पुष्यमित्र ने कुशलता और तत्परता से जिनशासन का संचालन किया। वी.नि. 587 में वे आचार्य बने और वी.नि. 617 में उनका स्वर्गवास हुआ। उनके शासन काल में जिनशासन की प्रभूत प्रभावना हुई। —प्रभावक चरित

दुर्मुख

महाराज बलदेव और उनकी रानी धारिणी के अंगजात। इन्होंने भी सुमुख की भांति भगवान से दीक्षा लेकर मोक्ष प्राप्त किया था। (शेष-सुमुखवत्) —अन्तगड सूत्र वर्ग 3, अध्ययन 10

दुर्योधन

धृतराष्ट्र का ज्येष्ठ पुत्र। बाल्यकाल से ही दुर्योधन में प्रतिस्पर्धा की भावना थी। उसने भीम, अर्जुन आदि अपने चचेरे भाइयों को अपने प्रतिस्पर्धियों के रूप में देखा। उन्हें परास्त करने के लिए वह सदैव लालायित रहता था। उसकी प्रतिस्पर्धी भावनाओं को ईर्ष्या का रूप-रंग दिया उसके मामा शकुनि ने। दुर्योधन की महत्वाकांक्षा और ईर्ष्या के कारण ही महाभारत जैसे विनाशकारी युद्ध की नींव पड़ी।

कौरवों और पाण्डवों के मध्य निरन्तर दूरियां बढ़ती गईं। दुर्योधन ने पुनः-पुनः न्याय और नीति की अवमानना की तथा ज्येष्ठ पुरुषों की आज्ञाओं और आदेशों का उल्लंघन किया। कृष्ण जैसे महापुरुष को भी उसने गिरफ्तार करने का षड्यन्त्र रच डाला। शान्ति के समस्त प्रस्तावों का उसने अनादर किया। परिणामतः महाभारत का विनाशकारी युद्ध लड़ा गया। उस युद्ध में दुर्योधन अपने भाइयों और मित्रों सहित काल का ग्रास बन गया। —जैन महाभारत

दुर्योधन चारकपाल

विपाक सूत्र के अनुसार दुर्योधन प्राचीनकालीन सिंहपुर नामक नगर का कोतवाल था। (देखिए-नन्दीवर्धन)

दुर्विनीत कौंगणिवृद्ध (राजा)

गंगवंश का एक जैन राजा। उसे दक्षिण में धर्म एवं वर्ण व्यवस्था की रक्षा के लिए वैवस्वत मनु की उपमा दी जाती है। जैन धर्म का वह विशेष उपासक था। जैन धर्म की प्रभावना में वह आजीवन यत्नशील रहा। उसका शासनकाल ई.स. 478 से 513 तक माना जाता है। —जैन शिलालेख संग्रह

दूष्यगणी (आचार्य)

नन्दी स्थविरावली के अनुसार एक श्रुतसागर आचार्य। उन्हें अर्थ और महार्थ की खान कहा गया है। शिष्यों को आगम वाचना देते हुए और उनके प्रश्नों का समाधान करते हुए आचार्य दूष्यगणी समाधि का अनुभव करते थे। उनकी वाणी अत्यन्त मधुर थी।

आचार्य दूष्यगणी का समय वी.नि. की दशमी शताब्दी का पूर्वार्द्ध संभावित/अनुमानित है।

—नन्दी स्थविरावली

दृढ़चित्त

(देखिए-अगड़दत्त)

दृढ़नेमि

सत्यनेमि के अनुज। (देखिए-सत्यनेमि) —अन्तगड सूत्र वर्ग 4, अध्ययन 10

(क) दृढ़प्रहारी

एक धार्मिक और न्यायनीति निपुण ब्राह्मण का पुत्र था दृढ़प्रहारी। पिता का एक भी सुसंस्कार उसमें उतर नहीं पाया। कुसंगति में पड़कर सातों ही कुव्यसनों का संगम स्थल बन गया था उसका जीवन। पिता ने उसे प्रेम और फटकार, दोनों विधियों से समझाया पर वह नहीं समझा। नहीं समझा तो पिता ने उसे घर से निकाल दिया। इधर-उधर भटकता हुआ वह नगर से कुछ दूर स्थित चोरपल्ली में पहुंचा। चोरों ने उसे अपनी पल्ली का सदस्य बना लिया। चोरी करने, डाके डालने, हत्या करने में वह कुशल बन गया। प्रहार करने में विशेष दक्ष होने से उसे दृढ़प्रहारी कहा जाने लगा। चोरपल्ली के सरदार ने उसे अपना पुत्र मान लिया और सरदार की मृत्यु के पश्चात् वह चोरपल्ली का सरदार बन गया।

एक बार दृढ़प्रहारी ने अपने चोर साथियों के साथ एक नगर को लूटा। मनचाहा धन लूटा और अनेक लोगों की हत्या कर डाली। उसी दौरान दृढ़प्रहारी एक ब्राह्मण के घर रुका। ब्राह्मणी ने खीर बनाई थी। नन्हे-नन्हे ब्राह्मण पुत्र खीर खाने को आतुर थे। दृढ़प्रहारी भी खीर खाने को आतुर बन गया। वह लपककर खीर के बर्तन के पास जा बैठा। उसके इस व्यवहार से ब्राह्मणी क्षुब्ध हो गई। उसने उपालम्भ देते हुए कहा—कुछ तो विवेक रख, भला तेरे छू जाने से यह खीर हमारे लायक तो रह नहीं जाएगी! तुझे खीर चाहिए सो अवश्य मिलेगी!

ब्राह्मणी की कटूक्ति सुनकर दृढ़प्रहारी आपे से बाहर हो गया। उसने देखते ही देखते तलवार के प्रहार से ब्राह्मणी के दो टुकड़े कर दिए। उधर ब्राह्मण स्नान कर रहा था, वह पत्नी की रक्षा के लिए दौड़ा तो दृढ़प्रहारी ने उसके भी दो टुकड़े कर दिए। पास ही घास खा रही गाय ने अपने स्वामी की यह दशा देखी तो वह दृढ़प्रहारी को मारने दौड़ी। दृढ़प्रहारी ने एक भरपूर वार से उस गाय के दो टुकड़े कर दिए। गाय गर्भवती थी। गर्भ भी कटकर जमीन पर आ पड़ा।

तीन प्रहारों में चार हत्याएं कर डाली दृढ़प्रहारी ने। कटे हुए शवों को वह देख रहा था। वह देख रहा था उस अकाल जात बछड़े को जो मृत्यु के क्षण में तड़प रहा था। जीवन में हजारों प्राणियों की हत्या करने वाला दृढ़प्रहारी आज तक कम्पित न बना था, पर आज उस अजात बछड़े की तड़प ने उसे कंपा दिया। हाथ में रक्तरंजित तलवार लिए खड़े दृढ़प्रहारी के भीतर चिन्तन चला—एक गाय में भी इतना विवेक है कि वह अपने स्वामी की रक्षा के लिए अपने प्राण दे देती है। एक मैं हूं जो मनुष्य कहलाकर निर्दोषों के रक्त से स्नान करता हूं। धिक्कार है मेरे मनुष्य होने पर!

विचारधारा निर्वेद रस से सिक्त हो गई। वहीं खड़े-खड़े दृढ़प्रहारी ने समता की दीक्षा का भीष्म महाव्रत ले लिया। उसने विचार किया, इसी नगर के हजारों लोगों का वध कर मैंने हिंसा का भारी बोझ संचित किया है, इसी नगर में रहकर उस बोझ से मुक्त होना होगा। जिन कर्मों का संचय विषमता से किया है उन्हीं कर्मों को समता की साधना से निर्बीज करना होगा।

दृढ़प्रहारी मुनि ने नगर के चारों द्वारों पर डेढ़-डेढ़ मास ध्यानस्थ रहकर नगरवासियों में उमड़े क्रोध के, प्रतिशोध के दावानल को शान्त-प्रशान्त बना दिया। पूर्ण समता की साधना से सकल कर्मों को निर्बीज बनाकर दृढ़प्रहारी मुनि केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में चले गए। —आवश्यक कथा

(ख) दृढ़प्रहारी

अगड़दत्त के पिता का मित्र और सहपाठी। (देखिए-अगड़दत्त)

दृढ़रथ

भद्दिलपुर नरेश और भगवान शीतलनाथ के पिता।

देवकी माता

महाराज वसुदेव की रानी और त्रिखण्डाधिपति वासुदेव श्रीकृष्ण व गजसुकुमाल की जननी। अंतगडसूत्र में देवकी का श्रद्धा और भक्ति की देवी के रूप में सुन्दर चरित्र चित्रण हुआ है। देवकी कंस की चचेरी बहन थी। जब वसुदेव के साथ उसका विवाह हो रहा था तब कंस की रानी जीवयशा ने अपने देवर मुनि अतिमुक्तक से आपत्तिजनक उपहास किया। मुनि ने रोष में भरकर भविष्य उघाड़ दिया और कहा, जिस ननद के विवाह के अवसर पर तुम अपना विवेक विस्मृत कर बैठी हो, उसी की सातवीं संतान तुम्हारे वैधव्य का कारण होगी।

मुनि के वचनों ने जीवयशा का नशा उतार दिया। कंस ने भी यह बात सुनी। उसने छल से देवकी और वसुदेव को कारागार में डाल दिया। कारागार में ही देवकी ने एक-एक कर छह पुत्रों को जन्म दिया। हरिणगमेषी देव की माया शक्ति ने देवकी के पुत्रों को सुलसा गाथापत्नी के मृत पुत्रों से बदल दिया। कंस ने यही माना कि देवकी ने मृत पुत्रों को ही जन्म दिया है।

सातवीं संतान के रूप में देवकी ने श्रीकृष्ण को जन्म दिया। श्रीकृष्ण के प्रबल पुण्य प्रभाव से उनके जन्म लेते ही कारागृह के रक्षक निद्राधीन बन गए। वसुदेव अपने नवजात शिशु को गोकुलवासी अपने मित्र नन्द को सौंप आए। नन्द की पत्नी यशोदा ने श्रीकृष्ण का लालन-पालन किया। आखिर बड़ा होने पर श्रीकृष्ण ने कंस का प्राणान्त कर अपने माता और पिता को कारागृह से मुक्त कराया।

देवकी एक भक्तिमती सन्नारी थी। अपने हाथों से वह श्रमणों को भिक्षा बहराकर मन में महान प्रसन्नता अनुभव करती थी। वह भगवान अरिष्टनेमि की अनन्य उपासिका थी। अधेड़ उम्र में देवकी ने गजसुकुमाल

जैसे महान पुत्र को जन्म दिया। श्राविका धर्म का सम्यक् पालन कर वह स्वर्गस्थ हुई। जन्मान्तर में सर्वकर्म खपा कर वह सिद्ध होगी।

देवकुमार

लक्ष्मीनिवास नगर के सेठ प्रज्ञाकर और सेठानी प्रज्ञावती का आत्मज, एक परम पुण्यशाली जीव। श्रेष्ठी-पुत्र होते हुए भी युवावस्था में वह राजा बना। यह उसके पूर्वजन्म के पुण्यों का ही चमत्कार था। एक बार उसने एक ज्ञानी मुनि से अपने पूर्वजन्म के बारे में पूछा तो मुनि ने उसे बताया कि पूर्वजन्म में वह हस्तिनापुर नगर का सुमति नामक व्यापारी था। उसकी माता पौषधव्रत की आराधना करती थी और वह अपनी माता को उसकी आराधना में सहयोग देता था और पौषध की अनुमोदना करता था। उसी सहयोग और अनुमोदना का यह फल है कि तुम वर्तमान भव में राजा बने हो। देवकुमार ने विचार किया, पौषधव्रत के लिए दिए गए सहयोग और उसकी अनुमोदना का ऐसा उत्कृष्ट प्रतिफल है तो स्वयं पौषध की आराधना करने का फल तो निश्चित ही उत्कृष्टतम होगा। ऐसा विचार कर उसने मुनि श्री से पर्व-तिथियों के दिनों में पौषध करने का प्रण ले लिया और पूर्ण श्रद्धाभाव से उस नियम का परिपालन करने लगा।

एक समय एक शत्रु राजा ने राजा देवकुमार को युद्ध के लिए ललकारा। देवकुमार सेना सजाकर युद्ध के मैदान में पहुंच गया। सहसा देवकुमार को स्मरण हुआ कि दूसरे ही दिन पर्व का दिन है और ग्रहीत नियमानुसार उसे पौषध करना है। देवकुमार ने शत्रु राजा के पास प्रस्ताव भेजा कि एक दिन विलम्ब से युद्ध शुरू किया जाए जिससे मैं अपने नियम का पालन कर सकूं। पर शत्रु राजा ने देवकुमार का प्रस्ताव ठुकरा दिया। इस पर भी देवकुमार अपने निश्चय पर अटल रहा। दूसरे दिन प्रभात खिलते ही अपने छावनी-कक्ष में वह पौषध की आराधना करने लगा। उसके सैनिकों ने उसे युद्ध-कर्त्तव्य के लिए प्रेरित किया, आशंका व्यक्त की कि ऐसे में शत्रु हावी होकर उनके राज्य को छीन सकता है। पर इन प्रेरणाओं का देवकुमार पर कोई प्रभाव नहीं हुआ। वह अपनी साधना में तल्लीन रहा। राजा को निष्प्रभावी देखकर सैनिक हतोत्साहित बन गए। जैसे ही शत्रु ने आक्रमण किया, देवराज के सैनिक भाग खड़े हुए। शत्रु के सैनिकों ने पौषध की आराधना में तल्लीन राजा देवकुमार को चारों ओर से घेर लिया। मृत्यु को सम्मुख देखकर भी देवकुमार अभय था। न उसे अपने सैनिकों पर रोष था और न ही शत्रु सैनिकों पर द्वेष। वह परम समता भाव में लीन था। शत्रु-सैनिकों ने जैसे ही देवकुमार का वध करना चाहा, वैसे ही शासन देवी का शासन कम्पित हुआ। शासन देवी ने तत्क्षण वहां उपस्थित होकर शत्रु पक्ष के सैनिकों को स्तंभित कर दिया और उनके शरीरों में दाह उत्पन्न कर दिया। शत्रु-सैनिक त्राहि-त्राहि कर उठे। शत्रु राजा की विशेष प्रार्थना पर शासन देवी ने उसके सैनिकों को स्वस्थ किया। शत्रु राजा देवकुमार के चरणों में नत हो गया और उसकी अधीनता स्वीकार कर लौट गया। देवकुमार के सैनिक धर्म का साक्षात् चमत्कार देखकर लौट आए और अपने नरेश की जय-जयकार करने लगे।

राजा देवकुमार ने पौषध की निरन्तर आराधना के साथ अपनी प्रजा में भी पौषध रुचि जगाई। उसने अनेक उपाश्रयों और पौषधशालाओं का निर्माण कराया। लक्ष्मीनिवास नगर के लोग बढ़-चढ़कर पौषध की आराधना करने लगे।

किसी समय एक चोर ने नगर के एक श्रेष्ठी के घर में सेंध लगाई। सैनिकों ने चोर को देख लिया। चोर सैनिकों से बचकर भागा। सैनिक उसके पीछे थे। चोर वन में पहुंचकर एक लताकुंज में छिप गया। वहां एक मुनि ध्यानस्थ थे। चोर ने मुनि से त्राण की प्रार्थना की। मुनि ने कहा, वत्स ! धर्म ही एकमात्र त्राण है

और संयम में ही धर्म रहा हुआ है। मुनि के वचन चोर के हृदय में पैठ गए। उसने तत्क्षण संयम धारण कर लिया।

प्रभात खिलने पर आस-पास फैले सैनिक संयमव्रती चोर के पास आए। चूंकि चोर मुनि बन चुका था, इसलिए सैनिक उसे गिरफ्तार करने का साहस न कर सके। नगर में जाकर सैनिकों ने राजा देवकुमार को सूचना दी। वस्तुस्थिति से परिचित बनकर राजा वन में गया। उसने नवदीक्षित मुनि को भावभरे हृदय से वन्दन किया और उसके हृदय-परिवर्तन की स्तुति की।

एक बार राजा देवकुमार पौषध की आराधना करते हुए धर्म जागरिका कर रहा था। उसका चिन्तन चोर द्वारा संयम की साधना पर केन्द्रित हो गया। उसने सोचा, धन्य है उस पुण्यात्मा को जिसने क्षणिक भय से विह्वल बन सांसारिक ममत्वों का विच्छेद कर परम कल्याणकारी संयम को ग्रहण कर लिया। एक मैं हूं जो धर्म के मर्म को जानते हुए भी मोह-ममत्वों का विच्छेद नहीं कर पा रहा हूं। वह क्षण धन्य होगा जब मैं समस्त ममत्व का विच्छेद कर अणगार धर्म की आराधना करूंगा। राजा देवकुमार के भाव निर्मल और सुनिर्मल बनते गए। उसके भावों में ऐसा ऊर्ध्वारोहण जगा कि पौषधावस्था में ही उसे केवलज्ञान हो गया। देव दुंदुभियां बजने लगीं। देवों ने बड़ी संख्या में उपस्थित होकर देवकुमार केवली का कैवल्य महोत्सव मनाया। मुनि देवकुमार केवली ने धर्मोपदेश दिया। हजारों नागरिक प्रबुद्ध हुए। अनेक ने संयम व्रत धारण किए।

अनेक वर्षों तक जगतितल पर विचरण कर और असंख्य भव्य-जीवों के लिए कल्याण का द्वार बनकर देवकुमार केवली मोक्ष पधारे। —जैन कथा रत्न कोष, भाग 4 / श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र, —(रत्नशेखर सूरि कृत)

(क) देवदत्ता

राजगृह नगर की एक गणिका। (देखिए-कृतपुण्य)

(ख) देवदत्ता

प्राचीनकालीन चम्पानगरी की एक गणिका। (देखिए-नागश्री)

(ग) देवदत्ता

देवदत्ता का पूर्व, वर्तमान और भविष्य सम्बन्धी समग्र जीवन वृत्तान्त निम्नोक्त है—

अत्यन्त प्राचीन काल में भारतवर्ष में सुप्रतिष्ठ नाम का एक नगर था। वहां पर महाराज महासेन राज्य करते थे। धारिणी प्रमुख उनकी एक हजार रानियां थीं। धारिणी का एक पुत्र था, जिसका नाम सिंहसेन था। युवावस्था में सिंहसेन का पांच सौ राजकन्याओं से पाणिग्रहण कराया गया। उनमें श्यामादेवी नामक राजकुमारी प्रमुख थी।

पिता के स्वर्गवास के पश्चात् सिंहसेन सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। अपनी पटरानी श्यामादेवी पर उसका सघन अनुराग था। उसके प्रेमपाश में बंधकर उसने शेष चार सौ निन्यानवे रानियों को उपेक्षित छोड़ दिया। इससे उन राजकुमारियों की माताएं चिन्तित हो गईं। इसके लिए उन्होंने श्यामा देवी को उत्तरदायी माना। श्यामादेवी उनकी आंखों का कांटा बन गई। श्यामादेवी की हत्या करने के लिए वे उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करने लगीं।

अपनी हत्या के षड्यन्त्र से श्यामादेवी भी अवगत हो गई। उसने सिंहसेन को शिकायत कर दी। इससे सिंहसेन क्रोधित हो गया। उसने अपनी चार सौ निन्यानवे पत्नी-माताओं को दण्डित करने के लिए एक षड्यन्त्र की रचना की।

उसने एक विशाल और भव्य कूटाकारशाला बनवाई। फिर किसी प्रसंग विशेष पर उन चार सौ निन्यानवे पत्नी-माताओं को आमंत्रित किया और उनको उस कूटाकारशाला में ठहराया। उनके सुन्दर आहार-विहार और मनोरंजन की व्यवस्था की। रात्रि में जब वे महिलाएं विश्राम कर रही थीं, तब सिंहसेन राजा ने अपने गुप्त सैनिकों से कूटाकारशाला में आग लगवा दी। चार सौ निन्यानवे महिलाएं सिंहसेन के कूट का शिकार बन गईं। भयंकर चीत्कार करते हुए उन्होंने प्राण छोड़े।

इससे सिंहसेन राजा ने दुःसह कर्मों का निकाचित बन्ध किया। कालमास में काल कर वह छठी नरक का अतिथि बना। 22 सागरोपम तक नरक के दारुण दुखों को भोगने के पश्चात् सिंहसेन का जीव रोहितक नगर के दत्त गाथापति की पत्नी कृष्णश्री के उदर से पुत्री रूप में उत्पन्न हुआ। वहां उसका नाम देवदत्ता रखा गया। युवावस्था में देवदत्ता का रूप लावण्य उच्च कोटि का हुआ। उसका विवाह रोहितक नगर के युवराज पुष्यनन्दी के साथ सम्पन्न हुआ। पिता की मृत्यु के पश्चात् पुष्यनन्दी राजपद पर आसीन हुआ और न्याय-नीति से प्रजा का पालन करने लगा।

राजा पुष्यनन्दी मातृभक्त था। अपनी माता श्रीदेवी की सेवा-शुश्रूषा वह अपने हाथों से करता था। वह माता को स्वयं नहलाता, उसके अंगों पर विभिन्न तैलों का मर्दन करता, अपने हाथों से उसे भोजन करवाता। उसका काफी समय मातृ-सेवा में ही बीत जाता।

देवदत्ता एक कामाभिलाषिनी नारी थी। वह चाहती थी कि सिंहसेन उसे अधिक से अधिक समय दे। पर मातृसेवा में संलग्न सिंहसेन देवदत्ता को उसके मनोनुकूल समय नहीं दे पाता। इससे देवदत्ता मन ही मन खिन्न रहती। इसके लिए वह अपनी सास श्रीदेवी को उत्तरदायी मानती थी। अपनी सास को वह अपने सुख में बाधा मानने लगी। उसने उसकी हत्या का निश्चय कर लिया।

एक दिन जब श्रीदेवी सुख-शैया पर सो रही थी तो अवसर पाकर देवदत्ता ने उसके गुह्य स्थान में तप्त लौहदण्ड डाल कर उसकी हत्या कर दी। देवदत्ता की इस क्रूरता पर राजा सिंहसेन आगबबूला हो गया। उसने देवदत्ता को अवकोटक बन्धनों से बंधवा कर शूली का आदेश दे दिया।

मरकर देवदत्ता नरक में गई। वह असंख्यात काल तक विभिन्न दुखदायी योनियों में जन्म-मरण करेगी। कालान्तर में गंगपुर नगर में वह एक श्रेष्ठीकुल में पुत्र रूप में जन्म लेगी, जहां उसे श्रमण स्थविरों के सान्निध्य से सद्धर्म की प्राप्ति होगी। वहां से उसके आध्यात्मिक विकास का क्रम प्रारंभ होगा। तदनन्तर महाविदेह क्षेत्र से वह सिद्ध होगी।

यह समग्र कथा वृत्तान्त भगवान महावीर ने अपने शिष्य गौतम स्वामी को उनके एक प्रश्न के उत्तर में सुनाया था। देवदत्ता को अवकोटक बन्धनों से बांधकर जब वध स्थल पर ले जाया जा रहा था, तब भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम स्वामी ने वह दृश्य देखा था। गौतम स्वामी ने भगवान से देवदत्ता के जीवन वृत्तान्त को सुनाने की प्रार्थना की। उत्तर में भगवान ने उक्त कथानक सुनाया था। —विपाक सूत्र, प्र.श्रु,अ. 9

(क) देवनंदी (आचार्य)

एक विद्वान जैन आचार्य। आचार्य देवनंदी वी.नि. की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए। वे दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे।

आचार्य देवनंदी का जन्म कर्नाटक में हुआ था। उनकी माता का नाम श्रीदेवी और पिता का नाम माधव भट्ट था। बाल्यावस्था में ही देवनंदी को संसार से वैराग्य हो गया और वे मुनि बन गए। अध्ययन-रुचि

और प्रखर बुद्धि के कारण वे अपने समय के एक समर्थ विद्वान बने। अपने जीवन काल में उन्होंने कई उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। जैन परम्परा के वे आदि वैयाकरण माने जाते हैं। उनका जैनेन्द्र व्याकरण विद्वद् समाज में अतीव सम्माननीय है। उन्होंने पाणिनी के व्याकरण पर शब्दावतार न्यास की रचना भी की थी।

आचार्य देवनंदी अपने समय के महान प्रभावशाली पुरुष थे। गंग वंश के राजा पर उनका विशेष प्रभाव था। गंग नरेश आचार्य श्री का भक्त था और उनके धर्म प्रचार में अपना पूरा सहयोग देता था।

आचार्य देवनंदी वैद्यक विद्या के भी जानकार थे। रस-सिद्धि की विद्या में भी वे निष्णात थे। साधारण वनस्पति से भी वे ऐसा रस पर्याप्त मात्रा में तैयार कर सकते थे, जिससे इच्छित परिमाण में स्वर्ण सम्पादित किया जा सके। आचार्य देवनन्दी की महिमा उनके ज्ञान और ध्यान के कारण विशेष है। उन्हें 'पूज्यपाद' उपनाम से भी जाना जाता है। उनका समय वी.नि. की ग्यारहवीं शती का पूर्वार्ध अनुमानित है।

—श्रवणबेलगोल शिलालेख

(ख) देवनंदी 'पूज्यपाद' (आचार्य)

विक्रम की छठी शताब्दी के एक विद्वान् दिगम्बर आचार्य। आप जन्मना ब्राह्मण थे। आपके पिता का नाम माधवभट्ट और माता का नाम श्रीदेवी था। आप दक्षिण के निवासी थे।

आपके तीन नाम प्रचलित हैं—1. देवनंदी, 2. जिनेंद्रबुद्धि, 3. पूज्यपाद।

आप नन्दी संघ के आचार्य थे। आप बहुश्रुत और साहित्य निर्माता आचार्य थे। आपने कई उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, जैनेन्द्र व्याकरण, शब्दावतार आदि आपकी मौलिक रचनाएं हैं। 'सर्वार्थ सिद्धि' नाम से आपने तत्वार्थसूत्र पर टीका भी लिखी।

आप एक तेजस्वी और साधना सम्पन्न आचार्य थे। कहते हैं कि एक बार आपकी नेत्र ज्योति चली गई थी। आपने शान्त्याष्टक स्तोत्र का जप किया, जिससे आपकी ज्योति पुनः लौट आई। एक अन्य उल्लेख के अनुसार आप महाविदेह क्षेत्र में श्री सीमन्धर स्वामी के दर्शन हेतु भी गए थे।

तत्कालीन नरेश भी आप से प्रभावित थे। युवराज दुर्विनीत के आप शिक्षा गुरु थे।

देव ब्राह्मण

भगवान महावीर के अष्टम् गणधर अकंपित के जनक।

देवभद्र

एक ब्राह्मण पुत्र, जिसने श्रमण धर्म का पालन कर मोक्ष-पद प्राप्त किया था। (देखिए-यशोभद्र)

देवप्रसाद

कांपिल्यपुर का परम प्रतापी और प्रजावत्सल नरेश। उसका प्रारंभिक जीवन पर्याप्त अवरोह-आरोहपूर्ण रहा। जब वह गर्भ में ही था तो उसके पिता महाराज जयवर्म पर शूरसेन नामक क्षत्रिय ने आक्रमण कर दिया। युद्ध में जयवर्म मारा गया। जयवर्म की रानी—जयावली ने उसी रात्रि में देवप्रसाद को जन्म दिया। वह अपने नवजात शिशु को लेकर सुरंग मार्ग से चली गई। शत्रु से पुत्र की रक्षा के लिए उसने पुत्र को राजा जयवर्म की नामांकित मुद्रिका के साथ श्मशान में रख दिया। काम्पिल्यपुर के एक धर्मात्मा श्रेष्ठी भद्र ने राजशिशु को ग्रहण किया। उसका परिचय गुप्त रखकर भद्र सेठ ने राजकुमार को अपना पुत्र घोषित किया। राजकुमार श्रेष्ठी गृह में पल-बढ़कर युवा हुआ। श्रेष्ठी ने अपार धन व्यय कर देवप्रसाद को शिक्षित-दीक्षित

कराया। योग्य वय में उसे उसका परिचय दिया। देवप्रसाद ने अपने पुण्य पराक्रम से शूरसेन को पराजित कर अपना राज्य प्राप्त कर लिया।

श्रेष्ठी भद्र से देवप्रसाद को जिन संस्कार प्राप्त हुए थे। सो वह जैन श्रमणों का विशेष आदर-मान करता था। एक बार एक केवली मुनि कांपिल्यपुर के राजोद्यान में पधारे। राजा मुनि श्री के वन्दन के लिए चला। उसने राजमार्ग के किनारे एक रुग्ण व्यक्ति को देखा। उस व्यक्ति के शरीर में सोलह महारोग व्याप्त थे। उसके शरीर पर असंख्य मक्षिकाएं भिनभिना रही थीं। उसे देखकर राजा के हृदय में करुणा और प्रेम का भाव उत्पन्न हुआ। उसकी दुरावस्था पर चिन्तन करते हुए राजा केवलि-परिषद् में पहुंचा। मुनि-वन्दन कर प्रवचन श्रवण में लीन हो गया। प्रवचन के पश्चात् राजा ने केवली मुनि से उक्त रुग्ण पुरुष के बारे में पूछा कि उसने ऐसे क्या दुष्कर्म किए जिनके कारण उसे ऐसे असह्य कष्ट भोगने पड़ रहे हैं। केवली मुनि ने रुग्ण पुरुष का पूर्वभव सुनाया, जो इस प्रकार था–

धनपुर नगर में सामदेव और वामदेव नामक दो सहोदर रहते थे। एक बार उस क्षेत्र में भीषण दुष्काल पड़ा। लोग भूख से मरने लगे। वामदेव ने सामदेव को प्रेरित किया कि वे दोनों शिकार से उदरपोषण करें। सामदेव ने वामदेव का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। वामदेव ने सामदेव के समक्ष विभिन्न युक्तियां प्रस्तुत कीं, उसे समझाया कि मनुष्य को जीवन रक्षा के लिए कभी-कभी उन्मार्ग का आश्रय भी लेना पड़ता है। जैसे-तैसे उसने सामदेव को शिकार के लिए राजी कर लिया। दोनों भाई शिकार के लिए जंगल में गए। वामदेव की प्रेरणा से सामदेव ने एक मृग पर बाण छोड़ा। पर उसका हाथ कांप गया। मृग भाग गया। बाण एक मुनि के निकट जाकर गिरा। सामदेव मुनि के पास गया। इस कल्पना से उसका हृदय कांप उठा कि बाण मुनि को लग जाता तो अनर्थ हो जाता। वह मुनि के चरणों में बैठ गया। मुनि ने उसे धर्मोपदेश दिया, अहिंसा का मूल्य समझाया। धर्म का मर्म हृदयंगम कर सामदेव ने श्रावक धर्म अंगीकार कर लिया। वह श्रावक-धर्म का दृढ़तापूर्वक पालन करने लगा। वामदेव सामदेव को सदैव शिकार के लिए प्रेरित करता। सामदेव वामदेव को हिंसा के दुष्फल बताकर उसे हिंसा से विरत होने को कहता। पर दोनों अपने-अपने पथों पर सुदृढ़ रहे।

आयुष्य पूर्ण कर सामदेव देवलोक में गया और वामदेव एक जंगली सूअर का शिकार बनकर काल करके नरक में गया। केवली मुनि ने देव प्रसाद को बताया, राजन्! पूर्वजन्म में तुम ही सामदेव थे और वह रुग्ण पुरुष पूर्वजन्म में वामदेव था। पूर्वजन्म में वह तुम्हारा सहोदर था, इसीलिए उसे देखकर तुम्हारे हृदय में उसके प्रति प्रेम भाव उमड़ा।

अपना पूर्वभव सुनकर देवप्रसाद को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपना पूर्वभव देखा और अहिंसा भगवती की आराधना का सुफल अनुभव किया। उसने चिन्तन किया, आंशिक हिंसा त्याग का फल देवपद और राजपद है तो पूर्ण रूप से हिंसा का त्याग तो निश्चित ही मोक्ष पद का साधक होगा। इस चिन्तन के साथ ही राजा ने मुनि दीक्षा धारण करने का संकल्प कर लिया। उसने अपने पुत्र को राजपद प्रदान कर आर्हती प्रव्रज्या धारण कर ली। अनेक वर्षों तक विशुद्ध चारित्र की आराधना की। आयुष्य पूर्ण कर वह देवलोक में गया। देवलोक से च्यव कर वह मनुष्य जन्म धारण करेगा और निरतिचार संयम की आराधना कर मोक्ष पद प्राप्त करेगा। –सुमतिनाथ चरित्र / जैन कथा रत्नकोष भाग 6 / बालावबोध, गौतमकुलक

देवयश

चम्पापुर नगर के सेठ धनपाल के चार पुत्रों में से सबसे छोटा पुत्र। छोटा होने से तीनों अग्रजों और

माता व पिता का स्नेह-वात्सल्य उस पर विशेष था। परिणामतः देवयश अपठित रह गया। कालान्तर में जब माता-पिता प्रव्रजित हो गए तो चारों भाइयों का संयुक्त परिवार चार अलग-अलग घरों में विभक्त हो गया। तीनों बड़े भाइयों ने परस्पर संपत्ति को बांट लिया, देवयश रिक्त रह गया। आखिर बिना धन के कब तक निर्वाह होता! पत्नी को चम्पापुर में ही छोड़कर देवयश धनार्जन के लिए परदेस रवाना हो गया। मार्ग में एक मासोपवासी मुनि को भिक्षा प्रदान कर उसने महान पुण्य का बन्ध किया। वह राजगृह नगरी में पहुंचा। वहां उसने एक महात्मा से चार टके में चार बातें खरीदीं। उन चार बातों को स्मरण कर वह आगे बढ़ा। जंगल में ही सांझ हो गई। महात्मा ने उसे बताया था कि जंगल में नहीं सोना। वह आगे बढ़ा तो देखा वन दावानल से सुलग रहा था। आगे एक नगर था। वह एक दुकान के सामने बरामदे में सो गया। एक चोर ने दुकान में सेंध लगाई। दुर्दैववश दुकान की दीवार ढह गई और चोर दीवार के नीचे दबकर मर गया। पंचों ने देवयश को चोर माना। पर देवयश के सरल स्पष्टीकरण से पंच संतुष्ट हो गए। चोर का शव दीवार के मलबे से निकाला गया। पंचों ने देवयश को दायित्व दिया कि वह चोर के शव को जंगल में दफना कर आए। महात्मा ने देवयश को कहा था कि पंचों की बात को पूरा करना। फलतः पंचों की बात को शिरोधार्य कर देवयश चोर के शव को जंगल में ले गया। उसकी दृष्टि चोर की जंघा पर पड़ी, जो सिली हुई थी। देवयश ने सुन रखा था कि लोग शल्य क्रिया द्वारा धन शरीर में छिपा लेते हैं। उसने चोर की जंघा को चीरा तो उसे रत्नों की एक पोटली मिली। देवयश का भाग्य खुल गया। वह रत्नों की पोटली लेकर अपने घर पहुंचा। उसकी गणना नगर के धनी श्रेष्ठियों में होने लगी। उसकी पत्नी ने एक दिन दबाव देकर पूछा कि उसे इतना अधिक धन कहां से प्राप्त हुआ है। महात्मा ने तृतीय बात के रूप में देवयश को बताया था कि कोई भी गुप्त रहस्य स्त्री को नहीं बताना चाहिए। पर पत्नी के अत्यधिक दबाव में आकर उसने उसे रत्नों की प्राप्ति की बात बता दी।

स्त्रियों के पेट में बात पचती नहीं है। सो एक दिन देवयश की पत्नी ने अपनी एक अंतरंग सखी से अपनी समृद्धि की मूलकथा सुना दी। सखी ने अपने पति को सब बातें बता दीं। सखी का पति राज्य का गुप्तचर अधिकारी था। उसने संदेह के आधार पर देवयश को बन्दी बना लिया। देवयश को तत्क्षण अपनी भूल का अहसास हो गया। उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। महात्मा ने अंतिम बात के रूप में उसे बताया था कि राजा के समक्ष सदैव सत्य बोलना। राजा ने देवयश से धन प्राप्ति का कारण पूछा तो देवयश ने अक्षरशः इतिवृत्त वर्णित कर दिया। उसके सरल सत्य पर राजा अत्यधिक प्रसन्न हुआ। उसने देवयश को ससम्मान स्वतंत्र तो किया ही, साथ ही नगरसेठ के सम्माननीय पद से विभूषित भी किया।

देवयश ने धर्मध्यान को समर्पित रहकर जीवन जीया। अंतिम अवस्था में एक मुनि का उपदेश सुनकर वह विरक्त हो गया। अपनी पत्नी के साथ उसने आर्हती प्रव्रज्या अंगीकार की। तप, संयमपूर्वक जीवन जीकर वे दोनों देवलोक के अधिकारी बने। यथाक्रम से दोनों मोक्ष प्राप्त करेंगे।

देवयशसेन

(देखिए-अनीयसेन कुमार)

—अन्तगडसूत्र तृतीय वर्ग, पंचम अध्ययन

देवयज्ञ स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

उन्नीसवें विहरमान तीर्थंकर, जो वर्तमान काल में अर्धपुष्करद्वीप के पूर्व महाविदेह क्षेत्र की वच्छ विजय में धर्मोद्योत करते हुए विचरणशील हैं। वच्छ विजय की सुसीमा नामक नगरी में प्रभु का जन्म हुआ था। राजा सर्वभूति की रानी गंगादेवी की रत्नकुक्षी से प्रभु जन्मे। चंद्र चिह्न से सुशोभित प्रभु जब युवा हुए तो

पद्मावती नामक राजकन्या से उनका पाणिग्रहण हुआ। तिरासी लाख पूर्व की अवस्था तक प्रभु राजपद पर रहे। तदनन्तर दीक्षित हुए। केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मतीर्थ के संस्थापक हुए। चौरासी लाख पूर्व का कुल आयुष्य पूर्ण कर प्रभु निर्वाण को उपलब्ध होंगे।

देवराय

अठारहवें विहरमान तीर्थंकर श्री महाभद्र स्वामी के जनक। (देखिए-महाभद्र स्वामी)

देवर्द्धिगणि 'क्षमाश्रमण' (आचार्य)

वी.नि. की दसवीं शताब्दी में हुए एक युगान्तरकारी और क्रान्तद्रष्टा आचार्य। वे अन्तिम पूर्वधर आचार्य माने जाते हैं। आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से पूर्व आगम श्रुत-परम्परा के आधार पर सुरक्षित थे। परन्तु स्मरण-शक्ति का निरन्तर ह्रास हो रहा था और अमूल्य श्रुत अंश-अंश कर विलुप्त होता जा रहा था। समय-समय पर उपस्थित होने वाले दुर्भिक्ष भी श्रुत-राशि के विलुप्त होने के प्रमुख कारण थे। भगवान महावीर के निर्वाण की दसवीं शताब्दी में भी देश में भयंकर दुर्भिक्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। कल्पनीय आहार की प्राप्ति के अभाव में अनेक श्रुतधर स्थविर अनशन सहित स्वर्गवासी हो गए।

दुर्भिक्ष की परिसमाप्ति पर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने श्रुत-सुरक्षा के विषय में विशद चिन्तन किया और आगम साहित्य को लिपिबद्ध करने का निर्णय किया। संघ में उनके निर्णय का स्वागत किया गया। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने वल्लभी नगरी में श्रमण सम्मेलन आहूत किया और पूर्ववर्ती स्कन्दिली वाचना को प्रमुख रखकर उन्होंने वाचना क्रम प्रारंभ किया। प्रथम बार जिनवाणी को लिपिबद्ध/पुस्तकारूढ़ किया गया। वैसा करने से आगम वाणी में स्थिरता और एकरूपता आ गई।

वी.नि. की नौवीं शताब्दी में आचार्य स्कन्दिल के समय में ही आचार्य नागार्जुन के नेतृत्व में भी वाचना हुई थी। दो अलग-अलग जगहों पर वाचना होने से स्कन्दिली और नागार्जुनीय वाचनाओं में पाठ भेद रह गया था। प्रस्तुत वाचना में आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने पाठ भेद की जटिलता को समन्वयात्मक पद्धति से सरल बना दिया। उन्होंने आचार्य स्कन्दिल की वाचना को प्रमुख रखते हुए नागार्जुनीय वाचना को पाठ भेद अथवा पाठान्तर के रूप में आगमों में स्थान प्रदान किया।

आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की इस सम्यक् नीति को संघ में सर्वत्र सम्मान मिला। वर्तमान में उपलब्ध विशाल आगम साहित्य देवर्द्धिगणि की दूरदर्शिता से ही संरक्षित और सुरक्षित रह पाया है, जो जिनशासन पर उनका महान उपकार है।

वर्तमान में मूल आगमों में स्थान प्राप्त नन्दी सूत्र के निर्यूहणकर्त्ता आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ही थे। इस सूत्र में पांच ज्ञान का विशद और सरल विश्लेषण हुआ है।

आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के गृहस्थ जीवन के बारे में प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं है। कल्प सूत्र स्थविरावली के अनुसार वे काश्यप गोत्रीय थे। श्रुति परम्परा के अनुसार वे सौराष्ट्र प्रान्त के थे। उनके पिता का नाम कामर्द्धि और माता का नाम कलावती था।

वी.नि. 980 में देवर्द्धिगणि के नेतृत्व में आगमों को लिपिबद्ध किया गया। वी.नि. 1000 के लगभग उनका स्वर्गवास अनुमानित है। उनके निर्वाण के पश्चात् पूर्वों का ज्ञान विलुप्त हो गया।

—नन्दी सूत्र स्थविरावली

देवशर्मा ब्राह्मण

भगवान महावीर के समय का एक ब्राह्मण। भगवान महावीर का निर्वाण समय जब सन्निकट था, तब भगवान ने इंद्रभूति गौतम को निकट के गांव में रहने वाले देवशर्मा को प्रतिबोध देने के लिए भेजा। देवशर्मा को प्रतिबोध देकर गौतम वापिस लौटने लगे तो उन्हें भगवान के निर्वाण का समाचार मिला। भगवान के प्रति गौतम के हृदय में अनन्य अनुराग था। उस समाचार को सुनकर गौतम वज्राहत हो गए। वे विलाप करने लगे।

अपने परमोपकारी गुरु को आर्त्तध्यान में रत देखकर देवशर्मा ने प्रार्थना की, प्रभो ! आप तो परमज्ञानी हैं, संयोग और वियोग के यथार्थ का पूर्ण बोध आप को है ! गुरु के वियोग पर क्या यह उचित है कि आप ऐसे विलाप करें?

अपने ही प्रतिबोधित शिष्य से प्रतिबोध का मन्त्र पाकर इंद्रभूति ने आर्त्तध्यान को दूर कर दिया और शुक्ल ध्यान में प्रवेश कर क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो केवली बन गए। देवशर्मा ने भी जिनधर्म अंगीकार कर आत्मकल्याण किया। —महावीर चरित्र

देवसेन

उज्जयिनी नगरी का एक राजकुमार। (देखिए-भीमसेन)

देवसेन राजा

पंचम् विहरमान तीर्थंकर श्री सुजात स्वामी के जनक। (देखिए-सुजात स्वामी)

देवसेना

पंचम् विहरमान तीर्थंकर श्री सुजात स्वामी की जननी। (देखिए-सुजात स्वामी)

देवानंद

तेरहवें विहरमान तीर्थंकर श्री चंद्रबाहु स्वामी के जनक। (देखिए-चंद्रबाहु स्वामी)

देवानंदा

ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में रहने वाले ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी। भगवान महावीर जब ब्राह्मणकुण्ड ग्राम में पधारे तो ग्राम के हजारों नर-नारी उनके दर्शन करने तथा उनका उपदेश सुनने उनके पास गए। देवानंदा और ऋषभदत्त भी भगवान की पर्युपासना के लिए गए। समवसृत महावीर को देखकर देवानंदा में विशिष्ट प्रकार का वात्सल्य भाव उमड़ आया। वह अपलक महावीर को निहारती रह गई। उसकी रोमराजि से हर्ष और अपनत्व का सागर उमड़ पड़ा। आंखों से अश्रुधार और स्तनों से दुग्ध धाराएं छलक पड़ीं। उसका रोम-रोम पुलकित हुआ जा रहा था।

देवानंदा की इस अद्भुत दशा को देखकर गौतम स्वामी ने प्रभु से उसका कारण जानना चाहा। प्रभु ने स्पष्ट किया—गौतम ! देवानंदा मेरी मां है। इसके गर्भ में मैंने बयासी दिन-रात बिताए हैं। इन्द्र ने इस विचार से कि तीर्थंकर क्षत्रिय कुल में ही जन्म लेते हैं, हरिणगमेषी देव से मेरा साहरण क्षत्राणी त्रिशला के गर्भ में कराया। देवानंदा को चौदह स्वप्न दिखाई देना और बयासीवीं रात्रि में उन स्वप्नों को लौटते हुए देखना मेरे इस कथन का प्रमाण है।

देवानंदा धन्य हो गई। उसने उसी क्षण अपने पति सहित महावीर से प्रव्रज्या ग्रहण कर ली और समस्त कर्म क्षय कर मोक्ष में गईं। —भगवती 1/33

देवी

अठारहवें अरिहंत अरनाथ की जननी।

देवेंद्र मुनि (आचार्य)

श्री वर्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर आचार्य एवं सुप्रसिद्ध साहित्य मनीषी मुनीश्वर।

आपका जन्म उदयपुर (राजस्थान) नगर में वि.सं. 1988 कार्तिक कृष्ण त्रयोदशी, तदनुसार 8 नवम्बर, 1931 को धनतेरस के दिन श्रीमान जीवनसिंह जी बरड़िया की धर्मपत्नी श्रीमती तीजकुंवर की रत्नकुक्षी से हुआ। धनतेरस के दिन जन्म होने से आपका नाम धन्नालाल रखा गया।

जब आप मात्र इक्कीस दिन के थे तो आपके पिता जी का निधन हो गया। माता तीजकुंवर ने इस वज्रापात को सहकर भी आप का पूरे दायित्व से पालन किया। गोद से ही उन्होंने आपको उत्तम संस्कारों से अनुप्राणित किया। उसी के फलस्वरूप मात्र नौ वर्ष की अवस्था में ही आप महावीरों के मार्ग पर बढ़ चले। सं. 1997 में आपने उपाध्याय श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के चरणों में दीक्षा ग्रहण कर ली।

आपने हिन्दी, संस्कृत, प्राकृत, पाली, अपभ्रंश आदि भाषाओं का तलस्पर्शी अध्ययन किया। आगम एवं आगमेतर साहित्य का भी सांगोपांग अध्ययन किया। बचपन से ही आप लेखन में रुचि रखते थे। क्रम से आप का लेखन जैन जगत में प्रामाणिक माना जाने लगा। आपने शताधिक ग्रन्थों का लेखन और संपादन किया। आपके ग्रन्थ शोधपूर्ण और प्रवाहमयी सरल भाषा में हैं।

सन् 1987 में पूना नगर में आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के सान्निध्य में बृहद् साधु सम्मलेन समायोजित हुआ। उसी अवसर पर 12 मई को आचार्य देव ने आपको उपाचार्य नियुक्त किया।

आचार्य सम्राट् श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के स्वर्गवास के पश्चात् आप श्रमण संघ के तृतीय पट्टधर आचार्य बने। आपके शासन काल मे संघ का चहुंमुखी विकास हुआ। 26 अप्रैल 1999 को मुंबई में आपश्री का स्वर्गवास हुआ।

देवेंद्र सूरि (आचार्य)

वी.नि. की 18वीं सदी के एक विद्वान जैन आचार्य। कर्मग्रन्थों के रचनाकार के रूप में वे विशेष विश्रुत हैं। कर्मग्रन्थ नामक कर्मविज्ञान के पांच ग्रन्थों की रचना उन्होंने की थी। उनके अतिरिक्त भी सिद्धपंचाशिका, सूत्रवृत्ति, धर्मरत्न वृत्ति, श्रावक दिनकृत्य सूत्र, सुदर्शन चरित्र आदि कई ग्रन्थों के वे प्रणेता माने जाते हैं।

आचार्य देवेंद्र सूरि अपने समय के एक प्रभावक आचार्य थे। वे कई प्राचीन भाषाओं के मर्मज्ञ, लेखक और कुशल उपदेष्टा भी थे। उनके व्याख्यानों से प्रभावित होकर कई मुमुक्षुओं ने अर्हत् धर्म में दीक्षा ली थी। वी.नि. 1797 में उनका स्वर्गारोहण हुआ।

दौलतराम कासलीवाल (साहित्यकार)

विक्रम सं. 1745 में आपका जन्म बसवा ग्राम में खण्डेलवाल जाति में हुआ। गोत्र से आप कासलीवाल थे। आपके पिता का नाम आनन्दराम था। अपनी विद्वत्ता के कारण आप 'पण्डित' कहलाते थे।

जयपुर नरेश से पण्डित कासलीवाल के निकट सम्बन्ध थे। आप जयपुर राज्य की ओर से उदयपुर राज्य में वकील बनाकर भेजे गए थे।

हिन्दी में गद्य-विधा में सर्वप्रथम आपकी रचना प्राप्त होती है।

आपने अपने जीवन काल में सत्रह ग्रन्थों की रचना की, जिनकी तालिका निम्नोक्त है–

(1) पुण्यास्रववचनिका (2) क्रियाकोष भाषा (3) आदि पुराणवचनिका (4) हरिवंश पुराण (5) परमात्मप्रकाशवचनिका (6) श्रीपाल चरित (7) अध्यात्मबाराखड़ी (8) वसुनन्दी श्रावकाचार टब्बा (9) पद्मपुराण वचनिका (10) विवेक विलास (11) तत्वार्थसूत्र भाषा (12) चौबीसदण्डक (13) सिद्धपूजा (14) आत्मबत्तीसी (15) सार समुच्चय (16) जीवंधर चरित्त (17) पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय।

संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषाओं का आपको गहन ज्ञान था। आपकी विद्वत्ता के आपके साहित्य में सर्वत्र दर्शन होते हैं।

–तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा

द्यानतराय (कवि)

वि.सं. अठारहवीं सदी के आगरा निवासी एक जैन कवि।

आपका जन्म अग्रवाल जाति में हुआ। आप गोयल गोत्रीय थे। वि.सं. 1733 में आपका जन्म हुआ। आपके प्रपितामह का नाम वीरदास तथा पिता का नाम श्यामदास था।

आपने पदरूपककाव्य, स्तोत्र आदि पर्याप्त रचनाएं निर्मित कीं। आपकी रचनाओं में मानव को धर्मबोध की प्रेरणाएं प्राप्त होती हैं। भाषा और भाव की दृष्टि से आपकी कविताएं काफी समृद्ध हैं।

–तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा
–श्रवणबेलगोल शिलालेख

द्रोणाचार्य

धृतराष्ट और पाण्डु पुत्रों के शिक्षक/आचार्य। अपने युग के वे शस्त्र और शास्त्र विद्या के निष्णात आचार्य थे। कृपाचार्य के निवेदन पर भीष्म ने उनको कुमारों की शिक्षा का दायित्व प्रदान किया। द्रोणाचार्य ने पांच पाण्डवों और दुर्योधन आदि सौ कौरवों को शस्त्र और शास्त्रविद्या में पारंगत बनाया।

कर्ण भी द्रोणाचार्य का विद्यार्थी रहा। उसके अतिरिक्त द्रोणाचार्य ने अपने पुत्र अश्वत्थामा को भी शस्त्र विद्या में निपुण बनाया।

द्रोणाचार्य को हस्तिनापुर राज्यसभा में उच्चासन प्राप्त हुआ। कई युद्धों मे वे दुर्योधन के पक्ष में लड़े। महाभारत के युद्ध में उन्होंने दुर्योधन के पक्ष में युद्ध किया। उस युद्ध में वे वीरगति को प्राप्त हुए।

–जैन महाभारत

द्रौपदी

सोलह विश्रुत महासतियों में से एक, पांचाल देश के महाराज द्रुपद की पुत्री और पांच पाण्डवों की अर्द्धांगिनी। महासती द्रौपदी का जीवन विभिन्न उतारों और चढ़ावों से पूर्ण जीवन था। समग्र ज्ञात इतिहास की वह इकलौती नारी है, जो पंच भर्तारी होकर भी महासती कहाई। उसने राजसी सुख भी देखा और कानन के कांटों पर भी वह मुस्काती हुई चली। उसे युधिष्ठिर जैसे सत्पुरुष और अर्जुन जैसे धनुर्धर की पत्नी होने का गौरव भी मिला तो अपने ही राजदरबार में अपने ही देवरों के हाथों चीरहरण का विष-घूंट भी पीना

पड़ा। जीवन के समस्त रंग द्रौपदी के जीवन में दिखाई पड़ते हैं। द्रौपदी का संक्षिप्त परिचय निम्नोक्त है–

द्रौपदी पांचाल देश के कांपिल्यपुर नगर के महाराज द्रुपद की पुत्री थी। जब वह युवा हुई तो उसका रूप और सौन्दर्य अत्यधिक निखर आया। महाराज द्रुपद ने द्रौपदी के लिए स्वयंवर की रचना की। अनेक देशों के बड़े-बड़े राजा स्वयंवर में पहुंचे। द्रौपदी ने अर्जुन के गले में वरमाला डाल दी, पर पूर्वजन्म में द्रौपदी द्वारा किए गए निदानस्वरूप उस द्वारा अर्जुन के गले में डाली गई वरमाला शेष चार पाण्डवों के गले में भी दिखाई देने लगी। वस्तुतः पूर्वजन्म में द्रौपदी सुकुमारिका नाम की एक श्रेष्ठी-पुत्री थी। उसने प्रव्रजित होकर कठोर तप किया था। वह बेले-बेले पारणा करती थी और सूर्य की आतापना लेती थी। एक बार उसने पांच पुरुषों से घिरी एक स्त्री को देखा। उससे सुकुमारिका साध्वी का संयम-चिन्तन क्षण-भर के लिए विदग्ध बन गया। उसने मन ही मन निदान किया कि अगर उसके तप का कोई फल है तो उसे भी अगले भव में पांच पति मिलें।

उस निदान के फलस्वरूप द्रौपदी की वरमाला पांचों पाण्डवों के गले में दिखाई देने लगी और उसे पांचों पाण्डवों की पत्नी माना गया। वह पांचों भाइयों के साथ सुखपूर्वक रहने लगी।

युधिष्ठिर द्यूतप्रिय थे। एक बार वे दुर्योधन और शकुनि से द्यूत में अपना राजपाट हार गए। उन्होंने स्वयं सहित पांचों भाइयों तथा द्रौपदी को भी द्यूत में हार दिया। उन्हें कौरवों की दासता स्वीकार करनी पड़ी। इतना ही नहीं, बल्कि दुर्योधन और दुशासन ने द्रौपदी को राजसभा में अपमानित और तिरस्कृत भी किया। अंततः पांचों पाण्डवों को तेरह वर्षों का वनवास भोगना पड़ा। द्रौपदी भी अपने पतियों के साथ वन में गई। वन में कितनी ही बार द्रौपदी को कठिन परीक्षाओं से गुजरना पड़ा। वनवासकाल का अन्तिम वर्ष पाण्डवों को गुप्त रहकर बिताना था। यह शर्त थी कि यदि तेरहवें अज्ञात वर्ष में पाण्डवों को पहचान लिया गया तो उन्हें पुनः तेरह वर्ष वनों में ही गुजारने पड़ेंगे।

पाण्डवों ने अज्ञातवास विराट नगर में बिताया। राजमहल में भीम को रसोइए का, द्रौपदी को दासी का, अर्जुन को बृहन्नला के रूप में विराटराज की पुत्री को नृत्य सिखाने का और युधिष्ठिर, नकुल और सहदेव को भी उनके अनुकूल कार्य मिल गए। विराटराज का सेनापति कीचक, जो विराटराज का साला भी था और साथ ही अतिशय बलवान और खूंखार भी था, वह द्रौपदी के रूप पर आसक्त बन गया। द्रौपदी को अपना शील धर्म संकट में जान पड़ा तो उसने भीम से सहायता मांगी। एक सुनियोजित योजनानुसार द्रौपदी ने कीचक को रात्रि के समय नृत्यशाला में आमंत्रित किया। वहां पर उसका स्वागत भीम ने किया उसे पीट-पीट कर और पटक-पटककर मार डाला।

द्रौपदी एक करुणा की प्रतिमूर्त्ति सन्नारी थी। महाभारत युद्ध जब परिसमाप्ति पर था तो अश्वत्थामा ने द्रौपदी के सोए हुए पांचों पुत्रों की हत्या कर दी। द्रौपदी को बहुत दुख हुआ। वह बेभान हो गई। अर्जुन ने अश्वत्थामा को पकड़कर द्रौपदी के सम्मुख प्रस्तुत किया और कहा कि वह अपना बदला ले ले। उस क्षण द्रौपदी की ममता जाग उठी। उसने कहा, मैं नहीं चाहती कि पुत्र विरह में जैसे मैं तड़प रही हूं, ऐसे ही अश्वत्थामा की मां को भी तड़पना पड़े, अतः उसे क्षमा कर दिया जाए।

महाभारत के युद्ध के बाद द्रौपदी राजरानी बनी। एक बार जब उसने देवर्षि नारद का समुचित समादर नहीं किया तो नारद जी रुष्ट हो गए। नारद जी ने एक ऐसी चाल चली कि धातकीखण्ड के राजा पद्मनाभ के हृदय में द्रौपदी के प्रति आकर्षण जाग गया। पद्मनाभ ने मित्र देव के सहयोग से द्रौपदी का अपहरण कर उसे अपने महलों में मंगवा लिया। पर द्रौपदी कब अपने सत्यधर्म से डिगने वाली थी! उसने एक युक्ति

का सहारा लेते हुए पद्मनाभ से छह मास का समय मांग लिया। उधर पांचों पाण्डवों ने द्रौपदी को खोजा। असफल रहने पर श्रीकृष्ण की सहायता मांगी। श्रीकृष्ण ने नारदजी से जान लिया कि द्रौपदी धातकीखण्ड में है। पांचों पाण्डवों को साथ लेकर श्रीकृष्ण दुर्लंघ्य सागर को लांघकर धातकीखण्ड गए और वहां पद्मनाभ को परास्त कर द्रौपदी को अपने देश ले आए।

सुदीर्घ काल तक द्रौपदी राजरानी के पद पर रहकर राजसुख भोगती रही। बाद में उसने अपने पांचों पतियों के साथ संयम का पथ स्वीकार कर लिया। राजगद्दी पर द्रौपदी का पुत्र पाण्डुसेन बैठा। निरतिचार संयम साधना को साधकर द्रौपदी पांचवें देवलोक में गई। वहां से महाविदेह में एक भव कर मोक्ष जाएगी।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अध्ययन 16

द्विपृष्ठ वासुदेव

वर्तमान अवसर्पिणी काल का द्वितीय वासुदेव। द्वारिका नगरी के महाराज ब्रह्म की रानी उमा की कुक्षी से उसका जन्म हुआ था। महाराज ब्रह्म की एक अन्य रानी थी सुभद्रा। उसने भी एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम विजय रखा गया। विजय द्वितीय बलदेव बना। उस समय में तारक प्रतिवासुदेव एक बलशाली राजा था। उसी का मान-मर्दन कर और युद्ध में उसे परास्त कर द्विपृष्ठ वासुदेव के पद पर अभिषिक्त हुआ। द्विपृष्ठ एक कठोर हृदय वाला शासक सिद्ध हुआ। तीन खण्डों को उसने एक सूत्र में तो पिरोया, पर प्रजा उसके शासन से सन्तुष्ट और सुखी नहीं हो पाई। परिणामतः उसने नरक का आयुष्य अर्जित किया। चौहत्तर लाख वर्ष की आयु भोगकर वह मरा और नरक में गया।

विजय का द्विपृष्ठ पर अनन्य अनुराग था। भाई की मृत्यु से उसे गहन शोक हुआ। पर कुछ समय बाद वह सामान्य हो गया। भाई के विरह ने उसके हृदय में विराग के बीज बो दिए और वह दीक्षित हो गया। उत्कृष्ट संयम की साधना करते हुए वह दीक्षित हो गया। उत्कृष्ट संयम की साधना करते हुए सकल कर्म खपा कर वह सिद्ध पद का अधिकारी बना। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

द्विमुख

ये प्रत्येकबुद्ध थे। प्रत्येकबुद्ध उसे कहते हैं जो किसी घटना अथवा दृश्य को देखकर अथवा अनुभव कर प्रतिबुद्ध बन जाता है। द्विमुख पांचाल देश के कंपिलपुर के राजा थे। उनका पूर्वनाम जय था। गुणमाला उनकी पति-परायण रानी थी। उनके सुशासन में सब ओर समृद्धि व्याप्त थी। किसी समय उनके दरबार में दूर-देशों का भ्रमण करने वाला एक चारण आया। चारण ने महाराज और उनके व्यवस्थित शासन की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। राजा ने चारण से कहा कि वह प्रशंसा छोड़कर यह बताए कि उनके राज्य में अथवा दरबार में किसी बात की कोई कमी तो नहीं है। चारण ने पैनी दृष्टि से दरबार का आकलन किया। फिर बोला, सब अद्भुत है पर एक कमी है, आपके दरबार में चित्रशाला नहीं है।

महाराज जय ने दूर देशों के कुशल कारीगरों को आमंत्रित कर चित्रशाला के निर्माण का आदेश दिया। इसके लिए जब नींव खोदी जा रही थी तो उसमें से एक मुकुट निकला। राजा ने जब इसे धारण किया तो इसमें जड़ित मणियों के प्रतिबिम्ब से उनके दो मुख दिखाई देने लगे। यहीं से राजा जय को द्विमुख उपनाम से जाना जाने लगा।

अद्भुत चित्रशाला बनकर तैयार हो गई। शुभ मुहूर्त्त में इसका उद्घाटन समारोह हुआ। चित्रशाला के मध्य एक इन्द्रध्वज आरोपित किया गया। उसे विविध वर्णी ध्वजाओं से सजाया गया। राजा सहित सभी

उपस्थित लोगों का ध्यान बरबस इस इन्द्रध्वज की ओर आकर्षित हो रहा था। समारोह पूर्ण हुआ। सज्जा सामग्री को यथास्थान रख दिया गया। इन्द्रध्वज वाले दण्ड को यों ही फैंक दिया गया। कुछ दिन बाद उस पर मिट्टी जम गई। कोई उसे देखता तक न था। उधर से एक दिन द्विमुख गुजरे तो उन्होंने उस बांस को देखा और उसके बारे में पूछा। उन्हें बताया गया कि यह वही इन्द्रध्वज है। सुनकर राजा का आत्मचिन्तन जाग्रत हो गया—सौन्दर्य बाहर से आरोपित है। जब यह हट जाता है तो व्यक्ति की दशा भी इस दण्ड जैसी ही हो जाती है। आत्मसौन्दर्य ही वास्तविक और ध्रुव सौन्दर्य है। मुझे वही सौन्दर्य अपने भीतर अनावृत्त करना चाहिए।

इस दृश्य से प्रतिबोध पाकर द्विमुख राज-पाट त्यागकर दीक्षित हो गए। उत्कृष्ट तप और विशुद्ध संयम पालकर केवलज्ञान प्राप्त कर वे मोक्ष गए। —उत्तराध्ययन वृत्ति 9/2

द्वैपायन ऋषि

वासुदेव श्रीकृष्ण के युग के एक ऋषि। भगवान अरिष्टनेमि ने पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि द्वैपायन के क्रोध की आग से द्वारिका का दहन होगा। किसी समय शाम्ब आदि कुमारों ने मदिरा के नशे में मत्त बनकर द्वैपायन ऋषि पर आक्रमण कर दिया। राजकुमारों ने ऋषि को बुरी तरह से अपमानित और तिरस्कृत किया। उस पर पत्थर बरसाए। घायल द्वैपायन ने क्रोध में जलते हुए निदान किया कि वह उस द्वारिका का विनाशकर्त्ता बने जहां वैसे उद्दण्ड राजकुमार रहते हैं।

मरकर द्वैपायन अग्निकुमार देव बना और उसने द्वारिका का दहन कर अपने क्रोध को पूरा किया।

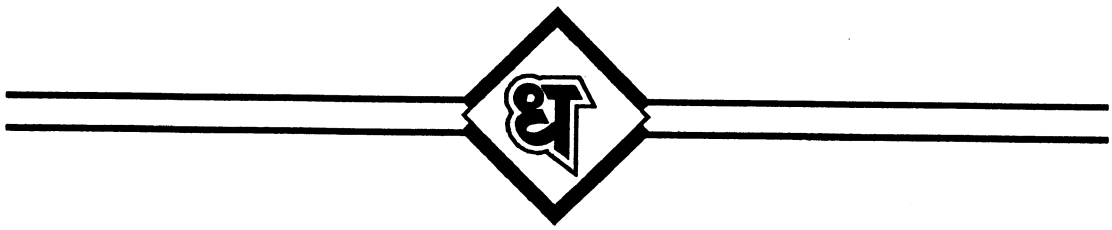

धनंजय (कवि)

आठवीं शती ई. के एक जैन कवि।

कविवर धनंजय अपने युग के ख्यातिलब्ध महाकवि थे। उनके पिता का नाम वसुदेव, माता का नाम श्रीदेवी और गुरु का नाम दशरथ था। वे एक सद्गृहस्थ थे और जिनेन्द्र देव के चरणों में उनका दृढ़ अनुराग था।

धनंजय पर सरस्वती की अपार कृपा थी। कहते हैं कि एक बार उनके पुत्र को सर्प ने काट लिया था। धनंजय ने 'विषापहार स्तोत्र' की रचना कर और उसका जप कर पुत्र को विषमुक्त कर दिया था।

कविवर धनंजय की दो अन्य रचनाएं पर्याप्त विश्रुत हैं—(1) 'धनंजय निघण्टु या नाममाला' (2) 'द्विसंधानमहाकाव्य'। ये दोनों ही ग्रन्थ अद्भुत हैं। प्रथम दो सौ पद्यों का शब्दकोश है। इसमें सत्रह सौ शब्दों को अर्थ सहित दिया गया है। एक शब्द से विविध शब्दों के निर्माण की विधि का दिग्दर्शन कराया गया है, जो संस्कृत के छात्रों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

'द्विसंधान महाकाव्य' अपनी तरह का इकलौता काव्य ग्रन्थ है। अठारह सर्गों में रचित इस महाकाव्य में रामायण और महाभारत को एक साथ प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक श्लोक द्विअर्थक है। प्रथम अर्थ में रामचरित्र और द्वितीय अर्थ में कृष्णचरित्र अभिव्यंजित होता है। इस महाकाव्य में छन्द और अलंकारों की भी सुन्दर संयोजना हुई है। ग्रन्थ का अपर नाम 'राघव पाण्डवीय' भी है।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा भाग-4

धनकुमार

बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमी नौ भव पूर्व धनकुमार नामक राजकुमार थे। वे अचलपुर नगर के राजकुमार थे। देवताओं के समान सुरूप थे। सुरूपता के साथ-साथ वे समस्त गुणों के निधान भी थे। युवावस्था में उनका विवाह कुसुमपुर नरेश सिंह की पुत्री धनवती के साथ हुआ। धनकुमार और धनवती के मध्य अनन्य अनुराग भाव उत्पन्न हुआ। एक-दूसरे के बिना वे दोनों स्वयं को अधूरा मानते थे। एक बार राजकुमार धनकुमार धनवती के साथ वनविहार के लिए गए। वहां पर उन्होंने एक मुनि को देखा, जो अचेतावस्था में पड़े हुए थे। धनकुमार मुनि की दशा देख कर द्रवित हो गए। आमोद-प्रमोद को भूलकर वे मुनि की सेवा में लग गए। राजकुमार के शीतोपचार से मुनि की मूर्च्छा भंग हो गई। राजकुमार के पूछने पर मुनि श्री ने बताया कि वे मार्ग भूलकर क्षुधा-तृषा के परीषह के कारण अचेत हो गए थे। राजकुमार ने मुनि की शुश्रूषा की और शुद्ध आहार-जल से मुनि की सेवा-आराधना की। मुनि श्री कुछ दिन वहां विराजे। उनके उपदेश से धनकुमार के पिता महाराज विक्रमधन विरक्त हो गए। उन्होंने धनकुमार को राजपद प्रदान कर स्वयं आर्हती प्रव्रज्या अंगीकार कर ली। धनकुमार और धनवती ने श्रावक धर्म ग्रहण किया।

धनकुमार ने पुत्रवत् प्रजा का पालन किया। सुदीर्घकाल तक राजपद भोगकर धनकुमार ने अन्तिम वय में अपने पुत्र को राज्य भार देकर मुनिदीक्षा धारण की। धनवती ने पति की अनुगामिनी बनकर साध्वी जीवन अंगीकार किया। शुद्ध संयम की आराधना करते हुए आयुष्य पूर्ण कर मुनि धनकुमार तथा धनवती सौधर्म कल्प में देव बने। वहां का आयुष्य पूरा कर मध्य के सात भवों में पति-पत्नी रूप में साथ-साथ रहकर धनकुमार तथा धनवती क्रमशः अरिष्टनेमी और राजीमती के रूप में जन्मे। अरिष्टनेमी जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर हुए हैं।

धनचंद्र

प्रतिष्ठानपुर नगर के श्रेष्ठी धनसार का पुत्र। (देखिए--धन्य जी)

(क) धनद

चक्रपुर नगर का रहने वाला एक धर्मात्मा और धनी युवक। नगर नरेश हरिकेतु की राज्यसभा में उसे विशिष्ट पद प्राप्त था। राजा ने उसे रत्नपरीक्षक का सम्माननीय और दायित्वपूर्ण पद प्रदान किया था। राजा उसे प्रत्येक रत्न की परीक्षा पर रत्न का दशमांश मूल्य पारिश्रमिक के रूप में देता था। उससे धनद की समृद्धि बहुत बढ़ गई थी।

धनद को जैन धर्म के संस्कार पैतृक-परम्परा से ही प्राप्त हुए थे। यौवनवय में राजकीय सम्मान मिलने पर उसकी धर्मरुचि निरन्तर वर्धमान होती रही। गुरुदेव से उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया। उसने विशेष रूप से देशावकाशिक व्रत की आराधना की। उसमें वह प्रतिदिन छोटे-छोटे नियम धारण करता और प्राणपण से उनका पालन करता।

राजा धनद की धर्मनिष्ठा और प्रामाणिकता से चमत्कृत था। वह धनद को कोषाध्यक्ष नियुक्त करना चाहता था। तदर्थ उसने धनद की परीक्षा ली। उसने अपने अंतरंग व्यक्ति को धनद की परीक्षा के लिए नियुक्त किया। राजा के उस व्यक्ति ने सभी की आंख बचाकर एक करोड़ स्वर्णमुद्राओं के मूल्य का एक कंगन धनद के गृहद्वार के निकट डाल दिया। धनद की दृष्टि कंगन पर पड़ी। उसने राह-चलते लोगों को रोक कर पूछना शुरू कर दिया कि जिस किसी का कंगन गिर गया है, वह इसे ले जाए। राजा के अंतरंग व्यक्ति ने धनद को समझाया कि कंगन उसी के घर के बाहर पड़ा है, अतः उसी का है। वह कंगन को ग्रहण कर ले। पर धनद ने परद्रव्य को लोष्ठवत् कहकर अस्वीकार कर दिया और अपना निश्चय दोहरा दिया कि वह इस कंगन को राजा को अर्पित करेगा, जिससे वास्तविक स्वामी को उसका खोया कंगन प्राप्त हो सके।

धनद को परीक्षा में उत्तीर्ण पाकर राजा ने उसे कोषाध्यक्ष पद पर नियुक्त कर दिया। साथ ही उसे अपना मित्र भी मान लिया।

एक बार संध्या-समय राजदरबार से लौटने के पश्चात् धनद ने देशावकाशिक व्रत की आराधनास्वरूप प्रतिज्ञा की कि वह प्रभात खिलने तक अपने घर से बाहर कदम नहीं रखेगा। संयोग से राजा को शिरःशूल हो गया। औषधोपचार विफल हो गए। किसी ने राजा को समझाया कि राजकोष में रोगहर मणि है, उसके स्पर्श से शिरःशूल समाप्त हो जाएगा। राजा को सुझाव उचित लगा और उसने अनुचर को आदेश दिया कि कोषाध्यक्ष को पूरी स्थिति कहकर मेरे समक्ष उपस्थित किया जाए। अनुचर ने धनद के घर पहुंचकर राजाज्ञा सुनाई। पर धनद तो प्रतिज्ञाबद्ध था। उसने अपनी प्रतिज्ञा की बात कहकर आने से इन्कार कर दिया। शिरःशूल से व्यथित राजा अपने आदेश का उल्लंघन सुनकर क्रोध से कांपने लगा और उसने आदेश दिया कि

धनद को बन्धनों में जकड़कर शीघ्र उसके समक्ष उपस्थित किया जाए। राजा के ऐसा आदेश देते ही एक अन्य दुर्घटना यह घटी कि सहसा नगर में आग लग गई। पूरे नगर में त्राहि-त्राहि मच गई। लोग घरों से निकलकर खुले स्थान पर एकत्रित हो गए। लोगों ने धनद को अग्नि की सूचना दी और बाहर सुरक्षित स्थान पर जाने को कहा। पर धनद ने अपने नियम की बात दोहरा कर बाहर आने से इन्कार कर दिया।

चमत्कार यह घटित हुआ कि पूरा नगर जलकर राख हो गया, एकमात्र धनद का घर ही सुरक्षित रहा। विषाद में डूबे राजा और प्रजा धनद के धर्म प्रभाव को देखकर दंग थे। सभी ने उसकी मुक्त-कण्ठ से स्तुतियां कीं। धनद ने अपना संचित समस्त धन नगर के पुनर्निर्माण हेतु अर्पित कर दिया। नगर में उसे देवतुल्य श्रद्धा और सम्मान प्राप्त हुआ। राजा और प्रजा ने धनद के धर्म से चमत्कृत होकर जिन धर्म अंगीकार किया। पूरा नगर जिनोपासक बन गया।

धनद एकनिष्ठ श्रद्धा से श्रावक धर्म का पालन कर आयु पूर्ण कर अष्टम् देवलोक में देव बना। देव भव से च्यव कर वह मनुष्य भव धारण करेगा और सिद्ध होगा।

—जैन कथा रत्न कोष, भाग 4/श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र (रत्न शेखर सूरिकृत)

(ख) धनद

वेणातट नगर का मुण्डित वंश का न्यायपरायण और अनन्य जिनोपासक नरेश। उसके मंत्री का नाम संघश्री था और वह अन्य मतावलम्बी था, जिनधर्म पर उसकी आस्था न थी। राजा धनद के मन-प्राण में जिन धर्म रचा-बसा था और वह जानता था कि जिनत्व ही कल्याण का एकमात्र मार्ग है। राजा चाहता था कि उसका मंत्री भी जिनधर्म के महत्व को समझे और आत्मकल्याण का पथ-प्रशस्त करे। अनेक प्रसंगों में राजा मंत्री को जिनधर्म के लिए प्रेरित किया करता था, पर संघश्री की कठोर हृदय-भूमि पर जिनत्व अंकुरित नहीं हो पाता था।

संघश्री की बहन विमलमती महाराज धनद की पटरानी थी। इसीलिए संघश्री का महलों के भीतर तक भी निराबाध आवागमन था। एक बार राजा धनद अपनी पटरानी और संघश्री के साथ राजमहल की छत पर टहल रहा था। आकाशमार्ग से चारण मुनि गमन कर रहे थे। राजा की दृष्टि मुनियों पर पड़ी। उसका हृदय श्रद्धाभाव से भर गया। राजा की श्रद्धा-भक्ति से बंधे मुनि महल की छत पर उतर आए। राजा की प्रार्थना पर मुनियों ने संक्षेप में धर्म का सार निरूपित किया। तब राजा ने मुनियों से विशेष प्रार्थना की कि विशिष्ट धर्मदेशना से वे उसके मंत्री संघश्री को जिनत्व का महत्व समझाएं। मुनियों ने संघश्री को लक्ष्य कर जिनत्व की सूक्ष्म व्याख्या प्रस्तुत की। मुनियों ने संघश्री की प्रत्येक जिज्ञासा का समाधान प्रस्तुत किया। उससे संघश्री का हृदय भी जिनश्रद्धा से पूर्ण हो गया। उसने मुनियों से जिनधर्म स्वीकार कर लिया।

मुनि विदा हो गए। राजा धनद अति प्रसन्न हुए। उन्होंने संघश्री से कहा, आज से तुम मेरे साधर्मी बन्धु हुए। कल राज्यसभा में मैं तुम्हारा विशेष स्वागत अभिनंदन करना चाहता हूँ, आशा है तुम स्वयं अपने मुख से मुनियों के पदार्पण, उनकी उपदेश-विधि और तुम्हारे सम्यक्त्व ग्रहण की पूरी घटना राजसभा में वर्णित करोगे। संघश्री ने वैसा करने का वचन राजा को दिया और अपने घर चला गया।

संध्या ढलते-ढलते संघश्री के गुरु को सूचना प्राप्त हो गई कि संघश्री ने धर्म परिवर्तन कर लिया है। संघश्री उसकी सम्प्रदाय का बुर्ज था। उसने सोचा, संघश्री ने ही उसकी सम्प्रदाय को त्याग दिया तो उसका प्रभाव वेणातट से शून्य हो जाएगा। इस विचार के साथ गुरु संघश्री के पास पहुंचा। संघश्री बाल्यावस्था से उसे गुरु मानता आया था। एकाएक सम्बन्ध-विच्छेद संभव न था। संघश्री ने गुरु का स्वागत किया। गुरु

ने विभिन्न युक्तियों से संघश्री को समझाना शुरू किया। विभिन्न तर्क दिए। अन्तिम तर्क यह दिया कि राजा ने इन्द्रजाल के सहारे उसे भ्रमित किया है। विभिन्न कुतर्कों के जाल में फंसकर संघश्री के हृदय में उपजा जिन-संस्कार का कोमल कोंपल नष्ट हो गया और उसने अपने मन को पुनः अपनी ही परम्परा पर सुदृढ़ बना लिया। उसने अपने गुरु को वचन दिया कि प्राण देकर भी वह जिनत्व को अंगीकार नहीं करेगा।

दूसरे दिन राजसभा जुड़ी। मंत्री संघश्री अक्षवेदना का बहाना करके सभा में नहीं गया। राजा ने मंत्री को राजसभा में बुलवाया। राजाज्ञा का उल्लंघन संघश्री के लिए संभव नहीं था। आंखों पर पट्टी बांधकर वह राजसभा में उपस्थित हुआ। राजा ने संघश्री का विशेष बहुमान किया और कहा, मंत्रिवर! कल मुनिदर्शन के पूरे घटनाक्रम का अपने मुख से वर्णन करो! संघश्री ने अनजान बनकर कहा कि उसने किसी मुनि के दर्शन नहीं किए। संघश्री के असत्य भाषण को सुनकर राजा चकित रह गया। उसने संघश्री को समझाया और कहा कि कल उसने चारण-मुनियों के दर्शन राजमहल की छत पर किए थे। वह कुछ भी न छिपाए और जो देखा तथा सुना सब यथावत् कहे। संघश्री ने कहा, वह सब इन्द्रजाल था। इन्द्रजाल में अकल्पित और असंभव सब दिखाया जा सकता है। यथार्थतः मैंने कुछ नहीं देखा। राजा चाहते हैं कि मैं जिनधर्म को अंगीकार कर लूं। पर अमृततुल्य अपने धर्म का परित्याग करके कपोल-कल्पित जिनधर्म को मैं कदापि स्वीकार नहीं करूंगा।

राजा को संघश्री के मिथ्या और आरोपजनक संभाषण पर बड़ा खेद हुआ। उसी क्षण एक चमत्कार यह हुआ कि मिथ्या संभाषण और जिनत्व के प्रति प्रलाप-स्वरूप कथन से संघश्री की कल्पित अक्षवेदना यथार्थ बन गई। वह पीड़ा से तिलमिलाने लगा। उसे दिखाई देना बन्द हो गया। उसकी आंखें कोटरों से बाहर निकल आईं।

राजा ने संघश्री को पुनः सावधान किया कि वह जिन-प्रलाप का प्रायश्चित्त कर ले। परन्तु संघश्री की तो बुद्धि ही विभ्रमित बन गई थी। पीड़ा से तिलमिलाते हुए भी उसने जिन-प्रलाप करना जारी रखा। आखिर शासन-संरक्षिका देवी ने संघश्री को उसके आसन से भूमि पर लुढ़का दिया। रक्तवमन करता हुआ संघश्री मरण-शरण हो गया।

उपस्थित सभासदों ने संघश्री की हठधर्मिता की निंदा की और जिन-धर्म की प्रशस्तियां कीं। सभी सभासदों ने जिनधर्म को ग्रहण किया। पूरे नगर और राज्य में जिन-धर्म की प्रभूत प्रभावना हुई।

महाराज धनद जिनधर्म की प्रभावना से तो हर्षित थे पर संघश्री की हठ से व्यथित थे। उनका चित्त वैराग्य से पूर्ण हो गया। वे प्रव्रजित हो गए। निरतिचार संयम की आराधना से वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। विमलमती ने भी प्रव्रज्या का पालन कर स्वर्ग पद पाया।

—बृहत्कथा कोष, भाग 1 (आचार्य हरिषेण)

(ग) धनद

कनकपुर नगर के कोटीश्वर श्रेष्ठी रत्नसार का इकलौता पुत्र। किसी समय जब वह नगर के चौराहे से गुजर रहा था तो उसने एक व्यक्ति को एक गाथा विक्रय करते देखा। धनद उस व्यक्ति के निकट आया और उसके हाथ में रहे हुए कागज के टुकड़े पर अंकित गाथा को पढ़ा। गाथा का भावार्थ था—विधि के लेख के अनुसार ही संसार में सब कुछ होता है, यह जानकर धीर पुरुष कभी भी कायर नहीं होते।

वह गाथा धनद को बहुत पसन्द आई। उसने एक हजार स्वर्णमुद्राएं देकर वह गाथा उस व्यक्ति से

खरीद ली। खरीद ही नहीं ली बल्कि गाथा के सच को अपने जीवन का सच भी बना लिया। पर इसका दुष्प्रभाव यह हुआ कि रत्नसार पुत्र के अपव्यय पर नाराज हो गया और उसे घर से निकाल दिया। धनद इसे विधि का खेल मानकर घर से चल दिया। जंगल में जाकर एक वृक्ष के नीचे लेट गया। वहां उसे एक शिकारी का बाण लगा। अत्यधिक रक्तस्राव से धनद मूर्च्छित हो गया। एक भारण्ड पक्षी धनद को मृत जानकर अपनी चोंच में दबाकर किसी अज्ञात द्वीप पर ले गया। वहां द्वीप के विशुद्ध वायुमण्डल से धनद की चेतना लौट आई। धनद को स्पंदित देखकर भारण्ड पक्षी उसे एक स्थान पर रखकर अन्यत्र उड़ गया ।

धनद ने वहां एक कुएं से जल पीकर प्यास बुझाई और वृक्षों से फल तोड़कर क्षुधा शान्त की। वह एक दिशा में गया तो उसने एक निर्जन नगर देखा। उसे बहुत आश्चर्य हुआ कि सुन्दर आवास निर्जन हैं, भरे-पूरे बाजार हैं पर वहां कोई मनुष्य नहीं है। धनद ने उसे देव-प्रकोप माना। उसे वहां ठहरना निरापद नहीं लगा। वह जंगल में चला गया। शीत निवारण के लिए उसने अग्नि जलाई और रात्रि व्यतीत की। सुबह सूर्योदय होने पर उसने देखा कि जिस स्थान पर अग्नि जलाई गई थी, वहां की पृथ्वी स्वर्णमयी हो गई है। धनद समझ गया कि वह स्वर्णद्वीप पर है, जहां की मिट्टी अग्नि का संयोग पाते ही सोना हो जाती है। उसने अग्नि के उपयोग से पर्याप्त स्वर्ण निर्मित किया और सोने की इंटें बनाकर उन पर अपना नाम अंकित कर दिया। किसी दिन जंगल में घूमते हुए उसे रत्न-राशि का विशाल ढेर मिला। यथेच्छ रत्न लेकर वह कुएं के निकट आ गया।

सुदत्त नामक एक सार्थवाह का जहाज पानी लेने के लिए स्वर्ण द्वीप पर लगा। धनद को लगा कि अब उसे जीवन का कोई न कोई द्वार मिलेगा। सुदत्त और धनद में प्रेमालाप हुआ। धनद ने कहा कि वह यदि उसे उसके नगर पहुंचा दे तो वह उसको उसके धन का चतुर्थ भाग देगा। धनद की विशाल धनराशि देखकर सुदत्त का चित्त लोभ से कलुषित बन गया। उसने वाग्जाल में उलझाकर धनद को कुएं में धकेल दिया और उसकी सारी संपत्ति चुराकर अपने जहाज पर चला गया। धनद मेखला पर अटक गया। कुछ देर में वह सहज हुआ तो उसने मेखला के पास एक द्वार देखा। वह द्वार में प्रविष्ट हुआ। वहां नीचे की ओर सीढियां उतर रही थीं। सीढ़ियों से उतर कर धनद नीचे पहुंचा। वहां उसने एक दिव्य नगर देखा। पर वह नगर भी जनशून्य था। यत्र-तत्र भटकते धनद को एक सप्त मंजिले भवन की सातवीं मंजिल पर एक सुन्दर राजकुमारी मिली, जिसका नाम तिलकसुंदरी था। धनद के प्रश्न पर राजकुमारी ने संक्षेप में समस्त घटनाक्रम स्पष्ट किया और कहा कि यह सब एक दुष्ट राक्षस की दुष्टता का फल है। आखिर राजकुमारी द्वारा निर्दिष्ट विधि से धनद ने राक्षस को मार डाला। अनेक दिव्य मणियां वहां से प्राप्त कर सार्थवाह देवदत्त के सहयोग से धनद कुएं के मार्ग से अपने स्थान पर आया। देवदत्त के साथ उसने यात्रा प्रारम्भ की। पर देवदत्त का मन भी अपार वैभव और सौन्दर्य देखकर पापी बन गया। उसने धनद को समुद्र में फैंक दिया। भाग्योदय से काष्ठफलक के सहारे धनद किनारे पर पहुंच गया। तिलकसुन्दरी ने अपने बुद्धिकौशल से अपने शील की रक्षा की। आखिर उसी तट पर देवदत्त का जहाज भी लगा, जिस पर धनद पहुंचा था। धनद का पुण्य उत्कर्ष पुनः उदय में आया। नगरनरेश के सहयोग से उसने तिलकसुन्दरी को देवदत्त के कब्जे से मुक्त करा लिया तथा अपना धन भी प्राप्त कर लिया। कालान्तर में सुदत्त सार्थवाह भी उस नगर में आया। धनद ने उससे भी अपना धन प्राप्त किया। आखिर अपार वैभव बटोर कर धनद अपने नगर में आया। पिता पुत्र का मिलन हुआ। सुख के दिन लौट आए। अन्तिम वय में चारित्र की आराधना कर धनद देवलोक में गया।

—शान्तिनाथ चरित्र

(क) धनदत्त

पोतनपुर नगर के धनी व्यापारी वसुदत्त का पुत्र। धनदत्त धर्मनिष्ठ और सद्गुणी था। इसके विपरीत उसका पिता वसुदत्त लोभी और मित्रद्रोही था। एक बार वसुदत्त ने अपने एक मित्र की अमानत दबा ली। उसके मित्र ने राजा से शिकायत की। वसुदत्त पर आरोप सिद्ध हो गया। राजा ने उसका समस्त धन छीन लिया और उसे अपने देश से निर्वासित कर दिया। वसुदत्त अपने परिवार के साथ अनेक स्थानों पर भटकते हुए एक नगर में पहुंचा। दारिद्र्य और आर्त्तध्यान में प्राण त्याग कर वह दुर्गति में गिरा।

धनदत्त के कन्धों पर पारिवारिक दायित्व आन पड़ा। मुनि-दर्शन और प्रवचन से धनदत्त को सम्यक्त्व रत्न की प्राप्ति हुई। उसने अणुव्रत धारण किए और सामायिक-संवर की आराधना करने लगा। परिवार-पोषण के लिए उसने एक छोटी सी दुकान से व्यवसाय शुरू किया। प्रामाणिकता और सत्य को उसने अपने व्यवसाय का आधार बनाया। अल्प काल में ही उसका व्यवसाय चमक उठा। उसकी प्रामाणिकता की लोग दुहाइयां देने लगे। अनेक बार विरोधियों ने उस पर दोषारोपण करने चाहे, पर सदैव उसकी धर्मनिष्ठा ढाल बनकर उसकी सहायता करती रही। जीवन भर उसने धर्मयुक्त व्यवसाय किया। आयुष्य पूर्ण कर वह देवगति में गया। देवलोक से च्यव कर वह मानव भव प्राप्त करेगा, संयम की आराधना कर उसी भव में वह मोक्ष में जाएगा।

—जैन कथा रत्न कोष / श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र—(रत्नशेखर सूरिकृत)

(ख) धनदत्त

लोकमान्य प्रभु पार्श्वनाथ के धर्मशासन के समय का एक श्रमणोपासक।

धनदत्त एक समुद्री व्यापारी था। वह पाटलिपुत्र का निवासी था और अक्सर समुद्र-मार्ग से देश-विदेशों में जाकर व्यापार करता था। एक बार जब वह समुद्री यात्रा पर था तो उसने आकाश में एक तोते को उड़ते देखा। धनदत्त तोते की डावांडोल दशा देखते ही समझ गया कि वह उड़ते हुए थक चुका है और उसके प्राण संकट में हैं। धनदत्त करुण-हृदय व्यक्ति था। उसने अपना जहाज रुकवा दिया। गोते खाता हुआ तोता जहाज पर आकर गिरा। उसके मुख में दो आम्रफल थे। धनदत्त ने तोते की सेवा-शुश्रूषा की और उसे स्वस्थ बना दिया । तोता मानव-भाषा बोलने में कुशल था। उसने सेठ धनदत्त का बहुत उपकार माना और उसे एक आम्रफल देते हुए बोला कि यह अद्भुत फल है। इसे खाने वाला असाध्य रोगों से मुक्ति पा जाता है। इस फल को यदि बोया जाए तो इससे जो वृक्ष बनेगा, उस वृक्ष के फलों में वे समस्त गुण विद्यमान होंगे, जो इस फल में मौजूद हैं।

व्यापार करके धनदत्त पाटलिपुत्र लौटा। उसने वह फल राजा को भेंट किया और उसके गुण राजा को बताए। अद्भुत फल को पाकर और सेठ की निस्पृहता देखकर राजा अति प्रसन्न हुआ। उसने धनदत्त को नगर सेठ का पद प्रदान किया और उसके व्यापार को करमुक्त कर दिया। राजा के आदेश पर आम्रफल को वपित किया गया । कालक्रम से आम्रवृक्ष जन्मा, बड़ा हुआ और फलित बना । एक रात्रि में हवा के झोंके से एक फल जमीन पर आ गिरा। एक सर्प ने उस फल को स्पर्श कर विषैला बना दिया। इस बात से अनभिज्ञ माली ने वह फल राजा को दिया। राजा ने परीक्षा के लिए वह फल रुग्ण पुरोहित को दिया। उसे खाते ही पुरोहित का देहान्त हो गया। इससे राजा कुपित हो गया और उसने विश्वासघात और हत्या के अपराधी के रूप में धनदत्त को कारागृह में डाल दिया। साथ ही राजा ने माली को आदेश दिया कि विषवृक्ष को नष्ट कर दिया जाए।

पाटलिपुत्र में एक सद्गृहस्थ कुष्ठरोग से पीड़ित था। उसे राजाज्ञा से नगर के बाहर निकाल दिया गया था। रुग्णता से व्यथित उस कुष्ठरोगी ने आत्महत्या का निश्चय कर लिया। तत्काल उसे विषवृक्ष का विचार आया। विषवृक्ष का फल लेने के लिए वह उद्यान में गया, पर वहां से तो उस वृक्ष को पहले ही उखाड़ा जा चुका था। कुष्ठरोगी ने देखा, वहां पर वृक्ष की छाल पड़ी हुई थी। उसने सोचा, विषवृक्ष की छाल भी तो विषैली ही होगी। उसे खाकर ही मुझे प्राणोत्सर्ग करना चाहिए। इस विचार के साथ उसने उस छाल को चबा लिया। तत्क्षण चमत्कार घटित हुआ। वह व्यक्ति कुष्ठमुक्त हो गया। वह नाचता हुआ राजा के पास पहुंचा और पूरी घटना राजा को बताई। पड़ताल करने पर राजा को ज्ञात हुआ कि माली ने जमीन से उठाकर राजा को फल दिया था। राजा समझ गया कि अवश्य ही किसी विषैले जन्तु ने आम को विषैला बना दिया होगा, जिससे पुरोहित की मृत्यु हो गई।

राजा दोहरे पश्चात्ताप में डूब गया। प्रथम यह कि उसने उपकारी और निस्पृह सेठ धनदत्त को कारागृह में डाला और दूसरे यह कि उसने बिना पर्याप्त पड़ताल के दिव्य आम्रवृक्ष को नष्ट करवा दिया। राजा ने उसी क्षण पूरे सम्मान से सेठ धनदत्त को मुक्त करा दिया और अपने अविवेकपूर्ण निर्णय के लिए उससे क्षमा मांगी।

सेठ धनदत्त ने प्राप्त सुख-दुख को अपने ही कर्म का फल-भोग माना। साथ ही उसका हृदय सांसारिक रंगों से ऊब गया। गृह त्याग कर वह अणगार बन गया और सद्गति का अधिकारी हुआ।

(ग) धनदत्त

राजगृह नगर का एक धनी श्रेष्ठी। (देखिए–कृतपुण्य)

(घ) धनदत्त

प्रतिष्ठानपुर नगर निवासी सेठ धनसार के चार पुत्रों में से ज्येष्ठ पुत्र। (देखिए–धन्य जी)

(ङ) धनदत्त

काम्पिल्य नगर के महाराज ब्रह्म का एक विश्वसनीय और राजभक्त मंत्री, जो अत्यन्त बुद्धिमान था। उसी की बुद्धिमत्ता के परिणामस्वरूप बचपन में चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त के प्राणों की रक्षा हुई थी। (देखिए–ब्रह्म राजा)

(च) धनदत्त

एक सत्यनिष्ठ सेठ, जो व्यापारी होते हुए भी अपनी सत्यनिष्ठा से कभी किंचित्मात्र भी डावांडोल नहीं हुआ।

धनदत्त बाल्यकाल से ही आदर्शों को अपने जीवन में यथार्थ बनाने के लिए उमंगशील रहता था। एक नियम ने उसके लिए उसका मार्ग प्रशस्त किया। एक जैन मुनि से उसने व्यवहार शुद्धि का नियम ग्रहण किया, जिसका लक्षण था कि वह कभी कम नहीं तोलेगा, शुद्ध माल का विक्रय करेगा। इस नियम के पालन में सेठ धनदत्त को काफी कठिनाइयां आईं। उसका मूल धन भी शनैः-शनैः चुकने लगा। पर उसने कभी असत्य संभाषण नहीं किया, कभी तोल-माप में बेइमानी नहीं की, सोने के भाव से कभी मिट्टी नहीं बेची। एक क्षण आया कि धनदत्त को उदरपोषण के लाले पड़ गए। पर उसकी व्रतनिष्ठा अखण्ड और अडोल थी। उसे भूखों मर जाना स्वीकार था पर असत्य स्वीकार नहीं था।

धनदत्त की पत्नी धनश्री अपने पति की व्रतनिष्ठा में उसके साथ थी। वह पानी पीकर सो जाती पर पति को कभी उपालंभ न देती। इसके विपरीत उसके धैर्य को संबल प्रदान करती। पर जब घर में अन्न का एक दाना नहीं बचा और दुकान चौपट हो गई तो धनदत्त ने पत्नी से कहा कि अब तो उसे विदेश जाकर सेवावृत्ति ही अपनानी होगी। पत्नी को समझा-बुझाकर धनदत्त अपने नगर के कुछ व्यापारियों के साथ चल दिया, जो परदेश में व्यापार के लिए जा रहे थे। व्यापारियों के समूह के साथ धनदत्त एक बड़े नगर में पहुंचा। व्यापारियों ने भी उसी नगर में रहकर व्यापार किया। धनदत्त किसी ऐसे व्यक्ति की खोज में निकला जो धार्मिक हो और जिसके पास वह नौकरी कर सके। उसने कई लोगों के पास नौकरी की पर उसे वैसा व्यक्ति नहीं मिला, जैसे व्यक्ति की उसे तलाश थी। यत्र-तत्र नौकरी कर वह इतना ही कमा सका, जिससे उसका उदरपोषण हो सके। व्यापारी स्वदेश लौटने लगे। पर धनदत्त के पास पत्नी को भेजने के लिए कुछ नहीं था। उसके हाथ में एक बिजौरा नामक फल था। बोला, मेरी पत्नी को यही दे देना। व्यापारी धनदत्त से बिजौरा लेकर अपने नगर के लिए चल दिए। कई दिन की यात्रा के बाद वे एक बड़े नगर में रात्रि बिताने के लिए रुके। संयोग से वहां के युवराज को उदरशूल हो गया। वैद्यों-हकीमों ने युवराज के अनेक उपचार किए, पर समस्त उपचार व्यर्थ सिद्ध हुए। ज्यों-ज्यों दवा की, त्यों-त्यों मर्ज बढ़ता गया।

आखिर एक वृद्ध वैद्य ने राजा से कहा कि यदि बिजौरा मिल सके तो युवराज के प्राण बचाए जा सकते हैं। पर यह बिजौरे का मौसम भी तो नहीं है। बेमौसमी बिजौरा मिले तो कहां से मिले। पर संभव है किसी प्रदेशी व्यापारी के पास प्राप्त हो जाए। एतदर्थ आप नगर में घोषणा करा दें। वैसा ही किया गया। घोषणा की गई कि राजा को जो बिजौरा उपलब्ध कराएगा, उसे बड़ा पुरस्कार दिया जाएगा। धनदत्त के मित्र व्यापारियों के पास बिजौरा था, सो उन्होंने वह राजा को भेंट कर दिया। युवराज उसके सेवन से स्वस्थ हो गया। राजा ने हीरे-मोतियों के थाल भरकर व्यापारियों को दिए।

व्यापारियों ने प्रामाणिकता का परिचय दिया और राजा से प्राप्त समस्त धन अपने नगर में लौटकर धनश्री को अर्पित कर दिया और धन प्राप्ति की गाथा भी सुना दी। कुछ दिन बाद धनदत्त भी परदेश से लौट आया। उसका सत्य तो फलवंत हो ही चुका था। सब ओर धनदत्त की सत्यनिष्ठा के चमत्कार की सुगंध फैल गई। धर्मनिष्ठ धनदत्त और धनश्री जगत के समक्ष सत्यनिष्ठा का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत कर आयुष्य पूर्ण कर सद्गति के अधिकारी बने। —धनदत्त रास (कविवर समयसुन्दर कृत)

(क) धनदेव

जयत्थल नगर के श्रेष्ठी विशाखदत्त का पुत्र, एक अस्थिर-चित्त और शंकाशील पुरुष! (देखिए—संवर)

(ख) धनदेव

हसंतीपुर नगर का रहने वाला एक तरुण, जिसने संसार के छलछद्म को देखकर दीक्षा धारण की। भवान्तर में केवलज्ञान प्राप्त कर वह सिद्ध हुआ। (देखिए-मदन)

(ग) धनदेव

प्रतिष्ठानपुर नगर के सेठ धनसार का पुत्र। (देखिए-धन्य जी)

(घ) धनदेव

मौर्य ग्रामवासी वासिष्ठ गोत्रीय एक ब्राह्मण और षष्ठम् गणधर मंडितपुत्र के जनक। (देखिए-मंडितपुत्र)

—आवश्यक चूर्णि

धनपति

उज्जयिनी नगरी का एक श्रीसम्पन्न श्रेष्ठी। (देखिए-धनसागर)

धनपति कुमार

कनकपुर नगर का राजकुमार। उसके पिता का नाम वैश्रमण तथा माता का नाम श्रीदेवी था। उसके पितामह प्रियचंद्र नगरनरेश थे। पितामही का नाम सुभद्रा था। यह पूरा राजपरिवार जिनधर्मानुरागी था।

धनपतिकुमार अत्यन्त सुरूप और गुणवान युवक था। राजा से लेकर रंकपर्यन्त वह सभी की प्रीति का पात्र था।

एक बार श्रमण भगवान महावीर अपने शिष्य समुदाय के साथ कनकपुर नगर के श्वेताशोक उद्यान में पधारे। जन समुदाय भगवान के दर्शनों के लिए उद्यान में उपस्थित हुआ। राजकुमार धनपतिकुमार भी भगवान के दर्शनों के लिए उद्यान में गया। भगवान महावीर का उपदेश सुनकर उसे बड़ा हर्ष हुआ। उसने श्रावक के द्वादशव्रत भगवान से अंगीकार किए।

जनसमुदाय और राजकुमार के लौट जाने के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम ने भगवान से धनपति कुमार के पूर्वभव के बारे में पूछा। भगवान ने धनपति कुमार का पूर्वभव वर्णित करते हुए फरमाया—गौतम ! मणिचयिका नामक नगरी में मित्र नाम का राजा राज्य करता था। एक बार मित्र राजा के महल में एक मासोपवासी अणगार भिक्षा के लिए पधारे। मुनि का नाम संभूतिविजय था। राजा ने उत्कृष्ट भावों से मुनि को आहार दान दिया। उक्त सुपात्रदान से मित्र राजा ने महान पुण्यों का संचय किया। वहां से आयुष्य पूर्ण कर मित्र राजा ही यहां धनपति कुमार के रूप में जन्मा है।

गौतम स्वामी के अगले प्रश्न के उत्तर में भगवान ने स्पष्ट किया कि धनपति कुमार कालान्तर में दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष पद प्राप्त करेगा। धनपति कुमार का अतीत और भविष्य सुनकर समाहित चित्त बने गौतम स्वामी स्वाध्याय और ध्यान में संलग्न हो गए।

कुछ समय कनकपुर में विराजकर भगवान महावीर स्वामी अन्यत्र विहार कर गए।

किसी समय धनपतिकुमार पौषधशाला में पौषध की आराधना में लीन थे। आध्यात्मिक चिन्तन करते हुए उन्हें विचार उत्पन्न हुआ—धरा के वे भूभाग कितने पुण्यशाली हैं, जहां पर भगवान महावीर विचरण करते हैं! धन्य हैं वे लोग जो भगवान के दर्शन करते हैं और उनकी वाणी को सुनकर अपने कानों को पवित्र करते हैं! यदि भगवान यहां पधारें तो मैं भी उनके दर्शन करके धन्य बनूं और उनके चरणों में प्रव्रजित बनकर आत्मकल्याण करूं!

कहावत है कि भक्त की पुकार भगवान अवश्य सुनते हैं। धनपति कुमार की पुकार भी भगवान ने सुनी और वे कनकपुर नगर में पदार्पित हुए। इससे धनपति कुमार की प्रसन्नता का पार न रहा। वह भगवान के श्री चरणों में पहुंचा। उपदेश सुनकर उसका वैराग्य प्रखर हो गया। परिजनों की अनुमति लेकर वह प्रव्रजित हो गया। उसने कई वर्षों तक उत्कृष्ट संयम का पालन किया और अन्त में मोक्ष प्राप्त किया।

—विपाकसूत्र, द्वि. श्रु., अ. 6

(क) धनपाल

हस्तिनापुर का एक सार्थवाह। (देखिए-जयचंद)

(ख) धनपाल

धारानगरी का एक ब्राह्मण विद्वान, राजमान्य कवि और अनन्य श्रमणोपासक। (देखिए-शोभनाचार्य)

—मथुरा के शिलालेख

(ग) धनपाल (कवि)

वि. की दसवीं शती के एक ज्येष्ठ-श्रेष्ठ जैन कवि।

धनपाल के पिता का नाम माएसर और माता का नाम धनश्री था। उनका जन्म धक्कड़ वंश (पश्चिम भारत की एक वैश्यजाति) में हुआ था।

कविवर धनपाल की एक रचना उपलब्ध है। रचना का नाम है—भविसयत्तकहा। इस ग्रन्थ में जैन पौराणिक चरित्र 'भविष्यदत्त' के चरित्र का सांगोपांग वर्णन हुआ है। ग्रन्थ में कवि की काव्य प्रतिभा के दर्शन होते हैं। भाव, भाषा, अलंकरण और छन्दों का सुन्दर समन्वय ग्रन्थ को महाकाव्य की कोटि प्रदान करता है।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा

(घ) धनपाल राजा

कौशाम्बी नगरी का एक उदार हृदय नरेश। एक बार उसने वैश्रमणभद्र नामक एक मासोपवासी मुनि को उत्कृष्ट भावों से आहार का दान दिया। देवताओं ने पंचदिव्यों की वर्षा कर राजा के दान की प्रशस्ति की। सुपात्र दान से महाराज धनपाल ने उत्कृष्ट पुण्य का अर्जन किया। जन्मान्तर में वे विजयपुर नरेश वासवदत्त के यहां पुत्र रूप में जन्मे। वहां उनका नाम सुवासव रखा गया। सुवासव ने भगवान महावीर के चरणों में आर्हती प्रव्रज्या धारण कर परम पद का अधिकार पाया। (देखिए-सुवासव)

—विपाकसूत्र, द्वि.श्रु., अ.4

(क) धनमित्र

स्वस्तिक नगर के धर्मात्मा सेठ धनद का इकलौता पुत्र, जो पूर्वजन्म के कर्मों के कारण बचपन से ही दुःसंगति का शिकार बन गया और यौवनावस्था तक पहुंचते-पहुंचते उसके जीवन में सातों कुव्यसन प्रवेश कर गए। पिता-माता, परिजनों और पुरजनों ने धनमित्र को अनेक-अनेक बार समझाया पर वह नहीं समझा। यों तो सातों कुव्यसन उसके अभिन्न शौक थे, पर चोरी करने में उसे विशेष आनंद प्राप्त होता था। एक बार वह सेंध लगाते राजपुरुषों द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। राजा ने उसे पहचान लिया कि वह राजमान्य श्रेष्ठी धनद का पुत्र है। राजा ने धनद को बुलाया और उसे उपालंभ-मात्र देकर उसके पुत्र को मुक्त कर दिया। इससे धनद लज्जा से भर गया और उसने अपने पुत्र से सम्बन्ध-विच्छेद कर उसे अपने घर से निकाल दिया।

अपयश सहकर भी धनमित्र का हृदय परिवर्तित नहीं हुआ। उसने एक धूर्त योगी से एक ऐसा अंजन प्राप्त कर लिया, जिसे आंखों में आंजने पर व्यक्ति अदृश्य हो सकता था। अदृश्य-कारक अंजन पाकर धनमित्र पूर्णतः स्वच्छन्द और उन्मादी बन गया। उसकी नित्य की चोरियों से नगर में आतंक छा गया। राजा और उसकी सेना पूरी शक्ति और कुशलता का उपयोग करके भी धनमित्र को पकड़ नहीं पाई। क्योंकि धनमित्र अदृश्य होकर चोरियां करता था। आखिर राजा ने घोषणा कराई कि जो कोई व्यक्ति अदृश्य चोर को पकड़ेगा, उसे राजकीय-कोष से सौ करोड़ स्वर्णमुद्राएं पुरस्कार में दी जाएंगी। एक चतुर गणिका ने चोर को पकड़ने का बीड़ा उठाया। गणिका ने चातुर्य दिखाते हुए धनमित्र को गिरफ्तार करवा दिया। न्याया-

धिकारी ने धनमित्र की भर्त्सना की और उसे शूली का दण्ड दिया। अपमानित, ताड़ित और तर्जित कर तथा गर्दभ पर बैठाकर धनमित्र को शूली-स्थल पर ले जाया गया।

उधर बीती रात्रि में ही नगर-नरेश का निःसंतान अवस्था में ही निधन हो गया था। पुरातन परम्परानुसार हस्ती-अश्व आदि पंच दिव्य नए राजा के चयन के लिए छोड़े गए थे। हस्ती धनमित्र के समक्ष पहुंच कर ठिठक गया। उसने धनमित्र के कण्ठ में पुष्पमाला डाल दी। धनमित्र के लिए शूली सिंहासन बन गई। सभी ने माना कि धनमित्र की पुण्यों में दृढ़ता के कारण उसके लिए शूली सिंहासन बन गई है, इसलिए लोगों ने उसे 'दृढ़पुण्य' नाम प्रदान किया।

सिंहासन पर बैठने के पश्चात् धनमित्र के जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन आ गया। उसके कुव्यसन समाप्त हो गए। कुव्यसनों का स्थान सद्गुणों ने ले लिया। वह अपने समय का एक न्यायप्रिय और प्रजावत्सल राजा माना गया। जैन श्रमणों के निरन्तर सम्पर्क से वह जिनोपासक बन गया। उसकी सामायिक की श्रद्धा ऐसी उत्कृष्ट बनी कि देवलोकों में भी उसकी अनुशंसा होने लगी। एक बार जब राजा धनमित्र— दृढ़पुण्य सामायिक की आराधना कर रहा था तो एक देव ने उसकी कठिन और कठोर परीक्षा ली। देव ने राजा को सामायिक छोड़ने के लिए कहा । राजा सामायिक में सुदृढ़ रहा तो देव ने देवमाया से उसे अनेक शारीरिक और मानसिक कष्ट दिए। राजा समता भाव में स्थिर बना रहा। देव ने सहस्रों भार की शिला उठाकर चेतावनी दी कि यदि वह सामायिक का परित्याग नहीं करेगा तो उस शिला को वह उसके सर पर पटक कर उसके सर को चूर-चूर कर देगा। परन्तु धनमित्र ने देव की चेतावनी पर ध्यान नहीं दिया। उसकी समता-साधना प्रखर-से प्रखर होती रही। देव ने उसके सर पर शिला का प्रहार कर दिया। राजा का सर चूर-चूर हो गया। इस पर भी राजा के मन में देव के प्रति अणुमात्र भी द्वेष का भाव उत्पन्न नहीं हुआ और न ही अपनी देह के प्रति राग का कण मात्र जगा। उत्कृष्ट समता भाव में सतत विहार से राजा धनमित्र को उसी अवस्था में केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

देव दंग रह गया। उसने अपनी माया का संहरण कर लिया। राजमहल का साधनाकक्ष कैवल्य-कक्ष बन गया। राजा सामायिक के वस्त्रों में था ही। देवों ने उपस्थित होकर कैवल्य महोत्सव मनाया। अनेक वर्षों तक केवली-अवस्था में रहकर जगत के लिए कल्याण का द्वार बनकर धनमित्र मुनि मोक्ष पधारे।

—जैन कथा रत्न कोष, भाग 4 / श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र-(रत्नशेखर सूरिकृत)

(ख) धनमित्र

विनयपुर नगर का श्रेष्ठीपुत्र। धनमित्र के माता-पिता कोटीश्वर थे, पर उनकी मृत्यु के साथ ही वह दरिद्र बन गया। विनयपुर नगर में उदर-पोषण भी दुर्लभ हो गया तो धनमित्र ने उसका त्याग कर दिया। वह राजपुर नगर में जाकर रहने लगा। उसने धनार्जन के अनेक उपाय किए, पर प्रत्येक उपाय में वह असफल ही रहा। एक बार एक ज्ञानी मुनि गजपुर पधारे। धनमित्र मुनि का उपदेश सुनकर प्रभावित हुआ। उसने अपनी स्थिति मुनि के समक्ष स्पष्ट की । मुनि ने उसका पूर्वभव उसे सुनाया, जिसे सुनकर धनमित्र के हृदय में धर्म-श्रद्धा का जागरण हो गया। उसने मुनि से श्रावकधर्म अंगीकार कर लिया। वह श्रद्धाभाव से श्रावकधर्म की आराधना करने लगा। उससे उसके अशुभ कर्म नष्ट हो गए और पुण्यकर्म उदय में आए। धनमित्र का व्यापार त्वरित गति से तरक्की करने लगा। कुछ ही समय में वह गजपुर नगर का सर्वाधिक समृद्ध श्रेष्ठी बन गया। वह अपने धन का उपयोग दान और परोपकार में करता था। फलतः उसका यश भी सब ओर वर्धमान बन गया।

कालान्तर में एक बार धनमित्र पर चोरी का आरोप लगा। चूंकि धनमित्र चोर नहीं था, फलतः वह अग्नि परीक्षा देने को तत्पर हो गया और उसमें वह सफल भी रहा। पर उस पूरे घटनाक्रम से धनमित्र का हृदय आहत हो गया। उसने संसार का परित्याग कर दीक्षा धारण कर ली और उत्कृष्ट तप-संयम की आराधना कर मोक्ष पद प्राप्त किया ।

—धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 39

(ग) धनमित्र

श्रावस्ती नगरी का राजा । (देखिए-स्वयंभू वासुदेव)

(घ) धनमित्र

कोल्लाक ग्रामवासी भारद्वाज गोत्रीय एक ब्राह्मण, जो भगवान महावीर के चतुर्थ गणधर व्यक्त स्वामी के जनक थे। (देखिए-व्यक्त स्वामी गणधर)

(ङ) धनमित्र

(देखिए-सुधर्मा स्वामी)

धनमित्र मुनि

धनमित्र नामक एक सद्गृहस्थ ने अपने पुत्र के साथ श्रामणी दीक्षा अंगीकार की।

किसी समय ग्रीष्म ऋतु में पिता-पुत्र मुनि विहार कर रहे थे। भीष्म-ग्रीष्म के प्रकोप के कारण पुत्र मुनि को अत्यधिक तृषा लगी। धनदत्त मुनि पुत्रमुनि के तृषा परीषह को देखकर चिन्तित हुए। मार्ग में एक जलाशय था। धनदत्त ने विचार किया, उनके समक्ष उनका पुत्र संकोचवश जलाशय से जल नहीं पीएगा। इस विचार से वे शीघ्र कदमों से आगे बढ़ गए। पुत्रमुनि पिता के भावों को समझ गया। तृषाधिकता के कारण जल पीने के लिए वह जलाशय के किनारे गया। उसने इधर-उधर दृष्टि दौड़ाई। इस बात से विश्वस्त होकर कि उसे कोई नहीं देख रहा है, उसने जलाशय से पानी की अंजुली भरी। अंजुली के जल में सूर्य का बिम्ब देखकर उसे विचार उत्पन्न हुआ, मुझे अन्य कोई नहीं देख रहा है, परन्तु अंनतज्ञानी तो मुझे देख ही रहे हैं ! उनकी दृष्टि से मैं कैसे बच पाऊंगा ? उसका चिन्तन आत्मोन्मुखी बन गया। उसने सोचा, अपने जीवन की रक्षा के लिए मैं असंख्य जलकायिक जीवों का पान करने चला हूँ, मुझे अपने अहिंसा व्रत का भी विचार नहीं रहा। धिक्कार है मुझे ! ऐसे अपने को धिक्कारते हुए उस युवा मुनि ने यत्नपूर्वक अंजुली के पानी को जलाशय में ही उलीच दिया। वह उठने लगा तो तृषाधिक्य के कारण उसे चक्कर आ गया। वह गिर पड़ा और उसका शरीर पूरा हो गया।

आयुष्य पूर्ण कर युवा मुनि देवलोक में देवरूप में जन्मा। अवधिज्ञान के उपयोग से उसने अपना पूर्वभव जाना। वह पृथ्वी पर आया और अपने मृतकलेवर में प्रविष्ट होकर आचार्य श्री के पास पहुंचा। उसके पिता मुनि धनमित्र भी वहां उपस्थित थे। युवा मुनि ने आचार्य श्री को अथान्त वृत्त कह सुनाया और सचित्त जल के सेवन की मन से आज्ञा देने के लिए पिता मुनि धनमित्र को प्रायश्चित्त दिलवाकर शुद्ध बनाया। तदनन्तर वह देवलोक को चला गया। धनमित्र मुनि भी मोह भाव को क्षीणकर और विशुद्ध चारित्र का पालन कर सद्गति के अधिकारी बने।

—उत्त. वृत्ति

धनश्री

वसंतपुर नगर की रहने वाली एक सच्चरित्रा नारी। वह बालविधवा थी और अपने पितृगृह में ही अपने

भाइयों—धनपति और धनावह के साथ रहती थी। दोनों भाई और भाभियां उसका विशेष आदर-मान करते थे। एक बार धनश्री ने माया के आचरण से भाइयों के हृदय में स्वयं के प्रति विश्वास को बढ़ाने का उपक्रम किया। उसमें वह सफल हुई। भाइयों का प्रेम उस पर पूर्वापेक्षया सघन हो गया।

जीवन के उत्तरार्ध पक्ष में धनश्री ने अपने दोनों भाइयों और दोनों भाभियों के साथ संयम धारण किया। आयुष्य पूर्ण कर पांचों देवलोक में देव बने। देव भव से च्यव कर धनश्री गजपुर निवासी शंख नामक श्रावक की पुत्री बनी, जहां उसका नाम सर्वांगसुंदरी रखा गया। धनपति और धनावह के जीव साकेतपुर नगर के सेठ अशोकदत्त के पुत्रों के रूप में जन्मे, जहां उनके नाम समुद्रदत्त और वरदत्त रखे गए। उनकी पत्नियों के जीव कौशलपुर नगर के सेठ की पुत्रियों के रूप में जन्मे, जहां उनके नाम श्रीमती और कांतिमयी रखे गए। सर्वांगसुंदरी युवा हुई तो उसका विवाह समुद्रदत्त के साथ किया गया। पर पूर्वजन्म के मायाचार का प्रतिफल सर्वांगसुंदरी को इस रूप में मिला कि समुद्रदत्त विवाह की प्रथम रात्रि में ही उसके चरित्र के प्रति सशंकित हो गया और उसने उसका परित्याग कर दिया। कुछ समय बाद समुद्रदत्त और वरदत्त के विवाह श्रीमती और कांतिमती से हो गए।

सर्वांगसुंदरी निर्दोष होते हुए भी दोषी ठहराई गई। इससे उसका हृदय वैराग्य से पूर्ण हो गया। संसार का परित्याग कर वह साध्वी बन गई और निरतिचार संयम की आराधना में तल्लीन हो गई। एक बार वह अपनी गुरुणी के साथ विचरण करती हुई साकेत नगर में पहुंची। संयोग से भिक्षा के लिए श्रीमती के घर पहुंच गई। उस समय श्रीमती कक्ष में बैठी हुई हार पिरो रही थी। साध्वी जी को देखते ही वह श्रद्धावश हार को वहीं छोड़कर उठ खड़ी हुई और भिक्षा लेने के लिए घर के भीतर चली गई। उसी क्षण एक आश्चर्यजनक घटना घटी। दीवार पर सजावट के लिए रखा हुआ एक मोर दीवार से नीचे उतरा और उस हार को निगल कर पुनः यथास्थान जा बैठा। इस दृश्य को देखकर साध्वी सर्वांगसुंदरी हैरान हो गई। वह आहार लेकर उपाश्रय में आ गई। उसने अपनी गुरुणी को पूरी घटना कही। गुरुणी ने सर्वांगसुंदरी साध्वी को बताया कि उसका कोई पूर्वजन्म का पापकर्म उदित हुआ है। अतः वह समभावपूर्वक आहार का परित्याग कर तपाराधना करे। सर्वांगसुन्दरी तप की आराधना में तल्लीन बन गई।

उधर हार खो जाने की बात फैल गई। सभी लोगों ने साध्वी को ही संदेहपूर्ण दृष्टि से देखा। पूरे नगर में साध्वी सर्वांगसुंदरी का अवर्णवाद होने लगा। परन्तु साध्वी जी मौन और समता रस में डूब कर तप में तल्लीन थी। तप ने साध्वी के पूर्वबद्ध कर्मों को जराजीर्ण बना दिया।

श्रीमती और उसका पति कक्ष में बैठे हार के खो जाने पर चिन्तन कर रहे थे। तभी धातु-निर्मित मोर ने वह हार उगल दिया। पति-पत्नी चकित रह गए। वे साध्वी जी पर किए गए दोषारोपण पर घोर पश्चात्ताप करने लगे। दोनों भाई और उनकी दोनों पत्नियां साध्वी जी से क्षमा मांगने के लिए उपाश्रय की ओर चल दिए। तभी देव दुंदुभियां बज उठीं। उनको ज्ञात हुआ कि साध्वी सर्वांगसुंदरी को कैवल्य की प्राप्ति हो गई है। उनका हृदय वैराग्य से भीग गया। दीक्षा धारण कर वे चारों भी साधना-पथ पर बढ़ चले।

—जैन कथा रत्न कोष, भाग-6

धनसंचय सेठ

कौशाम्बी के कोटीश्वर श्रेष्ठी। अनाथी मुनि के पिता। (देखिए-अनाथी मुनि)

(क) धनसागर

उज्जयिनी नगरी के रहने वाले एक कोटीश्वर श्रेष्ठी धनपति के चार पुत्रों में सबसे छोटा पुत्र, एक

अपठित और महत्वाकांक्षी युवक। सेठ के प्रथम तीनों बेटे भी बहुत पढ़े-लिखे और विचक्षण नहीं थे, परन्तु धनसार तो पूर्णरूप से विद्याहीन था। उसने न तो कभी विद्यालय का द्वार देखा था और न ही अध्यापक का मुख। सेठ अपने विद्याहीन पुत्रों को देखकर मन ही मन दुखी होता रहता था। एक दिन उसने यह निर्णय कर लिया कि वह अपनी संपत्ति को अपने पुत्रों की रुचि के अनुसार व्यवसाय में व्यय करके गृह दायित्व से मुक्त हो जाए। उसने बड़े पुत्र की इच्छानुसार उसकी दुकान करा दी। दूसरे पुत्र की इच्छानुरूप उसे कृषि योग्य भूमि प्रदान कर दी । तृतीय पुत्र ने विदेश में रहकर नौकरी करनी चाही, तो उसके लिए विदेश में नौकरी की व्यवस्था कर दी। सबसे छोटे पुत्र धनसागर से पिता ने उसकी इच्छा पूछी तो धनसागर ने कहा, पिता जी! मैं तो यही चाहता हूँ कि उज्जयिनी के राजसिंहासन पर बैठूं! यदि आप उज्जयिनी के राजसिंहासन का प्रबन्ध मेरे लिए कर सकें तो आपकी महती कृपा होगी।

धनसागर की आकाश-कुसुम के समान आकांक्षा को सुनकर पिता को बहुत क्रोध आया। उसने धनसागर को अपमानित और तिरस्कृत कर अपने घर से निकाल दिया। धनसागर मन्दबुद्धि तो था ही, सो पिता की डांट पर बिफर पड़ा और बोला, अब मैं घर तभी लौटूंगा, जब उज्जयिनी का राज्य प्राप्त कर लूंगा। घर से निकलकर वह दूर-देशों में भटकने लगा। किसी ने उसे बताया कि विद्यावान के लिए विश्व में कुछ भी दुर्लभ नहीं है। इस सोच को पल्ले बांधकर धनसागर किसी आचार्य की तलाश में जुट गया, जो उसे विद्या दान दे सके। भटकते-भटकते वह श्रीपुर नगर के तपोवन में पहुंचा, जहां उसने एक आचार्य को विद्यार्थियों को पढ़ाते देखा। धनसागर ने आचार्य से प्रार्थना की कि वे उसे विद्यादान दें। आचार्य ने उसके विनीत प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और उसकी पात्रता को देखकर उसे वर्णमाला का प्रथम अक्षर लिखकर दिया और कहा, यह तुम्हारा पहला सबक है। धनसागर पूरे मानस से उस सबक को सीखने में जुट गया। अहर्निश उस सबक को रटता, पर ज्ञानावरणीय कर्म के प्रबलतम उदय भाव के कारण वह उस एक अक्षर को भी स्मरण नहीं कर पाया। एक मास तक आचार्य उसे प्रथम अक्षर सिखाते रहे पर उसे वह अक्षर सिखा नहीं पाए। रुष्ट होकर आचार्य ने उसे वज्रमूर्ख कहकर गुरुकुल से बहिष्कृत कर दिया।

इससे धनसागर बहुत दुखी हुआ। उसने तपोवन के निकट ही स्थित सरस्वती के मंदिर में रहकर सरस्वती की आराधना प्रारंभ कर दी। उसकी आराधना की निष्ठा की पराकाष्ठा देखकर सरस्वती ने उस पर प्रसन्न होकर उसे चतुर्दश विद्याओं का पारगामी विद्वान होने का वरदान दे दिया। धनसागर की विनीतता और भक्ति पर आचार्य मुग्ध थे इसलिए उसे विनयचन्द नाम प्रदान किया था। विनयचन्द चौदह कलाओं का निधान बन चुका था। परन्तु गुरुकुल में इस भेद को कोई जान नहीं पाया था। गुरुकुल के छात्र और छात्राएं विनयचन्द को वज्रमूर्ख कहकर ही उसका उपहास करते थे।

उसी गुरुकुल में राजकुमारी सुहागसुंदरी और मंत्रीपुत्र लच्छीनिवास भी अध्ययन करते थे। राजकुमारी मंत्रीपुत्र से विवाह करना चाहती थी, पर राजभय से मंत्रीपुत्र को राजकुमारी का वैवाहिक प्रस्ताव स्वीकार नहीं था। आखिर एक दिन राजकुमारी ने मंत्रीपुत्र को इसके लिए विवश कर दिया और अपनी गुप्त योजना समझाते हुए उससे कहा, कल अमावस्या की रात है, तुम रात्रि में फलां मंदिर में पहुंच जाना। मैं प्रभूत धन और अश्व लेकर वहां आऊंगी और प्रभात होने से पूर्व ही हम श्रीपुर राज्य से पार हो जाएंगे। राजकुमारी के अतिशय दबाव से मंत्रीपुत्र ने मंदिर में मिलने का वचन दे दिया। संध्या घिरने लगी। मंत्रीपुत्र ने राजकुमारी को वचन तो दे दिया पर वह वैसा करने का साहस न जुटा सका। उसने विनयचंद को सब बात बताई और कहा कि यदि वह मंदिर में जाएगा तो उसे राजकुमारी से विवाह करने का सौभाग्य प्राप्त होगा। विनयचंद ने मंत्रीपुत्र का प्रस्ताव सहर्ष स्वीकार कर लिया। रात्रि में वह मंदिर में पहुंच गया। अमावस्या के घोर अंधेरे

में राजकुमारी उसे पहचान न सकी और दोनों ने देव-प्रतिमा के समक्ष शपथपूर्वक विवाह कर लिया। उसके बाद वे अलग-अलग अश्वों पर आरूढ़ होकर तीव्र गति से श्रीपुर की सीमा से दूर निकल गए। प्रभात का उजाला खिलने लगा तो राजकुमारी सुहागसुंदरी मंत्रीपुत्र के स्थान पर विनयचंद्र को देखकर सहम गई। वह विनयसुंदर की वज्रमूर्खता का सर्वाधिक उपहास किया करती थी और मन ही मन उससे घृणा किया करती थी। परन्तु भाग्य ने उसे ऐसा छला कि वह न आगे बढ़ सकती थी और न पीछे लौट सकती थी। आखिर वे आहड़पुर नामक नगर में पहुंचे। वहां एक सप्तमंजिला भवन खरीदा गया। राजकुमारी सबसे ऊपरी मंजिल में तथा विनयचंद्र सबसे नीचे की मंजिल में रहने लगा। राजकुमारी अब भी विनयचंद्र को वज्रमूर्ख मानती थी और उसका मुख तक नहीं देखना चाहती थी।

आहड़ नगर में विनयचंद्र ने पर्याप्त सुयश अर्जित किया। एक बार राजा एक महल का निर्माण करवा रहा था। नींव से एक ताम्रपत्र निकला। परन्तु उस पर अंकित शब्द किसी प्राचीन भाषा के थे और पूरे राज्य में कोई भी विद्वान उस भाषा को पढ़ नहीं सका। आखिर विनयचंद्र ने उस ताम्रपत्र को पढ़ा और बताया कि ताम्रपत्र के लेख के अनुसार नींव से सात हाथ की दूरी पर सोलह करोड़ मोहरें दबी हुई हैं। निर्देशित स्थान की खुदाई की गई तो सोलह करोड़ स्वर्णमुद्राएं वहां से प्राप्त हुईं। इस बात से राजा इतना हर्षित हुआ कि उसने विनयचंद्र को एक नवीन नाम प्रदान किया—विद्याविलास। साथ ही उसने उसे मंत्री-पद भी प्रदान किया। शनैः-शनैः विद्याविलास ने अपनी विद्या द्वारा राज्य की समृद्धि के लिए अनेक कार्य किए। राजा ने अपनी पुत्री सुरसुंदरी का विवाह विद्याविलास से कर दिया और राजसिंहासन भी उसे प्रदान कर स्वयं प्रव्रजित हो गया। शनैः-शनैः सुहागसुंदरी भी विद्याविलास की विद्वत्ता से परिचित हो गई और उसे अपनी पूर्वधारणा और पूर्व व्यवहार पर बहुत पश्चात्ताप हुआ। एक अन्य कुमारी से भी विद्याविलास का पाणिग्रहण हुआ। बाद में विद्याविलास विश्वस्त अनुचरों को आहड़पुर के राज्य का दायित्व देकर अपनी तीन पत्नियों के साथ श्रीपुर आया। श्रीपुर नरेश अपनी पुत्री और जामाता राजा से मिलकर गद्‌गद हो गया। उसके भी कोई पुत्र न था। फलतः उसने श्रीपुर का राजपाट विद्याविलास को प्रदान कर दिया और स्वयं मुनि बनकर साधना करने लगा।

श्रीपुर के राज्य को भी सुयोग्य मंत्रियों के व्यवस्थापन में रख कर विद्याविलास चतुरंगिणी सेना सजा कर उज्जयिनी पहुंचा। अपनी सीमा पर विशाल चतुरंगिणी सेना को देखकर उज्जयिनी नरेश का मन वैराग्य से पूर्ण बन गया। तश्तरी में राजमुकुट रखकर वह विद्याविलास के पास पहुंचा और अपना साम्राज्य उसे सौंपकर प्रव्रजित हो गया। उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठकर विद्याविलास (धनसागर) का बहुत पुराना स्वप्न साकार हुआ। उसने कुछ ही दिनों में प्रशासन तंत्र को चुस्त-दुरुस्त और पारदर्शी बनाकर रामराज्य की स्थापना कर दी। फिर एक दिन विद्याविलास ने अपने माता-पिता और भाइयों को राजदरबार में बुलाकर संक्षिप्त कौतूहल सृजित कर अपना परिचय दिया। पुत्र धनसागर को तीन-तीन साम्राज्यों का स्वामी देखकर माता-पिता निःशब्द आनंद में निमग्न हो गए। अग्रजों ने अनुज को गले से लगा लिया।

सुदीर्घ काल तक विद्याविलास ने सुशासन किया। उसके राज्य में निर्ग्रन्थ मुनियों का निरंतर विचरण होता था। उसने भी निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा की और श्रावक व्रत अंगीकार किए। अंतिम समय में समाधि-मरण प्राप्त कर वह बारहवें देवलोक का अधिकारी बना। —मलयहंस (देवदत्तगणि)

(ख) धनसागर

कौशाम्बी पुर नगर का एक धूर्त व्यापारी। (देखिए-सहस्रमल्ल)

(ग) धनसागर

हस्तिनापुर का नगर सेठ। (देखिए-भविष्यदत्त)

(क) धनसार

मथुरा नगरी का रहने वाला एक धनवान श्रेष्ठी। उसके कोष में बासठ करोड़ स्वर्ण मुद्राएं थीं। पर वह जितना धनी था, उतना ही कृपण भी था। लोग उसे कृपण सेठ के नाम से पुकारते थे। लक्ष्मी का वह ऐसा अन्ध-चाकर था कि उसका वह न स्वयं उपभोग करता था और न ही दान-पुण्य में उसका उपयोग कर पाता था।

एक बार सहसा धनसार का भाग्य पलटा और वह आकाश से रसातल में जा पहुंचा। उसके जहाज समुद्र में डूब गए, उसके सार्थ को लुटेरों ने लूट लिया, गोदाम अग्नि की भेंट चढ़ गए और कोष में रखा धन कोयलों में बदल गया। धनसार को उदरपोषण भी दुष्कर हो गया। आखिर मित्रों और पारिवारिकों से कर्ज लेकर उसने व्यापार के लिए समुद्र यात्रा की। पर भाग्य साथ न हो तो मनुष्य के सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। समुद्र में जहाज टूट गया और धनसार का सारा माल समुद्र के गर्भ में समा गया। धनसार एक लकड़ी के तख्ते के सहारे किनारे आ लगा। अपने भाग्य पर आंसू बहाता हुआ दिग्भ्रान्त होकर यत्र-तत्र भटकने लगा।

एक दिन सागर तट से कुछ दूरी पर स्थित एक उद्यान में धनसार पहुंचा। वहां एक केवली मुनि का समवसरण लगा था। धनसार ने मुनि की प्रदक्षिणा की और प्रवचन सुना। उसका हृदय कुछ शान्त हुआ। प्रवचनोपरान्त उसने मुनि से अपने जीवन के उतार-चढ़ाव के बारे में पूछा। मुनि ने उसे स्वकृत-कर्म का परिणाम बताया। धनसार की प्रार्थना पर मुनि ने उसका पूर्वभव सुनाया, जो इस प्रकार था—

धातकीखण्ड द्वीप की अम्बिका नामक नगरी में दो भाई रहते थे। बड़ा भाई दानपुण्य में अपने धन का उपयोग करता और सदाचारपूर्वक जीवन जीता था। उसका यश पूरे नगर में फैला था। छोटे भाई का स्वभाव बड़े भाई के स्वभाव से सर्वथा विपरीत था। वह ईर्ष्यालु और कृपण था। अपने बड़े भाई के यश को वह सहन नहीं कर सका और उसने राजा के कान भर दिए। राजा ने भी बिना कुछ सोचे बड़े भाई के सारे धन का अपहरण कर लिया। छोटे भाई के इस कृत्य पर रोष किए बिना ही बड़े भाई ने मुनिदीक्षा धारण कर ली और विशुद्ध संयम की आराधना कर वह प्रथम देवलोक में देव बना। बाद में छोटे भाई को नागरिकों का कोपभाजन बनना पड़ा। वह भी तापस धर्म में दीक्षित हो गया और अज्ञान तप कर असुर कुमार देव बना। असुर कुमार देव च्यवकर मथुरा में तुम्हारे रूप में उत्पन्न हुआ।

केवली मुनि ने कहा, धनसार! तुम्हारी कृपणता और ईर्ष्या का फल तुम्हें इस जन्म में प्राप्त हुआ है। तुमने भाई का धन हरण कराया, उसी के फलस्वरूप तुम्हारा धन नष्ट हुआ है।

धनसार ने पूछा, भगवन्! मेरे अग्रज के विषय में भी आगे बताने की कृपा करें। मुनि ने फरमाया, तुम्हारा अग्रज प्रथम देवलोक से च्यवकर ताम्रलिप्ति नगरी के एक श्रेष्ठी कुल में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। कुछ काल तक सुख-सम्पत्ति का उपभोग कर वह श्रेष्ठीपुत्र सांसारिक मोह से उपरत हुआ और प्रव्रजित हो गया। उत्कृष्ट चारित्र की आराधना से उसने केवलज्ञान प्राप्त किया। हे धनसार! मैं ही पूर्वभव का तुम्हारा अग्रज हूँ।

धनसार मुनि के वचन सुनकर और कर्मगति की विचित्रता सुनकर चकित रह गया। उसके भाव विशुद्धतर बन गए। उसने मुनि से श्रावकधर्म अंगीकार किया और प्राणपण से उसका पालन भी किया।

कालान्तर में धनसार अपने धर्म पर इतना सुदृढ़ हुआ कि देवता भी उसे विचलित नहीं कर पाए। उसे उसकी खोई हुई समृद्धि भी प्राप्त हो गई। विशुद्ध श्रावकधर्म का आराधन कर वह देवलोक में गया और अनुक्रम से सिद्धि प्राप्त करेगा।

(ख) धनसार

प्रतिष्ठानपुर नगरवासी एक सेठ। (देखिए-धन्य जी)

(क) धनसेठ

कंचनपुर नगर का एक समृद्ध श्रेष्ठी, जिसके पास निन्यानवे लाख स्वर्णमुद्राओं की सम्पत्ति थी। जीवन के पूर्वार्द्ध पक्ष में धनसेठ इसी प्रयास में लगा रहा कि उसके पास सौ लाख स्वर्णमुद्राएं हो जाएं, और वह कोटीश्वर सेठ बन जाए। उसके लिए उसने अनेक उपक्रम किए। व्यापार को फैलाया, विदेश यात्राएं कीं, तांत्रिकों-मांत्रिकों की शरण ली, धूर्तकलाओं का आश्रय लिया, जो भी वह कर सकता था, उसने किया, पर वह कोटीश्वर नहीं बन सका। कोटीश्वर बनने की धुन उसके मस्तिष्क पर इस कदर हावी थी कि वह एक बार एक धूर्त तांत्रिक के जाल में फंस गया। तांत्रिक धन सेठ को अगम्य पर्वत गुफा में ले गया। वहां सिद्धरस का कूप था। योगी ने धन सेठ को रस्सी के सहारे कूप में उतार दिया। सेठ रस की कुप्पी भर लाया। तांत्रिक ने रस कुप्पी तो ले ली पर सेठ को उसी कूप में धकेल दिया। धन सेठ मृत्यु के कगार पर पहुंच गया। पुण्य योग से वह कूप से निकला और पर्वत गुफा से बाहर आया। वहां चोरों ने उसे बन्दी बना लिया। बाद में उसे रक्त व्यापारियों के हाथों बेच दिया। रक्त व्यापारी छह मास तक धन सेठ को अच्छे-अच्छे पदार्थ खिलाते और जब वह बलिष्ठ और स्थूलकाय बन जाता तो उसकी नस काटकर उसका रक्त निचोड़ लेते। कई वर्षों तक धन सेठ इस दारुण वेदना को भोगता रहा। एक बार ज्यादा रक्त निकाल लिए जाने के कारण धन सेठ अचेत हो गया। रक्त-व्यापारियों ने उसको खुले आसमान के नीचे धूप में डाल दिया। एक भारण्ड पक्षी धनसेठ को अपने पंजों में दबा कर उड़ चला। एक अन्य भारण्ड पक्षी मांस के लोभ में उस भारण्ड से भिड़ गया। दोनों पक्षी लड़ रहे थे। पंजों की पकड़ ढीली हो जाने से धन सेठ नीचे गिर पड़ा। वह घास के पूलों पर गिरा, जिससे उसके प्राण बच गए। वहां से किसी तरह वह अपने घर पहुंच गया। अपनी स्थिति पर उसे घोर आत्मग्लानि हो रही थी। उन्हीं दिनों में उसे एक मुनि के दर्शन हुए। मुनि का उपदेश सुनकर धनसेठ के विचारों में परिवर्तन आ गया। उसने कोटीश्वर बनने की लालसा का परित्याग कर दिया। उसने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किए और विशेष रूप से इच्छा परिमाण व्रत धारण किया।

श्रावक धर्म अंगीकार कर लेने के पश्चात् धनसेठ के जीवन में पूरी तरह रूपान्तरण हो गया। कोटीश्वर बनने के लिए उसके हृदय में जितनी उमंग थी, उतनी ही उमंग व्रत पालन में हो गई। धर्म के फलस्वरूप उसके धन में आशातीत वृद्धि होने लगी । परन्तु मर्यादा से अतिरिक्त धन को वह जरूरतमंदों में बांट देता। उसने कई दान-शालाएं खुलवाईं, उपाश्रय बनवाए और पंथागारों का निर्माण कराया। उसकी दृढ़धर्मिता से चारों दिशाओं में उसका सुयश वर्धमान हो गया।

एक बार देश में द्वादशवर्षीय दुष्काल पड़ा। लोग अन्न के कण-कण के लिए तरस गए। उस समय शासन रक्षक देवों ने धनसेठ के कोठारों को अक्षय धन-धान्य से भर दिया। धनसेठ ने कल्पवृक्ष बनकर प्रजा का पालन किया। राजा ने धन सेठ को कोषाध्यक्ष बनाना चाहा। पर धनसेठ ने राजा के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इस पर राजा नाराज हो गया। उसने सेठ को दण्ड का भय दिखाया। धनसेठ नियम भंग के

स्थान पर मृत्यु का वरण श्रेयस्कर मानता था। धनसेठ ने चिन्तन किया, श्रमण जन धन्य हैं, जो समस्त सांसारिक बंधनों, आदेशों और निर्देशों से मुक्त हैं। उसके इस चिन्तन से आकर्षित होकर शासन सहायक देवों ने उपस्थित होकर उसे मुनिवेश प्रदान किया। धनसेठ ने मुनिव्रत अंगीकार कर लिए। इस चमत्कार से राजा और प्रजा चमत्कृत हो गए। राजा ने धन मुनि के चरणों पर लेट कर अपने कटु वचनों के लिए क्षमा मांगी।

धन मुनि समता की साधना में तल्लीन हो गए। उत्कृष्ट तप की आराधना और निरतिचार संयम की परिपालना से केवलज्ञान प्राप्त कर धन मुनि सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गए।

—जैन कथा रत्न कोष, भाग 6 / श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र (रत्नशेखर सूरिकृत)

(ख) धनसेठ

उज्जयिनी के कोटीश्वर श्रेष्ठी। उनके पुत्र का नाम अयवंती सुकुमाल था। (देखिए-अयवंती सुकुमाल)

(ग) धनसेठ

अवन्ती नगरी का एक धनी सेठ। (देखिए-अतूंकारी भट्टा)

(क) धनावह

कौशाम्बी का एक धर्मनिष्ठ जैन श्रावक। उसने राजकुमारी चन्दनबाला को गणिकाओं के चंगुल से पच्चीस लाख स्वर्णमुद्राएं व्यय कर मुक्त कराया था। (देखिए-चन्दनबाला)

(ख) धनावह

(देखिए-विजय-विजया)

धनेश्वर सूरि (आचार्य)

राजगच्छ के एक विद्वान आचार्य। आचार्य धनेश्वर सूरि मुनिधर्म में प्रव्रजित होने से पूर्व त्रिभुवनगिरि नामक राज्य के राजा थे। गृहवास में उनका नाम कर्दमराज था। एक बार कर्दम राजा के शरीर पर विषैले फफोले निकल आए। फफोलों से तीव्र जलन उत्पन्न होती थी। कर्दमराज को पल भर के लिए भी शान्ति प्राप्त नहीं होती थी। अनेक उपचार कराए गए, पर सभी निष्फल सिद्ध हुए।

नगरी में राजगच्छ के आचार्य तर्क पंचानन अभयदेव सूरि का पदार्पण हुआ। राजा मुनि दर्शन के लिए उपस्थित हुआ। आचार्य श्री की सन्निधि में बैठने पर उसे कुछ-कुछ शान्ति का अनुभव हुआ। उसने विचार किया, मुनि के निकट आने मात्र से उसे दैहिक और मानसिक शान्ति का अनुभव हुआ है, यदि वह स्थायी रूप से आचार्य श्री के निकट रहे तो निश्चित ही उसे महालाभ होगा। राजा ने प्रासुक जल से आचार्य श्री के चरण धोकर चरणोदक ग्रहण कर उसका पान किया और शेष चरणोदक को अपने शरीर पर छिड़का। वैसा करने से क्षण भर में ही उसकी व्याधि शान्त हो गई। राजा अतिशय प्रभावित हुआ और राजपाट का परित्याग कर आचार्य अभयदेव के पास दीक्षित हो गया। आचार्य अभयदेव ने राजर्षि कर्दमराज को नवीन नाम 'धनेश्वर' प्रदान किया।

कालक्रम से धनेश्वर मुनि की आचार्य पद पर नियुक्ति हुई। राजर्षि धनेश्वर सूरि अपने युग के महाप्रभावी आचार्य हुए। कई राजा उनके भक्त बने। चित्तौड़ के अठारह हजार ब्राह्मणों ने आचार्य धनेश्वर के प्रवचन से प्रतिबोधित होकर जैनधर्म अंगीकार किया था।

आचार्य धनेश्वर सूरि के अनेक शिष्य थे। उन्होंने अपने 18 विद्वान शिष्यों की आचार्य पाट पर नियुक्ति की, जिनसे 18 शाखाएं प्रचलित हुईं।

राजगच्छ में आचार्य धनेश्वर सूरि की पट्टपरम्परा में आचार्य अजित सिंह सूरि, और उनके पश्चात् आचार्य वर्द्धमान सूरि जैसे प्रख्यात विद्वान जैन आचार्य हुए।

धन्नाशाह

रणकपुर के आदिनाथ भगवान के अद्वितीय कलात्मक मंदिर का निर्माण श्रेष्ठिवर्य धन्नाशाह ने कराया था। धन्नाशाह चितौड़ के महाराणा कुम्भा के प्रियपात्र थे। महाराणा कुम्भा ने भी इस मन्दिर निर्माण में राजकोष से 12 लाख स्वर्णमुद्राएं दानस्वरूप दी थीं। 1444 स्तंभों पर निर्मित इस अतिभव्य जिनालय के निर्माण में 90 लाख स्वर्णमुद्राओं का व्यय हुआ, जिसका वहन धन्नाशाह ने किया। धन्नाशाह के जीवनकाल में मंदिर का निर्माण कार्य पूर्ण नहीं हो पाया। उनके पुत्र रत्नाशाह ने इसे पूरा किया। यह 65 वर्ष में बनकर पूर्ण हुआ।

धन्नाशाह परमजिनभक्त श्रावक थे। जैन धर्म और जिनभक्ति की सुरभि से उनका जीवन सुरभित था।

(क) धन्ना सार्थवाह

जम्बूद्वीप के अपर महाविदेह के नगर क्षितिप्रतिष्ठ का रहने वाला एक सरल परिणामी और धनाढ्य सार्थवाह। एक बार उसने हजारों लोगों के सार्थ के साथ वसन्तपुर नगर में व्यापार करने के लिए प्रस्थान किया। वसन्तपुर का मार्ग लम्बा और विकट था। धन्ना की अनुमति प्राप्त कर जैनाचार्य धर्मघोष ने भी अपनी शिष्यमण्डली सहित सार्थ के साथ-साथ वसन्तपुर के लिए विहार किया। मार्ग में धन्ना सार्थवाह शुद्ध व प्रासुक आहार-पानी मुनिमण्डल को बहराता और मन में प्रसन्नता का अनुभव करता। इस प्रकार उसकी मनोभूमि उर्वर बन गई।

मार्ग लम्बा था। मध्यमार्ग में ही वर्षाऋतु प्रारंभ हो गई। वर्षाऋतु में यात्रा को जारी रखना संभव नहीं था। धन्ना ने उचित स्थान देखकर वर्षा के चार मास वहीं बिताने के लिए सार्थ में घोषणा करा दी। निकट ही एक पर्वत गुफा में मुनिमण्डल भी ठहर गया।

वर्षा का वेग प्रतिदिन बढ़ता गया। वर्षा का यह क्रम काफी लम्बा चला। सार्थ के पास जो खाद्य सामग्री थी, वह भी अल्प मात्रा में शेष रह गई। लोग फल-फूल खाकर उदर-पोषण करने लगे।

एक दिन आत्मचिन्तन में रत धन्ना को मुनिमण्डल का ध्यान आया। वह एकाएक सहम गया कि उसने मुनियों के आहार-पानी का ध्यान ही नहीं रखा। वह मुनियों के निवास का पता लगाकर पर्वतगुफा में पहुंचा और हार्दिक खेद प्रगट करते हुए अपनी भूल के लिए उसने मुनियों से क्षमा मांगी। आचार्य धर्मघोष ने धन्ना को आश्वस्त किया और फरमाया, मुनि आहार प्राप्ति पर अनासक्त चित्त से उसे ग्रहण करता है और न मिलने पर तपस्या का सुअवसर जानकर आनन्दित बनता है। वह प्रत्येक स्थिति में आनन्दित रहता है।

धन्ना ने आचार्य श्री से आहार के लिए प्रार्थना की। आचार्य श्री धन्ना के कुटीर पर पधारे। संयोग से उस समय घी के अतिरिक्त अन्य कोई पदार्थ कल्पनीय नहीं था। भावों से भरे हृदय से धन्ना ने आचार्य श्री को घी का दान दिया। उस समय धन्ना के भाव इतने उत्कृष्ट थे कि उसकी आत्मा में सम्यक्त्व का प्रथम

प्रकाश उतर आया। सम्यक्त्व का यही प्रकाश उनके भावी जीवन का आधार बना। अर्थात् यही धन्ना सम्यक्त्व के उस प्रकाश के बल पर ही कई जन्मों के बाद ऋषभदेव के रूप में भारत भू पर जन्मे। ऋषभदेव जो वर्तमान अवसर्पिणी के प्रथम तीर्थंकर थे, और जो वर्तमान मानवीय सभ्यता के आदि पुरुषरत्न माने जाते हैं।

अस्तु ! धन्ना की धर्मश्रद्धा बढ़ती गई। वह जैन मुनियों का अनन्य उपासक बन गया। सम्यक्त्व-स्नात जीवन जी कर और आयुष्य पूर्ण कर धन्ना उत्तर-कुरु भोग भूमि में मनुष्य बना और वहां से आयुष्य पूर्ण कर सौधर्म देवलोक का अधिकारी बना। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित/उसह चरियं (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति)

(ख) धन्ना सार्थवाह

इस नाम के अनेक चरित्र जैन साहित्य में वर्णित हैं। विवेचित धन्ना राजगृह के निवासी थे। उनके चार पुत्र और चार ही पुत्रवधुएं थीं। वह एक कुशल और बुद्धिमान गृहस्थ था। इस विचार से कि उसका परिवार भविष्य में भी नित-नूतन उन्नति और प्रगति करता रहे, उसने गृहदायित्व सौंपने से पूर्व अपनी पुत्र-वधुओं की परीक्षा ली। उज्झिता, भोगवती, रक्षिता और रोहिणी नाम वाली अपनी चारों पुत्रवधुओं को पांच-पांच अक्षत धान देकर उसने कहा कि जब उसे जरूरत होगी, वह इन्हें मांग लेगा। प्रथम पुत्रवधू ने श्वसुर को सठिया गए समझकर उन धानों को फैंक दिया। दूसरी ने श्वसुर का प्रसाद समझकर उनका भोग लगा लिया। तीसरी ने संभाल कर रख लिए और अन्तिम—रोहिणी ने विश्वस्त सेवकों द्वारा उन पांच धानों की खेती कराई ।

करीब पांच वर्षों के पश्चात् धन्ना ने जब चारों पुत्रवधुओं को बुलाकर दिए हुए धान मांगे तो प्रथम और द्वितीय पुत्रवधू के उत्तर से वह उदास हो गया। तृतीय से पांच धान पुनः प्राप्त कर वह सन्तुष्ट हुआ। चतुर्थ से धान मांगे तो, रोहिणी ने सेवकों को आदेश देकर कई गाड़ी धान मंगाए और कहा कि ये सब धान उन पांच धानों से उत्पन्न हुए हैं। इससे धन्ना गद्‌गद हो गया और उसने गृहकार्यों के दायित्व का विभाजन करते हुए उज्झिता को घर की सफाई का दायित्व दिया, भोगवती को रसोई का, रक्षिता को धन-धान्य के कोठारों की रक्षा का तथा रोहिणी को गृहस्वामिनी का दायित्व प्रदान किया। इससे धन्ना की दूरदर्शिता और व्यावहारिक समझ की चहुं ओर प्रशस्तियां कही गईं। —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र

धन्ना सेठ

राजगृह का एक श्रीमन्त श्रेष्ठी।(देखिए-चिलातीपुत्र)

धन्य अणगार

अनुत्तरोपपातिक सूत्र में धन्ना अणगार का विस्तृत चरित्र उपलब्ध होता है। सूत्र के अनुसार धन्य काकंदी नगरी की रहने वाली भद्रा सेठानी का पुत्र था। यौवनवय में बत्तीस रूपवान कन्याओं के साथ उसका विवाह किया गया। अपार सम्पत्ति और दुर्लभ भोगों को भोगता हुआ कुमार जीवन यापन कर रहा था। उन्हीं दिनों पुण्य योग से भगवान महावीर काकंदी नगरी में पधारे। भगवान के उपदेश से प्रतिबुद्ध बनकर कुमार दीक्षा लेने को प्रस्तुत हुआ। माता और पत्नियों की अनुमति लेकर वह प्रव्रजित बन गया। दीक्षा लेते ही धन्य अणगार ने आजीवन बेले-बेले तप करने का संकल्प लिया। साथ ही निश्चय किया कि बेले के पारणे पर आयम्बिल किया जाएगा। वे दिन में एक बार एक धान और पानी लेते। वह धान भी ऐसा कि जिसे भूख से बेहाल भिखारी भी न खाए, ऐसा अरस और विरस। ऐसी क्लिष्ट तपस्या से मुनि के शरीर का

रक्त और मांस सूख गया। वे हड्डियों का ढांचा मात्र शेष रह गए। बोलना तो दूर, बोलने के विचार मात्र से उन्हें कष्ट होता था।

उसी अवधि में भगवान महावीर राजगृह पधारे तो महाराज श्रेणिक प्रभु के दर्शनार्थ आया। वार्ता के संदर्भ में उसने भगवान से उनके संघ में सर्वश्रेष्ठ करणी करने वाले मुनि का नाम जानने की जिज्ञासा रखी। भगवान ने धन्य अणगार को सर्वोत्कृष्ट करणी करने वाला मुनि बताया और उनके उत्कृष्ट तप की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

भगवान की बात सुनकर श्रेणिक धन्य अणगार के पास पहुंचा। उसने मुनि को भगवान द्वारा की गई उनकी प्रशंसा के बारे में बताया और श्रद्धावनत हो पुनः पुनः उन्हें वन्दन करने लगा।

देह को भारस्वरूप जानकर धन्ना अणगार प्रभु की आज्ञा लेकर विपुलगिरि पर्वत पर गए और संलेखना के साथ शरीर त्याग कर सर्वार्थसिद्ध विमान के अधिकारी बने। वहां से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष जाएंगे।

मात्र नौ मास की साधना से धन्ना अणगार सिद्धि के द्वार पर पहुंच गए। —अनुत्तरोपपातिक सूत्र

धन्य जी

एक परमपुण्यशाली पुरुषरत्न। वह महान बुद्धिमान, अति सज्जन और स्वाभिमान का धनी युवक था। उसके जन्म लेते ही उसकी पुण्य प्रकृति खिल उठी थी। प्रतिष्ठानपुर निवासी धनसार सेठ उसका पिता था। धनदत्त, धनदेव और धनचन्द उसके तीन बड़े भाई थे, जो ईर्ष्यालु, झगड़ालु और अपुण्यात्मा थे। इन तीनों के क्रमशः जन्म लेने से सेठ धनसार का धन, ऐश्वर्य और सम्मान खो गया था। पर धन्य जी के जन्म लेते ही जब नाल दबाने के लिए जमीन खोदी गई तो वहां से मोहरों से भरे हुए घड़े निकले, जो धन्य जी के पुण्य के प्रतीक थे। पिता की समृद्धि शीघ्र ही लौट आई। सम्मान भी बढ़ा। ऐसे में सेठ का अनुराग धन्य जी के प्रति बढ़ना स्वाभाविक था। इससे शेष तीनों भाई धन्य जी से ईर्ष्या करने लगे और अन्ततः उनकी ईर्ष्या इतनी प्रबल बन गई कि वे धन्य को मारने की योजनाएं बनाने लगे।

सहोदरों के सुख के लिए एक रात्रि में धन्य घर छोड़कर निकल गए और उज्जयिनी नगरी पहुंचकर वहां अपने बुद्धिबल से महाराज चण्डप्रद्योत के मंत्री बन गए। धन्य के चले जाने से धनसार पुनः कंगाल हो गया। अपने पुत्रों और पुत्रवधुओं के साथ भटकता हुआ संयोग से उज्जयिनी नगरी में ही पहुंच गया। वहां इनकी धन्य जी से भेंट हो गई। धन्य जी ने इनको पूरे सम्मान और स्नेह से अपने साथ रख लिया। पर ईर्ष्यालु भाइयों की ईर्ष्या यहां भी समाप्त न हुई । वे धन्य जी से हिस्सा मांगने लगे। धन्य जी पुनः एक रात्रि में घर से निकल गए। मार्ग में उनके शील से चमत्कृत गंगादेवी ने उन्हें चिन्तामणि रत्न प्रदान किया। उसे लेकर वे राजगृह पहुंचे। सेठ कुसुमपाल के सूखे बगीचे में उन्होंने विश्राम किया। उनके पुण्य प्रभाव से बगीचा हरा-भरा हो गया। प्रसन्न होकर सेठ ने अपनी पुत्री कुसुमश्री का विवाह धन्य जी से कर दिया। उन्हीं दिनों राजा श्रेणिक का सिंचानक हाथी उन्मत्त हो गया और बाजारों मे उत्पात मचाने लगा। धन्य जी ने सिंचानक हाथी को वश में कर लिया । राजा ने खुश होकर धन्य जी का पाणिग्रहण अपनी पुत्री सोमश्री से कर दिया। कुछ ही दिन बाद धन्य जी ने एक काने ठग से गोभद्र सेठ की प्रतिष्ठा और धन की रक्षा की तो सेठ ने गद्‌गद होकर उनसे अपनी इकलौती पुत्री सुभद्रा का विवाह कर दिया। तीन पत्नियों के साथ धन्यजी सुख से समय बिता रहे थे। उधर राजा चण्डप्रद्योत ने धनसार और उसके पुत्रों को इसलिए अपने नगर से निकाल दिया कि उनके कारण उसे एक बुद्धिमान मंत्री खोना पड़ा।

यह परिवार भटकता हुआ संयोगवश राजगृह पहुंचा। इस बार भी धन्य ने इन्हें पूरे प्यार से रख लिया। पर दुष्ट अपनी दुष्टता भला कहां छोड़ने वाले थे! धन्य को राजगृह नगरी भी छोड़नी पड़ी। वे कौशाम्बी नगरी पहुंचे और वहां रत्नों की सफल परीक्षा कर उन्होंने शतानीक राजा का मन मोह लिया। राजा ने धन्य जी को अपनी पुत्री सौभाग्यमंजरी तो दी ही, साथ ही पांच सौ ग्रामों की जागीर भी दी । वहां पर धनपुर नगर बसाकर धन्यजी रहने लगे। उनका परिवार यहां पर भी दीन-दरिद्रावस्था में आ पहुंचा। धन्य जी ने सारी संपत्ति और जागीर अपने भाइयों को दे दी और पुनः राजगृह में आकर रहने लगे। चार अन्य युवतियों के उनसे विवाह हुए।

समृद्धि के शिखर पर विहरण करते हुए धन्य जी एक दिन स्नान कर रहे थे । उनकी आठों पत्नियां उन्हें स्नान करा रही थीं। सहसा उन्होंने सुभद्रा की आंखों में आंसू देखे। कारण पूछने पर सुभद्रा ने बताया कि उसका इकलौता भाई शालिभद्र अपनी बत्तीस पत्नियों को एक-एक दिन में एक-एक को समझा व त्यागकर तेंतीसवें दिन दीक्षा ले लेगा। इससे उसका पीहर तो सूना ही हो जाएगा।

धन्य जी ने इस बात को हास्य का पुट देते हुए कह दिया कि उसका भाई तो कायर है। उसे संयम लेना है तो बत्तीस दिन की प्रतीक्षा कैसी? वह तो ढोंग कर रहा है। सुभद्रा इस हास्य को सह न पाई। उसने धन्य जी को कायर कहते हुए व्यंग्य किया और कहा कि कायर उसका भाई नहीं, वे स्वयं हैं, जो आठ-आठ पत्नियों से चिपके हुए हैं। सुभद्रा की बात ने धन्य जी के आत्म पुरुषार्थ को झिंझोड़कर जगा डाला। वे अर्ध-स्नान की अवस्था में ही खड़े हो गए और आठों पत्नियों को बहिन का दर्जा देकर शालिभद्र को साथ लेकर भगवान के पास जाकर दीक्षित हो गए।

धन्य जी ने प्रकृष्ट तप और निरतिचार संयम की परिपालना कर क्षपक श्रेणी चढ़कर केवलज्ञान प्राप्त किया और वे मोक्ष में जा विराजे। —स्थानांग वृत्ति, 10

(क) धन्य सार्थवाह

धन्य चम्पानगरी का रहने वाला एक धनी सार्थवाह था। उसके पास विपुल धन-धान्यादि सम्पत्ति और अनेक सेवक थे। देश और विदेशों में उसका व्यवसाय फैला हुआ था।

एक बार धन्य सार्थवाह ने व्यापार के लिए अहिच्छत्रा नगरी जाने का संकल्प किया। उसने नगर में घोषणा कराई कि जो भी व्यापारी अहिच्छत्रा नगरी जाना चाहता है, वह उसके सार्थ के साथ जा सकता है। ऐसे किसी भी व्यक्ति के मार्गव्यय एवं सुख-दुखादि का पूरा विचार वह स्वयं निर्वहन करेगा। धन्य सार्थवाह की उक्त घोषणा को सुनकर कई व्यापारी उसके सार्थ के साथ हो लिए। सुनिश्चित समय पर धन्य के नेतृत्व में विशाल सार्थ ने अहिच्छत्रा नगरी के लिए प्रस्थान किया। कुछ दिनों की यात्रा के पश्चात् सार्थ चंपानगरी की सीमा पर पहुंच गया। तब धन्य सार्थवाह ने अपने सेवकों को बुलाकर कहा, आप लोग सार्थ के प्रत्येक व्यक्ति को जाकर सूचित करो कि यहां से आगे एक विशाल और विकट अटवी का प्रारंभ होगा। उस अटवी में साधारणतः लोगों का आवागमन नहीं होता है। अटवी में जहां नाना प्रकार के वृक्ष हैं, वहीं वहां पर नन्दीफल नामक वृक्ष भी हैं। वे वृक्ष और उनके फल देखने में सुंदर और खाने में मधुर हैं, पर वस्तुतः वे विषफल हैं। उन्हें खाते ही व्यक्ति प्राणहीन हो जाता है। अतः आत्म-कुशलता के इच्छुक व्यक्तियों को उन वृक्षों की छाया मात्र से भी दूर रहना चाहिए।

धन्य सार्थवाह ने अपने सेवकों द्वारा उक्त घोषणा पूरे सार्थ में दो-तीन बार करवा दी।

दूसरे दिन से विकट अटवी की यात्रा प्रारंभ हो गई। यात्रा चलती रही। मध्य अटवी में नन्दीफल वृक्षों की बहुतायत थी। नन्दीफल वृक्षों की सघन छाया देखकर कुछ लोग उनके निकट जाने का लोभ संवरण न कर सके। नंदीफल वृक्षों पर लगे फल अत्यंत सुन्दर और मधुर प्रतीत हो रहे थे। अतः कुछ लोग रसास्वाद के वश होकर उन फलों को खाने लगे। कुछ क्षण के लिए तो आनन्दानुभूति हुई, पर शीघ्र ही उनके शरीरों में विष फैल गया और वे अकाल काल के ग्रास बन गए। कुछ लोगों ने धन्य के वचनों पर दृढ़ विश्वास रखा और वे नन्दीफल वृक्षों की छाया से भी दूर रहे। शनैः शनैः उन्होंने सकुशल अटवी को पार कर लिया और वे अहिच्छत्रा नगरी में पहुंच गए।

धन्य सार्थवाह और साथी व्यापारियों ने अहिच्छत्रा नगरी में व्यापार किया और आशातीत लाभ अर्जित कर यथासमय अपनी नगरी में लौट आए। चम्पानरेश ने धन्य सार्थवाह का विशेष स्वागत किया। धन्य ने भी मूल्यवान भेंट अर्पित कर राजा को प्रसन्न किया।

कालान्तर में मुनि-उपदेश श्रवण कर धन्य सार्थवाह प्रव्रजित हुआ और संयम की आराधना द्वारा स्वर्ग का अधिकारी बना। भविष्य में देवलोक से च्यव कर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और वहां से मोक्ष में जाएगा।

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र में वर्णित इस कथा का कथ्य इस प्रकार है—धन्यसार्थवाह तीर्थंकर देव के तुल्य है। विशाल सार्थ चतुर्विध संघ तुल्य है। विकट अटवी के नंदीफल सांसारिक विषय भोगों के प्रतीक हैं। जो साधक तीर्थंकर देव की आज्ञा पर अनास्था कर विषय भोगों के उपभोग में लीन हो जाते हैं, वे जन्म-मरण रूप संसार में खो जाते हैं। इसके विपरीत जो साधक तीर्थंकर देव की आज्ञा का श्रद्धापूर्वक पालन करते हुए विषय-भोगों की कामना मात्र से भी दूर रहते हैं, वे विकट अटवी रूप संसार को पार कर मोक्ष रूप मंजिल को प्राप्त कर परम आनंद से पूर्ण हो जाते हैं। —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अध्ययन 15

(ख) धन्य सार्थवाह

राजगृह नगर का एक सम्पन्न गृहस्थ। धन्य के पास धन-सम्पत्ति की तो कमी नहीं थी, पर वह निःसंतान होने से स्वयं को विपन्न ही मानता था। उसकी पत्नी भद्रा पुत्र-प्राप्ति के लिए नित्य देवपूजन किया करती थी। संयोग से अधेड़ावस्था में उसे एक पुत्र हुआ, जिसे देवताओं का प्रसाद मानकर देवदत्त नाम दिया गया। धन्य सार्थवाह ने पंथक नामक दासी-पुत्र को देवदत्त को खेलाने और घुमाने का दायित्व सौंप दिया।

एक बार पंथक देवदत्त को खेलाने के लिए घर से दूर निकल गया और बालक को एक स्थान पर बैठाकर स्वयं अन्य बालकों के साथ खेल में तल्लीन हो गया। उधर विजय नामक एक क्रूर चोर की दृष्टि देवदत्त बालक के शरीर पर रहे हुए कीमती आभूषणों पर पड़ी। अवसर साधकर विजय चोर ने शिशु देवदत्त का अपहरण कर लिया। अपनी चादर में शिशु को छिपाकर वह नगर के बाहर स्थित जीर्ण उद्यान में एक पुराने कुएं पर गया। उसने शिशु के आभूषण उतार लिए और उसकी हत्या कर शव कुएं में फैंक दिया। दनन्तर वह वहीं एक सघन झाड़ी में छिप गया।

देवदत्त के अपहरण की सूचना शीघ्र ही धन्य सार्थवाह को प्राप्त हो गई। त्वरित खोजबीन से बालक का शव कुएं से प्राप्त कर लिया गया और विजय चोर को भी पकड़ लिया गया। सैनिकों ने उसकी कोड़ों से पिटाई की और नगर-भर में घुमाकर हथकड़ियों-बेड़ियों में जकड़कर उसे कारागृह में डाल दिया।

उधर कुछ समय पश्चात् किसी ईर्ष्यालु ने धन्य सार्थवाह के विरुद्ध राजा के कान भर दिए और कथित

राजदोष के कारण उसे भी कारागार में डाल दिया गया। संयोग से उसे विजय चोर की कोठरी में ही रखा गया और विजय चोर के साथ ही संयुक्त हथकड़ियां-बेड़ियां उसे पहनाई गई। धन्य के लिए यह घोर आत्मग्लानि का कारण रहा, पर वह विवश था, सो पुत्रहंता के साथ ही उसे रहना पड़ा।

भद्रा ने सेवक के हाथ पति के लिए भोजन भेजा। धन्य भोजन करने लगा तो क्षुधातुर विजय चोर ने उससे भोजन की याचना की। धन्य ने घृणापूर्वक उसे भोजन देने से इंकार कर दिया। कुछ समय बाद धन्य को शौच की शंका हुई। वह विजय चोर के साथ संयुक्त बंधन से बंधा था, अतः उसके सहयोग के बिना शौच-स्थल तक जाना संभव न था। उसने विजय चोर से शौच-स्थल तक चलने को कहा। विजय चोर ने उसका सहयोग करने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। आखिर सेठ द्वारा उसे भोजन का भाग देने का आश्वासन दिए जाने पर उसने सेठ का सहयोग किया।

दूसरे दिन धन्य सार्थवाह ने आत्मग्लानि को छिपाते हुए पुत्रहंता चोर को अपने भोजन का भाग दिया। भद्रा को इस बात की सूचना मिली तो वह पति से रुष्ट हो गई।

धन्य के परिजनों द्वारा राजकोष में अपेक्षित धन जमा करा देने पर धन्य को मुक्त कर दिया गया। सभी ने धन्य का स्वागत किया, पर भद्रा ने उसका स्वागत नहीं किया। वस्तुस्थिति से परिचित होकर धन्य ने अपनी विवशता की कथा भद्रा को सुनाई। आखिर भद्रा समझ गई कि कभी-कभी आवश्यकता की संपूर्ति के लिए शत्रु का भी सहयोग करना पड़ता है। उसने अपनी भूल के लिए पति से क्षमा मांगी।

धन्य सार्थवाह श्रमणों के उपदेश से संसार की असारता को पहचानकर श्रमण धर्म में दीक्षित हो गया और संयम की आराधना द्वारा देवलोक का अधिकारी बना।

सार्थवाह कालक्रम से देवलोक से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और वहां विशुद्ध चारित्र पालकर सिद्ध होगा। —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, अध्ययन 2

(क) धन्या

सुरादेव श्रमणोपासक की धर्मपत्नी। (देखिए-सुरादेव श्रमणोपासक)

(ख) धन्या

राजगृह के निकटवर्ती ग्राम में रहने वाली एक निर्धन ग्वालिन, संगम की माता। शालिभद्र के भव में जब संगम मुनि बना तो उसे भिक्षा के लिए आते हुए देखकर उस वृद्धा का अंग-अंग पुलकित हो गया और उसके स्तनों से दुग्ध धार बह चली । उसने अपने अपहचाने पुत्र को दुग्धाहार बहराया। बाद में भगवान महावीर ने शालिभद्र को स्पष्ट किया कि वह उसके पूर्वभव की माता है। (देखिए-संगम)

धन्वंतरी वैद्य

प्राचीनकालीन विजयपुर नगर निवासी एक वैद्य। (देखिए-उम्बरदत्त)

धम्मिल

कुशाग्रपुर नगर के श्रेष्ठी सुरेन्द्रदत्त का पुत्र। धम्मिल सर्वांग सुन्दर, बल-बुद्धि सम्पन्न और पुरुष की बहत्तर कलाओं में निष्णात था। यौवनावस्था में प्रवेश करने के बाद भी उसके हृदय में सांसारिक भोगोपभोगों के प्रति अरुचि थी। पिता सुरेन्द्रदत्त ने धम्मिल का विवाह यशोमती नामक श्रेष्ठीकन्या से किया। पर भोगों में अरुचि होने के कारण धम्मिल पत्नी से दूर ही रहता था। पिता ने इस रहस्य को जाना तो वह चिन्तित हो

गया। पर्याप्त चिन्तन-मनन के पश्चात् पुत्र के हृदय में भोगों का आकर्षण जगाने के लिए सुरेन्द्रदत्त ने धम्मिल को ललित गोष्ठी का सदस्य बना दिया। ललित गोष्ठी कई युवक मित्रों का एक दल था, जिसके सदस्य कला-संगीत आदि में निपुण थे। 'ललित गोष्ठी' की संगति में रहने से धम्मिल का परिचय गणिका वसन्तसेना की पुत्री वसन्ततिलका से हो गया। वसन्ततिलका के रूप और गुणों ने धम्मिल के हृदय में अनुराग भाव को जागृत कर दिया। धम्मिल परिवार और परिजनों को भूलकर गणिका-पुत्री के साथ उसी के घर में रहने लगा। वसन्तसेना चतुर थी। वह निरन्तर धम्मिल के घर से धन प्राप्त करती रही। सुरेन्द्रदत्त प्रतिदिन पांच सौ स्वर्णमुद्राएं गणिका को देता था। इस क्रम से कुछ ही वर्षों में सुरेन्द्रदत्त का सारा धन गणिका ने हरण कर लिया। माता-पिता ने धम्मिल को घर लौटाने के कई प्रयास किए, पर उन्हें सफलता नहीं मिली। निर्धनता और पुत्र-विरह के कारण सुरेन्द्रदत्त और उसकी पत्नी अकाल काल कवलित बन गए। यशोमती भी अपने पिता के घर चली गई और पति के लौटने की प्रतीक्षा में धर्म-ध्यानपूर्वक जीवन यापन करने लगी।

धम्मिल के घर से धन का स्रोत रुक गया तो वसन्तसेना ने उसे अपने घर से अपमानित कर निकाल दिया। गणिका-गृह से निकल कर ही बाहर के यथार्थ का ज्ञान धम्मिल को हुआ। उसे ज्ञात हुआ कि उसी के कारण उसके माता-पिता अकाल मरण को प्राप्त हो गए हैं और उसकी पत्नी पितृ-गृह में रहकर जीवन-यापन कर रही है। यथार्थ बोध ने धम्मिल को आत्मग्लानि से भर दिया। उसने आत्महत्या का निश्चय कर लिया। आत्महत्या के लिए उसने कई प्रयास किए पर दैवयोग से प्रत्येक बार वह बच गया। उसी प्रसंग में अगड़दत्त नामक एक मुनि से धम्मिल की भेंट हुई। मुनि के उपदेश से धम्मिल ने आत्महत्या का विचार त्याग दिया। उसने आयंबिल तप कर अशुभ कर्मों को निजीर्ण कर दिया। उसके शुभ कर्मों का उदय हुआ और उसने सांसारिक सफलताओं के उच्च शिखरों पर आरोहण किया। कई राजपुत्रियों, विद्याधर-कन्याओं और श्रेष्ठि-सुताओं से उसने पाणिग्रहण किया। जीवन के उत्तर पक्ष में उसने संयम की आराधना कर अच्युत देवलोक में इन्द्र का सामानिक पद प्राप्त किया। कालक्रम से वह मोक्षपद प्राप्त करेगा।

—धम्मिल हिंडी, (रचनाकार-संघदास गणी)

धर

कौशाम्बी नरेश एवं भगवान पद्मप्रभ के पिता। (देखिए-पद्मप्रभ तीर्थंकर)

धरणकुमार

समग्र परिचय गौतम के समान है। अन्तर इतना है कि इन्होंने सोलह वर्ष पर्यंत चारित्र का पालन किया। (देखिए-गौतम)

धरणेन्द्र (पद्मावती)

भवनपति देवों में नागकुमार जाति के देवों का इन्द्र।

धरणेन्द्र की पट्टमहिषी का नाम पद्मावती है।

अपने पूर्वजन्म में—लगभग 3000 वर्ष पूर्व धरणेन्द्र और पद्मावती नागयुगल—नाग और नागिन के शरीर में थे। वाराणसी नगरी में कमठ नामक तापस पंचाग्नि तप तप रहा था। उसने अपने चारों ओर बड़े-बड़े लक्कड़ रखवा कर उनमें अग्नि प्रज्ज्वलित कराई और मध्य के स्थान में बैठकर वह अग्नि के ताप को अपने शरीर पर सह रहा था। अग्नि में जल रहे एक बड़े लक्कड़ के भीतर नागयुगल बैठा हुआ था।

उस समय वाराणसी नगरी के राजकुमार और भावी तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वकुमार वहां आए। उन्होंने

कमठ को सावधान किया कि उसका तप अज्ञान तप है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उसकी धूनी की अग्नि में जल रहे लक्कड़ में नागयुगल विद्यमान है और उसकी तपस्या के हित नागयुगल के प्राण संकट में हैं। इससे कमठ चौंका। उसने राजकुमार पार्श्व को घूरा और उन्हें उनका कथन प्रमाणित करने के लिए कहा।

पार्श्वकुमार ने सेवकों को आदेश देकर सावधानीपूर्वक वह लक्कड़ चिरवाया। उसमें से मरणासन्न नागयुगल निकले। नागयुगल को महामंत्र नवकार सुनाया गया। महामंत्र को सुनकर और पार्श्व रूप में एक परमपुनीत आत्मा को अपने निकट पाकर नागयुगल ने शान्तिपूर्वक देहोत्सर्ग किया और नागयुगल धरणेन्द्र और पद्मावती नामों से भवनपति देवों के इन्द्र और इन्द्राणी बने।

उधर कमठ का यश अपयश में बदल गया। तिरस्कृत होकर इतस्ततः भटकते हुए तथा अज्ञान तप करते हुए देहोत्सर्ग कर वह असुर कुमार देवों में मेघमाली नामक देव बना।

श्रमण पार्श्व आध्यात्मिक साधना में तल्लीन थे। पूर्व वैरवश मेघमाली ने प्रचण्ड वर्षा कर प्रभु को उपसर्ग दिया। अपने उपकारी प्रभु के जीवन को उपसर्ग में देख धरणेन्द्र और पद्मावती तत्काल वहां उपस्थित हुए। धरणेन्द्र ने प्रभु के सर पर सात फनों का छत्र बनाया और कुण्डली मारकर कमलासन की मुद्रा में अवस्थित हो प्रभु को अपने शरीर पर धारण कर लिया। मेघमाली (कमठ) का कुछ वश नहीं चल पाया। तदनन्तर धरणेन्द्र ने मेघमाली को कठोर शब्दों में प्रताड़ित किया। भयभीत मेघमाली ने प्रभु पार्श्व के चरणों में नत हो कर अपने किए की क्षमा मांगी।

धरणेन्द्र-पद्मावती से सम्बन्धित कई मंत्र, स्तवन और स्तुतियां वर्तमान में भी विद्यमान हैं, जो अतिशय प्रभावशाली हैं।

धरसेन (आचार्य)

आचार्य धरसेन दिगम्बर परम्परा के एक महान प्रभावक और श्रुतधर आचार्य थे। संभवतः उनके गुरु का नाम माघनंदी था। आचार्य धरसेन ने श्रुत सम्पदा की सुरक्षा के लिए सुन्दर यत्न किया। उन्होंने संघ के दो विशिष्ट मेधा सम्पन्न मुनियों को श्रुत दान दिया। उन मुनियों के नाम क्रमशः ये थे—भूतबलि और पुष्पदंत।

नंदीसंघ पट्टावली के अनुसार आचार्य धरसेन का समय वी.नि. 614 से 633 तक सिद्ध होता है।

—नंदी संघ पट्टावली

धर्म (आचार्य)

श्रमण परम्परा के एक आचार्य। आचार्य मंगू के पश्चात् आचार्य धर्म का शासन काल माना जाता है। वे 24 वर्षों तक आचार्य पद पर रहे। वि.नि. 494 में उनका स्वर्गवास हुआ। —नंदी सूत्र स्थविरावली

(क) धर्मघोष (आचार्य)

धर्मरुचि अणगार के गुरु। इस नाम के अन्य अनेक आचार्यों और मुनियों का भी जैन पौराणिक साहित्य में उल्लेख मिलता है।

(ख) धर्मघोष (आचार्य)

वी.नि. की 17वीं सदी में धर्मघोष नामक बड़े ही प्रभावशाली, मधुर उपदेष्टा और वादनिपुण आचार्य हुए। शाकंभरी नरेश अर्णोराज की सभा में शास्त्रार्थ में उन्होंने दिगम्बराचार्य गुणधर को पराजित किया था।

अन्य अनेक राजाओं और महाराजाओं पर आचार्य धर्मघोष का प्रभाव था।

आचार्य धर्मघोष ने 'धम्मकप्पद्दुमो' और 'गृहीधर्म परिग्रह परिमाण' नामक दो ग्रन्थों की भी रचना की थी। उनके नाम से ही 'धर्मघोष गच्छ' प्रचलित हुआ।

(ग) धर्मघोष (गाथापति)

महाघोष नामक नगर में रहने वाला एक धर्मनिष्ठ गाथापति। एक बार उसने ऊंचे भावों से धर्मसिंह नामक एक मासोपवासी अणगार को आहार दान दिया। फलतः उसने उत्कृष्ट पुण्यों का अर्जन किया। आयुष्य पूर्ण कर वह सुघोष नगर में राजपुत्र के रूप में जन्मा, जहां उसका नाम भद्रनंदी कुमार रखा गया। भद्रनंदी कुमार भगवान महावीर का शिष्य बना और मोक्ष में गया। (देखिए-भद्रनंदी कुमार)

—विपाकसूत्र द्वि श्रु., अ. 8

धर्मदास (आचार्य)

श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा के एक तेजस्वी और क्रियोद्धारक आचार्य। आचार्य धर्मदास जी का जन्म अहमदाबाद के निकटवर्ती ग्राम सरखेज में वी.नि. 2171 (वि. 1701) में चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को हुआ। उनकी जाति भावसार थी। उनकी माता का नाम डाहीबाई और पिता का नाम जीवनदास था।

धर्मदास बचपन से ही एक धर्मरुचि-सम्पन्न बालक थे। उन्होंने यति तेजसिंह और श्रावक कल्याण जी से धर्म शिक्षा प्राप्त की। धर्म शिक्षा से उनका मन संसार से विरक्त हो गया। दीक्षा ग्रहण करने के लिए वे कई यतियों और मुनियों के पास गए, पर कहीं भी उन्हें आत्मतोष प्राप्त नहीं हुआ। आखिर सोलह वर्ष की अवस्था में उन्होंने स्वयं ही मुनि दीक्षा अंगीकार की। यह घटना वी.नि. 2186 (वि. 1716) की है।

मुनि धर्मदास जी एक साहसी और उत्साही पुरुष थे। ज्ञान-दर्शन और चारित्र के वे उत्कृष्ट आराधक थे। उनकी देशना में आकर्षण था। अल्प दीक्षा पर्याय में ही उनके कई शिष्य बन गए। 21 वर्ष की अवस्था में संघ ने उनको आचार्य पद पर नियुक्त किया। आचार्य धर्मदास जी का सुयश दूर-दूर तक व्याप्त हुआ। ग्वालियर नरेश उनके व्यक्तित्व से विशेष प्रभावित था। उनके उपदेश से प्रभावित होकर उसने आषाढ़ शुक्ल सप्तमी के दिन शिकार, मांस व मद्य का परित्याग किया था।

आचार्य धर्मदास जी की शिष्य संपदा विशाल थी। उनके शिष्यों की संख्या 99 थी। वी.नि. 2242 में धार नगरी में आचार्य धर्मदास जी ने अपने शिष्यों के 22 दल बनाकर उन्हें धर्मप्रचार की आज्ञा दी। तभी से उनका धर्मसंघ 22 टोले सम्प्रदाय के नाम से पहचाना जाने लगा। उनके एक शिष्य का नाम लूणकरण था। उसने आजीवन अनशन व्रत (संथारा) स्वीकार किया। पर दुर्बल मानसिकता के कारण वह उसका निर्वाह नहीं कर पाया। जिनधर्म के गौरव की रक्षा के लिए आचार्य धर्मदास जी ने शिष्य लूणकरण का आसन स्वयं ग्रहण कर सफलतापूर्वक आजीवन अनशन की आराधना की। अनशन के सातवें दिन समाधि अवस्था में उनका स्वर्गवास हो गया। यह घटना वी.नि. 2242 की है।

धर्मदासगणि महत्तर (आचार्य)

'उपदेशमाला' नामक प्राचीन ग्रन्थ के रचयिता एक विद्वान जैन मुनि। उक्त ग्रन्थ में आध्यात्मिक उपदेशों और दृष्टान्तों को प्रभावशाली शैली में प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ की 544 गाथाएं हैं।

धर्मदासगणि महत्तर मुनि भूमिका में प्रवेश करने से पूर्व विजयपुर नगर के राजा थे। उनका नाम विजयसेन

और उनकी रानी का नाम विजया था। विजया ने एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम रणसिंह रखा गया। विजयसेन राजा की एक अन्य रानी अजया ने षड्यंत्रपूर्वक नवजात राजकुमार का अपहरण करवा दिया। पुत्र विरह से विजयसेन और विजया विरक्त हो गए। दीक्षा धारण कर विजयसेन ही 'धर्मदासगणि' नाम से जाने गए।

राजकुमार रणसिंह का पालन-पोषण एक कृषक परिवार में हुआ। युवावस्था में उसने अपने शौर्य के बल पर अपना राज्य प्राप्त कर लिया। परन्तु धर्मशिक्षा के अभाव के कारण वह प्रजा पर अन्याय करने लगा। धर्मदासगणि महत्तर इस तथ्य से परिचित हुए तो उन्होंने मुनि जिनदास गणि को स्वरचित 'उपदेशमाला' नामक ग्रन्थ कण्ठस्थ करा उन्हें रणसिंह को उपदेश देने भेजा। मुनि जिनदास ने वैसा ही किया और उपदेश-माला के प्रवचन सुनकर राजा रणसिंह सम्यक्त्वधारी श्रावक बन गया। कालान्तर में वह आचार्य मुनिचन्द्र के पास दीक्षित भी हुआ।

धर्मदासगणि महत्तर वी.नि. की ग्यारहवीं सदी के विद्वान मुनिराज थे।

धर्मनाथ (तीर्थंकर)

प्रवहमान अवसर्पिणी के चौबीस तीर्थंकरों में से पन्द्रहवें तीर्थंकर। रत्नपुर के महाराज भानु की भार्या सुव्रता के आत्मज। चौदह महास्वप्न देखकर माता सुव्रता ने गर्भ धारण किया। उचित समय पर माघ शुक्ला तृतीया को भगवान का जन्म हुआ। युवा होने पर धर्मनाथ का अनेक राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। पांच लाख वर्षों तक उन्होंने राज्य किया। वर्षीदान देकर माघ शुक्ल त्रयोदशी के दिन धर्मनाथ दीक्षित हुए। मात्र दो वर्ष छद्मस्थ अवस्था में रहने के पश्चात् प्रभु को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। तब प्रभु ने धर्म-तीर्थ की स्थापना की और लाखों भव्य जीवों के लिए कल्याण का द्वार बने। कुल दस लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी के दिन प्रभु निर्वाण को उपलब्ध हो गए।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र 4/8

धर्मपाल

एक परोपकारी और करुणावान युवक। धर्मपाल पशु-पक्षियों की भाषा समझता था। वह विक्रमनगर का रहने वाला था। एक बार राजा ने उसे अपने आदेश का उल्लंघनकर्त्ता घोषित कर देश-निर्वासन का दण्ड दे दिया। धर्मपाल वन मार्ग से जा रहा था। सहसा उसके कानों में यह स्वर पड़ा, कौन मेरी प्रजा को कुचल रहा है। धर्मपाल ने तत्क्षण इस स्वर को पहचान लिया। यह स्वर चींटियों की स्वामिनी चींटी रानी का था। धर्मपाल ने झुककर चींटी रानी से क्षमा मांगी। धर्मपाल के इस विनीत व्यवहार से चींटी रानी अतीव प्रसन्न हुई और बोली कि उसे जब भी उसके सहयोग की आवश्यकता पड़े, वह उसे स्मरण कर ले, वह अवश्य ही उपस्थित होकर उसका सहयोग करेगी। धर्मपाल आगे बढ़ा तो उसने एक बहेलिए के पाश से एक सुन्दर चिड़िया को मुक्त कराया। धर्मपाल की परोपकारी-वृत्ति देखकर चिड़िया ने उससे कहा कि जब भी उसे उसके सहयोग की आवश्यकता पड़े, वह उसे अवश्य स्मरण करे।

धर्मपाल आगे बढ़ा। उसने झरने के जल में डूबती एक मधुमक्खी के प्राणों की रक्षा की। मधुमक्खी ने भी उसे समय पर सहयोग का वचन दिया।

धर्मपाल एक नगर में पहुंचा। वह देखकर दंग रह गया कि उस नगर के सभी लोग पत्थर की प्रतिमा बने थे। जब तक वह किसी निष्कर्ष पर पहुंचता, उसे एक वृद्ध व्यक्ति आता दिखाई दिया । वृद्ध व्यक्ति

ने उस नगर का रहस्य धर्मपाल के समक्ष खोलते हुए बताया, एक मंत्रवादी ने इस नगर के सभी लोगों को प्रस्तर प्रतिमाओं में बदल दिया है। मैं यहां के राजा का गुरु हूँ, नगर से दूर होने के कारण मैं उसके मंत्र प्रभाव से अछूता रह सका हूँ। धर्मपाल ने पूछा कि मंत्रवादी ने यह जघन्य-कर्म क्यों किया। इस पर राजगुरु ने बताया कि मंत्रवादी राजा की तीन राजकुमारियों पर मोहित हो गया था और उसने राजा से कहा कि वह अपनी तीनों पुत्रियों का विवाह उसके साथ कर दे। उसके इस प्रस्ताव पर राजा नाराज हो गया और उसने अपने सैनिकों को ओदश दिया कि मंत्रवादी को बन्दी बना लिया जाए। इससे मंत्रवादी भी क्रोधित हो गया। उसने मंत्र प्रयोग से पूरे नगर को पाषाणमय बना दिया।

धर्मपाल ने पूछा, क्या ऐसा कोई उपाय है, जिससे नगर निवासी फिर से जीवन प्राप्त कर सकें। राजगुरु ने कहा, उपाय है, पर अति कठिन है। उसमें असफलता पर उपायकर्त्ता भी प्रस्तर प्रतिमा में बदल जाएगा। धर्मपाल ने कहा, आप मुझे वह उपाय बताइए, परोपकार में मेरे प्राण भी चले जाएं तो चिन्ता नहीं। राजगुरु धर्मपाल की दृढ़ता से प्रभावित हुआ और उसे राजमहल में ले गया। उसने कहा, तीन दिनों में तुम्हें तीन कार्य करने होंगे, जो साधारण मनुष्य के लिए असंभवप्रायः हैं। वे तीन कार्य हैं—(1) सामने वाले कक्ष में एक करोड़ स्वर्ण यव हैं। उन्हें बिना द्वार खोले बाहर निकालना है। (2) यह सामने राई और चावलों का विशाल ढेर है, एक ही दिन में राई और चावलों को पृथक् करना है।(3) एक कक्ष में धर्मपाल को ले जाकर राजगुरु ने कहा, ये तीन राजकुमारियां गहरी निद्रा में सोई हैं। इनमें से एक ने गुड़ खाया है, एक ने शक्कर खाई है और एक ने शहद खाया है। तुम्हें उसी राजकुमारी का स्पर्श करना है, जिसने शहद खाया है। अन्यथा तुम भी प्रस्तर प्रतिमा बन जाओगे। इन तीनों कठिन कार्यों को करने पर ही नगर के लोग पुनः जीवन पा सकते हैं।

तीनों उपाय बताकर राजगुरु ने कहा, अब मैं तीन दिनों के पश्चात् पुनः आऊंगा। मेरी शुभकामनाएं तुम्हारे साथ हैं कि तुम इन असंभवप्रायः कार्यों को कर सको। कहकर राजगुरु वहां से चला गया।

परोपकारी धर्मपाल ने प्रथम दिन चींटी रानी का स्मरण किया और उसे अपनी समस्या बताई। चींटी रानी ने अपनी प्रजा के साथ मिलकर द्वार-छिद्र से प्रवेश कर एक ही दिन में सभी स्वर्णयव कक्ष से बाहर निकाल दिए। धर्मपाल ने उसे धन्यवाद देकर विदा किया। दूसरे दिन उसने चिड़िया रानी का स्मरण किया। चिड़िया ने भी अपनी प्रजा को बुलाया और एक दिन के श्रम से ही राई और चावलों को दो अलग-अलग ढेरों में बांट दिया। तीसरे दिन धर्मपाल ने मधुमक्खी का स्मरण किया। मधुमक्खी ने शीघ्र ही उस राजकुमारी को पहचान लिया, जिसने शहद खाया था। धर्मपाल द्वारा उक्त राजकुमारी का स्पर्श करते ही पूरा नगर पुनः जीवित हो गया। तीनों राजकुमारियां भी जाग गईं। तभी वहां राजगुरु प्रकट हुए। राजगुरु ने राजा को धर्मपाल के बारे में बताया कि यही वह व्यक्ति है, जिसने पूरे नगर को जीवन दान दिया है। इससे राजा कृतज्ञता से भर गया। उसने धर्मपाल के साथ अपनी तीनों पुत्रियों का पाणिग्रहण कराया। कालान्तर में राजा ने धर्मपाल को ही राजपद प्रदान किया और वह स्वयं संयम मार्ग पर प्रस्थित हो गया।

धर्मपाल सोचता था कि उसे यह सब ऋद्धि-सिद्धि परोपकार वृत्ति के परिणाम-स्वरूप ही प्राप्त हुई है। उसने अपने पूरे जीवन को परोपकार में ही समग्रतः अर्पित कर दिया। उसने अपने राज्य में अनेक चिकित्सालय, विद्यालय, सेवाश्रम आदि खुलवाए। उसने कालान्तर में श्रावकधर्म अंगीकार किया और एक श्रेष्ठ जीवन जीकर इस भूतल से विदा हुआ। वह सौधर्मकल्प में देव बना। वहां से च्यव कर वह मानव भव में जन्म लेगा और विशुद्ध चारित्राराधना द्वारा मोक्ष प्राप्त करेगा।

धर्मराज (राजा)

गौड़ देश का राजा। आचार्य बप्पभट्टि के प्रभाव से उसने जैन धर्म अंगीकार किया था। (देखिए-बप्प-भट्टि आचार्य)

(क) धर्मरुचि अणगार

एक महातपस्वी मुनि, जिनका चरित्र-चित्रण जैन परम्परा में हजारों वर्षों से हजारों साधकों, लेखकों, कवियों और श्रद्धालुओं ने किया है। वे एक ऐसे अणगार थे जो अपनी मिसाल स्वयं थे। किसी समय चम्पानगरी में रहने वाली नागश्री ब्राह्मणी ने मुनि धर्मरुचि अणगार को विष-शाक बहरा दिया। मुनि मासोपवासी थे। भिक्षा लेकर धर्मरुचि अपने गुरु आचार्य धर्मघोष के पास आए। उन्हें भिक्षा दिखाई। शाक की गन्ध से ही गुरु समझ गए कि वह विष-शाक है, उसे खाने का स्पष्ट अर्थ है—प्राण-हानि। अतः गुरु ने धर्मरुचि अणगार से कहा कि वह उस शाक को किसी ऐसे स्थान पर परठ दे, जहां हिंसा संभावित न हो ।

धर्मरुचि अणगार शाक पात्र को लेकर जंगल में गए। निरवद्य भूमि को देखा और पश्चात्-परिणाम की जांच के लिए शाक की एक बूंद जमीन पर डाली। शाक की तीव्र गंध से अनेक चींटियां आकर्षित बनकर उस बिन्दु पर आईं और उसे खाते ही मर गईं। यह देखकर मुनि का करुणापूर्ण चित्त हिल उठा। बहुत चिन्तन करने पर अन्ततः उन्हें अपना उदर ही एक ऐसा निरवद्य स्थान जंचा, जहां हिंसा संभावित न थी। उन्होंने देव, गुरु और धर्म को स्मरण करते हुए उस पूरे शाक को अपने उदर में डाल लिया, अर्थात् उस शाक का आहार कर लिया। परिणाम स्पष्ट था। शीघ्र ही महामुनि का प्राणान्त हो गया। देह का विसर्जन कर महामुनि धर्मरुचि अणगार सर्वार्थसिद्ध विमान में देव रूप में जन्मे। वहां से एक भव लेकर मोक्ष जाएंगे।

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र

(ख) धर्मरुचि अणगार

प्राचीनकालीन एक तपस्वी अणगार। (देखिए-वरदत्त कुमार) —विपाकसूत्र द्वि श्रु., अ. 10

धर्मरुचि मुनि

यह एक तपस्वी मुनि थे। तप के प्रभाव से इन्हें तेजोलब्धि प्राप्त हो गई थी। किसी समय नंद नामक नाविक की नौका से मुनि ने गंगानदी पार की। नंद ने किराया मांगा, पर अकिंचन मुनि किराया कहां से देते? इससे नंद ने कुपित होकर मुनि को तप्त बालू पर खड़ा कर दिया। नंद के द्वेषीभाव को देखकर मुनि को भी क्रोध आ गया और उन्होंने क्रुद्ध बनकर नंद को देखा तो वह वहीं भस्म हो गया। वहां से मरकर नंद ने गोह, हंस और सिंह के तीन भव किए और धर्मरुचि मुनि को सताया। प्रत्येक भव में वह मुनि की कोप दृष्टि से भस्म बनता गया। पंचम भव में नंद ब्राह्मण-पुत्र बना। वहां भी उसका मुनि से साक्षात्कार हुआ तो उसे पूर्व वैर स्मरण हो आया और उसने पत्थरों से मुनि पर आक्रमण कर दिया। वह पुनः मुनि की कोपदृष्टि की अग्नि-ज्वालाओं में भस्म हो गया। वहां से मरकर वह वाराणसी नगरी में राजपुत्र बना। क्रमशः राजा बना। किसी समय गंगा में नौका विहार करते हुए उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपने अतीत के छह भव देखे और जाना कि उसके द्वेष स्वभाव के कारण उसे पुनः-पुनः मुनि का कोपभाजन बनना पड़ा। उसने वैर परम्परा की परिसमाप्ति के लिए मुनि को खोजना चाहा। उसने एक श्लोक के तीन पाद रचे, जिसमें उसके पूर्व के पांच भवों का संकेत था। उसने घोषणा कराई कि जो भी व्यक्ति उक्त श्लोक की पूर्ति करेगा, उसे आधा राज्य दिया जाएगा। जन-जन के मुख पर उक्त श्लोक के तीनों पाद गूंजते थे। किसी समय एक

ग्वाला अपनी गायों को जंगल में चराते हुए श्लोक के उन तीन पदों को पुनः-पुनः दोहरा रहा था। उधर से संयोग से धर्मरुचि मुनि आ गए। अपने जीवन से सम्बन्धित त्रिपद श्लोक को सुनकर उन्होंने चतुष्पद की पूर्ति कर दी। ग्वाला राजा के पास दौड़कर गया और पूरी घटना सच-सच कह दी। राजा मुनि के चरणों में पहुंचा और पूर्वजन्मों के वैर का पश्चात्ताप / प्रायश्चित्त आदि से प्रक्षालन कर अपने चित्त को विशुद्ध किया। मुनि ने भी प्रतिक्रमण / आलोचनादि से अपने अंतःकरण को विशुद्ध बनाया। राजा ने श्रावक धर्म अंगीकार किया और स्वच्छ व सदाचारपूर्ण जीवन जीकर सद्गति को उपलब्ध हुआ। —धर्मोपदेश माला

धर्मवीर्य अणगार

एक अणगार, जो निरन्तर मासखमण का तप किया करते थे। (देखिए-महाचन्द अणगार)

—विपाकसूत्र द्वि श्रु., अ.9

धर्मसिंह अणगार

निरन्तर एक-एक मास का उपवास करने वाले एक प्राचीन मुनि। (देखिए-भद्रनंदी कुमार)

धर्मसिंह (आचार्य)

स्थानकवासी परम्परा के एक क्रियोद्धारक आचार्य। आचार्य धर्मसिंह जी का जन्म सौराष्ट्र के जाम-नगर में हुआ। उनके पिता का नाम जिनदास एवं माता का नाम शिवादेवी था। वे श्रीमाली गोत्र के थे। उन्होंने देवजी यति के पास दीक्षा धारण की और आगमों का गहन गंभीर अध्ययन किया। उनकी स्मरण शक्ति विलक्षण थी। एक दिन में वे एक सहस्र श्लोक कण्ठस्थ कर लेते थे। वे अवधानकार भी थे। उनकी एक अन्य विलक्षणता यह थी कि वे दो हाथों और दो पैरों में चार कलमें पकड़कर एक साथ लिख सकते थे।

मुनिवर धर्मसिंह जी एक चिन्तनशील पुरुष थे। उन्होंने आगम में वर्णित साध्वाचार और यति संघ के आचार पर सूक्ष्म चिन्तन किया। यतिवर्ग में फैले शिथिलाचार से उनका मन निर्वेद से भर गया। उन्होंने क्रियोद्धार करने का संकल्प किया। अपने गुरु देवजी यति से उसके लिए आज्ञा मांगी। देवजी यति ने कहा, शिष्य ! मैं स्वयं कठोर आचार के पालन में असमर्थ हूं। तुम कठोर आचार का पालन कर सकते हो, पर मेरा आशीर्वाद तुम्हें तभी मिलेगा, जब तुम दरियापीर नामक यक्षालय में एक रात्रि व्यतीत करने की हिम्मत दिखाओ। गुरु के इस आदेश को धर्मसिंह जी ने पूरा किया और दरियापीर यक्ष को सम्यक् दृष्टि बना दिया। देवजी यति ने प्रसन्न चित्त से धर्मसिंह जी को क्रियोद्धार की अनुमति प्रदान की।

धर्मसिंह जी ने लोंकाशाह के क्रिया-क्रांति पथ पर चरण बढ़ाए। अपनी यात्रा में उनका प्रथम पड़ाव अहमदाबाद के दरियापुरी द्वार पर हुआ, जहां उन्होंने अपनी प्रथम देशना दी। उसी कारण से उनका सम्प्रदाय "दरियापुरी" नाम से जाना गया। यह घटना वीर.नि. 2162 (वि. 1692) की है।

आचार्य धर्मसिंह जी एक विद्वान मुनिराज थे। उनका आगम ज्ञान अगाध था। उन्होंने अपने जीवनकाल में 27 आगमों पर टब्बे लिखे, जो 'दरियापुरी टब्बे' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये टब्बे आगमों के गूढ़ार्थ को समझने के लिए विशेष उपयोगी हैं।

आचार्य धर्मसिंह जी का स्वर्गवास वी.नि. 2198 (वि. 1728) में अनशन की अवस्था में हुआ।

धर्मसेन

जयानगरी के महाराज जयसेन का पुत्र। धर्मसेन के दो अग्रज सहोदर थे—चन्द्रसेन और मित्रसेन।

चन्द्रसेन युवराज था। किसी समय अचानक ही महाराज जयसेन का देहान्त हो गया। महामंत्री, सेनाध्यक्ष और कोषाध्यक्ष इन तीनों ने षड्यंत्र रचकर तीनों राजकुमारों को परदेश रवाना कर दिया और पाथेय के रूप में विषमोदक उन्हें दे दिए। परन्तु पुण्य साथ हों तो स्वयं यमराज भी व्यक्ति का कुछ अहित नहीं कर सकता है। तीनों राजकुमारों के पुण्य कर्म प्रबल थे और उन्होंने अल्प कालावधि में ही तीन अलग-अलग देशों के साम्राज्य प्राप्त कर लिए और तीनों के विवाह उच्च राजकुलों में हुए। धर्मसेन जयानगरी का राजा बना और उसने कुटिल मंत्री, सेनापति और कोषाध्यक्ष को देशनिकाला दे दिया।

तीनों भाइयों ने सुदीर्घ काल तक न्याय और नीतिपूर्वक अपने-अपने राज्यों का संचालन किया। आयु के सांध्य पक्ष में तीनों भाइयों ने अपने-अपने पुत्रों को राजपद प्रदान कर अपनी-अपनी पत्नियों के साथ प्रव्रज्या धारण की और चारित्र का पालन कर सभी देवलोक के अधिकारी बने।

(क) धारिणी

उज्जयिनी निवासी वणिक समुद्रदत्त की पत्नी, एक कामान्ध और अधम नारी। पति की मृत्यु के पश्चात् उसने अपने गृहसेवक यक्षदत्त से अनैतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए। पर पाप कितना ही छिप कर किया जाए, प्रकट होता ही है। नगरजन धारिणी के दुश्चरित्र से परिचित हो गए और उसकी निंदा करने लगे। धारिणी का पुत्र शिव भी अपनी माता के चरित्र को जान गया। वह खेदखिन्न हो गया। उसका चित्त अपनी मां के प्रति वितृष्णा से भर गया। पुत्र के चेहरे के भावों को देखकर धारिणी ताड़ गई कि उसका पुत्र उसके पाप-चरित्र को पहचान चुका है। वह मन ही मन सशंकित बन गई कि उसका ही पुत्र उसके भोगानंद में बाधा बन सकता है। निरंकुश भोगानंद भोगने के लिए उसने अपने प्रेमी यक्षदत्त के साथ मिलकर शिव को अपने मार्ग से हटाने का निश्चय कर लिया। धारिणी ने एक षड्यन्त्र रचा। पर शिव माता के षड्यन्त्र का भेद पा गया। वह यक्षदत्त से सावधान बन गया और इससे पूर्व कि यक्षदत्त धारिणी के षड्यन्त्र को मूर्त्त रूप दे पाता, शिव ने ही यक्षदत्त का वध कर दिया।

धारिणी यक्षदत्त के मरण को सह न सकी। वह कामान्ध नारी क्रोध से अन्धी बन गई और उसने तलवार के प्रहार से अपने ही पुत्र का वध कर डाला। शिव की धायमाता शिव की हत्या देख न सकी। उसने मूसल के प्रहार से धारिणी की हत्या कर दी। धारिणी की एक विश्वस्त दासी ने धाय की हत्या कर दी। ऐसे धारिणी की कामान्धता कई लोगों के विनाश का कारण बनी। काम से पराजित / पराभूत बनकर धारिणी अनन्त संसार में खो गई।

—प्रश्नोत्तर रत्नमाला वृत्ति / गौतम पृच्छा ग्रन्थ / जैनकथा रत्न कोष, भाग 6 / बालावबोध गौतमकुलक

(ख) धारिणी

अवन्ती की महारानी, जिसने पहले अपने शील की रक्षा के लिए प्रव्रज्या धारण की और बाद में विजयोन्मादी दो राजाओं को रक्तपात से विमुख बना कर अहिंसा और प्रेम की सरिता प्रवाहित की। उसकी परिचय-कथा महासती मदनरेखा की परिचय-कथा से पर्याप्त समानता लिए हुए है, जो निम्न प्रकार है—

अवन्तीनरेश चण्डप्रद्योत के पुत्र का नाम पालक था। पालक के दो पुत्र हुए—अवंतीवर्द्धन और राष्ट्रवर्धन। अवंतीवर्द्धन को राज्य सौंपकर पालक प्रव्रजित हो गया। राष्ट्रवर्द्धन युवराज बना। उसकी रानी का नाम था धारिणी, जो परम-पतिपरायण सन्नारी थी। एक बार वसंतोत्सव के प्रसंग पर अवंतीवर्द्धन की दृष्टि अनुजवधू धारिणी पर पड़ी। वह उसके रूप पर मुग्ध हो गया। उसने विश्वस्त दूती के द्वारा अपना प्रणय-निवेदन

धारिणी के पास भेजा। धारिणी ने दूती को डांट-डपटकर भगा दिया। अवंतीवर्द्धन कामान्ध बन गया था। उसने सोचा, जब तक राष्ट्रवर्धन जीवित है, तब तक धारिणी उसके अनुकूल नहीं होगी। षड्यंत्रपूर्वक उसने अपने भाई की हत्या कर दी। इससे धारिणी कांप उठी। उसे विश्वास हो गया कि जो कामान्ध अपने सहोदर की हत्या कर सकता है वह उसके शील को भी लूट सकता है। इस विचार से वह अपने पुत्र अवंतीसेन को महलों में ही छोड़कर जंगल में निकल गई । एक सज्जन सार्थवाह का उसे साथ मिल गया। सार्थवाह के साथ धारिणी कौशाम्बी नगरी पहुंची। वहां उपाश्रय में विराजित साध्वियों से उसने अपनी स्थिति कही और दीक्षा धारण कर ली। उस समय धारिणी को गूढ़गर्भ था, जिसका परिज्ञान उसे स्वयं भी नहीं था। समय पर गर्भ के लक्षण प्रकट हुए तो धारिणी ने गुरुणी से वस्तुस्थिति कही। गुरुणी ने धारिणी को पर्दे में रहने का निर्देश दिया। उचित समय पर धारिणी ने एक पुत्र को जन्म दिया और रात्रि में ही नवजात शिशु को वह राजभवन के प्रांगण में रख कर उपाश्रय लौट आई। कौशाम्बी नरेश निःसंतान था। उसने दैव-वरदान मानकर उस शिशु को अपना पुत्र मान लिया।

उधर अवन्तीनरेश अवन्तीवर्द्धन को अपनी भूल का परिज्ञान हुआ। भाई और भाभी को खोकर उसे सद्बुद्धि जग गई। उसने अवन्तीसेन का पालन-पोषण कर उसे राजगद्दी पर बैठा दिया और स्वयं मुनि बन गया। अवन्तीसेन को सभी राजाओं ने भेंट-उपहार आदि भेजे। उधर कौशाम्बी नरेश के संरक्षण में पला बढ़ा धारिणी पुत्र, जिसका नाम मणिप्रभ रखा गया था, भी युवा हुआ और राजा बना। मणिप्रभ ने अवन्तीसेन को उपहार नहीं भेजा। इससे अवन्तीसेन को क्रोध आ गया और उसने कौशाम्बी पर चढ़ाई कर दी ।

संयोग से साध्वी धारिणी अपनी गुरुणी के साथ उन दिनों कौशाम्बी प्रवास पर ही थी। वह इस रहस्य को जानती थी कि अवन्ती नरेश और कौशाम्बी नरेश दोनों सहोदर हैं और उसी के अंगजात हैं। दो सहोदरों को परस्पर एक-दूसरे का रक्त-पिपासु देखकर उसका हृदय करुणा और ममता से विगलित हो गया। उसने अपनी गुरुणी की आज्ञा ली और युद्ध क्षेत्र में पहुंच गई। वह पहले मणिप्रभ के पास गई और अतीत का पूरा घटनाक्रम सुनाकर उसे युद्ध से विमुख किया। तदनन्तर वह अवन्तीसेन के शिविर में पहुंची और उसे भी सत्य से परिचित कराया। आखिर महासती धारिणी के अहिंसा संदेश से दोनों सहोदर युद्ध का विचार विस्मृत कर गले मिले। महासती धारिणी विशुद्ध चारित्र की आराधना कर परम-पद की अधिकारिणी बनी।

—धर्मोपदेशमाला, विवरण कथा

(ग) धारिणी

यवपुर नरेश महाराज यव की रानी ।

(घ) धारिणी

मथुराधिपति महाराज उग्रसेन की रानी और कंस की माता ।

(ङ) धारिणी

चम्पानरेश महाराज दधिवाहन की रानी और चन्दन बाला की माता। एक उच्चशील सम्पन्न सन्नारी जिसने अपने शील की रक्षा के लिए आत्म-बलिदान कर दिया था।

(च) धारिणी

श्रावस्ती नरेश जितशत्रु की रानी और स्कन्दक तथा पुरन्दरयशा की माता ।

(छ) धारिणी

राजगृह नरेश महाराज श्रेणिक की रानी और मेघकुमार की माता । —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र

(ज) धारिणी

जंबूस्वामी की माता। (देखिए-जंबूस्वामी)

(झ) धारिणी

महाराज अन्धकवृष्णि की रानी। —अन्तगड, प्रथम वर्ग.

(ञ) धारिणी

महाराज बलदेव की अर्द्धांगिनी और सुमुख, दुर्मुख, कूपदारक आदि अन्तकृत् सूत्र वर्णित कुमारों की माता। —अन्तगड सूत्र, वर्ग ३

धृतराष्ट्र

हस्तिनापुर के राजा विचित्रवीर्य की रानी अंबिका से उत्पन्न पुत्र। धृतराष्ट्र जन्म से ही नेत्रहीन था। ज्येष्ठ पुत्र होने के कारण धृतराष्ट्र हस्तिनापुर के शासन का उत्तराधिकारी था। पर तत्कालीन राज्य नीति के अनुसार अंगहीन राजपद के अयोग्य माना जाता था। साथ ही धृतराष्ट्र का अपने अनुज पाण्डु पर अनन्य अनुराग भी था। उसने स्वयं राजपद अस्वीकार कर दिया और उसके लिए पाण्डु का नाम प्रस्तावित किया।

धृतराष्ट्र का विवाह गांधार देश की आठ राजकुमारियों के साथ हुआ, जिनमें गांधारी प्रमुख थी। गांधार-कुमार शकुनि भी उसी अवसर पर हस्तिनापुर आया और अपनी बहिनों के साथ ही स्थायी रूप से वहां रहने लगा।

कालक्रम से धृतराष्ट्र सौ पुत्रों का पिता बना, जिनमें दुर्योधन ज्येष्ठ था। दुर्योधन बाल्यकाल से ही हठी और ईर्ष्यालु स्वभाव का था। पर उसके माता-पिता का उस पर सघन अनुराग था। उसी अनुराग का फल यह हुआ कि दुराचरण में दुर्योधन आगे से आगे बढ़ता गया। धृतराष्ट्र पुत्रप्रेम में अन्धा हो गया। पुत्र के न्याय-अन्याय में उसने उसका साथ दिया, जिसके परिणाम में महाभारत जैसे भयानक युद्ध का जन्म हुआ।

कुछ वर्षों तक धृतराष्ट्र राजा भी बना। महाभारत के युद्ध का दुखद परिणाम धृतराष्ट्र ने भोगा। निष्कर्षतः धृतराष्ट्र आजीवन आर्त्त और रौद्र ध्यान से ही घिरा रहा। —जैन महाभारत

धृतिधर गाथापति

काकंदी निवासी एक धनी गाथापति, जिसने भगवान महावीर से दीक्षा लेकर सिद्धत्व प्राप्त किया था। —अन्तगड सूत्र वर्ग 6, अध्ययन 6

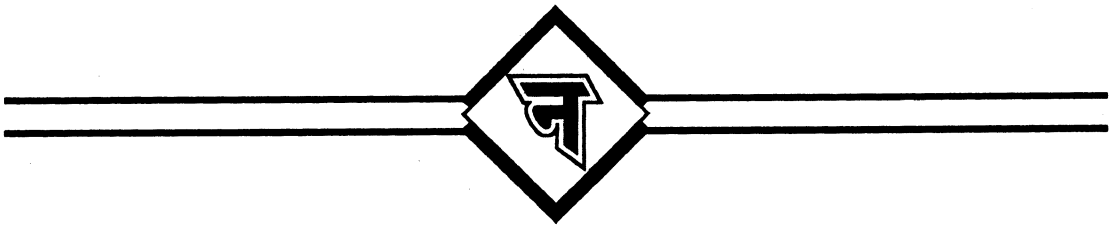

(क) नंद

ताम्रलिप्ति नगरी का रहने वाला एक वणिकपुत्र। उसकी पत्नी का नाम सुंदरी था, जो एक पतिव्रता सन्नारी थी। पति-पत्नी के मध्य अगाध प्रेम भाव था। एक बार नंद के मन में विचार आया कि युवा पुत्र को पिता की सम्पत्ति पर ही आश्रित होकर नहीं रहना चाहिए। सुपुत्र वही है, जो पिता की सम्पत्ति को बढ़ाए। ऐसा सोचकर उसने व्यापार के लिए विदेश जाने का निश्चय किया। सुंदरी ने भी साथ चलने का आग्रह किया। जहाजों में माल भर कर नंद विदेश पहुंचा। वहां उसने पर्याप्त लाभ अर्जित कर माल बेचा। फिर वहां जो माल सस्ता मिलता था, उससे जहाज को भरा और अपने देश के लिए रवाना हुआ। दुर्दैववश समुद्री हिमखण्ड से टकराकर उसका जहाज भंग हो गया। नंद और सुंदरी को एक काष्ठ खण्ड हाथ लग गया और उसके सहारे वे एक किनारे पर पहुंच गए। वहां एक जंगल था। दोनों जंगल में आगे बढ़े। कुछ दूर चलने पर सुंदरी को जोरों से प्यास लगी। वह चलने में असमर्थ हो गई। पत्नी को एक वृक्ष की छाया में बैठाकर नंद पानी की तलाश में गया। थोड़ी ही दूर जाने पर उसे एक सिंह दिखाई दिया। नंद सन्न रह गया। पास ही वृक्ष पर बन्दर उछल-कूद कर रहे थे। नंद ने सोचा, मैं बन्दर होता तो उछलकर वृक्ष पर चढ़ जाता....। उसी क्षण सिंह ने नंद पर आक्रमण कर दिया। आर्त्त-रौद्र ध्यान में डूबे नंद ने प्राण त्यागे और मृत्यु क्षण के विचार के अनुसार वह मरकर बन्दर बना।

सुंदरी पति की प्रतीक्षा करती रही। उसके न लौटने पर उसका हृदय दुराशंका से घिर गया। वह विलाप करने लगी। उसी समय उधर श्रीपुर नरेश प्रियंकर वन विहार करता हुआ आया। उसने सुंदरी की व्यथा-कथा पूछी। वह उसे अपने साथ अपने नगर में ले गया। उसने सुंदरी के भोजन और आवास की व्यवस्था अपने ही महल में कर दी।

कुछ दिन बाद सुंदरी का शोक कम हो गया। राजा ने उससे प्रणय-निवेदन किया। पर सुंदरी एक पतिव्रता नारी थी। उसने राजा को युक्तियुक्त वचनों से समझाया। पर राजा को समझाने में वह सफल न हो सकी। तब सुंदरी ने एक कल्पित अभिग्रह की बात कहकर कुछ मास का समय राजा से ले लिया।

उधर नंद का जीव बन्दर के रूप में जन्मा। उसे एक मदारी ने पकड़ लिया। एक बार मदारी उस बन्दर को लेकर श्रीपुर नगर में आया। मदारी की तान पर बन्दर कौतुक दिखाने लगा। गवाक्ष से सुंदरी भी बन्दर का कौतुक देख रही थी। सहसा बन्दर की दृष्टि भी सुंदरी पर पड़ी। पूर्व जन्म की अतिशय प्रीति के कारण बन्दर को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने अनशन करके देह त्याग दी। मरकर वह महर्द्धिक देव बना। देवलोक में उसने अवधिज्ञान का उपयोग लगाया और अपनी पत्नी सुंदरी को देखा। वह सुंदरी के पास आया। राजा भी वहां उपस्थित हुआ। देव ने नंद के भव से वर्तमान तक की अपनी यात्रा-कथा कही, जिसे सुनकर राजा और सुंदरी—दोनों ही विरक्त हो गए। सुंदरी ने संयम की परिपालना कर देवगति प्राप्त की। राजा भी देव पद का अधिकारी बना। कालक्रम से ये तीनों ही जीव मोक्ष में जाएंगे। —उपदेश पद, गाथा 30

(ख) नंद

गोकुल का एक गृहपति, जो वसुदेव का मित्र था और जिसके घर वासुदेव श्रीकृष्ण का लालन-पालन हुआ था। (देखिए-देवकी)

(ग) नंद

(देखिए-धर्मरुचि तपस्वी)

(घ) नंद

अरिहंत अरिष्टनेमि के प्रमुख श्रावकों में से एक। —कल्पसूत्र

नंदन (बलदेव)

वर्तमान अवसर्पिणी काल के सप्तम् बलदेव। सुदीर्घ काल तक उन्होंने अपने भाई वासुदेव दत्त के राज्य संचालन में अपना सहयोग दिया। अन्त में नंदन मुनि बन गए। उन्होंने उत्कृष्ट संयम की आराधना की और विविध तप साधनाओं से समस्त कर्मों को निर्जीर्ण कर मोक्ष पद प्राप्त किया।

नंदन भद्र

श्रमण परम्परा के षष्ठम् पट्टधर और चतुर्थ श्रुतकेवली आचार्य संभूतविजय के एक शिष्य।

—कल्पसूत्र स्थविरावली

नंदन मणिकार

राजगृह नगर का एक समृद्ध और प्रतिष्ठित सद्गृहस्थ, जिसने भगवान महावीर से श्रावक धर्म ग्रहण किया था। परन्तु लम्बे समय तक संत दर्शन का सुयोग न मिलने से उसकी धर्मश्रद्धा क्षीण होने लगी। किसी समय प्रचण्ड गर्मी के मौसम में उसने तेला किया। तृतीय रात्रि में उसे गर्मी की प्रचण्डता के फलस्वरूप तीव्र प्यास लगी। नींद उचट गई। संकल्प-विकल्पों का संगम स्थल बन गया उसका मानस प्रदेश। उसे विचार आया कि सच्चे धर्मात्मा तो वे लोग हैं, जो कूपों और बावड़ियों का निर्माण कराते हैं, जहां प्यासे प्राणी पानी पीते हैं और स्नान आदि करते हैं। मुझे भी ऐसा ही करना चाहिए।

दूसरे दिन नंदन ने राजा से अनुमति प्राप्त की और नगर के बाहर विशाल भूखण्ड खरीदकर बावड़ी बनवानी शुरू कर दी। शीघ्र ही बावड़ी तैयार हो गई। उसके चारों कोनों पर उसने चित्रशाला, भोजनशाला, अलंकारशाला और चिकित्सालय की स्थापना कराई। पथिक उस बावड़ी पर पानी पीते, स्नान करते और मुक्त मन से नंदन की प्रशंसा करते। अपनी प्रशंसा सुनकर नंदन को बड़ा सुख मिलता। नंदन को वह बावड़ी स्थल इतना मोहक लगता था कि उसने उसे ही अपना आवास बना लिया। पर वह वृद्ध तो था ही, दुर्दैववश एक बार रोगाक्रान्त बना और मर गया। बावड़ी में विशेष अनुराग होने के कारण वह उसी में मेंढ़क के रूप में जन्मा।

एक बार कुछ पथिक बावड़ी में स्नान कर रहे थे। साथ ही वे नंदन मणिकार का गुणगान भी कर रहे थे। यह शब्द सुनकर मेंढ़क को 'नंदन' नाम जाना-पहचाना-सा लगा। चिन्तन गहन बना तो उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। पूर्वजन्म का पूर्ण वृत्त उसकी स्मृतियों में तैर गया। उसे लगा कि बावड़ी की आसक्ति ही उसके पतन का कारण बनी है। उसने उसी अवस्था में भगवान महावीर की साक्षी से ग्यारह श्रावक व्रत

धारण कर लिए और साथ ही अभिग्रह कर लिया कि वह बेले-बेले का तप करेगा तथा पारणे के दिन भी लोगों द्वारा स्नान किए हुए अचित्त जल से ही पारणा करेगा। इस प्रकार कठिनतम मर्यादाओं में अपने जीवन को बांधकर वह साधना करने लगा।

एक दिन बावड़ी के तट पर कुछ लोग भगवान महावीर के राजगृह पदार्पण की चर्चा कर रहे थे, जिसे मेंढ़क ने सुना तो वह हर्षाप्लावित बन भगवान के दर्शनों के लिए चल दिया। उधर राजा श्रेणिक भी घोड़े पर सवार होकर भगवान के दर्शनों के लिए जा रहा था। उस घोड़े के पैर के नीचे आ जाने से वह मेंढ़क मृतप्रायः हो गया। उसी अवस्था में उसने महावीर को वहीं से वन्दन किया और अनशन ग्रहण कर प्राण छोड़ दिए। वह मरकर प्रथम देवलोक में दर्दुर नामक देवता बना। वहां से च्यव कर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा।

नंदन मणिकार का यह पूरा परिचय स्वयं तीर्थंकर महावीर ने अपने शिष्य गौतम स्वामी के एक प्रश्न के उत्तर में दिया था। —ज्ञाताधर्मकथांग, 13

नंदन मुनि

नंदन छत्रा नगरी के राजा जितशत्रु और उनकी रानी भद्रा के पुत्र थे। यौवनवय में वे राजा बने। उनका कुल आयुष्य चौरासी लाख वर्ष का था। तिरासी लाख वर्ष की अवस्था में नंदन ने मुनि दीक्षा ग्रहण की और एक-एक मास के उपवास के साथ कठोर तप का जीवनपर्यन्त आराधन किया। उन्होंने बीस उत्कृष्ट स्थानों की आराधना के साथ तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया। दो मास के अनशन के साथ देहोत्सर्ग कर वे प्राणत देवलोक में देव बने। देवायुष्य पूर्ण कर वे महारानी त्रिशला के गर्भ से चौबीसवें जिनेश्वर वर्धमान के रूप में पैदा हुए और जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर बने। आज भी वर्धमान महावीर का धर्मशासन प्रवहमान है और आगत साढ़े अठारह हजार वर्षों तक प्रवहमान रहेगा।

नंदयंती

जगत्वन्द्या महासती दमयंती के तुल्य ही एक महासती। उसकी परिचय-गाथा दमयंती से पर्याप्त समानता लिये हुए है। वह श्रीपोतनपुर नगर के नगर सेठ सागरपोत की पुत्रवधू और समुद्रदत्त की पत्नी थी। संयोग से एक बार जब समुद्रदत्त व्यापार के लिए विदेश रवाना हुआ तो उस समय नंदयंती रजस्वला थी। दो दिन की यात्रा के पश्चात् समुद्रदत्त का सार्थ एक जंगल में पहुंचा। समुद्रदत्त पत्नी से मिलने को उत्सुक बन गया। अपने विश्वस्त मित्र को सूचित कर वह एक तीव्रगामी अश्व पर आरूढ़ होकर रात्रि में अपने भवन पर पहुंचा। अपने द्वारपाल को उसने अपने आगमन की प्रतीक-स्वरूप मुद्रिका प्रदान की और प्रहर भर तक पत्नी से मधुरालाप कर वह अपने निश्चित स्थान पर लौट गया।

तीन माह के पश्चात् नंदयंती के गर्भ-लक्षण प्रकट होने लगे। सास जानती थी कि जिस समय उसके पुत्र ने विदेश के लिए प्रस्थान किया, उस समय नंदयंती रजस्वला थी। पुत्रवधू में गर्भ के लक्षण देखकर उसने उसे दुश्चरित्रा घोषित कर दिया। संयोग से उस समय नंदयंती का द्वारपाल उसके पीहर गया हुआ था। सास-श्वसुर ने नंदयंती से बिना स्पष्टीकरण मांगे उसे जंगल में छोड़ दिया। नंदयंती कई दिनों तक एकाकी जंगल में भटकती रही। भटकते-भटकते वह भड़ौच नगर के निकट जंगल में पहुंची। भड़ौच नरेश पद्मक वन-भ्रमण को उधर आया तो वह नंदयंती को भगिनी का मान देकर अपने साथ ले गया। राजा ने नंदयंती को सुखद आवास दिया और उसे दानशाला का दायित्व अर्पित कर दिया। नंदयंती दान देते हुए

तथा धर्माराधना में मन लगाते हुए समय व्यतीत करने लगी।

उधर द्वारपाल ने नंदयंती के पीहर से लौट कर वहां की कुशलक्षेम से सागरपोत को परिचित कराया और कहा कि नंदयंती के माता-पिता चाहते हैं कि कुछ समय के लिए उनकी बेटी पीहर आए। सागरपोत ने नंदयंती के निष्कासन की बात द्वारपाल को बताई। द्वारपाल ने समुद्रदत्त की मुद्रिका दिखाते हुए प्रमाणित कर दिया कि उनकी बहू शीलवती है और उस पर मिथ्या आरोप लगाकर उसे दण्डित किया गया है।

सत्य से परिचित बनकर सेठ सागरपोत गहन पश्चात्ताप में डूब गया। वह अपनी पुत्रवधू को खोजने के लिए घर से निकल गया। कुछ दिन पश्चात् समुद्रदत्त भी विदेश से लौट आया और वस्तुस्थिति से परिचित बनकर वह अधीर बन गया और अपनी पत्नी को खोजने के लिए चल दिया। आखिर पिता-पुत्र भटकते-भटकते भड़ौचनगर पहुंच गए। वहां नंदयंती को सकुशल पाकर उन्हें संतोष हुआ। श्वसुर ने अपनी भूल के लिए पुत्रवधू से क्षमापना की। पिता और पुत्र नंदयंती के साथ अपने नगर लौट आए।

कालान्तर में नंदयंती ने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा। एक मुनि से नंदयंती ने श्रावक धर्म अंगीकार किया और जीवन भर निर्दोष श्रावकाचार का पालन कर वह देवलोक में गई। आगे के भवों में वह निर्वाण प्राप्त करेगी। —शीलोपदेशमाला

नंदवती

महाराज श्रेणिक की रानी। इनका परिचय नंदा के समान है। —अन्तकृद्दशांगसूत्र, वर्ग 7

नंदश्रेणिका

महाराज श्रेणिक की रानी। परिचय नंदा के समान है। —अन्तकृद्दशांगसूत्र, वर्ग 7

नंदसेना

एक राजकुमारी, जिसका पाणिग्रहण राजकुमार सूरप्रभ (विहरमान तीर्थंकर) से हुआ था। (देखिए-सूरप्रभ स्वामी)

(क) नंदा

वाराणसी नगरी के निकटवर्ती ग्राम पलाशकूट के अधिपति अशोक की पत्नी, एक पतिपरायण और गृहकार्यों में निपुण महिला। अशोक के पास एक गोकुल था, जिसमें हजारों गायें थीं। अशोक प्रतिवर्ष एक हजार घृतघट वाराणसी नरेश वृषध्वज को भेंट करता था। गोकुल की रक्षा और संचालन का पूर्ण दायित्व नंदा पर था। नंदा के पास सब था, पर वह निःसंतान थी। नंदा की प्रार्थना पर उसके पति अशोक ने वंशवृद्धि के लिए सुनंदा नामक एक अन्य कन्या से विवाह कर लिया। नंदा ने सुनंदा को छोटी बहिन का सम्मान दिया, पर सुनंदा ने नंदा को अपनी सेविका ही मान लिया। सुनंदा अहं में चूर थी। उसने अपने रूप के बल पर अशोक को अपने वश कर लिया और नंदा के साथ दुर्व्यवहार करने लगी। क्लेश होना स्वाभाविक था ही। गृह-क्लेश को शान्त करने के लिए अशोक ने दोनों पत्नियों को अलग कर दिया और गोकुल के भी दो भाग कर आधी-आधी गायों के पालन का दायित्व दोनों को दे दिया। वह स्वयं सुनंदा के साथ रहने लगा।

सुनंदा की भोगोपभोगों में तो भरपूर रुचि थी पर गोकुल पर उसका कोई ध्यान न था। न वह गायों का ध्यान रखती और न गोपालकों का। परिणाम यह हुआ कि उसकी गाएं कमजोर हो गईं और उनका दूध सूखने लगा। जो दूध निकाला जाता, उसका उपयोग भी ठीक से नहीं हो पाता। अशुद्ध और अस्वच्छ बर्तनों

में दूध फट जाता। घी खराब हो जाता। यह सब होता पर सुनंदा को इस सब की चिन्ता नहीं थी।

नंदा कुशल गृहिणी थी। उसने गायों और गोपालकों का पूरा ध्यान रखा। उसकी गायें हृष्ट-पुष्ट हो गईं और प्रभूत दूध देने लगीं। वह शुद्ध और स्वच्छ बर्तनों में दूध और घी को रखती। फलतः उसके पास घी-दूध की प्रचुरता रहती।

निश्चित समय पर अशोक को वाराणसी नरेश को एक हजार घृतघट भेंट करने थे। उसने सुनंदा से पांच सौ घृतघट मांगे। सुनकर सुनंदा सहम गई। वह बोली, घर में तो एक घड़ा भी घी नहीं है, पांच सौ घड़े कहां से आएंगे। सुनंदा का उत्तर सुनकर अशोक निराश हो गया। वह नंदा के पास गया। उससे सारी स्थिति कही। पति को निराश देखकर नंदा ने दो हजार घृतघट उसकी सेवा में प्रस्तुत कर दिए। नंदा की कार्यकुशलता और पतिभक्ति पर अशोक गद्‌गद हो गया। उसने सुनंदा से गृहदायित्व के समस्त अधिकार वापिस ले लिए और नंदा को गृहस्वामिनी और सुनंदा को सेविका के कार्य प्रदान किए। पति का प्रीतिभाव नंदा पर सघन और सुनंदा पर शून्य हो गया। —बृहत्कथा कोष, भाग 1 (हरिषेण)

(ख) नंदा

महाराज श्रेणिक की रानी। किसी समय भगवान महावीर राजगृह नगरी के गुणशीलक उद्यान में पधारे। परिषद् भगवान के दर्शनों के लिए निकली। महारानी नंदा भी भगवान के दर्शन करने गई। भगवान ने देशना दी। देशना सुनकर नंदा को वैराग्य हो आया। उसने अपने पति महाराज श्रेणिक की आज्ञा लेकर दीक्षा धारण कर ली। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया और बीस वर्ष तक चारित्र पाल कर सिद्ध हुई।

—अन्तगडसूत्र वर्ग 7, अध्ययन 1

(ग) नंदा

एक पतिपरायणा सन्नारी, जिसे पूर्वोपार्जित कर्मों के परिणामस्वरूप कई कष्टों का सामना करना पड़ा, पर वह अपने धर्म पर दृढ़ रही और अंततः जगत में यशस्वती बनी। (देखिए-समुद्रदत्त)

(घ) नंदा

नवम् गणधर अचलभ्राता की माता।

(ङ) नंदा

भगवान शीतलनाथ की जननी।

नंदिनीपिता श्रावक

भगवान महावीर का एक अग्रगण्य श्रावक। वह सावत्थी नगरी का एक कोटीश्वर गाथापति था। 'अश्विनी' उसकी पत्नी का नाम था। उपासकदशांग के अनुसार उसके पास बारह कोटि सोनैये तथा दस-दस हजार गायों के चार गोकुल थे। उसने पन्द्रह वर्षों तक विशुद्ध श्रावक-धर्म का पालन किया। अन्त में अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृह-दायित्व सौंपकर उसने अनशन कर लिया। एक मास के अनशन के साथ देह-त्यागकर वह प्रथम स्वर्ग में गया। महाविदेह से सिद्ध होगा।

नंदिवर्द्धन

महावीरकालीन आबू नगर का राजा।

एक बार भगवान महावीर अपने धर्मसंघ के साथ आबू नगर पधारे। नरेश नंदिवर्द्धन ने भगवान के पदार्पण को अपना पुण्योदय माना और प्रभु की पर्युपासना के लिए वह उनके चरणों में उपस्थित हुआ। प्रभु का उपदेश सुनकर उसके अन्तर्चक्षु खुल गए और उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया।

'मूर्त्ति का प्राचीन इतिहास' नामक ग्रन्थ के अनुसार नंदिवर्द्धन नरेश ने वहां एक जिनालय भी बनवाया, जिसकी सूचना वहां हुई खुदाई से प्राप्त एक अभिलेख द्वारा भी प्राप्त होती है।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा

(क) नंदीवर्धन

तीर्थंकर महावीर के अग्रज। महावीर/वर्धमान पर उनका पूर्ण अनुराग भाव था। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् वर्धमान प्रव्रज्या के पथ पर जाने लगे तो नंदीवर्धन का अनुराग उनकी पथबाधा बन गया। आखिर नंदीवर्धन के अनुराग और आदेश में बंधकर वर्धमान ने महाभिनिष्क्रमण का कार्यक्रम दो वर्ष के लिए स्थगित कर दिया था।

पिता महाराज सिद्धार्थ के देवलोकगमन के पश्चात् नंदीवर्धन क्षत्रिय कुण्डनगर के अधिपति बने। उन्होंने पूर्ण न्याय और नीति से राज्य का संचालन किया। महाराज चेटक की पुत्री ज्येष्ठा से उनका पाणिग्रहण हुआ था।

—महावीर चरित्र

(ख) नंदीवर्धन

विपाक सूत्र के अनुसार नंदीवर्धन एक कामासक्त और अति महत्त्वाकांक्षी युवक था। पूर्वजन्म के क्रूरतम संस्कार उसके भीतर संचित थे। पूर्वजन्म में वह सिंहपुर नगर के राजा सिंहरथ द्वारा कोतवाल नियुक्त किया गया था, जहां उसका नाम दुर्योधन था। कोतवाल होने से नगर संरक्षण का दायित्व उस पर था। इस दायित्व को उसने अपना अधिकार मान लिया और उसकी ओट में उसने अपनी हिंसक मनोवृत्ति और क्रूरता को पूर्ण सन्तुष्ट किया। छोटे-छोटे अपराध करने वालों को भी वह ऐसी भयंकर यातनाएं देता था कि उनके प्राण निकल जाते थे। अपराधियों को लौहदण्डों से पीटना, उन पर उबलते हुए तेल, शीशा, तांबा आदि डाल देना उसका दैनंदिन का कार्यक्रम था। तलवार, चाकू, छुरी आदि से अपराधियों का मांस नोच लेना, उनके अंग भंग कर देना उसके बाएं हाथ का खेल था। वस्तुतः हिंसा से उसे सुख मिलता था। किसी को रोते-चीखते, बिलखते देख कर वह आनंदानुभव करता था। आजीवन वह ऐसा ही करता रहा। मरकर छठी नरक में गया। वहां का दुखमय जीवन पूर्णकर वह मथुरा नगरी के राजा श्रीदाम की रानी बन्धुश्री के गर्भ से पुत्र रूप में जन्मा, जहां उसका नाम नंदीवर्धन रखा गया। युवा हुआ तो महलों में ही अपनी रानियों से घिरा रहता। काम-भोग को ही उसने जीवन का परम रस मान लिया था।

पिता उसे उसके कर्त्तव्य की याद दिलाता तो उसे वह बहुत बुरा लगता। एक दिन उसके पूर्वजन्म के संस्कार प्रबल बन गए। उसने सोचा कि जब तक उसका पिता जीवित है, तब तक उसे मनचाहे भोग भोगने को नहीं मिलेंगे। वह राजा बन जाए तो जीवन में अद्भुत आनंद लूटा जा सकता है। इस विचार के साथ उसने एक योजना बना डाली। महाराज की हजामत करने वाले नाई को लोभ देकर पिता की हत्या का कार्य उसे सौंप दिया।

राजा की हजामत करते हुए नाई ने जैसे ही अपने कार्य को मूर्त्त रूप देना चाहा, उसका हाथ कांप गया। साथ ही उसका हृदय भी कंपित बन गया। उसने सोचा कि यदि राजा बच गया तो उसे परिवार सहित शूली पर चढ़ा देगा। नाई ने राजा के पैर पकड़ लिए और पूरा षड्यन्त्र उसे बता दिया।

पुत्र की ऐसी सोच सुनकर राजा क्रोध से कांपने लगा। सेनापति को आदेश देकर नंदीवर्धन को बन्दी बनवाकर अपने समक्ष बुलाया और उसकी करतूत सबको बताई। राजा के आदेश पर उसे तपाकर लाल किए हुए लौह सिंहासन पर यह कहते हुए बैठाया कि उसे सिंहासन पर बैठने की बहुत शीघ्रता है। उसे तपाए हुए हार और मुकुट पहनाए गए। तांबे, लोहे और शीशे को गर्म कर उस पर उंडेला गया। उसके अंग भंग किए गए। अत्यन्त पीड़ा भोगता हुआ नंदीवर्धन मरकर प्रथम नरक में गया। लम्बे समय तक संसार में भ्रमण करने के पश्चात् वह सिद्ध होगा। —विपाक सूत्र

नंदीषेण कुमार

मगधेश श्रेणिक के पुत्र। एक बार भगवान महावीर राजगृह नगर में पधारे। कुमार नंदीषेण ने भगवान के दर्शन किए। प्रवचन सुना। उनका मन वैराग्य से पूर्ण हो गया। उन्होंने दीक्षित होने का संकल्प कर लिया। वे दीक्षा लेने के लिए भगवान के समक्ष उपस्थित हुए। उस समय भविष्यवाणी हुई—नंदीषेण ! तुम अभी दीक्षा मत लो! तुम्हारे भोगावली कर्म अभी शेष हैं!

नंदीषेण ने भविष्यवाणी सुनी। पर उनका संकल्प अस्थिर नहीं हुआ। उन्होंने कहा—मैं कठोर तप के द्वारा भोगावली कर्मों को नष्ट कर दूंगा। उच्च भावों के साथ नंदीषेण ने संयम ग्रहण कर लिया। उन्होंने कठोर तप किया। उत्कृष्ट संयम को जीया। इससे उन्हें अनेक सिद्धियां प्राप्त हो गईं।

किसी समय नंदीषेण भिक्षा के लिए गए। संयोग से एक वेश्या के घर चले गए। भिक्षा का योग पूछा। गणिका बड़ी चतुर थी। उसने कहा—पास में कुछ है तो यहां योग ही योग है। भूखे नंगे हो तो यहां कुछ नहीं है। नंदीषेण राजकुमार से मुनि बने थे। उनका मुनि जीवन भी असाधारण था। उन्होंने सोचा—यह मुझे भूखा नंगा समझ रही है। इसे अपना परिचय देना आवश्यक है। ऐसा सोचकर उन्होंने ऋद्धि बल से धन का ढेर लगा दिया।

गणिका ने विस्फारित नेत्रों से देखा। मुनि के चरण पकड़ लिए। पांसा पलटकर उसने अपने वचन और व्यवहार में मिश्री घोलकर कहा—मैं व्यर्थ का धन नहीं लूंगी। मेरे साथ रहो तो मैं इसे ग्रहण कर सकती हूं।

नंदीषेण का मन गणिका के आमंत्रण में बंध गया। वे साधु जीवन छोड़कर वहीं रुक गए। मन की ग्लानि के निवारण के लिए उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि वे प्रतिदिन दस लोगों को प्रतिबोधित करके अन्न-जल ग्रहण करेंगे। काफी समय तक वे अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते रहे। एक दिन नौ व्यक्ति तो प्रति-बोधित हो गए। दसवां व्यक्ति एक स्वर्णकार था, जो तर्क पर तर्क कर रहा था। दोपहर ढलने लगी। गणिका ने नंदीषेण के पास कई आमंत्रण भेजे कि वह भोजन कर ले पर नंदीषेण नहीं गए। गणिका ने स्वयं आकर नंदीषेण से भोजन करने के लिए कहा। नंदीषेण ने कहा कि अभी दसवां व्यक्ति शेष है।

गणिका ने कहा—दसवें आप स्वयं बन जाइए पर भोजन तो कर लीजिए! सुनकर नंदीषेण के हृदय पर एक चोट लगी। वे प्रबुद्ध बन गए। बोले—ठीक है। आज दसवां मैं स्वयं बनता हूं। कहकर वे उठ खड़े हुए और सीधे महावीर के समवशरण में पहुंच गए। भूल के लिए प्रायश्चित्त किया। पुनर्दीक्षित होकर उग्र तप में लीन हो गए। आयु पूर्ण कर देव बने। च्यव कर सिद्ध होंगे।

नंदीषेण मुनि

करोड़ों वर्ष पूर्व हुए नंदीषेण मुनि एक सेवाव्रती मुनि के रूप में आज भी स्मरण किए जाते हैं। वे सेवा के प्रतिमान पुरुष थे।

नंदीषेण नंदी ग्राम के एक दरिद्र ब्राह्मण के पुत्र थे और जन्म से ही अत्यन्त कुरूप थे। बचपन में ही उनके माता-पिता का देहान्त हो गया था। मामा ने उनका पालन-पोषण किया। एक बार मामा के पुत्रों का विवाह होते देख नंदीषेण भी विवाह के लिए ललचाया। उसने अपनी इच्छा मामा से कही। मामा की सात पुत्रियां थीं। मामा ने अपनी पुत्रियों को नंदीषेण से विवाह के लिए कहा तो पुत्रियों ने स्पष्टतः इन्कार करते हुए कहा कि वे नंदीषेण से विवाह करने के स्थान पर मर जाना पसंद करेंगी। इससे नंदीषेण को अपने आप से घृणा हो गई। आत्महत्या के संकल्प के साथ वह एक पर्वत शिखर पर चढ़ गया। सौभाग्य से वहां एक मुनि के उसे दर्शन हुए। मुनि ने नंदीषेण की दशा को देखा और उसे मानव-जीवन का महत्व समझाया। मुनि ने संयम और सेवा का उपदेश नंदीषेण को दिया। मुनि के वचनों पर श्रद्धा कर नंदीषेण ने संयम ग्रहण कर लिया। सेवाव्रत के साथ-साथ वह बेले-बेले का तप करने लगा। जहां भी उसे वृद्ध, ग्लान और सेव्य संत मिलता वह पूर्ण समर्पण भाव से सेवा में जुट जाता। इससे नंदीषेण का यश चतुर्दिक् व्याप्त हो गया।

एक बार देवराज इन्द्र ने अपनी परिषद् में नंदीषेण मुनि के सेवा भाव की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। एक देव नंदीषेण की सेवा की परीक्षा के लिए आया। नंदीषेण मुनि बेले का पारणा करने के लिए बैठ ही रहे थे कि वह देव एक युवा मुनि का रूप धरकर उनके पास पहुंचा और बोला, वाह सेवाव्रति! लोगों को दिखाने को सेवाव्रती बने हो! फलां स्थान पर एक वृद्ध मुनि अतिसार से पीड़ित है और तुम यहां भोजन करने में मस्त बने हो! सुनकर नंदीषेण तत्क्षण खड़े हो गए और वृद्ध मुनि के पास पहुंचे और मुनि को विनय भाव सहित अपने कंधे पर बैठाकर उपाश्रय की ओर चल दिए। वृद्ध मुनि ने नंदीषेण के कन्धे पर बैठे-बैठे ही दुर्गन्धमय मल-मूत्र से उनका शरीर भर दिया। पर नंदीषेण के मन में तनिक भी घृणा का भाव नहीं आया। वृद्ध मुनि रूपी देव ने कटूक्तियों और मुष्ठि प्रहारों से नंदीषेण को चलित बनाना चाहा, पर नंदीषेण के हृदय में तो भक्ति भाव और समता भाव का सागर लहरा रहा था। देखकर देवता दंग रह गया। वास्तविक रूप में प्रकट होकर वह मुनि के चरणों में अवनत हो गया और बोला, देवराज का कथन अक्षरशः सच है। आपकी सेवा अद्भुत है।

सुदीर्घ काल तक नंदीषेण मुनि ने सेवा और संयमव्रत का पालन कर देहोत्सर्ग किया और आठवें देवलोक में गए। पर देहोत्सर्ग से पूर्व ही उन्होंने एक निदान कर लिया कि अगर उनकी करणी का कोई फल है तो वे जन्मान्तर में स्त्रीवल्लभ बनें। उसी निदान के फलस्वरूप नंदीषेण का जीव स्वर्ग से च्यवन करने पर वसुदेव के रूप में जन्मा, जिसका रूप कामदेव के समान सुन्दर था। वसुदेव स्त्रीवल्लभ थे और बहत्तर हजार स्त्रियों के साथ उन्होंने पाणिग्रहण किया था। देवकी उनकी पटरानी थी, जिससे श्रीकृष्ण का जन्म हुआ था।

—आवश्यक चूर्णि

नंदोत्तरा

महाराज श्रेणिक की रानी। परिचय नंदा के समान है। —अन्तगडसूत्र वर्ग 7, अध्ययन 3

नकुल

हस्तिनापुर नरेश महाराज पाण्डु की द्वितीय रानी माद्री का अंगजात। सहदेव उसका सहोदर था। नकुल अश्वकला में प्रवीण था। वह एक अति सुरूप पुरुष था। वह वीर और धीर था। आजीवन अपने भाइयों का अनुगामी बनकर देहच्छायावत् उनके पीछे-पीछे चलता रहा। अंत में अग्रजों के साथ प्रव्रजित बन उसने भी सुगति प्राप्त की।

नग्गति (प्रत्येक बुद्ध)

ये प्रत्येकबुद्ध थे। प्रत्येकबुद्ध वह होता है, जो किसी घटना या दृश्य को देखकर आत्मबोध को प्राप्त कर लेता है। ये मुनि बनने से पूर्व गान्धार देश की राजधानी पुण्ड्रवर्धन नगर के राजा थे, नाम था सिंहरथ। सिंहरथ से नग्गति कैसे नाम पड़ा, इसके पीछे एक घटना है जो इस प्रकार है—राजा सिंहरथ को घुड़सवारी का बहुत शौक था। एक बार वक्रशिक्षित अश्व पर सवारी करने से अपने नगर से बहुत दूर जंगलों में भटक गए। घोड़ा थककर जहां ठहरा, वहां सामने एक पर्वत था और उस पर एक सुन्दर राजमहल था। कौतूहलवश राजा उस महल में गया। वहां एक सुन्दर और युवा राजकुमारी ने राजा का स्वागत किया। राजा के पूछने पर राजकुमारी ने अपना परिचय दिया कि वह वैताढ्य पर्वत के विद्याधर राजा दृढ़शक्ति की पुत्री है। एक दुष्ट विद्याधर उसका अपहरण कर उसे यहां ले आया। उसके भाई ने उस दुष्ट का पीछा किया। यहीं दोनों में परस्पर युद्ध हुआ और दोनों ने एक-दूसरे का वध कर दिया। इस समय वह एकाकी और निःसहाय है।

सिंहरथ की संवेदना पाकर राजकुमारी ने उन्हें वर रूप में चुन लिया। दोनों ने गन्धर्व विवाह कर लिया। बाद में राजा उसे अपने नगर ले गया। राजा को भ्रमण का तो शौक था ही। वह अक्सर घूमने के लिए उसी पहाड़ पर जाने लगा। निरन्तर पर्वत—नग पर गति करने से उसे नग्गति कहा जाने लगा।

एक बार नग्गति विशाल सेवक समूह के साथ वन-विहार को गए। मार्ग में उन्होंने पूरी शान से खड़े एक फलों और फूलों से लदे आम्रवृक्ष को देखा। वे उसकी शान और समृद्धि पर मुग्ध हो गए। हाथ ऊपर उठाकर उन्होने एक गुच्छा तोड़ लिया और आगे चले। अनुगामी सेवक दल ने भी राजा की नकल की और प्रत्येक ने एक-एक गुच्छा तोड़ लिया। देखते ही देखते वह आम्रवृक्ष अपनी समृद्धि खोकर ठूंठ बन गया। लौटते हुए राजा ने उस ठूंठ को देखा। पूछने पर उन्हें ज्ञात हुआ कि यह वही आम्रवृक्ष है, जो कुछ देर पहले पूर्ण वैभव में मुस्करा रहा था।

सुनकर नग्गति को एक गहरा आघात लगा, जिसने उनकी प्रमाद निद्रा को भंग कर दिया। उन्होंने सोचा, रूप और वैभव कितना अस्थिर है! इसको विलीन होते क्षण भर भी नहीं लगता! इससे पूर्व कि मेरा रूप और वैभव क्षीण हो, मुझे आत्मकल्याण का उपाय कर लेना चाहिए!

वहीं खड़े-खड़े नग्गति को अवधिज्ञान हो गया। उन्होंने मुनिव्रत धारण कर लिया और अकेले ही निर्जन वनों की ओर प्रस्थित हो गए। सम्यक् साधना से केवलज्ञान साधकर मोक्ष में गए।

—उत्तराध्ययन, वृत्ति 9

नन्नसूरि (आचार्य)

वी.नि. की चौदहवीं शताब्दी के एक जैन आचार्य। श्रमणदीक्षा लेने से पूर्व नन्नसूरि तलवाड़ा नगर के राजा थे। एक बार वे शिकार के लिए वन में गए। मृगसमूह पर उन्होंने बाण चलाया। बाण एक गर्भिणी मृगी के उदर में लगा। मृगी का उदर फट गया और गर्भस्थ शावक जमीन पर आ गिरा। मृगी और शावक ने तड़प-तड़प कर प्राण छोड़े। यह घटना राजा ने अपनी आंखों से देखी। उससे उनका अन्तर्मन द्रवीभूत बन गया। पश्चात्ताप की अग्नि में उनका हृदय दग्ध हो गया। वे हिंसात्मक जीवन से विरक्त हो गए और राजपाट का त्याग कर मुनि बन गए। वे राजर्षि कहलाए और आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। उनसे राजगच्छ का प्रारंभ हुआ। आचार्य नन्नसूरि के शिष्य परिवार और शिष्य परम्परा में अनेक विद्वान मुनि और आचार्य हुए। यशोवादी सूरि, सहदेव सूरि, प्रद्युम्न सूरि आदि राजगच्छ के विख्यात आचार्य हुए।

नभराय राजा

एक राजकुमारी, जिसका पाणिग्रहण राजकुमार सूरप्रभ (विहरमान तीर्थंकर) से हुआ था। (देखिए- सूरप्रभ स्वामी)

नमिनाथ (तीर्थंकर)

इक्कीसवें तीर्थंकर। दसवें देवलोक से च्यवकर भगवान मिथिलानरेश विजय की महारानी वप्रा की रत्नकुक्षी में अवतरित हुए। श्रावण कृष्ण अष्टमी को प्रभु का जन्म हुआ। नाम रखा गया नमि। यौवनवय में अनेक कन्याओं से उनका पाणिग्रहण हुआ। पांच हजार वर्षों तक प्रभु ने राज्य किया। तब वर्षीदान देकर आषाढ़ कृष्ण नवमी के दिन प्रभु दीक्षित हो गए। नव मास की साधना में शेष कर्मराशि को भस्मीभूत कर प्रभु केवली बने और धर्मतीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर पद पर अभिषिक्त हुए। प्रभु के उपदेशों से लाखों भव्य जीवों ने आत्मकल्याण का पथ प्रशस्त किया। दस हजार वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर प्रभु शाश्वत मुक्ति धाम में जा विराजे।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र 7/11

नमि राजर्षि (प्रत्येक बुद्ध)

सुदर्शन नगर के युवराज युगबाहु और मदनरेखा के पुत्र। दुष्कर्मों के विपाक के कारण युगबाहु उनके अग्रज मणिरथ के हाथों मृत्यु को प्राप्त हो गए। सगर्भा मदनरेखा ने जंगलों में शरण ली। जंगल में ही उसने एक पुत्र को जन्म दिया। परन्तु दुष्कर्मों ने यहां भी माता और नवजात शिशु को एक-दूसरे से अलग कर दिया। वन विहार को आए मिथिलानरेश को वन में सूर्य-सा तेजस्वी बालक प्राप्त हो गया। मिथिलानरेश निःसंतान था। उस बालक को दैव-वरदान मानकर वह अपने साथ ले गया और उसे अपना पुत्र घोषित कर दिया। इस घटना के बाद अनेक शत्रु राजा महाराज पद्मरथ के समक्ष नत हो गए। परिणामतः महाराज ने अपने पुत्र का नाम नमि रखा।

नमि युवा हुए तो एक हजार कन्याओं के साथ उनका पाणिग्रहण किया गया। उन्होंने सुदीर्घ काल तक राजपद पर रहते हुए सुशासन किया। किसी समय उनके शरीर में दाहज्वर उत्पन्न हो गया। वैद्यों के परामर्शानुसार उनकी रानियां उनके शरीर पर लेपन करने के लिए चन्दन घिसने लगीं। हाथों में पहने कंगन परस्पर घर्षण के कारण शोर उत्पन्न करने लगे। इस शोर से राजा की व्याधि और अधिक बढ़ गई। उन्होंने इस शोर को बन्द करने का निर्देश दिया। रानियों ने मंगलसूचक एक-एक कंगन हाथों में रख कर शेष कंगन उतार दिए। शोर बन्द हो गया। इससे राजा को कुछ शान्ति मिली। उन्होंने पूछा कि यह शोर कैसा था। उन्हें बता दिया गया कि चन्दन घिसने के कारण रानियों के हाथों में रहे हुए कंगन पारस्परिक संघर्षण से शोर उत्पन्न कर रहे थे। राजा ने पूछा कि क्या चन्दन घिसना बन्द कर दिया गया है। मन्त्री ने राजा को सन्तुष्ट करते हुए उत्तर दिया कि चन्दन अभी भी घिसा जा रहा है। परन्तु हाथों में अब एक-एक कंगन रखा गया है। एक अकेला कंगन शोर नहीं करता।

'अकेला कंगन शोर नहीं करता' यह वाक्य महाराज नमि के लिए चिन्तन-सूत्र बन गया। 'एकत्व भावना' का चिन्तन करते हुए वे प्रतिबुद्ध हो गए और राजपाट तथा मोह-ममत्व का विसर्जन कर मुनि बन गए। एकान्त वन में जाकर ध्यानस्थ हो गए। देवराज इन्द्र यह जानने के लिए कि महाराज नमि का त्याग विषाद से जन्मा है अथवा ज्ञान से, ब्राह्मण वेश धारण कर उनके समक्ष आए और उनकी परीक्षा के लिए विभिन्न आध्यात्मिक प्रश्न पूछे। महाराज नमि का प्रत्येक उत्तर सटीक और वैराग्यपूर्ण पाकर इन्द्र सन्तुष्ट

हुए और नमि राजर्षि की स्तुति करते हुए अपने स्थान पर लौट गए। उग्र साधना से सर्व कर्म खपा कर नमिराजर्षि सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए। ये प्रत्येक बुद्ध कहलाए।

नमि-विनमि

भगवान ऋषभदेव के साथ दीक्षित होने वाले दो सामन्तों, कच्छ और महाकच्छ, के पुत्र। जब भगवान ने अपने पुत्रों को राज्य बांटकर दीक्षा ली, उस समय नमि और विनमि अन्यत्र गए हुए थे। लौटे तो उन्हें पूरी बात ज्ञात हुई। वे भगवान के पास गए और उनसे अपने हिस्से का राज्य मांगने लगे। पर भगवान तो मौन साधना कर रहे थे! नमि और विनमि भगवान के साथ रहकर उनकी सेवा करने लगे।

एक बार धरणेन्द्र भगवान के दर्शनों के लिए आया। नमि-विनमि की आकांक्षा जानकर उसने कहा कि वे भरत के पास जाएं और राज्य की याचना करें। उन्होंने उत्तर दिया—वे भरत से राज्य नहीं मागेंगे। मांगेंगे तो भगवान से ही मांगेंगे। अन्यथा प्रभु के चरणों की सेवा में ही जीवन अर्पित कर देंगे। उनकी दृढ़ आस्था देखकर धरणेन्द्र बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उन दोनों को अनेक विद्याएं दीं और वैताढ्य पर्वत की उत्तर तथा दक्षिण श्रेणियों पर अनेक नगर बसाकर वहां का राज्य दिया।

दिग्विजय के समय भरत तथा नमि-विनमि के मध्य घोर युद्ध हुआ। आखिर विनमि ने अपनी पुत्री सुभद्रा का विवाह भरत से कर दिया। सुभद्रा ही भरत चक्रवर्ती की स्त्री-रत्न बनीं।

कालान्तर में नमि-विनमि ने दीक्षा ली और निर्वाण पद पांया। इन्हीं भाइयों से जो वंश चला, वह विद्याधर वंश कहलाया।

(क) नमुचि

एक दुष्ट-चरित्र मंत्री, जो अपने बुद्धि कौशल से चक्रवर्ती सम्राट् सनत्कुमार का प्रियपात्र मंत्री बन गया था। पर शीघ्र ही उसका श्रमणद्वेष और दुष्टता चक्रवर्ती के समक्ष प्रकट हो गई। चक्रवर्ती ने उसे धिक्कारते हुए नगर-निर्वासन दे दिया। (देखिए-ब्रह्मदत्त)

(ख) नमुचि

जैन श्रमणों का विरोधी एक अमात्य, जिसे अन्ततः जैन मुनियों की महिमा के समक्ष नतमस्तकता स्वीकारनी पड़ी। (देखिए- महापद्म चक्रवर्ती) —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 7

नयनंदी (आचार्य)

दिगम्बर परम्परा के एक विश्रुत विद्वान जैन आचार्य। वे नंदी संघ के आचार्य थे और उनके गुरु का नाम आचार्य माणिक्यनंदी था।

'सुदंसण चरिउ' अपभ्रंश भाषा में रचित आचार्य नयनंदी का एक उत्कृष्ट काव्य ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में सुदर्शन श्रेष्ठी का चरित्र वर्णित है। 'सयदविहिविहाण' नयनंदी की एक अन्य प्रतिष्ठित रचना है।

आचार्य नयनंदी वी.नि. की 16वीं शती के आचार्य थे। —सुदंसण चरिउ

नयसार

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह में स्थित महावप्र विजय की जयंती नामक नगरी के राजा शत्रुमर्दन का विश्वस्त सेवक और पृथ्वी प्रतिष्ठानपुर गांव का मुखिया। उसका यह नियम था कि वह अतिथि को भोजन कराके ही स्वयं भोजन ग्रहण करता था। एक बार जब वह राजाज्ञा से वन में भवन निर्माण के उपयोग में

आने वाली लकड़ियां लेने गया और दोपहर में भोजन के समय उसने अपने नियम के पालन हेतु अतिथि की प्रतीक्षा की तो उसे कुछ मुनि दिखाई पड़े। उसने भक्ति भाव से मुनियों को आहार प्रदान किया और उन्हें नगर का मार्ग बताया। इस पर मुनियों ने नयसार को सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया। नयसार ने मुनियों के उपदेश को अपने आचरण में ढाल लिया और अपना समग्र जीवन उसी के अनुरूप जीया। इससे उसके जीवन को एक दिशा मिली और सम्यग्दर्शनपूर्वक यात्रा करते-करते वह सत्ताईसवें भव में भगवान महावीर के रूप में जन्म लेकर और तीर्थंकरत्व की ऊंचाई का स्पर्श कर सिद्ध हुआ।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

(क) नरवर्मा

मोटपल्ली नामक नटीय नगर का अधिपति, जो न्यायप्रिय और प्रजावत्सल राजा था। (देखिए-उत्तम कुमार)

(ख) नरवर्मा

भरतक्षेत्रान्तर्गत विजयवती नगरी का राजा, एक सुदृढ़ सम्यक्त्वी पुरुषरत्न। मदनदत्त नामक अपने मित्र के मुख से उसका और अपने पुत्र हरिदत्त का पूर्वजन्म का सहोदर-सम्बन्ध सुनकर उसके हृदय में जिन-धर्मानुराग का बीजारोपण हुआ। फिर एक बार आचार्य गुणंधर की धर्म देशना सुनकर उसे देव, गुरु और धर्म पर अकाट्य श्रद्धा हो गई। देवराज शक्रेन्द्र तक अपने मुख से राजा नरवर्मा की सम्यक्त्व- सुदृढ़ता की प्रशस्ति करने लगा। सुदत्त नामक देव ने एक बार राजा की श्रद्धा की परीक्षा ली। देव देवमाया फैलाकर भी राजा के सम्यक्त्व को अस्थिर नहीं कर पाया। सम्यक्त्व-स्नात जीवन पूर्ण कर राजा सुगति का अधिकारी बना।

—कथा रत्नकोष, भाग-1

(क) नरवाहन

श्रीबाल नगर का राजा। (देखिए-ललितांग कुमार)

(ख) नरवाहन

पैठणपुर नरेश। (देखिए-हंसराज)

नरविक्रम

महेन्द्रपुर का राजा। (देखिए-कलावती)

नर्मदासुंदरी

नर्मदापुर नगर के श्रेष्ठी सहदेव की पुत्री। सहदेव की पत्नी को गर्भकाल में नर्मदा स्नान का दोहद उत्पन्न हुआ, इसीलिए उन्होंने अपनी पुत्री का नाम नर्मदासुंदरी रखा था। सहदेव एक धनी व्यापारी था। उसने ही नर्मदापुर नगर बसाया था। नर्मदासुंदरी युवा हुई तो उसका विवाह महेश्वरदत्त नामक युवक से हुआ, जो एक श्रमणोपासक श्रावक था। किसी समय महेश्वरदत्त व्यापार के लिए म्लेच्छ द्वीप जा रहा था। नर्मदासुंदरी उसके साथ थी। मार्ग में दुर्दैव के उदय से महेश्वरदत्त को नर्मदासुंदरी के चरित्र पर संदेह हो गया और उसने उसे जंगल में सुप्तावस्था में ही छोड़ दिया। व्यापार के पश्चात् महेश्वरदत्त अपने घर लौट आया और उसने कल्पित समाचार परिवार और परिजनों को दिया कि नर्मदासुंदरी को मार्ग में सिंह ने खा लिया। उसने पत्नी की उत्तर क्रियाएं भी सम्पन्न कर दीं।

जंगल में नर्मदासुंदरी ने स्वयं को एकाकी और असहाय पाया। वह रोने लगी, पर उसका अरण्य में

रुदन अरण्यरोदन ही सिद्ध हुआ। उसने एक पर्वत गुफा में शरण ली और धर्माराधनापूर्वक कष्ट का समय व्यतीत करने लगी।

वीरदास सहदेव का सहोदर और नर्मदासुंदरी का चाचा था। वह व्यापार के लिए उधर से गुजरा तो उसे नर्मदासुंदरी मिल गई। वह भ्रातृसुता के साथ म्लेच्छनगर में व्यापार के लिए पहुंचा। वहां पर हरिणी नामक गणिका ने नर्मदासुंदरी को अपने कपटजाल में फंसा लिया। परन्तु काजल की कोठरी में रहकर भी नर्मदासुंदरी ने अपने तन पर कालिख न लगने दी। मार और मनुहार दोनों विधियों से वह नर्मदासुंदरी को कुशील सेवन के लिए राजी नहीं कर पाई। पराजित होकर उसने उसे एक अन्धेरी कोठरी में बन्दिनी बना दिया। गणिका के बन्धनों में बंधी नर्मदासुंदरी नवकार मंत्र का पाठ करते हुए कटु समय को व्यतीत करने लगी।

वीरदास ने नर्मदासुंदरी को बहुत खोजा, पर असफल रहा। वह निराश होकर अपने नगर लौट आया। गणिका ने अपनी दाल गलते न देखकर नर्मदासुंदरी को पर्याप्त धन लेकर राजा को भेंट कर दिया। नर्मदासुंदरी ने राजा से आत्मरक्षा के लिए पागलपन का अभिनय करना शुरू कर दिया। राजा ने उसे अपने महलों से निकाल दिया। राजा का क्रोध गणिका पर उतरा, उसने उसे कारागृह में डाल दिया।

नर्मदापुर के जिनदास श्रेष्ठी आखिर नर्मदासुंदरी को खोजने में सफल हो गए। उसे लेकर वे नगर में आ गए। नर्मदासुंदरी माता-पिता से मिली। अपनी उत्तर क्रिया आदि की बात जानकर नर्मदासुंदरी का हृदय वैराग्य से पूर्ण हो गया। उसने आर्हती दीक्षा धारण कर ली। विहारक्रम में एक बार साध्वी नर्मदासुंदरी महेश्वरदत्त के नगर में पहुंची। उसके संसारपक्षीय पति, सास और श्वसुर उसके दर्शनों के लिए गए। पूरे परिवार ने नर्मदासुंदरी को पहचान लिया। सास के प्रश्न पर नर्मदासुंदरी ने पति विरह के कारण और बाद के घटनाक्रम को संक्षेप में कहा, जिसे सुनकर महेश्वरदत्त पानी-पानी हो गया। पूरा परिवार विरक्त होकर प्रव्रजित हो गया।

साध्वी नर्मदासुंदरी ने निरतिचार संयम की आराधना करते हुए सिद्ध पद प्राप्त किया। मुनि महेश्वरदत्त और उसके माता-पिता ने भी उग्र संयम का पालन कर समस्त कर्मों को अशेष कर मोक्ष प्राप्त किया।

—मूलशुद्धि प्रकरण टीका (देवचन्दसूरि)/ नर्मदासुंदरी कथा (महेन्द्र सूरि, 11वीं शती)

नल (राजा)

जैन और जैनेतर वाङ्मय में नल का चरित्र प्राप्त होता है। वे अयोध्यापति महाराज नैषध के पुत्र थे। पिता के पश्चात् वे राजगद्दी पर बैठे। विदर्भ नरेश भीम ने अपनी पुत्री दमयन्ती का स्वयंवर रचा। दमयन्ती ने नल को पति रूप में चुना। नल और दमयन्ती सुखपूर्वक जीवन यापन करने लगे। नल का एक छोटा भाई था कुबेर। वह छलिया और वंचक था। किसी समय नल और कुबेर द्यूतक्रीड़ा खेल रहे थे। दुर्दैववश नल अपना सर्वस्व हार गए। उन्हें अपनी रानी दमयन्ती के साथ वनवास भोगना पड़ा। नल नहीं चाहते थे कि दमयन्ती उनके साथ कष्ट भोगे। इसी विचार से वे वन में सोई हुई दमयन्ती के उत्तरीय पर उसके पीहर चले जाने का निर्देश लिखकर एक दिशा में प्रस्थित हो गए। दमयन्ती अचलपुर में कुछ समय रहकर अपने पिता के पास चली गई।

उधर नल ने जंगल में भड़के दावानल में एक नाग को जलते देखा। उसने नागराज को अग्नि से बाहर निकाला। नाग ने नल को डँस लिया, जिससे वह विद्रूप और कुब्ज हो गया। उपकार के बदले में अपकार

पाकर नल बहुत दुखी हुआ। पर नागराज अन्य कोई नहीं बल्कि उसी का पिता नैषध था, जो पांचवें स्वर्ग में देवता बना था। उसने प्रकट होकर नल से कहा कि उसका यह कुब्जरूप संकट की इस घड़ी में उसके लिए रक्षक होगा। साथ ही उसने एक श्रीफल और एक करंडिका नल को दिए। बताया कि इनके द्वारा तुम अपना मूल रूप प्राप्त कर सकते हो। कहकर नैषध अन्तर्धान हो गया।

सुसुमारपुर नरेश दधिपर्ण के पास नल को रसोइए का कार्य मिल गया। वहां उसने गजदमनी विद्या से एक मदोन्मत्त हाथी को वश में कर पर्याप्त सम्मान अर्जित किया। वह सूर्यपाक रसवती बनाने में भी कुशल था। उधर महाराज भीम ने नल की खोज के लिए दमयन्ती के पुनर्स्वयंवर की घोषणा की। दधिपर्ण के पास जब यह सूचना पहुंची तो स्वयंवर का एक ही दिन शेष था। सैकड़ों कोस की दूरी एक ही दिन में तय करना लगभग असंभव था। पर नल ने उसे विश्वास दिया कि वह उसे उचित समय पर कुंडिनपुर पहुंचा देगा। नल अश्व संचालन कला में दक्ष था। आखिर कुब्ज नल दधिपर्ण नरेश का सारथी बनकर कुंडिनपुर पहुंचा। उसने श्रीफल को तोड़ा तो उसमें से दिव्य वस्त्र निकले। करंडिका से एक अमूल्य हार प्राप्त हुआ। उन वस्त्रों और हार को धारण करते ही नल अपने मूल रूप में आ गया। वह स्वयंवर मण्डप में पहुंचा। दमयन्ती ने नल को अपना पति चुनना ही था। महाराज भीम की कृत्रिम स्वयंवर की युक्ति सफल हो गई।

उधर कुबेर के शासन से अयोध्या की जनता पूर्णतः असंतुष्ट थी। अपनी अयोग्यता से कुबेर भी परिचित हो चुका था। वह नल के समक्ष नत हो गया। अपनी धूर्तता के लिए उसने नल से क्षमा-याचना की। नल पुनः अयोध्या के सिंहासन पर आरूढ़ हुए।

सुदीर्घ काल तक सुशासन के पश्चात् नल ने अपने पुत्र को राज सिंहासन दिया और स्वयं संयम की साधना कर देवलोक में गया। महासती दमयन्ती ने भी संयम स्वीकार किया और स्वर्ग प्राप्त किया।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुषचरित्र, पर्व 8

(क) नवमिका (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 22

(ख) नवमिका (आर्या)

इनका समग्र परिचय काली आर्या के समान है। विशेषता इतनी है कि इनका जन्म काम्पिल्यपुर नगर में हुआ था और मृत्यु के पश्चात् यह शक्रेन्द्र महाराज की पट्टरानी के रूप में जन्मी। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 9, अ. 6

नवमुख

वर्तमान अवसर्पिणी काल के अष्टम् नारद। ये श्री राम के समय में हुए थे। (देखिए-नारद)

नहपान

सौराष्ट्र और गुजरात का शकवंशी एक राजा, जो ईसा की प्रथम शताब्दी में हुआ। अनार्य कुल में उत्पन्न हुए इस राजा ने भारतवर्ष में रहकर यहां के आर्य धर्म को अपनाया। जैन धर्म का उसके जीवन पर उत्कृष्ट प्रभाव था। कहते हैं कि उसने चालीस वर्ष तक शासन करने के पश्चात् अपने नगरसेठ अंतरंग मित्र सुबुद्धि के साथ जिनदीक्षा धारण कर ली थी। संभवतः उन्होंने आचार्य अर्हद्बलि के चरणों में प्रव्रज्या धारण

की थी। बाद में श्रुतधर धरसेन आचार्य ने मुनि सुबुद्धि और मुनि नहपान को पुष्पदन्त और भूतबलि, ये नवीन नाम प्रदान किए और उन्हें श्रुत का दान दिया।

नाग

वैशाली नरेश गणाध्यक्ष महाराज चेटक का रथिक और वरुण नामक वैशाली के सेनापति का पिता। (देखिए-वरुण)

नाग गाथापति

भद्दिलपुरवासी एक धनपति, अजितसेनादि देवकी-पुत्रों के पालक पिता। इनकी पत्नी का नाम सुलसा था। (देखिए-सुलसा गाथापत्नी)

—अंतगडसूत्र

(क) नागदत्त

उज्जयिनी नगरी के सेठ सागरदत्त का पुत्र, एक सदाचारी और श्रमणोपासक युवकरत्न। उसका विवाह उसी नगरी के श्रेष्ठी समुद्रदत्त की पुत्री प्रियंगुश्री से सम्पन्न हुआ। प्रियंगुश्री के भाई का नाम नागसेन था, जो कुटिल और धूर्त था। नागसेन नागदत्त पर विशेष रूप से कुपित था, जिसका कुल कारण इतना ही था कि वह अपनी बहन का विवाह अपने एक मित्र के साथ करना चाहता था। पर एक बार जब वह ग्रामान्तर गया हुआ था तो उसके पिता ने प्रियंगुश्री का विवाह सागरदत्त के पुत्र नागदत्त से कर दिया।

नागदत्त का नगर-भर में मान और सम्मान था। नगरनरेश महाराज धर्मपाल भी उसका सम्मान करते थे। नगर के बाहर उद्यान में मुनिजन पदार्पित होते तो नागदत्त अग्रणी रहकर उपदेश सुनता और मुनियों की आहार आदि सम्बन्धी विशेष सेवाराधना करता था। एक बार उद्यान में मुनि पधारे। नागदत्त प्रवचन सुनने के लिए गया। मुनियों ने धर्म-शुक्ल आदि ध्यान और कायोत्सर्ग पर विशेष प्रवचन दिया। प्रवचन सुनकर उस पर चिन्तन करता हुआ नागदत्त उद्यान से निकला। तत्क्षण उसके अन्तर्मानस में चिन्तन स्फुरण हुआ कि कायोत्सर्ग में अवस्थित बनकर धर्मध्यान करना चाहिए। उद्यान से कुछ ही दूरी पर मार्ग के निकट ही नागदत्त कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े होकर धर्म-ध्यान में लीन हो गया। उधर से नागसेन गुजरा। नागदत्त को कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े देखकर उसके प्रति उसके हृदय में रहा हुआ द्वेषभाव जाग गया। उसने अपने कण्ठ का मणिहार नागदत्त के गले में डाल दिया और कोतवाल के पास जाकर शिकायत कर दी कि उसका बहुमूल्य मणिहार नागदत्त चुराकर भाग गया है। नागसेन ने नागदत्त के भागने की दिशा भी बता दी। कोतवाल उस दिशा में गया। उद्यान के निकट ही उसने नागदत्त को कायोत्सर्ग मुद्रा में देखा। उसके गले में पड़े हुए हार को भी देखा। प्रमाण मौजूद था। फलतः नागदत्त को बन्दी बनाकर कोतवाल ने कारागृह में डाल दिया। नागदत्त ने उपस्थित हुए उपसर्ग को अनुभव किया। उसका हृदय द्वेष और ईर्ष्या की खान संसार से विरक्त हो गया। उसने अपने मन में संकल्प संजो लिया कि यदि उपस्थित उपसर्ग से उसे मुक्ति मिल गई तो वह संसार का त्याग कर प्रव्रज्या धारण कर लेगा।

दूसरे दिन कोतवाल ने नागदत्त को महाराज धर्मपाल की न्यायसभा में उपस्थित किया। प्रमाण नागसेन के पक्ष में थे और नागदत्त के विपक्ष में। परिणामतः उज्जयिनी के न्यायानुसार महाराज धर्मपाल ने नागदत्त को मृत्युदण्ड प्रदान किया। वधिक ने नागदत्त की हत्या के लिए जैसे ही तलवार का प्रहार उसकी गर्दन पर किया, तलवार पुष्पमाला के रूप में परिणत हो गई। धर्म की जय-विजय हुई। नागदत्त की सभी ने स्तुतियां कीं और नागसेन को सभी ने धिक्कारा।

अपने संकल्प के अनुरूप नागदत्त ने प्रव्रज्या धारण कर ली। महाराज धर्मपाल ने संसार को मायाजाल मानकर त्याग दिया और वे भी नागदत्त के साथ ही प्रव्रजित हो गए। निरतिचार संयम की आराधना द्वारा दोनों परमपद के अधिकारी बने। —बृहत्कथा कोष, भाग 1, (हरिषेण आचार्य)

(ख) नागदत्त

नागदत्त अपने पूर्वभव में समुद्रदत्त नामक श्रेष्ठी था, जो वसन्तपुर नगर का रहने वाला था। एक अन्य श्रेष्ठी वसुदत्त उसका घनिष्ठ मित्र था। दोनों मित्रों ने एक बार वज्रगुप्त नामक मुनि से श्रावक धर्म अंगीकार किया। कालक्रम से दोनों मित्र आयुष्य पूर्ण कर देवगति में गए। वहां पर भी उन दोनों के मध्य प्रगाढ़ मैत्री भाव बना रहा। वहां रहते हुए ही उन दोनों ने निश्चय किया कि उनमें से जो पहले आयुष्य पूर्ण कर मनुष्य भव में जाएगा, उसे दूसरा प्रतिबोधित करेगा। फलतः समुद्रदत्त का जीव पहले आयुष्य पूर्ण कर धरानिवास नगर के श्रेष्ठी सागरदत्त के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। वहां पर उसका नाम नागदत्त रखा गया। यौवन वय में नागदत्त को विशेष रूप से संगीत से अनुराग हो गया। उसने एक मित्र-मण्डली बनाई और उसके साथ वह संगीत में निमग्न रहने लगा । उसका एक अन्य शौक था—नागों से खेलना। नागों को वश में करने की विद्या में उसे महारथ प्राप्त थी।

उसके मित्र वसुदत्त के जीव देव ने वचनानुसार उसे प्रतिबोध देने के कई प्रयास किए, परन्तु सभी सुखद प्रयास विफल रहे। आखिर देव ने इस विचार से कि दुख में ही व्यक्ति को धर्म का स्मरण होता है, एक कठोर उपाय से नागदत्त को प्रतिबोध दिया। नागदत्त अन्ततः प्रतिबोध को प्राप्त हो गया। उसने अपने मित्र वसुदत्त के जीव देव को धन्यवाद दिया और प्रत्येक-बुद्ध मुनि बनकर एकाकी साधना में निमग्न हो गया। उत्कृष्ट चारित्र की आराधना से केवलज्ञान प्राप्त कर वह मोक्ष में गया।

(ग) नागदत्त (गाथापति)

मणिपुर नगर का एक सद्गृहस्थ। एक बार उसने उत्कृष्ट भावों से इन्द्रदत्त नामक मासोपवासी अणगार को आहार दान दिया। उसने उस दान के फलस्वरूप उत्कृष्ट पुण्य का अर्जन किया। वहां से आयुष्य पूर्ण कर वह महापुर नरेश बल के पुत्र (महाबल) रूप में जन्मा। महाबल के भव में उसने भगवान महावीर के चरणों में आर्हती प्रव्रज्या अंगीकार कर सिद्ध पद पाया। —विपाकसूत्र द्वि श्रु. अ. 7

(घ) नागदत्त (सेठ)

उज्जयिनी नगरी का एक धनी, मानी, प्रतिष्ठित और महत्वाकांक्षी सेठ। उसके पास अब्जों की संपत्ति थी परन्तु उसका उपयोग दान-पुण्य और परोपकार में कम तथा भोग-विलास और प्रदर्शन में ही मुख्यतया होता था। सेठ ने नगर के मध्य अपार धन व्यय कर एक सप्तमंजिला भवन बनवाया। भवन बनकर तैयार हो गया तो सेठ ने दूर-देशों के कुशल चित्रकार बुलवाए। सेठ ने चित्रकारों को निर्देश दिया—भले कितना ही द्रव्य व्यय हो जाए, पर ऐसी चित्रकारी करो कि सात-पीढ़ियों के बाद भी चित्र नए प्रतीत हों और लोग मुझे स्मरण रखें। सेठ ऐसा कह ही रहा था कि उधर से गुजरते हुए एक मुनि के मुख पर मुस्कान तैर गई। सेठ चौंका। उसने सोचा, मुनि की मुस्कान में रहस्य है, संध्या समय मुनि के पास जाकर उनकी मुस्कान का रहस्य ज्ञात करूंगा।

सेठ अपने घर गया और भोजन करने लगा। सेठ का पुत्र मातृगोद से उतरकर पितृगोद में आ बैठा। सेठ की गोद में आते ही उसने लघुशंका कर दी। मूत्र के छींटे सेठ की थाली में रहे हुए भोजन पर भी गिरे।

पर सेठ ने पुत्रमोह में छींटे लगे थोड़े से भोजन को थाली के एक कोने में किया और भोजन करता रहा। उसी क्षण वे मुनि आहार लेने सेठ के घर पधारे और उक्त दृश्य देखकर मुस्काए। मुनि की रहस्यमयी मुस्कान पर सेठ पुनः चौंक पड़ा। उसने मन ही मन अपने निश्चय को पुनः सुस्थिर किया कि संध्या समय मुनि से उनकी मुस्कान का कारण अवश्य ज्ञात करूंगा।

भोजन के बाद सेठ ने कुछ देर विश्राम किया और उसके बाद अपनी दुकान पर चला गया। कुछ देर बाद एक बकरा वधिक से छूटकर सेठ की दुकान की सीढ़ियों पर आ खड़ा हुआ और करुण दृष्टि से सेठ को देखने लगा। तब तक वधिक भी आ पहुंचा। सेठ ने वधिक से कहा, भले आदमी इस मूक प्राणी पर करुणा कर इसे छोड़ दे। वधिक बोला, सेठ! मैं तुम्हें कहूं कि दुकान करना छोड़ दो तो क्या तुम छोड़ दोगे? दुकान करना जैसे तुम्हारा व्यवसाय है, वैसे ही मांस-विक्रय मेरा व्यवसाय है। सेठ ने कहा, दया धर्म भी तो कोई चीज होती है। वधिक बोला, दया दिखाते हो तो पचास मुद्राएं गिन दो और बकरे को बचा लो।

सेठ ने सोचा, यदि इस बकरे को मैं बचा भी लूं, तो क्या यह वधिक वध-कर्म छोड़ देगा? इसे नहीं तो किसी अन्य बकरे को यह मारेगा ही। फिर मैं क्यों व्यर्थ ही पचास मुद्राएं व्यय करूं? ऐसा सोचकर सेठ ने बकरे का कान पकड़कर उसे वधिक को सौंप दिया। ठीक उसी क्षण वही मुनि उधर से गुजरे और मुस्करा कर अपने गन्तव्य पर बढ़ गए। नागदत्त के हृदय में हलचल मच गई। उसने बड़ी मुश्किल से संध्या की। संध्या समय वह मुनि के पास पहुंचा। कुछ श्रावकजन मुनि चरणों में बैठकर धर्माराधना कर रहे थे। नागदत्त प्रतीक्षा करने लगा कि वे लोग जाएं तो वह मुनि से उनकी मुस्कान का रहस्य पूछे।

आखिर नागदत्त की प्रतीक्षा पूर्ण हुई। श्रावकजन अपने-अपने घरों को चले गए। मुनि को एकाकी पाकर सेठ ने उनको वन्दन किया और उनकी तीन बार की मुस्कान का रहस्य पूछा। मुनि ने कहा, सेठ! जिस रहस्य को तुम पूछने को उत्सुक हो, क्या उसे सुनने की सामर्थ्य तुम्हारे अन्दर है? स्मरण रखो, उस रहस्य को सुनकर तुम्हारा स्वप्न-तुल्य सांसारिक सुख नष्ट हो जाएगा। क्या उसके लिए तुम्हारा मानस तैयार है? सेठ ने कहा, महाराज! स्वप्न-सुख सुख होता ही कहां है? स्वप्न के सुख का टूट जाना ही श्रेष्ठ है। आप जो जानते हैं, वह अक्षरशः कहने की कृपा करें! सत्य को जाने बिना मुझे चैन न पड़ेगा!

सेठ की परिपक्व मानसिकता को देखकर मुनि ने कहा, तुम चित्रकारों को कह रहे थे—वे ऐसी चित्रकारी करें कि वे चित्र सात पीढ़ियों तक नए प्रतीत हों। परन्तु सच यह है कि तुम सात पीढ़ियों तक चित्रों की नवीनता की तो चिन्ता कर रहे हो, पर यह नहीं जानते हो कि तुम्हारा आयुष्य मात्र सात दिन का ही शेष है। सुना नागदत्त ने, और वह सहम गया। उसका कण्ठ सूख गया। मुनि ने उसे धैर्य दिया और कहा, सात दिन का समय तुम्हारे पास है। तुम इस अवधि में अपना भविष्य संवार सकते हो।

सेठ को कुछ धैर्य हुआ और उसने मुनि से उनकी दूसरी मुस्कान का रहस्य पूछा। मुनि ने कहा, जिस पुत्र के मूत्र सने भोजन पर भी तुम्हें अप्रीति न हुई, वही पुत्र पूर्वभव में तुम्हारी पत्नी का प्रेमी था। तुमने ही उसका वध किया था। बड़ा होने पर वह अपनी मां का वध करेगा और तुम्हारे सप्तमंजिले भवन को बेचकर तुम्हारी सारी संपत्ति और प्रतिष्ठा को नष्ट कर देगा।

नागदत्त की आंखों के समक्ष धरती घूम रही थी। साहस कर उसने मुनि की तृतीय मुस्कान का कारण पूछा। मुनि ने स्पष्ट किया, जिस बकरे का कान पकड़कर तुमने उसे वधिक के हवाले कर दिया और पचास मुद्राएं बचाकर प्रसन्नता का अनुभव किया, वह बकरा पूर्वभव में तुम्हारा पिता था।

सुनकर नागदत्त अधीर हो गया। वह उसी क्षण वहां से भागकर वधिक के पास पहुंचा और सौ मुद्राएं

उसके हाथ पर रखकर बोला, भाई! वह बकरा मुझे लौटा दो। वधिक ने कहा, सेठ! तुम बहुत विलम्ब से आए हो। वह तो लोगों का आहार बन चुका है।

रोता हुआ सेठ मुनि के पास पहुंचा। उसने मुनिश्री से पूछा, भगवन्! मेरे पिता किस गति में गए हैं? मुनि ने फरमाया, तुम्हारे पिता क्रोध और क्रूरता से भरे हृदय से वधिक के प्रहार का शिकार बनकर नरक में गए हैं। सेठ ने कहा, गुरुदेव! मेरा मार्गदर्शन कीजिए कि मुझे इन सात दिनों में कैसे जीवन का उपयोग करना चाहिए। मुनि ने कहा, सात पल का सम्यक्त्व चारित्र भी आत्मोत्थान के लिए उपाय बन जाता है। तुम्हारे लिए यही उपाय है कि तुम चारित्र की आराधना में स्वयं को अर्पित कर दो।

मुनि के मार्गदर्शन पर नागदत्त सेठ ने बिना एक पल गंवाए पंच महाव्रत धारण कर लिए। प्रथम चार दिनों तक उसने परीषह-रहित संयम की आराधना की। पांचवें दिन उसे शिरःशूल हो गया। अंतिम तीन दिनों तक उसने पूरे समता भाव से भयंकर शिरःशूल से उत्पन्न वेदना को सहन किया। सातवें दिन उसकी समाधि मृत्यु हुई। देहोत्सर्ग कर वह वैमानिक देव बना। देव भव से च्यवकर वह मनुष्य भव धारण करेगा और निरतिचार संयम की आराधना द्वारा सर्व-कर्म विमुक्त बन मोक्ष में जाएगा। —जैन कथार्णव

नागश्री

चम्पानगरी के रहने वाले ब्राह्मण सोम की पत्नी। सोम के दो सहोदर थे सोमदत्त और सोमभूति, जिनकी पत्नियों के नाम क्रमशः भूतश्री और यक्षश्री थे। तीनों भाइयों मे प्रगाढ़ प्रेम था। प्रेम को सुस्थिर रखने के लिए तीनों भाइयों ने एक व्यवस्था की थी कि वे प्रतिदिन साथ बैठकर भोजन करेंगे और क्रम से एक-एक भाई के घर सभी का भोजन बनेगा।

एक दिन जब भोजन बनाने की बारी नागश्री की थी तो उसने तुम्बे का शाक बनाया। शाक तैयार होने पर उसने उसे चखा तो उसका मुख विषाक्त बन गया क्योंकि तुम्बी कड़वी थी। नागश्री ने उस शाक को ढाँप कर एक ओर रख दिया तथा अन्य शाक बनाकर परिवार को भोजन करा दिया।

नागश्री विषशाक को फैंकने का विचार कर ही रही थी कि उसी समय मासोपवासी मुनि धर्मरुचि अणगार भिक्षा के लिए पधारे। नागश्री ने मुनि के पात्र को उचित स्थान समझकर वह सारा शाक उसमें डाल दिया। मुनि भिक्षा लेकर अपने गुरु धर्मघोष के पास आए। शाक की गंध से ही गुरु ने अनुमान लगा लिया कि वह अखाद्य है। उन्होंने शिष्य को आदेश दिया कि वह उस शाक को निरवद्य स्थान पर परठ आए। धर्मरुचि अणगार शाक को परठने जंगल में गए। संभावित हिंसा से बचने के लिए मुनि ने उस शाक का आहार कर लिया और संथारा कर देहोत्सर्ग कर दिया।

शाक के खाने से तपस्वी मुनि की मृत्यु की खबर पूरे नगर में फैल गई। खुलते-खुलते भेद खुल ही गया। घरवालों ने नागश्री की भर्त्सना कर उसे घर से निकाल दिया। नागश्री जहां भी गई, लोगों ने उसे धिक्कारा और उसके कुत्सित कृत्य की निंदा की। यत्र-तत्र भटकते हुए उसके शरीर में सोलह महारोग उत्पन्न हो गए। गहन आर्त्त और रौद्र विचारों में डूबी नागश्री मरकर छठी नरक में गई।

नरक की आयु पूर्ण कर वह सुदीर्घ काल तक तिर्यंच आदि योनियों में भटकते हुए चम्पानगरी के सेठ सागरदत्त के घर पुत्री रूप में जन्मी, जहां उसे सुकुमारिका नाम मिला। जब वह युवा हुई तो जिनदत्त सेठ के पुत्र सागर के साथ उसका विवाह हुआ। पर पूर्व पापोदय से सुकुमारिका की देह का स्पर्श अंगार-स्पर्श के समान था। परिणामतः उसके पति ने प्रथम रात्रि में ही उसका परित्याग कर दिया।

निराश-हताश सेठ सागरदत्त ने एक भिखारी को पर्याप्त धन देकर उसके साथ सुकुमारिका का विवाह कर दिया। पर भिखारी भी प्रथम रात्रि में ही सुकुमारिका को छोड़ कर भाग गया।

इससे सुकुमारिका को घोर आत्मग्लानि हुई। वह संसार त्याग कर गोपालिका नामक आर्या के पास प्रव्रजित बन गई। गुर्वाज्ञा का उल्लंघन कर वह सार्वजनिक स्थलों पर आतापना लेती। एक बार जब वह एक उद्यान में आतापना ले रही थी तो उसकी दृष्टि देवदत्ता नामक गणिका पर पड़ी, जो उद्यान के एक भाग में पांच पुरुषों के साथ आमोद-प्रमोद कर रही थी। इससे सुकुमारिका साध्वी का मन चंचल बन गया। उसने निदान किया, यदि मेरे तप का कोई फल हो तो मैं भी पांच पुरुषों की पत्नी बनूं।

निदान की आलोचना किए बिना ही सुकुमारिका साध्वी आयुष्य पूर्ण होने पर प्रथम स्वर्ग में देवी बनी। स्वर्ग से च्यव कर वह पांचाल देश के कांपिल्यपुर नगर के राजा द्रुपद की रानी चुलनी के गर्भ से पुत्री रूप में जन्मी और उसे वहां पर द्रौपदी नाम प्राप्त हुआ। यौवन में द्रौपदी निदान के प्रभाव से पांच-पाण्डवों की पत्नी बनी। (देखिए-द्रौपदी) —ज्ञाताधर्मकथांग, अध्ययन 16 / त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र पर्व 8

नागसेन

वाचाला नगरी का निवासी एक सद्गृहस्थ, जिसके हाथों से परमान्न प्राप्त कर भगवान महावीर ने अर्धमासोपवास का पारणा किया था। —महावीर चरित्र

नागार्जुनाचार्य

जैन आचार्यों की परम्परा के श्रुतधर और सुख्यात आचार्य। संभवतः वे अपने पूर्ववर्ती आचार्य हिमवन्त के शिष्य थे। नंदी स्थविरावली में उनका क्रम आचार्य हिमवन्त के पश्चात् है। नंदी स्थविरावली के अनुसार आचार्य नागार्जुन कालिक श्रुतानुयोग के धारक और हिमवान के सदृश क्षमावान श्रमण थे।

वी.नि. की नवमी शताब्दी में द्वादशवर्षीय भीषण दुष्काल पड़ा। अनेक श्रुतधर मुनि श्रमण-मर्यादा के अनुकूल भिक्षा अप्राप्ति के कारण कालधर्म को प्राप्त हो गए। उस समय श्रुत संरक्षा का गुरुतर दायित्व नागार्जुनाचार्य ने संभाला। वल्लभी नगरी में उन्होंने श्रमण सम्मेलन आहूत किया और श्रुत संकलन का महान कार्य किया। नागार्जुन की अध्यक्षता में आगम वाचना होने के कारण उस वाचना को नागार्जुनीय वाचना संज्ञा मिली। वल्लभी नगरी में वाचना होने से उसे वल्लभी वाचना भी कहा जाता है।

जिस समय नागार्जुनाचार्य के सान्निध्य में आगम-वाचना का यह क्रम चला, लगभग उसी कालखण्ड में मथुरा नगरी में स्कन्दिलाचार्य के नेतृत्व में भी आगम वाचना का कार्य हुआ था। उस वाचना को स्कन्दिली वाचना और माथुरी वाचना की संज्ञाओं से जाना जाता है। नागार्जुनाचार्य का जन्म वी.नि. 763 में हुआ। वी. नि. 807 में उन्होंने श्रमण दीक्षा धारण की और वी.नि. 826 में वे आचार्य पद पर आसीन हुए। श्रुत संरक्षा के रूप में जैन धर्म और जैन संघ पर उनका महान उपकार है। —नंदी सूत्र स्थविरावली

नाभिराय

अवसर्पिणी काल के सप्तम् कुलकर और आदि तीर्थंकर ऋषभदेव भगवान के पिता।

(क) नारद

आचार्य क्षीर कदम्बक का छात्र शिष्य, धर्मप्राण, न्यायप्रिय और सत्य का पुजारी पुरुष। (देखिए- वसु राजा)

(ख) नारद

जैन परम्परा के अनुसार नारद किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं है। वासुदेव, बलदेव, चक्रवर्ती आदि पदों की तरह नारद भी एक पद है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में नौ-नौ नारद होते हैं। वर्तमान अवसर्पिणी काल के नौ नारदों के नाम हैं—1. भीम, 2. महाभीम, 3. रुद्र, 4. महारुद्र, 5. काल, 6. महाकाल, 7. चतुर्मुख, 8. नवमुख, 9. उन्मुख।

जैन और वैदिक—दोनों परम्पराएं इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि नारद कलहप्रिय, अप्रतिबद्ध-विहारी और आजन्म ब्रह्मचारी होते हैं। दोनों ही परम्पराओं में नारद (नारदों) के हजारों किस्से उपलब्ध होते हैं, जो रोचक होने के साथ-साथ नैतिक और शिक्षाप्रद भी हैं।

नारद परिव्राजक की-सी वेशभूषा में निरंतर परिव्रजनशील रहते हैं। परिव्रजन ही उनका स्वभाव होता है। उनकी दो ही गतियां होती हैं—स्वर्ग अथवा मोक्ष।

(क) नारायण

सिद्धत्थपुर नगर के राजपुरोहित यज्ञदत्त का पुत्र, एक जिज्ञासु युवक। एक बार जब यज्ञदत्त राजा के आदेश पर पशु बलि यज्ञ करने की तैयारी कर रहा था तो नारायण ने उससे पूछा कि पशु बलि में धर्म कैसे हो सकता है। पिता ने वेदों के प्रमाण देने का प्रयत्न किया, पर वह यह सिद्ध नहीं कर सका कि पशु बलि पुण्य का कारण हो सकता है। नारायण धर्म के शुद्ध स्वरूप को जानने के लिए घर से प्रस्थित हुआ। वह विभिन्न सम्प्रदायों के संतों और आचार्यों से मिला, परन्तु उसे कहीं भी संतोषजनक समाधान नहीं मिला। आखिर एक जैन मुनि ने उसे धर्म के शुद्ध स्वरूप का बोध प्रदान किया। मुनि के उपदेश से नारायण विश्वस्त बन गया कि अहिंसा ही धर्म का प्राण है, अहिंसा की आराधना ही धर्म की आराधना है। नारायण ने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किए और तन-मन-प्राण से व्रतों का पालन किया। सर्व कर्म निवृत्त होकर वह मोक्ष का अधिकारी बना। —कथा रत्नकोष - भाग 1

(ख) नारायण

अष्टम् वासुदेव लक्ष्मण का जन्मना नाम। लक्ष्मण अपने जन्मना नाम 'नारायण' से कम और 'लक्ष्मण' इस नाम से अधिक विख्यात हैं। (विशेष परिचय के लिए देखिए-लक्ष्मण वासुदेव)

निगंठ

महावीर का एक नाम निगंठ भी है, जिसका संस्कृत रूप है—निर्ग्रन्थ। निर्ग्रन्थ अर्थात् वह साधक, जो मोह-ममत्व आदि संबंधों तथा क्रोध-कामादि समस्त कषाय-बन्धनों से मुक्त हो गया है। बौद्ध धर्मग्रन्थों में महावीर के लिए इस नाम का बहुव्यवहार हुआ है।

(क) निन्हव

निन्हव अथवा निर्णय नामक एक अनार्य व्यापारी, जो पुरिमताल नगर का निवासी था। (विशेष परिचय के लिए देखिए-अभग्नसेन चोर) —विपाकसूत्र द्वि श्रु., अ. 3

(ख) निन्हव

'निन्हव' जैन पारिभाषिक शब्द है। निन्हव उसे कहा जाता है जो जैन श्रमण की वेश-भूषा में रहते हुए ही तीर्थंकर भाषित सिद्धान्त के विपरीत प्ररूपणा करता है। भगवान महावीर के धर्मतीर्थ में सात निन्हव

हुए हैं। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—1. जमाली, 2. तिष्यगुप्त, 3. आषाढ़ाचार्य के शिष्य, 4. अश्वमित्र, 5. गंग आचार्य, 6. रोहगुप्त, 7. गोष्ठामाहिल।

उपरोक्त सात निन्हवों में से जमाली और तिष्यगुप्त भगवान महावीर की विद्यमानता में ही निन्हव दशा को प्राप्त हुए। शेष पांच वीर निर्वाण की तृतीय सदी से छठी सदी के मध्य हुए।

सात निन्हवों में से द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ और पंचम् निन्हव निन्हव-दशा को त्याग कर पुनः संघ में सम्मिलित हो गए। शेष तीन निन्हवावस्था में ही जीवनपर्यंत रहे। (सातों निन्हवों का परिचय नामानुक्रम में देखें)

निम्बक

उज्जयिनी निवासी जैन दर्शन के विद्वान ब्राह्मण अम्ब ऋषि का इकलौता पुत्र, मालुगा नामक ब्राह्मणी का आत्मज। अपने नाम के अनुरूप ही निम्बक झगड़ालू, अमिलनसार और अविनीत था। जब अल्पकालिक रुग्णता के बाद मालुगा का निधन हो गया तो अम्बऋषि ने सांसारिक नश्वरता से विरक्त बनकर आर्हती दीक्षा ले ली। निम्बक ने भी पिता का अनुगमन किया। पर निम्बक दीक्षित हो जाने पर भी अपने स्वभाव को बदल नहीं पाया। ज्येष्ठ मुनियों की वह अविनय करता, झगड़ता। गुरु और आचार्य द्वारा बार-बार समझाए जाने पर भी जब उसने अपना स्वभाव नहीं बदला तो उसे संघ से निकाल दिया गया। पुत्र-मोह के कारण अम्ब ऋषि भी निम्बक के साथ ही संघ से अलग हो गए। वे दोनों किसी दूसरे मुनिसंघ में गए, पर निम्बक के अविनीत स्वभाव के कारण उन्हें वहां से भी निकाल दिया गया। उन्होंने कई संघ बदले और प्रत्येक संघ से उन्हें निकाल दिया गया। इससे दुखी होकर अम्बऋषि एक वृक्ष के नीचे बैठकर रोने लगा। जिस निम्बक को कोई शिक्षा नहीं बदल पाई थी, उस निम्बक को पिता के आंसुओं ने बदल दिया। पिता के आंसुओं की भाषा ने उसे समझा दिया कि उसके पिता को भी उसके उच्छृंखल व्यवहार का शिकार बनना पड़ रहा है। उसने पिता से क्षमा मांगी और अविनय को त्यागने का संकल्प कर लिया। पिता की अनुनय पर आचार्य श्री ने उनको संघ में सम्मिलित कर लिया और निम्बक ने अपने विनीत व्यवहार से सब मुनियों के हृदय जीत लिए।

निरंभा (आर्या)

आर्या निरंभा का जीवन परिचय शुंभा आर्या के समान है। विशेष जो है, वह है—इनके पिता का नाम निरंभ गाथापति और माता का नाम निरंभश्री था। (देखिए-शुंभा आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., द्वि.वर्ग, अध्ययन 4

निर्मोही नृप

जैन परम्परा में निर्मोही नृप की कथा काफी प्रचलित है।

निर्मोही नृप एक ऐसे राजा थे जिन्होंने मोह पर विजय प्राप्त कर ली थी। वे राज्य का संचालन निर्विकार, निर्लोभ और निर्मोह रहकर, मात्र कर्त्तव्य बोध के लिए करते थे। उनकी पत्नी और पुत्र भी उन्हीं के समान मोह विजेता थे।

निर्मोही नृप के मोह-विजय की कथाएं लोक में किंवदंतियां बन गई थीं। लोक की सीमा को पार कर देवलोक में उनकी कीर्तिसुगंध व्याप्त हुई। एक बार देवराज इंद्र ने निर्मोही नृप के मोह-जय की गद्‌गद भाव से प्रशंसा की।

एक देवता को इंद्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह निर्मोही नृप की परीक्षा के लिए भूमण्डल पर

आया। उसने देवबल से राजकुमार को कहीं छिपा दिया और एक संन्यासी का रूप धारण कर महलों में पहुंचा। महारानी के पास पहुंचकर उसने कहा—'महारानी! अनर्थ हो गया! जंगल में आपके पुत्र को सिंह ने खा लिया।' कहकर संन्यासी रोने लगा।

इस पर महारानी ने कहा—महाराज! इसमें रोने की क्या बात है! आप शांत रहिए! हमारे पुत्र का आयुष्य कर्म पूरा हो गया होगा! आयुष्य कर्म पूरा हो जाने पर मर जाना शरीर का धर्म है। मैं महाराज को सूचना भेजती हूं जिससे कुमार की दाह क्रिया का प्रबंध किया जा सके।

महारानी की बात सुनकर संन्यासी रूपी देव हैरान रह गया। वह वहां से चला और महाराज के पास पहुंचा। रोते हुए उसने कहा—महाराज! अनहोनी हो गई! हमारे राजकुमार को जंगल में शेर ने खा लिया है।

निर्मोही नृप ने सुना, उनके मुख पर शोक और शिकन की एक भी रेखा नहीं उभरी। उन्होंने शांत स्वर में कहा—महात्मन्! प्रत्येक मानव मरणधर्मा है। आयुकर्म की समाप्ति पर मानव को शरीर छोड़ देना पड़ता है। राजकुमार का आयुकर्म भी पूर्ण हो गया है इसलिए वह हमसे विदा हो गया है।

राजा और रानी की मोहविजय को देखकर देवता दंग रह गया। उसने वास्तविक रूप में प्रकट होकर राजा और रानी को प्रणाम किया और इंद्र द्वारा की गई प्रशंसा और उस द्वारा ली गई परीक्षा की पूरी बात कही। उसने राजकुमार को प्रकट कर दिया। राजकुमार को सकुशल पाकर भी राजा-रानी सामान्य रहे।

कालांतर में पुत्र को सिंहासनासीन करके निर्मोही नृप और उनकी रानी ने प्रव्रज्या अंगीकार की और जीवन के अंत में मोक्ष प्राप्त किया।

निशुंभ

हरिपुर नरेश। वह पंचम् प्रतिवासुदेव था, जिसका वध पुरुषसिंह वासुदेव ने किया था।

निशुंभा (आर्या)

निशुंभा आर्या का समग्र परिचय शुंभा आर्या के समान है। विशेष इतना ही है कि इनके पिता का नाम निशुंभ और माता का नाम निशुंभ श्री था। (देखिए-शुंभा आर्या अथवा काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., द्वि.वर्ग, अध्ययन 2

निषढ राजा

चतुर्थ विहरमान तीर्थंकर प्रभु सुबाहु स्वामी के जनक। (देखिए-सुबाहु स्वामी)

निषध कुमार

बलभद्र और रेवती के पुत्र, परम सुकुमार और अनुपम रूपवान राजकुमार। यौवन में पचास कन्याओं से उनका विवाह हुआ। एक बार भगवान अरिष्टनेमि का प्रवचन सुनकर कुमार प्रतिबद्ध हुए और उन्होंने श्रावक धर्म अंगीकार किया।

किसी समय निषधकुमार भगवान अरिष्टनेमि के पास बैठे हुए थे। उनके लावण्य और तेज को देखकर भगवान के प्रमुख गणधर वरदत्त ने भगवान से निषध कुमार का पूर्वभव पूछा। भगवान ने बताया—अपने पूर्वभव में निषधकुमार रोहिड़ नगर के महाराज महाबल और उनकी पटरानी पद्मा का वीरंगत नामक पुत्र था। वहां बत्तीस कन्याओं के साथ उसका विवाह हुआ। सिद्धार्थ नामक धर्माचार्य के उपदेश से जाग्रत होकर वीरंगत ने संयम धारण किया और उग्र साधना से अपनी देह का रक्त और मांस सुखा दिया। दो मास

के अनशन के साथ वह पंचम् देवलोक का देवता बना। वहां से च्यव कर यहां आया है। पूर्व जन्म के तप के प्रभाव से ही निषध को ऐसा रूप और तेज प्राप्त हुआ है।

भगवान के श्रीमुख से निषध का पूर्वभव सुनकर निषध सहित समस्त श्रोता अत्यन्त आह्लादित हुए। निषध पूरी तन्मयता से श्रावक धर्म का पालन करता था। कालान्तर में वह भगवान के पास दीक्षित हो गया। तप और संयम की सम्यक् आराधना करके तथा इक्कीस दिन के अनशन के साथ देह त्याग कर वह सर्वार्थसिद्ध में गया। वहां से च्यव कर महाविदेह में जन्म लेगा और संयम पालकर मोक्ष में जाएगा।

नीर

(देखिए-चन्दन राजा)

नेमिचंद्र (आचार्य)

एक जैन आचार्य। 'सिद्धान्त चक्रवर्ती' अलंकरण से आचार्य नेमिचन्द्र विभूषित थे, जो उनके गहन सिद्धान्त ज्ञान को सिद्ध करता है। उनके गुरु का नाम अभयनन्दि था। वे दिगम्बर जैन आचार्य थे।

गंग नरेश का प्रधानमंत्री और सेनापति चामुण्डराय आचार्य नेमिचन्द्र का परम भक्त था। चामुण्डराय का अपर नाम गोम्मट था। उसने श्री बाहुबली जी की विशाल मूर्त्ति का निर्माण कराया था, जो गाम्मटेश्वर के नाम से विख्यात हुई। आचार्य नेमिचन्द्र ने चामुण्डराय की विशेष प्रार्थना पर सैद्धान्तिक ग्रन्थ की रचना की और उस कृति का नाम गोम्मटसार रखा।

आचार्य नेमिचन्द्र ने पर्याप्त साहित्य की रचना की, जिसमें गोम्मटसार, त्रिलोकसार, लब्धिसार, क्षपणसार आदि ग्रन्थ विशेष रूप से विख्यात हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र का कालमान वी.नि. 15 वीं-16 वीं सदी का माना जाता है।

—गोम्मटसार कर्मकाण्ड

नेमिनाथ (तीर्थंकर)

जैन परम्परा के बाइसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि का ही अपरनाम। (विशेष परिचयार्थ देखिए-अरिष्टनेमि तीर्थंकर)

नेमिप्रभ स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

सोलहवें विहरमान तीर्थंकर। अर्द्धपुष्करद्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की नलिनावती विजय के अन्तर्गत स्थित वीतशोका नगरी में प्रभु का जन्म हुआ। वहां के महाराज वीर प्रभु के पिता हैं और सोनादेवी माता हैं। सूर्य के चिह्न से सुशोभित प्रभु ने यौवनावस्था में मोहिनी नामक राजकन्या से विवाह किया और तिरासी लाख पूर्व तक गृहवास में व्यतीत किए। तदनन्तर वर्षीदान देकर प्रभु ने दीक्षा धारण की। कैवल्य प्राप्त कर तीर्थ की स्थापना की। चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर प्रभु मोक्ष में जाएंगे।

नैषध

अयोध्यापति महाराज नल के पिता। (देखिए-नल)

●●●

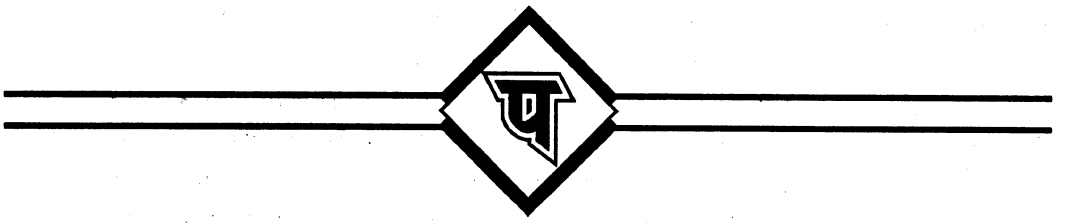

पंडुभद्र

आचार्य संभूतविजय के एक शिष्य। —कल्पसूत्र स्थविरावली

पंथक मुनि

(देखिए-शैलक राजर्षि)

पतंगसिंह

कंचनपुर नरेश जितशत्रु का इकलौता पुत्र। राजकुमार के जन्म के समय ही ज्योतिषियों ने बताया था कि शिशु पर कष्ट की छाया है। कष्ट को काल बनने से तभी रोका जा सकता है, जब शीघ्र ही शिशु का विवाह कर दिया जाए। वैसा ही किया गया। राजा ने खोज-पड़ताल कर ज्ञात कर लिया कि जनकपुर नरेश जनकसेन को भी पुत्रीरत्न की प्राप्ति हुई है। महाराज स्वयं जनकपुर पहुंचे और जनकसेन से उसकी एक मास की वय वाली कन्या का हाथ अपने दो मास के पुत्र पतंग सिंह के लिए मांगा। जनकसेन की स्वीकृति पर नवजात शिशुओं को परिणयसूत्र में बांध दिया गया।

पतंगसिंह पांच वर्ष का हुआ तो उसकी जननी का देहान्त हो गया। आठ वर्ष की अवस्था में उसे नगर से बाहर शान्त वनखण्ड में स्थित आचार्य के आश्रम में विद्याध्ययन के लिए भेजा गया। मंत्रियों और मित्रों का दबाव मानकर राजा ने अनंगमाला नामक एक राजकुमारी से विवाह कर लिया। अनंगमाला युवा और सुरूपा थी। उसने शीघ्र ही राजा को अपने वश में कर लिया। राजा, मंत्री और आचार्य ने परस्पर मिलकर पहले ही यह निश्चय कर लिया था कि विमाता से राजकुमार को छिपाकर रखा जाएगा।

पतंगसिंह गुरुकुल में विद्याध्ययन करते हुए अठारह वर्ष का हो गया। शीघ्र ही उसकी शिक्षा पूर्ण होने वाली थी। राजा अनंगमाला पर आंखें मूंद कर विश्वास करने लगा था। उसे यह निश्चय हो गया था कि अनंगमाला विमाताओं जैसी विमाता नहीं है। अतः एक दिन उसने उसे अपने पुत्र के बारे में बता दिया। अनंगमाला पतंगसिंह को देखने के लिए उतावली हो गई। एक दिन उसने राजा की अनुपस्थिति में कपटपूर्वक पंतगसिंह को अपने पास बुलवा लिया। पंतगसिंह युवा और सुन्दर राजकुमार था। अनंगमाला उसके रूप-लावण्य पर मोहित हो गई। उसने राजकुमार से प्रणय-प्रार्थना की, जिसे सुनकर राजकुमार का हृदय वितृष्णा से भर गया। उसने युक्तियुक्त वचनों से माता को समझाने का यत्न किया। पर काम-विह्वला अनंगमाला पर उसकी हितशिक्षा का कोई प्रभाव नहीं हुआ। उसने कुमार को चेतावनी दे डाली कि वह या तो उसे चुन ले अथवा मृत्यु को चुन ले। राजकुमार अनंगमाला के पाश से निकलकर उसके महल से बाहर हो गया। इस पर अनंगमाला ने अपने वस्त्र फाड़ डाले और राजकुमार पर उससे दुष्कर्म की चेष्टा का मिथ्यारोप लगा दिया।

उसका नाटक सफल रहा और राजा ने अपने पुत्र के वध का आदेश दे दिया। उधर राजकुमार पंतगसिंह मंत्री और आचार्य के सहयोग से भागने में सफल हो गया। वह कई नगरों में घूमते-भटकते पहले वसंतपुर

और बाद में पोतनपुर पहुंचा। पोतनपुर नगर उसे पसन्द आया और उसने उसी नगर को अपना कर्मक्षेत्र बना लिया। उसके पुण्य पूरे वेग से विकसित हो उठे। उसने जो भी चाहा, वह उसे मिला। उसकी प्रत्येक कामना अपने आप ही पूर्ण होती चली गई। दुर्दैव ने उसे प्रदेश दिया तो सुदैव ने उसे अपार संपत्ति, अनेक लब्धियां और सुख्याति प्रदान की। इस नगर में वह 'पूनमचन्द' नाम से जाना जाता था। राजा का उस पर विशेष अनुग्रह था। पर बाद में दुष्ट निजी सेवकों ने राजा को पतंगसिंह की पत्नियों के प्रति आकर्षित कर दिया । राजा पतंगसिंह को मार्ग से हटाकर उसकी पत्नियों को अपनी बनाना चाहता था। इसके लिए धूर्त अंतरंग सेवकों के इंगितों पर राजा ने पतंगसिंह को बार-बार असंभव से कार्य सौंपे। पर पतंगसिंह बुद्धिमान और वीर था, तथा उसका भाग्य उसके अनुकूल था, इसलिए उसने राजा के कहे समस्त कार्यों को चुटकियों में पूरा कर दिया। उन्हीं यात्राओं में अनेक राजकुमारियों के साथ पतंगसिंह का विवाह भी हुआ।

पुण्य जब साथ हो तो समस्त षड्यंत्र विफल हो जाते हैं। अपने पुण्यों के बल पर ही अंततः पतंगसिंह पोतनपुर का राजा बना। उसके बाद वह वसंतपुर का राजा बना। तदनन्तर पतंगसिंह ने विशाल सेना के साथ अपनी मातृभूमि के लिए प्रस्थान किया। जितशत्रु के समक्ष पहले ही अनंगमाला की दुष्टता और पतंगसिंह की सच्चरित्रता प्रकट हो चुकी थी। पुत्र के लौटने पर जितशत्रु गद्गद हो गया। शैशवावस्था में जिस कन्या से पतंगसिंह का विवाह हुआ था, वह उसे भी ले आया। पिता और श्वसुर (जनकसेन) पतंगसिंह को अपने-अपने राज्य देकर प्रव्रजित हो गए।

पतंगसिंह ने धर्मनीति से प्रजा का पालन किया। अंतिम वय में अपने पुत्र को राजपद देकर उसने भी दीक्षा धारण की और निरतिचार चारित्र की आराधना कर मोक्ष प्राप्त किया। —पतंगसिंह चरित्र

पद्म

अष्टम् बलदेव श्री राम का जन्मना नाम। परन्तु वे अपने जन्मना नाम पद्म से कम और 'राम' नाम से ही अधिक विख्यात हुए। भारतवर्ष की सभी धर्म-परम्पराओं में श्रीराम को मर्यादापुरुषोत्तम के रूप में अत्युच्च गौरव प्राप्त है। (विशेष परिचय हेतु देखिए-राम)

पद्मनाभ

दक्षिण भरत क्षेत्र की अमरकंका नगरी का अधिपति। उसने नारद के मुख से द्रौपदी के अनुपम रूप की चर्चा सुनकर मित्र देव के द्वारा द्रौपदी का अपहरण करा अपने महल में मंगाया। पद्मनाभ ने द्रौपदी के समक्ष काम प्रस्ताव रखा और उसे स्पष्टतः समझा दिया कि उसके पतियों का उस तक पहुंचना असंभव है। द्रौपदी ने चतुराई से काम लिया और पद्मनाभ से छह महीने की अवधि प्राप्त कर ली। वह अपना समय धर्माराधना और तपस्या में व्यतीत करने लगी।

उधर श्री कृष्ण वासुदेव की सहायता से पाण्डवों ने द्रौपदी का भेद प्राप्त कर लिया। श्री कृष्ण के नेतृत्व में पांचों पाण्डव देव सहायता से अमरकंका पहुंचे। पहले दिन पाण्डवों ने पद्मनाभ से युद्ध किया और पराजित हो गए। दूसरे दिन श्री कृष्ण युद्ध में उतरे और उन्होंने पद्मनाभ को रण छोड़ने पर विवश कर दिया। पद्मनाभ द्रौपदी की शरण में पहुंचा और उसने अपने प्राणों की भीख मांगी। द्रौपदी ने कहा, स्त्री का वेश बनाकर श्री कृष्ण के समक्ष जाओ। वे स्त्री पर प्रहार नहीं करते। पद्मनाभ ने वैसा ही किया और ऐसे उसे जीवन की भीख प्राप्त हुई। श्री कृष्ण द्रौपदी और पाण्डवों के साथ अपने देश में लौट आए।

—जैन महाभारत / त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

पद्मप्रभ (तीर्थंकर)

वर्तमान चौबीसी के षष्ठम् तीर्थंकर। भगवान का जन्म कौशाम्बी नरेश धर की पटरानी सुसीमा की रत्नकुक्षी से हुआ। भगवान का जीव जब मातृगर्भ में अवतरित हुआ तब माता को पद्मशैया पर सोने का दोहद उत्पन्न हुआ। इसीलिए उनका नाम पद्मप्रभ रखा गया।

महाराज धर ने योग्यवय में पद्मप्रभ को राज्यसिंहासन सौंपा। पद्मप्रभ ने सुदीर्घ काल तक सुशासन किया। अन्तिम वय में उन्होंने दीक्षा धारण की और केवलज्ञान प्राप्त किया।

उन्होंने चतुर्विध संघ की स्थापना कर धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। अन्त में सम्मेदशिखर पर्वत से निर्वाण प्राप्त किया। धर्ममित्र के भव में भगवान ने तीर्थंकर गोत्र का अर्जन किया था। 'सुव्रत' भगवान के प्रमुख गणधर थे। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

(क) पद्मरथ

मिथिलाधिपति निःसंतान राजा, जिसने मदनरेखा के जंगल में जन्मे शिशु को अपनाया और अपना उत्तराधिकारी बनाया। यही शिशु नमि राजर्षि के नाम से ख्यात हुआ। (देखिए-नमिराज)

(ख) पद्मरथ (राजा)

ग्यारहवें विहरमान तीर्थंकर श्री वज्रधर स्वामी के जनक। (देखिए-वज्रधर स्वामी)

पद्मरुचि श्रावक

प्राचीनकालीन महापुर नगर का रहने वाला एक धर्मात्मा, पुण्यात्मा और परोपकारी श्रावक। वह बहुत करुणाशील था। किसी भी दुखी को देखकर उसका हृदय करुणार्द्र हो जाता था और वह दुखी का दुख दूर करने के लिए प्रयत्नशील बन जाता था। एक बार पद्मरुचि नगर के निकटस्थ वन से गुजर रहा था। उसे वहां एक मरणासन्न वृषभ दिखाई दिया। पद्मरुचि बैल के निकट पहुंचा। बैल की अवस्था देखकर पद्मरुचि ने जान लिया कि उसका आयुष्य समाप्त होने को है। वह बैल के पास बैठ गया और उसे नवकार मंत्र सुनाने लगा। महामंत्र के दिव्य प्रभाव से बैल का चिन्तन ऊर्ध्वमुखी बन गया। प्राण त्याग कर वह महापुर-नरेश की रानी के उदर में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। पद्मरुचि ने बैल के शव का संस्कार कर दिया।

रानी ने पुत्र को जन्म दिया। शिशु के वक्ष पर वृषभ का चिह्न था, उसी के कारण उसका नाम वृषभ-ध्वज रखा गया। कालक्रम से वृषभध्वज युवा हुआ। एक बार वृषभध्वज घूमते हुए उसी स्थान पर पहुंच गया, जहां बैल के रूप में उसने देहोत्सर्ग किया था। उस स्थान को देखते ही उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपने उपकारी मित्र से मिलने के लिए वृषभध्वज अति उत्सुक हो गया। उसकी खोज के लिए उसने एक उपक्रम किया। उस स्थान पर एक देहरा बनवाया और उसकी भित्तियों पर मरणासन्न बैल और उसे नवकार मंत्र सुनाते व्यक्ति के चित्र बनवाए। राजकुमार ने एक विश्वस्त चर देहरे पर नियुक्त कर दिया और उसे समझा दिया कि जो भी व्यक्ति उक्त चित्र का रहस्य स्पष्ट करे, उसके बारे में शीघ्र ही उसे सूचित करे।

कालक्रम से एक बार पद्मरुचि श्रावक उधर से गुजरा तो उसने देहरे की भित्तियों पर अंकित चित्र देखे। वह ठिठक गया और उन्हें पुनः पुनः देखने लगा। राजकुमार द्वारा नियुक्त चर ने सेठ से पूछा, महाशय! आप चित्रों को इतनी उत्सुकता से क्यों देख रहे हो। सेठ पद्मरुचि ने कहा, क्योंकि इन चित्रों से मेरा अपना सम्बन्ध है। बैल की बगल में चित्रस्थ व्यक्ति मैं स्वयं हूँ।

चर ने राजकुमार को सूचना दे दी । राजकुमार वृषभध्वज दौड़कर पद्मरुचि के पास पहुंचा। पद्मरुचि के चरणों में प्रणाम कर राजकुमार ने स्पष्ट किया कि पूर्वजन्म में वह बैल था और उन्हीं की कृपा से राजकुमार बना है। पद्मरुचि और वृषभध्वज जीवन भर सघन स्नेहसूत्र में बंधे रहे।

जैन रामायण के अनुसार भवान्तर में पद्मरुचि ही राम बने और वृषभध्वज सुग्रीव बना। जन्मान्तर में भी दोनों का स्नेह पुनर्जीवित बना।

—आख्यान मणिकोष

पद्मश्री

चम्पानगरी के श्रेष्ठी धर्मानंद की इकलौती सन्तान, एक जैनधर्मानुरागिनी रूप-गुण सम्पन्न विदुषी बाला। धर्मानंद की इच्छा थी कि वह अपनी पुत्री का विवाह समान कुल-आचार वाले घर में करेगा। उसी के लिए वह प्रयत्नरत था। पद्मश्री के समान रूप-गुण-कुल सम्पन्न युवक की उसे तलाश थी।

किसी समय बौद्ध धर्मानुयायी युवक बुद्धसिंह की दृष्टि पद्मश्री के रूप पर पड़ी। वह उसके रूप का दीवाना बन गया। उसने अपने मन के भाव अपने पिता बुद्धसागर के समक्ष प्रकट किए और निवेदन किया कि अगर उसका विवाह पद्मश्री के साथ नहीं होगा तो वह जीवित नहीं रह पाएगा। पिता ने पुत्र के हृदय की स्थिति को समझा और उसे विश्वस्त किया कि वह चाहे जैसे भी बन पड़ेगा, उसका विवाह पद्मश्री के साथ ही कराएगा।

बुद्धसागर एक धर्मान्ध वणिक् था। वह अपने धर्म को ही धर्म मानता था। शेष जैन, वैदिक आदि धर्मों से घृणा करता था। पर पुत्र के आग्रह पर उसे कपट-श्रावक का अभिनय करना पड़ा। अपने अभिनय में वह सफल रहा और श्रेष्ठी धर्मानंद को उसने प्रभावित कर लिया। जब धर्मानंद से उसकी मैत्री स्थापित हो गई तो एक दिन अवसर साधकर उसने उसकी पुत्री का हाथ अपने पुत्र के लिए मांग लिया। धर्मानंद उसके कपट को नहीं समझ पाया और उसने उस के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

पद्मश्री ने श्वसुर गृह में प्रवेश किया। प्रथम दिन ही वह समझ गई कि उसके साथ धोखा हुआ है। पर वह विदुषी थी और जानती थी कि धर्म तो आत्मा की वस्तु है और उसका आराधन सभी स्थानों पर किया जा सकता है। उसके समक्ष जटिलताएं तब उपस्थित हुईं, जब उसे बौद्ध धर्म अंगीकार करने के लिए बाध्य किया गया । इसके लिए उसे विवश ही नहीं किया गया बल्कि मानसिक और शारीरिक प्रताड़नाएं भी दी गईं। सास, श्वसुर और ननद, तीनों मिलकर पद्मश्री को प्रताड़ित करते। पर वह वीर बाला समस्त प्रताड़नाओं को सहकर भी प्रसन्न थी। उसने न तो अपने आत्मधर्म का त्याग किया और न अन्य धर्म का ग्रहण अथवा तिरस्कार किया।

एक बार पद्मश्री को सूचना मिली कि उसके माता-पिता अस्वस्थ हैं। सास-श्वसुर की आज्ञा प्राप्त कर वह अपने घर गई। मात-पिता से उनके साथ हुए छल का रहस्य प्रच्छन्न न रह सका। वे इस आघात को सह न सके और अकाल कालकवलित हो गए।

पद्मश्री के माता-पिता के अवसान के पश्चात् उसके सास-श्वसुर और ननद का प्रकोप भी शतगुणित बन गया। जब उन्हें यह निश्चय हो गया कि वे प्रताड़ना से पद्मश्री को अपना धर्म अंगीकार नहीं करा पाएंगे तो उन्होंने उसकी हत्या का क्रूर संकल्प ठान लिया । एक षड्यन्त्र रचा गया और उसके अनुसार एक सपेरे से कृष्ण विषधर खरीदा गया। कृष्ण विषधर को एक घड़े में बन्द कर दिया गया। योजनानुसार सास ने अपने स्वर को मधुर बनाते हुए पद्मश्री से कहा, बेटी! भगवान की आराधना के लिए हमें मंदिर में चलना

है। कक्ष में रखे घड़े में पुष्प माला रखी गई है, उसे निकाल लाओ।

सास के अप्रत्याशित व्यवहार को देखकर बुद्धिमती पद्मश्री सावधान हो गई। उसने नवकार महामंत्र का जाप करते हुए घड़े में हाथ डाला। महामंत्र के दिव्य प्रभाव से कृष्णसर्प फूलमाला में बदल गया। उसके सास, श्वसुर और ननद जो इस प्रतीक्षा में थे कि घट को स्पर्श करते ही पद्मश्री सर्प का शिकार बन जाएगी, दंग रह गए। उनके हृदयों की धड़कनें बढ़ गईं। उन्होंने 'चमत्कार' शब्द ही सुना था, चमत्कार को प्रत्यक्ष घटित होते देखकर वे कांप उठे। तत्क्षण पद्मश्री के समक्ष नत हो गए और अतीत के दुर्व्यवहार के लिए क्षमापना करने लगे। श्वसुर ने कांपते स्वर में कहा, पुत्री ! जिनधर्म की विजय हुई। तुम्हारी विजय हुई। तुम्हारी कृपा से आज हमें भी सन्मार्ग का बोध हो गया। हमें क्षमा कर दो।

पद्मश्री अपने कोमल स्वभाव के अनुरूप सास-श्वसुर के चरणों पर झुक गई। घर में स्वर्ग उतर आया। पूरा परिवार जिनधर्म के रंग में रंग गया। परिवार के सभी सदस्य विशुद्ध श्रावक धर्म की आराधना करते हुए सद्गति के अधिकारी बने।

पद्मश्री भी ऊंचे देवलोक में गई। कालक्रम से वह निर्वाण प्राप्त करेगी।

पद्मसिंह (पद्मावती)

वसन्तपुर नगर का रहने वाला एक धनवान और धर्मात्मा सेठ। नगर का वह सम्माननीय व्यक्ति था। नगर नरेश प्रजापति भी पद्मसिंह की धर्मनिष्ठा, प्रामाणिकता और बुद्धिमत्ता का विशेष सम्मान करता था। वह राजदरबार में विशिष्ट दरबारी था। युवावस्था मे पद्मसिंह का विवाह पद्मावती नामक रूप-गुण सम्पन्न कन्या से हुआ, जो वसन्तपुर राज्य के महामात्य सुमति की पुत्री थी। पद्मावती भी अपने पति के समान ही धर्मरुचि सम्पन्न सन्नारी थी। पति-पत्नी का पारस्परिक विश्वास और प्रीतिभाव दूज के चन्द्र की भांति निरंतर वर्धमान बनता गया।

एक दिन पद्मसिंह और पद्मावती राजोद्यान में भ्रमण के लिए गए। वहां के स्वच्छ और सुगन्धित वातावरण में उन दोनों का मन रम गया। उन्होंने रात्रि-प्रवास वहीं करने का निश्चय किया। पर दुर्दैव के अदृश्य पंजों को वे नहीं देख सके। रात्रि के पश्चिम प्रहर में जब पति-पत्नी निद्राधीन थे तो चपल नामक एक विद्याधर उधर से गुजरा। चाँद की चाँदनी में पद्मावती का रूप देखकर वह उस पर मोहित हो गया। उसने पद्मावती का अपहरण कर लिया।

प्रभात होने पर पद्मसिंह की निद्रा भंग हुई। पद्मावती को न पाकर वह अधीर हो गया। उसने उद्यान और नगर में अपनी पत्नी को खोजा। राजा और मन्त्री ने उसकी पूरी सहायता की। पर पद्मावती को खोजा न जा सका। पद्मसिंह ने पत्नी-विरह में प्राणत्याग का निश्चय कर लिया। पर राजा ने मित्र-धर्म का पालन करते हुए उसे किसी तरह धैर्य बंधाया और उसके दुःसंकल्प को दूर किया। संयोग से नगर में एक अवधिज्ञानी मुनि पधारे। पद्मसिंह की प्रार्थना पर मुनि ने स्पष्ट किया कि उसे एक मास के पश्चात् उसकी पत्नी पुनः प्राप्त होगी। पद्मसिंह धर्माराधनापूर्वक विरहकाल को व्यतीत करने लगा।

चपल नामक विद्याधर पद्मावती को वैताढ्यगिरि पर स्थित अपने नगर में ले गया। उसने विविध प्रलोभन देकर पद्मावती को अपने अनुकूल बनाना चाहा, पर सती के सत को तिलभर भी विचलित करने में वह सफल नहीं हो सका। सती पद्मावती ने उसे कठोर और नीतियुक्त वचनों से सीख दी। आखिर एक मास के सतत श्रम से भी विद्याधर सफल न हो सका तो उसकी अन्तर्चेतना में एक मोड़ आया। पद्मावती

की दृढ़धर्मिता ने उसके हृदय के कलुष को धो डाला। उसने पद्मावती से अपने दुःसाहस के लिए क्षमा मांगी और उसे अपनी धर्म बहन बना लिया। उसके बाद उसने पद्मावती को एक रूपपरावर्तिनी गुटिका दी और ससम्मान उसे उसके पति के पास पहुंचा दिया।

पद्मावती को सुरक्षित और अपने धर्म पर सुदृढ़ पाकर पद्मसिंह के हर्ष का पारावार न रहा। उनका पारस्परिक प्रेमभाव पूर्वापेक्षया और भी प्रगाढ़ हो गया। सुख के झूले पर बैठकर वे समय यापन कर रहे थे। किसी दिन परस्पर वार्ता करते हुए वे दोनों एक विषय पर भिन्न-मत हो गए। विषय था—घर पुरुष से चलता है या स्त्री से। पद्मसिंह गृहसंचालन में पुरुष को प्रधान कहता था और पद्मावती स्त्री को। सहज वार्तालाप थोड़ा भारी बन गया और पद्मसिंह ने मन में गांठ बांध ली कि वह पद्मावती के समक्ष घर में पुरुष की प्रधानता सिद्ध करेगा। कुछ समय बीतने पर पद्मसिंह ने अपनी चल-सम्पत्ति को गुप्त रूप से सुरक्षित कर दिया। उसने पद्मावती से बहाना बनाया और कहा कि उसे उसके देश संखात अचानक जाना पड़ गया है, वह शीघ्र ही लौट आएगा। पद्मावती ने साथ चलने का आग्रह किया, पर पद्मसिंह ने विविध तर्क प्रस्तुत करते हुए उसे वसंतपुर रहने को ही राजी कर लिया।

पद्मसिंह के जाने के बाद पद्मावती को पति द्वारा छोड़ा गया एक संदेश मिला, जिसमें उल्लेख था कि वह स्त्री को घर में प्रमुख तब मान सकता है, जब वह उसकी अनुपस्थिति में ये चार कार्य करेगी। (1) शालिहोत्र लक्षण के दो घोड़े मेरे लिए खरीद कर रखना (2) सुन्दर महल बनवाना (3) मेरे लिए एक राजसुता को विवाहित करके लाना और (4) मेरे लौटने तक एक पुत्र पैदा करके रखना।

पति का उक्त संदेश पढ़कर पद्मावती बड़ी खिन्न हुई। वह बुद्धिमती तो थी ही, वह समझ गई कि उसके पति के हृदय में उसकी बात चुभ गई है, उसी के परिणाम स्वरूप वे उससे दूर चले गए हैं। पद्मावती ने आर्त्तध्यान में समय-यापन करने को मूर्खता माना। उसने निश्चय किया कि वह अपने पति के असंभव प्रायः निर्देशों को इस विधि से पूर्ण करेगी कि उसका नारी धर्म भी सुरक्षित रहे और उसका काम्य भी सिद्ध हो जाए।

पद्मावती को ज्ञात हो गया कि घर में धन नहीं है। धन के बिना संसार का कोई भी कार्य पूरा नहीं हो पाता, फिर शालिहोत्र लक्षण के अश्व और महल निर्माण कैसे हो। आखिर पद्मावती ने अपने बुद्धिकौशल से किसी श्रेष्ठी से धन उधार लिया और महल निर्माण का कार्य शुरू करवा दिया। शालिहोत्र लक्षण के दो अश्व भी उसने खरीद दिए। परन्तु तृतीय और चतुर्थ कार्य क्रमशः कठिनतर और कठिनतम थे। पर पद्मावती का चिन्तन भिन्न था। वह सोचती थी, अपुरुषार्थी के लिए कण भी मण है और पुरुषार्थी के लिए मण भी कण तुल्य है। पुरुषार्थ, साहस और दृढ़ निश्चय के साथ उसने देशाटन का संकल्प किया। रूपपरवर्तिनी गुटिका द्वारा उसने पुरुष वेश धारण किया। देशाटन करते हुए उसने विद्यासाधना में एक विद्याधर की सहायता की। चक्रेश्वरी देवी से उसे चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति हुई। आगे जाकर बंग देश के राजा की पुत्री विजयवती से उसने पाणिग्रहण किया। पुरुषवेशी पद्मावती विजयवती को वसन्तपुर ले आई और उसके समक्ष सम्पूर्ण रहस्य अनावृत्त कर दिया। पद्मावती के साहस से विजयवती बहुत प्रभावित हुई। उसने उसे अपनी बड़ी बहन का मान दिया और उसके चतुर्थ कार्य को कैसे पूरा किया जा सकता है, उसकी रूपरेखा तैयार की।

चिन्तामणि रत्न होने से पद्मावती के पास सब भांति समृद्धि थी। उसने जिस सेठ से धन उधार लिया था, वह लौटा दिया। फिर एक दिन विजयवती को घर का दायित्व प्रदान कर वह संखात के लिए चल दी। संखात पहुंचकर उसने एक ग्वालिन का वेश धरा और शीघ्र ही उस वेश में रहते हुए ही वह अपने पति

पद्मसिंह को तलाशने में सफल भी हो गई। इतना ही नहीं, वह दूध-दही लेकर पद्मसिंह के पास जाने लगी। उससे परिचय बढ़ाया और शनैःशनैः उसे अपने वाग्जाल और रूपजाल में आबद्ध कर लिया। अपने मन्तव्य में सफल बनकर पद्मावती अपने स्थान (वसन्तपुर) लौट गई। नौ मास के पश्चात् उसने एक सर्वांग सुन्दर पुत्र को जन्म दिया।

उधर एक दिन पद्मसिंह का हृदय परिवर्तन हुआ। उसे अनुभव हुआ कि उसने पद्मावती के साथ घोर अन्याय किया है, जो बिना बात की बात बनाकर उसे अकेली छोड़ दिया। पश्चात्ताप करता हुआ सेठ वसंतपुर पहुंचा। वहां की स्थिति देखकर वह हैरान बन गया। आखिर परत-दर-परत रहस्य खुले। पद्मसिंह नारी शक्ति को देखकर दंग रह गया। पति-पत्नी मनोमालिन्य को दूर कर पुनः एक-आत्मा बन गए। सुदीर्घ काल तक घर में रहते हुए गृहस्थ धर्म का उन्होंने पालन किया। जीवन के पश्चिम भाग में समंधर मुनि से पद्मसिंह, पद्मावती और विजयवती ने दीक्षा ली। पद्मसिंह मुनि ने उत्कृष्ट चारित्राराधना द्वारा सर्व कर्म क्षय कर मोक्ष पद पाया। पद्मावती और विजयवती देवलोक में गईं।

—पद्मावती-पद्मसी रास (मुनि बालू रचित)

(क) पद्मा

पूर्वजन्म में निषध कुमार की माता तथा महाबल नरेश की रानी।

(ख) पद्मा (आर्या)

इनका समस्त परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 13

(ग) पद्मा (आर्या)

पद्मा आर्या की समग्र कथा काली आर्या के समान है। विशेषता इतनी है कि इनका जन्म श्रावस्ती नगरी में हुआ था और कालधर्म को प्राप्त कर यह सौधर्म कल्प के पद्मावतंसक विमान में शक्रेन्द्र महाराज की पट्टमहिषी के रूप में जन्मी, जहां इनका आयुष्य सात पल्योपम का है। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 9, अ. 1

(क) पद्मावती

बारहवें विहरमान तीर्थंकर प्रभु चंद्रानन स्वामी की जननी। (देखिए-श्री चंद्रानन स्वामी)

(ख) पद्मावती

एक राजकुमारी, जिसका पाणिग्रहण सुसीमा नगरी के राजकुमार देवयज्ञ (विहरमान तीर्थंकर) से हुआ था। (देखिए-देवयज्ञ स्वामी)

(ग) पद्मावती

षष्ठम् वासुदेव पुरुष पुण्डरीक की पटरानी। वह राजेन्द्रपुर नरेश उपेन्द्रसेन की सुपुत्री थी। उसका रूप और लावण्य अद्भुत था। उसके रूपाकर्षण में बन्धकर ही बलि ने पुरुष पुण्डरीक से युद्ध किया था, जिसमें उसकी मृत्यु हुई। वह पतिव्रता सन्नारी थी।

(घ) पद्मावती

महाराज कनकरथ की रानी और कनकध्वज की माता (देखिए-तेतलीपुत्र)

(ङ) पद्मावती

गणाध्यक्ष महाराज चेटक की पुत्री, चम्पापुरी नरेश दधिवाहन की अर्द्धांगिनी और प्रत्येकबुद्ध करकण्डु की जननी। वह एक परम पतिपरायण सन्नारी थी। एक दुखद घटनाक्रम से गुजर कर वह विरक्त बन गई और दीक्षित हो गई। अंग और कलिंग के मध्य संभावित महायुद्ध को उसने न केवल रोका बल्कि अपने पति का भी वह आदर्श बनी । उत्कृष्ट संयम की आराधना कर उसने सुगति पाई ।

(च) पद्मावती

वासुदेव श्री कृष्ण की पटरानी। भगवान अरिष्टनेमि के प्रवचन से प्रबुद्ध बनकर उसने प्रव्रज्या अंगीकार की। ग्यारह अंगों तक का अध्ययन किया। तप और संयम की साकार प्रतिमा बनकर उसने बीस वर्षों तक विशुद्ध चारित्र का पारिपालन किया और मासिक संलेखना के साथ अन्तिम श्वास में कैवल्य को साधकर सिद्ध हुई।

—अन्तकृद्दशांगसूत्र वर्ग 5, अध्ययन 1

(छ) पद्मावती

कोणिक की पट्टमहिषी। पद्मावती के हठ के कारण ही कोणिक और चेटक का संग्राम हुआ, जो महाविनाश का कारण बना। पद्मावती के हठ की कथा-गाथा निम्न प्रकार से है—

एक बार देवराज इन्द्र ने महाराज श्रेणिक की दृढ़धर्मिता और श्रद्धा की प्रशंसा देवसभा में की। एक देवता को इन्द्र की प्रशंसा नहीं रुची। वह श्रेणिक की श्रद्धा की परीक्षा लेने के लिए राजगृह नगरी में आया। उसने एक मुनि का वेश बनाया और तालाब के किनारे बैठकर मछलियां पकड़ने लगा। महाराज श्रेणिक उधर से गुजरे। एक मुनि को अनार्य कर्म में प्रवृत्त देखकर राजा को बड़ी खिन्नता हुई। उसने मुनि के निकट जाकर उसके अनार्य आचरण के बारे में उसे टोका । मुनि वेशधारी देव ने कहा, राजन्! सभी मुनि गुप्त रूप से ऐसे ही अनार्य कार्यों में व्यस्त रहते हैं। मेरे बारे में आप जान गए हैं, शेष के बारे में जान नहीं पाए हैं। मुनि वेशधारी देव की बात सुनकर राजा ने सख्त स्वर में कहा, महाराज! अपनी जबान को संभालिए! अपने अनार्य आचरण को उचित ठहराने के लिए शेष मुनियों पर दोषारोपण मत करो। और इस जाल को फैंककर अपने गुरु के पास जाओ और आलोचना-प्रायश्चित्त से अपनी आत्मा को शुद्ध करो। मुनि वेश को ऐसे लज्जित करोगे तो तुम्हें सख्त से सख्त सजा दी जाएगी।

राजा की बात सुनकर मुनि वेशधारी देव जाल फैंककर एक दिशा में चला गया। महाराज श्रेणिक आगे बढ़े। थोड़ी ही दूर जाने पर उन्होंने एक सगर्भा श्रमणी को देखा, जो एक छोटे से बालक की अंगुली पकड़े हुए निर्लज्ज भाव से राजा के मार्ग पर ही चली आ रही थी। साध्वी को उस दशा में देखकर श्रेणिक ठहर गए। साध्वी से बोले, साध्वी जी! मैं यह क्या देख रहा हूँ? अपने वेश और धर्म का तो तुम्हें तनिक विचार करना चाहिए था! खैर, भूल हो जाना मानवीय स्वभाव है! तुम मेरे साथ चलो, मैं तुम्हारे प्रसव की समुचित व्यवस्था करा देता हूँ! बाद में आलोचना-प्रायश्चित्त से अपनी आत्मा को परिशुद्ध बनाकर तुम पुनः चारित्र धर्म का पालन करना!

राजा की सीख का उपहास करते हुए साध्वी ने कहा, राजन्! किस-किस के प्रसव की व्यवस्था तुम करोगे? मैं एक ही पतिता नहीं हूँ ! छत्तीस हजार अन्य भी हैं, जो छिपकर दुराचरण करती हैं। किस-किस को आप संभालेंगे ?

राजा ने रोषारुण बनकर साध्वी को डांटा, साध्वी जी! अपने शब्दों पर संयम रखिए! महान श्रमणियों

पर दोषारोपण करते हुए तुम्हें तनिक भी लज्जा नहीं लगती! महावीर की श्रमणियों के चारित्र तो दुग्ध-धवल और उत्कृष्ट हैं। अपने पाप को छिपाने के लिए अन्य पर दोषारोपण किया तो तुम्हें कठोर दण्ड दिया जाएगा!

देव श्रेणिक की सुदृढ़ श्रद्धा देखकर गद्‌गद हो गया। वह अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुआ। उसने इन्द्र द्वारा की गई उनकी प्रशंसा और उस द्वारा ली गई परीक्षा की पूरी बात कहते हुए राजा की स्तुति की और बिना मांगे ही उन्हें एक कुण्डलों का जोड़ा तथा एक अठारहसरा हार प्रदान किया और अपने स्थान पर चला गया।

श्रेणिक ने कुण्डल-युगल महारानी नंदा को दिए और अठारहसरा हार चेलना रानी के अंगजात हल्ल और विहल्ल कुमार को दिया। साथ ही उन कुमारों को सिंचानक नामक हाथी भी प्रदान किया। कालान्तर में कोणिक ने कालकुमार आदि दस सौतेले भाइयों को अपने साथ मिला कर अपने पिता महाराज श्रेणिक को बन्दी बना लिया और राज्य के ग्यारह भाग कर परस्पर बांट लिया। अंततः कोणिक ही अपने पिता की मृत्यु का कारण भी बना।

हल्ल-विहल्ल कुमारों को राज्य नहीं मिला। इस पर भी वे पिता-प्रदत्त हार और हाथी के साथ ही संतुष्ट थे। हाथी की पीठ पर अपनी रानियों के साथ बैठकर वे निकलते तो उनकी शोभा दर्शनीय होती थी। लोग परस्पर चर्चा करते थे कि राजा भले ही कोणिक है पर राजलक्ष्मी का वास्तविक उपभोग तो हल्ल-विहल्ल कुमार ही कर रहे हैं। हल्ल और विहल्ल कुमार की यह जीवन-शैली पद्‌मावती के लिए ईर्ष्या का कारण बन गई। उसने कोणिक से कहा कि उसे अठारहसरा हार और सिंचानक हाथी चाहिए। कोणिक ने अपनी रानी को समझाया कि ये दोनों वस्तुएं उसके भाइयों को उसके पिता ने दी हैं और उन पर उन्हीं का अधिकार है, इसलिए वे वस्तुएं उसे नहीं मिल सकतीं। पद्‌मावती ने त्रियाहठ अपनाते हुए कहा, तुम कैसे राजा हो जो अपने राज्य की ही वस्तुओं पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। मुझे हार और हाथी चाहिए। जैसे भी हो, तुम्हें ये वस्तुएं मुझे देनी ही होंगी!

कोणिक त्रियाहठ के समक्ष झुक गया और उसने पद्‌मावती को वचन दिया कि वह हार और हाथी उसे देगा। कोणिक ने हल्ल और विहल्ल को अपने पास बुलाया और हार व हाथी देने के लिए कहा। हल्ल-विहल्ल ने हार और हाथी को पिता-प्रदत्त वस्तुएं कहकर कोणिक को देने से इन्कार कर दिया। कोणिक ने हठ पकड़ी तो दोनों भाइयों ने हार और हाथी के बदले में राज्य का हिस्सा मांगा। इसके लिए भी कोणिक तैयार नहीं हुआ। उसने राजा होने के दंभ में आकर आदेश सुना दिया कि दूसरे दिन प्रातः ही हार और हाथी उसे सौंप दिए जाएं। हल्ल-विहल्ल के लिए यह कठिन समय था। वे अपनी रानियों के साथ हाथी पर सवार होकर रात्रि में ही चम्पा नगरी से निकलकर अपने नाना चेटक के पास वैशाली भाग गए। वस्तुस्थिति से परिचित बनकर महाराज चेटक ने दोहित्रों को अपनी शरण दी और निश्चिन्त भाव से अपने पास रहने को कहा।

आखिर हार और हाथी के लिए चेटक-कोणिक संग्राम हुआ। अनेक दिनों तक महासंग्राम चला, जिसमें असंख्य लोग मारे गए। कूलबालुक के सहयोग से कोणिक विजयी हुआ। इस पूरे युद्ध के मूल में पद्‌मावती की ही वह हठ प्रमुख थी जिसमें उसने कोणिक से हार और हाथी देने के लिए कहा था। (देखिए-कूलबालुक--कोणिक)

(ज) पद्‌मावती

वसन्तपुर नगर के कोटीश्वर श्रेष्ठी पद्‌मसिंह की पत्नी, एक अत्यन्त बुद्धिमती, चतुर और धर्मप्राण सन्नारी। (देखिए-पद्‌मसिंह)

(झ) पद्मावती (धरणेंद्र)

(देखिए-धरणेंद्र)

पद्मोत्तर

(देखिए-महापद्म चक्रवर्ती)

परशुराम

वैदिक महाभारत और पुराणों के अनुसार विष्णु के छठे अवतार। रामायण में भी परशुराम का उल्लेख हुआ है और शिवधनुष तोड़ने पर वह श्री राम पर क्रुद्ध हुआ। जैन पौराणिक साहित्य और त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र के अनुसार परशुराम जमदग्नि ऋषि का पुत्र था। पुत्र के बिना गति नहीं होती, इस सिद्धान्त के अनुसार जमदग्नि ने वृद्धावस्था में नेमिकोष्टक नगर के राजा जितशत्रु की पुत्री रेणुका से विवाह रचाया। ऋषि जितशत्रु के पास पहुंचा और उसने उसकी अनेक पुत्रियों में से किसी एक पुत्री की याचना की। राजा को ऋषि का प्रस्ताव स्वीकृत न था, पर ऋषिश्राप के भय से उसने कहा कि मेरी जो भी पुत्री आपको चाहे, आप उसे ले जा सकते हैं। वृद्ध और कुरूप ऋषि को किसी भी राजकुमारी ने पसन्द न किया। इससे क्रोधित हो ऋषि ने निन्यानवे राजकुमारियों को कुब्जा बना दिया। तब ऋषि ने एक अल्पायुष्क राजकुमारी रेणुका को केलों का प्रलोभन दे अपने साथ चलने को राजी कर लिया। जितशत्रु की आर्त्त प्रार्थना पर ऋषि ने निन्यानवे कन्याओं को कुब्जत्व से मुक्त कर दिया।

रेणुका का पालन-पोषण कर ऋषि ने उसके युवती हो जाने पर उससे विवाह रचाया। उसी से परशुराम का जन्म हुआ, जो ब्राह्मण और क्षत्राणी का रक्त होने से ब्रह्म के तेज और क्षत्रिय के बल से पूर्ण था। रेणुका ने अपनी बहन के पति हस्तिनापुर नरेश अनन्तवीर्य से अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर एक पुत्र को जन्म दिया। इससे परशुराम विचिकित्सा और क्रोध से भर गया। उसने अपनी माता और उसके पुत्र का वध कर दिया। अनन्तवीर्य ने जमदग्नि का आश्रम तुड़वा दिया। उसके बदले में परशुराम ने अनन्तवीर्य का वध कर दिया। एक विद्याधर की सेवा कर परशुराम ने उससे परशु प्राप्त किया, जिसका वार अमोघ था। परशु के बल पर उसने क्षत्रियों का संहार शुरू कर दिया और कहते हैं कि उसने सात बार पृथ्वी को क्षत्रियविहीन बना दिया था। आखिर अनन्तवीर्य के पौत्र सुभूम चक्रवर्ती ने परशुराम का वध कर अपने पिता, पितामह और क्षत्रियों की हत्या का प्रतिशोध लिया। – त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र–6/4

पर्वत

क्षीरकदम्बक आचार्य का पुत्र और शिष्य, जो शास्त्रपदों की गलत व्याख्याएं करके अपने अहंकार और असत्य का संपोषण करता था। (देखिए वसुराजा)

पल्लव नरेश

ईसा की द्वितीय सदी में तमिलनाडु प्रान्त में पल्लव-राजवंश की स्थापना हुई। इस वंश का संस्थापक कीलिकवर्मन चोल का एक पुत्र था। कीलिकवर्मन के एक पुत्र शांतिवर्म ने जैन धर्म की दिगम्बर परम्परा में दीक्षा भी ली थी। शांतिवर्म आचार्य समन्तभद्र नाम से जैन जगत में विख्यात हुए। इस वंश में सिंहवर्मन, सिंहविष्णु, महेन्द्रवर्मन आदि कई नरेश हुए, जिन्होंने जैन धर्म को अपने राज्य में पूर्ण प्रश्रय दिया। आचार्य समन्तभद्र और आचार्य सर्वनन्दि का इन राजाओं पर विशेष प्रभाव रहा।

दक्षिण भारत में पल्लव राजवंश की स्थापना ईसा की द्वितीय सदी में हुई। पल्लव वंशीय नरेशों ने कई सौ वर्षों तक शासन किया। पल्लव वंश के अंतिम नरेशों में नन्दिवर्मन का नाम प्रमुख है, जिनका शासन काल ई. सन् 844 से 860 तक माना जाता है।

पल्लविया

गंग राज्य के महामंत्री चामुण्डराय की लघु सहोदरा। पल्लविया का जैन धर्म के प्रति सुदृढ़ अनुराग था। छोटी अवस्था में ही उसने वैभव को ठुकराकर श्रामणी दीक्षा ग्रहण की थी। समाधि-संलेखनापूर्वक इन्होंने पण्डित मृत्यु प्राप्त की।

पवनंजय

विद्याधर राजा प्रह्लाद के पुत्र, महासती अंजना के पति और रामभक्त हनुमान के जनक। (देखिए-अंजना)

पाण्डु

हस्तिनापुर के राजा और युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव के जनक। धृतराष्ट्र पाण्डु के अग्रज थे। जन्मान्ध होने से धृतराष्ट्र राजपद न पा सके और पाण्डु राजा बने। वैदिक महाभारत के अनुसार पाण्डु की अकाल मृत्यु के बाद धृतराष्ट्र ने राज्य संचालन किया। धृतराष्ट्र का राज्यमोह अत्यन्त प्रबल था, उसी कारण उसने अपने पुत्र दुर्योधन को युवराज बनाना चाहा था। भीष्म-विदुरादि का तर्क था कि वह पाण्डु के राज्य की देखरेख-भर कर रहे हैं। अतः युवराज पद का अधिकारी पाण्डु-पुत्र युधिष्ठिर ही है। तर्क-वितर्क के भंवरों में उलझा कुरु राज्य अन्ततः विभाजन का शिकार बना।

पाण्डु एक नीतिवान राजा थे। जैन महाभारत के अनुसार अन्तिम वय में प्रव्रजित बन वे सुगति के अधिकारी हुए।

पात्रकेशरी (आचार्य)

दिगम्बर परम्परा के एक विद्वान जैन आचार्य। उनका जन्म अहिच्छत्रनगर के ब्राह्मण परिवार में हुआ था। अपने युग के वे विश्रुत वैदिक विद्वान थे। अहिच्छत्रनगर नरेश के वे महामात्य थे। किसी समय वे पार्श्वनाथ चैत्य में गए। वहां चारित्रभूषण मुनि के मुख से समन्तभद्र विरचित 'देवागम स्तोत्र' सुनकर उन्हें जिनधर्म के प्रति अनुराग हुआ। पद्मावती देवी ने भी उन्हें स्वप्न में दर्शन दिए। पात्रकेशरी जिनधर्म में दीक्षित हो गए और उन्होंने आगमों का पारायण किया। बाद में वे आचार्य पद पर आसीन हुए।

त्रिलक्षण कदर्थन और पात्रकेशरी स्तोत्र—ये दो रचनाएं आचार्य पात्रकेशरी की मानी जाती हैं, ये दोनों उत्कृष्ट रचनाएं हैं। पात्रकेशरी ई. की छठी शताब्दी के आचार्य अनुमानित हैं। —आराधना कथाकोश

पादलिप्त (आचार्य)

वी.नि. की सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुए एक महान प्रभावशाली जैन आचार्य। आचार्य पादलिप्त श्रेष्ठ विद्वान, बहुविध विद्याओं के ज्ञाता और प्रवचन प्रभावक मुनिराज थे। उनके विराट व्यक्तित्व से सम्बन्धित अनेक विद्वानों के आलेख, उनके जीवन से जुड़ी अनेक अलौकिक कथाएं वर्तमान में भी श्रवण और साहित्य का विषय बनी हुई हैं। उनके विराट जीवन-दर्शन का संक्षिप्त इतिवृत्त निम्नरूपेण है—

आचार्य पादलिप्त का जन्म कौशला नगरी के एक समृद्ध श्रेष्ठी के घर हुआ था। उनके पिता का नाम

फुल्लचंद्र और माता का नाम प्रतिमा था। प्रारंभ में प्रतिमा निःसंतान थी और पुत्र-प्राप्ति के लिए उसने अनेक उपक्रम किए थे। उसने वैरोट्या देवी की आराधना की। देवी ने प्रकट होकर प्रतिमा से कहा, जिनशासन नायक आचार्य नागहस्ती के चरणोदक का पान करने से तुम्हें पुत्ररत्न की प्राप्ति होगी।

प्रतिमा उपाश्रय में पहुंची। प्रबल पुण्ययोग से उसे आचार्य नागहस्ती का चरण प्रक्षालित उदक सामने आते हुए एक मुनि से प्राप्त हो गया। भक्तिभाव से प्रतिमा ने उस जल का पान किया। तदनन्तर उसने आचार्य श्री के दर्शन किए। आचार्य श्री विशिष्ट श्रुतधर और अतिशय ज्ञानी थे। लक्षणों का अध्ययन कर उन्होंने प्रतिमा से कहा, तुम दस पुत्रों की माता बनोगी। तुम्हारे सभी पुत्र यशस्वी होंगे। प्रथम पुत्र का यश सम्पूर्ण भरतखण्ड में व्याप्त होगा। आचार्य देव की मनोहर वाणी सुनकर गद्‌गद-हृदया प्रतिमा ने प्रतिज्ञा की, भगवन्! अपने प्रथम पुत्र को मैं जिनशासन की सेवा में समर्पित करूंगी।

कालक्रम से प्रतिमा ने नाग का स्वप्न देखकर एक सुरूप और सर्वांग स्वस्थ पुत्ररत्न को जन्म दिया। स्वप्न में नाग दर्शन के कारण शिशु का नाम नागेन्द्र रखा गया। आठ वर्ष की अवस्था में बालक नागेन्द्र को उसकी माता ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार आचार्य नागहस्ती के चरणों में अर्पित कर दिया। परम पुण्यशाली और मेधासम्पन्न बालक नागेन्द्र गुरु के सान्निध्य में दो वर्षों में ही व्याकरण, न्याय, दर्शन और आगमों के अधिकारी विद्वान बन गए। अपनी विलक्षण वाग्मिता और विनयवृत्ति से बालमुनि नागेन्द्र ने अपने गुरु आचार्य नागहस्ती को मन्त्रमुग्ध बना दिया। आचार्य श्री ने बालमुनि को पादलेप विद्या प्रदान की, जिससे बालमुनि गगन में यथेच्छ गमन करने में समर्थ हो गए। उसी के कारण नागेन्द्र 'पादलिप्त' इस नाम से विश्रुत हुए। दस वर्ष की अवस्था में ही उन्हें आचार्य पद प्रदान किया गया, जो उनकी विलक्षण और अद्‌भुत प्रतिभा व आचारनिष्ठा का प्रबल प्रमाण है।

आचार्य पादलिप्त सूरि अनेक विद्याओं के कोष थे। विद्याओं और विद्वत्ता के बल पर उन्होंने जिनशासन की महान प्रभावना की। रंक से लेकर बड़े-बड़े राजाओं तक उनके भक्तों की संख्या अगणित थी। उस युग के कई बड़े-बड़े राजा आचार्य पादलिप्त सूरि के अनन्य उपासक थे। उनमें कुछ के नाम हैं—पाटलिपुत्र नरेश मुरुण्ड, मानखेटपुर नरेश कृष्ण, विलासपुर नरेश प्रजापति, पृथ्वीप्रतिष्ठानपुर नरेश शातवाहन और भरूंच नगर नरेश।

आचार्य पादलिप्त के अनेक शिष्यों में नागार्जुन विशिष्ट मेधासम्पन्न शिष्य थे। आचार्य पादलिप्त और नागार्जुन का प्रथम सम्पर्क सौराष्ट्र प्रदेश की ढंका नामक महापुरी में हुआ था। नागार्जुन क्षत्रियपुत्र था और उसकी माता का नाम सुव्रता था। वह एक बुद्धिमान और परिश्रमी बालक था। रसायन सिद्धि के प्रयोगों में पूर्ण कुशलता प्राप्त करना उसे अभीष्ट था। उसके लिए उसने सुदूर प्रदेशों और विजन वनों की सघन यात्राएं कीं। जड़ी-बूटियों को परखा। अत्यधिक श्रमपूर्ण साधना के पश्चात् वह रसायन सिद्धि में कुशल बन गया। जब वह ढंका नगरी में आया तो उसने आचार्य पादलिप्त के बारे में सुना। आचार्य पादलिप्त की गगनगामिनी लेपन विधि ने उसे चमत्कृत कर दिया। वह उस विद्या को आचार्य श्री से सीखने को उत्सुक हो गया। उसने आचार्य श्री से स्नेह-संबंध स्थापित करने के लिए एक रसकूपिका अपने शिष्य के हाथ आचार्यश्री के पास प्रेषित की। आचार्य श्री ने नागार्जुन द्वारा प्रेषित रसकूपिका को दीवार पर टकराकर चूर-चूर कर दिया। उन्होंने स्वयं एक पात्र में अपना प्रस्रवण भरकर नागार्जुन के शिष्य के हाथ में थमा दिया। इस पूरे उपक्रम पर नागार्जुन का शिष्य क्षुब्धचित्त हो गया। नागार्जुन के पास पहुंचकर उसने अथान्त घटित घटना उसे कह सुनाई। इससे नागार्जुन भी रोष से भर गया। आचार्य श्री द्वारा प्रेषित पात्र का ढक्कन उसने

खोला तो दुर्गन्ध से उसका मन ग्लानि से भर गया। कुपित होकर उसने वह पात्र एक प्रस्तर शिला पर पटक दिया। आचार्य श्री के प्रस्रवण के स्पर्श होते ही वह विशालकाय शिला स्वर्ण बन गई।

इस दृश्य को देखकर नागार्जुन आश्चर्याभिभूत हो उठा। उसे आज तक का अपना सारा श्रम व्यर्थ प्रतीत होने लगा। वह आचार्य पादलिप्त के पास पहुंचा और उनके चरणों में उसने स्वयं को अर्पित कर दिया। कुछ समय तक वह आचार्य श्री के साथ सेवक की भांति रहा। बाद में उसने आचार्य पादलिप्त का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। आचार्य श्री के गुरु-गम्भीर ज्ञान और नानाविध विद्याओं को धारण कर नागार्जुन भी एक सुयोग्य श्रमण बन गए।

आचार्य पादलिप्त अपने युग के विश्रुत और पूजित आचार्य थे। वे जहां भी विचरे, उनका धवल यश चतुर्दिक् फैलता रहा। वे अद्भुत कवि भी थे। उस युग के बड़े-बड़े कवि आचार्य पादलिप्त की काव्य कला से अभिभूत थे।

आर्य नागार्जुन की प्रेरणा से शत्रुञ्जय पर्वत की तलहटी में बसे नगर का नाम पादलिप्तपुर रखा गया, जो वर्तमान में पालिताणा नाम से विश्रुत है। —प्रभावक चरित्र/ पुरातन प्रबन्ध संग्रह

पारसनाथ

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का अपरनाम। (विशेष परिचय के लिए देखिए-पार्श्वनाथ तीर्थंकर)

पाराशर

प्राचीन कालीन एक समृद्ध किसान। (देखिए-ढंढण मुनि)

पार्श्वनाथ (तीर्थंकर)

तेईसवें तीर्थंकर। स्वर्ग से च्यव कर प्रभु के जीव ने वाराणसी नरेश अश्वसेन की महारानी वामादेवी की रत्नकुक्षी से पौष कृष्ण दसवीं को जन्म लिया। युवा हुए। वे परम सुरूप और शक्तिशाली थे। एक बार पितृ-मित्र कुशस्थल नरेश प्रसन्नजित पर जब किसी अनार्य राजा ने आक्रमण किया तो पार्श्वनाथ ने पिता की आज्ञा से अनार्य राजा का मानभंग कर कुशस्थल नरेश की रक्षा की। कुशस्थल की राजकुमारी प्रभावती का विवाह पार्श्वकुमार से हुआ।

पार्श्वकुमार को आडम्बर और अज्ञान तप पसन्द न था। वे अहिंसा और करुणा के अग्रदूत महापुरुष थे। जब कमठ नामक तापस ने पंचाग्नि तप से पूरे वाराणसी नगर को प्रभावित बना लिया तो पार्श्वकुमार ने तप के तले सुलग रही हिंसा का दर्शन लोगों को कराया। पंचाग्नि में जल रहे एक बड़े लक्कड़ को अग्नि से बाहर निकालकर चिरवाया तो उसमें से आधे जल चुके नाग-दम्पती बाहर निकले। इससे तापस की प्रतिष्ठा गिर गई और पार्श्व की अहिंसा और दूरदर्शिता का यशगान मुख-मुख पर फैल गया। पार्श्व ने नमस्कार मंत्र से सर्पयुगल को सम्बोधि-समता का सूत्र दिया। सर्पयुगल देहोत्सर्ग कर धरणेन्द्र और पद्मावती के रूप में जन्मे।

पार्श्वकुमार ने तीस वर्ष की अवस्था में प्रव्रज्या धारण की। तप और ध्यान द्वारा कैवल्य को साधने लगे। उधर कमठ अज्ञान तप में जीवन बिताकर मरा और मेघमाली नामक भवनपति देव बना। उसने प्रभु को ध्यानस्थ देखा तो उसका वैर-भाव जाग उठा। उसने प्रभु को अनेकविध उपसर्ग दिए। पर जब वह किसी भी भांति प्रभु को चलित करने में सफल नहीं हुआ तो उसने मेघ की विक्रिया रच मूसलाधार वर्षा शुरू कर दी। जल-थल एकाकार हो गए। प्रभु की नासिका तक जल आ गया। तब धरणेन्द्र का आसन प्रकम्पित हो

गया। वह तत्क्षण प्रभु के पास आया, प्रभु के पगतलों के तले उसने स्वर्ण कमल तथा सिर पर सप्तफणी छत्र तान कर प्रभु को उपसर्ग से मुक्त किया। इससे मेघमाली भयभीत बन प्रभु के चरणों में अवनत हो गया।

केवलज्ञान प्राप्त कर प्रभु ने तीर्थ की स्थापना की। लाखों-लाखों भव्य जीवों ने उस तीर्थ से आत्मलक्ष्य साधा। सत्तर वर्ष मुनि पर्याय में रहते हुए सौ वर्ष की आयु पूर्ण कर प्रभु मोक्षधाम में जा विराजे।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र 1/3

(क) पालक

एक दुष्ट और जैन-धर्म-द्वेषी व्यक्ति । वह कुम्भकटकपुर के राजा दण्डक का मन्त्री था। धर्म-द्वेष के कारण ही उसने स्कन्दक मुनि तथा पांच सौ अन्य मुनियों को कोल्हू में पेल दिया था। (देखिए-स्कन्दक कुमार)

(ख) पालक (राजा)

अवन्ती नरेश चण्डप्रद्योत का पुत्र। चण्डप्रद्योत स्वयं भगवान महावीर का भक्त था। पालक को जैन धर्म के संस्कार विरासत में प्राप्त हुए। उसका एक लघु सहोदर था, जिसका नाम गोपाल था।

जिस दिन भगवान महावीर का निर्वाण हुआ, उसी दिन चण्डप्रद्योत का भी निधन हुआ। उसके निधन के पश्चात् उसका बड़ा पुत्र पालक अवन्ती का राजा बना। उस के दो पुत्र थे। अवन्तीवर्धन और राष्ट्रवर्धन। विरक्तमना गोपाल आर्य सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षित हो गया।

पालक ने 20 वर्षों तक शासन किया। तदनन्तर अपने बड़े पुत्र अवन्तीवर्धन को राजपद तथा राष्ट्रवर्धन को युवराज पद प्रदान कर पालक भी आर्य सुधर्मा के धर्मसंघ में प्रव्रजित हो गया। शुद्ध संयम की आराधना द्वारा उसने सद्गति का अधिकार प्राप्त किया।

पाहिनी

वी.नि. की 12वीं-13वीं सदी की एक आदर्श श्राविका। आचार्य हेमचन्द्र जैसे दिव्य पुरुष रत्न को जन्म देने का सौभाग्य पाहिनी को प्राप्त हुआ। प्रभावक चरित्र के अनुसार एक रात्रि के पश्चिम प्रहर में पाहिनी ने एक शुभ स्वप्न देखा। स्वप्न में उसने देखा कि उसने अपने गुरु देवचन्द्र मुनि को एक चिन्तामणि रत्न भेंट किया है। दूसरे दिन उसने अपने गुरु देवचन्द्र को अपना स्वप्न बताया और उसका फल पूछा। गुरु ने कहा, पाहिनी! तुम उत्तम लक्षण वाले एक पुत्र को जन्म दोगी, जो जिन शासन में चिन्तामणि बनकर भास्वरमान होगा।

कालक्रम से पाहिनी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। बालक कुछ बड़ा हुआ। एक दिन पाहिनी अपने पुत्र, जिसका नाम चांगदेव रखा गया था, को साथ लेकर उपाश्रय में गई। वह स्वयं तो धर्माराधना में लग गई। बालक चांगदेव खेल-खेल में गुरुदेव देवचन्द्र के आसन पर जा बैठा। देवचन्द्र ने बालक के लक्षणों को देखा। उन्होंने पाहिनी से जिनशासन के लिए बालक की याचना की। पाहिनी के लिए यह एक कठिन निर्णय का क्षण था। वह बिना कुछ उत्तर दिए अपने घर चली गई। देवचन्द्र मुनि संघ के प्रतिष्ठित श्रावकों को साथ लेकर पाहिनी के घर गए। श्रावक समुदाय ने समवेत स्वर से पाहिनी से जिनशासन के लिए पुत्रदान की प्रार्थना की। संघ की प्रार्थना के समक्ष पाहिनी नतमस्तक हो गई और उसने अपना पुत्र गुरु-चरणों में अर्पित कर दिया। देवचन्द्र मुनि चांगदेव को साथ लेकर उसके शिक्षण के लिए खंभात चले गए।

जिस समय यह घटना घटी, उस समय चांगदेव के पिता चाचिग नगर में नहीं थे। चाचिग जब लौटे तो उन्हें पूरी घटना ज्ञात हुई और इससे वे नाराज हो गए। पुत्र को लौटाने के लिए वे खंभात गए। परन्तु

देवचन्द्र मुनि के समझाने और वहां के राज्यमंत्री उदयन के वात्सल्यपूर्ण व्यवहार से उनकी नाराजगी दूर हो गई। यही बालक चांगदेव दीक्षित होने पर मुनि सोमदेव और आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होने पर हेमचन्द्र कहलाए, जिन्होंने सभी विषयों पर ग्रन्थों की रचना कर जैनधर्म के साहित्य भण्डार को भर दिया।

जिस दिन हेमचन्द्र आचार्य बने, उसी दिन पाहिनी ने भी दीक्षा ग्रहण की और संयम-तपमय जीवन की आराधना कर आत्मकल्याण किया। (देखिए हेमचन्द्राचार्य)

पाहिल श्रेष्ठी

दसवीं सदी का एक जैन श्रावक, जो उदार हृदय और परम जिनभक्त था। उसने सन् 954 में सात विस्तृत वाटिकाओं का दान किया था और भावना व्यक्त की थी कि कोई भी राजा शासन करे वह पाहिल को अपना दासानुदास समझकर उस द्वारा प्रदत्त वाटिकाओं की रक्षा करे।

पाहिल श्रेष्ठी की जिन भगवान के प्रति अनन्य आस्था थी। खजुराहो में उसने भगवान आदिनाथ के मंदिर का निर्माण भी कराया था, जो वर्तमान में पारस मंदिर के रूप में विद्यमान है।

पिंगल निर्ग्रन्थ

महावीरकालीन एक निर्ग्रन्थ। (देखिए-स्कंदक)

पितृसेनकृष्णा

आर्या पितृसेनकृष्णा ने मुक्तावली तप की आराधना की। इसमें तीन वर्ष और दो मास का समय लगता है। (शेष वर्णन-कालीवत्) —अन्तकृद्दशांगसूत्र वर्ग 8, अध्ययन 9

(क) पुंडरीक

पुण्डरीकिणी नगरी का स्वामी, जिसने अन्तिम अवस्था में चन्द दिनों के चारित्र पालन से ही सर्वार्थ सिद्ध की ऊंचाई को प्राप्त कर लिया था। (देखिए-कुण्डरीक मुनि)

(ख) पुंडरीक (गणधर)

भगवान ऋषभदेव के चौरासी गणधरों में प्रथम गणधर।

पुणिया श्रावक

जैन पौराणिक कथा साहित्य के अनुसार राजगृह निवासी एक श्रमणोपासक। एक उल्लेख के अनुसार वह कालसौकरिक कसाई का पुत्र सुलस ही था, जो अपने पिता के हिंसक व्यापार को ठुकरा कर राजगृह के एक कोने में झोंपड़ी डालकर रहने लगा था। व्यवसाय रूप मे वह रूई की पूणियां बनाकर बेचता था और उससे जो थोड़ा-बहुत अर्जन होता, उसी से पेट पालकर धर्मध्यान में मस्त रहता था। महामंत्री अभयकुमार से उसकी अंतरंग मित्रता थी। पर इस मित्रता का उसने अपने लिए आर्थिक दृष्टि से लाभ के लिए कभी उपयोग नही किया। एक बार जब उसके पिता ने उसकी झोंपड़ी में आग लगवा दी, तो अभयकुमार उसकी सहायता के लिए आया और घर बनाने के लिए उसे आर्थिक मदद देनी चाही तो उसने स्पष्ट इन्कार कर दिया। उसने और उसकी पत्नी ने एक-एक दिन उपवास का क्रम शुरू किया और उस बचत से उन्होंने एक वर्ष की अवधि में इतना धन जोड़ लिया कि वे अपनी झोंपडी बना सकें। एक मान्यता के अनुसार वर्षीतप का प्रचलन तभी से जैन परम्परा में प्रचलित हुआ।

पुणिया श्रावक की सामायिक की निष्ठा अनन्य थी। तीर्थंकर महावीर ने उसकी शुद्ध सामायिक की प्रशंसा अपने श्रीमुख से की थी। एक बार जब श्रेणिक राजा ने नरक से मुक्ति का उपाय प्रभु से पूछा तो प्रभु ने कहा कि यदि वह पुणिया श्रावक की एक सामायिक खरीद सके तो नरक जाने से बच सकता है। मगधेश श्रेणिक पुणिया के झोंपड़े पर पहुंचा और उससे एक सामायिक मोल देने के लिए कहा। कीमत पूछी तो पुणिया बोले, कीमत वही बता सकते हैं जिन्होंने आपको मेरे पास भेजा है। श्रेणिक प्रभु के पास गया और सामायिक की कीमत प्रभु से पूछी। प्रभु ने स्पष्ट किया, चांद सितारों तक हीरे जवाहरात का ढेर लगाकर भी एक सामायिक के सोलहवें अंश का भी मूल्य पूर्ण नहीं होता है। सुनकर श्रेणिक मौन हो गया।

विशुद्ध सामायिक का आराधक पुणिया श्रावक सम्यक् और साधनामयी जीवन जीकर देवलोक में गया। वहां से मनुष्य जन्म लेकर निर्वाण पद प्राप्त करेगा।

पुण्यभद्र

आचार्य संभूतविजय के एक शिष्य। —कल्पसूत्र स्थविरावली।

पुण्यपाल

जीव, अजीव, पाप, पुण्य आदि तत्वों का ज्ञाता एक श्रेष्ठीपुत्र, अनन्य श्रद्धाशील, धीर, वीर, गम्भीर और शूरवीर युवकरत्न। विराटनगर के सम्पन्न श्रेष्ठी सुबुद्धि उसके पिता थे, जो नगरनरेश जितशत्रु के महामंत्री थे। उसकी जननी का नाम कलावती था, जो तत्वज्ञा और धर्मप्राण सन्नारी थी। कनकमंजरी नामक कन्या से पुण्यपाल का पाणिग्रहण हुआ, जो देवकन्या-सी रूपवती और परम पतिपरायण सन्नारी थी। पुण्यपाल के पुण्य गगन का स्पर्श कर रहे थे। नगरनरेश और नगरजन उस पर प्राण लुटाते थे। पर जैसे देह के साथ छाया का सम्बन्ध जुड़ा रहता है, ऐसे ही पुण्य और पाप परस्पर जुड़े रहते हैं। एक बार पुण्यपाल के पुण्यकर्म कुछ निस्तेज हो गए और पाप कर्म सतेज बन गए। राजा जितशत्रु चापलूस सभासदों से घिरा बैठा था, जो सभी उसे ही प्रजा के सुख-दुख का नियंता घोषित कर रहे थे। पुण्यपाल को मौन देखकर राजा ने उसे भी अपनी सम्मति देने को बाध्य किया तो उसने स्पष्ट कर दिया कि मनुष्य अपने सुखों और दुखों का कर्त्ता स्वयं होता है, दूसरे तो निमित्त मात्र हैं। सच में तो प्रजा अपने पुण्यों से सुखी है और कोई दुखी है तो उसका कारण भी वह स्वयं ही है। पुण्यपाल की बात सुनकर राजा का अहंकार फुफकार उठा। उसने पुण्यपाल को यह कहते हुए देशनिकाला दे दिया कि तू स्वयं जान लेगा—मैं ही तुम्हारे सुख और दुख का नियंता हूं।

प्रसन्न और शान्त चित्त से माता-पिता को प्रणाम कर पुण्यपाल अपने नगर से चल दिया। कनकमंजरी ने पति का अनुगमन किया । कई दिनों तक चलते-चलते दोनों रत्नपुरी नगरी में पहुंचे। उस नगरी को उचित स्थान जानकर पुण्यपाल चतुराई से कनकमंजरी से अलग हो गया और वहां से पुष्पदत्त नामक युवा व्यापारी के जहाज पर सवार होकर देशाटन के लिए निकल गया। कनकमंजरी ने राजकीय पौषधशाला में शरण ली और धर्मध्यान में रत रहकर वह पति के लौटने की प्रतीक्षा करने लगी ।

पुण्यपाल के पुण्यों का सूर्य पुनः चमक उठा। पुष्पदत्त के साथ यात्रा करते हुए उसने अपने पुण्ययोग और बुद्धिबल से तीन राज्यों को प्राप्त किया और तीन राजकुमारियों से पाणिग्रहण किया। मार्ग में उसे पुण्यदत्त की कुटिलता का शिकार भी बनना पड़ा, पर पुण्य साथ हो तो पापी से पापी शत्रु भी अहित नहीं कर सकता। पुण्यपाल भारी सैन्यदल के साथ रत्नपुरी नगरी लौटा और वहां से कनकमंजरी को साथ लेकर उसने अपने नगर—विराटनगर के लिए प्रस्थान किया। उसके साथ तीन राज्यों की सेना, हाथी, घोड़े और

अगणित रथ थे। ज्ञात होता था कि कोई चक्रवर्ती दिग्विजय के लिए जा रहा है। मार्ग में पड़ने वाले सात राज्यों के राजाओं ने पुण्यपाल की अधीनता स्वीकार कर ली और उसके साथ वे भी विराटनगर पहुंचे।

राजा जितशत्रु को सूचना मिली कि अनेक राजाओं के साथ कोई महाराजा नगर सीमा पर आया है। जितशत्रु कांप उठा। वह भेंट लेकर पुण्यपाल के पास पहुंचा और उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। जब उसने पुण्यपाल को पहचाना तो अपनी भूल पर उसे घोर पश्चात्ताप हुआ। उसने अपना राजमुकुट पुण्यपाल को प्रदान कर आर्हती दीक्षा धारण कर आत्मकल्याण किया। पुण्यपाल के पिता और माता ने भी दीक्षा धारण की।

पुण्यपाल ने चार-चार साम्राज्यों पर धर्मनीतिपूर्वक प्रलम्ब काल तक शासन किया और अंतिम वय में चारित्र की आराधना कर मोक्ष पद प्राप्त किया।

पुण्यमित्र

सामुद्रिक शास्त्र का ज्ञाता एक ब्राह्मण।

पुण्यवती

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की एक रानी। (देखिए-ब्रह्म राजा)

पुण्यसार

गोपालक नगर का श्रेष्ठी पुत्र। अमित पुण्यशाली, समस्त कलाओं में प्रवीण, विनीत और मृदु स्वभावी युवक रत्न । उसके पिता नगर के कोटीश्वर श्रेष्ठी थे। बचपन में पुण्यसार को जूए की लत लग गई। युवावस्था तक यह लत चलती रही। इसी के चलते उसने अपने घर से एक लाख स्वर्णमुद्राओं के मूल्य का हार चुरा लिया। इससे परिवार में गृहक्लेश का वातावरण निर्मित हो गया। पुण्यसार को घर छोड़ देना पड़ा। एक रात्रि वह घर से दूर रहा। उसके पुण्य इतने प्रबल थे कि उस एक रात्रि में ही आठ कन्याओं से उसका पाणिग्रहण हुआ। प्रभात में जब वह घर लौटा तो उसके शरीर पर मूल्यवान वस्त्र और लाखों रुपए के मूल्य के आभूषण थे।

पुण्यसार जब विद्यालय में पढ़ता था तो उसी नगर के श्रेष्ठी रत्नसार की पुत्री रत्नसुंदरी से उसका किसी बात पर विवाद हो गया था। उस समय पुण्यसार ने प्रतिज्ञा की थी कि वह रत्नसुंदरी से ही विवाह करेगा। उधर रत्नसुंदरी ने भी प्रतिज्ञा की थी कि वह चाहे जिससे विवाह कर लेगी पर पुण्यसार से विवाह नहीं करेगी। दोनों ने अपनी-अपनी प्रतिज्ञाओं पर डटे रहने के भरसक प्रयत्न किए, पर दैव को जो स्वीकार था, वही हुआ। विचित्र स्थितियां निर्मित हुईं और रत्नसुंदरी का विवाह अंततः पुण्यसार से ही हुआ।

पुण्यशाली पुण्यसार ने आठ पत्नियों के साथ सांसारिक सुखों का रसास्वादन करते हुए जीवन की सांध्यबेला में एक ज्ञानी मुनि की देशना में उनके श्रीमुख से अपना पूर्वजन्म का इतिवृत्त सुनकर दीक्षा धारण की और स्वर्ग प्राप्त किया। कालक्रम से मनुष्य भव धारण कर पुण्यसार सिद्धत्व प्राप्त करेगा।

पुण्याढ्य राजा

पद्मपुर नगर का राजा, जो पंगु और रुग्ण था। वह न तो राजपुत्र था और न ही राजकुल से उसका जन्मतः कोई सम्बन्ध था। उसके राजा बनने के पीछे पूर्वजन्म के उसके पुण्यकर्म ही कारण थे। उससे पहले पद्मपुर नगर का जो राजा था, उसका नाम तपन था। तपन एक महत्वाकांक्षी राजा था। वह राजा से महाराजा-

धिराज होना चाहता था। पुण्ययोग से उसे एक गजराज की प्राप्ति हुई। वह गजराज अत्यन्त शुभलक्षणों से सम्पन्न था। निमित्तज्ञों ने राजा तपन को बताया कि उस हाथी की पीठ पर बैठकर व्यक्ति अजेय हो जाएगा। तपन को अपनी महत्वाकांक्षा फलीभूत बनती प्रतीत हुई। उसने उस हाथी को अपना प्रधान हस्ती बनाया और वह दिग्विजय के लिए चल दिया। उसने अनेक राजाओं को जीत लिया पर उसकी राज्यलिप्सा शान्त नहीं हुई। उसने और आगे के लिए प्रस्थान किया। हाथी को एक खड़िया दिखाई दी और उसने खड़िया को अपनी सूण्ड में लेकर एक श्लोक दीवार पर लिखा, जिसका भावार्थ था, राजन्! तुम काम-क्रोधादि आत्मशत्रुओं से निरन्तर पराजित बन रहे हो। ऐसे में बाह्य शत्रुओं को जीतना व्यर्थ है। वैसा करने से तुम्हारे पुण्य क्षीण हो रहे हैं।

हाथी के लिखे श्लोक ने तपन की मोह निद्रा तोड़ दी। संयोग से राजा को एक अतिशय ज्ञानी मुनि के दर्शन हुए। राजा के पूछने पर मुनि ने उसे बताया, यह हाथी पूर्वजन्म का तुम्हारा मित्र है और तुम्हारे हित के लिए ही उसने तुम्हें हित शिक्षा दी है। मुनि के वचनों से राजा का वैराग्य प्रबल हो गया। उसने राज-पाट को त्याग दीक्षा धारण कर ली। क्योंकि राजा निःसंतान था, अतः सिंहासन सूना हो गया। तत्कालीन परम्परानुसार प्रधान हस्ती की सूण्ड में पुष्पमाला देकर उसे नए राजा के चुनाव का दायित्व दिया गया। पूरे नगर मे घूमते हुए हाथी नगर के बाहर पहुंचा। वहां एक वृक्ष के नीचे एक व्यक्ति चादर ओढ़कर सो रहा था। हाथी ने उस पर पुष्पमाला डाल दी। व्यक्ति उठ बैठा। वह पंगु और रुग्ण था। मर्यादानुसार नागरिकों को उसे ही राजा मानना पड़ा। लोगों ने उसे पुण्याढ्य कहकर पुकारा। उसका यही नाम प्रचलित हो गया।

पुण्याढ्य एक कुशल शासक सिद्ध हुआ। उसके राज्य में लोग सुखी थे और अपने पूर्व नरेश तपन को भूलने लगे थे। एक बार राजर्षि तपन पद्मपुर में पधारे। पुण्याढ्य ने मुनि का स्वागत किया। प्रवचनोपरान्त उसने श्रावकधर्म अंगीकार किया। उसने मुनि से पूछा, मुझ पंगु और रुग्ण को राज्य किस पुण्य से मिला? मुनि ने कहा, पूर्वजन्म में तीन मित्रों ने एक मुनि की उपसर्ग / परीषह से रक्षा की थी। उन तीन मित्रों में एक तुम थे, द्वितीय तुम्हारे प्रधान हस्ती का जीव था और तृतीय मैं था। उसी पुण्य के फलस्वरूप पहले मैं और बाद में तुम राजा बने। प्रधान हस्ती भी मनुष्य जैसी बुद्धि रखता है और राजसुख भोग रहा है। उस भव में मुनि सेवा करते हुए तुम्हारे हृदय में तनिक ग्लानि-भाव उभर आया था जिसके फलस्वरूप तुम्हें पंगु और रुग्ण बनना पड़ा। किन्हीं अन्य प्रसंगों पर माया का सेवन करने पर तृतीय मित्र को पशु रूप में जन्म लेना पड़ा।

अपना पूर्वभव सुनकर पुण्याढ्य की धर्मरुचि प्रबल से प्रबलतर होती चली गई। कालान्तर में हाथी बीमार हो गया। अन्तिम समय में पुण्याढ्य ने हाथी को नवकार मंत्र सुनाया। समभावपूर्वक देहत्याग कर हाथी देवता बना। उस देवता ने देवलोक के कल्पवृक्ष का एक फल लाकर पुण्याढ्य को भेंट किया जिसे खाकर पुण्याढ्य सर्वांग स्वस्थ बन गया। कालान्तर में पुण्याढ्य ने दीक्षा धारण की और निरतिचार संयम की आराधना कर परम पद—मोक्ष प्राप्त किया। —पुण्याढ्य रास (समयसुन्दरगणि) / (वासुपूज्य चरित्र)

पुद्गल परिव्राजक

आलंभिका नगरी का रहने वला एक तपस्वी परिव्राजक, जिसने उग्र-अज्ञान तप से विभंग ज्ञान प्राप्त किया था। विभंगज्ञान में उसने जगत को जहां तक देखा, उसी को सम्पूर्ण और अंतिम मानकर वह प्ररूपणा करने लगा। एक बार पुण्योदय से उसे भगवान महावीर से साक्षात्कार का अवसर प्राप्त हुआ। भगवान ने उसे उसके सीमित ज्ञान के बारे में बताया और सत्य का सम्यक् बोध उसे प्रदान किया। पुद्गल ने कई प्रश्न

प्रभु से पूछे और समाधान पाकर वह सम्यक्त्वी बन गया। परिव्राजक-परम्परा का त्याग कर वह श्रमण-धर्म में दीक्षित हुआ और विशुद्ध संयम की आराधना से सर्वकर्म विमुक्त होकर मोक्ष में गया।

(क) पुरन्दर

वाराणसी नरेश विजयसेन की महारानी कमलमाला की कुक्षी से उत्पन्न एक गुणानुरागी कुमार। गुणानुरागिता से राजकुमार पुरन्दर का जीवन सद्गुणों का कोष बन गया और अपने गुणों के कारण वह जन-जन के मन को प्रिय बन गया। पुरन्दर में रूप, गुण और यौवन का सुन्दर समन्वय था।

महाराज विजयसेन की छोटी रानी का नाम मालती था, जो रूप में रंभा के समान थी। राजा की उस पर अतिशय प्रीति थी। मालती का पुरन्दर पर सहज अनुराग था। परन्तु शनैःशनैः उसके अनुराग-भाव में काम का विष-भाव प्रवेश कर गया। एक बार उसने पुरन्दर से प्रणय-प्रार्थना की, जिसे सुनकर पुरन्दर अपने कानों पर विश्वास नहीं कर सका। पुरन्दर ने विमाता को नीति और धर्म के वचनों से सुपथा बनाने का प्रयत्न किया पर उसे सफलता नहीं मिली। पुरन्दर ने विचार किया, विमाता से दूर रहकर ही उसके हृदय को परिवर्तित किया जा सकता है। इसी विचार से पुरन्दर ने एक रात्रि में बिना किसी को सूचित किए अपने नगर को छोड़ दिया। रात्रि में ही वह नगर से बहुत दूर निकल गया। वन पथ पर उसे एक ब्राह्मण मिला। दोनों में प्रीतिभाव हो गया।

घने जंगल में दस्युराज वज्रभुज ने पुरन्दर का मार्ग रोक लिया। वज्रभुज महाराज विजय से दण्डित हो चुका था। पुरन्दर को पहचान कर वह प्रतिशोध के भाव से भर गया। उसने राजकुमार पर आक्रमण कर दिया। परन्तु वह राजकुमार का अहित नहीं कर सका। पुरन्दर सावधान था। उसने बाण-वर्षा कर वज्रभुज को घायल कर दिया। वज्रभुज प्राणों की भीख मांग कर भाग खड़ा हुआ।

राजकुमार पुरन्दर आगे बढ़ा। उसे भूतानंद नामक एक योगी मिला। योगी ने पुरन्दर के बल-विक्रम से प्रभावित होकर उससे प्रार्थना की कि एक विशिष्ट विद्या-साधना में वह उसका उत्तर साधक बने। पुरन्दर ने परोपकारी भाव से योगी का उत्तर साधक बन कर उसे विद्या सिद्धि में पूर्ण सहयोग दिया। प्रसन्न होकर योगी ने पुरन्दर को कई अद्भुत विद्याएं प्रदान कीं।

पुरन्दर नंदीपुर नगर में पहुंचा और वहीं रहने लगा। विद्या के चमत्कार से उसे प्रतिदिन एक हजार स्वर्णमुद्राएं प्राप्त होती थीं। उन सभी स्वर्णमुद्राओं को राजकुमार पुरन्दर प्रतिदिन दान कर देता था। परिणामतः नंदीपुर में भी वह सुख्यात बन गया।

एक बार नगर नरेश श्रीधर शूर की युवा पुत्री बन्धुमती का एक विद्याधर ने अपहरण कर लिया। श्रीधर शूर समस्त प्रयत्न करके भी अपनी पुत्री को विद्याधर से मुक्त नहीं करा सका। तब पुरन्दर ने अपने बल और पराक्रम से विद्याधर को परास्त कर बन्धुमती को मुक्त कराया। राजा श्रीशूर ने प्रसन्न होकर बन्धुमती का विवाह पुरन्दर से कर दिया।

पुरन्दर की परोपकारिता, दानवीरता और शूरवीरता की प्रशस्तियां भूमण्डल पर व्याप्त हो गईं। महाराज विजय भी जान गए कि उनका पुत्र नंदीपुर में है। सो उन्होंने पुत्र को वाराणसी बुला लिया। विमाता मालती का हृदय भी परिवर्तन हो चुका था। पुरन्दर को राज्यभार प्रदान कर महाराज विजय अपनी दोनों रानियों के साथ प्रव्रजित हो गए।

पुरन्दर वाराणसी का राजा बना। उसके शासन काल में वाराणसी की प्रजा अत्यन्त सुखी थी। साम्राज्य

का चहुंमुखी विकास हुआ। जीवन के उत्तर-पक्ष में राजा पुरन्दर ने भी गृहवास का परित्याग कर श्रमण धर्म में प्रवेश किया। राजर्षि बनकर वे तप, जप और ध्यान में लीन बन गए। एक बार राजर्षि पुरन्दर अस्थिक ग्राम के बाह्य भाग में ध्यान मुद्रा में लीन थे। संयोग से दस्युराज वज्रभुज उधर आ निकला। ध्यानस्थ राजर्षि को उसने पहचान लिया। उसका क्रोध भड़क उठा और प्रतिशोध की ज्वालाओं से उसका अन्तर्मन जलने लगा। पास ही घास-फूस का विशाल ढेर था। दस्युराज ने मुनि की पूरी देह को घास-फूस से ढाँप दिया और उसमें आग लगा दी।

ध्यान-मुद्रा में लीन मुनि पुरन्दर का शरीर अग्नि में जलने लगा। परन्तु उनके अन्तर्मानस में क्षमा और तितिक्षा की गंगा-यमुना प्रवाहित हो रही थी। उनके रोम-कूप के सूक्ष्मतम खण्ड में भी दस्युराज के प्रति द्वेष का कंपन तक नहीं उभरा। परम समता में लीन रहकर अंतिम श्वास के साथ कैवल्य को साधकर राजर्षि पुरन्दर मोक्ष में जा विराजे ।

मुनि की देह को अग्नि में अर्पित कर दस्यु वज्रभुज एक दिशा में भागा और एक अन्धकूप में जा गिरा। मृत्यु का ग्रास बनकर वह नरक में गया। —धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 96

(ख) पुरन्दर

अयोध्या का एक सूर्यवंशी राजा। उसने कई वर्षों तक प्रजा का पुत्रवत् पालन किया और अन्तिम वय में प्रव्रज्या धारण कर सद्गति का अधिकार पाया। —जैन रामायण

(ग) पुरन्दर

एक धीर, वीर, परोपकारी, सच्चरित्र और पुण्यात्मा राजकुमार, जो विलासपुर नरेश सिंहरथ का पुत्र था। पुरन्दर जब युवा हुआ तो आठ राजकुमारियों के साथ उसका पाणिग्रहण कराया गया। वह सुखपूर्वक देवदुर्लभ सुखों का उपभोग करता हुआ विचरने लगा। एक बार वसन्तोत्सव के अवसर पर राजकुमार पुरन्दर राजोद्यान में भ्रमण करने गया। उसने वहां एक विद्याधर को बन्धनों में बंधे हुए पड़े देखा। विद्याधर के शरीर से रक्त बह रहा था और वह मरणासन्न वेदना से कराह रहा था। राजकुमार पुरन्दर उसकी दशा देखकर दयार्द्र बन गया। उसने उसे बन्धनों से मुक्त किया और उसके घावों पर संरोहणी जड़ी का लेप किया जिससे विद्याधर को जीवनदान मिल गया। विद्याधर ने पुरन्दर को अपना जीवनदाता मानते हुए उसे प्रणाम किया। पुरन्दर द्वारा पूछने पर विद्याधर ने अपने बन्धनों में बंधे होने तथा घायल होने का कारण बता दिया। उसने अपने दोषों को सरलचित्त से पुरन्दर के समक्ष प्रगट कर दिया कि परस्त्री पर कुदृष्टि रखने से उसकी यह दशा हुई है। पर भविष्य में वह परदारा सहोदर बनकर जीवन जीएगा। विद्याधर ने पुरन्दर को अपने गुरु का पद दिया और गुरुदक्षिणा के रूप में उसे रूपपरावर्तिनी विद्या भेंट कर अपने नगर को चला गया।

कालान्तर में विलासपुर नगर में जगभूषण मुनि पधारे। पुरन्दर ने मुनि से श्रावक धर्म अंगीकार किया। वह धर्मध्यान-पूर्वक जीवन-यापन करने लगा। एक बार राजकुमार पुरन्दर ने किसी चारण के मुख से भोगपुर नगर की राजकुमारी कलावती के रूप की प्रशंसा सुनी। पुरन्दर पूर्वजन्म के स्नेहवश रूप-गुण श्रवण मात्र से ही कलावती को देखने और उसे पाने के लिए व्यथित हो गया। एक रात्रि में वह बिना किसी को सूचित किए अपने नगर से निकल गया। वन और पर्वतों को लांघता हुआ वह भोगपुर की दिशा में बढ़ा। मार्ग में एक देव ने उसके चारित्र की परीक्षा ली, जिसमें उसने पूर्णांक प्राप्त किए। उस देव ने प्रसन्न होकर पुरन्दर को चिन्तामणि रत्न प्रदान किया।

पुरन्दर भोगपुर पहुंचा। उसने एक वामन योगी का रूप बनाया। शीघ्र ही उसने पूरे नगर को अपने प्रभाव में ले लिया। राजा भी उससे प्रभावित हो गया। राजा की प्रार्थना पर योगी राजदरबार और राजमहल जाने लगा। उसी क्रम में योगीरूपधारी पुरन्दर ने कलावती के हृदय में अपना स्थान बना लिया। पूर्वजन्मों का अनुराग वर्धमान बनता गया।

एक रात्रि में वामन रूपधारी पुरन्दर राजा का अतिथि था। राजा की कनिष्ठ रानी मदिरावती जो वामन के रूप पर मोहित थी, रात्रि में वामन के पास पहुंची और उससे भोग प्रार्थना करने लगी। पुरन्दर चरित्रवान् युवक था और उसने स्वदार-संतोष व्रत धारण किया हुआ था। उसने रानी को मातृपद देते हुए उसे कामपथ से पुनः धर्मपथ पर आरूढ़ कर दिया। एकान्त में छिपा हुआ राजा यह दृश्य देख रहा था। वामन के प्रति उसकी श्रद्धा शतगुणित बन गई।

आखिर संक्षिप्त घटनाक्रमों के पश्चात् वामन योगी अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो गया। राजा ने अपनी पुत्री का विवाह उसके साथ कर दिया और अपना राजपाट उसे देकर स्वयं प्रव्रजित हो गया। उधर महाराज सिंहरथ भी पूरा इतिवृत्त जानकर अति प्रसन्न हुए। उन्होंने भी पुरन्दर को सिंहासन सौंपकर दीक्षा धारण कर ली।

पुरन्दर ने अनेक वर्षों तक न्याय और नीतिपूर्वक शासन किया। उसके राज्य में प्रजा सुखी और सम्पन्न थी। आयु के पश्चिम पक्ष में पुरन्दर ने अपने पुत्र को राज्यदायित्व प्रदान कर अपनी रानियों के साथ संयम का पथ चुना। सम्यक् संयम की बहुत वर्षों तक आराधना कर वह बारहवें देवलोक में गया। कालक्रम से वह सिद्धि प्राप्त करेगा। —मालदेव

पुष्पवती (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 24

पूर्णा (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु.,, वर्ग 5, अ. 9

प्रभंकरा (आर्या)

आर्या प्रभंकरा की जन्म नगरी अरक्खुरी तथा इनके माता-पिता के नाम इन्हीं के नामानुरूप थे। इनकी शेष कथा काली आर्या के समान है। (देखिए-काली आर्या) —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 7, अ. 4

पुरन्दरयशा

दण्डकदेश की राजधानी कुम्भकटकपुर नरेश दण्डक की रानी तथा स्कन्दक मुनि की सहोदरा। पुरन्दरयशा ने रत्नकम्बल निर्मित एक रजोहरण अपने भाई मुनि को प्रदान किया था। पापी पालक ने जब स्कंदक मुनि को कोल्हू में पेल दिया तो एक चील उस रक्तरंजित रजोहरण को मांस पिण्ड मानकर चोंच में दबाकर आकाश में ले उड़ी। भार अधिक होने से वह उसे संभाले न रख सकी और वह रजोहरण संयोग से महारानी पुरन्दरयशा के महल में गिरा। उसे पहचान कर पुरन्दरयशा ने पूरा भेद जाना। पूरी बात जानकर वह बहुत दुखी हुई और मूर्च्छित हो गई। कोई देवता उसे भगवान के समवशरण में ले गया। भगवान से प्रतिबोध पाकर वह साध्वी बन गई और सिद्ध हुई।

पुरुषपुण्डरीक (वासुदेव)

षष्ठम् वासुदेव, चक्रपुर नरेश महाशिर और उनकी रानी लक्ष्मीवती का पुण्यशाली और पराक्रमी पुत्र। लक्ष्मीवती ने इस पुत्र के गर्भ में आने पर सात शुभ स्वप्न देखे थे, जो इस बात के संसूचक थे कि वह एक ऐसे पराक्रमी पुत्र को जन्म देगी जो त्रिखण्ड का शासक होगा। राजा की एक अन्य रानी ने भी चार शुभ स्वप्न देखकर एक शालीन और सुकुमार पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम आनंद रखा गया। यही आनंद छठा बलदेव कहलाया।

यौवनवय में पुरुषपुण्डरीक का विवाह उस युग की अनिंद्य सुंदरी राजकुमारी पद्मावती से हुआ, जो राजेन्द्रपुर नगर के महाराज उपेन्द्रसेन की पुत्री थी।

उस युग में अरिंजय नगर का स्वामी बलि एक पराक्रमी राजा था। उसने अपने पराक्रम से पृथ्वी के एक बड़े भूभाग पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था। हजारों बड़े-बड़े सम्राट् उसकी आज्ञा का सर झुका कर पालन करते थे। वह प्रतिवासुदेव था। पद्मावती के रूप की ख्याति उसके कानों तक भी पहुंची। वह शक्तिशाली तो था ही, साथ ही यह भी मानता था कि जगत की सर्वश्रेष्ठ भोग्य वस्तुओं को भोगने का उसे अधिकार प्राप्त है। अर्थात् अपने बल का उसे पूरा-पूरा घमण्ड था। उसने पुरुषपुंडरीक को आदेश प्रेषित किया कि वह पद्मावती को उसके पास भेज दे।

पुरुषपुण्डरीक ने बलि के आदेश की कड़े और निंदनीय शब्दों में भर्त्सना कर दी और उसके पराक्रम को सीधी चुनौती दे दी। आखिर दोनों के मध्य महायुद्ध हुआ जिसमें चढ़ते सूर्य पुरुषपुंडरीक ने डूबते सूर्य बलि को पराजित किया। देवताओं ने इस विजय के साथ ही घोषणा की कि पुरुषपुंडरीक छठे वासुदेव हैं।

तीन खण्ड पर पुरुषपुण्डरीक ने सुदीर्घ काल तक शासन किया। पैंसठ हजार वर्ष की कुल आयु भोगकर उनका देहान्त हुआ।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

(क) पुरुषसिंह

कुंतीनगर का राजा। (देखिए-खंधक मुनि)

(ख) पुरुषसिंह (वासुदेव)

इस अवसर्पिणी काल का पंचम् वासुदेव, जो तत्कालीन प्रतिवासुदेव निशुम्भ को मारकर वासुदेव बना। पुरुषसिंह और निशुम्भ का शत्रुताभाव पूर्वजन्म से ही चला आ रहा था। पूर्वजन्म में पुरुषसिंह का जीव पोतनपुर नगर का राजा विकट था और निशुंभ का जीव राजसिंह नाम से एक अन्य देश का राजा था। राजसिंह राज्यलिप्सु था, सो उसने अपनी राज्यलिप्सा के वश बनकर पोतनपुर पर आक्रमण कर दिया। विकट पराजित हो गया और वनों में जाकर मुनि बन तप करने लगा। मृत्यु से पूर्व उसने राजसिंह से बदला लेने का निदान कर लिया। विकट मरकर स्वर्ग में गया और वहां से च्यव कर अश्वपुर के राजा शिव की रानी अंभका के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। राजा की एक अन्य रानी विजया ने भी एक पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम सुदर्शन रखा गया। यही सुदर्शन पंचम् बलदेव कहलाए।

उधर राजसिंह राजा भी अनेक गतियों में जन्म-मरण करता हुआ हरिपुर नगर के राजा के पुत्र रूप में जन्मा और निशुंभ नाम से प्रसिद्ध हुआ। निशुंभ ने अपने पराक्रम से तीन खण्ड के बृहद् भाग पर आधिपत्य जमा लिया। उधर अश्वपुर नरेश शिव की मृत्यु के बाद निशुंभ ने अश्वपुर पर आधिपत्य जमाना चाहा तो पुरुषसिंह और सुदर्शन ने उसका पुरजोर प्रतिरोध किया और परिणामस्वरूप भयंकर युद्ध हुआ। पुरुषसिंह

ने अपने पराक्रम से निशुंभ की विशाल सेना को परास्त कर दिया और निशुंभ को मारकर पूर्वजन्म के बदले के साथ-साथ वासुदेव का पद भी पाया। पुरुषसिंह ने लम्बे समय तक तीन खण्ड पर शासन किया। उसके राज करने का ढंग अत्यन्त कठोर था। परिणामतः वह मरकर छठी नरक में गया।

सुदर्शन भाई की मृत्यु के पश्चात् विरक्त हो गए और संयम लेकर चारित्र पालन करने लगे। तप और संयम की निरतिचार आराधना से उन्होंने कैवल्य को साधकर मोक्षपद प्राप्त किया।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

पुरुषसेन

वसुदेव और धारिणी के पुत्र। शेष परिचय जालिकुमार के समान है। (देखिए-जालिकुमार)

—अन्तकृद्दशांगसूत्र वर्ग 4, अध्ययन 4

पुरुषोत्तम (वासुदेव)

चतुर्थ त्रिखण्डाधीश वासुदेव । ये द्वारिका नरेश महाराज सोम की रानी सीता के अंगजात थे। इनके एक सौतेले भाई थे, जिनका नाम था सुप्रभ। दोनों भाइयों की माताएं भले ही अलग-अलग थीं, पर दोनों भाइयों में परस्पर अनन्य अनुराग था।

उस युग में मधु नामक एक अत्यन्त बलशाली राजा था और वह प्रतिवासुदेव था। मधु और पुरुषोत्तम में राज्य के लिए वैमनस्य जागा। फलतः महाभयंकर युद्ध हुआ और उस युद्ध में पुरुषोत्तम विजयी हुए। पुरुषोत्तम मधु को मारकर वासुदेव बने। वस्तुतः पुरुषोत्तम और मधु का यह वैमनस्य पूर्वजन्म से ही चला आ रहा था। पूर्व के एक जन्म में पुरुषोत्तम कौशाम्बी नगरी का राजा समुद्रदत्त था। उसकी रानी का नाम नंदा था। समुद्रदत्त का नंदा पर अतिशय प्रेम था। समुद्रदत्त का एक मित्र था चण्डशासन, जो मलय देश का राजा था। एक बार चण्डशासन समुद्रदत्त से मिलने कौशाम्बी आया। काफी समय बाद दो मित्र मिले थे। समुद्रदत्त के प्रेमपूर्ण आग्रह पर चण्डशासन कुछ दिनों के लिए कौशाम्बी में ठहर गया। इसी दौरान चण्डशासन की दृष्टि नंदा पर पड़ी और वह उसके रूप पर मुग्ध हो गया। फिर एक दिन अनुकूल अवसर पाकर उसका अपहरण कर अपने देश ले गया। मित्र के इस विश्वासघाती आचरण से समुद्रदत्त को बहुत कष्ट हुआ। अन्ततः कष्ट से वैराग्य अंकुरित हुआ और समुद्रदत्त राजपाट को ठोकर मारकर मुनि बन गया। उसने कठोर तप किया, पर मित्र के प्रति रहा हुआ रोष उसके हृदय में बना रहा। उसने चण्डशासन से बदला लेने के संकल्प के साथ देहोत्सर्ग किया। वहां से आयुष्य पूर्ण कर वह देव बना, और देवायुष्य पूर्ण कर पुरुषोत्तम के रूप में जन्मा। चण्डशासन विभिन्न जन्म-मरण करता हुआ मधु के रूप में जन्मा। यहां मधु का वध कर पुरुषोत्तम ने अपना प्रतिशोध पूर्ण किया।

भोग-विलास और युद्धों से भरा जीवन जीकर पुरुषोत्तम वासुदेव छठी नरक में गया। सुप्रभ ने संयम लेकर सर्वकर्म खपा दिए और मोक्षपद पाया। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र 4/4

पुष्पवती (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 24

पुष्पसेन

वसन्तपुर नगर के राजा चतुरसेन का पुत्र, साहसी और शूरवीर राजकुमार। एक बार किसी कलाकार

ने राजकुमार को एक काष्ठ का ऐसा अद्‌भुत हंस दिया, जो आकाश में उड़ सकता था। भ्रमण के शौकीन राजकुमार को मन की मुराद मिल गई। एक बार वह हंस पर सवार होकर अपने नगर से हजारों कोस दूर लक्ष्मीपुर नगर पहुंचा। वहां के राजा की इकलौती पुत्री नरद्वेषिणी थी। यह बात जानकर पुष्पसेन राजकुमारी के प्रति विशेष आकर्षित हुआ। राजकुमारी को फूल अति प्रिय थे और उसे प्रतिदिन फूलों से तोला जाता था। इसीलिए उसे फूलों की रानी कहा जाता था। पुष्पसेन ने अपनी बुद्धिमत्ता और मधुर व्यवहार से राजकुमारी का नरद्वेष दूर कर दिया और उससे विवाह कर उसे लेकर चल दिया। दोनों कई मास तक देश-विदेश का भ्रमण करते रहे। उसी यात्रा में फूलों की रानी ने एक पुत्र को जन्म भी दिया। दुर्दैववश पति-पत्नी का विछोह भी हुआ। चन्द्रावती नगरी में पुष्पसेन का हंस चुरा लिया गया। वहां वह राज जामाता भी बना।

फूलों की रानी पर एक योगी की दृष्टि मैली हो गई । उससे भाग कर उसने एक जहाज पर आश्रय लिया तो जहाज का स्वामी भी उसके रूप पर मुग्ध हो गया। कहीं फटकार और कहीं बुद्धिमत्ता से अपने शील का रक्षण करती हुई फूलों की रानी चन्द्रावती नगरी पहुंच गई, जहां पति से उसकी भेंट हुई।

आखिर पुष्पसेन को उसका हंस भी मिल गया, जिस पर सवार होकर वह अपनी दोनों पत्नियों के साथ अपने नगर में पहुंच गया! पिता के पश्चात् पुष्पसेन राजा बना और उसने सुदीर्घ काल तक शासन किया। जीवन के उत्तरार्ध भाग में एक मुनि से प्रतिबोधित हो उसने दीक्षा धारण की। विशुद्ध चारित्र की आराधना करते हुए उसने परमपद प्राप्त किया।

पुष्पकेतु

महासती पुष्पचूला के पिता। (देखिए-पुष्पचूला)

(क) पुष्पचूल

(देखिए-पुष्पचूला)

(ख) पुष्पचूल

चम्पानगरी का राजा। (देखिए-ब्रह्मराजा)

(क) पुष्पचूला

प्रभु पार्श्वनाथ की शिष्या श्रमणी। —समवायांग

(ख) पुष्पचूला

जैन परम्परा में विश्रुत सोलह महासतियों में से एक। पुष्पभद्र नगर के महाराज पुष्पकेतु और महारानी पुष्पवती उसके जनक और जननी थे। उसका एक सहोदर था, जिसका नाम था पुष्पचूल। भाई और बहिन का प्रेम स्वाभाविक होता ही है परन्तु पुष्पचूल और पुष्पचूला का पारस्परिक प्रेमभाव अपूर्व और अनन्य था। बाल्यकाल से ही वे दोनों एक दूसरे को देखे बिना एक पल न रह सकते थे। साथ-साथ खेलना, खाना, घूमना और सोना उनके स्नेह की कथा को आख्यायित करता था। इसी क्रम में वे दोनों युवा हो गए। पुष्पचूला को उसके विवाह के लिए उसके पिता-माता द्वारा पूछा गया तो उसने स्पष्ट अस्वीकार करते हुए कहा कि वह अपने भाई से एक पल भी अलग नहीं रह सकती है, इसलिए वह विवाह नहीं करेगी। ऐसा ही उत्तर पुष्पचूल का भी था। माता-पिता द्वारा गहन विमर्श किया गया। कोई विकल्प न सूझा तो महाराज पुष्पकेतु ने यौगलिक युग का संदर्भ प्रस्तुत करते हुए राष्ट्र और परिवार को सन्तुष्ट किया और पुष्पचूला और पुष्पचूल--

भाई और बहिन को परिणय सूत्र में बांध दिया। निर्विकार चित्त वाले भाई-बहिन ने साथ-साथ रहने के लिए इस लोकापवादकारी सम्बन्ध को मौन भाव से स्वीकार कर लिया। पर कुछ ही समय में परिवार और समाज इस बात से भिज्ञ हो गया कि पुष्पचूल और पुष्पचूला दाम्पत्य सूत्र में बंधकर भी भाई-बहिन का पवित्र जीवन जी रहे हैं। सबके मस्तक उस आदर्श स्नेह के समक्ष नत हो गए। महाराज पुष्पकेतु और महारानी पुष्पवती विरक्त होकर संन्यस्त हो गए।

पुष्पचूल ने सुदीर्घकाल तक आदर्श शासन किया। किसी समय नगर में अन्निकापुत्र नामक आचार्य पधारे। परिषद् जुड़ी। पुष्पचूला उपदेश सुनकर विरक्त हो गई। उसने भाई से प्रव्रजित होने की अनुमति मांगी। जिस बहिन को प्रतिपल अपनी आंखों के समक्ष रखने के लिए पुष्पचूल ने बड़े-बड़े सांसारिक आकर्षणों से आंख मूंद ली थीं, भला उसे सहज ही कैसे अनुमति दे सकते थे परन्तु बहिन की प्रसन्नता के लिए उन्होंने इस शर्त पर उसे अनुमति दे दी कि वह दीक्षित होने के बाद भी उसी नगर में विराजेगी और प्रतिदिन उसे दर्शन देगी। उक्त शर्त आचार्य श्री के समक्ष आई तो उन्होंने परमार्थ की साधना तथा एक साथ दो आत्माओं के कल्याण को दृष्टिगत रखते हुए अनुमति प्रदान कर दी कि पुष्पचूला दीक्षित होकर अपने ही नगर में रहकर स्थविरा साध्वियों की शुश्रूषा तथा संयम साधना का अनुपालन कर सकती है। फलतः पुष्पचूला दीक्षित हो गई और अपने ही नगर में रहकर आत्मसाधना करने लगी। विशुद्ध संयम के परिपालन से उसकी आत्मा विशुद्ध से विशुद्धतर होती चली गई और केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध बुद्ध-मुक्त बन गई।

—आवश्यक निर्युक्ति गाः 1284

(क) पुष्पदंत

कुन्तीनगर निवासी धूर्त सेठ मम्मण का पुत्र, जो अपने पिता के समान ही धूर्त और धोखेबाज था। (देखिए-हंसराज)

(ख) पुष्पदंत

नवम् तीर्थंकर श्री सुविधिनाथ का अपरनाम। पुष्प-माला के समान अतिसुन्दर दंत-पंक्ति के कारण बाल्यकाल से ही भगवान उक्त नाम से लोकप्रिय हुए। इतर मान्यतानुसार शिशु सुविधिनाथ को जब दांत आने लगे तब उनकी माता को पुष्पक्रीड़ा की इच्छा उत्पन्न हुई। इसलिए भी शिशु "पुष्पदंत" उपनाम से सुविख्यात हुए। (देखिए-सुविधिनाथ तीर्थंकर)

(ग) पुष्पदंत (अणगार)

एक तपस्वी श्रमण, जो निरन्तर मासखमण की आराधना किया करते थे। (देखिए-सुजात कुमार)

—विपाक सूत्र दि श्रु., अ. 3

(घ) पुष्पदंत (आचार्य)

एक विद्वान और प्रभावशाली दिगम्बर जैन आचार्य। पुष्पदन्त का जन्म श्रेष्ठीकुल में हुआ था। उन्होंने सौराष्ट्र देश के नहपान (भूतबलि) नामक नरेश के साथ प्रव्रज्या धारण की। उन्होंने नहपान के साथ ही धरसेन आचार्य के पास श्रुत का पारायण कया। वे षट्खण्डागम ग्रन्थ के एक भाग के रचयिता माने जाते हैं। इस ग्रन्थ का शेष भाग आचार्य भूतबलि ने लिखा। यह ग्रन्थ दिगम्बर परम्परा में विशेष मान्य है।

आचार्य पुष्पदन्त का समय नंदीसंघ पट्टावली के अनुसार वी.नि. की सातवीं शताब्दी माना जाता है। इन्द्रनंदी श्रुतावतार के अनुसार वे वी.नि. की आठवीं शताब्दी के बाद के आचार्य सिद्ध होते हैं।

(ङ) पुष्पदंत (कवि)

ई. की दसवीं शती के एक ख्यातिलब्ध जैन कवि।

मान्यखेट नगर के महामात्य भरत और नन्न के यहां रहकर कविवर पुष्पदंत ने कई ग्रन्थों की रचना की। पुष्पदंत कृत 'जसहर चरिउ' काफी प्रसिद्ध है। यह एक खण्ड काव्य है और इसमें पुण्य पुञ्ज यशोधर के चरित्र का चित्रण कवि ने किया है।

महाकवि पुष्पदंत के कई ग्रन्थ उत्कृष्ट कोटि के हैं और उन्हें अपभ्रंश के उच्चकोटि के कवियों में ऊपरी स्थान प्रदान करते हैं। कविवर पुष्पदंत को 'सरस्वती निलय' और 'काव्यरत्नाकर' विरुद प्राप्त थे।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा

पुष्पभूति (आचार्य)

निर्ग्रन्थ-परम्परा के एक महान आचार्य। उनका प्रभाव दिगू-दिगन्तों में प्रसृत था। उनके हजारों श्रावक थे। सिंहवर्धन नगर का राजा मुंडिवक उनका विशेष भक्त था। आचार्य श्री के अनेक शिष्य थे। पर सभी अबहुश्रुत और अल्पज्ञ थे। पुष्यमित्र नामक एक शिष्य बहुश्रुत और विनयवान था, पर वह शिथिलाचारी था। आचार्य श्री की आज्ञा से वह स्वतंत्र विहार करता था। एक बार आचार्य श्री ने महाप्राण ध्यान करने का निश्चय किया। ध्यान में प्रवेश करने के लिए आवश्यक था कि कोई बहुश्रुत शिष्य सहयोगी बने। आचार्य श्री के दृष्टिपथ पर पुष्यमित्र मुनि आए। उन्होंने पुष्यमित्र मुनि को अपने पास बुलाया और उनको समझाया कि वे महाप्राण ध्यान में प्रवेश ले रहे हैं। ध्यान की अवधि में उनसे कोई न मिले, दर्शन-वन्दन भी न करे। यही बात आचार्य श्री ने अपने अन्य शिष्यों को भी समझाई। तदनन्तर आचार्य श्री एक भीतरी कक्ष में चले गए और भूमि पर लेटकर ध्यान में प्रवेश कर गए। समाधिस्थ आचार्य श्री का शरीर निश्चेष्ट और शांत हो गया। श्वास इतना सूक्ष्म हो गया कि कुशल से कुशल वैद्य भी पहचान न पाए कि वे जीवित हैं या मृत। आचार्य श्री को ध्यानावस्था में एक मास बीत गया। मुनि पुष्यमित्र कक्ष के द्वार पर अप्रमत्त रहकर आचार्य श्री के ध्यान-सहयोगी थे। एक मास बीतने पर भी आचार्य श्री कक्ष से बाहर नहीं आए तो अन्य शिष्य संदेहशील बन गए। एक बार जब पुष्यमित्र मुनि शरीर-चिन्ता के निवारण के लिए उपाश्रय से बाहर गए थे तो शिष्यों ने कक्ष में प्रवेश किया और आचार्य श्री को देखा। आचार्य श्री को निश्चेष्ट और निस्पंद देखकर वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि आचार्य श्री का देहान्त हो चुका है। उन्होंने श्रावकों को बुलाकर आचार्य श्री के देहावसान की सूचना दी। श्रावक एकत्रित होकर उपाश्रय में पहुंचे। राजा मुंडिवक भी उपस्थित हुआ। मुनि पुष्यमित्र ने सभी मुनियों और श्रावकों को समझाने का यत्न किया कि आचार्य श्री स्वस्थ हैं और ध्यानस्थ हैं। पर उनकी बात किसी ने भी स्वीकार नहीं की और एक स्वर से मांग की कि यदि आचार्य श्री स्वस्थ हैं तो उन्हें जगाकर दिखाएं।

आखिर मुनि पुष्यमित्र ने आचार्य श्री के दाएं पैर के अंगुष्ठ का स्पर्श किया। आचार्य श्री बैठ गए। शिष्यों और जनसमूह को उपस्थित देखकर आचार्य श्री ने उसका कारण पूछा। मुनि पुष्यमित्र ने यथास्थिति आचार्य श्री के समक्ष स्पष्ट की। शिष्यों की अज्ञानता पर आचार्य श्री अनमने हो गए। अपनी अज्ञानता पर शिष्य लज्जित हो गए। शिष्यों और श्रावकों ने आचार्य श्री और मुनि पुष्यमित्र से क्षमायाचना की। उस घटना के पश्चात् सभी शिष्य श्रुताराधना में विशेष श्रमशील बन गए।

—आवश्यक निर्युक्ति / जैन कथा रत्न कोष भाग 6 / धर्मोपदेश माला

(क) पुष्पवती

सोलह महासतियों में से एक महासती दमयंती की जननी। कुंडिनपुर नरेश महाराज भीम की अर्द्धांगिनी। (देखिए-दमयंती)

(ख) पुष्पवती

चम्पा नगरी नरेश जितशत्रु की पुत्री और ललितांग कुमार की परिणीता। (देखिए-ललितांग कुमार)

(ग) पुष्पवती

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की एक रानी। (देखिए-ब्रह्म राजा)

पुष्पसाल सुत

राजगृह नगरी के निकटवर्ती ग्राम गुब्बर के निवासी पुष्पसाल नामक सद्गृहस्थ का पुत्र। पुष्पसालसुत ने एक बार धर्मशास्त्र-पाठक के मुख से एक वाक्य सुना—'सदैव अपने से बड़ों की विनय और सेवा-भक्ति करनी चाहिए, उससे व्यक्ति का कल्याण होता है।' इस वाक्य को उसने अपने हृदय में धारण कर लिया। उसने विचार किया, मेरे पिता मुझसे बड़े हैं इसलिए मुझे उनकी सेवा-भक्ति करनी चाहिए । वह पिता की सेवा-भक्ति करने लगा। एक दिन वह अपने पिता के साथ ग्रामस्वामी के पास गया। उसके पिता ने ग्रामस्वामी को प्रणाम किया। पुष्पसालसुत ने सोचा, ग्रामस्वामी उसके पिता से भी बड़े हैं और वह ग्रामस्वामी की सेवाभक्ति करने लगा। एक प्रसंग में पुष्पसालसुत को साथ लेकर ग्रामस्वामी मगध के महामंत्री अभय कुमार से मिलने गया। ग्रामस्वामी ने अभय कुमार को प्रणाम किया। अभय कुमार को ग्रामस्वामी से भी बड़ा मानकर पुष्पसालसुत उसकी सेवा करने लगा। अभय कुमार को महाराज श्रेणिक को नमन करते देखकर पुष्पसालसुत महाराज श्रेणिक की सेवाभक्ति करने लगा। उसकी निष्काम सेवाराधना से महाराज श्रेणिक अतीव प्रसन्न हुए।

एक बार भगवान महावीर राजगृह के गुणशील उद्यान में पधारे। महाराज श्रेणिक भगवान को वन्दन करने गए। पुष्पसालसुत श्रेणिक के साथ था। उसने श्रेणिक को भगवान के समक्ष नतमस्तक देखा तो विचार किया—भगवान श्रेणिक से भी बड़े हैं। वह भगवान की सेवा-भक्ति करने लगा। प्रभु सेवा से उसे प्रव्रज्या का महालाभ प्राप्त हुआ और प्रव्रज्या से आत्मसिद्धि का। सीढ़ी दर सीढ़ी चढ़कर पुष्पसालसुत आत्मकल्याण को प्राप्त हो गया। —धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 45

पुष्यमित्र (सामुद्रिक वेत्ता)

अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व का एक सामुद्रिक शास्त्रवेत्ता। एक बार जब वह गंगा नदी के तट पर विचरण कर रहा था तो उसने बालू पर अंकित चरण-चिह्न देखे, जिन्हें देखकर उसे विश्वास हो गया कि वे किसी चक्रवर्ती सम्राट् के चरण-चिह्न हैं। अकस्मात् उसकी बुद्धि ने प्रश्न किया, चक्रवर्ती और नंगे पैर? उसका चिन्तन गहरा हुआ, संभव है कि अभी चक्रवर्ती को राज्य की प्राप्ति न हुई हो। फिर यह भी संभव है कि किसी कारण चक्रवर्ती राज्यच्युत हो गया हो। जो भी हो, ऐसे में चक्रवर्ती से मिलन का यह सुअवसर है। निश्चित ही उसके दर्शन से मेरे भाग्य के द्वार खुल जाएंगे।

चरण-चिह्नों का अनुगमन करते हुए पुष्यमित्र आगे बढ़ा। थूणाक सन्निवेश तक वह आया। देखा अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े किसी भिक्षुक तक आकर चरण-चिह्न खो गए हैं। पुष्यमित्र ने देखा,

भिक्षु के शरीर पर वे सब लक्षण पूर्ण प्रकट हैं जो सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार एक चक्रवर्ती के लक्षण होते हैं। पुष्यमित्र उद्वेलित बन गया। अपने शास्त्रों और अध्ययन को कोसने लगा। वह बड़बड़ाया—आज तक का मेरा अध्ययन व्यर्थ गया, सामुद्रिक शास्त्र समुद्र में फैंक देने के योग्य हैं।

कहते हैं कि उसी क्षण शक्रेन्द्र प्रभु की पर्युपासना के लिए वहां उपस्थित हुआ। पुष्यमित्र के मन के भाव पढ़कर शक्रेन्द्र ने कहा, सामुद्रिक शास्त्र मिथ्या नहीं हैं, तुम्हारा ज्ञान अधूरा है। जिन्हें तुम एक साधारण भिक्षु मानकर अपने शास्त्रों को कोस रहे हो, वे साधारण भिक्षु नहीं हैं! वे चक्रवर्तियों के चक्रवर्ती अरिहन्त प्रभु महावीर हैं।

इन्द्र की बात सुनकर सामुद्रिकवेत्ता पुष्यमित्र को अपनी भूल का परिज्ञान हुआ। वह प्रभु के चरणों पर अवनत हो गया। इन्द्र ने उसे मनोवांच्छित उपहार देकर उसके पुश्तों के दारिद्र्य को धो दिया।

पूर्ण कुमार

समग्र परिचय गौतम के समान है। (देखिए-गौतम)

(क) पूर्णभद्र

एक श्रेष्ठी-पुत्र। भवान्तर में वह भगवान ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के रूप में जन्मा। (देखिए-ब्राह्मी)

(ख) पूर्णभद्र (गाथापति)

वाणिज्य ग्रामवासी एक प्रतिष्ठित गाथापति जो भगवान महावीर के पास दीक्षित हुआ तथा पांच वर्ष तक चारित्र पालकर विपुलाचल से सिद्ध हुआ। — अन्तकृद्दशांगसूत्र वर्ग 6, अध्ययन 11

(ग) पूर्णभद्र (सेठ)

विशाला नगरी में रहने वाला एक मिथ्यात्वी सेठ। नया-नया सेठ बनने के कारण उसे अपनी धन-दौलत का भी विशेष अहंकार था। चार मास के उपवासी भगवान महावीर उसके द्वार पर गए तो उसने उपेक्षा दिखाते हुए अपनी दासी को आगन्तुक भिक्षु को कुछ देकर चलता करने के लिए कहा। दासी ने बासी उड़द के बांकुले भगवान के हाथ पर रखे, जिसे महावीर ने पूर्ण समता भाव से उदरस्थ किया। 'अहोदानं' की दिव्य ध्वनियों के साथ जब देवों ने पञ्च दिव्य बरसाए तो पूर्ण को ज्ञात हुआ कि उसके द्वार पर आने वाला भिक्षु कोई साधारण भिक्षु नहीं बल्कि वीतराग महावीर हैं, जो देववन्दित हैं। (देखिए-जीर्ण सेठ)

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

पूर्णमित्रा

कलिंग देश के महान यशस्वी जैन राजा खारवेल की पटरानी एवं एक अनन्य श्रमणोपासिका। कलिंग के कुमारिपर्वत पर श्रुत संरक्षा के लिए महाराज खारवेल ने एक बृहद् सम्मेलन आहूत किया था, जिसमें कई सौ श्रमणों, श्रमणियों, श्रावकों और श्राविकाओं ने भाग लिया था। हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार सम्मेलन में श्राविका पूर्णमित्रा के नेतृत्व में 600 श्राविकाओं ने भाग लिया था।

पूर्णमित्रा एक आदर्श श्राविका थी और जैन धर्म के प्रति उसके हृदय में गहरी आस्था थी। धर्म प्रभावना और धर्म प्रचार के कार्यक्रमों में उसकी अपूर्व रुचि थी और उनमें वह उत्साह से सम्मिलित होती थी।

—हिमवन्त स्थविरावली

पूर्णा (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु.,, वर्ग 5, अ. 9

पूषा

श्रमणोपासक कुण्डकौलिक की पत्नी।

(क) पृथ्वी

गोबर ग्राम के वसुभूति ब्राह्मण की अर्द्धांगिनी तथा इंद्रभूति गौतम की माता। अग्निभूति और वायुभूति भी इन्हीं के अंगजात थे।

(ख) पृथ्वी

भगवान सुपार्श्व की जननी।

(ग) पृथ्वी

द्वारिका नगरी के महाराज रुद्र की पटरानी। (देखिए-स्वयंभू वासुदेव)

पृथ्वी श्री

प्राचीन कालीन इन्द्रपुर नगर की एक गणिका। (देखिए-अंजू श्री)

पेथडशाह

गुजरात प्रान्त के एक धनी और मानी जैन श्रेष्ठी। पेथडशाह उदार हृदय के स्वामी श्रावक थे। निर्धन वर्ग के प्रति उनके हृदय में विशेष करुणा भाव था। अपने द्वार से वे कभी किसी को उदास नहीं लौटाते थे।

पेथडशाह परम जिनोपासक थे। एक बार उन्होंने गिरनार तीर्थ की ससंघ यात्रा की थी, जहां उनकी दिल्ली के श्रावक शिरोमणि पूर्णचन्द से भेंट हुई थी। पूर्णचन्द दिगम्बर जैन थे और पेथडशाह श्वेताम्बर जैन थे। दोनों श्रावकों का ससंघ मधुर सम्मिलन तीर्थ स्थल पर हुआ था।

पोइणी आर्या

वी.नि. की चतुर्थ शताब्दी की साध्वी संघ की प्रमुखा। हिमवन्त स्थविरावली में उल्लेख है कि श्रुत-संरक्षा के लिए कुमारगिरि पर्वत पर महाराज खारवेल द्वारा जो बृहद् श्रमण सम्मेलन आहूत किया गया था, उसमें तीन सौ साध्वियों के साथ आर्या पोइणी भी सम्मिलित हुई थीं।

'पोइणी' शब्द का संस्कृत रूपान्तर 'पोतिनी' बनता है। पोतिनी अर्थात् जहाज। आर्या पोइणी भव्य जनों को संसार समुद्र से पार उतारने वाले जहाज के तुल्य थी। —हिमवन्त स्थविरावली

पोक्खली

सावत्थी नगरी निवासी एक प्रसिद्ध श्रमणोपासक, भगवान महावीर के वचनों पर अनन्य आस्थाशील और शंख श्रावक का अंतरंग मित्र। (देखिए-शंख)

पोटिलदेव

(देखिए-पोटिल्ला)

पोटिल्ला

कलाद नामक सोनी की पुत्री और तेतलीपुत्र प्रधान की भार्या। पति के विमुख होने पर उसने संयम ग्रहण किया तथा स्वर्ग प्राप्त किया। देवलोक से धरती पर आकर उसने अपने पति को प्रतिबोध दिया जिसके फलस्वरूप उसके पति ने न केवल संयम ग्रहण किया अपितु केवलज्ञान पाकर मोक्षपद भी पाया। स्वर्ग में वह पोट्टिल्ल देव कहलाई। (देखिए-तेतलीपुत्र)

प्रचण्डा

कंचनपुर के हरिबल नामक धीवर युवक की यथानाम-तथागुण सम्पन्न पत्नी। (देखिए-हरिबल)

प्रजापति

अचल बलदेव के जनक। (देखिए-अचल बलदेव)

प्रजापाल

उज्जयिनी नगरी का एक दंभी राजा, जो स्वयं को सबका भाग्य विधाता मानता था। (देखिए-श्रीपाल)

प्रतिबुद्धि राजा

उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ के काल में साकेत नगरी का राजा, मल्लि के महाबल के भव का अनन्य मित्र। किसी समय उसकी पत्नी ने नागयज्ञ किया। प्रतिबुद्धि उसमें सम्मिलित हुआ। उसने वहां सुन्दर माला देखी, जिसे देखकर वह चमत्कृत और प्रसन्न हुआ। उसने अपने मंत्री से पूछा कि क्या उसने वैसी माला पहले कहीं देखी है। मंत्री ने कहा, उसने विदेह राजकुमारी मल्लि के पास जैसी अद्‌भुत माला देखी है, वैसी माला अन्यत्र कहीं हो ही नहीं सकती। इस प्रसंग से प्रतिबुद्धि मल्लि के प्रति आकर्षित हो गया। उसने दूत भेजकर महाराज कुम्भ से मल्लि का हाथ मांगा। कुंभ के अस्वीकार से प्रतिबुद्धि ने मिथिला पर आक्रमण की तैयारी की और फिर मल्लि के रचनात्मक उपदेश से प्रतिबुद्धि प्रतिबुद्ध बना और दीक्षित होकर मोक्ष में गया।

प्रतिष्ठ

वाराणसी नरेश। भगवान सुपार्श्व के जनक।

प्रदेशी राजा

श्वेताम्बिका नगरी का राजा, जो अपने जीवन के अन्तिम कुछ दिनों को छोड़कर घोर हिंसक और नास्तिक था। वह शरीर को ही जीव मानता था। शरीर से भिन्न जीव की सत्ता उसे स्वीकार न थी। उसने कई अपराधियों और चोरों को दण्डित करते हुए यह शोध करने का यत्न भी किया था कि शरीर से भिन्न कोई जीव है या नहीं। इस शोध में अत्यन्त क्रूरतापूर्वक उसने कई अपराधियों के शरीरों को खण्ड-खण्ड कर डाला था, कई को लौह कुंभियों में रोककर मार डाला था। पर वह जीव को कहीं न देख पाया। इससे उसकी नास्तिकता और प्रगाढ़ बन गई थी। वह मानता था कि शरीर के साथ ही जीव भी मर जाता है। स्वर्ग, नरक, मोक्ष, धर्म, कर्म आदि को वह कपोल-कल्पित वस्तुएं मानता था। प्रजा उसके कुशासन से संत्रस्त थी। चित्त प्रदेशी राजा का महामात्य था, जो जीवाजीव का ज्ञाता, दयालु और व्यवहारकुशल था। अंततः चित्त के ही एक गुप्त प्रयास से राजा प्रदेशी के जीवन में रूपान्तरण आया। चित्त एक बार श्रावस्ती नगरी गया था।

वहां उसे प्रभु पार्श्व की परम्परा के संवाहक आचार्य केशीकुमार श्रमण के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। चित्त ने केशीकुमार श्रमण से श्वेताम्बिका पधारने की प्रार्थना की। उचित अवसर पर केशीकुमार श्रमण श्वेताम्बिका नगरी पधारे। महामात्य चित्त के आदेश पर मृगवन के रक्षकों ने मुनियों के ठहरने की समुचित व्यवस्था की। फिर एक दिन चित्त अश्व परीक्षा के बहाने प्रदेशी राजा को मृगवन में ले आया। राजा वहां ठहरे मुनियों को देखकर जल-भुन गया। पर चित्त की वाग्कुशलता में घिरकर वह मुनियों से संवाद के लिए तैयार हो गया। आखिर केशीकुमार श्रमण और राजा प्रदेशी के मध्य प्रलम्ब संवाद चला। उस संवाद ने प्रदेशी की जीवन धारा को बदल दिया। राजा जितना हिंसक और क्रूर था, उतना ही अंहिसक और दयालु बन गया। वह बेले-बेले तप करने लगा। पर उसका यह बदला हुआ रूप उसकी रानी सूरिकान्ता को नहीं सुहाया और उसने तेरहवें तेले के पारणे में राजा को विष दे दिया। समभावपूर्वक देहोत्सर्ग कर राजा प्रथम देवलोक में गया। वहां से महाविदेह मे जन्म लेकर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगा। —रायपसेणी सूत्र

प्रद्युम्न कुमार

श्री कृष्ण और रुक्मिणी के पुत्र। अपने पिता के समान ही प्रबल पराक्रमी। त्रिषष्टि शलाका चरित्र के अनुसार कथा इस प्रकार है— एक बार रुक्मिणी अपने महल में बैठी थी। सत्यभामा भी उसके पास थी। अतिमुक्तक मुनि भिक्षा के लिए आए। रुक्मिणी ने मुनि को भिक्षा दी तथा पूछा कि वह पुत्रवती बनेगी अथवा नही। मुनि ने उसे एक पराक्रमी पुत्र की मां होने की बात कही। मुनि के चले जाने के बाद सत्यभामा और रुक्मिणी में यह विवाद छिड़ गया कि मुनि ने उसके लिए वरदान दिया है। विवाद बढ़ा, आखिर श्री कृष्ण की साक्षी से यह तय हुआ कि जो पहले पुत्रवती बनेगी, दूसरी को उसके पुत्र के विवाह के प्रसंग पर मुंडन कराना होगा।

यथासमय रुक्मिणी और सत्यभामा ने एक-एक पुत्र को जन्म दिया। पहले रुक्मिणी मां बनी, बाद में सत्यभामा। रुक्मिणी के पुत्र का नाम प्रद्युम्न कुमार और सत्यभामा के पुत्र का नाम भानुकुमार रखा गया। एक दिन एक पूर्वजन्म के वैरी देव ने नवजात प्रद्युम्न कुमार का हरण कर लिया। वह उसे मारना चाहता था। पर प्रद्युम्न के प्रबल पुण्य के कारण देव के विचार बदल गए। उसने उसे एक पर्वत शिखर पर इस विचार से रख दिया कि वह स्वतः ही मर जाएगा। संयोग से उधर से मेघकूट नगर का विद्याधर राजा मेघसंवर गुजरा। शिशु पर उसकी दृष्टि पड़ी। वह निःसंतान था। शिशु को पर्वतराज का उपहार मानकर उसने ग्रहण कर लिया और अपनी रानी कनकमाला को लाकर सौंप दिया। कनकमाला प्रसन्न चित्त से प्रद्युम्न कुमार का पालन करने लगी।

पुत्र विरह में श्रीकृष्ण और रुक्मिणी अधीर हो गए थे। नारद जी ने भगवान सीमंधर स्वामी से पूरी बात पूछकर तथा द्वारिका लौटकर श्रीकृष्ण और रुक्मिणी को बताया कि उनका पुत्र सकुशल है और उन्हें सोलह वर्ष बाद मिलेगा। उधर प्रद्युम्न कुमार सोलह वर्ष का हो गया। वह अनेक विद्याओं में पारंगत बन गया। रति नामक एक विद्याधर-कन्या से उसका विवाह हो गया।

एक बार प्रद्युम्न के रूप पर मोहित होकर उससे कनकमाला ने अकल्प्य प्रार्थना की। प्रद्युम्न के कठोर विरोध पर, त्रियाचरित्र दिखाकर उसे राजा की दृष्टि से गिरा दिया। म्लानमुख प्रद्युम्न बगीचे में बैठे थे। नारद जी ने आकर प्रद्युम्न को उसका वास्तविक परिचय दिया तथा साथ ही यह भी बताया कि भानुकुमार से विवाह के प्रसंग पर उसकी माता का मुण्डन होने वाला है। प्रद्युम्न तत्क्षण नारद जी के साथ आकाश मार्ग से द्वारिका पहुंचे। अपने प्रबल पराक्रम से न केवल बलराम आदि वीरों को परास्त किया अपितु श्री कृष्ण

को भी यह सोचने के लिए बाध्य कर दिया कि यह तो उनसे भी बड़ा पराक्रमी है। प्रद्युम्न ने सत्यभामा को सुन्दर बनाने का प्रलोभन देकर उसका मुण्डन करा दिया। भानुकुमार को भी कई कौतुक दिखाए। अन्त में नारद जी ने स्पष्ट कर दिया कि यह आपका ही पुत्र रुक्मिणीनंदन प्रद्युम्न कुमार है। श्री कृष्ण ने हर्षानुभव करते हुए कहा—प्रद्युम्न तो मुझसे भी बड़ा पराक्रमी है।

कालान्तर में अनेक राजकन्याओं के साथ प्रद्युम्न का विवाह हुआ। आयु के अन्तिम भाग में प्रद्युम्न ने दीक्षा धारण की और निर्वाण प्राप्त किया। —अन्तकृद्दशांगसूत्र वर्ग अध्ययन 6

प्रधीकुमार

वाराणसी नगरी के श्रावक मोरध्वज का पुत्र। (देखिए-मोरध्वज)

प्रभंकरा (आर्या)

आर्या प्रभंकरा की जन्म नगरी अरक्खुरी तथा इनके माता-पिता के नाम इन्हीं के नामानुरूप थे। इनकी शेष कथा काली आर्या के समान है। (देखिए-काली आर्या) —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 7, अ. 4

प्रभव स्वामी (आचार्य)

तीर्थंकर महावीर की श्रमण संघीय परम्परा के तृतीय पट्टधर अनुशास्ता। श्रमण धर्म में प्रवेश से पूर्व का इनका जीवन उत्थान-पतन के घटनाक्रम से पूर्ण रहा। विवरण यूं है—

विंध्याचल पर्वत के पास 'जयपुर' नाम का एक नगर था। वहां के राजा का नाम विंध्य था। उसके दो पुत्र थे—प्रभव और प्रभु। प्रभव बड़ा था और सुयोग्य भी था। परम्परानुसार वह राजपद का अधिकारी था। परन्तु महाराज विंध्य ने परम्परा को तोड़ते हुए अपने छोटे पुत्र प्रभु को राजपद दे दिया। इससे प्रभव को बड़ा कष्ट हुआ। उसने इसे अपना अपमान भी माना। पिता और भाई से अपने अपमान का बदला लेने के लिए उसने गृहत्याग कर दिया और विंध्यपर्वत के पास के जंगलों में उसने एक चोरपल्ली बसा ली। धीरे-धीरे उसके गिरोह में पांच सौ चोर सम्मिलित हो गए । उसने अपने भाई के राज्य में तो आतंक फैलाया ही, अन्य अनेक राज्यों चम्पा, राजगृह तक में उसका आतंक फैल गया। उसने 'अवस्वापिनी' और 'तालोद्घाटिनी' नामक दो विद्याएं भी सिद्ध कर लीं। प्रथम विद्या से वह जहां पूरे नगर को निद्राधीन कर देता था, वहीं दूसरी विद्या से वह ताले खोल देता था। इन विद्याओं को प्राप्त कर लेने के बाद तो उसका सब जगह निराबाध प्रवेश हो गया। जहां भी उसे प्रभूत धन की सूचना मिलती, वह अपने साथियों के साथ वहां पहुंच जाता और विद्याओं के बल पर धन लूट ले जाता। ऐसे उसके पास अपार सम्पत्ति संचित हो गई।

राजगृहवासी जम्बूकुमार के विवाह के प्रसंग पर उसकी आठ ससुरालों से अपार सम्पत्ति दहेज में आई। इसकी सूचना प्रभव तक पहुंची तो वह विवाह की रात्रि में ही राजगृह जा पहुंचा। अवस्वापिनी विद्या से उसने पूरे नगर को निद्राधीन बना दिया। तब उसने अपने पांच सौ साथियों के साथ जंबूकुमार के महल में प्रवेश किया। पूरा धन गृहांगन में ही बिखरा पड़ा था। पांच सौ चोरों ने धन के बड़े-बड़े गट्ठर बांध लिए। पर जैसे ही वे चलने लगे, किसी दैवी शक्ति ने उन्हें स्तंभित कर दिया। उनके पैर जमीन से चिपक गए। वे न एक कदम आगे जा सके और न पीछे हट सके। प्रभव ही था, जिसके पैर अस्तंभित थे। उसने अपने साथियों से चलने के लिए कहा तो उन्होंने पूरी बात कह दी और चल सकने में अपनी विवशता दर्शाई। यह देख-सुनकर प्रभव चकित रह गया। उसने यहां-वहां देखा। सहसा उसके कानों में कुछ स्वर पड़े। उसने

उधर जाकर गवाक्ष से कक्ष में झांका तो देखकर हैरान हो गया। उसने देखा, आठ नवविवाहिता बालाएं एक युवक को विभिन्न हावों-भावों और युक्तियों से रिझाने का यत्न कर रही हैं। वह इस बात से भी हैरान था कि उसकी विद्या असफल हो गई है। वह द्वार से कान लगाकर उन युवतियों और युवक के मध्य चल रहे संवाद को सुनने लगा।

आठों युवतियों ने एक-एक दृष्टान्त कहकर जंबूकुमार को उनका दीक्षित होने का निर्णय बदलने के लिए प्रेरित किया। पर जंबू ने जो दृष्टान्त दिए, उनकी काट युवतियों के पास न थी। आखिर आठों ने जंबू के साथ ही दीक्षित होने का संकल्प कर लिया।

इस पूरे संवाद को सुनकर प्रभव पर गहरा प्रभाव हुआ। उसे अपने आप पर और अपने व्यवसाय पर बड़ी ग्लानि हुई। वह जंबूकुमार के चरणों पर जा गिरा और पूरी बात बताते हुए अपना निर्णय भी सुना दिया कि वह भी निंदनीय कार्यों का त्याग कर दीक्षित होना चाहता है। जंबूकुमार ने उसके निर्णय की अनुशंसा की।

प्रभव अपने साथियों के पास गया और उन्हें भी उसने सद्धर्म का मार्ग बताया तथा अपने निर्णय से अवगत कराया। उसके सभी साथी भी दीक्षित होने को तत्पर बन गए। तभी वे स्तंभन से भी मुक्त हो गए। प्रभात होने पर प्रभव सहित उसके सभी साथी जंबूकुमार के साथ ही दीक्षित हो गए।

प्रभव एक महान मुनि बने। उन्होंने चौदह पूर्वों का ज्ञान अर्जित किया। वे आर्य जंबूस्वामी के बाद श्रमणसंघ के अनुशास्ता पद पर आसीन हुए। एक सौ पांच वर्ष की आयु पूर्ण कर भगवान महावीर के 75 वर्ष पश्चात् स्वर्गवासी हुए। —कल्पसूत्र सुबोधिका

प्रभाकर मुनि

प्राचीनकालीन एक दीर्घ तपस्वी मुनि। (देखिए-रुद्रसूरि)

प्रभाचन्द्र (आचार्य)

वी.नि. की 16वीं शताब्दी के एक विश्रुत विद्वान जैन आचार्य। पद्मनंदि उनके दीक्षा गुरु थे। माणिक्यनंदि उनके शिक्षा गुरु थे। अध्ययन के लिए प्रभाचंद्र दक्षिण से धारानगरी आए थे, जहां माणिक्यनंदि विराजित थे। कई वर्षों तक उनके चरणों में प्रभाचंद्र ने अध्ययन किया। वे अपने समय के दिग्गज विद्वान के रूप में विश्रुत हुए। धारा नरेश भोज और उनके उत्तराधिकारी जयसिंहदेव के दरबार में प्रभाचंद्राचार्य को उच्चासन प्राप्त था।

प्रभाचंद्र ने कई ग्रन्थों की रचना की। उनके अधिकांश ग्रन्थ टीका रूप हैं जिनमें प्रमेयकमलमार्तण्ड, न्यायकुमुदचन्द्र, महापुराण टिप्पण, आराधना कथाकोष प्रमुख हैं।

(क) प्रभावती

गणाध्यक्ष महाराज चेटक की पुत्री, सिन्धु सौवीर नरेश उदायन की रानी और सोलह महासतियों में से एक। महावीर के उपदेश से आत्मविभोर बनकर वह दीक्षित होने को तत्पर हुई। पति से दीक्षा की आज्ञा मांगी। उदायन ने उसे इस शर्त पर आज्ञा दी कि वह संयम पालकर देवलोक जाएगी और वहां से लौटकर उसे प्रतिबोध देगी।

वचन में बंधकर प्रभावती साध्वी बन गई। संयम पालकर वह समाधिमरण सहित स्वर्ग में गई। वहां

से लौटकर उसने महाराज उदायन को सत्य धर्म का मर्म समझाया और भगवान महावीर का भक्त बनाया। पत्नी से प्रतिबोधित उदायन के जीवन में महान परिवर्तन आया। वह बारह व्रती श्रावक बन गया। उसकी क्षमा और सहनशीलता अद्वितीय थी। सम्वत्सरी के पर्व पर उसने महान कष्ट झेलकर बन्दी बनाए हुए चण्डप्रद्योत को सहज ही क्षमा कर दिया। यह सब प्रभावती के प्रतिबोध का प्रभाव था। महाविदेह में जन्म लेकर प्रभावती सिद्ध होगी।

(ख) प्रभावती

कुशस्थल नरेश प्रसन्नजित की पुत्री, जिसका पाणिग्रहण पार्श्वकुमार से हुआ था। (देखिए-पार्श्वनाथ तीर्थंकर)

प्रभास (गणधर)

भगवान महावीर के ग्यारहवें गणधर। वे राजगृह के बल ब्राह्मण और उसकी पत्नी अतिभद्रा के पुत्र थे। अल्पावस्था में ही वे वेद-वेदांगों के पारगामी विद्वान हो गए थे और मात्र सोलह वर्ष की अवस्था में ही वे भारत वर्ष के गण्यमान्य विद्वानों में परिगणित होने लगे थे। पर उनके मन में एक शंका थी कि मोक्ष है या नहीं। भगवान महावीर ने इनकी शंका का समुचित समाधान किया और मोक्ष का अस्तित्व सिद्ध कर दिया। संदेह-शूल से मुक्त होकर सरलमना प्रभास अपने तीन सौ छात्र शिष्यों के साथ भगवान के पास दीक्षित हो गए। मात्र सोलह वर्ष की अवस्था में दीक्षित होने वाले प्रभास मुनियों के गणधर बने। आठ वर्ष पश्चात् केवलज्ञान को साधकर सोलह वर्षपर्यंत केवली अवस्था में रहकर चालीस वर्ष की वय में मोक्ष पधारे।

प्रभु

विंध्याचल पर्वत की तलहटी में बसे जयपुर नगर का राजा और पट्ट परम्परा के तृतीय पट्टधर प्रभव स्वामी का छोटा भाई। (देखिए-प्रभव स्वामी)

प्रसन्नचंद्र राजर्षि

प्रसन्नचंद्र पोतनपुर नगर के राजा थे। भगवान महावीर का उपदेश सुनकर प्रतिबोधित हुए और अपने अल्प आयुष्य पुत्र को सिंहासन पर बैठाकर दीक्षित हो गए । किसी समय भगवान के साथ विचरण करते हुए राजगृह नगरी में पधारे और समवशरण के बाहर मार्ग से कुछ हटकर सूर्य के सामने ऊर्ध्वबाहु कर ध्यान में निमग्न हो गए।

महाराज श्रेणिक ससैन्य प्रभु वन्दन को निकले। उत्कट साधनारत प्रसन्नचंद्र मुनि को देखकर श्रेणिक बड़े प्रभावित हुए और उन्हें वन्दन कर भगवान के पास पहुंचे। श्रेणिक के पीछे-पीछे उनके दो दूत सुमुख और दुमुख चल रहे थे। प्रसन्नचंद्र मुनि को देखकर दुमुख ने सुमुख से कहा—देखो, इन मुनि को! स्वयं तो साधु बन गए हैं। पीछे इनके राज्य पर शत्रु राजा ने आक्रमण कर दिया है। इनके अल्पायुष्क पुत्र के प्राण संकट में हैं।

प्रसन्नचंद्र के कानों में उक्त टिप्पणी पड़ी। उनका धर्म-ध्यान, आर्त्त और रौद्र ध्यान में बदल गया। मन ही मन शत्रुओं से युद्ध करने लगे। उसी समय महाराज श्रेणिक ने भगवान को वन्दन कर प्रसन्नचंद्र मुनि की गति के विषय में प्रश्न किया। प्रसन्नचंद्र के मनोभावों का विश्लेषण करते हुए भगवान ने स्पष्ट किया कि इस क्षण प्रसन्नचंद्र काल धर्म को प्राप्त करें तो प्रथम नरक में जाएंगे। उधर प्रसन्नचंद्र मानसिक युद्ध के मैदान में रौद्र से रौद्रतर बनते जा रहे थे। इधर भगवान श्रेणिक को उनकी गति के सम्बन्ध में बता रहे थे। यों गिरते-गिरते प्रसन्नचंद्र सातवीं नरक तक पहुंच गए।

युद्धरत प्रसन्नचंद्र शस्त्रविहीन हो गए। ऐसे में अपने मुकुट को ही शत्रु पर फैंक मारने के लिए उनका हाथ सर पर गया। मुण्डित सर का स्पर्श होते ही प्रसन्नचंद्र स्वभाव में लौटे। उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। चिन्तन जागा—कौन पुत्र ? किसका राज्य ? सब मिथ्या है। पुनः शुक्ल ध्यान की सीढ़ियां चढ़ने लगे। चढ़ते-चढ़ते अन्तिम शिखर को छू लिया और उन्हें केवलज्ञान हो गया।

मन की विचित्र शक्ति का वर्णन सुन-देखकर श्रेणिक चकित थे। प्रसन्नचंद्र ने मोक्ष को प्राप्त किया।

प्रसन्नजित

कुशस्थल नगर का राजा। (देखिए-पार्श्वनाथ तीर्थंकर)

(क) प्रसेनजित

ये गौतम के अनुज थे। समग्र परिचय गौतमवत् है। —अन्तकृद्दशांगसूत्र प्रथम वर्ग, नवम अध्ययन

(ख) प्रसेनजित

कुशाग्रपुर नरेश, प्रभु पार्श्व के धर्म तीर्थ का श्रावक तथा न्याय और नीति से प्रजा का पालन करने वाला राजा। उसने अनेक राजकन्याओं से पाणिग्रहण किया था और उसके पांच सौ पुत्र थे, जिनमें श्रेणिक ज्येष्ठ थे। राजा को अधेड़ावस्था में भी घुड़सवारी का विशेष शौक था। एक बार वक्रशिक्षित घोड़े पर सवार होकर राजा वनविहार को गया तो अश्व वक्रशिक्षित होने से राजा को दूर गहरे जंगल में ले गया। जैसे ही थककर राजा ने लगाम ढीली छोड़ी, घोड़ा अपने आप रुक गया। राजा समझ गया कि वह अश्व वक्रशिक्षित है। राजा प्यासा था, और थका हुआ था। वहां एक भीलराज ने राजा को जल पिलाया और उसकी सेवाराधना की। संध्या हो जाने से भीलराज ने प्रार्थना कर राजा को रात्रि विश्राम के लिए अपनी पल्ली पर रोक लिया। वहां पर भीलराज की पोषित पुत्री तिलकवती पर राजा मुग्ध हो गया। भीलराज से उसने उसकी पुत्री का हाथ मांगा। भीलराज अपनी पुत्री का हाथ राजा के हाथ में देने के लिए इस शर्त पर तैयार हुआ कि उसकी पुत्री से उत्पन्न पुत्र ही भावी शासक होगा। राजा के लिए इस शर्त को मानना अति कठिन था, क्योंकि उसका ज्येष्ठ पुत्र श्रेणिक सर्व भांति सुयोग्य राजकुमार था। पर मोहान्ध राजा ने भीलराज को वचन दे दिया।

आखिर अयोग्य होते हुए भी तिलकवती के पुत्र को राजपद दिया गया। पर वह एकदम अयोग्य और अत्याचारी शासक सिद्ध हुआ। आखिर मंत्रिपरिषद् और अग्रगण्य नागरिकों ने तिलकवती के पुत्र को अपदस्थ कर श्रेणिक को राजपद पर अधिष्ठित किया। श्रेणिक अपने युग का एक कुशल, नीतिज्ञ और लोकप्रिय राजा सिद्ध हुआ। श्रेणिक के हाथों में अपने साम्राज्य को सुरक्षित पाकर प्रसेनजित अतीव प्रसन्न हुआ।

—श्रेणिक चरित्र

प्रहसित

पवनंजय का विश्वस्त मित्र। (देखिए-अंजना)

प्रह्लाद

सप्तम प्रतिवासुदेव। (देखिए-दत्त वासुदेव)

प्रियंकर

मगधदेश के अशोकपुर नगर के रहने वाले श्रेष्ठी पासदत्त और उसकी अर्द्धांगिनी प्रियश्री का आत्मज।

प्रियंकर के जन्म के कुछ वर्ष पूर्व सेठ दुर्दैववश अपनी समस्त सम्पत्ति गंवा बैठा। नगर का परित्याग कर सेठ-सेठानी एक गांव में रहने लगे। वहां सेठानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जब वर्ष-भर का हुआ तो रुग्ण हो गया। औषधोपचार के अतिरिक्त सेठ पूरा-पूरा दिन रुग्ण पुत्र को नवकार मंत्र सुनाता था। पुत्र का निधन हो गया और वह नवकार मंत्र के प्रभाव से धरणेन्द्र परिवार का देव बना। कालान्तर में प्रियश्री ने एक अन्य पुत्र को जन्म दिया। सेठ-सेठानी के धर्म प्रभाव से एक देव उपस्थित हुआ और उसने स्पष्ट किया कि उनका पुत्र अतिशय पुण्यशाली है और पन्द्रह वर्ष की अवस्था में वह अशोकपुर नगर का राजा बनेगा। साथ ही देव ने अपना परिचय प्रदान किया कि वह उन्हीं का पुत्र है और मरकर प्रियंकर नामक देव बना है। देव ने यह भी कहा कि वे अपने पुत्र का नाम भी प्रियंकर रखें।

सेठ-सेठानी पुत्र का भविष्य जानकर अति प्रसन्न हुए। वे नगर में लौट आए और उनके पुण्य पुनः खिलने लगे। अल्प समय में ही वे नगर के समृद्ध श्रेष्ठी बन गए। प्रियंकर भी शिक्षा पूर्ण कर घर लौटा। प्रियंकर की धर्म-श्रद्धा अखण्ड और अगाध थी। एक मुनि ने उसे उपसर्गहर स्तोत्र प्रदान कर कहा कि वह उक्त मंत्र का प्रतिदिन जप करे, उससे वह आत्मकल्याण के साथ-साथ जनकल्याण भी कर सकेगा। प्रियंकर ने उपसर्गहर स्तोत्र के पाठ से अनेक लोगों के उपसर्गों का हरण किया। अपनी परोपकार-वृत्ति, चारित्रनिष्ठा और धार्मिकता के कारण वह जन-जन की आंखों का तारा बन गया। कई कन्याओं से उसका पाणिग्रहण भी हुआ। वह नगरनरेश का विशेष प्रियपात्र बन गया था।

राजा को बहुत पहले ही ज्योतिष-विदों ने बताया था कि उसके तीनों पुत्रों में से कोई भी उसका उत्तराधिकारी नहीं बन पाएगा। उसका दिव्य हार जिस व्यक्ति से प्राप्त होगा, वही उसके राज्य का उत्तराधिकारी होगा और सुयोग्य शासक सिद्ध होगा।

कालान्तर में राजा का वह दिव्य हार प्रियंकर के उष्णीश से प्रकट हुआ। आखिर प्रियंकर ही अशोक-पुर नगर का राजा बना। वह अपने युग का एक महान प्रतापी नरेश सिद्ध हुआ। उसके राज्य में जीव वध पूर्णतः निषेध था। सुदीर्घ काल तक प्रियंकर ने राज्य किया। अन्तिम वय में उसने चारित्र धर्म का पालन कर देवलोक प्राप्त किया। महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वह सिद्ध होगा।

प्रियंगला

विहरमान तीर्थंकर श्री युगमंधर स्वामी ने गृहवास में प्रियंगला नामक राजकुमारी से विवाह किया था।
(देखिए-युगमंधर स्वामी)

प्रियग्रंथ

आर्य सुप्रतिबुद्ध के शिष्य और आर्य इन्द्र दिन्न के गुरु-भ्राता, अनेक विद्याओं और मन्त्रों के ज्ञाता मुनिराज। पर मन्त्रविद्या का प्रयोग वे धर्म प्रभावना और जीव रक्षा के हित ही करते थे, आत्मख्याति और लोकरंजन के लिए नहीं।

एक बार मुनिवर प्रियग्रंथ हर्षपुर नगर पधारे। वहां यज्ञ में एक बकरे की बलि दी जा रही थी। धर्म के नाम पर हिंसा के प्रोत्साहन को देखकर आर्य प्रियग्रंथ ने एक उपक्रम किया। उन्होंने श्रावकों को मन्त्रित चूर्ण दिया और निर्देश दिया कि उस चूर्ण को बलि के लिए लाए गए बकरे पर डाला जाए। वैसा ही किया गया। मन्त्र-प्रभाव से बकरा मानव-भाषा में बोलने लगा। बकरे ने यज्ञ में होने वाली हिंसा को घोर पाप का कारण बताया तथा जिनधर्म की शरण को परम आत्मलाभ कहा। बकरे का मानव-भाषा में बोलना जनता

के लिए सुखद आश्चर्य बन गया। उसके कथन पर लोगों ने सहज ही आस्था व्यक्त की। उससे हिंसा के प्रति लोगों में उदासीनता और धर्म के प्रति उत्साह उत्पन्न हुआ।

जैन इतिहास में आर्य प्रियग्रंथ मुनि एक मंत्रवादी मुनि के रूप में ख्यात हैं।

(क) प्रियदर्शना

वसन्तपुर नरेश महाराज भुजबल की पुत्री, एक अक्षय बुद्धि सम्पन युवती। कनकमंजरी नामक उसकी एक सहोदरा थी। राजा के कोई पुत्र नहीं था। एक बार एक वाक्य पर महाराज भुजबल और उनकी पुत्री प्रियदर्शना के मध्य मतभेद हो गया। उसी मतभेद के कारण राजा अपनी पुत्री पर कुपित हो गया और उसने उसका विवाह एक ऐसे युवक से कर दिया, जो कई वर्षों से रुग्ण था और चल-फिर भी नहीं सकता था। राजा ने अपनी दूसरी पुत्री कनकमंजरी का विवाह एक राजकुमार से किया।

प्रियदर्शना ने इसे अपने पूर्वजन्मों के फल के रूप में देखा। वह विदुषी और धर्मश्रद्धा-सम्पन्न थी। वह जानती थी कि दुष्कर्म यदि दुष्फल देते हैं तो सत्कर्मों से दुष्कर्मों का निवारण भी किया जा सकता है। उसने नवकार महामंत्र और आयंबिल तप की आराधना शुरू कर दी। साथ ही उसने पति की शुश्रूषा को भी अपना जीवन-व्रत बनाया। धर्माराधना और सेवाराधना से प्रियदर्शना के अपुण्य नष्ट होने लगे। शनैःशनैः उसका पति पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गया। स्वस्थ होने पर उसके पति ने अपना परिचय प्रियदर्शना को दिया। वह एक राजकुमार था और उसका नाम शूरसेन था। पुण्योदय से उन्हें अपार धन की प्राप्ति भी हो गई । प्रियदर्शना के कहने पर शूरसेन ने वसन्तपुर में रहने का कार्यक्रम बनाया। भव्य भवन बनाकर वे दोनों वसंतपुर में रहने लगे। एक अवसर पर शूरसेन ने राजा के प्राणों की रक्षा की तो राजा ने प्रसन्न होकर उसे अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। राजा को जब यह ज्ञात हुआ कि शूरसेन उसका जामाता है तो उसके हर्ष का पार न रहा। शूरसेन पहले वसंतपुर का राजा बना और बाद में उसने अपने खोए हुए राज्य को भी प्राप्त किया। सुदीर्घ काल तक शूरसेन और प्रियदर्शना राजसुख भोगते रहे। जीवन के उत्तर पक्ष में दोनों ने दीक्षा धारण की और सद्गति का अधिकार प्राप्त किया।

(ख) प्रियदर्शना

तीर्थंकर महावीर की संसारपक्षीय पुत्री, क्षत्रियकुमार जमाली की पत्नी। संयम स्वीकार कर उसने आत्मकल्याण किया। (देखिए-जमाली)

प्रियदर्शी

एक अबोला राजकुमार, जिसे जन्म लेते ही जातिस्मरण ज्ञान हो गया था, उसी के कारण उसने मौन धारण कर लिया था, क्योंकि बोलने के दुष्परिणाम के कारण ही उसे जननी-जठर की यात्रा करनी पड़ी थी। जन्मजात मौनावलम्बी उस कुमार का परिचय निम्नोक्त है –

प्रियदर्शी पूर्वभव में एक मुनि था। एक बार जब वह महाराज अरिमर्दन के महल में भिक्षा के लिए गया तो उसने महारानी धारिणी को साश्रु देखा। युवा मुनि का हृदय करुणार्द्र हो गया। उसने महारानी के आंसुओं का कारण पूछा। प्रौढ़ा महारानी ने बताया कि अपुत्रवती होना ही उसका कष्ट है। करुणार्द्र मुनि ने सहज स्वभाव से महारानी को पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया। उपाश्रय पहुंचने पर अतिचारों की आलोचना करते हुए मुनि ने रानी को दिए आशीर्वाद की बात अपने गुरु के समक्ष कही। सुनकर गुरु गंभीर हो गए और बोले, वत्स! वैसा आशीर्वाद देकर तूने महान भूल की है, क्योंकि रानी के भाग्य में संतान का योग नहीं

है। तुम्हारा कहा मिथ्या हो गया तो जिनत्व कलंकित हो जाएगा। अब तो यही उपाय है कि जिनत्व की गरिमा की रक्षा के लिए मैं निदानपूर्वक प्राणोत्सर्ग कर राजपुत्र के रूप में जन्म लूं। अपने अविचारपूर्वक बोलने के इस परिणाम को देखकर शिष्य विह्वल हो गया। बोला, गुरुदेव ! निदानपूर्वक संथारा कर जिनत्व के गौरव की रक्षा मैं करूंगा।

शिष्य की सुदृढ़ता को देखकर गुरु ने शिष्य को आज्ञा दे दी । निदानपूर्वक संथारा करके शिष्य ने देहोत्सर्ग कर रानी धारिणी के गर्भ से पुत्ररूप में जन्म लिया। यथासमय रानी ने पुत्र को जन्म दिया। राजा की प्रार्थना पर वृद्ध मुनि बालक को मंगलपाठ सुनाने के लिए पधारे। उस क्षण नवजात राजकुमार रो रहा था। गुरु ने बालक को इंगित किया और कहा, बोल मत, बोल मत, चुप रह! वृद्ध गुरु के वचन को सुनते ही नवजात शिशु को जातिस्मरण ज्ञान हो गया और उसने 'न बोलने' का निश्चय कर लिया। राजकुमार का नाम प्रियदर्शी रखा गया। कालक्रम से राजकुमार बड़ा हुआ, परन्तु उसने बोलना शुरू नहीं किया। राजा ने राजकुमार की यथासुलभ-दुर्लभ अनेक चिकित्साएं कराईं, पर राजकुमार ने अपना मौन नहीं तोड़ा।

प्रियदर्शी बारह वर्ष का हो गया। एक बार वह सेवकों से घिरा हुआ राजोद्यान में बैठा था। एक तोता बहुत शोर कर रहा था। एक बाज जोर से तोते पर झपटा और उसे ले उड़ा। बाज की पकड़ से छूटकर फड़फड़ाता हुआ तोता राजकुमार की गोद में आकर गिरा। राजकुमार ने तोते को गोद में रखकर उसे सहलाया और कहा, देखा ! बहुत बोलने की परिणाम?

एक सेवक ने राजकुमार को बोलते सुना तो वह दौड़ता हुआ राजा के पास गया और राजकुमार के बोलने का सुसंवाद उसको दिया। राजा-रानी दौड़कर उद्यान में पहुंचे और राजकुमार को बोलने के लिए कहा। पर राजकुमार पूर्ववत् मौन था। राजा की खीझ सेवक पर प्रकट हुई। उसने उसे झूठ बोलने के लिए शूली का दण्ड दिया। सेवक कांप उठा। उसने राजकुमार से प्रार्थना की कि वह एक बार बोलकर उसके प्राणों को बचा ले। राजकुमार बोला, तू बोला ही क्यों? बोलने के बड़े दुष्परिणाम हैं।

राजकुमार को बोलता सुनकर सभी प्रसन्न हुए। सेवक को पुरस्कार देकर मुक्त कर दिया गया। राजा-रानी के बहुत कहने पर राजकुमार ने 'बोलने के दुष्परिणाम' वाक्य का रहस्योद्घाटन करने के लिए पूर्वजन्म से वर्तमान तक का घटनाक्रम कह सुनाया। उसने तत्क्षण गुरु चरणों में पहुंचकर अधूरी साधना को पूरी करने का निश्चय प्रकट किया। राजा-रानी भी विरक्त हो गए और पुत्र के साथ ही दीक्षित हो गए। मुनि प्रियदर्शी निरतिचार संयम का पालन कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

प्रियमित्र (चक्रवर्ती)

पश्चिम महाविदेह में मूका नगरी के महाराज धनंजय और उनकी रानी धारिणी के अंगजात। यौवनवय में प्रियमित्र राजा बने और शस्त्रागार में चक्ररत्न के अवतरित होने पर षट्खण्ड को साधकर चक्रवर्ती बने। अन्तिम वय में दीक्षित होकर संयम की आराधना की और आयुष्य पूर्ण कर सप्तम् देवलोक में देव बने। वहां से च्यव कर एक भव मनुष्य का किया और पुनः देवलोक में गए। देवलोक से च्यव कर प्रियमित्र महारानी त्रिशला की रत्नकुक्षी से जन्म लेकर महावीर नामक चौबीसवें तीर्थंकर बने। —महावीर चरित्र

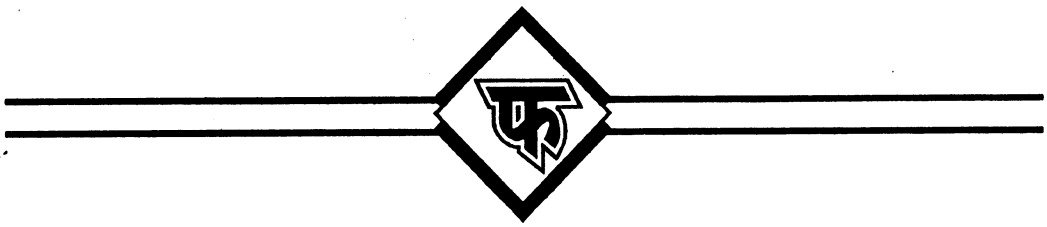

फलिहमल्ल

एक किसान मल्ल। (देखिए-अट्टणमल्ल)

फल्गुरक्षित

आर्यरक्षित के सहोदर। (देखिए-आर्य रक्षित)

फाल्गुनी

श्रमणोपासक सालिहीपिता की अर्द्धांगिनी और बारह श्रावक-व्रतों का अनुपालन करने वाली एक धर्मप्राण श्राविका। (देखिए-सालिहीपिता)

●●●

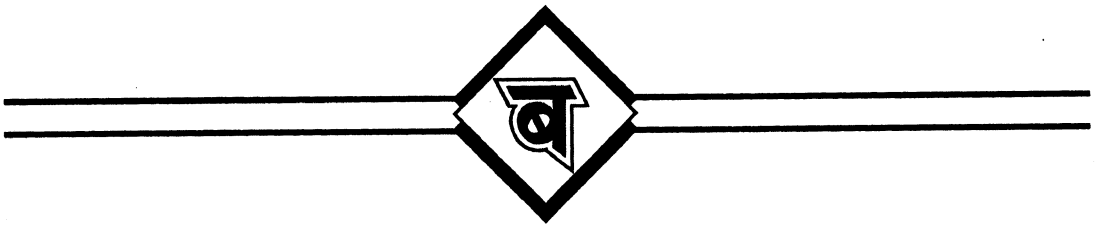

बंकचूल

एक राजकुमार, जिसे माता-पिता ने पुष्पचूल नाम दिया था पर अपने कर्म से वह बंकचूल कहलाने लगा। राजकुमार होते हुए भी वह चोरी जैसा अधम कर्म करता था। उसकी एक बहिन थी, पुष्पचूला। पर अपने भाई के प्रत्येक निन्द्य कार्य में साथ निभाने के कारण वह बंकचूला कही जाने लगी थी। भाई-बहिन के चौर्य-अत्याचारों से जब प्रजा त्राहि-त्राहि कर उठी तो पिता ने पुत्र और पुत्री को अपने देश से निकाल दिया। ये दोनों एक भीलपल्ली में पहुंचे और बंकचूल उस पल्ली का शीघ्र ही सरदार बन बैठा। यहां अपना प्रमुख शौक पूरा करने का बंकचूल को पर्याप्त अवकाश मिला।

एक बार कारणवश एक मुनि संघ को, जिसके प्रमुख आचार्य चन्द्रयश थे, चोरपल्ली में वर्षावास करना पड़ा। बंकचूल ने इस शर्त के साथ मुनियों को अपनी पल्ली में वर्षावास बिताने दिया कि वे चारों मास धर्मोपदेश नहीं करेंगे। आखिर वर्षावास की परिसमाप्ति पर मुनि प्रमुख ने विहार करने से पूर्व चार शिक्षावचन बंकचूल से कहे—1. अजाना फल कभी मत खाना, 2. किसी पर प्रहार करने से पूर्व सात-आठ कदम पीछे हटना, 3. राजा की रानी को माता मानना, 4. भूलकर भी कौव्वे का मांस नहीं खाना। बंकचूल दृढ़निश्चयी तो था ही, उसने मुनि के व्यवहार से खुश होकर उनके वचनों का पालन करने का दृढ़ निश्चय कर लिया।

किसी समय बंकचूल जब अपने साथियों के साथ चोरी करके लौट रहा था तो उसे और उसके साथियों को बहुत भूख और प्यास लगी। मार्ग में वृक्षों पर बड़े सुन्दर फल लगे हुए थे। पर अजाना फल खाने के व्रत के कारण बंकचूल ने उन फलों को नहीं खाया। शेष साथियों ने वे फल खाए, पर कुछ ही देर बाद उन सबका निधन हो गया। इस घटना से बंकचूल का हृदय मुनि के प्रति श्रद्धा से भर गया और वह पूर्वापेक्षया अधिक दृढ़ता से मुनि के वचनों का पालन करने लगा।

फिर किसी समय जब चोरी आदि कर्मों से निपटकर देर रात बंकचूल घर लौटा तो उसने अपनी पत्नी के साथ किसी पुरुष को सोते हुए देखा। आग-बबूला बन जब उसने उस पुरुष पर आक्रमण करना चाहा तो मुनि-वचन के पालन के लिए वह नंगी तलवार हाथ में ले आक्रमण के लिए सात-आठ कदम पीछे हटा। इससे उसकी तलवार दीवार से टकरा गई। आवाज होने से वह पुरुष जगा। वस्तुतः वह कोई पुरुष नहीं बल्कि उसी की बहिन थी, जिसने दिन में किसी रीति की संपूर्ति के लिए पुरुषों के वस्त्र धारण किए थे और प्रमादवश उन्हीं वस्त्रों में अपनी भाभी के पास सो गई थी। बंकचूल का विश्वास मुनि के प्रति और गहरा हो गया।

एक बार बंकचूल राजमहल में चोरी के लिए गया तो वहां रानी उसके रूप पर मुग्ध हो गई और उससे भोग-प्रार्थना करने लगी। बंकचूल ने मुनि-वचन के अनुरूप रानी को मां का दर्जा देकर उसका प्रस्ताव ठुकरा दिया। राजा छिपकर यह सब देख रहा था। राजा बंकचूल की दृढ़धर्मिता को देखकर इतना खुश हुआ कि उसे अपना पुत्र बनाकर युवराज पद दे दिया। बंकचूल राजकुमार बन अपनी बहिन और पत्नी के साथ राजमहल

में रहने लगा। फिर किसी समय उसने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार कर लिए और दृढ़ चित्त से उनका पालन करने लगा।

एक बार किसी राजा ने उस राज्य पर आक्रमण किया तो बंकचूल ने अपूर्व पराक्रम दिखाते हुए शत्रु राजा को पराजित कर दिया। पर युद्ध के अंत में एक विष बुझा तीर उसे लगा। अनेक वैद्यक प्रयत्नों से भी जब वह स्वस्थ न हुआ तो किसी वृद्ध वैद्य ने राजा को सलाह दी कि कौव्वे के मांस के सेवन से ही बंकचूल स्वस्थ हो सकता है। पर अपनी प्रतिज्ञा की बात कहते हुए बंकचूल ने कौव्वे के मांस न खाने का अपना संकल्प सुना दिया। आखिर उसका समाधि सहित निधन हो गया और वह बारहवें देवलोक में देव बना। अपनी दृढ़धर्मिता के कारण ही बंकचूल चोर से राजकुमार और राजकुमार से देव बना।

(क) बंधुदत्त

कंचनपुर नगर का एक श्रेष्ठीपुत्र। एक बार वह व्यापार के लिए ताम्रलिप्ति नगरी में गया। वहां पर उसका परिचय रतिसार नामक नगर सेठ से हुआ। रतिसार बंधुदत्त के मधुर व्यवहार और सुन्दर व्यक्तित्व से अतीव प्रभावित हुआ और उसने अपनी पुत्री बंधुमती का विवाह उससे कर दिया। बंधुदत्त को आगे के व्यापार के लिए रत्नद्वीप जाना था। वह पत्नी को उसके पितृगृह में ही छोड़कर रत्नद्वीप के लिए प्रस्थित हुआ। पर प्रस्थान के थोड़ी देर बाद ही उसका जहाज चक्रवाती लहरों में फंसकर टूट गया। जहाज के पट्टे के सहारे तैरता हुआ बंधुदत्त किनारे आ लगा। वह एक धर्मशाला में जाकर बैठ गया। अपने भाग्य पर उसे बड़ा शोक हो रहा था। उसने धर्मशाला के नौकर को समाचार देकर श्रेष्ठी रतिसार के पास भेजा कि उनका जामाता जहाज के टूट जाने के कारण धर्मशाला में ठहरा हुआ है।

बंधुमती उद्यान भ्रमण को गई। वहां एक चोर ने उसकी कलाई मरोड़कर कलाई से स्वर्णकंगन उड़ा लिया। संयोग से नगररक्षक उधर से गुजर रहा था। स्थिति से अवगत बनकर वह चोर की खोज में निकला। चोर को खोजते-खोजते वह धर्मशाला में पहुंचा। चोर वहीं छिपा हुआ था। पकड़े जाने के भय से चोर ने कंगन बंधुदत्त के निकट रख दिया। नगररक्षक ने बंधुदत्त को चोर घोषित कर दिया। राजा ने उसे शूली का दण्ड दिया। बंधुदत्त को शूलि-स्थल पर ले जाया गया।

उधर सेठ धर्मशाला में पहुंचा तो उसे ज्ञात हुआ कि उसके जामाता को शूली का दण्ड मिला है। सेठ दौड़कर राजा के पास गया और उससे कहा कि बंधुदत्त मेरा जामाता है और वह मेरी ही पुत्री का कंगन भला क्यों चुराएगा। उसकी रक्षा की जाए। नगरसेठ के कहने पर राजा स्वयं वधस्थल पर पहुंचा और बंधुदत्त को मुक्त करवाया। बंधुदत्त ने स्पष्ट किया कि वह नहीं जानता कि उसके पास उक्त कंगन किसने रखा। पर यह सच्चाई है कि मैं चोर नहीं हूं और चौर्यकर्म के स्थान पर मर जाना श्रेष्ठ मानता हूं। राजा ने अपने अविचारपूर्ण निर्णय के लिए बंधुदत्त से क्षमा मांगी। नगरसेठ जामाता को अपने घर ले गया।

पुण्ययोग से एक मुनि ताम्रलिप्ति नगरी में पधारे। मुनि-वन्दन के लिए सेठ रत्नसार सपरिवार मुनि चरणों में गया। मुनि चार ज्ञान से सम्पन्न थे। सेठ रत्नसार ने मुनि से पूछा, भगवन् ! निर्दोष होते हुए भी मेरे जामाता को शूली का दण्ड क्यों मिला? मुनि ने कहा, सेठ! यह सब कर्मों की विचित्रता है। कर्म के नचाए प्रत्येक प्राणी नाचता है। पूर्वजन्म के एक कठोर-वचन के परिणाम-स्वरूप ही तुम्हारे जामाता को शूली का दण्ड अपने लिए सुनना पड़ा।

मुनि के वचन सुनकर रत्नसार सहित बंधुदत्त आदि भी अपने पूर्वभव को सुनने को उत्सुक हो गए।

सेठ की प्रार्थना पर मुनिश्री ने फरमाया—पूर्वभव में बंधुदत्त शालग्रामवासिनी चन्द्रा नामक निर्धन और विधवा ग्वालिन का पुत्र था। चन्द्रा दूसरों के घरों में सेवा कार्य करती थी और बंधुदत्त, जिसका नाम सर्ग था, सम्पन्न लोगों के पशु चराने जंगल में जाता था। एक बार सर्ग काम से लौटा तो उसने पाया कि उसकी मां तब तक काम से नहीं लौटी थी। सर्ग भूखा था। मां लौटी तो सर्ग ने क्रोध से कहा, तुम्हें किसी ने शूली पर टांग दिया था जो इतनी देर से लौटी। इससे मां ने भी क्रोधित होकर कहा, तुम्हारी कलाई में मोच आ गई थी, जो छींके से भोजन उतारकर खा न सके।

मुनिश्री ने कहा, सेठ! चन्द्रा और सर्ग वर्तमान भव में बंधुमती और बंधुदत्त बने हैं। उन कठोर वचनों के परिणाम-स्वरूप ही बंधुदत्त को शूली के त्रास से साक्षात्कार करना पड़ा और चोर द्वारा बंधुमती की कलाई मरोड़ी गई।

साधारण से कठोर वचनों का परिणाम कितना भयानक हो सकता है, यह जानकर सभी लोग चकित बन गए।

सेठ रतिसार विरक्त बन गया और उसने प्रव्रज्या धारण कर ली। बंधुदत्त और बंधुमती ने श्रावक धर्म ग्रहण किया। उन्होंने कई वर्षों तक विशुद्ध श्रावकाचार का पालन किया। जीवन के उत्तरपक्ष में उन्होंने आर्हती प्रव्रज्या धारण कर पंचमहाव्रतात्मक चारित्र का पालन किया और स्वर्गगमन किया। आगे के भवों में वे मोक्ष प्राप्त करेंगे। —उपदेश सप्ततिका, पत्र 130 (क्षेमराज मुनि विरचित)

(ख) बंधुदत्त मुनि

प्राचीनकालीन एक वादकुशल श्रमण। (देखिए- रुद्रसूरि)

(क) बंधुमती

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की एक रानी। (देखिए--ब्रह्मराजा)

(ख) बंधुमती

राजगृह निवासी अर्जुनमाली की अर्द्धांगिनी। (देखिए--अर्जुनमाली)

बंसाला

कनकवतीपुरी के महाराज मकरध्वज की पुत्री और पृथ्वीपुर नरेश जयसिंह की पुत्रवधू तथा राजकुमार मुकनसिंह की पत्नी। सीता और सावित्री के समान ही बंसाला का चरित्र महिमापूर्ण है। जैन पौराणिक साहित्य के अनुसार उसका संक्षिप्त कथानक निम्नोक्त है—

पृथ्वीपुर नरेश महाराज जयसिंह को उनके विवाह के पैंतीस वर्ष पश्चात् जिस पुत्र की प्राप्ति हुई उसका नाम मुकनसिंह रखा गया। देश-विदेश के विद्वान ज्योतिषियों ने मिलकर नवजात राजकुमार की जन्मकुण्डली बनाई और उससे जो फलादेश प्राप्त हुआ, उसके अनुसार राजकुमार अल्पायु था। ज्योतिषियों ने पर्याप्त मन्थन के पश्चात् स्पष्ट किया कि राजकुमार का आयुष्य छह मास का है। पुत्र को अल्पायु जानकर महाराज उदास हो गए। उन्होंने ज्योतिषियों से पुनः फलादेश निकालने के लिए कहा। परन्तु दूसरी बार भी वही फलादेश निकला। तब एक वृद्ध ज्योतिषी ने कहा, महाराज! राजकुमार के दीर्घायु होने का एक उपाय है और वह है उसका विवाह किसी ऐसी बाला से किया जाए, जो पतिव्रत धर्म का निर्वाह करे और अपने शिशु पति का लालन-पालन स्वयं करे।

आखिर वैसा ही किया गया। राजकुमार की आयु छिपाकर उसका सम्बन्ध कनकवतीपुरी नगरी के राजा मकरध्वज की पुत्री बंसाला से किया गया। साथ ही राजा मकरध्वज से यह वचन भी ले लिया गया कि राजकुमारी का विवाह राजकुमार की फेंटा-कटार से सम्पन्न होगा। सुनिश्चित समय पर विवाह हुआ। उस समय राजकुमार मुकनसिंह की आयु एक मास थी और राजकुमारी की आयु बारह वर्ष थी। विवाह की प्रथम रात्रि में ही बंसाला को ज्ञात हो गया कि उसके साथ छल हुआ है। परन्तु वह भारतीय परम्परा की वह सन्नारी थी, जो पति को प्रत्येक रूप में अपना देवता मानती हैं। उसने अपने शिशु-पति का पालन-पोषण किया। वह जंगल में रहकर अपने पति का पोषण कर रही थी तो एक राजा ने उसके पति का अपहरण कर लिया। इकलौता पुत्र राजा की दो रानियों की ईर्ष्या का कारण बना तो राजा ने एक पेटी में रखकर उसे गंगा नदी में बहा दिया। वह पेटी काशी के एक समृद्ध गूजर के हाथ लगी, जिसने मुकनसिंह को अपना पुत्र मानकर उसका पालन-पोषण किया। देव सहायता से बंसाला भी काशी पहुंच गई और उक्त गूजर के घर एक दासी के रूप में सेवा-कार्य पा गई। वहां रहकर बंसाला ने अपने पति का पालन-पोषण किया। उसी नगर में रहकर मुकनसिंह युवा हुआ। उसके पुण्य कर्म भी क्रमशः प्रकट होते गए। उसने वहां रहते हुए अनेक राजकुमारियों से विवाह किया और कई देशों का राज्य प्राप्त किया।

अंततः मुकनसिंह को बंसाला के अपूर्व त्याग का यथार्थ ज्ञात हुआ। वह कृतज्ञता से भर गया और उसने उसे अपनी पटराणी बनाया। बाद में मुकनसिंह अपने नगर पृथ्वीपुर लौटा। महाराज जयसिंह ने उसे राजगद्दी पर बैठाकर दीक्षा ले ली। मुकनसिंह ने सुदीर्घ काल तक शासन किया। बंसाला ने भी पतिव्रत धर्म का एकनिष्ठ पालन करते हुए आयु के उत्तरार्ध पक्ष में संयम धारण कर परमपद प्राप्त किया। मुकनसिंह ने भी अपनी पटरानी का अनुगमन कर शिव पद प्राप्त किया।

बनारसी दास (पंडित)

ई. की 16-वीं 17-वीं सदी के एक विद्वान जैन श्रावक। पंडित बनारसीदास राजसम्मान प्राप्त व्यक्ति थे। व्यापारी, कवि, विद्वान और समाज सुधारक थे। बहुभाषाविद् थे। साहित्य की विधा—आत्मकथा लेखन के वे आदि पुरुष थे।

पण्डित बनारसीदास वैश्य थे। उनका परिवार राजपरिवार का विश्वसनीय और कृपापात्र था। उनके पितामह और मातामह राज्य के उच्च पदों पर कार्य कर चके थे। जौनपुर में पंडित बनारसीदास ने अपना पैतृक व्यवसाय (जवाहरात) स्थापित किया और अन्य कई व्यापार भी किए। पर अध्यात्म और साहित्य-रसिया पंडित जी अधिक समय तक व्यापार में स्वयं को उलझा कर न रख सके। जौनपुर छोड़कर वे आगरा आ गए और वहीं पर स्थायी रूप से बस गए। वहां उनकी एक विद्वद्मण्डली बन गई, जिसमें कई विद्वान थे। विद्वद्गोष्ठियों और साहित्य साधना में पंडित जी का अधिकांश समय समर्पित होता था।

मुगल बादशाह शाहजहां पंडित जी का बहुत मान करते थे और उन्हें अपना अंतरंग मित्र मानते थे। अपने युग में ही पंडित जी ने पर्याप्त सुयश अर्जित किया और वे प्रायः भारत-भर के जैन समाज में अपनी विशेष पहचान और प्रतिष्ठा रखते थे।

पंडित बनारसीदास जी ने (1586-1641) अपने 55 वर्ष के जीवन के आधार पर अपनी आत्मकथा 'अर्धकथानक' नाम से लिखी, जो साहित्यिक क्षेत्र में इस विधा का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है।

—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं

बप्पभट्टि (आचार्य)

वादि-कुञ्जर-केशरी की उपाधि से अलंकृत जैन परम्परा के एक अतिशय प्रभावशाली आचार्य। अपने युग के वे समर्थ विद्वान, काव्यकार और प्रभावी व्यक्तित्व के धनी पुरुषरत्न थे।

आचार्य बप्पभट्टि का जन्म क्षत्रिय कुल में वी.नि.1270 में अधि गांव (गुजरात) में हुआ। उनके पिता का नाम बप्प और माता का नाम भट्टि था। माता-पिता के संयुक्त नाम—बप्पभट्टि से ही वे विश्वविश्रुत हुए। उनका जन्म-नाम सूरपाल था। 6 वर्ष की अवस्था में उन्होंने गृहत्याग किया और वे आचार्य सिद्धसेन (ये आचार्य सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न थे) के सान्निध्य में चले गए। आचार्य श्री के सान्निध्य में उनका शिक्षण हुआ। बालक सूरपाल अद्भुत मेधा सम्पन्न थे। एक बार एक ही दिन में एक हजार श्लोक कण्ठस्थ कर उन्होंने सभी को चमत्कृत कर दिया था।

माता-पिता ने पुत्र को घर लौटने के लिए बाध्य किया, पर सूरपाल ने लौटना स्वीकार नहीं किया। आखिर वी.नि. 1277 में सूरपाल का दीक्षा संस्कार सम्पन्न हुआ। सूरपाल के माता-पिता के आग्रह पर आचार्य श्री ने शिष्य का नाम बप्पभट्टि स्वीकार किया।

बाल्यावस्था में ही बप्पभट्टि ने कान्यकुब्ज के राजकुमार आम को आत्यन्तिक रूप से प्रभावित किया। दोनों के मध्य में अंतरंग मैत्री स्थापित हुई। उधर आम राजा बना, इधर आचार्य श्री ने मात्र ग्यारह वर्ष की अवस्था में बप्पभट्टि को आचार्य पद पर आसीन कर दिया। कान्यकुब्ज नरेश आम आचार्य बप्पभट्टि का आजीवन भक्त बना रहा।

बप्पभट्टि अपने युग के अतिशय प्रभावशाली आचार्य थे। उन्होंने कई राजाओं को अपनी विद्वत्ता और चारित्रबल से प्रभावित किया। गौड़ देश का राजा धर्मराज भी आचार्य बप्पभट्टि से प्रभावित हुआ। कान्यकुब्ज और गौड़ राज्यों के मध्य पुरानी शत्रुता थी। आचार्य बप्पभट्टि ने अपने उपदेशों द्वारा दोनों नरेशों को मित्र बना दिया। एक बार राजा आम ने आचार्य बप्पभट्टि के चारित्र की गहराई नापने के लिए एक गणिका को रात्रि में पुरुष वेश पहनाकर उपाश्रय में भेजा। परन्तु गणिका आचार्य श्री के मन-मेरु पर कोई कम्पन न जगा पाई। इससे राजा की निष्ठा आचार्य श्री के प्रति और भी दृढ़ हो गई।

आचार्य बप्पभट्टि ने अपने जीवन काल में कई बहुमूल्य ग्रन्थों की रचना भी की।

95 वर्ष की अवस्था में वी.नि. 1365 में आचार्य बप्पभट्टि दो दिन के संथारे के साथ स्वर्गवासी हुए।

कान्यकुब्ज नरेश आम ने अंतिम अवस्था में आचार्य बप्पभट्टि से दीक्षा अंगीकार की। जिनदेवों की आराधना करते हुए राजर्षि आम का वी.नि. 1360 में स्वर्गवास हुआ। राजा आम के दीक्षा लेने के पश्चात् उसका पुत्र दुन्दुक कान्यकुब्ज के सिंहासन पर आसीन हुआ। उसका शासन काल अल्प रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र भोज राजा बना। राजा भोज ने जैन धर्म की प्रभावना के कई महनीय कार्य किए।

—प्रभावक चरित्र

बल ब्राह्मण

भगवान महावीर के धर्म संघ के ग्यारहवें गणधर प्रभास के पिता और राजगृह के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण।

(क) बलभद्र

सुग्रीव नगर नरेश, मृगापुत्र के पिता और एक तत्त्वज्ञ राजा। (देखिए-मृगापुत्र) —उत्तराध्ययन

(ख) बलभद्र (चोर)

कपिल केवली के उपदेश से प्रतिबुद्ध होने वाला चोर सरदार। उसने अपने पांच सौ तीस चोर साथियों के साथ मुनिधर्म ग्रहण किया था।

(ग) बलभद्र (बलदेव)

वसुदेव और रोहिणी के पुत्र, वर्तमान अवसर्पिणी के अंतिम बलदेव। वासुदेव श्री कृष्ण के वे ज्येष्ठ भ्राता थे। दोनों की माताएं भिन्न थीं, पर पिता एक थे। बलभद्र और कृष्ण के मध्य बाल्यकाल से ही परस्पर सघन अनुराग था। दोनों भ्राता आजीवन देहच्छायावत् साथ-साथ रहे।

बलभद्र एक प्रामाणिक पुरुष थे। उन्होंने जीवन भर निजी स्वार्थ के लिए अथवा विनोद में भी कभी असत्य का पक्ष नहीं लिया। उनकी धर्मनिष्ठा सदैव तीर्थंकर अरिष्टनेमि के चरणों से जुड़ी रही। उनकी कई रानियों और पुत्रों ने प्रभु अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या धारण की थी।

द्वारिका दहन के पश्चात् बलभद्र और श्री कृष्ण का जीवन ही सुरक्षित बच सका। अपनी नगरी, परिजनों व पुरजनों का ऐसा दुखद अंत देखकर श्री कृष्ण विचलित हो गए। तब बलभद्र जी ने ही अनेक नीति और धर्मवचनों से श्री कृष्ण को सान्त्वना दी। आखिर दोनों भाई पाण्डु मथुरा की दिशा में चले। मार्ग में हस्तिकल्प नगर के निकट दोनों भाई ठहरे। वहां के राजा का नाम अच्छंदक था, जो धृतराष्ट्र का पौत्र था। श्री कृष्ण जी नगर के बाहर रुके और बलभद्र जी खाद्य साम्रगी लेने के लिए नगर में गए। वहां राजपुरुषों ने बलभद्र जी को पहचान लिया और कौरवों का शत्रु मानकर उन्हें गिरफ्तार करने का प्रयास करने लगे। राजा अच्छंदक प्रतिशोध का उचित अवसर जानकर बलभद्र जी को मारने को उद्यत हुआ। अपने पर संभावित आक्रमण की योजना को देखकर बलभद्र जी सावधान हो गए। उन्होंने हाथी बांधने का स्तंभ उखाड़ लिया और अच्छंदक को ललकारा। घमासान युद्ध शुरू हो गया। बलभद्र का सिंहनाद श्री कृष्ण को सुनाई दिया तो वे समझ गए कि अग्रज संकट में हैं। क्रोध से श्री कृष्ण की भृकुटियां चढ़ गईं। पाद प्रहार से धरा को कंपायमान करते हुए वे युद्ध क्षेत्र में पहुंचे। श्री कृष्ण की सिंहगर्जना को सुनकर अच्छंदक की सेना के होश उड़ गए। सेना भाग खड़ी हुई। निरुपाय हुआ और भय से कांपता हुआ अच्छंदक श्री कृष्ण के चरणों में आ गिरा। आखिर बलदेव जी के कहने पर श्री कृष्ण ने उसे क्षमा कर दिया।

कृष्ण-बलभद्र आगे बढ़े। कौशांबी वन में पहुंचे। श्री कृष्ण को प्यास लगी। वे एक वृक्ष के नीचे शिला पर बैठ गए। बलभद्र जी जल की तलाश में निकले। श्री कृष्ण थके हुए थे। वे शिलापट्ट पर लेट गए। खड़े हुए बाएं पैर पर उनका दायां पांव था। पीताम्बर उनके शरीर पर था और पैर में पद्म चमक रहा था। शिकार की खोज में घूम रहे जराकुमार ने दूर से ही श्री कृष्ण को मृग समझा और उनके पांव में चमक रहे पद्म को मृग की आंख माना। उसने पद्म का लक्ष्य कर बाण छोड़ दिया। बाण निशाने पर लगा। श्री कृष्ण असह्य वेदना से विकल हो गए। जराकुमार वहां पहुंचा और वस्तुस्थिति को देखकर भारी शोक में डूब गया। वह श्री कृष्ण के चरणों से लिपट कर क्षमा मांगने लगा। कुछ ही क्षणों में श्री कृष्ण का देहान्त हो गया।

बलभद्र जी के भय से जराकुमार वहां से भाग गया। कुछ समय बाद बलभद्र जी जल लेकर लौटे। श्री कृष्ण की दशा को देखकर वे अधीर हो गए। उन्होंने पुनः पुनः भाई को पुकारा। प्रतिशोध में जलते हुए जंगल का कण-कण छान डाला, पर शत्रु को नहीं खोज पाए। पुनः श्री कृष्ण के पास लौटे। उनका मन यह मानने को कदापि तैयार नहीं था कि उनके भाई का अवसान हो चुका है। उन्होंने यही माना कि कृष्ण उनसे

नाराज हो गए हैं। उनकी दशा विक्षिप्त जैसी हो गई। भाई के शव को कन्धे पर उठाकर वे वनों में भटकने लगे। कहते हैं कि छह महीने तक वे श्री कृष्ण के शव को कन्धे पर लिये घूमते रहे।

पूर्वजन्म के एक मित्र देव ने बलभद्र जी की इस विक्षिप्त दशा को देखा तो वह उन्हें प्रतिबोध देने के लिए वहां आया। उसने एक माली का रूप बनाया और मार्ग के किनारे ही एक पत्थर की शिला पर कमल का पौधा लगाने लगा। कृष्ण-शव को कन्धे पर रखे बलभद्र जी उधर से गुजरे। माली के उस अज्ञान-प्रयास को देखकर वे बोले, मूर्ख माली ! पत्थरों पर भी कभी कमल खिला करते हैं?

मालीरूपी देव ने कहा, यदि मृत्यु को प्राप्त हो चुके श्री कृष्ण जीवित हो सकते हैं तो पत्थर पर कमल भी खिल सकते हैं।

बलभद्र जी रोषारुण बनकर बोले, दुष्ट माली! अपनी जबान को संभाल! भला कृष्ण कभी मर सकते हैं?

बलभद्र जी आगे बढ़ गए। देव ने एक अन्य उपक्रम से बलभद्र जी को प्रतिबोध देना चाहा। एक ग्वाले का रूप धारण कर वह मृतगाय को घास खिलाने की चेष्टा करने लगा। बलभद्र जी वहां पहुंचे और ग्वाले की नादानी देखकर बोले—नादान गोपाल! मृत गाय भला घास कैसे खा सकती है ? ग्वाल-रूपी देव ने कहा, आपके कन्धे पर मृत आपके भाई जीवित हो सकते हैं तो मृत गाय घास क्यों नहीं खा सकती है?

देव ने ऐसे कई उपक्रम किए, जिससे बलभद्र जी का भ्रम दूर हो गया। उन्हें निश्चय हो गया कि उनके भाई श्री कृष्ण का देहावसान हो चुका है। भाई के शव को सामने रखकर बलभद्र जी विलाप करने लगे। उस समय देव प्रकट हुआ और उसने बलभद्र जी को सान्त्वना व प्रतिबोध दिया। बलभद्र जी का शोक कम हो गया। उन्होंने समुद्र-सिन्धु संगम स्थल पर श्रीकृष्ण के शव का अग्नि संस्कार किया। उसके बाद वे अरिहन्त अरिष्टनेमि के ध्यान में लीन होकर संयम भावों से भावित बनने लगे। भगवान अरिष्टनेमि ने एक चारण लब्धि सम्पन्न मुनि को बलभद्र जी के पास भेजा। मुनि ने बलभद्र जी को उपदेश दिया। बलभद्र जी ने मुनि-दीक्षा धारण की और आत्मसाधना में संलग्न हो गए। वे मास-मास का उपवास करते और पारणे के लिए नगर में पधारते।

बलभद्र मुनि विशिष्ट पुरुष रत्न थे। उनका दैहिक-सौंदर्य अद्भुत था। एक बार जब वे पारणे के लिए नगर में भ्रमण कर रहे थे तो कुछ महिलाएं कुएं पर पानी भर रही थीं। एक महिला की दृष्टि बलभद्र मुनि पर पड़ी और वह उनके तेजस्वी रूप पर मुग्ध हो गई। रूपमुग्धा उस महिला का विवेक लुप्त हो गया और उसने घड़े के स्थान पर अपने पुत्र के गले में रस्सी डाल दी। बच्चा चिल्लाया तो मुनिवर का ध्यान उस ओर गया। मुनिवर को वस्तुस्थिति समझते देर नहीं लगी। उस संभावित अनर्थ का कारण मुनिवर ने अपने रूप को माना। उसी क्षण उन्होंने निश्चय कर लिया कि वे भिक्षा के लिए नगर में नहीं जाएंगे, यदि वन में ही एषणीय आहार उपलब्ध हुआ तो वे पारणा करेंगे, अन्यथा तप में ही लीन रहेंगे।

ऐसा निश्चय कर मुनिवर बलभद्र जी जंगल में रहकर ही तप करने लगे। यदा-कदा पथिकों से शुद्ध भिक्षा मिलती तो वे पारणा कर लेते। उसी अवधि में एक मृग मुनिवर का भक्त बन गया। मुनिवर के सान्निध्य से उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। मृग ने अपने ज्ञान से जान लिया कि मुनिवर ने भिक्षा के लिए गांव में नहीं जाने का संकल्प ले रखा है। मृग वन में घूमकर मुनिवर के पारणे की संभावनाएं तलाश करता और शुद्ध आहार की संभावनाएं तलाश कर मुनिवर को गोचरी कराता। ऐसे उस मृग ने शुद्ध और उत्कृष्ट

भावों से महान कर्मों की निर्जरा की और उत्कृष्ट पुण्य का अर्जन किया।

एक बार मृग ने एक सुथार को देखा, जो रथनिर्माण में काम आने वाली लकड़ी लेने वन में आया था। सुथार ने वृक्ष की एक शाखा को काटना शुरू किया। आधी शाखा कटने तक दोपहर हो गई। आधी कटी शाखा को मध्य में ही छोड़कर वह वृक्ष से नीचे उतरा और भोजन करने की तैयारी करने लगा। मृग ने उपयुक्त अवसर देखा और वह मुनिवर बलभद्र को भिक्षा के लिए वहां ले आया। सुथार ने तपस्वी मुनि को देखा। उसने अपने को धन्य माना और मुनिवर से भिक्षा की प्रार्थना की। मुनि श्री बलभद्र जी ने अपना पात्र सुथार के समक्ष फैला दिया। उत्कृष्ट भावना से सुथार आहार बहराने लगा। सुथार की उत्कृष्ट दान भावना और मुनिवर की तप-साधना पर पास खड़ा मृग गद्‌गद हो रहा था। उसी समय हवा का एक तेज झोंका आया और अध-कटी शाखा टूट कर गिर पड़ी। मुनिवर बलभद्र जी, सुथार और मृग, इन तीनों का एक साथ प्राणान्त हो गया। उत्कृष्ट भावना भाते हुए मृत्यु धर्म को प्राप्त हुए वे तीनों जीव पांचवें देवलोक के पद्‌मोत्तर विमान में देव बने।

इस प्रकार मुनिवर बलभद्र जी इस भूतल से विदा हुए। उत्कृष्ट तपाराधना के फलस्वरूप उन्होंने तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया था। आगामी चौबीसी में वे निष्पुलाक नामक चौदहवें तीर्थंकर होंगे।

—आवश्यक चूर्णि / त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 22 / हरिवंश पुराण, 73 / पाण्डव पुराण

(घ) बलभद्र राजा

राजगृह नगर का एक मौर्यवंशी राजा, जो अनन्य श्रमणोपासक था। (देखिए-आषाढ़ाचार्य के शिष्य)

बलवीर कुमार

वसन्तपुर नरेश वज्रसेन का पुत्र, एक विनीत, साहसी और बुद्धिमान राजकुमार। उसकी जननी का नाम प्रियंवदा था और वह राजा की छोटी रानी थी। राजा की बड़ी रानी का नाम सुग्रीवा था। उसी पर राजा का अनुराग था। उसके दो पुत्र थे, धनवीर और जयवीर। ये दोनों भी दंभी और भीरु थे। पर राजा को ये दोनों ही प्रिय थे। छोटे पुत्र पर राजा का प्रेमभाव नहीं था। यथासमय तीनों राजकुमारों ने शिक्षा पूर्ण की। अपने विनम्र स्वभाव के कारण बलवीर शिक्षा और शौर्य में अपने दोनों बड़े भाइयों से आगे रहा। प्रजा भी उसी से प्यार करती थी, परन्तु सुग्रीवा के मोहपाश में आबद्ध होने से राजा उसी के पुत्रों को अधिक चाहता था। धनवीर को ही युवराज पद भी दिया गया।

एक बार राजा ने स्वप्न में एक दिव्य वृक्ष देखा। वह वृक्ष उसे इतना सुन्दर प्रतीत हुआ कि वह उसे पुनः देखने के लिए व्याकुल हो गया। राजा ने स्वर्णथाल में पान का बीड़ा रखा और घोषणा की कि बीड़े को वह व्यक्ति ग्रहण करे, जो राजा को दिव्य वृक्ष दिखा सके। विचित्र शर्त थी। अतः कोई भी बीड़ा उठाने को तैयार नहीं हुआ। आखिर धनवीर ने बीड़े को उठाया और अपने पिता को आश्वासन दिया कि एक वर्ष की अवधि में वह उन्हें दिव्य वृक्ष के दर्शन करा देगा।

दिव्य वृक्ष के रहस्य को खोजने के लिए धनवीर अपने सहोदर जयवीर के साथ चल दिया। वन में एक वृद्धा ने उनसे सहयोग मांगा। राजकुमार होने के दंभी युवकों ने वृद्धा का अनादर किया और आगे बढ़ गए। कुछ दिनों की यात्रा के पश्चात् वे एक ठगपल्ली में पहुंचे और ठगों ने उनके घोड़े और समस्त धन लूट लिया। लुटे-पिटे आगे बढ़े तो हंसावली नामक एक युवती से शर्त में हार जाने पर उन दोनों को उसकी गोशाला का नौकर बनना पड़ा।

दो वर्षों से अधिक समय तक दोनों राजकुमार नहीं लौटे तो राजा वज्रसेन और उसकी रानी सुग्रीवा अत्यधिक चिन्तित हुए। पिता और विमाता को चिन्ताग्रस्त देखकर बलवीर ने भाइयों की खोज और दिव्य वृक्ष के रहस्य को पाने के लिए घर से प्रस्थान किया। वह जंगल में पहुंचा। उसने आपद्ग्रस्त वृद्धा की शुश्रूषा की। बलवीर की शुश्रूषा और भक्ति-भावना देखकर वृद्धा गद्गद हो गई। वह वन देवी थी। उसने बलवीर को उसके भाइयों का पता तथा दिव्यवृक्ष की प्राप्ति का रहस्य बताया। साथ ही ठगों और हंसावली को परास्त करने की विधि भी बताई।

बलवीर आगे बढ़ा। ठगपल्ली में ठगों ने उसका स्वागत किया, पर ठगों की उसके समक्ष एक न चली। ठग ही ठगे गए। ठगों का धन लेकर बलबीर आगे बढ़ा और हंसावली नामक युवती को परास्त कर उससे पाणिग्रहण किया। तदनन्तर वनदेवी के बताए गए गुप्त सूत्रों के अनुसार और अपनी बुद्धि व शक्ति के बल पर बलवीर पाताल-लोक पहुंचा और दिव्य वृक्ष का रहस्य पा गया। चार अन्य बालाओं के साथ उसने पाणिग्रहण किया। लौटते हुए उसने हंसावली को भी अपने साथ ले लिया। हंसावली ने कहा, उसके दो विश्वस्त चर भी उसके साथ चलेंगे। बलवीर की स्वीकृति पर हंसावली ने अपने विश्वस्त दोनों चरों को बुलाया। धनवीर और जयवीर को देखकर बलवीर अति प्रसन्न हुआ। उसने भाइयों का स्वागत किया और उन्हें राजसी वस्त्र प्रदान किए। उसके बाद वह दल वसन्तपुर के लिए प्रस्थित हुआ।

मार्ग में धनवीर और जयवीर का बलवीर के प्रति सुप्त वैरभाव पुनः जाग्रत हो गया। दोनों भाइयों ने बलबीर के वध का निर्णय किया। उन्होंने चार अलग-अलग अवसरों पर बलवीर की हत्या के प्रयास किए। परन्तु चारों ही बार बलवीर पुण्ययोग से रक्षित रहा। उसने चारों ही बार भाइयों को क्षमा कर दिया। आखिर पांच पत्नियों और दोनों भाइयों के साथ बलवीर अपने नगर में पहुंचा। माता-पिता और नगरजनों ने बलवीर का स्वागत किया। बलवीर ने प्राप्त विद्याबल से दिव्यवृक्ष उत्पन्न कर राजा सहित सभी नागरिकों को चकित-हर्षित किया। धनवीर और जयवीर बलवीर के अति उदार व्यवहार पर गद्गद और अपनी दुष्टता पर लज्जित थे। आत्मग्लानि से वैराग्य का स्रोत फूटा और वे दीक्षा लेने को तत्पर हो गए। बलवीर को राजपद देकर राजा ने भी दीक्षा का संकल्प किया। सुग्रीवा और प्रियवंदा भी दीक्षित हुईं।

बलवीर ने सुदीर्घ काल तक शासन किया और जीवन के उत्तर पक्ष में अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजगद्दी प्रदान कर अपनी पांचों रानियों के साथ उसने संयमपथ चुना और सद्गति प्राप्त की।

(क) बलि

एक प्राचीन राजा। (देखिए-स्वयंभू वासुदेव)

(ख) बलि

छठा प्रतिवासुदेव, जिसे पुरुषपुंडरीक वासुदेव ने एक कठिन युद्ध में परास्त किया था।

बलिभद्र सूरि (आचार्य)

चैत्यवासी परम्परा के एक प्रभावक आचार्य। विक्रम की दसवीं सदी के कई राजा आचार्य बलिभद्र सूरि के भक्त थे। बलिभद्र सूरि के गुरु का नाम आचार्य यशोभद्र सूरि था। बलिभद्र सूरि उनके ज्येष्ठ शिष्य थे। गुरु की आज्ञा के बिना ही बलिभद्र ने कई मांत्रिक विद्याएं सिद्ध कीं । इससे गुरु ने बलिभद्र को संघ से बहिष्कृत कर दिया और लघु शिष्य शालिभद्र को अपना उत्तराधिकार 'आचार्य पद' प्रदान कर दिया।

बलिभद्र गिरि-कन्दराओं में रहकर तपाराधना करने लगे। एक बार चित्तौड़ के महाराणा अल्लट की

पटरानी असाध्य रोग से ग्रस्त हो गई। वैद्यों के समस्त उपचार व्यर्थ सिद्ध हुए। तब बलिभद्र ने रानी को रोगमुक्त किया। इससे महाराणा पर मुनि बलिभद्र का अतिशय प्रभाव पड़ा। महाराणा ने मुनि को बड़ी जागीर देनी चाही। पर मुनि बलिभद्र ने उसे अस्वीकार कर दिया। इस घटना से मुनि की त्यागवृत्ति से महाराणा चमत्कृत हो गया और उनका भक्त बन गया। अन्य अनेक लोग बलिभद्र के श्रावक बने। महाराणा ने नवीन श्रावक संघ के साथ मिलकर बलिभद्र मुनि की आचार्य पद पर प्रतिष्ठा की।

हथूंडी नगर का राठोड़वंशीय राजा विदाघराज भी आचार्य बलिभद्र का अनन्य उपासक बना। हथूंडी नगर में उसने आदिनाथ भगवान का मंदिर बनवाया, जिसकी प्रतिष्ठा वि.सं. 973 में आचार्य बलिभद्र के हाथों हुई। आचार्य बलिभद्र का गच्छ हथूंडीगच्छ अथवा हस्तिकुण्डगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बलिस्सह (आचार्य)

नंदी सूत्र के अनुसार एक श्रुतधर आचार्य। उनका आचार्य-काल आचार्य सुहस्ती के बाद का माना जाता है। वे आचार्य महागिरि के द्वितीय शिष्य थे। आचार्य बलिस्सह का जन्म कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। दीक्षा लेने के पश्चात् उन्होंने अपने गुरु आचार्य महागिरि से श्रुत का अध्ययन किया। विशेष प्रज्ञा सम्पन्न और मेधावी होने के कारण उनकी नियुक्ति वाचनाचार्य और गणाचार्य के पदों पर हुई थी। बाद में उनके गण की प्रसिद्धि 'उत्तर बलिस्सह गण' नाम से हुई। उत्तर उनके जयेष्ठ गुरुभ्राता थे।

प्राप्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सम्राट् खारवेल द्वारा आयोजित कुमारगिरि पर्वत पर श्रमण सम्मेलन में आचार्य बलिस्सह उपस्थित थे। आचार्य बलिस्सह का आचार्य काल वी.नि. 245 से माना जाता है। उनका स्वर्गवास वी.नि. 329 के लगभग अनुमानित है। —नन्दी सूत्र / कल्पसूत्र स्थविरावली

(क) बहुपुत्रिका

निरयावलिका सूत्र के अनुसार प्रथम देवलोक की एक देवी। पूर्वजन्म में वह वाराणसी नगरी के एक धनी सार्थवाह की सुभद्रा नाम की पत्नी थी। उसके कोई संतान न थी, पर उसकी संतान की लालसा अत्यन्त तीव्र थी। उसने संतानोत्पत्ति के लिए अनेक उपाय किए पर सफल न हुई। उसके निमित्त से धर्मध्यान भी किया, तंत्र-मंत्र भी जपे, पर पूर्वजन्म के निकाचित कर्म के कारण वह वन्ध्या ही रही। उदासीन होकर वह साध्वी बन गई। वह जहां भी गृहस्थों के बालक-बालिकाओं को देखती तो मुग्ध हो जाती, उन्हें खेलाने और खिलाने-पिलाने में तल्लीन बनकर साध्वाचार को विस्मृत कर बैठती। गुरुणी के पुनः-पुनः समझाने पर भी जब उसने अपनी लीक न बदली तो गुरुणी ने उसे संघ से निष्कासित कर दिया। वह अकेली रहने लगी। पर बालकों पर उसके अनुराग में न्यूनता नहीं हुई। अनशनपूर्वक मरकर वह बहुपुत्रिका नामक देवी बनी। स्वर्ग से च्यव कर वह जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र के किसी नगर में ब्राह्मण-पुत्री होगी। वहां सोलह वर्षों में उसके बत्तीस पुत्र पैदा होंगे। यह उसकी पुत्र-लालसा का परिणाम होगा। पर इतने बालकों की सार-संभाल से वह आर्त्त बन जाएगी। पूर्वजन्म में जैसे उसने संतान के अभाव से उदासीन बनकर संयम लिया था, वैसे ही वहां संतानों के आधिक्य से संत्रस्त बनकर वह दीक्षित होगी। वहां से एक भव देवलोक का कर महाविदेह से सिद्ध होगी। —निरयावलिका, वर्ग 3, अध्ययन 4

(ख) बहुपुत्रिका (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 10

बहुरूपा (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान जानना चाहिए। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 6

बहुला

श्रमणोपासक चुल्लशतक की पतिपरायण पत्नी।

बालचन्द्र

(देखिए-मेतार्य मुनि)

बालि

किष्किन्धा नरेश सूर्य का पुत्र, एक धीर, वीर और सुव्रती राजा। उसके अनुज का नाम सुग्रीव और सहोदरा का नाम श्री प्रभा था। पिता की प्रव्रज्या के पश्चात् बालि राजा बना। उसने सुग्रीव को युवराज पद दिया। बालि अपने समय का अजेय राजा था। लंकापति रावण ने उसे अपने अधीन बनाना चाहा। परिणामतः युद्ध की ठन गई। युद्ध में बालि ने रावण को पराजित कर दिया और उसके अहं को चूर करने के लिए उसे बगल में दबा लिया। हेमचन्द्राचार्य के अनुसार बालि ने रावण को बगल में दबाकर समुद्र सहित पृथ्वी की परिक्रमा कर डाली।

आखिर अनुकंपा भाव लाकर बालि ने रावण को मुक्त कर दिया। उन्हें स्वयं भी राज्य को क्लेश का कारण मानकर संसार से विरक्ति हो गई। अनुज सुग्रीव को राज्यभार देकर वे दीक्षित हो गए और अष्टापद पर्वत पर ध्यान साधना और तप में लीन हो गए।

एक बार पुष्पक विमान में बैठा रावण आकाश मार्ग से अष्टापद पर्वत के ऊपर से जा रहा था। उसने नीचे बालिमुनि को ध्यानस्थ देखा तो उसके हृदय में प्रतिशोध का भाव उभर आया। उसने मुनि सहित पर्वत को उठाकर समुद्र में फैंकना चाहा। इस पर बालि मुनि सतर्क हो गए। उन्होंने पैर के अंगुष्ठ से पर्वत को दबा दिया। उससे रावण पर्वत के नीचे दब गया और गिड़गिड़ाकर मुनिवर से प्राणों की भीख मांगने लगा। आखिर मुनिवर बालि ने अपने अंगुष्ठ को संकोच लिया। रावण मुनि के चरणों पर अवनत होकर क्षमा मांगने लगा और अपने गंतव्य की ओर चला गया।

मुनिवर बालि ने कठोर साधना की और घाती कर्मों का क्षय कर सिद्ध हुए।

—जैन रामायण

बाहुबली

भगवान ऋषभदेव और सुनंदा के पुत्र। बाहुबली के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वे अप्रतिम बलशाली पुरुष थे। पूर्वजन्म में वे एक मुनि थे। उन्होंने एक लाख वृद्ध और ग्लान मुनियों की वैयावृत्त्य की थी। उसी सेवा के फलस्वरूप उन्हें अजेय बल प्राप्त हुआ था। भगवान ऋषभदेव ने मुनि बनने से पूर्व अपने सभी पुत्रों को राज्य के समान विभाग प्रदान किए थे। बाहुबली को बहली देश का राज्य प्राप्त हुआ था।

चक्रवर्ती भरत षड्खण्ड को साधकर अयोध्या लौटे। पर सुदर्शन चक्र आयुधशाला के द्वार पर आकर ठहर गया। यह इस बात का प्रमाण था कि भरत की विजय यात्रा पूर्ण नहीं हुई है। पर्याप्त चिन्तन करने के

पश्चात् यह स्पष्ट हो गया कि भरत के अपने ही निन्यानवे भाई अभी तक अविजित हैं। भरत ने बाहुबली आदि अपने भ्राताओं के पास आदेश पत्र भेजे कि वे उसकी अधीनता स्वीकार कर लें। अठानवे छोटे भाई भरत के इस व्यवहार से क्षुब्ध बन गए। उन्हें पराधीनता स्वीकार न थी। वे भगवान ऋषभदेव की शरण में पहुंचे। भगवान ने उन्हें जागरण का उपदेश दिया, जिसे सुनकर वे प्रबुद्ध बन गए और दीक्षा धारण कर ली।

बाहुबली स्वाभिमानी और बली थे। उन्होंने भरत की अधीनता अस्वीकार कर दी। परिणामतः दो भाइयों के मध्य युद्ध की ठन गई। कुछ अनुभवी और वृद्ध लोगों के बीच-बचाव करने पर दोनों भाई व्यक्तिगत शक्ति परीक्षण के लिए तैयार हो गए। दोनों के मध्य ध्वनि-युद्ध, दृष्टियुद्ध, मुष्टियुद्ध, बाहुयुद्ध और दण्डयुद्ध लड़े गए। सभी प्रकार के युद्धों में बाहुबली जीत गए। पराजित भरत खिन्न हो उठे। विवेकान्ध होकर उन्होंने बाहुबली पर सुदर्शन चक्र से प्रहार कर दिया। परन्तु सुदर्शन चक्र अपनों का वध नहीं करता। बाहुबली की प्रदक्षिणा कर चक्र लौट आया। इस बात से बाहुबली रोषारुण हो उठे। मुट्ठी तानकर भरत का वध करने के लिए दौड़ पड़े। बाहुबली के रोष को देखकर दर्शक स्तंभित हो गए। भरत जी की संभावित मृत्यु से सब ओर सन्नाटा छा गया। उस क्षण देवों ने मध्यस्थता की। बाहुबली को समझाया कि उन जैसे प्रामाणिक पुरुष को अपने अग्रज का वध करना शोभा नहीं देता। बाहुबली रुक गए। वीरों का वार अमोघ होता है इसलिए उन्होंने उठे हुए हाथ से पंचमुष्टि लोच कर लिया और मुनि हो गए।

बाहुबली मुनि होकर भगवान के पास जाने को तत्पर हुए तो उनके मन में यह विचार जागा कि भगवान ऋषभ के पास जाने पर उन्हें रत्नाधिक व्यवस्था का पालन करना पड़ेगा और पूर्वदीक्षित अनुजों को पाद-वन्दन करना पड़ेगा। उन्हें केवलज्ञान अर्जित करके ही भगवान के पास जाना चाहिए। इस विचार से रणांगन में ही वे दैहिक चंचलता को संवरित कर अचल ध्यानारूढ़ हो गए। एक वर्ष तक प्रस्तर प्रतिमा बने खड़े रहे। देह में पक्षियों ने घोंसले बना लिए। पर मन में सूक्ष्म अहं की मेख गड़ी थी। जहां अहं हो, वहां कैवल्य कैसे सधे? सो उन्हें केवलज्ञान नहीं हुआ। भगवान ऋषभ बाहुबली के भावों को देख-जान रहे थे। उन्होंने ब्राह्मी और सुंदरी, दो साध्वियों को बाहुबली को प्रतिबोध देने भेजा। साध्वियां बाहुबली के पास पहुंची और उन्हें प्रतिबोध देते हुए बोलीं—भाई! हाथी से नीचे उतरो। हाथी पर चढ़े-चढ़े केवलज्ञान नहीं होगा।

बाहुबली ने सुना। चिन्तन चला। बोध जागा—कि मैं अहं के हाथी पर सवार हूं। सब छोड़कर भी मैं अहं को न छोड़ सका। मैं इसी क्षण जाकर पूर्वदीक्षित अनुजों को वन्दन करूंगा। अहं गलते ही कैवल्य प्रकट हो गया। बाहुबली ने निर्वाण पद प्राप्त किया। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

बाहुस्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

तृतीय विहरमान तीर्थंकर, जो वर्तमान में जम्बूद्वीप की पूर्व महाविदेह के वच्छ विजय में विराजमान हैं। सुसीमापुरी नगरी के महाराज सुग्रीव और उनकी रानी विजया उनके जनक और जननी हैं। तिरासी लाख पूर्व की आयु तक प्रभु गृहवास में रहे। विवाह किया और राज्य भी किया। जब उनका आयुष्य एक लाख पूर्व का शेष रहा तो प्रभु ने दीक्षा ग्रहण की और शीघ्र ही केवलज्ञान प्राप्त किया। तीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर हुए। वर्तमान में भव्य जीवों को धर्म का स्वरूप प्रदान करते हुए आप वच्छ विजय में विहरणशील हैं।

बिंदुसार (राजा)

चंद्रगुप्त मौर्य का उसकी पटरानी नन्दसुता सुप्रभा से उत्पन्न पुत्र। बिंदुसार अपने समय का एक प्रभावशाली

सम्राट् हुआ। महाराज चंद्रगुप्त द्वारा प्रव्रज्या धारण कर लेने पर उसने ई.पू. 298 में शासन सूत्र संभाला। उसने पिता द्वारा अर्जित राज्य का और भी विस्तार किया। यूनान और मिस्र आदि देशों के शासकों के साथ भी उसके मैत्री सम्बन्ध थे। उसकी कई रानियों में हेलेन यूनान नरेश सेल्युकस की पुत्री थी।

बिंदुसार अपने पिता की ही तरह जैन धर्म के प्रति आस्थावान थे। अपने गुरु भद्रबाहु और पिता चंद्रगुप्त के साधना-स्थल श्रवणबेलगोल की उसने यात्रा की और वहां कई जिनालयों की भी उसने स्थापना कराई। ई.पू. 273 में बिंदुसार का निधन हुआ।

बुधजन (कवि)

उन्नीसवीं सदी के एक जैन कवि। उनका जन्मना नाम वृद्धिनंद था, पर साहित्य में वे 'बुधजन' उपनाम से ही विश्रुत हैं। आप द्वारा रचित छह ग्रन्थ उपलब्ध हैं, जिनकी नामावलि निम्नोक्त है–

1. तत्त्वार्थ बोध, 2. योगसार भाषा, 3. पञ्चास्तिकाय, 4. बुधजन सतसई, 5. बुधजन विलास, 6. पदसंग्रह।

काव्य तत्त्वों की दृष्टि से आपकी रचनाएं भले ही उच्चकोटि की न हों, पर नीति और उपदेश की दृष्टि से उच्चकोटि की हैं। सरल शब्दावलि में प्रस्तुत आपके नैतिक संदेश श्रोताओं को मार्मिक प्रेरणाएं प्रदान करते हैं। आपकी रचनाओं पर राजस्थानी का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।

–तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (चतुर्थ भाग)

बृहस्पतिदत्त

अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व कौशाम्बी का रहने वाला एक मित्रद्रोही और दुराचारी ब्राह्मण, जो पूर्वजन्मों के कुसंस्कारों को निधि रूप में अपने साथ लेकर पैदा हुआ था। अपने पूर्वजन्म में वह सर्वभद्र नगर के राजा जितशत्रु का राजपुरोहित था। उसका नाम महेश्वरदत्त था। वह शास्त्रों और पुराणों का विद्वान तो था पर उसकी वृत्ति घोर हिंसामय थी। उसने पशु-बलि और मानव-बलि को शास्त्रसम्मत सिद्ध कर राजा से मनचाही बलि देने का अधिकार पा लिया था। वह प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–चारों वर्णों के दो-दो बच्चों की आहुति यज्ञ वेदी पर देता था। चौथे महीने सोलह बालकों की, छठे महीने बत्तीस बालकों की तथा वर्षान्त में चौंसठ बालकों की बलि देता था। राज्य की वृद्धि अथवा शत्रु आदि से राज्य-रक्षण का बहाना बनाकर वह कभी-कभी एक साथ चार सौ बत्तीस बालकों को यज्ञ-वेदिका पर होम देता था। बहुत वर्षों तक क्लिष्ट कर्मों का उपार्जन करने के पश्चात् महेश्वरदत्त मरकर पांचवीं नरक में गया। वहां का दुखमय आयुष्य भोगकर वह कौशाम्बी नगरी निवासी सोमदत्त पुरोहित की पत्नी वसुदत्ता के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ, जहां उसका नाम बृहस्पतिदत्त रखा गया।

बृहस्पतिदत्त युवा हुआ तो राजकुमार उदायन के साथ उसकी मित्रता हो गई। महाराज शतानीक की मृत्यु के पश्चात् उदायन कौशाम्बी का राजा बना। उसने बृहस्पतिदत्त को अपना राजपुरोहित बना लिया। राजा उसका मित्र तो था ही, सो उसका आवागमन अन्तःपुर तक होता था। वह स्वभावतः दुराचारी तो था ही, सो उसने मित्र का विश्वासघात कर उसकी रानी पद्मावती से अनुचित सम्बन्ध कायम कर लिए। पर पाप कब तक अप्रकट रहता! राजा ने एक दिन उसे आपत्तिजनक स्थिति में देख लिया। उसके क्रोध का पार न रहा। उसने उसे बन्दी बनवाकर विभिन्न यातनाएं दिलाईं और शूली पर चढ़वा दिया। वह मरकर नरक में गया। लम्बे समय तक वह अनन्त संसार में भ्रमण करके सिद्ध होगा। –विपाक सूत्र 5

ब्रह्म गुलाल

चन्द्रवाड़ के निकटस्थ ग्राम टापू (टप्पल) का निवासी एक जैन श्रावक। ब्रह्मगुलाल चन्द्रवाड़ नगर के चौहान राजा कीर्ति सिंह का दरबारी था। नरेश भी जैन धर्म का अनुरागी था। ब्रह्मगुलाल पर भी नरेश का विशेष प्रेमभाव था। ब्रह्मगुलाल नरेश का दरबारी था और अभिनय कला में प्रवीण होने के कारण नरेश को खुश रखता था। एक बार नेरश ने ब्रह्मगुलाल से कहा कि वह जैन मुनि का अभिनय करके दिखाए। नरेश की आज्ञा पर ब्रह्मगुलाल ने घर-बार त्याग कर श्रामणी वेशविन्यास धारण कर लिया। उसने कहा, महाराज! जैन श्रमण का अभिनय नहीं किया जा सकता, जैन श्रमण तो हुआ जाता है और उसके लिए पंचमहाव्रतात्मक प्रव्रज्या ली जाती है। कहते हैं कि ब्रह्मगुलाल फिर संसार में नहीं लौटे।

उन्होंने आजीवन मुनि-धर्म का पालन कर आदर्श स्थापित किया। ब्रह्मगुलाल 17वीं ई. के पूर्वार्द्ध के महामना मुनिवर थे।

ब्रह्मदत्त (चक्रवर्ती)

अवसर्पिणीकालीन बारह चक्रवर्तियों में अन्तिम चक्रवर्ती। उत्तराध्ययन सूत्र और त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित्र में ब्रह्मदत्त के जीवन का उसके पूर्वभवों सहित विवरण प्राप्त होता है, जो रोचक होने के साथ-साथ जैन दर्शन के कर्म और निदान आदि सिद्धान्तों से भरा है। परिचय इस प्रकार है–

चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार के समय वाराणसी नगरी के बाह्य भाग में भूतदत्त नामक चाण्डाल रहता था। उसके दो पुत्र थे–चित्त और संभूति। एक बार वाराणसी नरेश शंख ने अपने प्रधान नमुचि को अपनी पटरानी के साथ अनुचित अवस्था में पाया तो उसने कुपित होकर नमुचि को मृत्युदण्ड दे दिया। नमुचि के वध का दायित्व भूतदत्त को सौंपा गया। नमुचि ने भूतदत्त से अपने प्राणों की भीख मांगी। भूतदत्त ने इस शर्त पर उसे जीवित छोड़ दिया कि वह उसके घर के तलघर में रहकर उसके पुत्रों को सुशिक्षित करेगा। नमुचि भूतदत्त के तलघर में रहकर उसके पुत्रों को संगीत आदि कलाएं सिखाने लगा। वहां भी नमुचि अपनी दुष्टता से बाज नहीं आया और उसने भूतदत्त की पत्नी से अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लिए। भूतदत्त को इस रहस्य का भेद ज्ञात हुआ तो वह नमुचि को मारने को तत्पर हो गया। चित्त और संभूति ने नमुचि को अपना शिक्षागुरु मान लिया था, अतः उन्होंने नमुचि को सुरक्षित भाग जाने का संकेत दे दिया। वहां से भागकर नमुचि हस्तिनापुर पहुंचा और चक्रवर्ती सनत्कुमार के पास अपनी कुशलता से उनका प्रियमित्र बन गया तथा मंत्रीपद पा गया।

एक बार किसी उत्सव के दिन चित्त और संभूति ने राजा और प्रजा के समक्ष अपनी संगीत कला का प्रदर्शन किया। राजा-प्रजा उनकी संगीत कला पर झूम उठे। पर जैसे ही लोगों को यह ज्ञात हुआ कि वे दोनों भाई चाण्डाल पुत्र हैं तो उन्हे अपमानित और तिरस्कृत कर भगा दिया गया। दोनों भाई विक्षुब्ध बन गए और आत्महत्या के विचार से एक पर्वत पर चढ़ गए। वहां एक मुनि ने उन्हें आत्महत्या के दुष्परिणाम को समझाया और मुनि बनने के लिए प्रेरित किया। दोनों भाई मुनि बनकर उत्कट तप करने लगे, जिसके फलस्वरूप उन्हें अनेक दिव्य ऋद्धियां और सिद्धियां प्राप्त हो गईं।

एक बार विचरण करते हुए दोनों मुनि हस्तिनापुर आए। वहां नमुचि ने उनको पहचान लिया। इस विचार से कि ये मुनि उसका अतीत न उघाड़ दें, उसने उनको मारना शुरू कर दिया। नमुचि की इस मार को चित्त मुनि ने तो मुनि-जीवन के एक अंग के रूप में स्वीकार कर लिया पर संभूति मुनि इस अकारण मार को

सह न सके। उन्होंने तेजोलेश्या प्रगट करते हुए पूरे नगर को धुएं से भर दिया। चक्रवर्ती सनत्कुमार समझ गए कि यह अकारण सताए गए किसी मुनि के कोप का परिणाम है। वे अपनी रानी के साथ मुनि की सेवा में पहुंचे और नगर-रक्षा की प्रार्थना करने लगे। चित्त मुनि ने भी अनुज मुनि को समझाया, जिससे संभूति मुनि ने तेजोलेश्या का संहरण कर लिया। चक्रवर्ती के साथ ही उनकी रानी सुनन्दा ने संभूति मुनि के चरणों में प्रणाम किया। वैसा करते हुए रानी के कुंतल-केशों का मुनि के पैर से स्पर्श हो गया। उस कोमल स्पर्श से मुनि का चित्त चंचल बन गया। उसने रानी के रूप और चक्रवर्ती के वैभव को देखकर निदान कर लिया कि उसके तप के बदले में उसे वैसी ही स्त्री और वैभव प्राप्त हो।

आयुष्य पूर्ण कर चित्तमुनि और संभूति मुनि प्रथम देवलोक में उत्पन्न हुए। वहां से च्यव कर चित्त मुनि का जीव पुरिमताल नगर के एक धनी श्रेष्ठी के पुत्र के रूप में जन्मा तथा संभूति मुनि का जीव कंपिलपुर के राजा ब्रह्मभूति की रानी चूलनी के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। वहां राजकुमार को ब्रह्मदत्त नाम दिया गया। ब्रह्मदत्त जब अल्पायु ही था तो राजा ब्रह्मभूति बीमार हो गया। रोग को असाध्य जानकर राजा ने अपने मित्र कौशल-नरेश दीर्घ को अपने पुत्र के लालन-पालन और राज्य के संरक्षण का दायित्व दे दिया। कुछ समय बाद ब्रह्मभूति का निधन हो गया। दीर्घराजा कंपिलपुर का राज्य संचालन करने लगा। वहां रहते हुए उसने रानी चूलनी के साथ प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर लिए। ब्रह्मदत्त को इस रहस्य का पता चला तो उसने अपनी माता चूलनी और दीर्घराजा को सांकेतिक भाषा में दण्ड देने का अपना संकल्प जता दिया। इससे सावधान होकर चूलनी और दीर्घ ने ब्रह्मदत्त की हत्या का षड्यन्त्र रचा। पर मन्त्री की कुशलता से ब्रह्मदत्त अपने प्राण बचाकर गुप्त मार्ग से निकल गया।

कालान्तर में अपने बाहुबल से ब्रह्मदत्त ने अनेक राजाओं को जीतकर अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया। अन्त में उसने दीर्घ को भी परास्त कर अपना पैतृक राज्य प्राप्त किया। षड्खण्ड पर विजय पताका फहराकर वह चक्रवर्ती सम्राट बन गया। किसी समय नाटक देखते हुए ब्रह्मदत्त को जातिस्मरण ज्ञान हो गया और उसने उस ज्ञान के द्वारा अपने अतीत के कई भव देखे। उसे चित्त की स्मृति हो आई, जिसके साथ उसने पिछले छह भव सहोदर के रूप में जीए थे। चित्त को खोज निकालने के लिए उसने एक उपक्रम किया। उसने एक श्लोकार्ध[1] की रचना कर उसे प्रचारित करवा दिया और घोषणा करवा दी कि जो कोई इस श्लोक को पूर्ण करेगा, उसे वह अपना आधा राज्य देगा। श्लोकार्ध में चित्त और संभूति के पूर्व के छह भवों का सांकेतिक अर्थ निहित था।

जन-जन के मुख पर श्लोकार्ध था। उधर चित्त का जीव पुरिमताल नगर में श्रेष्ठीपुत्र के रूप में युवा हुआ तो उसने मुनिदीक्षा अंगीकार कर ली। एक बार वे मुनि विहार करते हुए कंपिलपुर के एक उद्यान में आए। वहां एक ग्वाला उक्त श्लोकार्ध को दोहरा रहा था। उस श्लोकार्ध को सुनकर मुनि ने उसे पूरा कर दिया।[2] श्लोकपूर्ति से ग्वाला गद्गद हो गया और चक्रवर्ती के आधे राज्य को पाने के प्रलोभन में दौड़कर राजा के पास पहुंचा। उसने ब्रह्मदत्त को पूरा श्लोक सुनाया, जिसे सुनकर ब्रह्मदत्त मोहाभिभूत बनकर अचेत हो गया। चक्रवर्ती की अचेतावस्था के लिए सैनिकों ने ग्वाले को उत्तरदायी मानकर उसे बन्दी बना लिया। ग्वाले ने भय से कांपते हुए सच उगल दिया कि श्लोक की पूर्ति उसने नहीं, बल्कि एक मुनि ने की है।

ब्रह्मदत्त स्वस्थ हुए और शीघ्र ही मुनि के पास पहुंचे। दोनों भाई परस्पर मिले। ब्रह्मदत्त ने मुनि को

---

1. आस्व दासौ मृगौ हंसौ, मातंगा वामरौ तथा।
2. एषा नौ षष्ठिका जातिः अन्योन्याभयां नियुक्तयोः।

आधा राज्य लेने का आग्रह किया। परन्तु मुनि ने उसे अस्वीकार कर दिया। मुनि ने ब्रह्मदत्त को धर्मोपदेश दिया और संयम अपनाने की प्रेरणा दी। पर ब्रह्मदत्त ने अपनी असमर्थता प्रकट की।

ब्रह्मदत्त ने सात सौ वर्ष की आयु तक राज्य किया। जब उसकी आयु अठारह वर्ष शेष थी तब एक ब्राह्मण ने छिपकर गुलेल के वार से उसकी दोनों आंखें फोड़ दीं। इससे ब्रह्मदत्त ब्राह्मण वर्ग का शत्रु बन गया। उसने आदेश दिया कि पृथ्वी के समस्त ब्राह्मणों की आंखें निकालकर उसके समक्ष रखी जाएं। मंत्री धर्मात्मा और चतुर था। उसने मनुष्य की आंख के आकार के श्लेष्मांतक फलों का थाल राजा के समक्ष रख दिया। उन फलों को ब्राह्मणों की आंख मानकर ब्रह्मदत्त उन पर हाथ फिराने लगा और प्रसन्न बनने लगा। ऐसे अठारह वर्षों तक महारौद्र ध्यान को जीते हुए मरने पर ब्रह्मदत्त सातवें नरक में गया।

चित्त मुनि ने निरतिचार विशुद्ध संयम की परिपालना कर मोक्ष पद पाया।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 9

ब्रह्मदीपक सिंह (आचार्य)

नन्दी सूत्र स्थविरावली में वाचनाचार्य ब्रह्मदीपक सिंह का स्थान आर्य नागहस्ती और आर्य रेवती नक्षत्र के पश्चात् है। आर्य रेवती नक्षत्र के बाद आर्य ब्रह्मदीपक सिंह वाचनाचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। वाचनाचार्यों के क्रम में उनका बीसवां स्थान सिद्ध होता है।

नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य ब्रह्मदीपक सिंह के गुणों का कथन इस रूप में हुआ है—आर्य ब्रह्मदीपक सिंह कालिक श्रुत के ज्ञाता, अनुयोग कुशल, धीर, गंभीर आदि उत्तमोत्तम गुणों से सुशोभित आचार्य थे। अचलपुर नगर में उन्होंने दीक्षा धारण की थी। वी.नि. की आठवीं शताब्दी में उनका कार्यकाल अनुमानित है।

—नन्दी सूत्र स्थविरावली

ब्रह्म राजा

काम्पिल्य नगर का सम्राट् और बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का जनक। चार अन्य राजाओं से महाराज ब्रह्म के प्रगाढ़ मैत्री सम्बन्ध थे। वे चार राजा थे—काशीनरेश कटक, हस्तिनापुर नरेश करेणुदत्त, कौशलनरेश दीर्घ और चम्पानरेश पुष्पचूल। इन पांचों राजाओं की मैत्री बढ़ते-बढ़ते इतनी घनिष्ठ हो गई कि पांचों ने यह निर्णय कर लिया कि वे अपने-अपने अंतःपुर सहित क्रमशः एक-एक वर्ष एक-एक राजा की राजधानी में साथ-साथ रहेंगे।

किसी समय जब सभी मित्र राजा महाराज ब्रह्म की राजधानी काम्पिल्य नगर में एक साथ रह रहे थे तो महाराज ब्रह्म अस्वस्थ हो गए और उसी अवधि मे उनका निधन हो गया। शेष चारों मित्र राजाओं ने मिलकर महाराज ब्रह्म के अल्पायु पुत्र ब्रह्मदत्त का राज्याभिषेक किया और यह सुनिश्चित किया कि जब तक ब्रह्मदत्त राज्य संचालन में समर्थ नहीं हो जाता, तब तक वे चारों एक-एक वर्ष के लिए ब्रह्मदत्त के सहायक के रूप में काम्पिल्य नगर का शासन सूत्र संभालेंगे। इसके लिए प्रथम वर्ष का दायित्व कौशल नरेश दीर्घ को सौंपा गया।

दीर्घ काम्पिल्य नगर का शासनसूत्र पाकर मैत्री के पवित्र अर्थों को विस्मृत कर बैठा और राज्य हड़पने को उतावला हो गया। उसने महाराज ब्रह्म की रानी चूलनी से अवैध सम्बन्ध स्थापित कर लिए। इतना ही नहीं, वह ब्रह्मदत्त का भी जानी दुश्मन बन गया। परन्तु काम्पिल्य नगर के राजभक्त मंत्री धनदत्त की सूझ-बूझ से ब्रह्मदत्त के प्राणों की रक्षा हो गई। ब्रह्मदत्त को वर्षों तक दूर देशों में दीर्घ से छिपकर रहना पड़ा। इस

अवधि में उसने अपनी शक्ति बढ़ाई और उचित समय पर दीर्घ पर आक्रमण कर उसे मार डाला और अपना राज्य प्राप्त किया। आगे चलकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती बना।

दीर्घ से प्राण रक्षा हेतु देश-देशान्तरों में भटकते हुए ब्रह्मदत्त ने नौ कुमारियों से विवाह किए। उन कुमारियों-राजकुमारियों के नाम थे—बंधुमती, पुष्पवती, श्रीकान्ता, खण्डा, विशाखा, रत्नावती, पुण्यमानी, श्रीमती एवं कटकवती। (देखिए-ब्रह्मदत्त)

ब्राह्मी

भगवान ऋषभदेव तथा उनकी रानी सुमंगला से उत्पन्न पुत्री। प्रथम चक्रवर्ती भरत की सहोदर। ब्राह्मी अपने पिता भगवान ऋषभदेव से अठारह लिपियां सीखकर उनका प्रचार और प्रसार जगत में किया। आज भी हमारी लिपि ब्राह्मी लिपि कहलाती है। (शेष वृत्त-सुंदरीवत्)

●●●

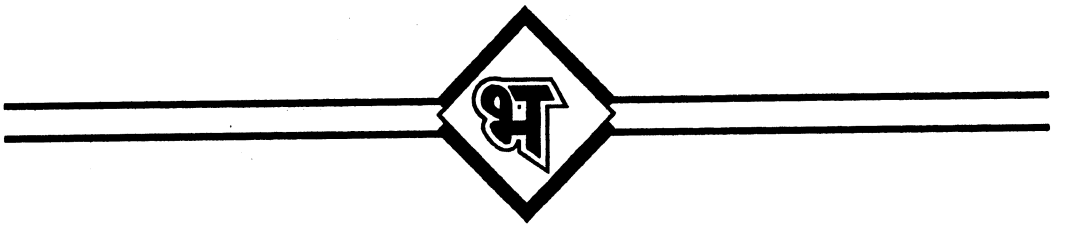

भद्दिला

(देखिए-सुधर्मा स्वामी)

भद्र (बलदेव)

प्रवहमान अवसर्पिणी के तृतीय बलदेव। (देखिए-स्वयंभू वासुदेव)

भद्रकुमार

श्रावस्ती नगरी के राजा जितशत्रु का पुत्र। अत्यन्त सुकोमल होने से कुमार का नाम भद्रकुमार रखा गया था। यौवनावस्था में भद्रकुमार विरक्त होकर मुनि बन गया। अपनी दैहिक सुकोमलता की परीक्षा के लिए और कर्मों की विशेष निर्जरा के लिए गुर्वाज्ञा प्राप्त कर भद्रमुनि ने अनार्य देश में विचरण किया। वहां अनार्य लोगों ने मुनिवर भद्रकुमार को गुप्तचर मानकर अनेक प्रकार की शारीरिक यातनाएं दीं। मुनिवर को रस्सियों से बांधकर कंटीली घास से ढांप दिया गया। कंपायमान उपसर्गों को मुनिवर ने पूर्ण समता भाव से सहनकर कर्मों की विशेष निर्जरा की। बाद में मुनिवर को भद्र व्यक्ति जानकर अनार्य लोगों ने मुक्त कर दिया।

उत्कृष्ट समता साधना को साधकर मुनि भद्रकुमार ने आत्मकल्याण किया।

भद्रगुप्त (आचार्य)

अर्हत् परम्परा के एक प्रभावक आचार्य। वे दस पूर्वों के ज्ञाता और अपने समय के ज्योतिर्धर आचार्य थे। वे आर्यवज्र के विद्या-गुरु थे। आर्यरक्षित ने अनशन की स्थिति में उनकी विशेष उपासना की थी। आचार्य धर्म के बाद उनका आचार्य काल माना जाता है। तदनुसार वी.नि. 495 में वे आचार्य पद पर आरूढ़ हुए। वी.नि. 533 में उनका स्वर्गारोहण हुआ।

युगप्रधान पट्टावली में आचार्य भद्रगुप्त का आचार्य काल 41 वर्ष का माना गया है।

—नन्दी सूत्र स्थविरावली

भद्र चष्टन

शक संवत् का अधिष्ठाता एक शक वंशज नृप। लम्बे समय तक भारत में रहने के कारण शकों का भारतीयकरण हो गया था। उन्होंने भारत की भाषा, रीति-रिवाज और धर्म को अपना लिया था।

महाराज नहपान के दीक्षा ले लेने के पश्चात् उसके राज्य पर उसके सेनापति ने अधिकार कर लिया था। भद्रचष्टन उस सेनापति का ही पुत्र था। जैन धर्म से वह विशेष प्रभावित था। आगमोद्धारक आचार्य धरसेन के प्रति उसकी अटूट आस्था थी। आचार्य श्री के स्वर्गवास के बाद उनकी स्मृति में चष्टन ने एक शिलालेख लिखवाया था। इसी राजवंश की एक महिला ने जैन तीर्थ वैशाली की यात्रा भी की थी।

(क) भद्रनंदी कुमार

ऋषभपुर नरेश महाराज धनावह का पुत्र, एक रूप-गुण सम्पन्न और भद्र परिणामी राजकुमार। एक बार भगवान महावीर ऋषभपुर नगर के बाह्य भाग में स्थित स्तूपकरण्डक उद्यान में पधारे। भद्रनन्दीकुमार प्रभु को वन्दन करने गया। राजकुमार के रूप और वैभव को देखकर गणधर गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से प्रश्न किया कि भंते! भद्रनंदीकुमार ने ऐसे क्या पुण्य कर्म किए हैं, जिनके फलस्वरूप उसे ऐसा अनुपम रूप और वैभव प्राप्त हुआ है? भगवान महावीर ने समाधान दिया, गौतम! अपने पूर्वभव में भद्रनंदीकुमार महाविदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी में विजय नामक कुमार था। एक बार विजय ने जिननाथ युगबाहु को चढ़ते भावों से आहार-दान दिया। उसी अतिपात्र-दान के फलस्वरूप भद्रनंदीकुमार को अनुपम रूप और वैभव की प्राप्ति हुई है। गौतम स्वामी ने प्रभु से पुनर्प्रश्न किया, भगवन् ! क्या भद्रनंदीकुमार दीक्षा लेगा? भगवान ने फरमाया, हां, गौतम! भद्रनंदीकुमार प्रव्रज्या धारण करेगा।

भद्रनंदीकुमार ने कई वर्षों तक सांसारिक सुखों का स्पर्श किया। पांच सौ कन्याओं के साथ उसका विवाह हुआ था। उसके पांच सौ ही महल थे। इस पर भी भद्रनंदीकुमार भोगों में डूबकर अपने आत्मपक्ष को भूला नहीं था। उसने प्रभु से श्रावकधर्म अंगीकार किया था और उसका वह प्राणपण से पालन करता था। कालान्तर में भगवान महावीर पुनः ऋषभपुर पधारे। प्रभु का उपदेश सुनकर भद्रनंदीकुमार प्रबुद्ध बन गया। दीक्षा धारण कर वह जप-तप में संलग्न हुआ और आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में गया। चौदह भवों के पश्चात् भद्रनंदी का जीव मोक्ष प्राप्त करेगा। —धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 21

(ख) भद्रनंदी कुमार

सुघोष नामक नगर के राजा अर्जुन और रानी तत्ववती का पुत्र, एक सकल गुणनिधान युवक। उसका विवाह श्रीदेवी प्रमुख पांच सौ राजकन्याओं के साथ किया गया।

एक बार सुघोष नगर के बाह्य भाग में स्थित देवरमण उद्यान में भगवान महावीर पधारे। जनता धर्मोपदेश सुनने के लिए उद्यान में गई। युवराज भद्रनंदी भी भगवान की सेवा में उपस्थित हुआ। भगवान का धर्मोपदेश सुनकर भद्रनंदी अतीव प्रभावित हुआ। उसने भगवान से श्रावक-धर्म अंगीकार किया और अपने महल को लौट गया।

भद्रनंदी कुमार के भव्य रूप और देवतुल्य ऋद्धि को देखकर गौतम स्वामी ने भगवान से उसके पूर्वभव के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की। भगवान ने फरमाया—

महाघोष नामक नगर में धर्मघोष नाम का एक गाथापति रहता था। एक बार उसके घर धर्मसिंह नामक मासोपवासी मुनि पधारे। महामुनि को देखकर धर्मघोष अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने बड़े भक्तिभाव से मुनि को शुद्ध आहार का दान दिया। उससे उसने महान पुण्य का संचय किया। यथासमय आयुष्य पूर्ण कर धर्मघोष गाथापति यहां पर भद्रनंदी कुमार के रूप में उत्पन्न हुआ है।

गौतम स्वामी के पुनर्प्रश्न पर भगवान ने फरमाया कि भविष्य में भद्रनंदी आर्हती प्रव्रज्या अंगीकार कर इसी भव में मोक्ष में जाएगा।

कालान्तर में भगवान महावीर अन्यत्र विहार कर गए।

एक बार भद्रनंदी कुमार पौषधशाला में पौषध की आराधना कर रहा था। सहसा उसे यह विचार उत्पन्न हुआ कि वे नगर और जनपद धन्य हैं, जहां भगवान महावीर धर्मोद्योत करते हुए विचरण करते हैं।

कितना अच्छा हो कि भगवान महावीर हमारे नगर में पधारें। इस बार जब भगवान यहां पधारेंगे तो मैं उनके श्री चरणों में आर्हती प्रव्रज्या अंगीकार करूंगा।

पुण्ययोग से कुछ दिन बाद भगवान महावीर अपने शिष्य समुदाय के साथ सुघोष नगर में पधारे। अपनी भावनानुसार भद्रनंदी कुमार ने प्रभु चरणों में प्रव्रज्या धारण कर ली। विशुद्ध चारित्र का पालन कर वे उसी भव में मोक्ष के अधिकारी बने। —विपाकसूत्र, द्वि श्रु., अ. 8

भद्रबाहु (आचार्य)

भगवान महावीर की धर्म संघ-परम्परा के सातवें युग-प्रधान आचार्य। वे आचार्य यशोभद्र के शिष्य और आचार्य संभूतविजय के लघु गुरुभ्राता थे। आचार्य भद्रबाहु का जन्म वी.नि. 94 में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। भद्रबाहु सुरूप, आजानुभुज और सुदृढ़ शरीर-सम्पदा के स्वामी थे। वी.नि. 139 में 45 वर्ष की अवस्था में उन्होंने मुनि जीवन में प्रवेश किया। अपने गुरु आचार्य यशोभद्र जी से उन्होंने आगम साहित्य का पारायण किया और चतुर्दश पूर्वधर बने। आचार्य यशोभद्र ने अपने परम सुयोग्य दो शिष्यों को आचार्य पद प्रदान किया, जिनमें एक थे संभूतविजय और द्वितीय थे भद्रबाहु। आचार्य यशोभद्र के स्वर्गारोहण के पश्चात् पहले संभूतविजय जी ने आचार्य पद का दायित्व संभाला और उनके स्वर्गवास के पश्चात् वी.नि. 156 में भद्रबाहु युगप्रधान आचार्य पाट पर विराजमान हुए। उन्होंने संघीय दायित्वों का पूरी सफलता से निर्वाह किया और जिनशासन के यश की चतुर्दिक् अभिवृद्धि की।

अन्तिम अवस्था में आचार्य भद्रबाहु महाप्राण ध्यान साधना के लिए नेपाल की गिरि- कन्दराओं में चले गए। उससे पूर्व देश में बारह वर्षीय भीषण दुष्काल पड़ा था और अनेक श्रुतधर स्थविर काल-कवलित हो गए थे। आगमनिधि की सुरक्षा के लिए संघ एकत्रित हुआ। पर उस समय आचार्य भद्रबाहु के अतिरिक्त कोई भी चतुर्दश पूर्वधर मुनि जीवित नहीं था। आगमनिधि की सुरक्षा के लिए संघ ने निर्णय किया कि उसके लिए विशिष्ट मेधावी मुनि आचार्य भद्रबाहु के पास जाकर दृष्टिवाद की वाचना लें। उसके लिए श्रमण संघाटक नेपाल में आचार्य भद्रबाहु के पास पहुंचा और विनीत भाव से आचार्य श्री को संघ का निर्णय सुनाया। आचार्य भद्रबाहु ने वाचना-व्यवस्था को अपनी आत्म-साधना में विक्षेप समझते हुए अस्वीकार कर दिया। श्रमण संघाटक लौट गया। संघ को वस्तुस्थिति का पता चला। इससे संघ में क्षोभ उत्पन्न हुआ। आगम-निधि की सुरक्षा का यक्ष प्रश्न था। संघ ने विनम्रतापूर्वक कठोर प्रश्नावली के साथ श्रमण संघाटक को पुनः नेपाल में आचार्य श्री के पास भेजा। श्रमण संघाटक ने आचार्य भद्रबाहु को प्रणत होकर विनम्र शब्दों में कहा, भगवन्! संघ जानना चाहता है कि जो संघ की आज्ञा का उल्लंघन करे, उसे किस प्रायश्चित्त का विधान है?

इस संघीय प्रश्न पर आचार्य भद्रबाहु गंभीर हो गए। उन्होंने कहा, संघ की आज्ञाओं को उल्लंघन करने वाले के लिए जो प्रायश्चित्त है, वह यह है कि उसे संघ से बहिष्कृत कर दिया जाता है। इस पर श्रमण संघाटक ने विनम्रतापूर्वक निवेदन किया, भगवन्! आपने संघ की आज्ञा को अस्वीकार किया है!

महान श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ने श्रमण संघाटक के समक्ष अपनी भूल स्वीकार की और अपने पूर्वनिर्णय को बदलते हुए फरमाया—मैं अपनी साधना के साथ-साथ यथासमय वाचनाएं देने को प्रस्तुत हूँ।

आचार्य श्री की उक्त स्वीकृति से श्रमण संघाटक में उत्साह और हर्ष का संचार हो गया। श्रमण संघाटक ने लौटकर आचार्य श्री की स्वीकृति की सूचना श्रीसंघ को दी। संघ के आदेशानुसार आर्य स्थूलभद्र

के नेतृत्व में 500 मेधावी मुनि दृष्टिवाद की वाचना लेने के लिए आचार्य भद्रबाहु के चरणों में नेपाल पहुंचे। महाप्राण ध्यान साधना से अवशिष्ट समय में आचार्य श्री ने दृष्टिवाद की वाचना देनी प्रारंभ की। एक तो दृष्टिवाद का रुक्ष विषय और दूसरे वाचना क्रम में अति मन्दता से अधिकांश श्रमणों का उत्साह विलीन हो गया। 499 श्रमण अध्ययन को मध्य में ही छोड़कर लौट गए। परन्तु स्थूलभद्र का धैर्य अकंप और सुस्थिर था। आठ वर्षों के निरन्तर अध्ययन से उन्होंने आठ अंगों का अध्ययन हृदयंगम कर लिया। आठ वर्ष की इस अवधि में पठन और पाठन के अतिरिक्त आचार्य भद्रबाहु ने मुनि स्थूलभद्र से अन्य कोई वार्ता नहीं की। आठ वर्ष के पश्चात् उन्होंने स्थूलभद्र से एक दिन पूछा, मुने! आहार-व्यवहार और अध्ययन में तुम्हें कोई क्लेश तो नहीं रहा है ? स्थूलभद्र ने कहा, भगवन्! मुझे किसी प्रकार का क्लेश नहीं है। परन्तु भगवन्! मैं जानना चाहता हूँ कि इन आठ वर्षों की अवधि में मैंने कितना ज्ञान ग्रहण किया है और अभी कितना ज्ञान मुझे और ग्रहण करना है?

आचार्य भद्रबाहु ने कहा, मुनिवर! अभी तक तुमने जो सीखा है, वह सरसों के कण जितना है और जो शेष है, वह मेरु पर्वत के सदृश है।

यह सुनकर भी स्थूलभद्र का धैर्य अचल रहा। उन्होंने कहा, भगवन्! आपके उत्तर से मैं अधीर नहीं बना हूँ, पर सोचता हूँ कि आप श्री जीवन के संध्याकाल में हैं और वाचना का प्रवाह मन्दतापूर्वक चल रहा है, फिर इतनी विशाल ज्ञानराशि किस प्रकार ग्रहण की जा सकेगी?

आचार्य भद्रबाहु ने कहा, मुने ! मेरी साधना संपूर्ण प्रायः हो रही है, अब मैं अहर्निश अधिकाधिक वाचना दूंगा।

इससे स्थूलभद्र संतुष्ट हो गए और पूरे मनोयोग से दृष्टिवाद का अध्ययन-मनन करने लगे। एक बार यक्षा आदि भगिनी साध्वियों को स्थूलभद्र ने स्वयं को सिंह रूप में दिखाकर चमत्कार प्रदर्शन किया। इससे आचार्य भद्रबाहु गंभीर हो गए। उन्होंने आगे वाचना देने से इन्कार कर दिया और कहा, वत्स ! लब्धि प्रदर्शित कर ज्ञान-प्राप्ति के लिए अपनी अपात्रता तुमने प्रमाणित कर दी है। स्थूलभद्र को अपनी भूल अनुभव हुई। उन्होंने आचार्य देव से क्षमापना की, पुनः पुनः अनुताप—पश्चात्ताप किया। खिन्न स्वर में कहा, भगवन् ! यह मेरी प्रथम भूल है और यही अन्तिम भी सिद्ध होगी, श्रुत-विच्छिन्नता का कारण मैं नहीं बनना चाहता।

श्री संघ ने भी आचार्य भद्रबाहु से पुनः-पुनः प्रार्थना की कि वे स्थूलभद्र को क्षमा करे दें और वाचना का क्रम पुनः प्रारंभ कर दें।

आखिर आचार्य श्री ने कहा, स्थूलभद्र की भूल ही वाचना के स्थगन में कारण नहीं है। एक अन्य कारण भी है। सुनो ! स्थूलभद्र की निष्ठा, मेधा और पराक्रमशीलता अद्वितीय है। उसने कोशा के बाहुपाश को तोड़कर उसे श्रमणोपासिका बनाया है और अमात्य जैसे पद को ठुकरा कर श्रमणत्व अंगीकार किया है। ऐसे परम पराक्रमी और धीर पुरुष से भी भूल हुई है, फिर आने वाले समय में तो साधकों का सत्व शिथिल होता जाएगा। पात्रता के अभाव में श्रुत का दान श्रुत की आशातना है। इसी लक्ष्य को रखकर मैंने वाचना स्थगित की है।

श्री संघ मौन हो गया। परन्तु स्थूलभद्र की अतिशय प्रार्थना पर आचार्य श्री ने शेष चार अंगों की शाब्दी वाचना दी। इस प्रकार स्थूलभद्र अर्थ की दृष्टि से दशपूर्वधर और शब्द की दृष्टि से चतुर्दश पूर्वधर बने। आचार्य भद्रबाहु ने चार छेद सूत्रों की रचना की। चार छेद सूत्र हैं—1. दशाश्रुतस्कन्ध, 2. बृहत्कल्प, 3. व्यवहार, 4. निशीथ।

आचार्य भद्रबाहु अपने युग के एक महान आचार्य थे। उनके समय में द्वादश वर्षीय भीषण दुष्काल पड़ा। श्रमण संघ को इस अवधि में पर्याप्त परीषहों और उपसर्गों को झेलना पड़ा, पर आचार्य श्री ने अपनी दूरदर्शिता और कुशल नेतृत्व से संघ को पुनः समुन्नत रूप प्रदान किया। अपने उत्तराधिकारी के रूप में उन्होंने स्थूलभद्र को चुना। आचार्य भद्रबाहु के चार शिष्य हुए, जिनकी नामावली क्रमशः इस प्रकार है—(1) स्थविर गौदास, (2) स्थविर अग्निदत्त, (3) जन्नदत्त, (4) सोमदत्त।

इनके अतिरिक्त भी उनके चार शिष्य और थे, जो विशिष्ट तपस्वी और अभिग्रहधारी मुनि थे। उनकी नामावली अनुपलब्ध है।

वी.नि. 170 में श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी का स्वर्गवास हुआ। उनके साथ ही श्रुतकेवली परम्परा का व्यवच्छेद हो गया। —नंदी स्थविरावली / कल्पसूत्र स्थविरावली / परिशिष्ट पर्व-1

भद्रबाहु आचार्य के चार शिष्य

राजगृह नगरी के चार वणिकों ने आचार्य भद्रबाहु के उपदेश से प्रतिबोध पाकर श्रामणी दीक्षा धारण की। कालान्तर में विहार करते हुए वे चारों मुनि राजगृह पधारे। शीत का प्रचण्ड प्रकोप था। प्रथम मुनि को वैभारगिरि पर संध्या हो गई, अतः वह वहीं ठहर गया। दूसरे मुनि को वैभारगिरि पर्वत के नीचे, तृतीय को पथ में और चतुर्थ को राजगृह नगरी के द्वार पर पहुंचते-पहुंचते संध्या हुई। मुनि उक्त स्थानों पर ही ठहर गए और शीत की उपेक्षा करते हुए ध्यान-साधना में लीन हो गए। शीत के प्रचण्ड प्रकोप के कारण पर्वत शिखर पर ध्यानस्थ मुनि का रात्रि के प्रथम प्रहर में, पर्वत के नीचे ध्यानस्थ मुनि का रात्रि के द्वितीय प्रहर में, नगर पथ पर ध्यानस्थ मुनि का रात्रि के तृतीय प्रहर में और नगर-द्वार पर ध्यानस्थ मुनि का रात्रि के अंतिम प्रहर में स्वर्गवास हो गया। चारों मुनियों ने शीत परीषह का सामना करते हुए समभाव से प्राणोत्सर्ग तो कर दिया पर मन से भी किसी उष्ण स्थान की शरण लेने का विचार नहीं किया। —उत्त. वृत्ति.

भद्रबाहु द्वितीय (आचार्य)

जैन परम्परा के एक विद्वान आचार्य। ये श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न हैं और इनका समय वी.नि. की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी है। निर्युक्तिकार के रूप में आचार्य भद्रबाहु की ख्याति है। आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग आदि कई आगमों पर उन्होंने निर्युक्तियां लिखीं, जो उनकी आगम निष्ठा और ज्ञान गाम्भीर्य का प्रमाण है। साथ ही इस रूप में जैन समाज पर और विशेष रूप से अध्येता वर्ग पर उनका महान उपकार है।

आचार्य भद्रबाहु का जन्म महाराष्ट्र प्रान्त के प्रतिष्ठानपुर नगर में हुआ था। जन्मना वे ब्राह्मण थे। उनके लघु सहोदर का नाम वराहमिहिर था। दोनों भाइयों ने श्रामणी दीक्षा अंगीकार की। भद्रबाहु विचक्षण और विनीत थे। अपनी सूक्ष्मग्राही बुद्धि के बल पर आगम वाङ्मय को उन्होंने हृदयस्थ कर लिया। वराहमिहिर का स्वभाव भिन्न था। उसमें अध्ययन रुचि न्यून और यशःकामना की प्रधानता थी। आचार्य श्री ने भद्रबाहु को आचार्य पद प्रदान किया। इससे वराहमिहिर ईर्ष्याग्रस्त हो गया। साधु वेश का त्याग कर वह प्रतिष्ठानपुर चला गया और वहां के राजा जितशत्रु का प्रियपात्र बन गया। उसे राजसम्मान की प्राप्ति हुई और वह राज्य का बड़ा ज्योतिर्विद् माना जाने लगा। अग्रज भद्रबाहु के प्रति उसके मन में द्वेष था। उसने प्रच्छन्न रूप से भाई की सुख्याति को नष्ट करने के भरसक यत्न किए पर असफल रहा।

एक बार राजा को पुत्र प्राप्ति हुई। उसके दरबार में सभी धर्मों के आचार्य उपस्थित हुए और पुत्ररत्न

की बधाइयां देकर तथा पारितोषिक पाकर विदा हुए। संयोग से उस अवधि में आचार्य भद्रबाहु भी नगर में पधारे हुए थे। राजा के कान जिनधर्म-द्वेषियों द्वारा भरे गए कि—जैन आचार्य भद्रबाहु बधाई देने नहीं आए हैं। राजा बुद्धिमान और दूरदर्शी था। वह स्वयं आचार्य भद्रबाहु के पास पहुंचा और वन्दन कर बोला, भगवन् ! मुझे पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है। सभी धर्मों के आचार्य मेरे दरबार में पधारे और राजकुमार को आशीर्वाद देकर गए। परन्तु आप नहीं पधारे। क्या आपको राजकुमार के जन्म से प्रसन्नता नहीं हुई?

आचार्य श्री ने गंभीर स्वर में कहा, राजन्! व्यर्थ आशीर्वाद मैं कैसे दूं, यही सोचकर नहीं आया। राजा आचार्य श्री की बात समझ न सका। उत्सुकतापूर्वक उसने प्रार्थना की, भगवन् ! स्पष्ट फरमाइए, आपका इंगितार्थ मैं समझ नहीं पाया!

आचार्य श्री ने स्पष्ट कर दिया कि अल्पायुष्क राजकुमार को आशीर्वाद देने का अर्थ ही कितना है। राजा ने आचार्य श्री के वक्तव्य को गंभीरता से लिया और पूछा, भगवन्! आप इतना जानते हैं तो यह भी अवश्य बताइए कि राजकुमार का निधन कब और कैसे होगा? आचार्य श्री ने कहा, सातवें दिन मार्जार के निमित्त से राजकुमार का निधन होगा।

राजा अपने महल में लौट आया। उसने महल पर सख्त पहरे लगा दिए। कहते हैं कि राजाज्ञा से राज्य की समस्त बिल्लियों को पकड़कर बन्द कर दिया गया। राजा स्वयं तलवार लेकर द्वार पर पहरा देने लगा। सातवें दिन अचानक द्वार की अर्गला टूटकर शिशु राजकुमार पर आ गिरी, जिससे उसका निधन हो गया।

वज्राहत राजा ने पुत्र का अंतिम संस्कार किया। बाद में वह आचार्य भद्रबाहु के पास पहुंचा। उसने वन्दन कर आचार्य श्री से कहा, भगवन् ! मेरे पुत्र का निधन हो गया है। परन्तु आप द्वारा बताया गया निमित्त असत्य सिद्ध हुआ है। राजकुमार की मृत्यु मार्जार के निमित्त से नहीं, बल्कि अर्गला के टूटने से हुई है। आचार्य श्री ने अर्गला मंगवाई और उसका निरीक्षण किया। अर्गला पर मार्जार का चित्र अंकित था। उसे देखकर राजा आचार्य श्री के सूक्ष्म ज्योतिष ज्ञान से बहुत प्रभावित हुआ और उनका भक्त बन गया।

आचार्य भद्रबाहु का विमल सुयश राज्य में सर्वत्र फैल गया। उससे वराहमिहिर की खिन्नता बढ़ गई। अकाल ही काल करके वह व्यंतर जाति का देव बना। तब भी आचार्य श्री से उसका ईर्ष्याभाव न्यून नहीं हुआ। पर तेजस्वी आचार्य का अहित करने में वह असमर्थ था। उसने आचार्य श्री के प्रभाव को क्षीण करने के लिए जैन समाज में रोग फैला दिए। उपचारादि प्रयोगों से भी श्रावक-श्राविकाओं के रोग ठीक नहीं हुए। जैन समाज ने इसे दैवी प्रकोप माना। अग्रगण्य श्रावक आचार्य भद्रबाहु के चरणों में पहुंचे और व्यंतर बाधा की बात से उन्हें अवगत कराया। तब आचार्य श्री ने 'उवसग्गहर' स्तोत्र की रचना की। वह स्तोत्र जैन समाज को आचार्य श्री ने प्रदान किया और कहा, इस स्तोत्र के जाप से समस्त व्यंतर बाधाएं दूर हो जाएंगी। घर-घर में स्तोत्र का जाप होने लगा। स्तोत्र के प्रभाव के समक्ष व्यंतर की शक्ति पराभूत बन गई। आचार्य श्री का यश पूर्वापेक्षया और अधिक बढ़ गया।

आचार्य भद्रबाहु कृत 'उवसग्गहर स्तोत्र' वर्तमान में भी विघ्न-विनाशक स्तोत्र के रूप में जैन जगत में पढ़ा जाता है। महान ज्योतिर्विद् तथा निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु का समय वी.नि. की दसवीं-ग्यारहवीं शती माना जाता है। —प्रबन्ध कोश

(क) भद्रा

एक राजकुमारी। (देखिए-हरिकेशी मुनि)

(ख) भद्रा

दशम् विहरमान तीर्थंकर श्री विशालधर स्वामी की जननी। (देखिए-विशालधर स्वामी)

(ग) भद्रा

मघवा चक्रवर्ती की जननी। —(त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र, पर्व 4, सर्ग 6)

(घ) भद्रा

धन्य अथवा धन्ना अणगार की माता। वह काकंदी नगरी की रहने वाली एक सुसमृद्ध सार्थवाही थी। उसके पास अब्जों की संपत्ति थी। —अनुत्तरौपपातिक सूत्र

(ङ) भद्रा

राजगृह निवासी गोभद्र सेठ की अर्द्धांगिनी और शालिभद्र की माता। वह एक कुशल गृह संचालिका थी। (देखिए-शालिभद्र)

(च) भद्रा

महाराज श्रेणिक की रानी। शेष परिचय नन्दावत्। (देखिए-नन्दा) —अन्तकृद्दशांगसूत्र वर्ग 7, अध्ययन 9

(छ) भद्रा

अचल बलदेव की जननी। (देखिए-अचल बलदेव)

(ज) भद्रा

चम्पानगरी के धनाढ्य गाथापति मंकाई की धर्मपत्नी। (देखिए-जिनपाल)

(झ) भद्रा

अरणिक मुनि की माता। पुत्र मुनि को पुनः संयमारूढ़ करने वाली एक महासाध्वी। (देखिए-अरणिक)

(ञ) भद्रा

भगवान महावीर के अनन्य उपासक कामदेव की पत्नी और एक बारहव्रती श्राविका।

(ट) भद्रा

चुलनीपिता श्रमणोपासक की माता। (देखिए-चुलनीपिता)

(ठ) भद्रा

अयवंती सुकुमाल की जननी और धन सेठ की अर्द्धांगिनी। (देखिए-अयवंती सुकुमाल)

(क) भरत

अयोध्यापति महाराज दशरथ के पुत्र और कैकेयी के अंगजात। वे आदर्श पुत्र, आदर्श भाई, आदर्श राजा के साथ-साथ आदर्श पुरुष भी थे। इच्छा न होते हुए भी भाई और पिता के आदेश पर उन्होंने राजपद संभाला। राजा बनकर भी भरत ने एक संन्यासी का कठोर जीवन जीया। राम के प्रति उनके मन में अनन्य अनुराग और भक्तिभाव था। स्वभावतः भरत अन्तर्मुखी थे और उन्होंने पिता के साथ ही प्रव्रज्या लेनी चाही थी, पर विधि को यह स्वीकृत नहीं था और संयम के बदले उन्हें शासन-सूत्र संभालने पड़े।

भारतीय संस्कृति में श्रीराम के समान ही भरत की भी बड़ी महिमा है। उन्हें एक आदर्श पुत्र और निस्पृह पुरुष के रूप में श्रद्धा दी जाती है।

(ख) भरत

राष्ट्रकूट नरेश कृष्ण तृतीय के मंत्री और परम जिनभक्त जैन श्रावक। भरत की प्रशस्ति में तत्कालीन कविवर्य पुष्पदन्त ने उनके अनेक दिव्य गुणों की चर्चा करते हुए लिखा था—महामात्य भरत अनवरत-रचित जिननाथ-भक्ति और जिनवर समय-प्रासाद-स्तंभ थे। समस्त कलाओं और विद्याओं में कुशल थे, सत्यप्रतिज्ञ और निर्मत्सर थे। उनके अनेक गुणों का मुक्त हृदय से गुणगान करते हुए कवि ने कहा, बलि, जीमूतवाहन, दधीचि आदि परम गुणवान पुरुषों के स्वर्गवासी हो जाने के कारण उनके समस्त गुण भरत में आकर आश्रयीभूत बन गए थे।

नन्न भरत का पुत्र था। वह राष्ट्रकूट राज्य का गृहमंत्री था। पिता-पुत्र दोनों ही जिनभक्त थे। उन्होंने कई जिनालयों का निर्माण कराया था।

महामात्य भरत ने कवि पुष्पदन्त से महापुराण नामक ग्रन्थ की रचना भी कराई थी।

(ग) भरत (चक्रवर्ती)

अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती। भगवान ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र। कहते हैं इन्हीं भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत प्रचलित हुआ। षट्खण्ड को साधकर भरत ने चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। उन्होंने लाखों पूर्वों तक न्याय और नीतिपूर्वक राज्य किया। राजपद पर रहते हुए भी उनका जीवन योगियों का सा जीवन था। एक समय शीशमहल में खड़े भरत जी शृंगार कर रहे थे। दर्पण में अपने सुन्दर रूप को देखकर मन ही मन प्रसन्न बन रहे थे। सहसा उनकी अंगुली से मुद्रिका निकलकर गिर गई। मुद्रिकारहित अंगुली कान्तिहीन प्रतीत होने लगी। भरत जी के मन में चिन्तन चला—दिखाई देने वाली शोभा उनकी अपनी नहीं है। उन्होंने एक-एक कर वस्त्र और आभूषण देह से अलग कर दिए। देह कान्तिहीन बन गई। नश्वरता का दर्शन गहरा होता गया। विचार शुक्ल से शुक्लतर बनते चले गए। शीशमहल में खड़े-खड़े ही उन्हें केवलज्ञान हो गया। अनुक्रम से उन्होंने सिद्धत्व प्राप्त किया।

भवदेव

प्राचीनकालीन एक श्रमण। उसने सुदीर्घ काल तक श्रमण-पर्याय का पालन किया पर उसका सम्यक्त्व परिपक्व नहीं था। सम्यक्त्व से पतित होकर उसका मरण हुआ। चारित्र की आराधना के कारण वह देव बना। देवलोक से च्यव कर मनुष्य बना और मनुष्य भव के बाद भवाटवी में खो गया।

—कथारत्न कोष-भाग-1

भवानी

लक्ष्मीपुर नगर के सेठ लक्ष्मीधर की पुत्री। अपने पूर्वजन्म में वह भद्रनगर के भद्र नामक व्यापारी की पुत्री थी। उस जन्म में उसका नाम सुभद्रा था। सुभद्रा रसना इन्द्रिय के अधीन थी। भक्ष्याभक्ष्य का उसे विवेक नहीं था। अभक्ष्य-भक्षण में उसे आनन्द आता था। परिवार और परिजनों द्वारा पुनः-पुनः समझाए और चेताए जाने पर भी वह अभक्ष्य-भक्षण करती रही। उससे उसने महा-असातावेदनीय कर्मों का बन्ध किया। मरकर वह नरक में गई। नरक से निकलकर उसने कई भव तिर्यंच के किए। अपुण्य कुछ शांत हुए तो वह भवानी के रूप में जन्मी। भवानी जन्म से ही रोगिणी थी। अनेक रोगों से उसका शरीर ग्रस्त था। सेठ

लक्ष्मीधर ने अनेक वैद्यों से अपनी पुत्री की चिकित्सा कराई, पर पानी की तरह धन बहाकर भी वह अपनी पुत्री को व्याधि-मुक्त नहीं बना सका।

भवानी के घर के निकट ही उपाश्रय था। एक बार वहां कुछ आर्यिकाएं पधारीं। पुण्योदय से भवानी भी आर्यिकाओं के संपर्क में आई। निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनकर भवानी को सम्यक्त्व-रत्न की प्राप्ति हुई। उसके हृदय में तत्वरुचि निरन्तर वर्धमान होती गई। उसने उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत अंगीकार किया और बहुत थोड़ी-सी वस्तुओं का आगार रखकर समस्त वस्तुओं का परित्याग कर दिया। उसने केवल त्याग ही नहीं किया, सुदृढ़-चित्त से उसका पालन भी किया। व्रत-निष्ठा से उसने अशुभ कर्मों को जला दिया। उसकी ख्याति दिग्दिगन्तों में परिव्याप्त हो गई। देवराज इन्द्र ने भी देवसभा में भवानी की व्रत-निष्ठा की प्रशंसा की। एक देव भवानी की परीक्षा के लिए आया। उसने एक वैद्य का रूप धरा और भवानी के पास पहुंचा। उसने भवानी के समक्ष एक मधुर फल रखा और बोला, वत्से! यह अमृतफल है, इसे खाने से तुम्हारे समस्त रोग शान्त हो जाएंगे। भवानी ने अपने व्रत की बात बताकर वैद्य द्वारा दिया गया फल खाने से इन्कार कर दिया। वैद्य और परिजनों ने अपवाद मार्ग, औषध-आगार आदि के कई तर्क देकर भवानी को फल खाने के लिए मनाया, पर भवानी अपने व्रत पर सुदृढ़ रही। उसने स्पष्ट कर दिया कि रोगिणी रहना स्वीकार है पर व्रत-भंग स्वीकार नहीं है।

देव भवानी की व्रत-निष्ठा देखकर दंग रह गया। उसने वास्तविक रूप में प्रकट होकर भवानी की व्रत-निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसने दिव्य शक्ति द्वारा भवानी को रोगमुक्त बना दिया और रत्नों की वर्षा से उसके घर को भरकर अपने स्थान पर चला गया। भवानी का सम्मान बहुत बढ़ गया। महेश्वर नामक धनी व्यापारी से उसका विवाह हुआ। भवानी और महेश्वर ने व्रतनिष्ठ जीवन जीया।

महेश्वर आयुष्य पूर्ण कर अगले जन्म में चम्पानगरी का सहस्रवीर्य नामक राजा बना। भवानी उसी नगरी के मंत्री बहुबुद्धि की पुत्री बनी। मंत्री पुत्री के जन्म से पूर्व चम्पानगरी में घोर अकाल छाया हुआ था। मानव और पशु अन्न और जल के एक-एक कण के लिए तरस रहे थे। मंत्री पुत्री के जन्म के साथ ही चम्पानगरी से अकाल विदा हो गया। सर्वत्र सुभिक्ष और आनन्द व्याप्त हो गया। मंत्री पुत्री युवा हुई तो उसका विवाह पूर्वजन्म के सम्बन्ध के कारण महाराज सहस्रवीर्य से ही हुआ। राजा और रानी ने धर्मनिष्ठ जीवन जीया। आयु के उत्तरपक्ष में संयम धारण किया और निरतिचार चारित्र की परिपालना से केवलज्ञान प्राप्त कर दोनों मोक्ष पधारे। —जैन कथा रत्न कोष, भाग 4 / श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र (रत्नशेखर सूरि कृत)

भविष्यदत्त

हस्तिनापुर नगर के नगरसेठ धनसार का पुत्र, परम साहसी और धर्मप्राण युवक। उसकी माता का नाम कमलश्री था। सेठ और सेठानी में परस्पर अनन्य अनुराग था। पर पूर्वजन्म के कुछ कर्म उदय में आए और धनसार का अनुराग कमलश्री पर से समाप्त हो गया। उसने कमलश्री की इच्छा के विरुद्ध उसे उसके पीहर रवाना कर दिया और एक अन्य श्रेष्ठीकन्या स्वरूपश्री से विवाह कर लिया। स्वरूपश्री से भी सेठ को एक पुत्र की प्राप्ति हुई, जिसका नाम बंधुदत्त रखा गया।

भविष्यदत्त माता-पिता और वृद्धजनों का सेवा, सत्कार और सम्मान करता था। मुनिजनों के चरणों में बैठकर धर्म और कर्म के मर्म को समझता था। इसके विपरीत बंधुदत्त उच्छृंखल वृत्ति का युवक था। उसके अन्दर ईर्ष्या, द्वेष और वैमनस्य के भाव थे। परिणामतः भविष्यदत्त को सब जगह मान और सम्मान मिलता और बंधुदत्त को उपेक्षा प्राप्त होती। इससे बंधुदत्त मन ही मन भविष्यदत्त से ईर्ष्याभाव रखने लगा। एक

बार दोनों भाइयों ने पांच सौ छोटे व्यापारियों के साथ व्यापार के लिए प्रस्थान किया। एक निर्जन द्वीप पर जहाज रुके। सभी लोग द्वीप पर यत्र-तत्र टहलने लगे। भविष्यदत्त भी द्वीप पर घूमने लगा। बंधुदत्त ने भविष्यदत्त को जहाज से दूर गया देखकर रवानगी की घण्टी बजा दी। भविष्यदत्त को सुनसान द्वीप पर ही छोड़कर वह जहाजों को लेकर रवाना हो गया। भविष्यदत्त बंधुदत्त के मनोभावों को समझ गया। पर उसने बंधुदत्त पर क्रोध नहीं किया और इसे अपने ही पूर्वजन्म के पाप कर्मों का फल मानकर वह एक दिशा में चल दिया। शाम तक चलने पर वह एक नगर में पहुंचा। नगर का नाम तिलकपुरपट्टन था। भविष्यदत्त ने देखा कि वह नगर तो अति सुन्दर और रमणीक है पर जनशून्य है। उसे आश्चर्य हुआ। नगर में घूमते हुए वह राजमहल के द्वार पर पहुंचा। वहां उसे तिलकसुंदरी नाम की युवा और सुन्दर कन्या मिली। उसने उससे जनशून्यता का कारण पूछा। युवती ने आद्योपान्त एक लम्बा घटनाक्रम सुनाया और बताया कि अशनिवेग नामक एक देव ने इस नगर को जनशून्य बना दिया है। उसने सभी नागरिकों को और राजा को समुद्र में डुबोकर मार दिया है, पर मुझे उसने जीवित छोड़ दिया है। वह मुझसे पुत्रीवत् स्नेह करता है। पर वह अन्य किसी भी मनुष्य को जीवित नहीं छोड़ता।

भविष्यदत्त ने तिलकसुंदरी के पूछने पर अपना भी परिचय दिया और उसे साहस का सम्बल देते हुए कहा कि अब उसके एकाकी जीवन का अन्त हो गया है और वह उसका सहयोगी बनकर उसकी रक्षा करेगा। संध्या समय अशनिवेग आया। भविष्यदत्त को देखकर उसका क्रोध आसमान छूने लगा। उसने उसे ललकारा। परन्तु उसकी ललकार का कुछ भी प्रभाव भविष्यदत्त पर नहीं हुआ। पूरे निर्भय चित्त से भविष्यदत्त अशनिवेग का सामना करने को तैयार हो गया। एक मानव का ऐसा साहस देखकर देव चकित रह गया। उसने अवधि-ज्ञान का उपयोग लगाया और पाया कि भविष्यदत्त पूर्वजन्म का उसका उपकारी है। इससे अशनिवेग ने भविष्यदत्त को अपना मित्र बना लिया। उसने उसे उस नगर का राजा तो बनाया ही साथ ही तिलकसुंदरी का पाणिग्रहण भी उसके साथ कर दिया।

उधर बंधुदत्त जहाजों को लेकर आगे बढ़ा। साथ के व्यापारियों ने मन ही मन बंधुदत्त को धिक्कारा कि उसने भविष्यदत्त जैसे धर्मात्मा भाई से छल किया। पर प्रत्यक्षतः वे बंधुदत्त का विरोध नहीं कर सकते थे क्योंकि वे उसके आश्रित थे। विदेशों में रहकर बंधुदत्त ने प्रभूत धन कमाया और अपने देश के लिए रवाना हुआ। परन्तु अधर्मी व्यक्ति फूल तो सकता है पर फल नहीं सकता। समुद्री दस्युओं ने बंधुदत्त के जहाज को लूट लिया। बंधुदत्त और उसके साथ यात्रा कर रहे पांच सौ व्यापारी कंगाल हो गए। आखिर लौटते हुए उनका जहाज तिलकपुरपट्टन की बन्दरगाह पर लगा। सभी लोग क्षुधातुर थे। उनका विचार था कि कुछ दिन उक्त नगर में मेहनत-मजदूरी करके वे उतने धन की व्यवस्था जुटा लें, जिससे मार्ग में उदरपोषण संभव हो सके। पर नगर में उन्होंने जनशून्यता देखी तो वे भयभीत हो गए। आखिर भविष्यदत्त से उनकी भेंट हुई। बंधुदत्त ने कृत्रिम आंसू बहाकर अपने अक्षम्य अपराध के लिए क्षमा मांगी।

निर्मल हृदय भविष्यदत्त ने बंधुदत्त को क्षमा कर दिया और उससे कहा कि लुट जाने से वह दुखी न बने और जितना धन उसे चाहिए वह उस नगर से प्राप्त कर ले। बंधुदत्त ने धन-दौलत से जहाज भर लिए, व्यापारियों ने भी यथेच्छ धन प्राप्त किया। भविष्यदत्त ने भी भाई और साथी व्यापारियों के साथ अपने देश जाने का निश्चय कर लिया। वह तिलकसुंदरी के साथ जहाज पर सवार हो गया। पर जैसे ही जहाजों की रवानगी का समय हुआ, तिलकसुंदरी को स्मरण हुआ कि वह अपना एक विशेष रत्न महल में ही भूल आई है। उसने भविष्यदत्त से रत्न के बारे में कहा। भविष्यदत्त स्वयं रत्न लेने के लिए महल के लिए चल दिया।

इधर बंधुदत्त की दृष्टि तिलकसुंदरी पर मैली हो चुकी थी। भविष्यदत्त के जाते ही उसने जहाजों को आगे बढ़ने का आदेश दे दिया। एक स्वर से सभी ने बंधुदत्त को उसकी दुष्टता के लिए धिक्कारा, पर इसका कोई असर बंधुदत्त पर नहीं पड़ा।

भविष्यदत्त लौटकर बन्दरगाह पर आया तो उसे वहां जहाज नहीं मिले। बंधुदत्त के भ्रातृद्रोह पर उसे बहुत क्रोध आया। परन्तु उसने अपने भावों पर नियंत्रण पा लिया और अपने नगर कैसे पहुंचा जाए, इस पर चिंतन-मनन करने लगा।

मार्ग में बंधुदत्त ने तिलकसुंदरी को अपनी ओर आकर्षित करने के अनेक उपाय किए। पर सिंहनी भला सियार को अपने प्रियतम के रूप में कब चुन सकती है? तिलकसुंदरी ने बंधुदत्त को कठोर शब्दों में सावधान कर दिया कि वह स्वप्न में भी उसके विषय में विचार करना बन्द कर दे। पर भला वह दुष्ट ही क्या जो सज्जन के समझाने से समझ जाए? बंधुदत्त नहीं समझा और शक्ति के सहारे वह तिलकसुंदरी को प्रताड़ित करने लगा। तिलकसुंदरी ने शील सहायक देवी का आह्वान किया। मां चक्रेश्वरी देवी प्रकट हुई और उसने बंधुदत्त को ललकारा। कामी कायर भी होता है। वह मां चक्रेश्वरी के चरणों में नत हो गया। उसने देवी से क्षमा मांगी और किसी भी नारी पर शक्ति प्रदर्शन न करने का प्रण किया।

जहाज हस्तिनापुर पहुंचे। बंधुदत्त सहित सभी व्यापारियों का नागरिकों ने स्वागत किया। बंधुदत्त ने कपटकथा सुनाकर भविष्यदत्त को ही दोषी ठहरा दिया। उसने अपनी प्रशंसा में कई कल्पित कथाएं सुनाईं और तिलकसुंदरी को रत्नद्वीप की राजकुमारी बताया। उसने तिलकसुंदरी से विवाह के लिए विशाल महोत्सव का आयोजन कराया। विवाह तिथि के ठीक एक दिन पहले भविष्यदत्त अशनिवेग देव के सहयोग से हस्तिनापुर पहुंच गया। उसने राजा के समक्ष पांच सौ ही व्यापारियों को बुलाकर बंधुदत्त की दुष्टकथा को कहा। बंधुदत्त की दुष्टता की कथा सुनकर राजा-प्रजा सिहर उठे। राजा ने उसे अपने देश से निकाल दिया। भविष्यदत्त का सम्मान समस्त दिशाओं में वृद्धिंगत हुआ। राजा ने अपनी पुत्री का विवाह भी भविष्यदत्त के साथ कर दिया और उसे राजपद देकर वह प्रव्रजित हो गया। धनसार ने कमलश्री को उसका स्नेहपद पुनः प्रदान किया। भविष्यदत्त ने अंतिम समय में संयमाराधना द्वारा स्वर्ग प्राप्त किया। वहां से च्यव कर मनुष्य भव में जन्म लेकर उसने सिद्धि प्राप्त की। —भविस्सयत्त कथा

(क) भागचंद (कवि)

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध तथा बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध के कविवर भागचंद जी का जन्म ईसागढ़ (ग्वालियर) में हुआ। आप ओसवाल जाति के जैन श्रावक थे।

संस्कृत, प्राकृत और हिन्दी भाषाओं के भागचंद जी अधिकारी विद्वान और कविहृदय श्रावक थे। उक्त तीनों ही भाषाओं में आपने काव्यों की रचनाएं की। आपकी सात रचनाएं उपलब्ध हैं, जिनकी नामावलि निम्नोक्त है—

(1) श्री महावीराष्टक स्तोत्र (2) अमितगतिश्रावकाचार वचनिका (3) उपदेश सिद्धान्तरत्नमाला वचनिका (4) प्रमाणपरीक्षा वचनिका (5) नमिनाथ पुराण (6) ज्ञान सूर्योदय नाटक वचनिका (7) पद संग्रह।

आपकी रचनाएं प्रौढ़, भक्तिपरक एवं बौद्धिक हैं। —तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा

(ख) भागचंद्र (सेठ)

पोलासपुर नगर का एक धनकुबेर श्रमणोपासक। देव, गुरु और धर्म पर उसकी अगाध आस्था थी।

नगर में उसने कई दानशालाएं खुलवाईं थीं। सब के मुख पर सेठ की प्रशंसा थी। सेठ का एक पुत्र था—विवेक। जब विवेक विवाह योग्य हुआ तो उसके लिए रिश्तों की पंक्ति लग गई। पर सेठ भागचंद्र ने एक ऐसी शर्त रखी कि जिससे उनके पुत्र के विवाह की संभावनाएं तो क्षीण पड़ ही गईं, लोग भी उनके लोभ की निन्दा करने लगे। वह शर्त थी—कन्या के पिता को कोरे कागज पर पंचों के समक्ष हस्ताक्षर करने होंगे, और उस कागज पर सेठ भागचंद्र जो संख्या भरेंगे उतना धन दहेज में कन्या के पिता को देना होगा। लोग सशंकित थे कि कौन जाने सेठ कितनी रकम कागज पर लिख दें। इसी शंका के कारण सेठ के द्वार पर रिश्ते आने प्रायः बन्द हो गए।

पोलासपुर के निकट ही पावा नामक एक गांव था, वहां सुदर्शन नामक एक श्रेष्ठी रहता था। उसकी पुत्री थी पुष्पश्री। वह भागचंद्र के पास गया और उसकी शर्त पूरी करके सगाई की रस्म पूर्ण कर दी। सेठ ने कोरे कागज पर लिखा—ग्यारह अशर्फियां। उपस्थित जनसमुदाय चकित रह गया। सेठ ने स्पष्ट किया, शर्त के पीछे का रहस्य मात्र इतना था कि मैं एक ऐसे सम्बन्धी को खोजना चाहता था, जो मुझ पर विश्वास कर सके। सुदर्शन ने मुझ पर विश्वास किया और सम्बन्धी के रूप में उसे पाकर मैं गद्‌गद हूं।

समुचित समय पर बारात पावा पहुंची। सेठ सुदर्शन ने भी स्वयं को कंगला दिखाकर एक अभिनय किया। उस परीक्षा में भागचंद्र पूर्ण उत्तीर्ण हुए। इस अवस्था में भी वे सुदर्शन की पुत्री से विवाह से पीछे नहीं खिसके बल्कि सम्बन्धी के सहयोग के लिए दिल के द्वार खोल दिए। दोनों सम्बन्धी एक-दूसरे से सम्बन्ध जोड़कर अपने-अपने मनों में मुदित और गद्‌गद थे।

भाणा जी

आप स्थानकवासी परम्परा के आद्य मुनि माने जाते हैं। आप का जन्म सिरोही के निकटस्थ ग्राम अरहटवाल-अटकवाड़ा में हुआ था। आपकी जाति पोरवाल थी। वि.सं. 1531 में आपने दीक्षा ग्रहण की। पैंतालीस अन्य मुमुक्षुओं ने भी आपके साथ दीक्षा ग्रहण की थी। इन दीक्षाओं के पीछे लोंकाशाह की प्रेरणा तथा क्रियोद्धार का प्रबल संकल्प था। लोंकाशाह की प्रेरणा से प्रचलित यह मत लोंकागच्छ कहलाया।

भानुकुमार

वासुदेव श्रीकृष्ण का सत्यभामा से उत्पन्न पुत्र।

(क) भानुमति

पुरिमताल नगर के सेठ जिनदत्त की अर्द्धांगिनी और रत्नपाल की जननी। (देखिए-रत्नपाल)

(ख) भानुमति

सत्रहवें विहरमान तीर्थंकर श्री वीरसेन स्वामी की जननी। (देखिए-वीरसेन स्वामी)

भामण्डल

मिथिलापति महाराज जनक का पुत्र, जो बलवान, बुद्धिमान और विनीत था। राम-रावण युद्ध में उसने श्री राम के पक्ष से युद्ध करते हुए अच्छे जौहर दिखाए। बाद के जीवन में अनेक वर्षों तक राज्य किया। एक बार जब वह अपने प्रासाद की छत पर बैठे हुए धर्मध्यान में संलग्न था तो अकस्मात् विद्युत्पात से उसका निधन हो गया। धर्मध्यान करते हुए मृत्यु का वरण करने से वह यौगलिक मनुष्यों में उत्पन्न हुआ।

(देखिए-जैन रामायण)

भामाशाह

भारमल कावड़िया का पुत्र, ताराचन्द का सहोदर, एक वीरवर जैन श्रेष्ठी। भामाशाह ने मेवाड़ के उत्थान के लिए जो महनीय कार्य किए, उनके कारण मेवाड़ के इतिहास में वह सदैव अमर रहेगा।

भामाशाह महाराणा प्रताप का महामंत्री और अंतरंग सखा था। हल्दीघाटी के विख्यात युद्ध में भामाशाह ने अपनी तलवार के जौहर दिखाए थे। युद्ध में पराजय के पश्चात् महाराणा प्रताप को अपने परिवार के साथ वनों में शरण लेनी पड़ी। सतत कष्टमय जीवन और पारिवारिक दुर्दशा ने महाराणा के वज्र हृदय को भी पिघला दिया। मेवाड़ को छोड़कर वे अन्यत्र जाने को विवश हो गए। कुछ उल्लेखों के अनुसार वे अकबर से सन्धि करने के इच्छुक हो गए। उस समय वीरवर भामाशाह उनके पास पहुंचे और उन्होंने राणा को मेवाड़ के उद्धार के लिए उत्साहित किया। महाराणा ने कहा, मेरे पास न सेना है और न धन है, ऐसे में कैसे यह कार्य संभव हो पाएगा। उस समय भामाशाह ने अपूर्व त्यागभाव को धारण कर महाराणा के चरणों में अपनी और अपने पूर्वजों की अर्जित विशाल धनराशि अर्पित कर दी और कहा मेवाड़ के उद्धार में मेरे प्राण भी प्रस्तुत हैं।

वीरवर भामाशाह द्वारा राणा को अर्पित की गई धनराशि इतनी थी कि उससे 25000 सैनिकों का बारह वर्षों तक निर्वाह हो सकता था।

भामाशाह के इस अद्भुत त्याग और समर्पण ने महाराणा में नवीन साहस का संचार कर दिया। दोनों ने मिलकर सेना का गठन किया। अनेक युद्ध लड़े और अंततः मुगल सेना को मेवाड़ से खदेड़ दिया।

मेवाड़ के इतिहास में मेवाड़ के उद्धारकों के रूप में जो सर्वप्रथम नाम है, वह वीरवर भामाशाह का है, जो एक जैन श्रावक थे।

महाराणा प्रताप के आदेश पर भामाशाह के परिवार के मुखिया को पंच-पंचायती चौके का भोजन और सिंहपूजा आदि विशेष उपलक्ष्यों में प्रथम तिलक का अधिकार दिया गया जो आज तक परम्परागत रूप से यथावत् जारी है। वीरवर भामाशाह का जन्म 27 जून 1547 को और स्वर्गवास 28 जनवरी 1600 को हुआ। आज भी उदयपुर में उनकी समाधि मौजूद है।

भारमल कावड़िया

एक विख्यात जैन श्रावक और मेवाड़ राज्य का आधार स्तंभ महामंत्री। भारमल राणा सांगा का अंतरंग मित्र था। राणा सांगा ने उसकी नियुक्ति रणथम्भौर के दुर्गपाल के रूप में की थी।

बाद में कई घटनाक्रमों के बाद भारमल कावड़िया मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह का प्रधानमंत्री बना। चित्तौड़ पर अकबर का अधिकार हो जाने के बाद राणा उदयसिंह ने उदयपुर नगर बसाया, जिसके निर्माण और विकास में भारमल का विशेष योगदान रहा।

भारिका (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 12

भावदेव

रेवती नामक गाथापत्नी के दो पुत्रों में से छोटा पुत्र। रेवती के बड़े पुत्र का नाम भवदेव था। भवदेव

बचपन से ही अन्तर्मुखी था और यौवनावस्था में भी वह भोगों से विरत ही बना रहा। किसी समय संत-संग का सुसंयोग पाकर वह विरक्त हो गया और मुनिव्रत धारण कर तप-संयम में तल्लीन हो गया। कालान्तर में भावदेव भी युवा हुआ और उसका विवाह हो गया। जब वह प्रथम बार अपनी पत्नी नागला को लेकर अपने ग्राम को आ रहा था तो उसे जंगल में उसका अग्रज मुनि भवदेव मिल गया। मुनि ने भावदेव को उपदेश दिया। उपदेश से भावदेव भी विरक्त हो गया। पर उसके समक्ष दुविधा का कारण था उसकी नवागन्तुक पत्नी नागला। नागला एक उच्च चरित्र की युवती थी। उसने देखा, उसके पति के लिए वह बन्धन बन रही है। उसने पति से कहा, स्वामी! यदि आप प्रव्रजित बनकर आत्मकल्याण के आकांक्षी हैं तो उसके लिए मुझे बन्धन न मानें! मैं आपको सहर्ष आज्ञा प्रदान करती हूं! मैं स्वयं सासू जी की सेवा करके अपने जीवन को धन्य बनाऊंगी! भावदेव के भाव चढ़े हुए ही थे। सो वह वहीं दीक्षित हो गया और संयम पालन में लीन हो गया।

संयम का पालन करते हुए भावदेव को कई वर्ष बीत गए। पर उसका मन यदा-कदा संयम-पथ से विचलित बन जाता और पत्नी नागला में रम जाता। कालक्रम से अग्रज मुनि भवदेव परलोक सिधार गए। इसे भावदेव ने संसार में लौटने का सुअवसर माना। वह मुनिवेश में ही अपने गांव पहुंचा। गांव के बाहर उद्यान में ठहरा। उधर नागला मुनि दर्शन के लिए गई। भावदेव नागला को पहचान नहीं सका। उसने नागला से रेवती गाथापत्नी और उसकी पुत्रवधू के बारे में पूछा। इससे नागला भावदेव को पहचान गई। पर अपना परिचय गुप्त रखते हुए उसने मुनि को बताया कि रेवती गाथापत्नी कई वर्ष पहले स्वर्ग सिधार चुकी है और उसकी पुत्रवधू धर्मध्यानपूर्वक जीवन यापन कर रही है। नागला की कुशल-क्षेम जानकर मुनि प्रसन्न हुआ। उसने कहा, मैं नागला का पति हूं। मेरे विरह में नागला बहुत दुखी रहती होगी। अब उसका दुख दूर हो जाएगा।

मुनि के वचन सुनकर नागला सिहर गई। पर उसने अपने भावों पर अंकुश लगाए रखा। उसने अपना कर्त्तव्य स्थिर किया और संकल्प किया कि पतन को तत्पर मुनि को वह पतित नहीं होने देगी। उसने एक उपक्रम किया। कुछ देर के लिए वह उपाश्रय से बाहर चली गई। पुनः वहां आकर सामायिक करने लगी। मुनि भावदेव चाहता था कि वह महिला उपाश्रय से शीघ्र जाए, जिससे वह भी अपने घर जा सके।

उसी समय एक घटना घटी। एक छोटा-सा बालक दौड़ता हुआ उपाश्रय में आया और 'न-न' करने पर भी वह उस महिला की गोद में आ बैठा और बोला, मां! आज तुमने बहुत स्वादिष्ट खीर बनाई थी। मैंने पेट भर कर खीर खाई। पर अन्तिम ग्रास में मक्खी आ गई, जिससे वमन हो गया और पूरी खीर बाहर आ गई। बालक की बात सुनकर महिला ने उत्सुकता से पूछा, फिर क्या हुआ? बालक ने कहा, फिर मैंने उस वमन को पुनः खा लिया। आखिर इतने अच्छे भोजन को व्यर्थ कैसे जाने देता! बालक की बात सुनकर महिला ने उसके कृत्य की प्रशंसा की और कहा, कि एक इंगियागारसम्पन्न पुत्र से माता को यही अपेक्षा होती है।

मुनि भावदेव का मन महिला और बालक की इस बातचीत को सुनकर वितृष्णा से भर गया और बोला, छी छी कैसी श्वानवृत्ति! और उस पर भी प्रशंसा! हीन से हीन मनुष्य भी वमन को खाने की कल्पना नहीं कर सकता है!

महिला को अपनी बात कहने के लिए भूमिका प्राप्त हो गई। वह बोली, महाराज! यह सच है कि एक हीन से हीन व्यक्ति भी वमन को चाटने की कल्पना नहीं कर सकता है। पर कभी-कभी ऐसा भी देखने में

आ जाता है कि आप जैसे प्रबुद्ध पुरुष भी वमन के आकांक्षी बन जाते हैं। जिस नागला को आप छोड़ चुके हैं, उसे पुनः प्राप्त करने की चाह क्या वमन को पुनः चाटने के समान नहीं है ? सुनो मुनिवर! मैं ही नागला हूं! और एक मुनि के रूप में तो मैं आपका स्वागत कर सकती हूं, एक पति के रूप में नहीं!

उपयुक्त भूमिका के साथ कही गई बात ने मुनि भावदेव के विवेकचक्षु खोल दिए। वे पुनः संयम में सुदृढ़ बन गए। स्वच्छ संयम का पालन कर सद्गति के अधिकारी बने।

भाविनि

मनोरमपुर नरेश रिपुमर्दन की पुत्री। उसे बाल्यकाल में ही यह पता चल गया था कि उसका विवाह निर्धन वणिक- पुत्र कर्मरेख से होगा। वह निर्धन व्यक्ति से विवाह नहीं करना चाहती थी। उसने अपने पिता से जिद्द कर कर्मरेख को मृत्युदण्ड दिलवा दिया। परन्तु कर्म की रेखाएं तो अटल होती हैं। कर्मरेख बच गया और राजा बना। अंततः भाविनी का विवाह उसी के साथ हुआ। (देखिए-कर्मरेख)

भिक्षु (आचार्य)

तेरापंथ धर्मसंघ के आद्य प्रवर्तक।

आचार्य भिक्षु का जन्म जोधपुर के कंटालिया ग्राम में वी.नि. 2253 (वि. 1783) में हुआ। उनके पिता का नाम बल्लू जी और माता का नाम दीपांबाई था। वी.नि. 2278 (वि. 1808) में उन्होंने स्थानकवासी परम्परा के आचार्य रघुनाथ जी के पास दीक्षा धारण की। उन्होंने जैनागमों एवं टीका ग्रन्थों का अध्ययन किया। दीक्षा के कुछ वर्षों के पश्चात् गुरु से मतभेद हो जाने के कारण भिक्षु मुनि ने अपने लिए नवीन पथ चुन लिया। चार अन्य साथी मुनियों के साथ वे स्थानकवासी मुनि परम्परा से विलग हो गए। उन्होंने 'तेरापंथ' नामक धर्मसंघ की स्थापना की और उसके लिए नवीन सामाचारी घोषित की।

आचार्य भिक्षु व्याख्याता और लेखक भी थे। उनकी काव्यमयी रचनाएं राजस्थानी भाषा में हैं।

'एक आचार्य, एक सामाचारी और एक विचार' यह त्रिपदी रूप बहुमूल्य अवदान आचार्य भिक्षु का है। इसी विचार सूत्र के कारण तेरापंथ धर्मसंघ ने काफी उन्नति की है।

वी.नि. 2330 (वि. 1860) में आचार्य भिक्षु का सिरियारी (राजस्थान) में अनशनपूर्वक स्वर्गवास हुआ।

भीदा जी

सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जब लोंकाशाह क्रियोद्धार का अभियान चला रहे थे, उस समय श्रीयुत् भीदा जी उनके सम्पर्क में आए। वि.सं. 1540 में उन्होंने पैंतालीस अन्य व्यक्तियों के साथ लोंकागच्छ के मुनि श्री भाणाजी ऋषि से दीक्षा अंगीकार की और क्रियोद्धार में अपना जीवन अर्पित किया।

(क) भीम

जैन महाभारत के अनुसार एक अपरिमित बलशाली पुरुष। भीम पाण्डु और कुन्ती के पुत्र तथा युधिष्ठिर और अर्जुन के सहोदर थे। जैनेतर महाभारत अथवा पाण्डवचरित्रों में भी उसे असाधारण बली बताया गया है। कहीं कहा गया है कि उसमें दस सहस्र हाथियों का बल था। महाभारत के कई प्रसंग भीम के इस अपरिमित बल का चित्रण भी करते हैं। महाभारत के भीषण युद्ध में भीम ने अपने बल पर युद्ध विजय में एक बड़ी भूमिका निभाई थी। भीम के अनेक पुत्रों में एक का नाम घटोत्कच था, जो हिडिम्बा का पुत्र था और अपने पिता के समान ही भीषण बलशाली था। वनवास के दिनों में भीम माता कुन्ती को अपने कन्धे

पर बैठाकर यात्रा करते थे। यह भीम की मातृभक्ति की एक सुन्दर गाथा है। अपरिमित बली होकर भी भीम अपने अग्रजों का सदैव सम्मान और विनय करते थे। दुर्योधन भीम से विशेष रूप से ईर्ष्या करता था। अन्ततः भीम ने ही दुर्योधन का वध कर पाण्डवों की विजयी गाथा पर अन्तिम हस्ताक्षर किए थे। बलराम भीम की गदा-कला के गुरु थे।

अंतिम वय में अपने भ्राताओं का अनुगमन करते हुए भीम ने भी संयम धारण कर सुगति को प्राप्त किया।

(ख) भीम

यह अवसर्पिणी काल के प्रथम नारद थे। (देखिए-नारद)

(ग) भीम कुमार

कमलपुर नरेश महाराज हरिवाहन की पट्टमहिषी मदनसुन्दरी का अंगजात। उसका एक अभिन्न मित्र था—मंत्रीपुत्र मतिसागर। एक बार राजकुमार भीमकुमार ने एक मुनि का उपदेश सुनकर दया-धर्म के पालन का नियम ग्रहण किया।

एक बार एक कापालिक राजकुमार भीमकुमार के पास आया और मंत्र साधने के लिए उसने राजकुमार का सहयोग मांगा। राजकुमार ने उसे वचन दे दिया कि वह उसका सहयोग करेगा। सुनिश्चित समय पर कापालिक भीमकुमार को श्मशान में ले गया और मंत्रोच्चार करने लगा। वस्तुतः कापालिक एक धूर्त तांत्रिक था और वह राजकुमार की बलि काली देवी को देना चाहता था। जैसे ही कापालिक तलवार लेकर भीमकुमार की ओर बढ़ा, अंतःप्रेरणा से ही भीमकुमार कापालिक की कलुष मानसिकता को पहचान गया। वह तत्क्षण उठ खड़ा हुआ और कापालिक से युद्ध करने लगा। कापालिक भीमकुमार का युद्धकौशल देखकर दंग रह गया। उसे अपने प्राण संकट में दिखाई देने लगे। इससे उसने मंत्रबल से भीमकुमार को आकाश में उछाल दिया। एक यक्षिणी आकाश मार्ग से जा रही थी। उसने भीमकुमार को अपने विमान पर बैठा लिया। वह उसे विन्ध्याचल पर्वत पर ले गई। उसने कुमार के चारित्र की परीक्षा ली, जिसमें वह पूर्णतः उत्तीर्ण हुआ।

विन्ध्याचल पर्वत पर कुछ मुनिजन विराजमान थे। मुनि-दर्शन के लिए भीमकुमार मुनियों के पास गया। मुनि-चरणों में बैठकर उपदेश सुनने लगा। उसी समय भीमकुमार के निकट ही एक मनुष्य का कटा हुआ हाथ आसमान से गिरा। भीमकुमार निर्भय चित्त से उस हाथ के निकट गया। वह हाथ भीमकुमार को उठाकर आकाश में उड़ चला। हाथ ने भीमकुमार को जिस स्थान पर ले जाकर मुक्त किया, वह स्थान अत्यन्त भयावना था। वहां एक मंदिर था और उस मंदिर की दीवारें हड्डियों से चिनी गई थीं। रुधिर और मांस यत्र-तत्र फैला था। भीमकुमार ने देखा, वही कापालिक उसके मित्र मतिसागर की काली देवी की प्रस्तर-प्रतिमा के समक्ष बलि देने की तैयारी कर रहा है। भीमकुमार कापालिक पर झपटा और उसे पृथ्वी पर गिराकर उसके सीने पर सवार हो गया। पाद प्रहारों से उसने कापालिक को अधमरा कर दिया। उसी समय वहां काली देवी प्रकट हुई और उसने भीमकुमार से प्रार्थना की कि वह कापालिक को क्षमा कर दे। भीमकुमार ने काली देवी की प्रार्थना स्वीकार कर ली और उसे अहिंसा और दया का महत्व समझाया। काली देवी और कापालिक ने अहिंसा का महत्व समझा और भविष्य में बलि लेने और देने का त्याग कर दिया।

भीमकुमार और मतिसागर उस मंदिर से निकलकर स्वच्छ स्थान पर गए। वहां एक विशाल हाथी प्रकट हुआ और दोनों मित्रों को अपनी पीठ पर बैठाकर एक जनशून्य नगर में ले गया। एक राक्षस ने उस

नगर को जनशून्य बना दिया था। राक्षस उस नगर के राजा को जैसे ही मारने वाला था, वैसे ही भीमकुमार वहां पहुंचा। उसने राक्षस को ललकारा और राजा को उसके पंजे से मुक्त कराया। राक्षस संक्षिप्त मुठभेड़ के पश्चात् भीमकुमार का मित्र बन गया। भीमकुमार ने उसे दया का पाठ पढ़ाया, जिसे पढ़कर उसने उस उजड़े हुए नगर को पुनः आबाद कर दिया। राजा की प्रार्थना पर भीमकुमार ने उसकी पुत्री मदालसा से पाणिग्रहण किया और वहां सुखपूर्वक रहने लगा।

एक बार राजकुमार भीमकुमार और मंत्रीपुत्र मतिसागर को अपने माता-पिता और परिजनों की याद सताने लगी तो कालीदेवीप्रदत्त आकाशगामिनी विद्या से सभी कमलपुर पहुंचे। राजकुमार और मंत्रीपुत्र के लौटने से नगर में हर्ष की लहर दौड़ गई। कुछ दिन बाद शुभ मुहूर्त्त देखकर राजा ने भीमकुमार को राजगद्दी पर बैठा दिया और स्वयं संयम धारकर आत्मकल्याण किया। भीमकुमार ने भी लम्बे समय तक शासन किया और सुराज्य की स्थापना की। अंतिम वय में भीमकुमार ने चारित्र की आराधना कर मोक्ष गति प्राप्त की।

—पार्श्वनाथ चरित्र

भीमसेन

कच्छ देश की राजधानी भुजनगर के राजा हरिसेन का पुत्र, जो परम उदार और धार्मिक प्रकृति का युवक था। वह उदारतापूर्वक दान करता था। किसी भी याचक को रिक्त नहीं लौटने देता था। उसकी इसी उदारता से उसके पिता उस से रुष्ट हो गए और उसे अपने राज्य से निकाल दिया। भीमसेन ने पिता की नाराजगी को अपने लिए सुअवसर माना। उसने सोचा, इस बहाने से देश-विदेश में घूमने का अवसर मिलेगा और सहज ही भाग्य परीक्षा भी होगी। भीमसेन की परिणीता द्युतिप्रभा ने भी पति से आग्रह किया कि वह भी उनके साथ चलेगी। भीमसेन सहमत हो गया। उसने पत्नी को भी पुरुषवेश पहनाया और दोनों घोड़ों पर सवार होकर चल दिए। कई दिनों की यात्रा के पश्चात् दोनों कांगरू देश पहुंचे। वहां पर एक भव्य भवन खरीदकर दोनों रहने लगे। इस नगर में एक दिन भीमसेन घूमने के लिए निकला तो एक मंत्र-तंत्र जानने वाली महिला ने उसे मंत्र विद्या से मेष बना दिया। मेष को उसने अपने घर में बन्द कर लिया और उससे प्रणय-प्रार्थना करने लगी। परन्तु भीमसेन ने उसे मातृपद देकर उसके प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। इस विचार के साथ कि कभी तो वह उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर ही लेगा, महिला ने उसे अपने घर में ही बन्दी बनाकर रख लिया।

द्युतिप्रभा पति के न लौटने से चिन्तित हुई। उसने पुरुषवेश धारण कर पति को खोजने का निश्चय किया। एक बार पुरुषवेशी द्युतिप्रभा, जिसने अपना नाम द्युतिसेन रख लिया था, की भेंट राजा से हुई। वह राजा की प्रियपात्र बन गई। राजा के विशेष आग्रह पर द्युतिसेन को उसकी पुत्री से पाणिग्रहण करना पड़ा। आखिर द्युतिसेन मंत्रवादिनी महिला के पाश से अपने पति को मुक्त कराने में सफल हो गई। मुक्त होते ही भीमसेन को राजपुत्री के रूप में एक अन्य पत्नी भी प्राप्त हुई। कुछ काल उस देश में रहने के पश्चात् भीमसेन अपनी दोनों पत्नियों के साथ सिद्धपुर नगर पहुंचा। वहां पर उसने राजपुत्री सहित चार कन्याओं से विवाह किया। वहां से वह अपनी छह पत्नियों के साथ आगे बढ़ा। उसने समुद्री यात्रा का निश्चय किया। जहाज के स्वामी ने कपट से भीमसेन को समुद्र में धक्का दे दिया। अपने वाग्चातुर्य से छहों स्त्रियों ने जहाज के स्वामी से अपने शील का रक्षण किया। जहाज भड़ौच नगर के बन्दरगाह पर रुका। छहों स्त्रियां जहाज के स्वामी की दृष्टि बचाकर जहाज से निकल गईं और नगर के बाह्य भाग में स्थित यक्षायतन में मौन जप में लीन हो गईं।

उधर एक मत्स्य की पीठ पर सवार होकर भीमसेन किनारे पर आ लगा। आगे की यात्रा में भीमसेन ने कई अन्य राजपुत्रियों से विवाह किया। यात्रा करते-करते आखिर वह भड़ौच नगर में पहुंचा, जहां उसे उसकी सभी पत्नियां मिल गईं। भड़ौच नगर के राजा ने भी भीमसेन से अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। साथ ही उसे राजपद देकर स्वयं दीक्षित हो गया।

भीमसेन अपनी उदार वृत्ति से जगत् में प्रसिद्ध होता गया। महाराज हरिसेन को भी अपनी भूल का अनुभव हो चुका था। उन्होंने पुत्र को आमंत्रित किया। भीमसेन अपनी नौ पत्नियों और भारी दल-बल के साथ अपनी मातृभूमि भुज पहुंचा। पिता ने शासन-सूत्र पुत्र को सौंपकर दीक्षा धारण कर ली।

भीमसेन ने अनेक वर्षों तक प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। जीवन की सांध्यबेला में प्रव्रज्या धारण कर और निरतिचार संयम का पालन कर उसने परम पद प्राप्त किया।

भीमसेन (हरिसेन)

मालवदेश की उज्जयिनी नगरी का राजा। उसके सहोदर का नाम हरिसेन था। दोनों सहोदरों के मध्य राम-लक्ष्मण के समान प्रेम भाव था। भीमसेन की रानी का नाम सुशीला और हरिसेन की रानी का नाम सुरसुन्दरी था। पूरे परिवार में परस्पर सघन प्रेम भाव था। सुशीला ने कालक्रम से दो पुत्रों को जन्म दिया। राजकुमारों के नाम देवसेन और केतुसेन रखे गए।

सुरसुन्दरी की एक दासी दुष्ट स्वभाव की थी। उस दासी ने सुरसुन्दरी के मन में सुशीला और भीमसेन के प्रति विष भर दिया। सुरसुन्दरी ने अपने पति के हृदय में उसके भाई और भाभी के प्रति द्वेषभाव जगा दिया। हरिसेन अपने अग्रज, अपनी भाभी और दोनों भ्रातृपुत्रों को मारने के लिए उद्यत हो गया। सुशीला की विश्वसनीय दासी ने हरिसेन के षड्यंत्र को जान लिया और उसने अपनी स्वामिनी को सावधान कर दिया। सुशीला ने पति को सचेत किया। भीमसेन अपनी पत्नी और दोनों पुत्रों को साथ लेकर सुरंग मार्ग से जंगल में चला गया। कल का राजपरिवार पथ का भिखारी हो गया। भीमसेन हीरों की एक पोटली अपने साथ लाया था, जिसे चोरों ने चुरा लिया। चारों प्राणी क्षितिप्रतिष्ठितपुर नगर में रहकर मेहनत-मजदूरी से उदर पोषण करने लगे। पर दिन भर के कठिन श्रम से भी इतना कम अर्जन हो पाता था कि वे ठीक से भोजन भी नहीं कर सकते थे।

भीमसेन और सुशीला श्रमणोपासक थे। जिनधर्म पर उनकी अगाध आस्था थी। फलतः वे किसी को दोष न देकर अपनी स्थिति के लिए स्वयं के पूर्वोपार्जित कर्मों को ही दोषी मानते थे। एक बार किसी व्यक्ति ने भीमसेन को बताया कि पइठानपुर नगर का राजा प्रति छह मास के पश्चात् याचकों को यथेच्छ दान देता है। भीमसेन यथेच्छ दान पाने के लिए पइठानपुर जाने को तैयार हुआ। उसने किसी तरह मनाकर पत्नी और पुत्रों को क्षितिप्रतिष्ठितपुर नगर में ही रहने को राजी कर लिया। भीमसेन पइठानपुर गया, पर उसके कर्म रूठे हुए थे, फलतः वहां भी उसे निराशा ही हाथ लगी। आखिर एक सार्थवाह के साथ मिलकर उसने देशाटन किया। वर्षों तक व्यापार कर उसने पर्याप्त धन कमाया। पूरे धन के बदले हीरे-मोती खरीदकर वह अपनी पत्नी और पुत्रों के पास जा रहा था तो चोरों ने उसके हीरे-मोती चुरा लिए। वर्षों का श्रम व्यर्थ हो गया। इससे भीमसेन का धैर्य डोल गया। उसने आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया। पर जैसे ही उसने आत्महत्या का निश्चय किया, उसके अशुभ कर्म जीर्णता के तट पर पहुंच गए। उसे एक मासोपवासी मुनि के दर्शन हुए। उसके पास थोड़ा पाथेय था, जिससे उसने मुनि का पारणा कराया। मुनि को भिक्षा दान देकर भीमसेन एक नगर में पहुंचा। यह चम्पापुर नगर था, जहां का राजा निःसंतान अवस्था में ही कालधर्म को प्राप्त हो

गया था। मंत्रिमण्डल ने पट्टहस्तिनी की सूण्ड में पुष्पाहार देकर नए राजा के चयन का दायित्व उसे सौंपा था। पट्टहस्तिनी ने भीमसेन के गले में पुष्पहार डालकर उसे नए राजा के रूप में चुना। भीमसेन राजा बन गया। राजा बनते ही उसने अपने सैनिकों को क्षितिप्रतिष्ठित नगर में भेजा और अपनी पत्नी और पुत्रों की खोज कराई। पर उसे सफलता नहीं मिली।

सुशीला एक बंजारे के जाल में फंसकर उसकी बन्दिनी बन गई थी। पर बंजारे की पत्नी ने सुशीला के शील की रक्षा में उसका सहयोग किया। उधर उसके दोनों पुत्र—देवसेन और केतुसेन एक वृद्धा के संरक्षण में बड़े हुए और चम्पानगरी के आरक्षीदल में नौकरी पा गए। एक बार वही बंजारा चम्पानगरी पहुंचा। उसने राजा को भेंट दी और अपने लश्कर के लिए आरक्षियों की याचना की। राजा के आदेश पर नगररक्षक ने जिन दो आरक्षियों को बंजारे के लश्कर की सुरक्षा का दायित्व प्रदान किया, वे संयोग से देवसेन और केतुसेन ही थे। रात्रि में जब दोनों सहोदर पहरे पर थे तो दोनों, नींद न आ जाए इसलिए आपबीती पर, चर्चा करने लगे। लश्कर के भीतर सुशीला उनकी चर्चा को सुनकर जान गई कि वे दोनों उसी के पुत्र हैं। वह दौड़कर बाहर आई और पुत्रों से लिपट गई। माता और पुत्रों का मिलन हुआ।

बंजारे ने इस मिलन को देखा तो वह सशंकित बन गया कि माता और पुत्र मिलकर उसे राजा से दण्ड दिलाएंगे। उसने उनसे पहले ही राजा भीमसेन के पास पहुंचकर उसके कान भर दिए कि उनके दोनों आरक्षियों ने उसकी बंजारन से बलात्कार किया है। राजा ने क्रोध में भरकर दोनों आरक्षियों के लिए शूली का आदेश दे दिया। देवसेन-केतुसेन की प्रार्थना पर उन्हें राजा के समक्ष लाया गया। सुशीला को भी बुलाया गया। कुमारों ने वस्तुस्थिति स्पष्ट की तो भीमसेन पत्नी और पुत्रों को पहचानकर उनसे लिपट गया।

सैनिकों ने बंजारे को बन्दी बना लिया। बंजारिन की प्रार्थना पर सुशीला ने उसे अपनी उपकारिणी मानते हुए बंजारे को क्षमा दिलवा दी।

कालान्तर में भीमसेन-हरिसेन का मिलन हुआ। हरिसेन ने अपनी दुर्बुद्धि के लिए अग्रज से क्षमा मांगी और उज्जयिनी के सिंहासन पर पुनः उन्हें आसीन कर स्वयं प्रव्रजित हो गया। काफी समय तक भीमसेन ने राज्य किया। बाद में पुत्र को राजपद देकर वह भी प्रव्रजित हो गया। भीमसेन, हरिसेन दोनों भाइयों ने उत्कृष्ट चारित्र का पालन किया और कैवल्य को साधकर निर्वाण पद प्राप्त किया।

भुजंग स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

चौदहवें विहरमान तीर्थंकर। अर्धपुष्कर द्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र की वपु विजय में प्रभु वर्तमान में धर्मोद्योत करते हुए विचरण कर रहे हैं। वपु विजय की विजयापुरी नगरी में प्रभु का जन्म हुआ। महाराज महाबल प्रभु के पिता और महारानी सुसीमा प्रभु की माता हैं। पद्म प्रभु का चिह्न है। राजकुमारी गंधसेना से यौवनवय में प्रभु का पाणिग्रहण हुआ। तिरासी लाख पूर्व तक प्रभु गृहवास में रहे। उसके बाद प्रव्रजित बनकर केवलज्ञान प्राप्त किया और धर्मतीर्थ की संस्थापना कर प्रभु तीर्थंकर हुए। चौरासी लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर प्रभु परम पद प्राप्त करेंगे।

भुजगवती (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 26

भुजगा (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 25

भुवनतिलक कुमार

कुसुमपुर नरेश धनद का पुत्र, रूप, गुण और बहत्तर-कला निष्णात राजकुमार। भुवनतिलक कुमार के रूप और गुणों की प्रशंसा-प्रशस्ति सुनकर रत्नस्थलपुर नरेश की पुत्री यशोमती उसके साथ विवाह करने को उत्सुक हो गई। पुत्री के हृदय की बात को पहचानकर रत्नस्थलपुर नरेश महाराज अमरचन्द्र ने अपना एक विशेष दूत कुसुमपुर भेजा। दूत ने अपनी निपुणता से कुमार भुवनतिलक के हृदय में यशोमती के प्रति अनुराग जगा दिया। महाराज धनद वस्तुस्थिति से परिचित बने और वैवाहिक प्रस्ताव उन्होंने स्वीकार कर लिया। सुनिश्चित समय पर रत्नस्थलपुर के लिए बारात रवाना हुई। सघन वन में अकस्मात् युवराज भुवनतिलक अचेत हो गया। मंत्री और सैनिक चिन्तित हो गए। अनेक उपाय करके भी वे कुमार की मूर्च्छा दूर नहीं कर पाए।

कुछ ही दूरी पर देवविमानों को उतरते देख कर मंत्री समझ गया कि उधर किसी मुनि का समवसरण होना चाहिए। कुछ सेवकों के साथ मंत्री उधर गया। वहां पर शरदभानु केवली का समवसरण लगा था। मंत्री ने केवली मुनि से अपने युवराज की दशा कही। केवली मुनि ने युवराज के पूर्वजन्म का वृत्त स्पष्ट कर उसकी मूर्च्छा के कारण का वर्णन किया। साथ ही स्पष्ट किया कि राजकुमार के अतिशय पुण्य जग गए हैं और वह स्वस्थ हो गया है।

केवली मुनि को वन्दन कर मंत्री अपने सेवकों के साथ बारात स्थल पर पहुंचा। राजकुमार को स्वस्थ देखकर उसे अतीव हर्ष हुआ। साथ ही उसने केवली मुनि द्वारा वर्णित कुमार का भव उसे सुनाया। अपने पूर्वभव के वृत्त को सुनकर कुमार भुवनतिलक विरक्त बन गया। वह केवली भगवान के श्रीचरणों में पहुंचा और दीक्षित हो गया। जप, तप, स्वाध्याय में वह तल्लीन हो गया।

भुवनतिलक द्वारा प्रव्रज्या धारण कर लेने के समाचार यशोमती के कानों तक भी पहुंचे। कुछ काल के लिए वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन गई। उसके माता-पिता ने पुत्री को संभाला और सान्त्वना दी कि वे किसी अन्य राजकुमार से उसका पाणिग्रहण कराएंगे। इस पर राजकुमारी ने अन्य राजकुमार से विवाह के लिए स्पष्ट इन्कार कर दिया और भुवनतिलक द्वारा अनुगम्य पथ पर ही गमन का संकल्प कर लिया। उसने भी प्रव्रज्या धारण कर ली। मुनिवर भुवनतिलक ने विनयगुण की उत्कृष्ट आराधना की और समस्त कर्मों को निर्जरित कर मोक्ष पद पाया।

—धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 25

भुवनभानु केवली

चन्द्रपुरी नगरी के महाराज अकलंक और उनकी महारानी सुदर्शना का अंगजात, जो जन्म से ही परम पुण्यात्मा, धीर, गंभीर और आत्मोन्मुखी राजकुमार था। यौवनावस्था में पहुंचकर भी उसे ऐन्द्रिय सुखों में आकर्षण नहीं था और न ही राज्य-प्राप्ति का प्रलोभन था। परन्तु माता-पिता के आदेशानुसार भुवनभानु, जिन्हें माता-पिता ने बलि नाम दिया था, को राजपद स्वीकार करना पड़ा। उसने अनेक वर्षों तक निरपेक्ष भाव से साम्राज्य का संचालन किया। एक बार जब बलि पौषधशाला में सामायिक की आराधना कर रहा था तो आकाश पर वायुप्रभाव से मिलते-बिखरते मेघों को देखकर उसे विरक्ति हो गई और राजपाट का

परित्याग कर उसने कुवलयचंद्र केवली से दीक्षा धारण कर ली। मोह, अज्ञानादि आत्मरिपुओं को नष्ट कर उसने कैवल्य पद पाया। बलि मुनि ही जगत में भुवनभानु केवली के नाम से सुख्यात हुए। असंख्य भव्य जीवों के लिए कल्याण का द्वार बनकर वे मोक्ष पधार गए। —भुवनभानु केवली चरित

(क) भुवनसुंदरी

चन्द्रपुरी के युवराज प्रतापसेन की अर्द्धांगिणी, एक सुशीला और परम पतिव्रता सन्नारी। वह अपने नाम के अनुरूप ही सुंदरी और सुरूपा भी थी। वह अनन्य भाव से जिनोपासिका और सहिष्णुता की साक्षात् प्रतिमा थी। उस पर कष्टों के पहाड़ टूटे, पर उन कष्टों को उसने अपने पूर्वकृत कर्मों का उपभोग ही माना। अपकारियों पर भी उपकार कर उसने नारी की देह में नारायणी के आदर्श की स्थापना की। उसका संक्षिप्त परिचय क्रम इस प्रकार है—

प्रद्युम्न चंद्रपुरी का राजा था। उसका अनुज प्रतापसेन युवराज था। भुवनसुन्दरी प्रतापसेन की पत्नी और युवराज्ञी थी। एक बार राजा प्रद्युम्न अपने महल की छत पर टहल रहा था। भुवनसुंदरी भी किसी कार्यवश अपने महल की छत पर चली गई। राजा की दृष्टि अनुजवधू पर पड़ी। वह उसके रूप पर मुग्ध हो गया। राजा के हृदय में कामराग का ऐसा संचार हुआ कि वह नीति और मर्यादा को भी भूल बैठा। उसने निश्चय कर लिया कि वह भुवनसुंदरी को पाने के लिए कुछ भी करेगा। दूसरे दिन सीमान्त पर शत्रु के द्वन्द्व का कल्पित नाटक रचकर उसने अनुज प्रतापसेन को शत्रु का दमन करने के लिए भेज दिया। रात्रि में वह भुवनसुंदरी के महल के द्वार पर पहुंचा और भ्रातृ-पत्नी से उसने परिणय-प्रार्थना की। ज्येष्ठ के मुख से ऐसा अकल्पित प्रस्ताव सुनकर भुवनसुंदरी सहम गई। उसने द्वार खोले बिना ही संयत और मर्यादित शब्दों में ज्येष्ठ को समझाने का प्रयत्न किया। पर प्रद्युम्न पर तो काम का पिशाच चढ़ा हुआ था! उसने विविध प्रलोभन देकर भुवनसुंदरी को द्वार खोलने को कहा। भुवनसुंदरी को विश्वास हो गया कि राजा मर्यादा और धर्म को भूल चुका है, वह संयत शब्दों से बाज नहीं आएगा, अतः उसने कठोर वचनों से राजा की भर्त्सना की और कटार निकालकर उसे चेतावनी दी कि वह इसी क्षण अपने महल में नहीं लौटेगा तो वह या तो उसका वध कर देगी अथवा आत्महत्या कर लेगी। भुवनसुंदरी के चण्डीरूप को देखकर राजा कांप उठा और क्रोध में बड़बड़ाता हुआ अपने स्थान पर लौट गया।

राजा प्रद्युम्न का हृदय प्रतिशोध की ज्वालाओं में सुलग रहा था। उसने एक कुटिल षड्यन्त्र की परिकल्पना की। उसने एक कल्पित पत्र भुवनसुंदरी के पास भिजवाया। पत्र में अंकित था कि भुवनसुंदरी की मां अस्वस्थ है और वह पुत्री से मिलना चाहती है। भुवनसुंदरी अस्वस्थ मां से मिलने को उतावली हो गई। संरचित षड्यंत्र सफल रहा। सेवक भुवनसुंदरी को रथ में बैठाकर उसके पीहर के लिए चल पड़ा। घोर घने जंगल में जाकर सेवक ने भुवनसुंदरी को राजा के षड्यंत्र के बारे में बता दिया कि राजा का आदेश उसे जंगल में एकाकी छोड़ देने का है। सेवक लौट गया। भुवनसुंदरी वन में भटकने लगी। न उसे मार्ग का पता था और न दिशाओं का भान था। वह वन दर वन भटकती रही।

कुछ दिनों के बाद भुवनसुंदरी को वन में मदनपुरी का एक व्यापारी श्रेष्ठी मिला। भुवनसुंदरी के रूप को देखकर वह मोहित बन गया। पर उसने युक्ति का आश्रय लिया और भुवनसुंदरी का परिचय पूछा। भुवनसुंदरी ने अपना इतना ही परिचय दिया कि वह अपने परिजनों के साथ देशान्तर जा रही थी और दुर्दैववश परिजनों से बिछुड़ गई। सेठ ने भुवनसुंदरी को 'बहिन' शब्द से सम्बोधित किया और उसे विश्वास दिया कि वह उसे उसके पीहर इन्द्रपुरी पहुंचा देगा। विश्वस्त होकर भुवनसुंदरी सेठ के साथ चली गई। सेठ उसे

अपनी नगरी में ले गया। अपने घर पहुंचकर सेठ ने अपना वास्तविक रूप प्रकट किया और भुवनसुंदरी से काम-निवेदन किया। विश्वास को खण्डित बनते देखकर भुवनसुंदरी का हृदय दहल गया। उसने सेठ को नरम और सख्त शब्दों में चेताया। पर सेठ बल-प्रयोग पर उतर आया तो शील का चमत्कार घटित हुआ। सेठ के शरीर से उसी क्षण कुष्ठ फूट पड़ा।

सेठ के घर से निकलकर भुवनसुंदरी इन्द्रपुरी के मार्ग पर बढ़ चली। राजा प्रद्युम्न ने इन्द्रपुरी भुवनसुंदरी के माता-पिता के पास पहले ही यह सूचना प्रेषित करा दी थी कि भुवनसुंदरी ने अपने कलुषित चरित्र से दोनों कुलों को कलंकित किया है। परिणामतः माता-पिता ने भी भुवनसुंदरी को द्वार से ही धक्के दे दिए। भुवनसुंदरी ने माता-पिता से अपना अपराध पूछना चाहा, पर उसकी एक भी बात माता-पिता ने नहीं सुनी। पिता ने अपने पुत्र मधुकर को आदेश दिया कि वह भुवनसुंदरी को जंगल में ले जाए और वहां उसका वध कर दे। मधुकर अपनी बहन भुवनसुंदरी को जंगल में ले गया। उसने भुवनसुंदरी का वध करने के लिए जैसे ही तलवार ऊपर उठाई, वैसे ही शील सहायक देवी वहां अवतरित हुई, उसने घोषणा की, भुवनसुंदरी महासती है, सती शिरोमणि है। उसकी हत्या नहीं, रक्षा की जाए। देवी के वचन सुनकर मधुकर बहिन के चरणों पर अवनत हो गया। उसने भुवनसुंदरी को घर चलने के लिए कहा। परन्तु भुवनसुंदरी ने घर लौटने से इन्कार कर दिया और कहा कि वह वन में रहकर अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का भोग भोगेगी। मधुकर ने भी बहिन के साथ रहकर उसकी सेवा करने का संकल्प किया।

भाई-बहिन आगे बढ़े। भुवनसुंदरी को प्यास लगी तो मधुकर जल की तलाश में गया। दूर-दूर भटका, पर कहीं भी पानी की एक बूंद उसे प्राप्त नहीं हुई। भटकते-भटकते प्यास से विह्वल बनकर वह अचेत हो गिर पड़ा। भुवनसुंदरी भी प्यास के कारण अचेत हो गई। उधर क्षितिपुर का राजा वीरसेन शिकार खेलने गया था। भुवनसुंदरी को वनकन्या मानकर वह उसे उठाकर अपने नगर में ले गया। शीतलोपचार से भुवनसुंदरी की चेतना लौटी। वीरसेन ने भुवनसुंदरी से काम प्रस्ताव किया। भुवनसुंदरी अपने भाग्य पर आंसू बहाने लगी। वह पुनः-पुनः पुरुष के पतन को देख रही थी। उसने वीरसेन को चेतावनी दी कि यदि उसने दुःसाहस दिखाया तो वह आत्महत्या कर लेगी। पर वीरसेन का विवेक तो विलुप्त हो चुका था! वह महासती पर झपटा, पर शील का चमत्कार महासती के साथ था। वीरसेन पैर फिसलकर धराशायी हो गया और उसके शरीर की कई अस्थियां एक साथ भग्न हो गईं। अपने शील की रक्षा के लिए भुवनसुंदरी पुनः वन में चली गई।

उधर चन्द्रपुरी का एक सार्थवाह मूर्च्छित मधुकर को अपने यान में रखकर अपने नगर ले गया। मधुकर स्वस्थ हो गया। सार्थवाह निःसंतान था और उसने मधुकर को अपना पुत्र बनाकर अपने साथ रख लिया।

वन में भुवनसुंदरी अपनी स्थिति पर चिन्तन कर रही थी। सहसा एक देव प्रकट हुआ। उसने भुवनसुंदरी के सत्य और शील की स्तुति की और कहा कि महासती अब तुम्हारे अपुण्य समाप्त हो चुके हैं। शीघ्र ही तुम्हारी यशःकीर्ति संसार में व्याप्त होगी और तुम्हें तुम्हारे पति का सान्निध्य प्राप्त होगा। देव ने भुवनसुंदरी को दो रत्न दिए और उनका महात्म्य बताया। प्रथम रत्न से मनोवांछित रूप धारण किया जा सकता है और द्वितीय रत्न से समस्त रोगों का उपचार किया जा सकता है। दिव्य रत्न पाकर भुवनसुंदरी ने अपना रूप बदला और वह युवायोगी बन गई। वह शीघ्र ही चन्द्रपुरी के लिए प्रस्थित हो गई।

उधर प्रतापसेन रणक्षेत्र से लौटा तो प्रद्युम्न अन्धा बन चुका था। प्रद्युम्न ने अपने अन्धेपन को गर्मी की अधिकता का परिणाम बताया तथा भुवनसुंदरी के कल्पित दुश्चरित्र का आख्यान प्रतापसेन को सुनाकर

अपना पाप छिपाना चाहा। प्रतापसेन का हृदय भुवनसुंदरी को दुश्चरित्रा मानने को तैयार नहीं था, पर अग्रज के वचनों को भी वह अप्रामाणिक नहीं मान सकता था। वह असमंजस की सी स्थिति में था।

भुवनसुंदरी योगी के रूप में चन्द्रपुरी पहुंची। उसने रोगियों के उपचार शुरू किए। अनेक असाध्य रोगियों को उसने स्वस्थ कर दिया। उसकी ख्याति शीघ्र ही दूर-दूर तक परिव्याप्त हो गई। उसके पास क्रमशः मदनपुरी का व्यापारी, और क्षितिपुर का राजा वीरसेन भी उपचार कराने पहुंचे। प्रतापसेन भी अपने अग्रज महाराज प्रद्युम्न की आंखों के उपचार के लिए योगी के पास पहुंचा। योगीरूपी भुवनसुंदरी पति को साक्षात् देखकर गद्‌गद बन गई। पर उसने अपने भावों पर अंकुश रखा। उसने मदनपुरी के व्यापारी और वीरसेन राजा को कहा कि वह उनका उपचार महाराज प्रद्युम्न की राजसभा में करेगा। तिथि सुनिश्चित की गई। सुनिश्चित तिथि को योगी सभा में पहुंचा। मदनपुरी के व्यापारी ने सर्वप्रथम अपने उपचार की प्रार्थना योगी से की। योगी ने कहा, सेठ! तुम्हारा रोग किसी पाप का परिणाम है। सर्वप्रथम उस पाप की आलोचना करो, उसके बाद ही उपचार संभव है। सेठ ने कल्पित आलोचना करनी चाही, पर भुवनसुंदरी ने उसे डांटते हुए सत्य आलोचना करने को कहा। आखिर सेठ ने सच उगल दिया। उसने कहा, भुवनसुंदरी नामक एक सती के शीलहरण के दुष्प्रयास के कारण वह कुष्ठ रोग से व्याधित हुआ है। राजा प्रद्युम्न और प्रतापसेन सहित सभी सभासद भुवनसुंदरी का नाम सुनकर चौंक गए। आखिर योगी ने सेठ का उपचार किया और पलक झपकते ही सेठ स्वर्णकाय बन गया।

तदनन्तर योगी रूपी भुवनसुंदरी ने क्रमशः राजा वीरसेन और राजा प्रद्युम्न से भी उनके पाप उगलवा कर उनके उपचार किए। प्रतापसेन अपनी पत्नी पर किए गए अत्याचारों की कथा सुनकर अचेत हो गया। योगी ने उपचार से प्रतापसेन को स्वस्थ किया और सान्त्वना दी कि भुवनसुंदरी सकुशल है और शीघ्र ही उसकी भेंट उससे होने वाली है। इन्द्रपुरी के नरेश और उसकी रानी ने भी आलोचना की कि उन्होंने अपनी पुत्री को बिना उसकी बात सुने घर से निकाल दिया। उनका पुत्र भी उनसे छिन गया। भुवनसुंदरी ने मधुकर को श्रेष्ठी गृह से बुलाकर अपने माता-पिता को अर्पित कर दिया।

आखिर प्रतापसेन की प्रार्थना पर योगी ने—योगीरूप का परित्याग किया। भुवनसुंदरी को देखकर समस्त सभासद गद्‌गद हो गए। राजा प्रद्युम्न, राजा वीरसेन, मदनपुरी का श्रेष्ठी और भुवनसुंदरी के माता-पिता सभी महासती से क्षमा मांगने लगे। पति-पत्नी का पुनर्मिलन हुआ। सत्य-शील और भुवनसुंदरी की यश प्रशस्तियों से दशदिक् गुंजायमान हो गईं।

भुवनसुंदरी कई वर्षों तक संसार में रहकर अपने शील से आदर्श प्रस्तुत करती रही। अन्तिम अवस्था में संयम धारण कर उसने परम पद प्राप्त किया।

(ख) भुवनसुंदरी

एक सुरूपा नटकन्या। (देखिए-आषाढ़मुनि)

भुवनानंदा

एक पतिव्रता सन्नारी, जिसकी परिचय कथा दो भवों से जुड़ी है। वह इस प्रकार है—

सुखवासीन नगर के राजोद्यान में राजा ने मुनियों के लिए एक उपाश्रय बनवाया था। उपाश्रय के निकट ही एक छोटा सा घर था, जिसमें उद्यान पालक माली रहता था। माली की पत्नी का नाम सलोनी था। उनके दो संतानें थीं—एक पुत्र और एक पुत्री। माली एक अन्य स्त्री में अनुरक्त हो गया। सलोनी ने यह

रहस्य जाना तो वह पति से उलझ गई। पति-पत्नी का विवाद इतना बढ़ा कि दोनों न्याय के लिए राजा रिपुमर्दन के दरबार में पहुंचे। दोनों ने अपने-अपने पक्ष प्रस्तुत किए। दोनों संतानों पर अपना-अपना अधिकार जता रहे थे। राजा ने फैसला सुनाया, जैसे बीज वपन करने वाला किसान ही फसल का स्वामी होता है, वैसे ही संतानोत्पत्ति में पुरुष मूल कारण होता है, इसलिए पुरुष का ही संतान पर अधिकार होता है। राजा के फैसले पर माली प्रसन्न हुआ। पर सलोनी उदास हो गई। उसकी उदासी मंत्री बुद्धिसागर से छिपी न थी। मंत्री की प्रार्थना पर राजा ने अपने फैसले में संशोधन किया और माली को पुत्र एवं मालिन को पुत्री का अधिकार प्रदान किया तथा उद्यान-गृह का अधिकार भी मालिन को ही दिया।

कालान्तर में एक अतिशय ज्ञानी मुनि उपाश्रय में पधारे। सलोनी ने मुनि से अपना भविष्य पूछा तो मुनि ने बताया कि वह तीन दिन बाद मृत्यु को प्राप्त होकर मंत्री बुद्धिसागर की पुत्री के रूप में जन्म लेगी। सलोनी ने उक्त आशय का एक वाक्य उपाश्रय की दीवार के उस भाग पर लिख दिया, जहां साधारणतः लोगों की दृष्टि नहीं पड़ती थी।

सलोनी मृत्यु को प्राप्त होकर मंत्री बुद्धिसागर की पुत्री के रूप में जन्मी। वहां पर उसका नाम भुवनानंदा रखा गया। योग्य वय में वह स्त्रियोचित समस्त कलाओं में पारंगत बन गई। एक बार उपाश्रय में वह मुनि दर्शन के लिए गई तो उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसे अपना पूर्वभव तथा पूर्वभव की समस्त घटनाएं स्मरण हो गईं। मंत्री के पास एक उत्तम नस्ल का घोड़ा था। राजा ने उत्तम नस्ल के घोड़ों को प्राप्त करने के लिए कुछ घोड़ियां मंत्री की अश्वशाला में भेजी थीं और आदेश दिया था कि जब उसकी घोड़ियां प्रसव करें तो उन्हें राजकीय अश्वशाला में भिजवा दिया जाए।

कालक्रम से घोड़ियां प्रसवमती बनीं। राजा के आदेश पर राजकर्मचारी घोड़ियों और उनके बछड़ों को लेने आए। इस पर भुवनानंदा ने राजा को उसके न्याय के अनुरूप उत्तर दिलाया, जैसे बीजवपन करने वाला किसान ही फसल का अधिकारी होता है वैसे ही हमारे घोड़े से उत्पन्न बछड़ों पर हमारा अधिकार है, राजा का नहीं। राजकर्मचारियों ने भुवनानंदा की बात राजा को कही। राजा को अपना न्याय स्मरण हुआ। उसने सोचा, मंत्री ने ही उक्त बात अपनी पुत्री को बताई होगी। पर मंत्रीपुत्री को शिक्षा देनी आवश्यक है। उसने मेरा अपमान किया है। ऐसा निश्चय कर और अपने मन की कलुषता को छिपाते हुए राजा ने मंत्री से उसकी पुत्री का हाथ अपने लिए मांगा। मंत्री ने प्रसन्नचित्त से अपनी पुत्री का विवाह राजा से कर दिया। राजा ने प्रथम रात्रि में ही यह कहते हुए कि देखता हूं, तुम पति के बिना कैसे पुत्रवती बनती हो, भुवनानंदा का परित्याग कर दिया। भुवनानंदा पतिव्रता स्त्री थी। उसने पर्याप्त अनुनय-विनय से राजा को संतुष्ट करना चाहा, पर राजा उसका मुख तक देखे बिना ही उसके महल से निकल गया। इससे भुवनानंदा का स्वाभिमान जाग उठा। उसने निश्चय किया कि वह अपने पातिव्रत्य का पालन करते हुए राजा को पुत्रवती बनकर दिखाएगी।

एक दिन गुप्त रूप से भुवनानंदा अपने पिता के पास पहुंची और उसे समस्त स्थिति से परिचित कराया। उसने अपने मन्तव्य की सफलता के लिए एक योजना बनाई और उस योजना में अपने पिता को अपना सहयोगी बनाया। योजनानुसार दूसरे दिन मंत्री राजा के पास पहुंचा और कहा, महाराज! भुवना को कुछ दिनों के लिए उसकी माता के पास भेज दीजिए। राजा ने कहा, भुवना तो कल से महल में नहीं है। जाने कहां गई। राजा और मंत्री ने भुवना को भला-बुरा कहा। साथ ही दोनों इस बात पर एकमत थे कि ऐसी स्त्री का मर जाना ही श्रेयस्कर है, जो पति और पिता दोनों के लिए कलंक सिद्ध हुई है।

भुवनानंदा की योजना का प्रथम चरण पूर्ण हो गया। द्वितीय चरण में उसने लीलावती नामक नृत्यांगना

का रूप धारण कर राजा को मोहित किया। उसके रूप पर मंत्र-मुग्ध बनकर राजा ने उसे एक भवन दे दिया और कहा, कि वह केवल उसी के लिए नृत्य करेगी। वह उसे अपनी पत्नी का मान देकर अपने साथ रखेगा। भुवनानंदा की योजना का दूसरा चरण भी पूरा हो गया। जब वह सगर्भा बन गई तो उसने राजा से उसकी मुद्रिका प्राप्त की और एक दिन सबकी दृष्टि बचाकर अपने पिता के घर चली गई। उसने पितृगृह में ही पुत्र को जन्म दिया। फिर एक दिन रथारूढ़ होकर अपने महल में पहुंच गई। क्रोध में उन्मत्त बनकर राजा उसके महल में पहुंचा। पर वहां भुवनानंदा के स्थान पर लीलावती को देखकर वह विभ्रमित बन गया। आखिर राजा को ज्ञान हो गया कि भुवनानंदा ही लीलावती थी तो उसका क्रोध काफूर हो गया। उसने अपनी पराजय स्वीकार कर ली और भुवनानंदा को पूरा मान देकर अपनी पटरानी का पद उसे प्रदान किया। भुवनानंदा ने अपने जातिस्मरण की बात राजा को बताई और स्पष्ट किया कि पूर्वभव में वह सलोनी मालिन थी। कर्म की विचित्रता देख-सुनकर राजा दंग रह गया।

कालान्तर में भुवनानंदा और रिपुमर्दन, दोनों ने संयम धारण कर मोक्ष प्राप्त किया।

भूतदत्त

एक चाण्डाल। (देखिए-ब्रह्मदत्त)

भूतदत्ता

महाराज श्रेणिक की रानी। शेष परिचय नन्दावत्। (देखिए-नन्दा) —अन्तगडसूत्र वर्ग 7, अध्ययन 13

भूतदिन्न (आचार्य)

एक प्रभावक जैन आचार्य। नंदी सूत्र स्थविरावली के अनुसार आर्य भूतदिन्न परम आचारनिष्ठ आचार्य थे। प्राणान्त उपसर्गों की उपस्थिति पर भी वे खिन्नमना नहीं बनते थे। विद्वद्वर्ग में उनका बहुत सम्मान था, जो उनकी विद्वत्ता को सिद्ध करता है। वे संयम विधि-विशेषज्ञ आचार्य थे।

उनके शरीर की कांति तप्त स्वर्ण के सदृश, चम्पक पुष्प तुल्य अथवा उत्तम जाति वाले कमल के गर्भ-पराग के तुल्य पीत-वर्णयुक्त थी। वे भव्य प्राणियों के हृदयवल्लभ तथा जनता में दया धर्म गुण उत्पन्न करने में कुशल थे। वे तत्कालीन दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में युगप्रधान आचार्य थे। वे बहुविध स्वाध्याय के परम विज्ञाता, और संघ में स्वाध्याय, ध्यान और वैयावृत्त्य के विशेष गुणों को वर्धमान करने वाले थे। वे प्राणियों को भव-भय से मुक्त करने वाले नाइल कुल के प्रभावक आचार्य थे। आर्य नागार्जुन ऋषि उनके गुरु थे।

नंदी स्थविरावली में आचार्य भूतदिन्न की ऐसे भावपूर्ण शब्दों में अर्चना-वन्दना हुई है।

आर्य भूतदिन्न गोविन्दाचार्य के उत्तरवर्ती आचार्य थे। उनका वी.नि. की नवम् शती में होना अनुमानित है। —नंदी सूत्र स्थविरावली

भूतबलि (आचार्य)

एक सुविख्यात श्रुतधर दिगम्बर आचार्य। मुनि जीवन अंगीकार करने से पूर्व वे सौराष्ट्र देश के नहपान नामक राजा थे। उन्होंने श्रेष्ठीपुत्र सुबुद्धि के साथ आर्हती प्रव्रज्या धारण की। धरसेन आचार्य उनके शिक्षागुरु थे। आचार्य धरसेन ने ही उन्हें 'भूतबलि' तथा सुबुद्धि को 'पुष्पदंत' नाम प्रदान किया था। आचार्य भूतबलि "षट्खण्डागम" के उत्तर भाग के रचयिता माने जाते हैं। इस ग्रन्थ का प्रारंभ आचार्य पुष्पदंत ने किया और पूर्णता आचार्य भूतबलि ने की।

आचार्य भूतबलि नंदीसंघ पट्टावली के अनुसार वी.नि. की सातवीं शताब्दी के तथा इन्द्रनंदी श्रुतावतार के अनुसार वी.नि. आठवीं शताब्दी के आचार्य सिद्ध होते हैं।

भूतश्री

चम्पावासी ब्राह्मण की भार्या। (देखिए-नागश्री)

भूता

निरयावलिया सूत्र के अनुसार भूता भगवान पार्श्वनाथ के युग में राजगृह निवासी समृद्धिशाली गाथापति सुदर्शन और उसकी पत्नी प्रिया की अंगजाता थी। पूर्वजन्मों के अशुभ कर्मों के कारण वह जन्म से ही वृद्धा जैसी लगती थी। उसका शरीर कुरूप और जीर्ण था। यौवनावस्था प्राप्त होने पर भी वह देह-दशा के कारण अत्यन्त वृद्धा दिखाई देती थी। ऐसे में कोई भी व्यक्ति उससे विवाह करने को तैयार नहीं हुआ।

किसी समय भगवान पार्श्वनाथ राजगृह नगरी पधारे। भगवान का उपदेश सुनकर भूता को वैराग्य हो गया और वह पुष्पचूला आर्या की शिष्या बनकर संयम और तप की आराधना करने लगी। परन्तु धीरे-धीरे वह शिथिलाचार की ओर बढ़ने लगी तथा शारीरिक विभूषा के प्रति आकृष्ट हो गई। उसकी गुरुणी ने उसे समझाया तो वह गुरुणी से पृथक् रहकर संयम का पालन करने लगी। जहां उसमें शारीरिक विभूषा के आकर्षण का दुर्गुण था, वहीं कठोर तप करने का गुण भी मौजूद था। आयुष्य पूर्ण कर वह प्रथम स्वर्ग में गई, जहां वह श्रीदेवी नाम की देवी बनी। वहां से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर वह मोक्ष प्राप्त करेगी।

—निरयावलिया 4

भूधर जी (आचार्य)

स्थानकवासी परम्परा के एक प्रभावक आचार्य।

आचार्य भूधर जी का जन्म वी.नि. 2182 (वि. 1712) में नागौर (राजस्थान-मारवाड़) में हुआ। उनका गोत्र मुणोत था। उनके पिता का नाम माणकचंद और माता का नाम रूपा देवी था। सोजत निवासी शाहदलाजी रातड़िया मूथा की पुत्री कंचनदेवी के साथ उनका विवाह हुआ।

भूधर जी आकर्षक व्यक्तित्व और बलिष्ठ शरीर-सम्पदा के स्वामी थे। बाल्यकाल से ही उन्हें सैनिक बनना पसन्द था। युवावस्था में वे सेना में भरती हुए और उच्च पदस्थ सैन्य अधिकारी बने। एक बार डाकुओं के एक दल ने कंटालिया ग्राम पर धावा बोला। भूधर जी ने डाकुओं का सामना किया और उनसे बहादुरी से युद्ध किया। इस क्रम में भूधर जी के ऊंट पर डाकुओं ने तलवार से प्रहार किया। ऊंट को तड़पते देखकर भूधर जी का मन निर्वेद से भर गया।

भूधर जी का सम्पर्क आचार्य धन्ना जी से हुआ। उनके उपदेश से वे विरक्त बनकर दीक्षित हो गए। उन्होंने वी.नि. 2221 (वि. 1751) में मुनि जीवन में प्रवेश किया। वे एक तेजस्वी मुनि के रूप में मुनिसंघ में अर्चित हुए। उनके कई शिष्य बने। जयमल जी, जेतसिंह जी, कुशलो जी, जगमाल जी, रघुनाथ जी उनके प्रमुख शिष्य थे।

एक बार विरोधियों ने आचार्य भूधरजी को प्रेतबाधित एक मकान में ठहरा दिया। उस स्थान पर आचार्य श्री सानन्द ठहरे। उन्हें किसी प्रकार की हानि नहीं हुई। इससे विरोधी भी उनके भक्त बन गए।

आचार्य भूधर जी का स्वर्गवास (वी.नि. 2273 वि. 1803) में अनशनपूर्वक हुआ।

भूधरदास (कवि)

जीवन के सत्य और अध्यात्मामृत को सरल शब्दावली में पद्यबद्ध करने वाले एक जैन कवि।

आप आगरा के रहने वाले थे और जाति से खण्डेलवाल थे। वि. की अठारहवीं शती में आपने काव्य प्रतिभा में जहां विद्वद्वर्ग का मन मुग्ध किया, वहीं अपने सरल पदों में जीवन के अमूल्य सूत्रों को प्रस्तुत कर सामान्यजन के हृदय को भी आपने छूआ। "पार्श्व पुराण" आप द्वारा रचित महाकाव्य है, जिसमें पार्श्वनाथ भगवान का आद्योपान्त जीवन चरित्र चित्रित है।

'जैन शतक'—इस ग्रन्थ में आप द्वारा रचित 107 कवित्तों, दोहों, सवैयों और छप्पयों का संग्रह है।

बारह भावनाओं पर आप द्वारा रचित बारह पद आज भी जैन जगत की चारों सम्प्रदायों में अत्यन्त भक्तिभाव से पढ़े जाते हैं।

वस्तुतः आप कबीर, रैदास आदि संत कवियों की कोटि के कवि थे। आपकी कविताओं में अलंकारों की योजना अत्यन्त स्वाभाविक हुई है। सरल सत्य से भरे आपके पद पाठकों के हृदय में सीधे उतर जाते हैं।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा

भूमिपाल

सत्रहवें विहरमान तीर्थंकर श्री वीरसेन स्वामी के जनक। (देखिए-वीरसेन स्वामी)

भृगु पुरोहित

उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित एक चरम शरीरी ब्राह्मण। (देखिए-इक्षुकार राजा)

भैंसाशाह (पाडाशाह)

ई. की 12वीं-13वीं सदी का बुंदेलखण्ड का एक धनकुबेर श्रेष्ठी। भैंसाशाह अपरनाम पाडाशाह के महनीय कार्यों से सम्बन्ध रखने वाली सैकड़ों किंवदन्तियां बुन्देलखण्ड में प्रचलित हैं। वह लक्ष्मीपुत्र था और उसके द्वार से कभी कोई याचक निराश होकर नहीं लौटा था। कहा जाता है कि उसने अपने जीवनकाल में सैकड़ों मंदिरों का निर्माण कराया था। जनसाधारण की सुविधा के लिए अनेक कूप, बावड़ी, तड़ाग आदि बनवाए थे।

कहते हैं कि पाडाशाह अथवा भैंसाशाह अपने प्रारंभिक जीवन में निर्धन वणिक था। उसके पास एक भैंसा था, जिस पर तेल के कुप्पे लादकर वह गांव-गांव घूमकर और तेल बेचकर अपना जीवन निर्वाह करता था। एक दिन वह जंगल में बैठा सुस्ता रहा था। सहसा उसकी दृष्टि अपने भैंसे के खुर में लगी नाल पर पड़ी जो सोने की हो गई थी। इससे भैंसाशाह चमत्कृत हो गया। उसे निश्चय हो गया कि आस-पास कहीं पारस पत्थर है। उसने श्रमपूर्ण खोज से पारस पत्थर को ढूंढ़ निकाला और उसके कारण वह शीघ्र ही धनकुबेर हो गया। अपने भैंसे के निमित्त से उसका भाग्योदय हुआ, इसलिए वह उक्त नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उक्त कथा में तथ्य कितना है, यह तो नहीं कहा जा सकता है, परन्तु इतना सच है कि भैंसाशाह नामक व्यक्ति अद्भुत दानी और उदार व्यक्ति था। उसकी दानवीरता के किस्से वर्तमान लोककथाओं में भी सुमधुर श्रुति का विषय बने हुए हैं।

भोगवती

धन्ना सार्थवाह की चार पुत्रवधुओं में से द्वितीय। (देखिए-धन्ना सार्थवाह)

भोजकवृष्णि

एक हरिवंशीय राजा। (देखिए-अंधकवृष्णि)

(क) भोज राजा

ई. की ग्यारहवीं सदी का धारानगरी नरेश भोज जन्मना जैन तो नहीं था, परन्तु जैन संतों, जैन आचार्यों और जैन धर्म का बड़ा आदर करता था। अपने राजदरबार में उसने कई जैन आचार्यों को उच्चासन प्रदान किया था और कई जैनाचार्यों ने राज्याश्रय प्राप्त कर कई उत्कृष्ट ग्रन्थों की भी रचना की थी। आचार्य अमितगति, माणिक्यनंदी, नयनन्दि, प्रभाचन्द्र आदि का उसने बहुत सम्मान किया था। जैनकवि धनपाल भी भोज का बाल-सखा था और राजपद प्राप्त कर लेने के बाद भी भोज उसका सदा सम्मान करते रहे। राजा भोज का सेनापति कुलचन्द्र भी जैन था।

राजा भोज के पूर्वजों में सीयक राजा का नाम प्रमुख है, जिसने अपने जीवन के संध्याकाल में अपने पोषित पुत्र मुंज को राजपद देकर जैन दीक्षा धारण कर ली थी। मुंज भी जैन मुनियों का आदर करता था।

राजा भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह प्रथम भी जैन धर्म से प्रभावित था और उसने कई जैन आचार्यों को आश्रय दिया था।

(ख) भोज राजा

कान्यकुब्ज का राजा। आचार्य बप्पभट्टि और उनके शिष्यों का राजा भोज पर विशेष प्रभाव था। भोज ने जिन धर्म के प्रचार-प्रसार और प्रभावना के कई महत्त्वपूर्ण कार्य किए। (देखिए-बप्पभट्टि आचार्य)

भ्रमरकेतु

लंकाधिपति, एक राक्षसवंशीय क्रूर राजा। (देखिए-उत्तम कुमार)

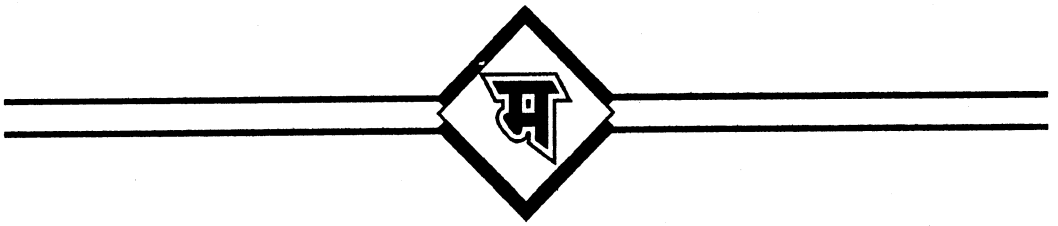

मंकाई गाथापति

राजगृह का रहने वाला एक समृद्ध गाथापति। किसी समय भगवान महावीर राजगृह नगरी के बाहर गुणशीलक उद्यान में पधारे। भगवान का उपदेश सुनने के लिए परिषद आई। मंकाई भी भगवान का उपदेश सुनने के लिए गया। उपदेश सुनकर वह विरक्त हो गया। उसने अपने बड़े पुत्र को गृहभार प्रदान कर भगवान के पास दीक्षा धारण कर ली। उसने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। गुणसंवत्सर तप का आराधन किया। सोलह वर्षों तक उसने विशुद्ध संयम की आराधना की। अन्त में विपुलगिरि पर मासिक संथारे के साथ और अंतिम श्वास में कैवल्य को साधकर मोक्ष प्राप्त किया। —अन्तगड सूत्र वर्ग 6, अ.1

मंखली

श्रवण ग्राम का रहने वाला मंख जाति का गृहस्थ जो चित्र-फलक दिखाकर भिक्षावृत्ति करता था। वह प्रसिद्ध चरित्र गोशालक का पिता था। (देखिए-गोशालक)

मंगलकलश

उज्जयिनी नगरी के श्रेष्ठी धनदत्त की पत्नी सत्यभामा ने प्रौढ़ावस्था में स्वप्न में मंगलकलश को देखकर एक पुत्र को जन्म दिया, इसीलिए पुत्र को भी मंगलकलश नाम ही दिया गया। योग्यवय में मंगलकलश कलाचार्य के पास रहकर विद्याध्ययन करने लगा। वह एक प्रतिभावान छात्र सिद्ध हुआ। युवावस्था की दहलीज पर कदम ररते-ररते वह अनेक कलाओं में निष्णात बन गया।

उसी काल में चम्पानगरी में राजा सुरसुन्दर राज्य करता था। उसकी पुत्री का नाम त्रैलोक्यसुंदरी था जो अपने नामानुरूप अतीव सुन्दर थी। राजा चाहता था कि उसकी पुत्री का विवाह ऐसे स्थान पर किया जाए जहां रहकर उन्हें पुत्री का विरह न सहना पड़े। राजा ने अपने प्रधानमंत्री सुबुद्धि से इस सम्बन्ध में विचार विनिमय किया। सुबुद्धि जानता था कि त्रैलोक्यसुन्दरी अपने माता-पिता की इकलौती संतान है और उससे विवाह करने वाला युवक ही अंततः चम्पानगरी का राजा भी बनेगा। मंत्री ने अपने पुत्र को त्रैलोक्यसुन्दरी के लिए प्रस्तावित किया। राजा ने इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया। हालांकि पिछले कई मास से मंत्री का पुत्र कुष्ठ रोग से पीड़ित था, पर इस रहस्य को मंत्री के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जानता था। मंत्री ने राजा से उसकी पुत्री के साथ अपने पुत्र के विवाह की स्वीकृति प्राप्त कर ली, पर जो विकट समस्या थी वह यह थी कि अपने कोढ़ी पुत्र को वह विवाह-मण्डप में कैसे बिठाए। बहुत मनोमन्थन के पश्चात् उसने अपनी कुलदेवी की आराधना की। आराधना से प्रसन्न कुलदेवी प्रगट हुई। मंत्री ने अपनी समस्या उसके समक्ष रखी और प्रार्थना की कि वह उसके पुत्र को स्वस्थ कर दे। कुलदेवी ने कहा, यह संभव नहीं है। तुम्हारे पुत्र ने निकाचित कर्मों का बन्ध किया है अतः उसे रोग मुक्त नहीं किया जा सकता है। मंत्री ने गिड़गिड़ाते हुए पूछा, माते! वर्तमान जटिल स्थिति में मेरे लिए क्या उचित है, कृपया मेरा मार्गदर्शन कीजिए।

कुलदेवी ने अपने अवधिज्ञान में वस्तुस्थिति का अध्ययन किया और मंत्री से कहा कि फलां दिन प्रभात के समय जो युवक नगर के दक्षिण द्वार पर आए उसी से अपनी समस्या का समाधान कीजिए। कहकर कुलदेवी अन्तर्धान हो गई।

सुनिश्चित समय की प्रतीक्षा में मंत्री ने अपने विश्वस्त अनुचर नगर के दक्षिण द्वार पर नियुक्त कर दिए। कुलदेवी ने अन्धड़ में उड़ाकर मंगलकलश को चम्पानगरी के दक्षिण द्वार पर ला छोड़ा। मंत्री के अनुचरों ने मंगलकलश को मंत्री के पास पहुंचाया। मंत्री ने अपनी पूरी योजना मंगलकलश को कही कि उसके पुत्र के स्थान पर उसे विवाह मण्डप में बैठना होगा। मंगलकलश ने उस कार्य को अनैतिक और अमानवीय बताकर वैसा करने से इन्कार कर दिया। मंत्री ने तलवार खींचकर मंगलकलश को धमकी दी कि यदि वह उसके आदेश का पालन नहीं करेगा तो उसे मार दिया जाएगा। विधि का लेख मानकर मंगलकलश ने मंत्री का प्रस्ताव इस शर्त के साथ स्वीकार कर लिया कि राजा की ओर से प्रीतिदान में मिलने वाले समस्त धन-माल पर उसका अधिकार होगा।

आखिर मंगलकलश के साथ राजकुमारी त्रैलोक्यसुन्दरी का विवाह हो गया। मंत्री के घर में राजकुमारी ने कदम रखा। मंगलकलश और राजकुमारी ने साथ बैठकर भोजन किया। पानी पीने के प्रसंग पर मंगलकलश ने कहा, उज्जयिनी के जलाशय का पानी अद्‌भुत है। मंत्री ने उसी क्षण संकेत से मंगलकलश को अपने पास बुलाया और प्रीतिदान के धन-माल के साथ विदा कर दिया।

रात्रि में दुल्हे के वेश में कुष्ठरोगी मंत्रिपुत्र ने राजकुमारी के कक्ष में प्रवेश किया। उसे देखते ही राजकुमारी समझ गई कि उसके साथ षडयन्त्र हुआ है। उसने तलवार खींचकर मंत्रिपुत्र को भगा दिया और सुबह का सूर्योदय होते ही राजमहल में पहुंच गई। उधर सूर्योदय से पूर्व ही मंत्री रोते हुए राजा के पास पहुंचा और कुशल अभिनय करते हुए राजा को यह समझाने में सफल हो गया कि राजकुमारी का स्पर्श करते ही उसका पुत्र कोढ़ी हो गया है। राजा ने भी अपनी पुत्री को दुर्भागा माना और उसका मुख तक देखना बन्द कर दिया। राजकुमारी पुनः-पुनः 'उज्जयिनी के जलाशय के अद्‌भुत जल' वाक्य पर चिन्तन करती। आखिर उसने यही चिन्तन निष्कर्ष निकाला कि जिस पुरुष के साथ उसका विवाह हुआ है वह पुरुष उज्जयिनी का निवासी होना चाहिए।

राजकुमारी ने जैसे-तैसे पिता से उज्जयिनी जाने की अनुमति प्राप्त कर ली। उज्जयिनी जाकर उसने अपनी कुशलता से मंगलकलश को खोज निकाला। सत्य से परिचित बनकर राजा सुरसुन्दर ने मंत्री को सपरिवार देश निकाला दे दिया और मंगलकलश को सर्वथा योग्य जानकर राजसिंहासन सौंप दिया। मंगलकलश ने सुदीर्घ काल तक प्रजा का पुत्रवत् पालन किया और अंतिम वय में साधना में जीवन समर्पित कर सद्‌गति प्राप्त की।

—शांतिनाथ चरित्र, प्रस्ताव -2

मंगलावती

अष्टम विहरमान अरिहंत प्रभु अनन्तवीर्य स्वामी की जननी। (देखिए-अनन्तवीर्य स्वामी)

मंगू (आचार्य)

श्रमण परम्परा के एक महान प्रभावक आचार्य। नन्दी सूत्र स्थविरावली में आचार्य मंगू की सुन्दर शब्दों में प्रशस्ति हुई है, तथा चूर्णिकार ने भी आचार्य श्री के महान गुणों की भावपूर्ण स्तुति की है। वे विशाल श्रुतराशि के धारक थे, प्रवचन प्रभावक, आचार कुशल, वादीमान-मर्दक और जिनशासन की कीर्ति को विस्तृत

करने वाले आचार्य थे। आचार्य मंगू बीस वर्षों तक आचार्य पाट पर रहे। वी.नि. सं. 470 में उनका स्वर्गवास अनुमानित है। —नन्दी स्थविरावली

मंगूसूरि (आचार्य)

जैन धर्म के एक प्रभावक और सूत्रधर आचार्य। उनकी शिष्य संपदा विशाल थी। एक समय आर्य मंगूसूरि मथुरा में पधारे। मथुरावासियों की अतिशय भक्ति उनके लिए प्रमाद का कारण बन गई। प्रमादी बनकर मथुरा में ही वे स्थिरवासी बन गए। प्रमादी अवस्था में ही मरकर वे यक्षयोनि में उत्पन्न हुए। यक्षयोनि में जन्म लेकर मंगूसूरि को अपने प्रमाद पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। एक बार उन्होंने विचित्र रूप धारण कर प्रमाद के प्रति अपने शिष्यों को प्रतिबोधित भी किया था। —निशीथचूर्णि भाग 2-3

मंजुला महासती

महासती मंजुला का परिचय-चित्र महासती अंजना के चरित्र से पर्याप्त समानता लिए हुए है। इस पर भी उसमें पर्याप्त मात्रा में नवीनता और मौलिकता भी है। मंजुला एक श्रेष्ठि-कन्या थी और उसका विवाह श्रीपुर नगर के युवा श्रेष्ठि-पुत्र श्रीकान्त से हुआ था। श्रीकान्त का व्यापार दूर देशों तक फैला हुआ था। संयोग कुछ ऐसा बना कि विवाह के दिन ही श्रीकान्त को विदेश जाना पड़ गया। विदेश में एक तपस्वी साधु श्रीकान्त की सेवाराधना से प्रसन्न हो गया। एक रात्रि में साधु ने श्रीकान्त से कहा कि आज की रात्रि में फलां नक्षत्र-काल में जो स्त्री गर्भ धारण करेगी, उसका पुत्र महान पुण्यशाली होगा और जब वह हंसेगा तो उसके मुख से लाल झरेंगे । कहकर साधु ने एक हंस श्रीकान्त को दिया और सख्त निर्देश दिया कि प्रभात खिलने से पूर्व ही वह उसका हंस उसे लौटा दे। साधु के निर्देशानुसार श्रीकान्त हंस पर सवार होकर अपने नगर में अपनी पत्नी के पास पहुंचा। पत्नी को अपने मिलने के प्रमाण के रूप में मुद्रिका प्रदान कर वह प्रभात खिलने से पूर्व ही साधु के पास लौट आया और उसे उसका हंस लौटा दिया।

चार मास बीतने पर मंजुला के गर्भ के लक्षण प्रगट होने लगे। परिणामतः वही हुआ जो संभाव्य था। मंजुला की एक भी बात सास और ननद ने नहीं सुनी और कलंकिनी का काला तिलक लगा कर मंजुला को घर से निकाल दिया। मंजुला बुद्धिमती और धर्मप्राण सन्नारी थी। महासती अंजना का आदर्श उसके सम्मुख था। सो पीहर में न जाकर वह एक जंगल में चली गई। एक गिरिगुहा में रहकर धर्मध्यान पूर्वक उसने गर्भपालन किया और नौ मास के पश्चात् एक पुत्र को जन्म दिया। पर इतने से ही उसका दुर्दैव संतुष्ट नहीं हुआ। पुत्र को जन्म देते ही उसे पुत्रविरह की प्रलम्ब काल-रात्रि काटनी पड़ी। चन्द्रकान्त पुर नगर के राजा जयशेखर ने मंजुला की एक हाथी से रक्षा की और उसे अपने महल में ले गया। पर मंजुला की युक्ति से उसके शील का रक्षण हो गया। उधर श्रीकान्त अपने नगर लौटा तो वस्तुस्थिति का परिचय पाकर अधीर बन गया। उलटे पांवों वह पत्नी की खोज में निकल गया। आखिर चन्द्रकान्तपुर में पति-पत्नी का मिलन हो गया। युक्ति से राजा के चंगुल से निकलकर मंजुला अपने पति के साथ श्रीपुर के लिए चल दी।

उधर मंजुला के पुत्र का लालन-पालन एक बनजारे के संरक्षण में हुआ। बनजारा निःसंतान था और उसने जंगल से प्राप्त नवजात शिशु को अपना पुत्र मानकर उसका पालन-पोषण किया और उसका नाम कुसुमसेन रखा।

श्रीपुर पहुंचने से पूर्व ही मंजुला और श्रीकान्त पुनः बिछुड़ गए। श्रीकान्त को एक सर्प ने काट लिया। वह शीघ्र ही मृतप्राय हो गया। उधर एक बनजारे के काफिले से अपने शील की रक्षा के लिए मंजुला एक

दिशा में भागी। उसे कंचनपुर के श्रेष्ठी श्रीधर के घर शरण मिली। श्रीधर मंजुला पर पितृ स्नेह उंडेलते थे, पर सशंकिता सेठानी ने मंजुला को एक गणिका के हाथ बेच दिया। वहीं पर मंजुला का अपने पुत्र से मिलन हुआ। परन्तु यह मिलन भी क्षणिक सिद्ध हुआ। पुनः माता और पुत्र बिछुड़ गए।

श्रीकांत बनजारे द्वारा स्वस्थ किया गया। बनजारे से गारुड़ी विद्या सीखकर श्रीकांत आगे बढ़ा। पिता-पुत्र का मिलन हुआ। दोनों मंजुला को खोजते-खोजते वाराणसी पहुंचे। पुण्योदय से श्रीकान्त वाराणसी नगरी का राजपद पा गया। आखिर इसी नगरी में पिता और पुत्र का मंजुला से मिलन हुआ। दुखों के विकराल चक्रव्यूह में प्रलम्ब काल तक भटक कर भी मंजुला ने अपने शील की रक्षा की।

सुदीर्घ काल तक साम्राज्ञी के सुखासन पर रहकर मंजुला ने संयम ग्रहण कर आत्मकल्याण किया। पिता श्रीकान्त और पुत्र कुसुमसेन ने भी महासती का अनुगमन कर आत्मार्थ को साधा।

मंडितपुत्र (गणधर)

भगवान महावीर के षष्ठम गणधर। मौर्य ग्रामवासी वासिष्ठ गोत्रीय धनदेव ब्राह्मण और उनकी पत्नी विजयादेवी इनके पिता और माता थे। ये सुख्यात वेद विद्वान थे और सोमिल ब्राह्मण द्वारा आयोजित यज्ञ में अपने साढ़े तीन सौ शिष्यों के साथ सम्मिलित हुए थे। ये भगवान महावीर को शास्त्रार्थ में पराजित करना चाहते थे पर स्वयं पराजित होकर अपने छात्रों के साथ भगवान के शिष्य बन गए। बंधन और मोक्ष के संदर्भ में इनकी शंका का भगवान ने समाधान किया था।

मंडितपुत्र ने चौवन वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की, अड़सठवें वर्ष में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और तिरासी वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर वे मोक्षगामी हुए।

मंडुक

(देखिए-शैलक राजर्षि)

मंदोदरी

लंका के राजा रावण की पटरानी। युद्ध में रावण की मृत्यु के पश्चात् उसका हृदय वैराग्य से भर गया। केवली मुनिवर श्री अप्रमेयबल के श्रीमुख से अपना पूर्वभव सुनकर उसका वैराग्य परिपक्व बन गया और उसने प्रव्रज्या अंगीकार कर ली। साधना द्वारा उसने सद्गति का अधिकार पाया। जैन तथा जैनेतर रामायणों के उल्लेखानुसार मन्दोदरी अपने युग की परम सुरूपा तथा पतिपरायणा सन्नारी थी। उसने रावण को सदैव इस बात के लिए प्रेरित किया था कि वह सीता को ससम्मान श्रीराम को लौटा दे।

(क) मकरध्वज

कांति नामक नगरी का परम उदार और परम पुण्यवान राजकुमार। एक बार उसने एक ही दिन में याचकों को एक करोड़ स्वर्णमुद्राएं दान में दे दीं। इससे उसका पिता राजा वैरिदमन उस पर नाराज हो गया। उसने पुत्र से कहा, तुमने एक ही दिन में एक करोड़ स्वर्णमुद्राएं दान कर दीं। इतनी ही स्वर्णमुद्राएं तुम एक दिन में अर्जित कर सको तो घर आना, अन्यथा मेरे राज्य से दूर चले जाना।

मकरध्वज ने पिता के कथन का बुरा नहीं माना। उसे पिता का आशीर्वाद मान कर वह घर से निकला। जंगल में उसे पुण्य प्रभाव से करोड़ों रुपये मूल्य के चार वंशमुक्ता मोती मिले। उन्हें प्राप्त कर वह घर की ओर चला। मार्ग में उसे संगीत स्वर सुनाई पड़े। वह उधर गया। उसने देखा, एक यक्ष एक मुनि के समक्ष

नाट्यविधि का प्रदर्शन कर रहा है। मकरध्वज मुनि के चरणों में जाकर बैठ गया। नाट्य-विधि पूर्ण कर यक्ष अदृश्य हो गया। मुनि ने ध्यान पूर्ण किया। मकरध्वज ने मुनि को प्रणाम कर यक्ष का परिचय उनसे पूछा। मुनि ने बताया कि वह यक्ष पूर्वजन्म में एक सेठ था और उसने एक मुनि से सत्य बोलने का नियम लिया था। पर वह ग्रहीत नियम का निरतिचार पालन नहीं कर सका। उस पर भी वह यक्ष जाति में उत्पन्न हुआ है। यदि वह ग्रहीत व्रत का निरतिचार पालन करता तो महा-ऋद्धिशाली वैमानिक देव बनता। मुनि की बात सुनकर राजकुमार मकरध्वज को व्रत-महिमा का ज्ञान हुआ। उसने मुनि से सदा सत्य बोलने का नियम ले लिया। नियम लेकर वह अपने महल की ओर चल दिया।

मकरध्वज की सत्य की परीक्षा लेने के लिए वह यक्ष उससे पहले ही नगर में पहुंच गया। उसने मानव रूप धारण कर राजा से शिकायत की कि जंगल से उसके चार वंशमुक्ता मोती किसी ने चुरा लिए हैं। अतः चोर को पकड़कर उसके मोती दिलाएं । राजा ने नगर में पटह बजवा दी और चोर को पकड़ने वाले के लिए पुरस्कार की घोषणा की।

मकरध्वज ने भी घोषणा सुनी। वह निर्भय चित्त से महाराज के पास पहुंचा। उसने मोती राजा को अर्पित करते हुए कहा कि उसने मोती चुराए नहीं हैं, बल्कि एक स्थान पर बांसों के झुरमुट से प्राप्त किए हैं।

यक्ष ने मकरध्वज की सत्यवादिता देखी। वह अतीव प्रसन्न हुआ। वास्तविक रूप में प्रगट होकर उसने मकरध्वज की प्रशंसा की और स्वर्णवृष्टि करके अदृश्य हो गया।

पुत्र के पुण्य प्रभाव और देव द्वारा उसकी अर्चा देख राजा गद्‌गद हो गया। मकरध्वज को राजपाट देकर वह प्रव्रजित हो गया। मकरध्वज ने प्रलम्ब काल तक प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। आयु के उत्तर पक्ष में संयम धारण कर वह आठवें देवलोक में गया। भवान्तर में वह सिद्धि प्राप्त करेगा।

—जैन कथा रत्न कोष भाग 6 / बालावबोध (गौतमकुलक)

(ख) मकरध्वज

वाराणसी नगरी का राजा। (देखिए-उत्तम कुमार)

मघवा (चक्रवर्ती)

पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ जी के शासन काल में हुए मघवा श्रावस्ती नगरी के महाराज समुद्रविजय की पटरानी भद्रा के अंगजात थे। युवावस्था में उनका अनेक राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ। उन्होंने छह खण्डों को साधकर चक्रवर्ती पद पाया। वे तृतीय चक्रवर्ती बने। आयु के अन्तिम भाग में संयम ग्रहण करके उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। वे मोक्ष में गए। —उत्तराध्ययन सूत्र

मच्छियमल्ल

एक बलवान मछेरा, जिसके बलिष्ठ और सुगठित शरीर से प्रभावित होकर राजा सिंहगिरि ने उसे मल्ल विद्या में प्रवीण बनाया। वह मच्छियमल्ल नाम से ख्यात हुआ।

मणिचन्द्र

देव, गुरु और धर्म पर अनन्य आस्था रखने वाला एक दृढ़धर्मी श्रावक, कनकपुरी नगरी का कोटीश्वर श्रेष्ठी और सम्मानित नगर सेठ। उसने जनकल्याण के लिए अनेक दानशालाएं खोली थीं, धर्मशालाओं और

पौषधशालाओं का निर्माण कराया था। साथ ही उसने एक कठोर नियम लिया था कि वह प्रतिदिन मुनिदर्शन करके ही अन्न-जल ग्रहण करेगा। उक्त नियम के पालन में एक बार उसे निरंतर तीन मास तक निराहारी रहना पड़ा। अधेड़ावस्था में उसे एक पुत्र और एक पुत्री की प्राप्ति हुई। पुत्र-पुत्री के युवा होने पर समान कुलों में उनके विवाह किए गए। पुत्र का नाम गुणसेन और पुत्रवधू का नाम विजया था। दुर्दैववश पुत्र और पुत्रवधू विपरीत प्रकृति के सिद्ध हुए। उन्होंने मणिचन्द्र और सुभद्रा—माता-पिता को घर से निकाल दिया। मणिचन्द्र ने इसे अपने ही कर्मों का दोष माना। इससे उसकी धर्म-श्रद्धा पूर्वापेक्षया और सुदृढ़ हो गई। अपने नगर से निकलकर सेठ कई नगरों में घूमता हुआ पुरपइठान नगर में आया। उसके पुण्य कर्म पुनः उदय में आए और अल्पकाल में ही वह पुनः कोटीश्वर बन गया।

उधर पुत्र गुणसेन के जीवन में द्यूत, मदिरा, वेश्यागमन आदि कई दुर्गुण प्रवेश कर गए और वह शीघ्र ही कंगाल हो गया। उसे सब ओर से फटकारें प्राप्त हुईं। आखिर उसे भी कनक पुरी का परित्याग करना पडा। चम्पापुरी में केशी स्वामी का उपेदश सुनकर गुणसेन और विजया को धर्म श्रद्धा की प्राप्ति हुई। उनके हृदय में विनय गुण उत्पन्न हुआ। तब उन्होंने अपने माता-पिता की खोज की और अपने दुर्व्यवहार के लिए उनसे क्षमा मांगी तथा अपना जीवन माता-पिता की सेवा में समग्रतः समर्पित कर दिया।

मणिचन्द्र धर्मध्यान पूर्वक जीवन यापन करके सद्गति का अधिकारी बना। आगे के भवों में वह मोक्ष प्राप्त करेगा।

(क) मणिचूड़

एक मुनि (देखिए-मदनरेखा)

(ख) मणिचूड़

रत्नपुर नरेश। मणिचूड़ एक विद्याधर राजा था और उसके पितृव्य विद्युत्वेग ने राज्य प्रलोभन के कारण उसे परास्त कर वन-शरण लेने के लिए विवश कर दिया था। विदेश यात्रा को निकले अर्जुन की मणिचूड़ से भेंट हुई। उस समय मणिचूड़ जीवन से निराश होकर आत्महत्या करना चाहता था। अर्जुन ने उसे धैर्य दिया। अर्जुन का मैत्री-भाव पाकर मणिचूड़ का खेद नष्ट हो गया। आखिर अर्जुन ने विद्युत्वेग को परास्त कर मणिचूड़ को उसका खोया हुआ राज्य दिलाया। —जैन महाभारत

मणिप्रभ

एक विधाधर। (देखिए-मदनरेखा)

मणिभद्र

आचार्य संभूतविजय के एक शिष्य। —कल्पसूत्र स्थविरावली

मणिरथ कुमार

तीर्थंकर महावीर कालीन काकंदी नगरी का युवराज, जो आखेट प्रिय था। प्रतिदिन वह जंगल में जाकर निरीह प्राणियों पर बाणवर्षा करता और रक्त बहाकर अपना शौक पूरा करता। किसी समय जब वह आखेट के लिए वन में गया तो एक स्थान पर घास चर रहा मृगसमूह उसकी पदचाप सुनते ही एक दिशा में भाग खड़ा हुआ। राजकुमार ने देखा, झुण्ड के सभी मृग भाग गए हैं पर एक मृगी मृत्यु को समक्ष आता हुआ जानकर भी अविचल अवस्था में खड़ी होकर एकटक दृष्टि से उसी की ओर देख रही है। मृगी को देखकर

किसी वन्य प्राणी के प्रति जीवन में प्रथम बार राजकुमार के हृदय में अनुराग का भाव जन्मा। मृगी और राजकुमार दोनों परस्पर एक-दूसरे को देख रहे थे। राजकुमार कुछ समझ न सका। उसे चिन्तन जगा, संभव है कि इस मृगी से मेरा कोई पूर्वजन्म का सम्बन्ध हो। तीर्थंकर महावीर राजोद्यान में विराजित हैं, वही मेरे प्रश्न का समाधान कर सकते हैं।

राजकुमार भगवान महावीर के चरणों में पहुंचा। राजकुमार की जिज्ञासा पर भगवान ने उसकी शंका का समाधान करते हुए फरमाया—राजकुमार! तुम्हारा इस मृगी के जीव के साथ पूर्व भव में स्नेह-सम्बन्ध रहा है। घटना इस प्रकार है—साकेत नगर में प्रियंकर नामक एक युवक का सुन्दरी नामक एक श्रेष्ठि-पुत्री से विवाह हुआ था। पति-पत्नी के मध्य तीव्र अनुराग भाव था। दुर्दैववश पति की आकस्मिक मृत्यु से सुन्दरी को गहरा आघात लगा। उसने पति के शव का संस्कार नहीं करने दिया। पति के शव को लेकर वह जंगल में चली गई। उसे विश्वास नहीं था कि उसके पति का देहान्त हो चुका है। कई मास तक वह पति के शव के साथ वन में भटकती रही। बाद में एक धार्मिक युवक ने एक युक्ति को आधार बनाकर सुन्दरी को संबोधि दान दिया। सुन्दरी नगर में लौट आई और धर्मध्यान पूर्वक जीवन यापन करने लगी।

भगवान ने स्पष्ट किया, राजकुमार! उस भव में तुम ही सुन्दरी थे और यह मृगी तुम्हारे पति के रूप में थी। आज तुम एक-दसरे को देखकर अतीत के अनुराग में बंध गए हो।

अपने पूर्वभव की कथा सुनकर राजकुमार मणिरथ विरक्त हो गया। उसने प्रभु के चरणों में दीक्षा धारण कर ली और संयम का पालन कर सुगति प्राप्त की। —कुवलयमाला कहा

मणिरथ (राजा)

सुदर्शन नगर का राजा। वह एक कामान्ध पुरुष था। किसी समय उसने अनुज-वधू मदनरेखा को उसके महल की छत पर शृंगार करते देखा। वह अनुजवधू पर आसक्त बन गया। उसने एक षडयन्त्र रचा और अपने अनुज युगबाहु को सीमा पर युद्ध के लिए भेज दिया। अपने मार्ग को निष्कण्टक पाकर उसने मदनरेखा से अपना कुत्सित प्रस्ताव कहा जिसे मदनरेखा ने घृणा से अस्वीकार कर दिया। पर कामान्ध मणिरथ किसी भी शर्त पर अनुजवधू को अपनी पत्नी बनाना चाहता था। इसीलिए उसने युद्ध से लौटने पर अपने भाई युगबाहु की कपट पूर्वक हत्या कर दी। परन्तु वह स्वयं भी अधिक देर जीवित न रह सका। अन्धकार में भागते हुए मणिरथ को एक सर्प ने दंश लिया। वह उसी क्षण धराशायी हो गया और मरकर नरक में गया। (देखिए-मदनरेखा)

मणिशेखर

वसन्तपुर के कोटीश्वर श्रेष्ठी धनदत्त का इकलौता पुत्र, एक दृढ़ प्रतिज्ञयी और महत्संकल्पी युवक। मणिशेखर की नगर में अच्छी प्रतिष्ठा थी। वह सर्वांग सुन्दर, बलिष्ठ, विनीत और मृदुभाषी था। मणिशेखर के जीवन में मोड़ तब आया जब वह कुछ चापलूस मित्रों पर विश्वास कर बैठा। मित्र दुर्व्यसनी थे। संगत की रंगत से मणिशेखर मुक्त न रह सका और चौर्य कर्म में लिप्त बन गया। कुछ ही दिनों में वह नामी चोर बन गया। वह इतनी कुशलता और सफाई से चोरियां करता था कि किसी की पकड़ में नहीं आता था। धनदत्त पुत्र की प्रवृत्ति से परिचित थे और उन्होंने हजार-हजार ढ़ंगों से पुत्र को चौर्य कर्म छोडने के लिए मनाया था। पर मणिशेखर को चोरी करने में ऐसा रस आता था कि उसने पिता की सीखों को नजरंदाज कर दिया।

प्रतिदिन की चोरियों से नगर में भय का वातावरण निर्मित हो चुका था। नागरिकों ने राजा से चोर से

रक्षा की गुहार की। राजा ने महामंत्री मतिसागर को चोर को पकड़ने का दायित्व सोंपा। मतिसागर बुद्धिमान मंत्री था। उसकी पैनी नजरों ने चोर को पहचान लिया, पर बिना प्रमाण के वे चोर को पकडें भी तो कैसे? मतिसागर ने मणिशेखर को उसके कुल-गौरव का वास्ता देकर उसे चौर्य कर्म से निवृत्ति की सलाह दी। पर मंत्री की सलाह का भी मणिशेखर पर कोई प्रभाव नहीं हुआ।

पुण्ययोग से आचार्य धर्मघोष वसंतपुर पधारे। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के ज्ञाता आचार्यश्री ने अपने उपदेश में चोरी के दुष्परिणाम पर प्रकाश डाला। मणिशेखर भी श्रोता परिषद में उपस्थित था। उपदेश परिसमाप्ति पर सभी ने आचार्य श्री से कोई न कोई नियम-व्रत अंगीकार किया। मणिशेखर की बारी आई। मणिशेखर ने कहा, आचार्य देव! चोरी न करने के त्याग के अतिरिक्त आप कोई भी एक त्याग मुझे करा दीजिए। प्राण देकर भी मैं प्रण का पालन करूंगा।

आचार्य श्री ने मणिशेखर को सत्य बोलने का नियम करा दिया। मणिशेखर महत्संकल्पी तो था ही। सो उसने अन्तरात्मा से यह संकल्प कर लिया कि वह जीवन में कभी झूठ नहीं बोलेगा।

चौर्यकर्म और सत्यसंभाषण परस्पर विरोधी बातें थीं पर इस विरोधाभास को मणिशेखर ने सफलता पूर्वक जीया। मंत्री जब चोर को रंगे हाथों पकड़ने में असफल रहा तो स्वयं राजा ने चोर को पकड़ने का बीड़ा उठाया। पर राजा को भी उसमें सफलता न मिली। बल्कि उसी रात्रि में राजा के राजकोष को मणिशेखर ने अपना लक्ष्य बना दिया। राजा हैरान-परेशान था। उसने मंत्री से गहन विचार-मन्थन किया। मंत्री के बताने पर राजा चोर को जान तो गया पर बिना प्रमाण के वह मणिशेखर को पकड़ नहीं सकता था। आखिर मंत्री की मंत्रणा पर राजा ने एक योजना बनाई। उसने मणिशेखर को अपने पास बुलाया और महामंत्री पद का दायित्व उसे प्रदान करते हुए कहा, नागरिकों की सुरक्षा का दायित्व अब तुम्हारे कन्धों पर है, आशा है तुम अपने दायित्व के संवहन मे सफलता प्राप्त करोगे।

राजा का तीर निशाने पर लगा। मणिशेखर पर राज्य रक्षा का भार आ चुका था। रक्षक भक्षक कैसे बने इस विचार ने मणिखेशर के हृदय से चौर्य के मैल को धो डाला। यही एक दुर्गुण उसके जीवन में था जिसके धुल जाने पर वह एक श्रेष्ठ नागरिक बन गया। उसने शेष जीवन धर्माराधना करते हुए व्यतीत किया। आचार्य धर्मघोष से उसने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किए और उनका निरतिचार पालन करते हुए वह उत्तम गति का अधिकारी बना।

(क) मतिसागर

श्रीपुर नगर के राजा जितारि का महामंत्री मतिसागर अत्यंत बुद्धिसम्पन्न एवं धर्मप्राण पुरुष था। राजा जितारि धर्म-कर्म पर विश्वास नहीं करता था। उसे अपने धन और बल पर अहं था। वह सोचता था कि जिसके पास धन और सत्ता है वही श्रेष्ठ और सम्माननीय है। अपनी इसी मान्यता के कारण राजा अपने धन और बल को बढ़ाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहता था।

राजा और मतिसागर में परस्पर मैत्री सम्बन्ध थे। फलतः पारस्परिक वार्ताओं में मतिसागर राजा को धर्म की महिमा समझाता रहता था। पर राजा धर्म की महिमा को कल्पित विश्वास से अधिक मानने को तैयार नहीं था। एक बार धर्म के विषय पर वार्ता करते हुए राजा और मंत्री मतिसागर अपने-अपने पक्ष पर कठोरता से डट गए। राजा ने मंत्री से कहा, तुम्हारे धर्म की महिमा मैं तब मान सकता हूँ जब तुम रिक्त हाथों से मेरे देश से दूर जाकर धर्म के प्रभाव से समृद्धि सृजित करो। मंत्री ने राजा की चुनौती को स्वीकार

कर लिया और रिक्त हाथों से श्रीपुर नगर को त्याग कर वह अलक्षित पथ पर बढ़ चला ।

मतिसागर धर्म को प्राणों से भी बढ़कर मानता था। धर्म के बल पर उसने जंगल से गुजरते हुए एक राक्षस का हृदय जीता। एक यक्ष ने उस की धार्मिकता पर प्रसन्न बनकर उसे कामघट नामक एक घड़ा दिया जो इच्छित पदार्थ तत्क्षण उपस्थित कर देता था। राक्षस से मंत्री ने एक ऐसा दण्ड प्राप्त किया जो आदेश पाकर हजारों कोस पर रहे हुए शत्रुओं को दण्डित कर सकता था। एक सार्थ-संघपति से उसने दिव्य चमरयुगल और राजकीय छत्र प्राप्त किए। इन दिव्य वस्तुओं के साथ मंत्री अपने नगर में लौटा। कामघट के द्वारा उसने एक सप्तमंजिले देवविमान तुल्य भवन का निर्माण कराया और उसमें रहने लगा। रातों-रात विशाल महल तैयार होने की सूचना फैलते-फैलते राजा तक भी पहुंची। वास्तविकता को जानकर राजा अत्यंत प्रभावित हुआ। राजा और मंत्री का मिलन हुआ। परंतु राजा तब भी अंतर्हृदय से धर्म की महिमा को मानने को तैयार नही था। एक प्रसंग पर राजा ने मंत्री से कहा, ये सब दिव्य वस्तुएं संयोग से तुम्हें मिल गई हैं। इसमें धर्म की महिमा जैसी कोई बात नहीं है। यदि एक बार तुम पुनः अपनी पत्नी के साथ दूर देशों में जाकर समृद्धि अर्जित कर सको तो मैं धर्म की महिमा को स्वीकार कर सकता हूँ।

मंत्री मतिसागर के तन-मन-प्राण में धर्म बसा हुआ था। वह सोचता था कि यदि राजा धर्मरुचि सम्पन्न होगा तो प्रजा भी धर्मरुचि सम्पन्न होगी। इसलिए राजा के मन में धर्मभाव का जागरण आवश्यक है। इसी सोच से प्रेरित बनकर उसने एक बार पुनः अपना सर्वस्व त्याग कर अपनी पत्नी विनयसुन्दरी के साथ श्रीपुर नगर से प्रस्थान कर दिया। कई दिन यात्रा करने पर मतिसागर और उसकी पत्नी एक तटीय नगर में पहुंचे। उन्होंने देखा—एक समुद्री व्यापारी माल से जहाज भर कर यात्रा के लिए तैयार है और समुद्री बाधाओं से बचने के लिए अनुष्ठान रूप में याचकों को दान दे रहा है। मतिसागर ने अपनी पत्नी को पास के उद्यान में प्रतीक्षा करने को कहा और सेठ से कुछ पाने की आशा में उसके जहाज पर गया। संयोग से उसके जहाज पर पहुंचते ही जहाज चल दिया। मतिसागर ने इसे भवितव्यता के रूप में माना और सेठ के साथ रहना स्वीकार किया। उधर उसकी पत्नी विनयसुन्दरी को एक धार्मिक कुंभकार के घर शरण प्राप्त हो गई।

रत्नद्वीप पर सेठ का जहाज पहुंचा। मतिसागर सेठ का विश्वसनीय मित्र बन चुका था। सेठ ने व्यावसायिक दायित्व उस को प्रदान कर दिया। व्यवसाय के कुशल संचालन से मतिसागर ने पर्याप्त धन अर्जित किया। उधर रत्नद्वीप नरेश शक्रपुरन्दर के समक्ष एक ऐसी जटिलता उपस्थित हुई जिसे कोई भी हल न कर सका। आखिर मतिसागर ने ही उस जटिलता का समाधान किया। राजा इससे इतना प्रसन्न हुआ कि उसने अपनी पुत्री का विवाह मतिसागर से कर दिया और उसे आधा राज्य भी दे दिया। मतिसागर के इस सम्मान से सेठ को उससे ईर्ष्या हो गई।

मतिसागर को अपनी पत्नी विनयसुन्दरी की याद सताने लगी तो उसने प्राप्त राज्य राजा को लौटाकर यात्रा की तैयार की। राज्य के बदले में श्वसुर राजा ने मतिसागर को हीरे-जवाहरात और सोने- चांदी से भरे हुए पचास जहाज भेंट किए। यात्रा प्रारंभ हुई। सेठ भी अपने जहाज पर सवार होकर यात्रायित हुआ। सेठ के मन में मतिसागर की समृद्धि के प्रति ईर्ष्या और उसकी सद्यपरिणीता राजकुमारी पत्नी के प्रति कामाकर्षण प्रबल बन चुका था। उसने मधुर शब्दों से मोहित बनाकर मतिसागर को अपने जहाज पर आमंत्रित किया और अवसर साधकर उसे समुद्र में फैंक दिया। सेठ ने मतिसागर की पत्नी को संवेदना दी और उसे अपनी पत्नी बनाने के लिए अनेकविध यत्न किए। पर राजकुमारी की कुशलता से सेठ का मनोवाञ्छित स्वप्न साकार न हो सका।

एक काष्ठखण्ड के सहारे मतिसागर किनारे पर आ लगा। वहां एक सुनसान नगर में किसी दैत्य द्वारा बन्दी बनाई गई राजकुमारी को दैत्य से मुक्त कराके मतिसागर उस नगर में पहुंचा जहां उसकी पत्नी विनयसुन्दरी थी। उधर सेठ भी उस नगर में पहुंच चुका था। वहां पर पहुंचकर मतिसागर ने अपनी दोनों पत्नियों को भी प्राप्त कर लिया। धर्म के बल पर उस का पुण्य दोपहर का सूरज बनकर चमक रहा था। वहां के राजा ने भी उससे अपनी पुत्री का पाणिग्रहण कराया और आधा राज्य उसे दहेज में प्रदान किया।

आखिर चार पत्नियों तथा भारी सैन्यदल के साथ मतिसागर अपने नगर की सीमा पर पहुंचा और राजा जितारि को धर्म की महिमा का परिज्ञान कराने के लिए उसने युद्ध की भेरी बजा दी। राजा जितारि युद्ध के मैदान में आ डटा पर मतिसागर का सामना न कर सका। उसे बन्दी बनाकर मतिसागर के समक्ष लाया गया। मतिसागर को देखते ही जितारि उसे पहचान गया। मतिसागर मंत्री ने युद्ध का नाटक समाप्त कर जितारि को गले से लगा लिया।

राजा जितारि धर्म की महिमा जान चुका था। उसकी धर्मश्रद्धा इतनी प्रबल बनी कि राजपाट त्याग कर वह मुनि बन गया। मंत्री मतिसागर ने भी मुनिव्रत स्वीकार किया। उग्र तपश्चरण से जितारि मुनि और मतिसागर मुनि ने मोक्ष प्राप्त किया। — राजेन्द्र सूरिकृत कामघट कथानक

(ख) मतिसागर

कमलपुर नगर का रहने वाला एक बुद्धिमान और विचक्षण मन्त्री। (देखिए-भीमकुमार)

(ग) मतिसागर

एक बुद्धिमान और स्वामीभक्त मन्त्री। (देखिए-श्रीपाल)

(क) मदन

विश्वपुर नगर का रहने वाला एक श्रेष्ठि पुत्र, जो सदाचारी और धर्मात्मा था। राजकुमार महेन्द्र से उसकी मैत्री थी। उसके आमंत्रण पर एक बार राजकुमार महेन्द्र उसके घर पर गया। मदन की पत्नी चन्द्रवदना ने महेन्द्र का स्वागत किया। महेन्द्र और चन्द्रवदना दोनों एक-दूसरे के प्रति समर्पित बन गए। राजकुमार महेन्द्र मैत्री के अर्थों को विस्मृत कर बैठा। उसने एक पुरुष को अपना गलहार देकर उसे मदन की हत्या का कार्य सौंपा पर नगररक्षक की चतुर दृष्टि से वह पुरुष बच न सका। जब वह मदन की हत्या करने को तत्पर था, उसी क्षण नगररक्षक ने उसे बन्दी बना लिया और दूसरे दिन राजा के समक्ष उपस्थित किया। सख्ती से पूछताछ करने पर उस पुरुष ने शीघ्र ही सत्य उगल दिया। राजा ने अपने पुत्र महेन्द्र को देश-निर्वासन का दण्ड दिया। चन्द्रवदना भी उसके साथ चली गई। जंगल में उन दोनों को तस्करों ने पकड़ लिया और रक्त-व्यापारियों को बेच दिया। रक्त व्यापारियों ने उनके शरीर का रक्त निकाल लिया जिससे उनकी मृत्यु हो गई । दोनों मरकर नरक में गए और असंख्य काल तक भवभ्रमण करेंगे।

मित्र द्वारा मैत्री में तथा पत्नी द्वारा विश्वास और प्रेम में छले जाने पर मदन का हृदय वैराग्य भाव से पूर्ण बन गया। उसने गृहत्याग कर अनगार वृत्ति को अंगीकार कर लिया। चारित्र की आराधना कर वह स्वर्ग में गया और भवान्तर में मोक्ष प्राप्त करेगा।

—भव भावना, गाथा 440 / जैन कथा रत्न कोष,भाग 6, कथा 6 / गौतम कुलक बालावबोध

(ख) मदन

कुशस्थल नगर का रहने वाला एक श्रेष्ठी। उसकी दो पत्नियां थीं—चण्डा और प्रचण्डा। अपने नाम के

अनुरूप ही दोनों चण्ड प्रकृति की स्वामिनी थीं। दोनों ही विभिन्न विधियों से मदन को परेशान-हैरान करती थीं। स्थिति यहां तक जा पहुंची कि मदन को यह लगने लगा कि उसकी पत्नियां उसका वध भी कर सकती हैं। भयभीत मदन ने एक रात्रि में अपना नगर छोड़ दिया। कई दिनों तक निरन्तर वह चलता रहा और संकाश नामक नगर में पहुंचा। वहां भानुदत्त नामक श्रेष्ठी ने मदन का स्वागत किया और उसके साथ अपनी पुत्री विद्युल्लता का विवाह कर दिया। विद्युल्लता सुन्दर और चतुर थी तथा साथ ही अनेक दिव्य विद्याएं जानती थी।

कालक्रम से मदन को पूर्व पत्नियों से भय समाप्त हो गया और उनके प्रति अनुराग भाव उत्पन्न हो गया। उसने विद्युल्लता को अपने पूर्व जीवन से परिचित कराया और पूर्व पत्नियों के प्रति अपने अनुराग की बात कही। मदन ने कहा कि अब उसे कुशस्थल लौटकर अपनी पत्नियों के सुख-दुख का पता करना चाहिए। विद्युल्लता को सौतों के प्रति अपने पति का अनुराग सहन नहीं हुआ। पर उसने हृदय के भाव को प्रगट नहीं किया। उसने अभिमन्त्रित पाथेय मदन को देकर विदा कर दिया। मार्ग में मदन को भूख लगी तो वह भोजन करने बैठा। उसी समय वहां पर एक संन्यासी आ गया। मदन के हृदय में अतिथि सत्कार का भाव उदय हुआ। उसने संन्यासी से भोजन करने की प्रार्थना की। संन्यासी ने उसकी प्रार्थना स्वीकार कर ली। मदन ने संन्यासी को भोजन कराया। सहसा एक दुर्घटना घटी। भोजन करते ही संन्यासी बकरा बन गया और किसी अदृश्य शक्ति से प्रेरित बनकर संकाश नगर की ओर चल पड़ा। हैरान-परेशान बनकर मदन बकरे के पीछे-पीछे चल दिया। बकरा विद्युल्लता के घर पहुंचा। बकरे को देखते ही विद्युल्लता क्रोधित बनकर डण्डे से उसे मारने लगी। मदन वस्तुस्थिति को समझ गया और वहां से भाग छूटा। वह हसंतीपुर नगर में जा पहुंचा और वहां भगवान आदिनाथ के चैत्य में बैठकर अपनी स्थिति पर आंसू बहाने लगा। वहां पर उसे धनदेव नामक एक तरुण मिला। दोनों की परस्पर मैत्री हो गई। मदन ने धनदेव को अपनी स्थिति से अवगत कराया। सुनकर धनदेव ने मदन को मधुर वचनों से आश्वस्त किया और कहा कि उस की अपनी स्थिति उससे भी बदतर है। मदन द्वारा पूछने पर धनदेव ने अपनी आत्मकथा उसे सुनाई।

धनदेव ने कहा, वह इसी नगरी का रहने वाला है और उसकी भी दो पत्नियां हैं जो स्वच्छन्दाचारिणी हैं। दोनों ही दिव्य विद्याओं में पारंगत भी हैं। एक बार दैव-वश उसे एक अन्य कन्या से विवाह करना पड़ गया। कुपित होकर पहली पत्नियों ने उसे शुक बना दिया। कई वर्षों तक वह शुक-योनि में रहा और पत्नियों की कटूक्तियां सहन करता रहा। कुछ पुण्योदय हुआ तो नई पत्नी ने उसे शुक योनि से मुक्ति दी, क्योंकि वह भी अनेक दिव्य विद्याओं की स्वामिनी थी। पूर्व पत्नियों ने उसे बाढ़ में डुबोकर मारने का यत्न किया, पर नई पत्नी ने पुनः उसकी रक्षा की। नई पत्नी की शक्ति से परिचित होकर पूर्व पत्नियां हतोत्साहित नहीं बनीं बल्कि उन्होंने मिलकर नई पत्नी को भी अपने अनुकूल बना लिया। परिणाम यह हुआ कि वे तीनों स्वच्छन्दा-चारिणी हो गईं और मेरी दुश्मन बन गईं।

धनदेव ने अपनी बात पूरी करते हुए कहा, मित्रवर! उन तीनों पत्नियों से संत्रस्त बनकर मैं विरक्त हो गया हूँ और मुनि-दीक्षा धारण कर छलछद्म से भरे संसार से मुक्त होना चाहता हूँ। धनदेव के वैराग्य से प्रभावित बनकर मदन भी दीक्षा लेने को तैयार हो गया। दोनों मित्रों ने आचार्य विमलबाहु से प्रव्रज्या धारण की और तप-संयम की आराधना में लीन हो गए। आयुष्य पूर्ण कर दोनों सौधर्म कल्प में देव बने।

देवायु पूर्ण कर मदन का जीव विजयपुर नगर का राजकुमार बना जहां उसे मणिप्रभ नाम प्राप्त हुआ। मणिप्रभ पिता के बाद राजसिंहासन पर बैठा और उसने बहुत वर्षों तक राज्य किया। किसी समय कमल

वन को मुरझाया देखकर वह विरक्त हो गया और मुनिव्रत धारण कर तप में तल्लीन हो गया। उसे अवधिज्ञान तथा अन्य अनेक लब्धियां प्राप्त हो गईं।

धनदेव का जीव देवलोक से च्यव कर रथनूपुर चक्रवाल नगर में विद्याधरों का चक्रवर्ती सम्राट महेन्द्र सिंह बना। उसकी पटरानी का नाम रत्नमाला था। एक बार रत्नमाला व्याधिग्रस्त हो गई, जिससे उसकी मृत्यु हो गई। महेन्द्र सिंह अपनी रानी की मृत्यु से बहुत दुखी हुआ और उसकी दशा उन्मत्त की-सी हो गई।

अवधिज्ञानी मुनि मणिप्रभ ने अपने पूर्वभव के मित्र की उक्त दशा देखी। वे मित्र को प्रतिबोध देने रथनूपुर नगर पहुंचे। उनके उपदेश से महेन्द्रसिंह के हृदय का ताप कुछ शान्त हुआ। मुनि ने देखा कि महेन्द्र सिंह का मोह शिथिल तो हुआ है पर निर्मूल नहीं बना है। यह देखकर मुनि मणिप्रभ ने महेन्द्रसिंह को उसके पूर्वभव की कथा सुनाई। अपने पूर्वभव के कथानक को सुनकर महेन्द्रसिंह को जातिस्मरणज्ञान हो गया। ज्ञान से वैराग्य, और वैराग्य से संयम में उत्साह का उत्स उसके हृदय में फूट पड़ा। उसने दीक्षा धारण कर ली। उत्कृष्ट और निरतिचार तप-संयम की अराधना द्वारा मुनि मणिप्रभ और मुनि महेन्द्र केवलज्ञान को प्राप्त कर मोक्ष में गए। —आचार्य मुनिसुन्दर / सोमप्रभाचार्य द्वारा रचित सुमतिनाथ चरित्र से

मदन देव

विशाला नगरी नरेश। (देखिए-हरिबल)

मदनमंजरी

चम्पावती नरेश चित्रकेतु की पुत्री। (देखिए-चंद्रसेन)

मदनरेखा

महासती मदनरेखा का चरित्र जैन इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में उट्टंकित हुआ है। वह सुदर्शन नगर के युवराज युगबाहु की अर्द्धांगिनी थी। सत्यशील को प्राणों पर अधिमान देने वाली मदनरेखा वस्तुतः मदन की रेखा ही थी। परन्तु कभी-कभी सौन्दर्य भी आपदाओं का हेतु बन जाता है। किसी समय मदनरेखा के ज्येष्ठ राजा मणिरथ की दृष्टि उसके रूप लावण्य पर पड़ गई। मणिरथ एक कामी पुरुष था। मर्यादाओं को विस्मृत करके वह अनुज वधू पर आसक्त बन गया और उसे अपनाने के लिए विभिन्न चालें चलने लगा। परन्तु बुद्धिमती मदनरेखा ने उसकी प्रत्येक चाल निष्फल कर दी। इस पर कामान्ध मणिरथ ने एक षडयन्त्र रचा और उसके अनुसार सीमा पर कृत्रिम उपद्रव करवा कर उससे निपटने के लिए अपने अनुज युगबाहु को भेज दिया। मदनरेखा को एकाकी पाकर मणिरथ ने अपना कुत्सित प्रस्ताव उसके समक्ष रखा। मदनरेखा ने सिंहनी बनकर मणिरथ को भयाकुल बना दिया।

युगबाहु के लौटने पर मणिरथ ने कपट से उसकी हत्या कर दी। इस घटना से मदनरेखा वज्राहत हो उठी। अपने शील की रक्षा के लिए वह जंगलों में चली गई। वहां पर उसने एक शिशु को जन्म दिया। शिशु को एक वस्त्र में लपेट कर उसने वृक्ष की शाखा से बांध दिया और स्वयं पास की नदी में स्नान करने चली गई। उधर एक हाथी ने मदनरेखा को अपनी सूंड में लपेटकर आकाश में उछाल दिया। आकाशमार्ग से मणिप्रभ नामक विद्याधर जा रहा था। उसने मदनरेखा को अपने विमान पर ले लिया । मदनरेखा के लावण्य पर वह विमुग्ध बन गया। उसने उसे अपनी पटरानी बनाने का संकल्प कर लिया।

विद्याधर मणिप्रभ के पिता मणिचूड़ मुनित्व की साधना कर रहे थे। उस समय मणिप्रभ अपने पिता के दर्शन करने जा रहा था। मदनदेखा की चेतना लौटी तो वह मुनि मणिचूड़ के समक्ष थी। मुनि को साक्षात्

देखकर उसके धैर्य का बांध टूट गया। मुनि ने उसे धर्मोपदेश देकर शान्त किया और बताया कि उसका बड़ा पुत्र चन्द्रयश सुदर्शन नगर का राजा बन गया है तथा उसके नवजात शिशु को मिथिला नरेश पद्मरथ अपना पुत्र मानकर ले गया है। पुत्रों को सुरक्षित जानकर मदनरेखा को सन्तोष हुआ। वह संसार के स्वरूप को देखकर विरक्त बन चुकी थी। वह साध्वी बन गई।

कालान्तर में मदनरेखा का लघु पुत्र मिथिला का राजा बना जो नमि नाम से जग में विख्यात हुआ। किसी समय नमि और चन्द्रयश में परस्पर तलवारें खिंच गईं। उक्त समाचार को जानकर महासती मदनरेखा का मातृहृदय तड़प उठा। वह रणांगण में पहुंची और दोनों भाइयों को उनका परिचय दिया। अपना परिचय जानकर दोनों भाइयों के मध्य उपजा द्वेष नष्ट हो गया। इस तरह रणांगण को प्रेमांगण में बदलकर महासती मदनरेखा अपने उपाश्रय में लौट गई।

मदना (आर्या)

मदना आर्या का समग्र जीवन वृत्त शुंभा आर्या के समान है। विशेषतः जो अन्तर है वह नामों का ही है। मदना आर्या के पिता का नाम मदन गाथापति और माता का नाम मदनश्री था (देखिए-शुंभा आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., द्वि.वर्ग, अध्ययन 5

मदालसा

लंकाधिपति राक्षसराज भ्रमरकेतु की पुत्री, नमस्कार सूत्र और सामायिक की अनन्य अनुरागिका। (देखिए-उत्तमकुमार)

मद्रुक श्रावक

राजगृह का रहने वाला एक सम्पन्न श्रमणोपासक। वह तीर्थंकर महावीर का परम भक्त, तत्वज्ञ और वादकुशल श्रावक था। एक बार जब वह भगवान महावीर के दर्शनों के लिए जा रहा था तो गुणशील उद्यान के निकट ही स्थित आश्रमों में रहने वाले कालोदायी, शैलोदायी आदि परिव्राजकों ने उसे रोक लिया और धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आदि के बारे में प्रश्न करके उसकी श्रद्धा को चलित करने का प्रयास करने लगे। पर मद्रुक ने कुशलता पूर्वक परिव्राजकों को उत्तर दिए और पुनर्प्रश्न उपस्थित कर उन्हें निरुत्तर भी कर दिया। इससे कालोदायी और शैलोदायी आदि परिव्राजकों के हृदय में भगवान महावीर के प्रवचनों के प्रति उत्सुकता जागी और उसी के परिणामस्वरूप वे परिव्राजक-धर्म का त्यागकर जिनधर्म में दीक्षित हो गए।

मद्रुक की वाग्कुशलता और प्रवचन-प्रवीणता की प्रशस्ति स्वयं तीर्थंकर महावीर ने अपने श्रीमुख से कही थी।

मधु

चतुर्थ प्रतिवासुदेव। उसका वध पुरुषोत्तम वासुदेव ने किया था। (देखिए-पुरुषोत्तम वासुदेव)

मनक मुनि

शय्यंभव के पुत्र जो आठ वर्ष की अवस्था में मुनि बने और छह मास का विशुद्ध संयम पालकर देवलोक-वासी हुए। इन्हीं मुनि के लिए शय्यंभवाचार्य ने पूर्वों से दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया था। (देखिए-शय्यंभव आचार्य)

मनोरमा

सुदर्शन सेठ की परम पतिपरायणा पत्नी। (देखिए-सुदर्शन सेठ)

(क) मम्मण सेठ

पुरिमताल नगर का एक कृपण सेठ। (देखिए-रत्नपाल)

(ख) मम्मण सेठ

मम्मण सेठ राजगृह नगर का कोटीश्वर श्रेष्ठी था। उसके पास अब्जों की संपत्ति थी। अतुल वैभव का स्वामी होने पर भी उसके हृदय में संतोष न था। एक बार उसके मन में विचार आया कि वह बैलों की एक ऐसी जोड़ी बनाए जैसी जोड़ी कभी किसी ने बनाई न हो तथा भविष्य में भी कोई बना न सके। उसने अपने भवन के तलघर में अमूल्य हीरे, मोती और जवाहरात से जटित पूर्णाकार दो स्वर्ण वृषभ बनाए। कहते हैं कि मगध साम्राज्य की समस्त धनराशि से भी अधिक धनराशि उन बैलों के निर्माण में व्यय की गई थी।

एक बैल तो पूर्णरूप से तैयार हो गया, पर दूसरा बैल कुछ अधूरा रह गया। अधूरे बैल को पूरा करने के लिए मम्मण दिन भर कड़ा श्रम करता। रात्रि में वह बरसाती नदी के मध्य में खड़ा हो जाता और पीछे से बहकर आती हुई लकड़ियों को बीनता। इस रात्रि-व्यवसाय में मम्मण विशुद्ध लाभ देखता था जिसमें व्यय कुछ नहीं करना होता था केवल लाभ ही लाभ उसे प्राप्त होता था। इस प्रकार अहर्निश के कड़े श्रम से मम्मण सेठ अधूरे बैल को पूर्ण करने का प्रयास कर रहा था।

एक अर्धरात्रि में आकाश घने काले मेघों से भरा था। विकराल विद्युत् की गड़गड़ाहट और चमक से प्राणियों के हृदय दहल जाते थे। महाराज श्रेणिक और उनकी पटरानी चेलना राजमहल के कक्ष से बाहर झांककर प्रकृति के उस विकराल रूप को देख रहे थे। सहसा विद्युत् की चमक में उन्होंने नदी के मध्य में खड़े लकड़ियां बीनते एक व्यक्ति को देखा। उस दृश्य को देखकर महारानी चेलना का हृदय दयार्द्र हो उठा। उसने उपालंभ के भाव से महाराज श्रेणिक से कहा—महाराज! आपके राज्य में ऐसे अभावग्रस्त लोग भी हैं जिन्हें विकराल अर्धरात्रि में ऐसा कठिन श्रम करना पड़ता है। राजा होने के नाते क्या इसका उत्तरदायित्व आप पर नहीं है?

रानी के उपालंभ पर श्रेणिक गंभीर हो गए। उन्होंने उसी क्षण अपने सेवक को उस व्यक्ति के पास भेजा और कहलवाया कि दूसरे दिन वह राजदरबार में उपस्थित हो।

दूसरे दिन मम्मण सेठ राजदरबार में उपस्थित हुआ। मम्मण ने श्रेणिक को बताया कि वही रात्रि में नदी से लकड़ियां बीन रहा था। इससे श्रेणिक को काफी आश्चर्य हुआ। उन्होंनें मम्मण से पूछा—श्रेष्ठिवर्य! ऐसी क्या स्थिति आन पड़ी कि तुम्हें रात्रि में नदी से लकड़ियां बीननी पड़ीं?

मम्मण ने कहा, महाराज! मैं बैलों की एक जोड़ी चाहता हूं। एक बैल तो मेरे पास है, पर दूसरे बैल के लिए अपेक्षित राशि जुटाने के लिए मुझे यह श्रम करना पड़ रहा है।

श्रेणिक हंसे और बोले, मेरी गोशाला से तुम अपनी पसंद का बैल ले जा सकते हो।

मम्मण ने कहा, महाराज! क्षमा करें! मेरे बैल की जोड़ी का बैल आपकी गोशाला में नहीं मिलेगा।

श्रेणिक को बात चुभी। तीक्ष्ण स्वर में उन्होंने पूछा—ऐसी क्या विशेषता है तुम्हारे बैल में?

मम्मण ने कहा, महाराज! आप मेरे भवन पर पधारें और मेरे कथन के औचित्य-अनौचित्य का स्वयं निर्णय करें।

दूसरे दिन महाराज श्रेणिक अपनी रानी चेलना के साथ मम्मण श्रेष्ठी के भवन पर गए। दुग्ध-धवल

सप्तमंजिले विशाल प्रासाद को देखकर राजा और रानी दंग रह गए। मम्मण ने महाराज और महारानी का स्वागत किया। तदनन्तर मम्मण राजा और रानी को साथ लेकर प्रासाद के तलघर में गया। मम्मण ने बैलों पर डाले गए मखमली वस्त्र को खींचा तो पूरा तलघर रोशनी से जगमगा उठा। कल्पनातीत स्वर्ण-हीरक निर्मित बैलों की जोड़ी को देखकर राजा और रानी दंग रह गए।

मम्मण ने अधूरे बैल की ओर इंगित करते हुए कहा, महाराज! इस बैल का एक शृंग अधूरा है। उसे ही पूर्ण करने के लिए मुझे अहर्निश श्रम करना पड़ता है।

श्रेणिक ने प्रश्नसूचक दृष्टि से चेलना की ओर देखा। चेलना ने महाराज से क्षमा मांगते हुए कहा, महाराज! ऐसे अभावग्रस्तों के अभाव तो देवराज इन्द्र भी नहीं मिटा सकते हैं। मम्मण की दुष्पूर तृष्णा पर करुणापूर्वक चिन्तन करते हुए राजा और रानी अपने महल को लौट गए।

मयालि कुमार

जालिकुमार के सहोदर। इनका परिचय जालिकुमार के समान है। (देखिए-जालिकुमार)

—अन्तगडसूत्र वर्ग 4, अध्ययन 2

मरीचि कुमार

आदीश्वर प्रभु ऋषभदेव का पौत्र और प्रथम षडखण्डजयी महाराज भरत का पुत्र। मरीचि ने अपने दादा ऋषभदेव के साथ ही दीक्षा ग्रहण की थी पर अपनी सुकुमारता के कारण वह क्लिष्ट संयम का पालन न कर सका। उष्ण-शीतादि के परीषह सहने में स्वयं को असमर्थ पाकर वह त्रिदण्डी तापस बन गया। पर उसकी श्रद्धा प्रभु ऋषभदेव और उन द्वारा उपदेशित धर्म पर ही स्थिर रही। वह कहा करता था—मार्ग तो वही है जो प्रभु ऋषभ प्ररूपित कर रहे हैं पर मैं उस मार्ग पर बढ़ने में समर्थ नहीं हूँ।

मरीचिकुमार लोगों को प्रेरित कर-कर के भगवान के पास भेजा करता । इससे उसने धर्म प्रभावना की महान समृद्धि संचित कर ली। एक बार वह अस्वस्थ हो गया। तब उसके मन में शिष्य बनाने की अभिलाषा जगी। उसके बाद उसके पास कोई उपदेश सुनने आता तो वह कहता—धर्म का सच्चा तत्त्व मेरे पास भी है। इस प्रकार कुछ लोग उसके शिष्य बनने लगे।

एक बार भगवान समवशरण में उपदेश दे रहे थे। अपने स्वभाव के अनुसार मरीचि लोगों को प्रेरित करके भगवान के पास भेज रहा था। उपदेश के पश्चात् भरत चक्रवर्ती ने भगवान से पूछा कि क्या समवशरण सभा में कोई ऐसी पुण्यवान आत्मा मौजूद है जो भगवान के समान ही भविष्य में तीर्थ का प्रवर्तन करेगी।

भगवान ने कहा—समवशरण के द्वार पर ही खड़ा मरीचि वह पुण्यवान जीव है जो इस अवसर्पिणी काल का अन्तिम तीर्थंकर महावीर होगा। इतना ही नहीं वह भरत क्षेत्र का त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव होगा और महाविदेह क्षेत्र में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती भी होगा।

अपने पुत्र का चामत्कारिक भविष्य सुनकर भरत गद्‌गद बन गए। मरीचि के पास पहुंचकर उन्होंने भगवान की कही हई बात उसे बताई। सुनकर मरीचि बांसों उछल पड़ा। उसकी प्रसन्नता का पार न रहा। वह यह कहते हुए नाचने लगा कि उसका कुल और वह स्वयं कितना महान है कि उसके दादा प्रथम तीर्थंकर हैं, उसके पिता प्रथम चक्रवर्ती हैं और वह स्वयं वासुदेव, चक्रवर्ती और तीर्थंकर जैसे तीन-तीन परमश्लाघनीय पदों को प्राप्त करेगा।

मरीचि में कुल और गोत्र का मद आ गया। वही मरीचि कालान्तर में तीर्थंकर महावीर हुआ। महावीर के सत्तावीस भवों में यह तृतीय भव था।

मरुता

महाराज श्रेणिक की रानी। परिचय नन्दावत्। (देखिए-नन्दा) —अन्तगडसूत्र वर्ग 7, अध्ययन 5

मरुदेवा

महाराज श्रेणिक की रानी। परिचय नन्दावत् । (देखिए-नन्दा) —अन्तगडसूत्र वर्ग 7, अध्ययन 8

मरुदेवी माता

भगवान श्री ऋषभदेव की माता। ऋषभदेव के प्रवर्जित हो जाने के बाद वह पुत्र-दर्शन के लिए अत्यन्त व्याकुल रहती थी। वह सोचती थी कि उसका पुत्र न जाने किन कष्टों को भोग रहा होगा। भगवान को केवलज्ञान हुआ। देवताओं ने दिव्य समवशरण की रचना की । मरुदेवी हाथी पर बैठकर पुत्र दर्शन के लिए गई। भगवान की दिव्य ऋद्धि देखकर वह दंग रह गई। वह अनिमेष नेत्रों से भगवान को देखती रही। उसे आशा थी कि उसे देखते ही उसका पुत्र दौड़ा आएगा और उससे लिपट कर उसकी कुशल क्षेम पूछेगा। पर ऐसा न हुआ। प्रभु ऋषभ ने तो एक आंख तक उठाकर माता को नहीं देखा। एक क्षण के लिए मरुदेवी का मन विषाद से भर गया। पर दूसरे ही क्षण उसके भाव बदल गए—कौन पुत्र? कौन माता? ये तो बाह्य सम्बन्ध हैं। वस्तुतः आत्मा ही माता है। वही पुत्र है। सर्वस्व वही है।

मरुदेवी के भाव शुद्ध से शुद्धतर बनते चले गए। हाथी के होदे पर बैठे-बैठे ही उसे केवलज्ञान हो गया। अगले ही क्षण वह सिद्ध हो गई। भगवान ऋषभदेव ने घोषणा की—मरुदेवा भवइ सिद्धा।

वर्तमान अवसर्पिणी काल की इस भरत क्षेत्र से सिद्ध होने वाली वह प्रथम आत्मा थी।

मरुभूति

पोतनपुर नगर के पुरोहित विश्वभूति का पुत्र। मरुभूति का एक अग्रज था जिसका नाम कमठ था। कमठ की पत्नी का नाम वरुणा और मरुभूति की पत्नी का नाम वसुन्धरा था। पूरे परिवार में पर्याप्त पारस्परिक प्रेम भाव था। पुत्रों को योग्य देखकर विश्वभूति ने प्रव्रज्या धारण कर ली। कमठ को पुरोहित पद प्राप्त हुआ। कमठ और मरुभूति के मध्य पूर्ण प्रेमभाव था। पर दोनों के स्वभाव विपरीत थे। मरुभूति धर्मरुचि सम्पन्न और आत्मोन्मुखी था तो कमठ भोगप्रिय था। मरुभूति घर में रहकर ही आत्मसाधना में लीन रहता था। अपने स्वभाव के वश कमठ ने मरुभूति की पत्नी को अपने वश कर लिया। मरुभूति को इस पापलीला का पता चला तो उसने नगर नरेश महाराज अरविन्द से अग्रज कमठ की शिकायत कर दी। राजा ने कमठ को पदच्युत कर दिया और अपमानित करके अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। मरुभूति के प्रति प्रतिशोध को हृदय में लिए कमठ तापस बन गया और अज्ञान तप करने लगा।

मरुभूति का क्रोध शान्त हुआ तो वह भाई से क्षमापना करने के लिए उसके पास पहुंचा। पर कमठ तो प्रतिशोध की आग में जल रहा था। उसने अपने पैरों पर झुके हुए मरुभूति के सिर पर पत्थर से प्रहार कर दिया। पत्थर के प्रहार से मरुभूति का देहान्त हो गया और वह मरकर विन्ध्याचल पर्वत पर हाथी बना। एक मुनि के सत्संग से हाथी को अवधिज्ञान की प्राप्ति हुई और हाथी के भव में रहकर ही उसने तप त्याग पूर्वक जीवन यापन शुरू कर दिया। तप से हाथी की देह कृश हो गई। एक बार वह कीचड़ भरे तालाब में

फंस गया और निकल न सका। उधर कमठ मरकर कुक्कुट जाति का सर्प बना। वह सर्प आकाश में उड़ने में समर्थ था। पूर्व वैर वश वह सर्प उस स्थान पर आया जहां हाथी कीचड़ में धंसा हुआ था। उसने हाथी को मस्तक और उदर पर दंश लिया। धर्म चिन्तन में लीन रहते हुए हाथी प्राणोत्सर्ग करके सहस्रार देवलोक में देव बना। यथासमय सर्प भी आयुष्य पूर्ण कर पांचवें नरक में उत्पन्न हुआ।

मरुभूति का जीव देवायु पूर्ण कर वैताढ्य पर्वत पर स्थित तिलका नामक नगरी के महाराज विद्युद्गति की रानी कनकतिलका की कुक्षी से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ जहां उसका नाम किरणवेग रखा गया। किरणवेग के युवा होने पर महाराज ने उसे राजपद देकर आर्हती दीक्षा धारण कर ली। किरणवेग की पद्मावती नामक रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम किरणतेज रखा गया। किरणतेज जब युवा हुआ तो किरणवेग ने उसे राज्य का भार प्रदान कर मुनि-दीक्षा धारण कर ली। उग्र तप की आराधना करते हुए मुनि किरणवेग एकल विहार प्रतिमा अंगीकार कर विचरने लगे। उधर कमठ का जीव नरकायु पूर्ण कर एक भयानक विषधर सर्प बना। किसी समय मुनि किरणवेग को देखकर पूर्व-वैर भाव के जागृत होने से उस सर्प ने मुनि किरणवेग को डस लिया। धर्मध्यान पूर्वक आत्मचिन्तन में लीन रहते हुए मुनि ने देहोत्सर्ग किया और वे बारहवें स्वर्ग में देव बने। सर्प आयुष्य पूर्ण कर नरक का अधिकारी हुआ।

देव गति का आयुष्य पूर्ण कर के मरुभूति का जीव पश्चिम महाविदेह स्थित शुभंकरा नामक नगरी के राजा वज्रवीर्य की महारानी लक्ष्मीवती के गर्भ से पुत्र के रूप में जन्मा। युवावस्था में वह राजा बना। उसके एक पुत्र हुआ जिसका नाम चक्रायुध रखा गया। ढ़लती उम्र में महाराज वज्रनाभ ने पुत्र को राज्याधिकार देकर आर्हती प्रव्रज्या धारण कर ली। उधर कमठ का जीव नरक से निकलकर कुरंगक नाम का भील बना। एक बार ध्यानस्थ मुनि वज्रनाभ को उसने देखा। देखते ही उसका वैरभाव जागृत बन गया। बाण के प्रहार से उसने मुनि का प्राणान्त कर दिया। समाधिपूर्वक देहोत्सर्ग करके मुनि ग्रैवेयक स्वर्ग में ललितांग नामक महर्द्धिक देव बने। कालान्तर में काल करके कुरंगक भील सातवीं नरक में गया।

जम्बूद्वीप के पूर्व विदेह में पोतनपुर नाम का एक नगर था। वहां पर कुलिशबाहु नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी का नाम सुदर्शना था। मरुभूति का जीव देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर रानी सुदर्शना की कुक्षी में उत्पन्न हुआ। रानी ने चौदह महास्वप्न देखे जो इस बात के प्रतीक थे कि जन्म लेने वाला पुत्र चक्रवर्ती सम्राट् होगा। कालक्रम से रानी ने पुत्र को जन्म दिया। नाम रखा गया सुवर्णबाहु। युवावस्था में सुवर्णबाहु राजा बना और बाद में छह खण्डों को साधकर चक्रवर्ती सम्राट् बना।

गालव मुनि के आश्रम में सुवर्णबाहु ने विद्याधर नरेश विद्याधरेन्द्र की अरण्यवासिनी पुत्री पद्मावती से पाणिग्रहण किया। पद्मावती ही सुवर्णबाहु की पटरानी बनी।

एक बार तीर्थंकर श्री जगन्नाथ जी की धर्मदेशना सुनते हुए महाराज सुवर्णबाहु को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वे राजपाट का त्याग कर के मुनि बन गए और उग्र तपश्चरण करते हए विचरने लगे। बीस बोलों की उत्कृष्ट आराधना से उन्होंने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

उधर कमठ का जीव कुरंगक भील के भव से नरक में गया और नरक से निकलकर सिंह बना। किसी समय उस सिंह ने महामुनि सुवर्णबाहु को देखा और पूर्व वैर के कारण मुनि पर झपट पड़ा। समाधिमरण प्राप्त कर मुनि प्राणत देवलोक में देव बने और कालक्रम से सिंह मरकर चतुर्थ नरक में गया।

बीस सागरोपम का प्रलम्ब और सुखपूर्ण आयुष्य पूर्ण कर सुवर्णबाहु (मरुभूति) का जीव वाराणसी नरेश महाराज अश्वसेन की रानी वामादेवी की रत्नकुक्षी से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। वहां पर उसे पार्श्वकुमार

नाम दिया गया। यही पार्श्वकुमार प्रवहमान अवसर्पिणी के तेईसवें तीर्थंकर लोकमान्य प्रभु पार्श्वनाथ बने।

उधर कुरंगक (कमठ) का जीव नरक से निकलकर एक छोटे से गांव में एक अति निर्धन ब्राह्मण के घर पुत्र रूप में जन्मा। उसके जन्म लेते ही उसके माता-पिता का निधन हो गया। जैसे-तैसे कमठ बड़ा हुआ और तापसवृत्ति की ओर आकृष्ट हुआ। तापस बनकर वह पंचाग्नि तप तपने लगा।

भविष्य में पार्श्वकुमार और कमठ का पुनः साक्षात्कार हुआ। (देखिए-पार्श्वनाथ तीर्थंकर)

मलयगिरि (आचार्य)

जैन परम्परा के प्रतिभाशाली जैन आचार्य। उन्होंने कई आगमों और आगमेतर ग्रन्थों पर बृहद् टीकाएं लिखकर आगम अध्येता मुमुक्षुओं पर महान उपकार किया। उनके कई टीका ग्रन्थ वर्तमान में भी उपलब्ध हैं।

आचार्य मलयगिरि के जीवन और समय सम्बन्धी सामग्री अनुपलब्ध है। 'कुमार पाल प्रबन्ध' नामक ग्रन्थ में आचार्य हेमचन्द्र और आचार्य मलयगिरि को समकालीन सिद्ध करने वाली एक घटना का उल्लेख उपलब्ध होता है। आचार्य हेमचन्द्र ने गच्छांतरीय देवेन्द्रगणी और मलयगिरि के साथ रेवतक तीर्थ पर सिद्धिचक्र मंत्र की आराधना की थी। आराधना से आकर्षित होकर विमलेश्वर नामक देव प्रगट हुआ और उसने इच्छित वर मांगने के लिए कहा। तब मलयगिरि ने देव से वर रूप में अपने लिए आगमों का टीकाकार होने का वर मांगा था।

यह उल्लेख आचार्य मलयगिरि को आचार्य हेमचन्द्र का समकालीन और वी.नी0 की 17वीं शताब्दी के आचार्य के रूप में प्रमाणित करता है।

'जैन साहित्य का बृहद् इतिहास' के अनुसार आचार्य मलयगिरि ने 25 आगमों और आगमेतर ग्रन्थों पर टीकाएं लिखीं। 'शब्दानुशासन' नामक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की भी उन्होंने रचना की थी। वर्तमान में आचार्य मलयगिरि के टीकाकृत लगभग 20 ग्रन्थ उपलब्ध हैं जिनका पद्य परिमाण एक लाख नब्बे हजार से अधिक है। जैन जगत में वे टीकाकार के रूप में चर्चित और अर्चित आचार्य हैं।

मलयागिरि

कुसुमपुर के राजा चन्दन की पतिपरायणा पत्नी। एक सुविख्यात नारी चरित्र। (देखिए-चन्दन)

मलयासुन्दरी

श्रावस्ती अथवा सावत्थी नगरी के महाराज कनककेतु की महारानी और खंधक की माता। (देखिए-खंधक मुनि)

मलूकचन्द्र जी महाराज (आचार्य)

स्थानकवासी पंजाब परम्परा के एक तपस्वी आचार्य।

आचार्य लवजी ऋषि के उत्तराधिकारी श्री सोमजी ऋषि हुए। उनके उत्तराधिकारी श्री हरिदास जी, तथा उनके बाद उनके शिष्य वृन्दावन लाल जी आचार्य बने। उनके बाद श्री भवानीदास जी आचार्य पाट पर विराजित हुए। तदनन्तर श्री मलूकचन्द्र जी म. आचार्य बने।

आप आगमों के गंभीर ज्ञाता, उत्कृष्ट आचार के आराधक और तपस्वी आचार्य थे।

सं. 1815 में आप सुनाम (पंजाब) पधारे। उस समय वहां यतियों का बाहुल्य और प्रभाव था। फलतः

नगर में ठहरने के लिए आपको स्थान नहीं मिला। आप अपनी शिष्य मण्डली के साथ तालाब के किनारे छतरियों में ठहर गए। वहीं पर आप निराहार रहते हुए शिष्यों को आगम वाचनाएं देते थे। निरन्तर आठ दिनों तक यह क्रम चला। आपकी शान्त तपस्या और आगम आराधना से लोग अत्यन्त प्रभावित हुए। आपको भिक्षा के लिए प्रार्थना की। आपने कहा, जो गृहस्थ सविधि सामायिक और सन्तदर्शन का नियम लेगा उसी के घर से हम भिक्षा लेंगे।

कई लोगों ने नियम लिए। आपने पारणा किया। शनैः-शनैः नगर में शुद्ध धर्म का प्रभाव फैला और अनेक लोग श्रावक धर्म में दीक्षित हुए।

मल्लदिन्न

मिथिलाधिपति महाराज कुंभ का पुत्र और भगवती मल्ली का सहोदर। मल्लदिन्न एक कलाप्रेमी राजकुमार था। (देखिए मल्लिनाथ तीर्थंकर)

मल्लवादी (आचार्य)

जैन श्वेताम्बर परम्परा के एक विद्वान और वादी आचार्य। आचार्य मल्लवादी का जन्म वल्लभी नगरी में हुआ। उनकी माता का नाम दुर्लभ देवी था जो कि वल्लभी नरेश शिलादित्य की बहन थी। मल्लवादी के दो ज्येष्ठ भ्राता थे—अजितयश और यक्ष।

जिनानंदसूरि मल्लवादी के मामा थे। अपने युग के वे प्रसिद्ध सूरि और वादकुशल आचार्य थे। एक बार बौद्ध विद्वान बुद्धानंद से भरूंच नगर में उन्होंने शास्त्रार्थ किया जिसमें उन्हें पराजय मिली। परिणामतः भरूंच से विहार कर वे वल्लभी पधारे। वहां पर उनके धर्मोपदेश से मल्ल सहित उनके भ्राता और माता प्रतिबोधित होकर दीक्षित हुए। मल्ल अध्ययनरुचि सम्पन्न बाल मुनि थे। उन्होंने एकाग्रचित्त से जैन तत्व-विद्या का तलस्पर्शी अध्ययन किया। कहते हैं कि उनके गुरु के पास 'नयचक्र' नामक एक ग्रन्थ था। गुरु ने सभी शिष्यों को विशेष रूप से निर्देश दिया था कि बिना मेरी आज्ञा के उसे कोई न पढ़े। गुरु एक बार जब तीर्थयात्रा पर गए तो मल्ल मुनि ने उत्सुकता वश उस ग्रन्थ को पढ़ना शुरू कर दिया। पर प्रथम श्लोक पढ़ते ही शासन देवी प्रगट हुई और मल्ल मुनि के हाथ से ग्रन्थ लेकर अदृश्य हो गई।

इस घटना से मल्ल मुनि बहुत खिन्न हुए। वे उपाश्रय का त्याग करके गिरि कन्दराओं में चले गए। वहां उन्होंने उग्र तपश्चरण किया। उनके तपः प्रभाव से शासन देवी प्रगट हुई। शासन देवी ने मुनि से इच्छित वर मांगने के लिए कहा। मुनि मल्ल ने 'नयचक्र' ग्रंथ लौटाने के लिए देवी से कहा। देवी ने कहा, ग्रन्थ को लौटाना संभव नहीं है। परन्तु आपने उक्त ग्रन्थ का जो प्रथम श्लोक पढ़ा था, उसके आधार पर आप उक्त ग्रन्थ की रचना करने में समर्थ होंगे। कहकर शासन देवी अन्तर्धान हो गई।

मल्ल मुनि ने शासन देवी के वरदान स्वरूप नयचक्र ग्रन्थ के पठित श्लोक के आधार पर उक्त नाम वाले ग्रन्थ की रचना की। उस ग्रन्थ की पूर्णता दश सहस्र श्लोकों में हुई। वर्तमान में वह ग्रन्थ 'द्वादशार नयचक्र' नाम से जाना जाता है। संघ में उस ग्रन्थ की भारी मान्यता हुई और मल्ल मुनि का सम्मान भी बहुत बढ़ गया।

तीर्थयात्रा पूर्ण कर जिनानंदसूरि वल्लभी लौटे और उन्होंने मल्ल मुनि को आचार्य पद प्रदान किया। मल्ल मुनि अपने गुरु की बुद्धानन्द से पराजय की बात स्थविरों से जान चुके थे। गुर्वाज्ञा प्राप्त कर मल्लमुनि भरूंच पहुंचे और उन्होंने बुद्धानन्द को शास्त्रार्थ हेतु आमंत्रित किया। वह शास्त्रार्थ छह मास तक चला

जिसमें मल्ल मुनि की विजय हुई। इससे वहां के राजा ने मल्ल मुनि को वादी का पद दिया और वे मल्लवादी नाम से सुख्यात हुए।

आचार्य मल्लवादी ने काफी साहित्य की रचना की। द्वादशार नयचक्र, श्री पद्मचरित्र, सन्मति तर्क टीका आदि उनके विख्यात ग्रन्थ हैं। वर्तमान में ये ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

आचार्य मल्लवादी के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। विभिन्न विद्वानों की दृष्टि से वे वी.नि. की नौवीं, दशवीं अथवा ग्यारहवीं शती के आचार्य हैं। —प्रभावक चरित्र

मल्लिषेण (आचार्य)

वी.नि. की 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध के एक विद्वद्वरेण्य जैन आचार्य। आचार्य मल्लिषेण 'स्याद्वाद-मंजरी टीका' नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ के रचयिता थे। यह उनकी एक ख्यातिलब्ध कृति है।

आचार्य मल्लिषेण नागेन्द्र गच्छीय उदयप्रभ सूरि के सुयोग्य शिष्य थे। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं पर उनका असाधारण अधिकार था। व्याकरण, न्याय, साहित्य आदि विभिन्न विषयों के वे गंभीर विद्वान थे। स्याद्वाद मंजरी का लेखन उन्होंने वी.नि. 1819 में संपन्न किया था। उनके सत्ताकाल को जानने का यह एक पुष्ट प्रमाण है।

मल्लिनाथ (तीर्थंकर)

अवसर्पिणी काल के उन्नीसवें तीर्थंकर। वह एक राजकुमारी थीं। आश्चर्यजनक घटनाओं में यह भी एक आश्चर्यजनक घटना है कि एक स्त्री तीर्थंकर हुई। मल्लि के चरित्र के समक्ष पक्षों से परिचित बनने के लिए इनके पूर्व जन्म को जानना आवश्यक है। अपने पूर्वजन्म में मल्ली का जीव जम्बूद्वीप के महाविदेह क्षेत्र की नगरी वीतशोका के राजा महाबल के रूप में था। महाबल एक धर्मनिष्ठ और न्यायशील राजा था। उसके छह मित्र थे। यह मैत्री बाल्यकाल से चली आई थी। सातों मित्रों ने बचपन में ही यह निर्णय किया था कि वे जो भी कार्य करेंगे एक समान करेंगे। यहां तक कि, संयम भी लेंगे तो साथ ही लेंगे। किसी समय आचार्य धर्मघोष का उपदेश सुनकर जब महाबल वैराग्यशील बन गया तो उसने अपने संयम लेने के भाव अपने छहों मित्रों से कहे। छहों मित्र भी दीक्षा लेने को तैयार हो गए। इस प्रकार सातों मित्र दीक्षित हो गए। बाल्यावस्था के संकल्प के अनुसार सातों ही एक समान जप और तप की आराधना करने लगे। पर महाबल ने अपने मित्रों पर अपने को कुछ अधिक रखने के लिए कपट पूर्वक विशेष तप करना शुरू कर दिया। उसने यह विशेष तप इस कुशलता से किया कि उसके मित्र उसकी मानसिकता को समझ न सके। यहां से आयुष्य पूर्ण कर सभी मित्र अुनत्तर विमान में देव बने और वहां से च्यव कर भारत वर्ष के विभिन्न राजकुलों में पैदा हुए।

विशेष तप और चारित्र की आराधना से महाबल ने जहां तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया वहीं माया सेवन के कारण उसने स्त्रीयोनी का भी बन्ध किया। वह मिथिला नरेश महाराज कुंभ की पुत्री के रूप में जन्मा जहां उसे मल्लीकुमारी नाम दिया गया। मल्ली जब युवा हुई तो उसके रूप गुणों की ख्याति देश-देशान्तरों में फैल गई।

पूर्वजन्म के छह मित्र विभिन्न राजकुलों में राजपुत्रों के रूप में जन्मे थे। क्रमशः वे छहों राजा बने। उनमें से एक साकेत नगर का राजा प्रतिबुद्धि था, दूसरा चम्पानरेश चन्द्रच्छाया था, तीसरा श्रावस्ती नरेश रूपीराज था, चतुर्थ वाराणसी नरेश शंख था, पंचम हस्तिनापुर नरेश अदीनशत्रु था तथा छठा कांपिल्यपुर

नरेश जितशत्रु था। इन छहों राजाओं तक भी मल्लि के रूप गुणों की चर्चा पहुंची। छहों ने अपने-अपने दूत मल्लि से विवाह के प्रस्ताव के साथ महाराज कुंभ के पास भेजे। महाराज कुंभ ने दूतों को फटकार कर भगा दिया तो छहों राजाओं ने अपनी-अपनी सेनाओं के साथ मिथिला को घेर लिया। इससे कुंभ चिंतित हो गए। मल्लि ने इस विपदा से निपटने के लिए पिता से अनुमति मांगी और सुविचारित योजनानुसार छहों राजाओं को आमंत्रित कर लिया। मल्ली एक दीर्घदर्शी राजकुमारी थी। संभावित परिस्थितियों से निपटने के लिए उसने एक भवन बनवाया था। इसके चारों ओर छह जालियां थीं। मध्य में एक विशाल चबूतरा बनवाया था। उस पर उसने अपनी एक आदमकद स्वर्ण प्रतिमा रखवाई थी। यह प्रतिमा भीतर से खोखली रखी गई थी और ऊपर ढ़क्कन रखा गया था। मल्लि प्रतिदिन भोजन का एक कौर उस प्रतिमा में डाल देती थी। प्रतिमा के भीतर संचित भोजन सड़ने लगा था। राजकुमारी मल्ली ने उन छहों राजाओं को उस भवन में ठहराया। जाली से छहों राजाओं ने मल्लि की प्रतिमा को देखा। मंत्रमुग्ध बनकर वे उसे एकटक देखते रह गए। तभी राजकुमारी ने पीछे से आकर प्रतिमा का ढ़क्कन उघाड़ दिया। तीव्र दुर्गन्ध से छहों राजाओं की दशा दयनीय हो गई। नाक-भौं सिकोड़कर इधर-उधर देखने लगे। तब राजकुमारी मल्ली ने उन्हें सीख देते हुए कहा, जिस प्रतिमा में प्रतिदिन एक कौर अन्न डालने से उसमें असह्य दुर्गन्ध उप्पन्न हो गई है, फिर जिस शरीर में प्रतिदिन पर्याप्त अन्न डाला जाता है उस शरीर की कैसी अन्तर्दशा है उसे सहज ही समझा जा सकता है। मल्ली ने छहों राजाओं को उनके पूर्वजन्म की स्मृतियां दिलाई। छहों को जातिस्मरण ज्ञान हो गया और छहों ने जान लिया कि वे पूर्वजन्म के मित्र हैं। मल्ली ने अपने स्त्री होने का कारण भी मित्रों के समक्ष प्रगट किया। छहों मित्र राजा प्रतिबुद्ध हो गए और उन्होंने प्रतिज्ञा कर ली कि वे भविष्य में भी वही करेंगे जो मल्लि करेंगी।

मल्लि दीक्षित हुई तो वे छहों राजा भी दीक्षित हुए। कैवल्य प्राप्त कर प्रभु मल्लि ने तीर्थ रचना की। विश्व के लिए वे कल्याण का द्वार बनीं। अंत में मोक्षधाम में जा विराजीं। प्रतिबुद्धि आदि छहों मित्र मुनि भी मोक्ष को उपलब्ध हो गए।

—ज्ञाताधर्मकथा

महर्द्धिक नट

प्राचीन काल का एक नट। (देखिए-आषाढ़ मुनि)

महाकच्छा (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 27

महाकाल

वर्तमान अवसर्पिणी काल के षष्ठम नारद। (देखिए-नारद)

महाकाली

महाराज श्रेणिक की रानी और राजकुमार महाकाल की माता। युद्ध में अपने पुत्र महाकाल की मृत्यु के दुःसंवाद से विरक्त बन महाकाली साध्वी बन गई। उसने विशेष रूप से लघुसिंह निष्क्रीडित तप की आराधना की। इस तप की चार परिपाटियां होती हैं। जिसमें दो वर्ष और अट्ठाईस दिन का समय लगता है। (शेष परिचय काली वत्)

—अन्तगडसूत्र वर्ग 8, अध्ययन 3

महाकृष्णा

इनका परिचय काली के समान है। विशेष इतना है कि इन्होंने लघुसर्वतोभद्र तप किया। इस तप की चार परिपाटियों में एक वर्ष एक मास और दस दिन का समय लगता है। इसकी प्रत्येक परिपाटी सौ दिन की होती है जिसमें पच्चीस दिन पारणे के तथा शेष पचहतर दिन तपस्या के होते हैं। अन्त में महाकृष्णा आर्या मासिक संलेखना के साथ सिद्ध हुई। —अन्तगडसूत्र वर्ग 8, अध्ययन 6

महागिरि (आचार्य)

भगवान महावीर की पट्ट परम्परा के नौवें पट्टधर आचार्य। उनके शिक्षा और दीक्षा गुरु आचार्य स्थूलभद्र थे। आर्य महागिरि का जन्म वी.नि. 145 में हुआ था। वी.नि. 175 में आचार्य स्थूलभद्र से प्रतिबोध पाकर वे मुनि जीवन में प्रविष्ट हुए। गुरु की सन्निधि में बैठकर उन्होंने दश पूर्वों का ज्ञान हृदयंगम किया ।

आचार्य स्थूलभद्र को अंतिम अवस्था में एक और सुपात्र शिष्य प्राप्त हुए जिनका नाम था आर्य सुहस्ती। आचार्य स्थूलभद्र ने अपने उत्तराधिकारी के रूप में आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ती—इन दोनों को आचार्य पद प्रदान किया। दीक्षा पर्याय में तथा श्रुताराधना में ज्येष्ठ होने के कारण आचार्य स्थूलभद्र के स्वर्गारोहण के पश्चात् आर्य महागिरि आचार्य पाट पर आरूढ़ हुए। आचार्य सुहस्ती उनका गुरुतुल्य मान करते और उनके आदेशानुसार विचरते । आचार्य महागिरि ने विशाल संघ का संचालन अत्यन्त कुशलता से किया। उनके धर्मसंघ में अनेक भव्य आत्माओं ने प्रवेश कर ज्ञान और दर्शन की आराधना की। उनके अपने शिष्यों की संख्या कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आठ थी, जिनकी क्रमिक नामावली निम्न प्रकारेण है—(1) उत्तर (2) बलिस्सह (3) धनाढ्य (4) श्री आढ्य (5) कौण्डिन्य (6) नाग (7) नागमित्र (8) रोहगुप्त। इनमें से प्रथम दो शिष्य उत्तर और बलिस्सह विशेष प्रभावशाली थे और उनके नामों पर उत्तर बलिस्सह गण भी स्थापित हुए। अष्टम शिष्य रोहगुप्त निन्हव हुए जिनसे त्रैराशिक मत प्रगट हुआ।

आचार्य महागिरि ने अन्तिम अवस्था में संघीय दायित्व आचार्य सुहस्ती को प्रदान कर दिए और उन्होंने एकाकी विचरण कर जिनकल्प तुल्य विशिष्ट अभिग्रहों को अपनी साधना का अभिन्न अंग बनाया। वे नगर से बाहर श्मशानों में ठहरते और कठोर तप करते। भिक्षा में वे प्रक्षेप योग्य आहार ग्रहण करते। ऐसे कई वर्षों तक उन्होंने कठोर तपश्चर्या की। उनकी चर्या की कठोरता और अभिग्रह वृत्ति की प्रकर्षता से सम्बन्धित एक घटनाक्रम इस प्रकार है-

पाटलीपुत्र नगर में आर्य सुहस्ती श्रेष्ठी वसुभूति की प्रार्थना पर उसके पारिवारिक सदस्यों को बोध देने के लिए उसके घर पधारे। आचार्य श्री वहां बैठकर श्रेष्ठि-परिवार को प्रवचन देने लगे। संयोग से उसी समय दृढ़ अभिग्रही आचार्य महागिरि भिक्षार्थ वहां पधारे। आचार्य महागिरि को देखकर भक्ति भाव से भावित बनकर आचार्य सुहस्ती अपने आसन से उठ खड़े हुए और प्रणत होकर उन्हें वन्दन करने लगे। आचार्य महागिरि के लौट जाने के बाद श्रेष्ठी वसुभूति ने आश्चर्य चकित होते हुए आचार्य सुहस्ती से पूछा, हे महायशस्वी ! हे परम श्रुतधर! क्या आपके भी कोई गुरु हैं?

आचार्य सुहस्ती ने कहा, ये महाअभिग्रही मुनिराज मेरे गुरु हैं। इनकी तपस्विता अद्‌भुत है। प्रक्षेप योग्य आहार पर ये अपना जीवन चलाते हैं। उसकी अनुपलब्धि पर सहज तप का अवसर मानकर आनन्द मानते हैं।

आचार्य सुहस्ती के मुख से आचार्य महागिरि की तपस्विता का आख्यान सुनकर श्रेष्ठी वसुभूति चमत्कृत

हो गया। आचार्य सुहस्ती के लौट जाने के पश्चात् उसने अपने परिवार के सदस्यों को समझाया—आर्य महागिरि अथवा उनके तुल्य महान तपस्वी श्रमण भिक्षार्थ पधारें तो उन्हें विशिष्ट पदार्थों को प्रक्षेप योग्य बताकर भक्ति भाव से प्रदान करें। वैसा करने से महान यश और पुण्य की प्राप्ति होगी।

संयोग से दूसरे ही दिन आचार्य महागिरि भिक्षा के लिए वसुभूति के घर आए। पारिवारिक सदस्य जागरूक थे। उन्होंने गरिष्ठ मोदकों को प्रक्षेप आहार बताकर अति भक्ति भाव से आचार्य के सम्मुख प्रस्तुत किया। आचार्य श्री विशिष्ट अभिग्रही थे। प्रक्षेप योग्य आहार उनके लिए ग्राह्य था। पर मोदकों का आहार प्रक्षेप योग्य कैसे संभव है? इस आन्तरिक प्रश्नचिन्ह ने मुनिवर को चिन्तन के लिए प्रेरित किया। क्षणभर रुककर उन्होंने अपने ज्ञानोपयोग से वस्तुस्थिति का परिचय प्राप्त कर लिया।

विगत दिवस का चित्र उनकी स्मृति में ताजा हो गया। आहार को अपने लिए अकल्प्य मानकर आचार्य श्री रिक्त ही लौट गए।

कालान्तर में आचार्य महागिरि आचार्य सुहस्ती से मिले तो उन्होंने उन्हें उपालंभ दिया और कहा, सुहस्ति! मेरे अभिग्रह को तुमने श्रेष्ठी वसुभूति के समक्ष प्रकट कर मेरे लिए अनेषणीय आहार को ग्रहण करने की स्थिति निर्मित कर दी थी।

आचार्य सुहस्ती को अपनी भूल का परिज्ञान हुआ। वे गुरु तुल्य आचार्य महागिरि के चरणों पर नत हो गए और भूल के लिए क्षमापना करने लगे।

आचार्य महागिरि ने संघ संचालन के साथ-साथ अन्तिम वय में जिनकल्प तुल्य साधना कर एक आदर्श प्रस्तुत किया। असंख्य जीवों के लिए वे कल्याण का द्वार बने और वी.नि. 245 में लगभग 100 वर्ष की अवस्था में स्वर्गवासी बने।

—नन्दी सूत्र / —कल्पसूत्र स्थविरावली / —परिशिष्ट पर्व / —उपदेश माला, विशेषवृत्ति, पत्रांक 369-370

महाचन्द कुमार

चम्पानगरी के राजा महाराज दत्त का पुत्र और महारानी रक्तवती का आत्मज, एक रूप गुण सम्पन्न राजकुमार। युवावस्था में युवराज महाचन्द का विवाह श्रीकान्ता प्रमुख पांच सौ राजकन्याओं के साथ किया गया।

एक बार तीर्थंकर महावीर चम्पानगरी के बाह्य भाग में स्थित पूर्णभद्र नामक राजोद्यान में पधारे। प्रभु के दर्शन-वन्दन के लिए प्रजा के साथ-साथ युवराज महाचन्द कुमार भी गया। प्रभु की अमृतोपम धर्म देशना सुनकर युवराज की धर्मरुचि में अतिशय रूप से वृद्धि हुई। उसने भगवान से श्रावक धर्म अंगीकार किया।

राजा, प्रजा और युवराज के अपने-अपने स्थानों पर लौट जाने के पश्चात् आर्य गणधर गौतम ने भगवान महावीर स्वामी से पूछा, भगवन्! युवराज महाचन्द ने ऐसे क्या शुभ पुण्य कर्म किए जिनके फलस्वरूप उसे देवोपम रूप और समृद्धि का समागम प्राप्त हुआ?

भगवान महावीर ने महाचन्द का पूर्वभव सुनाते हुए फरमाया—गौतम! चिकित्सिका नाम की एक नगरी थी। वहां पर राजा जितशत्रु राज्य करते थे। एक बार धर्मवीर्य नामक एक मासखमण के तपस्वी अणगार उसके राजमहल में पधारे। महाराज जितशत्रु ने उत्कृष्ट भावों से अणगार को आहारादि से प्रतिलाभित किया। उससे उन्होंने महान पुण्यों का अर्जन किया। कालक्रम से आयुष्य पूर्ण कर महाराज जितशत्रु का जीव ही यहां महाचंद के रूप में जन्मा है। कालान्तर में युवराज आर्हती प्रव्रज्या धारण कर मोक्ष में जाएगा।

देश-कालानुसार तीर्थंकर महावीर अन्यत्र विहार कर गए।

एक बार पौषधशाला में पौषधाराधना करते हुए युवराज महाचंद को यह शुभ भाव उत्पन्न हुए कि वे नगर और ग्राम धन्य हैं जहां तीर्थंकर महावीर विचरते हैं। भगवान मेरे नगर में पधारें तो मैं भी उनके दर्शन कर धन्य हो जाऊं और उनके श्री चरणों में प्रव्रज्या धारण कर आत्मकल्याण करूं।

भाव फल देते हैं। ग्रामानुग्राम विचरते हुए भगवान एक बार पुनः चम्पा नगरी में पधारे। युवराज महाचन्द का हृत्कमल खिल उठा। वह भगवान के श्री चरणों में दीक्षित होकर निर्वाण को प्राप्त हुआ।

—विपाक सूत्र, द्वि श्रु., अ. 9

महात्मा गांधी

महात्मा गांधी भारतवर्ष के एक ऐसे नेता थे, जिन्होंने भारतीयों के मन पर शासन किया। उन्होंने अपने जीवन में सदैव जागरूक रहकर सत्य की साधना की। असत्य और अन्याय के विरुद्ध वे आजीवन संघर्ष करते रहे। अहिंसा, सत्य, सर्वोदय, सेवा आदि के धर्म सिद्धांत उनके आत्मसिद्धान्त बने थे। उन्होंने इंग्लैंड से वकालत की डिग्री प्राप्त की। उसके बाद वे भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़ गए। उन्होंने भारत की स्वतन्त्रता के लिए अहिंसात्मक आंदोलन चलाया। उनकी सच्चरित्रता और सत्यनिष्ठा के कारण पूरा देश उनका अनुगामी बन गया। उन्होंने निजी स्वार्थों का सर्वथा त्याग कर दिया था। देशहित और आध्यात्मिक उन्नति उनके जीवन के ध्रुव लक्ष्य थे। भारत की स्वतंत्रता के पश्चात् प्रधानमंत्री और राष्ट्रपति जैसे सर्वोच्च पद उनके लिए प्रस्तावित किए गए, पर उन्होंने कोई भी पद स्वीकार नहीं किया। उनके उत्कृष्ट त्याग के लिए कृतज्ञ राष्ट्र ने उन्हें 'राष्ट्र पिता', 'बापू' और 'महात्मा' जैसे महनीय शब्दों से संबोधित किया।

गांधी जी का जन्म सं. 1925 भादों बदी द्वादशी तदनुसार 2 अक्तूबर 1869 के दिन पोरबंदर (गुजरात) में हुआ। उनके पिता का नाम मोहनदास और माता का नाम श्रीमती पुतलीबाई था। ये दोनों ही धर्मरुचि सम्पन्न और सत्यनिष्ठ जीवन के अनुगामी थे।

माता पुतलीबाई के गुरु जैन मुनि बेचर जी स्वामी थे। मोहनदास (गांधी जी) जब बैरिस्ट्री की पढ़ाई के लिए इंग्लैण्ड जाने लगे तब माता पुतलीबाई उन्हें अपने गुरु के पास ले गई। बेचर जी स्वामी ने मोहनदास को मांस, मदिरा और पर-स्त्री संग से दूर रहने की प्रतिज्ञा प्रदान की। मोहनदास ने इन प्रतिज्ञाओं का जीवन-भर दृढ़ता से पालन किया। इन प्रतिज्ञाओं से ही गांधी जी सत्य के सोपानों पर ऊपर और ऊपर चढ़ते चले गए।

श्रीमद् रायचंद भाई को गांधी जी ने गुरु तुल्य पद दिया। रायचंद भाई से उन्होंने अनेक आध्यात्मिक शिक्षाएं प्राप्त कीं। गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—'श्रीमद् रायचंद भाई ने अपने सजीव संपर्क से मेरे जीवन पर गहरी छाप छोड़ी।'

स्पष्ट है कि गांधी जी के जीवन का आध्यात्मिक पक्ष जैन संस्कारों से अनुप्राणित था।

—सत्य के प्रयोग अथवा आत्मकथा

महादेवी

हस्तिनापुर नरेश सुदर्शन की अर्द्धांगिनी और प्रभु अरनाथ की जननी। —त्रिषिष्ट शलाका पुरुष चरित्र

महानन्द कुमार

मालव देश की राजधानी अवन्ती नगरी के कोटीश्वर श्रेष्ठी धनदत्त का पुत्र, एक दृढ़धर्मी श्रावक। उसके एक पुत्र हुआ। पुत्र परिवार और परिजनों को अत्यन्त प्रिय था। किसी समय उस पुत्र को एक सर्प ने

काट लिया। धनदत्त और महानन्द ने वैद्यों और गारुड़ियों को बुलाया। अनेक उपचार किए गए पर महानन्द का पुत्र स्वस्थ नहीं हुआ। तब धनदत्त ने घोषणा की कि जो कोई व्यक्ति उसके पौत्र को स्वस्थ करेगा उसे वह एक करोड़ स्वर्णमुद्राएं पुरस्कार में देगा। इस घोषणा को सुनकर दूर-दूर से तांत्रिक और मांत्रिक आए, पर परिणाम शून्य रहा। आखिर एक वृद्ध वैद्य ने शिशु का परीक्षण किया। उसने कहा, आज की रात्रि में शिशु को निर्विष नहीं किया जा सका तो उसकी मृत्यु सुनिश्चित है। मैं इस बालक का उपचार कर सकता हूँ पर औषध तो मेरे घर पर ही छूट गई है। मेरा घर यहां से एक सौ दस योजन की दूरी पर है। पौ फटने से पूर्व यदि वह औषध कोई ला सके तो शिशु के प्राण बचाए जा सकते हैं।

महानन्द कुमार के पास आकाशगामिनी विद्या थी और वह अल्प समय में ही हजारों योजन की दूरी तय कर सकता था। परन्तु उसने गुरुदेव से श्रावक धर्म अंगीकार करते हुए प्रण किया था कि वह लौकिक कार्यों के लिए एक दिन में सौ योजन से अधिक की यात्रा नहीं करेगा। वैद्य का गांव एक सौ दस योजन की दूरी पर था। इसलिए वह इस यात्रा को नहीं कर सकता था। उसे अपने पुत्र के प्राणों से अधिक अपना प्रण प्रिय था। परिवार, परिजनों और पुरजनों ने विविध तर्कों से महानन्द को समझाया, औषध लाने को कहा, पर महानन्द कुमार अपने प्रण पर अडिग रहा। नगर नरेश महाराज विक्रमादित्य ने भी महानन्द को समझाया कि वह अपवाद मार्ग का आश्रय लेकर औषध ले आए जिससे उसके पुत्र के प्राण बच सकें, परन्तु महानन्द ने राजा के आग्रह को भी अस्वीकार कर दिया। महानन्द की दृढ़धर्मिता से शासनदेवी का सिंहासन डोल उठा। शासनदेवी प्रगट हुई और उसने घोषणा की, महानन्द कुमार अपने हाथ में जल लेकर शिशु पर डालें। उनकी व्रत-निष्ठा के प्रभाव से वह जल ही संजीवनी का काम करेगा। महानन्द कुमार ने वैसा ही किया और देखते ही देखते उसका पुत्र ऐसे उठ बैठा जैसे कि वह निद्रा से जगा है।

महानन्द कुमार की व्रतनिष्ठा की स्तुतियां दसों दिशाओं में व्याप्त हो गईं। अनेक लोगों ने उससे प्रेरणा पाकर व्रत धारण किए और दृढ़ता से उनका पालन किया। जीवन के उत्तरपक्ष में महानन्द कुमार ने मुनिदीक्षा धारण की। देह त्याग कर वह माहेन्द्र कल्प में इन्द्र के समान महर्द्धिक देव बना। वहां से च्यव कर वह मनुष्य भव धारण करेगा और सिद्धि प्राप्त करेगा।

—श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र (रत्नशेखर सूरिकृत) / जैन कथा रत्न कोष, भाग 4

महापद्म चक्रवर्ती

वर्तमान अवसर्पिणी काल के नौवें चक्रवर्ती सम्राट। उन्होंने अपने बाहुबल से भरत क्षेत्र के षडखण्डों पर विजय पताका फहराकर चक्रवर्ती पद प्राप्त किया। सुदीर्घ काल तक विश्व को सुशासन दिया, बाद में नश्वर भोगों का परित्याग कर अनश्वर पद प्राप्ति के लिए अणगार धर्म को अपना कर और कैवल्य साधकर सिद्धत्व का वरण किया। उनके शासनकाल में जिनशासन पर एक अभूतपूर्व संकट भी आया जो इस प्रकार था—

महापद्म के एक ज्येष्ठ भ्राता थे जिनका नाम विष्णुकुमार था। जब महापद्म के पिता महाराज पद्मोत्तर हस्तिनापुर के राजा थे और आयु के चतुर्थ भाग में प्रवेश कर रहे थे तब उन्होंने विष्णुकुमार को राजपद देकर स्वयं दीक्षा लेने का विचार बनाया। इस पर विष्णुकुमार ने राजपद लेने से इन्कार करते हुए स्वयं भी दीक्षा लेने का निर्णय कर लिया। विष्णुकुमार मुनि बनकर मेरु पर्वत पर घोर तप करने लगे। घोर तप से उन्हें अनेक दिव्य लब्धियां और सिद्धियां प्राप्त हो गईं।

विष्णुकुमार द्वारा राजपद ठुकरा देने पर महापद्म ने उसे स्वीकार किया। षड्खण्ड साधकर वे चक्रवर्ती

बने। उनका एक प्रधान था जिसका नाम नमुचि था। नमुचि चक्रवर्ती का विशेष विश्वासपात्र और कृपापात्र था। पर एक बात थी कि नमुचि जैन श्रमणों से बहुत विद्वेष रखता था। उसके विद्वेष का एक कारण था जो इस प्रकार था—पहले नमुचि उज्जयिनी नरेश श्रीवर्म का अमात्य था। एक बार उज्जयिनी नगरी में सुव्रत नामक जैनाचार्य अपने शिष्य परिवार के साथ पधारे। नमुचि ने आचार्य के एक लघु शिष्य के साथ शास्त्रार्थ किया और पराजित हो गया। वह पराजय को पचा न सका और रात के अन्धेरे में मुनि का वध करने के लिए नंगी तलवार लेकर चल दिया। मुनि के पास पहुंचकर उसने जैसे ही तलवार का प्रहार मुनि पर करना चाहा वैसे ही शासन देव ने उसे उसी रौद्ररूप में स्तंभित कर दिया। उसका हिलना-डुलना बन्द हो गया। प्रभात में लोगों ने उसे उस मुद्रा में देखा तो उसे धिक्कारा। उसकी निन्दा की। राजा को सूचना मिली। उसने उसे अपमानित करके अपने राज्य से निकाल दिया। वहां से निकलकर नमुचि हस्तिनापुर पहुंचा। वहां अपनी कुशलता से चक्रवर्ती महापद्म का विश्वासपात्र बनने में सफल हो गया और उनका प्रधान बन गया। किसी समय नमुचि के कार्य पर महाराज महापद्म अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने उसे इच्छित वर मांगने के लिए कहा। नमुचि ने यथासमय वर मांगने की प्रार्थना के साथ उस वर को सुरक्षित रख लिया।

एक बार सुव्रताचार्य ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए हस्तिनापुर पधारे। नमुचि को इस की सूचना मिली। उसके भीतर का श्रमण-विद्वेष भभक उठा। अपने अपमान का प्रतिशोध लेने का उसे यह समुचित अवसर लगा। उसने महापद्म से अपना सुरक्षित वर सात दिनों के लिए षड्खण्डाधिपति होने के रूप में मांग लिया। फलतः नमुचि सात दिनों के लिए चक्रवर्ती बन गया। उसने सुनियोजित साजिश के अनुसार एक विशाल यज्ञ आरम्भ किया। सभी लोग और सभी धर्मों के आचार्य विविध भेंट लेकर नमुचि के पास पहुंचे और नवशास्ता के रूप में उसे बधाइयां देने लगे। इन आगन्तुकों में नमुचि सुव्रताचार्य को खोज रहा था। पर सुव्रताचार्य को न आना था और न ही वे आए। इससे नमुचि तिलमिला गया। उसने सुव्रताचार्य को अपने पास बुलाया और मदान्ध बनकर बोला—तुम भेंट लेकर क्यों नहीं आए ! या तो भेंट लेकर आइए, वरन मेरे राज्य की सीमाओं से बाहर चले जाइए। तीन दिवस की समय सीमा के भीतर मेरे आदेश का पालन नहीं हुआ तो चोरों की भांति तुम्हारा और तुम्हारे श्रमण संघ का वध करवा दूंगा।

सुव्रताचार्य चिन्तित मुद्रा के साथ अपने स्थान पर लौट आए। आखिर छह खण्ड को छोड़कर जाएं तो कहां जाएं ? अभूतपूर्व संकट था यह श्रमण संघ पर। उस समय आचार्य को विष्णु मुनि का स्मरण आया। उन्होंने द्रुतगामी एक मुनि को विष्णु मुनि के पास भेजा। मुनि ने विष्णुमुनि के पास जाकर उन्हें श्रमणसंघ पर आए संकट की बात कही। विष्णु मुनि लब्धिबल से आकाशमार्ग से तत्काल हस्तिनापुर पहुंच गए। नमुचि के पास जाकर उन्होंने उसे समझाया कि वह अपना आदेश वापिस ले ले। पर अहंकारी नमुचि कहां मानने वाला था। विष्णु मुनि ने कहा कि वे चक्रवर्ती के सहोदर हैं। कम से कम उन्हें तो रहने के लिए कुछ स्थान दिया जाए। दंभपूर्ण स्वर में नमुचि बोला—मैं तुम्हें तीन कदम जमीन देता हूँ, तुम वहां रह सकते हो।

विष्णु मुनि को लगा कि नमुचि को समझाना आवश्यक हो गया है। उन्होंने लब्धि के प्रयोग से अपना रूप विशाल बना लिया और दो ही कदमों में चक्रवर्ती का पूरा साम्राज्य नाप दिया। फिर बोले—बोल, नमुचि! तीसरा कदम कहां रखूं।

विष्णु मुनि के इस रूप से चारों ओर भय व्याप्त हो गया। चक्रवर्ती महापद्म दौड़कर आए और महामुनि के चरणों में गिरकर क्षमा मांगने लगे। मुनि ने अपनी लब्धि समेट ली। राजा ने नमुचि को अपमानित करके नगर से निकाल दिया।

इस प्रकार मुनियों की रक्षा हुई। कहते हैं जैन परम्परा में उसी दिन से रक्षाबन्धन का पर्व प्रारंभ हुआ।

विष्णुकुमार मुनि ने लब्धि प्रयोग के लिए आचार्य से प्रायश्चित्त ग्रहण किया और निरतिचार संयम पालकर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष गए।

उसके बाद महापद्म चक्रवर्ती ने भी राजपाट छोड़कर संयम ग्रहण कर लिया और वे भी मोक्ष में गए।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 7

(क) महाबल

जम्बूद्वीप के अपर विदेह में स्थित वीतशोका नगरी के राजा बल का पुत्र। युवावस्था में 500 राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ। पिता की प्रव्रज्या के पश्चात् वह अपने देश का राजा बना। न्याय और नीति से राज्य करते हुए उसने पर्याप्त सुयश अर्जित किया।

अंतिम अवस्था में उसने अपने छह बालमित्रों के साथ संयम धारण किया। विशुद्ध संयमाराधना तथा उत्कृष्ट तपाराधना करते हुए भी महाबल ने सूक्ष्म माया का आसेवन किया। उत्कृष्ट तप के फल-स्वरूप उसने तीर्थंकर गोत्र का अर्जन किया, पर माया के फल रूप में उसे स्त्री योनि प्राप्त हुई। कालान्तर में महाबल का जीव मिथिलानरेश महाराज कुंभ की पुत्री के रूप में जन्मा जहां उन्हें मल्ली कुमारी नाम प्राप्त हुआ। यही मल्ली भगवती जैन धर्म की उन्नीसवें तीर्थंकर के रूप में अर्चित हैं। (देखिए-मल्लीनाथ तीर्थंकर)

(ख) महाबल

महावीरकालीन पुरिमताल नगर का राजा। —विपाक सूत्र-3

(ग) महाबल (कुमार)

महापुर नगर का युवराज। नगर नरेश महाराज बल उसके पिता और महारानी सुभद्रा देवी उसकी माता थी। महाबल कुमार रूपवान और तेजस्वी युवक था। वह सभी के प्रेम का पात्र था। युवावस्था में रक्तवती प्रमुख पांच सौ राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ।

एक बार ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए श्रमण भगवान महावीर स्वामी अपने श्रमण संघ के साथ महापुर नगर के बाह्य भाग में स्थित रक्ताशोक नामक उद्यान में पधारे। पूरा नगर भगवान के दर्शनों के लिए उमड़ पड़ा। युवराज महाबल भी भगवान के श्री चरणों में पहुंचा। प्रभु का प्रवचन सुनकर उसका हृदय हर्ष और श्रद्धाभाव से पूर्ण हो गया। उसने भगवान से श्रावक धर्म ग्रहण किया। राजकुमार और जनता अपने-अपने घरों को लौट गए।

महाबल की अतिशयी रूप-गुण सम्पदा देखकर श्रमण-श्रमणी वृन्द में उत्सुकता उत्पन्न हुई। श्रमण-श्रमणीवृन्द की उत्सुकता को देखकर उसके समाधान के लिए गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से प्रश्न किया—भंते! महाबल कुमार ने ऐसे क्या शुभ कर्म किए हैं जिससे उसे ऐसा रूप मिला तथा वह सभी के प्रेम का पात्र बना है?

भगवान ने फरमाया, गौतम! पूर्व जन्म में महाबल कुमार मणिपुर नामक नगर का नागदत्त नामक गाथापति था। वहां पर इसने एक बार चढ़ते भावों से इन्द्रदत्त नामक मासोपवासी अणगार को प्रासुक आहार का दान दिया था। दान देते हुए नागदत्त ने महान पुण्य का अर्जन किया। कालक्रम से वहां से आयुष्य पूर्ण कर नागदत्त यहां महाबल के रूप में जन्मा है।

गौतम स्वामी ने पुनः प्रश्न किया—भगवन्! महाबल का भविष्य कैसा है? कृपा उस पर भी प्रकाश डालिए!

भगवान ने फरमाया, गौतम! कुछ वर्षों तक श्रावक धर्म की आराधना करने के पश्चात् महाबल प्रव्रजित हो जाएगा और इसी भव में मोक्ष में जाएगा।

महाबल कुमार के गौरवमयी अतीत और अनागत को सुनकर श्रमण-श्रमणी वृन्द समाहित चित्त हो गया।

अन्य किसी समय में श्रमण भगवान महावीर शिष्य समुदाय के साथ अन्यत्र विहार कर गए।

एक बार युवराज महाबल कुमार पौषधशाला में पौषध की आराधना कर रहा था। आध्यात्मिक चिन्तन में तल्लीन महाबल के स्मृति पट पर भगवान महावीर का चित्र उभर आया। महाबल रोमांचित हो उठा। उसकी चिन्तन धारा बह चली—धन्य हैं वे जनपद और कानन जहां पर अरिहंत प्रभु महावीर के चरणों की रज गिरती है। धन्य हैं वे लोग जो प्रभु के दर्शन कर अपने नेत्रों और हृदयों को पवित्र करते हैं। कितना शुभ होगा वह क्षण जब मेरे आराध्य अरिहंत देव श्री महावीर स्वामी मेरे नगर में पधारेंगे। उनके दर्शन कर मैं धन्य हो जाऊंगा।

सर्वज्ञ महावीर महाबल के हृदय के भावों को देख रहे थे। विहरणशील महावीर के चरण महापुर की दिशा में गतिमान बन गए। महावीर के पदार्पण का सुसंवाद महाबल कुमार ने सुना तो उसके हर्ष का ठिकाना न रहा। वह प्रभु के चरणों में पहुंचा। प्रभु के प्रवचन-पावस का उसने आतृप्त पान किया। परिणामतः वैराग्य का प्रबल आवेग उसके हृदय में उमड़ आया। माता-पिता-परिजनों की अनुमति प्राप्त कर महाबल प्रव्रजित हो गया। चारित्र धर्म की उत्कृष्ट आराधना द्वारा समस्त कर्मराशि को भस्मीभूत करके महाबल मुनि सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए। —विपाक सूत्र, द्वितीय श्रुत. अ. 6

(घ) महाबल (कुलपुत्र)

श्रीपुर नगर का रहने वाला एक कुलीन युवक। बाल्यावस्था में ही उसके माता-पिता का देहान्त हो जाने के कारण वह कुसंगति मे पड़ गया और चोर बन गया। एक बार वह चोरी करने के लिए राजा मानमर्दन के महल में गया। उसने हीरे जवाहरात पोटली में बांधे और चलने को तैयार हुआ। इतने में उसने देखा कि वहां एक सर्प आया और उसने रानी को डस लिया। दबे पांव से महाबल ने सर्प का पीछा किया। द्वार पर पहुंचते ही सर्प ने बैल का रूप बनाया। द्वारपाल ने बैल को भगाने की चेष्टा की तो बैल ने उसके पेट में सींग से प्रहार कर उसे मार डाला। महाबल ने बैल की पूंछ पकड़ ली। बैल ने मनुष्य की वाणी में उससे अपनी पूंछ छोड़ने के लिए कहा। महाबल ने उससे उसका परिचय पूछा और जानना चाहा कि उसने रानी और द्वारपाल को किस लिए मार डाला।

बैल ने देवरूप में प्रगट होकर कहा, मैं नागकुमार देव हूँ और रानी और द्वारपाल मेरे पूर्वजन्म के शत्रु हैं। इसीलिए उनको मैंने मार दिया है।

महाबल ने अपनी मृत्यु के बारे में पूछा तो देव ने कहा, राजमार्ग पर खड़े अमुक वटवृक्ष से लटकने से तेरी मृत्यु होगी।

अपनी मृत्यु के कारण वटवृक्ष को देखकर महाबल भयभीत बन गया। वह जंगल में जाकर एक तापस का शिष्य बन गया और तप करने लगा। तापस की मृत्यु के बाद वह आश्रम का स्वामी बन गया।

किसी समय राजा मानमर्दन के यहां एक चोर ने चोरी की। आरक्षियों ने चोर का पीछा किया। भागते-भागते चोर महाबल के आश्रम में पहुंचा और चुराया हुआ धन महाबल की बगल में रख कर अन्यत्र भाग गया। आरक्षियों ने महाबल को चोर समझा और उसे गिरफ्तार करके वे राजा के पास ले गए। महाबल ने अपनी सफाई देते हुए अपना पूरा जीवनवृत्त सुना दिया औा स्पष्ट किया कि वह मृत्युभय से तापस बना है।

राजा मानमर्दन कर्मफल और भाग्य पर विश्वास नहीं करता था। उसने कहा, तुम मेरे पास रहो। मेरे रहते हुए तुम्हारा कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता है। महाबल राजा के साथ रहने लगा। कुछ ही दिन बाद राजा ने उसका विवाह भी करवा दिया।

किसी दिन महाबल राजा के साथ वन-विहार को जाने लगा तो उसकी पत्नी ने उसे किसी कार्यवश वापिस बुला लिया। इतने में राजा दूर निकल गया। राजा के पास शीघ्र पहुंचने के लिए महाबल ने घोड़े को चाबुक लगाई। दौड़ते हुए घोड़ा वटवृक्ष के नीचे पहुंचकर जोर से उछला। महाबल के गले मे पड़ी हुई सोने की चैन उलटकर वटवृक्ष की शाखा में उलझ गई और महाबल वृक्ष से लटक गया। सोने की चैन ही उसके लिए फांसी का फन्दा बन गई। उसका प्राणान्त हो गया।

राजा मानमर्दन को महाबल की मृत्यु का समाचार मिला। इससे उसका अंहकार गल गया। कर्मफल पर उसका विश्वास अटल बन गया। शनै-शनै उसकी श्रद्धा प्रगाढ़ बनती गई। श्रामणी दीक्षा लेकर उसने उत्कृष्ट चारित्र की आराधना की और मोक्ष पद प्राप्त किया। —पार्श्वनाथ चरित्र

(ङ) महाबल (मलयासुन्दरी)

एक साहसी और शूरवीर राजकुमार। उसके जीवन में देव, दानव और मानवकृत अकल्प्य और अचिन्त्य कष्ट के क्षण आए, पर उसने अपने साहस, शौर्य और बुद्धिमत्ता के बल से समस्त कष्टों को पार कर अपने नाम की सार्थकता सिद्ध की। महाबल पइठानपुर नरेश महाराज शूरपाल का पुत्र था। उसने चन्द्रावती नगरी के राजा वीरधवल की पुत्री मलयासुन्दरी से विवाह किया। मलयासुन्दरी की विमाता कनकमाला ने मलयासुन्दरी और महाबल के विरुद्ध कई बार षडयंत्र रचे, जिनके परिणामस्वरूप उन दोनों को अनेक कष्ट सहन करने पड़े। परन्तु उन दोनों ने कनकमाला को कभी दोषी नहीं माना। स्वकृतकर्म को ही दोषी मानकर उन्होंने धैर्य धारण किया और उपस्थित कष्टों का साहस से सामना किया।

एक लम्बी कष्ट परीक्षा से गुजर कर महाबल और मलयासुन्दरी के जीवन में सुख का समय आया। महाबल ने सुशासन स्थापित कर प्रजा का हार्दिक प्यार प्राप्त किया। जीवन के अंतिम भाग में महाबल और मलया ने संयम की साधना की और निर्वाण पद प्राप्त किया। —महाबल मलया चरित्र

(च) महाबल (राजा)

भगवान ऋषभदेव का जीव अपने पूर्वभव में गंधसमृद्धि नगर का महाबल नामक राजा था। महाबल राजा अपने धर्मात्मा मंत्री स्वयंबुद्ध से संबोधि का सूत्र प्राप्त कर जागृत बना। जब उसे संबोधि का सूत्र प्राप्त हुआ तब उसकी आयु बाईस दिन शेष थी। राजा ने देव, गुरु और धर्म पर अविचल श्रद्धा रखते हुए अनशन सहित देहोत्सर्ग कर ईशानेन्द्र का सामानिक देव पद प्राप्त किया।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र / उसह चरियं

(छ) महाबल (राजा)

विजयापुरी नरेश और चौदहवें विहरमान तीर्थंकर श्री भुजंगस्वामी के जनक। (देखिए-भुजंग स्वामी)

(ज) महाबल (राजा)

रोहिड़ नगर के राजा। निषधकुमार के पूर्वभव के जनक।

महाभद्र स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

अठारहवें विहरमान तीर्थंकर। पुष्करार्द्ध द्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में वपु नाम की एक विजय है जिसके अन्तर्गत विजया नाम की एक समृद्ध नगरी है। उसी नगरी के महाराज देवराय की पट्टमहिषी उभया की रत्नकुक्षी से प्रभु जन्मे। हस्ति के चिन्ह से संयुक्त प्रभु ने यौवन-काल में सूर्यकान्ता नामक राजकन्या से पाणिग्रहण किया। तिरासी लाख पूर्व की अवस्था तक प्रभु राजपद पर रहे। उसके बाद वर्षीदान देकर दीक्षित हुए। कैवल्य लाभ प्राप्त कर धर्म तीर्थ की स्थापना की और तीर्थंकर बने। वर्तमान में असंख्य भव्यजन प्रभु के उपदेशों को सुनकर आत्म-साधना में संलग्न हैं। जब प्रभु का आयुष्य चौरासी लाख पूर्व का होगा तो वे सर्व-कर्म मुक्त बन मोक्ष धाम में जा विराजेंगे।

महाभीम

अवसर्पिणी काल के द्वितीय नारद। (देखिए-नारद)

महामरुता

महाराज श्रेणिक की रानी। शेष परिचय नन्दावत्। (देखिए-नन्दा) —अन्तगड सूत्र वर्ग 7, अध्ययन 8

महारुद्र

वर्तमान अवसर्पिणी काल के चतुर्थ नारद। (देखिए-नारद)

महावीर (तीर्थंकर)

जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर। कुछ जैनेतर विद्वान महावीर को जैन धर्म का प्रवर्तक भी मानते हैं। पर जैन परम्परा के अनुसार जैन धर्म एक शाश्वत धर्म है। उसकी ज्योति मन्द और तीव्र तो होती रहती है पर कभी नष्ट नहीं होती है। प्रत्येक तीर्थंकर तीर्थ की स्थापना करता है, धर्म की नहीं। धर्म तो अनादि अनन्त है। महावीर अन्तिम तीर्थंकर थे। क्षत्रियकुंड नरेश महाराज सिद्धार्थ और उनकी रानी त्रिशला प्रभु के जनक और जननी थे। प्रभु बाल्यावस्था से ही अत्यन्त साहसी, वीर और धीर थे। बचपन में ही उनकी वीरता को देखकर उन्हें वीर और महावीर नाम से पुकारा जाने लगा था। उनका जन्मना नाम वर्धमान था।

नन्दिवर्धन महावीर के अग्रज और सुदर्शना उनकी भगिनी थी। युवावस्था मे यशोदा नामक राजकुमारी से महावीर का विवाह हुआ। उन्हें एक पुत्री हुई, जिसे प्रियदर्शना नाम दिया गया। योग्य वय में प्रियदर्शना का विवाह जमाली नामक क्षत्रिय युवक से सम्पन्न हुआ। महावीर अपने माता-पिता का अत्यधिक सम्मान करते थे और उनसे अगाध स्नेह रखते थे। महावीर जब मातृगर्भ में थे तो उन्होंने इस विचार से हिलना-डुलना बन्द कर दिया था कि उससे माता को वेदना होती है। पर वैसा होने से अमंगल की संभावना से त्रिशला विह्वल हो गई। मां की मनःस्थिति को देख महावीर ने पुनः स्वाभाविक रूप से हिलना डुलना शुरू कर दिया। उससे माता बड़ी प्रसन्न हुई। माता की उसी ममता से प्रेरित बनकर महावीर ने गर्भकाल में ही यह संकल्प कर लिया था कि माता-पिता के जीवन काल में वे दीक्षित नहीं होंगे ।

महावीर ने मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी को दीक्षा धारण की। साढ़े बारह वर्षों तक प्रभु ने ध्यान और तप के माध्यम से आत्मसाधना की। इस साधना काल में प्रभु ने असंख्य कठिन उपसर्गों और परीषहों से लोहा

लिया। कदम-दर-कदम उपसर्गों ने प्रभु के मार्ग को रोका, पर अप्रतिबद्ध विहारी महावीर आगे और आगे बढ़ते रहे। शूलपाणियक्ष, चण्डकौशिक नाग, कटपूतना, संगम देव—ये कुछ ऐसे नाम हैं जिन्होंने प्रभु को मारणान्तिक उपसर्ग दिए। संगम देव छह मास तक प्रभु के साथ देहच्छायावत् जुड़ा रहा। प्रभु की समता को खण्डित करने के लिए उसने अपनी समग्र देव शक्ति लगा दी। पर वह सफल नहीं हुआ। एक ग्वाले ने प्रभु के कानों में कीलें ठोक दीं। पर प्रभु की समता अखण्ड बनी रही। कठिन अभिग्रह धारण कर प्रभु ने चन्दनबाला का उद्धार किया। प्रभु ने इन्द्र के इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया कि साधनाकाल में वह उनकी सेवा में रहेगा। प्रभु का चिंतन था—कैवल्य की साधना किसी के कन्धे को सहारा बनाकर नहीं साधी जा सकती है। उसके लिए अपना पुरुषार्थ ही अपेक्षित होता है।

साढ़े बारह वर्षों की दुर्धर्ष साधना के पश्चात् भगवान सर्व कर्म-कल्मष से उन्मुक्त बन गए। वैशाख शुक्ला दशमी के दिन ऋजुवालिका नदी के तट पर गोदुहिका आसन में ध्यान लीन प्रभु की आत्मा में कैवल्य का महासूर्य उदित हो गया। उसके पश्चात् प्रभु ने जगत कल्याण के लिए धर्म तीर्थ की स्थापना की। गौतम स्वामी प्रभु के प्रथम शिष्य और चन्दनबाला प्रथम शिष्या बनी। महावीर शीघ्र ही भारतवर्ष के पूज्य बन गए। अनेकों राजाओं ने प्रभु को अपना धर्म गुरु स्वीकार किया। अनेकों राजाओं, राजकुमारों, राजकुमारियों, राजमहिषियों ने प्रभु के पास दीक्षा ली। ब्राह्मण और शूद्र, पुण्यात्मा और पापात्मा, छोटे और बड़े, धनी और निर्धन, प्रभु के लिए सब समान थे। प्रभु ने कभी किसी धर्म सम्प्रदाय की निन्दा नहीं की। उन्होंने अपनी बात जग के समक्ष रखी, जिसे सुन और अंगीकार कर लाखों भव्यजन भवसागर से तैर गए।

कार्तिक कृष्णा अमावस्या की रात्रि में पावापुरी नगरी में प्रभु मोक्ष में चले गए। उनकी कुल आयु बहत्तर वर्ष थी, जिसमें से तीस वर्ष तक वे गृहवास में रहे, शेष साढ़े बयालीस वर्षों तक श्रमणपर्याय में रहे। प्रभु के निर्वाण का उत्सव देवताओं और उपस्थित राजाओं व श्रावकों ने रत्नों के प्रकाश से प्रकाशित रात्रि में मनाया। वह दिन दिवाली के रूप में आज भी जैन जगत में दीपमालाएं प्रज्ज्वलित कर तथा त्याग-तप पूर्वक मनाया जाता है। —कल्पसूत्र / —आचारांग अध्ययन 9 / —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

महाशतक श्रावक

भगवान महावीर का एक अग्रगण्य श्रावक और राजगृह नगर का एक प्रमुख धनाधीश। उसके पास चौबीस करोड़ स्वर्णमुद्राएं तथा दस-दस हजार गायों के आठ गोकुल थे। रेवती आदि उसकी तेरह पत्नियां थीं। प्रचुर सुख साधन होते हुए भी वह सादा जीवन एवं उच्च विचार के सिद्धान्त का अनुगामी था। उसने भगवान महावीर से श्रावक धर्म अंगीकार किया था। उसने आजीवन अपने व्रतों की विशुद्ध मन से परिपालना की। उसकी प्रमुख पत्नी रेवती जो एक धनी पिता की पुत्री थी अत्यन्त महत्वाकांक्षी और लोलुप थी। वह गुप्त रूप से मद्य और मांस का सेवन करती थी। तामसिक आहार से उसकी वासना अत्यन्त प्रबल बन गई थी। पति का पूर्ण प्रेम अकेली ही पाने के लिए उसने अपनी छह सपत्नियों को विष प्रयोग से तथा छह को शस्त्र प्रयोग से मार दिया। उसने यह कार्य इतनी चालाकी से किया कि कोई उस पर आशंका तक न कर सका। मार्ग के कंटकों को मिटा कर वह पूर्ण रूप से स्वच्छन्द बन गई। किसी समय महाराज श्रेणिक ने अपनी राजधानी में पञ्चेन्द्रिय वध पर प्रतिबन्ध लगा दिया। रेवती के लिए ये कठिन क्षण थे। मांस के बिना वह रह नहीं सकती थी। उसने एक मार्ग खोजा। विश्वस्त अनुचर से वह अपने पिता की गोशाला से दो बछड़े मरवा कर प्रतिदिन मंगाने लगी। इस बात का पता महाशतक को लगा तो उसे रेवती के प्रति अत्यधिक घृणा हो गई। जब तब रेवती महाशतक के पास आती। महाशतक उससे आंखें फेर लेता। उक्त

घटनाएं उसकी विरक्ति को और अधिक सम्बल प्रदान करतीं। उसने श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की सम्यक् आराधना की। देह दुर्बल हो गई। उसने आमरण अनशन ग्रहण कर लिया। साधना की विशुद्धता से उसे अवधिज्ञान की प्राप्ति हो गई।

पौषधशाला में अन्तिम साधनारत महाशतक के पास रेवती आई और कुचेष्टाएं करने लगी। समझाने पर भी न समझने पर महाशतक को क्रोध आ गया। उसने भर्त्सना भरे शब्दों में उससे कहा कि वह सात दिन बाद मर जाएगी और प्रथम नरक में चौरासी हजार वर्षों का कष्टपूर्ण जीवन जीएगी। पति की बात को श्राप मानकर रेवती का नशा उतर गया और वह आर्त्तध्यान करती हुई अपने स्थान पर चली गई। सातवें दिन उसकी मृत्यु हो गई और वह प्रथम नरक में गई।

संयोगवश उन्हीं दिनों भगवान महावीर राजगृह नगरी में पधारे। उन्होंने पूरी बात गौतम स्वामी को बताते हुए कहा कि वे महाशतक के पास जाएं और उसे समझाएं कि उसे अपनी पत्नी के प्रति अनशन अवस्था में जिन शब्दों का प्रयोग किया है वह अनुचित है। उसे प्रायश्चित्त लेकर विशुद्ध होना चाहिए।

गौतम स्वामी महाशतक के पास पहुंचे और उसे भगवान महावीर का संदेश कहा। सुनकर महाशतक कृतकृत्य हो गया। उसने प्रायश्चित्त किया और भगवान महावीर और गौतम स्वामी का आभार माना। प्रायश्चित्त और तप से अपनी आत्मा को विशुद्ध बनाकर महाशतक देह तज कर प्रथम देवलोक में गया। वहां से महाविदेह में जन्म लेकर मोक्ष में जाएगा।

महाशाल

पृष्ठचम्पा नगरी के राजा शाल का अनुज और युवराज। भगवान महावीर से प्रव्रजित बन उसने मोक्षपद प्राप्त किया। (देखिए-शाल)

महाशिरा

दक्षिण भरतक्षेत्र के नगर चक्रपुर के एक परम-प्रतापी सम्राट जो भगवान अरनाथ के शासन काल में हुए आनन्द बलदेव और पुरुषपुण्डरीक वासुदेव के जनक थे। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

महासुव्रता

अरिहंत अरिष्टनेमि की प्रमुख श्राविका। —कल्पसूत्र

महासेन

तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के जनक।

महासेनकृष्णा

महाराज श्रेणिक की रानी और महासेनकृष्ण कुमार की माता। युद्ध में पुत्र की मृत्यु से वह विरक्त बन गई और दीक्षित होकर उसने क्लिष्टतम तपाराधना की। उन्होंने वर्द्धमान आयम्बिल तप किया। इस तप की कालावधि चौदह वर्ष तीन मास और बीस अहोरात्र की है। उनका शेष परिचय काली के समान है। (देखिए-काली) —अन्तगड सूत्र वर्ग 8, अध्ययन 10

महाहरि

कंपिलपुर नरेश। (देखिए-हरिसेन चक्रवर्ती)

महिपाल

पृथ्वीपुर नगर के राजा वीरधवल का इकलौता पुत्र, एक धर्मात्मा और पुण्यात्मा युवक। महिपाल के तीन अनन्य व अंतरंग बाल सखा थे—मंत्रिपुत्र यशपाल, नगरसेठ-पुत्र श्रीपाल और राजपुरोहित-पुत्र पुण्यपाल। चारों में प्रगाढ़ प्रीतिभाव था। चारों की शिक्षा-दीक्षा साथ-साथ हुई थी। चारों ही हमउम्र थे और चारों के शौक भी समान थे। चारों एक साथ रहते, साथ-साथ खाते और साथ-साथ ही घूमने-टहलने जाते। चारों ही अपने-अपने माता-पिता की इकलौती संतान थे। एक बार चारों ने देशाटन का संकल्प किया। चारों अपने-अपने घरों से पर्याप्त धन लेकर बिना किसी को सूचित किए अश्वारूढ़ होकर देशाटन के लिए चल दिए। पूरे धन की एक पोटली बनाकर पुरोहित पुत्र पुण्यपाल को सौंप दी गई। यात्रा कई दिनों तक चलती रही। एक रात्रि में पुण्यपाल के मन में लोभ जाग गया कि इतना धन तो उसे जीवन भर परिश्रम करने पर भी प्राप्त नहीं होगा। इस धन को लेकर उसे भाग जाना चाहिए। रात्रि में ही पुण्यपाल धन की पोट लेकर भाग खड़ा हुआ।

प्रभात में तीनों मित्रों को पुण्यपाल के मैत्रिघात का पता चलना ही था। तीनों को पुण्यपाल के अलग हो जाने का कष्ट अधिक था, धन चले जाने का कष्ट कम। तीनों आगे बढ़े। महिपाल को प्यास लग गई। वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। मित्रों से कहा—प्यास से उसका कण्ठ सूखा जा रहा है, कहीं से पानी की व्यवस्था करो। यशपाल और श्रीपाल पानी और फलों की तलाश में चले। उनके जाने के बाद दुर्दैव से महिपाल को एक कृष्ण विषधर ने डस लिया। उधर आकाश मार्ग से एक विद्याधर अपने गन्तव्य पर जा रहा था। उसका विमान स्तंभित हो गया। उसने विमान को नीचे उतारा और सर्पदंशित युवक को देखा। महिपाल को अपने विमान में लेटाकर वह अपने नगर ले गया और मंत्रौषधियों से उसका उपचार किया। कुछ दिनों में महिपाल पूर्ण रूप से स्वस्थ हो गया। स्वस्थ हो जाने पर उसे अपने मित्रों की स्मृति सताने लगी। विद्याधर ने उसे धैर्य दिया कि पुण्ययोग से उसके मित्र उसे अवश्य मिलेंगे। विद्याधर ने सर्वविध योग्य जानकर महिपाल के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। महिपाल सुखपूर्वक जीवन यापन करने लगा।

उधर मंत्री-पुत्र यशपाल वृक्ष के पास आया तो उसे महिपाल नहीं मिला। महिपाल और श्रीपाल को खोजते-खोजते वह महेन्द्रपुर नगर पहुंच गया। उसके पुण्य प्रबल बने और वह राजजामाता बन गया। मंत्री ने भी उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। महेन्द्रपुर नरेश सबलसिंह अपने जामाता यशपाल को राज्य देकर प्रव्रजित हो गया। महेन्द्रपुर का राजा बनकर यशपाल सुखपूर्वक शासन करने लगा।

वन में श्रीपाल की भेंट एक पल्लिपति से हुई। पल्लिपति मूलतः एक राजकुमार था और पल्लिपति के रूप में निर्वासित जीवन जी रहा था। पल्लिपति ने श्रीपाल से अपनी पुत्री का विवाह कर दिया और उसे पल्लिपति का दायित्व देकर दीक्षित हो गया। श्रीपाल ने अपने मित्रों को खोजा, पर असफल रहा। पल्ली में रहकर ही वह सुखपूर्वक शासन करने लगा।

पुण्यपाल धन की पोट लेकर आगे बढ़ा तो उसे डाकूओं ने लूट लिया और मार-पीटकर भगा दिया। वह एक भिखारी के रूप में दर-दर भटक कर उदर पोषण करने लगा।

एक बार यशपाल ने मित्रों की खोज के लिए सेना सहित महेन्द्रपुर से प्रस्थान किया। उधर श्रीपाल ने भी मित्रों की खोज के लिए अभियान शुरू किया। ये दोनों एक जंगल में इकट्ठे हो गए। दोनों मित्रों की भेंट हुई। गद्‌गद हृदय से वार्तालाप करने लगे। जंगल मे एक मुनि को केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। देवदुंदुभियां सुनकर दोनों मित्र कैवल्य महोत्सव में पहुंचे। विद्याधर के साथ महिपाल भी कैवल्य महोत्सव में उपस्थित

हुआ। तीनों बिछुड़े मित्र पुनः मिल गए। पुण्यपाल भी भटकता हुआ वहीं आ पहुंचा। उसके अपराध को भुलाकर तीनों मित्रों ने उसे गले लगा लिया।

यशपाल की प्रार्थना पर सभी मित्र अपनी-अपनी पत्नियों के साथ महेन्द्रपुर आए। यशपाल ने एक ऐसा राजसिंहासन बनवाया जिस पर चार राजा एक साथ बैठ सकते थे। यशपाल के विशेष आग्रह पर तीनों ने भी राजपद स्वीकार किया। महेन्द्रपुर चार राजाओं का नगर कहा जाने लगा।

चारों मित्रों को पृथ्वीपुर से प्रस्थान किए बारह वर्ष बीत चुके थे। उन्हें माता-पिता की स्मृति सताने लगी तो चारों मित्र विशाल सेना सजाकर अपनी पत्नियों के साथ पृथ्वीपुर पहुंचे। पृथ्वीपुर का कण-कण हर्षाभिभूत हो उठा। चारों के माता-पिता पुत्रों और पुत्रवधुओं को पाकर अति प्रसन्न हुए।

सुदीर्घ काल तक ये चारों मित्र राजधर्म का पालन करते हुए गृहस्थ में रहे। जीवन के उत्तरपक्ष में चारों ने दीक्षा धारण कर मोक्ष पद प्राप्त किया।

महीधर

क्षितिप्रतिष्ठ नगर का युवराज जो अपनी मित्रमंडली के साथ मिलकर लोकमंगल के कार्यों में रुचिशील था। महान पुण्य संचित करके यह भवान्तर में चक्रवर्ती भरत के रूप में उत्पन्न हुआ जिनके नाम से इस देश का नाम भारत प्रचलित हुआ।

महीसेन

मेवाड़ देश की राजधानी चित्रकूट नगर का राजा। (देखिए-उत्तम कुमार)

(क) महेन्द्र

अयोध्यापति इक्ष्वाकुवंशी महाराज सुरपति का पुत्र, एक रूप-गुण सम्पन्न राजकुमार। मंत्रिपुत्र गुणसुन्दर उसका बाल-सखा था। दोनों मित्रों ने साथ-साथ शिक्षा-दीक्षा पूर्ण की। यौवनावस्था में दोनों मित्रों ने विदेश भ्रमण का निश्चय किया। अनेकों देशों-प्रदेशों में दोनों मित्रों ने भ्रमण किया। उस यात्रा में राजकुमार महेन्द्र के रूप-गुणों पर पांच कन्याएं मंत्र-मोहित बनीं। उन पांचों से राजकुमार ने पाणिग्रहण किया। कालक्रम से एक सौ तीन अन्य कुमारियों से उसने विवाह किया। पिता के प्रव्रजित हो जाने पर वह अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठा। गुणसुन्दर को उसने अपना मंत्री नियुक्त किया।

महाराज महेन्द्र ने सुदीर्घ काल तक शासन किया। उनके शासनकाल में प्रजा सुखी और सर्वविध सम्पन्न हुई। एक बार भुवनभानू केवली अयोध्या के बाह्य भाग में स्थित उद्यान में पधारे। महाराज महेन्द्र मुनि की देशना सुनने गए। केवली मुनि ने 'अप्रमाद' पर उपदेश दिया। उपदेश सुनकर महाराज महेन्द्र प्रबुद्ध बन गए और अपने ज्येष्ठ पुत्र को राजपद सौंपकर प्रव्रजित हो गए। निरतिचार संयम की आराधना से उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। वे निर्वाण को उपलब्ध हुए। —जैन कथा रत्नकोष, भाग 6, / गौतम कुलक, बालावबोध-कथा 11

(ख) महेन्द्र

(देखिए-अरविन्द राजा)

महेन्द्र सूरि (आचार्य)

वी.नि. की दसवीं-ग्यारहवीं सदी के एक प्रभावक जैन आचार्य। (देखिए-शोभनाचार्य)

(क) महेश्वरदत्त

कलिंग देश की राजधानी कंचनपुर का एक श्रेष्ठि-पुत्र, जो परम साहसी, शूरवीर और दृढ़ प्रतिज्ञयी था। एक बार उसने एक मुनि का उपदेश सुनकर दया धर्म को अपने जीवन में धारण किया। उसने प्रतिज्ञा की कि वह अपना सर्वस्व अर्पित करके भी आर्त्त प्राणी के प्राणों की रक्षा करेगा। एक बार उसने नगर के चौराहे पर एक व्याध को एक हंस बेचते हुए देखा। हंस की आर्त्त अवस्था को देखकर महेश्वरदत्त का हृदय करुणा से भर गया। उसने अपने नियम के अनुसार उस हंस को एक लाख स्वर्णमुद्राओं में खरीद लिया। हंस को उसने अपने पास रख लिया। वह प्रतिदिन उसे खाने के लिए मोती देता। कुछ ही दिनों में हंस ने उस घर के काफी मोती खा लिए। एक दिन महेश्वरदत्त के पिता ने मोतियों की सार-संभाल की तो मोतियों को न पाकर वह मूर्च्छित हो गया। होश आने पर और वस्तुस्थिति से परिचित बनने पर उसे बहुत क्रोध आया। उसने महेश्वरदत्त को तिरस्कृत करके अपने घर से निकाल दिया।

घर से निकाल दिए जाने पर भी महेश्वरदत्त ने अपने स्वीकृत व्रत को खण्डित नहीं बनने दिया। उसने कठिन से कठिन कष्ट झेलकर भी अपने व्रत को सुरक्षित बनाए रखा। देवों ने भी उसके अभय-व्रत की परीक्षा ली और उसे अपने पथ पर अविचल पाया। एक देव ने प्रसन्न होकर महेश्वरदत्त को सात दिव्य रत्न दिए। उन रत्नों की दिव्यता के बल पर महेश्वरदत्त ने सुख और गौरवपूर्ण जीवन जीया। वह जहां भी गया समृद्धि और प्रशस्ति उसकी छाया बनकर उसके साथ रहीं। उसने अपने जीवन काल में अनेक राजकुमारियों और कुलीन कन्याओं से पाणिग्रहण किया और अनेक देशों का राज्य पाया। अंतिम अवस्था में मुनित्व साधना को साधकर वह स्वर्ग में गया जहां से च्यवन के बाद मानव-भव प्राप्त करके सिद्धि को प्राप्त करेगा।

(ख) महेश्वरदत्त

एक युवक, जिसके जीवन में कई दुर्गुण थे। धर्म, कर्म, पुण्य, पाप आदि का उसे किंचित् मात्र भी बोध नहीं था। उसके माता-पिता भी उसी के समान अनार्यधर्मी थे। एक बार वृद्ध पिता रुग्ण हो गया। मृत्यु-शैया पर लेटे हुए उसने महेश्वरदत्त को सीख देते हुए कहा, पुत्र! मेरे श्राद्ध पर एक पाडे को मारकर बन्धु-बान्धवों को भोजन कराना। यह हमारी कुल परम्परा है। ऐसी शिक्षा देते ही पिता का देहान्त हो गया। कुछ समय बाद महेश्वरदत्त की माता भी गृह-परिवार की ममता में बंधी रहकर मृत्यु को प्राप्त हो गई।

गांगिला महेश्वरदत्त की पत्नी थी। वह कुलटा थी। किसी समय महेश्वरदत्त ने एक पुरुष को अपनी पत्नी के साथ देखा। उसका रक्त खौल उठा। उसने उस पुरुष का वध कर दिया। वह पुरुष मरकर गांगिला की कुक्षी में ही पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। उधर महेश्वरदत्त का पिता मरकर उसी के घर में भैंस के गर्भ से पाडे के रूप में जन्मा। महेश्वरदत्त की माता एक कुतिया के रूप में जन्मी।

निश्चित तिथि पर महेश्वरदत्त को अपने पिता की शिक्षा का स्मरण हुआ। उसने अपने घर में जन्मे पाडे के वध करने का विचार किया और वैसा ही किया भी। बन्धु-बान्धवों को भोज दिया। वह कुतिया भी कुछ पाने की चाह में वहां पर आई। महेश्वरदत्त ने कुतिया को भगाने के लिए उस पर दण्डप्रहार किया। दण्डप्रहार से कुतिया की मृत्यु हो गई।

उसी समय एक महात्मा उधर से गुजर रहे थे। वे भूत-भविष्य के ज्ञाता थे। महेश्वरदत्त के दण्ड प्रहार से कुतिया की करुण-मृत्यु देखकर दयार्द्र बन गए। उनके मुंह से सहसा ये शब्द फूट पड़े—अकार्य! घोर अकार्य!

महेश्वरदत्त के कानों में महात्मा के ये शब्द पड़े। शुभ मुहूर्त्त का उदय हुआ। महेश्वरदत्त ने महात्मा के चरणों का स्पर्श किया और कहा, महात्मन्! आपके मुख से जो शब्द प्रगट हुए हैं वे किसी रहस्य की ओर इंगित कर रहे हैं। मुझ पर कृपा करें और आपके शब्दों के पीछे रहे हुए रहस्य का अनावरण करें।

महेश्वरदत्त की आंखों में तैरती सच्ची जिज्ञासा को देखकर और उसके भविष्य को संवारने की दृष्टि से महात्मा ने रहस्य प्रगट करते हुए कहा, युवक! जिस पाडे का वध करके तुमने अपने पिता का श्राद्ध किया है वह पाडा ही पूर्वजन्म में तुम्हारा पिता था। दण्डप्रहार से जिस कुतिया को तुमने मार डाला वह पूर्वजन्म में तुम्हारी माता थी और जिस पुत्र को देखकर तुम फूले नहीं समा रहे हो यह पूर्व जन्म में तुम्हारी पत्नी का प्रेमी था जो तुम्हारे ही हाथों मृत्यु को प्राप्त हुआ था।

महात्मा द्वारा व्याख्यायित रहस्य सुनकर कर्मगति की विचित्रता का सम्यग्ज्ञान महेश्वरदत्त को प्राप्त हो गया। वह प्रबुद्ध हो गया और समस्त बन्धनों का उसी क्षण छेदन कर प्रव्रजित हो गया। साधना से उसने अपने जीवन को विमल और निर्मल बनाया।

(ग) महेश्वरदत्त

वेद-वेदांगों का ज्ञाता तथा हिंसक यज्ञों का याज्ञिक सर्वभद्र नगर में रहने वाला एक ब्राह्मण। (देखिए-बृहस्पतिदत्त)

माकंदी गाथापति

(देखिए-जिनपाल)

मागधिका गणिका

चम्पानगरी की एक चतुर गणिका। उसने कपट-श्राविका का स्वांग धार कर कूलबालुक मुनि को संयमच्युत किया था। आखिर कूलबालुक ही कोणिक-चेटक संग्राम में वैशाली के विध्वंश का कारण बना था। (देखिए-कूलबालुक मुनि)

माणिक्यनन्दी (आचार्य)

दिगम्बर जैन परम्परा के एक विद्वान जैन आचार्य। संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के वे उद्भट विद्वान थे। न्याय, दर्शन, व्याकरण, आगम आदि विषयों के वे तलस्पर्शी अध्येता थे।

आचार्य माणिक्यनन्दी का राजा भोज (धारा नरेश) की सभा में विशेष मान था। वे न्याय शास्त्र के विख्यात अध्येता थे। कई छात्र न्याय शास्त्र का उनके सान्निध्य में अध्ययन कर विश्रुत विद्वान बने थे।

आचार्य माणिक्य नन्दीसंघ के विश्रुत आचार्य थे। उनके गुरु का नाम गणीरामनन्दी था। उनके शिष्य नयनन्दी भी एक ख्यातिप्राप्त जैन आचार्य हुए हैं। 'परीक्षामुख' नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ उनकी रचना है।

आचार्य माणिक्यनन्दी का कालमान वी.नि. की 15वीं-16वीं शती माना जाता है। —सुदंसण चरिउ

मातंग

राजगृह नगरी में रहने वाला एक निम्न जाति का व्यक्ति जिसे वृक्ष की डालियों को झुकाने की विद्या ज्ञात थी। एक बार उसकी पत्नी गर्भवती थी तो उसे आम खाने का दोहद उत्पन्न हुआ। परन्तु वह आमों का मौसम न था। उसने अपना दोहद मातंग से कहा। मातंग ने पत्नी को आम लाने का आश्वासन दे दिया।

महाराज श्रेणिक के बाग में सभी ऋतुओं में फलने वाले आम्रवृक्ष थे। रात्रि में मातंग बाग की दीवार

के पास पहुंचा और मंत्र बल से उसने आम की शाखा झुका कर इच्छित फल प्राप्त कर लिए। मातंग की पत्नी ने इच्छित फल खाकर तृप्ति अनुभव की। फिर वह प्रतिदिन अपने पति से आम मंगवा कर खाने लगी। वृक्ष से आम गायब देखकर माली ने राजा से शिकायत की। राजा ने चोर पकड़ने का कार्य अभयकुमार को सौंपा। आखिर अभयकुमार ने मातंग को पकड़ लिया। राजा ने उसे मृत्युदण्ड दिया। सैनिक मातंग को फांसी पर चढ़ाने के लिए ले जाने लगे तो अभयकुमार ने उनको रोका और राजा से कहा, महाराज! मातंग की मृत्यु के साथ ही उसकी विद्या समाप्त हो जाएगी। उसे फांसी देने से पूर्व उसकी विद्या आप सीख लेंगे तो विद्या बच जाएगी।

राजा को बात जंच गई। उसने मातंग से विद्या सिखाने के लिए कहा। मातंग राजा को विद्या सिखाने लगा। पर बहुत प्रयत्न करने पर भी राजा को विद्या स्मरण न हुई। अभयकुमार ने कहा, महाराज! सिखाने वाला गुरु पद का अधिकारी होता है। आप सिंहासन से नीचे उतरिए और मातंग को सिंहासन पर बैठाइए। ऐसा करके ही आप विद्या सीख सकते हैं। राजा को अभयकुमार की बात युक्तियुक्त लगी। उन्होंने वैसा ही किया और उन्हें तत्क्षण विद्या स्मरण हो गई। सैनिक जब मातंग को वधभूमि ले जाने लगे तो अभयकुमार ने 'गुरु अवध्य होता है' दलील देकर उसे महाराज से जीवनदान दिलवा दिया।

मातंग (यमपाश)

चाण्डाल कुलोत्पन्न नगर रक्षक। किसी समय वह पूर्वजन्मों के पापकर्म के उदय से अपने परिवार सहित किसी असाध्य रोग से ग्रसित हो गया। यथासंभव उपचार कराए पर उसको और उसके परिवार को व्याधि से मुक्ति नहीं मिली। एक दिन यमपाश का पुत्र श्मशान में गया। वहां उसने देवदन्त नामक ध्यानमुद्रालीन एक अणगार के दर्शन हुए। मुनिदर्शन करते ही वह व्याधिमुक्त हो गया। हर्ष से उछलता हुआ वह अपने घर पहुंचा और अपनी व्याधिमुक्ति का कारण पारिवारिक जनों को बताया। इससे उत्साहित होकर यमपाश अपने पूरे परिवार को साथ लेकर मुनिदर्शन के लिए श्मशान में गया। पूरे परिवार ने मुनि को भाव सहित वन्दन किया। सभी सदस्य व्याधिमुक्त हो गए। इस घटना से यमपाश के हृदय में धर्मश्रद्धा का आविर्भाव हुआ। उसने मुनि से धर्मश्रवण किया और श्रावक के बारह व्रत अंगीकार कर लिए।

एक बार नगर नरेश ने एक अपराधी को मृत्युदण्ड दिया और यमपाश को आदेश दिया कि वह उक्त अपराधी का वध कर दे। उस समय यमपाश ने राजा से प्रार्थना की कि वह हिंसा का त्याग कर चुका है। हिंसा-त्याग और श्रावक-धर्म अंगीकार का प्रकरण यमपाश ने राजा के समक्ष प्रस्तुत किया, जिसे सुनकर राजा अत्यन्त प्रभावित हुआ। राजा ने यमपाश को वैसे हिंसामय कार्यों / दायित्वों से मुक्त कर दिया।

चाण्डाल कुल में जन्म लेकर भी यमपाश ने श्रेष्ठ धर्म का आचरण किया और सद्गति का अधिकार पाया।

माथुर वणिक

दक्षिण मथुरा में एक समृद्ध श्रेष्ठी रहता था। एक बार उत्तर-मथुरा का एक व्यापारी दक्षिण मथुरा व्यापारार्थ आया और वहां एक व्यापारी के घर ठहरा। दोनों व्यापारी परस्पर मैत्री बंधन में बंध गए। दोनों ने निर्णय किया कि वे उनके घरों में होने वाली संतानों का विवाह कर मैत्री को सम्बन्धों में बदलेंगे। कालान्तर में दक्षिण मथुरा निवासी सेठ के घर पुत्र पैदा हुआ जिसका नाम माथुर रखा गया। और उत्तर मथुरा निवासी के घर एक पुत्री का जन्म हुआ। शैशवावस्था में ही दोनों का लगन कर दिया गया।

श्रेष्ठि पुत्र माथुर ने यौवन में कदम रखा ही था कि उसके पिता का देहान्त हो गया। चार दिनों में ही उसकी सारी संपत्ति भी नष्ट हो गई। उसके घर में रखे स्वर्णथाल आकाश में उड़ गए। एक थाल को माथुर ने पकड़ लिया। परन्तु उस थाल का किनारा उसके हाथ में रह गया और थाल उड़ गया। इस विचित्र स्थिति से माथुर वणिक विरक्त होकर मुनि बन गया। स्वर्ण आसक्ति वश थाल का टूटा हुआ टुकड़ा उसने अपने पास छिपाकर रख लिया। एक बार वह मुनि उत्तर मथुरा आया और संयोग से भिक्षार्थ एक वणिक के घर में गया। वहां सेठ की पुत्री और सेठ स्वर्णथालों में भोजन कर रहे थे। सेठ के समक्ष खण्डित थाल देखकर मुनि पहचान गए कि वह उसी के घर का थाल है। सेठ के पूछने पर मुनि ने पूरी स्थिति स्पष्ट कर दी और टूटा हुआ स्वर्णथाल का खण्ड श्रेष्ठी को दे दिया। सेठ के पूछने पर मुनि ने अपना परिचय दिया। सेठ गद्‌गद बनकर उठ खड़ा हुआ और बोला, आप ही मेरे दामाद हैं, मेरे मित्र के पुत्र हैं। मेरी यह पुत्री और मेरा यह सब धन आपका ही है। इसे ग्रहण करें। मुनि ने निस्पृह भाव से कहा, कभी मनुष्य कामभोगों को छोड़ता है और कभी कामभोग मनुष्य को छोड़कर चले जाते हैं। इस रहस्य-सूत्र को पाकर मैं अकाम की साधना में संलग्न हूं। वापिस लौटना असंभव है। कहकर मुनि चले गए। उच्च साधना द्वारा परम पद के अधिकारी बने।

—धर्मोपदेश माला, विवरण कथा 16

माधव तृतीय

गंग वंशीय एक राजा जिसका जीवन जैन संस्कारों से ओत-प्रोत था। जैन शिलालेख संग्रह के अनुसार-माधव तृतीय कलियुग के कीचड़ में फंसे हुए धर्मरूपी वृषभ का उद्धार करने वाला राजा था।

माधव तृतीय का शासन काल ई. स. 357 से 370 तक का मान्य है।

माधव मुनि जी (आचार्य)

काव्य की अन्तरात्मा को शब्द देह में प्रतिष्ठित करने वाले एक स्थानकवासी जैन आचार्य।

आपका जन्म वि.सं. 1928 को भरतपुर के निकटस्थ ग्राम ओंढ़ेरा में हुआ। ब्राह्मण वंशीय श्रीमान बंशीधर आपके जनक और श्रीमती रायकुंवर आपकी जननी थी। जब आप छोटे ही थे तो माता-पिता का निधन हो गया। बूआ ने आपका पालन-पोषण किया। वि.सं. 1940 में आपने अजमेर नगर में श्री मेघराज जी महाराज के श्री चरणों में दीक्षा धारण की। छह माह बाद ही गुरुदेव का स्वर्गवास हो गया। गुरुदेव के गुरुभ्राता श्री मगन मुनि जी महाराज के सान्निध्य में रहकर आपने संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाओं और जैन-जैनेतर दर्शनों का गंभीर अध्ययन किया। वि.सं. 1979 में आप आचार्य पाट पर विराजमान हुए। 53 वर्ष की अवस्था में जयपुर से जोधपुर जाते हुए मार्ग में पद्मासन ध्यानमुद्रा में आपका स्वर्गवास हुआ।

आप एक विद्वान जैन आचार्य एवं कमनीय काव्यकार थे। आप द्वारा रचित रचनाओं-स्तुतियों में शब्द सौष्ठव और माधुर्य रस का अनुपम संयोजन है। आप द्वारा रचित पदों / स्तुतियों को गाते हुए लोग भक्ति रस के अतल में गोते लगाने लगते हैं। 'सेवो सिद्ध सदा जयकार' आप द्वारा रचित एक ऐसी ही स्तुति है जो समग्र जैन जगत में कण्ठहार बनी हुई है।

मानतुंग (आचार्य)

एक विद्वान जैन आचार्य। संस्कृत भाषा के वे उत्कृष्ट पण्डित और भक्ति रस के अमर और विलक्षण कवि थे। आचार्य मानतुंग का जन्म वाराणसी नगरी में एक जैन परिवार में हुआ था। उनके पिता धनदेव एक जैन श्रावक थे। मानतुंग की एक बहन थी जिसका विवाह लक्ष्मीधर श्रेष्ठी के साथ हुआ था।

कहते हैं कि प्रारंभ में मानतुंग ने दिगम्बर परम्परा में दीक्षा ली थी। बाद में बहन की प्रेरणा से वे श्वेताम्बर परम्परा में दीक्षित हुए। श्रुत के वे पारगामी पण्डित बने। संस्कृत भाषा का तलस्पर्शी अध्ययन उन्होंने किया। पर उनके ज्ञान का लक्ष्य लोकरंजन न होकर आत्मान्वेषण से सम्बद्ध था।

उस समय वाराणसी में हर्षदेव राजा का शासन था। हर्षदेव एक विद्वान राजा था। विद्वानों को विशेष मान भी देता था। मयूर और बाण जैसे विद्वान कवि उसकी सभा में प्रतिष्ठित सभासद थे। एक बार बाण को कुष्ठ हो गया। उसने सूर्यस्तुति में पद्यात्मक शतक की रचना की, जिससे वह कुष्ठ मुक्त हो गया। मयूर ने चण्डी की आराधना से अपने कटे हुए अंगों को उचित स्थान पर स्थापित कर लिया। उनके उक्त चमत्कारों से हर्षदेव गद्‌गद था और उनका विशेष मान करता था।

हर्षदेव का मन्त्री जैन था। उसने राजा से आचार्य मानतुंग के गंभीर ज्ञान की चर्चा की और उनकी दिव्य सिद्धियों की प्रशंसा की। राजा आचार्य श्री की ओर आकर्षित हुआ। उसने आचार्य श्री को दरबार में आमंत्रित किया और चमत्कार दर्शन की प्रार्थना की। आचार्य श्री ने कहा, मेरा धर्म चमत्कार प्रदर्शन की आज्ञा नहीं देता है। श्रमण का एकमात्र लक्ष्य मोक्ष की साधना है, उसी में मैं संलग्न हूँ।

हर्षदेव आचार्य श्री के चमत्कार दर्शन को देखने को उत्सुक था। उसके लिए उसने अचार्य श्री को गिरफ्तार करने का उपक्रम किया। आचार्य श्री को लौह शृंखलाओं में जकड़कर अन्धेरी कोठरी में डाल दिया गया और द्वार पर 48 ताले जड़ दिए गए। आचार्य श्री मानतुंग अन्धेरी कारा में भी आनन्दित थे। समय का सदुपयोग उन्होंने आदिनाथ भगवान की स्तुति करने में किया। वे पद्यात्मक छन्दों में आदीश्वर प्रभु की स्तुति करने लगे। भक्ति रस में आकण्ठ पैठकर आचार्य श्री ने एक-एक पद का सृजन और गायन प्रारंभ किया। प्रत्येक पद के गायन पर एक-एक ताला टूटता गया। अड़तालीस पदों/श्लोकों की रचना के साथ अड़तालीस ही ताले टूट गए। आचार्य श्री शान्त प्रशान्त गति से राजसभा में पहुंचे। देखकर राजा हर्षदेव दंग रह गया। वह आचार्य श्री का अनन्य उपासक और जैन धर्मी बन गया।

'भक्तामर स्तोत्र' आचार्य मानतुंग की भक्तिरस की अद्‌भुत और कालजयी रचना है। उसके अतिरिक्त 'भयहर स्तोत्र' भी उनकी प्रसिद्ध और भय का हरण करने वाली स्तुति है। आचार्य मानतुंग एक बार रुग्ण हो गए थे। धरणेन्द्र की प्रेरणा पर उन्होंने उक्त स्तोत्र की रचना की और स्वास्थ्य लाभ प्राप्त किया।

मानतुंगाचार्य वी.नि. की 12वीं शताब्दी के आचार्य थे। —प्रभावक चरित्र

मानदेव (आचार्य)

वी.नि. की तेरहवीं-चौदहवीं सदी के एक आचार्य। उनके गुरु का नाम प्रद्योतन सूरि था।

आचार्य मानदेव सूरि का जन्म नाडोल नगर में हुआ। श्रेष्ठी जिनदत्त और धारिणी उनके पिता-माता थे। दीक्षा धारण कर मानदेव ने आगमों का अध्ययन किया। मानदेव का शरीर बलिष्ठ और सौन्दर्य सम्पन्न था। सर्वविध योग्य देखकर गुरु ने उन्हें आचार्य पद पर नियुक्त किया। गुरु के मन में यह संशय उत्पन्न हुआ कि—सम्मोहक व्यक्तित्व का स्वामी मानदेव क्या आचार्य पद का सम्मान प्राप्त कर संयम में स्थिर रह सकेगा? गुरु के संशय को अपनी प्रज्ञा द्वारा अनुभव करके मानदेव ने गुरु चरणों की साक्षी से प्रतिज्ञा की—मैं आजीवन के लिए पांचों विगयों का प्रत्याख्यान करता हूं, अर्थात् दूध, दही, घृत, मधु और गुड़ का आसेवन जीवन भर नहीं करूंगा। शिष्य की इस दृढ़ प्रतिज्ञा से गुरु का संशय नष्ट हो गया।

आचार्य मानदेव एक तपस्वी और कठोर आचार का पालन करने वाले मुनि थे। तपः प्रभाव से उन्हें

अनायास ही कई ऋद्धियां और सिद्धियां प्राप्त हो गई थीं। 'प्रभावक चरित्र' के उल्लेखानुसार जया और विजया नामक दो देवियां सदैव उनकी सेवा में उपस्थित रहती थीं।

एक बार तक्षशिला नगर में जैन संघ में महामारी का प्रकोप फैल गया। श्रीसंघ आचार्य मानदेव की शरण में पहुंचा। आचार्य मानदेव ने श्रीसंघ को 'श्री शान्तिस्तव' नामक मंत्र प्रदान किया और उसके जाप की प्रेरणा दी। श्रीसंघ में मंत्र जाप किया गया, जिसके प्रभाव से महामारी शान्त हो गई।

'चउवन महापुरुष चरियं' नामक प्रतिष्ठित ग्रन्थ के रचयिता आचार्य शीलांक आचार्य मानदेव के तेजस्वी शिष्य थे।

मानमर्दन

श्रीपुर नगर का एक प्रतापी राजा। (देखिए-महाबल कुलपुत्र)

मानवती

एक बुद्धिमती श्रेष्ठि कन्या। उसे अपने रूप-गुण और बुद्धि पर अटल विश्वास था। वह अपने लिए कुछ भी असंभव नहीं मानती थी। वह उज्जयिनी के धनकुबेर धनमित्र की इकलौती संतान थी। रूप और गुणों में वह अद्वितीय थी। एक बार वह अपनी सखियों के साथ उद्यान में खेल रही थी। विश्रान्ति के लिए सभी सखियां एक वृक्ष के नीचे बैठ गईं। परस्पर वार्तालाप करने लगीं। वार्तालाप का विषय था– बुद्धि चातुर्य में पुरुष आगे है या स्त्री। सभी सखियों ने अपने-अपने वक्तव्य दिए और अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किए। मानवती की बारी आई तो उसने नारी का पक्ष लिया और स्पष्ट किया कि नारी की बुद्धिमत्ता के समक्ष पुरुष की बुद्धि सामान्य होती है। सखियों की वार्ता आगे बढ़ते-बढ़ते एक ऐसे बिन्दु पर पहुंच गई जहां मानवती ने यहां तक कह दिया कि अगर वह चाहे तो महाराज मानतुंग को भी अपना दास बना सकती है, इतना ही नहीं वह उन्हें अपना चरणोदक भी पिला सकती है, उनके हाथों पर कदम रख कर चल सकती है और उन्हें घोड़ा बनाकर उनकी पीठ पर सवार भी हो सकती है।

इधर सखियों का यह वार्तालाप चल रहा था, उधर महाराज मानतुंग झाड़ी के पीछे खड़े इस वार्तालाप को सुन रहे थे। मानवती के वचन मानतुंग के हृदय में गहरे तक छिद गए। उन्होंने मानवती के मान को चूर-चूर कर देने का निश्चय कर लिया। शीघ्र ही राजा ने एक पूरी योजना अपने मस्तिष्क में बना ली। आने वाले कुछ ही दिनों में उन्होंने उस योजना को क्रियान्वित भी कर दिया। राजा ने मानवती से विवाह करके उसे एक स्तंभ वाले महल में बन्दिनी बना दिया। मानवती ने राजा से अपना अपराध पूछा तो राजा ने उद्यान-वार्ता की बात स्पष्ट करते हुए कहा, तुम्हें अपने बुद्धि-कौशल पर बहुत मान है। देखता हूं कि तू कैसे मानतुंग को अपना दास बनाती है। जब तक तू अपने कहे एक-एक वाक्य को पूरा नहीं करेगी तब तक इसी एक स्तंभ वाले महल में रहेगी। मानवती समझ गई कि राजा ने छिपकर सखियों के साथ हुई उसकी वार्ता को सुन लिया है। उसने अनुनय-विनय पूर्वक राजा से क्षमा मांगी, उस वार्ता को सखी-सुलभ वार्ता मानकर भुला देने की प्रार्थना की, पर राजा अपने नाम के अनुरूप मान का उत्तुंग शिखर ही था। उसने मानवती की एक बात न सुनी। आखिर मानवती ने राजा की चुनौती स्वीकार कर ली।

मानवती ने द्वारपाल के हाथ अपने पिता को एक पत्र दिया। पुत्री के पत्र के अनुसार धनमित्र ने अपने घर से एक स्तंभ महल तक सुरंग बनवा दी। मानवती सुरंग से अपने पिता के घर आने-जाने लगी। उसने एक जोगन का वेश बनाकर पूरे नगर पर अपनी छाप जमा दी। राजा भी युवा-योगिनी का भक्त बन गया।

धीरे-धीरे राजा पर युवा योगिनी का ऐसा रंग चढ़ा कि राजा ने उसे न केवल दरबार में सम्मानित आसन प्रदान किया बल्कि राज्य सम्बन्धी और वैयक्तिक समस्त निर्णयों में उसकी अनुमति और राय लेने लगा। अपनी चुनौती को पूर्ण करने के लिए मानवती ने एक योजना बनाई। उसने एक कुशल विधि से मुंगीपट्टण नगर की राजकुमारी रत्नवती के हृदय में राजा मानतुंग के प्रति आकर्षण जगा दिया। रत्नवती ने अपनी माता से कहकर अपना लगन मानतुंग से सुनिश्चित करवा लिया। मानतुंग रत्नवती से विवाह करने के लिए जाने लगे तो उन्होंने योगिनी से प्रार्थना करके उसे भी अपने साथ चलने के लिए मना लिया। मानवती का प्रत्येक दांव उसके अनुकूल पड़ रहा था। योगिनी रूपधारी मानवती एक अलग रथ में बैठकर राजा की बारात के साथ रवाना हुई।

मुंगीपट्टण और उज्जयिनी के मध्य की दूरी काफी थी। दस दिन की यात्रा थी। पांच दिवस बीतने पर बारात एक बीहड़ जंगल में पहुंची। वहां एक मधुर जल की विशाल वापिका देखकर राजा ने विश्राम का निश्चय किया।

योगिनी वेशधारी मानवती ने इस स्थान को उपयुक्त जानकर एक विद्याधर-कन्या का वेश धारण किया और वृक्षों के झुरमुटे में जाकर मधुर तान छेड़ दी। तान में बंधकर मानतुंग उस बाला के पास पहुंचा। वह उसके रूप पर मुग्ध हो गया और उसने उससे विवाह का प्रस्ताव किया। मानवती ने राजा को अपने रूपजाल में फंसाकर विवेकान्ध बना दिया। उसने राजा से वह सब कुछ करवा लिया जिसके लिए राजा ने उसे चुनौती दी थी। राजा ने विद्याधरी वेशी मानवती का चरणोदक भी ग्रहण किया, उसके लिए वह घोड़ा भी बना और उसे अपने हाथों पर भी चलाया। बाद में मुंगीपट्टण पहुंचकर भी मानवती ने अपने बुद्धि चातुर्य से राजा को अपने वश में किया। मानवती ने कई वेश बदले, और प्रत्येक वेश में उसने अपने आपको ऐसी कुशलता से प्रस्तुत किया कि राजा उसे अलग-अलग स्त्रियों के रूप में मानता रहा।

अपने अभियान में सफल होकर मानवती उज्जयिनी आ गई। स्थितियां ऐसी निर्मित हुईं कि मानतुंग दस मास तक उज्जयिनी नहीं लौट सका। इसी अवधि में मानवती ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। राजा को इसकी सूचना मिली तो उज्जयिनी पहुंचते ही वह मानवती के पास एक स्तंभ वाले महल में पहुंचा। क्रोध में राजा ने मानवती के पलंग पर पाद प्रहार किया। पलंग हटते ही राजा को सुरंग दिखाई दी। उसने सुरंग में प्रवेश किया तो उसे वह वीणा मिली जो योगिनी सदैव अपने साथ रखती थी। वीणा को खोला तो उसमें वे वस्त्र निकले जो विभिन्न वेश धारण करते हुए मानवती ने धारण किए थे। समस्त स्थितियां स्वतः ही स्पष्ट हो गईं। मानतुंग का मान गल गया। मानवती को कण्ठ से लगाकर उसने नारी की बुद्धिमत्ता की महत्ता को स्वीकार कर लिया।

मानवती ने भी पति से अपने व्यवहार के लिए क्षमा मांगी। सुखपूर्वक जीवन यापन करते हुए अंतिम अवस्था में संयम पालकर राजा और रानी ने सद्गति प्राप्त की। —मानतुंग मानवती रास

मालुगा

उज्जयिनी निवासी एक सदाचारी ब्राह्मण अम्बड़ ऋषि की पत्नी और निम्बक की माता। (देखिए-निम्बक)

मित्र राजा

मणिचयिका नगरी नरेश। एक बार पुण्ययोग से संभूतिविजय नामक एक मासोपवासी अणगार राजा

मित्र के राजमहल में पधारे। राजा मित्र ने उत्कृष्ट भावों से मुनि को शुद्ध आहार का दान देकर महान् पुण्य का अर्जन किया। मित्र राजा कालक्रम से कालधर्म को प्राप्त होकर कनकपुर नगर में राजपुत्र के रूप में जन्मे जहां उनका नाम धनपति कुमार रखा गया। राजकुमार धनपति कुमार ने भगवान महावीर के चरणों में प्रव्रज्या अंगीकार कर मोक्ष पद प्राप्त किया। (देखिए-धनपति कुमार) —विपाकसूत्र, द्वि श्रु, अ. 6

मित्रश्री

आमलकल्पा नगर निवासी एक अनन्य श्रमणोपासक जो अत्यन्त प्रज्ञावान भी था। (देखिए- तिष्यगुप्त)

मित्रसेन राजा

षष्ठम विहरमान तीर्थंकर श्री स्वयंप्रभ स्वामी के जनक। (देखिए-स्वयंप्रभ स्वामी)

मित्राचार्य

एक प्रभावक धर्माचार्य। अरणिक मुनि के दीक्षा गुरु। (देखिए-अरणिक)

मीनलदेवी

गुजरात प्रान्त की एक आदर्श श्राविका। वह चालुक्य नरेश सिद्धराज जयसिंह की माता तथा महाराज कर्ण की रानी थी। इन्होंने महामंत्री मुंजाल मेहता के मार्गदर्शन में जैन धर्म की प्रभावना के कई कार्य किए। इन्हीं के संस्कार इनके पुत्र सिद्धराज जयसिंह में भी प्रगट हुए। सिद्धराज जयसिंह भी जिनशासन का बहुत सम्मान करते थे और आचार्य हेमचन्द्र से बहुत प्रभावित थे। सिद्धराज की प्रार्थना पर ही आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण ग्रन्थ 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की थी।

गुजरात राज्य में जैन धर्म के विस्तार में मीनलदेवी की महत्वपूर्ण भूमिका रही।

मुग्धभट्ट

शालीग्राम का रहने वाला एक ब्राह्मण। उसकी पत्नी का नाम सुलक्षणा था। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् मुग्धभट्ट विपन्न हो गया। अन्न के एक-एक कण के उसे लाले पड़ गए। उसके पास कोई साधन न था। वह निराश होकर प्रदेश चला गया। उसे आशा थी कि प्रदेश में वह कुछ अर्जन कर सकेगा। पर बारह वर्ष दर-बदर भटकने पर भी वह कुछ अर्जन न कर सका। घर लौटा तो देखा कि उसकी पत्नी का निर्वाह संतोषपूर्वक चल रहा है। पत्नी ने उसका स्वागत किया। मुग्धभट्ट ने पूछा, तुम संतुष्ट और सुप्रसन्न हो, उसका क्या कारण है? सुलक्षणा ने बताया, मुझे विमला नामक जैन साध्वी से तत्वज्ञान की प्राप्ति हो गई है। उसी से मैं सन्तुष्ट और सुप्रसन्न हूं। सुलक्षणा ने मुग्धभट्ट को भी तत्व का बोध कराया। मुग्धभट्ट सरल परिणामी था। उसने शीघ्र ही तत्वज्ञान हृदयंगम कर लिया। उसके हृदय में सम्यक्त्व का बीजवपन हुआ। उसने ब्राह्मण-परम्परा के क्रियाकाण्डों का परित्याग कर दिया। पति-पत्नी एकनिष्ठ चित्त से धर्माराधना करते हुए जीवन यापन करने लगे। इससे मुग्धभट्ट के जीवन में कई सुपरिणाम आए। प्रथम तो यह कि अल्प प्रयास से ही उसकी आजीविका चलने लगी। दूसरा यह कि कण और मण दोनों अवस्थाओं में वह सन्तुष्ट रहता। तृतीय यह कि उसे एक पुत्र की प्राप्ति हुई।

मुग्धभट्ट सुदृढ़ सम्यक्त्वी बन गया। शाली ग्राम में ब्राह्मणों का बाहुल्य था। मुग्धभट्ट द्वारा जिन-धर्म स्वीकार कर लिए जाने पर ब्राह्मणों ने उसे विधर्मी घोषित कर दिया। अघोषित रूप से उसे जाति से बहिष्कृत मान लिया गया। एक बार जब सर्दी का मौसम था तो कुछ ब्राह्मण एक स्थान पर बैठकर अग्नि

सेंक रहे थे। मुग्धभट्ट अपने पुत्र को गोद में लिए उधर आया और अग्नि सेंकने लगा। इस पर वहां उपस्थित ब्राह्मणों ने उसके साथ अछूतों का सा व्यवहार किया। मुग्धभट्ट के पूछने पर ब्राह्मणों ने कहा, तुम ब्राह्मण-धर्म से च्युत हो चुके हो और ब्राह्मण-धर्म से च्युत व्यक्ति अस्पृश्य ही हो सकता है।

मुग्धभट्ट ने ब्राह्मणों को जिनधर्म की महिमा बतानी चाही। पर ब्राह्मण उसे सुनने को भी तैयार नहीं हुए। उन्होंने जिनधर्म की निन्दा की और ब्राह्मण-धर्म को ही सच्चा धर्म निरूपित किया। इससे मुग्धभट्ट के भीतर भी प्रतिस्पर्धा का भाव उत्पन्न हो गया। वह बोला, जिनधर्म निन्दनीय नहीं है। वह शुद्ध आत्मधर्म है। उसको धारण करने वाला निन्दादि दोषों से मुक्त हो जाता है। जिनधर्म की ऐसी महिमा है कि उससे अकल्प्य और अचिन्त्य सहज और कल्प्य हो जाता है। ब्राह्मणों ने कहा, ऐसा है तो जिनधर्म की महिमा को सिद्ध करके दिखाओ।

मुग्धभट्ट ने कहा, क्यों नहीं! अवश्य ही मैं तुम्हें जिनधर्म की महिमा सिद्ध करके दिखाऊंगा। कहकर मुग्धभट्ट खड़ा हो गया। फिर उसने घोषणा की, मैं अपने पुत्र को अग्नि में अर्पित करता हूं, यदि जिनधर्म सच्चा होगा तो अग्नि शान्त हो जाएगी। कहकर मुग्धभट्ट ने अपने पुत्र को अग्नि में डाल दिया। शासन देवी ने तत्क्षण अदृश्य रूप से उपस्थित होकर ब्राह्मण-पुत्र की रक्षा की और अग्नि को शान्त कर दिया।

इस चामत्कारिक घटना से शालीग्राम के ब्राह्मण चमत्कृत हो गए। सभी ने जिनधर्म की महिमा को एकमत से स्वीकार कर लिया। इससे मुग्धभट्ट का यश भी सर्वत्र फैल गया। मुग्धभट्ट घर गया। वस्तुस्थिति से परिचित बनकर उसकी पत्नी सुलक्षणा ने उसे समझाया कि उसे चमत्कार-प्रदर्शन की भावना नहीं रखनी चाहिए। उसके दुष्परिणाम भी संभव हैं।

मुग्धभट्ट ने तत्वज्ञा पत्नी की बात को हृदयंगम किया और पूरी श्रद्धा से धर्माराधना में तल्लीन बन गया। कालक्रम से उसका पुत्र युवा हुआ। मुग्धभट्ट पुत्र को गृहदायित्व प्रदान कर प्रभु अजितनाथ के चरणों में प्रव्रजित हो गया। सुलक्षणा ने भी प्रव्रज्या धारण की। निरतिचार संयम की आराधना द्वारा दोनों ने कैवल्य लाभ अर्जित किया और मोक्ष प्राप्त किया।

—आचार प्रदीप / त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र / जैन कथा रत्नकोष, भाग 6

मुचंद सेठ

चम्पा नगरी का धनी श्रेष्ठी। एक बार उसके घर एक मुनि भिक्षा के लिए आए। ग्रीष्म ऋतु थी। मुनि पसीने से तर थे। अस्नान के भीष्म व्रती होने से मुनि के शरीर से दुर्गन्ध आ रही थी। मुचंद सेठ ने मुनिवर को भिक्षा तो दी पर दुर्गन्ध से उसने मुंह-नाक सिकोड़ लिए। मुनि के जाने के बाद वह सोचने लगा, जैन मुनि तपस्वी हैं, पर इनका अस्नान व्रत घृणित है। अस्नान व्रत की मन ही मन उसने तीव्र निन्दा की जिसके फलस्वरूप उसने निकाचित कर्मों का बन्ध किया। कालान्तर में आयुष्य पूर्ण कर मुचंद का जीव कौशाम्बी नगरी में एक व्यापारी के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। यहां पर उस द्वारा बांधा गया निकाचित कर्म उदय में आया। जन्म से ही उसके शरीर से महादुर्गंध प्रकट होती थी। उसकी जन्मदात्री मां भी उससे घृणा करने लगी। बड़े होने पर उसे अपनी स्थिति का बोध हुआ। उसने जाना कि वह सभी की घृणा का पात्र है और कोई भी उसके निकट नहीं आना चाहता है। इससे उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई। वह आत्महत्या करने के संकल्प के साथ वन में चला गया। वहां एक साधु के उपदेश से उसे आत्मबोध की प्राप्ति हुई। उसने दीक्षा धारण कर ली और संकल्प किया कि वह भिक्षा के लिए बस्ती में नहीं जाएगा। वन में ही एषणीय आहार की प्राप्ति होगी तो आहार ग्रहण करेगा अन्यथा उपवासी रहेगा।

एक बार उसे वन में ही एक केवली मुनि के दर्शन हुए। उसकी जिज्ञासा पर केवली भगवान ने उसका पूर्वभव सुनाया और स्पष्ट किया कि अस्नान व्रत की निन्दना के फलस्वरूप उसे दुर्गन्ध युक्त शरीर की प्राप्ति हुई है।

इससे उस मुनि का संयम भाव पूर्वापेक्षया प्रखर बन गया। कर्मों के क्षय के लिए वह कायोत्सर्ग में बैठ गया। उसने संकल्प किया जब तक उस द्वारा अर्जित निकाचित कर्म निर्जीर्ण नहीं होगा तब तक वह अविचल समाधिस्थ रहेगा। कठोर कायोत्सर्ग तप से उसका निकाचित कर्म निर्जीर्ण बन गया। उसके शरीर से सुगंध आने लगी। पर उसने कायोत्सर्ग समाप्त नहीं किया। महान कर्मों की निर्जरा कर वह स्वर्ग का अधिकारी बना। भवान्तर में वह सिद्ध होगा। —उत्त. वृत्ति

मुद्गरपाणि यक्ष

राजगृह निवासी अर्जुन माली का कुल देवता। राजगृह नगर के बाह्यभाग में अर्जुनमाली का पैतृक पुष्पोद्यान था जिसमें मुद्गरपाणि यक्ष का प्राचीन यक्षायतन था। अर्जुनमाली के पूर्वजों से ही मुद्गरपाणि यक्ष की मान्यता थी। उस यक्ष की प्रतिमा के हाथ में सहस्रपल लौह मुद्गर होने के कारण उसका उक्त नाम प्रचलित हुआ था। एक दुर्घटना विशेष के फलस्वरूप मुद्गरपाणि यक्ष ने अर्जुनमाली के शरीर में प्रवेश किया और राजगृह में अर्जुनमाली आतंक का पर्याय बन गया। (देखिए-अर्जुनमाली)

मुनिपति

अंग देश की राजधानी मुनिपतिक नगर का राजा। एक बार राजा अपनी रानी की जंघा पर सिर रखकर लेटा हुआ था। रानी ने पति के सिर में एक श्वेत केश देखा। श्वेत केश को चोर कहकर रानी ने उसे उखाड़ा और राजा को दिखाया। श्वेत केश को वार्धक्य का संदेश मानकर राजा विरक्त हो गया और अपने पुत्र को राजपद देकर स्वयं मुनिधर्म में दीक्षित हो गया। मुनिधर्म का पालन करते हुए एक बार मुनि श्री मुनिपति अवन्तीनगरी में आए। वहां एक उद्यान के एक कोने में ध्यान मुद्रा में अवस्थित हो गए। कंपकंपा देने वाली सर्दी पड़ रही थी। उद्यान के निकट से गुजरते हुए कुछ ग्वालों ने निर्वस्त्र मुनि को ध्यानावस्थित अवस्था में देखा। शीत से मुनि की रक्षा के लिए ग्वालों ने अपने वस्त्र मुनि की देह पर ढांप दिए।

अवन्तीनगरी में ही बोधिभट्ट नाम का एक तिलों का व्यापारी रहता था। उसकी पत्नी का नाम धनश्री था और वह कुलटा थी। धनश्री ने एक बार अपने पति को भयभीत बनाने के लिए एक उपक्रम किया। उद्यान में आकर उसने शाकिनी का रूप बनाया और खेत पर जाकर उसने अपने पति को डराया। लौटकर वह उद्यान में आई और शाकिनी का विद्रूप वेश उतारकर अपने वस्त्र पहनने लगी। उद्यान के निकट से ही कुछ मशालची गुजर रहे थे। मशालों के प्रकाश में धनश्री ने उद्यान के कोने में ध्यानावस्थित मुनि को देखा। वह सशंकित बन गई कि मुनि ने उसके कुनाटक को देख लिया है। उसने सोचा, मुनि जीवित रहेगा तो उसके कुनाटक को प्रगट कर देगा। ऐसा सोचकर उसने मुनि की देह पर अग्नि फैंक दी। ग्वालों के वस्त्र मुनि के शरीर पर पड़े थे। वस्त्रों ने शीघ्र ही अग्नि को पकड़ लिया और मुनि का शरीर दग्ध होने लगा। मुनि अचेत होकर भूमि पर गिर पड़े।

प्रभात में ग्वाले उधर से गुजरे तो उन्होंने मुनि की अवस्था देखी। मुनि को देखकर ग्वाले द्रवित बन गए। वे एक दयालु और सहृदय कुंचिक नामक सेठ को जानते थे। वे सेठ के पास पहुंचे और मुनि के दग्ध होकर अचेत हो जाने की बात उससे कही। सेठ अपने अनुचरों को साथ लेकर उद्यान में गया। सेठ मुनि को

काष्ठफलक पर लिटाकर अपने घर ले गया और समुचित औषधोपचार से मुनि की सेवा करने लगा। सेठ की सेवा से मुनि मुनिपति शनैः-शनैः स्वस्थ होने लगे। पूर्ण स्वास्थ्य लाभ के लिए सेठ की प्रार्थना पर मुनि ने उसके घर पर ही वर्षावास की स्वीकृति दे दी।

कुंचिक सेठ धर्मात्मा तो था पर धन के प्रति उसकी गहन आसक्ति थी। जीते जी वह अपने धन को अपने पुत्र के साथ भी बांटने को तैयार न था। पर अन्तर्मन में वह सदा सशंकित रहता था कि कहीं उसका पुत्र उसका धन न चुरा ले। उसने निश्चय किया कि वह अपने धन को किसी ऐसे गुप्त स्थान पर छिपा दे जहां कोई उसे चुरा न सके। बहुत मनोमन्थन के पश्चात् उसने अपना समस्त धन उस कक्ष में जमीन खोद कर दबा दिया जिसमें मुनि वर्षावास व्यतीत कर रहे थे। पर इस भेद को सेठ का पुत्र भांप गया और अवसर पाकर उसने पिता का धन अपहृत कर लिया। एक दिन जब सेठ अपने धन को संभालने लगा तो धन को वहां न पाकर सन्न रह गया। उसका मन मुनि के प्रति शंका से भर गया कि निश्चित ही मुनि ने उसके धन का हरण कर लिया है। उसने अनेकानेक कृतघ्नता के दृष्टान्त देकर मुनि को कृतघ्न सिद्ध करने की कोशिश की। मुनि ने भी कई दृष्टान्त सुनाकर उसके अविश्वास को दूर करने का प्रयत्न किया। परन्तु सेठ का संदेह यथावत् बना रहा। आखिर सेठ के आरोप और मुनि के समताभाव से प्रेरित बनकर सेठ के पुत्र ने सच को उजागर किया कि धन का हरण उसने किया है, मुनि ने नहीं। सच को जानकर सेठ सहम गया। उसने मुनि से पुनः-पुनः क्षमा मांगी।

पश्चात्ताप की ज्वाला कुंचिक के चित्त पर इतनी प्रखर बनी कि उसने अविश्वास के निधान धन और घर का त्याग कर मुनि-दीक्षा धारण कर ली। विशुद्ध संयम साधना करते हुए मुनि मुनिपति तथा कुंचिक मुनि देहोत्सर्ग कर प्रथम देवलोक में गए। वहां से महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य भव प्राप्त कर मोक्ष जाएंगे।

—मणिपति चरित्र (आचार्य हरिभद्र कृत)

मुनि मायाराम

स्थानकवासी परम्परा के एक तेजस्वी मुनि। हरियाणा प्रान्त (तत्कालीन पंजाब) के ग्राम बड़ौदा में मुनि श्री मायाराम जी म. का जन्म संवत् 1911 सोमवार आषाढ़ वदि 2 (12 जून 1854) में जाट जाति के चहल गोत्र में हुआ। उनके पिता का नाम जोतराम और माता का नाम शोभावती था। जोतराम ग्राम प्रमुख नम्बरदार थे। पिता के पश्चात् मायाराम ने इस पद पर रहकर ग्राम की उन्नति के कई महनीय कार्य किए। ज्योतिर्विद मुनीश्वर श्री गंगाराम जी एवं श्री रतिराम जी से मायाराम जी ने जैन धर्म का प्रारंभिक शिक्षण प्राप्त किया। सामायिक सहित श्रावक के व्रत उन्होंने अंगीकार किए। उनकी आगमनिष्ठा इतनी उत्कृष्ट थी कि गृहवास में रहते हुए ही उन्होंने पांच आगम कण्ठस्थ कर लिए थे। विवेक और विचार में वे विशेष परिपक्व थे। यौवनावस्था में भी उनकी चारित्र निष्ठा अप्रतिम थी। लगभग 23 वर्ष की अवस्था में उन्होंने संवत् 1934, माघ शुक्ल 6 को पटियाला नगर में मुनि श्री हरनामदास जी म. से दीक्षा व्रत अंगीकार किया। मुनि-दीक्षा अंगीकार कर उन्होंने आगमों का गंभीर अध्ययन किया और अट्ठाइस जैन आगम कण्ठस्थ किए। स्वल्प संयम पर्याय में ही वे संयम के प्रतिमान-पुरुष के रूप में अर्चित हुए। उनके युग में उन्हें 'संयम सुमेरु' और 'चारित्र चूड़ामणि' जैसे संबोधनों से संबोधित किया गया। तत्युगीन कई जैन आचार्यों ने मुनि श्री मायाराम जी के संयमनिष्ठ जीवन की उदात्त शब्दों में प्रशस्तियां कही थीं। मुनि श्री मायाराम जी एक प्रभावशाली वक्ता और मधुर कण्ठ के स्वामी थे। उनकी वाणी में चुम्बकीय आकर्षण था जो श्रोताओं को अपनी ओर खींच लेता था। 'पंजाब की कोयल' के नाम से आज भी उन्हें पुकारा / जाना जाता है।

राजा से लेकर रंक तक श्री मायाराम जी म. के चरणों में उपस्थित होते थे। उदयपुर के महाराणा की प्रार्थना पर मुनि श्री ने वहां पर चातुर्मास किया। एक अवसर पर एक साथ 22 नरेश मुनि श्री के दर्शनों के लिए उपस्थित हुए और उनका उपदेश सुनकर मुग्ध हो गए।

मुनि श्री मायाराम जी म. एक कठोर संयमी मुनिराज थे। उनका संयममय जीवन स्वयं एक चमत्कार था। वे अनेक लब्धियों और सिद्धियों के धारक महामुनि थे। उनके मुख से जो भी वचन निकलता था वह पूर्ण होता था। कहते हैं कि देवता भी उनके प्रवचनों को अदृश्य रहकर श्रवण करते थे, ऐसा अनेक घटनाओं से प्रमाणित होता है।

उनके सात शिष्य हुए जिनकी नामावली इस प्रकार है—(1) श्री नानकचंद जी म., (2) श्री देवीचंद जी म., (3) श्री छोटेलाल जी म., (4) श्री वृद्धिचंद जी म., (5) श्री मनोहरलाल जी म., (6) श्री कन्हैयालाल जी म. एवं (7) श्री सुखीराम जी म.। गणावच्छेदक श्री जवाहर लाल जी म., तपोकेसरी श्री केसरी सिंह जी म. उनके सहयोगी मुनिराज थे। उनकी शिष्य परंपरा में तपस्वी रत्न श्री फकीरचंद जी म., व्याख्यान वाचस्पति श्री मदनलाल जी म., योगिराज श्री रामजीलाल ही म. जैसे संयम और संन्यास के ध्वजारोही महामुनि हुए। वर्तमान में भी मुनि मायाराम परम्परा के कई दर्जन मुनिराज हैं जो अपनी क्रियानिष्ठा और विद्वत्ता के रूप में अपनी विशेष पहचान रखते हैं।

हरियाणा में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार का अधिकांश श्रेय श्री मायाराम जी म. को ही जाता है।

भाद्र शुक्ला 11, संवत् 1969 में मुनि श्री मायाराम जी म. का भिवानी नगर में स्वर्गवास हुआ।

मुनिसुन्दर (आचार्य)

तपागच्छ परम्परा के एक तेजस्वी आचार्य। उनके गुरु का नाम सोमसुन्दर था।

आचार्य मुनि सुन्दर का जन्म वी.नि. 1906 में हुआ और मात्र 8 वर्ष की अवस्था में उन्होंने मुनिदीक्षा धारण की। बाल्यकाल से ही मुनिसुन्दर मेधावी थे। गुरु सान्निध्य में आगमाध्ययन से उनकी प्रज्ञा प्रखर बन गई। अपने युग के विश्रुतवादी मुनि के रूप में वे चर्चित रहे। उनकी वाद निपुणता से प्रभावित होकर गुजरात के सुल्तान मुजफ्फरखां ने उनको 'वादिगोकुल संड' की उपाधि से विभूषित किया था। सिरोही नरेश सहस्रमल्ल भी आचार्य मुनिसुन्दर की प्रतिभा से विशेष प्रभावित था और उनके कथन पर उसने अपने राज्य में अमारि घोषित की थी।

आचार्य मुनिसुन्दर ने कई ग्रन्थों की रचना भी की थी। वी.नि. 1973 अथवा 1969 में उनका स्वर्गवास हुआ।

आचार्य मुनिसुन्दर सूरि 'सिद्धसरस्वती सूरि' इस अपर नाम से भी विश्रुत हैं।

मुनिसुव्रत स्वामी (तीर्थंकर)

जिन परम्परा के बीसवें तीर्थंकर। राजगृही नरेश महाराज सुमित्र और महारानी पद्मावती प्रभु के जनक और जननी थे। यौवनकाल में अनेक राजकुमारियों से प्रभु का पाणिग्रहण हुआ। अनेक वर्षों तक प्रभु ने राज्य भी किया। जब भोगावली कर्मों का निरसन हो गया तब प्रभु ने वर्षीदान देकर मुनिव्रत ग्रहण किया। ग्यारह मास की साधना में ही प्रभु ने केवलज्ञान को साध लिया और तीर्थ की स्थापना की। असंख्य लोगों के लिए प्रभु कल्याण का द्वार बने। ज्येष्ठ वदी नौवीं को प्रभु निर्वाण को उपलब्ध हो गए।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

मुष्कर-मोक्कर-कौंगणिवृद्ध (राजा)

गंगवंश का एक राजा। गंग वंश के प्रायः सभी राजाओं की तरह वह भी परम जिनभक्त राजा था। उसका शासन काल ई.स. 513 से प्रारंभ माना जाता है।

मूक सेठ

उज्जयिनी नगरी के राजकुमार और पुरोहित-पुत्र में सघन मैत्री थी और दोनों श्रमण-द्वेषी थे। वे दोनों श्रमणों को नगरी में नहीं आने देते थे। अचलपुरी नगरी के राजकुमार और पुरोहित पुत्र ने एक साथ दीक्षा धारण कर तपस्या द्वारा कई सिद्धियां प्राप्त कीं। क्रमशः विहार करते हुए मुनि-द्वय उज्जयिनी नगरी में आए। उन्हें देखकर राजपुत्र और पुरोहित-पुत्र का श्रमण-द्वेष जाग उठा। मुनियों को अपमानित करने के लिए वे बोले—मुनियो! नृत्य दिखाओ ! मुनियों ने कहा, तुम वादिंत्र बजाओ। इससे राजपुत्र और पुरोहित-पुत्र क्रोधित होकर मुनियों को मारने दौड़े। मुनियों के तपस्तेज के प्रभाव से वे रक्त वमन करने लगे और मूर्च्छित होकर गिर पड़े। मुनिद्वय अपने स्थान पर रवाना हो गए। राजा को अपने पुत्र की दशा का परिज्ञान हुआ तो वह खिन्न बन गया और मुनियों की शरण में पहुंचा। उसने अपने पुत्र तथा पुरोहित पुत्र को स्वस्थ करने की मुनियों से प्रार्थना की। मुनियों ने कहा, ये दोनों कुमार मुनिधर्म अंगीकार करें तो स्वस्थ हो सकते हैं। राजा की स्वीकृति पर मुनिद्वय द्वारा उन दोनों को स्वस्थ कर दिया गया। विवश होकर राजपुत्र और पुरोहित-पुत्र को प्रव्रजित होना पड़ा।

राजपुत्र का मन संयम में रम गया, पर पुरोहित-पुत्र ने जात्यादि अभिमान का परित्याग नहीं किया और अमन से संयम का पालन किया। आयुष्य पूर्ण कर दोनों देव हुए। फिर किसी समय दोनों देव भगवान सीमंधर स्वामी के दर्शनों के लिए गए। उन्होंने भगवान से अपने भविष्य सम्बन्धी प्रश्न पूछे। भगवान ने फरमाया—राजपुत्र सुलभ बोधि होगा और पुरोहित-पुत्र दुर्लभबोधि होगा। पुरोहित-पुत्र के प्रश्न पर भगवान ने फरमाया, देवभव से च्यव कर वह मूक सेठ का भाई बनेगा। मूकसेठ कौशाम्बी नगरी का श्रेष्ठी है।

अपने स्थान पर लौटकर पुरोहित-पुत्र से देव हुए देव ने एक उपक्रम किया। वह मूकसेठ के पास गया और बोला, भाई ! देवलोक से च्यव कर मैं तुम्हारे सहोदर के रूप में जन्म लूंगा। तुम मुझे प्रतिबोधित करना। मूक सेठ ने देवता का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

कालक्रम से वह देव च्यव कर मूक सेठ के सहोदर के रूप में उत्पन्न हुआ। जब वह बड़ा हुआ तो मूक सेठ ने उसे प्रतिबोध देने के कई प्रयास किए, परन्तु उसकी बात सुनते ही वह रोने लगता। मूक सेठ जीवन भर उसे धर्म के लिए प्रेरित करता रहा पर वह उसे धर्मपथ पर लाने में सफल नहीं हो सका।

मूक सेठ श्रावक धर्म की परिपालना करते हुए स्वर्गवासी हुए। अवधिज्ञान के उपयोग में उन्होंने अपने भाई को देखा। भाई को प्रतिबोध देने के लिए मूक सेठ का जीव-देव उसके पास आया। देव ने उसे जलोदर रोगी बना दिया और स्वयं वैद्य बनकर उसके समक्ष आया। रोग से व्यथित भाई ने वैद्य रूपी देव से उपचार की प्रार्थना की। वैद्य ने कहा, वह साधु बने तो उपचार हो सकता है। मरता क्या न करता ? वह बोला, मैं साधु बनने को तैयार हूँ। देव ने उसे स्वस्थ कर दिया और आचार्य श्री के पास दीक्षा दिला दी। परन्तु वह दुर्लभबोधि अवसर लगते ही साधु-वेश का परित्याग कर भाग गया। देवता ने उसे पुनः रोगी बना दिया और फिर से साधु बनने की शर्त पर उसे रोग मुक्त किया। उसे फिर साधु बनना पड़ा। पर संयम उसे भार प्रतीत होता था। वह पुनः संयम का परित्याग कर घर की दिशा में चल दिया।

देव पुनः उसके समक्ष उपस्थित हुआ। देव ने उसे प्रतिबोध देने के लिए एक उपक्रम किया। लकड़हारे का रूप धारण कर, सिर पर सूखे घास का पूला रख वह अग्नि में प्रवेश करने लगा। उसे देख दुर्लभबोधि ने कहा, मूर्ख ! यह क्या कर रहा है, सिर पर सूखे घास का पूला लेकर अग्नि से गुजरना चाहता है, इससे तो तू जल मरेगा। देव ने कहा, महाराज ! मैं मूर्ख हूँ, पर आप तो महामूर्ख हैं। अग्नि-प्रवेश से मैं तो एक ही बार मरूंगा, पर काम रूप संसार में प्रवेश करके आप अनन्त बार मरेंगे।

इस पर भी वह दुर्लभ बोधि नहीं समझा तो देव ने दूसरा उपाय किया। साफ-स्वच्छ राजमार्ग होते हुए भी वह नग्न पैरों से कंटीले मार्ग पर चलने लगा जिससे उसके पावं रक्तरंजित बन गए। उसे देखकर दुर्लभ बोधि बोला, मूर्खराज ! साफ स्वच्छ मार्ग होते हुए भी तू कंटीले मार्ग पर चल रहा है ? देव बोला, महाराज ! आप भी तो वैसी ही मूर्खता करने जा रहे हो। संयम के स्वच्छ राजमार्ग का त्याग कर भोगों के कंटीले मार्ग पर आप जा रहे हैं।

देव द्वारा पुनः-पुनः प्रतिबोधित करने पर वह दुर्लभबोधि संभल गया। देव ने प्रगट होकर अपना परिचय दिया। उससे उसका सहोदर संबोधि को प्राप्त हुआ। वह पुनः अपने धर्माचार्य की शरण में चला गया और शुद्ध चारित्र की आराधना कर सुलभ बोधि बनकर देवलोक में देव हुआ। —उत्त. वृत्ति

मूलदत्ता

द्वारिकाधीश श्री कृष्ण के पुत्र शाम्ब की पत्नी। उसने भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा लेकर सिद्धत्व प्राप्त किया। —अन्तगडसूत्र, वर्ग 5, अध्ययन 10

मूलदेव

भूमिभूषण नगर का राजकुमार। किसी समय उसके पिता ने रुष्ट होकर उसे घर से निकाल दिया। मूलदेव उज्जयिनी नगरी चला गया और देवदत्ता नामक गणिका के घर रहने लगा। देवदत्ता के घर अचल नामक व्यापारी का आवागमन होता था। अचल मूलदेव को वहां देखकर क्रोधित हो गया और उसे बंधनों में बांध दिया। मूलदेव ने कहा, मित्र ! तुम मुझे मुक्त कर दो, एक समय आएगा जब मैं भी तुम्हें मुक्त कर दूंगा। अचल ने उसे मुक्त कर दिया। वहां से दूर-देशान्तरों में भटकता हुआ मूलदेव वेणातट पाटन नगर में आया। वह कई दिन का भूखा था और उसके पास थोड़े से उड़द के छिलके थे। उन्हें खाने बैठा तो उधर से एक मासोपवासी मुनि पधारे। मूलदेव ने भक्ति पूर्वक वह आहार मुनिवर के पात्र में बहरा दिया।

रात्रि में मूलदेव नगर के बाहर किसी जोगी की झोंपड़ी में सो गया। रात्रि में स्वप्न में उसने चन्द्रमा को अपने पेट में उतरते देखा। ऐसा ही स्वप्न जोगी ने भी देखा। दूसरे दिन जोगी ने एक राह चलते ब्राह्मण से अपने स्वप्न का फल पूछा। ब्राह्मण ने कहा, चन्द्र के आकार की घृतगुड़ वाली रोटी तुम्हें मिलेगी। उधर मूलदेव ने उद्यान से पुष्प-फल ग्रहण किए और एक निमित्तज्ञ के पास पहुंचा। उसे पुष्प-फल भेंट कर उसने स्वप्न फल पूछा। निमित्तज्ञ ने कहा, तुम मेरी पुत्री से पाणिग्रहण करो तो स्वप्न का फल बताऊं। मूलदेव ने उसकी बात स्वीकार कर ली। निमित्तज्ञ ने स्वप्न का फल बताया, मूलदेव ! आज से सातवें दिन तुम राजा बनोगे। वैसा ही हुआ भी। उस नगर का राजा निःसंतान अवस्था में ही कालधर्म को प्राप्त हो गया। वृद्ध और विज्ञजनों ने पंच-दिव्य छोड़े। पंच दिव्यों ने उद्यान में लेटे मूलदेव का वरण किया। मूलदेव राजा बन गया। उसने निमित्तज्ञ की पुत्री तथा देवदत्ता गणिका को अपनी रानी बनाया। ब्राह्मण निमित्तज्ञ को दरबार में उच्च पद प्रदान किया।

किसी समय अचल व्यापारी को राजपुरुषों ने कर चोरी के अपराध में गिरफ्तार कर लिया। बन्धनों में बन्धे अचल को राजा मूलदेव के समक्ष उपस्थित किया गया। मूलदेव ने अचल को पहचान लिया और बन्धन मुक्त करवा दिया। अचल ने भी मूलदेव को पहचान लिया और उसका उपकार मानते हुए अपने स्थान पर चला गया।

एक दिन मूलदेव हाथी पर सवार होकर कहीं जा रहा था। उसे वह जोगी मिला जिसकी झोंपड़ी में उसने रात्रि विश्राम किया था तथा स्वप्न में चन्द्रमा देखा था। योगी ने देखते ही मूलदेव को पहचान लिया। उसने पूछा, तुम राजा कैसे बन गए? मूलदेव ने कहा, तुम्हारी झोंपड़ी में सोते हुए चन्द्रदर्शन के लाभ के कारण ही मुझे राजपद मिला है। योगी ने कहा, लेकिन वैसा ही स्वप्न मैंने भी देखा था और मुझे उसके फलस्वरूप मात्र एक रोटी का ही लाभ मिला, ऐसा क्यों? एक समान स्वप्न के भिन्न फल क्यों?

मूलदेव ने कहा, आपने विधि से स्वप्न का फल ज्ञात नहीं किया। योगी को अपनी भूल समझ पड़ गई। अब वह योगी सदैव अपनी झोंपड़ी में सोकर चन्द्र स्वप्न दर्शन की प्रतीक्षा करने लगा। पर क्या यह सरल है कि वह पुनः वैसा ही स्वप्न देखे और राजपद पाए? जैसे उस द्वारा वैसा स्वप्न पुनः देखा जाना सुलभ नहीं है, वैसे ही मानव जन्म का पुनः प्राप्त होना सुलभ नहीं है। —उत्तराध्ययन वृत्ति

मूलश्री

वासुदेव श्री कृष्ण की पुत्रवधू और राजकुमार शाम्ब की पत्नी। भगवान अरिष्टनेमि का उपेदश सुनकर उसे नश्वर भोगों से विरक्ति हो गई। उसने भगवान के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। निरतिचार चारित्र का पालन कर वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुई। —अन्तगडसूत्र, वर्ग 5, अध्ययन 8

मूला सेठानी

कौशाम्बी नगरी के धर्मात्मा सेठ धनावह की पत्नी। (देखिए-चंदन बाला)

मृग सुंदरी

मृगपुर नगर के श्रावक जिनदत्त की पुत्री, एक दृढ़-धर्मिणी बाला। बाल्यावस्था में ही उसने गुरुदेव से कई नियम ग्रहण किए थे, जिनमें प्रमुख थे—रात्रि-भोजन त्याग, जिनस्तवन के पश्चात् ही अन्न-जल ग्रहण करना और प्रतिदिन मुनियों को प्रतिलाभित करने के पश्चात् ही भोजन करना आदि। इन नियमों का वह प्राणपण से पालन करती थी।

मृगपुर से सामान्य दूरी पर वसन्तपुर नामक नगर था। वहां पर देवदत्त नाम का एक गृहस्थ रहता था। उसके चार पुत्र थे। उसके छोटे पुत्र का नाम धनेश्वर था। एक बार धनेश्वर मृगपुर नगर में गया। वहां उसने मृगसुन्दरी को देखा। वह उसके रूप पर मोहित हो गया। उसने मन ही मन मृगसुंदरी से विवाह करने का निश्चय कर लिया। पर उसे ज्ञात हुआ कि मृगसुंदरी के पिता जिनोपासक हैं और उनका प्रण है कि वे अपनी पुत्री का विवाह जिनोपासक युवक से ही करेंगे। मृगसुंदरी को पाने के लिए धनेश्वर ने कपट-श्रावक का अभिनय इतनी कुशलता से किया कि जिनदत्त उसके जाल में फंस गए और उसके प्रस्ताव पर उन्होंने अपनी पुत्री मृगसुंदरी का विवाह उससे कर दिया। पति-गृह में प्रवेश करते ही मृगसुंदरी समझ गई कि उसके साथ छल हुआ है। पर अब उसके प्रतिकार का कोई उपाय न था।

देवदत्त ने धर्माराधना रत मृगसुंदरी को देखकर उसे कटु शब्दों में समझाया कि उसका यह आचार उसके घर में नहीं चलेगा। मृगसुंदरी और श्वसुर-गृह के समस्त सदस्यों के मध्य कई दिनों तक तनाव बना

रहा। मृगसुंदरी को अपने प्राणों से भी अपने व्रत प्रिय थे। रात्रि-भोजन त्याग और जिन स्तवन व्रत का तो वह पालन कर रही थी पर मुनियों को प्रतिलाभित वह नहीं कर पा रही थी। इसीलिए उसने कई दिनों तक भोजन ग्रहण नहीं किया। एक दिन उसे एक मुनि के दर्शन हुए। उसने मुनि के समक्ष अपनी समस्या रखी। मुनि ने मृगसुंदरी को विकल्प बताया कि वह चूल्हे पर चंदोवा बांधकर रसोई बनाए, उससे वह असंख्य त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा कर पाएगी और उससे उसे वही पुण्य लाभ होगा जो मुनियों को प्रतिलाभित करने पर प्राप्त होता है।

मृगसुंदरी ने घर आकर वैसा ही किया। उससे उसके श्वसुर पक्ष के समस्त सदस्यों पर विपरीत प्रभाव पड़ा। मृगसुंदरी ने बहुविध उपायों से परिवारजनों को समझाने का यत्न किया कि वह जीवरक्षा का उपक्रम है पर परिवार जन समझे नहीं। उन्होंने उसे मृगसुंदरी द्वारा किया गया जादू-टोना ही माना। धनेश्वर ने चूल्हे पर बन्धे चन्दोवे को जला डाला। दूसरे दिन मृगसुंदरी ने दूसरा चन्दोवा बांधा। धनेश्वर ने उसे भी जला दिया। निरन्तर सात दिनों तक मृगसुंदरी चन्दोवा बांधती रही। धनेश्वर प्रतिदिन उसे जलाता रहा। आखिर मृगसुंदरी को जिद्दी और टोना करने वाली घोषित करके श्वसुर-परिवार ने उसे उसके घर भेजने का निर्णय कर लिया। मृगसुंदरी ने श्वसुर से प्रार्थना की कि उसे जिस विधि से ससम्मान विवाहित कर लाया गया था उसी विधि से उसे उसके पीहर भेजा जाए। श्वसुर ने विवश होकर उसकी बात मान ली।

दूसरे दिन परिवार के समस्त सदस्यों और अनेक दास-दासियों के साथ कई वाहनों पर सवार होकर देवदत्त मृगसुंदरी को उसके पीहर पहुंचाने के लिए गया। मार्ग में संध्या हो गई। एक गांव में देवदत्त का सम्बन्धी रहता था। पूरा काफिला उस सम्बन्धी का अतिथि बना। रात्रि घिर चुकी थी। मेजबान ने भोजन बनवाया। सर्वप्रथम मृगसुंदरी के लिए ही भोजन परोसा गया। पर मृगसुंदरी ने अपने नियम की बात कहकर भोजन अस्वीकार कर दिया। देवदत्त और उसके परिजनों को भी मृगसुंदरी का अनुसरण करना पड़ा। सो उन्होंने भोजन नहीं किया। आखिर दास-दासियों को भोजन कराया गया। रात्रि बीती। प्रभात हुआ। सभी लोग सोकर उठे। पर वे दास-दासी नहीं उठे जिन्होंने रात्रि में भोजन किया था। उन सबकी मृत्यु हो चुकी थी। रहस्य खुलते-खुलते खुला कि भोजन विषाक्त था जिसके कारण दास-दासियों की मृत्यु हुई। शाक का निरीक्षण किया गया। उसमें सर्प के शरीर का टुकड़ा पाया गया। मृगसुंदरी ने स्पष्ट किया, भोजन बनाते हुए छत से सांप भोजन-पात्र में गिरा जिससे भोजन विषाक्त हो गया। साथ ही मृगसुंदरी ने अपने परिजनों को चंदोवे और रात्रि भोजन त्याग के महत्व को भी समझाया। उचित समय की बात ने धनेश्वर और उसके पूरे परिवार की आंखें खोल दीं। सभी ने मृगसुंदरी के नियमों का महत्व जाना और उसी क्षण सभी ने रात्रि-भोजन त्याग का नियम ले लिया।

यात्रा शुरू हुई। पर यह यात्रा मृगपुर के लिए न थी, वसंतपुर लौटने के लिए थे। मृगसुंदरी का मान सम्मान बढ़ गया। धनेश्वर तो पूर्णरूप से पत्नी का अनुगामी और सहचर बन गया। उसने जिनधर्म अंगीकार कर लिया। पूर्ण निष्ठा से धर्ममय जीवन जीकर पति-पत्नी देह-त्यागकर स्वर्ग में गए। स्वर्ग से च्यव कर धनेश्वर का जीव श्रीपुर नरेश श्रीषेण का पुत्र देवराज बना। युवावस्था में देवराज को कुष्ठ रोग हो गया। समस्त उपचार विफल हो गए। तब राजा ने घोषणा कराई कि जो भी नर-नारी राजकुमार देवराज को रोगमुक्त करेगा उसे आधा राज्य दिया जाएगा।

मृगसुंदरी श्रीपुर नगर के सेठ यशोदत्त की पुत्री के रूप में उत्पन्न हुई थी जहां उसका नाम लक्ष्मीवती रखा गया था। लक्ष्मीवती ने पटह का स्पर्श किया। उसे राजा के समक्ष उपस्थित किया गया। लक्ष्मीवती के

कथन पर राजकुमार देवराज को बुलाया गया। लक्ष्मीवती ने मन ही मन संकल्प किया—यदि उसने तन-मन-वचन से शील पालन किया है तो उसके स्पर्श से राजकुमार कुष्ठमुक्त हो जाए। इस संकल्प के साथ लक्ष्मीवती ने राजकुमार देवराज का स्पर्श किया। उसके स्पर्श-मात्र से राजकुमार रोग-मुक्त हो गया। राज्य में सर्वत्र प्रसन्नता व्याप्त हो गई। राजा की प्रार्थना पर यशोदत्त ने अपनी पुत्री लक्ष्मीवती का विवाह राजकुमार देवराज से सम्पन्न कर दिया। महाराज श्रीषेण देवराज को राजपद प्रदान कर प्रव्रजित हो गए।

देवराज ने सुन्दर शासन किया। लक्ष्मीवती उसकी इकलौती रानी थी। सुखपूर्वक समय बिताते हुए एक बार देवराज को एक ज्ञानी मुनि के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त हुआ। राजा-रानी ने मुनि-वन्दन किया। देवराज ने अपने कुष्ठ रोग के बारे में मुनि से पूछा। मुनि ने राजा को उसका पूर्व भव सुनाया और स्पष्ट किया कि उसने सात बार चंदोवा जलाया था जिसके फलस्वरूप उसे सात वर्षों तक कुष्ठ रोगी रहना पड़ा।

अपना पूर्वभव सुनकर देवराज और लक्ष्मीवती प्रबुद्ध बन गए। दोनों ने दीक्षा धारण की और देवगति में गए। अनुक्रम से सिद्धत्व प्राप्त करेंगे।

—जैन कथा रत्न कोष, भाग-4 / —श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र (श्री रत्नशेखर सूरिकृत)

मृगांकुश

एक प्राचीन जैन मुनि।

(क) मृगापुत्र (मृगालोढा)

विपाक सूत्र के प्रथम अध्ययन का एक ऐसा पात्र जिसने मानव देह पाकर भी नारकीय जीवन पाया। वह जन्म से ही अन्धा, बहरा, अपंग और असह्य दुर्गन्ध सम्पन्न शरीर वाला मनुष्य था। मनुष्य क्या था, बस मात्र कहने को मनुष्य था। इन्द्रियों के चिन्हों के स्थान पर उस मांस पिण्ड में छिद्र मात्र थे। घोर अशुचि, रक्त और मवाद उन छिद्रों से झरता रहता था जिसे वह पुनः पुनः चाटता था।

एक मानव को ऐसा निकृष्ट जीवन क्यों मिला? इसका उत्तर भगवान महावीर ने स्वयं अपने श्रीमुख से दिया है, उसका विवरण इस प्रकार है—

प्राचीन समय में भारतवर्ष में शतद्वार नाम का एक नगर था। वहां धनपति नामक राजा राज्य करता था। उसके राज्य में विजयवर्धमान नाम का एक ग्राम था। उस ग्राम में इकाई राठोर नाम का एक ठाकुर रहता था। वह पांच सौ ग्रामों का स्वामी था। वह अत्यन्त क्रूर और अधर्मी था। धर्म और अधर्म का उसके लिए कोई अर्थ न था। प्रजा को पीड़ित करना, उसके धन और द्रव्य को हड़प लेना, चोरी करना और कराना, यात्रियों को लूट लेना उसके दैनिक कार्य थे। उसका एकमात्र लक्ष्य था धन संग्रह। जीवनभर वह ऐसे ही निन्दनीय कर्मों में लगा रहा। उसके अधीनस्थ जनता त्राहि-त्राहि करती रही। आखिर प्रत्येक बात की एक सीमा होती है। एक बार इकाई बीमार हो गया। सोलह महारोग उसके शरीर में उभर आए। धन को पानी की तरह बहाकर उसने अपना उपचार कराया। अनेक वैद्य और हकीम आए पर वह रोगमुक्त न हो सका और अतृप्त कामनाओं के साथ ही महान व्याधि भोगता हुआ मरकर प्रथम नरक में गया। सुदीर्घ काल तक नरक की यातनाएं भोगने के पश्चात् इकाई का जीव मृगा ग्राम के राजा विजय की रानी मृगावती के गर्भ में उत्पन्न हुआ। उक्त पापात्मा के गर्भ में आते ही राजा का अपनी रानी पर से प्रेमभाव कम हो गया। रानी ने इसे गर्भस्थ शिशु के प्रभाव के रूप में ही देखा। औषधोपचार आदि के द्वारा उसने गर्भ गिराने के अनेक यत्न किए पर सब निष्फल हुए। गर्भकाल से ही शिशु भस्मक रोग से ग्रस्त था। वह जो भी खाता उसका रक्त

हो जाता। आखिर नौ मास के बाद रानी ने प्रसव किया। यह एक विचित्र बालक था। अंगोपांग रहित और इन्द्रियों के स्थान पर मात्र चिन्ह थे। वह एक मांस का लोथड़ा प्रतीत होता था। तीव्र दुर्गन्ध उसके अंगों से फूट रही थी। उसे देखकर वितृष्णा और भय से रानी कांप उठी। उसने उसे बाहर उकुरड़ी पर फिंकवाने के लिए राजा से कहा। राजा ने रानी को समझाया और जैसे-तैसे उसके पालन-पोषण के लिए उसे मनाया। रानी ने उसे अपने महल के भोंयरे (तलघर) में रख दिया और निश्चित समय पर उसे वहीं पर भोजन-पान देने लगी। जब रानी उसके सामने भोजन रखती तो वह मांस पिण्ड उछल-उछल कर उस भोजन को उदरस्थ करता। उसे पुनः-पुनः वमन होता और वह पुनः-पुनः उस वमन को खाता। इस प्रकार वह नारकीय अवस्था में अपना जीवन जीने लगा।

एक बार मृगा ग्राम में भगवान महावीर पधारे। परिषद दर्शनों के लिए गई। उनमें एक जन्मान्ध भिखारी भी सम्मिलित था जो किसी सज्जन के साथ आ गया था। वह विद्रूप और ग्लान था। उसके शरीर पर असंख्य मक्खियां भिनभिना रही थीं। उसे देखकर गौतम स्वामी का हृदय करुणा युक्त बन गया। परिषद के लौटने पर उक्त जन्मान्ध भिखारी की चर्चा करते हुए गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से पूछा—प्रभु! क्या उस जन्मान्ध भिखारी से अधिक दयनीय दशा भी किसी मानव की हो सकती है? इस पर भगवान ने फरमाया—हां, गौतम! इस जन्मान्ध भिखारी से भी अधिक नरकमय जीवन इस नगर के राजा का पुत्र—मृगापुत्र जी रहा है। वह मनुष्य लोक और मनुष्य देह में होकर भी नारकीय अवस्था में जी रहा है।

गौतम मृगापुत्र को देखने के लिए उत्सुक बन गए। वे भगवान की आज्ञा लेकर रानी मृगावती के महल में पहुंचे और उसके पुत्र को देखने की जिज्ञासा व्यक्त की। रानी ने अपने स्वस्थ और सुन्दर अन्य पुत्र गौतम स्वामी को दिखाए। पर गौतम स्वामी ने उसे उसके ज्येष्ठ पुत्र को दिखाने के लिए कहा। रानी ने अपने ज्येष्ठ पुत्र के बारे में गौतम स्वामी के मुख से सुना तो उसे महान आश्चर्य हुआ, क्योंकि उस रहस्य को राजा और रानी के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं जानता था। रानी के पूछने पर गौतम स्वामी ने भगवान की सर्वज्ञता की बात बताई। इससे रानी सन्तुष्ट हो गई। वह गौतम स्वामी को लेकर तलघर में गई। गौतम स्वामी ने वहां मृगापुत्र को नारकीय जीवन यापन करते देखा। कर्मों की ऐसी विचित्रता देखकर वे दंग रह गए। लौटकर भगवान के पास आए और मृगापुत्र के कर्मों की कथा भगवान से पूछी। भगवान ने गौतम स्वामी को इकाई के भव में संचित किए गए दुःसह कर्मों की व्याख्या की और स्पष्ट किया कि मृगापुत्र उन्हीं कर्मों को भोग रहा है।

गौतम स्वामी द्वारा मृगापुत्र के भविष्य के बारे में पूछे जाने पर भगवान ने फरमाया—छत्तीस वर्ष की आयु में मरकर मृगापुत्र सिंह के रूप में जन्म लेगा। वहां से मरकर प्रथम नरक में जाएगा। वहां से नेवला होगा और मरकर दूसरी नरक में जाएगा। यों विभिन्न जन्म-मरण करता हुआ सातों ही नरकों में भटकेगा। अनन्त काल तक जन्म-मरण के चक्कर में घूमते-भटकते हुए अन्ततः महाविदेह से सिद्ध होगा।

—विपाक सूत्र, प्र.श्रु.,अ.1

(ख) मृगापुत्र

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार मृगापुत्र सुग्रीव नगर के राजा बलभद्र और उनकी रानी मृगावती के पुत्र थे। वे राजकुमार थे इसलिए उनका लालन-पालन और शिक्षा-दीक्षा राजसी विधि से हुई थी। युवावस्था में अनेक राजकन्याओं के साथ उनका पाणिग्रहण हुआ। पूर्ण वैभव में जीवन यापन करते हुए एक दिन महल

के झरोखे से उन्होंने राजमार्ग पर जाते एक मुनि को देखा। मुनि की शान्त-प्रशान्त मुद्रा उनके हृदय पर अंकित हो गई। चिन्तन जगा कि ऐसे वेश-विन्यास को मैंने पहले भी कहीं देखा है, पर कहां देखा है ? सोचते-सोचते उन्हें जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपने ज्ञान में उन्हें स्पष्ट दिखाई देने लगा कि पूर्वभव में वे मुनि थे। एकाएक उनका हृदय विरक्ति से भर गया। भोग उन्हें दुख के मूल तथा योग सुख का मूल दिखाई देने लगा। उसी क्षण वे अपने माता-पिता के पास पहुंचे और दीक्षा की अनुमति मांगने लगे।

मृगापुत्र की बात से माता-पिता सन्न रह गए। उन्होंने संयम की दुरूहता, क्लिष्टता, उपसर्गों, परीषहों आदि के तर्क उपस्थित कर पुत्र को रोकना चाहा। पर मृगापुत्र ने नरकादि की भयंकर यातनाओं का दिग्दर्शन प्रस्तुत कर माता-पिता के तर्कों को निरस्त कर दिया। साथ ही उसने कहा कि वे यदि उनके पुत्र को वस्तुतः सुखी देखना चाहते हैं तो उसे संयम लेने की अनुमति दे दें।

पुत्र और माता व पिता के मध्य लम्बा संवाद चला। आखिर माता-पिता को लगा कि उनके पुत्र का सच्चा सुख संयम में ही है। उन्होंने उसे अनुमति दे दी।

मृगापुत्र मुनि बने। उत्कृष्ट संयम और तप की आराधना करके उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष गए।

—उत्तराध्ययन, अध्ययन 19

(क) मृगावती

वैशाली गणतंत्र के अध्यक्ष महाराज चेटक की पुत्री और कौशाम्बी नरेश महाराज शतानीक की परिणीता पत्नी। मृगावती एक परम-सुशीला नारी थी। जैन परम्परा में विख्यात सोलह महासतियों में उसकी भी गणना होती है। उसने अपने विवेक और साहस को कष्ट के समय में भी जीवित रखा जिसके परिणामस्वरूप वह अपने धर्म की रक्षा कर पाने में सफल हो सकी।

शतानीक एक कलाप्रेमी राजा था। उसने उज्जयिनी निवासी एक युवा कुशल चित्रकार से एक चित्रशाला बनवाई। वह चित्रकार इतना कुशल चितेरा था कि किसी भी स्त्री अथवा पुरुष के शरीर के एक अंग को देखकर ही उसका पूरा चित्र बना देता था। किसी समय गवाक्ष से उसने महारानी मृगावती के पैर के अंगूठे को देख लिया और उसी को आधार बनाकर उसने महारानी को चित्रित कर दिया। चित्रकार की तुलिका से एक बिन्दु चित्रित रानी की जंघा पर गिर गया। चित्रकार के पोंछने पर भी वह ज्यों का त्यों अंकित रहा तो चित्रकार को विश्वास हो गया कि रानी की जंघा पर अवश्य ही तिल होना चाहिए। उसने उसे यथावत् रहने दिया। राजा चित्रशाला देखने आया। अपनी रानी के हूबहू चित्र को देखकर राजा दंग रह गया। पर जंघा के तिल को देखकर वह शंकित और क्रोधित बन गया। उसने चित्रकार को मृत्युदण्ड दे दिया। चित्रकार सहम गया। आखिर बुद्धिमान मंत्री ने रहस्य का पता लगाया और चित्रकार को जीवनदान मिल गया। शतानीक ने चित्रकार के दाएं हाथ का अंगूठा कटवाकर उसे अपने देश से निकाल दिया। निरपराध चित्रकार तिलमिला उठा। उसमें प्रतिशोध की भावना प्रबल बन गई। उसने दाएं हाथ से चित्र बनाने का अभ्यास किया और मृगावती का एक अद्भुत चित्र बनाया। चित्र लेकर वह उज्जयिनी नरेश चण्डप्रद्योत के पास पहुंचा। उसने वह चित्र चण्डप्रद्योत को भेंट किया। चण्डप्रद्योत मृगावती के अनुपम लावण्य पर मोहित हो गया। उसने शतानीक के पास अपना दूत भेजा और आदेश दिया कि मृगावती को उसके हवाले कर दे उसे वह अपनी पटरानी बनाएगा। दूत के मुख से चंडप्रद्योत का प्रस्ताव सुनकर शतानीक आग-बबूला बन गया। उसने दूत को अपमानित करके सभा से निकाल दिया।

कामान्ध चण्डप्रद्योत ने कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। शतानीक बलशाली चण्डप्रद्योत का सामना

करने के लिए न तो तैयार था और न ही सक्षम था। उसने अपने नगर के द्वार बन्द करवा दिए। वह इस आकस्मिक आपदा को सह न सका और हृदयगति रुक जाने के कारण कालधर्म को प्राप्त हो गया। मृगावती के लिए यह क्लिष्टतम क्षण था। परन्तु वह साहसी और वीर महिला थी। उसने अपने मानसिक सन्तुलन को डावांडोल नहीं बनने दिया। कूटनैतिकता का आश्रय लेते हुए उसने चण्डप्रद्योत के पास संदेश भिजवाया कि उसे पति-मृत्यु के विषाद से मुक्त होने के लिए कुछ समय दिया जाए उसके बाद वह स्वयं उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लेगी। मृगावती की इस कूटनीति से चण्डप्रद्योत परास्त हो गया और प्रसन्नता से उछलता हुआ अपने देश को लौट गया।

मृगावती ने अपने पति का संस्कार किया। तत्पश्चात् उसने अपनी सैन्यशक्ति को संगठित किया और अन्न के कोठार भरे। साथ ही वह अपने अल्पायुष्क पुत्र उदयन को भी राजनीति और धर्मनीति की शिक्षा देने लगी। इस मध्य चण्डप्रद्योत ने मृगावती के पास अपना दूत भेजा और संदेश दिया कि अब वह अपने वचनानुसार उज्जयिनी आए। सुनकर मृगावती की भृकुटी टेढ़ी हो गई। उसने भर्त्सनापूर्ण शब्दों से दूत को तिरस्कृत करते हुए भगा दिया। रहस्य जानकर चण्डप्रद्योत अपनी मूर्खता पर झेंप गया और उसने पुनः कौशाम्बी पर आक्रमण कर दिया। पर बुद्धिमती महारानी अपने दुर्ग को सुदृढ़ बनवा चुकी थी। उसने दुर्ग द्वार बन्द करवा दिए। चण्डप्रद्योत की सेना दुर्ग को तोड़ न सकी। चण्डप्रद्योत कामान्ध और क्रोधान्ध था। उसने नगर के बाहर ही अपना सैन्य शिविर डाल दिया।

महारानी मृगावती ने तप का आश्रय लिया और धर्मचक्रवर्ती महाश्रमण महावीर को स्मरण किया। भक्ति और पुकार में अपार बल होता है। सो भगवान महावीर कौशाम्बी के बाहर पधार गए। भगवान के पदार्पण से क्रोध, काम और वैमनस्य के भाव शमित हो गए। चण्डप्रद्योत स्वयं भगवान का भक्त था। उसने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि जब तक महावीर कौशाम्बी में विराजें तब तक पूर्ण रूप से अहिंसा का पालन किया जाए। भगवान महावीर के आगमन की सूचना पाते ही महारानी मृगावती ने भी अपनी नगरी के द्वार खुलवा दिए। वह महावीर के समवसरण में गई। भगवान ने उपदेश दिया। मृगावती ने दीक्षा लेने का निश्चय कर लिया। दीक्षा से पूर्व उसने अपने छलपूर्ण व्यवहार के लिए चण्डप्रद्योत से क्षमायाचना की। इससे चण्डप्रद्योत का हृदय भी परिवर्तन हो गया। उसने भी अपनी दुष्टता के लिए मृगावती से क्षमा मांगी और उसे वचन दिया कि वह उसके पुत्र उदयन का राजतिलक करेगा और सदैव उसका संरक्षण करेगा।

दीक्षित होकर मृगावती आत्मसाधना में लीन बन गई। किसी समय वह समय का भान न रखते हुए सूर्योदय के पश्चात् भी महावीर के समवसरण में बैठी रही। सहसा उसे भान हुआ तो वह शीघ्र कदमों से अपनी गुरुणी चन्दनबाला के पास उपाश्रय में पहुंची। साध्वी मर्यादा के उल्लंघन करने पर चन्दनबाला ने मृगावती को उपालंभ दिया। मृगावती पहले ही पश्चात्ताप पूर्ण बनी हुई थी। गहन पश्चात्ताप से क्षपक श्रेणी चढ़कर उसने केवलज्ञान पा लिया। त्रिलोक उसके ज्ञान में झलक उठे। उसी समय एक कृष्णसर्प को महासती चन्दनबाला के पट्टे पर से नीचे लटके हाथ की ओर बढ़ते हुए मृगावती ने देखा। उसने गुरुणी का हाथ ऊपर को उठा दिया। इससे चन्दनबाला की निद्रा टूट गई। चन्दनबाला ने मृगावती से वैसा करने का कारण पूछा तो उसने सर्प की बात बता दी। घने अन्धकार में कृष्णसर्प कैसे दिखाई दे सकता है, ऐसा सोचकर चन्दना ने मृगावती से पूछा कि क्या उसे ज्ञान प्राप्त हो गया है। महासती मृगावती ने विनम्रता से कहा कि उसे उनकी कृपा से ज्ञान की प्राप्ति हो गई है।

चन्दनबाला को बहुत पश्चात्ताप हुआ कि उसने एक पुण्यात्मा को कठोर शब्दों में उपालम्भ दिया।

पश्चात्ताप की प्रखरता से चन्दनबाला को भी केवलज्ञान हो गया।

—आवश्यक निर्युक्ति गाथा 1048 / —दशवैकालिक निर्युक्ति अ.1 गाथा 76

(ख) मृगावती

मृगाग्राम के राजा विजय की रानी और मृगापुत्र की जन्मदातृ। (देखिए-मृगापुत्र) —विपाक सूत्र, 1

(ग) मृगावती

सुग्रीव नगर के महाराज बलभद्र की पटरानी और मृगापुत्र की माता। वह एक तत्त्वज्ञा नारी थी। संयमीय जीवन की क्लिष्टताओं का उसे पूरा ज्ञान था। पुत्र द्वारा दीक्षा की अनुमति मांगने पर उसने संयम की क्लिष्टता का जैसा जीवंत शब्द-चित्र प्रस्तुत किया था वह उसके तत्त्वज्ञान का परिचायक है। (देखिए-मृगापुत्र) —उत्तराध्ययन, अध्ययन 16

मृगासुंदरी

वीरपुर नरेश चन्द्रशेखर के पुत्र सज्जनकुमार की पत्नी। मृगासुंदरी एक आदर्श पत्नी और साहसी वीरबाला थी। महाराज चन्द्रशेखर ने अपने पुत्र सज्जनकुमार का विवाह आठ राजकुमारियों से सुनिश्चित किया था। तत्कालीन रीति के अनुसार आठों राजकुमारियां अपने-अपने बन्धु-बान्धवों के साथ वीरपुर आईं। दूसरे ही दिन उनका विवाह राजकुमार सज्जनकुमार के साथ होने वाला था। पर जैसे ही दूसरे दिन का सूर्योदय हुआ तो राजकुमार सज्जनकुमार का अपहरण कर लिया गया। माता-पिता और नागरिकों के साथ-साथ आठों अविवाहित राजकुमारियों के लिए यह वज्रपात के समान था। महाराज चन्द्रशेखर ने आठों राजकुमारियों पर पितृ-वात्सल्य उंडेला और कहा कि वे किन्हीं अन्य राजकुमारों से विवाह रचा लें।

आठों राजकुमारियों की ओर से ज्येष्ठ राजकुमारी मृगासुंदरी ने राजा से कहा, महाराज! निःसंदेह मांत्रिक विधि-विधान से हमारा विवाह आपके पुत्र से नहीं हुआ है, पर हम मन से आपके पुत्र को अपना पति मान चुकी हैं। इसलिए अब यह संभव नहीं है कि हम किसी अन्य कुमार से विवाह करें। हम आपकी पुत्र- वधूएं हैं। हमें अपने चरणों में रहने की अनुमति दीजिए।

राजकुमारियों के संकल्प के समक्ष अंततः सभी को झुकना पड़ा। आठों राजकुमारियां अपने पति सज्जनकुमार के लौटने की प्रतिक्षा करती हुईं वीरपुर में ही रहने लगीं। महाराज चन्द्रशेखर ने दूर-दूर तक अपने पुत्र की खोज कराई। पर राजकुमार को खोजा न जा सका। आखिर एक दिन मृगासुंदरी ने अपने श्वसुर से विनीत प्रार्थना की कि उसे सज्जनकुमार को खोजने की अनुमति दी जाए। उसने श्वसुर की आज्ञा प्राप्त कर ली और योगिनी का वेश धारण कर वह पति को खोजने के लिए चल दी। अनेक नगरों और गांवों में भ्रमण करती हुई मृगायोगिनी दक्षिण भारत में पहुंची। वहां पर भी वीरपुर नाम का एक नगर था। नगर नाम साम्य ने राजकुमारी मृगासुंदरी (मृगायोगिनी) को आकर्षित किया और उसी नगर में वह रुक गई। एक मालिन ने उसका आतिथ्य किया। मालिन से उसे ज्ञात हुआ कि उक्त नगर के बाहर एक दुष्ट योगी रहता है जो सुन्दर नारियों का शील भंग करता है। उसके विद्याबल के समक्ष राजा भी निरुत्तर और विवश है। साथ ही मालिन ने यह भी बताया कि कुछ ही दिन पूर्व दुष्ट योगी ने सज्जनकुमार नामक एक परदेसी और उसकी पत्नी को भी बन्दी बना लिया है।

पति का नाम सुनकर मृगासुंदरी को तमस में प्रकाश की किरण दिखाई दी। उसे अपने धर्म और बुद्धि पर पूरा भरोसा था। वह योगी के मठ की ओर चल दी। मार्ग पर एक अन्य मठ था जहां एक युवायोगिनी

रहती थी। मृगायोगिनी उस युवा योगिनी को अपनी सहचरी बनाकर दुष्ट योगी के मठ पर पहुंची। उसने अपने वाग्चातुर्य से योगी को इस कदर मोहित बना लिया कि योगी ने उसे अपने समस्त रहस्य बता दिए। मृगायोगिनी ने जान लिया कि उसका पति योगी द्वारा तोता बना दिया गया है और साथ ही यह भी जान लिया कि योगी के प्राण एक भूसे से निर्मित समान रूपाकार वाली आकृति में निहित हैं। अवसर को साधकर मृगायोगिनी ने भूसे की मानवाकृति को मरोड़ दिया। तत्क्षण दुष्ट योगी मृत्यु को प्राप्त हो गया।

इस प्रकार अपने चातुर्य से मृगासुंदरी ने अपने पति और उनकी पत्नी को दुष्टयोगी के बन्धन से मुक्त कराया। सज्ज्न कुमार अपनी अविवाहिता पत्नी मृगासुंदरी की बहादुरी, साहस और बुद्धिमत्ता को देखकर अत्यंत प्रसन्न हुआ। उसने एक विद्याधरी द्वारा अपने अपहरण की बात मृगासुंदरी को बताई और साथ ही यह भी स्पष्ट किया कि उसकी चारित्रिक सुदृढ़ता से प्रभावित होकर ही विद्याधर ने अपनी पुत्री का पाणिग्रहण उसके साथ कर दिया। फिर जब वह अपने नगर को लौट रहा था तो यहां वीरपुर नगर में उसे और उसकी सद्यपरिणीता पत्नी को दुष्टयोगी द्वारा बन्दी बना लिया गया।

सज्जनकुमार का पुण्य प्रकर्ष पर था। उसी दिन उस नगर के निःसंतान राजा का निधन हो गया। परम्परानुसार हथिनी को पुष्पाहार देकर छोड़ा गया। हथिनी ने पुष्पाहार सज्जनकुमार के गले में डाल दिया। सज्जनकुमार राजा बन गया। आखिर कुछ दिन बाद मृगासुंदरी की प्रेरणा से सज्जनकुमार अपने नगर में लौटा। उसने मृगासुंदरी सहित आठों राजकुमारियों से पाणिग्रहण किया। महाराज चन्द्रशेखर सज्जनकुमार को राजगद्दी पर बैठाकर मुनि बन गए। राजा सज्जनकुमार ने सुदीर्घकाल तक सुशासन किया। अंत में संयम स्वीकार कर मुनि बन गए। आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थ सिद्ध विमान में गए।

मृगासुंदरी भी संयम धारण कर और आयुष्य पूर्ण कर अच्युतकल्प देवलोक में गई। वहां से मनुष्य देह पाकर सज्जनकुमार और मृगासुंदरी सिद्धत्व को प्राप्त करेंगे।

मृगेश वर्मन

कदम्ब वंशज एक नरेश। वनवासी क्षेत्र पर उसका आधिपत्य था जो दक्षिणापथ का एक क्षेत्र था। जैन धर्म के प्रति मृगेश वर्मन की प्रगाढ़ आस्था थी। जैन धर्म के प्रचार-प्रसार और प्रभावना के उसने कई उल्लेखनीय कार्य किए।

मृगेश वर्मन का राज्य काल ई. सन् 475 से 490 तक का माना जाता है।

मेघ

तीर्थंकर सुमतिनाथ के पिता, विनीता नगरी के नृप। इन्हें मेघरथ भी कहा जाता था।

मेघकुमार

महाराज श्रेणिक की रानी धारिणी से उत्पन्न पुत्र। उसके उक्त नाम के पीछे भी एक तथ्य है जो इस प्रकार है—महारानी धारिणी जब गर्भवती थी तो उसे एक दोहद उत्पन्न हुआ कि वह महाराज के साथ हाथी पर बैठकर वन-विहार को जाए और उस समय आकाश मेघों से भरा हो, चारों ओर हरियाली हो, वर्षा हो रही हो। श्रेणिक सब कर सकते थे पर अकाल में वर्षा कराना उनके वश में न था। फलतः वे चिन्तित बन गए। उनकी चिन्ता का निदान अभयकुमार ने किया। पौषधशाला में जाकर उन्होंने तेला किया और पूर्व परिचित देव का आह्वान किया। देवता ने अकाल में वृष्टि की तो महारानी धारिणी का हृत्कमल खिल उठा। वह महाराज के साथ हाथी पर बैठकर वन-विहार को गई। इस प्रकार उसका दोहद पूर्ण हो गया।

पुत्र उत्पन्न होने पर मेघ-दर्शन के दोहद से संसूचित उसका नाम मेघकुमार रखा गया। यौवन में आठ राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण कराया गया। एक बार भगवान महावीर राजगृह पधारे। भगवान का उपदेश सुनकर मेघकुमार विरक्त बन गया। उसने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति मांगी। श्रेणिक और धारिणी ने संयम की दुरूहता का दिग्दर्शन कराते हुए पुत्र को उसका निर्णय बदलने के लिए कहा। पर किसी भी विधि से वे मेघ का निश्चय न बदल सके। आखिर धारिणी ने उसे एक दिन का राज्य करने के लिए कहा। मेघ ने माता की प्रसन्नता के लिए इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। मेघ का राजतिलक किया गया। राजा बनते ही मेघ का सर्वप्रथम आदेश यही था कि उसकी दीक्षा की तैयारी की जाए। अन्ततः मेघ की दीक्षा पूरे ठाट-बाट से सम्पन्न की गई।

महावीर के मुनि-संघ की मर्यादा के अनुसार रात्रि में नवदीक्षित मेघ मुनि का आसन सब मुनियों के बाद द्वार के पास लगा। मुनियों के आवागमन से और पादस्पर्श से मेघमुनि को पूरी रात नींद नहीं आई। उसका मन खिन्नता से भर गया। उसने सोचा, जो मुनि मेरा इतना सम्मान करते थे साधु-जीवन में प्रवेश करते ही उन्होंने मुझे यों द्वार पर डाल दिया है। साधु बनकर मैंने ठीक नहीं किया। सुबह प्रभु से पूछकर अपने घर लौट जाऊंगा। सुबह होने पर मेघ महावीर के पास पहुंचा। महावीर तो सब जान रहे थे। उन्होंने उसे प्रतिबोधित करने के लिए उसका पूर्व भव सुनाया। उन्होंने कहा—मेघ! पूर्वजन्म में तू यूथपति हाथी था। गर्मी से वन में सुलग जाने वाले दावानल से स्व-पर रक्षा के लिए तूने अपने यूथ के हाथियों के साथ मिलकर जंगल के मध्य में एक विशाल मैदान तैयार किया था। दावानल भड़क जाने पर पूरे जंगल के छोटे-बड़े पशु उस मैदान में एकत्रित हो गए। तुम भी वहां एक कोने में खड़े थे। पूरा मैदान छोटे-बड़े पशुओं से भर गया था। पैर रखने तक को स्थान शेष न था। तुमने शरीर खुजलाने के लिए अपना एक अग्रपद ऊपर को उठाया तो उस स्थान पर एक शशक आ बैठा। शशक की प्राण रक्षा के लिए तुमने अपना पैर ऊपर को लटकाए रखा। उसी अवस्था में तुम तीन दिन और तीन रात तक खड़े रहे। चौथे दिन दावानल शान्त हो जाने पर सभी पशु यत्र-तत्र चले गए। पर तुम वैसा न कर सके। तुमने अपना पैर नीचे करना चाहा तो तुम उसमें सफल न हुए। पैर अकड़ चुका था। तुम गिर पड़े और तुम्हारा आयुष्य पूर्ण हो गया। वहां से आयुष्य पूर्ण कर तुम श्रेणिक के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुए हो।

भगवान ने मेघ मुनि को उसका पूर्वभव बताकर उसे प्रतिबोध दिया। अपना पूर्वभव सुनकर मेघ मुनि को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने अपना पूर्वभव स्वयं देख लिया। संयम के प्रति उसमें उत्पन्न हुआ अनुत्साह मिट गया और शतगुणित उत्साह का ज्वार जाग उठा। उसने महावीर के चरणों पर मस्तक रखकर कहा—प्रभु! ईर्या शोधन के लिए अपने दो नेत्रों के अतिरिक्त आज से मेरा पूरा शरीर मुनियों की सेवा और संयम के लिए अर्पित है। संयम और सेवा में अपना समग्र जीवन अर्पित कर मेघ मुनि आयुष्य पूर्ण कर सर्वार्थसिद्ध विमान में गया। वहां से महाविदेह में जन्म लेकर वह सिद्ध होगा। —ज्ञाताधर्मकथा, अध्ययन 1

मेघ गाथापति

राजगृह के धनी गाथापति। मेघ गाथापति भगवान महावीर के पास प्रव्रजित होकर विपुलाचल से सिद्ध हुए। —अन्तगड सूत्र वर्ग 6, अध्ययन 14

मेघमाली

एक भवनपति देव। (देखिए-पार्श्वनाथ तीर्थंकर)

(क) मेघरथ राजा

माध्यमिका नगरी के एक धर्मात्मा राजा। एक बार महाराज मेघरथ के महल में सुधर्मा नामक एक मासोपवासी अणगार पधारे। महाराज ने अत्युच्च भावों से मुनिवर को आहार दान दिया। सुपात्र दान से महाराज ने जहां अतिशय पुण्य का अर्जन किया, वहीं भारी कर्मपुंज का निर्जरण भी किया। भवान्तर में महाराज मेघरथ सौगंधिका नगरी में राजकुमार जिनदास कुमार के रूप में जन्मे। जिनदास ने भगवान महावीर के चरणों में प्रव्रज्या धारण कर परम पद प्राप्त किया। (देखिए-जिनदास कुमार) —विपाक सूत्र, द्वि. श्रु.अ. 5

(ख) मेघरथ राजा

वर्तमान अवसर्पिणी काल के सोलहवें तीर्थंकर श्री शांतिनाथ जी पूर्वभव में पूर्व महाविदेह की पुंडरीकिनी नगरी के मेघरथ नामक राजा थे। राजा मेघरथ अतिशय करुणाशील राजा थे। उनकी करुणा और शरणागत-वात्सल्य की यश-सुरभि देवलोकों तक पहुंच गई थी। एक बार राजा मेघरथ की शरणागत-वात्सल्य भाव की प्रशंसा देवराज इंद्र ने की। इंद्र के कथन की सत्यता जानने के लिए एक देव राजा मेघरथ के पास आया। उसने देवमाया से एक कबूतर और एक बाज की विकुर्वणा की। बाज कबूतर पर झपटा। जान बचाने के लिए कबूतर राजा मेघरथ की गोद में जा बैठा। राजा ने प्रेमपूर्वक कबूतर को सहलाया। तभी बाज वहां पहुंचा और उसने राजा से अपने शिकार की याचना की। राजा ने कबूतर को अपना शरणागत बताया और कहा—मैं कबूतर को तुम्हें नहीं दूंगा। बाज ने कहा—राजन्! मैं भूखा हूं, और यह मेरा शिकार है। आप इसे नहीं देंगे तो मैं भूखा रह जाऊंगा।

राजा ने बाज से विविध खाद्यान्न देने का प्रस्ताव किया। बाज ने राजा के प्रस्ताव को ठुकराते हुए कहा—'मैं मांसाहारी पक्षी हूं, मांस ही मुझे प्रिय है। यदि आप कबूतर की रक्षा करना चाहते हैं तो उसके वजन के तुल्य मांस का प्रबंध मेरे लिए कर दीजिए!'

मेघरथ ने कुछ क्षण चिंतन किया और बोले—'मैं अपने शरीर का मांस देने के लिए तैयार हूं।' बाज की स्वीकृति पर राजा ने तराजू मंगाया और एक पलड़े में कबूतर को बैठाकर दूसरे पलड़े में अपने शरीर का मांस काटकर चढ़ाने लगे। परिजनों-पुरजनों ने राजा को रोकने का प्रयत्न किए, पर राजा अपने निर्णय पर अटल रहे। राजा ने काफी मांस तराजू पर चढ़ा दिया पर कबूतर का पलड़ा अपने स्थान से हिला तक नहीं। आखिर राजा उठे और स्वयं उस पलड़े में बैठ गए।

राजा को कबूतर की रक्षा के लिए अपने शरीर को अर्पित करते देखकर देवता दंग रह गया। उसने अपनी माया समेट ली और अपनी परीक्षा के लिए राजा से क्षमा मांगी। देवों ने राजा पर पुष्प वर्षा की।

जीवन के उत्तर पक्ष में महाराजा मेघरथ ने संयम-पथ चुना और उग्र तपश्चरण द्वारा तीर्थंकर गोत्र का बंध किया। आयु की समाप्ति पर वे सर्वार्थ सिद्ध विमान में देव बने। कालक्रम से वहां से च्यव कर हस्तिनापुर नरेश विश्वसेन की रानी अचिरादेवी की रत्नकुक्षी से सोलहवें तीर्थंकर के रूप में जन्मे। (देखिए-शांतिनाथ तीर्थंकर)

मेघवाहन

लंकाधिपति रावण का पुत्र। राम-रावण युद्ध में उसने अच्छा रणकौशल दिखाया। अंततः श्री राम के पक्ष के वीरों ने उसे बन्दी बना लिया जहां से उसे युद्धोपरान्त ही मुक्ति मिली। आखिर अप्रमेयबल नामक केवली मुनि से अपना पूर्वभव सुनकर उसे प्रतिबोध प्राप्त हुआ। दीक्षा धारण कर उसने आत्मकल्याण किया।

—जैन रामायण

मेघहस्ती

महावीरकालीन एक जमींदार जो चौर्यकर्म भी करता था। (देखिए-कालहस्ती)

मेघा (आर्या)

मेघा आर्या का जीवन परिचय काली आर्या के समान है। विशेष इतना है कि इनके पिता का नाम मेघ गाथापति और माता का नाम मेघश्री था। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., प्र.वर्ग, अध्ययन 5

मेतार्य (गणधर)

भगवान महावीर के दसवें गणधर। वे वत्स देश के तुंगिक नगर निवासी कौंडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण दत्त की पत्नी वरुणदेवा के आत्मज थे। उन्होंने वेद वेदांगों का तलस्पर्शी अध्ययन किया था। उनके गुरुकुल में तीन सौ ब्राह्मण छात्र वैदिक शास्त्रों का अध्ययन करते थे। मेतार्य अपने युग और क्षेत्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान ब्राह्मण थे। अपापावासी सोमिल ब्राह्मण ने उन्हें अपने महायज्ञ में याज्ञिक के रूप में आमंत्रित किया था।

इन्द्रभूति आदि नौ ब्राह्मण विद्वान जब भगवान महावीर को पराजित न कर पाए और स्वयं पराजित होकर भगवान के शिष्य बन गए तब मेतार्य भगवान से शास्त्रार्थ करने चले। भगवान ने उनके मन के संशय को भी प्रकाशित कर दिया। उनका संशय था, देवलोक है या नहीं। बड़े यतन से छिपाए हुए अपने संशय का प्रकाशन और उसका समुचित समाधान पाकर मेतार्य अभिभूत बन गए और अपने तीन सौ शिष्यों के साथ प्रभु के पास दीक्षित हो गए। वे दसवें गणधर कहलाए।

मेतार्य सैंतीस वर्ष की आयु में दीक्षित हुए। सैंतालीस वर्ष की अवस्था में उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और बासठ वर्ष की अवस्था में वे मोक्ष में चले गए। —आवश्यक चूर्णि

मेतार्य मुनि

मेतार्य मुनि का जीवन-आख्यान जैन कथा साहित्य के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित हुआ है। चरम-शरीरी होते हुए भी वे बड़ी श्रमपूर्ण प्रेरणाओं से संयम-पथ पर आए। एक बार संयम-पथ पर आए तो उसका पालन उन्होंने सिंहवृत्ति से किया और तितिक्षा की मिशाल कायम करते हुए सिद्धत्व को प्राप्त किया। मेतार्य मुनि चरम शरीरी होते हुए भी दुर्लभबोधि क्यों थे, इसके सूत्र खोजने के लिए उनके पूर्वभव पर एक दृष्टिपात करना अनिवार्य है। वह इस प्रकार है—

प्राचीन भारत में साकेतपुर नगर में चन्द्रावतंसक राजा राज्य करते थे। उनके दो रानियां थीं—सुदर्शना और प्रियदर्शना। कालक्रम से दोनों रानियों ने दो-दो पुत्रों को जन्म दिया। सुदर्शना के पुत्रों के नाम सागरचन्द्र और मुनिचन्द्र तथा प्रियदर्शना के पुत्रों के नाम गुणचन्द्र और बालचन्द्र रखे गए।

यौवनवय में सागरचन्द्र युवराज बना और मुनिचन्द्र उज्जयिनी का शासन संभालने लगा। शेष दो सौतेले भाई अभी अल्पायुष्क थे। एक दिन महाराज चन्द्रावतंसक पौषधशाला में इस संकल्प के साथ कायोत्सर्ग में लीन थे कि जब तक दीप जलता रहेगा वे कायोत्सर्ग में स्थिर रहेंगे। महाराज के संकल्प से अनभिज्ञ दासी इस आशय से पुनः-पुनः दीप में तेल डालती रही कि महाराज के कक्ष में प्रकाश बना रहे। पूरी रात कायोत्सर्ग में खड़े रहने से महाराज का शरीर अकड़ गया। समताभाव से देह त्याग कर वे देवलोकवासी बन गए। अकस्मात् पितृ वियोग से सागरचन्द्र विरक्त बन गए। पर विवशता वश उन्हें शासनसूत्र संभालना पड़ा।

उनके सुशासन से उनकी ख्याति चहुं ओर फैल गई। इससे दुखी बनकर विमाता ने उसके लिए विषमोदक भेजे। पर संयोग से वे विषमोदक उसी के पुत्रों गुणचन्द्र और बालचन्द्र ने खा लिए। विष फैलने लगा। सागरचन्द्र को पूरा रहस्य समझते देर न लगी। उसने मणिमंत्र से भाइयों को विषमुक्त बना दिया। इस घटना से उनका वैराग्य और सुदृढ़ बन गया। राजपाट त्याग कर वे मुनि बन गए।

किसी समय मुनि सागरचन्द्र भ्रमण करते हुए उज्जयिनी नगरी पधारे जहां उन्हीं का अनुज मुनिचन्द्र शासन करता था। मुनिचन्द्र तो धर्मनिष्ठ था परन्तु उसका पुत्र पुरोहित-पुत्र के साथ मिलकर बड़े उच्छृंखल स्वभाव का बन गया था। क्योंकि वह युवराज था इसलिए उसकी उच्छृंखलता निरंकुश ढंग से बढ़ती गई। वह पुरोहित पुत्र के साथ मिलकर मनमानी करता और विशेष रूप से ये दोनों श्रमण-निर्ग्रन्थों को परेशान करते। एक दिन मुनि सागरचन्द्र उन दोनों के दृष्टिपथ पर आ गए तो उन्होंने उन्हें भी बहुत परेशान किया। उन्हें शिक्षा देने के लिए मुनिश्री ने उनकी हड्डियां उतार दीं और स्वयं नगर से बाहर आकर प्रायश्चित्त लेकर कायोत्सर्ग में लीन हो गए।

राजा को पूरी बात ज्ञात हुई तो वह मुनि के पास पहुंचा। उसने मुनि से क्षमा मांगी और अपने पुत्र तथा पुरोहित-पुत्र को स्वस्थ करने की प्रार्थना की। मुनि ने उन दोनों को इस शर्त पर स्वस्थ किया कि वे दोनों मुनि दीक्षा ले लेंगे। आखिर वचनबद्धता के कारण दोनों ने दीक्षा ले ली। संयम पालकर दोनों वैमानिक देव बने। एक बार ये दोनों देव नंदीश्वर द्वीप में विराजित तीर्थंकर भगवान के दर्शनों के लिए गए। उन्होंने भगवान से पूछा कि वे सुलभबोधि होंगे या दुर्लभबोधि। भगवान ने युवराज से देव हुए देवता को दुर्लभ-बोधि और पुरोहित-पुत्र वाले देव को सुलभ-बोधि होने की बात कही। युवराज वाले देव ने मित्र देव से प्रार्थना की कि वह उचित समय पर उसे प्रतिबोधित करे। मित्र ने उसे प्रतिबोध देने का वचन दे दिया।

राजगृह नगर में एक सेठ रहता था। उसकी पत्नी मृतवत्सा थी। इससे सेठ और सेठानी बड़े दुखी रहते थे। उनके घर मेती नाम की एक चांडालिनी आती थी। एक बार सेठानी ने उसे अपनी व्यथा सुनाई तो चाण्डालिनी ने अपना पुत्र उसे देने का वचन दिया। संयोग से सेठानी और चांडालिनी एक ही समय गर्भवती हुईं। प्रसव पर मेती ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया और सेठानी ने एक कुरूप कन्या को। मेती के गर्भ से जन्मा पुत्र युवराज वाले देव का जीव ही था। मेती ने उसे सेठानी के पास पहुंचा दिया और उसकी पुत्री को अपने साथ ले गई। सेठ सेठानी फूले न समाए। पुत्र का नाम उन्होंने मेतार्य रखा और धूमधाम से उसका जन्मोत्सव मनाया।

मेतार्य जब युवा हुआ तो उसके मित्र देव ने वचनबद्धता के कारण उसे प्रतिबोधित किया, पर मेतार्य को प्रतिबोध नहीं लगा। उन्हीं दिनों सेठ ने मेतार्य का सम्बन्ध आठ श्रेष्ठि कन्याओं से सुनिश्चित कर दिया। देव ने मेतार्य को प्रतिबोध देने का एक अन्य उपक्रम किया। उसने मेती चाण्डालिनी में प्रवेश करके आठों श्रेष्ठियों के समक्ष मेतार्य के जन्म और कुल का रहस्य खोल दिया। चाण्डाल-पुत्र के साथ श्रेष्ठी अपनी पुत्रियों के विवाह कैसे करते? उन्होंने मेतार्य से सुनिश्चित किए गए अपनी पुत्रियों के सम्बन्ध तोड़ दिए। इतना ही नहीं, मेतार्य को चाण्डाल गृह में जाकर रहना पड़ा। इतना होने पर भी मेतार्य प्रतिबोधित न हुआ। मित्र देव ने उसे संसार का स्वरूप समझाया और दीक्षा के लिए प्रेरित किया। इस पर मेतार्य बोला, यदि मेरी खोई हुई प्रतिष्ठा मुझे वापिस मिल जाए और राजा श्रेणिक मुझे अपना जामाता बना ले तथा श्रेष्ठी पुनः मुझे अपना पुत्र मान ले तो मैं दीक्षा ले लूंगा।

मित्र देव ने मेतार्य को वैसा करने का वचन दे दिया और उसे एक ऐसा बकरा प्रदान किया जो सोने

की मींगणियां देता था। मेतार्य के पिता मेहर चाण्डाल ने उन स्वर्ण मींगणियों को समेटा और उन्हें लेकर महाराज श्रेणिक के पास पहुंचा। उन्हें महाराज को भेंट करते हुए उसने उनकी पुत्री का हाथ अपने पुत्र के लिए मांगा। इस पर अभयकुमार ने मेहर के समक्ष एक असंभव शर्त रखी कि यदि वह राजगृह के चारों ओर सोने का परकोटा बनवा दे, वैभारगिरि पर्वत पर पुल बांध दे तथा उसके नीचे गंगा, यमुना, सरस्वती और क्षीर सागर का जल प्रवाहित कर दे, उस जल में उसका पुत्र स्नान करके पवित्र हो तब उसे राजकन्या मिल सकती है अन्यथा नहीं।

निःसंदेह यह असंभव कार्य था परन्तु देवशक्ति के कारण यह संभव बन गया। फलतः मेतार्य का विवाह महाराज श्रेणिक की पुत्री के साथ हो गया, श्रेष्ठी ने उसे पुनः अपना पुत्र मान लिया तथा उसकी प्रतिष्ठा पहले से भी अधिक बढ़ गई। यह सब होने पर मित्र देव ने मेतार्य को दीक्षा लेने को कहा तो उसने बारह वर्ष सांसारिक सुख भोगने की इच्छा प्रगट की। बारह वर्ष बाद देव पुनः उपस्थित हुआ तो इस बार मेतार्य की पत्नी ने बारह वर्ष और मांग लिए। उसके पश्चात् मेतार्य ने भगवान महावीर के पास दीक्षा धारण कर ली।

मेतार्य मुनि ने स्थविर मुनियों से नौ पूर्वों तक का अध्ययन किया और जिनकल्पी बनकर एकलविहारी बन गए। उग्र तपश्चरण करते हुए विचरण करने लगे। एक बार विचरते हुए राजगृह नगरी में आए। भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए एक स्वर्णकार के द्वार पर पहुंचे। उस समय स्वर्णकार राजाज्ञा से स्वर्णयव बना रहा था। मुनि को अपने द्वार पर देखकर वह श्रद्धा से भर गया और स्वर्णयवों को वैसे ही छोड़कर भिक्षा लेने घर के भीतर चला गया। संयोग से उसी समय वहां एक क्रोंच पक्षी युगल आ गया। उन्होंने स्वर्णयवों को असली यव समझकर निगल लिया और उड़कर सामने ही एक वृक्ष पर बैठ गया। स्वर्णकार घर से बाहर आया तो उसकी दृष्टि स्वर्णयवों पर पड़ी। स्वर्णयवों को न पाकर वह संदेहशील बन गया। उसने उनके बारे में मुनि से पूछा। मुनि के समक्ष धर्म संकट उपस्थित हो गया। यदि वे सत्य कहते तो क्रोंचयुगल का जीवन संकट में पड़ जाता और असत्य कहते तो उनका सत्य महाव्रत खण्डित हो जाता। ऐसे में उन्होंने मौन रहना ही श्रेयस्कर माना और स्वर्णकार के प्रश्न का कोई उत्तर न दिया। मुनि के मौन से स्वर्णकार का संदेह विश्वास में बदल गया। स्वर्णकार विवेकान्ध बन गया। वह मुनि को अपने गृहांगन में ले गया। द्वार बन्द कर उसने मुनि के मस्तक पर आर्द्र चमड़ा कस कर बांध दिया। धूप में आर्द्र चमड़ा सूखने लगा और उससे मुनि का मस्तक भिंचने लगा। मुनि को असह्य पीड़ा हुई, पर वे उस पीड़ा का गरलपान पूर्ण समता भाव से करते रहे। मुनि का मस्तक पिचक गया। समता और क्षमा भाव की पराकाष्ठा पर विहरण करते हुए मुनि को केवलज्ञान हो गया और वे देह त्याग कर मोक्षगामी बन गए।

उधर एक लकड़हारा लकड़ियों का गट्ठर लेकर स्वर्णकार के घर आया। उसने जोर से गट्ठर जमीन पर पटक दिया। उसकी आवाज से क्रोंच युगल भयभीत बन गया और उसने विष्ठा कर दी। उससे स्वर्णयव जमीन पर आ गिरे। इसे देखकर स्वर्णकार को सत्य का ज्ञान हो गया। वह अपने कृत्य पर दुखित और भयभीत बन गया। दौड़कर मुनि के पास पहुंचा तो वहां मुनि का शव देखकर उसका हृदय महान ग्लानि से भर गया। उसी समय वह भगवान महावीर के पास पहुंचा। उसने निष्कपट हृदय से अपना पाप भगवान के समक्ष प्रगट कर दिया। प्रायश्चित्त से विशुद्ध बनकर वह दीक्षित हो गया और सद्गति का अधिकारी बना।

—आख्यानक मणिकोष 41/126

मेती

(देखिए-मेतार्य मुनि)

मेरक

नंदनपुर नरेश महाराज समरकेशरी का पुत्र और वर्तमान अवसर्पिणी का तृतीय प्रतिवासुदेव। (देखिए-स्वयंभू वासुदेव)

(क) मेरुतुंग (आचार्य)

वी.नि. की 19वीं सदी के एक विद्वान आचार्य। 'प्रबन्ध चिन्तामणि' नामक ऐतिहासिक ग्रन्थ के रचनाकार के रूप में उनकी विशेष ख्याति है। 'मेघदूत' काव्यकार मेरुतुंग इनसे भिन्न और उत्तरवर्ती आचार्य थे। प्रबन्ध चिन्तामणि नामक ग्रन्थ में श्री ऋषभदेव, श्री शान्तिनाथ, श्री नेमिनाथ, श्री पार्श्वनाथ तथा श्री महावीर स्वामी आदि तीर्थंकरों का संक्षिप्त शैली में जीवन परिचय है। इस ग्रन्थ की रचना आचार्य मेरुतुंग ने वी.नि. 1831 में सम्पन्न की। इस उल्लेखानुसार आचार्य मेरुतुंग वी.नि. की 19वीं सदी के आचार्य प्रमाणित होते हैं।

(ख) मेरुतुंग (आचार्य)

कई श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना करने वाले एक विद्वान जैन आचार्य। आचार्य मेरुतुंग वी.नि. की 19वीं-20वीं सदी के प्रभावक आचार्य थे। अंचलगच्छ के महेन्द्रप्रभ सूरि उनके गुरु थे।

आचार्य मेरुतुंग का जन्म मारवाड़ प्रान्त के नाणी ग्राम में वी.नि. 1873 में हुआ था। पोरवाल वंश के श्रेष्ठी वीरसिंह उनके पिता और नाल्हदेवी उनकी माता थी। गृह जीवन में उनका नाम वस्तिग था। मुनि-दीक्षा लेने के पश्चात् मुनि मेरुतुंग ने जैन और जैनेतर दर्शनों का गंभीर अध्ययन किया तथा कई भाषाओं के वे अधिकारी विद्वान बने। उन्होंने कई उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना भी की। षडदर्शन समुच्चय, रसाध्याय टीका, मेघदूत, सप्ततिका भाष्यवृत्ति, शतपदी सारोद्धार, कामदेव चरित आदि उनके विश्रुत ग्रन्थ हैं।

वी.नि. 1941 में उनका स्वर्गवास हुआ। —मुनि लाखागुरु पट्टावली

मैनासुंदरी

एक पतिपरायणा सन्नारी जो स्वकृत कर्म को प्रधान मानती थी। उसका दृढ़ विश्वास था कि व्यक्ति स्वयं अपने भाग्य का विधाता होता है। माता-पिता या अन्य कोई किसी के भाग्य की रचना नहीं कर सकता है। उसके इसी विश्वास के कारण उसके अहंकारी पिता ने उसका विवाह एक कोढ़ी के साथ कर दिया, पर उसने शीघ्र ही अपने पुरुषार्थ पूर्ण तप-जप बल से अपने पति को स्वस्थ बना दिया और अल्पसमय में ही उसका पति विशाल साम्राज्य का स्वामी बन गया और वह पटराणी बन गई। (देखिए-श्रीपाल)

मोतीचन्द्र

साकेत नगर के धनी श्रेष्ठी। आचार्य धर्मघोष का प्रवचन सुनकर मोतीचन्द्र के हृदय में दया और दान के भाव प्रबल बने। वह प्रतिदिन हृदय के कपाट खोलकर जरूरतमंदों की सहायता करता था। दान से उसकी लक्ष्मी पूर्वापेक्षया और अधिक वृद्धि को प्राप्त होती गई। पूरे राज्य में उसका सुयश फैला था।

एक रात्रि में लक्ष्मी मोतीचन्द्र के समक्ष उपस्थित हुई और बोली, श्रेष्ठिन् ! मेरा नाम चंचला है। एक स्थान पर मैं अधिक समय तक नहीं ठहरती हूं। तुम्हारे साथ मैं काफी लम्बे समय तक रही। अब मैं तुम्हारे पास से जाना चाहती हूं। आज से आठवें दिन मैं तुमसे अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लूंगी।

ऐसी सूचना देकर लक्ष्मी अदृश्य हो गई। सेठ उदास हो गया। कठिनता से उसने रात्रि व्यतीत की। प्रातःकाल उसने अपने चारों पुत्रों, चारों पुत्रवधुओं और अपनी पत्नी को अपने पास बुलाया और सबके समक्ष रात्रि की घटना कही। क्षणभर के लिए सभी सदस्य चौंक गए। सेठ ने कहा, ऐसी स्थिति में हमें क्या करना चाहिए यह सोचने का महत्वपूर्ण विषय है। शोक करना समुचित उपाय नहीं है। कोई ऐसा उपाय किया जाए कि विदा होती हुई लक्ष्मी को देखकर भी हम अपने धैर्य और साहस को बनाए रखें।

परिवार के सभी सदस्यों ने अपने-अपने सुझाव दिए। पर कोई भी सुझाव तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरा। आखिर परिवार की सबसे छोटी सदस्या—सेठ की छोटी पुत्रवधू ने एक सुझाव रखा। उसने कहा, पिताजी! यह तो सच है कि अब लक्ष्मी हमारे घर से विदा हो जाएगी, ऐसे में हमारी बुद्धिमत्ता इसी बात में है कि हमें स्वयं ही लक्ष्मी को अपने हाथों से विदा देनी चाहिए, अर्थात् आने वाले आठ दिनों में हमें अपनी सारी चल-अचल सम्पत्ति को दान-पुण्य में समर्पित कर देना चाहिए।

लक्ष्मी की विदायगी की यह विधि परिवार के प्रत्येक सदस्य को उचित प्रतीत हुई। सेठ ने उसी दिन से अपना व्यापार समेट लिया और दोनों हाथों से दान देना शुरू कर दिया। आठ दिन व्यतीत होते-होते सेठ और उसके परिवार के सदस्यों के शरीर पर धारण करने वाले वस्त्रों के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं था। नगर जन सेठ और उसके परिवार की इस आत्यन्तिक उदारता को देखकर चकित थे। सेठ की दानवीरता की कथा व्यक्ति-व्यक्ति के अधरों से उद्गीत बन रही थी।

श्रेष्ठी परिवार ने नगर के बाह्य भाग में सार्वजनिक स्थल पर घास-फूस की एक झोंपड़ी डाल ली और सभी सदस्य मेहनत मजदूरी करके उदरपोषण करने लगे। सेठ और उसका परिवार अभाव में भी सन्तुष्ट था।

सात दिन बीते! रात्रि में पुनः लक्ष्मी प्रगट हुई। उसने सेठ से कहा, सेठ जी! इन सात दिनों में मैं अनेक स्थानों पर भटकी, पर तुम्हारे घर मुझे जो सम्मान और सदुपयोग प्राप्त हुआ, वैसा कहीं नहीं मिला। मुझे आज्ञा दें, मैं फिर से आपकी सेवा में आना चाहती हूं। सेठ ने लक्ष्मी का स्वागत किया। देखते ही देखते सेठ मोतीचन्द्र पुनः लक्ष्मीपति बन गए।

मोरध्वज

वाराणसी नगरी का रहने वाला एक दृढ़धर्मी श्रावक। महामंत्र नवकार पर उसकी अगाध आस्था थी। धर्म में वह आगे था पर धन उसके पास अधिक नहीं था। उसका एक पुत्र था, जिसका नाम प्रधीकुमार था। निर्धनता के कारण प्रधीकुमार को अपने समृद्ध श्रेष्ठि-पुत्र मित्रों के समक्ष अक्सर हीन सिद्ध होना पड़ता। आत्महीनता के भाव उसके मन में प्रवेश कर गए। वह उदास रहने लगा। पिता ने पुत्र की उदासी को देखा और उसके मन की थाह को पाया। मोरध्वज ने पुत्र को महामंत्र नवकार स्मरण कराया और उसकी अनन्त महिमा उसको बताई। पर महामंत्र सीख लेने पर भी धनी मित्रों में वह समानता का अधिकार प्राप्त नहीं कर सका। पुत्र की उदासी से पिता भी उदास हो गया। उसने पुत्र को महामंत्र की महिमा का दर्शन कराने के लिए तेला किया। देव प्रगट हुआ। मोरध्वज ने देव से तीन दिन के लिए चिन्तामणि रत्न की याचना की। तदनन्तर उसने पुत्र को अपने पास बुलाया और उसे बताया कि महामन्त्र के चमत्कार से ही उसे यह रत्न प्राप्त हुआ है जो संसार की बड़ी से बड़ी समृद्धि दे सकता है।

प्रधीकुमार चिन्तामणि रत्न को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसके प्रभाव से उसे बहत्तर कोठे मोतियों

के प्राप्त हुए। मोरध्वज नहीं चाहता था कि चिन्तामणि का उपयोग हो, पर प्रधीकुमार के बाल-स्वभाव के कारण स्वतः ही ऐसी परिस्थितियां निर्मित हो गईं कि उसे वह सम्पदा ग्रहण करनी पड़ी।

प्रधीकुमार की समृद्धि और मोरध्वज की महामंत्र के प्रति निष्ठा देखकर सभी नागरिक गद्‌गद बन गए। कालान्तर में पिता-पुत्र दोनों ही दीक्षित हो गए। दोनों ने मोक्ष प्राप्त किया।

मोहनादेवी

विहरमान तीर्थंकर प्रभु बाहुस्वामी ने राजकुमारी मोहनादेवी से कुमारावस्था में विवाह किया था। (देखिए-बाहुस्वामी)

मोहिनी

एक राजकुमारी जिसका पाणिग्रहण नेमिप्रभ राजकुमार (सोलहवें विहरमान तीर्थंकर) से हुआ था। (देखिए-नेमिप्रभ स्वामी)

मौर्य ब्राह्मण

मौर्य ग्रामवासी काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण और भगवान महावीर के सप्तम गणधर मौर्यपुत्र के जनक। (देखिए-मौर्यपुत्र गणधर)

मौर्यपुत्र (गणधर)

भगवान महावीर के सातवें गणधर। वे मौर्य गांव के निवासी काश्यप गोत्रीय मौर्य ब्राह्मण तथा उसकी पत्नी विजयदेवी के पुत्र थे। वे चार वेद, छह शास्त्र, अठारह पुराण आदि के ज्ञाता और अधिकारी विद्वान थे। उन द्वारा स्थापित गुरुकुल में साढ़े तीन सौ ब्राह्मण छात्र विद्याध्ययन करते थे।

इन्द्रभूति के समान ही मौर्यपुत्र भी अपापावासी सोमिल ब्राह्मण द्वारा आयोजित यज्ञ में सम्मानित याज्ञिक अतिथि के रूप में आमंत्रित हुए थे। इन्द्रभूति आदि छह ब्राह्मण विद्वानों द्वारा वैदिक परम्परा का त्याग करके श्रमणधर्म में दीक्षित हो जाना उन्हें बहुत अखरा। वे महावीर को शास्त्रार्थ में पराजित करने और ब्राह्मण-धर्म की ध्वजा को फहराने के उद्देश्य से भगवान के समक्ष पहुंचे। पर महावीर के सामने पहुंचते ही उनका सारा ज्ञान संचित ज्ञान सिद्ध हुआ। महावीर के आत्मज्ञान के समक्ष उनका अहंकार और भ्रम बर्फ की तरह पिघल गया। उनके हृदय में स्थित देवों की विद्यमानता या अविद्यमानता का संदेह महावीर ने न केवल प्रकाशित किया अपितु उसे समाधीत भी कर दिया। इससे मौर्यपुत्र प्रतिबुद्ध बन गए और अपने शिष्यों सहित महावीर के पास दीक्षित हो गए। वे सातवें गणधर नियुक्त हुए। उन्होंने पैंसठ वर्ष की अवस्था में दीक्षा धारण की। अस्सीवें वर्ष में केवलज्ञान प्राप्त कर, पिचानवें वर्ष का संपूर्ण आयुष्य जीकर वे सिद्ध हुए।

—आवश्यक चूर्णि

●●●

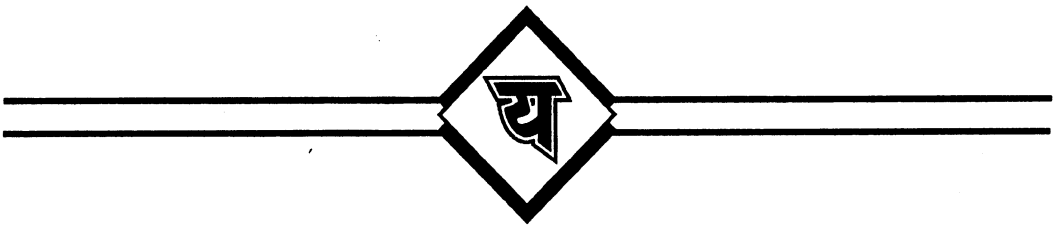

यक्षदत्त

(देखिए-अगड़दत्त)

यक्षदिन्न

गजपुर निवासी श्रमणोपासक जिनभद्र का इकलौता पुत्र जो दुःसंगति में पड़कर अपने कुल के विपरीत आचरण और स्वभाव वाला हो गया था। उसके जीवन में सातों ही कुव्यसन प्रवेश पा गए थे। जिनभद्र जब कालधर्म को प्राप्त होने लगा तो उसने अपने पुत्र को अपने पास बुलाया और कहा, तुमने कभी भी मेरी आज्ञाओं का पालन नहीं किया, आज अंतिम आज्ञा के रूप में मैं तुम्हें एक मंत्र दे रहा हूं, इस मंत्र को प्रतिदिन पढ़ना।

पुत्र को नवकार मंत्र प्रदान कर जिनभद्र परलोकवासी बन गया। पिता की मृत्यु के पश्चात् यक्षदिन्न ने घर का समस्त धन दुर्व्यसनों को अर्पित कर दिया और विपन्नावस्था में आवारा भटकने लगा। एक कापालिक की दृष्टि उस पर पड़ी। वह यक्षदिन्न को धन का प्रलोभन देकर अपने साथ ले गया। उसे विद्यासिद्ध करनी थी। रात्रि में वह यक्षदिन्न के साथ श्मशान में पहुंचा। यक्षदिन्न को उसने एक शव की छाती पर बैठा दिया और निर्देश दिया कि वह शव को पकड़े रखे। कहकर कापालिक मंत्र पढ़ने लगा। शव में स्पंदन होने लगा तो यक्षदिन्न डर गया। वह पिता-प्रदत्त नवकार मंत्र को पढ़ने लगा। उससे उसका भय कम हो गया और साथ ही कापालिक के मंत्रों का प्रभाव भी कम होने लगा। कापालिक ने उच्च स्वर से मंत्र पढ़ने शुरू किए। सहसा यक्षदिन्न की पकड़ से छूटकर वह शव आकाश में उछला और कापालिक के सिर पर आ गिरा। इससे कापालिक और वह शव दोनों ही स्वर्णपुरुष बन गए। पलक झपकते ही यक्षदिन्न का दारिद्र्य धुल गया। उसने इसे नवकार मंत्र का ही प्रभाव माना। समस्त दुर्व्यसनों से दूर हटकर उसने नवकार मंत्र के जाप में स्वयं को अर्पित कर दिया। धर्ममय जीवन जीकर उसने सद्गति प्राप्त की।

—धर्मोपदेशमाला, विवरण कथा - 96

यक्षश्री

चम्पानगरी के रहने वाले ब्राह्मण सोमभूति की भार्या। (देखिए- नागश्री)

यक्षा

महामंत्री शकडाल की सात पुत्रियों में ज्येष्ठ। उसकी स्मरण शक्ति इतनी पैनी थी कि वह जिस भी श्लोक अथवा गाथा को एक बार सुन लेती थी उसे वह शब्दशः स्मरण हो जाता था। यक्षा साध्वी बनी और विशुद्ध चारित्र की आराधना कर स्वर्गस्थ हुई।

यक्षिणी

अरिहंत अरिष्टनेमि के धर्मसंघ की आर्यिका-प्रमुख। —कल्पसूत्र

यवराजर्षि

एक प्राचीनकालीन मुनि जो अपने जीवन के पूर्व भाग में यवपुर नगर के राजा थे। गर्दभिल्ल नाम का उनका एक पुत्र और अणुल्लिया नाम की एक पुत्री थी। उनके मंत्री का नाम दीर्घपृष्ठ था। गर्दभिल्ल तब बालक ही था जब यव दीक्षित हुए। दीर्घपृष्ठ पर राज्य संचालन का दायित्व था। दीर्घपृष्ठ के मन में कालान्तर में मैल आ गया। उसने राजकुमारी से विवाह कर राज्य हथियाने का षड्यन्त्र रचा। यवराजर्षि यवपुर नगर में पधारे तो मंत्री ने पुत्र के हाथों पिता के वध का भी प्रबन्ध पक्का कर दिया। यवराजर्षि को तीन गाथाएं स्मरण थीं, रात्रि में वे उन्हें दोहरा रहे थे। उन गाथाओं से अर्थ ग्रहण कर गर्दभिल्ल न केवल पितृहत्या के दोष से बच गया बल्कि दीर्घपृष्ठ के षड्यंत्र का भंडाफोड़ भी उसने कर दिया। इस घटना से पहले यवराजर्षि ज्ञान की महत्वता को कम आंकते थे। उन गाथाओं के पाठ से उनका ज्ञान और स्वाध्याय का पक्ष अत्यन्त सुदृढ़ बन गया। निरतिचार संयम पालकर मुनि सद्गति के अधिकारी बने।

यशा

भृगु पुरोहित की पत्नी। (देखिए-इक्षुकार राजा)

(क) यशोदा

महाराजा समरवीर की पुत्री और वर्धमान महावीर की अर्द्धांगिनी। यशोदा पतिव्रता, विनम्र और आदर्श सन्नारी थी। उसने वर्धमान के तप-त्याग और वैराग्य प्रधान स्वभाव-पथ पर अपनी इच्छाओं को कभी बाधा के रूप में उपस्थित नहीं होने दिया था। एक मान्यता के आधार पर वर्धमान की प्रव्रज्या से पूर्व ही यशोदा का स्वर्गवास हो गया था। कुछेक इतिहासवेत्ताओं का मानना है कि प्रभु की प्रव्रज्या के समय यशोदा जीवित थी। सत्य केवलिगम्य है। यशोदा ने एक पुत्री को जन्म दिया था जिसका नाम प्रियदर्शना था।

(ख) यशोदा

गोकुलवासी नन्द की पत्नी और श्रीकृष्ण की पालक माता। वैदिक परम्परा में श्रीकृष्ण को यशोदानन्दन भी कहा जाता है।

(क) यशोधर

कुण्डपुर का एक व्यापारी। (देखिए-केशव)

(ख) यशोधर

उज्जयिनी नगरी का एक नीतिनिपुण और पुत्रवत् प्रजा-पालन करने वाला राजा। राजमाता का नाम चन्द्रमती था। नयनावली यशोधर की पट्टमहिषी थी। राजा का एक पुत्र था गुणधर। यशोधर करुणावान था और अहिंसा भगवती का आराधक था। एक बार उसे एक दुःस्वप्न दिखाई दिया। उसने अपनी माता को अपना स्वप्न सुनाया। राजमाता के अपने विश्वास थे और उनके अनुरूप उसने निश्चय किया कि देवी को पशुबलि देकर संभावित अनिष्ट की आशंका को दूर किया जाएगा। यह प्रस्ताव यशोधर के समक्ष आया तो उसने पशुबलि का विरोध किया। माता और पुत्र के मध्य लम्बा वाद-विवाद चला, पर यशोधर ने पशुबलि के स्थान पर आत्मबलिदान का प्रस्ताव प्रस्तुत करके माता के हठाग्रह को तोड़ दिया। आखिर माता ने यशोधर को आटे से बने मुर्गे की बलि देने के लिए मना लिया। यशोधर ने दुखी चित्त से आटे के मुर्गे की बलि दी। यशोधर विरक्त हो चुके थे। उन्होंने पुत्र को राजगद्दी पर बैठाकर दीक्षित होने का निश्चय किया।

परन्तु राजा द्वारा दीक्षा के लिए सुनिश्चित किए गए दिन से एक दिन पूर्व ही उसकी पत्नी नयनावली ने विष देकर उसकी हत्या कर दी। चन्द्रमती पुत्र विरह को सह न सकी और हृदयाघात से उसकी भी मृत्यु हो गई।

यशोधर और चन्द्रमती ने आटे के मुर्गे की बलि दी थी, उस पाप के फल के रूप में वे दोनों तिर्यंच योनि में पैदा हुए। दोनों ने निरन्तर छह भव पशु योनि के किए और प्रत्येक बार अपने ही पुत्र गुणधर के हाथों से मारे गए। आठवें भव में वे दोनों पुनः मनुष्य भव को प्राप्त हुए। कर्मों की विचित्रता प्रकट हुई और वे दोनों गुणधर की रानी जयावली के गर्भ से पुत्र और पुत्री के रूप में जन्मे। पूर्व जन्म के पुत्र और माता वर्तमान भव में भाई और बहन बने। गुणधर यशोधर का पुत्र और चन्द्रमती का पौत्र था, पर वर्तमान भव में वह यशोधर और चन्द्रमती का पिता था। कर्म की यही विचित्रता है जिसे संसारी प्राणी जान नही पाते हैं। गुणधर ने पुत्र का नाम अभयरुचि और पुत्री का नाम अभयमती रखा। कालक्रम से ये दोनों बड़े हुए और शिक्षादि में प्रवीण बन गए। अभयरुचि को गुणधर ने युवराज पद पर अभिषिक्त किया।

एक बार गुणधर शिकार के लिए वन में गया। वहां एक वृक्ष के नीचे सुदत्त मुनि ध्यानमग्न थे। मुनि दर्शन को गुणधर ने अपने लिए अपशकुन माना और अपने शिकारी कुत्ते मुनि पर छोड़ दिए। पर कुत्ते मुनि के निकट पहुंचते ही क्रोध और हिंसा के भाव से शून्य हो गए। इससे राजा गुणधर का दर्प गल गया। उसके हृदय में भय का संचार हो गया। मुनि के चरणों पर अवनत बनकर उसने क्षमा मांगी। मुनि ने उसे उपदेश दिया जिसे सुनकर राजा विरक्त हो गया। उसने वहीं पर दीक्षित होने का निश्चय कर लिया और सेवकों से संदेश भेजकर अपने परिवार को वन में ही बुला लिया। राजकुमार अभयरुचि और राजकुमारी अभयमती भी मुनि के निकट आए। मुनि दर्शन से ही दोनों को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। अपने पूर्वभवों को देखकर दोनों अचेत हो गए। शीतलोपचार से दोनों स्वस्थ हुए तो गुणधर ने मुनि से पुत्र-पुत्री के अचेत हो जाने का कारण पूछा। मुनि ने उनके विगत सात भवों की कथा कह सुनाई।

कर्मों की विचित्रता सुन सभी हैरान हो गए। आखिर गुणधर, अभयरुचि और अभयमती—तीनों ने दीक्षा धारण कर ली और तप व संयम का निरतिचार रूप से पालन करते हुए विचरण करने लगे।

राजपुर नरेश मारिदत्त एक बलिप्रिय राजा था। किसी समय उसने एक लाख प्राणी युगल की बलि के लिए इतने ही प्राणियों को पिंजरों में बन्द किया था। अभयरुचि मुनि के उपदेश से राजा मारिदत्त हिंसा के गर्त से निकल कर अहिंसक बना और सभी प्राणियों को उसने मुक्त कर दिया। अभयरुचि मुनि (यशोधर) और अभयमती साध्वी (चन्द्रमती) विशुद्ध चारित्र का पालन कर निर्वाण को उपलब्ध हुए।

—यशोधर चरित्र—(आ. माणिक्यसिंहसूरिकृत)

(ग) यशोधर (राजा)

वेल्लूर नगर का राजा। उसके तीन पुत्र थे—अनन्तवीर्य, श्रीधर और प्रियचन्द्र। एक बार राजा अपने तीनों युवा पुत्रों के साथ अपने महल की छत पर टहल रहा था। उसकी दृष्टि आकाश पर स्थिर हो गई। कुछ समय पूर्व ही वर्षा हुई थी। वर्षा जल से रिक्त हुए श्वेत और शुभ्र मेघ आकाश पर विचरण कर रहे थे। मेघों की शुभ्रता देखकर राजा का चिन्तन आत्मोन्मुखी बन गया। वह सोचने लगा, जब मेघ पानी से भरे होते हैं तो उनका रंग काला हो जाता है और जब पानी बरस जाता है तो उनका रंग शुभ्र और धवल हो जाता है। यही अवस्था आत्मा की है। परिग्रह के कारण आत्मा काली और भारी हो जाती है, और परिग्रह से मुक्त होने पर आत्मा शुभ्र और निर्भार हो जाती है। परिग्रह ही आत्मा की कलुषता का मूल कारण है।

इस चिन्तन से राजा यशोधर का हृदय परिग्रह से मुक्त होने के लिए उतावला बन गया। उसने अपने तीनों पुत्रों से अपना निर्णय सुना दिया कि वह शीघ्रातिशीघ्र प्रव्रजित होना चाहता है। अनन्तवीर्य और श्रीधर भी पिता के साथ ही प्रव्रजित होने के लिए तत्पर हो गए। राजा को लगा कि अनन्तवीर्य का संकल्प तो सुदृढ़ है पर श्रीधर का संकल्प भावावेग का परिणाम है। राजा ने श्रीधर को समझाया कि वह गृहस्थ धर्म का पालन करे और राजपद स्वीकार करे। पर श्रीधर उसके लिए तैयार नहीं हुआ। आखिर प्रियचन्द्र का राजतिलक करके राजा यशोधर अपने पुत्रों—अनन्तवीर्य और श्रीधर के साथ प्रव्रजित हो गए। निरतिचार संयम की आराधना से मुनि यशोधर केवलज्ञान अर्जित कर मोक्ष पधारे। अनन्तवीर्य कठोर तप और संयम की आराधना से सर्वार्थसिद्ध विमान में देव बने। मुनि श्रीधर विभिन्न प्रकार की तपश्चर्याएं करते हुए श्री पर्वत पर साधनाशील थे।

प्रियचन्द्र ने न्याय और नीति से शासन किया। पर निःसंतान अवस्था में ही सर्प द्वारा डस लिए जाने से उसकी मृत्यु हो गई। सिंहासन सूना हो गया। महामंत्री श्रीपर्वत पर साधनारत मुनि श्रीधर के पास पहुंचा और उसने मुनि को वस्तुस्थिति से अवगत कराया तथा साथ ही प्रार्थना भी की कि वे पधारें और सिंहासन की शोभा बढ़ाएं। श्रीधर मुनि का चित्त साधना में सुस्थिर नहीं बन पाया था। मंत्री का आमंत्रण उसके लिए संसार में पुनर्प्रवेश का सरल उपाय बन गया। उसने प्रव्रज्या का परित्याग कर दिया और शासन सूत्र संभाल लिया। जिस समय श्रीधर के मस्तक पर राजमुकुट रखा गया उस समय उसका सिर मुण्डित था। इसलिए वह वंश मुण्डित वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। श्रीधर भोगोपभोगों में इस कद्र गृद्ध बना कि उसका अध्यात्मपक्ष शून्य हो गया। संयम से च्युत होने के कारण वह अनन्त संसार में भटक गया।

मुंडित वंश में अनेक प्रभावशाली राजा हुए। —आचार्य हरिषेण, बृहत्कथा कोष, भाग 1

(क) यशोभद्र (आचार्य)

तीर्थंकर महावीर की अर्हत् परम्परा के पंचम पट्टधर आचार्य और श्रुतकेवली परम्परा के तृतीय श्रुतकेवली। वे जन्मना ब्राह्मण थे और वेद-वेदांगों व दर्शन शास्त्र के समर्थ विद्वान थे। नन्दी सूत्र के अनुसार यशोभद्र तुंगीकायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। वी.नि. 36 में उनका जन्म हुआ था और 22 वर्ष की अवस्था में शय्यंभवाचार्य के पास वे दीक्षित हुए। चौदह वर्षों तक शय्यंभवाचार्य के सान्निध्य में रहकर उन्होंने चौदह पूर्वों की विशाल ज्ञान राशि को हृदयंगम किया। शय्यंभवाचार्य के देवलोक के पश्चात् वी.नि. 98 में वे युग-प्रधान आचार्य पद पर विराजमान हुए और पांच दशक तक इस विशाल दायित्व का कुशलता पूर्वक निर्वाह करते हुए उन्होंने मगध, अंग और विदेह जनपदों में जैन धर्म का प्रभूत प्रचार-प्रसार कर जिनशासन की महती प्रभावना की। वी.नि. 148 में 86 वर्ष की अवस्था में उनका देवलोक हुआ।

आचार्य यशोभद्र के अनेक शिष्यों में संभूतविजय और भद्रबाहु—ये दो परम मेधावी और श्रुतधर शिष्य थे। यशोभद्र के स्वर्ग गमन के पश्चात् इन्हीं दो महामुनियों ने जिनशासन के नेतृत्व का दायित्व संवहन किया था। —नन्दी सूत्र / परिशिष्ट पर्व, सर्ग-6

(ख) यशोभद्र (मुनि)

आचार्य संभूतविजय के एक शिष्य । —कल्पसूत्र स्थविरावली

(क) यशोमती

सगर चक्रवर्ती की जननी। (देखिए-सगर चक्रवर्ती)

(ख) यशोमती

(देखिए- अगड़दत्त)

यशोवर्मा

कल्याणकटकपुर नगर का धर्मात्मा और महान न्यायप्रिय राजा। न्याय को वह अपना सर्वोपरि धर्म मानता था। उसने अपने महल के द्वार पर एक न्याय-घण्टा लटकाया था जिसे कोई भी वादी किसी भी समय बजा सकता था। रात्रि-निद्रा से जगकर भी राजा वादी का पक्ष सुनता और न्याय करता। दिग्-दिगन्त में उसके न्याय की चर्चाएं और प्रशंसाएं होती थीं।

अतिदुर्दम राजा का इकलौता और रूप-गुण सम्पन्न पुत्र था। एक बार वह अश्व की पीठ पर चढ़कर वन-विहार को गया। अश्व तेजी से दौड़ रहा था। सामने एक गाय अपने नवजात बछड़े के पास खड़ी उसे चाट रही थी। अश्व बछड़े पर जा चढ़ा। अश्व के खुर बछड़े के उदर के पार हो गए। तड़प कर बछड़ा मर गया। अपने शिशु की मृत्यु पर गाय रंभाने लगी और करुण विलाप करने लगी। राजकुमार का हृदय ग्लानि और करुणा से भर गया। लोग एकत्रित हो गए। किसी ने कहा, गाय ठहरी एक निरीह पशु। मानव होती तो राजा का न्याय का घण्टा बजा देती और न्याय पाती। तभी लोगों ने आश्चर्य से देखा कि गाय राजभवन की ओर बढ़ चली। राजभवन के द्वार पर पहुंचकर उसने न्याय का घण्टा बजा दिया। राजा भोजन करने बैठा ही था। न्याय के घण्टे की ध्वनि सुनकर राजा नीचे आया। गाय को घण्टा बजाते देखकर और पीछे खड़े भारी जनसमूह को देखकर राजा चकित बन गया। उसने कहा, गो माता! मैं कैसे जानूं कि तुम्हारे साथ क्या अन्याय हुआ है? राजा की बात सुनकर गाय संकेत देकर चल पड़ी। राजा गाय के पीछे-पीछे चला। अपने शिशु के शव के पास पहुंचकर गाय रुक गई। राजा समझ गया कि गाय के शिशु की किसी ने हत्या कर दी है। राजा ने उपस्थित लोगों से गाय के अपराधी का पता पूछा। पर प्रजाजन राजकुमार पर प्राण लुटाकर प्रेम करते थे। किसी ने कोई उत्तर नहीं दिया। राजा ने घोषणा की, जब तक गाय के अपराधी को खोजकर उसे दण्डित नहीं करूंगा तब तक अन्न-जल ग्रहण नहीं करूंगा।

राजा की प्रतिज्ञा को सुनकर लोग सहम गए। राजा अपने महल में पहुंचा। रानी ने भोजन उपस्थित किया, पर राजा ने अपनी प्रतिज्ञा की बात बताकर भोजन अस्वीकार कर दिया। राजा चिन्तनशील बन गया कि गाय के अपराधी को कैसे खोजा जाए। उसी समय राजकुमार राजा के समक्ष उपस्थित हुआ और बोला, राजन्! गाय का अपराधी मैं हूं। मैं दण्ड भोगने को प्रस्तुत हूं। राजा ने साश्चर्य पूछा कि वह उसे आज नए सम्बोधन से क्यों पुकार रहा है। इस पर राजकुमार ने कहा, महाराज! इस समय मैं आपका पुत्र नहीं और आप मेरे पिता नहीं। मैं एक अपराधी हूं जिसकी आपको खोज है और आप एक न्यायवादी हैं। न्याय के अवसर पर सम्बन्धों का शून्य हो जाना ही न्याय का धर्म है। राजा ने पुत्र को कण्ठ से लगा लिया।

दूसरे दिन राजा के कठिन न्याय को सुनने के लिए भारी भीड़ जमा हो गई। राजा ने न्याय दिया— राजकुमार ने जिस प्रकार अविवेक से अश्व दौड़ाते हुए गौशिशु की हत्या की, वैसे ही एक अश्वारोही घोड़े को दौड़ाकर राजकुमार पर चढ़ाएगा। राजा के न्याय को सुनकर लोगों ने दांतों तले जीभ दबा ली। पर कोई भी अश्वारोही राजकुमार पर अश्व चढ़ाने को तैयार न हुआ। आखिर स्वयं राजा ने अश्वारोही का दायित्व निभाने का निश्चय किया। ठीक उसी स्थान पर राजकुमार को लिटा दिया गया जिस स्थान पर गौशिशु लेटा हुआ था। राजा ने तीव्र वेग से घोड़ा दौड़ाया। पर राजकुमार से कदम भर की दूरी पर अश्व एकाएक चमत्कारपूर्ण

ढंग से ठिठक गया। आकाश से राजा यशोवर्मा पर पुष्पों की वर्षा होने लगी। कुलदेवी ने प्रकट होकर राजा से कहा, वत्स! तुम्हारी जय हो। तुम्हारी परीक्षा लेने के लिए ही मैंने गाय का रूप धारण कर यह पूरा उपक्रम किया था। तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

प्रजा ने श्रद्धाभिभूत बनकर अपने राजा की न्यायप्रियता की जय-जयकार की। उसके बाद राजा ने अपने पुत्र अतिदुर्दम को राजपद प्रदान कर आर्हती दीक्षा धारण की और विशुद्ध चारित्र की आराधना करके परम पद प्राप्त किया।

अतिदुर्दम ने भी अपने पिता के पगचिन्हों पर चलकर न्याय और नीतिपूर्वक शासन किया। जीवन के उत्तर-पक्ष में उसने भी संयम की आराधना द्वारा आत्मकल्याण किया और सद्गति का अधिकार पाया।

—उपदेश सप्ततिका

युगबाहु

सुदर्शन नगर का युवराज, और नगर के राजा मणिरथ का अनुज। युगबाहु सरल और शूरवीर युवक था। अनिंद्य सुंदरी मदनरेखा उसकी अर्द्धांगिनी थी। एक बार मणिरथ मदनरेखा के लावण्य पर मुग्ध बन गया और उसने कपट से युगबाहु को राज्यसीमा पर युद्ध के लिए भेज दिया। पर मणिरथ मदनरेखा को अपने जाल में फंसा पाने में असफल रहा। भाई के समक्ष उसका पाप प्रकट न हो जाए इसलिए युगबाहु के लौटने पर उसने कपट से उसकी हत्या कर दी। अन्तिम समय में मदनरेखा ने अपने पति युगबाहु को क्रोध और वैर से मुक्त रहने का शिक्षा-मंत्र दिया जिसके परिणामस्वरूप मृत्यु को प्राप्त कर युगबाहु ऋद्धिसम्पन्न देवता बना। (देखिए-मदनरेखा)

युगमन्धर स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

द्वितीय विहरमान तीर्थंकर जो वर्तमान में पश्चिम महाविदेह की वपु विजय में विराजमान हैं। विजया नगरी के महाराज सुदृढ़ की रानी सुतारा के गर्भ से प्रभु का जन्म हुआ। तिरासी लाख पूर्व तक गृहस्थ और राजपद भोगकर प्रभु संयमी बने और कैवल्य साधकर तीर्थंकर पद पर आरूढ़ हुए। भव्य जीवों के लिए कल्याण का द्वार बने प्रभु वर्तमान में वपु विजय में विहरणशील हैं।

युधिष्ठिर

हस्तिनापुर नरेश महाराज पाण्डु के ज्येष्ठ पुत्र एवं महारानी कुन्ती के आत्मज। अपनी सत्यवादिता के कारण युधिष्ठिर धर्मराज कहलाए। उनका जीवन इतना पवित्र था कि उनके शत्रु भी परोक्ष रूप से उनके सद्गुण गाते थे। जहां ये सब गुण उनके जीवन में थे वहां एक दुर्गुण भी था, वह दुर्गुण था द्यूत। वस्तुतः उस युग में द्यूत को भी युद्ध के समान ही माना जाता था। क्षत्रिय के लिए जैसे युद्ध का आमंत्रण अस्वीकार करना अपमानजनक माना जाता था वैसे ही द्यूत का आमंत्रण अस्वीकार करना भी अपमानजनक माना जाता था। कौरवों और पाण्डवों में पारस्परिक ईर्ष्या के बीज उनके अध्ययन काल से ही वपित हो गए थे। बाद में धृतराष्ट्र को जब नैतिक दबावों के समक्ष झुककर युधिष्ठिर को युवराज घोषित करना पड़ा तो दुर्योधन की ईर्ष्या आसमान छूने लगी। उसने लाक्षागृह का षड्यन्त्र रचकर पाण्डवों की हत्या करनी चाही पर बुद्धिमान पाण्डव उससे बच निकले। परन्तु प्रकट रूप से यही प्रचारित हुआ कि पाण्डव लाक्षागृह में जलकर मर गए हैं। परिणामतः दुर्योधन को हस्तिनापुर का युवराज बना दिया गया। पाण्डव जब हस्तिनापुर लौटे तो एक ही राज्य के दो-दो युवराज हो जाने से विकट स्थिति बन गई। तब राज्य के दो भाग करके इस समस्या का

समाधान किया गया। युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थ के राजा बने और शीघ्र ही अपने सुशासन से वे विश्व में विख्यात बन गए। युधिष्ठिर की ख्याति भला दुर्योधन को कैसे स्वीकृत हो सकती थी। उसने अपने मामा शकुनि से मिलकर द्यूत का षडयन्त्र रचा और युधिष्ठिर को द्यूत का आमंत्रण भेजा। युधिष्ठिर ने वह आमंत्रण स्वीकार कर लिया। शकुनि के कुटिल पासों के बल पर दुर्योधन ने युधिष्ठिर को परास्त कर दिया। युधिष्ठिर राजपाट तो हारे ही, स्वयं सहित अपने भाइयों और द्रौपदी को भी हार बैठे। ईर्ष्यालु दुर्योधन ने द्रौपदी को सभा में अपने भाई दुशासन द्वारा अपमानित कराया। इस प्रकार चचेरे भाइयों में ईर्ष्या के बीज एक महावृक्ष के रूप में बदल गए।

पाण्डवों को तेरह वर्षों का वनवास मिला। सम्राट् होकर भी युधिष्ठिर को विराट के पास किंकर हो जाना पड़ा, तिरस्कार, अपमान और कष्टों के असंख्य घूंट पीने पड़े। अनेक ऐसे क्षण आए जब युधिष्ठिर असत्य का सेवन कर संभावित दुःसह कठिनाइयों से बच सकते थे, पर उन्हें सुख प्रिय न थे, सत्य प्रिय था। इसलिए वे सदैव सत्य के ही पथ पर बढ़ते रहे।

कहते हैं, महाभारत के युद्ध में एक क्षण ऐसा आया जब युधिष्ठिर ने सांकेतिक असत्य का सहारा लिया। गुरु द्रोण पाण्डव सेना को तहस-नहस कर रहे थे। उन्हें रोका जाना अनिवार्य था, वरन पाण्डवों की पराजय सुनिश्चित हो चली थी। ऐसे में कूटनीति का आश्रय लेते हुए यह प्रचारित कर दिया गया कि अश्वत्थामा मारा गया है। पर इस प्रचार पर द्रोण को विश्वास न हुआ। युधिष्ठिर की सत्यवादिता पर द्रोण को विश्वास था। ऐसे में द्रोण ने युधिष्ठिर से सत्य जानना चाहा। सुनियोजित योजनानुसार अश्वत्थामा नामक हाथी का वध किया गया था। द्रोण के पूछने पर युधिष्ठिर ने कहा, हां, अश्वत्थामा मारा गया है पर तुम्हारा पुत्र अश्वत्थामा नहीं, अश्वत्थामा हाथी मारा गया है। युधिष्ठिर के प्रथम वाक्य के बोलते ही श्रीकृष्ण ने शंखध्वनि करके शेष वाक्य द्रोण के कानों तक नहीं पहुंचने दिया। इससे द्रोण शस्त्र त्यागकर शिथिल हो गए और अर्जुन ने उन पर आक्रमण कर उन्हें परास्त कर दिया।

अंततः युधिष्ठिर विजयी हुए। उनका राजतिलक हुआ। सुदीर्घ काल तक उन्होंने शासन किया। अंत में संयम का वरण कर वे सुगति को प्राप्त हुए।

●●●

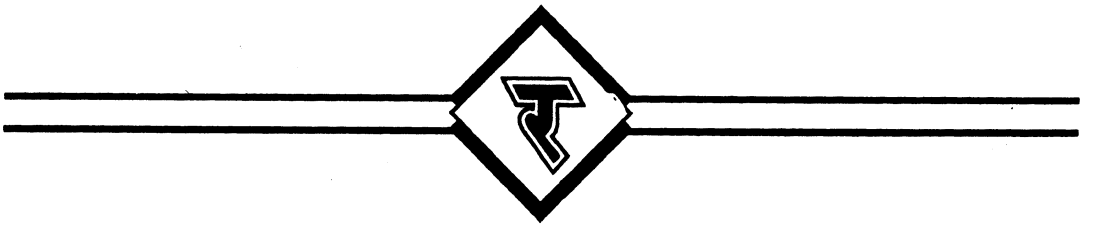

रंभा (आर्या)

रंभा आर्या का सम्पूर्ण जीवन परिचय शुंभा आर्या के समान है। विशेष इतना है कि इनके पिता का नाम रंभ गाथापति और माता का नाम रंभश्री था। (देखिए-शुंभा आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., द्वि.वर्ग, अध्ययन 3

रइधू (कवि)

वि. की पन्द्रहवीं-सोलहवीं सदी के अपभ्रंश भाषा के जैन कवि।

आपका पारिवारिक परिचय निम्नोक्त रूप में प्राप्त होता है—

आपके दादा का नाम संघपति देवराज, पिता का नाम हरिसिंह और माता का नाम विजयश्री था। आपकी पत्नी का नाम सावित्री और पुत्र का नाम उदयराज था। आपके दो ज्येष्ठ भ्राता थे जिनके नाम क्रमशः बहोल और मानसिंह थे।

आपने गृहस्थावस्था में रहकर अपनी विद्वत्ता और बहुमुखी प्रतिभा के कारण पर्याप्त सुयश अर्जित किया था। हरियाणा, दिल्ली और ग्वालियर में आप काफी ख्यात थे। क्रियाकाण्ड और मूर्त्तिप्रतिष्ठा भी आप साधिकार सम्पन्न करते थे।

आपने कई उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की। आप द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या पर विचार किया जाए तो डा. राजाराम जैन ने आप द्वारा रचित सैंतीस ग्रन्थों का उल्लेख किया है। आप द्वारा रचित कुछ ख्यातिलब्ध ग्रन्थों की नामावलि इस प्रकार है—मेहेसचरिउ, सिरिबाल चरिउ, बहहद्दचरिउ, सुक्कोसल चरिउ, धण्णकुमार चरिउ, सम्मत्तगुणणिहाणकव्व, जसहरचरिउ, वित्तसार, सिद्धंतत्थसारो, अणथमिउकहा आदि।

भाषा, भाव आदि की दृष्टि से ये ग्रन्थ उत्तम और काव्य गुणों से समुन्नत हैं।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा

रक्षिता

(देखिए-धन्ना सार्थवाह)

रघुनाथ जी (आचार्य)

श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा के एक यशस्वी आचार्य

आचार्य श्री रघुनाथ जी का जन्म सोजत में ओसवाल परिवार में वी.नि. 2236 (वि. 1766) में हुआ। उनके पिता का नाम नथमल और माता का नाम सोमादेवी था। नथमल सोजत के हाकिम थे।

रघुनाथ जी को धर्मसंस्कार विरासत में मिले थे। उनकी अध्ययन रुचि भी काफी तीव्र थी। एक घटना ने उनके जीवन की दिशा को बदल दिया। उनके एक प्रिय मित्र की मृत्यु हो गई। मित्र वियोग से रघुनाथ जी

का हृदय आहत हो गया। आत्महत्या के निश्चय से वे घर से निकल गए। पुण्ययोग से उन्हें आचार्य भूधर जी के दर्शन हुए। भूधर जी के समक्ष उन्होंने अपनी मनःस्थिति प्रकट की। भूधर जी ने रघुनाथ जी को धर्म का मर्म समझाया। रघुनाथ जी का मन वैराग्य से पूर्ण बन गया। उन्होंने प्रव्रज्या धारण कर ली। वी.नि. 2257 (वि. 1787) में वे दीक्षित हुए।

मुनि रघुनाथ जी ने जैन आगमों का गहन पारायण किया। तप और क्रिया में वे अग्रणी बने। उनकी गणना प्रभावशाली मुनियों में होने लगी और वे अपने मुनि-संघ के आचार्य नियुक्त हुए।

पाली (राजस्थान) में 17 दिन के संलेखना-अनशन के साथ देह त्याग कर वे स्वर्गवासी हुए। वि.नि. 2316 (वि. 1846) माघ शुक्ला एकादशी को उनका स्वर्गवास हुआ।

रजनी (आर्या)

इनका विस्तृत परिचय काली आर्या के समान है। विशेष इतना है कि इनके पिता का नाम रजनी गाथापति और माता का नाम रजनीश्री था। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., प्र.वर्ग, अध्ययन 3

रति

एक विद्याधर कन्या जिसका विवाह वासुदेव श्री कृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कुमार के साथ हुआ था।

रतिप्रिया (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 20

(क) रतिसार

महिष्मती नगरी के राजा सुभूम का पुत्र। उसकी माता का नाम सुभामा था। राजकुमार रतिसार रूप में जहां कामदेव का अवतार प्रतीत होता था वहीं गुणों में भी वह अनन्य गुणवान युवक था। वह स्वयं गुणवान था और गुणियों का आदर-मान करने में उसे विशेष आनन्द प्राप्त होता था। पूर्वजन्म के पुण्य सदैव उसके साथ रहते थे। एक बार श्रावस्ती नगरी का सुबन्धु नामक एक व्यक्ति एक अद्‌भुत श्लोक बेचने के लिए महिष्मती नगरी आया। सुबन्धु ने श्लोक की कीमत एक लाख स्वर्णमुद्राएं तय की थीं। पर एक श्लोक के बदले इतनी बड़ी धनराशि भला कौन देता? राजकुमार अश्व पर सवार होकर नगर भ्रमण कर रहे थे। उन्होंने सुबन्धु को श्लोक बेचते देखा और एक लाख स्वर्णमुद्राएं उसे देकर श्लोक खरीद लिया। श्लोक को पढ़कर राजकुमार गद्‌गद हो गया। श्लोक का भावार्थ था—जब-जब मनुष्य का वैभव बढ़ता है तो पूर्व संचित पुण्य कर्म बह जाते हैं क्योंकि उन्हीं के परिणामस्वरूप वैभव की प्राप्ति होती है। इसलिए वैभव पर अभिमान नहीं करना चाहिए। और जब-जब विपत्तियां आती हैं तो दुखी नहीं बनना चाहिए क्योंकि विपत्तियां ही पूर्व संचित दुष्कृत की निर्जरा करती हैं।[1]

महाराज सुभूम से कोषाध्यक्ष ने राजकुमार की शिकायत की कि वे धन का दुरुपयोग कर रहे हैं। वस्तुस्थिति से अवगत बनकर राजा को बहुत क्रोध आया और उसने पुत्र को देश निकाला दे दिया। कठोर

---

(1) कार्यः सम्पदि नानन्दः पूर्वः पुण्यभिदे हि सा।
नैवापदि विषादस्तु, सा हि प्राक् पापपिष्टये।।

दण्ड पाकर भी रतिसार दुखी नहीं हुआ। श्लोक ने उसे नई प्राण ऊर्जा दी कि कष्ट पापों को काटने की कटार है। प्रसन्न चित्त से राजकुमार महिष्मती नगरी का त्याग करके अलक्ष्य दिशा में बढ़ गया। तीन दिनों की निरंतर यात्रा के पश्चात् वह श्रावस्ती नगरी में पहुंचा। उद्यान में स्थित कामदेव के मंदिर में आकर वह ठहर गया। उधर राजकुमारी सौभाग्यमंजरी अपनी दो अंतरंग सखियों के साथ कामदेव की पूजा करने मंदिर में आईं। तीनों ही सखियां रतिसार पर मुग्ध हो गईं। रात्रि में तीनों ने ही रतिसार से गुप्त विवाह कर लिया। ज्ञात होने पर राजा ने इसका सख्त विरोध किया और रतिसार का वध करने का आदेश दिया। पर जिसके पुण्य प्रबल हों उसका कोई अहित नहीं कर सकता। रतिसार का पुण्य पराक्रम देखकर राजा झुक गया और उसने धूमधाम से अपनी पुत्री और उसकी दोनों अंतरंग सखियों का विवाह रतिसार से सम्पन्न कर दिया। साथ ही रतिसार का राजतिलक करके वह प्रव्रजित हो गया।

रतिसार का धवल यश चतुर्दिक् में व्याप्त था। उसके पिता सुभूम को भी अपनी भूल पर प्रायश्चित्त हो रहा था। उसने पुत्र को आमंत्रित कर और उसका राजतिलक करके प्रव्रज्या धारण कर ली।

रतिसार ने सुदीर्घ काल तक महिष्मती और श्रावस्ती का राज्यभार वहन किया। उसके शासन काल में प्रजा बहुत सुखी थी। एक बार रतिसार अपनी तीनों रानियों के साथ प्रेमालाप में व्यस्त था। उसने अपनी रानी सौभाग्यमंजरी के कंगण रहित हाथ देखे तो उसे वे शोभाहीन लगे। फिर उसने उसके एक-एक करके सभी आभूषण उतार दिए। रानी की शोभा विदा हो गई। राजा का चिंतन पत्नी के शरीर से स्वशरीर पर और आत्मतत्व पर सुस्थिर बन गया। अन्यत्व आदि भावनाओं की पराकाष्ठ पर पहुंचकर उसी अवस्था में रतिसार केवली हो गए। तीनों पत्नियों ने भी केवली भगवंत का उपदेश श्रवण कर दीक्षा धारण की और क्रमशः सभी परमपद के अधिकारी बने।

(ख) रतिसार

राजगृह नगरी का रहने वाला एक दृढ़धर्मी श्रावक। वह जीवाजीव का ज्ञाता था और प्रत्येक प्राणी को आत्मतुल्य मानता / जानता था। एक बार देवराज इन्द्र ने उसके अहिंसाव्रत की भूरि-भूरि प्रशंसा देवसभा में करते हुए कहा कि श्रावक रतिसार प्राणिमात्र के साथ मैत्रीभाव रखता है। वह अपने मैत्रीभाव में इतना सुदृढ़ है कि जगत की कोई भी शक्ति उसे उसके धर्म से विचलित नहीं कर सकती है।

देवसभा में उपस्थित दो देव रतिसार की परीक्षा लेने के लिए पृथ्वी पर आए। एक देव ने कृष्ण विषधर का रूप धारण करके रतिसार के इकलौते पुत्र आरक्षक कुमार को डस लिया। कुछ ही क्षण में पीड़ा से छटपटाते हुए आरक्षक कुमार का शरीर शान्त हो गया। सेठ रतिसार और असकी पत्नी रम्भा के लिए यह घटना वज्रपात के समान थी। सेठ ने तो कुछ धैर्य रखा पर सेठानी के शोक का पारावार न था।

उधर परिवार और पास-पड़ौस में विलाप चल रहा था तथा साथ ही शवयात्रा के लिए अर्थी बांधी जा रही थी, उसी समय दूसरा देव सपेरे का रूप धर कर वहां उपस्थित हुआ। उसने लोगों को अपनी विद्या के बारे में बताया और विश्वस्त किया कि सर्प के दंश का अचूक उपचार उसके पास है। लोग उसके दाएं-बाएं झूम गए और श्रेष्ठि-पुत्र के उपचार की प्रार्थना करने लगे। सपेरे ने शव के निकट आसन जमा दिया और मन्त्रोच्चार करने लगा। फिर उसने श्रेष्ठि रतिसार को बुलाया और उससे कहा कि वह यह वाक्य बोले—'सर्प मर जाए और उसका पुत्र जीवित हो जाए।'

रतिसार ने कहा, मैं पुत्र के जीवन का वाक्य तो बोल सकता हूँ, पर सर्प के मरण का वाक्य नहीं बोलूंगा। मैं किसी भी जीव के अहित की कामना नहीं कर सकता हूँ। सपेरे ने श्रेष्ठी को वैसा बोलने के लिए

पुनः-पुनः प्रेरित किया, पर सेठ अपने संकल्प से तिलमात्र भी विचलित नहीं हुआ। सेठ के इस संकल्प को लोगों ने निष्ठुरता और उसके धर्म को पाखण्ड की संज्ञा तक दे डाली। पर सेठ मौन रहे।

उसके बाद शवयात्रा के प्रारंभ से लेकर शव को चिता पर रखे जाने तक देव ने गारुड़ी और वृद्धयोगी के रूप में उपस्थित होकर श्रेष्ठिपुत्र के उपचार के दो और उपक्रम किए। इन दोनों प्रसंगों पर भी रतिसार को सर्प की मृत्यु का संवाद बोलने के लिए कहा गया। पर रतिसार अपने निश्चय पर अडिग रहा। आखिर देवों ने अपनी पराजय स्वीकार कर ली। उन्होंने आकाश से रतिसार पर पुष्पवर्षा की।

जन-जन के अधरों पर रतिसार की दृढ़धर्मिता की चर्चा व्याप्त हो गई।

रतिसुंदरी

साकेत नरेश नरकेशरी की पुत्री, एक अनिंद्य सुंदरी और शीलवती राजकुमारी। राजा ने रतिसुंदरी पुत्री का विवाह नन्दनदेश के राजा चन्द्र से किया। कुरुदेश का राजा महेन्द्र भी रतिसुंदरी के रूप पर मुग्ध था। उसने महाराज नरकेशरी के पास अपना दूत भेजा। दूत ने नरकेशरी को महेन्द्र का सन्देश दिया कि वह उसकी पुत्री के साथ विवाह का इच्छुक है। नरकेशरी ने दूत को वस्तुस्थिति स्पष्ट की कि उनकी पुत्री का विवाह नन्दननरेश चन्द्र से हो चुका है। निराश दूत लौट गया। परन्तु दूत के निराशाजनक उत्तर से महेन्द्र राजा निराश नहीं हुआ। उसने दूत को चन्द्र राजा के पास इस सन्देश के साथ भेजा कि वह रतिसुंदरी को उसे समर्पित कर दे। दूत चन्द्र राजा के पास पहुंचा और उसने अपने राजा का संदेश उसे दिया। दूत का निंदनीय संदेश सुनकर राजा चन्द्र के नैनों में रक्त उतर आया। उसके पास सैन्य-साधन अल्प थे पर वह एक स्वाभिमानी नरेश था। उसने दूत को तिरस्कृत करके भगा दिया। चंद्र जानता था कि कुरुनरेश एक दंभी व्यक्ति है और वह शान्त नहीं बैठेगा। उसने अपने सैनिकों को चौकन्ना कर दिया।

अंततः महाराज चन्द्र का अनुमान सत्य सिद्ध हुआ। कुरुनरेश महेन्द्र ने नन्दनदेश पर आक्रमण कर दिया। उसके पास विशाल सेना और अपार शस्त्रास्त्र थे। चन्द्र की सेना ने पूरे साहस से उसका सामना किया। पर अंततः चन्द्र युद्ध में धराशायी हो गया। कुरुनरेश रतिसुंदरी को लेकर अपने देश चला गया। उसने रतिसुंदरी के समक्ष विवाह का प्रस्ताव रखा। रतिसुंदरी ने युक्ति से कुरुनरेश को समझाने का निर्णय किया। उसने कहा, महाराज! मुझे पति-मृत्यु के शोक से उबरने के लिए चार मास का समय दिया जाए। उससे कुरुनरेश सहमत हो गया।

रतिसुंदरी ने कठोर तप से अपने शरीर को जीर्ण बना दिया। उसकी देह का रक्त और मांस सूख गया। उसकी रूप-राशि विलीन हो गई। चार मास बीतते-बीतते उसे पहचान पाना कठिन हो गया। राजा उसके पास पहुंचा। रतिसुंदरी का अस्थिपञ्जर शरीर देखकर राजा आहत हो गया। पर उस अवस्था में भी वह उससे विवाह करने को उत्सुक था। राजा को यथारूप संकल्पित देखकर औषधादि के उपयोग से रतिसुंदरी ने वमन कर दिया और राजा से कहा, वह उस वमन को चाटे। राजा ने कहा कि वह श्वान नहीं है जो वमन का उपभोग करे। रतिसुंदरी बोली, मैं महाराज चन्द्र की वमन हूँ। मेरा उपभोग करके आप श्वानवृत्ति को ही अपना रहे हैं।

कुरुनरेश अपने दुराग्रह पर अडिग था। उसने कहा, रतिसुंदरी ! तुम्हारे लाख उपदेश भी मेरे लिए व्यर्थ हैं। मैंने तुम्हारे साथ विवाह करने का प्रण किया है। अपने प्रण को मैं अवश्यमेव पूरा करूंगा।

रतिसुंदरी ने कहा, महाराज! आपने उस रतिसुंदरी से विवाह करने का संकल्प किया था जो कभी

सुन्दर देह वाली थी। आज तो रतिसुंदरी अस्थिपंजर और कुरूपा है। इसलिए आपको अपने दुराग्रह का त्याग कर देना चाहिए। राजा ने कहा, सुंदरी ! भले ही शरीर से तुम अस्थिपंजर बन गई हो, पर तुम्हारे नेत्रों में तो आज भी वही आकर्षण है जिसने मुझे आकर्षित किया था।

सुना रतिसुंदरी ने। एक क्षण के लिए उसने विचार किया और बोली—मेरे नेत्र तुम्हें आकर्षित करते हैं तो इन नेत्रों को ही तुम्हारे अर्पित करती हूँ। कहकर रतिसुंदरी ने अपनी कटार से अपने दोनों नेत्र निकाल कर राजा के समक्ष डाल दिए।

रतिसुंदरी के इस समर्पण ने कुरुनरेश को झकझोर दिया। उसने सती के चरणों पर गिरकर अपनी भूल के लिए क्षमा मांगी। कुरुनरेश का जीवन उस क्षण के पश्चात् आमूल-चूल रूपान्तरित हो गया। रतिसुंदरी साधना-मय जीवन यापन कर देवलोक में गई। आगे के भवों में वह मोक्ष में जाएगी।

रत्नचन्द जी महाराज (शतावधानी)

स्थानकवासी श्रमण परम्परा के एक विद्वद्वरेण्य मुनिराज।

आप श्री का जन्म कच्छ प्रदेश के भोरारा गांव में वि.सं. 1936 को हुआ। आचार्य श्री गुलाबचन्द जी महाराज के चरणों में आपने आर्हती प्रव्रज्या धारण की। अध्ययन में आपकी विशेष रुचि थी। आपने हिन्दी, संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि भाषाओं का गहन अध्ययन किया। इन भाषाओं में आप निरन्तर लिख सकते थे और प्रवचन दे सकते थे।

जैन सिद्धान्त कौमुदी, अर्द्धमागधि-कोष आदि आपकी उत्कृष्ट रचनाएं हैं। अन्य भी कई ग्रन्थों की रचना आपने की।

'भारतरत्न भूषण' की उपाधि से आप अलंकृत हुए।

शतावधान की कला में आप प्रवीण थे। सौ व्यक्तियों के अलग-अलग प्रश्नों को सुनकर क्रमशः उनके उत्तर देने में आप कुशल थे। सन् 1940 में घाटकोपर मुम्बई में आपका स्वर्गवास हुआ।

रत्नचन्द्र जी महाराज

पूज्य श्री मनोहरदास जी महाराज की सम्प्रदाय के तेजस्वी संत।

आपका जन्म गुर्जर कुल में जयपुर के निकटस्थ ग्राम तातीजा में वि.सं. 1850 में श्री गंगाराम जी की धर्मपत्नी श्रीमती सरूपादेवी की रत्नकुक्षी से हुआ। मात्र बाहर वर्ष की अवस्था में ही एक सिंह को गोशिशु पर आक्रमण करते देख आप विरक्त बने और आपने सं. 1862 में तपस्वी श्री हरजीमल जी महाराज के चरणों में दीक्षा अंगीकार कर ली।

दीक्षित होकर आपने संस्कृत, प्राकृत, पाली आदि भाषाओं का तलस्पर्शी अध्ययन किया। बत्तीस ही आगमों का पारायण किया। साथ ही जैनेतर दर्शनों को भी आपने पढ़ा। अध्ययन रुचि से आपमें तर्क शक्ति का विकास हुआ। कई प्रसंगों पर आपने शास्त्रार्थ में भाग लेकर जैन दर्शन के ध्वज को ऊंचा किया।

बलि प्रथा, पशु हत्या, जातिवाद आदि सामाजिक बुराइयों के आप प्रबल विरोधी थे। कई स्थानों से इन बुराइयों का उन्मूलन आपने किया।

आप एक विद्वान मुनिराज थे। आप द्वारा रचित साहित्य प्रभावशाली और प्रामाणिक है। सं. 1921 में आगरा नगर में आपका स्वर्गवास हुआ।

रत्नचूड़

ताम्रलिप्ति नगरी के धनकुबेर श्रेष्ठी मणिचूड़ का पुत्र, एक सौभाग्य और बुद्धि का निधान युवक। दान, दया और धर्म पर रत्नचूड़ की अविचल श्रद्धा थी। उसके पास पिता द्वारा अर्जित अपार धन था, पर अपने पौरुष की परीक्षा के लिए उसने व्यापार के लिए दूर देशों की समुद्री यात्राएं कीं और काफी धन कमाया। यात्रा में उसके समक्ष अनेक प्रकार के कष्ट आए पर समस्त कष्टों को पार करके उसने अपने संकल्प को सुदृढ़ बनाया। उसने तीन विवाह किए। सुख पूर्वक जीवन यापन करते हुए आयुष्य के अंतिम भाग में रत्नचूड़ अपनी तीनों पत्नियों के साथ प्रव्रजित हुआ। चारित्र का पालन कर चारों भव्य जीव स्वर्ग में गए। कालक्रम से सर्वकर्म खपाकर सिद्ध होंगे।

रत्नद्वीपा देवी

रत्नद्वीप की स्वामिनी एक देवी। (देखिए-जिनपाल)

रत्नपाल

पुरिमताल नगर के कोटीश्वर सेठ जिनदत्त की अर्द्धांगिनी भानुमती का अंगजात। रत्नपाल के जन्म से पहले जिनदत्त पर लक्ष्मी की जितनी कृपा थी उसके जन्म के पश्चात् उतनी ही वह कुपित भी बन गई। रत्नपाल के मातृगर्भ में आते ही जिनदत्त की लक्ष्मी नष्ट होने लगी। गर्भकाल के सप्तम मास में स्थिति यह बनी कि 'साध पुराई' के उत्सव के लिए भी जिनदत्त के पास धन नहीं बचा। कुल की प्रतिष्ठा के लिए यह उत्सव आवश्यक था। जिनदत्त पूरे नगर में घूमने पर भी धन का प्रबन्ध नहीं कर पाया। आखिर अपने बालसखा मन्मन सेठ के पास पहुंचा और 'साध पुराई' के लिए एक हजार मुद्राएं कर्ज स्वरूप मांगीं। पर मन्मन ठहरा लक्ष्मी का पुजारी। धन उसे प्राणों से अधिक प्रिय था। उसने धन के बदले में किसी वस्तु को गिरवी रखने के लिए जिनदत्त से कहा। पर जिनदत्त के पास तो ऐसी कोई वस्तु शेष थी ही नहीं जिसे वह गिरवी रख सके। आखिर उसने अपने अजन्मे पुत्र को ही मन्मन के पास गिरवी रख दिया। मन्मन निःसन्तान था। उसने प्रसन्न चित्त से यह सौदा कर लिया और पंचों के समक्ष इस संदर्भ के पक्के कागज तैयार करवा लिए। तय किया गया कि जिनदत्त का पुत्र जवान होकर अपने श्रम से जब एक हजार स्वर्णमुद्राएं कमा कर मन्मन सेठ को देगा तभी वह अपने माता-पिता के पास जा सकता है।

जिनदत्त ने अपने पुत्र का नाम रत्नपाल रखा और उसे मन्मन सेठ को सौंप दिया। अपयश से बचने के लिए रात्रि में जिनदत्त अपनी पत्नी के साथ पुरिमताल नगर को छोड़कर निकल गया। दूर देश के वसन्तपुर नगर में जाकर वह लकड़हारे का जीवन जीने लगा। वर्षा ऋतु आई तो वन में सूखी लकड़ियों का अभाव हो गया। हरी लकड़ी न काटने का जिनदत्त को नियम था। फलतः उसे कई-कई दिन तक बिना भोजन के ही रहना पड़ा। एक दिन गहन वन में घूमते हुए जिनदत्त को बावना चन्दन का सूखा वृक्ष मिल गया। पर दुर्दैववश जिनदत्त पहचान न सका कि वह बावना चन्दन है। भार बनाकर वह नगर में गया। नगर में धनदत्त नामक एक धूर्त व्यापारी की दृष्टि जिनदत्त के भार पर पड़ी। वस्तुस्थिति समझते उसे एक पल न लगा और धार्मिकता का स्वांग रच कर सोलह मेंमुदी (तत्कालीन एक रुपए से भी कम पैसे) में वह बावनाचन्दन उसने खरीद लिया। साथ ही धनदत्त ने वाग्जाल फैलाकर जिनदत्त को इस बात के लिए अनुबन्धित कर लिया कि वह अपनी लकड़ियों को केवल उसे ही बेचेगा। जिनदत्त ने इसे सेठ की धर्मवृत्ति ही माना। वह इस बात से प्रसन्न था कि उसे बाजारों में घूम-फिर कर लकड़ियां नहीं बेचनी पड़ेंगी तथा अधिक मूल्य भी प्राप्त होगा।

उधर रत्नपाल का पालन-पोषण मन्मन ने अपने पुत्र के समान ही किया। उसे विश्वास था कि जिनदत्त अब कभी नहीं लौटेगा और रत्नपाल कभी भी वास्तविकता को नहीं जान पाएगा तथा उसी के पुत्र के रूप में उसकी वंश-परम्परा को आगे बढ़ाएगा। परन्तु उसके विश्वास का धरातल उस क्षण खिसक गया जब रत्नपाल युवा हुआ और किसी ने उसे मन्मन सेठ का क्रीतदास कहा। रत्नपाल ने अपने विश्वस्त लोगों से अपने बारे में सब कुछ जान लिया। उसने प्रण किया कि वह स्वतंत्र व्यापार करके मन्मन का ऋण उतारेगा और अपने वास्तविक माता-पिता को खोज कर उनके पास लौट जाएगा। उसने व्यापार के लिए समुद्री मार्ग से देशाटन किया। उसका जहाज कालकूट द्वीप पर जाकर लगा। पुण्योदय से रत्नपाल वहां के राजा का विश्वस्त बन गया। राजा ने अपनी पुत्री रत्नवती का विवाह रत्नपाल से कर दिया। व्यापार में प्रभूत धन कमाकर रत्नपाल अपने देश लौटा। रत्नवती भी योगी पुरुष का वेश धरकर रत्नपाल के साथ आई। रत्नपाल को कहा गया था कि यह युवा योगी रत्नवती का बाल सखा है और उसे रत्नवती की स्मृति देता रहेगा इसलिए उसके साथ ही रहेगा।

रत्नपाल ने मन्मन सेठ का कर्ज चुका दिया और पंचों के समक्ष उस हस्ताक्षरित सहमति-पत्र को फाड़ दिया गया। रत्नपाल अपने पैतृक घर में आ गया। पैतृक गोदामों में माल भरा और पुरिमताल नगर का प्रतिष्ठित व्यापारी बन गया। अब रत्नपाल के समक्ष एक ही लक्ष्य था—अपने माता-पिता की खोज। युवा योगी ने इस कार्य को अपने हाथों में लिया और छह मास के अथक देशाटन से वह वसन्तपुर में रह रहे जिनदत्त और भानुमती को खोजने में सफल हो गया। इतना ही नहीं उसने अपनी कुशलता से धनदत्त द्वारा कौड़ियों के मूल्य से खरीदा गया करोड़ों रुपए की कीमत का बावना-चन्दन भी पुनः प्राप्त कर लिया। जिनदत्त और भानुमती को साथ लेकर युवा योगी पुरिमताल नगर लौटा। रत्नपाल माता-पिता को पाकर और माता-पिता पुत्र को पाकर क्षणभर में ही कष्टमय अतीत को भूल गए।

रत्नपाल रत्नवती को लेने कालकूट द्वीप जाने की तैयारी करने लगा तो युवायोगी ने बात का रहस्य अनावृत्त करते हुए पुरुषवेश त्याग कर स्त्रीवेश धारण कर लिया। पति-पत्नी का मधुर मिलन हुआ। जीवन के समस्त सुख उस परिवार पर सावन का मेह बनकर बरसने लगे।

कालान्तर में रत्नवती ने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र युवा हुआ तो उसे गृहदायित्व देकर रत्नपाल और रत्नवती प्रव्रजित हो गए और उत्तम गति के अधिकारी बने।

रत्नप्रभ सूरि (आचार्य)

'नेमिनाह चरिय' और 'दोघट्टीवृत्ति' जैसे श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना करने वाले एक सुप्रसिद्ध विद्वान और मनीषी जैन आचार्य। आचार्य रत्नप्रभसूरि बड़गच्छ के प्रभावी आचार्य श्री वादिदेव सूरि के शिष्य थे। वे संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं के अधिकारी विद्वान और समर्थ साहित्य सर्जक थे। उन्होंने 'नेमिनाह चरिय' ग्रन्थ की रचना वी.नि. 1702 में तथा 'दोघट्टी वृत्ति' ग्रन्थ की रचना 1708 में की थी। तदनुसार आचार्य रत्नप्रभ सूरि वी.नि. की 18वीं सदी के पूर्वार्द्ध के आचार्य प्रमाणित होते हैं।

(क) रत्नवती

शील के प्रति अनन्य निष्ठा रखने वाली एक सन्नारी। वह आनन्दपुर नामक नगर के श्रेष्ठी धनपति की पुत्री थी। एक बार सुव्रता नामक आर्या ने अपनी शिष्या-वृन्द के साथ आनन्दपुर नगर में वर्षावास किया। रत्नवती पर धर्म का ऐसा रंग चढ़ा कि उसने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का भीष्म संकल्प ले लिया।

नगर नरेश महाराज रिपुमर्दन का पुत्र ललितांग कुमार भी साध्वी जी के प्रवचनों को सुनकर उनका भक्त बन गया। उसने वचन-पालन का नियम साध्वी जी से ग्रहण किया। नियम ग्रहण करते हुए उसने प्रतिज्ञा की कि जाने-अनजाने से भी उसके मुख से निकले प्रत्येक वचन का वह प्राण देकर भी पालन करेगा।

समय अपनी गति से सरकता रहा। एक बार नगर-भ्रमण करते हुए राजकुमार ललितांग की दृष्टि रत्नवती पर पड़ी। रत्नवती के रूप पर राजकुमार मुग्ध हो गया। उसने उससे विवाह का निश्चय कर लिया और अपने निश्चय से अपने जनक-जननी को परिचित करा दिया। पुत्र के हृदय की बात से परिचित होकर राजा ने सेठ धनपति को अपने पास बुलाया और उसकी पुत्री का हाथ अपने पुत्र के लिए मांगा। श्रेष्ठी गद्‌गद हो गया और उसने आंखें मूदंकर अपनी स्वीकृति राजा को दे दी। रत्नवती को पूरी बात ज्ञात हुई। वह सन्न रह गई। वह विचारशील बन गई कि क्या विवाह रचाकर वह अपने नियम का निर्वाह कर पाएगी? पर शीघ्र ही उसे स्मरण हुआ कि राजकुमार वचन का धनी है। मैं उससे ऐसा वचन उगलवाऊंगी कि उसके साथ रहने पर भी मेरा शील धर्म अखण्ड बना रहे। हुआ भी वैसा ही। रत्नवती ने ललितांग के सुहाग कक्ष में पहुंचने से पूर्व ही निद्रा का अभिनय किया। कुछ विलम्ब से ललितांग सुहागकक्ष में आया और रत्नवती को निद्राधीन देखकर कर स्पर्श से उसे जगाने लगा। इस पर रत्नवती ने सुविचारित वाक्य कहा, भैया ! सोने दो, मुझे नींद आ रही है।

इसे शील की महिमा कहें या दैवयोग कहें, ललितांग के मुख से निकला, आज तो अपनी बहन को सोने नहीं दूंगा। राजकुमार के मुख से ऐसा शब्द निकला और वह तत्क्षण शैया से पीछे हट कर खड़ा हो गया। बोला, रत्नवती! अजाने से ही सही, पर मेरे मुख से तुम्हारे लिए 'बहन' शब्द निकला है। अब मैं प्राण देकर भी इस वचन का पालन करूंगा। मैं तुम्हें भाई का ही पद दे सकता हूँ, पति का नहीं। रत्नवती का काम्य पूर्ण हो गया, उसने भी अपना संकल्प दोहरा दिया कि हम दोनों लोकदृष्टि से भले ही पति-पत्नी हैं पर धर्म दृष्टि से हम आजीवन भाई-बहन बने रहकर धर्माराधना करेंगे।

रत्नवती की प्रार्थना पर ललितांग ने एक अन्य राजकुमारी से पाणिग्रहण किया। पर राजकुमार का मन भोगों में नहीं रमा। वह अपना अधिक से अधिक समय रत्नवती से धर्मचर्चा में व्यतीत करता। इससे ईर्ष्या की अग्नि में जलकर राजकुमार की नवागन्तुक पत्नी ने रत्नवती पर चारित्रहीनता का दोषारोपण भी किया। पर उसे स्वयं ही नीचा देखना पड़ा।

एक बार आर्यिका सुव्रता पुनः नगर में पधारीं। उन्होंने अपने प्रवचन में रत्नवती के शील की महिमा का रहस्योद्‌घाटन किया जिसे सुनकर नगरजन अभिभूत हो उठे। रत्नवती मानवों और देवों की आस्था का केन्द्र बन गई। देवलोक तक में उसके शीलधर्म का यशगान होने लगा आयु के उत्तरार्ध पक्ष में रत्नवती और ललितांग कुमार ने प्रव्रज्या धारण की। विशुद्ध संयम की आराधना करते हुए दोनों अर्धमासिक अनशन के साथ देहोत्सर्ग करके देव गति में गए। वहां से महाविदेह में जन्म लेकर दोनों भव्य जीव मोक्ष जाएंगे।

(ख) रत्नवती

कालकूट द्वीप की राजकुमारी और युवा व्यापारी रत्नपाल की अर्द्धांगिनी। (देखिए-रत्नपाल)

(ग) रत्नवती

सिंहलद्वीपान्तर्गत जयपुर नगर की राजकुमारी और रत्नपुरी नरेश रत्नशिखर की परिणीता। (देखिए-रत्नशिखर)

रत्नशिख

प्राचीनकालीन एक युवा नरेश जो नन्दीपुर नगर का राजा था। वह एक जिज्ञासु राजा था। कथा और काव्य से उसका विशेष लगाव था। नई-नई कथाएं सुनकर उसे बड़ा सुख मिलता था। पर वह केवल श्रवण-रसिक ही नहीं था, बल्कि कथा-कहानी से उसे जो आदर्शामृत प्राप्त होता उसके अनुसार वह जीवन जीने का भी यत्न करता था।

एक बार एक सत्यकथा सुनकर रत्नशिख के हृदय में देशाटन करके भाग्य परीक्षा करने का संकल्प जगा। क्योंकि उसने जो सत्यकथा सुनी थी उसका कथ्य यही था कि शूरवीर पुरुष वह होता है जो वंश परम्परा से प्राप्त ऐश्वर्य से आंखें मूंदकर अपने पुरुषार्थ से अपना भाग्य लिखता है। रत्नशिख ने अपने कुशल व विश्वस्त मंत्रियों को राज्य भार प्रदान कर देशाटन किया। उसके मार्ग में अनेक बाधाएं आईं, पर कर्मयोगियों के लिए तो बाधाएं भी उनकी यात्रा को गति देने वाली ही सिद्ध होती हैं। रत्नशिख ने अपने पुरुषार्थ और भाग्य बल से अपार समृद्धि अर्जित की, पर्याप्त सुयश पाया और अनेकों सुन्दर कुमारियों से उसने पाणिग्रहण किया।

रत्नशिख ने अनेक वर्षों तक देवदुर्लभ राजसुख का उपभोग किया। बाद में उसने अपने पुत्र को राजपद देकर श्रामणी दीक्षा ग्रहण की। निरतिचार चारित्र की अराधना से सर्वकर्म खपा कर वह मोक्ष में गया।

—पुहवीचंद चरियं

रत्नशिखर

प्राचीनकालीन रत्नपुरी नगरी का एक धर्मनिष्ठ राजा। उसके मंत्री का नाम सुमति था जो सच में ही सुमति का निधान था। राजा और मंत्री में परस्पर प्रगाढ़ मैत्री थी। किसी समय राजा और मंत्री वन-विहार के लिए वन में गए। एक वृक्ष की शीतल छाया में बैठकर वे विश्राम करने लगे। वृक्ष पर एक शुक-युगल परस्पर चर्चा कर रहा था। शुक ने मादा शुक से कहा, इस पृथ्वी पर रत्नवती नाम की अनिंद्य सुंदरी राजकन्या है। विवाह योग्य आयु में पहुंचकर भी वह विवाह के लिए तैयार नहीं है। आज तक उसने किसी पुरुष की ओर आंख तक उठा कर नहीं देखा है। हां, रत्नशिखर जैसा कोई पुरुष राजकुमारी के समक्ष जाए तो निश्चित ही राजकुमारी उस पर मुग्ध बनकर उसे अपने वर के रूप में स्वीकार कर लेगी। इस वार्ता के साथ ही शुकयुगल वहां से अन्यत्र उड़ गया।

राजा और मंत्री पक्षियों की भाषा को समझते थे। रत्नवती का नाम कानों में पड़ते ही किसी अदृश्य आकर्षण में राजा बंध गया। राजा और मंत्री नगर में लौट आए। परन्तु राजा रत्नवती को हृदय से नहीं निकाल सका। दिन-रात वह उसी की स्मृतियों और कल्पनाओं में उतरता-तैरता रहता। निरन्तर निराशा ने उसे रुग्ण बना दिया। आखिर मंत्री सुमति से राजा की चिन्ता-व्यथा छिपी न रह सकी। उसने प्रण किया कि वह सात मास की अवधि में रत्नवती को खोज निकालेगा और साथ ही उसके हृदय में अपने महाराज के लिए अनुराग जगा देगा। दृढ़ प्रतिज्ञा करके मंत्री चल दिया। अलक्ष्य दिशाओं में यात्रा करते हुए मंत्री सुमति एक बार एक विजन वन से निकल रहा था। वहां उसे एक सुन्दर युवती दिखाई दी। युवती का नाम लक्ष्मी था और वह एक यक्ष-यक्षिणी के संरक्षण में जंगल में रहती थी। यह यक्ष और यक्षिणी पूर्वजन्म में सद्गृहस्थ थे और लक्ष्मी उनकी पुत्री थी। मृत्यु के पश्चात् अकेली रह गई लक्ष्मी को वे अपने स्थान पर ले आए थे। यक्ष ने सुमति से भेंट की और उसे अपनी पुत्री के सर्वथा योग्य मानकर उसके साथ पुत्री का विवाह कर दिया। सुमति ने अपनी यात्रा का उद्देश्य यक्ष को बताया तो यक्ष ने अपने ज्ञान से रत्नवती का परिचय जान

लिया और सुमति को सिंहलद्वीप स्थित जयपुर नगर में पहुंचा दिया। यक्ष ने सुमति को रूप-परावर्तिनी विद्या दी और कहा, रत्नवती यहां की राजकुमारी है। साथ ही उसने कहा—जब भी उसे उसकी सहायता की आवश्यकता पड़े उसे स्मरण कर ले, वह तत्क्षण उपस्थित हो जाएगा।

सुमति का कार्य बहुत सरल हो गया। उसे ज्ञात था कि राजकुमारी पुरुष की ओर आंखें तक उठाकर नहीं देखती है, इसलिए उसने रूपपरावर्तिनी विद्या से एक युवा योगिनी का रूप बना लिया। कुछ ही दिनों में योगिनी रूपी सुमति ने नगर निवासियों पर अपने त्याग-वैराग्य का अद्‌भुत प्रभाव जमा लिया। योगिनी की चर्चा राजकुमारी रत्नवती के कानों तक भी पहुंची। उसने उसे आमंत्रित किया। योगिनी और रत्नवती का पारस्परिक संपर्क बढ़ते-बढ़ते प्रगाढ़ता में बदल गया। आखिर एक दिन योगिनी ने राजकुमारी से उसकी पुरुष विमुखता का कारण पूछा। राजकुमारी ने कहा, स्वामिनी! जो रहस्य मैंने आज तक अपने माता-पिता को भी नहीं बताया वह आपको बताती हूँ। मुझे बचपन में ही जातिस्मरण ज्ञान हो गया था। ज्ञान से मैंने जान लिया कि पूर्वजन्म में मैं एक हरिणी थी। मेरे साथी हरिण से मेरा गहरा अनुराग था। हरिण भी मेरे प्रति पूर्ण समर्पित था। उस पशुयोनि में रहते हुए एक मुनि के उपदेश से हम दोनों में धर्मबुद्धि का उदय हुआ और हम नियमित चौविहार उपवास की आराधना करने लगे। उसी उपवास की महिमा का यह फल हुआ कि मैं आयुष्य पूर्ण कर राजकुमारी बनी हूँ। मुझे विश्वास है कि मेरा मित्र हरिण भी निश्चय ही किसी राजकुल में उत्पन्न हुआ होगा। मैं मन ही मन उसी राजकुमार की प्रतीक्षा किया करती हूँ। वही राजकुमार मुझे मिले तो मैं उससे विवाह करूंगी अन्यथा आजीवन कुआंरी रहूगी।

योगिनी रूपी सुमति ने कुछ क्षण के लिए आंखे बन्द कीं। आंखें खोलीं और बोला, राजकुमारी! तुम्हारा अनुमान सच है। तुम्हारा मित्र हरिण भी राजकुल में ही उत्पन्न हुआ है, और शीघ्र ही तुमसे उसकी भेंट होने वाली है। राजकुमारी के यह पूछने पर कि वह उसे पहचानेगी कैसे, योगिनी ने कहा, कामदेव के मंदिर में जो पुरुष तुम्हारा मार्ग रोकेगा जान लेना वही तुम्हारे पूर्वजन्म का मित्र है।

कुछ दिन उस नगर में रहकर योगिनी यक्ष के सहयोग से रत्नपुरी पहुंची। मूल रूप धारण कर मंत्री सुमति राजा रत्नशिखर से मिला और अपनी सफलता की आद्योपान्त कथा उसे सुना दी। सुनकर राजा अभिभूत बन गया। आखिर मंत्री की योजनानुसार चलते हुए रत्नशिखर ने रत्नवती को प्राप्त कर लिया और उससे विवाह रचा कर उसे अपने नगर में ले आया।

राजा रत्नशिखर और रानी रत्नवती ने श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किए। पूर्वजन्म में उन्होंने उपवास की आराधना की थी, वर्तमान में उन्होंने पौषधव्रत की आराधना की। उनके पौषधोपवास पूर्ण रूप से नियम के अनुरूप होते थे। सब त्याग कर भी वे पौषध को नहीं टलने देते थे। कहते हैं कि कई बार देवी-देवताओं ने भी अनकी पौषध-दृढ़ता की संयुक्त रूप से तथा अलग-अलग से कठिन परीक्षाएं लीं, पर वे अपनी दृढ़ता पर सदैव अटल और अडिग रहे।

समाधिपूर्वक देहोत्सर्ग करके राजा और रानी बारहवें देवलोक में गए। मंत्री सुमति पांचवें देवलोक में गया। देवलोक से च्यव कर ये तीनों ही भव्य जीव भरत क्षेत्र में मनुष्य भव धारण कर और विशुद्ध संयम का पालन कर मोक्ष प्राप्त करेंगे। —रत्नशिखर रास

रत्नश्रवा

राक्षसवंशी विद्याधर सुमाली का पुत्र और रावण, कुभकर्ण तथा विभीषण का जनक।

(क) रत्नसार

कौशाम्बी नगरी का एक रत्न व्यापारी। (देखिए-सहस्रमल्ल)

(ख) रत्नसार

रत्नविशाला नामक नगरी के श्रेष्ठी वसुसार का पुत्र, एक धीर, वीर और दृढ़ प्रतिज्ञयी युवक। आचार्य विनयधर से उसने परिग्रह-परिमाण व्रत ग्रहण किया था।

वसुसार के पास एक द्रुतगामी अश्व और एक बुद्धिमान तोता था। रत्नसार ने ये दोनों उपहार पिता से प्राप्त किए और पिता की अनुमति प्राप्त कर विश्वभ्रमण के लिए चल दिया। मार्ग में एक सघन वन में एक मनोहारी रूप वाले युवा तापस ने रत्नसार का स्वागत किया। रत्नसार ने तापस का परिचय पूछा। तापस अपना परिचय बताने लगा। उसी समय तीव्र अंधड़ उठा और तापस कुमार उस अंधड़ में उड़कर अदृश्य हो गया। रत्नसार समझ गया कि किसी चामत्कारिक शक्ति ने तापस कुमार को अदृश्य किया है। साथ ही उसे यह भी भलीभांति विश्वास हो गया कि तापस कुमार पुरुष न होकर नारी है। तोते ने रत्नसार के विश्वास को यह कहकर आधार प्रदान किया कि तापस कुमार पुरुष नहीं नारी है और किसी विद्याधर के चंगुल में कैद है।

रत्नसार तापस कुमार को खोजने के लिए आगे बढ़ा। वह एक उद्यान में पहुंचा। वहां उसे एक रूपसी राजकन्या मिली। राजकन्या ने अपना नाम तिलकमंजरी बताया। साथ ही यह भी बताया कि उसकी बहन अशोकमंजरी का अपहरण किसी विद्याधर ने कर लिया है और उसकी कुलदेवी ने बताया है कि इसी उद्यान में उसे उसकी बहन मिलेगी। इधर यह वार्तालाप हो ही रहा था कि एक हंसी रत्नसार की गोद में आकर गिरी। रत्नसार ने हंसी को संभाला ही था कि पीछे से विद्याधर आ गया। रत्नसार ने धर्म बल और आत्मबल के दम पर विद्याधर को मार भगाया। हंसी देवकृपा से अपने मूलरूप में आ गई। वह अशोकमंजरी ही थी जिसे विद्याधर ने पहले तापसकुमार और बाद में हंसी बना दिया था। दोनों बहनों का मिलन हुआ। दोनों ने रत्नसार से पाणिग्रहण कर लिया। रत्नसार के एक मित्र देव ने उसी स्थान पर एक सप्तमंजिला भव्य भवन बना दिया। रत्नसार अपनी दोनों पत्नियों के साथ उस महल में रहकर आमोद-प्रमोद पूर्वक समय व्यतीत करने लगा।

एक रात्रि में एक देव ने रत्नसार के मित्र शुक को चुरा लिया। रत्नसार ने देव का पीछा किया। पर कुछ ही दूर जाने पर देव शुक के साथ ही अदृश्य हो गया। रत्नसार चलते-चलते एक नगर-द्वार पर पहुंचा। वहां देव ने रत्नसार के परिग्रह-परिमाण व्रत की परीक्षा ली। देव ने रत्नसार को राजा बनाना चाहा, पर रत्नसार ने उसके प्रस्ताव को यह कहकर नकार दिया कि उसे परिग्रह-परिमाण का व्रत है और राजपद स्वीकार करने से उसका व्रत खण्डित हो जाएगा। रत्नसार द्वारा राजपद अस्वीकार करने पर देव ने उसे भयभीत करना चाहा, उसे जान से मार देने की धमकी दी, परन्तु रत्नसार तो अभय पुरुष था। वह मृत्यु से भय नहीं मानता था। व्रत पालन उसे प्राणों से अधिक प्रिय था। आखिर देव उसकी दृढ़-धर्मिता के समक्ष नतमस्तक हो गया। उसने रत्नसार को उसका तोता लौटा दिया।

वहां से रत्नसार तिलकमंजरी, अशोकमंजरी, शुक आदि के साथ पहले कनकपुरी पहुंचा और बाद में अपने गृहनगर रत्नविशाला नगरी में आया। पिता और पुत्र का मिलन हुआ। पिता ने पुत्रवधुओं का स्वागत किया। शुक ने रत्नसार का यात्रा वृत्तान्त सुनाकर सभी को आनन्दित किया।

सुदीर्घ काल तक व्रत-निष्ठामय जीवन जीकर रत्नसार ने अपना जीवन सफल बनाया। वह सद्गति का अधिकारी बना। —वर्धमान देशना-2/1

रत्नाकर

नन्दपुर नगर का रहने वाला एक श्रेष्ठी। (देखिए-शील)

रत्नाकर सूरि (आचार्य)

वी.नि. की 18वीं सदी के एक विद्वान जैन आचार्य। उनके गुरु का नाम देवप्रभ सूरि था। आचार्य रत्नाकर सूरि की एक रचना 'रत्नाकर पच्चीसी' वर्तमान में उपलब्ध है। वैराग्य रस प्रधान यह एक उत्कृष्ट रचना है। इस रचना के पच्चीस श्लोक हैं। इस कृति की रचना आचार्य रत्नाकर सूरि ने वी.नि. 1778 में की थी। उसी के आधार पर वे वी.नि. की 18वीं सदी के उत्तरार्द्ध के आचार्य प्रमाणित होते हैं।

रत्नावती

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की एक रानी। (देखिए-ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती)

रथनेमि

सोरियपुर नरेश महाराज समुद्रविजय का कनिष्ठ पुत्र और अरिहंत अरिष्टनेमि का लघुभ्राता। अरिष्टनेमि ने जब विवाह से इन्कार कर दिया और तोरणद्वार से लौट आए तो रथनेमि ने राजीमती से विवाह का प्रस्ताव रखा। राजीमती ने आर्य बालाओं का आदर्श रखते हुए रथनेमि का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया और कहा—मैं तुम्हारे अग्रज की परित्यक्ता हूं। पर-पुरुष का चिन्तन तक मुझे अस्वीकार है। मैं अरिष्टनेमि का ही अनुगमन करूंगी। सुनकर रथनेमि निराश बन गए। निराशा से वैराग्य उपजा। वे मुनि बनकर आत्म-साधना करने लगे।

एक बार साध्वी राजीमती को एकान्त में पाकर रथनेमि का मन संयम रूपी गृह से निकल कर चंचल बन गया। पर राजीमती द्वारा समझाने पर वे पुनः संयम में स्थिर हो गए। प्रायश्चित्त से अपनी आत्मा को शुद्ध करके केवली बने और निर्वाण प्राप्त किया।

रमणीक लाल

प्राचीनकालीन वसन्तपुर नगर का एक समृद्ध श्रमणोपासक। उसकी पत्नी का नाम सुशीला था जो अपने नाम के अनुरूप सुशील श्राविका थी। सामायिक, संवर, पौषध, प्रतिक्रमण आदि धर्मक्रियाएं सेठ-सेठानी के जीवन व्रत थे। घर में दूध, दही की नदियां बहती थीं। धन के अंबार लगे थे। पर समय सदा एक जैसा नहीं रहता। धूप और छांव उसके नियम हैं। यथैव सुख और दुख, संपन्नता और विपन्नता मानव जीवन के नियम हैं। सेठ रमणीकलाल के दिन फिरे और देखते ही देखते वह विपन्न हो गया। शनैः शनैः स्थिति यह बनी कि घर में अन्न का एक कण भी शेष न रहा। मांगने से मर जाना प्रिय था रमणीकलाल को। तीन दिन से अन्न का कण पति-पत्नी के उदर में नहीं उतरा था। जैसे-तैसे पति-पत्नी स्वयं को संभाले थे, पर दो दिन के उपवासी नन्हे अंगजातों की स्थिति ने सेठ रमणीकलाल को हिला दिया।

रमणीकलाल विपत्ति के भयावह दुष्चक्र से घिरा था, पर उपाश्रय में जाकर सामायिक करना उसका अखण्ड नियम था। सामायिक करने के बाद रमणीकलाल ने वस्त्र पहने। तभी उसकी दृष्टि सामायिक साधना रत नगर सेठ जिनदास के वस्त्रों पर पड़ी। वस्त्रों में रखे नीलम के हार को देखकर रमणीकलाल भूखे

अंगजातों की भूख को तैर नहीं पाया। हार चुराकर घर आ गया और पत्नी को सब बात कह दी। सुनकर सुशीला कांप गई। श्रमणोपासक होकर चोरी .....? उपाश्रय से चोरी ....? उसने सेठ को विवश किया कि इसी क्षण लौटकर वह नगर सेठ का हार लौटा कर आए। पर रमणीकलाल ने बच्चों की भूख की बात कहकर पत्नी का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया। पत्नी ने कहा, तो तुम सीधे नगर सेठ के पास जाओ और उसका हार उसी के पास गिरवी रखकर कुछ धन प्राप्त कर लो। निश्चित ही जिनदास हमारी स्थिति को जानकर समुचित व्यवहार करेंगे।

उधर जिनदास ने वस्त्रों से हार को गायब पाया। वे एक सच्चे जैन श्रावक थे। सोचा, किसी संकटग्रस्त साधर्मी बन्धु ने ही हार लिया होगा। इसमें दोषी हार लेने वाला नहीं, दोषी मैं हूं जिसने संकटग्रस्त साधर्मी को न पहचान कर उसकी सहायता नहीं की। ऐसा सोचकर जिनदास ने हार की चोरी की बात विस्मृत कर दी।

दूसरे दिन रमणीकलाल हार को गिरवी रखने जिनदास के पास पहुंचा। पहचान कर भी अपरिचित बने रहकर जिनदास ने रमणीकलाल की इच्छानुरूप उसे दस सहस्र स्वर्णमुद्राएं उधार दीं और कहा, तुम मेरे साधर्मी भाई हो, इसलिए मैं हार को गिरवी नहीं रखूंगा। रमणीकलाल ने गिरवी रखने की जिद्द की। इधर यह आग्रह-अनुग्रह चल रहा था कि सेठ जिनदास का पुत्र उधर आ गया और उछलकर बोला, पिताजी ! यह हार तो आपका ही है। जिनदास ने पुत्र से कहा, संभल कर बोलो ! किसी के हार को अपना कह रहे हो। हां, यह सच है कि रमणीकलाल के पिता ने और मैंने एक ही समय में दो हार बनवाए थे, जो एक समान थे। यह रमणीकलाल के पिता का हार है।

रमणीकलाल जिनदास की महानता देखकर बड़ी कठिनाई से अपने आंसूओं को रोककर और भरपूर आग्रह पूर्वक हार को गिरवी रखकर धन लेकर अपने घर आ गया। उस धन से उसने व्यापार शुरू किया और शीघ्र ही उस धन को कई गुणा बना दिया। उचित समय पर सेठ को धन लौटाने के लिए रमणीकलाल उसके घर गया। धन लेकर जिनदास ने हार रमणीकलाल के हाथ पर रख दिया। इस बार रमणीकलाल अपने धैर्य को रोक न सका और सेठ के चरण छूकर वस्तुस्थिति वर्णित कर दी। जिनदास ने कहा, भाई! चोरी का अपराध तुमने नहीं किया। असल अपराधी तो मैं हूं जिसने अपने साधर्मी भाई के कष्ट को नहीं पहचाना। मैं इधर स्वर्णथालों में भोजन करता रहा और मेरे भाई के नन्हे-मुन्ने अन्न के कण को तरसते रहे।

दोनों साधर्मी गले-मिले। धर्म का सम्यक् पालन करते हुए सेठ रमणीकलाल और नगरसेठ जिनदास आदर्श जीवन जीकर सद्गति को प्राप्त हुए।

रवि वर्मा

कदम्ब वंशीय नरेश। जैन धर्म के प्रति अनन्य आस्थाशील रवि वर्मा ने जैन धर्म को राज्य सरंक्षण दिया था। जिन प्रभावना के कई महनीय कार्यक्रम उसने किए। ई.स. 490 से 537 तक उसने शासन किया।

—जैन शिलालेख संग्रह

रसाल कुमार

आनन्दपुर नरेश जितशत्रु और रानी मालिनी का इकलौता पुत्र। जब वह पैदा हुआ तब भविष्यवेत्ताओं ने राजा को बताया कि यह पुत्र उनके कुल के लिए अपयश का कारण बनेगा। इस बात से राजा बहुत चिन्तित हुआ। उसने भविष्यवेत्ताओं से उसका निदान पूछा तो उन्होंने ज्योतिष का गणित बैठाते हुए एक

मार्ग राजा को बताया। उन्होंने कहा, छह मास की आयु में ही कुमार का वैवाहिक सम्बन्ध किया जाए और बीस वर्ष की अवस्था तक उसका लालन-पालन भूमिगृह में किया जाए तो दुष्ट ग्रहों का प्रकोप कुछ न्यून हो सकता है और एक निश्चित कालावधि के पश्चात् कुमार कुल के गौरव को बढ़ाने वाला सिद्ध हो सकता है।

महाराज जितशत्रु ने छह मास की अवस्था में ही अपने पुत्र रसालकुमार का वैवाहिक सम्बन्ध नन्दनपुर नरेश सिंहदत्त की पुत्री शीलवती के साथ कर दिया। तदनन्तर पुत्र को राजोद्यान के तलघर में रखा गया। वहीं पर उसकी समुचित शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध भी कर दिया गया। भूमिगृह में रहकर ही कुमार युवा हुआ। क्रमशः वह सभी कलाओं में दक्ष बन गया।

उधर रसालकुमार की भावी पत्नी (वाग्दत्ता) शीलवती भी युवती हो गई। उसके मन में अपने पति को देखने के भाव बलवान बनने लगे। एकदा उसने अपने माता-पिता से तीर्थाटन का बहाना कर आज्ञा प्राप्त की और वह आनन्दपुर के राजोद्यान में पहुंच गई। द्वार-रक्षकों को किसी तरह संतुष्ट कर वह रसालकुमार से मिलने में सफल हो गई। दोनों के मध्य प्रेमालाप चला। शीलवती के मन में यह क्षोभ था कि उसके पति को भूमिगृह में रखा जा रहा है। भूमिगृह में चुपचाप पड़े रहने से रसालकुमार पर भी वह नाराज थी। क्षोभ में उसने राजकुमार को 'मूर्ख' कह दिया। इससे रसालकुमार क्रोधित हो गया। उसने मन ही मन शीलवती को उसके कटु शब्द का दण्ड देने का संकल्प कर लिया। शीलवती को भी अपनी भूल अनुभव हो गई और राजकुमार की आंखों में तैरता कोप भी उससे छिपा नहीं रह सका। उसने राजकुमार से पुनः-पुनः क्षमा मांगी, पर राजकुमार के हृदय में शूल चुभ चुका था। शीलवती विदा हो गई।

बीस वर्ष की अवस्था में रसालकुमार को भूमिगृह से बाहर निकाला गया। महाराज जितशत्रु ने अपूर्व उत्सव आयोजित किए। कालक्रम से राजकुमार के विवाह की तिथि सुनिश्चित की गई। सुनिश्चित समय पर बारात नन्दनपुर पहुंची। विवाह मण्डप सजा। रस्मानुसार वर-वधू अग्नि की प्रदक्षिणा करने लगे। पर रसालकुमार के हृदय में तो कोप सुलग रहा था। तीन प्रदक्षिणा लेने पर वह उदरशूल का बहाना कर मण्डप से उठ गया। उसने शगुन के प्रतीक कंगण को तोड़ डाला और एक दिशा में चल दिया। इस पर उसके पिता जितशत्रु को अपने पुत्र पर बड़ा क्रोध आया। उसे विश्वास हो गया कि उसका पुत्र उसके कुल के लिए कलंक ही सिद्ध हुआ है। उसने कठोर वचनों से पुत्र की भर्त्सना कर डाली। शीलवती ने रसालकुमार का मार्ग रोककर उससे क्षमा मांगी। पर भवितव्यता वश कुमार ने शीलवती की कोई बात न सुनी। वह घोड़े पर चढ़कर चला गया।

रसालकुमार कई वर्षों तक देश-विदेशों में घूमता रहा। एक मालिन के उपदेश से उसने परस्त्री-सेवन का त्याग किया। यात्रा के दौरान दो राजकुमारियों से उसने पाणिग्रहण किया, पर परिणीताओं के दुश्चरित्र को देखकर उसका हृदय आहत हो उठा। उसी क्रम में शीलवती के प्रति उसके हृदय में अनुराग का अंकुर उत्पन्न हुआ। बारह वर्षों के पश्चात् वह शीलवती के पास लौटा। एक ठूंठ को फलवान बनाकर शीलवती ने अपने अखण्ड शील की परीक्षा दी। शीलवती जैसी सुशील पत्नी को पाकर रसालकुमार अपने आपको भाग्यशाली मानने लगा।

पिता और श्वसुर ने भी रसालकुमार को क्षमा कर दिया। पिता और श्वसुर अपने-अपने राज्य रसालकुमार को सौंपकर दीक्षित हो गए। रसालकुमार ने अनेक वर्षों तक राज्य किया। अंतिम वय में उसने अपनी रानी शीलवती के साथ प्रव्रज्या धारण की। दोनों ने विशुद्ध संयम का पालन कर मोक्ष प्राप्त किया।

राजसिंह

प्राचीनकालीन एक राजा। (देखिए-पुरुषसिंह वासुदेव)

राजसेन

सुसीमापुरी नरेश और पन्द्रहवें विहरमान तीर्थंकर श्री ईश्वर स्वामी के जनक। (देखिए-ईश्वर स्वामी)

राजसेना

पुण्डरीकिणी नगरी के राजकुमार वीरसेन (विहरमान तीर्थंकर) की परिणीता। (देखिए-वीरसेन स्वामी)

राजी (आर्या)

प्रभु पार्श्वकालीन आमलकल्पा नामक नगरी में राजी नामक एक गाथापति रहता था। उसकी पत्नी का नाम राजश्री और पुत्री का नाम राजी था। कुमारी राजी ने प्रभु पार्श्व का धर्मोपदेश सुनकर प्रव्रज्या धारण की। शैनः शनै राजी आर्या शरीर बकुशा बन गई और आलोचना के बिना ही देह त्याग कर चमरेंद्र की पट्टमहिषी के रूप में जन्मी। वहां से आयुष्य पूर्ण कर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगी और निरतिचार संयम की आराधना द्वारा सर्व कर्म खपा कर सिद्ध होगी। इनका विस्तृत परिचय काली आर्या के समान है। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग, द्वि.श्रु., प्र.वर्ग, अध्ययन 2

राजीमती

अपर नाम राजुल। सोलह सतियों में से एक। महाराज उग्रसेन की पुत्री तथा कृष्ण वासुदेव की रानी सत्यभामा की भगिनी। भगवान श्री अरिष्टनेमि की अपरिणीता। जैन पुराणों के अनुसार राजीमती और अरिष्टनेमि पिछले आठ भवों से पति-पत्नी रूप में रहते आए थे। वर्तमान भव में भी राजीमती ने पति की अनुगामिनी बनकर अपने प्रेम को अनन्त के लिए अमर कर दिया। वह साध्वी बनकर साध्वी संघ की प्रवर्तिनी बनी।

राजीमती के जीवन की एक घटना अत्यन्त विश्रुत है। किसी समय भगवान अरिष्टनेमि गिरनार पर्वत पर विराजमान थे। साध्वी राजीमती साध्वी समुदाय के साथ भगवान के दर्शन करने जा रही थी। मध्य मार्ग में आंधी और बरसात आ गई। सभी साध्वियां यहां-वहां हो गईं। राजीमती ने एक पर्वत गुफा में शरण ली। उसने आर्द्र वस्त्र उतारकर सूखने के लिए फैला दिए। संयोग से उसी गुफा में रथनेमि ध्यान साधना कर रहे थे। बादलों में विद्युत् चमकी। अंधेरी गुफा प्रकाश से भर गई। क्षणिक प्रकाश रेखा में रथनेमि और राजीमती ने एक-दूसरे को देखा। राजीमती लज्जा और संकोच से भर गई। उसने देह पर वस्त्र लपेटे। पर रथनेमि का मन संयम रूपी गृह से बाहर भटक गया। उसने राजीमती से भोग प्रार्थना की और पुनः गृहस्थ में लौटने की बात कही। राजीमती रथनेमि के कुत्सित विचार सुनकर सिंहनी की तरह दहाड़ उठी। उसने विभिन्न कठोर-मृदु शब्दों से रथनेमि को पुनः संयम में सुस्थिर बना दिया।

राजीमती ने विशुद्ध संयमाराधना द्वारा कैवल्य साधकर भगवान अरिष्टनेमि से चौवन दिन पहले सिद्धत्व प्राप्त किया।

राज्यपाल

बीसवें विहरमान तीर्थंकर अजितवीर्य स्वामी के जनक। (देखिए-अजितवीर्य स्वामी)

राम (बलदेव)

अयोध्यापति सूर्यवंशी महाराज दशरथ के नन्दन, कौशल्या के अंगज, मर्यादापुरुषोत्तम, तपस्वी, यशस्वी

और मनस्वी पुरुष। भारत की समस्त धर्म परम्पराओं और संस्कृतियों में श्रीराम को भगवद्स्वरूप पुरुष स्वीकार किया गया है। वैदिक परम्परा में तो श्रीराम को परब्रह्म परमेश्वर के अवतार के रूप में प्रतिष्ठा दी गई है। जैन परम्परा में भी उन्हें पहले मानव और फिर महामानव (परमात्मा) का पद दिया गया है।

श्रीराम एक आदर्श पुरुष थे। महाराज दशरथ की तीन अन्य रानियों—कैकेयी, सुमित्रा और सुप्रभा से जन्मे तीन पुत्र—भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न श्रीराम के अनुज थे। चारों भाइयों में परस्पर अनन्य अनुराग था। यह अनुराग सदैव अखण्ड और अटूट रहा। अयोध्या के राज परिवार में बड़ी-बड़ी घटनाएं घटीं, पर भाइयों के प्रेम में किंचित् मात्र भी मैल नहीं आया। एक बार जब दशरथ ने संयम लेकर आत्मकल्याण का संकल्प लिया तो भरत ने भी पितृ-अनुगमन का संकल्प कर लिया। इससे महारानी कैकेयी विचलित बन गई। वह पति और पुत्र का विरह एक साथ सहन नहीं कर सकती थी। दशरथ कुल परम्परा के अनुसार श्रीराम को राजपद देना चाहते थे। कैकेयी ने विचार किया कि यदि उसके बेटे को राजपद मिल जाएगा तो वह संयम नहीं लेगा। इस विचार से कैकेयी ने महाराज दशरथ के पास धरोहर रूप अपने वचन को भरत के राजतिलक के रूप में मांग लिया। महाराज दशरथ के लिए राम और भरत में भेद न था, सो उन्होंने भरत के राजतिलक की घोषणा कर दी। परन्तु भरत इस बात से सहमत नहीं हुए और बोले कि अग्रज राम के रहते भला मैं राजपद कैसे ले सकता हूं। श्रीराम ने गहन मनोमंथन करते हुए पिता के वचन की रक्षा के लिए आत्मनिर्वासन का निर्णय कर लिया। सीता और लक्ष्मण ने श्रीराम के साथ वन में जाने का संकल्प किया। तीनों वन में चले गए। इससे भरत बहुत दुखी हुए। कैकेयी को भी बहुत कष्ट हुआ। कैकेयी अपने पुत्र भरत के साथ राम को लौटाने के लिए वन में गई। पर श्रीराम ने पिता के वचन का वास्ता देकर लौटने से इंकार कर दिया। चौदह वर्षों के लिए विवश मन से भरत को शासन सूत्र संभालना पड़ा।

श्रीराम लक्ष्मण और सीता के साथ चौदह वर्षों तक वन में रहे। उस अवधि में अनेक घटनाएं घटीं। एक बार अनजाने में लक्ष्मण के हाथ से राक्षस कुल के साधनारत युवक शंबूक का वध हो गया। इससे शनैः-शनैः समस्त राक्षस जाति श्रीराम और लक्ष्मण को अपना शत्रु मानने लगी। विशाल राक्षस सेना ने श्रीराम और लक्ष्मण पर धावा बोल दिया, पर परम पराक्रमी राम और लक्ष्मण ने राक्षसों को पराजित कर दिया। शंबूक की माता सूर्पणखा अपने भाई लंका नरेश राक्षस वंशीय रावण के पास सहायता के लिए गई। रावण ने सूर्पणखा की बात में विशेष रुचि नहीं दिखाई। तब रावण की दुर्बलता को कुरेदते हुए सूर्पणखा ने राम की पत्नी सीता के अनिंद्य सौन्दर्य की प्रशंसा करते हुए कहा कि वह नारीरत्न लंकेश के महलों की शोभा होनी चाहिए। इससे रावण सीताहरण के लिए तैयार हो गया और उसने तर्क यह दिया कि अपनी पत्नी को छुड़ाने के लिए राम जब उसके पास आएगा तो उसे और उसके भाई को शंबूक के वध का दण्ड दिया जाएगा।

रावण ने साधु का वेश बनाकर उस समय सीता का हरण कर लिया जब राम और लक्ष्मण खर आदि राक्षसों के साथ युद्ध में उलझे हुए थे। युद्ध से लौटकर कुटिया में सीता को न पाकर राम और लक्ष्मण चिंतित और दुखित हुए। वन-वन घूमकर सीता को खोजने लगे। उसी दौरान सुग्रीव और हनुमान से श्रीराम की भेंट हुई। परस्पर मैत्री हुई। श्रीराम के प्रयास से सुग्रीव को उसका खोया हुआ राज्य मिल गया। फिर सुग्रीव और हनुमान के प्रयासों से यह पता लगाया गया कि सीता लंका में है। आखिर हनुमान माता सीता को खोजने में सफल हो गए। हनुमान ने रावण को समझाया कि वह ससम्मान माता सीता को श्रीराम को लौटा दे। पर शक्ति के मद में चूर रावण ने हनुमान की बात का उपहास उड़ाया। राम की शक्ति का परिचय देने के लिए हनुमान ने रावण के पुत्र का वध कर दिया और लंका में आग लगा दी। तदनन्तर सकुशल श्रीराम के पास लौट आए।

अंततः समुद्र पर सेतु बांधकर श्रीराम और लक्ष्मण ने सुग्रीव, हनुमान तथा उनकी सेना के साथ लंका में प्रवेश किया। दूत भेजकर श्रीराम ने पुनः युद्ध से बचने का मार्ग तलाशा। पर रावण झुकने को तत्पर न था। परिणामतः भयानक युद्ध हुआ।

उस युद्ध में रावण कुल सहित विनाश को प्राप्त हो गया। रावण का अनुज विभीषण युद्ध शुरू होने से पहले ही श्रीराम की शरण में पहुंच गया था, फलतः वह बच गया। उसे ही लंका की राजगद्दी सौंपकर श्रीराम ने अपनी निस्पृहता का परिचय दिया। यह वह क्षण था जब चौदह वर्ष का वनवास काल पूर्ण हो चुका था। श्रीराम लक्ष्मण, सीता, हनुमान, सुग्रीव आदि के साथ अयोध्या लौटे। वैदिक परम्परा के अनुसार श्रीराम का राजतिलक हुआ। जैन परम्परानुसार श्रीराम राजपद से निर्लेप ही रहे और भरत ने भी राजमुकुट लेने से इन्कार कर दिया तो लक्ष्मण अयोध्या के राजा बने। तीन खण्ड को साधकर लक्ष्मण ने वासुदेव का पद पाया। श्रीराम बलदेव बने।

सुदीर्घ काल तक राजसुख भोगकर लक्ष्मण का देहान्त हो गया। इससे श्रीराम के शोक का पारावार न रहा। विरक्त होकर उन्होंने संयम धारण कर लिया और निरतिचार चारित्र की आराधना करके वे मोक्ष-धाम में जा विराजे। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 7

रामकृष्णा

साध्वी रामकृष्णा ने भद्रोत्तर प्रतिमा की आराधना की। इस तप विधि की चार परिपाटियां हैं तथा प्रत्येक परिपाटी में पांच लताएं हैं। इस तप की चारों परिपाटियों में दो वर्ष, दो मास और बीस दिन लगते हैं। इनका शेष परिचय 'काली' के समान है। (देखिए-काली)

रामचन्द्र (आचार्य)

कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र के सुयोग्य शिष्य एवं प्रकृष्ट प्रतिभा के धनी एक जैन आचार्य। आचार्य हेमचन्द्र ने मुनिवर रामचन्द्र को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। मुनि रामचन्द्र अपनी अगाध प्रज्ञाशीलता के कारण इसके अधिकारी भी थे। अपने समय के वे ख्यातिलब्ध विद्वान और उत्कृष्ट साहित्य के रचनाकार थे। उन्होंने कई श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना की। नाट्य विधा पर साहित्य रचना में उनका असाधारण अधिकार था।

आचार्य रामचन्द्र की विद्वत्ता और प्रत्युत्पन्नमति प्रतिभा पर तत्कालीन नरेशों से लेकर प्रतिद्वन्द्वी विद्वानों तक चमत्कृत थे। उनकी प्रतिभा से उपजे एक श्लोक पर अभिभूत होते हुए तत्कालीन गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह ने उनको 'कविकटार मल्ल' की उपाधि से अलंकृत किया था।

आचार्य रामचन्द्र जी ने उत्कृष्ट साहित्य की रचनाओं द्वारा पर्याप्त सुयश अर्जित किया। उन द्वारा रचित अनेक ग्रन्थों में नाट्यदर्पण और द्रव्यालंकार वृत्ति विशेष ख्याति प्राप्त ग्रन्थ हैं।

आचार्य हेमचन्द्र के स्वर्गारोहण के पश्चात् मुनि रामचन्द्र आचार्य पाट पर विराजमान हुए। परन्तु उनका शासन काल एक वर्ष का ही रहा। इतिहास की एक क्रूर घटना ने आचार्य रामचन्द्र जैसे प्रतिभापुरुष को जैन जगत से छीन लिया। घटना के बिन्दु इस प्रकार हैं—

आचार्य हेमचन्द्र ने आचार्य रामचन्द्र को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। इससे मुनि रामचन्द्र के गुरु बन्धु बालचन्द्र मुनि का हृदय ईर्ष्यादग्ध बन गया। उधर संयोग से आचार्य हेमचन्द्र के स्वर्गवास के 32 दिन पश्चात् ही नरेश कुमारपाल का निधन हो गया। कुमारपाल का भतीजा शासनारूढ़ हुआ। उसका

नाम अजपाल था और वह अदूरदर्शी तथा मन्दबुद्धि था। मुनि बालचन्द्र से उसकी अंतरंगता थी। बालचन्द्र ने अजपाल के कान भर दिए और अजपाल ने षड्यन्त्र रचकर आचार्य रामचन्द्र का वध करा दिया।

कानों के कच्चे एक राजा ने भले ही आचार्य रामचन्द्र को देह से अतीत कर दिया, पर अपने अमर और उत्कृष्ट साहित्य में वे सदैव जीवित हैं। —प्रबंध चिंतामणि

रामरक्षिता (आर्या)

आर्या रामरक्षिता का समग्र जीवन वृत्त काली आर्या के समान जानना चाहिए। विशेषता इतनी है कि आर्या रामरक्षिता का जन्म राजगृह नगर में हुआ, तथा मृत्यु के पश्चात् वह ईशानेन्द्र महाराज की पट्टरानी के रूप में जन्मी। (देखिए-काली आर्या) —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 10, अ. 4

रामा (आर्या)

आर्या रामा का समग्र जीवन वृत्त काली आर्या के समान वर्णित है। अंतर इतना है कि रामा आर्या का जन्म राजगृह नगरी में हुआ और कालधर्म के पश्चात् वह ईशानेन्द्र की पट्टमहिषी के रूप में जन्मी। (देखिए-काली आर्या) —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 10, अ. 3

रामादेवी

भगवान सुविधिनाथ की जननी। (देखिए-सुविधिनाथ तीर्थंकर)

रावण

लंका का राजा जो दशानन, दशकंधर आदि नामों से भी ख्यात था। राक्षस वंशीय रावण के पिता का नाम रत्नश्रवा और माता का नाम केकसी था। बाल्यकाल से ही उद्धत प्रकृति का रावण जब बहुत छोटा ही था तभी उसने एक दिन अपने प्रपितामह का नवमाणिक हार उठाकर अपने गले में डाल लिया जिसमें प्रतिबिम्बित होकर उसके दस मुख दिखाई देने लगे। ऐसे वह दशमुख और दशानन कहलाने लगा। रावण बहुत पराक्रमी था और उसी के बल पर उसने अपना साम्राज्य तीन खण्डों पर स्थापित कर लिया था। वह प्रतिवासुदेव कहलाया।

मन्दोदरी रावण की पत्नी थी। विभीषण और कुंभकरण रावण के भाई थे। इन्द्रजीत, मेघवाहन आदि उसके कई शक्तिशाली पुत्र थे। चन्द्रनखा जो सूर्पणखा नाम से प्रसिद्ध हुई रावण की बहन थी। रावण में जहां कई अवगुण थे वहां एक विशेष गुण यह भी था कि वह किसी भी स्त्री को उसकी अनुमति के बिना स्पर्श नहीं करता था।

सूर्पणखा के वाग्जाल में फंसकर रावण राम की भार्या सीता के रूप पर मोहित हो गया और उसने छलपूर्वक सीता का हरण कर लिया। फलस्वरूप उसे श्रीराम का प्रतिरोध झेलना पड़ा। रावण को अपने बल पर घमण्ड था और वह सोचता था कि अल्प साधन और अल्प सेना के साथ राम उसका कुछ भी अहित नहीं कर सकता है। पर उसका विश्वास उसका साथ न दे सका और वह परिवार और पुत्रों सहित युद्ध में मारा गया। भारतीय संस्कृति में आज भी रावण को बुराई का प्रतीक माना जाता है।

जैन कथा साहित्य के अनुसार रावण भविष्य में सन्मार्ग का पथिक बनकर सिद्धत्व प्राप्त करेगा।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 7

रुक्मी

महाराज भीम का पुत्र और रुक्मिणी का सहोदर।

(क) रुक्मिणी

विहरमान तीर्थंकर प्रभु सीमंधर स्वामी ने गृहावस्था में रुक्मिणी नामक राजकुमारी से विवाह किया था। (देखिए-सीमंधर स्वामी)

(ख) रुक्मिणी

वासुदेव श्री कृष्ण की पटरानी, विदर्भ देश के कुंडिनपुर नगर के महाराज भीम की पुत्री तथा युवराज रुक्मी की बहन। उसकी माता का नाम शिखावती था। कृष्ण द्वारा रुक्मिणी-हरण का प्रसंग जैन, वैदिक और आधुनिक साहित्य में सरसता से चित्रित हुआ है। कथा यूं है—

सत्यभामा श्रीकृष्ण की पटरानी थी। वासुदेव की पटरानी होने के कारण वह गर्विता बन गई थी। नारद जी सत्यभामा के गर्व को तोड़ना चाहते थे। वे किसी ऐसी सुशील कन्या की तलाश में थे जो श्रीकृष्ण की पटरानी बनने के सर्वथा योग्य हो। घुमक्कड़ प्रकृति के नारद जी की दृष्टि रुक्मिणी पर पड़ी। उन्हें रुक्मिणी सर्वथा योग्य कन्या प्रतीत हुई। चित्रों के आदान-प्रदान और गुण संकथन के द्वारा नारदजी श्रीकृष्ण और रुक्मिणी के मध्य प्रेमाकर्षण जगाने में सफल हो गए। पर राजकुमार रुक्मी ने अपने पिता और बहन की इच्छा की अवहेलना करके चन्देरी नरेश शिशुपाल के साथ रुक्मिणी का सम्बन्ध तय कर दिया। शिशुपाल बारात लेकर कुंडिनपुर पहुंचा। रुक्मिणी ने एक विश्वस्त और कुशल पुरोहित के हाथ श्रीकृष्ण के पास एक पत्र भेज दिया। श्रीकृष्ण अग्रज बलराम के साथ कुंडिनपुर के बाह्य भाग में स्थित प्रमद बाग में पहुंचे। संकेतानुसार रुक्मिणी कामदेव की पूजा के बहाने प्रमद बाग में पहुंच गई। श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का हरण कर लिया। शिशुपाल और रुक्मी ने श्रीकृष्ण का पीछा किया। श्रीकृष्ण ने उन दोनों को परास्त कर दिया। शिशुपाल भाग खड़ा हुआ। रुक्मी को श्रीकृष्ण ने बन्दी बना लिया। आखिर रुक्मिणी की प्रार्थना पर उसे मुक्त कर दिया। अपनी पुत्री को सर्वयोग्य वर के साथ देखकर महाराज भीम अति प्रसन्न हुए। उन्होंने श्रीकृष्ण के साथ अपनी पुत्री का सविधि विवाह कर दिया।

श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी को अपनी पटरानी बनाया। रुक्मिणी ने श्रीकृष्ण के ही समान एक परम तेजस्वी पुत्र को (प्रद्युम्न कुमार) जन्म दिया। कालान्तर में भगवान श्री अरिष्टनेमि से प्रतिबोध पाकर रुक्मिणी ने दीक्षा धारण की और परम पद प्राप्त किया। —अन्तगड सूत्र वर्ग 5, अध्ययन 8

(ग) रुक्मिणी

पाटलिपुत्र नगर के एक धनकुबेर धनदेव नामक श्रेष्ठी की रूपवती पुत्री। वह विदुषी और गुणवान थी। नगरभर में उसके रूप-गुण चर्चित थे। एक बार आर्य वज्रस्वामी अपने शिष्य समुदाय के साथ पाटलिपुत्र पधारे। रुक्मिणी वज्रस्वामी को देखकर उनके रूप पर मुग्ध हो गई। उसने अपने पिता धनदेव से निःसंकोच कह दिया कि आर्य वज्र ही उसके पति होंगे। यदि ऐसा नहीं हुआ तो वह अग्नि-प्रवेश करके प्राण दे देगी।

धनदेव श्रेष्ठी अपनी विदुषी और प्रिय पुत्री के निश्चय से सहमत होकर करोड़ों की सम्पत्ति तथा पुत्री रुक्मिणी को साथ लेकर आर्य वज्र की धर्मसभा में पहुंचा। सम्पत्ति आर्य वज्र के चरणों में रखकर श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री का निश्चय उन्हें बताया। आर्य वज्र ने रुक्मिणी को आत्म प्रेम का रहस्य समझाया। आर्य वज्र के आत्मस्पर्शी उपदेश ने रुक्मिणी की विचार धारा को धर्म जल से आप्लावित कर दिया। रुक्मिणी घर नहीं लौटी और आर्य वज्र के धर्म संघ में दीक्षित होकर आत्म-पथ की साधिका बन गई।

मृण्मय प्रेम से चिन्मय प्रेम की साधिका बनकर रुक्मिणी अमर बन गई। —प्रभावक चरित्र पृष्ठ 6

(क) रुद्र

वर्तमान अवसर्पिणी काल के तृतीय नारद। (देखिए-नारद)

(ख) रुद्र

द्वारिका नगरी का राजा और तृतीय वासुदेव स्वयंभू का जनक। (देखिए-स्वयंभू वासुदेव)

(क) रुद्रदत्त

गुडखेटक नगर का रहने वाला एक शैव। वह धनी, मानी, गुणवान और सदाचारी युवक था। उसमें एक ही दुर्गुण था, वह था—जिन धर्म से विद्वेष। मुखर रूप से तो वह जिनधर्म की निन्दा नहीं करता था, पर हृदय में श्रमणों और श्रमण-धर्म से द्वेषभाव रखता था।

उसी नगर में जिनदत्त नामक एक अनन्य श्रमणोपासक श्रेष्ठी निवास करता था। उसकी एक पुत्री थी जिसका नाम जिनमती था। जिनमती भी अनन्यरूपेण जिनोपासिका थी। जिन संस्कार उसे विरासत में प्राप्त हुए थे। वह परम रूपवान और युवा थी। सेठ जिनदत्त का मनस् संकल्प था कि वे अपनी पुत्री का विवाह किसी जैन युवक से ही करेंगे।

किसी उत्सव के समय रुद्रदत्त की दृष्टि जिनमती पर पड़ी तो वह उसके रूप पर मुग्ध हो गया। वह अविवाहित था। उसने निश्चय कर लिया कि वह विवाह करेगा तो जिनमती से ही करेगा। उसने अपने विश्वस्त मित्र से अपने हृदय की बात कही। मित्र ने रुद्रदत्त को समझा दिया कि उसका संकल्प कभी भी यथार्थ नहीं बन पाएगा, क्योंकि जिनदत्त अपनी पुत्री का विवाह जिनोपासक युवक से ही करेगा। मित्र की बात सुनकर रुद्रदत्त ने कपट-श्रावक बनने का निश्चय कर लिया। वह चतुर तो था ही, उसने शीघ्र ही श्रमणों से जिन धर्म के सिद्धान्तों और तत्वों को सीख लिया तथा श्रमण सभा में वह प्रत्येक प्रसंग पर अग्रणी रहकर सामायिक-संवर-पौषधादि की आराधना करने लगा। उसकी कपट क्रियाओं से मुनिजन भी प्रभावित हुए और उसकी धर्मनिष्ठा की प्रशंसा करने लगे। शनैः शनैः रुद्रदत्त ने जिनदत्त से सम्पर्क बढ़ाया और अपनी कपट क्रियाओं से उसे भी उसने प्रभावित बना लिया। फिर उचित अवसर साधकर उसने जिनदत्त से उसकी पुत्री जिनमती का हाथ अपने लिए मांगा। सेठ रुद्रदत्त से प्रभावित तो हो ही चुका था, सो उसने रुद्रदत्त का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और शुभ मुहूर्त्त में जिनमती का विवाह रुद्रदत्त से कर दिया।

विवाह के कुछ दिन बाद ही रुद्रदत्त अपनी लीक पर लौट गया। साथ ही उसने जिनमती को कह दिया कि वह भी शिवाराधना करे। जिनमती समझ गई कि उसके साथ छल हुआ है। परन्तु अब उसका निराकरण संभव नहीं था। पति-पत्नी के मध्य क्लेश उभर आया। आखिर क्लेश कब तक चलता। दोनों सुशिक्षित थे। परस्पर बैठकर दोनों ने मध्य मार्ग निकाला—कि रुद्रदत्त शिवालय नहीं जाएगा और जिनमती उपाश्रय नहीं जाएगी। यह क्रम कई दिनों तक चला।

एक दिन पार्श्ववर्ती वन में रहने वाले भीलों ने नगर में आग लगा दी। देखते ही देखते आग ने पूरे नगर को चपेट में ले लिया। लोग अपने-अपने घरों की बहुमूल्य वस्तुएं साथ लेकर सुरक्षित स्थान तलाशने लगे। जिनमती ने देखा, रुद्रदत्त आग से आंखें मूंदकर शिवाराधना में तल्लीन है। जिनमती ने रुद्रदत्त को समझाया कि वह अपनी और अपने धन की अग्नि से रक्षा करे। इस पर रुद्रदत्त बोला, आज परीक्षा का उचित अवसर आया है, मैं शिवाराधना के प्रभाव से अपने घर को अग्नि के प्रकोप से मुक्त रखके तुम्हें दिखाऊंगा। जिनमती ने पूछा, यदि असफल हुए तो ? रुद्रदत्त बोला, यदि असफल हुआ तो मान लूंगा कि शैव धर्म निःसार है।

फिर तुम्हें अपने धर्म का प्रभाव दिखाना होगा। यदि वैसा करने में तुम सफल रही तो मैं तन-मन से जिन धर्म को अंगीकार कर लूंगा।

रुद्रदत्त ने जिनमती पर यह शर्त थोप दी। जिनमती धर्म की परीक्षा नहीं लेना चाहती थी और न ही वह चमत्कार में धर्म मानती थी। पर पति के निर्णय के समक्ष विवश थी। रुद्रदत्त बुलन्द स्वर से शिवाराधना में तल्लीन था, वह पुनः-पुनः प्रार्थना कर रहा था कि हे महादेव! अग्नि के प्रकोप से उसके घर की रक्षा करो। परन्तु उसने देखा, उसका घर अग्नि ज्वालाओं से घिर गया है। तब उसने अन्य देवी-देवताओं से अग्नि से रक्षा की प्रार्थना की, पर उसकी प्रार्थना विफल रही।

रुद्रदत्त की आस्था डोल गई। वह उठ खड़ा हुआ। उसने जिनमती से कहा कि अब वह उसके घर की रक्षा करे। जिनमती ने सोचा, संभव है कि चमत्कार-दर्शन से उसके पति को सम्यग्दर्शन प्राप्त हो जाए। इस विचार से उसने अपने हृदय में संकल्प किया और करबद्ध प्रार्थना की, हे शासनदेव! नगर को और नागरिकों को अग्नि के प्रकोप से मुक्त करो। जिनमती के इन शब्दों के साथ ही अग्नि का प्रकोप ऐसे शान्त हो गया जैसे फूंक मार देने पर दीपक बुझ जाता है। यह देखकर रुद्रदत्त चकित रह गया। सभी लोगों ने जिनमती के स्तुतिगान किए और जिनधर्म की जय-जयकार की। अनेक लोगों ने श्रमण-धर्म को आत्मधर्म के रूप में अंगीकार किया। रुद्रदत्त ने भी जिनधर्म अंगीकार कर लिया।

जिनमती ने कहा, चमत्कार जिन धर्म का लक्षण नहीं है। जिनधर्म का लक्षण तो आत्मकल्याण है। और इस जगत में आत्मकल्याण ही परम चमत्कार है।

रुद्रदत्त सहित जनसमुदाय ने जिनमती के वचनों को हृदयंगम किया। जिनमती और रुद्रदत्त पूरे भाव से धर्म का पालन करते रहे। अन्त में दोनों ने प्रव्रज्या धारण की और परमगति का अधिकार प्राप्त किया।

—बृहत्कथा कोष, भाग 1 (आचार्य हरिषेण)

(ख) रुद्रदत्त

एक पुरोहित (देखिए-हरिकेशी मुनि)

रुद्रसूरि (आचार्य)

प्राचीन काल के एक जैनाचार्य। निर्ग्रन्थ धर्म में प्रव्रजित होने से पूर्व रुद्रसूरि (रुद्रदत्त) ब्राह्मण धर्म का समर्थ संवाहक था। गुणसेन आचार्य के प्रवचन से प्रतिबोध पाकर वह मुनि बन गया और शास्त्रों का अध्ययन कर समर्थ विद्वान बना। गुणसेन आचार्य रुद्रसूरि की विद्वत्ता पर मुग्ध थे, इसलिए कालधर्म को प्राप्त होने से पूर्व उन्होंने उसे आचार्य पद पर आसीन कर दिया। आचार्य रुद्रसूरि के श्रमण संघ में अनेक ज्ञानी-ध्यानी और विद्वान मुनिराज थे। पर चार मुनि विशिष्ट गुण सम्पन्न थे। प्रथम मुनि थे—बन्धुदत्त मुनि जो वाद कला में निष्णात थे। द्वितीय थे—प्रभाकर मुनि, जो दीर्घतपस्वी थे। तृतीय थे—सोमिल मुनि, जो निमित्तशास्त्र के पारगामी विद्वान थे। और चतुर्थ थे—सामज्ज मुनि, जो योगविद्या में कुशल थे। इन चार मुनियों का श्रमण संघ और श्रावक संघ में विशेष आदर-मान था। उनके प्रभाव से आचार्य रुद्रसूरि मन ही मन ईर्ष्या का सूक्ष्म भाव रखते थे। फलतः वे कभी उक्त मुनियों की प्रशंसा अथवा गुणानुवाद में एक शब्द भी नहीं बोलते थे।

एक बार रुद्रसूरि अपने मुनि संघ के साथ राजगृही नगरी में विराजमान थे। पाटलिपुत्र श्रीसंघ ने एक मुनि को आचार्य श्री के पास भेजा और संदेश निवेदित किया कि पाटलिपुत्र नगर में विदुर नामक एक व्यक्तलिंगी

विद्वान आया है, वह भारतवर्ष के अनेक दिग्गज विद्वानों को वाद में परास्त कर चुका है, यहां आकर उसने श्रमण संघ को वाद के लिए चुनौती दी है, अतः श्रमण संघ के मान की रक्षा के लिए आचार्य श्री पाटलिपुत्र पधारें। उक्त संदेश पाकर आचार्य श्री ने बन्धुदत्त मुनि को पाटलिपुत्र भेजा। राजदरबार में विदुर और बन्धुदत्त के मध्य शास्त्रार्थ हुआ। बन्धुदत्त मुनि ने अनेकान्त दर्शन के निरूपण से विदुर को कुछ ही समय में निरुत्तर कर दिया। इससे बन्धुदत्त मुनि का विशेष सम्मान मुनि संघ और श्रावक संघ में हुआ। बन्धुदत्त मुनि आचार्य रुद्रसूरि के पास पहुंचे। परन्तु आचार्य ने मुनि के लिए दो शब्द भी गुणानुवाद में नहीं कहे। इससे मुनि बन्धुदत्त का उत्साह शिथिल पड़ गया। वे प्रमादी बन गए।

उधर प्रभाकर मुनि चातुर्मासिक तप पूर्ण करके आचार्य श्री के चरणों में आए। पर आचार्य श्री ने उनकी प्रशंसा में भी कृपणता का ही परिचय दिया। स्पष्ट है कि आचार्य गुणियों के गुणानुवाद से सदैव परहेज करते रहे। इससे मुनि संघ में प्रमाद की प्रवृत्ति बढ़ने लगी।

गुणों के प्रति अनादर भाव रखने वाले आचार्य रुद्रसूरि मरकर किल्विषी जाति के देव बने। वहां का आयुष्य पूर्ण करके एक दरिद्र ब्राह्मण के घर पुत्र रूप में जन्मे। ब्राह्मण-पुत्र गूंगा था। उसके पास जबान तो थी पर वह शब्द-व्यवहार में समर्थ न था, इससे ब्राह्मण-पुत्र मन ही मन बहुत दुख अनुभव करता था।

एक बार एक आचार्य का सान्निध्य ब्राह्मण-पुत्र को प्राप्त हुआ। आचार्य श्री ने ब्राह्मण-पुत्र को उसका पूर्वभव सुनाया और स्पष्ट किया कि गुणों के प्रति उसके अनादर भाव के कारण ही उसे पहले किल्विषी जाति में जन्म लेना पड़ा और वर्तमान में गूंगा होना पड़ा है। आचार्य श्री के श्रीमुख से अपना अतीत सुनकर ब्राह्मण-पुत्र प्रतिबोधित बन गया और चारित्र ग्रहण कर उत्तम गति का अधिकारी बना।

—कथा रत्नकोष, भाग 1

रूपकला

अनूपगढ़ नगर के राजा सुमतिचन्द्र की इकलौती सन्तान, एक बुद्धिमति और पतिव्रता सन्नारी। राजा सुमतिचन्द्र एक हठी राजा था। अपनी हठ के कारण ही उसने अपनी इकलौती पुत्री का विवाह एक वज्रमूर्ख और दरिद्रनारायण युवक से कर दिया। रूपकला अपने पिता के इस कार्य से किंचित् मात्र भी खिन्न नहीं हुई। शंकर नामक उक्त दरिद्र युवक को ही अपना प्राणेश्वर मानकर वह उसके साथ चली गई। शंकर एक लकड़हारा था और जंगल से लकड़ियां लाकर श्रेष्ठी माणकचन्द को बेचकर उदर पोषण करता था। आय में वृद्धि लाने के लिए एक दिन रूपकला भी शंकर के साथ जंगल में लकड़ियां लेने गई। यह देखकर वह चकित हो गई कि शंकर प्रतिदिन गोशीर्ष चन्दन की लकड़ियां श्रेष्ठी को बेचता है। उसने अपने बुद्धिबल से सेठ माणकचन्द को यह समझा दिया कि वह वर्षों से भोले-भाले शंकर को ठगता रहा है। उसे शंकर को अतीत में दी गई लकड़ियों का पूर्ण मूल्य देना होगा अन्यथा उसे राजदण्ड का पात्र बनना पड़ेगा। रूपकला के वाग्चातुर्य और साहस के समक्ष सेठ नत हो गया। उसने इक्कीस लाख स्वर्णमुद्राएं शंकर को दीं। रूपकला ने नगर के मध्य में एक विशाल भवन खरीदा और जंगल से गोशीर्ष चन्दन के अनेक वृक्ष कटवाकर—पर्याप्त मात्रा में चन्दन प्राप्त किया। उसने शंकर के लिए शिक्षक की व्यवस्था की और कुछ ही वर्षों में उसे सुशिक्षित बना दिया। शंकर पूरे देश में चन्दन व्यापारी और शंकर सेठ के नाम से ख्यात हो गया।

रूपकला ने एक पुत्र को जन्म दिया। यथासमय पुत्र का नामकरण हुआ और एक प्रीतिभोज का आयोजन शंकर सेठ ने किया। राजा सुमतिचन्द्र को भी उक्त भोज में आमंत्रित किया गया। भोज में वे सभी पदार्थ तैयार कराए गए जो राजा को विशेष रूप से पसन्द थे। भोज से राजा अत्यधिक प्रसन्न हुआ। भोजनोपरान्त

राजा ने शंकर से कहा, सेठ! तुम तो हमारे राज्य का गौरव हो। तुम्हारा नाम तो मैंने कई बार सुना पर भेंट का अवसर आज ही आया है। शंकर ने कहा, महाराज! आप भूल रहे हैं, पहले भी हमारी भेंट हो चुकी है। राजा ने कहा, हम पहले कब मिले, मुझे स्मरण नहीं आ रहा है। शंकर ने कहा, इतने निकट के रिश्ते को भी आप भूल रहे हो! पर मैं अपने श्वसुर को नहीं भूल सकता।

शंकर की बात सुनकर राजा विस्मित हो गया। रूपकला ने उपस्थित होकर अपने पिता को प्रणाम किया। राजा गद्‌गद हो गया। उसे अपनी हठ पर ग्लानि और अपनी पुत्री की बुद्धिमत्ता और भाग्य पर अपार हर्ष हुआ। उत्सव महोत्सव में बदल गया। महोत्सव के अन्त में राजा सुमतिचन्द्र ने शंकर को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

रूपकला और शंकर श्रेष्ठ जीवन जीकर सद्‌गति को प्राप्त हुए।

रूपकांता (आर्या)

इनका समग्र परिचय रूपा आर्या के समान है। (देखिए-रूपा आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., चतुर्थ वर्ग, अध्ययन 5

रूपप्रभा (आर्या)

आर्या रूपप्रभा का संपूर्ण कथानक आर्या रूपा के तुल्य जानना चाहिए। (देखिए-रूपा आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., चतुर्थ वर्ग, अध्ययन 6

रूपली

राजपुर गांव के एक क्षत्रिय किसान की पुत्री जिसका बाल्यकाल गांव के निकट जंगलों में गाएं चराते हुए बीता और मातृमृत्यु के पश्चात् किशोरावस्था वसंतपुर नगर में सेठ धनपाल की गौसेवा करते हुए व्यतीत हुई। धनपाल सेठ एक जिनधर्मानुयायी श्रावक थे और रूपली पर पितृस्नेह उंडेलते थे। पर रूपली को गउओं के साथ वन-विहार करने में विशेष आनन्द प्राप्त होता था इसलिए उसने नगर में रहकर भी गौसेवा को ही अपने लिए चुना था। वह प्रतिदिन प्रभात में गायों के संग वन में चली जाती और संध्या में गायों को लौटा लाती। ऐसे ही वह यौवन के द्वार पर पहुंच गई। रूपली के जीवन में नगर में आने के पश्चात् जो एक अन्य परिवर्तन हुआ वह था उसके हृदय में जिन धर्मानुराग का बीजावपन हो जाना। धर्मपिता के संग वह कई बार मुनियों के दर्शनों के लिए गई। उपदेश सुनकर देव-गुरु-धर्म पर उसकी आस्था सुदृढ़ बनी। वह नवकार मंत्र की नित्य आराधना करती।

एक बार वसंतपुर नरेश विमलसेन शिकार खेलने के लिए वन में गया। राजा की दृष्टि गौसेवा में लीन रूपली पर पड़ी तो वह उस कन्या के आकर्षण में बंध गया। उसने रूपली से उसका परिचय प्राप्त किया और नगर में लौट आया। राजा के अंतःपुर में कई रानियां थीं, पर रूपली सी रूपवान एक भी नहीं थी। राजा ने रूपली को अपनी पटरानी बनाने का निश्चय कर लिया। उसने अपने प्रधानमंत्री को सेठ धनपाल के पास रूपली का हाथ मांगने के लिए भेजा। महामंत्री के मुख से अकल्पित प्रस्ताव सुनकर सेठ की प्रसन्नता का पारावार न रहा। उसने इस संदर्भ में रूपली की राय पूछी। रूपली के प्रस्ताव पर महामंत्री ने उससे भेंट की। रूपली ने कहा, मंत्रीवर! मेरा विवाह मेरे धर्मपिता की इच्छा पर निर्भर है। यदि वे मेरा हाथ राजा के हाथ में देना चाहें तो इसमें मुझे आपत्ति नहीं है। परन्तु राजा मुझसे विवाह करने को उत्सुक हैं तो उन्हें मेरी कुछ शर्तें माननी होंगी। प्रधानमंत्री के पूछने पर रूपली ने अपनी शर्तें बताईं—राजा को मेरे धर्मपिता को नगर सेठ का

पद देना होगा, उन्हें शिकार का त्याग करना होगा और मद्य-मांस के आहार का परित्याग लेना होगा। राजा ने प्रसन्नता से रूपली की शर्तें मान लीं और उससे विवाह करके उसे पटरानी का पद दे दिया।

रूपली किसान के घर में जन्म लेकर भी महारानी के सिंहासन तक पहुंच गई पर उसने अहंकार को अपने हृदय में प्रवेश नहीं लेने दिया। गाय चराते हुए वह जिन मैले-कुचैले वस्त्रों को धारण करती थी उन्हें अपने साथ लेकर आई थी। प्रतिदिन उन वस्त्रों को धारण करके वह महामंत्र नवकार का जाप करती थी। उसने दासियों की सेवा कभी स्वीकार नहीं की। अपने कार्य वह अपने ही हाथों से करती थी।

राजा की अन्य रानियां रूपली के भाग्य से ईर्ष्या करती थीं। उन्होंने राजा के कान भरे कि रूपली जादू-टोना करती है। राजा ने रूपली की परीक्षा ली और संतुष्ट हो गया कि रानियों ने वैसा ईर्ष्यावश कहा है। पर राजा को यह पसन्द नहीं था कि रूपली अपना पुराना वेश धारण करे। यही बात राजा के क्रोध का कारण बनी और उसने रूपली को जंगल में भिजवा दिया। रूपली ने इसे साधना का सुअवसर माना और वह जंगल में रहकर साधना करने लगी। छह मास पश्चात् राजा उसे लेने गया तो उसकी वीतराग साधना को देखकर न केवल चमत्कृत बन गया बल्कि विरक्त भी बन गया। अंततः रूपली के साथ ही राजा भी प्रव्रजित हो गया। निरतिचार चारित्र की आराधना करके रूपली और राजा देवलोक के अधिकारी बने। अनुक्रम से दोनों सिद्धत्व प्राप्त करेंगे।

(क) रूपवती (आर्या)

आर्या रूपवती की पूरी कथा कमला आर्या की कथा के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 5

(ख) रूपवती (आर्या)

रूपवती आर्या का समग्र जीवन परिचय रूपा आर्या के समान जानना चाहिए। (देखिए-रूपा आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 4, अध्ययन 4

रूपसुंदरी

(देखिए-श्रीपाल)

रूपसेन

पृथ्वीभूषण नगर के श्रेष्ठी का सर्वांगपूर्ण सुन्दर पुत्र। (देखिए-सुनन्दा)

रूपांशा (आर्या)

रूपांशा आर्या की सम्पूर्ण कथा रूपा आर्या की कथा के समान ही है। (देखिए-रूपा आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., चतुर्थ वर्ग, अध्ययन 3

रूपा (आर्या)

श्री ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र के अनुसार रूपा आर्या का जन्म चम्पा नगरी में हुआ। उसके पिता का नाम रूपक गाथापति और माता का नाम रूपकश्री था। पुरुषादानीय प्रभु पार्श्वनाथ एक बार अपने मुनिसंघ के साथ चम्पानगरी के बाह्य भाग में स्थित पूर्णभद्र नामक चैत्य में पधारे। प्रभु का उपदेश सुनने के लिए विशाल परिषद उपस्थित हुई। कुमारी रूपा भी वहां उपस्थित हुई। प्रभु का उपदेश सुनकर उसे संसार असार प्रतीत होने लगा। माता-पिता की अनुज्ञा प्राप्त कर वह प्रव्रजित हो गई। आर्या पुष्पचूला के निर्देशन में रूपा आर्या

ने ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। वह तप और संयम में आत्मरमण करती हुई विचरने लगी।

कालांतर में रूपा आर्या का मन संयम के प्रति शिथिल हो गया और शरीर-शृंगार के प्रति वह रुचिशील बन गई। आर्या पुष्पचूला द्वारा उसे पुनः-पुनः सावधान किया गया पर प्रमाद के प्रति वह अजागरूक ही बनी रही। फलतः संघीय मर्यादाओं के अनुरूप उसे संघ से पृथक् कर दिया गया। रूपा आर्या स्वतंत्र विचरण कर संयम में दोषों का आसेवन करती रही। अंतिम समय आलोचना किए बना ही कालधर्म को प्राप्त कर वह भवनपति देवों में भूतानंद नामक इंद्र की पट्टमहिषी बनी। काली देवी के समान रूपा देवी ने भी प्रभु के समवसरण स्थल में नाट्यविधि का प्रदर्शन किया।

गणधर गौतम स्वामी के प्रश्न पर भगवान महावीर ने रूपा देवी के जीवन पर आद्योपांत प्रकाश डाला और स्पष्ट किया कि वह देवलोक से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगी और वहां चारित्र धर्म का निरतिचार पालन कर मोक्ष प्राप्त करेगी। —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., चतुर्थ वर्ग, अध्ययन 1

रूपीराज

श्रावस्ती नगरी का राजा, प्रभु मल्लि के पूर्वभव का मित्र। एक बार जब वह अपनी पुत्री के मज्जनक महोत्सव पर मंत्रमुग्ध बन रहा था तो वर्षधर नामक उसके अंतःपुर रक्षक ने यह कहकर उसकी चिंतन-धारा को परिवर्तित कर दिया कि मल्लि कुमारी के मज्जनक महोत्सव के समक्ष तुम्हारा यह महोत्सव कहीं नहीं ठहरता है। मल्ली के नाम श्रवण मात्र से ही रूपीराज के हृदय में मल्लि के प्रति अनुराग उमड़ अया। उसने अपना एक दूत महाराज कुंभ के पास भेजा और मल्लि से विवाह का प्रस्ताव रखा। महाराज कुंभ के अस्वीकार करने पर युद्ध के बादल तक मंडराए, अंततः मल्लि की युक्ति से रूपीराज प्रतिबुद्ध बन मोक्ष में गया। (देखें-मल्लिनाथ तीर्थंकर)

(क) रेणुका

नेमिककोष्ठक नगर के राजा जितशत्रु की शताधिक पुत्रियों में से एक। बाल्यावस्था में ही वह फल के प्रलोभन में आकर ऋषि जमदग्नि के साथ वन में चली गई थी। जब वह युवा हुई तो ऋषि ने उससे विवाह रचाया। उसी से जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसका नाम परशुराम रखा गया। अनुचित सम्बन्धों के कारण कुपित हो परशुराम ने ही अपनी माता का वध कर दिया था। (देखिए-सुभूम एवं परशुराम)

(ख) रेणुका

तेरहवें विहरमान तीर्थंकर श्री चन्द्रबाहु स्वामी की जननी। (देखिए-चन्द्रबाहु स्वामी)

(क) रेवती

श्रावस्ती नगरी की रहने वाली दृढ़धर्मिणी श्राविका। जिनवचनों पर उसकी सुदृढ़ आस्था थी। उसका सम्यक्त्व सुनिर्मल था। किसी समय मनोवेग नामक विधाधर दक्षिण-मथुरा में विराजित आचार्य मुनिगुप्ति के दर्शनों के लिए गया। वहां से उसे श्रावस्ती जाना था। उसने आचार्य देव से कहा, भगवन्! मैं श्रावस्ती नगरी जा रहा हूँ, वहां किसी के लिए कोई संदेश है तो फरमाएं। आचार्य श्री ने फरमाया, श्रास्वती में रेवती नामक एक श्राविका रहती है, उसे धर्मसंदेश कह देना। वह दृढ़धर्मिणी श्राविका है।

विधाधर श्रावस्ती नगरी पहुंचा। उसने विचार किया, जिस रेवती के लिए आचार्य श्री ने धर्मसंदेश प्रेषित किया है और उसे दृढ़धर्मिणी कहा है उसकी परीक्षा लेनी चाहिए। विद्याधर रूपपरावर्तिनी आदि अनेक

विद्याओं का ज्ञाता था। उसने प्रातःकाल ब्रह्मा जी का रूप धारण किया और नगरी के पूर्वीद्वार पर आकाश में कमलासन पर विराजित हो गया। नगरजन ब्रह्माजी को अवतरित देखकर श्रद्धाभिभूत बन गए। लोगों के झुण्ड के झुण्ड ब्रह्माजी के दर्शनों के लिए पूर्वी द्वार पर जाने लगे। नगर के सभी लोग गए, पर रेवती नहीं गई। दूसरे, तीसरे और चौथे दिन विद्याधर ने विष्णु, शिव और बुद्ध के रूप धारण कर नगरी के शेष द्वारों पर आसन जमाया। पूरा नगर उनके दर्शनों के लिए गया पर रेवती नहीं गई। पांचवें दिन विद्याधर ने पच्चीसवें तीर्थंकर का रूप धरा। सभी लोग दर्शनार्थ गए पर रेवती तब भी नहीं गई। विद्याधर को विश्वास हो गया कि रेवती की श्रद्धा सुदृढ़ है, वह किसी भी भ्रम अथवा पाखण्ड से भ्रमित बनने वाली नहीं है।

विद्याधर ने रेवती की एक अन्य प्रकार से भी परीक्षा ली। उसने एक रुग्ण मुनि का रूप बनाया और एक स्थान पर लेट गया। फिर एक कृत्रिम व्यक्ति का रूप धारण कर रेवती के पास सूचना पहुंचाई कि अमुक स्थान पर एक श्रमण रुग्ण हैं और उन्हें सेवाचर्या की आवश्यकता है। रेवती तत्क्षण मुनि के पास पहुंची। अपने सेवकों के सहयोग से वह रुग्ण मुनि को अपने पौषधगृह में ले गई और उनकी आहार-औषधादि से अग्लान सेवा भक्ति की। रेवती की श्रद्धा को विचलित करने के लिए मुनि रूपी विद्याधर ने पूरे घर का अन्न उदरस्थ कर लिया। उसके बाद उसने दुर्गन्धमयी शौच से पूरे पौषधगृह को भर दिया। रेवती के मस्तक पर घृणा की एक भी रेखा नहीं उभरी और उसने अपने ही हाथों से अशुचि को साफ किया।

यह देखकर विद्याधर दंग रह गया। अपने वास्तविक रूप में उपस्थित होकर उसने रेवती की धर्म श्रद्धा और श्रमण सेवा भाव की भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसने रेवती को आचार्य श्री का धर्मसंदेश दिया और अपने स्थान पर चला गया।

(ख) रेवती

महाशतक श्रमणोपासक की पत्नी। (देखिए-महाशतक)

(ग) रेवती

श्रीकृष्ण के अग्रज बलभद्र जी की रानी और निषध कुमार की माता।

(घ) रेवती

भगवान महावीर की अनन्य उपासिका, मींढ़ा ग्रामवासी एक धनाढ्य सेठ की पत्नी। गोशालक ने भगवान पर तेजोलेश्या छोड़ी। तेजोलेश्या भगवान के शरीर में तो प्रवेश न कर सकी पर उन की देह को परितापित अवश्य कर गई। उसके प्रभाव से भगवान को दो महीने तक दस्त लगते रहे। भगवान की देह कृश हो गई। इससे श्रीसंघ में चिन्ता व्याप्त हो गई। श्रीसंघ की चिन्ता को मिटाने के लिए भगवान ने सिंह अणगार को रेवती के घर भिक्षा लेने भेजा और निर्देश दिया कि रेवती ने कूष्माण्ड पाक और बिजोरा पाक—ऐसे दो पाक तैयार किए हैं। प्रथम पाक उसने मेरे निमित्त से तथा दूसरा पाक अपने अश्व के लिए तैयार किया है। वह दूसरे पाक में से कुछ भाग ले आए।

सिंह अणगार रेवती के घर पहुंचे। श्रद्धाभिभूत बनी रेवती ने मुनि को कूष्माण्ड पाक बहराना चाहा पर मुनि ने उसे सदोष बताते हुए ग्रहण नहीं किया। उन्होंने बिजोरापाक की याचना की। रेवती ने श्रद्धा के उत्तुंग शिखर पर आरोहण करते हुए वह पाक मुनि को बहाराया। उस क्षण उसके भाव इतने ऊंचे थे कि उसने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर लिया।

बिजोरापाक को ग्रहण करके भगवान स्वस्थ हो गए। श्रीसंघ में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। रेवती

शुद्ध श्रावक धर्म का पालन करके स्वर्ग में गई। आगत चौबीसी में रेवती का जीव समाधिनाथ नामक सत्रहवां तीर्थंकर बनेगा।

रेवती नक्षत्र (आचार्य)

नन्दी सूत्र स्थविरावली के अनुसार एक विशिष्ट प्रभावशाली जैन आचार्य। उनका श्रुतज्ञान विशद और गहन था। वाचनाचार्य के गरिमामयी पद पर रहते हुए उन्होंने संघ में श्रुतज्ञान की लौ को प्रखर बनाया। आपका स्थान वाचनाचार्यों की परम्परा में उन्नीसवां है।

रेवतीमित्र नामक युग प्रधान आचार्य से रेवतीनक्षत्र भिन्न थे। दोनों के मध्य लगभग सौ वर्षों का अन्तराल माना जाता है। वाचनाचार्य रेवतीनक्षत्र का समय वीर निर्वाण की सातवीं शताब्दी अनुमानित है।

—नन्दी सूत्र स्थविरावली

रैन मंजूषा

(देखिए—श्रीपाल)

रोहक

औत्पातिकी बुद्धि का स्वामी एक नटपुत्र।

रोहक के पिता का नाम भरत था। भरत उज्जयिनी नगरी के निकट स्थित एक छोटे से नट ग्राम का प्रधान था। अकस्मात् भरत की पत्नी का निधन हो गया। उस समय रोहक अल्पायुषी ही था। भरत ने पुनर्विवाह कर लिया। विमाता दुष्ट स्वभाव की थी अतः वह सौतेले पुत्र रोहक को कष्ट देने लगी। एक दिन दुखित होकर रोहक ने विमाता से कहा—मां! तुम मुझे कष्ट क्यों देती हो? विमाता ने क्रोध से भरकर कहा, ऐसा पूछने वाला तू होता कौन है? मैं जैसा चाहूं वैसा ही करूंगी।

विमाता के इस रूक्ष व्यवहार से दुखित होकर रोहक ने उससे कहा, मां! तुम्हें अपने व्यवहार पर अवश्य पश्चात्ताप करना पड़ेगा। कहकर रोहक अपने पिता के पास चला गया। विमाता क्रोध में जलती-भुनती रही।

एक रात्रि में रोहक अपने पिता के साथ घर के बाहर सो रहा था। विमाता घर के अंदर सो रही थी। सुविचारित योजनानुसार रोहक सहसा उठा और जोर-जोर से चिल्लाने लगा—उठो पिता जी! देखो कोई पुरुष अपने घर से निकल कर भागा जा रहा है।

भरत एकाएक जगा। रोहक द्वारा इंगित दिशा में वह दौड़ा पर अंधेरे में कुछ दिखाई नहीं दिया। इस घटना से भरत को अपनी पत्नी के चरित्र पर संदेह हो गया और उसने पत्नी से बोलना बंद कर दिया।

पति के अनमने व्यवहार को देखकर वह स्त्री समझ गई कि संभव है रोहक ने ही उसके खिलाफ अपने पिता को भड़काया है। उसने रोहक से मधुर व्यवहार करना शुरू कर दिया और उसे इस बात के लिए मना लिया कि वह अपने पिता के रूक्ष व्यवहार को उसके प्रति मधुर बना देगा।

रोहक ने पुनः एक योजना सोची। एक बार चांदनी रात में घर के बाहर वह अपने पिता के साथ सो रहा था। योजनानुसार वह हड़बड़ा कर उठा और जोर से चिल्लाया—पिता जी! कोई पुरुष यहां है। पिता ने तत्क्षण उठकर पूछा कि पुरुष कहां है? रोहक ने अपनी परछाईं की ओर इंगित करके बताया कि यह रहा पुरुष।

नट ने इसे बालसुलभ भय माना और पूछा कि क्या उस दिन भी तुमने इसी पुरुष को देखा था।

रोहक ने उत्तर दिया, हां, मैंने उस दिन भी इसी पुरुष को देखा था।

रोहक के उत्तर से भरत का पत्नी पर उत्पन्न संदेह नष्ट हो गया और वह उससे पुनः प्रेम करने लगा।

उस घटना के पश्चात् रोहक विशेष सावधान हो गया। इस आशंका से कि प्रतिशोध वश उसकी विमाता उसे विषादि न दे दे, वह अपने पिता के साथ ही रहने लगा और उसके साथ ही भोजन करने लगा।

किसी समय भरत को कार्यवश उज्जयिनी जाना पड़ा। रोहक भी पिता के साथ ही गया। भरत अपने आवश्यक कार्य में लग गया, उस अवधि में रोहक पूरे नगर में घूम आया। नगर का पूरा चित्र उसने अपने दिमाग में बैठा लिया। कार्य पूर्ण कर पिता पुत्र लौट चले। शिप्रा नदी के तट पर पहुंचने पर भरत को पुनः एक आवश्यक काम स्मरण हो आया। वह रोहक को नदी तट पर बैठाकर शीघ्र कदमों से नगर में चला गया।

रोहक नदी के तट पर बिखरे रेत पर उज्जयिनी का चित्र बनाने लगा। उसने अपनी अद्भुत स्मरण शक्ति के बल पर पूरे नगर का चित्र उकेर दिया। यथास्थान विशाल और सुंदर राजमहल भी उसने चित्रित किया।

नगर नरेश वन विहार को गया था। वह सैनिकों से बिछुड़ गया और अकेला ही उधर से लौटा। जैसे ही राजा रोहक के चित्रित नगर पर से गुजरने लगा तो रोहक ने उसे टोका, महाशय! जरा संभल के निकलिए। ये राजमहल है, यहां बिना आज्ञा के प्रवेश नहीं किया जा सकता है।

एक छोटे से बालक की ऐसी बात सुनकर कुतूहलवश राजा ने झुककर नीचे देखा। अपने नगर का यथारूप चित्र देखकर राजा को सुखद आश्चर्य हुआ। छोटे से बालक की ऐसी बुद्धिमत्ता पर वह चमत्कृत था। रोहक से वार्तालाप करके उसने जान लिया कि उसने प्रथम बार ही उज्जयिनी नगरी को देखा है, और यह भी जान लिया कि वह नटग्राम के प्रधान भरत का पुत्र है।

रोहक को प्रेम से दुलारकर उसकी बुद्धिमत्ता पर मंत्रमुग्ध बना राजा अपने गन्तव्य पर बढ़ गया। उसने अपने मन में निश्चय किया कि ऐसा बुद्धिमान बालक यदि उसके मंत्रिमण्डल का प्रधान बन जाए तो राज्य में विशेष विकास की संभावनाएं साकार हो सकती हैं। पर इसके लिए आवश्यक है कि रोहक की बुद्धि का सूक्ष्म परीक्षण किया जाए। राजा ने वैसा करने का निश्चय कर लिया।

यथासमय भरत शिप्रा नदी पर लौट आया और रोहक को साथ लेकर अपने गांव चला गया।

दूसरे ही दिन से राजा ने रोहक की बुद्धि की परीक्षा के लिए उपक्रम शुरू कर दिए। राजा ने क्रमशः कई विधियों से रोहक की परीक्षा ली, जिनका संक्षिप्त विश्लेषण निम्न प्रकार से है–

(1) शिला–राजा ने नट ग्राम में आदेश भिजवाया कि राजा के लिए एक मण्डप बनवाया जाए और उस मण्डप की छत ग्राम के निकट ही स्थित शिला को बनाया जाए। पर ध्यान रहे कि शिला को उसके स्थान से हिलाया न जाए।

राजा का आदेश सुनकर ग्रामवासी चिन्तित हो गए। मण्डप बनाना तो कठिन न था, पर अपने स्थान से हिलाए बिना शिला को मण्डप की छत बनाना उनके लिए संभव न था। भरत के नेतृत्व में ग्रामवासी एकत्रित हुए, पर राजाज्ञा के पालन का कोई उपाय वे खोज न सके। तब पिता की बगल में बैठे रोहक ने कहा, ऐसा किया जाना कठिन नहीं है। उसके लिए शिला के चारों ओर की मिट्टी हटाकर स्तंभ बना दो

और जब शिला का भार स्तंभों पर आ जाए तो उसके नीचे की मिट्टी हटा दो। उसके बाद दीवारें खींचकर मंडप बना दो। इससे शिला को उसके स्थान से हटाए बिना ही उसे मंडप की छत बनाया जा सकेगा।

रोहक की बात सभी को उचित लगी। उसी विधि से मण्डप तैयार करके राजा को सूचित कर दिया गया। राजा ने गांव में जाकर मण्डप देखा। जांच करने पर उसे ज्ञात हुआ कि रोहक की बुद्धि से ही वैसा संभव हो पाया है। मन ही मन राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ और नगर को लौट गया।

(2) मेण्ढ़ा—कुछ दिन बाद राजा ने एक मेंढ़ा गांव में भिजवाया और आदेश दिया कि पन्द्रह दिन बाद मेंढ़े को राजा को लौटाया जाए, पर इस बात का विशेष ध्यान रखा जाए कि उक्त अवधि में मेंढ़े का वजन न तो घटना चाहिए और न ही बढ़ना चाहिए।

विचित्र राजाज्ञा से भोले-भाले ग्रामवासी पुनः असमंजस में पड़ गए। जटिल समस्या थी। मेंढ़े को यदि भूखा रखा जाएगा तो वजन कम होना निश्चित था और निरंतर खिलाया-पिलाया जाएगा तो वजन बढ़ना तय था।

ग्रामीणों की स्थिति को समझकर रोहक ने ही उपाय निकाला। उसके बताए उपाय के अनुसार ग्रामीणों ने एक बाघ के पिंजरे के पास मेंढ़े को रखने का प्रबंध किया और उसके लिए बढ़िया पदार्थ खाने के लिए उपस्थित किए गए। पौष्टिक पदार्थ खाने के कारण मेंढ़ा दुर्बल नहीं हुआ और निरंतर भय के साए में रहने से विशेष पुष्ट भी नहीं हुआ। पन्द्रह दिन बाद उसे राजा को सौंप दिया गया। पूर्वतुल्य वजन पाकर राजा हैरान हुआ। रोहक की बुद्धि से निष्पन्न उपाय पर राजा अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ।

(3) मुर्गा—राजा ने एक मुर्गा इस आदेश के साथ गांव भिजवाया कि बिना अन्य मुर्गे के इस मुर्गे को लड़ना सिखाया जाए। ग्रामीण पुनः सहमे। आखिर रोहक के उपाय से एक बड़ा दर्पण मुर्गे के समक्ष रखा गया। अपने प्रतिबिम्ब को शत्रु मानकर मुर्गा दर्पण पर पुनः-पुनः झपटा और लड़ना सीख गया।

(4) हाथी—राजा ने नट गांव में एक मरणासन्न हाथी भेजा और आदेश प्रेषित किया कि हाथी के और सभी समाचार देना पर 'हाथी मर गया है' ऐसा समाचार न दिया जाए। ऐसा समाचार दिया गया तो ग्रामवासियों को कठोर दण्ड दिया जाएगा।

हाथी मरणासन्न तो था ही सो गांव में पहुंचने के दूसरे दिन ही वह मर गया। गांव वाले भयभीत हो गए। आखिर रोहक ने ही उन्हें एक ऐसा उत्तर स्मरण कराया जिससे उनका भय मिट गया। गांव वाले राजा के पास गए और बोले—महाराज! आप का हाथी सरपट लेट गया है, न हिलता है, न डुलता है, न खाता है और न ही कुछ पीता है, यहां तक कि वह सांस भी नहीं लेता है।

राजा ने पूछा—तो क्या वह मर गया है?

ग्रामीणों ने कहा, महाराज! ऐसा हम कैसे कह सकते हैं आप समर्थ हैं, जैसा चाहें फरमा सकते हैं।

राजा ने पता लगा लिया कि उक्त उत्तर भी रोहक की बुद्धि से ही निष्पन्न हुआ है।

राजा ने उपरोक्त परीक्षाओं के अतिरिक्त भी रोहक की बुद्धि की कई अन्य परीक्षाएं लीं जिनमें रोहक पूरी तरह सफल रहा। आखिर राजा ने ग्राम में संदेश भिजवाया कि रोहक को राजा के पास भेजा जाए। पर ध्यान रहे कि वह न शुक्ल पक्ष में आए और न कृष्ण पक्ष में, न दिन में आए और न रात्रि में, न धूप में आए न ही छाया में, न आकाशमार्ग से आए और न भूमिमार्ग से, न मार्ग से आए और न उन्मार्ग से, न स्नान करके आए और न बिना स्नान किए। किन्तु वह आए अवश्य।

गांव वाले इस विचित्र राजाज्ञा से सहम गए। पर रोहक ने मुस्काते हुए कहा, मैं राजा के आदेश के अनुसार ही उनके पास जाऊंगा, अतः आप लोग किंचित्मात्र भी चिन्ता न करें।

अमावस्या और एकम के संधि समय से कुछ पूर्व रोहक ने कण्ठ तक स्नान किया और संध्या समय चलनी का छत्र सिर पर धारण करके, एक मेंढ़े पर बैठकर गाड़ी के पहिए के बीच के मार्ग से वह राजा के पास चल दिया। मार्ग से उसने एक मिट्टी का ढ़ेला राजा को भेंट देने के लिए उठा लिया। इस विधि से वह राजा के पास पहुंचा।

रोहक ने राजा को प्रणाम किया। उसके आगमन विधि-विधान से राजा अत्यंत प्रसन्न हुआ। पर रोहक ने जब मिट्टी का ढ़ेला राजा को भेंट दिया तो राजा ने चकित होकर पूछा—यह क्या है?

रोहक ने कहा—महाराज! आप पृथ्वीपति हो, इसीलिए मैं आपको भेंट करने के लिए पृथ्वी लाया हूं।

रोहक की वाग्कुशलता पर राजा मुग्ध हो गया। उसने रोहक को अपने पास रख लिया।

राजा ने रोहक को रात्रि में भी अपने कक्ष में ही सुलाया। रात्रि के द्वितीय प्रहर में राजा की नींद खुली तो उन्होंने पूछा—रोहक! जाग रहा है या सो रहा है?

रोहक ने कहा—जाग रहा हूं महाराज!

राजा ने पूछा—क्या सोच रहा है?

रोहक ने उत्तर दिया—महाराज! सोच रहा हूं कि बकरी के पेट में गोल-गोल मींगनियां कैसे बनती हैं?

राजा को कोई उत्तर न सूझा तो रोहक से ही पूछा—तुम ही बताओ कि मींगनियां गोल कैसे बनती हैं?

रोहक ने कहा—बकरी के पेट में संवर्त्तक वायु होता है जिससे गोल मींगनियों का निर्माण होता है। कहकर रोहक सो गया।

रात्रि के तृतीय प्रहर में राजा ने पुनः रोहक से पूछा कि जाग रहा है अथवा सो रहा है।

रोहक ने कहा—जाग रहा हूं, महाराज!

राजा ने पूछा—क्या सोच रहा है?

रोहक ने कहा—महाराज सोच रहा हूं कि पीपल के पत्ते की शिखा लम्बी होती है अथवा डंठल?

राजा ने पूछा—तो तुमने क्या निर्णय किया?

रोहक ने कहा—महाराज! जब तक शिखा का कुछ भाग सूखता नहीं है तब तक दोनों बराबर होते हैं। कहकर रोहक पुनः सो गया।

रात्रि के चतुर्थ प्रहर में राजा ने रोहक से पुनः पूछा कि वह क्या सोच रहा है। रोहक ने उत्तर दिया, वह यह सोच रहा है कि गिलहरी की पूंछ उसके शरीर से बड़ी होती है या छोटी। राजा पुनः असमंजस में पड़ा और रोहक से ही उसने निर्णय पूछा। रोहक ने उत्तर दिया—महाराज! गिलहरी की पूंछ उसके शरीर जितनी ही लम्बी होती है। ऐसा कहकर वह पुनः सो गया।

प्रभात होने पर मंगलवाद्यों की ध्वनि सुनकर राजा जाग गया। उसने रोहक को भी जगाना चाहा, पर वह गहरी निद्रा में सो रहा था, अतः जगा नहीं। तब राजा ने छड़ी की नुकीली कील से रोहक को कोंचा तो वह एकाएक उठ बैठा। राजा ने पूछा—रोहक! अब क्या सोच रहा है?

रोहक ने कहा—महाराज! सोच रहा हूं कि आपके पिता कितने हैं?

रोहक की बात सुनकर राजा तिलमिला उठा। पर उसने अपने क्रोध पर नियंत्रण रखते हुए पूछा—अच्छा तुम ही बताओ कि मेरे कितने पिता हैं?

रोहक ने कहा, महाराज! आपके प्रथम पिता तो कुबेर हैं, क्योंकि कुबेर के समान आप उदारचित्त हो। आपका द्वितीय पिता चाण्डाल है, क्योंकि शत्रुओं के लिए आप चाण्डाल के समान क्रूर हैं। तृतीय पिता है धोबी, क्योंकि जैसे धीबी आर्द्र वस्त्र को निचोड़ कर उसमें रहा हुआ पूरा जल निचोड़ लेता है, वैसे ही आप भी देशद्रोहियों का सर्वस्व हरण कर लेते हैं। चतुर्थ है बिच्छू, क्योंकि जैसे बिच्छू डंक मारकर पीड़ा पहुंचाता है ऐसे ही आपने मुझ नन्हे निद्राधीन बालक को छड़ी की कील चुभो कर पीड़ा पहुंचाई है। और पांचवें आपके लोकप्रसिद्ध पिता महाराज हैं, क्योंकि उन्हीं के समान आप न्यायपूर्वक प्रजा का पालन करते हैं।

रोहक की बात सुनकर राजा गंभीर हो गया। नित्य-क्रियाओं से निपटकर वह अपनी माता के पास पहुंचा। माता को वंदन कर राजा ने रोहक की बात उसे बताई। राजमाता ने कहा, पुत्र! अगर विकारी भाव से देखने मात्र से ही तेरे संस्कारों का सृजन हुआ है तो रोहक का कथन अक्षरशः सच है। क्योंकि जब तू गर्भ में था तो एक दिन मैं कुबेर देव की पूजा करने गई थी। मार्ग में एक चाण्डाल और धोबी को मैंने देखा। महल में लौटकर कक्ष के एक कोने में बिच्छु-युगल को क्रीड़ारत देखा। इस पूरी अवधि में मेरा मन विकारावस्था में था। अन्यथा सच तो यही है कि तुम अपने पिता की ही संतान हो।

मां की पूरी बात सुनकर राजा रोहक की बुद्धिमत्ता पर मंत्रमुग्ध हो गया। रोहक को सादर राजदरबार में ले जाकर राजा ने उसे अपना महामंत्री घोषित कर दिया। कहते हैं कि रोहक के महामंत्रित्व काल में उज्जयिनी राज्य ने महान उत्कर्ष किया। —नंदी सूत्र

(क) रोहगुप्त

चम्पानगरी का एक धर्मात्मा और बुद्धिसम्पन्न महामंत्री। (देखिए—क्षुल्लक मुनि)

(ख) रोहगुप्त (निन्हव)

त्रैराशिकवाद का प्ररूपक और आचार्य श्रीगुप्त का शिष्य। भगवान महावीर ने दो राशि कही, जीव राशि और अजीव राशि। रोहक ने इसमें नोजीवराशि को जोड़कर उसकी संख्या तीन कर दी। ऐसा उसने एक विशेष प्रसंग पर किया था और वैसा करने पर उसे विजयी सफलता मिली थी। प्रसंग ऐसे था—

अतरंजिका नगरी में भ्रमण करते हुए रोहगुप्त ने पोटशाल नामक एक परिव्राजक को देखा जो अपने पेट पर लोहे की पट्टियां बांधे हुए था और हाथ में जम्बूवृक्ष की टहनी लिए घूम रहा था। पूछने पर उसने रोहगुप्त को बताया कि ज्ञानाधिक्य से उसका पेट न फट जाए इसलिए वह पेट पर लोहे की पट्टियां बांधे रखता है और जम्बूद्वीप में उसको शास्त्रार्थ में चुनौती देने वाला कोई नहीं है, जम्बूवृक्ष की टहनी उसी का प्रतीक है। उसकी गर्वोक्ति देख रोहगुप्त ने उसकी शास्त्रार्थ की चुनौती स्वीकार कर ली। राज्यसभा में शास्त्रार्थ प्रारंभ हुआ। पोटशाल ने अपना पक्ष रखा—राशि दो हैं, जीव राशि और अजीव राशि। रोहगुप्त को उसके पक्ष का निराकरण करना था अन्यथा उसे पराजित घोषित कर दिया जाता। उसने कहा, राशि दो नहीं तीन हैं, जीव राशि, अजीव राशि और नोजीवराशि। मनुष्य, पशु और देव जीवराशि हैं, घट-पटादि अजीव राशि हैं और छछूंदर की कटी हुई पूंछ नोजीव राशि है। इस मिथ्या प्ररूपणा का पोटशाल के पास उत्तर न था। रोहगुप्त विजयी घोषित हुआ। वह गुरु के पास पहुंचा। गुरु ने मिथ्याप्ररूपणा के लिए उसे आलोचनादि से आत्मशुद्धि करने के लिए कहा। रोहगुप्त ने गुरु की बात नहीं मानी। वह अपने ही हठ पर अड़ा रहा। फलतः उसे संघ से निष्कासित कर दिया गया। वह निन्हव अवस्था में ही मरा।

(क) रोहिणी

पाटलिपुत्र नगर के नगरसेठ धनावह की पत्नी, एक परम पतिपरायणा सन्नारी। एक बार सेठ धनावह व्यापार के लिए विदेश गए। उसी अवधि में नगर नरेश श्रीनन्द ने एक बार रोहिणी को देखा तो वह उसके रूप पर मुग्ध बन गया। श्रीनन्द श्रमणोपासक और श्रावक था, सो वह शक्ति से रोहिणी को अपनी नहीं बना सकता था। उसने युक्ति का आश्रय लिया और अपनी एक विश्वस्त दासी को अपने प्रेम प्रस्ताव के साथ रोहिणी के पास भेजा। राजा का ऐसा निन्दनीय प्रस्ताव सुनकर रोहिणी को बड़ा क्रोध आया। परन्तु उसने शीघ्र ही अपने क्रोध पर अंकुश लगा लिया। उसने विचार किया राजा मेरा साधर्मी भाई है। मेरा दायित्व यह है कि उन्मार्ग पर जाने को उत्सुक अपने भाई को धर्म युक्ति से रोकूं। ऐसा सोचकर उसने राजा का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया।

दासी के मुख से उसकी सफलता का संवाद सुनकर राजा अति प्रसन्न हुआ। राजा रात्रि में रोहिणी के भवन पर पहुंचा। रोहिणी ने राजा का स्वागत किया। तब उसने बत्तीस प्रकार का भोजन बनाया। उस भोजन की विशेषता यह थी कि वह रंग-रूप और आकार में तो बत्तीस प्रकार का था पर स्वाद में एक समान था। रोहिणी ने बत्तीस स्वर्ण कटोरियों में राजा को भोजन परोसा। राजा ने कहा, मैं जिनोपासक श्रावक हूँ और रात्रि भोजन का मुझे त्याग है। इस पर रोहिणी ने कहा, महाराज! त्याग तो दिन के उजाले में होता है, रात्रि के पर्दे में नहीं। इस वाक्य से राजा के हृदय पर एक चोट लगी पर उसने रोहिणी के प्रस्ताव पर भोजन शुरू कर दिया। भोजन बत्तीस प्रकार का था पर सभी व्यंजनों का स्वाद एक समान था। इस पर राजा ने कहा, रोहिणी! बत्तीसों ही कटोरियों का स्वाद समान है, रंग-रूप में ही विभेद है। अच्छा होता कि तुम एक ही कटोरी मेरे लिए परोसती। इस पर रोहिणी बोली, महाराज ! मैंने आपकी रुचि को ध्यान में रखते हुए ही ऐसा किया है। राजा ने पूछा, मेरी रुचि ऐसी क्योंकर है? रोहिणी बोली, राजन् ! आप रंग और रूप के लोभी हैं। इसीलिए तो अपनी अनेक पत्नियों को छोड़कर मेरे रूप पर लुब्ध बनकर यहां चले आए हो। राजन्! जैसे ये बत्तीस कटोरियों के व्यंजन मात्र रंग-रूप में ही भिन्न हैं , स्वाद में नहीं, ऐसे ही समस्त स्त्रियां मात्र रंग-रूप में ही तो भिन्न हैं, स्त्रीत्व तो सब में समान है।

रोहिणी की बातों का राजा पर अचूक प्रभाव हुआ। उसके बाद रोहिणी ने उसे समझाया कि काम प्रवाह में बहकर वह प्रथम कदम पर ही नियम भ्रष्ट हो गया है। कामी के पतन की कोई पराकाष्ठा नहीं है। इसलिए उसे अपने विवेक और चरित्र से भ्रष्ट नहीं होना चाहिए। राजा प्रजा का पिता होता है। इसलिए एक पिता द्वारा पुत्री का उपभोग सर्वथा निंदनीय और त्याज्य है। सुनकर राजा की विवेक-बुद्धि जागृत हो गई। उसने रोहिणी को अपनी बहन मान लिया और अपने महलों में लौट आया।

कुछ समय पश्चात् सेठ धनावह विदेश से लौटा और अपने विश्वस्त सेवकों द्वारा यह जानकर कि एक रात्रि में राजा उसके भवन पर आया था और रोहिणी ने उसका स्वागत किया था, दुराशंका से ग्रस्त हो गया। रोहिणी को दुश्चरित्रा मानकर वह उससे विमुख रहने लगा। इससे रोहिणी उदास हो गई। उन्हीं दिनों एक घटना घटी। तेज बरसात होने लगी। जल-स्थल एक रूप हो गया। नगर पानी से भर गया। कच्चे घर बह गए। पक्के भवनों की भी पहली मंजिल पानी में डूब गई। एक अज्ञात भय से जनमानस संत्रस्त बन गया। ऐसे में निमित्तिज्ञों ने राजा से बताया कि कोई सती सन्नारी जलस्पर्श कर जल उतरने का संकल्प करे तो नगर जल के उपसर्ग से रक्षित हो सकता है। राजा ने नगर में वैसी घोषणा कराई। परन्तु कोई भी नारी वैसा करने का साहस न दिखा सकी। संध्या के समय नौका पर आरूढ़ होकर रोहिणी राजमहल के सामने पहुंची।

पट का स्पर्श कर उसने जल हाथ में लिया और बोली—यदि मैंने मन-वचन-काय से शील का पालन किया है तो नगर जल के उपसर्ग से मुक्त हो जाए।

सती रोहिणी के उक्त कथन से देखते ही देखते कुछ ही क्षणों में पानी उतर गया। आकाश से सती पर दिव्य पुष्पों की वर्षा हुई। रोहिणी के जयनादों से नभ मण्डल गूंज उठा। धनावह को अपने पर महान ग्लानि हुई। उसने अपनी पत्नी से क्षमा मांगी और बताया कि वह उसके प्रति दुराशंका से ग्रस्त बन गया था। रोहिणी पति का पुनर्प्रेम पाकर गद्‌गद हो गई। उसने अपने पति को बताया कि राजा को सुमार्ग पर लाने के लिए ही उसने उसे आमंत्रित किया था और वह अपने प्रयत्न में सफल रही थी। पूरी बात सुनकर धनावह अपनी पत्नी की सुबुद्धि का भी दीवाना बन गया।

रोहिणी अपने धर्म पर सुदृढ़ रहकर सद्‌गति की अधिकारिणी बनी।

—उपदेश सप्तति (क्षेमराज मुनि)/—भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति (शुभशीलगणि)/—उपदेश प्रासाद

(ख) रोहिणी

तीर्थंकर श्री वासुपूज्य के पुत्र चम्पाधिपति महाराज मघवा की पुत्री, एक अपरिमित पुण्यशालिनी कन्या। रोहिणी ने अपने जीवन में यह तक नहीं जाना था कि रोना क्या होता है, दुख की अनुभूति कैसी होती है। वह ऐसे वातावरण में पल-बढ़कर बड़ी हुई कि उसने किसी को रोते हुए भी नहीं देखा था। महाराज मघवा ने पुत्री के विवाह के लिए स्वयंवर की समायोजना की। नागपुर नरेश महाराज अशोकचन्द्र के कण्ठ में रोहिणी ने वरमाला डाली। अशोकचन्द्र रोहिणी को लेकर अपने नगर आ गया। उसने एक पत्नीव्रत धारण किया था, फलतः रानी भी रोहिणी ही थी और पटरानी भी वही थी। रोहिणी ने कालक्रम से बारह संतानों को जन्म दिया जिनमें आठ पुत्र और चार पुत्रियां थीं। सुख और समृद्धि के झूले में झूलते हुए रोहिणी और अशोकचन्द्र जीवन-यापन कर रहे थे।

एक बार रोहिणी अपने सबसे छोटे पुत्र को गोद में लिए गवाक्ष में बैठी थी। अशोकचन्द्र भी उसके पास बैठा था। राजमार्ग पर एक महिला विलाप करती हुई चल रही थी। वह सिर पटक-पटक कर रो रही थी। उसके रोदन से सहज ही प्रकट हो रहा था कि उसका इकलौता पुत्र मर गया है। उसकी दशा देखकर राजा अशोकचन्द्र का हृदय करुणा-विगलित बन गया। वह उस महिला के दुख से अनुकम्पित बन गया। रोहिणी उस स्त्री को देखकर हंसने लगी। उसने पति से पूछा, महाराज। ऐसे गीत तो मैंने जीवन में प्रथम बार सुने हैं। देखिए—उसका नृत्य भी कितना अजीब है। राजा रोहिणी की असामयिक मुस्कान और वार्ता सुनकर वितृष्णा से भर गया। बोला, तुम दुखी महिला का उपहास उड़ा रही हो। प्रतीत होता है तुम्हें अपने पुण्य-गौरव पर घमण्ड हो गया है, तभी तुम ऐसी बातें कर रही हो।

रोहिणी ने मुस्कराते हुए ही पूछा, आप नाहक नाराज हो रहे हैं। मैंने तो उस स्त्री के नृत्य का नाम ही पूछा है। मैंने अनेक नृत्य सीखे हैं। पर ऐसा नृत्य भी होता है किसी ने मुझे सिखाया ही नहीं । रोहिणी की बात सुनकर राजा अपना विवेक खो बैठा। बोला, वैसा नृत्य अब तुम भी करो। कहकर राजा ने उसकी गोद से उसका पुत्र छीनकर महल से नीचे फैंक दिया। तब भी रोहिणी हंसती रही। विषाद की रेखा भी उसके चेहरे पर नहीं उभरी। कुलदेवी ने रोहिणी के पुत्र को नीचे गिरने से पहले ही लपक लिया और लाकर राजा की गोद में रख दिया।

राजा अशोकचन्द्र सामान्य हो गया। उसे समझ में आ गया कि उसकी रानी इतनी पुण्यशालिनी है कि उसे दुख की अनुभूतियों के सच का ज्ञान ही नहीं है।

कालान्तर में प्रभु वासुपूज्य के शिष्य मुनि रूप्यकुंभ नागपुर पधारे। राजा-रानी सहित नगरजन मुनि श्री के दर्शन के लिए गए। मुनि का उपदेश सुनकर श्रोता धन्य बन गए। प्रवचनोपरान्त राजा ने मुनि से अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की, महाराज ! मेरी रानी ने ऐसे कौन से पुण्य किए हैं जिनसे वह इस जीवन में सदा-सुखिया रही है, रोदन-दुख को जानती तक नहीं है?

मुनि ने रोहिणी के कई जन्मों की कथा सुनाई और अंत में स्पष्ट किया कि रोहिणी ने पूर्वजन्म में 'रोहिणी' नामक तप की आराधना की थी। उसी तप की आराधना के फलस्वरूप रोहिणी ने समस्त असातावेदनीय कर्मों को निर्मूल बना दिया। उसके पुण्य कर्म शेष हैं जिनका उपभोग कर वह मोक्ष जाएगी।

रोहिणी को अपना पूर्वभव सुनकर जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने श्रावक धर्म धारण कर लिया। राजा ने भी श्रावक के व्रत धारण किए। कालान्तर में रोहिणी ने प्रव्रज्या धारण कर मोक्ष पद प्राप्त किया। राजा अशोकचन्द्र भी दीक्षा धारण कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

—रोहिणी-अशोकचन्द्र नृप कथा (कनक कुशल गणि-वि.सं.1656)

(ग) रोहिणी

सुदर्शन श्रेष्ठी और मनोरमा की आत्मजा जिसका विवाह बाल्यावस्था में ही कर दिया गया था, पर दुर्दैव वश रोहिणी युवावस्था में प्रवेश से पूर्व ही विधवा हो गई। पितृगृह में रहकर ही वह जीवन-यापन करने लगी। माता-पिता जिनानुयायी थे, वही संस्कार रोहिणी में भी थे। अन्य किसी तरह का दायित्व नहीं होने के कारण रोहिणी का अधिकांश समय साधु-साध्वियों के दर्शन, प्रवचन-श्रवण, ध्यान, सामायिक और स्वाध्याय में ही समर्पित बनता। रोहिणी धर्म और ध्यान में सदा संलग्न रहती। माता-पिता रोहिणी का पुनर्विवाह करना चाहते थे, पर रोहिणी उसके लिए तैयार नहीं हुई।

उपाश्रय में साधु-साध्वियों की अनुपस्थिति में रोहिणी ही श्राविकाओं को स्वाध्याय कराती, शास्त्र-वांचन करती। इससे रोहिणी का सम्मान सब ओर व्याप्त हो गया। पर उस सम्मान को रोहिणी स्थिर नहीं रख पाई। धर्मकथा कहते-कहते उसकी रुचि विकथाओं पर केन्द्रित बनने लगी। धीरे-धीरे उसने धर्मकथा को गौण और विकथा को प्रमुख मान लिया। उपाश्रय में विकथा-कथन पर रोहिणी को श्रावक-श्राविकाओं के प्रतिरोध को झेलना पड़ा। जो भी रोहिणी का विरोध करता, वह उसकी सार्वजनिक रूप से निन्दा करती। उसी क्रम में एक बार रोहिणी ने नगर-नरेश पर भी अंगुलि उठा दी। परिणामतः राजा ने उसे अपने नगर से निर्वासित कर दिया। रोहिणी विक्षिप्तावस्था में कई वर्षों तक यत्र-यत्र भटकती रही। उसके गृहीत समस्त व्रत खण्डित बन चुके थे। विकथा में रस का उसे अंतिम दुष्परिणाम नरक में जाकर भोगना पड़ा।

—धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 20

(घ) रोहिणी

राजगृही के समृद्ध सार्थवाह धन्ना की चार पुत्रवधुओं में सबसे छोटी और एक बुद्धिमति महिला। अपने बुद्धिबल से उसने श्वसुर प्रदत्त पांच अक्षत धानों को सहस्र गुणा बनाकर अपनी सुबुद्धि का परिचय दिया और गृहस्वामिनी का गौरव भी पाया। (देखिए-धन्ना सार्थवाह) — ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र

(ङ) रोहिणी (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 21

(च) रोहिणी (आर्या)

रोहिणी आर्या का जन्म काम्पिल्यपुर नगर में हुआ। मृत्यु के पश्चात् वह शक्रेन्द्र महाराज की पट्टमहिषी के रूप में जन्मी। इनका शेष कथावृत्त काली आर्या के समान है। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 9, अ. 5

रोहिणेय चोर

राजगृह नगर के निकट ही स्थित वैभारगिरि पर्वत की कन्दराओं में रहने वाला एक चोर। चोरी करना उसका पुश्तैनी कार्य था। उसका पिता भी नामी चोर था। पिता ने मृत्यु के क्षण में रोहिणेय को अन्तिम सीख दी थी कि वह चाहे और कुछ भी करे पर महावीर नामक तीर्थंकर के न तो निकट जाए तथा न उसका एक भी वचन सुने। पिता की सीख को सदैव स्मरण रखता हुआ रोहिणेय उन स्थानों से सदैव दूर-दूर रहता था जिन स्थानों पर महावीर विराजते थे। पर एक बार उसे गुणशील उद्यान के निकट से गुजरना पड़ा। उद्यान में भगवान उपदेश दे रहे थे। महावीर का कोई शब्द कानों में न पड़ जाए इसलिए उसने दोनों कानों में अंगुलियां डाल लीं। संयोग से उसके पैर में कांटा चुभ गया। कांटा निकालना अनिवार्य था। उसने कांटा निकाला। उस समय महावीर के कुछ शब्द उसके कानों में पड़े। भगवान् देवताओं की विशेषताओं का वर्णन कर रहे थे कि देवताओं की देह की प्रतिच्छाया नहीं बनती, उनके गलहार सदैव खिले रहते हैं, उनके पैर पृथ्वी से चार अंगुल ऊपर रहते हैं और वे पलक नहीं झपकते हैं।

रोहिणेय इन शब्दों को भुला देना चाहता था पर उसने जितना भूलना चाहा उतनी ही प्रखरता से वे शब्द उसकी स्मृति पर अंकित हो गए। उन्हीं दिनों में रोहिणेय अभय के जाल में फंस गया। विभिन्न प्रकार से भय दिखाकर अभय ने रोहिणेय से उस द्वारा की गई चोरियां स्वीकृत करानी चाहीं पर उसने स्वीकार नहीं कीं। इसीलिए किसी प्रमाण के अभाव में उसे दण्ड नहीं दिया जा सका। आखिर अभय ने एक युक्ति निकाली। उसने रोहिणेय को मादक द्रव्य पिलाकर अचेत कर दिया। उसे एक ऐसे स्थान पर लिटा दिया गया जो देवलोक की अनुकृति मालूम होता था। जैसे ही रोहिणेय को होश आया तो उसने अपने को देवलोक में पाया। सामने खड़ी देवियों ने रोहिणेय का मधुर शब्दावलि में स्वागत करते हुए पूछा कि उन्होंने ऐसे क्या सत्कर्म किए कि उन्हें देवलोक में जन्म प्राप्त हुआ है?

अभय ने यह पूरा समायोजन इसलिए किया था कि इससे रोहिणेय स्पष्ट कह देगा कि उसने सत्कर्म नहीं, चोरी के धंधे ही किए हैं, जिसके आधार पर उसे दण्ड दिया जा सकेगा। पर कुछ कहने से पूर्व ही रोहिणेय को भगवान के वचन स्मरण हो आए। उसने देखा कि इन देवियों की तो पलकें भी झपक रही हैं, गलहार के पुष्प मुरझाए हुए हैं, देह की छाया बन रही है और पैर जमीन पर टिके हैं। उसे विश्वास हो गया कि यह अभय का फैलाया हुआ जाल है। वह सचेत हो गया और बोला कि उसने बहुत सत्कर्म किए हैं जिससे उसे देवलोक में जन्म मिला है।

अभय का दांव असफल हो गया। उसने रोहिणेय को मुक्त कर दिया। मुक्त होकर रोहिणेय को भगवान के वचनों पर गहरी श्रद्धा हो गई। उसने सोचा कि अनिच्छा से सुने वचनों ने उसकी प्राण रक्षा कर दी। यदि भगवान के वचन श्रद्धा से सुने जाएं तो निःसंदेह कल्याण हो जाए।

रोहिणेय ने चोरी किया हुआ समस्त धन राजकोष में जमा करा दिया और भगवान के पास जाकर दीक्षित हो गया। उसे सद्गति प्राप्त हुई।

—व्यवहार सूत्र वृत्ति

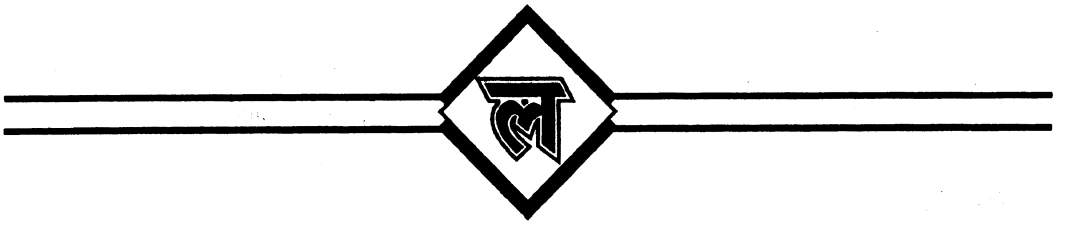

लकुच

लकुच उज्जयिनी नरेश धनवर्म का इकलौता पुत्र था। वह पुरुष की बहत्तर कलाओं में निपुण, साहसी, धीर और वीर पुरुष था। एक बार उज्जयिनी की सीमाओं पर कालम्लेच्छ राजा ने धावा बोल दिया। कालम्लेच्छ उस युग का एक बलवान और क्रूर राजा माना जाता था। उसका सैन्यबल सुविशाल था और उज्जयिनी के सैन्यबल से इक्कीस था। राजा धनवर्म युद्धक्षेत्र में जाने लगा तो लकुच ने उससे प्रार्थना की कि युद्धक्षेत्र में जाने की अनुमति उसे दी जाए। राजा ने पुत्र को अनेक तरह से समझाया-मनाया कि रणांगण क्रीड़ांगण नहीं है,वहां बल के साथ अनुभव की भी आवश्यकता है। पर राजा की उक्तियां और युक्तियां लकुच के उत्साह को शान्त नहीं कर पाई। आखिर राजा ने पुत्र को युद्ध में जाने की अनुमति दे दी। लकुच सिंह शिशु की भांति कालम्लेच्छ रूपी गजराज पर टूट पड़ा। भयंकर युद्ध हुआ और युद्ध में लकुच की विजय हुई। कालम्लेच्छ को बन्दी बनाकर लकुच ने उसे महाराज धनवर्म के चरणों में ला पटका। राजा अपने पुत्र के रण कौशल को देख-सुन कर प्रसन्नता से अभिभूत बन गया। उसने लकुच को मनोवाञ्छित वरदान मांगने को कहा। पर लकुच के पास सब कुछ था, ऐसा कुछ न था जो उसके पास नहीं था। परन्तु राजा ने उसे विवश किया और कहा, कुछ भी मांगो, पर मांगो अवश्य। कुछ देर तक सोचने के बाद लकुच ने कहा, पिता जी! देना ही चाहते हो तो मुझे ऐसा अधिकार प्रदान करो कि मुझ पर कोई भी राजनैतिक प्रतिबन्ध लागू न हो, जो मैं चाहूं सो करूं, मुझे कुछ न कहा जाए।

राजा ने पुत्र को वचन दे दिया कि उसे कुछ नहीं कहा जाएगा, वह जो चाहे करे। इस राजवचन को पाकर लकुच निरंकुश और स्वच्छंद बन गया। वह जो चाहता, वही करता। उसे रोकने वाला अथवा समझाने वाला कोई नहीं था। लकुच मर्यादाएं तोड़ता रहा, राजा और नागरिक देखकर भी आंखें मूंदे रहे।

उज्जयिनी में पंगुल नाम का एक सेठ रहता था। लकुच उसकी पत्नी नागवर्मा के रूप पर आसक्त हो गया और उसके साथ स्वच्छन्द तथा उन्मुक्त क्रीड़ाएं करने लगा। पंगुल बड़ा दुखी हुआ। उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा तो गई ही, पत्नी भी गई। वह अहर्निश आत्मग्लानि की अग्नि में जलता रहता । वह चाह कर भी युवराज लकुच का कुछ भी अहित नहीं कर सकता था।

एक बार युवराज नागवर्मा के साथ उद्यान में भ्रमण कर रहा था। युवराज ने वहां पर एक मुनि को ध्यान मुद्रा में देखा। मुनि की शान्त-प्रशान्त ध्यान-मुद्रा देख युवराज बहुत प्रभावित हुआ। वह मुनि के निकट बैठ गया। ध्यान पूर्ण होने पर मुनि ने युवराज लकुच को उपदेश दिया। मुनि के सारगर्भित उपेदश को सुनकर लकुच उसी क्षण प्रव्रजित हो गया। राजा और नागरिक लकुच के इस अप्रत्याशित परिवर्तन को देखकर हैरान रह गए।

नागवर्मा अपने पति पंगुल के पास चली गई। लकुच के साथ रहने को उसने अपनी विवशता और पराधीनता बताया। उसने मधुर-मिष्ठ वचनों से पति को संतुष्ट बना लिया। पंगुल के हृदय से पत्नी के प्रति

शिकायत-भाव दूर हो गया परन्तु लकुच के प्रति उसके हृदय में प्रतिशोध की ज्वालाएं जलती ही रही, वह लकुच की धृष्टता को भुला नहीं पाया।

लकुच मुनि कुछ वर्षों तक गुरु के साथ रहे और ज्ञानाराधना करते रहे। जब वे गीतार्थ बन गए तो गुरु न उनको एकल विहार प्रतिमा की आज्ञा प्रदान की। एकाकी विहार करते हुए मुनि लकुच एक बार उज्जयिनी नगरी में पधारे। महाकाल श्मशान में एक वृक्ष के नीचे ध्यान-लीन बन गए। संयोग से उधर से पंगुल सेठ गुजरा। उसने लकुच मुनि को ध्यान-मुद्रा में देखा। उसके हृदय में सुलगता प्रतिशोध अनुकूल अवसर पाकर दावानल बन गया। पंगुल ने दाएं-बाएं और आगे-पीछे देखा। जब वह विश्वस्त हो गया कि उसे कोई नहीं देख रहा है तो उसने लकुच मुनि की संधियों में कीले ठोक दिए और वहां से भाग खड़ा हुआ।

मुनि प्राणान्तक वेदना से गुजरे पर उन्होंने अपने चिन्तन को राग-द्वेष से उन्मुक्त रखा। समभाव से देह का त्याग कर वे देवलोक में गए। भवान्तर में सिद्धि को प्राप्त करेंगे।

—बृहत्कथा कोष, भाग 1 (आ. हरिषेण)

लक्खी बनजारा

(देखिए-चन्दन राजा)

लक्ष्मण (वासुदेव)

अयोध्याधिपति महाराज दशरथ के पुत्र, सुमित्रा के अंगजात और मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम के अनुज तथा अनन्य भक्त। जैन कथा साहित्य तथा त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र के अनुसार लक्ष्मण वर्तमान अवसर्पिणी काल के आठवें वासुदेव थे और उनके अग्रज श्री राम आठवें बलदेव थे। लक्ष्मण श्रीराम के अनन्य उपासक और आज्ञाकारी थे। क्रोध के क्षण में भी वे श्रीराम के आदेशों की अवहेलना नहीं करते थे। जैन रामायण के अनुसार राम रावण युद्ध में लक्ष्मण ने अद्‌भुत पराक्रम दिखाया और रावण के ही सुदर्शन चक्र से उसका वध किया।

श्रीराम के साथ चौदह वर्षों तक लक्ष्मण वन-दर वन उनके अनुगामी और सेवक बने रहे। निस्पृह भ्रातृ-पराभक्ति का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है। वन से लौटने पर श्रीराम के आदेश पर ही लक्ष्मण ने राजपद स्वीकार किया। तदनन्तर तीन खण्डों पर विजय पताका फहराकर लक्ष्मण वासुदेव के पद पर अभिषिक्त हुए।

वैदिक परम्परा में लक्ष्मण जति (यति) रूप में विशेष रूप से वन्दित हुए हैं। चौदह वर्षों तक वनवास काल में साथ रहकर भी लक्ष्मण की दृष्टि सीता के चरणों से ऊपर नहीं उठी थी।

आगामी भव में लक्ष्मण संयम धारण कर मोक्ष प्राप्त करेंगे। —त्रि.श.पु. चरित्र-पर्व 7

(क) लक्ष्मणा

क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा महाराज वीरकेतु की पुत्री, एक अनिंद्य सुंदरी राजकुमारी। पुत्री के विवाह के लिए राजा ने स्वयंवर की रचना की जिसमें दूर-देशों के राजा और राजकुमार सम्मिलित हुए। राजकुमारी लक्ष्मणा ने सूर्यकान्त नामक राजकुमार के गले में वरमाला डालकर उसे अपने वर के रूप में चुना। बाद में विवाह मण्डप में विधिपूर्वक वर-वधू अग्नि के गिर्द प्रदक्षिणा करने लगे। विवाह सम्बन्धी मंत्रादि पूर्ण हुए। दुर्दैववश राजकुमार सूर्यकान्त का पैर फिसल गया और वह गिर पड़ा। राजवैद्य उपस्थित हुए। वैद्यों ने राजकुमार को मृत घोषित कर दिया। लक्ष्मणा विवाह होते ही विधवा हो गई । उस पर कष्ट का पहाड़ टूट पड़ा। पर

वह शीघ्र ही संभल गई। जीवन पर मृत्यु की अचाही दस्तक ने उसे वैराग्यवती बना दिया। उसने दीक्षा धारण कर ली। वह जप-तप में लीन रहने लगी। बाल ब्रह्मचारिणी होने से संघ में उसका विशेष सम्मान था।

एक बार लक्ष्मणा साध्वी भिक्षा के लिए जा रही थी। उसने एक वृक्ष की शाखा पर बैठे कपोतयुगल को कामक्रीड़ा करते देखा। उससे उसकी सुप्त वासना जाग उठी। उसने विचार किया, तीर्थंकरों ने बिना विचार किए ही ब्रह्मचर्य का विधान कर डाला। काम तो शरीर की वैसी ही स्वाभाविक आवश्यकता है जैसे क्षुधा और तृषा। ऐसा सोचते हुए वह उपाश्रय लौटी। पर उपाश्रय में प्रवेश करते ही उसकी विचार धारा बदल गई और तीर्थंकरों के प्रति अन्यथा चिंतन पर उसे घोर ग्लानि हुई। गुरुणी जी से उसने हृदय में कपट भाव रखते हुए तीर्थंकरों के प्रति अन्यथा चिंतन का प्रायश्चित्त पूछा। गुरुणी जी के बताए अनुसार उसने तप भी किया पर उसकी श्रद्धा क्षीण बन चुकी थी। मरकर वह वेश्या बनी और अनन्त संसार सागर में सुदीर्घ काल तक के लिए खो गई। —उपदेश प्रासाद श्राद्धविधि

(ख) लक्ष्मणा

भगवान चन्द्रप्रभ की माता।

(ग) लक्ष्मणा

वासुदेव श्री कृष्ण की रानी। किसी समय भगवान अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी में पधारे। भगवान का उपदेश सुनने के लिए लक्ष्मणा भी उपस्थित हुई और उपदेश सुनकर चारित्र पालन के लिए उत्कण्ठित बन गई। वासुदेव श्रीकृष्ण की अनुमति लेकर वह प्रव्रजित हो गई। उत्कृष्ट संयम का पालन करके और अन्तिम श्वास के साथ केवलज्ञान प्राप्त कर वह मुक्ति में जा विराजी। —अन्तगडसूत्र वर्ग 5, अध्ययन 4

लक्ष्मी

श्रावस्ती नगरी के धनी श्रेष्ठी गुणचन्द्र के पुत्र लीलाधर की पत्नी। लक्ष्मी विनम्र, आज्ञाकारिणी, व्यवहार कुशल, परम बुद्धिमती और धर्मप्राण सन्नारी थी। गुणचन्द्र सेठ एक अनुभवी श्रेष्ठी था। उसने अपने पुत्र के पहले दो विवाह किए थे। रूपवती और लीलावती लीलाधर की प्रथम और द्वितीय पत्नियां थी। ये दोनों बड़े सेठों की पुत्रियां थीं। परन्तु उनके व्यवहार और धार्मिक-अरुचि से सेठ सन्तुष्ट नहीं हुआ। तब उसने अपने पुत्र का विवाह लक्ष्मी से किया जो एक सामान्य परिवार की कन्या थी, पर अक्षय बुद्धि निधाना और धर्मरुचि सम्पन्न थी।

एक बार सेठ को रात्रि में कुलदेवी ने दर्शन दिए और चेतावनी दी कि उस पर बारह वर्ष के लिए दुर्दिन आने वाले हैं। सेठ ने लक्ष्मी से प्रार्थना की कि माता! कृपा करके दुर्दिनों का निवारण कर दें। कुलदेवी ने कहा, सेठ! मैं दुर्दैव को दूर करने में समर्थ नहीं हूँ। हां, इतना कर सकती हूँ कि दुर्दैव के समय को तुम्हारे बुढ़ापे तक के लिए टाल सकती हूँ। पर बारह वर्षों तक तो तुम्हें कष्ट झेलने ही होंगे। यह तुम पर निर्भर है कि कष्ट के समय को अभी झेलना चाहते हो या बुढ़ापे में। सेठ ने पारिवारिक सम्मति जानकर दूसरे दिन उत्तर देने के लिए कहा तो कुलदेवी अन्तर्धान हो गई। प्रातःकाल सेठ ने पुत्र, पत्नी और पुत्रवधुओं को अपने पास बुलाया और कुलदेवी की बात उनसे कही। दोनों बड़ी पुत्रवधुओं ने कहा, कष्ट को बुढ़ापे के लिए मांग लीजिए। अभी तो मौज मस्ती का समय है। सेठ ने लक्ष्मी की राय पूछी तो उसने कहा, पिता जी ! जवानी में कष्ट के समय को व्यतीत करना सुकर रहेगा। बुढ़ापे में कष्ट को सहना अति दुखद होगा, क्योंकि बुढ़ापा तो अपने आप में ही दुखों का घर है, उस पर भी कर्मों की मार पड़ी तो एक-एक क्षण पहाड़ बन जाएगा।

फिर दुख के बाद प्राप्त होने वाला सुख भी अत्यंत मधुर होता है। मेरी सम्मति तो यही है कि कष्ट को अभी मांग लीजिए।

सेठ को लक्ष्मी की बात उचित लगी और रात्रि में उसने कुलदेवी से वर्तमान के लिए कष्ट मांग लिया। दूसरे ही दिन श्रेष्ठी परिवार पर दुर्दैव सवार हो गया। कारण-अकारण राजा ने सेठ की दुकानों का माल जब्त कर लिया, गोदाम आग की भेंट चढ़ गए, जहाज समुद्र में डूब गए, देनदारों ने देनदारी से इन्कार कर दिया और मुनीम बेईमान बन गए। लक्ष्मी ने कुछ बहुमूल्य रत्न अपने अंतरंग वस्त्रों में छिपा लिए। सेठ ने परिवार को एकत्रित करके राय दी कि कष्ट के समय को देशान्तर में बिताना ही युक्ति-युक्त रहेगा। इस निश्चय के साथ सेठ अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्रवधुओं के साथ रात्रि में देशान्तर के लिए रवाना हो गया। वे जो भी धन-संपत्ति अपने साथ लाए थे उसे मार्ग में चोरों ने चुरा लिया। कई दिनों की यात्रा के पश्चात् श्रेष्ठी परिवार रत्नपुर पहुंचा। लक्ष्मी ने श्वसुर और सास को एक-एक रत्न देकर कहा कि वे भोजन और आवास की व्यवस्था करें। सेठ-सेठानी रत्न बेचने के लिए नगर में गए। वे एक धूर्त श्रेष्ठी के जाल में फंस गए। श्रेष्ठी ने उनके रत्न ले लिए और उन्हें अपने घर के तलधर में बन्दी बना दिया। सास-श्वसुर नहीं लौटे तो लक्ष्मी ने एक रत्न अपने पति को देकर विदा किया। लीलाधर भी उसी धूर्त श्रेष्ठी के चंगुल में जा फंसा और रत्न गंवाकर तलघर में पटक दिया गया।

लक्ष्मी सहित तीनों पुत्रवधुएं अत्यधिक चिंतित हुईं। आखिर लक्ष्मी ने धैर्य धारण किया और दोनों बहनों को धैर्य देकर वह स्वयं पुरुष वेश धारण करके नगर में गई। संयोग से धूर्त श्रेष्ठी से उसका भी सामना हुआ। पर लक्ष्मी ने उसे फटकार कर भगा दिया और जौहरी बाजार में पहुंचकर उसने चौदह लाख स्वर्णमुद्राओं में एक रत्न बेच दिया। मध्य बाजार में उसने एक भवन खरीदा। उसने अपनी दोनों बहनों को भवन पर बुला लिया। लक्ष्मी ने दोनों से कहा, शील रक्षण के लिए उचित है कि हम तीनों ही पुरुषवेश में रहें। पर दोनों ने—रूपवती और लीलावती ने इसे अपने लिए अशक्य बताया और कहा कि तुम ही पुरुषवेश में रहो, हम तुम्हारी पत्नियां बनकर इस कष्ट के समय को पूरा कर लेंगी।

लक्ष्मी ने अपना नाम लक्ष्मण सिंह रख लिया। उसने अपने भवन के नीचे के खण्ड में वस्त्रों की दुकान खोल ली और ये तीनों प्राणी सुखपूर्वक जीवन यापन करने लगे। लक्ष्मण सिंह अपने पति और सास-श्वसुर की निरन्तर खोज करता रहा, पर उसे सफलता नहीं मिली। रत्नपुर नगर में रहते हुए लक्ष्मण सिंह के राजा से मधुर सम्बन्ध हो गए। राजा के विशेष आग्रह पर उसने दो लाख स्वर्णमुद्राओं की मासिक वृत्ति पर नगर रक्षा का दायित्व स्वीकार कर लिया। एक देवी से नगर संत्रस्त था। लक्ष्मण सिंह ने अपने शील और धैर्य के बल पर देवी को वश में कर लिया और नगरजनों को अभय बना दिया। राजा की प्रार्थना पर लक्ष्मण सिंह ने उसकी रानियों के लिए दिव्य वस्त्राभूषण देवी से प्राप्त कर राजा को दिए। लक्ष्मण सिंह के दिव्य बल पर राजा गद्‌गद था। पुनः-पुनः अस्वीकार करने पर भी राजा ने आनी पुत्री कनकमाला का विवाह लक्ष्मण सिंह से कर दिया। लक्ष्मण सिंह ने षडमासिक ब्रह्मचर्य व्रत की बात कनकमाला से कहकर रहस्य की रक्षा की।

लक्ष्मण सिंह ने वैवाहिक भोज दिया। उस अवसर पर भोज में आए उक्त धूर्त श्रेष्ठी को लक्ष्मण सिंह ने पहचान लिंया। उसकी अंगूठी में जड़े रत्नों को देखकर उसका संशय विश्वास में रूपायित बन गया। राज-दण्ड का भय दिखाकर लक्ष्मण सिंह ने धूर्त श्रेष्ठी से सत्य उगलवा लिया। सेठ, सेठानी और लीलाधर को इस विधि से मुक्ति मिली।

कष्ट के बारह वर्ष व्यतीत हो चुके थे। लक्ष्मण सिंह ने राजा से अपने देश जाने की आज्ञा मांगी। राजा

ने हाथी, घोड़े, रथ और प्रचुर धन-संपत्ति जामाता को देकर उसे विदा किया। श्रावस्ती के निकट पहुंचकर लक्ष्मण सिंह ने सास-श्वसुर और पत्नी के समक्ष अपना वास्तविक रूप प्रकट किया। रूपवती और लीलावती को भी बुला लिया गया। पूरा परिवार आनन्द के झूले में झूलने लगा। लक्ष्मी ने कनकमाला को भी समस्त रहस्य समझाया और उसे अपनी छोटी बहन का मान दिया।

श्रावस्ती नगरी में सेठ गुणचन्द्र की प्रतिष्ठा पूर्वापेक्षया और बढ़ गई। उधर कालक्रम से लक्ष्मी ने पुत्र को जन्म दिया। आयु के उत्तरार्ध पक्ष में उसने संयम पथ पर कदम बढ़ाए। तप और चारित्र की निरतिचार साधना साधते हुए कैवल्य प्राप्त कर वह सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हो गई।

लक्ष्मीधर सेठ

लक्ष्मीपुर नगर का एक धार्मिक और धनी श्रेष्ठी। उसकी ईमानदारी और प्रामाणिकता की नगर भर में शपथें ली जाती थीं। एक रात्रि में सेठ के कक्ष में एकाएक उजाला हो गया। सेठ ने देखा, उनके समक्ष धन की देवी लक्ष्मी खड़ी है। लक्ष्मी ने सेठ से कहा कि वह उसके घर से जाना चाहती है। लक्ष्मी की बात सुनकर सेठ सामान्य बना रहा। बोला—जाना चाहती हो तो जाओ।

दूसरे दिन सेठ सोकर उठा तो उसकी तिजोरियां रिक्त हो चुकी थीं, वस्त्राभूषण और धान्य का एक कण तक उसके पास शेष न था, इससे भी सेठ खिन्न नहीं बना। उसका धन ही अशेष हुआ था, उसकी प्रामाणिकता तो जिन्दा थी। सो उसने उधार उठा कर मीठे तेल का विक्रय करना शुरू कर दिया। गृहखर्च निकलने लगा।

लक्ष्मी अनेक स्थानों पर घूमती रही। परन्तु किसी ने उसका उपयोग जूए में किया, किसी ने मदिरा में और किसी ने उसे जमीन में ही गाड़ दिया। उसे कहीं भी सम्मान और सदुपयोग नहीं मिला। आखिर पुनः एक रात्रि में वह सेठ लक्ष्मीधर के समक्ष उपस्थित हुई और प्रार्थित-स्वर में बोली, सेठ ! मुझे आश्रय दे दो, मैं तुम्हारे घर में आश्रय चाहती हूँ। सेठ ने कहा, तुम्हें इस शर्त के साथ मेरे घर में आश्रय मिल सकता है कि मेरा घर छोड़ने से एक वर्ष पूर्व तुम्हें इसकी सूचना देनी होगी। लक्ष्मी ने लक्ष्मीधर को वचन दे दिया और उसके घर में टिक गई। सेठ पुनः सम्पन्न बन गया। उसके गृहांगन में धन-धान्य बहने-बरसने लगा।

वर्षों बाद पुनः एक रात्रि में लक्ष्मी लक्ष्मीधर सेठ के समक्ष उपस्थित हुई और बोली, सेठ जी ! मेरा नाम चपला है। अब मैं अन्यत्र जाना चाहती हूँ। वचनबद्ध होने के कारण मैं तुम्हें यह सूचना देने आई हूँ कि ठीक एक वर्ष के पश्चात् मैं तेरे घर से विदा हो जाऊंगी। सेठ ने दूसरे दिन से ही दोनों हाथों से दान देना शुरू कर दिया। एक वर्ष बीतते-बीतते उसने अपना सर्वस्व दान कर दिया। दिग्दिगन्त में सेठ और सेठ की लक्ष्मी की प्रशंसा होती थी। सुनिश्चित समय पर रात्रि में लक्ष्मी पुनः सेठ के समक्ष उपस्थित हुई। बोली, तुम्हारे पास तो अन्न का एक कण भी शेष नहीं है, तुम्हारे पास क्या है, जो मैं लेकर जाऊंगी? पर तुमने मुझे जो सम्मान दिलाया है, उसने मुझे तुमसे बांध दिया है। मैं स्थायी रूप से तुम्हारे घर रहना चाहती हूँ।

सेठ के कोठार धन-धान्य से पुनः भर गए। प्रामाणिक और उदार जीवन जीकर सेठ लक्ष्मीधर सद्गति का अधिकारी बना। —जैन कथा रत्न कोष, भाग 6/—बालावबोध (गौतम कुलक)

लक्ष्मीपुञ्ज

हस्तिनापुर नगर का रहने वाला एक परम पुण्यवान श्रेष्ठी युवक। उसके जन्म से पूर्व उसके पिता सुधर्मा की आर्थिक स्थिति काफी कमजोर थी। लक्ष्मीपुञ्ज के गर्भ में आते ही सुधर्मा की आर्थिक स्थिति में

ऐसी उन्नति हुई कि वह नगर का सबसे समृद्ध व्यक्ति बन गया। युवावस्था में लक्ष्मीपुंज का आठ कन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ। उत्कृष्ट भोग सामग्री उसे सहज प्राप्त थी।

एक दिन लक्ष्मीपुंज एकान्त कक्ष में बैठा हुआ अपनी पुण्यवानी पर चिन्तन कर रहा था कि वे कौन-से पुण्य कर्म हैं जिनके फलस्वरूप उसे बिना यत्न किए ही ऐसी समृद्धि प्राप्त हुई। जब वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाया तो सहसा एक घटना घटी। उसका कक्ष दिव्य प्रकाश से आलोकित हो उठा। एक देव उसके समक्ष प्रकट हुआ। देव ने लक्ष्मीपुंज को प्रणाम किया। लक्ष्मीपुंज ने देव के प्रणाम करने का प्रयोजन और उसका परिचय पूछा तो देव ने बताया, लक्ष्मीधर नामक नगर में एक सरल हृदयी गुणधर नामक व्यापारी रहता था। एक बार एक मुनि किसी व्यक्ति को अदत्त-त्याग के बारे में बता रहे थे। गुणधर उधर से गुजरा तो उसे मुनि दिखाई दिए। वह भी मुनि को प्रणाम कर उनके पास बैठ गया और उनका उपदेश सुनने लगा। मुनि के उपदेश से प्रभावित होकर गुणधर ने भी अदत्त-ग्रहण का त्याग किया।

गुणधर व्यापारी था और उसका व्यापार दूर-देशों तक फैला था। एक बार गुणधर अपने सार्थ के साथ प्रदेश जा रहा था। वह स्वयं घोड़े पर सवार था और उसका सार्थ उसके पीछे-पीछे चल रहा था। संयोग कुछ ऐसा बना कि गुणधर सार्थ से बिछुड़ गया। वह विजन-वन में भटकने लगा। सहसा उसकी दृष्टि एक बहुमूल्य रत्नहार पर पड़ी। पर गुणधर के हृदय में उस हार के प्रति तिलमात्र भी आकर्षण नहीं जगा। वह आगे बढ़ा तो उसके घोड़े के खुर से एक स्वर्ण घट टकराया जो रत्नों से भरा हुआ था। पर गुणधर ने उस घट की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखा। कुछ दूर जाने पर गुणधर का घोड़ा गिर पड़ा और मर गया। विजन वन में अपने एकाकी सहयोगी को मृत देखकर उसे बड़ा दुख हुआ। उसने पुकारकर कहा, कोई मेरे घोड़े को जीवित कर दे तो उसे मैं अपनी सारी सम्पत्ति दे दूंगा। पर उसकी पुकार असुनी ही सिद्ध हुई। वह स्वयं प्यास से व्याकुल था। पानी की तलाश में भटकते हुए वह एक वृक्ष के नीचे पहुंचा। वृक्ष की शाखा पर जल की एक मशक लटकी हुई थी। पर अदत्त का त्यागी बिना दिए जल कैसे ग्रहण करता। वह इधर-उधर देखने लगा। वृक्ष की एक अन्य शाखा पर लटके स्वर्ण-पिंजरे में बैठे एक तोते ने गुणधर से कहा, यह जल एक वैद्य का है जो जंगल में जड़ी-बूटियां लेने गया है। वह कब लौटेगा, कहा नहीं जा सकता है। परन्तु तुम चाहो तो जल ग्रहण कर सकते हो। गुणधर ने कहा, भले ही प्राण चले जाएं पर मैं अदत्त वस्तु ग्रहण नहीं करूंगा। प्यास की तीव्रता से गुणधर ने आंखें मूंद लीं।

सहसा सब दृश्य बदल गया। एक तेजस्वी युवक गुणधर के समक्ष उपस्थित था। उस युवक ने अपना परिचय देते हुए गुणधर से कहा कि वह सूर नामक विद्याधर है। उस दिन मुनि उसे ही चोरी के त्याग का उपदेश दे रहे थे। वे मुनि उसके संसार-पक्षीय पिता हैं। वह उसके अदत्त त्याग व्रत की परीक्षा लेने आया था। परीक्षा में वह शुद्ध स्वर्ण सिद्ध हुआ है। विद्याधर सूर ने बताया, उसी ने मार्ग में स्वर्णहार और स्वर्णघट रखा था, पर एक वणिक होते हुए भी आप अपने व्रत पर इतने सुदृढ़ रहे कि आपकी उस सुदृढ़ता ने मेरा जीवन भी रूपान्तरित कर दिया है। मेरे जीवन में चोरी का दुर्व्यसन था। आज से मैं उस दुर्व्यसन का परित्याग करता हूं। आपकी व्रत निष्ठा ने मेरा हृदय परिवर्तन किया है, अतः आप मेरे गुरु हैं। ऐसा कहकर विद्याधर ने विशाल धन सम्पत्ति गुणधर को भेंट की और उसका घोड़ा भी जीवित कर दिया। परन्तु गुणधर ने विद्याधर का दिया हुआ धन अस्वीकार करते हुए अपनी सारी सम्पत्ति विद्याधर के समक्ष प्रस्तुत कर कहा, अब मेरी इस सम्पत्ति पर आपका अधिकार है, क्योंकि मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि कोई मेरे घोड़े को जीवित कर दे तो मैं उसे अपनी सारी सम्पत्ति अर्पित कर दूंगा। दोनों परस्पर एक दूसरे को अपनी-अपनी सम्पत्ति देना चाहते

थे, पर दोनों ने ही एक-दूसरे के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। अन्ततः उन दोनों ने अपनी-अपनी सम्पत्ति को जनकल्याण में लगाने का निश्चय किया और वैसा ही किया भी।

लक्ष्मीपुंज के समक्ष उपस्थित देवता ने कहा, मित्र ! पूर्वजन्म में तुम ही गुणधर श्रेष्ठी थे और मैं सूर नामक विद्याधर था। पूर्वजन्म में किए गए अदत्त त्याग और जनकल्याण के पुण्यों का ही यह फल है कि इस जन्म में तुम्हें अकूत सम्पत्ति और उत्कृष्ट भोगोपभोगों की अयत्न से ही प्राप्ति हो गई है। मैं व्यंतर देव बना हूं। चूंकि मैंने पूर्वभव में तुम्हे अपना गुरु स्वीकार किया था, फलतः अपने गुरु के दर्शनों के लिए मैं उपस्थित हुआ हूं।

देव के मुख से अपना पूर्वभव सुनकर लक्ष्मीपुंज को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वह अपना पूर्वभव देखने लगा। उसका चिन्तन आत्मोन्मुखी बन गया। उसने सोचा, एक व्रत पालन का ही ऐसा महाफल है तो सर्वव्रत पालन का कितना बड़ा फल होगा? निश्चित ही सर्वव्रत पालन का फल मोक्ष होगा। इस चिन्तन के साथ ही लक्ष्मीपुंज ने सर्वव्रत पालन का दृढ़निश्चय कर लिया। वह मुनि बन गया। सर्वविरति संयम का पालन कर वह बारहवें देवलोक में गया। वहां से च्यव कर वह एक भव मनुष्य का करेगा और चारित्र की आराधना द्वारा सर्व कर्म खपा कर मोक्ष में जाएगा।

लक्ष्मीवती

षष्ठम वासुदेव पुरुषपुण्डरीक की जननी।

लच्छीनिवास

श्रीपुर नगर के मंत्री का पुत्र। (देखिए-धनसागर)

(क) ललितांग

प्राचीन भारतवर्ष के श्रीबाल नामक नगर के राजा नरवाहन और उसकी रानी कमला का पुत्र, एक अतिशय रूप और गुण सम्पन्न राजकुमार। ललितांग कुमार समस्त कलाओं में पारंगत था। धर्म पर उसकी प्रगाढ़ आस्था थी। दीन-दुखियों के लिए वह कल्पवृक्ष के तुल्य था। दोनों हाथों से वह दीन-दुखियों को दान दिया करता था।

सज्जन नामक एक युवक से ललितांग की प्रगाढ़ मैत्री थी। पर सज्जन नाम से ही सज्जन था, कर्म से दुर्जन था। ईर्ष्या, विश्वासघात आदि दुर्गुण उसके स्वभाव में कूट-कूट कर भरे थे। पर ललितांग उसे अपना मित्र मानता था और मित्र के दुर्गुण प्रायः दिखाई नहीं दिया करते हैं। एक बार राजकुमार ने एक लाख मूल्य का अपना गलहार भिखारी को दान में दे दिया तो सज्जन ने राजा से चुगली की कि महाराज राजकुमार को समझाया नहीं गया तो उसकी दानशीलता के परिणामस्वरूप शीघ्र ही राजकोष रिक्त हो जाएगा। राजा को सज्जन की बात तथ्यपरक लगी। उसने राजकुमार को अपने पास बुलाया और धन की महत्ता बताते हुए दान में उसके व्यय पर अंकुश लगाने के लिए कहा। राजकुमार ने पिता का आदेश शिरोधार्य कर लिया। परन्तु मेघगर्जन सुनकर जैसे मयूर बिना कूहके नहीं रह सकता वैसे ही जरूरतमंद को सामने पाकर दानी बिना दिए नहीं रह सकता है। एक अन्य प्रसंग पर राजकुमार ने दान दिया तो सज्जन ने फिर से राजा के कान भरे। नाराज होकर राजा ने ललितांग को अपने देश से निर्वासित कर दिया।

ललितांग पिता के आदेश को वरदान के रूप में स्वीकार करके प्रदेश के लिए चल दिया। सज्जन भी उसके साथ हो लिया। दूर जंगल में पहुंचकर दोनों एक वृक्ष के नीचे बैठ गए। दुर्जन ने अधर्म की महिमा का

बखान किया और धर्म की निन्दा करते हुए कहा कि धर्म के कारण ही तुम राजकुमार से दरिद्र बन गए। ललितांग ने उसके पक्ष को निरस्त किया और प्राप्त स्थिति को पूर्व कर्म का फल बताते हुए धर्म की महत्ता का गुणगान किया। पारस्परिक संवाद बढ़ते-बढ़ते विवाद में बदल गया। दोनों के मध्य यह तय हुआ कि वे पंचों से निर्णय कराएंगे और जिसके पक्ष को समर्थन मिलेगा वह पराजित पक्ष से यथेच्छ वस्तु मांगने का अधिकारी होगा। पास ही गांव था। पंचों के समक्ष बात प्रस्तुत की गई। पंचों ने निर्णय लिया, धार्मिकों को दुखी और पापियों को सुखी ही सर्वत्र देखा जाता है। इसी से स्वयंसिद्ध है कि अधर्म ही महिमामय है।

दुर्बद्धि सज्जन विजयी हुआ और उसने ललितांग की आंखें मांग लीं। ललितांग ने वचन-बद्धता के कारण अपनी आंखें निकाल कर सज्जन को दे दीं। अचक्षु राजकुमार को असहाय दशा में जंगल में छोड़कर और उसकी सभी कीमती वस्तुएं और आभूषण लेकर सज्जन चम्पत हो गया। स्वकृत कर्मफल मानकर ललितांग जंगल में भटकने लगा। वह एक वृक्ष के नीचे विश्राम कर रहा था तो उसने एक पक्षी-युगल का संवाद सुना। संवाद था—चम्पानरेश की इकलौती पुत्री पुष्पवती नेत्र ज्योति खो बैठी है। जो कोई उसे नेत्र ज्योति लौटाएगा राजा उसे आधा राज्य देगा और उसी से अपनी पुत्री का विवाह भी करेगा। पक्षी-युगल के संवाद से यह भी स्पष्ट हो गया कि उसी वृक्ष से लिपटी बेल को पीस कर अंजनवत् आंखों में डालने से नेत्रों में रोशनी प्रकट हो जाती है।

ललितांग के लिए पक्षी-युगल का संवाद सुखमय जीवन का आधार बन गया। उसने पहले स्वयं नेत्र ज्योति प्राप्त की और बाद में राजकुमारी को नेत्र ज्योति देकर उसे पत्नी बनाया तथा आधा राज्य भी प्राप्त किया।

उधर सज्जन राजकुमार ललितांग के वस्त्राभूषण चुराकर जैसे ही आगे बढ़ा तो उसे दस्युओं ने लूट लिया और घायल करके छोड़ दिया। भिखारियों का जीवन जीते हुए सज्जन एक बार चम्पानगरी में आया तो ललितांग ने उसे पहचान कर और उसकी दुष्टता को क्षमा कर उसे पुनः अपना मित्र बना लिया और मंत्री पद पर नियुक्त कर दिया।

कहावत है कि दुर्जन सब छोड़कर भी अपनी दुर्जनता को नहीं छोड़ता है। यहां पर सज्जन ने जितशत्रु राजा के कान भर दिए कि ललितांग तो दासी-पुत्र है। इससे जितशत्रु को बड़ी आत्मग्लानि हुई कि उसने अपनी पुत्री का विवाह निम्न कुल में कर के महान भूल की। उसने ललितांग की हत्या के लिए एक गुप्त सैनिक तैनात कर दिया। ललितांग को राजा ने रात्रि के समय उस मार्ग से अपने पास बुलाया जिस पर उक्त सैनिक तैनात किया गया था। कारणवश ललितांग ने सज्जन को राजा के पास भेज दिया। सैनिक ने एक ही प्रहार से सज्जन का वध कर दिया।

आखिर राजा जितशत्रु के बुद्धिशाली मंत्री की युक्ति से ललितांग के कुल-गोत्र का पता लगाया गया। ललितांग को राजकुमार और क्षत्रिय कुलोत्पन्न जानकर जितशत्रु अतीव प्रसन्न हुआ और प्रायश्चित्त स्वरूप अपना पूरा साम्राज्य ललितांग को अर्पित कर प्रव्रजित बन गया।

बाद में ललितांग अपने पिता-माता से मिला। पुत्र को पाकर पिता गद्‌गद बन गया और उसे राज्य सौंपकर वह भी प्रव्रजित बनकर आत्मसाधना में तल्लीन बन गया।

ललितांग कुमार ने सुदीर्घ काल तक सुशासन किया और अंतिम अवस्था में आत्मसाधना के लिए प्रव्रज्या धारण की और स्वर्ग पद प्राप्त किया। —पार्श्वनाथ चरित्र-1

(ख) ललितांग

आनन्दपुर नगर के महाराज रिपुमर्दन का इकलौता पुत्र, वचन का धनी राजकुमार। (देखिए-रत्नवती)

(ग) ललितांग

ललितांग कुमार वसंतपुर नगर के समुद्रप्रिय नामक सार्थवाह का पुत्र था। वह युवा और सुन्दर था। एक बार वह नगर में घूमने को निकला। जब वह राजमहल के निकट से गुजर रहा था तो नगरनरेश शतायुध की रानी ललिता ने उसको देखा। ललिता रानी ललितांग के रूप और यौवन पर मुग्ध बन गई। उसने अपनी चतुर और विश्वस्त दासी को भेजकर ललितांग को महल में बुला लिया और स्वागत व सुमधुर संभाषण से उसे अपने वश में कर लिया। ललितांग ललिता रानी के साथ भोग भोगते हुए वहीं रहने लगा।

एक दिन अकस्मात् राजा शतायुध ललिता रानी के महल में आया। ललिता और ललितांग सावधान हो गए। चतुर दासी ने अपनी स्वामिनी की रक्षा के लिए शीघ्र ही एक उपक्रम किया। उसने पाखाने के अन्धकूप में ललितांग को उतार दिया। पूरे राजमहल की गंदगी बहकर उस अंधकूप में आती थी। ललितांग उस अंधकूप में पड़ा हुआ महान कष्ट भोगने लगा। कहते हैं कि वह कई मास तक उस कूप में पड़ा नारकीय दशा को भोगता रहा।

पुण्ययोग से वर्षा ऋतु में वह अन्धकूप जल से भर गया। जल निस्तारण के लिए कूप के कपाट हटाए गए तो जल के तीव्र वेग के साथ ललितांग भी बहकर दूर जा गिरा। महीनों तक अन्धकूप के महा दुर्गन्धमय स्थान पर रहने के कारण वह स्वच्छ हवा को सहन नहीं कर पाया और अचेत हो गया। शनैः-शनै उसकी चेतना लौटी तो वह अपनी दशा पर महान पश्चात्ताप करने लगा। किसी तरह उसने स्वयं को स्वच्छ किया और अपने घर पहुंच गया। ललितांग के लौट आने पर उसके परिजन बहुत खुश हुए।

कुछ ही दिनों में ललितांग स्वस्थ हो गया। एक बार फिर वह नगरभ्रमण करते हुए राजमहल के निकट पहुंचा। रानी ने उसे देखा और अपने पास बुलाया। पर बुद्धिमान ललितांग ने उसका प्रस्ताव तो क्या स्वीकार करना था, उसने आंख तक उठा कर रानी की ओर नहीं देखा।

कथासार इतना ही है कि जो भोगों की ओर आकर्षित होते हैं उन्हें अन्धकूप के समान गर्भ जून में गिरना पड़ता है। जो विवेकयुक्त व्यक्ति भोगों से सावधान रहते हैं वे सदैव सुखी रहते हैं।

लव

श्रीराम और सीता का पुत्र तथा कुश का सहोदर। लव धीर-वीर और तेजस्वी किशोर था। उसने किशोरावस्था में ही अपने सहोदर कुश को साथ लेकर त्रिखण्डजयी अयोध्या की सेना का मानमर्दन कर दिया था। (देखिए-सीता)

लव जी ऋषि (आचार्य)

श्वेताम्बर स्थानकवासी परम्परा के क्रियोद्धारक आचार्यों में प्रमुख। लवजी ऋषि का जन्म गुजरात प्रदेश के सूरत शहर में हुआ था। उनकी माता का नाम फूलाबाई था। उनके पिता का स्वर्गवास उनके बाल्यकाल में ही हो गया था। उनका पालन-पोषण उनके नाना वीर जी बोरा ने किया जो सूरत के समृद्ध श्रेष्ठी थे।

लव जी बाल्यकाल से ही आत्मोन्मुखी थे। उन्होंने बजरंग जी यति के पास शास्त्राध्ययन किया और विरक्त होकर वे यति जी के शिष्य बन गए। परन्तु यति संघ की आचार-शिथिलता को देखकर लव जी

अत्यन्त निराश हुए। उन्होंने बजरंग जी यति से अनुज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त कर क्रियोद्धार का संकल्प किया। यति-प्रव्रज्या को छोड़कर उन्होंने पंच महाव्रत रूप दीक्षा धारण की और लोंकाशाह की धर्मक्रान्ति को उन्होंने अपने आचारनिष्ठ जीवन से सुदृढ़ता प्रदान की।

आचार्य लवजी ऋषि एक उच्च कोटि के क्षमाशील और क्रियापात्र मुनि थे। धर्म प्रचार में भी वे कुशल थे। उनके उपदेशों का जैन समाज पर अपूर्व प्रभाव पड़ा। इससे यतियों के प्रति लोगों की आस्था शिथिल पड़ने लगी। यतियों ने वीर जी बोरा को इसके विरोध में शिकायत की। वीर जी बोरा के निवेदन पर खम्भात के नवाब ने लवजी ऋषि को कारागृह में डाल दिया। परन्तु नवाब एक निर्दोष और तेजस्वी मुनि को अधिक समय तक बन्दीगृह में नहीं रख सका। उसने क्षमा प्रार्थना के साथ लवजी ऋषि को ससम्मान मुक्त कर दिया।

लवजी ऋषि के एक शिष्य भानु ऋषि को विद्वेष के कारण विरोधियों ने विष दे दिया जिससे उनका देहान्त हो गया। उन कठिन क्षणों में भी लवजी ऋषि ने अपूर्व सहनशीलता का परिचय दिया।

बाद में लवजी ऋषि को भी आहार में विष दे दिया गया। अपूर्व शान्ति और समाधि में रहते हुए अनशन पूर्वक लवजी ऋषि ने देह त्याग किया।

सोमजी ऋषि आचार्य लवजी ऋषि के एक तेजस्वी शिष्य थे।

वर्तमान ऋषि सम्प्रदाय और खम्भात सम्प्रदाय आचार्य लवजी ऋषि की सम्प्रदाएं हैं।

लीलापत

अयोध्या नगरी के कोटीश्वर श्रेष्ठी सुनन्दन का पुत्र। लीलापत सुशिक्षित, गुणवान और धुन का धनी युवक था। युवावस्था में एक रूप-गुण सम्पन्न श्रेष्ठि-कन्या से उसका विवाह हुआ।

एक रात्रि में लीलापत ने एक स्वप्न देखा। स्वप्न में उसने झणकारा नामक रूपसी बाला को देखा जिसने उससे कहा कि वह उसी की प्रतीक्षा कर रही है। साथ ही स्वप्न में उसने यह भी जान लिया कि झणकारा रामावती नगरी के रामेश्वर हलवाई की इकलौती पुत्री है। लीलापत की निद्रा भंग हुई तो उसका चैन खो गया। उसने मन ही मन दृढ़ निश्चय कर लिया कि वह रामावती नगरी जाएगा और झणकारा से विवाह करेगा। उसने अपना स्वप्न अपने माता-पिता और पत्नी को बताया। सभी ने उसे स्वप्न को स्वप्न मानकर भूल जाने के लिए कहा, पर वह वैसा न कर सका। आखिर उसके निश्चय के समक्ष परिवार के सभी सदस्य परास्त हो गए और उसे जाने की अनुमति दे दी।

लीलापत चल दिया। कई दिनों तक यत्र-तत्र भटकता रहा, पर उसे रामावती नगरी की कोई खोज-खबर कहीं से प्राप्त न हुई। थककर उसने यक्षाराधना का निश्चय किया। आराधना से सुप्रसन्न यक्ष ने उसे रामावती नगरी के एक उद्यान में पहुंचा दिया। यह उद्यान रामेश्वर हलवाई का ही था। उद्यान रक्षक ने लीलापत को रामेश्वर हलवाई के बारे में कई बातें बताईं। उसने बताया कि रामेश्वर हलवाई नगर का सबसे समृद्ध व्यक्ति है। उसकी दुकान की मिठाई प्रति सेर सौ स्वर्ण अशर्फियों में बिकती है। उसकी झणकारा नामक पुत्री देवांगनाओं से भी अधिक सुन्दर है। परन्तु पुत्री के विवाह के लिए रामेश्वर हलवाई ने एक विचित्र शर्त रखी है जिसका पूरा होना प्रायः असंभव सा लगता है। लीलापत ने शर्त के बारे में पूछा तो उद्यानरक्षक ने बताया, रामेश्वर हलवाई ने यह शर्त रखी है कि जो व्यक्ति उसके उद्यान के जलकुण्डों को स्वर्णमय और बावड़ियों को रजतमय बनाएगा उसी के साथ वह अपनी पुत्री का विवाह करेगा।

लीलापत सुनकर विचारशील बन गया। उसने पुनः यक्ष की आराधना शुरू कर दी। यक्ष प्रकट हुआ। लीलापत की प्रार्थना पर यक्ष ने उद्यान के जलकुण्डों को स्वर्णमय और बावड़ियों को रजतमय बना दिया। परिणामतः रामेश्वर हलवाई ने अपनी पुत्री का विवाह लीलापत से कर दिया। लीलापत का स्वप्निल काम्य पूर्ण हुआ। उसके हर्ष का ओर-छोर न था। पत्नी झणकारा को लेकर वह अपने नगर के लिए चला। पर अशुभ कर्म प्रकट हो गए और रात्रि में किसी दुष्ट योगी ने झणकारा का अपहरण कर लिया। कई मास तक पति-पत्नी का वियोग बना रहा। झणकारा बुद्धिमती थी। अपनी युक्ति से उसने योगी से अपने शील की रक्षा की। वह योगी के चंगुल से भागी तो पुनः एक योगी के चंगुल में फंस गई। अपने बुद्धिबल से उस योगी से स्वतंत्र हुई तो चार चोरों ने उसे घेर लिया। चोरों को भी उसने अपनी बुद्धि से परास्त किया और काशी नगरी में पहुंची। वहां पुरुषवेश में रहकर उसने अपने बुद्धिबल से एक राक्षस से नगर की जनता की रक्षा की और आधे राज्य के साथ-साथ राजकुमारी से पाणिग्रहण किया। कुल परम्परा की बात कहकर उसने राजकुमारी को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वे छह मास तक भाई-बहन बन कर रहेंगे। आखिर काशी में रहते हुए ही लीलापत और झणकारा का पुनर्मिलन हुआ। झणकारा के बुद्धिबल पर शील रक्षण की सभी ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की।

दो पत्नियों के साथ लीलापत अयोध्या लौटा। परिजनों और पत्नी से मिलन हुआ। हर्ष का सागर उमड़ा। सुखपूर्वक जीवन यापन करते हुए जीवन के अंतिम पक्ष में लीलापत और झणकारा ने संयम ग्रहण कर स्वर्गाधिकार पाया। वहां से च्यव कर दोनों मनुष्य जन्म लेकर सिद्ध होंगे।

(क) लीलावती

एक राजकुमारी जिसका पाणिग्रहण राजकुमार चन्द्रानन स्वामी (विहरमान तीर्थंकर) से हुआ था। (देखिए-चन्द्रानन-स्वामी)

(ख) लीलावती

वीतभयपुर पाटण नगर के सेठ धनदत्त की पुत्री, एक बुद्धिमती और पतिपरायणा नारी। उसका विवाह कौशाम्बी नगरी के श्रेष्ठी पुत्र श्रीराज से हुआ था। लीलावती के विवाह के कुछ ही दिन पश्चात् उसकी माता का देहान्त हो गया और उसके पिता प्रव्रजित हो गए। लीलावती अपने माता-पिता की इकलौती संतान थी। फलतः उसका पीहर शून्य हो गया। पति का घर ही उसका एकमात्र घर था।

लीलावती की तीन जेठानियां थीं। चारों में परस्पर पूर्ण स्नेह भाव था। एक बार जब चारों कौमुदी महोत्सव से लौट रही थीं, तो मार्ग में एक वृक्ष के नीचे बैठकर अपने-अपने पीहर के बारे में बातें करने लगीं। लीलावती उस वार्ता में मौन साधे बैठी थी। जेठानियों ने उसे टोका तो वह बोली, मेरा पीहर तो शून्य ही है। मेरी माता का देहान्त हो गया और पिता मुनि बन गए हैं। एक मामा हैं, जिनका नाम जिनसेन है, उनको आज दिन तक मैंने देखा नहीं है, विदेश में रहकर व्यापार करते हैं, यही मेरे पीहर की कथा है।

लीलावती के इस कथन को रूगा नामक एक ठग ने सुन लिया। रूगा एक नामी ठग था। बड़े-बड़े लोगों को उसने ठगा था। सो एक दिन लीलावती का मामा जिनसेन बनकर श्रीराज के घर पहुंच गया। सभी सदस्यों को अपनी वार्ताओं से मोहित बनाकर लीलावती को अपने घर ले गया। रूगा के घर पहुंचते ही लीलावती समझ गई कि वह ठगी गई है। रूगा ने भी स्पष्ट कर दिया कि वह उसे अपनी पत्नी बनाने के लिए लाया है। लीलावती बहुत बुद्धिमती थी। उसने अपने बुद्धिबल से न केवल अपने शील की रक्षा की

बल्कि रूगा को भी अच्छा सबक सिखाया। बाद में रूगा को वह सज्जन बनाने में भी सफल रही। लीलावती ने धर्मध्यान पूर्वक जीवन व्यतीत कर स्वर्ग प्राप्त किया।

(ग) लीलावती

चन्द्रपुर नरेश जयसेन की रानी। एक आदर्श मातृ-हृदया नारी। (देखिए-चन्द्रसेन)

(घ) लीलावती

पैठणपुर नरेश महाराज नरवाहन की पटरानी और एक दुश्चरित्रा नारी। (देखिए-हसंराज)

(ङ) लीलावती

भरतपुर नरेश जयसेन की महारानी पद्मावती की अंगजाता, एक अनिंद्य सुंदरी राजकुमारी। लीलावती जब अविवाहिता ही थी तो जयसेन ने अपने विश्वस्त मंत्री सज्जन सेन को राज्य भार और पुत्री का विवाह-दायित्व प्रदान कर अपनी रानी पद्मावती के साथ प्रव्रज्या धारण कर ली थी। कालान्तर में सज्जन सेन ने लीलावती का स्वयंवर रचाया। स्वयंवर में विजयपुर नगर का युवराज चन्द्रसेन और कनकपुर नरेश कनकरथ सहित अनेक राजा और राजकुमार आए। लीलावती ने चन्द्रसेन के गले में वरमाला डालकर उसे अपने पति के रूप में चुना। कनकरथ ने इसे अपना अपमान समझा। वह उस युग का एक बलवान राजा था। उसने चन्द्रसेन को ललकारा, पर उपस्थित राजाओं और राजकुमारों द्वारा धिक्कार दिए जाने पर कनकरथ को मौन हो जाना पड़ा। चन्द्रसेन लीलावती को साथ लेकर अपने नगर को चला गया।

कनकरथ स्वयंवर मण्डप में तो मौन हो गया, पर लीलावती के रूप-सौन्दर्य को वह भुला नहीं पाया। कालान्तर में उसने विजयपुर पर आक्रमण कर दिया। चन्द्रसेन और लीलावती को जंगल की शरण लेनी पड़ी। कई वर्षों तक चन्द्रसेन और लीलावती अलग-अलग अनेक कष्ट सहते हुए यत्र-तत्र भटकते रहे। लीलावती के शील पर कई बार दुष्ट पुरुषों की कुदृष्टि पड़ी। उससे उसे दुःसह स्थितियों से गुजरना पड़ा, पर उसने अपने शीलव्रत का पूरे साहस से पालन किया। अंततः चन्द्रसेन ने मित्र राजाओं के सहयोग से कनकरथ को पराजित किया और अपनी रानी व राज्य को पुनः प्राप्त किया।

लीलावती ने पतिव्रत-धर्म का पालन करते हुए, जीवन के अंतिम भाग में साध्वी व्रत अंगीकार किया और विशुद्ध चारित्र की आराधना कर सुगति प्राप्त की।

लेतिकापिता (श्रावक)

भगवान महावीर और उन द्वारा प्ररूपित धर्म को आराध्य रूप में अंगीकार करने वाला एक जैन श्रावक।

लेतिकापिता गाथापति श्रावस्ती नगरी का रहने वाला था। वह बहुत धनी था और किसी से भी पराभूत होने वाला नहीं था। उसके पास सोलह करोड़ मूल्य की चल-अचल सम्पत्ति थी। दस-दस हजार गायों के चार गोकुल उसके पास थे।

लेतिकापिता गाथापति की पत्नी का नाम फाल्गुनी था जो सुरूपा और पतिव्रता थी।

एक बार नगरी के बाह्य भाग में स्थित कोष्ठक चैत्य में भगवान महावीर पधारे। जनता भगवान के दर्शन करने और प्रवचन सुनने गई। लेतिकापिता भी भगवान के चरणों में उपस्थित हुआ। भगवान के दर्शन करके और उनकी वाणी को सुनकर लेतिकापिता को संबोधि की प्राप्ति हुई। उसने अपने बल और पुरुषार्थ को तोला। उसने स्वयं को अणगार धर्म को ग्रहण कर पाने में असमर्थ अनुभव किया। तब उसने भगवान से

श्रावक धर्म अंगीकार किया। उसकी पत्नी ने भी श्रावक धर्म की दीक्षा ग्रहण की।

लेतिकापिता ने अविचल श्रद्धा भाव से श्रावक धर्म का पालन किया। यथासमय उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहदायित्व प्रदान कर अपना अधिकांश समय धर्मध्यान में अर्पित करना शुरू कर दिया। उसने क्रम से श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं की आराधना की। उक्त कठिन तप से लेतिकापिता की देह अत्यन्त कृश हो गई। तब उसने संलेखना संथारा द्वारा अंतिम साधना में प्रवेश किया। मासिक अनशन के साथ देहोत्सर्ग करके लेतिकापिता सौधर्म कल्प में देव बना। कालान्तर में वह महाविदेह क्षेत्र से सिद्ध होगा।

—उवासगदसाओ

लेप गाथापति

राजगृह नगर के उपनगर नालन्दा में रहने वाला एक समृद्ध श्रावक। वह भगवार महावीर का अनन्य उपासक और निर्ग्रन्थ प्रवचन का दृढ़ श्रद्धालु था। वह अष्टमी, चतुर्दशी और पक्खी को नियमित पौषधोपवास की आराधना करता था।

लोंकाशाह

धर्म प्राण लोंकाशाह विक्रम सं. की 15वीं-16वीं सदी के धर्मवीर पुरुष थे। वि.सं. 15वीं सदी के उत्तरांश में उनका जन्म हुआ। अध्ययन पूर्ण कर वे व्यवसाय के क्षेत्र में प्रविष्ट हुए। पहले उन्होंने पैतृक व्यवसाय किया, बाद में अहमदाबाद में रहकर जवाहरात का व्यवसाय स्थापित किया। व्यापार में प्रामाणिकता और कुशलता के कारण वे राजमान्य जौहरी बने। बादशाह मोहम्मदशाह के प्रस्ताव पर उन्होंने कुछ वर्षों तक पाटण में राजस्व अधिकारी के पद पर अपनी सेवाएं भी दीं।

लोंकाशाह बचपन से ही सत्य के उपासक थे। उनका जीवन जैन धर्म के संस्कारों से ओतप्रोत था। परिणामतः वे तत्युगीन यतियों के पास धर्मश्रवण करने के लिए नियमित रूप से जाते थे। लोंकाशाह की एक प्रमुख विशेषता यह थी कि उनका लेखन बहुत सुन्दर था। उनके सुन्दर लेखन को देखकर यति जी ने उनको आगमों की जर्जरित प्रतियां पुनर्लेखन के लिए दीं। आगम सेवा के रूप में इस कार्य को लोंकाशाह ने अपना पुण्योदय माना। वे आगमों की प्रतिलिपि तैयार करने लगे। साथ ही उन्हें विशुद्ध रूप से जिनवाणी के अध्ययन का सुअवसर भी प्राप्त हुआ। आगमों के अध्ययन से उन्हें शुद्ध धर्म का स्वरूप ज्ञात हुआ। शुद्ध श्रमणाचार के साथ यतियों के आचार की तुलना करने पर लोंकाशाह दुखद विस्मय से भर गए। उन्हें इस बात का अतिशय कष्ट हुआ कि भगवान महावीर ने श्रमण के लिए जिस आचार-विचार का निरूपण किया है उसका यतिवर्ग में आंशिक तत्व भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसी कष्टपूर्ण अनुभूति ने लोंकाशाह को धर्मक्रान्ति के लिए प्रेरित किया। उन्होंने बत्तीसों आगमों की दो-दो प्रतिलिपियां तैयार कीं। एक-एक प्रतिलिपि अपने पास रख ली। आगमों की उन्हीं शुद्ध प्रतिलिपियों के आधार पर ही लोंकाशाह ने शुद्ध धर्म का प्रचार प्रारंभ किया। उनके शुद्ध धर्म के प्रचार से शीघ्र ही बहुत से जैन श्रावक उनसे प्रभावित हुए। कुछ ही समय में लोंकाशाह की धर्मक्रांति एक आन्दोलन के रूप में उभरी। हजारों भव्य आत्माओं ने आडम्बर और परिग्रह के दलदल में धंसे यतिवर्ग के प्रभाव से मुक्त होकर आगमानुसार शुद्ध धर्म की आराधना-अर्चना प्रारंभ कर दी।

लगभग 1000 वर्षों से यतियों ने जिनधर्म को अपनी सुविधानुसार तोड़-मरोड़ कर विद्रूप बना दिया था। लोंकाशाह ने आजीवन संघर्ष कर जिनधर्म के मौलिक तत्वों —सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और

अपरिग्रह की पुनः प्राण प्रतिष्ठा की। इससे परिग्रही और सुविधाभोगी यतियों की गद्दियां हिल गईं। उन्होंने लोंकाशाह का तीव्र विरोध किया और उसे जिनमत विरोधी कहकर उसकी निन्दा की। परन्तु धर्मप्राण लोंकाशाह ने अपनी निंदा की परवाह किए बिना अपने मिशन को आगे और आगे बढ़ाया। लोंकाशाह के जीवन काल में ही उनकी क्रियोद्धार रूपी धर्मक्रान्ति सुदूर अंचलों में फैल गई और हजारों श्रावक उससे जुड़ गए।

लोंकाशाह ने आगमों के प्रमाण प्रस्तुत कर मूर्त्तिपूजा का निषेध किया, और सम्पूर्ण अपरिग्रह और अहिंसा की पूर्ण प्रतिष्ठा की।

वर्तमान स्थानकवासी परम्परा का स्वरूप लोंकाशाह से ही प्रचलित हुआ। इस परम्परा में आचार्य जीवराज जी, आचार्य लवजी ऋषि, आचार्य धर्मदासजी, आचार्य धर्मसिंह जी, आचार्य भूधर जी, आचार्य अमरसिंह जी और मुनि मायाराम जी जैसे संयम प्राण पुरुष हुए।

आज से लगभग साढ़े पांच सौ वर्ष पूर्व हुए धर्मवीर लोंकाशाह शुद्ध धर्म के अन्वेषक, प्रचारक और उसके लिए आजीवन संघर्षकर्त्ता के रूप में सदैव अर्चित-वन्दित रहेंगे।

लोहित्य (आचार्य)

नन्दी स्थविरावली में आर्य लोहित्य की स्तुति इस प्रकार हुई है—

सुमुणिय-णिच्चाणिच्चं, सुमुणिय-सुत्तत्थ-धारयं वंदे।
सब्भावुब्भावणया, तत्थं लोहिच्चणामाणं।।

अर्थात् लोहित्याचार्य नित्य-अनित्य रूप से वस्तुतत्व के ज्ञाता थे, सूत्रार्थ को धारण करने वाले थे और सर्व पदार्थों के यथावस्थित प्रकाशन में कुशल थे।

लोहित्याचार्य का समय वी.नि. की नवमी शताब्दी का उत्तरार्द्ध और दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध संभावित है।

—नन्दी सूत्र स्थविरावली

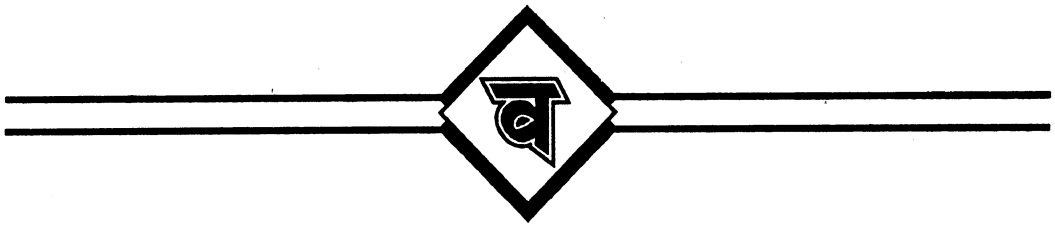

वच्छराज

पैठणपुर नरेश महाराज नरवाहन की रानी हंसावली का अंगजात। (देखिए-हंसराज)

वज्रजंघ

पुंडरीकिणी नगरी का राजा । उसने वन में महासती सीता की न केवल रक्षा ही की बल्कि उसे भगिनी का पद दे अपने साथ अपने नगर में ले गया। वहीं पर लव और कुश का जन्म हुआ तथा शिक्षा-दीक्षा भी हुई। (देखिए-सीता)

वज्रधर स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

ग्यारहवें विहरमान तीर्थंकर। धातकी खण्ड के पूर्व महाविदेह क्षेत्र की वच्छ विजय में स्थित सुसीमा-पुरी नगरी के महाराज पद्मरथ की पट्टमहिषी सरस्वती के रत्नगर्भ से प्रभु का जन्म हुआ। यौवनावस्था में विजया नामक राजकुमारी से प्रभु का विवाह हुआ। शंख प्रभु का चिन्ह है। तिरासी लाख पूर्व तक गृहवास भोगकर प्रभु प्रव्रजित हुए और तप-संयम की अराधना से केवली बने। तदनन्तर प्रभु ने तीर्थ की स्थापना कर लोक कल्याण का पथ प्रशस्त किया। चौरासी लाख पूर्व की सर्वायु भोग कर प्रभु निर्वाण को प्राप्त होंगे।

वज्रनाभ

प्रभु पार्श्वनाथ का पूर्वभव का नाम। वज्रनाभ शुभंकरा नगरी के महाराज वज्रवीर्य का पुत्र था। (देखिए-मरुभूति)

वज्रबाहु

अयोध्या का एक सूर्यवंशी राजकुमार। उसके पिता विजय अयोध्या के राजा थे। उसका एक सहोदर था—पुरन्दर। युवराज वज्रबाहु का विवाह नागपुर नरेश की पुत्री मनोरमा के साथ हुआ था। मनोरमा का एक भाई था जिसका नाम उदयसुन्दर था।

एक बार राजकुमार उदयसुन्दर अपनी बहन से मिलने अयोध्या में आया। अपने साले के आगमन की खुशी में युवराज वज्रबाहु ने वनविहार का कार्यक्रम बना लिया। वह अपनी पत्नी मनोरमा और साले उदयसुन्दर के साथ एक रथ पर सवार हो गया। अन्य कई रथों पर राजपरिवार के अन्य युवक और सेवक सवार हुए।

वनविहार के क्रम में रथों का वह काफिला एक ऐसे सघन वन प्रदेश में पहुंचा जहां अद्भुत प्राकृत छटा बिखरी हुई थी। वज्रबाहु ने रथ रोक दिया। पास ही वृक्ष के नीचे एक मुनि ध्यानस्थ थे। वज्रबाहु एकटक हो मुनि को देखने लगा। उसके अंतःकरण में चिंतन चला—यथार्थ रूप में तो यह मुनि ही सम्राट् हैं जो विषयों और कषायों को जीत कर आत्म-आराम में विहार कर रहे हैं।

वज्रबाहु को मुनि की ओर एकटक निहारते हुए देखकर उदयसुन्दर ने विनोद किया—जीजा जी। दीक्षा लेने की तो नहीं सोच रहे हो? यदि वैसा विचार हो तो हमें भी अपने साथ रखिए।

विनोद-प्रसंग वैराग्य का कारण बन गया। वज्रबाहु ने तत्क्षण अपना निर्णय सुना दिया, मैं मुनि बनकर यथार्थ सम्राट् बनना चाहता हूँ। कहकर वज्रबाहु मुनि के पास पहुंचे और उनसे प्रव्रज्या की प्रार्थना करने लगे।

वैराग्य का महानद ऐसा प्रवाहित हुआ कि उसी दिन वज्रबाहु के साथ उसका साला उदयसुन्दर तथा पत्नी मनोरमा ने दीक्षा धारण कर ली। वन-विहार में साथ में आए पच्चीस अन्य युवकों ने भी दीक्षा धारण की।

राजा विजय को यह सूचना मिली तो वे भी विरक्त हो गए। पुत्र पुरन्दर को राजपद देकर वे भी श्रमण-धर्म में दीक्षित हो गए।

वज्रबाहु का सत्संकल्प कई भव्यों के लिए कल्याण का कारण बन गया। —जैन रामायण

वज्रवीर्य

जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह में स्थित शुभंकरा नामक नगरी का एक राजा। (देखिए-मरूभूति)

वज्रसेन (आचार्य)

आर्य सिंहगिरि की गण परम्परा के एक महान आचार्य। वृद्धावस्था में वे आचार्य पद पर आरूढ़ हुए और उनका शासन काल चार वर्षों का रहा।

आर्य वज्रसेन का जन्म वी.नि. 492 में हुआ। 9 वर्ष की आयु में ही वे जिनधर्म में प्रव्रजित हो गए। आगमों का गंभीर अध्ययन कर वे आगमों के विशिष्ट ज्ञाता बने।

आर्य वज्रस्वामी आयु और दीक्षा पर्याय में आर्य वज्रसेन से छोटे थे, परन्तु आचार्य पद पर वज्रसेन की नियुक्ति वज्रस्वामी के बाद ही हुई थी। वी.नि. 584 में देश में भीषण दुष्काल पड़ा। आर्य वज्रस्वामी ने रथावर्त पर्वत पर अपने 500 शिष्यों के साथ अनशन का संकल्प किया। उस समय आर्य वज्रस्वामी ने आर्य वज्रसेन को गण का भार सौंप कर कुंकुण देश में विहार करने के लिए कहा। आर्य वज्रसेन कुंकुण देश में विचरने लगे। दुष्काल की त्रासदी से पूरा देश त्रसित था। स्वाभाविक है कि आचार्य वज्रसेन को भी उन स्थितियों में कठिन परीषहों का सामना करना पड़ा ही होगा।

वी.नि. 592 में आर्य वज्रसेन सोपारक नगर में पधारे। दुष्काल चरम पर था। अन्नाभाव से प्रजा काल का ग्रास बन रही थी। जो लोग जीवित थे, असह्य कष्ट पूर्वक जी रहे थे। सोपारक नगर में जिनदत्त नामक एक श्रमणोपासक श्रेष्ठी रहते थे। उनकी पत्नी का नाम ईश्वरी था। उनके चार पुत्र थे। जिनदत्त एक समृद्ध सेठ थे। पर अन्नाभाव में उनके परिवार की दशा करुणामयी बन गई थी। प्रत्येक सदस्य अन्न के कण-कण के लिए तरस रहा था। ईश्वरी ने विचार किया कि तिल-तिल कर मरने की अपेक्षा आत्महत्या ही कर ली जाए तो श्रेष्ठ होगा। उसने लक्ष मुद्रा मूल्य के शालि पकाए और उनमें विष का मिश्रण कर दिया। जब वह अपने परिवार को उक्त शालि परोसने की तैयारी कर रही थी उसी समय पुण्योदय से आर्य वज्रसेन भिक्षा की खोज में वहां पधारे। ईश्वरी ने आर्य वज्रसेन का स्वागत किया। उसने विषमिश्रित भोजन का पात्र छिपाने का प्रयत्न किया। परन्तु आर्य वज्रसेन की दृष्टि से उसका वह प्रयास छिप न सका। आर्य वज्रसेन ने ईश्वरी से उसके वैसा करने के कारण को पूछा। साश्रु नयनों से ईश्वरी ने यथार्थ व्यक्त कर दिया।

श्रमणोपासक परिवार की इस दशा को देखकर आर्य वज्रसेन चिन्तनशील बन गए। ज्ञानोपयोग से जानकर उन्होंने ईश्वरी से कहा, बहन ! दुष्काल समाप्ति पर है, धैर्य धारण करो और सुप्रभात की प्रतीक्षा

करो। ईश्वरी ने मुनि के कथन को स्वीकार किया। दूसरे ही दिन अन्न से भरे पोत नगर सीमा पर आ पहुंचे। दुष्काल विदा हुआ। सुकाल का सुप्रभात सबके लिए जीवन का सन्देश लेकर आया।

इस घटना से जिनदत्त और ईश्वरी का धर्मानुराग अतिशय रूप से बढ़ गया। उन दोनों ने अपने चारों पुत्रों के साथ दीक्षा धारण कर ली। नागेन्द्र, निवृत्ति, चन्द्र और विद्याधर नामक चारों श्रेष्ठि-पुत्र अपने समय के महाप्रभावी और श्रुतधर मुनि हुए। उन चारों के नाम से चार कुलों का उद्भव भी हुआ।

आर्य वज्रसेन एक सुदीर्घ आयुष्य वाले आचार्य थे। वी.नि. 617 में उन्होंने आचार्य पद संभाला था। वी.नि. 620 में 128 वर्ष की अवस्था में उनका स्वर्गारोहण हुआ। —प्रभावक चरित/—परिशिष्ट पर्व, सर्ग-13

वज्रसेना (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 19

वज्रस्वामी (आचार्य)

वी.नि. की छठी शताब्दी में आर्य वज्रस्वामी एक महाप्रभावी आचार्य हुए। आचार्य सुहस्ती की परम्परा के आर्य सिंहगिरि आर्य वज्र के गुरु थे। आर्य वज्र एक धर्मनिष्ठ परिवार में जन्मे थे। उनका परिवार अनन्य श्रमणोपासक था। आर्य वज्र के दादा श्रेष्ठी धन ख्याति प्राप्त दानवीर थे। आर्य वज्र के पिता धनगिरि बचपन से ही जिनधर्म के प्रति सुदृढ़ आस्थावान और विरक्त मन थे। संक्षिप्त कथासूत्र इस प्रकार है—

धनगिरि तुम्बवन नामक नगर के रहने वाले श्रेष्ठी धन के पुत्र थे। वे दीक्षा लेकर आत्मपथ पर बढ़ना चाहते थे। पर उसी नगर के रहने वाले श्रेष्ठी धनपाल के विशेष आग्रह पर उन्हें उसकी पुत्री सुनन्दा से पाणिग्रहण करना पड़ा। धनपाल भी जैन श्रावक था और उसका पुत्र समित पहले ही आर्य सिंहगिरि के चरणों में प्रव्रजित हो चुका था। कालक्रम से सुनन्दा गर्भवती हुई। इसकी सूचना उसने पति धनगिरि को दी। धनगिरि ने प्रसन्न होकर कहा, देवि ! पति के बाद पुत्र स्त्री के लिए आधार होता है। वह आधार अब तुम्हें प्राप्त हो गया है। अब मुझे अनुमति दे दो जिससे अध्यात्मपथ का पथिक बनकर मैं आत्म-कल्याण कर सकूं। सुनन्दा स्वयं एक धर्मपरायणा सन्नारी थी। उसने पति की हार्दिक कामना में अपने को बाधा नहीं बनने दिया और सहज रूप से उन्हें दीक्षा की अनुमति प्रदान कर दी। धनगिरि आर्य सिंहगिरि से दीक्षित होकर तप-संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

उधर कालक्रम से सुनन्दा ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उचित वेला में बालक का जन्म महोत्सव मनाया गया। महोत्सव में उपस्थित महिलाओं ने सुनन्दा से कहा, आज धनगिरि भी उपस्थित होते तो महोत्सव का रंग ही विलक्षण होता, पर वे तो मुनिरूप में जाने कहां विचर रहे होंगे। महिलाओं के ये शब्द नवजात शिशु के कानों में पड़े। विलक्षण शिशु का चिन्तन मुनि शब्द पर स्थिर हो गया। चिन्तन धारा आगे बढ़ी और उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने संयमी पिता को भाव पूर्वक प्रणाम किया और सोचा, वस्तुतः संयम ही सार है। पर ममत्व के बंधन संयम में बाधा हैं। कोई ऐसा उपाय किया जाए जिससे सरलता से ममत्व का बंधन छिन्न हो जाए। उसके लिए शिशु ने एक उपाय खोज लिया और उसने सहसा रोना शुरू कर दिया। उसका रुदन अनवरत चलता रहा। सुनन्दा ने हजार उपाय किए, पर शिशु का रोदन नहीं रुका। दिन-रात शिशु रोता रहता। अनवरत रोदन का यह क्रम छह मास तक चलता रहा। सुनन्दा का आहार, विहार, शयन दुरूह हो गया। उसकी व्यथा का अन्त न था।

उन्हीं दिनों आर्य सिंहगिरि तुम्बवन नगर में पधारे। भिक्षा वेला में आर्य धनगिरि भिक्षा के लिए गमन करने लगे। उस समय शुभ शकुन हुए। आर्य सिंहगिरि ने धनगिरि से कहा, वत्स ! अतीव शुभ शकुन हो रहे हैं। आज भिक्षा में तुम्हें जो भी सचित्त-अचित्त मिले, निःसंकोच ले आना। गुरु के आदेश को स्मृति में अंकित कर धनगिरि आर्य समित के साथ भिक्षा के लिए रवाना हुए। क्रम से वे सुनन्दा के घर गए। सुनन्दा रुदन करते हुए शिशु से भारी परेशान हो रही थी। उसने आर्य धनगिरि के पात्र में अपने शिशु को रखते हुए कहा, आर्य ! पुत्र का दायित्व पिता पर भी होता है। छह महीने मैंने इसे संभाला है, अब आप संभालिए! अपूर्व स्थिति को देखकर धनगिरि असमंजस में पड़ गए। तभी उन्हें गुरु का आदेश स्मरण हो आया कि आज भिक्षा में जो भी मिले, ले आना। धनगिरि ने कहा, भद्रे ! मैं तुम्हारी यह भिक्षा स्वीकार कर सकता हूँ, पर तुम्हें वचन देना होगा कि बाद में तुम इस शिशु पर अपना अधिकार नहीं जताओगी ! सुनन्दा शिशु से इतनी परेशान थी कि भावुकता वश उसने धनगिरि को वचन दे दिया कि आज कि बाद यह शिश सम्पूर्ण अधिकार के साथ आपका हुआ। बालक ने पितृ-मुनि के पात्र में आते ही रोदन बन्द कर दिया। धनगिरि पात्र में शिशु को लेकर गुरु के पास लौटे। उन्होंने झोली गुरुदेव आर्य सिंहगिरि को अर्पित की। झोली काफी भारी थी। सहज भाव से गुरु ने कहा, धनगिरि ! यह वज्रोपम क्या ले आए हो? आर्य सिंहगिरि का शब्द 'वज्र' ही शिशु का नाम प्रचलित हो गया। तेजस्वी बालक को देखकर सिंहगिरि ने कहा, यह बालक आगे चलकर महान प्रवचन प्रभावक होगा।

गुरु के आदेश से शिशु वज्र को साध्वियों के उपाश्रय में शय्यातर महिला को अर्पित किया गया। शय्यातर महिला अपने पुत्र की तरह बालक वज्र का पालन-पोषण करने लगी। मुनि संघ अन्यत्र विहार कर गया। साध्वियां स्वाध्याय करती तो पालने में झूलता हुआ वज्र उसे सुनता। कहते हैं कि पालने में झूलते हुए ही वज्र ने एकादश अंगों को कण्ठस्थ कर लिया था।

बालक वज्र तीन वर्ष का हो गया। सुनन्दा साध्वियों के दर्शनार्थ आती थी। अपने पुत्र को वह पुनः-पुनः देखती। मातृ-ममत्व शनैः-शनैः प्रबल बनता गया। अपने वचन को विस्मृत कर उसने साध्वियों से अपने पुत्र की याचना की। साध्वियों ने कहा, यह बालक आर्य सिंहगिरि की निधि है। उनकी आज्ञा के बिना इस शिशु को आपको नहीं दिया जा सकता है।

उन्हीं दिनों आचार्य सिंहगिरि शिष्य-मण्डल के साथ तुम्बवन नगर में पधारे। सुनंदा ने आर्य सिंहगिरि और आर्य धनगिरि से अपने पुत्र की याचना की। मुनियों ने सुनन्दा से कहा, श्राविके ! भिक्षा में प्राप्त वस्तु को लौटाने के लिए हम बाध्य नहीं हैं। फिर तुम वचन भी दे चुकी हो कि पुत्र पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं होगा।

सुनन्दा ने कहा, ममत्व का आवेग मुझे वचन भंग के लिए बाध्य बना रहा है। आपको मेरा पुत्र लौटाना होगा, अन्यथा मैं राजा की शरण में जाऊंगी। और आखिर सुनन्दा राजा की शरण में पहुंच गई। विचित्र स्थिति को देखकर राजा ने मुनि संघ को आमंत्रित किया। निष्पक्ष न्याय के लिए दोनों पक्षों के समक्ष प्रस्ताव रखा गया कि बालक जिस पक्ष को चुनेगा उस पर उसी का अधिकार माना जाएगा। राजाज्ञा से एक ओर सुनन्दा हाथ में मिष्ठान्न और खिलौने लेकर बैठ गई तथा दूसरी ओर मुनि धनगिरि रजोहरणादि धार्मिक उपकरण लेकर बैठ गए। मध्य में बालक वज्र को छोड़ दिया गया। वज्र जातिस्मरण ज्ञानी बालक थे। वे जानते थे कि यही वह क्षण है जो उनकी जननी के लिए भी ममत्व-मुक्ति का द्वार बन सकता है। उन्होंने साश्रु सुनन्दा को पीठ दिखा दी और लपककर रजोहरण को ग्रहण कर लिया।

निर्णय हो गया। बालक धनगिरि को अर्पित कर दिया गया। इससे सुनन्दा के अन्तर्नयन भी खुल गए। ममत्व और घर का त्याग कर वह प्रव्रजित हो गई। वज्र को पोषण के लिए पुनः शय्यातर महिला को सौंप दिया गया।

आठ वर्ष की अवस्था में वी.नि. 504 में वज्र ने आर्य सिंहगिरि से दीक्षामंत्र ग्रहण किया। बालमुनि वज्र परम-आचार निष्ठ मुनि बने। कहते हैं कि कुछ अवसरों पर देवों ने भी बालमुनि वज्र की आचार-दृढ़ता की परीक्षा ली थी और बालमुनि वज्र को आचार में वज्र के समान ही सुदृढ़ पाया था।

पालने में झूलते हुए ही वज्र एकादश अंगों को कण्ठस्थ कर चुके थे। पर इस बात का ज्ञान अन्य किसी को नहीं था। एक दिन सभी मुनि उपाश्रय से बाहर गए थे। बालमुनि वज्र उपाश्रय में एकाकी थे। अन्य कोई काम न होने के कारण बाल मुनि ने मुनियों के उपकरणों को आस-पास रखा और उनके मध्य में बैठकर वाचना देने लगे। मनोनुकूल कार्य में वे इतने तल्लीन बन गए कि उन्हें समय का भी ध्यान नहीं रहा। उस समय आर्य सिंहगिरि उपाश्रय में लौटे। आगम पद्यों का मात्रा, बिन्दु सहित स्पष्ट-सुमधुर उच्चारण और सांगोपांग विवेचन बालमुनि के मुख से सुनकर आचार्य आश्चर्य चकित रह गए। उन्होंने वज्र को कण्ठ से लगा लिया।

मुनि मण्डल को आर्य वज्र की ज्ञान प्रतिभा का परिचय देने के लिए आचार्य धनगिरि ने एक उपाय निकाला। उन्होंने मुनि मण्डल से कहा, मुझे फलां क्षेत्रों में विचरना है, अतः कुछ मुनियों के साथ मैं विहार कर रहा हूँ, शेष मुनि मण्डल यहीं रहे। स्वाध्यायी मुनियों ने आचार्य श्री से निवेदन किया, भगवन् ! आपकी अनुपस्थिति में हमें वाचना कौन देगा? आचार्य श्री ने फरमाया, वज्र मुनि तुम्हें वाचना देंगे। शिष्यों ने गुरु वचन को प्रमाण किया।

आर्य सिंहगिरि की अनुपस्थिति में आर्य वज्र ने वाचना का क्रम शुरू किया। उनकी वाचना कला को देखकर स्थविर और सामान्य मुनि चकित बन गए। बालमुनि वज्र की वाचना विधि अत्यन्त प्रभावशाली और मन्द से मन्द मति वालों के लिए भी ग्राह्य थी। इससे बालमुनि वज्र का यश संघ में विशेष वृद्धि को प्राप्त हुआ।

कुछ समय पश्चात् आर्य सिंहगिरि लौटे। उन्होंने मुनि मण्डल को आर्य वज्र की वाचना से सन्तुष्ट पाया। तब उन्होंने रहस्योद्घाटन किया कि वे स्वयं बालमुनि की प्रतिभा को पहले ही परख चुके थे, मुनि मण्डल को बालमुनि वज्र की प्रतिभा का परिचय देने के लिए ही उन्होंने अन्यत्र विहार किया था।

आचार्य सिंहगिरि जानते थे कि बालमुनि वज्र का ज्ञान गुप्तरीति से ग्रहण किया गया ज्ञान है। विशेष योग्यता प्राप्त करने के लिए गुरुगम्य ज्ञान की अनिवार्यता अपेक्षित होती है। इस चिन्तन बिन्दु को समक्ष रखकर आचार्य श्री ने तपोयोग पूर्वक वज्रमुनि को आगमों का अध्ययन कराया। पूर्वों के अध्ययन के लिए आचार्य श्री ने वज्र मुनि को आचार्य भद्रगुप्त के पास भेजा। आचार्य भद्रगुप्त दश पूर्वधर थे। आर्य वज्र ने उनके सान्निध्य में रहकर दश पूर्वों का सांगोपांग अध्ययन किया।

दश पूर्वधर आर्य वज्र का संघ में वही स्थान था जो सितारों के मध्य चन्द्र का होता है। उनका विमल धवल यश दिग्दिगन्तों तक विस्तृत बना। उनके 500 शिष्य बने। वे जहां भी पधारे जिनशासन की महान प्रभावना हुई। इभ्य श्रेष्ठी वर्ग और कई सम्राट् उनके भक्त बने।

आर्य वज्र जहां अद्भुत और विशाल ज्ञान राशि के स्वामी थे वहीं अतिशय रूपवान भी थे। पाटलिपुत्र

के श्रीसम्पन्न श्रेष्ठी धन की रूपवती पुत्री रुक्मिणी आर्य वज्र के रूप और गुणों पर मन्त्रमुग्ध हो गई। उसने अपने पिता से कहा कि वह आर्य वज्र से पाणिग्रहण करेगी अन्यथा अग्नि में जलकर आत्महत्या कर लेगी। लक्षकोटि मुद्राओं और अपनी पुत्री के साथ श्रेष्ठी आर्य वज्र के पास पहुंचा। उसने आर्य वज्र से प्रार्थना की कि वे प्रस्तुत धन के साथ उसकी पुत्री को स्वीकार करें।

आर्य वज्र ने भोगों को भुजंग की उपमा देते हुए उपदेश की ऐसी धारा प्रवाहित की जिसमें रुक्मिणी का ममत्व वैराग्य में रूपायित हो गया। रुक्मिणी ने प्रव्रजित होकर आत्म-कल्याण किया।

आर्य वज्र के समय में दो बार भयंकर दुष्काल पड़ा। प्रथम बार के दुष्काल में आर्य वज्र संघ सहित आकाश मार्ग से महापुरी नगरी में चले गए। वहां सुकाल था। दुष्काल वेला में चतुर्विध संघ वहां पर सुख-पूर्वक रहा। द्वितीय दुष्काल तब पड़ा जब आर्य वज्र जीवन के संध्याकाल में थे। शिष्यों की धृति की परीक्षा के लिए उन्होंने लब्धियुक्त आहार ग्रहण करने के लिए प्रस्ताव रखा। परन्तु शिष्य सुदृढ़ आचार के पालने वाले थे। शिष्यों ने स्पष्ट किया, भगवन् ! हमें अनशन पूर्वक प्राणोत्सर्ग का मार्ग सहर्ष स्वीकार है पर आधाकर्मी आहार स्वीकार नहीं है।

शिष्यों के इस संकल्प से आर्य वज्र सन्तुष्ट हुए। आखिर रथावर्त्त पर्वत पर जाकर आर्य वज्र ने पांच सौ शिष्यों के साथ अनशन धारण कर लिया। समाधि पूर्वक देहोत्सर्ग करके वे स्वर्गगामी हुए।

वी.नि. 584 में आर्य वज्र स्वामी ने शरीर का परित्याग किया।

आर्य वज्र अंतिम दश पूर्वधर, अनेक विद्याओं और लब्धियों के धारक तथा जैन शासन के महान ज्योतिपुरुष तथा युग प्रधान आचार्य थे।

—नन्दी सूत्र स्थविरावली/ कल्प सूत्र स्थविरावली/ परिशिष्ट पर्व, सर्ग 12/प्रभावक चरित्र

वत्सराज

क्षितिप्रतिष्ठितपुर नगर के राजा वीरसेन का पुत्र, एक सच्चरित्र, सत्यनिष्ठ, नीतिज्ञ और शूरवीर राजकुमार। वत्सराज का एक सहोदर था देवराज, जो बाल्यकाल से ही कुटिल और ईर्ष्या का पुञ्ज था। देवराज के दुष्ट स्वभाव से परिचित महाराज वीरसेन ने प्रचलित परम्परा को तोड़कर अपने छोटे पुत्र वत्सराज को युवराज पद पर अधिष्ठित कर दिया। इससे देवराज तिलमिला उठा। उसने षडयंत्र रच कर सेनापति और मंत्रियों को अपने पक्ष में कर लिया। एक बार संक्षिप्त सी रुग्णता के पश्चात् महाराज वीरसेन का निधन हो गया। देवराज को अवसर मिल गया। वह राजगद्दी पर बैठ गया और उसने वत्सराज को देशनिर्वासन का दण्ड दे दिया। माता और मौसी भी वत्सराज के साथ ही क्षितिप्रतिष्ठितपुर नगर से निकल गई। वे तीनों प्राणी उज्जयिनी नगरी पहुंचे और एक श्रेष्ठी के घर सेवावृत्ति पा गए। उज्जयिनी में रहते हुए ही वत्सराज का भाग्य चमका। वह वहां के राजा का प्रिय पात्र बन गया। उसने देश-विदेशों में भ्रमण कर अनेक साहसिक कार्य किए। अनेकों के कष्ट हरण किए। उसने जो भी कार्य हाथ में लिया सफलता पूर्वक उसे पूरा भी किया। उसके यश में प्रभूत वृद्धि हुई। सफलता की सीढ़ियां चढ़ते हुए उसने अनेक देशों का राज्य पाया और कई राजकुमारियों से पाणिग्रहण किया। अंत में प्रजा की प्रार्थना पर वह क्षितिप्रतिष्ठितपुर लौटा और वहां सुशासन की स्थापना की।

न्याय, नीति और सत्यनिष्ठा से उसने सुदीर्घकाल तक प्रजा का पालन किया। कालान्तर में अपने पुत्र को राजपद देकर उसने प्रव्रज्या धारण की और सद्गति प्राप्त की। —शान्तिनाथ चरित्र के आधार पर

वनमाला

वीरक नामक माली की पत्नी। (देखिए-तिष्यगुप्त)

वनराज चावड़ा (राजा)

बृहद् गुजरात राज्य की स्थापना करने वाला वनराज चावड़ा एक जैन राजा था। चैत्यवासी परम्परा के आचार्य शीलगुणसूरि और उनके पट्टशिष्य देवचन्द्र सूरि से उसने जैन धर्म के संस्कार प्राप्त किए। राजा बनने पर उसने जैन धर्म के पवित्र सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया और राज्य के महत्वपूर्ण पदों पर जैन श्रावकों की नियुक्ति भी की। आचार्य शीलगुणसूरि के कहने पर उसने चैत्यवासी जैन मुनियों के अतिरिक्त अन्य सभी सम्प्रदायों के धर्मगुरुओं के गुजरात प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

वनराज चावड़ा आचार्य शीलगुणसूरि के प्रति पूर्णतः समर्पित था। इसका कारण था कि आचार्य शीलगुण सूरि ही वनराज के जीवन निर्माता और जीवन त्राता थे। वनराज जब मातृगर्भ में ही था तो शत्रुराजा ने उसके पिता के राज्य पर आक्रमण कर दिया था। युद्ध में वनराज के पिता मारे गए। वनराज की माता रूपसुंदरी ने विजन वन में छिप कर अपना तथा गर्भस्थ शिशु (वनराज) का जीवन बचाया। वन में जन्म लेने के कारण शिशु 'वनराज' कहाया।

वन में ही शीलगुणसूरि की भेंट रूपसुंदरी से हुई। आचार्य श्री ने रूपसुंदरी को सर्वविध विश्वस्त किया और उसकी तथा उसके शिशु के रहन-सहन की व्यवस्था गुप्त रूप से जैन संघ को प्रदान की।

वनराज की शिक्षा-दीक्षा आचार्य शीलगुणसूरि के पट्टशिष्य देवचन्द्र सूरि के सान्निध्य में हुई। युवावस्था में अपने बाहुबल और गुरु आशीर्वाद के बल पर वनराज ने गुजरात का शासन सूत्र संभाला। वह वीर और साहसी था। अनेक कष्टों का उसने सामना किया और अपने लक्ष्य की प्राप्ति की।

जीवन भर वनराज चावड़ा जैन धर्म के सिद्धान्तों का पालन करता रहा। इतिहास में उसे 'जैन राजा' के रूप में स्थान प्राप्त हुआ।

वप्रा

चक्रवर्ती जय की जननी।

वयरसेन

हस्तिनापुर नरेश शूरसेन का प्रबल पुण्यवान और पराक्रमी पुत्र। (देखिए-अमरसेन)

(क) वरदत्त

पद्मपुर नगर का राजकुमार जो पूर्वकृत कर्मों के कारण गंभीर रूप से जड़बुद्धि था। उसके पिता महाराज अजितसेन ने उसे आठ वर्ष की अवस्था में कलाचार्य के पास भेजा, पर एक वर्ष तक कठिन श्रम करके भी कलाचार्य वरदत्त को एक शब्द भी नहीं सिखा पाया। कलाचार्य ने महाराज अजितसेन को उनका पुत्र वरदत्त सौंप दिया और वस्तुस्थिति स्पष्ट की, राजन् ! पूर्वकृत कर्म के कारण राजकुमार का ज्ञानावरणीय कर्म अति प्रगाढ़ है, उस पर श्रम व्यर्थ है। कोई ज्ञानी मुनि ही ज्ञानावरणीय कर्म के उच्छेदन की उचित विधि बता सकते हैं, मैं असमर्थ हूँ।

राजा अजितसेन बहुत चिन्तित हुआ। वह प्रतीक्षा करने लगा किसी ज्ञानी मुनि की। उधर वरदत्त युवा हो गया। पूर्वकृत कर्मों ने अपने खेल दिखाए और वरदत्त की देह में कुष्ठ रोग फूट पड़ा। राजा ने देश-विदेश

के वैद्य बुलाए। वैद्यों ने प्रभूत उपचार किए पर सब व्यर्थ सिद्ध हुए। राजकुमार का रोग बढ़ता ही गया। राजा शोक-मग्न रहकर समय बिताने लगा।

एक बार आचार्य विनयसेन पद्मपुर के राजोद्यान में पधारे। राजा को बहुत प्रसन्नता हुई। वे रानी और राजकुमार के साथ आचार्य श्री के दर्शनार्थ गए। नगर का आबालवृद्ध उद्यान में उमड़ पड़ा। आचार्य चार ज्ञान के धारक थे। राजा ने आचार्य श्री से अपने पुत्र वरदत्त के बारे में पूछा, भगवन्! मेरे पुत्र ने ऐसे कौन से दुःसह कर्म किए हैं जिनके कारण यह जड़बुद्धि तो रहा ही, साथ ही कुष्ठरोगी भी हो गया ? और वे कौन से उपाय हैं जिनसे इसकी बुद्धि की जड़ता और कुष्ठ रोग दूर हों?

आचार्य श्री ने फरमाया, प्रत्येक व्यक्ति कर्मों से बंधा हुआ है। वैसे ही वरदत्त भी कर्मों के दुःसह बंधन में है। पिछले जन्म में वरदत्त ने घोर ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध किया। मन, वचन व शरीर से ज्ञान और ज्ञानोपकरणों की इसने आशातना की, जिसके फलस्वरूप उसे बुद्धि का जड़त्व और कुष्ठरोग प्राप्त हुआ है। पूर्वजन्म में वरदत्त वसुदेव नामक श्रेष्ठी पुत्र था। यौवन में ही वह मुनि बन गया। ज्ञानाभ्यास से वह शीघ्र ही संघ का अद्वितीय विद्वान मुनि बन गया। उसे आचार्य पद प्राप्त हुआ। वह विद्वान था, फलतः उस पर संघ संचालन के अतिरिक्त कई अन्य दायित्व भी थे। शिष्यों को पढ़ाना, संतों, श्रावकों का शंका-समाधान करना, वादियों से शास्त्रार्थ करना, आदि-आदि। इससे वसुदेव आचार्य इस कद्र व्यस्त और श्रमशील रहते कि उन्हें विश्राम का समय ही नहीं मिल पाता । इससे उनके मन में ज्ञान के प्रति वितृष्णा उत्पन्न हो गई। वे सोचने लगे कि मैंने व्यर्थ ही ज्ञानार्जन किया, उसी का यह फल है कि मुझे एक पल को चैन नहीं है। यदि मैं ज्ञानार्जन नहीं करता तो अन्य मुनियों की तरह शान्त-सुखी रहता। इस विचार के साथ वसुदेव ने प्रतिज्ञा कर ली कि वे अब कभी वाचना नहीं देंगे, किसी का शंका-समाधान नहीं करेंगे और वादियों से शास्त्रार्थ नहीं करेंगे। साथ ही उन्होंने ज्ञान के उपकरणों –पुस्तकादि को फाड़कर फैंक दिया। वे अधिक से अधिक शारीरिक साता को तलाशते। उसी ढ़ंग से आयुष्य पूर्ण कर वे तिर्यंच गति में गए। वहां से तुम्हारे पुत्र के रूप में वसुदेव ने जन्म पाया है। ज्ञान की घोर आशातना के कारण ही वरदत्त जड़ बुद्धि और कुष्ठरोगी हुआ है।

साथ ही आचार्य श्री ने ज्ञानावरणीय कर्म छेदन की एक सुव्यवस्थित विधि का निरूपण किया। यह साधना कार्तिक शुक्ल पंचमी से प्रारंभ की जाती है और पांच वर्षों में पूर्ण होती है।

वरदत्त ने उस विधि की आराधना की। पांच वर्ष की साधना पूर्ण होते-होते वरदत्त के ज्ञानावरणीय कर्म शान्त हो गए। उसका कुष्ठ रोग भी दूर हो गया। तदनन्तर अल्प अभ्यास से ही वरदत्त समस्त कलाओं में पारंगत हो गया। एक हजार राजपुत्रियों से उसका पाणिग्रहण हुआ। महाराज अजितसेन वरदत्त का राजतिलक करके प्रव्रजित हो गए। वरदत्त ने सुदीर्घ काल तक सुशासन किया और राजसी सुखों का उपभोग किया। जीवन के उत्तरार्ध भाग में उसने दीक्षा धारण कर उच्च भावों से संयम की आराधना की। आयुष्य पूर्ण कर वह अनुत्तर विमान में देव बना। वहां से च्यव कर मुनष्य भव धारण कर निर्वाण प्राप्त करेगा।

–ज्ञान पंचमी कथा

(ख) वरदत्त (कुमार)

साकेत नामक नगर में राजा मित्रनन्दी राज्य करते थे। उनकी रानी का नाम श्रीकान्ता और पुत्र का नाम वरदत्त कुमार था। वरदत्त कुमार युवराज था। वह अतिशय रूप और गुणों का स्वामी था। वरसेना प्रमुख पांच सौ राजकुमारियों के साथ उसने पाणिग्रहण किया था।

किसी समय नगर के बाह्य भाग में स्थित उत्तरकुरु नामक उद्यान में भगवान महावीर स्वामी पधारे। युवराज ने भगवान के उपदेश से प्रतिबुद्ध बनकर श्रावक धर्म अंगीकार किया।

गौतम स्वामी ने भगवान से वरदत्त कुमार के पूर्व और आगामी भवों के बारे में जिज्ञासा प्रस्तुत की। भगवान ने युवराज वरदत्त के जीवन पर प्रकाश डालते हुए फरमाया—गौतम! शतद्वार नामक नगर में विमलवाहन नाम का एक राजा राज्य करता था। एक बार उसने धर्मरुचि नामक एक मास के तपस्वी अणगार को बहुत ऊंचे भावों से आहार का दान दिया। उससे उसने उत्कृष्ट पुण्य का बन्ध किया। आयुष्य की परिसमाप्ति पर विमलवाहन राजा ही वर्तमान में वरदत्त कुमार के रूप में जन्मा है। वरदत्त कुमार मेरे पास प्रव्रज्या धारण करेगा और यहां से सौधर्म कल्प में जाएगा। कुछ भवों के बाद वह सिद्ध-बुद्ध होगा।

वरदत्त का वृत्तान्त सुनकर गौतम स्वामी की जिज्ञासा को समाधान प्राप्त हो गया।

कुछ समय साकेत नगरी में विराजकर भगवान अन्यत्र विहार कर गए।

वरदत्त कुमार ने प्राणपण से श्रावक धर्म का पालन किया। एक बार वह पौषधशाला में पौषध की आराधना कर रहा था। सहसा उसे विचार उत्पन्न हुआ—वे ग्राम और नगर धन्य हैं जहां भगवान महावीर स्वामी विहार करते हैं। कितना शुभ हो कि भगवान यहां पधारें। भगवान यदि यहां पधारेंगे तो मैं उनके चरणों में प्रव्रज्या अंगीकार कर आत्मकल्याण करूंगा।

पुण्योदय से कुछ समय के पश्चात् भगवान महावीर साकेत नगरी में पधारे। अपने महत्संकल्प के अनुसार युवराज वरदत्त ने प्रव्रज्या अंगीकार की। कई वर्षों तक चारित्र की आराधना कर वरदत्त मुनि सौधर्म देवलोक में गए। मनुष्य और देवलोक के कुछ भव करके वे निर्वाण को प्राप्त करेंगे।

—विपाक सूत्र द्वि श्रु., अ. 10

(ग) वरदत्त (गणधर)

अरिहंत अरिष्टनेमि के अठारह गणधरों में से प्रमुख गणधर। —कल्पसूत्र

(घ) वरदत्त (मुनि)

वरदत्तनगर में वरदत्त नाम का महामन्त्री था जो जीवाजीव का ज्ञाता श्रमणोपासक था। एक बार धर्मघोष नामक एक गीतार्थ मुनि वरदत्त के घर भिक्षा के लिए पधारे। घर में खीर बनी थी। अत्युच्च भावों में भरकर वरदत्त श्रावक मुनि को खीर बहराने लगा। मुनि के पात्र में खीर डालने से पूर्व ही खीर का एक बिन्दु जमीन पर टपक पड़ा। इससे मुनि ने अपने पात्र समेट लिए और वे बिना आहार लिए ही लौट गए।

इससे वरदत्त को विषाद हुआ। पर जब तक वह अन्य कुछ चिन्तन करता, उसने देखा, खीर बिन्दु पर एक मक्खी बैठ गई, मक्खी पर एक छिपकली झपटी और उसे निगल गई। छिपकली पर एक कौवा झपटा और कौवे को एक बिल्ली ने पकड़ लिया। बिल्ली के पीछे एक कुत्ता भागा और कुत्ते को भौंकते देखकर चौराहे पर अनेक कुत्ते एकत्रित हो गए। कुत्ते परस्पर लड़ने लगे। इससे परेशान होकर वरदत्त का नौकर लाठी लेकर कुत्तों को भगाने गया। और भी कई लोग लाठियां लेकर वहां आ गए। कुत्तों की लड़ाई बन्द कराते हुए लोग परस्पर ही संघर्ष पर उतर आए। तलवारें खिंच गईं, दो समूहों में बंटकर लोग काफी देर तक लड़ते रहे। फिर किसी तरह उनका संघर्ष शान्त हुआ।

वरदत्त खीर बिन्दु से शुरू हुए संघर्ष को देख रहा था। संघर्ष की इस घटना को देखकर वरदत्त को वैराग्य हो गया। उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। स्वयं-संबुद्ध बनकर वह प्रव्रजित होने की कामना करने

लगा। देवताओं ने उपस्थित होकर उसे मुनिवेश प्रदान किया। वरदत्त मुनि संयम का पालन करते हुए जनपदों में विचरण करने लगे। निरतिचार चारित्र की आराधना कर वरदत्त मुनि परमपद के अधिकारी बने।

— उपदेश माला गाथा-113

वरधनु

काम्पिल्य नगर के राजभक्त मंत्री धनदत्त का पुत्र और चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त के बाल्यकाल का मित्र। बाल्यावस्था में जब दीर्घराजा ब्रह्मदत्त के प्राणों का प्यासा बना हुआ था तब वरधनु ब्रह्मदत्त के साथ देहच्छायावत् रहा और उसके सुख-दुख का मित्र रहा।

वराह

भगवान सुविधिनाथ के प्रमुख गणधर।

वरुण

भगवान महावीर और उनके धर्म के प्रति अनन्य आस्था रखने वाला एक बारह व्रती श्रावक। वरुण वैशाली नरेश महाराज चेटक के नाग नामक रथिक का पुत्र था और वैशाली साम्राज्य की विशाल सेना का सेनापति था। सेनापति जैसे पद पर रहते हुए भी वह पूर्ण जागरूकता से श्रावक-धर्म की आराधना में रत रहता था। वह जितना महासमर्थ सेनापति था उतना ही महासमर्थ श्रावक-धर्म का आराधक भी था। एक बार जब वह बेले की तपस्या की आराधना कर रहा था तो महाराज चेटक ने उसे युद्ध में जाने के लिए कहा। वरुण का यह नियम था कि वह शत्रु पर प्रथम वार नही करता था। स्वयं पर प्रहार करने वाले पर ही वह प्रतिप्रहार / प्रत्याक्रमण करता था। महाराज के आदेश से वह कूणिक के विरुद्ध युद्ध में गया। कूणिक के सेनापति ने वरुण पर प्रहार किया। यह प्रहार इतना घातक था कि वरुण बुरी तरह घायल हो गया। पर उसने प्रत्याक्रमण में एक ही बाण से कूणिक के सेनापति को धराशायी कर दिया।

घायलावस्था में वरुण युद्धभूमि से दूर एकान्त में चला गया। वहां भूमि का परिमार्जन कर संलेखना-संथारे सहित देह-विसर्जित कर देवलोक में गया। वहां से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होगा।

—भगवती सूत्र 5/9

वरुण देवी

वत्स देश के तुंगिक नगर निवासी ब्रह्मदत्त की पत्नी और भगवान महावीर के दसवें गणधर मेतार्य की जननी।

—आवश्यक चूर्णि

वरुणा

पोतनपुर नगर के पुरोहित कमठ की अर्द्धांगिनी। (देखिए-मरुभूति)

वर्धमान

तीर्थंकर महावीर का जन्मना नाम वर्धमान है। महावीर का जीव जब माता तृषला की कुक्षी में अवतरित हुआ, तभी से क्षत्रियकुण्डपुर राज्य में सर्वतोभावेन समृद्धि का विस्तार होने लगा। राजकोष अक्षय बन गए, सैन्यवृद्धि हुई, महाराजा सिद्धार्थ का सुयश विस्तृत हुआ, खेत-खलिहानों में अपूर्व कृषि हुई, धन-धान्य, राज-पाट, यश-कीर्ति आदि में विशेष वृद्धि हुई। इस वृद्धि समृद्धि का कारण गर्भस्थ जीव के पुण्य को माना गया। शिशु के नामकरण के अवसर पर महाराज सिद्धार्थ ने उक्त तथ्य का उल्लेख करते हुए अपने पुत्र का नाम वर्धमान रखा।

वल्कलचीरी

एक राजकुमार जिसका जन्म जंगल में हुआ और जंगल में ही पालन-पोषण होने से वस्त्रों के रूप में वृक्ष-छाल उसे ओढ़ने-पहनने को मिली—इसी से वह वल्कलचीरी नाम से प्रसिद्ध हुआ। वस्तुतः उसके पिता महाराज सोमचन्द्र पोतनपुर नगर के राजा थे। किसी दिन रानी धारिणी जब पति के केशों में कंघी कर रही थी तो एक श्वेत केश देखकर उसने पति से कहा, महाराज! बुढ़ापे का दूत आ गया है। इस बात से ही राजा ने अपने पुत्र प्रसन्नचन्द्र को राजगद्दी पर बैठाकर वानप्रस्थ आश्रम की दीक्षा ले ली। रानी धारिणी ने पति का अनुगमन किया। रानी को तब गूढ गर्भ था, जिसका पता उसे बाद में चला। विजन-वन में साधनाशील रानी ने जिस पुत्र को जन्म दिया वह वल्कलचीरी कहाया। पुत्र जन्म के कुछ समय बाद ही धारिणी का देहावसान हो गया। पिता ने ही वल्कलचीरी का पालन-पोषण किया। कन्द-मूल तथा फल-फूल खाकर वल्कलचीरी युवा हुआ। वह तपस्वी पिता की सेवा करने लगा। मृगों के साथ वह खेलता, बतियाता। बहुत थोड़े से शब्द उसकी भाषा थी और थोड़े से ऋषि व मृग उसका संसार था। स्त्री-पुरुष तक का भेद उसे ज्ञात न था। मृगों की आंखों की सरलता उसके जीवन की सरलता थी।

राजा प्रसन्नचन्द्र को ज्ञात था कि उसके एक लघुभ्राता है। वह भाई से मिलने को उत्सुक रहता, पर पिता का आदेश था कि उसकी तपस्थली में किसी भी नर-नारी का प्रवेश न हो। एक बार जब प्रसन्नचन्द्र भ्रातृप्रेम के प्रवाह को नहीं रोक पाया तो उसने कुछ कुशल और चतुर गणिकाओं को प्रभूत धन देकर अपने भाई को संसार की ओर आकृष्ट करने तथा अपने साथ नगर में ले आने के लिए वन भेजा। गणिकाओं ने वन में विचरण करते वल्कलचीरी को देखा और अपने प्रति आकृष्ट कर लिया। साथ ही उसके हृदय में पोतनपुर आने का आकर्षण जगा दिया। उसी समय ऋषि की पगचाप सुनकर और श्राप के भय से भयतीत बनकर गणिकाएं वहां से भाग गईं। वल्कलचीरी के हृदय में आकर्षण के अंकुर उग चुके थे। वह जैसे-तैसे पोतनपुर पहुंच गया। नगर में एक गणिका ने उसका स्वागत किया और उससे अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। उन दिनों राजा भ्रातृ-प्रेम में इतना खोया रहता था कि उसने नगर में वाद्य-वादिन्त्रों के बजाने पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया था। गणिका ने वल्कलचीरी से अपनी पुत्री के विवाहोत्सव पर वाद्य-वादिन्त्र बजवाए। राजाज्ञा के उल्लंघन पर गणिका को गिरफ्तार करके महाराज के सम्मुख लाया गया। गणिका ने वल्कलचीरी से अपनी पुत्री के विवाहोत्सव की बात बताई। भेद खुलते-खुलते राजा को अपने भाई की प्राप्ति हो गई। प्रसन्नचन्द्र ने भाई की शिक्षा का उचित प्रबन्ध किया और उसके सर्वविध कुशल हो जाने पर उसे आधा राज्य दे दिया।

बारह वर्षों तक वल्कलचीरी ने राज्य किया। एक मध्य रात्रि में वल्कलचीरी को पिता का स्मरण हुआ। पिता को स्मरण करके और उनकी संभावित अवस्था पर चिन्तन करके वल्कलचीरी रोने लगा। प्रातः होते ही उसने अग्रज प्रसन्नचन्द्र को अपना निर्णय सुना दिया कि वह अपने पिता के पास वन में जाएगा और वहीं रहकर पिता की सेवा करेगा। अन्ततः दोनों भाई पिता के पास पहुंचे। पिता के हर्ष का पारावार न रहा। वल्कलचीरी आश्रम के कोने में पड़े अपने उपकरणों को संभालने लगा। उपकरणों पर धूल धवांस का साम्राज्य था। वह बड़े ही प्रेम और विवेक से एक-एक उपकरण की प्रतिलेखना करने लगा। प्रतिलेखना में वह ऐसा तन्मय हुआ कि उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसने ज्ञान में देखा कि वह पूर्वजन्म में मुनि था और ऐसे ही उपकरणों की प्रतिलेखना किया करता था। उसका चिन्तन सघन से सघनतर बनता गया। भाव शुभ से शुभतर बनते चले गए। उस भावदशा में चढ़ते-चढ़ते क्षपक श्रेणी पर आरोहण कर उसने केवलज्ञान को पा लिया।

पिता सोमचन्द्र को लेकर केवली वल्कलचीरी पोतनपुर आए और वहां विराजित भगवान महावीर के धर्मसंघ में उन्हें दीक्षित होने को प्रेरित किया। सोमचन्द्र वानप्रस्थ संन्यास को त्यागकर श्रमणधर्म में दीक्षित हो गए। कालान्तर में प्रसन्नचन्द्र भी भगवान से प्रव्रजित बनकर सिद्ध हुए। (देखिए-प्रसन्नचन्द्र राजर्षि)

वल्मीक

वीतशोका नगरी के महाराज और बारहवें विहरमान तीर्थंकर के जनक। (देखिए-चन्द्रानन स्वामी)

वसंतमाधव

कौशाम्बी नरेश यशोधर का पुत्र। एक बार एक देवी ने प्रसन्न होकर उसे यान-निर्माण का मंत्र दिया जिसे पाकर राजकुमार को मानो मन की मुराद मिल गई। यान पर सवार होकर उसने अपने मित्र मन्त्रिपुत्र गुणचन्द्र के साथ विश्वभ्रमण किया। इस भ्रमण में अनेक आरोह-अवरोह आए। दोनों मित्र बिछुड़े भी और मिले भी। वसंतमाधव ने कई राजकन्याओं से विवाह किया, दो राज्यों का उसे स्वामीत्व प्राप्त हुआ। अपने नगर में लौटा तो उसके पिता ने उसे राजपद अर्पित कर दीक्षा धारण की। वंसतमाधव ने लम्बे समय तक राज्य किया और अंतिम वय में दीक्षा धारण कर मोक्ष प्राप्त किया ।

वसन्तर

वसन्तर एक उदार हृदय राजकुमार था। कहते हैं कि उसके लिए कुछ भी अदेय नहीं था। याचक की मांग और इच्छा पर वह अपने प्राण भी लुटाने को तत्पर रहता था। उसका परिचयसूत्र निम्नोक्त है–

वसन्तर शिवा नगरी के राजा संजय और रानी धारिणी का इकलौता पुत्र था। मन्दी नामक राजकुमारी से उसका पाणिग्रहण हुआ। मन्दी एक पतिव्रता सन्नारी थी और पति के पूर्ण अनुकूल रहकर उसकी सेवा करना अपना धर्म समझती थी। कालक्रम से मन्दी ने दो पुत्रों को जन्म दिया।

वसन्तर का स्वभाव निरन्तर वर्षण था। वह दोनों हाथों से धन, वस्त्र, पात्र याचकों को बांटता रहता था। याचक जो भी मांगता, एक क्षण भी चिन्तन न करते हुए वसन्तर याचक को याचित वस्तु प्रदान कर देता था। वसन्तर के पास एक चतुर्दन्ती श्वेत हस्ति था जो राज्य की खुशहाली का प्रतीक माना जाता था। कलिंगदेश के राजा ने एक ब्राह्मण को वसन्तर के पास भेजा। ब्राह्मण ने वसन्तर से श्वेत हस्ति की मांग की। वसन्तर ने तत्क्षण वह हाथी ब्राह्मण को दान कर दिया। वसन्तर के इस दान से राज्य भर में हलचल मच गई। राजा को भी अपने पुत्र की अति दानशीलता पर पर्याप्त क्रोध आया। दरबारियों ने एक स्वर से प्रस्ताव पारित किया कि वसन्तर को निर्वासन का दण्ड दिया जाए। राजा ने प्रजा के प्रतिनिधियों के प्रस्ताव को मान्य कर वसन्तर को आदेश दिया कि वह बंकचूल पर्वत पर रहकर निर्वासन का दण्ड भोगे। पिता की आज्ञा का पालन कर वसन्तर चल दिया। उसकी पत्नी मन्दी और उसके पुत्रों ने भी उसका अनुगमन किया। राजा ने उनको एक रथ दिया। रथ पर सवार होकर चारों प्राणी बंकचूल पर्वत के लिए चले तो मार्ग में एक दरिद्र याचक ने वसन्तर से उसका रथ मांग लिया। वसन्तर तत्क्षण पत्नी और बच्चों के साथ रथ से नीचे उतर गया। चारों प्राणी पैदल चलकर ही बंकचूल पर्वत पर पहुंचे। वहां पर पर्णकुटी डालकर रहने लगे।

कलिंग देश में जुजक नाम का एक दरिद्र ब्राह्मण था। उसे दास-दासी की आवश्यकता थी पर अर्थाभाव के कारण वह दास-दासी खरीद नहीं सकता था। उसके चिन्तन-पथ पर वसन्तर का चित्र उभर आया। वह बंकचूल पर्वत पर पहुंचा और वसन्तर से उसके पुत्र और पुत्री की याचना की। वसन्तर ने अपने पुत्र-पुत्री का दान ब्राह्मण को दे दिया।

वसन्तर की इस दानशीलता की कीर्तिकथा पृथ्वी की परिधि को पार कर स्वर्ग तक में कही-सुनी जाने लगी। गद्‌गद बना देवराज इन्द्र एक वृद्ध, अशक्त और रुग्ण ब्राह्मण का रूप धारण कर वसन्तर के समक्ष उपस्थित हुए और अपनी अवस्था की बात कहते हुए बोले, दानवीर! यदि तुम अपनी पत्नी को मेरी सेवा के लिए अर्पित कर सको तो मेरा बुढ़ापा शांति से बीत सकता है।

कठिनतम क्षण उपस्थित था वसन्तर के समक्ष। उसने पत्नी की ओर देखा। पति की परीक्षा के क्षण में वीरांगना मंदी ने पति को प्रणाम किया और कहा कि मैं वृद्ध ब्राह्मण की सेवा के लिए प्रस्तुत हूँ । वसन्तर ने अपनी पत्नी को भी दान में दे दिया। वसन्त की दानवीरता को देखकर देवराज दंग रह गए। प्रकट होकर उन्होंने वसन्तर की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की और उसे अक्षय समृद्धि के दाता कुण्डल युग्ल प्रदान किए।

शिवानगरी के दरबारियों को जब ज्ञात हुआ कि वसन्तर ने अपने पुत्र और पुत्री भी दान दे दिए हैं तो उन्हें अपने निर्णय पर बड़ी ग्लानि हुई। उनकी समझ में आ गया कि जो व्यक्ति अपने पुत्र-पुत्री को भी दान में दे सकता है उसके लिए एक हाथी को दान में दे देना कहां मुश्किल है? वसन्तर के पिता महाराज संजय ने जुजक ब्राह्मण को पर्याप्त स्वर्ण देकर अपने पौत्र और पौत्री को प्राप्त कर लिया।

शिवानगरी की प्रजा ने बंकचूल पर्वत पर पहुंचकर राजकुमार वसन्तर से क्षमा मांगी और नगर में लौट चलने की प्रार्थना की। प्रजा की प्रार्थना को शिरोधार्य कर वसन्तर नगरी में आ गया। महाराज संजय वसन्तर को राजगद्दी पर बैठाकर प्रव्रजित हो गए। वसन्तर ने सुदीर्घ काल तक शासन किया। उसके दान की कीर्ति-कथाएं जन-जन के कण्ठ से गूंजती रहीं। अंतिम अवस्था में प्रव्रजित बनकर वसंतर ने विशुद्ध संयम का पालन किया और स्वर्ग पद पाया। देवभव से च्यव कर और मानव जन्म ग्रहण कर वसंतर मोक्ष जाएगा।

वसन्तश्री

कंचनपुर की राजकुमारी और हरिबल की परिणीता। (देखिए-हरिबल)

वसन्तसेना

एक बुद्धिमती गणिका, जिसने अपने जीवन के पश्चिम प्रहर में निन्दनीय व्यवसाय को तिलांजलि देकर धर्ममय जीवन जीने का संकल्प लिया था। (देखिए-जिनदत्त)

वसुंधरा

पोतनपुर नगर के पुरोहित-पुत्र मरुभूति की पत्नी। (देखिए-मरुभूति)

वसुंधरा (आर्या)

आर्या वसुंधरा का समग्र जीवन वृत्त काली आर्या के समान आगम में वर्णित हुआ है। विशेषता मात्र इतनी है कि इनका जन्म कौशाम्बी नगरी में हुआ और कालधर्म को प्राप्त कर यह ईशानेन्द्र की पट्टमहिषी के रूप में जन्मी। (देखिए-काली आर्या) —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 10, अ. 8

(क) वसु

कंचनपुर नगर निवासी एक श्रमणोपासक जिसका समग्र जीवन प्रामाणिकता, परोपकारिता आदि सद्‌गुणों की सुरभि से सुरभित था। उसी नगर में हंस नामक एक अन्य श्रेष्ठी रहता था जो धूर्त और अतिशय धन-लोलुप था। वसु को ठगने के लिए हंस ने मधुर व्यवहार का आवरण ओढ़कर उससे मैत्री स्थापित कर ली और अपने पुत्र के विवाहोत्सव पर वसु से उसका एक करोड़ मूल्य का स्वर्णहार उधार ले गया। हंस के मन में मैल

था और उसके अनुसार ही उसने बिना हार लौटाए ही हार लौटा दिए जाने की बात वसु से कही। वसु हंस की हृदय-कलुषता को पहचान गया। उसे हार जाने का इतना कष्ट नहीं था जितना कष्ट इस बात का था कि उसे छला गया है। वसु ने विचार किया कि हंस न जाने कितने लोगों को छलेगा। उसके छल का परिहार मेरा नैतिक दायित्व है।

ऐसा विचार करके वसु ने राज्याश्रय लिया। वसु पर राजा को पूरा विश्वास था। राजा जानता था कि वसु सदैव सत्य का पक्षधर रहा है और वह किसी पर मिथ्या आरोप नहीं लगा सकता है। राजा ने अपने बुद्धिबल से हंस से सत्य उगलवा लिया। सत्य की विजय हुई और असत्य परास्त हो गया। हंस को उसके अतिशय लोभ और छल का फल घोर अपयश और कारागार के रूप में प्राप्त हुआ। जब कि वसु को उसकी सत्यवादिता का फल सुयश और राजा की ओर से दिए गए नगर-सेठ के पद के रूप में प्राप्त हुआ।

(ख) वसु (आचार्य)

एक चतुर्दशपूर्वधर आचार्य। (देखिए-तिष्यगुप्त)

(ग) वसु (आर्या)

वसु आर्या का जन्म श्रावस्ती नगरी में हुआ। कालधर्म को प्राप्त कर वह ईशानेन्द्र की पट्टमहिषी के रूप में जन्मी। इनका शेष जीवनवृत्त काली आर्या के समान जानना चाहिए। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 10, अ. 5

वसुगुप्ता (आर्या)

आर्या वसुगुप्ता का समग्र कथा वृत्तान्त काली आर्या के समान वर्णन किया गया है। विशेषता इतनी है कि इनका जन्म श्रावस्ती नगरी में हुआ था और मृत्यु के पश्चात् यह महाराज ईशानेन्द्र की पट्टमहिषी के रूप में जन्मी। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 10, अ. 6

वसुदत्त

वसन्तपुर नगर का रहने वाला एक श्रेष्ठी, जिसने श्रावक धर्म की आराधना करके देवपद प्राप्त किया था। (देखिए-नागदत्त)

वसुदेव

वासुदेव श्रीकृष्ण के जनक। वसुदेव को कामदेव कहा जाता है। वे सुरूप, सौभाग्यशाली और शक्तिशाली पुरुष थे। कहते हैं कि उनकी चौंसठ हजार पत्नियां थीं। देवकी उनकी पटट्महिषी थी। उसी से श्री कृष्ण का जन्म हुआ था।

वसुधीर

कुसुमपुर नगर का राजकुमार। वसुराज उसका सहोदर था। दोनों कुमारों के विरुद्ध उनकी विमाता ने षडयन्त्र रचा। षडयन्त्र का संकेत पाकर दोनों राजकुमार देशाटन के लिए चल दिए। कुछ ही समय में वसुराज का भाग्योदय हो गया और वह वसंतपुर का राजा बन गया। वसुधीर को अनेक वर्षों तक विविधानेक कष्टों से गुजरना पड़ा। कितनी ही बार वह मृत्यु से घिरा पर उसने धैर्य और धर्म का परित्याग नहीं किया। अंततः दुष्कर्म छंट गए और उसे भी राजसुख प्राप्त हुआ। अंतिम आयु में वसुधीर ने चारित्र का पालन कर स्वर्ग पद पाया।

—प्राचीन जैन पुराण (लाल कवि रचित)

वसुपाल

(देखिए-श्रीपाल)

वसुपूज्य

अरिहंत वासुपूज्य के जनक। (देखिए-वासुपूज्य तीर्थंकर)

(क) वसु ब्राह्मण

नवम गणधर अचलभ्राता के पिता।

(ख) वसु ब्राह्मण

चम्पानिवासी एक ब्राह्मण। दान धर्म में उसकी श्रद्धा थी पर उसे पात्र-कुपात्र का भेद-ज्ञान नहीं था। ब्राह्मण को ही वह सुपात्र मानता था। उसी नगरी में धनदत्त नामक एक श्रावक रहता था। वसु की उससे मैत्री थी। धनदत्त सुपात्र दान करता था और वैसा करने के लिए वह वसु को भी प्रेरित करता था। परन्तु वसु अपनी हठ को छोड़ने को तैयार नहीं था। मृत्यु के उपरान्त वसु ब्राह्मण सिंचानक नामक हाथी बना और सुपात्र दान के फलस्वरूप धनदत्त महाराज श्रेणिक का नन्दीषेण नामक पुत्र हुआ। —उत्तरा. वृत्ति

वसुभूति

भगवान महावीर के प्रथम तीन गणधरों—इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति के जनक। गोबर ग्राम के समृद्ध और प्रतिष्ठित ब्राह्मण।

(क) वसुमती

कुणाला नगरी के समृद्ध ब्राह्मण की पुत्री। युवावस्था में वसुमती का विवाह सम्पन्न कुल में किया गया पर वसुमती का वैवाहिक जीवन सुखमय नहीं बन पाया। श्वसुर-गृह में उसे सभी सदस्यों से प्रताड़ना और घृणा प्राप्त हुई। अंततः एक दिन पति ने उसे घर से निष्कासित कर दिया। वसुमती अपने पिता के घर आई। पिता ने कर्मदोष कहकर पुत्री को सान्त्वना दी। एक दिन देवधर नामक नैमित्तिज्ञ कुणाला नगरी में आया। ब्राह्मण ने उससे अपनी पुत्री के बारे में पूछा। नैमित्तिज्ञ ने निमित्त शास्त्र का उपयोग लगाया और बताया, वसुमती ने पूर्वजन्म में एक मुनि के मैले-कुचेले वस्त्रों और स्वेद-सने शरीर को देखकर घृणा की थी जिससे उसने निकाचित कर्मों का बन्ध बाधा।

निकाचित कर्मों के निजीर्ण होने पर ही उसे श्वसुर-गृह मे सम्मान की प्राप्ति हो सकती है।

—कथा रत्नकोष-भाग 1

(ख) वसुमति

चम्पानरेश दधिवाहन की पुत्री राजकुमारी चन्दनबाला का उपनाम वसुमति था। (देखिए-चन्दनबाला)

(ग) वसुमति (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 14

वसुमित्रा (आर्या)

आर्या वसुमित्रा का जन्म कौशाम्बी नगरी में हुआ एवं मृत्यु के पश्चात् वह ईशानेन्द्र महाराज की पट्टमहिषी

के रूप में जन्मी। उक्त विशेषता के अतिरिक्त इनका समग्र परिचय काली आर्या के समान आगम में वर्णित है। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 10, अ. 7

वसुमित्र

अयोध्या नगरी का रहने वाला एक दृढ़धर्मी श्रावक, उसके पास विशाल धनराशि थी। भरा-पूरा परिवार था। वह राजमान्य नगर सेठ था। पर ये समस्त बातें उसके धर्म की बात के समक्ष नगण्य थी। वह बारह व्रती श्रावक था और नियमतः धर्माराधना करता था। एक बार वह पौषधशाला में पौषध की आराधना के साथ रात्रि में धर्म जागरिका कर रहा था। एक देव ने जिनधर्म को पाखण्ड और ढकोसला बताते हुए वसुमित्र को उसे छोड़ने के लिए प्रेरित किया। परन्तु वसुमित्र की तो अस्थि-मज्जा में जिनधर्म बसा था। भला वह देव की बात कैसे मान सकता था। देवता ने असंख्य सुखद् कल्पनाएं वसुमित्र के समक्ष साक्षात् रूप से उपस्थित कीं और कहा, जिनधर्म के परित्याग करने पर उसे वे सब वस्तुएं प्राप्त होंगी, पर वसुमित्र ने देवता की बात पर ध्यान नहीं दिया।

अनुकूल उपसर्गों की असफलता पर देवता ने प्रतिकूल उपसर्गों की एक लम्बी श्रृंखला प्रस्तुत की। उसने ऐसा दिखाया कि जैसे कोई पुरुष वसुमित्र की पत्नी का शील हरण करने का प्रयास कर रहा है और पत्नी वसुमित्र को सहायता के लिए पुकार रही है। वसुमित्र ने इसे भी देवमाया ही समझा। फिर देव ने उसके पुत्रों को कष्ट में घिरे होने का दृश्य उपस्थित किया, उसके धन के हरण के दृश्य दिखाए। व्यक्ति को विचलित कर देने वाली प्रत्येक स्थिति देवता ने रची पर वह वसुमित्र के मन में तनिक भी भय, प्रलोभन अथवा अन्यान्य भाव को जन्म नहीं दे पाया। आखिर देव शक्ति पराजित हो गई। गद्गद बनकर देवता ने वसुमित्र श्रावक की दृढ़धर्मिता की भूरि-भूरि प्रशंसा की, और उसे आकाशगामिनी विद्या देकर वह अपने स्थान पर लौट गया।

—बृहत्कथा कोष, भाग 9 (आचार्य हरिषेण)

वसु राजा

शुक्तिमति नगरी का सत्यवादी राजा। वसु बाल्यकाल से सत्यवादी था। उसकी शिक्षा-दीक्षा क्षीरकदम्बक आचार्य के आश्रम में हुई थी। उसके दो अन्य सहपाठी थे—पर्वत और नारद। पर्वत आचार्य क्षीरकदम्बक का पुत्र था। एक बार रात्रि में आचार्य क्षीरकदम्बक को निद्रा नहीं लग रही थी। उधर से दो चारण मुनि गुजर रहे थे जो परस्पर वार्तालाप कर रहे थे कि इस आश्रम में पढ़ले वाले तीन छात्रों में से एक मोक्षगामी है और दो नरकगामी हैं। मुनियों की वार्ता से आचार्य बड़ा चिन्तित हुआ कि उसके दो छात्र नरकगामी हैं। मोक्षगामी की पहचान के लिए दूसरे दिन आचार्य ने अपने तीनों छात्रों को आटे के बने हुए तीन मुर्गे दिए और आदेश दिया कि जहां कोई न देखता हो ऐसे स्थान पर जाकर अपने-अपने मुर्गे की गर्दन मरोड़ दो। वसु और पर्वत तो क्षण भर में ही अपने-अपने मुर्गों की गर्दनें मरोड़ लाए। पर नारद संध्या के समय लौटा और उसके मुर्गे की गर्दन यथावत् थी। गुरु ने नारद से पूछा कि उसने आदेश का पालन क्यों नहीं किया? नारद ने कहा, गुरुदेव ! मैं ऐसा स्थान नहीं खोज पाया जहां कोई न देखता हो। मैं जहां भी गया मैंने पाया कि प्रकट रूप में मैं स्वयं देख रहा हूँ, और अप्रकट रूप से सभी ब्रह्मज्ञानी भी देख रहे हैं। आचार्य ने नारद को कण्ठ से लगा लिया। वे इस निर्णय पर पहुंचे कि नारद ही मोक्षगामी है। उसका पुत्र पर्वत और राजपुत्र वसु नरकगामी हैं। इससे क्षीरकदम्बक विरक्त हो गए और प्रव्रजित होकर साधना करने लगे।

कालान्तर में वसु राजा बना, पर्वत आचार्य बनकर आश्रम चलाने लगा और नारद आत्मसाधना करने लगा। वसु राजा की सत्यवादिता की चर्चा सब ओर फैल गई। इस प्रशंसा से वसु को बड़ सुख मिलता था।

एक बार एक शिकारी ने वसु राजा को एक पारदर्शी शिला की सूचना दी। राजा ने उस पारदर्शी शिला से अपना सिंहासन निर्मित कराया। उस सिंहासन पर बैठकर राजा ऐसे दिखता था जैसे वह आकाश पर बैठा हो। प्रकट रूप से यही प्रचारित किया गया कि राजा सत्य के बल पर आकाशीय सिंहासन पर आरूढ़ होता है। इससे राजा की ख्याति पूरी पृथ्वी पर फैल गई।

किसी समय नारद पर्वत के आश्रम में आया। पर्वत छात्रों को अध्ययन करा रहा था और 'अजैर्यष्टव्यं' पद का अर्थ बकरे से यजन करना चाहिए, ऐसा कर रहा था। नारद ने उसे टोका और कहा, इस पद का अर्थ बकरा नहीं, बल्कि न उगने योग्य तीन साल पुराना चावल है। ऐसा ही आचार्य ने हमें पढ़ाया था। पर्वत नारद की बात मानने को तैयार न हुआ। दोनों मे परस्पर वाद-विवाद चलता रहा। अंततः निर्णय किया कि वे वसु के पास जाएंगे, वसु सत्यवादी है, वह जो निर्णय देगा वह दोनों को मान्य होगा और जिसका पक्ष मिथ्या सिद्ध होगा उसे अपनी जिह्वा कटवानी पड़ेगी।

पर्वत और नारद के इस निश्चय को सुनकर पर्वत की माता सहम गई। वह जानती थी कि नारद का पक्ष ही उचित है, और उसके पुत्र को पराजित ही होना होगा और जिह्वा छिदवाने का दण्ड भुगतना होगा। वह नहीं चाहती थी कि उसके पुत्र को दण्ड मिले। इसलिए वह शीघ्र ही महाराज वसु के पास पहुंची और अपने पुत्र के प्राणों की भीख मांगने लगी। उसने राजा वसु को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह पर्वत के पक्ष का समर्थन करेगा।

कहते हैं कि असत्य संभाषण करते ही सत्य के सहायक देवों ने वसु राजा को स्फटिक सिंहासन से धरती पर ला पटका। रक्त वमन करता हुआ वह अपयशपूर्ण मृत्यु को प्राप्त कर नरक में गया। कालधर्म को प्राप्त कर पर्वत भी नरक में गया। विशुद्ध चारित्र की आराधना करके नारद मोक्ष में गए।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र/ पार्श्वनाथ चरित्र

वसुसार

रत्नविशाला नगरी का एक प्रतिष्ठित वणिक। (देखिए-रत्नसार)

वस्तुपाल (तेजपाल)

ईसा की तेरहवीं सदी के ये भ्रातृयुगल आदर्श जैन श्रावक थे। गुजरात राज्य के ये मन्त्री थे और प्रमुख सेना नायक भी। वस्तुपाल ने गुजरात राज्य की रक्षा के लिए तिरेसठ बार गुर्जर सेना का युद्ध में सफल नेतृत्व किया था। भ्रातृद्वय अद्भुत वीर और दानी थे। जैन धर्म के लिए उन्होंने आबू में नेमिनाथ भगवान का भव्य मंदिर बनवाया था। अन्य कई मंदिरों के निर्माण में भी उन्होंने करोड़ों रुपए व्यय किए थे।

भ्रातृद्वय में सर्वधर्म सहिष्णुता और उदारता का विलक्षण गुण था। उस युग में प्रचलित सभी धर्मों और सम्प्रदायों के उत्थान के लिए उन्होंने प्रभूत धन व्यय किया था। जन साधारण के लिए उन्होंने कूपों, तड़ागों और वापिकाओं का निर्माण कराया था। अनेक विद्वानों को भी उन्होंने अपना संरक्षण प्रदान किया था जिन्होंने उत्कृष्ट साहित्य का सृजन किया।

जैन धर्म के उत्थान, प्रचार-प्रसार और सर्वधर्म में समन्वय समर्पण जैसा इस भ्रातृयुगल में देखने को मिलता है वैसा अन्यत्र कम ही दिखाई देता है।

वाग्भट्ट (कवि)

वि. की बारहवीं शती के एक विद्वान जैन कवि।

आपके पिता का नाम नेमिकुमार था जो अनन्य आस्थाशील जिनोपासक थे। उन्होंने राहड़पुर में भगवान नेमिनाथ तथा नलोटपुर में भगवान आदिनाथ के भव्य और विशाल मंदिर निर्मित कराए थे।

छन्दोनुशासन और काव्यानुशासन वाग्भट्ट की अतिप्रसिद्ध रचनाएं हैं जो सदियों से कवियों का मार्गदर्शन करती रही हैं। इन रचनाओं के अतिरिक्त भी आपकी कई रचनाओं की सूचना मिलती है, पर वर्तमान में वे उपलब्ध नहीं हैं। —तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा

वादिदेव (आचार्य)

प्रभावक चरित्र के अनुसार वी.नि. की सतरहवीं शताब्दी के एक दिग्गज वादी आचार्य। वाद कला में निपुण होने से ही वे वादिदेव कहाए। आचार्य वादिदेव का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

गुजरात प्रदेश के मदाहृत नामक गांव में वीरसेन / वीरनाग नामक श्रेष्ठी रहते थे। उनकी पत्नी का नाम जिनदेवी था। चन्द्रमा का स्वप्न देखकर जिनदेवी ने गर्भ धारण किया। पुत्र जन्म पर उसका नाम पूर्णचन्द्र रखा गया। नौ वर्ष की अवस्था में अपनी माता के साथ पूर्णचन्द्र ने आचार्य मुनिचन्द्रसूरि के श्री चरणों में दीक्षा धारण की। पूर्णचन्द्र को नवीन नाम दिया गया रामचन्द्र। जिनदेवी को 'चन्दनबाला' नाम दिया गया और कुछ समय पश्चात् उसे महत्तरा पद पर प्रतिष्ठा मिली।

कालांतर में मुनि रामचन्द्र आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और उन्हें देव नाम प्रदान किया गया। आचार्य देव अपने युग के समर्थ विद्वान और वादियों का मानभंग करने वाले आचार्य थे। उन्होंने अनेक धुरन्धर वादियों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उसी कारण से आचार्य देव वादिदेव के नाम से विख्यात हुए।

"प्रमाणनयतत्वलोकालंकार" आचार्य वादिदेव की एक उत्कृष्ट रचना है।

वी.नि. 1696 में 83 वर्ष की अवस्था में आचार्य वादिदेव दिवंगत हुए। —प्रभावक चरित्र

वादिराज (आचार्य)

एक विद्वान जैन आचार्य। उनके गुरु का नाम मतिसागर था। वे द्रमिल या द्राविड़ संघ परम्परा के आचार्य थे। वे तार्किक विद्वान और वाद निपुण आचार्य थे। दक्षिण के सोलंकी वंश के राजा जयसिंह (प्रथम) आचार्य वादिराज के भक्त थे। आचार्य वादिराज ने अपने जीवनकाल में पर्याप्त साहित्य का सृजन किया। न्याय विनिश्चय विवरण, प्रमाण निर्णय, यशोधर चारित्र, एकीभाव स्तोत्र, पार्श्वनाथ चरित्र, अध्यात्माष्टक, त्रैलोक्य दीपिका आदि उनकी श्रेष्ठ रचनाएं हैं।

आचार्य वादिराज वी.नि. की 16वीं शताब्दी के आचार्य थे। —नगर ताल्लुका अभिलेख

वामादेवी

.वाराणसी नरेश महाराज अश्वसेन की रानी और प्रभु पार्श्वनाथ की जननी। (देखिए-पार्श्वनाथ तीर्थंकर)

वायुभूति (गणधर)

भगवान महावीर के तृतीय गणधर तथा इन्द्रभूति गौतम और अग्निभूति के सहोदर। गौतम गोत्रीय वसुभूति ब्राह्मण और पृथ्वी उनके जनक-जननी थे। इन्द्रभूति और अग्निभूति दोनों सहोदरों को महावीर के समक्ष पराजित हुआ जानकर ये अपने पांच सौ शिष्यों के साथ भगवान के पास पहुंचे। भगवान ने इनका अन्तःसंदेह का भी निवारण कर दिया। इनका संदेह था, शरीर और आत्मा भिन्न हैं या अभिन्न । संदेह शूल से मुक्त होते ही इन्होनें शिष्यों सहित स्वयं को महावीर के पाद-पद्मों पर अर्पित कर दिया। इन्होंने तैंतालीस

वर्ष की अवस्था में दीक्षा धारण की, तिरेपनवें वर्ष में इन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई, और सत्तर वर्ष का कुल आयुष्य पूर्ण कर ये सिद्ध हुए। —आवश्यक चूर्णि

वारत्त गाथापति

राजगृह निवासी वारत्त ने भगवान महावीर से दीक्षा ली और बारह वर्षों तक निरतिचार संयम पाल कर विपुलाचल से सिद्धि प्राप्त की। —अन्तगड सूत्र, वर्ग 6, अध्ययन 9

वारिखिल्ल

आदीश्वर प्रभु ऋषभ का पौत्र और मिथिलाधिपति महाराज द्रविड़ का पुत्र। उसका एक सहोदर भी था जिसका नाम द्राविड़ था। द्राविड़ ज्येष्ठ और वारिखिल्ल कनिष्ठ था। महाराज द्रविड़ ने ज्येष्ठ पुत्र द्राविड़ को मिथिला का राज्य और वारिखिल्ल को एक लाख गांवों का आधिपत्य देकर दीक्षा धारण कर ली। पिता के प्रव्रजित हो जाने के बाद कुछ समय तक तो दोनों भाइयों के मध्य परस्पर प्रेमभाव रहा, पर बाद में ईर्ष्याभाव जाग उठा। भरत और बाहुबली के युद्ध को आदर्श मानकर दोनों भाई परस्पर एक दूसरे का राज्य- हड़पने के लिए युद्ध के लिए उत्सुक बन गए। विशाल सेनाएं दोनों ओर से सजीं और दो सहोदरों में राज्य लिप्सा के कारण घोर युद्ध हुआ। आखिर एक तापस के उपदेश से दोनों भाइयों को अपनी भूल परिज्ञात हुई। दोनों ने अपने-अपने पुत्रों को राज्यभार प्रदान कर तापसी प्रव्रज्या धारण कर ली।

कई वर्षों तक वारिखिल्ल और द्राविड़ तापसी प्रव्रज्या का पालन करते रहे। कालान्तर में उन्हें राजर्षि नमि-विनमि के दो शिष्य-मुनियों का संग प्राप्त हुआ। उनकी संगति और उपदेश से दोनों भाइयों ने तापसी प्रव्रज्या का परित्याग कर श्रामणी प्रव्रज्या अंगीकार की। उन्हीं मुनियों के साथ वे दोनों शत्रुंजय पर्वत पर पहुंचे। वहां पर उन्होंने तप संयम की उत्कृष्ट आराधना से केवलज्ञान प्राप्त किया। दोनों भाई निर्वाण को प्राप्त हुए। —शत्रुञ्जय महात्म्य / त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र / उपदेश प्रासाद / गौतम कुलक, बालावबोध कथा 90

वारिषेण कुमार

वसुदेव और धारिणी के पुत्र। (परिचय-जालिवत्) —अन्तगड सूत्र वर्ग 4, अध्ययन 5

वारुणी

कोल्लाक ग्रामवासी धनमित्र की अर्द्धांगिनी और भगवान महावीर के चतुर्थ गणधर व्यक्त स्वामी की जननी।

वासवदत्ता

उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत की पुत्री और कौशाम्बीपति वीणावादकुशल महाराज उदयन की रानी। (देखिए-उदयन)

वासुदेव

वैदिक मान्यतानुसार वसुदेव के पुत्र होने से श्रीकृष्ण 'वासुदेव' कहलाए। जैन मान्यता में थोड़ा विभेद है। जैन मान्यतानुसार 'वासुदेव' एक पद है। वासुदेव पद का संवाहक/धारक वह श्रेष्ठ वीर पुरुष होता है जो अपने पराक्रम के बल पर तीन खण्डों पर अपना शासन स्थापित करता है। प्रवहमान् अवसर्पिणी में नौ वीर पुरुष इस पद के धारक हुए जिनमें श्रीकृष्ण का क्रम अंतिम है। दशरथ पुत्र लक्ष्मण अष्टम वासुदेव हुए।

बहुमुखी व्यक्तित्व के स्वामी होने के कारण श्री कृष्ण भारतीय जनमानस में सर्वाधिक समादृत पुरुष हैं। वासुदेव पद के धारक होने के कारण तथा वसुदेव के पुत्र होने के कारण वे 'वासुदेव' नाम से भी विख्यात हैं।

वासुपूज्य (तीर्थंकर)

वर्तमान अवसर्पिणी काल के बारहवें तीर्थंकर। दसवें देवलोक से च्यव कर प्रभु का जीव चम्पानगरी के महाराज वसुपूज्य की रानी जयादेवी की रत्नकुक्षी में उत्पन्न हुआ। महारानी जयादेवी ने चौदह महान स्वप्न देखे। स्वप्न सुनकर स्वप्नशास्त्रियों ने घोषणा की कि महारानी चक्रवर्ती अथवा धर्म चक्रवर्ती पुत्र को जन्म देंगी। फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी को प्रभु का जन्म हुआ। उन्हें वासुपूज्य नाम दिया गया। वासुपूज्य बाल्यकाल से ही विरक्त प्रकृति के थे। यौवन में उनकी विरक्ति और प्रबल बन गई। माता, पिता और परिजनों के आग्रह और अनुग्रह पर भी प्रभु ने विवाह और राजपद के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। भोगों से कुमार की विरक्ति देखकर सभी को विश्वास हो गया कि वासुपूज्य जागतिक चक्रवर्ती नहीं बल्कि धर्मचक्रवर्ती होंगे। हुआ भी वही। कुमारकाल के शिखर पर आरोहित प्रभु ने वर्षीदान देकर फाल्गुन कृष्णा अमावस्या के दिन दीक्षा धारण कर ली। प्रभु के वैराग्य की कुछ ऐसी लहर चली कि उनके साथ सात सौ राजाओं ने भी प्रव्रज्या धारण की। एक मास की अल्पकालिक साधना में ही प्रभु ने घनघाती कर्मों का घात करके केवलज्ञान को साध लिया।

प्रभु ने तीर्थ की स्थापना की। सूक्ष्म प्रमुख प्रभु के छियासठ गणधर थे। लाखों-लाख भव्यप्राणियों के लिए कल्याण का द्वार बन कर प्रभु ने छह सौ मुनियों के साथ निर्वाण पद प्राप्त किया।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

विंध्य

विंध्याचल पर्वत के निकट बसे जयपुर नगर का राजा, और पट्ट परम्परा के तृतीय पट्टधर प्रभव स्वामी का पिता। (देखिए-प्रभव स्वामी)

विकट

पोतनपुर नरेश। (देखिए-पुरुष सिंह वासुदेव)

विक्रम कुमार

तिलकपुर नगर के महाराज मणिरथ का पुत्र, एक साहसी, शूरवीर, बुद्धिमान और विभिन्न कला-कोविद राजकुमार। जब वह युवा हुआ तो उसने भाग्य परीक्षा के लिए देशाटन किया। उसने अपनी यात्रा में कई लोगों की सहायता की, कई राजाओं को अपने शौर्य और बुद्धि से चमत्कृत किया। परिणामतः उसे अनेक दिव्य विद्याओं और चार पत्नियों की प्राप्ति हुई। उसकी तीन पत्नियां राजकुमारियां थीं और चतुर्थ मंत्रि-पुत्री थी। देशाटन के पश्चात् विक्रम कुमार अपने नगर में लौट आया।

एक बार तिलकपुर नगर के राजोद्यान में विशिष्ट ज्ञानी मुनि अकलंक पधारे। राजा मणिरथ अपने पुत्र और पुत्रवधुओं के साथ मुनि-दर्शन के लिए गए। मार्ग में राजा ने एक रुग्ण भिखारी को भूमि पर पड़े देखा। उसे देखकर राजा का हृदय करुणा से भर गया। सेवकों से कहकर राजा ने उसे वृक्ष के नीचे लेटा दिया। तदनन्तर राजा मुनिसभा में पहुंचा। प्रवचनोपरान्त राजा ने मुनि से रुग्ण भिखारी के बारे में पूछा कि उसने ऐसे क्या कर्म किए हैं जिनसे वह ऐसा नारकीय जीवन जीने पर विवश है।

मुनि ने राजा और उपस्थित जन समुदाय के समक्ष भिखारी का पूर्वभव सुनाया। मुनि के फरमाया, मणिमंदिर नामक नगर में सोम और भीम नामक दो मित्र रहते थे, वे दोनों ही कुलपुत्र थे, परन्तु अत्यन्त निर्धन थे। समान दशा होते हुए भी दोनों में विभिन्नता यह थी कि सोम अक्षुद्र वृत्ति वाला था और भीम क्षुद्रवृत्ति वाला था। एक बार वे दोनों मजदूरी के लिए जा रहे थे कि पुण्ययोग से उन्हें एक मुनि एक वृक्ष के नीचे ध्यान मुद्रा में बैठे दिखाई दिए। सोम ने भीम से मुनि दर्शन करने के लिए कहा। पर भीम ने सोम के प्रस्ताव का उपहास उड़ाया और कहा, उन्हें मुनिदर्शन की नहीं उदरपोषण की आवश्यकता है। मुनियों के पास त्याग-पच्चक्खाण के अतिरिक्त रखा ही क्या है? वे स्वयं भीख मांग कर पेट भरते हैं, अतः उनके पास जाने का कुल परिणाम इतना है कि व्यर्थ समय नष्ट किया जाए।

भीम के वचन सुनकर सोम उससे क्षुब्ध हो गया। उसने उससे अपने मैत्री सम्बन्ध उसी क्षण समाप्त कर दिए और वह स्वयं मुनि के चरणों में पहुंचा। मुनि ने उसे धर्मोपदेश दिया और उसकी प्रार्थना पर उसे श्रावकधर्म प्रदान किया। सोम निष्ठा पूर्वक श्रावकधर्म की आराधना करके राजकुमार विक्रम के रूप में जन्मा और भीम आयुष्य पूर्ण कर उक्त भिखारी के रूप में जन्मा।

राजा और प्रजा भिखारी और राजकुमार विक्रम का पूर्वभव सुनकर धर्म के प्रभाव को देख-सुन कर गद्‌गद हो गए। अनेक लोगों ने श्रावक धर्म अंगीकार किया। महाराज मणिरथ अपने पुत्र व्रिक्रम को राजपद देकर प्रव्रजित हो गए। विक्रम ने भी श्रावक के बारह व्रत अंगीकार किए।

राजा विक्रम ने सुदीर्घ काल तक न्याय और नीति पूर्वक प्रजा का पालन किया। आयु के उत्तर पक्ष में उसने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर चारित्र अंगीकार किया और परमपद का अधिकार पाया।

—धर्मरत्न प्रकरण, गाथा 8

विक्रमादित्य

ईसा पूर्व 57 के भारतवर्ष के एक तेजस्वी और यशस्वी सम्राट्। उज्जयिनी नरेश गर्दभिल्ल ने सरस्वती नामक एक जैन साध्वी का अपहरण कर लिया था। सरस्वती के सहोदर और जैन धर्म के प्रभावक आचार्य कालक द्वारा समझाए जाने पर भी गर्दभिल्ल ने साध्वी को मुक्त नहीं किया तो कालकाचार्य ने शकशाहों को प्रभावित कर उन से गर्दभिल्ल पर आक्रमण कराया। युद्ध में गर्दभिल्ल का पतन हुआ और साध्वी सरस्वती को मुक्ति मिली, पर उज्जयिनी का साम्राज्य अनार्य शकशाहों के हाथों में चला गया। इस बात की पीड़ा कालकाचार्य को भी थी। गर्दभिल्ल का तेजस्वी पुत्र (इतर मान्यतानुसार पारिवारिक युवक) विक्रमादित्य के लिए तो शकों का साम्राज्य असह्य हो उठा। उसने मालवजनों को अपने नेतृत्व में संगृहीत किया और शक शाहों के विरुद्ध युद्ध किया जिसमें शकों की करारी पराजय हुई। विक्रमादित्य उज्जयिनी के सार्वमौम सम्राट् बने।

विक्रमादित्य गर्दभिल्ल से पूर्णरूपेण विपरीत स्वभाव नृप सिद्ध हुए। वे वीर, उदार और प्रजावत्सल नरेश थे। प्रजा के हित के लिए उन्होंने अनेक कार्य किए और अहर्निश प्रजा हित के लिए वे समर्पित रहे। उनके राज्यकाल की समता रामराज्य से की जाती है।

विक्रमादित्य के चरित्र के साथ पौराणिक साहित्य में अनेकानेक अतिरंजित कथाएं जुड़ी हुई हैं जिनसे विक्रमादित्य की तेजस्विता, शूरवीरता, न्याय परायणता और लोकप्रियता सहज रूप में प्रमाणित होती है।

मालवा पर विक्रमादित्य के शासन स्थापना के समय से ही विक्रम संवत् का प्रारंभ हुआ।

विक्रमादित्य के सम्बन्ध में प्राप्त शिलालेखों और साहित्यिक उल्लेखों से सहज सिद्ध होता है कि वे

एक जैन राजा थे। जैन धर्म के प्रति उनके हृदय में अगाध आस्था थी। जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए विद्वानों को उन्होंने अरब और इरान देशों तक भेजा था।

विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल साहसतुंग

चालुक्य वंशी एक जैन नरेश जो ईसा की ग्यारहवीं-बारहवीं सदी में हुआ। जन्मना जैन होने पर भी वह सभी धर्मों का समान रूप से सम्मान करता था। आचार्य अर्हनन्दि उसके गुरु थे जिनके दिशानिर्देशन में इस राजा ने कई जिनालयों का निर्माण और कई का पुनरोद्धार कराया था। नरेश की पटरानी का नाम जक्कलदेवी था जो इंगलंगि प्रान्त की शासिका थी।

विचित्रवीर्य

हस्तिनापुर नरेश महाराज शान्तनु का पुत्र। उसकी माता का नाम सत्यवती था। (देखिए-सत्यवती)

विजय

विजयवर्द्धन नगर के श्रेष्ठी विशाल का पुत्र, एक परम विनीत और कोमल हृदय युवक। उसने एक बार मुनि श्री का उपदेश सुनकर क्रोध न करने का संकल्प ग्रहण किया। उसका विवाह वसंतपुर नगर के सेठ सागरदत्त की पुत्री गोश्री से हुआ। जब विजय गोश्री को लेकर वसंतपुर से चला तो गोश्री ने मार्ग के निकट ही एक कुआं देखा और विजय से पानी पिलाने को कहा। विजय कुएं से पानी निकालने लगा तो गोश्री ने उसे कुएं में धक्का दे दिया। पति को कुएं में धकेलकर गोश्री अपने घर पहुंच गई। माता-पिता के पूछने पर उसने असत्य कह दिया कि वन में विजय का मार्ग एक बिल्ली काट गई, उसी अन्धविश्वास पर विजय ने उसे वापिस लौटा दिया। माता-पिता गोश्री के असत्य से संतुष्ट हो गए। पर सच यह था कि गोश्री अपने ही नगर के एक युवक से प्रेम करती थी और वह उसे छोड़ना नहीं चाहती थी। रात्रि में गोश्री अपने प्रेमी के पास पहुंची और उसे पूरी घटना बता कर बोली कि अब उन्हें कोई अलग नहीं कर पाएगा। पर गोश्री के उक्त क्रूर रूप पर चिन्तन करके उसका प्रेमी उससे विरक्त हो गया और उसने उससे अपने सम्बन्ध समाप्त कर दिए।

विजय का आयुष्य शेष था और उसी के बल पर वह कुएं से बाहर निकल आया। पत्नी के आचरण पर चिन्तन करके उसे क्रोध आने लगा। पर शीघ्र ही अपने गृहीत संकल्प को स्मरण कर उसने क्रोध को थूक दिया। वह अपने नगर में पहुंचा। माता-पिता द्वारा यह पूछने पर कि वह बहू को क्यों नहीं लाया, विजय ने विश्वसनीय बहाना बनाकर माता-पिता को संतुष्ट कर दिया। मात-पिता समय-समय पर विजय को बहू लाने के लिए कहते, आखिर विजय के समस्त बहाने चुक गए और वह वसन्तपुर जाकर गोश्री को अपने साथ ले आया। उसने अपने व्यवहार से गोश्री को कभी शंकित अथवा भयभीत नहीं बनने दिया। गोश्री भी आखिर मानवी ही थी, विजय के इस अकल्प्य व्यवहार पर वह उसकी दीवानी बन गई और पूर्णतः पति के अनुकूल बन गई।

कालक्रम से विजय के माता-पिता दिवंगत हो गए। विजय के अपने पुत्र युवा हो गए। विजय अक्रोध की सतत साधना कर रहा था। अपने पुत्रों को भी वह सदा अक्रोध की शिक्षाएं देता। एक दिन उसके मुख से एक वाक्य निकल गया कि अक्रोध के व्यवहार से द्वेषी भी प्रेमी बन जाते हैं, यह उसका अपना अनुभव है। अपने अनुभव की बात सुनकर पुत्रों ने पिता को उस अनुभव के विश्लेषण के लिए विवश कर दिया। पुत्रों के आग्रह पर विजय ने गोश्री द्वारा उसे कुएं में धकेल देने की बात बता दी, साथ ही पुत्रों को सावधान

कर दिया कि वे उक्त रहस्य कभी उनकी मां के समक्ष प्रकट न करें।

समय बीता। पर रहस्य एक दिन प्रकट हो ही गया। पुत्रों ने किसी प्रसंग पर अपनी मां से पूछ ही लिया कि उसने उनके पिता को कुएं मे क्यों धकेला था। गोश्री ने पुत्रों से पूछा कि उन्हें यह बात किसने कही है। पुत्रों ने अपने पिता का नाम ले दिया। इससे गोश्री को कठोर आघात लगा। वह उसी क्षण निष्प्राण हो गई।

विजय ने पत्नी की मृत्यु का अपराधी स्वयं को माना। उसने विचार किया, यदि वह पुत्रों पर उक्त रहस्य प्रकट न करता तो गोश्री की मृत्यु नहीं होती। उसका हृदय आत्मग्लानि से पूर्ण बन गया। वह जिनोपासक था। सो आत्मग्लानि वैराग्यभाव मे बदल गई। उसने मुनि विमलसूरि के चरणों में दीक्षा धारण कर ली। महाव्रतों का पालन करके वह आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में देव बना। —धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 10

विजय कुमार

विशाला नगरी के महाराज जयतुंग का इकलौता पुत्र, एक साहसी और परोपकारवृत्ति-सम्पन्न राजकुमार। पूर्वजन्म में वह वीरपुर नगर का धन नामक समृद्ध श्रेष्ठी था। जिनदास नामक एक श्रमणोपासक श्रेष्ठी से उसकी मैत्री थी। जिनदास धन श्रेष्ठी को जिनधर्म के लिए निरन्तर प्रेरणाएं दिया करता था, पर धन की रुचि तापस धर्म की ओर थी। वृद्धावस्था में धन ने तापसी प्रव्रज्या धारण की। आयुष्य पूर्ण कर वह व्यंतर देव बना। जिनदास ने आर्हती प्रव्रज्या धारण की और वह आयुष्य पूर्ण कर वैमानिक देव बना। वैमानिक देव जिनदास ने अवधिज्ञान से अपने मित्र धन की स्थिति को जाना और उससे मिलने के लिए उसके पास गया। व्यंतर देव धन वैमानिक देव जिनदास की ऋद्धि और दिव्य कांति देखकर हैरान हुआ। जिनदास ने उसे बताया कि वह सब जिनधर्म का प्रभाव है। उसने स्पष्ट किया, जिनधर्म का यह तो क्षुद्र-सा प्रभाव है, उसकी सम्यक् आराधना का अन्तिम फल तो मोक्ष है। जिनधर्म की महिमा को देखकर व्यंतर देव धन चमत्कृत हो गया। उसने कहा, मित्र मेरा आयुष्य तुम्हारे से छोटा है। यहां से च्यवन होने पर मैं जहां जन्म लूंगा, तुम मुझे प्रतिबोध देने पधारना। जिनदेव ने धन को वैसा करने का वचन दे दिया।

धन का जीव व्यंतर-योनि से च्यव कर विशाला का राजकुमार विजय बना। जिनदास के जीव देव ने राजकुमार विजय को प्रतिबोधित किया। देव से प्रतिबोध पाकर विजय को अवधिज्ञान हो गया। उसने अपने दोनों पूर्वभवों को देखा। जिन प्रव्रज्या धारण कर वह साधना में लीन बन गया। आयुष्य पूर्ण कर जिनदास के विमान में ही वह देव बना। दोनों देव च्यवन को प्राप्त कर महाविदेह से सिद्ध होंगे।

—धर्मरत्न प्रकरण टीका. गा. 16

विजयघोष

वाराणसी का रहने वाला एक कर्मकाण्डी ब्राह्मण। वह ब्राह्मण धर्म का पुरजोर पक्षधर था और यज्ञ-याग करता रहता था। उसी के सहोदर जयघोष जो काफी समय पूर्व श्रमण धर्म में दीक्षित हो गए थे ने उसे ब्राह्मणत्व और यज्ञादि के आध्यात्मिक अर्थ बताए तो वह प्रतिबुद्ध बन गया और श्रमणधर्म में दीक्षित होकर विशुद्ध संयम की आराधना कर मोक्ष में गया। —उत्तराध्ययन, अध्ययन 25

(क) विजयचन्द्र

एक राजकुमार जो पिता द्वारा युवराज पद न दिए जाने से क्षुब्ध होकर मुनि बन गया। ज्ञान-ध्यान और जप से उसने आचार्य श्री को प्रभावित बना लिया। आचार्य श्री ने विजयचन्द्र मुनि को आचार्य पद

प्रदान किया और सदैव अप्रमत्त रहने की शिक्षा देकर समाधिमरण को प्राप्त हो गए।

आचार्य पाट पर आ जाने से विजयचन्द्र मुनि में प्रमाद की मात्रा बढ़ गई। शिष्य वाचना लेने के लिए आते तो वे टाल देते और कहते, स्वाध्याय व्यर्थ है, तप-जप-प्रतिक्रमणादि उत्तम विधियां हैं आत्मकल्याण की। आचार्य श्री की इस मानसिकता का दुष्प्रभाव यह हुआ कि मुनि संघ में ज्ञान-रुचि शिथिल होने लगी। इससे आचार्य विजयचन्द्र ने दुःसह ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध किया। मरकर वे देव बने। देवायु पूर्ण करके श्रेष्ठी पुत्र बने। ज्ञानावरणीय के उदय के कारण श्रेष्ठि-पुत्र वज्रमूर्ख था। उसके पिता ने हजार उपाय किए पर उसका पुत्र एक शब्द न सीख पाया। एक जैन मुनि ने श्रेष्ठि-पुत्र की अवस्था को जाना और ज्ञानावरणीय कर्म की निर्जरा के लिए उसे उपाय बताया कि वह ज्ञानियों का बहुमान करे और ज्ञानोपयोगी उपकरणों का ज्ञानपिपासुओं को दान करे। वैसा करके वणिक पुत्र ने ज्ञानावरणीय कर्म के बंध को कुछ शिथिल किया। आयुष्य पूर्ण कर वह स्वर्ग में गया। वहां से च्यव कर पुनः मनुष्य बना। उसका नाम धनदत्त रखा गया। इस जन्म में भी उसने ज्ञानियों के सेवा-बहुमान तथा ज्ञानोपयोगी उपकरणों के दान का सिलसिला जारी रखा। फलतः उसका ज्ञानावरणीय कर्म क्षीण हो गया। वह मुनि बन गया और घनघाती कर्मों को नष्ट कर केवलज्ञान का अधिकारी बना। —कथा रत्नकोष : भाग 1

(ख) विजयचन्द्र

कामपुर नगर का राजा। (देखिए-केशरी)

(क) विजय चोर

राजगृह नगर के बाहर चोरपल्ली का सरदार जिसके अधीन पांच सौ चोर थे। (देखिए- चिलातीपुत्र)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र

(ख) विजय चोर

पुरिमताल नगर के निकटवर्ती पहाड़ियों में पल्ली बनाकर रहने वाला एक दुःसाहसी चोर। वह पांच सौ चोरों के समूह का नेता था। —विपाक सूत्र-3

विजयदेव (आचार्य)

श्वेताम्बर मंदिर मार्गी तपागच्छ परम्परा के एक प्रभावक जैन आचार्य। उनके गुरु का नाम विजयसेन सूरि था।

आचार्य विजयदेव सूरि का जन्म गुजरात प्रदेश के इलादुर्ग गांव में हुआ। वे महाजन परिवार से थे। उनके पिता का नाम स्थिर और दादा का नाम माधव था। उनकी माता का नाम रूपा देवी था। गृहस्थावास में उनका स्वयं का नाम वासुदेव कुमार था।

वी.नि. 2104 (वि. 1634) में आचार्य विजयदेव का जन्म हुआ। वी.नि. 2113 (वि. 1643) में उन्होंने दीक्षा धारण की। वी.नि. 2127 (वि. 1657) में वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए।

आचार्य विजयदेव सूरि का प्रभाव सामान्यजन से लेकर सम्राटों तक पर था। बादशाह जहांगीर, उदयपुर नरेश जगतसिंह, ईडर नरेश रायकल्याण मल आचार्य विजयदेव के व्यक्तित्व और तपप्रधान जीवन से विशेष प्रभावित थे। बादशाह जहांगीर ने उनको 'महातपा' उपाधि प्रदान की थी।

मारवाड़, मेवाड़ और सौराष्ट्र आचार्य विजयदेव के विहार क्षेत्र रहे।

79 वर्ष की अवस्था में वी.नि. 2183 (वि. 1713) में गुजरात प्रदेश के ऊना ग्राम में आचार्य विजयदेव का स्वर्गवास हुआ। —विजयदेव सूरि महात्म्य

विजय देवी

वत्स देश के तुंगिक नगर निवासी ब्राह्मण दत्त की पत्नी और भगवान महावीर के दसवें गणधर मेतार्य की जननी। —आवश्यक चूर्णि

विजय (बलदेव)

द्वितीय बलदेव। अन्तिम समय में श्रामणी दीक्षा लेकर उन्होंने उग्र तपश्चरण से समस्त कर्म खपा सिद्धत्व प्राप्त किया। (देखिए-द्विपृष्ठ वासुदेव)

विजयमित्र नरेश

वर्द्धमानपुर नगर का राजा।

एक बार भगवान महावीर वर्द्धमानपुर नगर में पधारे। नगर के बाह्य भाग में स्थित विजयवर्द्धमान नामक उद्यान में प्रभु अपने धर्मसंघ के साथ समवसृत हुए।

भगवान के पदार्पण का सुसंवाद चहुं ओर प्रसृत हुआ। महाराज विजयमित्र को भी तत्सम्बन्धी सूचना प्राप्त हुई। राजा के हर्ष का पारावार न रहा। उसने प्रभु के चरणों में पहुंचकर प्रभु का स्वागत और अभिनन्दन किया। प्रभु ने धर्मदेशना दी। प्रभु के उपदेशों को सुनकर विजयमित्र नरेश उनका परम भक्त बन गया।
—विपाक प्र. श्रु., अ. 10 (पी.एल. वैद्य द्वारा सम्पादित)

विजयमित्र सेठ

उज्झितकुमार का पिता। (देखिए-उज्झित कुमार)

(क) विजय राजा

(देखिए-मृगापुत्र)

(ख) विजय राजा

महावीरकालीन पोलासपुर नरेश और अतिमुक्त के जनक। (देखिए-अतिमुक्त कुमार)

(ग) विजय राजा

ग्यारहवें चक्रवर्ती जय के जनक। (देखिए-जय चक्रवर्ती)

विजय-विजया

विजय और विजया परस्पर विवाह सूत्र में बंधकर भी आजीवन अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना करते रहे। उनकी इस ब्रह्मचर्य साधना ने उन्हें इतनी उच्चता प्रदान कर थी कि एक साथ चौरासी हजार श्रमणों को आहार दान से जितना पुण्य संचित हो सकता है उतना ही पुण्य संचय उस युगल को स्तुति पूर्वक आहार दान से प्राप्त होता था। उस दम्पति का जीवन परिचय इस प्रकार है—

कच्छ देश में अर्हद्दास नाम का एक श्रेष्ठी रहता था। उसकी पत्नी का नाम अर्हद्दासी था। उनके एक पुत्र था जिसका नाम विजय था। यह पूरा परिवार सदाचारी और जैन धर्म का अनन्य अनुरागी था। किसी समय एक मुनि का उपदेश सुनकर विजय ने आजीवन शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य-पालन का नियम ले लिया।

कालक्रम से विजय का विवाह कच्छ देश के एक श्रेष्ठी धनावह की पुत्री विजया के साथ सम्पन्न हुआ। यह परिवार भी धर्मनिष्ठ और अनन्य श्रमणोपासक था और संयोग से विजया ने भी एक साध्वी से जीवन भर के लिए कृष्ण पक्ष में ब्रह्मचर्य पालन का नियम ले लिया था। इन दोनों के इस नियम की बात सर्वथा गुप्त थी। विवाह की प्रथम रात्रि में ही विजय और विजया ने परस्पर एक-दूसरे को अपने-अपने नियम की बात बताई। एक दूसरे की बात सुनकर क्षण भर के लिए दोनों अवाक् रह गए। पर शीघ्र ही संभलते हुए दोनों ने पूरे मनोवेग से यह भीष्म संकल्प किया कि वे दोनों समाज के समक्ष पति-पत्नी रहेंगे पर वास्तविक जीवन के तल पर वे बहन और भाई की तरह जीवन यापन करेंगे। इसके साथ ही जिस दिन उनका यह रहस्य अनावृत हो जाएगा उस दिन वे संसार का त्याग कर दीक्षा धारण कर लेंगे। इस प्रकार साथ-साथ रहते, साथ-साथ एक शैया पर सोते हुए भी पवित्र और उत्साहित संकल्प के साथ उन्होंने जीवन यापन प्रारंभ कर दिया। इस तरह रहते हुए अनेक वर्ष बीत गए।

अंगदेश की राजधानी चम्पानगरी में जिनदास नाम का एक बारह व्रती श्रावक रहता था। श्रमणों की सेवा भक्ति में उसे विशेष आनन्द प्राप्त होता था। एक बार उसके मन में एक महत्संकल्प जागा कि वह एक साथ चौरासी हजार श्रमण-श्रमणियों को अपने हाथ से आहार दे। पर यह कैसे संभव हो सकता है? इतने श्रमण-श्रमणी एक स्थान पर कैसे एकत्रित हों। एकत्रित हों भी तो एक ही दाता के हाथ से वे आहार कैसे लें? ऐसे संकल्प-विकल्प उसके भीतर तैरते। संयोग से उन्हीं दिनों मुनि विमल नामक एक अतिशय ज्ञानी मुनि चम्पानगरी पधारे। जिनदास ने मुनि को अपना संकल्प कहा और पूछा कि उसका यह संकल्प किस विधि से पूर्ण हो सकता है। ज्ञानी मुनि ने स्पष्ट किया कि एक साथ चौरासी हजार श्रमणों का एकत्रित होना तो असंभव सा है। पर उसके संकल्प की पूर्ति का एक अन्य मार्ग भी है। जिनदास के पूछने पर मुनि ने कहा—चौरासी हजार श्रमणों को दान देने से उसे जिस आनन्द और अहोभाव की प्राप्ति होगी उसी आनन्द और अहोभाव की प्राप्ति उसे कच्छदेश वासी दम्पती विजय और विजया के दर्शनों से प्राप्त होगी। विजय और विजया वर्षों से साथ-साथ रहकर और सहशैया पर शयन करते हुए भी अखण्ड ब्रह्मचर्य की आराधना कर रहे हैं।

जिनदास विजय-विजया की अद्भुत साधना की बात सुनकर कृतकृत्य बन गया और वह अपने परिवार के साथ कच्छ देश गया। वहां विजय-विजया के पास पहुंचकर भावविभोर बनकर उनकी स्तुति करने लगा। इस स्तुति से लोगों को विस्मय हुआ और उन्होंने इसका कारण पूछा। इस पर जिनदास ने पूरा आख्यान स्पष्ट कर दिया कि यह दम्पति साथ-साथ रहकर तथा सर्वविध योग्य व समर्थ होते हुए भी अखण्ड ब्रह्मचर्य की साधना कर रहे हैं। इनके दर्शनों में चौरासी हजार श्रमणों के दर्शनों का पुण्य लाभ छिपा है।

इस बात को सुनकर विजय-विजया के महान तप को सब ने धन्य-धन्य कहा। अपने संकल्प के अनुसार रहस्य अनावृत होने पर विजय-विजया ने दीक्षा धारण कर ली और विशुद्ध संयम पालकर एवं कैवल्य साधकर मोक्ष गति पाई।

(क) विजयसेन

देवशाल नगर का राजा। (देखिए-कलावती)

(ख) विजयसेन (आचार्य)

एक प्रभावशाली जैन आचार्य। वे विद्वान मुनि थे और वाद कला में निपुण थे। उनका प्रभाव क्षेत्र

सुविशाल था। शहंशाह अकबर भी उनसे विशेष प्रभावित था। अकबर की प्रार्थना पर उन्होंने लाहौर में दो चातुर्मास किए थे। एक प्रसंग पर अकबर के दरबार में उन्होंने कई विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ किया और विजय प्राप्त की। दो भिन्न-भिन्न अवसरों पर बादशाह अकबर ने उनको 'सवाई हीरनी' तथा 'काली सरस्वती' की उपाधियों से सम्मानित किया था।

आचार्य विजयसेन का जन्म नारदपुरी में वी.नि.सं. 2078 (वि. 1608) में हुआ। दीक्षा वी.नि. 2087 (वि. 1617) में तथा आचार्य पद पर नियुक्ति वी.नि. 2098 (वि. 1628) में हुई। तपागच्छ के आचार्य हीरविजय उनके गुरु थे। —पट्टावली समुच्चय

(क) विजया

राजकुमार वज्रधर (विहरमान तीर्थंकर) की परिणीता। (देखिए-वज्रधर स्वामी)

(ख) विजया

नवम विहरमान तीर्थंकर प्रभु सूरप्रभ स्वामी की जननी। (देखिए-सूरप्रभ स्वामी)

(ग) विजया

अश्वपुर नरेश शिव की रानी और पुरुषसिंह वासुदेव की जननी। (देखिए-पुरुषसिंह वासुदेव)

(घ) विजया

षष्ठम गणधर मंडितपुत्र की जननी। (देखिए-मंडितपुत्र गणधर)

(ङ) विजया

प्रभु अजितनाथ की माता।

(च) विजया

एक राजकुमारी जिसका विवाह राजकुमार अनन्तवीर्य (विहरमान तीर्थंकर) से हुआ था। (देखिए-अनन्तवीर्य स्वामी वि.ती.)

(छ) विजया

तृतीय विहरमान तीर्थंकर श्री बाहुस्वामी की जननी। (देखिए-श्री बाहुस्वामी वि.ती.)

विदर्भ

भगवान सुपार्श्व नाथ के 95 गणधरों में से ज्येष्ठ गणधर।

(क) विदुर

कुरुवंशी विचित्रवीर्य का अंबा रानी से उत्पन्न पुत्र। धृतराष्ट्र और पाण्डु विदुर के ज्येष्ठ भ्राता थे। धृतराष्ट्र के नेत्रहीन होने के कारण पाण्डु हस्तिनापुर के राजा बने और विद्वान व नीति-निपुण होने के कारण विदुर हस्तिनापुर साम्राज्य के मंत्री नियुक्त हुए। कुरु राजनीति की उठापटक में विदुर ने सदैव सत्य का पक्ष लिया। मंत्रीपद का व्यामोह उनके सत्य संभाषण में कभी भी बाधा नहीं बना। धृतराष्ट्र और दुर्योधन के अनुचित निर्णयों की विदुर सदैव तीखी आलोचना करते रहे। दुर्योधन ने जब विदुर की अवमानना करनी शुरू कर दी तो विदुर ने बिना विलम्ब किए मंत्री पद को त्याग दिया।

इतिहास में विदुर को एक स्वच्छ हृदय, निर्भीक और सत्यवादी पुरुष के रूप में स्थान प्राप्त हुआ है।

—जैन महाभारत

(ख) विदुर

प्राचीनकालीन एकान्तवाद का विद्वान ब्राह्मण। (देखिए-रुद्रसूरि)

विद्यानन्द (आचार्य)

जैन परम्परा के विद्वान जैन आचार्यों की पंक्ति में आचार्य विद्यानन्द का स्थान काफी ऊपर है। वैदिक, बौद्ध और जैन—भारत की इन तीनों चिन्तन धाराओं के वे तलस्पर्शी अध्येता थे। उन द्वारा सृजित साहित्य में उनकी प्रखर प्रतिभा और अद्भुत विद्वत्ता का सहज दर्शन होता है। आचार्य विद्यानन्द ने अपने जीवन काल में नौ ग्रन्थों की रचना की। इनमें तीन टीका ग्रन्थ हैं और छह स्वतंत्र विषयों पर बृहद् रचनाएं हैं।

आचार्य विद्यानन्द का गृहस्थ संबंधी परिचय अनुपलब्ध है।

विद्युत् (आर्या)

विद्युत् आर्या का सम्पूर्ण वृत्त काली आर्या के समान है। विशेष इतना है कि इनके पिता का नाम विद्युत् गाथापति और माता का नाम विद्युत्श्री था। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., प्र.वर्ग, अध्ययन 4

विद्युत्गति

वैताढ्य पर्वत पर स्थित तिलकानामा नगरी का राजा। (देखिए-मरुभूति)

विद्युता (आर्या)

विद्युता आर्या की सम्पूर्ण कथा इला आर्या की कथा के समान है। (देखिए-इला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., तृ.वर्ग, अध्ययन 6

विद्युल्लता

देवनगर नामक नगर के प्रतिष्ठित व्यापरी श्रेष्ठी लक्ष्मीधर की पुत्री जिसका विवाह कनकपुर के श्रेष्ठी धर्मशूर के पुत्र विद्युत्सेन से हुआ था। जिस दिन विद्युल्लता का विवाह हुआ, उसी रात्रि में उसके पति विद्युत्सेन का निधन हो गया। एक कन्या के लिए यह एक वज्रापात के समान घटना थी। पर विद्युल्लता बचपन से ही धर्म के रंग में रंगी हुई थी। वह शीघ्र ही संभल गई। उसने अपने सास-श्वसुर को भी धैर्य बंधाया और उनको शोक के सागर से बाहर निकाला। वस्तुतः शूरसेन और उसकी पत्नी पहले से ही शंकित थे कि उनके पुत्र का निधन हो सकता है। विद्युत्सेन जब मातृगर्भ में आया तो कुलदेवी ने शूरसेन को दर्शन देकर बताया था कि उसका पुत्र अल्पायुषि होगा। साथ ही कुलदेवी ने यह भी बताया था कि यदि पुत्र को अपठित रखा गया अथवा उसे अविवाहित रखा गया तो वह दीर्घजीवी हो सकता है। सेठ-सेठानी ने अपने पुत्र को विद्यालय नहीं भेजा। पर विद्युत्सेन में पढ़ने की तीव्र जिज्ञासा थी। उसने माता-पिता से छिपकर पढ़ना शुरू कर दिया। वह इतना मेधावी था कि थोड़े ही समय में वह विद्यावान हो गया। परन्तु उसके विद्यावान होने को सेठ-सेठानी नहीं जान पाए, इसीलिए उन्होंने उसका विवाह विद्युल्लता के साथ सम्पन्न कर दिया।

सुहाग रात्रि में ही विद्युत्सेन का निधन हो गया। विद्युल्लता ने इस कष्ट को धैर्य से सहकर सास-श्वसुर की सेवा को अपना जीवन-व्रत बना लिया। सेवा से शेष समय में वह धर्मध्यान में लीन रहती। एक बार एक

पुण्यात्मा ने विद्युल्लता के समक्ष उपस्थित होकर बताया कि उसका पति मरा नहीं है। यह सब एक देवी की माया है जिसने विद्युत्सेन का अपहरण करके उसके स्थान पर मायाकृत विद्युत्सेन की आकृति रख दी। पुण्यात्मा की बात से विद्युल्लता चमत्कृत बन गई। उसने सविनय पुण्यात्मा से पूछा कि उसे उसका पति किस विधि से प्राप्त हो सकता है। पुण्यात्मा ने विद्युल्लता को एक विधि बताई। विधि कठिन थी, पर एक पतिव्रता स्त्री के लिए इस जगत में कुछ भी कठिन नहीं होता है।

पुण्यात्मा के निर्देशानुसार विद्युल्लता ने नगर के बाहर चम्पक वृक्ष के नीचे अडोल समाधि लगा दी और देवी की आराधना करने लगी। देवी अपनी आराधना से सुप्रसन्न बनकर विद्युल्लता के समक्ष उपस्थित हुई और उसे वरदान मांगने के लिए कहा। विद्युल्लता ने देवी से अपना पति मांगा। देवी सहम गई। परन्तु वचनबद्ध होने के कारण उसे विद्युल्लता को उसका पति लौटाना पड़ा। विद्युत्सेन को लौटाते हुए देवी ने विद्युल्लता से कहा, बहन ! विद्युत्सेन जैसे वर्तमान भव में तुम्हारा पति है वैसे ही पूर्वभव में यह मेरा पति था। पूर्वभव के प्रेम से पराभूत बनकर ही मैंने उसका अपहरण किया था। मैं ही तुम्हारे श्वसुर पक्ष की कुल देवी भी हूँ। विद्युत्सेन छह मास तक मेरे बन्धन में रहा, पर उसने कभी भी मेरी ओर आंख उठा कर नहीं देखा। तुम्हारे पतिव्रत धर्म ने मुझे अपना निर्णय बदलने पर विवश कर दिया है।

यमपाश से मुक्त सत्यवान को देखकर जो हर्ष सती सावित्री को हुआ था वही हर्ष विद्युत्सेन को पाकर विद्युल्लता को हुआ। पति के साथ वह घर लौटी। विद्युत्सेन को जीवित देखकर नगर में आश्चर्य की लहर दौड़ गई। आखिर सती विद्युल्लता ने पूरा घटनाक्रम परिवार और नागरिकों को कह सुनाया। कण्ठ-कण्ठ में सती की महिमा गाई जाने लगी।

विद्युत्सेन और विद्युल्लता ने सुखपूर्वक लम्बा जीवन जीया। जीवन के सांध्यपक्ष में दोनों ने आर्हती प्रव्रज्या धारण की। विशुद्ध संयम की आराधना कर दोनों मोक्ष के अधिकारी बने।

विद्रदाज नरेश

सुश्मक देश की राजधानी पोदनपुर थी जहां विद्रदाज नामक नरेश न्यायनीति पूर्वक शासन करते थे।

किसी समय चरम तीर्थंकर महाश्रमण महावीर अपने शिष्य संघ के साथ पोदनपुर नगर में पधारे। नरेश प्रभु की पर्युपासना के लिए गया। प्रभु का अमृतोपम उपदेश सुनकर उसकी अन्तर्चेतना जाग उठी। उत्तराधिकारी को राजपद देकर अपने महामात्य के साथ नरेश प्रभु के धर्मसंघ में प्रव्रजित हो गया।

उत्कृष्ट तप-संयम की आराधना द्वारा राजर्षि विद्रदाज ने सद्गति प्राप्त की।

—तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (भाग 1)

विद्वत्सेन

अनीयसेन के अनुज। (देखिए-अनीयसेन) —अन्तगडसूत्र तृतीय वर्ग, चतुर्थ अध्ययन

विनयंधर

चम्पापुरी नगरी का रहने वाला एक जिनोपासक श्रेष्ठी। विनयंधर अतीव पुण्यशाली था। उसके पास अपार ऐश्वर्य था और वह मुक्त हस्त से दान देता था। उसके चार पत्नियां थीं जो परमसुरूपा और परम पतिपरायणा थीं। नगर में उसकी अक्षय और निष्कलंक कीर्ति थी।

धर्मबुद्धि राजा चम्पापुरी का शासक था जो यथानाम तथागुण था। पर एक बार किसी के मुख से विनयंधर की पत्नियों के रूप की गाथा सुनकर राजा अपने पथ से विचलित हो गया। उसने विनयंधर पर

कल्पित आरोप लगाकर उसे कारागृह में डाल दिया और उसकी चारों पत्नियों को अपने अंतःपुर में बलात् मंगवा लिया। विनयंधर की पत्नियों के रूप को देखकर राजा हैरान रह गया। वैसे रूप की कल्पना भी संभव नहीं थी। रात्रि में वह उस कक्ष में पहुंचा जहां विनयंधर की पत्नियों को रखा गया था। पर रात्रि में उसे वे चारों ही नारियां भयंकर राक्षसियां दिखाई दीं। उनके वीभत्स और विद्रूप चेहरों को देखकर राजा वहां पलभर के लिए भी खड़ा नहीं रह सका। वह उल्टे कदमों से वहां से चला और पौषधशाला में जाकर बैठ गया। वह विनयंधर की पत्नियों के रूप और विद्रूप पर चिन्तन करने लगा। उसकी कुबुद्धि विलुप्त हो गई और सद्बुद्धि जग गई। उसे विश्वास हो गया कि उसे पथभ्रष्ट बनने से बचाने के लिए ही किसी दिव्य शक्ति ने सुरूपा नारियों को कुरूप-रूप में उसे दिखाया है। राजा उसी क्षण कारागृह रक्षक के पास पहुंचा। उसने विनयंधर को करागृह से मुक्त कराया। इतना ही नहीं, उसने विनयंधर के समक्ष अपने मन के दुर्भावों को खोलकर आत्म-आलोचना की और विनयंधर से क्षमा मांगकर उसे मुक्त कर दिया। उसकी पत्नियों को भी ससम्मान उसके घर पहुंचा दिया।

इस घटना ने राजा के धर्मभाव को पुष्ट कर दिया। वह एकाग्रचित्त से धर्माराधना करने लगा। राजकाज से उसका चित्त उचट गया। उसी अवधि में एक अवधिज्ञानी मुनि चम्पानगरी के बाहर स्थित राजोद्यान में पधारे। राजा मुनि-वन्दन के लिए गया। विनयंधर भी मुनि दर्शनों के लिए उपस्थित हुआ। राजा ने मुनि से पूछा, मुनिवर! मेरे नगर में विनयंधर नामक परम पुण्यात्मा श्रेष्ठी निवास करता है। उसने अपने पूर्व जन्म में ऐसे क्या पुण्य किए थे जिनके प्रभाव से वह ऐसा देवोपम समृद्ध और सुखी जीवन यापन कर रहा है?

मुनि श्री ने विनयंधर का पूर्वजन्म व्याख्यायित किया– विनयंधर पूर्व जन्म में हस्तिशीर्ष नगर का वैतालिक नामक सद्गृहस्थ था। एक बार वह बिन्दु-उपवन में भ्रमणार्थ गया। वहां पर प्रभु सुविधिनाथ कायोत्सर्ग मुद्रा में लीन थे। प्रभु को देखकर वैतालिक को अत्यन्त हर्ष हुआ। उसने उच्च भावों से भरे हृदय से प्रभु की वन्दना और स्तुति की। पुण्ययोग से प्रभु सुविधिनाथ पारणे के लिए उसी के गृहद्वार पर पधारे। वैतालिक प्रभु को अपने द्वार पर देखकर गद्गद बन गया। उसने उत्कृष्ट भावों से प्रभु को आहार दान दिया। देवों ने पंचदिव्य प्रकट कर वैतालिक के दान की प्रशस्ति की। वैतालिक का सम्यक्त्व सुदृढ़ बन गया। कालान्तर में उसने श्रावकधर्म अंगीकार किया और आजीवन उसका पालन कर देवलोक में गया। देवलोक से च्यव कर वैतालिक विनयंधर के रूप में जन्मा। जिन भक्ति और श्रावक धर्म की आराधना के फलस्वरूप ही विनयंधर को देवतुल्य सुख-सम्पन्नता प्राप्त हुई है।

राजा ने मुनि से पुनः पूछा, मुनिवर! मैंने दिन में विनयंधर की पत्नियों को देखा तो वे देवियां प्रतीत हुईं और रात्रि में देखा तो वे मुझे राक्षसियां दिखाई दीं, इस रहस्य को भी स्पष्ट करने की कृपा करें।

मुनि ने फरमाया, राजन ! तुम्हारे पुण्य प्रभाव के कारण ही शासन रक्षक देव ने तुम्हे पतित होने से बचाने के लिए उन नारियों के रूप विद्रूप दिखाए थे। फलतः शासन रक्षक देव का दांव सफल रहा और तुम्हारी धर्मबुद्धि जग गई।

राजा धर्मबुद्धि प्रबुद्ध बन गया। उसने शासन का भार अपने पुत्र को देकर प्रव्रज्या धारण कर ली। विनयंधर भी विरक्त होकर प्रव्रजित हो गया। दोनों ने निरतिचार तप-संयम की आराधना से केवलज्ञान अर्जित कर निर्वाण प्राप्त किया।

–धर्मप्रकरण टीका, गाथा 11

विनयवती

एक पतिपरायणा सन्नारी, चम्पापुरी नगरी के नगर सेठ जिनदास की पुत्रवधू और धनपति की अर्द्धांगिनी।

श्रेष्ठी जिनदास के चार पुत्र थे और एक पुत्री। विनयवती सबसे छोटे पुत्र धनपति की पत्नी थी। पुत्री का विवाह कौशाम्बी नगरी में किया गया था। सेठ का पूरा परिवार जिनोपासक था। एक बार धनपति व्यापार के लिए विदेश गया। उस समय विनयवती सगर्भा थी। श्वसुर की आज्ञा प्राप्त करके वह अपने माता-पिता से मिलने के लिए अपने पीहर गई। संयोग से दुर्दैववश रानी के हार की चोरी का आरोप विनयवती पर लग गया। राजा ने विनयवती को मृत्युदण्ड दिया। पर वधिक विनयवती का वध न कर पाए। करुणार्द्र होकर उन्होने विनयवती को देशान्तर चले जाने को कहा और लौटकर राजा को संतुष्ट कर दिया कि विनयवती का वध कर दिया गया है।

जंगल में भटकते हुए विनयवती को एक साधु का आश्रय प्राप्त हुआ। वहां पर उसने एक पुत्र को जन्म दिया। नवजात शिशु जब मुस्कराया तो उसके मुख से लाल झरने लगे। पुत्र की इस पुण्यवानी को देखकर विनयवती के हर्ष का आर-पार न रहा। एक दिन जब ऋषि अन्यत्र गए हुए थे तो विनयवती पुत्र को आश्रम में सुलाकर निकटस्थ जलाशय पर स्नान करने गई। एक चोर जो नवजात शिशु के मुख से प्रकट होने वाले लालों का रहस्य जान चुका था, शिशु को चुरा कर भाग गया। पुत्र की चोरी ने विनयवती को अधीर बना दिया और वह वन-कान्तर में पुत्र-पुत्र पुकारती हुई भटकने लगी। उन्मत्त की सी दशा में वह कौशाम्बी नगरी पहुंची और वहां एक सेठानी के घर सेवा वृत्ति पा गई। सेठानी कर्कशा और कठोर हृदय की नारी थी, वह विनयवती से क्षमता से अधिक काम लेती थी। विनयवती ने वहां रहते हुए बारह वर्ष बिता दिए। वस्तुतः वह सेठानी विनयवती की ननद थी, पर दुर्दैववश दोनों परस्पर एक दूसरी को पहचानती न थीं। विदेश से लौटते हुए धनपति बहन का मेहमान बना और बहन के घर पत्नी को दासीवृत्ति करते देख बहुत खिन्न हुआ। वह पत्नी को अपने साथ ले गया और सुखपूर्वक चम्पापुरी में रहने लगा। उधर राजा को भी उसका हार प्राप्त हो गया और उसे अपने निर्णय पर घोर पश्चात्ताप हुआ। विनयवती को जीवित देखकर राजा को संतोष हुआ।

उधर विनयवती के पुत्र को चुराकर चोर अपने नगर विजयनगर पहुंचा। उसकी चोरी का रहस्य नगर नरेश धनंजय ने जान लिया और नवजात शिशु को अपने संरक्षण में ले लिया। राजा ने उसे अपना पुत्र मानकर उसका पालन-पोषण किया और उसका नाम लालसेन रखा। राजा के सात अन्य पुत्र भी थे। सातों विवाहित थे। सातों राजकुमार और उनकी रानियां लालसेन पर प्राण न्योछावर करने को तत्पर रहते थे।

एक बार भाभी का एक मधुर उपालंभ लालसेन को लग गया और वह नरद्वेषिणी पद्मखण्डपुर की राजकुमारी पद्मिनी से विवाह करने चल दिया। अपने संकल्प में उसे सफलता प्राप्त हुई। उसने पद्मिनी का नरद्वेष दूर कर दिया और उससे विवाह किया। इकलौती पुत्री का विवाह करके पद्मखण्ड नरेश विरक्त हो गए। उन्होंने जामाता लालसेन को राजपद अर्पित कर संयम का पथ चुन लिया।

आखिर में लालसेन को अपने जनक-जननी के बारे में यथार्थ ज्ञात हुआ। वह अपनी माता विनयवती और पिता धनपति को अपने पास ले आया। विनयवती के जीवन के समस्त अभाव धुल गए। अनेक वर्ष राजमाता के पद पर रहने के पश्चात् उसने अपने पति के साथ दीक्षा धारण कर परमपद प्राप्त किया। जीवन के सांध्य पक्ष में लालसेन ने भी प्रव्रज्या धारण की और मोक्ष प्राप्त किया।

विनयसुंदरी

श्रीपुर नगर के महामंत्री मतिसागर की पतिपरायणा पत्नी। (देखिए-मतिसागर)

विभीषण

लंकापति प्रतिवासुदेव रावण का अनुज। विभीषण के पिता का नाम रत्नश्रवा और माता का नाम केकसी था। रावण के साथ ही विभीषण ने भी विद्याओं की साधना की थी और वह कई विद्याओं का स्वामी बन गया था।

एक बार एक ज्योतिषी ने रावण को बताया कि उसकी मृत्यु अयोध्यापति दशरथ के पुत्रों—राम और लक्ष्मण के हाथों से होगी और उसका कारण होगी मिथिलापति जनक की पुत्री सीता। अग्रज की मृत्यु के निमित्तों के बारे में सुनकर विभीषण कुपित हो गया। उसने प्रतिज्ञा की कि इससे पहले कि राम और सीता का जन्म हो वह उनके जन्मदाताओं का ही वध कर देगा। क्रोध की आग में जलता हुआ विभीषण दशरथ के वध के लिए अयोध्या की दिशा में चल दिया।

नारद जी ने पहले ही यह सूचना दशरथ के पास पहुंचा दी कि विभीषण उनके वध के लिए आ रहा है। कुशल मंत्रियों ने एक गुप्त योजना निर्मित की। योजनानुसार महाराज दशरथ वेश परिवर्तन करके प्रदेश रवाना हो गए और उनके स्थान पर उनके जैसी ही एक कृत्रिम आकृति निर्मित करके उनकी शय्या पर लेटा दी गई। साथ ही यह प्रचारित कर दिया कि दशरथ बीमार हैं।

विभीषण को अपनी ताकत पर घमण्ड था। अयोध्या में किसी प्रकार का अवरोध न पाकर वह सीधा राजमहल में पहुंचा। शय्या पर लेटाई गई आकृति को ही दशरथ समझकर उसने तलवार का प्रहार किया। कुशल मंत्रियों की योजनानुसार छिपे हुए व्यक्ति ने चीत्कार किया। कृत्रिम रक्त से भीगी तलवार को देखकर विभीषण को विश्वास हो गया कि उसके भाई के शत्रु का जन्मदाता मर चुका है।

अयोध्या से लौटते हुए विभीषण ने विचार किया—राम का जन्म ही अब संभव नहीं रहा तो सीता के लग्न की राम से कल्पना उपहास्य है। इस प्रकार जनक के वध का विचार त्याग कर वह अपने देश को चला गया। कालान्तर में शनैः-शनैः विभीषण में वैचारिक परिवर्तन होता गया। विशेष रूप से जब वृद्धावस्था में रावण ने सीता का अनीति पूर्वक तथा छल-बल से हरण किया तो यह विभीषण को पसन्द न आया। उसने रावण को कई बार समझाया कि वह राम को उसकी पत्नी लौटा दे। पर उसकी नेक शिक्षाओं को रावण ने स्वीकार नहीं किया तथा उसका उपहास भी उड़ाया। अन्ततः निराश विभीषण ने रावण को छोड़ दिया और वह श्री राम की शरण में चला गया।

युद्ध में रावण की मृत्यु के पश्चात् श्री राम ने वहां का शासन सूत्र विभीषण को प्रदान किया। विभीषण ने न्याय-नीति पूर्वक राज्य का संलाचन किया। साहित्य में विभीषण को एक धर्मात्मा पुरुष के रूप में सम्मानित स्थान प्राप्त है। —जैन रामायण

(क) विमल

अपने नाम के अनुरूप विमल मन और विमल बुद्धि सम्पन्न एक युवक। वह कुशस्थल नगर के श्रेष्ठी कुवलयचन्द्र का पुत्र था। उसका एक सहोदर अनुज था जिसका नाम सहदेव था। विमल सात्विक वृत्ति का तथा सहदेव राजसी वृत्ति का युवक था। किसी समय दोनों भाइयों को मुनि-दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मुनि की धर्म देशना से दोनों के हृदय में धर्मानुराग जागृत हुआ। दोनों ने श्रावक धर्म अंगीकार कर लिया। दोनों श्रावक-व्रतों का पालन करने लगे। पर विमल जिस एकनिष्ठ भाव से व्रतों का पालन करता था, वैसी निष्ठा सहदेव में नहीं थी।

किसी समय दोनों भाई व्यापार के लिए प्रदेश गए। मार्ग में वन था। एक देव ने विमल के एकनिष्ठ भाव से श्रावकाचार-पालन की परीक्षा ली। देव के विभिन्न प्रलोभनों के समक्ष भी विमल विचलित नहीं बना। इससे देव अति प्रसन्न हुआ। उसने प्रकट होकर विमल की धर्मनिष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की और उसे एक विषहरणी मणि प्रदान की। विमल को मणि में आकर्षण नहीं था, पर देव द्वारा विवश कर दिए जाने पर उसने वह मणि परोपकारार्थ उपयोग के लिए ग्रहण कर ली।

विमल ने देव द्वारा ली गई परीक्षा और उस द्वारा भेंट स्वरूप दी गई मणि की बात अनुज सहदेव को बताई। इसे सुनकर सहदेव बहुत प्रसन्न हुआ। उसे भाई के परीक्षा में सफल रहने पर वैसी प्रसन्नता नहीं थी, जैसी प्रसन्नता चामत्कारिक मणि प्राप्ति की थी। यात्रा क्रम में दोनों भाई आगे बढ़े। एक नगर में पहुंचे। वहां के राजा का नाम पुरुषोत्तम था। पुरुषोत्तम का एक ही पुत्र था अरिमल्ल। अरिमल्ल को विगत दिवस किसी भयानक विषधर ने डंस लिया था। उसके उपचार में समस्त मांत्रिक और गारुड़ी असफल हो चुके थे। राजा ने घोषणा की थी कि जो भी व्यक्ति राजकुमार को स्वस्थ करेगा उसे आधा राज्य दिया जाएगा। उक्त घोषणा को सहदेव ने भी सुना। उसे अतीव प्रसन्नता हुई। उसने विमल से कहा, भाई ! स्वर्ण अवसर है। राजकुमार को स्वस्थ करके आधा राज्य प्राप्त कर लो। विमल ने कहा, मुझे राज्य में रुचि नहीं है। सहदेव ने विमल को मूर्ख माना और उसके पल्लू से बंधी मणि खोलकर वह राजा के पास जा पहुंचा। मणि के प्रभाव से उसने राजकुमार को स्वस्थ कर दिया।

नगरभर में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। राजा ने सहदेव को आधा राज्य दे दिया। सहदेव ने राजपद अपने अग्रज विमल को अर्पित करना चाहा, पर विमल ने उसे अस्वीकार कर दिया। विमल की निस्पृहता पर राजा पुरुषोत्तम बहुत प्रभावित हुआ। उसने उसे नगर सेठ का पद दे दिया।

सहदेव राज्य का संचालन करने लगा। समस्त अनुकूल साधन प्राप्त हो जाने पर वह भोगोपभोगों में गृद्ध बन गया। मुनि से ग्रहण किए हुए निमय-व्रत उसने भंग कर दिए। असीमित भोगोपभोग के लिए धन की आवश्यकता रहती ही है सो उसने प्रजा पर विभिन्न प्रकार के कर लगा दिए। उसका नैतिक पतन निरन्तर होता रहा। विमल ने उसे अनेक बार सावधान किया, पर सहदेव ने विमल की बातों को प्रत्येक बार असुना कर दिया। परिणामतः सहदेव आयुष्य पूर्ण कर प्रथम नरक में गया।

व्रतों का निरतिचार पालन कर विमल देवलोक में गया। अनुक्रम से मोक्ष प्राप्त करेगा।

—धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 13

(ख) विमल (आचार्य)

'पउमचरिय' नामक बृहद् ग्रन्थ के रचयिता एक विद्वान और प्रभावशाली जैन आचार्य। आचार्य विमल विमल प्रज्ञा के धनी आचार्य थे। अनुमानतः 1500 वर्ष पूर्व उन्होंने 'पउमचरिय' नामक बृहद् प्राकृत भाषा के ग्रन्थ की रचना की। वैदिक परम्परा में जो स्थान वाल्मीकि रामायण को है, जैन परम्परा में वही स्थान 'पउमचरिय' का है।

श्रीराम का एक नाम पद्म भी था। पद्म नाम को आधार बनाकर ही आचार्य विमल ने श्रीराम के चरित्र का चित्रण किया है। इस ग्रन्थ के अनुसार रावण, हनुमान, सुग्रीव आदि सभी पात्र राक्षस या वानर न होकर कुलीन मानव ही थे। इस ग्रन्थ में मानवीय पक्ष को विशेष रूप से उजागर किया गया है।

पउमचरिय ग्रन्थ जैन पुराण साहित्य का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य विमल को 'हरिवंशचरिय'

ग्रन्थ का रचयिता भी माना जाता है जिसमें श्रीकृष्ण के चरित्र का चित्रण हुआ है। यह ग्रन्थ वर्तमान में उपलब्ध नहीं है।

आचार्य विमल के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। —पउमचरिय

विमलनाथ (तीर्थंकर)

प्रवहमान अवसर्पिणी काल के तेरहवें तीर्थंकर। अष्टम स्वर्ग से च्यव कर प्रभु कंपिलपुर नरेश महाराज कृतवर्मा की पट्टमहिषी श्यामारानी की रत्नकुक्षी में अवतरित हुए। चतुर्दश शुभ स्वप्न दर्शन से स्पष्ट हो गया कि महारानी चक्रवर्ती अथवा तीर्थंकर पुत्र को जन्म देगी। माघशुक्ला तीज को महारानी ने एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया, जिसे नामकरण के दिन 'विमलनाथ' नाम दिया गया। प्रभु युवा हुए तो अनेक राजकन्याओं के साथ उनका विवाह किया गया और फिर प्रभु का राजतिलक किया गया । अनेक वर्षों तक प्रभु ने राज्य किया। आखिर माघ शुक्ला चतुर्थी के दिन प्रभु ने नश्वर राज्य का त्याग कर आत्मराज्य के शासन की प्राप्ति के लिए दीक्षा धारण की। दो वर्ष की तप-ध्यान साधना से ही प्रभु ने कैवल्य को साध लिया और धर्मतीर्थ की स्थापना कर लोक कल्याण का शंखनाद फूंका। प्रभु के तीर्थ से लाखों भव्यात्माओं ने आत्मलक्ष्य को हस्तगत किया। साठ लाख वर्षों का कुल आयुष्य भोग कर प्रभु ने सम्मेद शिखर पर्वत पर छह हजार मुनियों के साथ अनशन किया और निर्वाण को उपलब्ध हो गए। 'मंदर' प्रमुख भगवान के 57 गणधर थे।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

विमल मुनि

एक अतिशय ज्ञानी मुनि। (देखिए-विजय-विजया)

विमलवाहन

शतद्वार नगर के एक धर्मात्मा राजा। एक बार उन्होंने अत्युच्च भावों से धर्मरुचि नामक मासोपवासी अणगार को आहार दान कर महान पुण्य का संचय किया और जन्म-मरण परम्परा को सीमित किया। विमलवाहन नरेश ही भवान्तर में साकेत के युवराज वरदत्त के रूप में जन्मे। (देखिए-वरदत्त कुमार)

—विपाक सूत्र द्वि. श्रु./ धवला टीका

विमलशाह (मंत्री)

ग्यारहवीं सदी का गुजरात के सोलंकी नरेश भीमदेव प्रथम का मंत्री। विमलशाह श्रीमाल जाति का जैन श्रावक था। वह राज्य का सर्वाधिक धनी और प्रतिष्ठित पुरुष था। गुजरात नरेश ने उसे मंत्री और सेनानायक के दो-दो उच्च पदों पर प्रतिष्ठित किया था।

विमलशाह जाति से भले ही ओसवाल वणिक था, पर उस युग में उसके शौर्य की गाथाएं दिगू-दिगन्तों में व्याप्त हुई थीं। उसके नेतृत्व में महाराज भीम ने कई युद्धों में विजय प्राप्त की। गजनी की सीमाओं तक जाकर विमलशाह ने वैजयंती पताकाएं फहराई थीं।

विमलशाह की धर्मनिष्ठा भी पराकाष्ठा की थी। अरिहंत देवों के प्रति उसके हृदय में सुदृढ़ अनुराग था। आबू पर्वत पर स्थित स्थापत्य का बेजोड़ प्रतीक पावन आदीश्वर जिनालय का निर्माण विमलशाह ने ही कराया था। यह जिनालय 'विमल बसही' भी कहलाता है। इस मंदिर का निर्माण सन् 1032 में हुआ था।

—प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएं

(क) विमला

मण्डनपुर नरेश महाराज कीर्तिध्वज की पुत्री और ऋषभपुर नगर के युवराज पद्मध्वज की अर्द्धांगिनी, एक बुद्धिमती और पतिव्रता सन्नारी। ऋषभपुरी नरेश वृषभध्वज एक धर्मात्मा और नीति परायण नरेश थे। उनके दो पुत्र थे। बड़ा राजध्वज और छोटा पद्मध्वज। राजध्वज उद्दण्ड और अन्यायी था। उसके जीवन में अनेक बुराइयां थीं, अकारण ही वह प्रजा को कष्ट दिया करता था। इसके विपरीत छोटा राजकुमार पद्मध्वज विनयवान, धर्मात्मा और प्रजावत्सल था। राजध्वज के दुर्गुणों से दुखी पिता वृषभध्वज ने पैतृक परम्परा को तोड़कर अपने छोटे पुत्र पद्मध्वज को युवराज बना दिया। इससे राजध्वज जल-भुन गया। उसने रिश्वत प्रलोभनादि से कई राज्याधिकारियों को अपने पक्ष में कर लिया। महाराज वृषभध्वज की मृत्यु के पश्चात् ऋषभपुर में सत्ता-संघर्ष चरम पर पहुंच गया। प्रजा पद्मध्वज को राजा बनाना चाहती थी, परन्तु कुछ प्रमुख राज्याधिकारी राजध्वज के पक्ष में थे। आखिर पद्मध्वज ने उस संघर्ष को विराम दिया और घोषणा की कि अग्रज राजध्वज ही परम्परानुसार राज्य के अधिकारी हैं। वह स्वयं बिना पद ग्रहण किए ही प्रजा की सेवा करेगा।

परिणामतः राजध्वज ऋषभपुर का राजा बना। कृत्रिम प्रेम दिखा कर वह पद्मध्वज को अपने अनुकूल रखता। सरल हृदयी पद्मध्वज राजध्वज के प्रेम को निश्छल और सहज ही मानता था। एक बार राजध्वज की दृष्टि छोटे भाई की पत्नी विमला पर पड़ी, तो वह उसके रूप पर मुग्ध हो गया। उसने दूती के हाथ मूल्यवान वस्तुएं भेंट स्वरूप विमला के पास भेजीं। विमला ने सरल हृदय से ज्येष्ठ जी की कृपा मानकर वे वस्तुएं रख लीं। दूसरी बार राजध्वज ने श्रृंगार-प्रसाधन विमला के पास भेजे, इससे विमला समझ गई कि उसके ज्येष्ठ की नीयत ठीक नहीं है। उसने दूती को अपमानित करके भगा दिया। विमला धर्मसंकट में थी कि ज्येष्ठ जी की नीयत के बारे में अपने पति को कहे अथवा न कहे। वह नहीं चाहती थी कि उसके कारण दो भाइयों में मनो-मालिन्य उत्पन्न हो, पर मौन भी उपाय नहीं था। उसने संकेत मात्र से अपने पति को समझा दिया। पर पद्मध्वज ने इसे विमला का भ्रम ही माना।

राजध्वज पद्मध्वज को अपने पथ का कांटा मानने लगा। वह पद्मध्वज को अपने पथ से हटाने की युक्ति सोचने लगा। उसी अवधि में उसे सूचना मिली कि उसके राज्य की दक्षिण दिशा के ग्रामों पर शत्रु उत्पात मचा रहे हैं। इससे राजध्वज को मार्ग मिल गया। उसने युद्ध के नगाड़े बजवा दिए और सीमान्त प्रदेश पर जाने की तैयारी करने लगा। पद्मध्वज ने अग्रज से कहा, छोटे भाई के होते हुए बड़ा भाई युद्ध में जाए, यह छोटे भाई के लिए शोभनीय नहीं है। युद्ध में जाने की मुझे आज्ञा प्रदान करें। राजध्वज यही चाहता था। उसने पद्मध्वज को आज्ञा दे दी। तदनन्तर पद्मध्वज विमला के पास पहुंचा और उसको अपने युद्ध में जाने की बात कही। विमला भावी को स्पष्ट अनुभव कर रही थी। उसने पति से कहा, जब तक आप युद्ध से लौटें तब तक मैं अपने पीहर जाना चाहती हूँ, युद्ध से लौटते हुए आप स्वयं मुझे लाएं। पद्मध्वज ने विमला की बात स्वीकार कर ली। उसने विमला को उसके पीहर भेज दिया और स्वयं युद्ध में चला गया।

राजध्वज का दांव असफल गया। उधर युद्ध क्षेत्र से पद्मध्वज ने सूचना भिजवाई कि शत्रु चालाक है और उसे परास्त करने में छह मास तक लग सकते हैं। राजध्वज को जैसे जीवन का संदेश मिल गया। वह मण्डनपुर विमला को लेने पहुंचा। विमला के पिता महाराज कीर्तिध्वज को कपट संदेश दिया कि उसका अनुज पद्मध्वज युद्ध में विजयी होकर लौटा है। परन्तु वह युद्ध में घायल हो गया है। अतः विमला को उसके साथ शीघ्र भेजा जाए।

विमला ज्येष्ठ की कपट-नीति को जानती थी। सो उसने कुछ दिन बाद आने का आश्वासन देकर राजध्वज को विदा कर दिया। परन्तु पन्द्रह दिन बीतने पर राजध्वज पुनः आ धमका और कपट संदेश दिया कि उसका भाई गंभीर रूप से घायल है। अतः विमला का उसके पास होना आवश्यक है। महाराज कीर्तिध्वज ने अपनी पुत्री को समझाया और ज्येष्ठ जी के साथ जाने को कहा। विमला ने पिता को सब बातें समझा दीं कि ज्येष्ठ जी की नीयत ठीक नहीं है। उस पर भी माता-पिता ने विमला को समझा कर श्वसुर-गृह जाने पर विवश कर दिया।

विमला के समक्ष चक्रव्यूह था जिसमें वह फंसना नहीं चाहती थी। वह रात्रि में अपने घर से निकल गई और दूर जंगलों में चली गई। एक पर्वत गुफा में छिपकर वह नवकार मंत्र की आराधना करने लगी। उधर दूसरे दिन विमला को घर में न पाकर सब पर वज्रपात हो गया। निराश राजध्वज अपने नगर लौटा तो वहां का चित्र बदला हुआ था। पोलासपुर नगर के राजा ने ऋषभपुर के शासन पर अधिकार कर लिया था। राजध्वज के कुशासन से प्रजा त्रस्त थी ही। इसलिए पोलासपुर नरेश को विशेष अवरोध का सामना नहीं करना पड़ा। राजध्वज के ऋषभपुर में प्रवेश करते ही उसे बन्दी बनाकर कारागृह में डाल दिया गया।

सीमान्त प्रदेश में शत्रु को परास्त कर पद्मध्वज मण्डनपुर पहुंचा। पूरी स्थिति को जानकर जहां विमला के विरह से वह व्याकुल बन गया वहीं पोलासपुर नरेश की धृष्टता पर उसके नेत्र रंजित बन गए। उसके पास थोड़ी ही सेना थी। श्वसुर की सेना के सहयोग से उसने पोलासपुर नरेश को शीघ्र ही धूल चटा दी। भाई को कारागृह से मुक्त करके उसे पुनः सिंहासनासीन किया। उसके बाद वह विमला की खोज में निकला। कुछ मास की खोज के पश्चात् उसे सफलता प्राप्त हो गई। पत्नी को साथ लेकर वह ऋषभपुर पहुंचा। विमला की चारित्रदृढ़ता, शील-निष्ठा तथा अनुज पद्मध्वज का भ्रातृसमर्पण देखकर राजध्वज को स्वयं पर घोर आत्मग्लानि हुई, उसका हृदय-परिवर्तन हो गया। उसने अनुज और अनुजवधू से क्षमा मांगी। इतने से ही उसका पश्चात्ताप / प्रायश्चित्त पूर्ण नहीं हुआ। उसने पद्मध्वज को राजगद्दी पर बैठाकर स्वयं प्रव्रज्या धारण कर ली।

पद्मध्वज ने ऋषभपुर की प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। कालक्रम से विमला ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम गुणध्वज रखा गया। युवावस्था में गुणध्वज को राजपद देकर पद्मध्वज और विमला ने दीक्षा धारण की। दोनों देवलोक में गए। वहां से च्यव कर मनुष्य भव धारण कर दोनों मोक्ष जाएंगे।

(ख) विमला (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 30

(ग) विमला देवी

राजकुमार विशालधर (विहरमान तीर्थंकर) की परिणीता। (देखिए-विशालधर स्वामी)

विलास

पृथ्वीपुर नगर का राजा और प्रतिवासुदेव मधु का जनक।

विशल्या

कौतुकमंगल नगर के राजा द्रोणमेघ की पुत्री। द्रोणमेघ दशरथ-पुत्र भरत जी के मामा थे। विशल्या रूपवती और सुशील कन्या थी। पूर्वजन्म में किए गए तप से उसे विशेष शक्ति/लब्धि की प्राप्ति हुई थी—वह

जिस किसी भी रुग्ण अथवा घायल व्यक्ति का स्पर्श करती अथवा जिस पर उसका स्नानोदक छिड़का जाता वह तत्क्षण रोगमुक्त बन जाता था।

राम-रावण युद्ध में रावण ने लक्ष्मण पर शक्ति का प्रहार किया। लक्ष्मण मूर्च्छित हो गए। श्री राम के शिविर में निराशा व्याप्त हो गई। विज्ञ जनों ने श्री राम को बताया कि सूर्योदय से पूर्व लक्ष्मण का उपचार संभव है। पर उपचार कैसे हो और कौन करे यह कोई नहीं जानता था। घोर निराशा के उन क्षणों में प्रतिचन्द्र नामक एक विद्याधर ने श्री राम के शिविर में प्रवेश किया। विद्याधर ने श्री राम से कहा, प्रभु ! लक्ष्मण के उपचार का उपाय मैं बता सकता हूँ। श्री राम ने उत्सुकता से कहा, भद्र पुरुष ! मेरे अनुज के उपचार का उपाय शीघ्र बताइए। विद्याधर ने कहा, मैं संगीत पुर नरेश शशिमण्डल का पुत्र हूँ। एक बार एक विद्याधर से युद्ध करते हुए मैं घायल हो गया और अयोध्या के माहेन्द्रोदय उद्यान में गिरा। तब आपके अनुज भरत जी ने विशल्या के स्नानोदक का सिंचन मेरे शरीर पर किया जिससे मैं शीघ्र ही स्वस्थ हो गया। श्री राम के पूछने पर विद्याधर ने विशल्या का परिचय देते हुए कहा, महाराज ! विशल्या भरत के मामा की पुत्री है। पूर्व जन्म के तपःप्रभाव से उसे विशेष लब्धि प्राप्त है। उसके स्नानोदक से हजारों रोगी मुक्त बन चुके हैं। ऐसा मुझे आपके अनुज से ज्ञात हुआ था।

श्री राम को आशा की किरण दिखाई दी। हनुमान, भामण्डल और अंगद श्री राम की आज्ञा प्राप्त कर आकाश मार्ग से अयोध्या पहुंचे। भरत जी को उन्होंने वस्तुस्थिति से परिचित कराया। उन तीनों के साथ भरत जी कौतुकमंगल नगर में पहुंचे। भरत जी ने अपने मामा को लक्ष्मण मूर्च्छा की सूचना दी और उससे पुत्री विशल्या की याचना की। द्रोणमेघ ने अविलम्ब अपनी पुत्री लक्ष्मण जी के लिए प्रदान कर दी।

विशल्या को साथ लेकर हनुमान, भामण्डल और अंगद श्री राम के शिविर में पहुंचे। सूर्योदय सन्निकट था। विशल्या ने श्री लक्ष्मण जी के शरीर का स्पर्श किया। उसके स्पर्श के प्रभाव से लक्ष्मण के शरीर से शक्ति का प्रभाव तत्क्षण नष्ट हो गया। लक्ष्मण स्वस्थ हो गए। श्री राम के शिविर में हर्ष की लहर दौड़ गई।

विशल्या का विवाह लक्ष्मण जी के साथ ही हुआ। युद्ध में घायल सैनिकों पर विशल्या का स्नानोदक प्रक्षेपित किया गया जिससे सभी घायल सैनिक स्वस्थ हो गए। -जैन रामायण

(क) विशाखदत्त

जयत्थल नगर का एक धनी और बुद्धिमान सेठ। (देखिए-संवर)

(ख) विशाखदत्त

कौशाम्बी नगरी का एक दृढ़धर्मी श्रावक। वह नगर का धनी-मानी सेठ था। पर उसके पूर्वजन्म के पाप उदय में आए और वह अपनी समस्त समृद्धि गंवा बैठा। उसने वईरागर देश के बारे में सुना था कि वहां वज्ररत्नों की खान है। कुछ मित्रों के साथ वह वईरागर देश के लिए चल दिया। पर मार्ग में उसके मित्र ही द्रोही बन गए और उसके पास जो भी साधन-सामग्री थी उसे चुरा कर भाग गए। असहाय-निरुपाय सेठ किसी तरह वईरागर देश में पहुंचा। पर उसके समक्ष एक समस्या यह थी कि उसे वज्ररत्नों की पहचान नहीं थी। वह वहां मेहनत-मजदूरी करके उदरपोषण करने लगा। दिवाकर नामक एक योगी की दृष्टि सेठ पर पड़ी। उसने उसे अपने वाग्जाल में उलझा लिया और कहा कि यहां से तीन कोस की दूरी पर कात्यायिनी देवी का मंदिर है। उस मंदिर के पास ही पांच करोड़ सोनैया का कोष दबा हुआ है। वह जाए और उस कोष को प्राप्त कर ले। सेठ देवी के मंदिर के निकट गया। योगी उसके साथ था। योगी ने उससे कहा कि खुदाई

शुरू करने से पूर्व देवी की आराधना आवश्यक है। विशाखदत्त ने देवी की आराधना करने से इन्कार करते हुए कहा कि वह एक जैन श्रावक है और अरिहंत प्रभु के अतिरिक्त किसी भी देवी-देवता की उपासना/आराधना वह नहीं करता है। योगी ने अपना प्रचण्ड रूप प्रकट किया। विशाखदत्त समझ गया कि योगी धूर्त है और उसकी बलि देने के लिए उसे वहां लाया है। पर उसने भय को अपने हृदय में प्रवेश नहीं लेने दिया। पूरी दृढ़ता से उसने योगी का प्रतिवाद किया। योगी ने कड़क कर कहा, देखो ! इस तलवार के प्रहार से मैं इसी क्षण तुम्हारा सिर काटता हूँ, देखता हूँ कि मुझे कौन रोकता है।

मंदिर के निकट ही धन नाम का एक पुरुष रहता था। वह पहले मुनि था। उसके किसी गुरुतर अपराध पर आचार्य ने उसे पारांचिक प्रायश्चित्त दिया था। इस प्रायश्चित्त में मुनि-वेश का परित्याग कर साधना की जाती है। धन ने स्वधर्मी सेठ को कष्ट में देखा तो वह उसके पास आया और उसने योगी को ललकारा। योगी के अकड़ने पर धन ने विद्याबल से उसे दण्डित कर सेठ की रक्षा की। तब सेठ का परिचय जानने के पश्चात् धन ने उसे वज्ररत्नों की पहचान बताई। सेठ ने खान से दो वज्ररत्न प्राप्त किए और अपने देश को चला गया। उसकी समृद्धि लौट आई और वह आनन्द पूर्वक रहने लगा।

प्रायश्चित्त की अवधि पूर्ण होने पर धन पुनः मुनि बन गया। एक बार वह विचरण करते हुए कौशाम्बी नगरी में आया। उसका उपदेश सुनकर विशाखदत्त सेठ ने सपरिवार प्रव्रज्या धारण की और आत्मकल्याण किया। —कथा रत्न कोष : भाग 1

विशाखा

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की एक रानी।

विशालधर स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

दशम विहरमान तीर्थंकर। धातकी खण्डद्वीप के पश्चिम महाविदेह के अन्तर्गत वप्र विजय में स्थित विजयपुरी नामक नगरी में प्रभु का जन्म हुआ। महाराज नभराय और महारानी भद्रा प्रभु के पिता और माता हैं। विमला देवी नामक राजकन्या से यौवनवय में प्रभु का पाणिग्रहण हुआ। पिता के पश्चात् प्रभु राजपद पर आरूढ़ हुए और तिरासी लाख पूर्व की अवस्था तक उन्होंने राज्य किया। तदनन्तर वर्षीदान देकर प्रभु दीक्षित हुए। अल्पकालिक साधना से ही प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त कर चतुर्विध धर्मतीर्थ की संस्थापना की। चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर प्रभु मोक्ष जाएंगे। प्रभु का चिन्ह सूर्य है।

विशुद्ध केवली

एक प्राचीनकालीन केवलज्ञानी मुनि जिनका उपदेश सुनकर सहस्रमल्ल चोर दीक्षित हुआ था। (देखिए-सहस्रमल्ल)

(क) विश्वभूति

राजगृह नरेश विश्वनंदी के अनुज युवराज विशाखभूति का पुत्र और एक शक्ति सम्पन्न व तेजस्वी राजकुमार। उसे अपनी रानियों के साथ पुष्पोद्यान में क्रीड़ा करना प्रिय लगता था। राजपरिवार में यह मर्यादा सुनिश्चित की गई थी कि जब कोई राजपरिवार का सदस्य अपने अंतःपुर के साथ पुष्पोद्यान में हो तो राजपरिवार का अन्य सदस्य वहां नहीं जा सकता था। एक बार जब विश्वभूति अपने अतंःपुर के साथ पुष्पोद्यान में क्रीड़ा कर रहा था तो राजा विश्वनंदी का पुत्र विशाखनंदी वहां आया। पर राजपरिवार की मर्यादा की बात कहकर पहरेदारों ने उसे पुष्पोद्यान के द्वार पर ही रोक दिया। इससे विशाखनंदी ने अपने आपको अपमानित

महसूस किया और विश्वभूति के प्रति उसका मन विद्वेष और ईर्ष्या से भर गया। घर जाकर उसने अपना अवसाद अपनी मां से कहा। उसकी मां ने अपने पति से शिकायत की और त्रियाहठ के ब्रह्मास्त्र से राजा को विवश कर दिया कि वह किसी विधि से विश्वभूति को पुष्पोद्यान से बाहर निकाले। राजा ने छलनीति द्वारा विश्वभूति को सीमान्त प्रदेश पर उच्छृंखल सामंत को सबक सिखाने के लिए भेज दिया। पर सीमान्त प्रदेश पर जाकर विश्वभूति ने पाया कि वहां का सामन्त राजाज्ञाओं का पूर्ण पालन कर रहा है।

विश्वभूति राजधानी लौटा और अंतःपुर को साथ लेकर पुष्पोद्यान में गया तो उसे इसलिए द्वार पर रोक दिया गया कि पुष्पोद्यान में पंहले ही विशाखनंदी अपने अंतःपुर के साथ मौजूद था। इस घटना से विश्वभूति राजा और राजकुमार के छल को समझ गया। उसे बहुत क्रोध आया और पास ही खड़े शाल वृक्ष को उखाड़ कर उसने फैंक दिया। पर शीघ्र ही उसने अपने क्रोध पर विवेक का अंकुश लगा लिया और छल को संसार का स्वरूप जानकर वह मुनि बन गया। थोड़े ही समय में उसने उग्र तप से अपनी देह को कृश बना दिया। एक बार जब मुनि विश्वभूति मथुरा की गलियों में भिक्षा के लिए गए तो संयोग से उस समय विशाखनंदी उसी नगरी मे अपनी ससुराल आया हुआ था। उधर मुनि को एक गाय पुनः-पुनः सींगों के प्रहार से भूमि पर पटक रही थी। यह दृश्य देखकर विशाखनंदी ने मुनि के पूर्वबल का उपहास उड़ाया और कहा कि शालवृक्ष को उखाड़ कर फैंक देने वाला उसका बल अब कहां चला गया है। विशाखनंदी के उपहास ने मुनि की समता को खण्डित कर दिया। मुनि ने गाय का सींग पकड़ कर उसे आकाश में उछाल दिया। इससे भयभीत बनकर विशाखनन्दी वहां से भाग खड़ा हुआ। पर मुनि का रोष शान्त नहीं हुआ। उन्होंने प्रण किया कि भवान्तर में वे विशाखनन्दी का मानमर्दन करने वाले बनें।

निदान स्वरूप विश्वभूति भवान्तर में त्रिपृष्ठ वासुदेव बना और विशाखनंदी अश्वग्रीव नामक प्रतिवासुदेव बना। वहां पर त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव का मानमर्दन करके वैर का बदला लिया। विश्वभूति मुनि ही कालान्तर में भगवान महावीर के रूप में पैदा हुए जो जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर थे।

(ख) विश्वभूति

पोतनपुर नगर का पुरोहित और मरुभूति तथा कमठ का जनक। (देखिए-मरुभूति)

(ग) विश्वभूति (ब्राह्मण)

उज्जयिनी नगरी का एक ब्राह्मण। वह अपार संपत्तिशाली था, पर जितनी उसके पास संपत्ति थी वह उतना ही बड़ा कृपण भी था। उसके चार पुत्र और चार पुत्रवधुएं थीं। ये आठों ही प्राणी विश्वभूति की कृपणता से संत्रस्त थे और कामना करते थे कि वह मरे तो उनका जीवन सुख से चलने लगे। एक रात्रि में लक्ष्मी ने विश्वभूति को दर्शन दिए और उसे चेताया कि उसके पूर्वपुण्य के कारण ही वह उसके घर में है, भविष्य में पुण्यबन्ध के लिए वह दान-पुण्य करे। लक्ष्मी द्वारा चेताए जाने पर विश्वभूति के हृदय में दान-पुण्य की ऐसी उमंग जगी कि वह अंजली भर-भर कर स्वर्णमुद्राएं याचकों को देने लगा। पिता के इस परिवर्तन पर पुत्रों ने सोचा कि पिता जी पागल हो गए हैं। उन्होंने अपने पिता का उपचार कराया। वैद्यों ने बताया कि इक्कीस दिनों तक सेठ जी को भोजन न दिया जाए, केवल दवा दी जाए। विश्वभूति ने पुत्रों को बहुत समझाया कि वह बीमार नहीं है, पर उसकी एक न सुनी गई।

कहते हैं कि पुत्रों के व्यवहार से संत्रस्त बनकर विश्वभूति पुनः अपनी पुरानी कृपणता की लीक पर लौट गया। तब पुत्रों को लगा कि उनके पिता जी स्वस्थ हो गए हैं। उसके बाद विश्वभूति कृपण का जीवन

जीकर ही समस्त पुण्यों को कृपणता के अर्पित कर मृत्यु को प्राप्त हुआ और दुर्गति में जा गिरा।

—धन्य चरित्र

विश्वसेन

सोलहवें तीर्थंकर प्रभु शांतिनाथ के जनक और हस्तिनापुर नगर के राजा। (देखिए-शांतिनाथ तीर्थंकर)

विष्णु

समग्र परिचय गौतम वत् है। (देखिए-गौतम) —अन्तगडसूत्र प्रथम वर्ग, दशम अध्ययन

विष्णुकुमार मुनि

हस्तिनापुर नरेश महाराज पद्मोत्तर के पुत्र और नवम चक्रवती महापद्म के अग्रज। भगवान मुनिसुव्रत स्वामी के शासन काल में मुनि संघ पर एक अभूतपूर्व संकट उपस्थित हुआ तो उसका निराकरण इन्हीं मुनि ने किया था। (देखिए-महापद्म चक्रवती) —त्रिषष्टि शलाका पुरुषचरित्र, पर्व 6

विष्णुदेवी

सिंहपुर नरेश महाराज विष्णु की रानी और ग्यारहवें तीर्थंकर प्रभु श्रेयांसनाथ की जननी। (देखिए-श्रेयांसनाथ तीर्थंकर)

विष्णु राजा

सिंहपुर के महाराज और ग्यारहवें अरिहंत प्रभु श्रेयांसनाथ के जनक। (देखिए-श्रेयांसनाथ तीर्थंकर)

(क) वीर

तीर्थंकर महावीर को बाल्यावस्था में प्राप्त नाम जो एक देवता ने उनकी वीरता से अभिभूत बनकर उन्हें दिया था।

वीर का अर्थ है—निर्भय, बलवान, विजेता। महावीर को बाल्यकाल में ही इस नाम से पुकारा और पहचाना गया। इसके पीछे एक घटनाक्रम है। यथा—उस समय महावीर सात-आठ वर्षीय बालक थे। एक बार देवराज इन्द्र ने देवसभा में राजकुमार वर्धमान के बल, वीर्य और बुद्धि की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा कि बालक वर्धमान भले ही अल्पायु हैं, पर देव, दानव, गन्धर्व आदि कोई भी उनके बल को चुनौती नहीं दे सकता है, वे पूर्ण रूप से अभय और अजेय हैं। देवराज की प्रशंसा एक देव को अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतीत हुई। वह वर्धमान के बल की परीक्षा लेने के लिए कुण्डलपुर नगर में आया। उसने देखा—वर्धमान अपने साथी बालकों के साथ वृक्ष पर चढ़ने-उतरने का खेल खेल रहे हैं। देव ने विशाल सर्प का रूप बनाया और वह सर्प रूप में वृक्ष के तने से लिपट गया। बालकों ने विकराल सर्प को वृक्ष के तने से लिपटा देखा तो भय से चिल्ला उठे और जिसे जिधर सूझा उधर ही भाग खड़ा हुआ। मित्रों को भयभीत देखकर वर्धमान ने वस्तुस्थिति को समझा। विकराल सर्प को देखकर भी उनके मन में भय का सूक्ष्म सा स्पंदन भी नहीं उभरा। निर्भय मन से वे आगे बढ़े। उन्होंने एक हाथ से सर्प का फन और दूसरे हाथ से पूंछ को पकड़ा। सर्प को उठाकर वे दूर जंगल में छोड़ आए। वर्धमान के इस अभय और निर्भय रूप को जिसने भी देखा, वही दंग रह गया। सभी के मुख से वर्धमान के लिए 'वीर' शब्द निकला। तभी से वर्धमान को 'वीर' नाम से पुकारा जाने लगा।

वीर (आचार्य)

श्वेताम्बर परम्परा के एक विद्वान और चमत्कारी आचार्य। वीराचार्य वाद-कला निष्णात जैन आचार्य थे। गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह उनके परम भक्त थे। कहते हैं कि एक बार सिद्धराज ने विनोदपूर्वक एक वाक्य आचार्य श्री को कहा जो उन्हें चुभ गया। वीराचार्य पाटण को छोड़ कर जाने लगे। पर सिद्धराज ने द्वारपालों को सख्त आदेश दिया कि वे आचार्य श्री को नगर से बाहर न जानें दे। ऐसी स्थिति में आचार्य वीर आकाश मार्ग से अन्यत्र विहार कर गए। इससे जयसिंह को आचार्य श्री की सिद्धि पर आश्चर्यपूर्ण प्रसन्नता हुई, पर खेद इस बात का हुआ कि आचार्य श्री उसके नगर से चले गए हैं। सिद्धराज आचार्य श्री के पास पहुंचा और उन्हें पाटण चलने की प्रार्थना की। सिद्धराज के विशेष आग्रह पर कई गांवों और नगरों में विचरण करते हुए आचार्य श्री पाटण पधारे।

वीराचार्य ने अपने जीवनकाल में कई विद्वानों से शास्त्रार्थ किया और सदैव विजयी रहे। उनका समय वी.नि. की 17वीं सदी है। —प्रभावक चरित्र

वीरक

एक माली। (देखिए-हरिराजा)

वीरकुमार

श्रीनिलय नगर के राजा रिपुमर्दन का पुत्र। वह गुणों का निधान था, पर उसमें एक दुर्गुण भी था। वह था आखेट-प्रियता। एक बार वह अपने मित्रों के साथ शिकार के लिए वन में गया। बहुत घूमने के बाद भी उसे कोई पशु दिखाई नहीं दिया। वह और आगे बढ़ा, उसने देखा, एक स्थान पर सैकड़ों पशु-पक्षी एकत्रित हैं। उनके मध्य एक मुनि विराजित हैं जो उपदेश दे रहे हैं। यह देखकर राजकुमार चकित रह गया कि शशक और सिंह, मृग और चीते आदि जन्मजात वैरी पशु भी मुनि के प्रभाव से वैरभाव विस्मृत कर एक साथ बैठे हुए हैं। वीरकुमार भी मुनि का उपदेश सुनने को उत्सुक हुआ। वह भी श्रोताओं में बैठ गया और उपदेश सुनने लगा। मुनि ने अहिंसा, सत्य और सदाचार का उपदेश दिया, जिसे सुनकर वीरकुमार ने अहिंसा, सत्य और सदाचार के नियम धारण कर लिए। वह पूर्ण निष्ठाभाव से उक्त व्रतों का पालन करने लगा।

महाराज रिपुमर्दन के वीरकुमार के अतिरिक्त भी कई पुत्र थे। महाराज जानते थे कि वीरकुमार ही उनके शासन का सुयोग्य अधिकारी है, पर वे यह भी जानते थे कि वीरकुमार को राजपद देने से उसके पुत्रों में सत्ता संघर्ष उजागर हो सकता है। इस विचार से उन्होंने वीरकुमार को भाग्य परीक्षण के लिए प्रदेश भेजने का संकल्प कर लिया। कृत्रिम रोष प्रदर्शित करते हुए उन्होंने अकारण ही वीरकुमार को राज्य से चले जाने को कह दिया। वीरकुमार परम पितृभक्त था। वह पिता के प्रत्येक आदेश में अपना हित देखता था। पिता को प्रणाम कर वह श्रीनिलय नगर का त्याग कर चल दिया। वह कई दिनों की यात्रा के बाद कोशलपुर नगर पहुंचा। वहां उसने एक दृश्य देखा, पट्टहस्ति के पीछे-पीछे राजा सहित अनेक गण्यमान्य लोग चल रहे हैं। पट्टहस्ति की सूण्ड में पुष्पमाला है और उसकी पीठ पर राजकुमारी आरूढ़ है। उस दृश्य को देखकर वीरकुमार जब तक किसी चिन्तन-निष्कर्ष पर पहुंच पाता, पट्टहस्ति उसके निकट पहुंच गया और उसने उसके गले में पुष्पमाला डाल दी। राजकुमारी हस्ति की पीठ से उतरी और उसने भी वीरकुमार के कण्ठ में जयमाला डाल दी। वीरकुमार के आश्चर्य का निराकरण कोशलपुर नरेश ने किया। उसने कहा, वीरवर! मैं कोशलपुर नरेश रणधवल हूँ। मैंने कुलदेवी की प्रेरणा से अपनी पुत्री के लिए सुयोग्य वर के चयन के लिए यह उपक्रम किया

है। तुम ही मेरी पुत्री के सुयोग्य वर हो।

राजा ने वीरकुमार के साथ अपनी पुत्री कीर्तिमती का विवाह उत्सव पूर्वक किया। उसने वीरकुमार को दहेज में अनेक ग्रामों की जागीर दी। वीरकुमार वहां पर सुखपूर्वक रहने लगा।

वीरकुमार बुद्धिमान और रूपवान था। उसके रूप और गुणों पर पूरा कोशलपुर मुग्ध था। उसके रूप पर कई महिलाएं भी मुग्ध बन गई थीं। पर वीरकुमार एक सदाचारी युवक था। उसने अनेक संभ्रान्त और साधारण कुल की नारियों को सदाचार के पथ पर आरूढ़ किया। वीरकुमार के इन गुणों से राजा इतना प्रभावित हुआ कि उसने वीरकुमार को ही अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया। उचित अवसर पर रणधवल वीरकुमार का राजतिलक करके प्रव्रजित हो गया। उधर महाराज रिपुमर्दन ने भी वीरकुमार को आमंत्रित कर श्रीनिलय नगर का साम्राज्य प्रदान कर दीक्षा धारण कर ली।

सुदीर्घ काल तक वीरकुमार ने दो-दो साम्राज्यों का न्याय-नीति से संचालन किया। जीवन के उत्तर पक्ष में उसने भी प्रव्रज्या धारण कर मोक्षपद प्राप्त किया।

—सुपार्श्व नाथ चरित्र / जैन कथा रत्न कोष,भाग 6 / बालावबोध (गौतम कुलक)

वीरकृष्णा

महाराज श्रेणिक की रानी और वीरकृष्ण कुमार की माता। दीक्षित होकर उसने महासर्वतोभद्र तप की आराधना की। इस तप की चार परिपाटियां और प्रत्येक परिपाटी की सात लताएं होती हैं। इस तप विधि में नौ सौ अस्सी दिन लगते हैं। (शेष परिचय-कालीवत्) —अन्तगड सूत्र, वर्ग 8, अध्ययन 6

वीर जी बोहरा

सूरत नगर का रहने वाला एक जैन श्रेष्ठी। 17-वीं ई. सन् का वह कोटीश्वर श्रेष्ठी था और कई देशों में उसका आयात-निर्यात का व्यवसाय था। कुछ विदेशी लेखकों के उल्लेखों को यदि प्रमाण माना जाए तो वीर जी बोहरा अपने समय का विश्व का सर्वाधिक धनी व्यक्ति था। इंग्लैण्ड, फ्रांस, पुर्तगाल और अरब देश के व्यापारी वीर जी बोहरा के कृपापात्र थे।

स्थानकवासी परम्परा के संस्थापकों में प्रमुख लवजी ऋषि वीर जी वोहरा की पुत्री के पुत्र थे। पिता की मृत्यु के पश्चात् लवजी ने वीर जी वोहरा के संरक्षण में ही अध्ययन किया। वीर जी वोहरा निःसंतान थे और लवजी ही उनके उत्तराधिकारी थे। परन्तु विरक्तमना लवजी को विशाल सम्पत्ति का आकर्षण बांध न सका। उन्होंने वीरजी से आज्ञा लेकर श्रामणी दीक्षा अंगीकार की और क्रियोद्धार द्वारा विशुद्ध जिनधर्म का बिगुल बजाया।

महाराष्ट्र की ऋषि परम्परा और पंजाब की मुनि परम्परा के लवजी ऋषि ही आदि-पुरुष थे। (देखिए-लवजी ऋषि)

वीरदमन

(देखिए-श्रीपाल)

वीर बंकेयरस

राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम का महासेनापति। वीर बंकेयरस एक शूरवीर योद्धा था। उसके नेतृत्व में राष्ट्रकूट साम्राज्य ने काफी उन्नति की थी और अनेक युद्धों में उसे विजय श्री प्राप्त हुई थी।

राजा अमोघवर्ष स्वयं भी जैन धर्म के प्रति समर्पित था। वीर बंकेयरस का जन्म जैन कुल में हुआ था। जिनमंदिरों के निर्माण, स्थापना और उनके सुचारू संचालन के लिए बंकेयरस ने स्थायी व्यवस्थाएं की थीं। रणशूर और धर्मशूर—ये दोनों महान गुण बंकेयरस के जीवन के भूषण थे।

वीर बंकेयरस ईसा की नौवीं सदी में हुआ।

वीरभान (उदयभान)

कनकपुर के राजा वीरधवल का पुत्र, धर्मप्राण और रूप-गुण सम्पन्न राजकुमार। उसका एक बड़ा भाई था जिसका नाम उदयभान था। दोनों भ्राताओं में राम-लक्ष्मण सा अनुराग था। दोनों राजकुमार मन्त्री के अधिकार में रहकर शिक्षा ग्रहण करने लगे। राजकुमारों की जननी का देहान्त पहले ही हो चुका था। अंतरंग मित्रों के दबाव में आकर राजा ने श्रीरानी नामक एक राजकुमारी से विवाह कर लिया। यही रानी वीरभान-उदयभान के लिए अपशकुन सिद्ध हुई। रानी ने दोनों कुमारों से प्रणय-प्रार्थना की जिसके ठुकरा दिए जाने पर उसने कुमारों पर बलात्कार का आरोप मढ़कर राजा से उनके लिए मृत्युदण्ड का आदेश दिलवा दिया। मंत्री की कुशलता से कुमारों के प्राण तो बच गए पर उन्हें देश छोड़कर भाग जाना पड़ा। पुत्रों को प्राणदण्ड देने से राजा आत्मग्लानि से भर गया और शीघ्र ही उसे ज्ञात हो गया कि दुश्चरित्रा रानी ने उसके पुत्रों पर झूठा आरोप लगा कर उन्हें मृत्युदण्ड दिलवाया है। राजा ने रानी को कारागृह में डाल दिया। कुछ ही दिनों में श्रीरानी का देहान्त हो गया।

वीरधवल पुत्र-शोक से संतप्त बना रहता था। एक दिन एक नैमित्तिक ने राजा को सन्तुष्ट किया कि उसके पुत्र जीवित हैं। राजा ने मंत्री से पूछा तो उसने भी नैमित्तिक के कथन की पुष्टि की और स्वयं द्वारा राजाज्ञा के उल्लंघन के लिए दण्ड की याचना की। राजा ने मंत्री को कण्ठ से लगा कर कहा कि उसने राजाज्ञा का उल्लंघन करके उस पर जो उपकार किया है उसका बदला वह शत-शत जन्मों में भी नहीं चुका सकता है।

वीरभान-उदयभान कई दिनों तक जंगल में भटकते रहे। एक रात्रि में जब उदयभान सो रहा था और वीरभान जाग कर पहरा दे रहा था तो श्री रानी जो मरकर सर्पिणी बनी थी पूर्वजन्म के वैर वश वहां आ गई और उदयभान को डसने को उद्यत हुई। वीरभान सावधान था, उसने दण्ड प्रहार से सर्पिणी को मार दिया। इससे सर्पिणी के शरीर से छितर कर कुछ रक्तकण वीरभान के शरीर पर गिरे । विष के प्रभाव से वीरभान अचेत हो गया।

प्रातः काल भाई को अचेत देखकर तथा निकट ही पड़े सर्पिणी के शव को देखकर उदयभान शोक-सागर में डूब गया। भाई को कन्धे पर उठाकर वह एक दिशा में बढ़ा। एक सुरक्षित स्थान देखकर उसने वीरभान को वहां लिटा दिया और किसी चिकित्सक को खोजने एक दिशा में बढ़ा। वह उज्जयिनी नगरी में पहुंचा और पुण्ययोग ने उसे वहां का राजा बना दिया। कर्मदशा वश उदयभान की स्मृति से यह बात उतर गई कि उसका भाई जंगल में अचेत पड़ा है। उधर जंगल से एक मांत्रिक गुजरा जिसने वीरभान को स्वस्थ बना दिया। वीरभान उज्जयिनी नगरी पहुंचा और यह जानकर हर्षित हुआ कि उसका अग्रज राजा बन गया है। उसने भाई के पास जाने के स्थान पर स्वतंत्र विचरण कर भाग्य परीक्षण का संकल्प किया। उसने उज्जयिनी नगरी को यक्ष के कोप से मुक्त बनाया। वह सागरदत्त नामक सेठ से मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके उसके साथ रहने लगा। एक बार केसर सेठ नामक एक धनी व्यापारी विदेश व्यापार के लिए जाने लगा तो वीरभान भी उसके साथ हो लिया। कांतिपुर नगर के तट पर सेठ के जहाज लगे। वहां व्यापारादि से सेठ को प्रभूत

लाभ हुआ। पुण्य संयोग से नगर नरेश कनकसेन ने अपनी पुत्री तिलकमंजरी का विवाह वीरभान से कर दिया। वीरभान ने तिलकमंजरी के विशेष प्रेमाग्रह पर अपना पूरा जीवन वृत्त सुना दिया।

केसर सेठ लौटने लगा तो वीरभान भी उसके साथ उज्जयिनी जाने को तैयार हुआ। तिलकमंजरी भी साथ ही चली। केसर सेठ की दृष्टि तिलकमंजरी पर मैली हो गई और उसने अवसर साधकर वीरभान को सागर में धक्का दे दिया। तिलकमंजरी ने अपनी बुद्धिमत्ता से अपने शील की रक्षा की।

उज्जयिनी पहुंचकर तिलकमंजरी ने अपने ज्येष्ठ महाराज उदयभान के समक्ष आप-बीती सुनाई। राजा ने केसर सेठ को कारागृह में डाल दिया और अनुजवधू की समुचित व्यवस्था की। वह भ्रातृ-विरह में शोकमग्न बन गया। एक नैमित्तिक से यह संवाद सुनकर उसे संतोष हुआ कि उसका अनुज सकुशल है और कुछ समय पश्चात् उनका सम्मिलन होगा।

उधर भाग्य-हत्भाग्य के थपेड़ों पर झूलते वीरभान को प्रातः काल एक अन्य व्यापारिक जहाज पर शरण मिली। जहाज पर सवार होकर वीरभान रत्नावती नगरी पहुंचा। वहां पर राजकुमारी विजया से उसका विवाह हुआ। राजा के कोई पुत्र नहीं था, इसलिए जामाता को ही राजपद देकर रत्नावती-नरेश प्रव्रजित हो गया। इस नगरी में रहते हुए भी वीरभान को छह मास तक कामसेना नामक गणिका की कालकोठरी में रहना पड़ा। पर काजर की कोठरी में रहकर भी वह कजरारा नहीं हुआ।

रत्नावती नगरी पर शासन करते हुए वीरभान को भाई उदयभान की स्मृति सताने लगी। विश्वस्त मंत्री को राज्यभार प्रदान कर वीरभान उज्जयिनी आया। भ्रातृमिलन के साथ-साथ उसे अपनी पत्नी तिलकमंजरी भी प्राप्त हो गई । कुछ दिन दोनों भाई साथ रहे। तदुपरान्त पितृदर्शन के लिए कनकपुर पहुंचे। पिता-पुत्रों का मिलन हुआ।

दुखों की रात्रि बीत चुकी थी। सुखों का सुप्रभात खिल आया था। पुत्रों को राज्यभार देकर वीरधवल प्रव्रजित हो गया।

वीरभान-उदयभान ने मिलकर तीन-तीन राज्यों का संचालन किया। धर्म-नीति पूर्वक राज्य संचालन करते-करते जब उनके पुत्र सुयोग्य हो गए तो उन्हें राजपद देकर दोनों भाई भी प्रव्रजित हो गए। आयुष्य पूर्ण कर देवगति को गए। भविष्य में मानव जन्म धारण कर निर्वाण प्राप्त करेंगे। —वीरभान उदयभान रास

वीरमती

वीरमती टोंक-टोंडा रियासत के महाराज विक्रमसिंह की पुत्री थी। उसकी माता का नाम इन्दुमती था। वीरमती का विवाह मात्र ग्यारह वर्ष की अवस्था में धारानगरी के राजकुमार जगदेव सिंह के साथ हो गया था। वीरमती और जगदेव दोनों क्षत्रिय कुलोत्पन्न थे पर उनके जीवन पर जैन धर्म की अमिट छाप थी। जैन श्रमणों के प्रति उनके हृदयों में अगाध आस्था और श्रद्धा भक्ति थी। दोनों ने ही समय-समय पर मुनियों से अनेक व्रत-नियम ग्रहण किए थे। सामायिक की आराधना करना उनका नित्य नियम था।

जगदेव के पिता का नाम था महाराज अनूपसिंह और माता का नाम था सुलंकिनी। महाराज ने एक अन्य कुमारिका से विवाह किया जिसका नाम बघेलिनी था। वह रूपवान स्त्री थी। अपने रूप के बल पर उसने राजा के हृदय पर अपना शासन स्थापित कर लिया। उसके एक पुत्र हुआ जिसका नाम रणधवल रखा गया। पारम्परिक रीति के अनुसार जगदेव युवराज पद का अधिकारी था। परन्तु बघेलिनी अपने पुत्र को युवराज बनाना चाहती थी। उसने महाराज अनूपसिंह को वचनों मे बांधकर अपने पुत्र के लिए युवराज पद

और जगदेव के लिए देश-निर्वासन का वर मांग लिया। वचनवीर अनूपसिंह ने अपने वचनों का पालन किया और रणधवल को युवराज बना दिया तथा जगदेव को अपने राज्य से चले जाने को कह दिया। साथ ही पिता ने जगदेव को कहा, वह टोंक-टोंडा अवश्य जाए। जगदेव ससुराल पहुंचा। वहां कुछ दिन ठहरा और अपनी स्थिति स्पष्ट करके आगे बढ़ने को तत्पर हुआ। वीरमती भी उसके साथ जाने को तैयार हो गई। वीरमती और जगदेव दोनों ही कई गांव-नगरों में घूमते हुए पाटण पहुचें। वहां पर सिद्धराज सोलंकी का शासन था जो एक न्यायप्रिय राजा था। वीरमती को नगर के बाह्य भाग में बैठाकर जगदेव भोजन और आवास की व्यवस्था करने के लिए नगर में चला गया।

पाटण में मदनमंजरी नामक एक गणिका रहती थी जो प्रदेशिन युवतियों के शिकार के लिए सदैव चौकन्नी रहती थी। उसने वीरमती को बाग में एकाकी बैठे देखा तो दासी को भेजकर उसका मन्तव्य और परिचय प्राप्त कर लिया । उसके बाद वह स्वयं रथारूढ़ होकर और जगदेव की बुआ बनकर वीरमती के पास पहुंची। उसने अपने वाग्जाल में वीरमती को फंसा लिया और बोली, बेटी ! महलों में चलो ! महाराज सिद्धराज और जगदेव तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। सरल-हृदय वीरमती मदनमंजरी के वाग्जाल में फंस गई और उसके साथ उसके घर चली गई। मदनमंजरी ने कोतवाल के पुत्र से पर्याप्त धन प्राप्त कर उसको वीरमती के कक्ष में भेजा। वीरमती के समक्ष स्थिति स्पष्ट हो गई कि वह दुश्चक्र में फंस गई है। उसने कोतवाल के पुत्र को युक्ति-युक्त वचनों से समझाया। पर उसके दुराग्रह को देखा तो वीरमती ने दुर्गारूप प्रकट कर कोतवाल-पुत्र पर छिपा कर रखी गई कटार से वार कर उसका वध कर दिया और उसके शव को बाहर फैंक दिया। कोतवाल-पुत्र के वध का समाचार कुछ ही देर में नगरभर में फैल गया। क्रोध और प्रतिशोध में जलता हुआ कोतवाल कई सैनिकों के साथ मदनमंजरी के भवन पर पहुंचा। वीरमती के कक्ष का द्वार बन्द था। कोतवाल के आदेश पर सैनिकों ने खिड़की से कक्ष में प्रवेश करना चाहा। पर जिसने भी वैसा किया वही वीरमती की कटार का शिकार बन गया। कोतवाल भी उसी प्रयास में मारा गया।

सिद्धराज सोलंकी तक बात पहुंची। उसने स्वयं उक्त स्थान पर पहुंचकर सती से उसका मन्तव्य पूछा। सती ने राजा को उपस्थित देखकर द्वार खोल दिया और समस्त घटनाक्रम सुना दिया। जगदेव भी वहां पर पहुंच चुका था। राजा के आदेश पर मदनमंजरी को गिरफ्तार कर लिया गया। राजा ने जगदेव और वीरमती का स्वागत किया और उनका आतिथ्य स्वीकार किया। पाटण के आबालवृद्ध के मुख से वीरमती की वीरता और सतीत्व के यशगान गूंज उठे।

सिद्धराज और जगदेव के मध्य प्रेम भाव निरंतर वर्धमान होता रहा। जगदेव की ही युक्ति से सिद्धराज ने पाटण में बलिप्रथा और जीवहिंसा पर प्रतिबंध लगाया।

उधर धारानगरी में रणधवल के उत्पात से प्रजा त्राहिमाम-त्राहिमाम करने लगी। आखिर महाराज अनूपसिंह ने जगदेव को आमंत्रित कर उसे राजपद प्रदान किया। जगदेव ने नीतिपरायणता से प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। जीवन के उत्तरार्ध भाग में जगदेव और वीरमती ने संयम-पथ पर चरण बढ़ा कर सद्गति प्राप्त की।

वीर राजा

सोलहवें विहरमान तीर्थंकर श्री नेमिप्रभ स्वामी के जनक। (देखिए-नेमिप्रभ स्वामी)

वीर श्रेणी

(देखिए-चित्रश्रेणी)।

(क) वीरसेन

कनकशालपुर नगर के राजा हरिकेशरी और महारानी गुणावली का अंगजात, एक परमपुण्यवान, धीर, वीर और साहसी राजकुमार। उसके जीवन में सुख और दुख के अनेक घटनाक्रम घटे, कई बार वह मारणान्तिक उपसर्गों से घिरा, पर अपने धैर्य, धर्म और साहस के बल पर उसने प्रत्येक परिस्थिति का सामना किया।

वीरसेन कुसुमसुंदरी नामक रत्नपुरी नगरी की राजकुमारी के स्वयंवर में सम्मिलित हुआ। राजकुमारी ने वीरसेन का वरण किया। कुसुमसुंदरी के पिता महाराज रणधीर के कोई पुत्र नहीं था। सो उन्होंने पुत्री का विवाह वीरसेन से सम्पन्न करने के बाद वीरसेन को ही रत्नपुरी के राजपद पर अधिष्ठित किया और स्वयं प्रव्रजित हो गए। राजकुमारी कुसुमसुंदरी के पास पिता-प्रदत्त तीन अद्भुत वस्तुएं थीं—एक चतुर तोता, दूसरा दिव्य अश्व और तीसरी दिव्य शैया। एक बार वीरसेन और कुसुमसुंदरी दिव्य अश्व पर सवार होकर कुसुमपुर नामक नगर में गए। वह एक उजड़ा हुआ नगर था। वीरसेन की आराधना से प्रसन्न होकर कुसुमपुर नगर की रक्षक देवी ने उस नगर को आबाद किया और वीरसेन को वहां का राजा बनाया।

किसी समय वीरसेन और कुसुमसुंदरी के पास रहे हुए दिव्य अश्व और दिव्य शैया को किसी ने चुरा लिया। इसीलिए एक बार जब वे दोनों समुद्र से यात्रा कर रहे थे तो दुर्दैववश जहाज टूट गया और वे दोनों समुद्र में डूबने लगे। आयुष्य शेष होने के कारण दोनों ही अलग-अलग नगरों के किनारों पर आ लगे। कुसुमश्री श्रीपुर नगर में एक गणिका के चंगुल में फंस गई। उसने अपने बुद्धि के बल पर वेश्या के चंगुल में रहने के बाद भी अपने शीलव्रत को खण्डित नहीं बनने दिया। धर्म ध्यान का आश्रय लेकर वह अपने स्वामी के लौटने की प्रतीक्षा करने लगी।

उधर वीरसेन भृगुपुरी नगरी के तट पर आ लगा। वहां एक निःसंतान श्रेष्ठी ने उसे अपना पुत्र मानकर अपने घर रख लिया। कुछ ही समय बाद श्रेष्ठी का निधन हो गया। धर्म पिता का अग्नि संस्कार करके वीरसेन कुसुमश्री की खोज में निकाला। दैव अनुकूल होने से वह श्रीपुर नगर में ही पहुंच गया। उसने कुसुमश्री को खोज निकाला। परन्तु वेश्या के घर में उसे देखकर वीरसेन संदेह से घिर गया। फिर एक घटना के संदर्भ में कुसुमश्री ने अपने पतिव्रत धर्म की महिमा से पूरे नगर को चमत्कृत कर दिया। उसके बाद वीरसेन और कुसुमश्री का मिलन हुआ।

कालान्तर में वीरसेन अपनी रानी कुसुमश्री के साथ कनकशालपुर पहुंचा। पिता ने वीरसेन को राजपद देकर प्रव्रज्या अंगीकार कर ली। वीरसेन तीन साम्राज्यों का अकेला स्वामी था। उसके पास दिव्य अश्व था, इसलिए एक साथ तीन राज्यों के संचालन में उसे परेशानी नहीं थी।

सुदीर्घ काल तक वीरसेन ने राज्य किया। बाद में कुसुमश्री के साथ ही वह प्रव्रजित हुआ और शुद्ध संयम की आराधना द्वारा बारहवें देवलोक में देव बना। कुसुमश्री भी बारहवें देवलोक में देवरूप में जन्मी। वहां से च्यवकर वे दोनों मानवभव प्राप्त कर मोक्ष में जाएंगे।

(ख) वीरसेन (आचार्य)

टीकाकार के रूप में सुविख्यात एक जैन आचार्य। आचार्य वीरसेन वी.नि. की चौदहवीं शताब्दी के एक ख्यातिलब्ध जैन आचार्य थे। उन द्वारा विरचित धवला और जयधवला नामक टीका ग्रन्थ जैन परम्परा के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। धवला टीका षटखण्डागम ग्रन्थ की व्याख्या है। यह टीका 62000 श्लोक परिमाण है।

जय धवला आचार्य गुणधर कृत 'कषाय प्राभृत' नामक ग्रन्थ पर विशाल टीका है जिसका परिमाण 60000 श्लोक है। इसमें 20000 श्लोकों के रचयिता वीरसेन हैं और शेष के रचयिता आचार्य जिनसेन हैं।

राष्ट्रकूट नरेश अमोघ वर्ष पर आचार्य वीरसेन का विशेष प्रभाव था। राजा अमोघवर्ष का उपनाम धवल था। संभव है उसी उपनाम पर आचार्य श्री ने अपने टीका ग्रन्थों का नामकरण धवला और जयधवला किया हो।

एलाचार्य आचार्य वीरसेन के विद्यागुरु थे और आर्यनन्दी उनके दीक्षागुरु थे।

वीरसेन स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

सत्रहवें विहरमान तीर्थंकर। वर्तमान में प्रभु अर्धपुष्करद्वीप के पूर्व महाविदेह क्षेत्र की पुष्कलावती विजय में विराजमान हैं। उक्त विजय के अन्तर्गत पुण्डरीकिणी नगरी प्रभु की जन्मस्थली है। इस नगरी के महाराज भूमिपाल की रानी भानुमती की रत्नकुक्षी से प्रभु का जन्म हुआ था। प्रभु वृषभ के लक्षण से सुशोभित हैं। प्रभु जब युवा हुए तो राजसेना नामक राजकन्या के साथ विवाहित हुए। तिरासी लाख पूर्व की अवस्था तक प्रभु ने राज्य किया, उसके बाद वर्षीदान देकर दीक्षित हुए। केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मतीर्थ की स्थापना की। असंख्य भव्य जीव प्रभु के शासन में आत्मकल्याण का आत्मपथ प्रशस्त कर रहे हैं। चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य पूर्ण कर प्रभु मोक्ष में जाएंगे।

(क) वीरसेना

एक राजकुमारी जिसका विवाह कुमार स्वयंप्रभ (विहरमान तीर्थंकर) से हुआ था। (देखिए-स्वयंप्रभ स्वामी)

(ख) वीरसेना

सप्तम विहरमान तीर्थंकर प्रभु ऋषभानन स्वामी की जननी। (देखिए-ऋषभानन स्वामी)

वीरांगद

विजयपुर नगर के राजा सुरांगद का कर्मशूर और बुद्धिशूर पुत्र जो अति उदारहृदयी और शरणागतवत्सल भी था। विजयपुर के मंत्री का पुत्र सुमित्र जो अक्षय बुद्धिनिधान था वीरांगद का अनन्य अनुरागी और मित्र था। किसी समय वीरांगद और सुमित्र नगर के बाहर उद्यान में बैठे प्राकृतिक सुषमा का दर्शन कर रहे थे तो एक भीत और कातर व्यक्ति वीरांगद के चरणों में आ गिरा और शरण मांगी। शरणागतवत्सल राजकुमार ने उसे अपनी शरण में ले लिया। पीछे-पीछे सैनिक भी राजकुमार के पास आ पहुंचे और बोले—युवराज! यह अपराधी है और आपके पिता ने इसे मृत्युदण्ड दिया है, इसे हमें सौंप दीजिए ताकि हम राजाज्ञा का पालन कर सकें। वीरांगद ने कहा कि वह उसका शरणागत है और उसकी रक्षा का उसने वचन दे दिया है, इसलिए वह उसे नहीं लौटाएगा। राजकुमार के हठ की सूचना राजा तक पहुंची जिससे क्षुब्ध होकर राजा ने अपने पुत्र को अपने देश से निर्वासित कर दिया।

सुप्रसन्न चित्त से वीरांगद ने प्रदेश के लिए प्रस्थान कर दिया। उसका मित्र सुमित्र उसका अनुगामी बना। दोनों मित्रों ने देशाटन किया। अपने बुद्धिबल और भाग्ययोग से वीरांगद ने मन्त्रशाल नगर का साम्राज्य हस्तगत किया और अनेक राजकुमारियों से पाणिग्रहण कर सुखपूर्वक जीवन यापन करने लगा। उधर सुमित्र ने भी स्वतंत्र विचरण कर अपार वैभव के साथ-साथ कई कुमारियों से विवाह रचाया। बाद में दोनों मित्रों का पुनर्मिलन हुआ। कालान्तर में दोनों मित्र विशाल सेना के साथ विजयपुर गए। पिता-पुत्र का मिलन हुआ।

राजा सुरांगद पुत्र को राजपद देकर प्रव्रजित हो गया।

वीरांगद ने सुदीर्घ काल तक दो-दो साम्राज्यों का कुशल संचालन किया। अंतिम अवस्था में मुनि दीक्षा धारण कर और निरतिचार चारित्र पर्याय पालकर वह मोक्ष में गया। —पुहवीचंद चरियं

वृद्धवादी (आचार्य)

एक सुप्रसिद्ध वादकुशल जैन आचार्य। आचार्य वृद्धवादी का जीवन परिचय काफी रोचक है। वे ब्राह्मण कुल में पैदा हुए थे। उनका जन्मना नाम मुकुन्द था। वृद्धावस्था में मुकुन्द को वैराग्य हुआ और वे आचार्य स्कन्दिल के शिष्य बन गए। मुनि मुकुन्द में अध्ययन की तीव्र उत्कण्ठा थी। आचार्य देव से पाठ लेकर वे उच्च स्वर से प्रहर रात्रि बीतने के बाद भी उच्च घोष से स्वाध्याय करते रहते। इससे अन्य मुनियों को स्वाध्याय-शयनादि क्रियाओं में बाधा उत्पन्न होती। आचार्य श्री ने वस्तुस्थिति को समझकर मुनि मुकुन्द को आदेश दिया कि वे दिन में स्वाध्याय करें और रात्रि में ध्यानादि आभ्यंतर तपों की आराधना करें। गुर्वाज्ञा को शिरोधार्य कर मुकुन्द मुनि दिन भर उच्च घोष पूर्वक स्वाध्याय करते रहते। उन्हें स्वाध्याय में इस प्रकार संलग्न देखकर श्रावकों ने उनका उपहास उड़ाते हुए कहा, मूसल में पुष्प उगें तो ये विद्वान बनें। इस व्यंग्य ने मुनिवर मुकुन्द को निरुत्साहित नहीं किया बल्कि उन्होंने इसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया। आचार्य श्री की आज्ञा लेकर उन्होंने इक्कीस दिन की विशेष तपाराधना द्वारा ब्राह्मी विद्या की साधना की। देवी ने प्रकट होकर मुनि को सर्वविद्या निष्णात होने का वरदान दिया।

उसके बाद मुनि मुकुन्द अद्भुत विद्वान मुनि बनकर उभरे। उन्होंने नगर के चौराहे पर मूसल रोप कर विद्या प्रभाव से उसे पुष्पित बनाकर व्यंग्य करने वाले श्रावकों को समुचित उत्तर दिया।

मुनि मुकुन्द वादकला में विशेष निपुण बने। उस युग के धुरन्धर ब्राह्मण विद्वान सिद्धसेन को शास्त्रार्थ में परास्त कर उनको अपना शिष्य बनाया। इससे मुनि मुकुन्द—'वृद्धवादी' इस गुणनिष्पन्न नाम से भारत-भर में विश्रुत हो गए। स्कन्दिलाचार्य ने वृद्धवादी को अपना उत्तराधिकार प्रदान किया।

आचार्य वृद्धवादी का समय वी.नि. की नौवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है। —प्रभावक चरित्र

वृषभदत्त

जैन धर्मानुरागी एक श्रावक। अमरपुर के नगर-सेठ और प्रतिष्ठित व्यवसायी। (देखिए-सुलस कुमार)

वृषभदेव

आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के चरण में वृषभ का चिन्ह होने के कारण उन्हें उक्त नाम प्रदान किया गया। वृषभदेव ही उच्चारण सरलता के कारण 'ऋषभदेव' नाम से विशेष विश्रुत हुए।

वैजयंती

छठे बलदेव आनन्द की जननी। (देखिए-आनन्द बलदेव)

वैदर्भी

भोजकट नरेश रुक्मि की पुत्री जिसका लग्न श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कुमार के साथ हुआ था।

वैरिसिंह

अंगदेश की राजधानी पुष्पावती के राजा महीपतिराय का तेजस्वी पुत्र। वैरिसिंह जब युवा हुआ और

समस्त कलाओं में प्रवीण हो गया तो अनेक राजकुमारियों के साथ उसका पाणिग्रहण किया गया। वह सुख-पूर्वक जीवन-यापन करने लगा। एक दिन जब वह अपने राजोद्यान में बैठा था तो उसने एक सुन्दर हंस को देखा। हंस ने राजकुमार से मानव वाणी में कहा, राजकुमार! तुम्हारे पास सब सुख-साधन हैं, परन्तु जब तक राजकुमारी बावनाचन्दन तुम्हारे पास नहीं है तब तक तुम अधूरे हो। कहकर हंस एक दिशा में उड़ गया।

राजकुमारी बावनाचन्दन का नाम सुनते ही वैरिसिंह के हृदय में अज्ञात प्रीति उभर आई। तत्कालीन सूचना-साधनों से राजकुमार ने राजकुमारी बावनचन्दन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर ली कि वह कनकवती नगरी के राजा कनकभ्रम की पुत्री है। राजकुमार ने अपने माता-पिता और मित्र तुल्य मंत्री मतिनिधान को अपने हृदय की अवस्था बताई कि जब तक उसे बावानाचन्दन नहीं मिलेगी तब तक उसे शान्ति नहीं मिलेगी। राजा के आदेश पर मंत्री राजकुमारी का हाथ राजकुमार वैरिसिंह के लिए मांगने के लिए कनकवती नगरी गया। वहां के राजा ने मंत्री का आदर मान किया और बताया कि उसकी पुत्री का अपहरण एक नाग ने कर लिया है, ऐसी अवस्था में उसका हाथ राजकुमार वैरिसिंह के हाथ में कैसे दिया जा सकता है। मंत्री निराश होकर लौट आया और वस्तुस्थिति से वैरिसिंह को अवगत कराया। पर राजकुमार इतने भर से संतुष्ट नहीं हुआ। उसने अपना निर्णय सुना दिया कि वह स्वयं राजकुमारी बवानाचन्दन की खोज करेगा और उसे प्राप्त करके ही पुनः अपने नगर में लौटेगा। पुत्र के निर्णय को सुनकर राजा चिन्तित हो गया। मंत्री मतिनिधान ने राजा को आश्वस्त किया कि वह स्वयं राजकुमार के साथ जाएगा और उसके कार्य में उसका सहयोग करेगा। राजा को मंत्री की बुद्धिमत्ता पर पूरा विश्वास था। सो उसने मंत्री को प्रचुर धन देकर उपने पुत्र के साथ विदा कर दिया। राजकुमार और मंत्री कनकवती पहुंचे। वहां से आवश्यक सूचनाएं एकत्रित कर दोनों ने समुद्र यात्रा की। वे एक सुनसान द्वीप पर पहुंचे जहां उन्हें नागमणि प्राप्त हुई। उस मणि के प्रभाव से वे नागलोक पहुंचे, वहां पर उन्हें राजकुमारी बावनाचन्दन प्राप्त हुई। मंत्री की साक्षी से वैरिसिंह और बावनाचन्दन परिणय-सूत्र में बंध गए।

यहां पर भी कुछ काल के लिए वैरिसिंह को बावनाचन्दन का विरह झेलना पड़ा। एक राजा ने बावनाचन्दन का अपहरण कर लिया बावनाचन्दन एक पतिव्रता और बुद्धिमती सन्नारी थी। उसने अपने बुद्धिबल से अपने शील की रक्षा की। आखिर मंत्री के सहयोग से वैरिसिंह बावनाचन्दन को खोजने में सफल हो गया। वैरिसिंह बावनाचन्दन और मंत्री मतिनिधान तीनों कनकवती नगरी पहुंचे। कनकभ्रम पुत्री को देखकर आनन्दमग्न हो गया। उसने पूरे विधि-विधान से उसका विवाह राजकुमार वैरिसिंह से सम्पन्न किया, साथ ही वैरिसिंह को कनकवती का राज्यसिंहासन सौंपकर वह स्वयं प्रव्रजित हो गया।

कनकवती नगरी का शासन सूत्र योग्य मंत्रियों को सौंपकर वैरिसिंह अपने नगर में लौटा। पिता पुत्र का पुनर्मिलन हुआ। बावनाचन्दन को पुत्रवधू के रूप में पाकर राजा-रानी धन्य हो गए। पुत्र को राजपद देकर राजा-रानी साधना पथ पर चले गए। बहुत वर्षों तक वैरिसिंह ने न्याय और धर्मनीति पूर्वक राज्य किया। बाद में संयम धारण कर उसने परमपद प्राप्त किया। बावनाचन्दन भी सम्यक् चारित्र की आराधना करके मोक्ष की अधिकारिणी बनी।

—वैरिसिंह बावनाचन्दन चौपाई

वैशालिक

महावीर का एक नाम वैशालिक था। वैशाली नरेश महाराज चेटक के दौहित्र होने के कारण तीर्थंकर महावीर जगत में उक्त नाम से भी सुख्यात हैं।

वैश्यायन तपस्वी

महावीरकालीन एक तेजोलब्धि सम्पन्न तापस। (देखिए-गोशालक)

वैश्रमण भद्र अणगार

प्राचीनकालीन एक तपस्वी अणगार। (देखिए-सुवासव कुमार) —विपाक सूत्र द्वि श्रु., अ. 4

व्यक्त स्वामी (गणधर)

भगवान महावीर के चतुर्थ गणधर। ये कोल्लाक ग्रामवासी भारद्वाज गोत्रीय धनमित्र ब्राह्मण की धर्मपत्नी वारुणी के अंगजात थे। वेद-वेदांगों के गंभीर ज्ञाता थे। इनके गुरुकुल में पांच सौ ब्राह्मण विद्यार्थी विद्याध्ययन करते थे। इन्द्रभूति की भांति ये भी अपापावासी सोमिल ब्राह्मण के आमंत्रण पर उनके विशाल यज्ञ में सम्मिलित हुए थे। जिस दिन उक्त यज्ञ की पूर्णाहुति होने वाली थी उसी दिन श्रमण धर्म के उन्नायक चरम तीर्थंकर भगवान महावीर अपापा नगरी के महासेन उद्यान में पधारे। श्रमण धर्म के नवीन सूर्य को उदयावस्था में ही ब्राह्मण विद्वानों ने निस्तेज करने का प्रण किया और इस क्रम में इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति भगवान को शास्त्रार्थ में पराजित करने उनके पास पहुंचे। पर स्वयं पराजित होकर उनके शिष्य बन गए।

उसी क्रम में व्यक्त ब्राह्मण भगवान के पास पहुंचे। भगवान ने पंचभूतों के अस्तित्व-नास्तित्व सम्बन्धी उनकी शंका निरस्त कर उन्हें भी झुका दिया। वे अपने 500 शिष्यों सहित दीक्षित हो गए। इक्यावन वर्ष की अवस्था में उन्होंने दीक्षा ली, तिरेसठवें वर्ष में उन्हें केवलज्ञान हुआ और 80 वर्ष की अवस्था में वे मोक्ष चले गए।

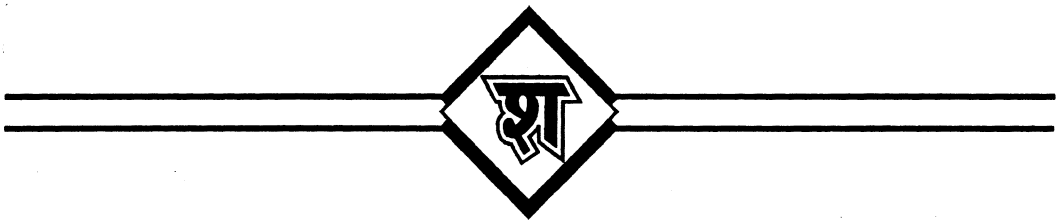

शंकर सेठ

अनूपगढ़ नगर का एक चन्दन व्यापारी। (देखिए-रूपकला)

(क) शंख

हस्तिनापुर नरेश श्रीसेन का पुत्र, एक रूप-गुण सम्पन्न राजकुमार। युवावस्था में शंख बलवान और अनेक कलाओं में निष्णात बना। यौवन वय में उसने दुर्दान्त पल्लीपति का दमन कर प्रजा को भयमुक्त बनाया। बाद में एक दुष्ट विद्याधर के चंगुल से अंगदेश की राजकुमारी यशोमती को मुक्त कराया। पूर्व जन्मों के अनुराग के कारण शंखकुमार और यशोमती का पाणिग्रहण हुआ।

कालक्रम से शंख हस्तिनापुर के राजा बने। उन्होंने कई वर्षों तक न्यायपूर्वक प्रजा का पालन किया। आयु के उत्तरार्ध में राजपाट का परित्याग करके शंख ने प्रव्रज्या धारण की। यशोमती ने भी पति का अनुगमन किया। शंख मुनि ने उत्कृष्ट तपाराधना तथा 20 बोलों की आराधना द्वारा तीर्थंकर नाम कर्म का संचय किया। आयुष्य पूर्ण कर शंख मुनि अपराजित स्वर्ग में उत्पन्न हुए। यशोमती ने भी उत्कृष्ट तपाराधना की और वह भी अपराजित देवलोक में उत्पन्न हुई।

अपराजित देवलोक का आयुष्य पूर्ण कर शंख का जीव शोरिपुर नरेश महाराज समुद्रविजय की रानी शिवा देवी की कुक्षी से पुत्र रूप में जन्मा जहां उसका नाम अरिष्टनेमि रखा गया। यही अरिष्टनेमि जैन धर्म के बाईसवें तीर्थंकर बने।

यशोमती का जीव उग्रसेन की पुत्री के रूप में जन्मा जहां उसका नाम राजिमती रखा गया।

(ख) शंख

विजयवर्धन नामक नगर के नगरसेठ का पुत्र, एक बुद्धिमान और करुणाशील युवक। उसने अपने जीवन काल में अनेक प्राणियों की रक्षा की और अभयदान का आदर्श स्थापित किया। आयुष्य पूर्ण कर वह भवनपति देव हुआ। देवायु पूर्ण करके वह विजयपुर नरेश विजयसिंह का पुत्र 'जय' हुआ। पिता के बाद जय राजा बना। एक बार एक चित्र देखकर उसे अवधिज्ञान हो गया। अवधिज्ञान से उसने जाना कि जीवदया और अभयदान के कारण ही वह पहले देव बना और फिर राजा बना। जय अभय की समग्र साधना को साधने के लिए मुनि बन गया और केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में गया। —कथारत्न कोष, भाग-1

(ग) शंख

श्रावस्ती नगरी का रहने वाला एक धनी और धर्मज्ञ श्रमणोपासक। भगवान महावीर का वह अनन्य उपासक था। श्रावस्ती नगरी का श्रीसंघ सुविशाल था। उनमें से पोखली नामक श्रमणोपासक शंख का अन्तरंग मित्र था। एक बार जब भगवान महावीर श्रावस्ती नगरी पधारे तो शंख और पोखली आदि अनेक

श्रावक भगवान के पास गए। पर्युपासना की और प्रभु का उपदेश सुना। उपदेश के बाद शंख ने सभी श्रावकों से कहा कि आज चारों प्रकार का आहार बनवाया जाए, हम सब साथ ही भोजन करेंगे, तदुपरान्त पाक्षिक पौषध करके धर्म जागरणा करेंगे। कहकर शंख अपने घर चला गया। घर पहुंचते ही शंख का चिन्तन बदल गया। उसने सोचा कि गरिष्ठ आहार करके पौषध करना उचित नहीं है। इस सोच के साथ पत्नी उत्पला को कहकर वह पौषधशाला में चला गया और पौषध की आराधना करने लगा।

उधर भोजन तैयार होने पर सभी श्रावक शंख की प्रतीक्षा करने लगे। उसे बुलाने पोखली को भेजा गया। शंख के घर पहुंचकर पोखली को ज्ञात हुआ कि शंख तो पौषध में बैठा है। वह पौषधशाला में गया और उसने शंख को तीक्ष्ण उपालंभ दिया।

दूसरे दिन शंख ने विचार किया कि प्रभु की पर्युपासना के पश्चात् ही पौषध का पारणा करना चाहिए। इस विचार से वह भगवान के पास गया। वहां उपस्थित श्रावकों ने कहा, शंख ने उनके साथ छल किया है इसलिए वह निन्दा का पात्र है। श्रावकों की बात सुनकर भगवान ने स्पष्ट किया, शंख ने जो किया वह दुश्चिन्तन से प्रेरित बनकर नहीं किया। उसका चिन्तन धर्ममय था। उसने सुदृष्ट जागरिका से जगकर धर्म-जागरणा की है। इसलिए वह निन्दा का नहीं, बल्कि प्रशंसा का पात्र है।

भगवान की बात सुनकर सभी श्रावकों ने शंख से क्षमापना की। सबके मन निर्मल बन गए।

भगवान ने गौतम स्वामी के एक प्रश्न के उत्तर में स्पष्ट किया कि शंख उत्कृष्ट श्रावकाचार का पालन कर प्रथम देवलोक में जाएगा। वहां से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

—भगवती सूत्र 12 / 1

(घ) शंख

वाराणसी नगरी का एक राजा। एक बार जब मल्लि के कुण्डलों की संधि टूट गई तो उसे मिथिला का कोई स्वर्णकार ठीक न कर सका। इससे रुष्ट होकर राजा कुंभ ने सभी स्वर्णकारों को अपने देश से निकाल दिया। वे सभी स्वर्णकार वाराणसी नगरी पहुंचे और उन्होंने वहां के राजा से शरण मांगी। राजा शंख ने उनके देश-निकाले की पूरी बात पूछी तो स्वर्णकारों ने सब सच-सच कह दिया। मल्ली का नाम सुनते ही शंख का हृदय उसके प्रति अनुरक्त हो गया। दूत भेजा। अस्वीकृति पर युद्ध के लिए तैयार हुआ। आखिर मल्लि की युक्ति से सम्बोधि को प्राप्त कर उसने संयम धारण किया और मोक्ष को प्राप्त हुआ। (देखिए-मल्लिनाथ तीर्थंकर)

(ङ) शंख

ऐरावत क्षेत्रान्तर्गत जयपुर नामक नगर का रहने वाला एक पुरोहित। नगर नरेश चन्द्र ने आत्मरक्षार्थ शंख के पुत्र को राजपद प्रदान किया। कुछ ही दिन बाद विद्युत्पात से शंख के पुत्र का निधन हो गया। शंख ने जान लिया कि राजा ने अपने बचाव के लिए उसके पुत्र की बलि दी है। पर राजा से वह प्रतिवाद नहीं कर सकता था। पुत्र-विरह से व्याकुल बनकर उसने आत्महत्या का निश्चय कर लिया। आत्महत्या के लिए उसने अपने नगर से प्रस्थान किया। मार्ग में उसे अवधिज्ञानी जैन मुनि सुधर्मा का धर्मोपदेश सुनने का पुण्य-प्रसंग प्राप्त हुआ। उसका आत्महत्या का विचार बदल गया और उसने मुनि दीक्षा धारण कर ली। एकलविहार प्रतिमा को धारण कर वह देश-देशान्तर में विचरण करने लगा। किसी समय एक तापस के लौकिक प्रभाव के प्रवाह में प्रवाहित बनकर उसने जिनधर्म को छोड़कर तापसी प्रव्रज्या धारण कर ली और मरकर किल्विषी देव बना। देवायु पूर्ण कर वह उच्च-नीच गतियों में भटकने लगा। —कथारत्न कोष, भाग-1

(च) शंख (राजा)

शंखपुर देश का राजा जिससे कलावती का पाणिग्रहण हुआ था। (देखिए-कलावती)

शकटकुमार

साहंजनी नगरी निवासी एक धनपति श्रेष्ठी सुभद्र और उसकी अर्द्धांगिनी भद्रा का पुत्र। शकटकुमार जुआरी और व्यभिचारी युवक था। भगवान महावीर ने गौतम स्वामी के पूछने पर स्वयं अपने श्रीमुख से उसका पूर्वभव कहा था, जो इस प्रकार है—पूर्वभव में शकट छगलपुर नगर का छणिक नाम का एक बहुत बड़ा मांस विक्रेता था। गाय, भैंस, भेड़, बकरे, मोर आदि हजारों की संख्या में पशु और पक्षी उसके यहां मांस के लिए बाड़ों में बंद रखे जाते थे, वह मांस का एक प्रसिद्ध क्रेता और विक्रेता था। वह स्वयं भी मांस भक्षण करता था। पशुओं के प्रति तनिक भी करुणा का विचार उसके मन में नहीं था। सात सौ वर्ष की आयु भोगकर वह चतुर्थ नरक में गया। वहां से निकलकर सुभद्र सेठ के घर पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ।

बचपन में ही शकट के माता-पिता का देहान्त हो गया। धीरे-धीरे उसके जीवन में सातों ही कुव्यसन प्रविष्ट हो गए। नगर की प्रसिद्ध गणिका सुदर्शना का वह दीवाना बन गया। महामात्य सुषेण को इस बात का पता लगा तो उसने शकट को मार-पीटकर भगा दिया और गणिका को अपने प्रासाद में रख लिया। पर कामी को चैन कहां ? एक दिन अवसर साधकर शकट कुमार महामात्य के प्रासाद में घुस गया। महामात्य ने उसे देख लिया और राजपुरुषों द्वारा उसे बन्दी बनवा दिया गया। साथ ही शकट के प्रति आसक्त सुदर्शना को भी बन्दिनी बना लिया गया। राजाज्ञा से उन दोनों के अंग भंग कराके शूली पर लटका दिया गया। शकटकुमार के जीव के सम्बन्ध में जो एक ज्ञातव्य तथ्य है वह यह है कि असंख्यात काल तक संसार में भटकते हुए उसे कभी धर्म का आधार प्राप्त होगा और वह चारित्र की आराधना करके मोक्ष में जाएगा।

—विपाक सूत्र, 4

शकडाल महामंत्री

पाटलिपुत्र नरेश धननन्द के महामंत्री और आस्थाशील जैन श्रावक। वररुचि नामक एक ब्राह्मण राजा को प्रतिदिन नवीन श्लोक सुनाकर खजाने से बहुत सा धन ले जाता था। महामंत्री इसमें जनता के धन का अपव्यय देखता था। उसने अपनी पुत्रियों की सहायता से यह सिद्ध कर दिया कि वररुचि नए नहीं बल्कि पुराने श्लोक सुनाकर राजा को धोखा देता है। राजा ने वररुचि को अपमानित कर नगर से निकाल दिया। वररुचि ने एक अन्य चाल चली जिसे शकडाल ने निरस्त कर दिया। इससे वररुचि प्रतिशोध की ज्वालाओं में जल उठा और उसने शकडाल के पुत्र श्रीयंक के विवाह के प्रसंग पर राजा को भड़का कर शकडाल के प्रति उसे अविश्वास से भर दिया। आखिर स्वामिभक्ति का परिचय देने के लिए शकडाल को अपने ही पुत्र के हाथों मृत्यु स्वीकार करनी पड़ी। उसकी मृत्यु के पश्चात् उसका बड़ा पुत्र स्थूलभद्र साधु बन गया और छोटा पुत्र श्रीयंक महामंत्री बना।

शक क्षत्रप षोडास

ई. पूर्व प्रथम सदी का मथुरा का राजा जो जाति और कुल से अनार्य होते हुए भी जैन धर्म के प्रति आस्थावान था। उसके शासन काल में मथुरा नगरी में जैन संघ ने काफी उत्थान किया था। मथुरा से प्राप्त क्षत्रपकालीन शिलालेखों में जैन धर्म के शिलालेखों की संख्या सर्वाधिक है। कई जैन श्रावकों और श्राविकाओं द्वारा जिनालयों की विभिन्न रूपों में स्थापना आदि के कई उल्लेख प्राप्त हुए हैं जो शक-क्षत्रप राज्यकाल को

मथुरा में जैन धर्म का स्वर्णकाल सिद्ध करते हैं।

शतानीक

कौशाम्बी का राजा। महासती मृगावती उसकी पटरानी थी। वह अपनी रानी के कारण जैनधर्मी बना। महावीर के चरणों पर उसकी अनन्य आस्था थी। उसने अपने जीवन काल में कई युद्ध भी लड़े। जय-पराजय का समान आस्वाद चखा। एक बार उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत ने उस के राज्य पर आक्रमण किया। उस अकस्मात् आक्रमण को वह झेल न सका। भय से वह बीमार हो गया और उसका देहान्त हो गया। महावीर की अनन्य उपासिका जयन्ती उसकी बहन थी तथा उसके इकलौते पुत्र का नाम उदयन था।

शत्रुञ्जय पर्वत

उक्त शब्द का उल्लेख जैन आगमों और आगमेतर साहित्य के कई स्थलों पर हुआ है। वस्तुतः यह शब्द एक ऐसे पवित्र स्थल का वाचक है जहां से अनेक आत्माओं ने मोक्ष को उपलब्ध किया। इसका शाब्दिक अर्थ है—वह पर्वत जहां से साधकों ने आत्मिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त की। असंख्य साधकों की साधना स्थली होने के कारण ही इस पर्वत का उक्त नाम प्रचलित हुआ है।

शत्रुञ्जय पर्वत को जैन परम्परा में तीर्थराज का दर्जा प्राप्त है। यह गुजरात-काठियावाड़ में पालिताणा से दो मील की दूरी पर स्थित है। आगम साहित्य के अनुसार इस पर्वत का इतिहास असंख्य वर्ष पुराना है। भगवान ऋषभदेव के प्रमुख गणधर पुण्डरीक थे। उन्होंने इसी पर्वत से सिद्ध पद प्राप्त किया था। इसलिए इस पर्वत का अपर नाम पुण्डरीक भी है। युधिष्ठिर आदि पांचों पाण्डवों ने भी इसी पर्वत से सिद्ध गति प्राप्त की थी।

शत्रुञ्जय पर्वत का जैन परम्परा में वही महत्व है जो वैदिक परम्परा में हरिद्वार, प्रयागराज अथवा किसी भी प्रमुख तीर्थ का है। इस पर्वत पर लगभग 4000 छोटे-बड़े जैन मंदिर हैं। जैन धर्म से सम्बन्धित इतने अधिक मन्दिर अन्यत्र नहीं हैं। अधिकांश मंदिर अत्यन्त भव्य और स्थापत्य तथा चित्रकला के अद्भुत उदाहरण हैं।

सोलंकी राजाओं के शासनकाल में शत्रुंजय नामक तीर्थस्थल का विशेष उत्कर्ष हुआ। सोलंकी नरेशों में प्रमुख महाराज कुमारपाल ने इस दिशा में विशेष श्रम किया। उसने प्राचीन मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया तथा कई नवीन जिनालयों का निर्माण भी कराया।

शत्रुघ्न

अयोध्या नरेश दशरथ का पुत्र और सुप्रभा का अंगज। (देखिए-राम-दशरथ)

शय्यंभव (आचार्य)

आचार्य शय्यंभव तीर्थंकर महावीर के धर्मसंघ के चतुर्थ पट्टधर आचार्य थे। वे आचार्य प्रभव के शिष्य थे और चतुर्दश पूर्वधर थे। आचार्य शय्यंभव का जन्म वी.नि. 26 में राजगृह नगरी के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनका गोत्र वत्स था। वे वेद और शास्त्रों के पारगामी विद्वान बने। यज्ञों में उनकी गहरी आस्था थी। निर्ग्रन्थ धर्म के वे प्रबल विरोधी थे। उस समय के वैदिक समाज में उनका बहुत ऊंचा स्थान था।

आचार्य प्रभव जीवन के सन्ध्या काल में थे। उत्तराधिकार प्रदान का एक बड़ा दायित्व उनके समक्ष था। ऐसे समर्थ हाथों में वे संघ का दायित्व देना चाहते थे जो संघोन्नति कर सके। उनके दृष्टिपथ पर

शय्यंभव का व्यक्तित्व स्थिर हो गया। पर उसके लिए आवश्यक था कि शय्यंभव को प्रतिबोध देकर दीक्षित किया जाए। प्रभव प्रतिबोध देने में समर्थ थे, परन्तु वह तभी संभव था जब शय्यंभव उनके पास आएं। यह दायित्व दो मुनियों ने अपने कन्धों पर लिया। मुनि युगल भिक्षा के लिए शय्यंभव की यज्ञवाट में गए। जैसा कि संभावित था—वहां मुनि युगल का घोर तिरस्कार हुआ। मुनि युगल शान्त स्वर में बोले—**"अहो कष्टमहो कष्टं तत्त्वं विज्ञायते नहि।"** अर्थात् महान खेद का विषय है कि तत्त्व को नहीं जाना जा रहा है।

मुनियों की तत्व सम्बन्धी बात ने शय्यंभव को शंकित बना दिया। उसे विश्वास था कि अपरिग्रही मुनि असत्य भाषण नहीं करते। अपनी शंका के साथ शय्यंभव अपने उपाध्याय के पास पहुंचे। उपाध्याय की गर्दन पर तलवार रखकर उन्होंने पूछा, तत्व का स्वरूप क्या है? अध्यापक कांप गया। उसने अपने पूर्व निर्णय को बदलते हुए कहा, अर्हत् धर्म ही यथार्थ तत्व है।

शय्यंभव यज्ञ को तिलांजलि देकर यथार्थ तत्व की खोज में निकले और आचार्य प्रभव से उनकी भेंट हुई। आचार्य प्रभव ने उनको यथार्थ तत्व का बोध दिया। शय्यंभव को प्रतिबोध मिल गया और वे अर्हत् धर्म में दीक्षित हो गए। आचार्य प्रभव को एक समर्थ उत्तराधिकारी मिल गया। उन्होंने शय्यंभव को चौदह पूर्वों का विशाल ज्ञान प्रदान किया और अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

मुनि बनने से पूर्व शय्यंभव विवाहित थे। जब वे मुनि बने तब उनकी पत्नी सगर्भा थी। उसने पुत्र को जन्म दिया, जिसका नाम मनक रखा गया। मनक आठ वर्ष का हुआ तो उसने अपनी मां से अपने पिता का परिचय पूछा। मां ने उसे बता दिया कि उसके पिता शय्यंभव उसके जन्म से पूर्व ही जैन श्रमण बन गए थे और वर्तमान में वे अर्हत् संघ के आचार्य हैं। मां की आज्ञा लेकर मनक पिता के दर्शनों के लिए चला। चम्पा नगरी में अचानक उसे शय्यंभवाचार्य के दर्शन हुए। बालक की जिज्ञासा से शय्यंभव जान गए कि वह उन्हीं का पुत्र है। उन्होंने स्वयं को शय्यंभव का अभिन्न मित्र बताकर मनक को अपने पास रख लिया। तभी सहसा आचार्य श्री की दृष्टि मनक की हस्त रेखाओं पर पड़ी। आचार्य श्री हस्तरेखा विज्ञान के ज्ञाता थे। उन्होंने जाना कि बालक का आयुष्य मात्र छह मास का शेष है। आचार्य श्री ने विशेष उद्बोधन-प्रतिबोधन से बालक को प्रतिबोध दिया और उसे दीक्षित किया। आचार्य श्री जानते थे कि मनक के पास इतना समय नहीं है कि उसे समस्त श्रुतज्ञान पढ़ाया जाए। उन्होंने पूर्वों में से दशवैकालिक सूत्र का निर्यूहण किया जिसमें संक्षेप में साधु जीवन की आचार संहिता का वर्णन है। मनक मुनि को उन्होंने यह सूत्र पढ़ाया और साध्वाचार में प्रवीण बना दिया। छह मास का विशुद्ध संयम पालकर मनक मुनि का स्वर्गवास हो गया।

कहते हैं कि उस समय शय्यंभवाचार्य के नेत्र पुत्रमोह में आर्द्र हो गए। एक श्रुतकेवली—चतुर्दश पूर्वधर की आंखों में आर्द्रता देख शिष्यमण्डल विशेष जिज्ञासाशील बन गया। उस समय आचार्य श्री ने स्पष्ट किया—मनक मेरा संसारपक्षीय पुत्र था। यह बात मैंने पहले इसलिए नहीं बताई कि आचार्य-पुत्र जानकर अन्य स्थविर उससे सेवा लेने में संकोच करते और वह सेवा-धर्म के लाभ से वंचित रह जाता। आचार्य श्री की दृष्टि-विशालता को देखकर सभी श्रमण आश्चर्य चकित रह गए।

आचार्य शय्यंभव अपने युग के एक महान आचार्य हुए। 28 वर्ष की अवस्था में वे प्रव्रजित हुए और 39 वर्ष की अवस्था में आचार्य पद पर आरूढ़ हुए। 23 वर्ष तक आचार्य पद पर रहकर उन्होंने जिनशासन की महती प्रभावना की। 62 वर्ष की अवस्था में तथा वी.नि. 98 में उनका स्वर्गवास हुआ।

—दशवै. हारि-वृत्ति / श्री नन्दी सूत्र

शान्तनु राजा

हस्तिनापुर का कुरुवंशी राजा। वह न्याय-नीति निष्णात, बलवान और अनेक कलाओं में प्रवीण था। आखेट-प्रियता उसका व्यसन था। आखेट-त्याग की शर्त पर ही गंगा ने उससे विवाह किया था। पर कालान्तर में जब राजा ने अपनी शर्त खण्डित कर दी तो गंगा उसका त्याग करके चली गई। बाद में शान्तनु को अपना पुत्र गांगेय कुमार प्राप्त हो गया। शान्तनु गांगेय के वीरता-विनयादि गुणों पर मुग्ध था और उसे हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर बैठाना चाहता था, पर एक घटना ने नियति की गति बदल दी। शान्तनु सत्यवती नामक धीवर कन्या—वस्तुतः जो एक राजसुता ही थी—के रूप-पाश में आबद्ध हो गया। राजा ने धीवर से उसकी कन्या की याचना की जिस पर धीवर ने यह शर्त रख दी कि यदि वे सत्यवती की संतान को ही कुरु सिंहासन पर उत्तराधिकार का वचन दें तो उनके साथ सत्यवती का विवाह किया जा सकता है।

धीवर की कठिन शर्त पर शान्तनु मौन हो गया, क्योंकि वह गांगेयकुमार का अधिकार किसी अन्य को नहीं दे सकता था। पर सत्यवती के आकर्षण को वह अपने हृदय से दूर नहीं कर सका और उसी कारण भीतर ही भीतर क्षीण होने लगा। पिता की चिन्ता के कारण को गांगेय ने खोजा और वह स्वयं धीवर के पास अपने पिता के लिए सत्यवती की याचना करने जा पहुंचा। धीवर द्वारा शर्त दोहराए जाने पर गांगेय ने सिंहासन पर न बैठने की प्रतिज्ञा कर ली। धीवर द्वारा शंका व्यक्त की गई कि वह न सही, पर उसकी संतान तो सिंहासन के लिए संघर्ष कर ही सकती है। इस पर गांगेय ने आजीवन ब्रह्मचर्य पालन की प्रतिज्ञा कर धीवर की शंका को निर्मूल कर दिया। इसी दृढ़ प्रतिज्ञा के कारण गांगेय जगत में 'भीष्म' नाम से विख्यात हुए।

शान्तनु का विवाह सत्यवती से हुआ जिससे उसे दो पुत्रों की प्राप्ति हुई। अतिशय भोगों में डूबे रहने के कारण शान्तनु का निधन हो गया।

—जैन महाभारत

शान्तिनाथ (तीर्थंकर)

प्रभु शांतिनाथ चौबीस-तीर्थंकर शृंखला के सोलहवें तीर्थंकर और द्वादश-चक्रवर्ती शृंखला के पंचम चक्रवर्ती थे। हस्तिनापुर नरेश महाराज विश्वसेन और उनकी रानी अचिरादेवी प्रभु के जनक और जननी थे। ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी के दिन शुभ मुहूर्त्त में प्रभु का जन्म हुआ। प्रभु के गर्भ में आने से पूर्व राज्य में मरी नामक रोग फैला हुआ था। अनेक प्रयासों से भी यह रोग शान्त नहीं हो रहा था। प्रभु के गर्भ में आते ही राज्य से यह रोग समूलतः समाप्त हो गया और सब ओर शान्ति ही शान्ति व्याप्त हो गई। इसी से प्रभु को "शान्तिनाथ" नाम दिया गया।

यौवनावस्था में शान्तिनाथ का अनेक राजकुमारियों से पाणिग्रहण हुआ। पच्चीस हजार वर्ष की अवस्था में वे राजपद पर प्रतिष्ठित हुए। शस्त्रशाला में चक्ररत्न प्रगट हुआ जो इस बात का संकेत था कि शान्तिनाथ दिग्विजय के लिए प्रस्थान करें। शान्तिनाथ दिग्विजय के लिए निकले। षटखण्ड के समस्त शासक उन के अधीन स्वेच्छया से ही हो गए। इस प्रकार प्रभु चक्रवर्ती पद पर अभिषिक्त हुए। पचास हजार वर्षों तक राज करने के पश्चात् वर्षीदान देकर एक हजार राजाओं के साथ प्रभु प्रव्रजित हुए और एक मास की साधना के अन्दर ही केवली बन तीर्थंकर बन गए। तीर्थ की स्थापना से लाखों-लाख भव्यजीव आत्मकल्याण के पथ के पथिक बने। एक लाख वर्ष का कुल आयुष्य भोग कर प्रभु निर्वाण को उपलब्ध हुए।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

शान्त्याचार्य (शान्ति आचार्य)

"वादि वेताल" उपनाम से जैन इतिहास में विख्यात शान्त्याचार्य पाटण के उपाश्रय में रहते थे। उनके गुरु का नाम विजयसिंह सूरि था।

गुजरात प्रदेश के अन्तर्गत उन्नतायु नामक ग्राम में शान्त्याचार्य का जन्म श्रेष्ठी कुल में हुआ। उनकी माता का नाम धनश्री और पिता का नाम धनदेव था। शान्त्याचार्य का जन्मना नाम भीम था। भीम का शारीरिक सौन्दर्य प्रभावशाली था। आचार्य विजयसिंह सूरि एक बार उन्नतायु ग्राम में पधारे। उनकी दृष्टि बालक भीम पर पड़ी। लक्षण विज्ञान के विज्ञाता आचार्य श्री ने बालक भीम में उत्कृष्ट लक्षण देखे। श्रेष्ठी धनदेव से उन्होंने भीम की याचना की। श्रेष्ठी ने अपना पुत्र आचार्य श्री को अर्पित कर दिया। आचार्य श्री के सान्निध्य में भीम ने अध्ययन किया और उत्कृष्ट विद्या के निधान बन गए। दीक्षा के बाद उनका नाम शान्ति रखा गया। बाद में वे आचार्य पदारूढ़ हुए। उनमें वाद कला का गुण विशेष रूप से विकासमान हुआ। उन्होंने अपने समय के कई विद्वानों को वाद के क्षेत्र में पराभूत किया। उससे पाटण नरेश भीम शान्त्याचार्य का भक्त बन गया। धारा नगरी के राजा भोज विद्वानों का विशेष सम्मान करते थे। उन्होंने शान्त्याचार्य को अपने दरबार में आमंत्रित किया। धारा के दरबार में शान्त्याचार्य ने कई दिग्गज विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। राजा भोज शान्त्याचार्य की वादकला से चमत्कृत बन गए। उन्होंने उनको 'वादि वेताल' के पद से सम्मानित किया।

शान्त्याचार्य का एक टीका ग्रन्थ उपलब्ध है—पाइयटीका। यह एक उत्कृष्ट ग्रन्थ है।

वीर नि. की सोलहवीं शताब्दी में (1566) ज्येष्ठ शुक्ला नवमी के दिन 25 दिन के अनशन के साथ गिरनार पर्वत पर शान्त्याचार्य का स्वर्गवास हुआ। —प्रभावक चरित्र

शाम्ब कुमार

वासुदेव श्रीकृष्ण और जाम्बवती के पुत्र। शेष परिचय जालिकुमार के समान है।

—अन्तगडसूत्र वर्ग 4, अध्ययन 7

शाकटायन (आचार्य)

विक्रम की नवमी सदी के यापनीय परम्परा के एक विद्वान जैन आचार्य। उनकी गणना आठ वैयाकरणों में पांचवें स्थान पर की गई है। उन द्वारा रचित 'शब्दानुशासन' नामक व्याकरण ग्रन्थ कई शताब्दियों तक भारत का सर्वाधिक लोकप्रिय व्याकरण ग्रन्थ रहा।

शब्दानुशासन के अतिरिक्त आचार्य शाकटायन के 3 अन्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं —(1) शब्दानुशासन की स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति, (2) स्त्रीमुक्ति प्रकरण, (3) केवली भुक्ति प्रकरण।

आचार्य शाकटायन अपरनाम 'पाल्यकीर्ति' से भी विश्रुत हैं। 'सकल ज्ञान साम्राज्य सम्राट्' के रूप में शाकटायन की सकल भारतवर्ष में प्रसिद्धि हुई थी।

शाल

पृष्ठचंपा नगरी का राजा। जब भगवान महावीर पृष्ठचम्पा नगरी में पधारे तो शाल ने भगवान का प्रवचन सुना और अपने भानजे गागली को राजपद सौंपकर वह अपने अनुज महाशाल के साथ प्रव्रजित हो गया। दोनों भाई विशुद्ध संयम की आराधना करके मोक्ष में गए।

शालार्य व्यंतरी

बहुशालग्राम के बाह्य भाग में स्थित शालवन नामक उद्यान में रहने वाली एक व्यंतरी। साधना काल के अष्टम वर्ष में जब भगवान महावीर उक्त उद्यान में समाधिस्थ थे तो शालार्य ने महावीर की समाधि खण्डित करने के लिए उन्हें अनेक उपसर्ग दिए। पर महावीर की समाधि को वह खण्डित न कर सकी। आखिर व्यंतरी हार गई और महावीर के चरणों पर अवनत बन गई।

शालिभद्र

राजगृह नगर के रहने वाले धन-कुबेर सेठ गोभद्र तथा उनकी अर्द्धांगिनी के अंगजात, सुन्दर, सुकोमल और शालीन युवक। उनके महलों में समृद्धि का दरिया बहता था। यह समृद्धि तब और अधिक विस्तृत बन गई जब सेठ गोभद्र मुनि बनकर, संयम पालकर देवलोक वासी हुए। क्योंकि देव बने गोभद्र प्रतिदिन अपने पुत्र और बत्तीस पुत्रवधुओं के लिए दिव्य आभूषण, वस्त्र और भोजन भेजते थे। शालिभद्र की बत्तीस पत्नियां प्रतिदिन नए वस्त्र और आभूषण धारण किया करती थीं।

एक बार नेपाल के कुछ व्यापारी सोलह रत्नकम्बल लेकर राजगृह आए। वे इन सभी कम्बलों को एक ही साथ बेचना चाहते थे। इसी आशा के साथ वे महाराज श्रेणिक के पास गए। श्रेणिक और चेलना को कंबल बहुत पसन्द थे पर अपनी वैयक्तिक सुख-सुविधा के लिए महाराज श्रेणिक राजकोष पर अनावश्यक बोझ नहीं डालना चाहते थे। व्यापारियों को निराश लौटते भद्रा की दासी ने देखा और उन्हें अपने साथ अपनी स्वामिनी के पास ले गई। भद्रा बोली, सोलह ही कंबल हैं, मेरे तो बत्तीस पुत्रवधुएं हैं। बत्तीस कंबल होते तो ठीक रहता। फिर भी उसने सोलहों कम्बल खरीद लिए। प्रत्येक के दो-दो भाग करके अपनी सभी पुत्र- वधुओं को एक-एक टुकड़ा दे दिया। पुत्रवधुओं ने उन रत्नकम्बलों को एक दिन ओढ़ा और दूसरे दिन महल के पिछवाड़े में फैंक दिया। महतरानी ने उन्हें समेट लिया और एक रत्नकम्बल को ओढ़े हुए वह राजमहल में सफाई के लिए गई तो उसे रत्नकम्बल ओढ़े देख महारानी चेलना दंग रह गई। उसने पूरी बात की जानकारी प्राप्त की और उससे महाराज श्रेणिक को अवगत कराया। शालिभद्र की समृद्धि की स्वर्णिम गाथा सुनकर श्रेणिक भी स्तंभित रह गए। भद्रा सेठानी से आमंत्रित बनकर वे शालिभद्र के सप्तमंजिले महल में पहुंचे। भद्रा ने उन्हें चतुर्थ मंजिल पर बैठाया और पुत्र को आवाज दी कि नीचे आओ, आज हमारे स्वामी हमारे घर आए हैं।

'स्वामी' शब्द सुनकर शालिभद्र स्तब्ध रह गए। उन्हें स्वप्न में भी यह कल्पना नहीं थी कि उनके ऊपर भी कोई स्वामी है। मात्राज्ञा का पालन करके वे नीचे आए। श्रेणिक ने उन्हें गोद में बैठा लिया। पर वह गोद उन्हें तप्त भट्ठी प्रतीत हो रही थी। प्रथम बार उन्हें ज्ञात हुआ था कि वे स्वतंत्र नहीं हैं। पुत्र की मनोदशा और मनोव्यथा माता से छिपी न रह सकी। उसने महाराज श्रेणिक को विदाई दी और पुत्र को सहज बनाने के लिए मधुर शब्दों में समझाने लगी। पर शालिभद्र तो समझ चुके थे। गहन चिन्तन ने उनमें जातिस्मृति का द्वार अनावृत कर दिया था। उन्होंने अपना पूर्वभव जाना कि वे धन्या नामक एक ग्वालिन के पुत्र थे और उनका नाम संगम था। धन्या इसी बस्ती में रहकर अपना और अपने पुत्र का उदर पोषण करती थी। एक बार त्यौहार के प्रसंग पर मेरी जिद्द पर साधनहीन धन्या ने यहां-वहां से दूध, शक्कर और चावल जुटाकर मेरे लिए खीर बनाई थी। समृद्ध बालकों को एक तपस्वी मुनि को अपने घर चलने का आग्रह करते देख मैंने भी वैसा ही आग्रह मुनि से किया था और उन मुनि ने समस्त समृद्ध बालकों के आग्रह ठुकरा कर मेरा आग्रह स्वीकार किया था। उस क्षण की मेरी प्रसन्नता अपार थी और मैंने उसी आत्मविभोर मनःस्थिति से मुनि का

पात्र खीर से भर दिया था। मुनि का पात्र ही नहीं भरा था मेरा पुण्य का पात्र भी भर चुका था। माता ने शेष खीर मेरे पात्र में उंडेली तो मैंने भरपेट आहार किया। गरिष्ठ आहार निमित्त बना और देह त्याग कर मैं पुण्य को भोगने यहां आकर जन्मा हूं। एक मुनि को दिया गया अल्प दान इतना चामत्कारकि हो सकता है तो स्वयं मुनि हो जाना कितना चामत्कारिक होगा?

शालिभद्र ने सुदृढ़ संकल्प कर लिया मुनि बनने का। वे प्रतिदिन एक-एक पत्नी को समझाने लगे। उधर शालिभद्र की सहजाता सुभद्रा धन्य सेठ (धन जी/धन्ना जी) के साथ विवाहित थी। सुभद्रा के उपालंभ पर धन्य सेठ शालिभद्र के पास पहुंचे और उन्होंने उसे समझाया कि बत्तीस दिन का समय पत्नियों को समझाने में व्यर्थ करना नासमझी है। सिंह पुरुष तो संकल्प को तत्क्षण पूर्ण करते हैं।

शालिभद्र और धन्य जी भगवान महावीर के पास जाकर दीक्षित हो गए। उग्र तप से धन्य जी ने निर्वाण प्राप्त किया और शालिभद्र जी ने सर्वार्थसिद्ध विमान। महाविदेह में जन्म लेकर शालिभद्र भी मोक्ष प्राप्त करेंगे। (देखिए धन्य जी) —स्थानांग वृत्ति

शालिशुक मौर्य

एक मौर्यवंशी राजा। वह अशोक महान का प्रपौत्र और सम्राट् सम्प्रति का पुत्र था। ई.पू. 190 के आस-पास वह सिंहासनासीन हुआ।

शालिशुक अपने पिता और पितामह की तरह ही जैन धर्मानुरागी था। अपने पिता सम्प्रति की भांति ही उसने भी जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के अनेक उपक्रम किए और जैनधर्म को राज्याश्रय प्रदान किया।

शालिशुक का शासन काल अल्प वर्षों का ही रहा। अपने अल्प शासनकाल में उसने जिन-प्रभावना के अच्छे प्रयास किए।

शिखावती

कुंडिनपुर के महाराज भीम की रानी और रुक्मिणी की माता।

(क) शिव

अश्वपुर नगर के राजा और पुरुषसिंह वासुदेव के जनक। (देखिए-पुरुषसिंह वासुदेव)

(ख) शिव कुमार

महाविदेह की वीतशोका नगरी का राजकुमार। युवावस्था में उसका कई राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ। राजकुमार शिवकुमार सुखभोग पूर्वक जीवन यापन कर रहा था। एकदा उसकी नगरी में अवधिज्ञानी मुनि सागरदत्त पधारे। शिवकुमार मुनिदर्शन कर सागरदत्त मुनि के प्रति आत्यन्तिक रूप से आकर्षित हुआ। सागरदत्त मुनि के प्रति उसके हृदय में तीव्र अनुराग भाव उत्पन्न हुआ। उसने मुनि से अपने हृदय में उनके प्रति उभरे अज्ञात स्नेह का कारण पूछा। मुनि सागरदत्त ने फरमाया, पूर्वजन्म में तुम मेरे अनुज थे। तुम्हारा नाम भवदेव और मेरा नाम भवदत्त था। मैंने पहले प्रव्रज्या धारण की। बाद में मेरे प्रति स्नेह और आदर सूत्र में बंधकर तुमने भी दीक्षा धारण की। पूर्व जन्म का भ्रातृत्व वर्तमान के अनुराग का आधार है।

अपने पूर्व जन्म का विवरण सुनकर शिवकुमार विरक्त हो गया। उसने राजमहल लौटकर माता-पिता को अपने पूर्वभव का इतिवृत्त सुनाया और प्रव्रज्या धारण करने की अनुज्ञा मांगी। परन्तु उसके पुनः-पुनः के आग्रह पर भी पुत्र-मोह-मुग्ध माता-पिता ने उसे प्रव्रज्या की अनुमति नहीं दी। इस पर भी शिवकुमार का

संयम लेने का उत्साह क्षीण नहीं हुआ। वह राजभवन के एक कोने को ही अपनी साधनास्थली बनाकर भाव संयम का पालन करने लगा। वहीं पर रहकर उसने कठोर आचार का पालन किया। वह बेले-बेले का तप करता और पारणक आयंबिल से करता। दृढ़धर्म नामक श्रावक उसके पारणक के लिए गोचरी द्वारा विगय रहित आहार का अन्वेषण करता था। इस प्रकार शिवकुमार ने द्वादशवर्ष तक राजमहलं के एक कोने में उत्कृष्ट भाव संयम और तपाचार की आराधना कर आयु पूर्ण की।

आयुष्य पूर्ण कर शिवकुमार पांचवें देवलोक में महर्द्धिक और महान तेजस्वी विद्युन्माली नामक देव बना। देवायु पूर्ण कर वह राजगृह नगर में ऋषभदत्त श्रेष्ठी के पुत्र रूप में जन्मा जहां उसका नाम जंबूकुमार रखा गया। यही जंबूकुमार वर्तमान अवसर्पिणी काल के अंतिम केवली बने। (देखिए-जंबूकुमार)

(ग) शिव कुमार

रत्नपुर निवासी सेठ यशोभद्र और सेठानी शिवा का इकलौता पुत्र। यशोभद्र और शिवा अनन्य श्रमणोपासक और जिन धर्मानुरागी थे। नवकार मंत्र पर उनकी अविचल श्रद्धा थी। धन-धान्य भी उनके पास प्रभूत था। अधेड़ावस्था में उन्हें जिस पुत्र की प्राप्ति हुई उसी का नाम शिवकुमार था।

शिवकुमार का पालन-पोषण अत्यधिक लाड़-प्यार में हुआ। फलस्वरूप युवावस्था तक पहुंचते-पहुंचते शिवकुमार के जीवन में सातों कुव्यसन प्रवेश कर गए। माता-पिता ने पुत्र को सभी विधियों से समझाया पर सब व्यर्थ सिद्ध हुआ। इससे सेठ बहुत उदास रहने लगा और बीमार हो गया। अपना अन्तिम समय जानकर सेठ ने पुत्र शिवकुमार को अपने पास बुलाया और कहा, पुत्र! तुमने मेरी शिक्षाओं को सदैव उपहास में उड़ाया है। मुझे आशा है कि मेरी अन्तिम सीख को तुम सदैव स्मरण रखोगे।

पिता की स्थिति से शिवकुमार का हृदय पिघल गया। उसने कहा, पिता जी! आप की अन्तिम सीख क्या है, उसे आप कहें, उसे मैं सदैव स्मरण रखूंगा।

पिता ने कहा, पुत्र! समस्त धर्मों, धर्मग्रन्थों और मंत्रों का सार नवकार मंत्र में रहा हुआ है। उसे तुम सदैव स्मरण रखना। इस मंत्र के स्मरण से तुम बड़े से बड़े कष्टों से भी मुक्ति पा सकते हो।

अपनी बात पूर्ण करके यशोभद्र ने शिवकुमार को नवकार मंत्र स्मरण करवा दिया।

कुछ ही समय बाद यशोभद्र का निधन हो गया।

पति विरह को शिवा भी सह नहीं सकी और वह भी चल बसी। माता-पिता के निधन के बाद शिवकुमार पूर्ण रूप से स्वच्छन्द हो गया। अपने दुर्व्यसनी मित्रों के साथ मिलकर उसने अपने पिता के समस्त धन को दुर्व्यसनों में उड़ा दिया। शीघ्र ही वह कंगाल हो गया। अन्न के कण-कण के लिए वह मोहताज हो गया। उसके दुर्व्यसनी मित्र भी उसका साथ छोड़ गए।

धन की चाह में शिवकुमार इधर-उधर भटकने लगा। एक दिन जंगल में उसे एक त्रिदण्डी साधु मिला। शिवकुमार ने साधु के समक्ष अपनी दुरावस्था का कथन किया और प्रार्थना की कि उसे कोई ऐसा उपाय बताएं जिससे उसे पर्याप्त धन मिल सके।

त्रिदण्डी साधु मात्रवेश से ही साधु था। वस्तुतः वह एक पापात्मा परुष था और किसी ऐसे व्यक्ति की तलाश में था जो सर्वांग पूर्ण और साहसी हो। शिवकुमार में उसे अपना इच्छित व्यक्ति दिखाई पड़ गया। उसने शिवकुमार को मधुर वाग्जाल में उलझाया और कहा, यदि वह उसके कथनानुसार कार्य करेगा तो उसे अकूत और शाश्वत धन की प्राप्ति होगी।

शिवकुमार अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने त्रिदण्डी साधु के प्रत्येक आदेश को पूर्ण करने का वचन दिया।

त्रिदण्डी साधु ने शिवकुमार से कहा कि वह किसी अखण्ड शव की तलाश करके उसके पास लाए, उस शव को मन्त्र-साधना द्वारा स्वर्ण पुरुष में रूपायित किया जाएगा।

इधर-उधर भटक कर शिवकुमार ने एक अखण्ड शव खोज निकाला और उसे त्रिदण्डी साधु के पास पहुंचा दिया। त्रिदण्डी साधु ने शिवकुमार को आदेश दिया कि वह उस शव को श्मशान में ले चले और मन्त्र-साधना में उसका सहयोगी बने।

श्मशान में शव को रखा गया। चतुर्दशी की अन्धेरी रात थी। त्रिदण्डी साधु ने शव के हाथ में तलवार दे दी। शव के पैरों की ओर शिवकुमार को बैठने का आदेश देकर त्रिदण्डी साधु मन्त्रोच्चार करने लगा।

श्मशान का वातावरण अत्यन्त भयावह था। तेज हवाएं चल रही थीं। आसमान में बिजलियां कड़क रही थीं। बाह्य वातावरण और अंतःप्रेरणा से ही शिवकुमार को अनुभव हुआ कि त्रिदण्डी साधु उसके विरुद्ध षडयन्त्र रच रहा है। शनैः-शनैः उसका अनुमान विश्वास में बदलने लगा। वह मन ही मन भयभीत हो उठा। उसका भय बढ़ता गया। उसे साक्षात् मृत्यु दिखाई देने लगी। उस क्षण उसे उसके पिता द्वारा दिया गया महामंत्र स्मरण हो आया। वह एकाग्रचित्त से महामंत्र नवकार का स्मरण करने लगा। इससे त्रिदण्डी की मंत्र साधना में व्यवधान उत्पन्न हो गया। त्रिदण्डी ने दोगुने-चौगुने वेग से मन्त्रोच्चार किया। शव में वेताल प्रविष्ट हुआ। महामंत्र के प्रभाव से वह शिवकुमार का कुछ भी अहित नहीं कर सका। अन्य लक्ष्य समक्ष न पाकर उसने त्रिदण्डी साधु को ही उठाकर हवन की ज्वालाओं में फैंक दिया। इससे त्रिदण्डी का अन्त हो गया और उसका शरीर स्वर्ण-पुरुष में रूपायित हो गया।

बाद में वेताल ने प्रगट होकर कहा, युवक! तुम महामंत्र के प्रभाव से जीवित हो, अन्यथा इस स्वर्ण-पुरुष के रूप में तुम्हारा शरीर होता। इस स्वर्ण पुरुष के अधिकारी अब तुम हो। इसे ले जाओ और इच्छित वैभव के साथ जीवन यापन करो।

शिवकुमार महामंत्र के प्रभाव से आत्यन्तिक रूप से प्रभावित हुआ। महामंत्र नवकार पर उसकी अविचल श्रद्धा हो गई। उसने दुर्व्यसनों से मुक्त जीवन जीने का संकल्प किया और प्राप्त अकूत वैभव को स्व-पर कल्याण में समर्पित किया।

शिवभद्र

हस्तिनापुर नरेश शिव का पुत्र। (देखिए-शिव राजर्षि)

शिव राजर्षि

महावीर कालीन हस्तिनापुर का राजा जिसने अपने पुत्र शिवभद्र को राजपाट सौंपकर तापसी दीक्षा स्वीकार की थी। उसने दीक्षित होते ही दो-दो दिन का उत्कट तप प्रारंभ किया और उत्कृष्ट क्रिया का पालन किया। परन्तु उसका यह तप और क्रिया सम्यक्त्व से शून्य थी। फिर भी तप का अपना एक विशिष्ट प्रभाव होता ही है जिसके फलस्वरूप शिवराजर्षि को विभंगज्ञान की प्राप्ति हो गई। उसे सात समुद्र और सात द्वीप दिखाई देने लगे। अपने उस ज्ञान के आधार पर उसने न केवल स्वयं को सर्वज्ञ घोषित कर दिया अपितु इस सिद्धान्त की स्थापना भी पूरे जोर-शोर से कर दी कि संसार में सात ही द्वीप और सात ही समुद्र हैं।

भगवान महावीर हस्तिनापुर पधारे। भगवान के प्रमुख शिष्य गौतम स्वामी भिक्षा के लिए नगर में गए तो उन्होंने शिवराजर्षि की सर्वज्ञता और उनके सिद्धान्त की चर्चा सुनी। लौटकर उक्त चर्चा की बात उन्होंने

भगवान महावीर से कही। भगवान ने कहा, द्वीप और समुद्र सात ही नहीं हैं, बल्कि असंख्यात हैं। शिवराज ने अपने अपूर्ण ज्ञान में सात द्वीप-समुद्रों ही को देखा है, इसीलिए वह ऐसी बात कहते हैं।

भगवान की इस बात को अनेक लोगों ने सुना। कान दर कान यह चर्चा शिव-राजर्षि तक भी पहुंची। वह स्वयं चलकर भगवान महावीर के पास आया। उसने प्रभु से संवाद किया जिससे उसका विभंगज्ञान अवधिज्ञान में रूपायित हो गया। इतना ही नहीं उसने भगवान का शिष्यत्व ग्रहण कर लिया और निरतिचार संयम का पालन कर मोक्ष में गया। —भगवती सूत्र 11/9

शिवशर्म सूरि (आचार्य)

एक विद्वान जैन आचार्य। 'कम्मपयडि' और 'कर्मग्रन्थ' ये दो उन द्वारा रचे गए उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों की रचना पूर्वों के ज्ञान के आधार पर की गई। बाद के कई विद्वान मुनियों-आचार्यों ने इन ग्रन्थों पर भाष्य, चूर्णि और टीकाग्रन्थों की भी रचना की।

आचार्य शिवशर्म सूरि संभवतः वि.सं. तृतीय शताब्दी के आचार्य थे।

(क) शिवा

सोलह सतियों में परिगणित महासती शिवा गणाध्यक्ष महाराज चेटक की कन्या और उज्जयिनीपति महाराज चण्डप्रद्योत की रानी थी। वह अनिंद्य सुन्दरी तथा परमपतिव्रता सन्नारी थी। चण्डप्रद्योत का विश्वस्त प्रधानमंत्री किसी समय शिवा के रूप पर आसक्त बन बैठा। रनिवास में उसका अव्याहत प्रवेश तो था ही। सो एक दिन उसने अपने कुत्सित मनोभाव शिवा के समक्ष प्रगट कर दिए। 'प्राण जाएं पर प्रण न जाए' आदर्श की उद्‌गायिका शिवा सिंहनी बनकर उस पर दहाड़ उठी। उसे वह सीख दी कि उसे प्राणों के लाले पड़ गए। वह घर जाकर भयकातर हो रुग्ण हो गया। उसके समक्ष मृत्यु ताण्डव कर रही थी। महाराज को सूचना मिली तो वे अपनी रानी शिवा के साथ भूदेव की कुशलक्षेम जानने के लिए उसके घर पहुंचे। भूदेव अपनी भूल पहचान चुका था। वह शिवा के कदमों पर नतमस्तक हो गया। हृदय से उभरे पश्चात्ताप से रानी आर्द्र बन गई। उसने उसे मौन क्षमा दे दी जिससे भूदेव स्वस्थ बन गया।

किसी समय उज्जयिनी उग्र अग्नि-ज्वालाओं से घिर गई। अग्नि को बुझाने के सर्व यत्न निष्फल हो गए। उस क्षण शिवा ने अपने प्रासाद शिखर पर चढ़कर चहुं ओर जल छिटकते हुए कहा कि यदि उसने पूर्ण पातिव्रत्य का पालन किया है तो अग्नि शान्त हो जाए। देखते ही देखते अग्नि शान्त हो गई।

कालान्तर में उसने संयम धारण कर सिद्ध गति को प्राप्त किया। —आवश्यक निर्युक्ति 1284

(ख) शिवा (आर्या)

शिवा आर्या का समग्र परिचय काली आर्या के समान है। विशेषता इतनी है कि शिवा आर्या का जन्म श्रावस्ती नगरी में हुआ था और कालधर्म को प्राप्त कर वह सौधर्मेन्द्र की अग्रमहिषी के रूप में जन्मी थी। (देखिए-काली आर्या) —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 9, अ. 2

(ग) शिवा देवी

बाईसवें तीर्थंकर भगवान श्री अरिष्टनेमि की माता। सोरियपुर नृप महाराज समुद्रविजय की पटरानी।

शिवानन्दा

आनन्द श्रावक की अर्द्धांगिनी और एक बारहव्रती श्राविका।

शिशुपाल

महाभारत कालीन चेदी देश का राजा। शिशुपाल श्री कृष्ण को अपना जन्मजात शत्रु मानता था। कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने शिशुपाल के सौ अपराध क्षमा करने का उसकी मां को वचन दिया था। एक सौ एकवें अपराध पर श्रीकृष्ण ने शिशुपाल का वध कर दिया।

जैन पुराणों के अनुसार जरासन्ध-कृष्ण युद्ध में शिशुपाल ने जरासन्ध के पक्ष से श्रीकृष्ण के विरुद्ध युद्ध लड़ा। उसी युद्ध में उसकी मृत्यु हुई। —जैन महाभारत

शीतलनाथ (तीर्थंकर)

भगवान शीतलनाथ भद्दिलपुर नगर के राजा दृढ़रथ और उनकी रानी नन्दा देवी के आत्मज थे। प्राणत स्वर्ग से च्यव कर भगवान जब मातृगर्भ में आए तो चहुं ओर सुख की शीतलता छा गई। साथ ही महाराज के शरीर का ताप जो लम्बे समय से बना हुआ था और बहुविध उपचारों से भी शान्त नहीं हुआ था रानी के कर स्पर्श से ही शान्त-शीतल हो गया। सभी ने इसे गर्भस्थ शिशु के पुण्य प्रभाव का प्रतिफल माना और शिशु के जन्म पर उसका नाम शीतलनाथ रखा।

शीतलनाथ युवा हुए। अनेक राजकन्याओं से उनका पाणिग्रहण कराया गया। पिता के बाद शीतलनाथ राजसिंहासन पर बैठे और सुदीर्घकाल तक उन्होंने राज्य किया। बाद में दीक्षा ली और तीन माह के संयम के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मतीर्थ की स्थापना की और तीर्थंकर पद प्राप्त किया। भगवान के गणों का संचालन 81 गणधर करते थे। लम्बे समय तक भव्य प्राणियों को धर्म का अमृतपान कराके भगवान वैशाख वदी 2 को सम्मेद शिखर से सिद्ध हुए।

आप 24 तीर्थंकरों में दसवें तीर्थंकर थे। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष पर्व 3/8

शीलगणसूरि (आचार्य)

विक्रम सं. की 12-वीं 13-वीं सदी के एक महान जैन आचार्य । आचार्य शीलगणसूरि का नाम क्रियोद्धारक आचार्यों में सम्मिलित है। उन्होंने आगमानुसार चारित्र धर्म का पालन और प्रचार किया जिसके कारण उनका गच्छ आगमिक गच्छ के नाम से जाना गया। शीलगणसूरि के जीवन का संक्षिप्त परिचय निम्नोक्त है—

कन्नौज राज्य के भट्टानिक नामक राजा का एक पुत्र था जिसका नाम कुमार था। एकदा कुमार शिकार के लिए वन में गया और उसने एक सगर्भा हिरणी पर बाण छोड़ दिया। हिरणी का गर्भ फट गया और शावक धरा पर आ गिरा। हिरणी और शावक ने तड़पते हुए कुछ ही देर में प्राण त्याग दिए। इस घटना से राजकुमार का हृदय भी तड़प उठा। पश्चात्ताप की अग्नि में जलता हुआ वह राजमहल लौटा और घटित घटना अपने माता-पिता को सुनाई। राजा ने पुत्र को अनेकविध धैर्य बंधाया और उसके संतोष के लिए सोने की हिरणी और शावक निर्मित कराकर ब्राह्मणों को दान में दिए। परन्तु इससे भी राजकुमार के पश्चात्ताप से दग्ध हृदय को शान्ति नहीं मिली। एक रात्रि में राजकुमार राजमहल का त्याग करके निकल गया। अनेक दिनों तक भटकने के पश्चात् उसे सिद्धसिंह नामक जैनाचार्य के उपदेश से शान्ति मिली और वह दीक्षित हो गया। जिज्ञासु कुमार शीघ्र ही आगमों का ज्ञाता बन गया। परन्तु उसने अनुभव किया कि उसके गच्छ के मुनियों का आचार आगम में वर्णित साध्वाचार से सर्वथा भिन्न है। उसने अपनी जिज्ञासा अपने गुरु के समक्ष रखी। गुरु ने कहा, शिष्य! हम में वह सामर्थ्य नहीं है कि हम आगमोक्त श्रमणाचार का आराधन कर सकें।

कुमार मुनि ने पूछा, गुरुदेव! आगम विरुद्ध आचार का पालन करने वाले श्रमण आराधक हैं या विराधक? गुरु ने उत्तर दिया, वत्स! हैं तो वे विराधक ही। कुमार मुनि ने कहा, गुरुदेव! मैं विराधक नहीं होना चाहता हूं। मुझे आशीर्वाद दीजिए, जिससे मैं आगमानुसार श्रमणाचार का पालन करके आराधक बन सकूं।

गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर कुमार मुनि ने एकाकी विहार कर दिया और वे आगमोक्त श्रमणाचार की आराधना और प्रचार में तल्लीन हो गए। कालान्तर में कुमार मुनि का आचार्य यशोदेव से मिलन हुआ जो क्रियोद्धार के उद्देश्य से अपने गच्छ से स्वतंत्र विचर रहे थे। इन दोनों मुनियों का एक ही लक्ष्य था, अतः दोनों का संगठन हो गया। कुमार मुनि दीक्षाज्येष्ठ थे इसलिए आचार्य पद पर उनकी नियुक्ति हुई और उन्हें नवीन नाम—शीलगणसूरि प्रदान किया गया।

एक बार आचार्य शीलगणसूरि अणहिल्लपुर पाटण पधारे। अरिष्टनेमि जिनालय में वे वन्दन करने गए। जिनालय में पहले से ही आचार्य हेमचन्द्र और महाराज कुमारपाल उपस्थित थे। शीलगणसूरि को तीन स्तुति से देव वन्दन करते देख सम्राट् कुमारपाल ने हेमचन्द्राचार्य से पूछा, भगवन्! यह किस प्रकार की देव वन्दना है? क्या यह विधिपूर्वक है?

आचार्य हेमचन्द्र ने फरमाया, राजन्! यह आगमिक विधि है, अर्थात् यह विधि आगमानुसार है।

आचार्य हेमचन्द्र के उक्त शब्द—'आगमिक' से ही शीलगणसूरि का गच्छ 'आगमिक गच्छ' नाम से जगत् में विख्यात हुआ।

शीलपुंज

एक श्रेष्ठिपुत्र। सेवानिष्ठ और कोमलहृदय युवक। भवान्तर में शीलपुंज भगवान ऋषभदेव की पुत्री सुंदरी के रूप में जन्मा।

(क) शीलवती

नन्दपुर नगर के श्रीमन्त श्रेष्ठी रत्नाकर की पुत्रवधू और अजितसेन की पत्नी। वह एक पतिव्रता, बुद्धिमती और अपने नाम के अनुरूप शीलवान स्त्री थी। उसकी अनेक विशेषताओं में से एक विशेषता यह थी कि वह पशु-पक्षियों की बोली भी समझती थी। एक बार जब वह रात्रि में सो रही थी तो एक शृगाल बोला। शृगाल के कहे को समझकर शीलवती उठी, कुछ खाद्य-पदार्थ अपने साथ लेकर वह जंगल की ओर चल दी। उसने शृगाल को खाद्य पदार्थ दिए और नदी किनारे एक वृक्ष से अटके शव की जंघा से पांच अमूल्य लाल प्राप्त कर वह घर लौट आई। पति को निद्राधीन देखकर वह भी सो गई। पर पति की वह निद्रा कृत्रिम थी। उसने शीलवती को जाते और आते देख लिया था। वह घोर अविश्वास से भर गया। उसे निश्चय हो गया कि उसकी पत्नी दुराचारिणी है। उसने उसे त्यागने का निश्चय कर लिया।

प्रभात होते ही अजितसेन ने पिता रत्नाकर को रात की घटना कही और अपना निर्णय सुना दिया कि वह शीलवती के साथ एक क्षण भी नहीं रह सकता है। रत्नाकर को अपनी पुत्रवधू के चरित्र पर संदेह तो नहीं था पर पुत्र के कहे को भी वह नकार नहीं सकता था। आखिर उसने एक कल्पित संवाद कहकर शीलवती को उसके पीहर चलने को कहा। शीलवती ने बात के रहस्य को समझकर भी अनजान बनी रहने का अभिनय किया। रत्नाकर शीलवती को रथ में बैठाकर उसके पीहर के लिए चल दिया। मार्ग पर मूंग के हरे-भरे खेत को देखकर रत्नाकर ने किसान के भाग्य को सराहा। इस पर शीलवती बोली, इस खेत का स्वामी किसान तो भूखों मरेगा। पुत्रवधू द्वारा अपनी बात का खण्डन देखकर सेठ को बहुत बुरा लगा। पर वह कुछ बोला

नहीं। कुछ आगे बढ़ने पर एक घायल योद्धा को देखकर रत्नाकर ने उसकी वीरता की प्रशंसा की तो शीलवती ने उसे कायर कहकर श्वसुर की बात को उलट दिया। आगे चलने पर एक मंदिर में रत्नाकर ने रात्रि-विश्राम की बात कही तो शीलवती ने मंदिर को नरक कहकर आगे किसी गांव में रुकने के लिए कहा। आगे एक गांव आया। रत्नाकर ने वहां ठहरने का निश्चय किया, पर शीलवती ने उस गांव को श्मशान कहकर आगे किसी गांव में ठहरने की प्रार्थना की। फिर से एक गांव आया। गांव के बाहर वृक्ष के नीचे रत्नाकर ने रथ रोक दिया। वृक्ष के नीचे रत्नाकर ने बिस्तर लगाया और लेट गया। शीलवती रथ में ही विश्राम करने लगी। इतनी ही देर में वृक्ष पर बैठा हुआ कौवा कांव-कांव करने लगा। कौवे की कांव-कांव का अर्थ समझकर शीलवती बोली, काकराज ! शृगाल की बात सुनी तो आज मुझे देश-निर्वासन मिल रहा है, तुम्हारी बात मानूंगी तो कौन जाने मेरी क्या गति होगी ?

पुत्रवधू को अकेले बोलते देखकर सेठ असमंजस में पड़ गया। उसे लगा कि उसकी पुत्रवधू न केवल दुःशीला है बल्कि हठी, अभिमानिनी और पागल भी है। फिर भी उसने अपने भावों को दबाया और शीलवती से असंगत वार्ता का कारण पूछा। पूछने पर शीलवती ने कहा कि कौवा वृक्ष की जड़ में चार स्वर्णघट होने का संकेत दे रहा है और भोजन की याचना कर रहा है। सेठ गंभीर हो गया। उसने कौवे को रोटी का टुकड़ा दिया और वृक्ष की जड़ के निकट गहरा गड्ढा खोदा तो उसे चार स्वर्णघट प्राप्त हो गए। इससे सेठ के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। तब उसने शीलवती से पूरी बात कही और बातों के रहस्य जाने। शीलवती ने एक-एक बात का रहस्य अनावृत किया। उसने कहा, शृगाल की बात सुनकर मैंने मुर्दे की जंघा से लाल प्राप्त किए थे। पर मुझे कलंकिनी मानकर आप लोगों ने मेरे परित्याग का निश्चय कर लिया। मार्ग में जिस खेत के स्वामी के भाग्य को आप सराह रहे थे, वस्तुतः उस खेत को उसका स्वामी किसी सेठ को गिरवी रख चुका था जिसके नाम की पट्टी खेत की मेंढ़ पर लगी थी। इसीलिए मैंने कहा था कि किसान तो भूखों मरेगा। जिस योद्धा को आपने वीर कहा, उसे मैंने कायर इसलिए कहा क्योंकि उसकी पीठ पर वार के निशान थे, वीर की तो छाती पर वार के निशान होते हैं। जिस मंदिर में आपने ठहरने का निश्चय किया था उस मंदिर के आस-पास मदिरा की खाली बोतलें पड़ी थीं जो इस बात का प्रतीक थीं कि वह मद्यपों और जुआरियों का अड्डा है। इसीलिए उसे मैंने नरक कहा था। पिछले गांव में हमारा कोई परिचित नहीं था, और अपरिचित गांव श्मशान के समान ही होता है। इसलिए उसको मैंने श्मशान कहा था। इस गांव में मेरे मामा रहते हैं। इसलिए यहां ठहरने में हमें आपत्ति नहीं है।

शीलवती की बुद्धिमत्ता पूर्ण बातों को सुनकर रत्नाकर आश्चर्यचकित रह गया। उसने पुत्रवधू से क्षमा मांगी। दो दिन पुत्रवधू के मामा के घर ठहरकर रत्नाकर पुत्रवधू को साथ लेकर अपने घर आ गया और पुत्र को यथार्थ का ज्ञान कराया। अजितसेन ने भी पत्नी से क्षमा मांगी।

कालान्तर में नंदपुर के राजा ने भी शीलवती के शील की परीक्षा ली। शीलवती उस परीक्षा में सफल हुई। राजा को शीलवती के शील और बुद्धि के समक्ष नतमस्तक बनना पड़ा।

(ख) शीलवती

नन्दनपुर नरेश सिंहदत्त की पुत्री और रसालकुमार की परिणीता, एक शीलवती सन्नारी, जिसने उसी भव में मोक्ष प्राप्त किया। (देखिए-रसालकुमार)

(ग) शीलवती

अपने नाम के अनुरूप ही एक परम सुशीला-पतिव्रता सन्नारी। (देखिए-सुमनचन्द्र)

(घ) शीलवती

कांचनपुर नगर के रहने वाले क्षत्रिय किसान महिपाल की चार पुत्रवधुओं में से सबसे छोटी पुत्रवधू, एक आदर्श और सुशील सन्नारी। उसके पति का नाम शूरपाल था जो परम पुण्यात्मा, साहसी, स्वाभिमानी और गुणानुरागी युवक था। किसी समय शीलवती अपनी तीनों जेठानियों के साथ खेत पर जा रही थी। सहसा तेज बरसात आ गई। उन चारों नारियों ने एक विशाल वटवृक्ष के नीचे आश्रय लिया। पीछे-पीछे महिपाल भी खेत पर जा रहा था, उसने भी वटवृक्ष के नीचे ही आश्रय लिया। पुत्रवधुएं यह नहीं जान पाईं कि उनके अतिरिक्त अन्य कोई व्यक्ति भी वटवृक्ष के नीचे आश्रय लिए हुए है। एकान्त पाकर चारों पुत्र-वधुएं अपने-अपने मन की कामनाएं परस्पर कहने लगीं। प्रथम तीनों ने तो अपने लिए विभिन्न प्रकार के भोजनों की कामना व्यक्त की, पर शीलवती ने कहा, वह तो यह चाहती है कि वह उत्कृष्ट वस्त्राभूषण धारण करे और अपने सास-श्वसुर, ज्येष्ठ, ज्येष्ठानियों और पति को उनके मनोनुकूल भोजन परोसे तथा शेष बचे-खुचे को स्वयं खाकर उदरपोषण करे।

महिपाल ने चारों पुत्रवधुओं के काम्य सुने। उसने विचार किया, प्रथम तीन पुत्रवधुओं की कामना तो वह पूर्ण कर सकता है, पर शीलवती तो आकाश में उड़ना चाहती है, प्रतीत होता है कि उसे खेत के काम पसन्द नहीं हैं, उसे तो वस्त्राभूषणों की भूख है जो एक कृषक गृह में कभी पूर्ण नहीं हो सकती है। शीलवती के कथ्य का तथ्य समझे बिना ही महिपाल ने घर में विचित्र व्यवस्था की परम्परा प्रारंभ कर दी। उसने अपनी पत्नी को आदेश दिया कि वह तीनों बड़ी बहुओं को उनके इच्छित भोजन प्रदान किया करे और छोटी बहू को रूखा-सूखा और अवशिष्ट अन्न दिया करे। शीलवती अवशिष्ट अन्न में भी सन्तुष्ट थी पर वह समझ चुकी थी कि उसकी वार्ता को सुन लिया गया है और उसके कहे का विपरीत अर्थ निकाला गया है।

एक दिन बड़ी पुत्रवधू ने अपनी सास से पूछा, माता! हमें प्रतिदिन यह उत्कृष्ट भोजन क्यों दिया जाता है? सास ने कहा, तुम्हारी कामना तुम्हारे श्वसुर ने सुन ली थी और उन्हीं के आदेश पर ऐसी व्यवस्था की गई है। सास के उत्तर पर तीनों बड़ी बहुएं तो प्रसन्न हुईं पर शीलवती उदास हो गई, क्योंकि उसके कथन का विपरीत अर्थ निकाला गया था। रात्रि में उसकी उदासी शूरपाल से छिपी न रह सकी। शीलवती पति को कुछ भी बताना नहीं चाहती थी। वह नहीं चाहती थी कि उसके पति के हृदय में परिवार के प्रति परायापन पैदा हो। पर शूरपाल ने शीलवती को उसकी उदासी का कारण बताने के लिए बाध्य कर दिया। विवश शीलवती ने पूरा घटनाक्रम सुना दिया। अपने पिता द्वारा अपनी पत्नी के उच्च भावों की ऐसी अवमानना देखकर शूरपाल का हृदय व्यथित हो गया। उसने सोचा, वह अपने श्रम के बल पर अपनी पत्नी के काम्य को अवश्य पूर्ण करेगा। उसने शीलवती को अपना मन्तव्य समझाया और अर्थार्जन के लिए बिना किसी को सूचित किए प्रदेश के लिए रवाना हो गया।

शूरपाल कई दिनों की यात्रा के बाद महाशाल नामक नगर में पहुंचा। वह श्रान्त था। विश्राम के लिए एक उद्यान में एक आम्र वृक्ष के नीचे लेटकर सो गया। उस नगर का राजा निःसंतान अवस्था में ही कालधर्म को प्राप्त हो गया था। नए राजा के चयन के लिए तत्युगीन प्रथानुसार पांच दिव्य छोड़े गए थे। पंचदिव्यों ने शूरपाल का चयन किया। शूरपाल महाशाल नगर का राजा बन गया।

उधर शूरपाल के चले जाने के कारण उसके परिवार में भारी चिन्ता हुई। खोज-खबर की गई। पर उसे खोजा न जा सका। शूरपाल के चले जाने से उस घर से लक्ष्मी भी रूठ गई। कहते हैं कि पुण्यवान के साथ ही पुण्य भी विदा हो जाता है। अनावृष्टि के कारण खेती सूख गई। महिपाल का परिवार भूखों मरने लगा।

आखिर मजदूरी की तलाश में महिपाल ने अपने तीन पुत्रों, चार बहुओं और अपनी पत्नी के साथ उस नगर को छोड़ दिया। ये नौ प्राणी मजदूरी की खोज में दर-बदर भटकने लगे।

शूरपाल ने अपने परिवार की खोज कराई पर उसे निराशा ही हाथ लगी। निर्धनों की आजीविका के लिए शूरपाल ने एक जलाशय खुदवाना शुरू किया। अनेक मजदूरों को उससे आजीविका मिली। महिपाल का परिवार भी आजीविका की तलाश में वहां पहुंचा और मजदूरी करने लगा। एक दिन शूरपाल स्वयं खुदाई के कार्य का निरीक्षण करने वहां पर आया तो उसने अपने परिवार को पहचान लिया। अपने परिवार और पत्नी की ऐसी दुरावस्था देखकर वह खिन्न बन गया। उसने एक योजना बनाई और उसके अनुसार महिपाल की छोटी बहू शीलवती को यह दायित्व दिया गया कि वह प्रतिदिन राजमहल से छाछ ले जाएगी।

राजा की इस अकारण-कृपा पर महिपाल और उसका परिवार बहुत खुश हुआ। शीलवती छाछ लेने राजमहल जाने लगी। दृष्टि को नीचे रखने के कारण वह अपने पति को पहचान नहीं पाती थी। एक दिन शूरपाल ने शीलवती के चारित्र की परीक्षा ली और उसे नए वस्त्र और आभूषण भेंट किए। शीलवती ने राजा की इस भेंट को ठुकरा दिया। राजा ने उसके समक्ष अपनी रानी बनने का प्रस्ताव रखा। इस पर शीलवती घायल सिंहनी की भांति गरज उठी और कड़े शब्दों में उसने राजा का प्रतिरोध किया। गद्‌गद भाव से शूरपाल ने शीलवती को अपना परिचय दिया। पति को पहचानकर शीलवती का हर्ष अपार हो गया। पति-पत्नी का मिलन हुआ। आखिर शूरपाल ने अपने माता-पिता, भाइयों और भाभियों को भी अपने पास बुला दिया। वस्त्राभूषणों से सुसज्जित बनकर शीलवती ने अपने परिवार को भोजन कराया और शेष बचा-खुचा भोजन उसने स्वयं किया, उसके आनन्द का पारावार न था।

महिपाल ने अपनी पुत्रवधू शीलवती और पुत्र शूरपाल से अपनी नादानी के लिए क्षमा मांगी। शूरपाल और शीलवती ने पिता के चरण स्पर्श कर उसको मान दिया और उसे ही प्राप्त वैभव का कारण बताया। शूरपाल ने अपने तीनों अग्रजों को राज्य के विभाग प्रदान किए। माता-पिता को उसने अपने ही पास रखा। शीलवती सास, श्वसुर और पति की सेवा में निमग्न रहती और अपने को धन्य मानती।

कालान्तर में शीलवती ने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम चन्द्रपाल रखा गया। चन्द्रपाल युवा हुआ। एक मुनि से अपना पूर्वभव सुनकर शीलवती और शूरपाल को जातिस्मरण ज्ञान की प्राप्ति हो गई। पुत्र को राजगद्दी पर अधिष्ठित करके उन्होंने मुनिधर्म अंगीकार किया और उत्कृष्ट चारित्र की आराधना द्वारा केवलज्ञान प्राप्त किया। दोनों ही मोक्ष के अधिकारी बने।

शीलांकाचार्य

जैन परम्परा में उक्त नाम के कई आचार्य हुए हैं। उनमें प्रमुख दो हैं—(1) टीकाकार आचार्य शीलांक और (2) 'चउप्पन्न महापुरिस चरियं' नामक ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य शीलांक। कुछ विद्वानों ने इन दोनों को एक ही आचार्य माना है। पर अद्यावधि प्राप्त प्रमाणों के आधार पर टीकाकार और चउप्पन्न चरियं के रचयिता दो अलग-अलग आचार्य रहे हैं।

शीलांकाचार्य संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के मर्मज्ञ थे। वे उत्कृष्ट प्रतिभा के धनी थे। आचारांग सूत्र पर उन्होंने 12,000 श्लोक परिमाण टीका की रचना की और सूत्रकृतांग पर 12850 श्लोक परिमाण टीका का निर्माण किया।

आचारांग सूत्र की टीका का रचना समाप्ति काल शक सं. 772 है जिसके अनुसार शीलांकाचार्य वी. नि. की 13-14वीं शती के आचार्य प्रमाणित होते हैं।

शीलांकाचार्य के दो अपर नाम हैं—विमलमति और तत्वादित्य। आप निवृत्ति कुल के आचार्य थे। कुछ विद्वानों के मतानुसार वर्तमान में आचारांग और सूत्रकृतांग पर ही आपकी टीकाएं उपलब्ध हैं।

शुंभा (आर्या)

प्रभु पार्श्व के समय में श्रावस्ती नाम की एक नगरी थी। उस नगरी में जितशत्रु नामक राजा राज्य करता था। वहां शुंभ नाम का एक धनी सार्थवाह रहता था। उसकी पत्नी का नाम शुंभश्री था।

एक बार पुरुषादानीय प्रभु पार्श्वनाथ श्रावस्ती नगरी में पधारे। प्रभु का धर्मोपदेश सुनकर कुमारी शुंभा विरक्त हो गई। माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर वह प्रभु के धर्मसंघ में दीक्षित हो गई। कुछ समय तक उसने विशुद्ध चारित्र की आराधना की। बाद में वह शरीर बकुशा बन गई और अंतिम समय में आलोचना के बिना कालधर्म को प्राप्त करके वैरोचनेन्द्र (बलीन्द्र) की पटरानी के रूप में जन्मी।

कालक्रम से वहां से च्यव कर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगी और वहां विशुद्ध संयमाराधना से सर्व कर्म खपा कर सिद्ध होगी। इनका विशेष परिचय काली आर्या के समान जानना चाहिए। (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., द्वि.वर्ग, अध्ययन 1

शुक अणगार

शुक अपने पूर्व जीवन में एक प्रभावशाली परिव्राजक था और शुचिमूलक धर्म का उपदेष्टा था। उसका प्रभाव इतना अधिक था कि उसके शिष्यों की संख्या एक हजार तक पहुंच गई थी। किसी समय अरिहंत अरिष्टनेमि के शिष्य थावर्चापुत्र अणगार से उसका शास्त्रीय-संवाद हुआ। शुक सुलभबोधि था। शीघ्र ही उसे थावर्चापुत्र अणगार के विनयमूलक धर्म पर श्रद्धा हो गई और वह अपने एक हजार शिष्यों के साथ श्रमणधर्म में प्रव्रजित हो गया। निरतिचार संयम साधना से उसने सर्वकर्मों को राख करते हुए अपने एक हजार शिष्यों सहित पुण्डरीक पर्वत से सिद्धत्व प्राप्त किया। —ज्ञाताधर्मकथांग-5

शुभंकर (आचार्य)

एक प्राचीन जैन आचार्य जिसके उपदेश से प्रभावित बनकर श्रेष्ठिपुत्र सुव्रत ने संयम व्रत अंगीकार किया था। (देखिए-सुव्रत)

शुभचन्द्र (आचार्य)

दिगम्बर जैन परम्परा के एक ध्यानयोगी आचार्य।

आप द्वारा रचित 'ज्ञानार्णव' नामक ग्रन्थ ध्यान सम्बन्धी प्रचुर सामग्री को लिए हुए है।

आप विक्रम की ग्यारहवीं शती के तथा राजा मुंज के समकालीन आचार्य माने जाते हैं। —ज्ञानार्णव

शुभमति

कौतुकमंगलनगर नरेश एवं भरत की माता कैकेयी के पिता। (देखिए-कैकेयी)

शूर

अयोध्या नगरी के राजा और सतरहवें तीर्थंकर प्रभु कुन्थुनाथ के जनक। —त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र

शूरचन्द्र

रथ्यपुर नगर का रहने वाला श्रेष्ठिपुत्र। उसका एक सहोदर था जिसका नाम शूरमित्र था। दोनों भाइयों

के मध्य प्रकृष्ट प्रेमभाव और आत्मभाव था। उनके पिता का नाम शूरदत्त, माता का नाम शूरदत्ता और भगिनी का नाम मित्रवती था। शूरदत्त एक समृद्ध गृहस्थ था, पर उसकी मृत्यु के पश्चात् उस घर से समृद्धि विदा हो गई। शूरमित्र और शूरचन्द्र ने प्रदेश में जाकर धनार्जन का निश्चय किया। माता की आज्ञा लेकर दोनों भाई प्रदेश के लिए रवाना हो गए। कई वर्षों तक वे गांव-गांव और नगर-नगर भटकते रहे, परन्तु उन्हें धन अर्जन करने का सुयोग प्राप्त नहीं हुआ। भटकते हुए वे सिंहलद्वीप पहुंचे। उन्हें वहां पर एक अमूल्य मणि प्राप्त हो गई। उस मणि का मूल्य करोड़ों स्वर्ण मुद्राओं में था। दोनों भाई मणि को लेकर अपने नगर के लिए चल दिए। मणि बड़े भाई शूरमित्र के पास थी। दोनों भाई एक गांव में रुके। छोटा भाई भोजन लेने के लिए गांव में गया। बड़े भाई के मन में लोभ जागा कि यदि वह छोटे भाई की हत्या कर दे तो मणि पर उसी का एकाधिकार हो जाएगा। दुर्विचार उसके मन पर हावी हो गए। पर शीघ्र ही उसका विवेक जागृत हो गया। उसने अपने आप को धिक्कारा कि एक मणि के लिए वह अपने भाई की हत्या का विचार कर बैठा। दूसरे दिन यात्रा आगे बढ़ी। बड़े भाई का मन निरन्तर शुभ और अशुभ भावों का अखाड़ा बना रहा। आखिर उसने वह मणि छोटे भाई को दे दी, उससे उसका मन शान्त हो गया।

मणि पाकर छोटे भाई का मन अशान्त हो गया। वह भी मणि के एकाधिकार के लिए बड़े भाई को मारने के संकल्प-विकल्प में उलझ गया। छोटे भाई ने बड़े भाई को रोका और वह मणि उसके हाथ पर रख दी। बड़े भाई के पूछने पर छोटे भाई ने सरलता से अपनी मनःस्थिति उसके समक्ष स्पष्ट कर दी। बड़े भाई ने भी अपनी मनःस्थिति छोटे भाई के समक्ष यथारूप प्रगट कर दी। दोनों भाइयों ने उस मणि को अनर्थकारिणी मानकर उसे मार्ग में बह रही नदी में डाल दिया और अपने घर पहुंच गए।

माता ने पुत्रों को कण्ठ से लगाकर उनका स्वागत किया। पुत्रों के आगमन की खुशी में माता ने विचार किया कि वह पास-पड़ोसियों को भी भोजन कराए। भोजन के लिए वह बाजार से एक मत्स्य खरीद लाई। मत्स्य के उदर से उसे मणि प्राप्त हुई। उसकी प्रसन्नता का पारावार न रहा। उसने परिवार और परिजनों को प्रसन्नता से भोजन कराया। तब उसके मन में लोभ का विषधर प्रवेश कर गया कि यदि अपने दोनों पुत्रों को समाप्त कर दूं तो मणि पर उसी का अधिकार हो जाएगा। उसका मन भी शुभाशुभ भावों का अखाड़ा बन गया। आखिर उसने अशुभ भावों को झटककर निर्णय किया कि मणि के कारण ही उसके हृदय में अपने पुत्रों के प्रति दुर्भाव उत्पन्न हुए हैं। उसने वह मणि अपनी पुत्री मित्रवती को दे दी। मित्रवती की भी वही दशा हुई। वह अपने भाइयों और माता की हत्या की योजना बनाने लगी। आखिर उसे भी सद्बुद्धि जगी और मणि अपने भाइयों और माता के समक्ष रखकर अपने हृदय में उत्पन्न हुए दुर्भावों के लिए उसने पश्चात्ताप और प्रायश्चित्त किया। माता ने भी अपनी बात कही और पुत्रों ने भी अपनी बात कही। आखिर मणि को घोर अनर्थों का मूल-मानकर सागर में फैंक दिया गया।

इस पूरे घटनाक्रम से शूरमित्र और शूरचन्द्र का हृदय विरक्ति से पूर्ण बन गया। धन को अनर्थों का मूल मानकर उन्होंने धर्म की शरण में जाने का संकल्प कर लिया। माता की आज्ञा लेकर वे नन्दन नामक मुनि के चरणों में प्रव्रजित हो गए और दिव्य लोक के अधिकारी बने।—आचार्य हरिषेण, बृहत्कथा कोष—भाग 1

शूरपाल

एक क्षत्रिय किसान युवक जो अपने पुण्यबल से महाशाल नगर का राजा बना और अंतिम अवस्था में विशुद्ध संयम की आराधना कर मोक्ष में गया। (देखिए-शीलवती)

शूलपाणि (यक्ष)

अस्थिग्राम के पार्श्वभाग में स्थित यक्षायतन का स्वामी यक्ष। पूर्वभव में वह एक बैल था और अपने स्वामी धनदेव को अतिप्रिय था।

किसी समय धनदेव व्यापार के लिए वर्धमान ग्राम के निकट से गुजर रहा था तो उसकी गाड़ियां कीचड़ में धंस गईं। तब उस बैल ने ही एक-एक करके उन समस्त गाड़ियों को कीचड़ से बाहर निकाला। पर वैसा करते हुए उसके कन्धे टूट गए। वह गिर पड़ा। धनदेव ने ग्रामीणों को प्रचुर धन देकर कहा कि वे उसके बैल की सेवा करें, वह लौटते हुए उसे अपने साथ ले जाएगा। पर गांव वालों ने उस बैल को मरने के लिए एकाकी छोड़ दिया और वह धन परस्पर बांट लिया। बैल सभी कुछ देख और समझ रहा था। विवशता और क्रोध में मरकर वह शूलपाणि नामक यक्ष बना। पूर्वजन्म की स्मृतियां जगते ही उसके क्रोध का पार न रहा। उसने ग्रामीणों पर आक्रमण कर दिया और उन्हें मार डाला। एक स्थान पर हड्डियों का विशाल ढ़ेर लग गया। इसी से उस ग्राम का नाम वर्धमान ग्राम से अस्थिग्राम हो गया।

बचे-खुचे ग्रामीणों ने यक्ष की पूजा-प्रतिष्ठा की और उसके लिए यक्षायतन का निर्माण कराया। यक्षायतन में रात में ठहरने वाले मुसाफिरों को यक्ष मार देता था। उधर साधनाकाल का प्रथम वर्षावास बिताने के लिए भगवान महावीर उस यक्षायतन में आए। पुजारी सहित ग्रामीणों ने भिक्षु महावीर को यक्षायतन में न ठहरने के लिए कहा और समग्र इतिहास सहित शूलपाणि की कथा सुनाई। पर अभयमूर्ति महावीर ने यक्षायतन को ही अपनी साधना के अनुकूल पाया और वहीं ठहर गए। रात्रि में यक्ष ने विभिन्न रूप धारण कर महावीर की समाधि को खण्डित करना चाहा, पर सफल न हो सका। आखिर महावीर ने ही उसे अहिंसा ही दीक्षा देकर उसे हिंसक से अहिंसक और दैत्य से देव बना दिया। —त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

शेषवती

वाराणसी नरेश अग्निसिंह की रानी और सप्तम वासुदेव दत्त की माता। (देखिए-दत्त वासुदेव)

शैलक (यक्ष)

रत्नद्वीप पर रहने वाला एक यक्ष। (देखिए-जिनपाल)

शैलक राजर्षि

अरिहंत अरिष्टनेमि कालीन एक राजर्षि। पूर्व-जीवन में वह शैलकपुर नगर का राजा था। पंथक प्रमुख पांच सौ उसके मंत्री थे। थावर्चापुत्र अणगार के धर्मोपदेश से राजा और उसके पांच सौ मंत्रियों ने श्रावक धर्म अंगीकार किया। कालान्तर में शुक अणगार के सान्निध्य में राजा ने अपने पांच सौ मंत्रियों के साथ दीक्षा धारण कर ली।

किसी समय शैलक राजर्षि जनपद में विचरण करते हुए अपने नगर में आए। वे कुछ अस्वस्थ हो गए। अपने पुत्र मंडूक राजा की प्रार्थना पर अपने ही नगर में रहकर शैलक उपचार कराने लगे। राजाज्ञा से मुनियों के लिए समस्त राजसी सुविधाएं जुटा दी गईं। शनैः-शनैः शैलक राजर्षि तन से तो स्वस्थ हो गए पर मन से अस्वस्थ हो गए। संयमाचार को विस्मृत कर शिथिलाचारी बन गए। शैलक मुनि को शिथिलाचारी जानकर चार सौ निन्यानवे शिष्य अन्यत्र विहार कर गए। पंथक मुनि ही शैलक राजर्षि की सेवा में रहा।

एक बार चातुर्मासिक प्रतिक्रमण करके पंथक मुनि ने शैलक राजर्षि को वन्दन करते हुए क्षमापना की

तो उनकी निद्रा भंग हो गई। उन्हें क्रोध आ गया। जगाने का कारण पूछा तो पंथक मुनि ने विनम्रता से उत्तर दिया, गुरु महाराज! आज चातुर्मासिक पक्ष है। उसी के लिए क्षमापना हेतु आपके चरण स्पर्श मैंने किए जिससे आपकी निद्रा भंग हो गई।

इस घटना ने शैलक राजर्षि को झिंझोड़ कर रख दिया। उनका प्रसुप्त संयमीय-पराक्रम जाग उठा। शिथिलाचार के लिए आलोचना कर वे तप-संयम में प्राण पण से संलग्न बन गए। अंत में सर्व कर्म खपा कर सिद्ध गति को प्राप्त हुए। —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र - 5

शैलोदायी परिव्राजक

महावीरकालीन एक परिव्राजक। (देखिए-मद्रुक)

शोभनराय (राजा)

शोभनराय वैशाली नरेश गणाध्यक्ष महाराज चेटक का पुत्र था। वैशाली विध्वंश के पश्चात् अनशन पूर्वक महाराज चेटक दिवंगत हो गए। शोभनराय अपने श्वसुर कलिंगपति सुलोचन के पास चला गया। सुलोचन निःसंतान था। उसने शोभनराय को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया। सुलोचन की मृत्यु के पश्चात् वी.नि.सं. 18 में शोभनराय कलिंग का राजा बना। शोभनराय के हृदय में जैन धर्म के प्रति दृढ़ अनुराग था। शोभनराय के वंश में पीढ़ी दर पीढ़ी जैन धर्म के संस्कार चलते रहे। शोभनराय की दसवीं पीढ़ी में महाराज खारवेल हुए जिन्होंने श्रुतरक्षा के लिए कुमारगिरि पर्वत पर महामुनि सम्मेलन आहूत किया था।

शोभनाचार्य

वि. की 10वीं-11वीं सदी के एक जैन आचार्य। शोभनाचार्य का जन्म धारानगरी में हुआ था। वे ब्राह्मण जाति के थे। उनके पिता का नाम सर्वदेव था। सर्वदेव के दो पुत्र थे, बड़ा धनपाल और छोटा शोभन। दैवयोग से सर्वदेव निर्धन हो गया। उसे ज्ञात था कि उसके पिता द्वारा अर्जित अपरिमित धन उसके ही घर में कहीं रखा अथवा दबाया गया है, परन्तु उसे यह ज्ञान नहीं था कि धन कहां दबाया गया है। उसका भेद जानने के लिए सर्वदेव ने उस युग के प्रभावक और ज्ञानी आचार्य महेन्द्रसूरि की शरण ली। महेन्द्रसूरि ने कहा, द्विज! मैं तुम्हारी मदद करूंगा, पर बदले में तुम्हें मेरा काम्य मुझे देना होगा। सर्वदेव ने आचार्य श्री को वचन दे दिया। आचार्य श्री ने उपयोग पूर्वक घर का निरीक्षण कर सर्वदेव को बता दिया कि धन अमुक स्थान पर गड़ा हुआ है। सर्वदेव ने इंगित स्थल को खनन कर धन प्राप्त कर लिया। उसे वहां से चालीस लाख स्वर्ण मुद्राएं प्राप्त हईं। आधा धन लेकर सर्वदेव आचार्य महेन्द्रसूरि के पास पहुंचा। परन्तु आचार्य श्री ने धन अस्वीकार कर दिया। आचार्य श्री ने कहा, धन मेरा काम्य नहीं है। यदि तुम अपने वचन का पालन करना चाहते हो तो अपने दो पुत्रों में से एक पुत्र जिनशासन की सेवा में अर्पित कर दो। वही मेरा काम्य है।

सर्वदेव ने घर लौटकर अपने दोनों पुत्रों को अपने वचन की बात कही। धनपाल वैदिक शास्त्रों का पारगामी पण्डित था, और उसे जिनधर्म से घृणा थी। उसने पितृ प्रस्ताव को मूल से ही अस्वीकार कर दिया। छोटा पुत्र शोभन सरल और विनीत था। उसने पिता के वचन की रक्षा के लिए मुनि दीक्षा धारण की।

लघुभ्राता द्वारा आर्हती प्रव्रज्या धारण कर लेने से धनपाल का जैन विरोध अत्यन्त मुखर बन गया। राजा भोज के दरबार में उसे उच्चासन प्राप्त था। राजा भोज को कहकर उसने मालव धरा पर जैन संतों का विचरण निषिद्ध करवा दिया। परिणामस्वरूप आचार्य महेन्द्रसूरि को भी शिष्य परिवार सहित मालव छोड़ देना पड़ा।

अणहिल्लपुर पाटण में रहकर शोभन मुनि ने आगमों का पारायण किया। क्रमशः उपाध्याय और आचार्य पद पर उनकी नियुक्ति हुई। उनका विमल सुयश चतुर्दिक् में व्याप्त हो गया। एक बार शोभनाचार्य ने गुरु से आज्ञा मांगी कि वह अपने अग्रज को प्रतिबोधित कर मालव भूमि में श्रमणों के विचरण को प्रशस्त करना चाहते हैं। शिष्य की योग्यता को पहचानकर गुरु ने उन्हें आज्ञा प्रदान कर दी।

शोभनाचार्य अपनी शिष्य मण्डली के साथ अवन्ती गए। धारा नगरी में पहुंचकर उन्होंने धनपाल को प्रतिबोधित किया। शोभनाचार्य के लघुशिष्यों ने दही में जीवों की विद्यमानता को साक्षात् दिखाकर धनपाल को जैनदर्शन के सूक्ष्म ज्ञान का परिचय दिया। धनपाल प्रबुद्ध बन गया। उसका मिथ्या अहं गल गया। अनुज शोभनाचार्य से वह गले मिला और राजा से प्रार्थना कर उसने श्रमणों के मालवा में विहार को प्रशस्त कराया। धनपाल दृढ़धर्मी जैन श्रावक बन गया। जिनशासन के पक्ष को समर्थन करने वाली 'तिलकमंजरी' नामक एक काव्यकृति का प्रणयन धनपाल ने किया। यह ग्रन्थ राजा भोज को भी बहुत पसन्द आया। काव्य के पात्रों के परिवर्तन के लिए राजा भोज ने धनपाल को बाध्य किया, पर धनपाल उसके लिए तैयार नहीं हुआ। रुष्ट होकर भोज ने उस ग्रन्थ को अग्निकुण्ड में डालकर जला डाला। इससे धनपाल मर्माहत हो उठा। उसकी वर्षों की काव्यसाधना क्षणों में ही नष्ट हो गई थी। परन्तु धनपाल की नव वर्षीय पुत्री साक्षात् सरस्वती रूप बनकर प्रगट हुई थी। 'तिलकमंजरी' की प्रति जब धनपाल तैयार कर रहा था, उसी समय उस बालिका ने काव्य पाठ को सुनने मात्र से उसे कण्ठस्थ कर लिया था। उस नन्ही बालिका की स्मरण शक्ति के आधार पर ही 27000 श्लोक परिमाण वाली उस अमर रचना के 24000 श्लोकों को पुनः लिखा गया।

अग्रज धनपाल को जिनोपासक बनाकर शोभनाचार्य ने जिनशासन की महती प्रभावना की। अन्तिम अवस्था में समाधि पूर्वक धनपाल ने देह त्याग किया।

बहुत वर्षों तक जिनशासन की आराधना कर शोभनाचार्य स्वर्गवासी हुए।

शौरिकदत्त

प्राचीनकालीन भारतवर्ष में शौरिकपुर नाम का एक नगर था। नगर के बाहर शौरिकावतंसक नाम का एक उद्यान था। उद्यान में शौरिक यक्ष का एक प्राचीन स्थान था।

एक बार भगवान महावीर शौरिकनगर में पधारे। आर्य इन्द्रभूति गौतम भिक्षा के लिए नगर में गए। जब वे भिक्षा लेकर लौट रहे थे तो उन्होंने पीड़ा से कराहते हुए, अस्थिपंजर शेष और अत्यन्त घृणित पुरुष को देखा जो थोड़ी-थोड़ी देर में रुधिर, पीव और कृमि-कवलों का वमन कर रहा था। उस पुरुष की दशा को देखकर गौतम स्वामी कर्मों के विपाक पर चिन्तन करते हुए भगवान के समीप पहुंचे। आहारादि से निवृत्ति के पश्चात् गौतम स्वामी भगवान के सान्निध्य में पहुंचे। भगवान को वन्दन करके उन्होंने उस देखे हुए पुरुष के अतीत और अनागत के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की। भगवान ने फरमाया–

गौतमः बहुत पहले की बात है। नन्दिपुर नाम का एक नगर था। वहां के राजा का नाम मित्र था। राजा का एक रसोइया था जिसका नाम श्रीयक था। श्रीयक महाधर्मी और दुष्प्रत्यानन्द था। वह नित्य मदिरा और मांस का भोजन राजा को परोसता था और स्वयं भी मांस-मदिरा का आहार करता था। उसकी मांस-प्रियता इतनी प्रगाढ़ थी कि उसके लिए वह हजारों पशु-पक्षियों का प्रतिदिन वध करवाता था। इसके लिए उसने अनेक कर्मचारी नियुक्त किए हुए थे। विभिन्न पशु-पक्षियों के मांसों को वह विभिन्न विधियों से तलता और भूनता था। अपने उस व्यवसाय में वह इतना पारंगत और रुचिशील था कि उसने उसके परिणामस्वरूप

दुःसह कर्मों का बन्ध कर लिया। तेंतीस सौ वर्षों का आयुष्य भोगकर श्रीयक रसोइया मरकर छठे नरक में गया।

भगवान महावीर ने आगे फरमाया—गौतम! इसी शौरिक नगर में मछेरों का एक मोहल्ला है। वहां पर समुद्रदत्त नामक एक मछेरा रहता था। उसकी पत्नी का नाम समुद्रदत्ता था। समुद्रदत्ता मृतवत्सा थी, अर्थात् उसकी संतानें पैदा होते ही मर जाया करती थीं। उसने शौरिक यक्ष की मनौती मांगी। संयोग से उसे एक चिरंजीवी पुत्र की प्राप्ति हुई। उसके पुत्ररूप में जो जीव पैदा हुआ वह श्रीयक का जीव ही था जो छठी नरक से निकल कर उसके गर्भ में आया था। पुत्र का नाम शौरिक यक्ष की मनौती मानने के कारण शौरिकदत्त रखा गया।

समुद्रदत्त मत्स्यों का शिकार और व्यवसाय करता था। उसके पास बहुत धन संचित हो गया था और वह मछेरों का नायक माना जाता था। समुद्रदत्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पद उसके पुत्र शौरिकदत्त को प्राप्त हुआ। शौरिकदत्त ने अपने पैतृक अनार्य व्यवसाय को और अधिक विकसित किया। वह विभिन्न विधियों से मच्छलियां पकड़ता, उन्हें बेचता और काफी लाभ अर्जित करता। वह स्वयं भी मांसाहार करता तथा छह प्रकार की मदिराओं का सेवन करता। ऐसे उसने दुःसह कर्मों का बन्ध किया।

एक बार मत्स्याहार करते हुए शौरिकदत्त के कण्ठ में मछली का कांटा लग गया। उससे उसे महावेदना उत्पन्न हुई। उसने पानी की तरह धन बहा कर उपचार कराया, पर सब व्यर्थ सिद्ध हुआ। उसका खान-पान अवरुद्ध हो गया। धन के निरन्तर व्यय से वह विपन्न भी बन गया। कुछ ही समय बाद उसके शरीर में अन्य अनेक रोग भी उभर आए।

भगवान ने फरमाया, गौतम! जिस पुरुष को तुमने आज देखा है वह पूर्वजन्म का श्रीयक रसोइया और वर्तमान भव का शौरिकदत्त है।

कर्मों के विपाक पर चिन्तन करते हुए गौतम स्वामी ने भगवान से पूछा, भगवन्! शौरिकदत्त का भविष्य कैसा होगा, कृपा उस पर भी प्रकाश डालिए?

भगवान ने फरमाया—गौतम! सत्तर वर्ष की आयु भोग कर शौरिकदत्त मरकर प्रथम नरक में जाएगा। वहां से पृथ्वीकाय आदि स्थावर योनियों और नरकों में असंख्यात काल तक प्रलम्ब कष्ट यात्रा करेगा। फिर हस्तिनापुर नगर में मत्स्य होगा। मेछेरों द्वारा मार दिए जाने पर वह मत्स्य उसी नगर में श्रेष्ठिपुत्र के रूप में जन्म लेगा जहां उसे श्रमण-स्थविरों का सान्निध्य प्राप्त होगा और उसके आत्म-विकास का अभियान प्रारंभ होगा। तदनन्तर महाविदेह क्षेत्र से वह सिद्धत्व प्राप्त करेगा।

शौरिकदत्त के आद्योपान्त जीवन यात्रा के वर्णन को सुनकर गौतमस्वामी समाधीत बन गए और तप व संयम से अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। —विपाक सूत्र, प्र. श्रु., अध्ययन 8

श्यामदत्ता

अगड़दत्त की पत्नी। (देखिए-अगड़दत्त)

श्यामाचार्य

भगवान महावीर की धर्म संघ परम्परा के प्रभावक प्रधानाचार्य। उनका श्रुतज्ञान सुविशाल था। सुदीर्घ काल तक उन्होंने आचार्य पद पर रहकर संघ का चहुंमुखी विकास किया। श्यामाचार्य का जन्म वी. नि. 280 में ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनका गोत्र हारित था। वी.नि. 300 में उन्होंने मुनि जीवन में प्रवेश

किया। वी.नि. 335 में वे युग प्रधानाचार्य और वाचनाचार्य के पदों पर आसीन हुए। दो-दो विशिष्ट पदों पर उनकी नियुक्ति उनके ज्ञान-गांभीर्य और नेतृत्व कुशलता को प्रमाणित करती है।

श्यामाचार्य का तत्व ज्ञान गहन और सुविशाल था। निकोद के व्याख्याकार के रूप में उनकी प्रसिद्धि है। इस संदर्भ में एक कथा भी प्रचलित है। एक बार सौधर्मेन्द्र ने महाविदेह क्षेत्र में विराजमान श्री सीमन्धर स्वामी के मुख से निकोद की व्याख्या सुनी। सौधर्मेन्द्र उस विशिष्ट और सूक्ष्म व्याख्या को सुनकर रोमाञ्चित बन गए। उन्होंने प्रभु से पूछा, भगवन् ! क्या भरतक्षेत्र में भी निकोद का व्याख्याकार कोई मुनि है। भगवान ने फरमाया, श्यामाचार्य निकोद के सूक्ष्म व्याख्याता हैं। सुनकर इन्द्र आल्हादित हो गए और श्यामाचार्य के दर्शनों के लिए वृद्ध ब्राह्मण का रूप धर कर उनके पास पहुंचे। वृद्ध ब्राह्मण की हस्त रेखाओं पर आचार्य श्री की दृष्टि पड़ी। आचार्य श्री इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि आगन्तुक ब्राह्मण की आयु पल्योपम से ऊपर जा रही है। उन्होंने वृद्ध ब्राह्मण से कहा, भद्र! तुम मानव नहीं, देव हो।

देवराज इन्द्र आचार्य श्री के ज्ञान को देखकर आनन्दित हुए। उन्होंने निकोद के बार में आचार्य श्री से व्याख्या करने की प्रार्थना की। आचार्य श्री ने निकोद का विशद विवेचन प्रस्तुत किया। सुनकर इन्द्र अभिभूत बन गए। उन्होंने आचार्य श्री को श्री सीमन्धर स्वामी के कथन के बारे में बताया और उन्हें वन्दन कर लौटने लगे। आचार्य श्री ने फरमाया, देवराज ! अपने आगमन का कोई प्रतीक छोड़ जाइए जिससे संघ में धर्म के प्रति विशेष आस्था बढ़े। देवराज इन्द्र ने उपाश्रय का द्वार पूर्व से पश्चिम दिशा में कर दिया और अपने स्थान पर लौट गए। आहारादि से निवृत्ति के पश्चात् शिष्य समुदाय आचार्य श्री के पास आया। उपाश्रय के पश्चिमाभिमुख द्वार को देखकर शिष्य चकित हो गए। उन्होंने आचार्य श्री के समक्ष अपना आश्चर्य प्रगट किया। आचार्य श्री ने इन्द्र के आगमन की बात शिष्यों को सुनाई। शिष्य समुदाय आनन्दित बन गया और उक्त घटना से जिनधर्म की प्रभावना में अभिवृद्धि हुई।

ऐसी ही घटना का उल्लेख अन्य-अन्य ग्रन्थों में कालकाचार्य और आर्य रक्षित के साथ भी सम्बद्ध किया गया है।

श्यामाचार्य ने प्रज्ञापना सूत्र की रचना की जो समवायांग का उपांग माना जाता है।

41 वर्षों तक युगप्रधान पद पर रहते हुए 96 वर्ष की अवस्था में वीर नि. 376 में श्यामाचार्य का स्वर्गवास हुआ।

श्यामारानी

तेरहवें तीर्थंकर श्री विमलनाथ भगवान की माता और कंपिलपुर नरेश महाराज कृतवर्मा की अर्द्धांगिनी।
(देखिए-विमलनाथ तीर्थंकर)

श्येन

कांची नगर का श्रेष्ठी। उसकी पत्नी का नाम कुवलयमाला था और उसके तीन पुत्र थे। श्रेष्ठी श्येन ने एक मुनि से स्वाध्याय का स्वरूप जानकर प्रतिदिन उसकी आराधना का नियम लिया था। वह प्रतिदिन तीन समय स्वाध्याय करता। निरन्तर स्वाध्याय-साधना से श्रेष्ठी का ज्ञान तो सुनिर्मल बना ही उसका चित्त भी अध्यात्म में रम गया। उसकी सांसारिक रुचियां कम हो गईं।

कालान्तर में श्येन ने पुत्रों के विवाह किए। पुत्रवधुएं आईं। परिवार फैला और पारस्परिक क्लेश भी फैला। श्येन ने सभी पुत्रों को अलग-अलग कर दिया। सम्पत्ति और जायदाद के तीन हिस्से करके उनको

सौंप दिए। अपने लिए एक छोटा सा कक्ष ही रखा। पर पुत्रों की दृष्टि उस कक्ष पर भी लगी थी। श्येन ने वह कक्ष भी त्याग दिया।

श्येन की मंत्री से मैत्री थी। वह मंत्री के पास गया। उससे मकान के बारे में पूछा। मंत्री ने उसे एक ऐसे मकान के बारे में बताया जो व्यंतर-बाधा से बाधित था, और व्यंतर द्वारा उस मकान में रहने को गए कई लोगों का वध किया जा चुका था। श्येन ने उसी मकान में रहने का आग्रह किया। मंत्री द्वारा पुनः-पुनः समझाए जाने पर भी श्येन ने उसकी बात स्वीकार नहीं की और उस मकान में रहने को वह चला गया। उसने व्यंतर की आज्ञा लेकर मकान में प्रवेश किया और रात भर स्वाध्याय करके उसने एक ही रात्रि में व्यंतर को अहिंसक बना दिया। व्यंतर ने विशाल खजाने का परिचय श्येन को दिया और स्वयं सदा के लिए अन्यत्र चला गया।

श्येन कुछ वर्षों तक गृहवास में रहकर स्वाध्याय करता रहा। बाद में प्रव्रजित होकर मोक्षगामी बना।

—धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 43

श्रमण

महावीर का एक गुणनिष्पन्न नाम। समत्व साधना में निरन्तर श्रम करके कर्मों का शमन करने से महावीर श्रमण कहलाए।

श्रमणभद्र कुमार

चम्पानगरी नरेश जितशत्रु के पुत्र जो किसी श्रमण के उपदेश को सुनकर प्रव्रजित हो गए और परीषहजयी मुनि बने। एक बार वे एक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में लीन थे। वृक्ष की शाखा पर मधुमक्खियों का छत्ता लगा हुआ था। कुछ ऐसा कारण निर्मित हुआ कि छत्ते से शहद की बूंदें टपककर मुनिवर के शरीर पर गिरने लगीं। इससे मधुमक्खियां मुनि के शरीर पर आ चिपकीं। मधुमक्खियों ने दंश पर दंश चलाकर मुनिवर के शरीर को छलनी कर दिया, पर मुनिवर ने अपनी समाधि को भंग नहीं होने दिया। वे नरकों में आत्मा द्वारा अनन्त बार भोगे गए कष्टों का चिन्तन करते हुए अविचल समाधिस्थ रहे। दंशों के आधिक्य से उनका निधन हो गया। शान्तचित्त से शरीर त्याग कर मुनिवर देवलोक के अधिकारी बने। —उत्त. वृत्ति

श्रीकान्ता

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की एक रानी। (देखिए-ब्रह्मराजा)

श्रीगुप्त

एक वणिक-पुत्र, श्रीगुप्त बाल्यकाल से ही दुर्व्यसनों का शिकार बन गया और चौर्यकर्म में प्रवृत हो गया। एक बार वह पकड़ा गया और राजा ने उसे अपने देश से निकाल दिया। जंगल में वह एक वृक्ष के नीचे रात्रि विश्राम कर रहा था तो उसे एक शुक-शुकी का संवाद सुनने का पुण्य-प्रसंग मिला। शुक ने शुकी से बताया कि आज उसे एक मुनि के दर्शन हुए। उसकी जिज्ञासा पर मुनि ने उसका पूर्वभव सुनाया और बताया कि वह पूर्वभव में एक मुनि था। मुनि होकर भी वह कपट का आचरण करता था। उसी के फलस्वरूप उसे तिर्यंच योनि में जन्म लेना पड़ा है। शुक ने आगे कहा, शुकि! अब मुझे बोध प्राप्त हो गया है। प्रभात होते ही मैं पुंडरीक शैल पर जाकर समाधि-मरण प्राप्त करूंगा।

श्रीगुप्त शुक के संकल्प को सुनकर आत्मचिंतन के लिए बाध्य हो गया। उसने सोचा, यह तोता एक तिर्यंच प्राणी होकर भी धर्माराधना के लिए कितना उत्सुक है और मैं मनुष्य होकर भी पापों के गहन गर्त में

धंसा हूँ। उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई और उसने निश्चय किया कि भविष्य में वह धर्माचरण के साथ जीवन जीएगा। उसने तोते से अपने हृदय के भाव कहे और अपने लिए उत्तम पथ पूछा। तोते ने उसे देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा का मार्ग बता दिया। उसके बाद श्रीगुप्त ने तन-मन-वचन से स्वयं को धर्माराधना में अर्पित कर दिया। घर में रहते हुए ही उसने उत्कृष्ट जप-तप की आराधना की और मरकर देव गति में गया। देव गति से च्यव कर कुछ अच्छे और उच्च कुलों के भव करके वह सिद्ध होगा। —कथारत्न कोष भाग 1

श्रीदेव राजा

पांचाल देश के कंपिलपुर नगर का राजा। उसके पिता का नाम श्रीहर्ष था। श्रीहर्ष एक पराक्रमी राजा था और उसने अनेक देशों पर विजय-वैजयन्ती फहराई थी। पर कामरु देश के राजा को वह पराजित न कर सका था। आखिर वह विरक्त होकर मुनि बन गया और आत्मकल्याण की साधना में लीन हो गया। उसके मुनि बन जाने पर प्रतिशोध की भावना से कामरु नरेश ने कंपिलपुर पर आक्रमण कर दिया। राजा श्रीदेव उसका सामना अधिक दिनों तक नहीं कर पाया और मंत्री की सलाह पर जंगल में चला गया। वहां उसे एक मुनि के दर्शन हुए। मुनि ने श्रीदेव को धर्म का उपदेश दिया। श्रीदेव के हृदय में सम्यक्त्व का उदय हुआ। उसे निर्ग्रन्थ-प्रवचन पर अटूट श्रद्धा हो गई, पर उसने चारित्र ग्रहण नहीं किया। उसके हृदय में तो पराजय का अपमान-जनक क्षोभ भरा था। वह मुनि से ऐसा उपाय चाहता था जो उसे उसके लक्ष्य तक पहुंचाए। उसकी जिज्ञासा पर मुनि ने उसे नवकार मंत्र की आराधना की सलाह दी। श्रीदेव ने सविधि नवकार मंत्र की आराधना की। एक लाख जप पूर्ण होने पर एक सम्यक्त्वी देव श्रीदेव के समक्ष उपस्थित हुआ। श्रीदेव ने देव से अपनी कष्ट कथा कही और अपने खोए हुए राज्य को पुनः प्राप्त करने की आकांक्षा व्यक्त की। देव के कृपापूर्ण आशीर्वाद से श्रीदेव को उसका खोया हुआ राज्य प्राप्त हो गया। श्रीदेव का तेज इतना बढ़ा कि कामरुनरेश दूम दबा कर अपने देश को भाग गया।

श्रीदेव राजा ने सुदीर्घ काल तक निष्कण्टक शासन किया। नवकार मंत्र पर उसकी अगाध आस्था थी। वह अपनी प्रजा को भी नवकार मंत्र की आराधना के लिए निरंतर प्रेरणाएं दिया करता था। वृद्धावस्था में उसने अपने पुत्र को राजपद प्रदान किया। शेष जीवन उसने नवकार मंत्र का जप करते हुए पूर्ण किया और मरकर देवलोक में गया। वहां से च्यव कर सिद्ध होगा। —कथारत्न कोषः भाग 1

(क) श्रीदेवी

अयोध्या नरेश महाराज शूर की रानी और सतरहवें तीर्थंकर प्रभु कुन्थुनाथ की माता।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

(ख) श्रीदेवी

कपिल केवली की माता और कौशाम्बी के राजपुरोहित काश्यप की पत्नी। (देखिए-कपिल केवली)

(ग) श्रीदेवी

पोलासपुर नरेश महाराज विजय की रानी और अतिमुक्त मुनि की माता। वह अकेली ऐसी माता थी जो अपने पुत्र के मुख से दीक्षा की बात सुनकर आह्लादित होकर मुक्तमन से हंसी थी।

(क) श्रीपाल (मैनासुंदरी)

पौराणिक जैन साहित्य के पृष्ठों पर श्रीपाल का जीवनवृत्त भावपूर्ण शैली में अंकित है। वह अंगदेश

की राजधानी चम्पापुरी के महाराज सिंहरथ का पुत्र था। उसकी माता का नाम कमलप्रभा था जो कोंकण देश के राजा वसुपाल की छोटी बहन थी। महाराज सिंहरथ के मंत्री का नाम मतिसागर था। वह महाराज का दाहिना हाथ समझा जाता था। श्रीपाल जब पांच-छह वर्ष का था तभी उसे पितृवियोग झेलना पड़ा और यहीं से उस राजकुमार के जीवन में कष्ट की काली रात्रि का आरम्भ हुआ। राज्य का अधिकारी तो श्रीपाल था पर उसके चाचा वीरदमन ने स्वयं राज्य सिंहासन हथिया लिया। इतना ही नहीं वह श्रीपाल को भी मौत के घाट उतारना चाहता था पर कमलप्रभा और मतिसागर की कुशलता से श्रीपाल की प्राणरक्षा संभव हो सकी। रात के अन्धकार में माता अपने पुत्र को लेकर जंगलों में निकल गई। वहां उसे सात सौ कोढ़ियों (कुष्ठ रोगियों) का एक दल मिला। रानी ने अपने पुत्र को उन कोढ़ियों के मध्य छिपा दिया। कुछ दिन कोढ़ियों के मध्य रहने से श्रीपाल को भी कुष्ठ रोग हो गया। श्रीपाल की माता कुष्ठ रोग की दवा खोजने के लिए यहां-वहां भटकने लगी। श्रीपाल भले ही छोटा था पर सभी कोढ़ी उसका विशेष मान करते थे और उसे उम्बर राणा कहकर पुकारते तथा अपना राजा मानते थे। बहुत वर्षों तक इधर-उधर भटकते हुए यह दल एक बार मालवदेश की राजधानी उज्जयिनी की सीमा पर पहुंचा।

उस काल में उज्जयिनी नगरी पर प्रजापाल नाम का राजा राज्य करता था। सौभाग्य सुन्दरी और रूपसुन्दरी नामक उसकी दो रानियां थीं। दोनों रानियों की एक-एक पुत्री थी जिनके नाम क्रमशः सुरसुन्दरी और मैनासुन्दरी थे। राजा प्रजापाल अहंकारी प्रवृत्ति का व्यक्ति था। वह अपने को ही अपना और अन्य सब का भाग्य नियंता मानता था। जो उसकी इस प्रवृत्ति का विरोध करता उसे वह दण्डित करता था। एक बार जब उसने स्वयं के भाग्यविधाता होने की बात कही तो उसकी बड़ी पुत्री सुरसुन्दरी ने तो उसका अनुमोदन किया पर मैनासुन्दरी ने विनम्रतापूर्वक पिता की बात काटते हुए कहा कि व्यक्ति स्वयं अपना भाग्य-विधाता होता है, उसके भाग्य का विधाता अन्य नहीं हो सकता है। अपनी ही पुत्री द्वारा अपना विरोध देखकर राजा तिलमिला गया। उसने अपनी बड़ी पुत्री सुरसुन्दरी का विवाह तो राजपरिवार में कर दिया और मैनासुन्दरी का विवाह कुष्ठ रोगी श्रीपाल से यह कहते हुए कर दिया कि देखता हूं तू अपने भाग्य का निर्धारण स्वयं कैसे करती है। मैनासुन्दरी ने इसे ही अपना भाग्य माना और वह उम्बर राणा (श्रीपाल) के कुष्ठमुक्त करने के उपाय पर चिन्तन करने लगी। आर्याओं के निर्देश पर उसने नवपद की आराधना की और अपने पति सहित सभी सात सौ कोढ़ियों को स्वस्थ बना दिया। सभी के शरीर कुन्दन की तरह दमकने लगे। कमलप्रभा भी अपने पुत्र को खोजती हुई वहां पहुंच गई। पुत्र और पुत्रवधू को देखकर वह आनन्दमग्न हो गई।

उसके बाद श्रीपाल ने विदेश यात्रा की। उसका भाग्य प्रभात के सूर्य की तरह निरन्तर तेजस्वी बनता गया। उसने अपने पुरुषार्थ और भाग्य के बल पर रैनमंजूषा, गुणमाला आदि सात राजकन्याओं से विवाह किया। साथ ही उसने एक विशाल चतुरंगिणी सेना का भी गठन किया। सदलबल वह उज्जयिनी नगरी में लौटा तो उसके श्वसुर प्रजापाल को अपनी भूल समझ में आ गई। उसका अहंकार गल गया। अपनी पुत्री मैनासुन्दरी का उसने विशेष आदर मान किया।

तदनन्तर श्रीपाल ने अपने चाचा वीरदमन पर आक्रमण किया। वीरदमन युद्ध में पराजित हुआ। उसने अपने किए पर पश्चात्ताप करते हुए मुनि-दीक्षा धारण कर ली।

श्रीपाल चंपा का अधिशास्ता बना। नौ सौ वर्षों तक उसने सुखपूर्वक राज्य किया। बाद में अपने ज्येष्ठ पुत्र त्रिभुवनपाल को राजपाट देकर मुनि धर्म में दीक्षित हुआ। विशुद्ध चारित्र की आराधना कर आयुष्य पूर्ण कर नौवें देवलोक में गया। वहां से नवें भव में सिद्ध होगा।

मैनासुन्दरी ने भी दीक्षा धारण करके आत्मकल्याण किया। —सिरि सिरिवाल कहा (रत्नशेखर सूरिकृत)

(ख) श्रीपाल (श्रेष्ठी)

पोलासपुरी नगरी का रहने वाला एक धनी और धर्मात्मा श्रेष्ठी। उसकी पत्नी का नाम चेतना था जो पतिव्रता और धर्मरुचि संपन्न सन्नारी थी। दुर्दैववश एक बार श्रीपाल को व्यापार में ऐसा नुकसान हुआ कि उसके पास एक फूटी कौड़ी भी शेष न बची। उसे भोजन तक के लाले पड़ गए। ऐसे में उसकी पत्नी चेतना ने उसको धैर्य दिया और कहा कि वह उसके पीहर चला जाए, उसके भाई उसकी अवश्य ही सहायता करेंगे। श्रीपाल इस सत्य से भलीभांति परिचित था कि भाग्य के रूठने पर कोई साथ नहीं देता, फिर भी पत्नी का आग्रह उसने मान लिया। श्वसुर-नगर का मार्ग इतना लम्बा था कि तीन दिन की यात्रा के बाद ही वहां पहुंचा जा सकता था। श्रीपाल ने पाथेय तैयार करने के लिए पत्नी से कहा। चेतना ने देखा कि घर में तो अन्न का एक कण भी शेष नहीं है। पर उसने हिम्मत नहीं हारी। वह पास-पड़ोस से आटा-गुड़ उधार ले आई और उसने चार लड्डू बनाकर एक वस्त्र में बांधकर पति को थमा दिए।

श्रीपाल ने यात्रा प्रारंभ की। उसके भाव बने और उसने उपवास कर लिया। एक ग्राम में रात्रि बिताकर उसने दूसरे दिन की यात्रा प्रारंभ की। दूसरे दिन भी उसने पारणा नहीं किया और उपवास कर लिया। एक सराय में रात्रि-विश्राम करके उसने तीसरे दिन की यात्रा शुरू की। दोपहर को वह एक वृक्ष के नीचे बैठकर विश्राम करने लगा। बेले के पारणे के लिए उसने पाथेय निकाला। चढ़ते परिणामों से उसने भाव भाया, कितना शुभ हो कि कोई मुनि मेरे हाथ से आहार ग्रहण करे। उसकी भावना फलवती बनी और उधर से एक मासोपवासी मुनि गुजरे। मुनि अभिग्रहधारी थे और उनका अभिग्रह यही था कि कोई बेले तप का उपवासी यात्री पारणा करने बैठा हो और उसके पास चार ही लड्डू हों तो वे उसके हाथ से पारणा करें। मुनि ने ज्ञानोपयोग में अपने अभिग्रह को फलित होते देखा तो अपना पात्र श्रीपाल के समक्ष रख दिया। उमंगित भावों से श्रीपाल ने सुपात्र दान दिया। उसने चारों ही लड्डू मुनि को बहरा दिए। मुनि को विदा कर श्रीपाल स्वयं भी यात्रायित बना। संध्या समय श्वसुर-गृह के द्वार पर पहुंचा। परन्तु वहां पर उसका आदर-सत्कार नहीं हुआ। किसी ने उसे पानी तक के लिए नहीं पूछा।

जहां आदर नहीं, ऐसे द्वार पर ठहरना श्रीपाल ने उचित नहीं समझा। वह अपने नगर के लिए लौट चला। मार्ग में एक नदी थी। वहां पर उसने जल पीया। नदी तट पर रंग-बिरंगे पत्थर पड़े थे। उनको श्रीपाल ने एक थैले में भर लिया। उसका विचार था कि उन पत्थरों को बाटों के स्थान पर काम में लिया जा सकेगा। तीन दिनों की यात्रा के पश्चात् श्रीपाल घर पहुंचा। वह छह दिनों से निराहार था। घर पहुंचकर पत्नी को अथान्त कथा कह सुनाई। अपने भाइयों के निर्दय-व्यवहार पर चेतना को बड़ा कष्ट हुआ। तब उसने पति द्वारा लाए गए थैले को पलटा तो पति-पत्नी यह देखकर सुखद आश्चर्य से भर गए कि उनके समक्ष हीरे जवाहरात का ढ़ेर लग गया था। दोनों ने इसे सुपात्र दान की महिमा का महाफल माना।

श्रीपाल का व्यवसाय पहले की अपेक्षा और भी बढ़ा-चढ़ा हो गया। नगर में उसकी प्रतिष्ठा भी पहले से अधिक बढ़ गई।

उधर समय ने पलटा खाया और श्रीपाल के श्वसुर पक्ष को व्यापारिक घाटा लगा। घर-द्वार बिक गए। वह परिवार श्रीपाल के द्वार पर पहुंचा। श्रीपाल ने अपने अनादर को भूलकर उस परिवार को भरपूर सहयोग दिया।

श्रीपाल और चेतना ने श्रावकधर्म धारण किया। उच्च भावों से श्रावकधर्म का आराधन करते हुए वे दोनों ही भव्य जीव देवगति में गए।

(क) श्रीमती

एक बुद्धिमती और आदर्श पतिव्रता नारी। श्रीमती नगर के कोटीश्वर सेठ सागदत्त की पत्नी थी। उसका रूप-सौन्दर्य अद्भुत था। एक बार वह अपने घर की छत पर टहलते हुए नगर-दर्शन कर रही थी। उधर नगर नरेश जितशत्रु भी अपने महल की छत पर चहल-कदमी कर रहा था। राजा की दृष्टि श्रीमती पर पड़ी। उसे देखते ही वह उस पर मोहित हो गया। श्रीमती ने राजा को अपनी ओर एकटक दृष्टि जमाए देखा तो वह छत से नीचे आ गई और गृहकार्य में संलग्न बन गई।

जितशत्रु राजा था और वह समझता था कि राजा होने से उसके राज्य की प्रत्येक वस्तु और व्यक्ति पर उसका अधिकार है। उसने श्रीमती को अपनाने का मन ही मन दृढ़ निश्चय कर लिया। परन्तु वह वैसा कैसे करे इस बात का वह निर्णय नहीं कर पाया। उसने अपने प्रधान सुबुद्धि के समक्ष अपने कुत्सित भाव कहे। सुबुद्धि ने राजा को अनेक दलीलें देकर समझाने का प्रयत्न किया, पर कामान्ध को समझाना सहज नहीं होता है। विवश होकर मन्त्री ने राजा को यह उपाय बताया कि किसी न किसी बहाने से वह सागरदत्त को छह मास के लिए देशाटन पर भेज दे। सागरदत्त की अनुपस्थिति में श्रीमती को रिझाना कठिन नहीं होगा। राजा को मार्ग मिल गया। उसने सागरदत्त को दरबार में बुलाया और उससे कहा कि वह 'अचम्भे का बच्चा' लेकर आए। सागरदत्त सरल चित्त व्यक्ति था। उसने राजाज्ञा को शिरोधार्य कर लिया। घर जाकर उसने अपनी पत्नी से राजाज्ञा के बारे में बताया। श्रीमती बुद्धिमती थी। वह राजा के मन के भावों को ताड़ गई। उसने सागरदत्त से कहा कि वह राजा के पास जाए और देशाटन की अनुमति प्राप्त कर रवाना हो जाए। पर रात में ही लौट आए। उसे कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। सागरदत्त को अपनी पत्नी की बुद्धिमत्ता पर पूर्ण विश्वास था। सो उसने वैसा ही किया जैसा श्रीमती ने कहा था।

राजा सागरदत्त को विदेश भेज कर मन ही मन अति प्रसन्न हुआ। उसने अपना मार्ग निष्कण्टक जाना और एक दूती को श्रीमती के पास भेजा। श्रीमती ने सुविचारित योजनानुसार राजा को रात्रि में आमंत्रित किया। उसने राजा के आगमन से पूर्व ही आवश्यक तैयारियां पूर्ण कर लीं। रात्रि में राजा आया। श्रीमती ने राजा का स्वागत किया। श्रीमती के कहने पर राजा ने राजसी वस्त्राभूषण उतार कर रख दिए। उसी समय श्रीमती के संकेत पर सागरदत्त ने द्वार पर दस्तक दी और पत्नी से दरवाजा खोलने के लिए कहा। सागरदत्त की आवाज सुनकर राजा के पांव तले की धरती खिसक गई। उसने श्रीमती से प्रार्थना की कि वह उसे कहीं छिपा दे। श्रीमती ने एक कोठरी का द्वार खोला और वहां रखे कुण्ड में राजा को छिपने के लिए कहा। राजा कुण्ड में बैठा तो वह किसी तरल पदार्थ (गोंद) से नख-शिख तक भीग गया। कुण्ड से बाहर निकल कर उसने श्रीमती से किसी उचित स्थान पर उसे छिपाने को कहा। एक अन्य कोठरी में श्रीमती ने उसे भेजा तो वहां ताजा पीनी गई रूई से राजा का पूरा शरीर ढ़क गया। तदुपरान्त श्रीमती ने एक पिंजरे में राजा को बैठाया और उसके द्वार पर ताला लगा दिया। सागरदत्त घर में आया तो श्रीमती ने उससे कहा, आप व्यर्थ ही भटक रहे हैं, 'अचंभे का बच्चा' तो घर में ही मौजूद है। कल इसे दरबार में ले जाना।

पिंजरे को घसीट कर सुबह सागरदत्त दरबार में ले गया। अचंभे के बच्चे को देखकर सम्पूर्ण नगर चकित हो गया। राजा को किसी ने पहचाना नहीं । आखिर मंत्री और सागरदत्त ने राजा के सम्मान की रक्षा

की और एकान्त में पिंजरे को ले जाकर राजा को मुक्त किया। राजा अपने किए पर पश्चात्ताप में डूबा जा रहा था।

ऐसे श्रीमती ने अपने बुद्धिबल से अपने चारित्र और नारी के गौरव की रक्षा की।

(ख) श्रीमती

अयोध्या नगरी के कोटीश्वर श्रेष्ठी धवल की पत्नी, एक पतिव्रता और बुद्धिमती सन्नारी। धवल का व्यापार दूर-देशों तक में फैला हुआ था। नगर में उसकी अच्छी प्रतिष्ठा थी। नगर नरेश कीर्तिधवल ने उसे नगर सेठ घोषित किया था। नगर सेठ होने से अमात्य मतिसागर, कोतवाल चन्द्रधवल और राजपुरोहित श्रीधर से उसकी अच्छी मैत्री थी। एक बार जब सेठ विदेश जाने लगा तो उसने सेठानी श्रीमती को समझाया कि उसे किसी प्रकार का कष्ट हो तो राजपुरोहित उसकी सहायता करेंगे। सेठ ने राजपुरोहित, कोतवाल, मंत्री और राजा से आज्ञा ली और विदेश रवाना हो गया।

एक बार पुरोहित श्रीमती के घर आया। पति का मित्र मानकर सेठानी ने उससे वार्तालाप किया। पुरोहित सेठानी के रूप पर मोहित हो गया। उसने उससे प्रणय-प्रार्थना की। सेठानी ने उसे युक्ति-युक्त वचनों से समझाया, पर न समझने पर उसे रात्रि के प्रथम प्रहर में आमंत्रित कर लिया।

आसन्न आपदा को देखते हुए श्रीमती सहायता के लिए कोतवाल के पास गई और पूरी बात बताकर उससे सहयोग मांगा। कोतवाल ने कहा, मैं पुरोहित को अवश्य ही सबक सिखाऊंगा, पर तुम्हारा रूप अति मधुर है। मेरी प्रणय-प्रार्थना स्वीकार कर लो। सेठानी को बड़ा कष्ट हुआ। कोतवाल को शिक्षित करने के लिए उसने उसे रात्रि के द्वितीय प्रहर में अपने भवन पर आमंत्रित कर लिया। तब वह सहयोग-सहायता के लिए क्रमशः मंत्री और राजा के पास गई। पर उन्होंने भी उससे प्रणय-निवेदन किया। श्रीमती ने उन्हें रात्रि के क्रमशः तृतीय और चतुर्थ प्रहर में आमंत्रित कर लिया।

अपने भवन पर पहुंचकर सेठानी ने निश्चय किया कि ये चारों पुरुष राज्य की धुरी होकर भी चरित्रहीन हैं। इन्हें समुचित शिक्षा देना अनिवार्य है। उसने एक पूरी योजना बना डाली और उसमें अपने एक विश्वस्त अनुचर को भी सहभागी बनाया।

रात्रि के प्रथम प्रहर में पुरोहित आ पहुंचा। सेठानी ने उसे मधुर बातों में भरमाते हुए भोजन करने के लिए मना लिया। उसने भोजनादि का कार्य इस गति से किया कि पुरोहित के भोजन करते-करते रात्रि का प्रथम प्रहर बीत गया। तभी द्वार पर कोतवाल ने दस्तक दी। इससे पुरोहित घबरा गया। उसने छिपने के लिए सेठानी से कहा। सेठानी ने उसे एक विशाल मंजूषा के एक खण्ड में छिपा दिया। तब वह कोतवाल के भोजन-पान में लगी। उसी विधि से मंत्री के आने पर कोतवाल को और राजा के आने पर मंत्री को मंजूषा के अलग-अलग खण्डों में छिपा दिया। राजा के आने पर सुशिक्षित अनुचरों ने सेठानी का द्वार खटखटाया और कृत्रिम संदेश दिया कि सेठ जी का निधन हो गया है, द्वार पर परिजन आए हैं। राजा कांपा। सेठानी ने उसे भी मंजूषा के चतुर्थ खण्ड में छिपा दिया।

तब उपस्थित परिजनों की उपस्थिति में श्रीमती ने राजपुरुषों को बुलाया और कहा, मेरे पति का आकस्मिक निधन हो गया है इसलिए मेरे पति के धन पर राजा का अधिकार है। मेरे घर का पूरा धन इस मंजूषा में है। इसे राजमहल ले जाओ और ध्यान रहे कि इस मंजूषा को या तो स्वयं महाराज खोलें या महारानी। अन्य कोई न खोले।

मंजूषा राजमहल ले जाई गई। महारानी ने मंजूषा के एक-एक करके चारों खण्ड खोले और उनमें पुरोहित, कोतवाल , मंत्री और राजा को देखकर दंग रह गई। वस्तुस्थिति वह समझ गई। चारों ने महारानी से अपना अपराध स्वीकार किया। तब राजा ने श्रीमती को आमंत्रित कर उससे अपने अपराध के लिए क्षमा मांगी, उसे भगिनी का पद दिया और उसके निर्मल चारित्र की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की। पुरोहित, कोतवाल और मंत्री ने भी श्रीमती के चरण स्पर्श कर उससे क्षमा मांगी और उसे अपनी बहन माना।

श्रीमती ने आजीवन विशुद्ध पतिव्रत धर्म का पालन किया। कालान्तर में उसके एक पुत्र हुआ। पुत्र जब युवा हुआ तो एक श्रेष्ठि कन्या से उसका पाणिग्रहण कराया गया। पुत्रवधू के आ जाने पर श्रीमती ने स्वयं को दायित्व मुक्त माना और दीक्षा धारण कर ली। विशुद्ध चारित्र और तप की आराधना करके वह देवलोक में गई। आगे के भवों में वह निर्वाण प्राप्त करेगी।

(ग) श्रीमती

जैन कुल में जन्मी एक कन्या। मातृ-दूध के साथ ही श्रीमती को जैन धर्म के अमृत संस्कार घुट्टी रूप में प्राप्त हुए थे। सामायिक साधना और नवकार मंत्र की आराधना उसके दैनिक जीवन के वैसे ही अंग थे जैसे अन्न और जल।

श्रीमती युवा हुई। उसकी धर्मनिष्ठा भी उसी क्रम से सुदृढ़ बनती गई। पर उसका विवाह संयोग से ऐसे कुल में हुआ जहां धर्म शब्द से भी घृणा की जाती थी। श्रीमती श्वसुर-गृह में रहकर भी अपनी धार्मिक क्रियाएं निरंतर करती रही। इससे उसकी सास, श्वसुर और पति उसके विरोधी बन गए। सभी ने श्रीमती को धर्म क्रियाओं से विमुख करने के प्रयास किए। श्रीमती ने परिवार को समझाने के और स्वयं को व्यवस्थित करने के अनेक उपक्रम किए पर वह सफल न हो सकी। घर का पूरा वातावरण अशान्त बन गया।

आखिर सास ने अपने पुत्र के साथ मिलकर श्रीमती की हत्या का षडयन्त्र रच दिया। षडयन्त्र के अनुसार उसने अपने पुत्र से घड़े में रखवा कर एक विषधर सर्प मंगवाया। घड़े को घर में उचित स्थान पर स्थापित कर दिया गया। योजनानुसार पति ने श्रीमती से मधुर शब्दों में कहा, प्रिय! जब से मैंने तुमसे विवाह किया है तब से तुम्हें एक भी उपहार मैं नहीं दे पाया हूं। आज मैं तुम्हारे लिए एक पुष्पाहार लेकर आया हूं। अन्दर घड़े में रखे उस पुष्पाहार को तुम धारण कर लो।

पति के मधुर व्यवहार पर श्रीमती मुग्ध हो गई। उसका नियम था कि जब भी वह किसी नवीन वस्तु को ग्रहण करती पहले नवकार मंत्र का जाप करती थी। नियमानुसार नवकार मन्त्र पढ़कर उसने घड़े में हाथ डाला तो विषधर सर्प फूलों की माला बन गया। पति का उपहार श्रीमती ने गले में धारण कर लिया जिससे उसका रूप निखर उठा।

यह चमत्कार देख कर पति, सास और श्वसुर दंग रह गए। सभी ने धर्म के महान प्रभाव को साक्षात् देखा और सर्प को फूल माला में बदलते हुए देखा। इससे सास, श्वसुर और पति के हृदय बदल गए। उन्होंने श्रीमती को अपने षडयन्त्र के बारे में बताया और अपने अक्षम्य अपराध के लिए क्षमा मांगी। सास, श्वसुर और पति के हृदय परिवर्तन देखकर श्रीमती को हार्दिक प्रसन्नता हुई। तब से उस घर का पूरा वातावरण धर्म के रंग में रंग गया।

(घ) श्रीमती

देवशाल नगर नरेश विजय सेन की रानी। (देखिए-कलावती)

(ङ) श्रीमती

वसन्तपुर नगर के एक श्रेष्ठी की रूप-गुण सम्पन्न पुत्री, जिसने आर्द्रक मुनि को पति रूप में चुना था। (देखिए-आर्द्रक कुमार)

(च) श्रीमती

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की एक रानी। (देखिए-ब्रह्मराजा)

(छ) श्रीमती

कुण्डलपुर नरेश महाराज सर्वार्थ की रानी, नृप सिद्धार्थ की जननी और चरम तीर्थंकर महावीर की पितामही। श्रीमती भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा की एक आदर्श श्राविका थी। परम पुण्योदय से उसे तीर्थंकर महावीर की पितामही—दादी होने का मंगलमय संयोग प्राप्त हुआ।

(ज) श्रीमती

आबू पर्वत के जिनमंदिर के निर्माता विमलशाह की अर्द्धांगिनी। विमलशाह भीमदेव राजा का मंत्री था। वह जैन धर्म का अनन्य अनुरागी था।

श्रीमती भी अनन्य जिनोपासिका श्राविका थी। श्रीमती और विमलशाह के जीवन में सर्वतोभावेन समृद्धि थी। एक अभाव था, उनके कोई संतान नहीं थी। विमलशाह ने अपनी कुलदेवी अम्बिका की आराधना में तीन दिन का निर्जल उपवास किया। देवी प्रगट हुई। विमलशाह ने देवी से दो वर मांगे -(1) पुत्र प्राप्ति और (2) आबू पर्वत पर जिनमंदिर का निर्माण। देवी ने कहा, तुम्हारा पुण्य इतना ही है कि तुम द्वारा याचित एक ही वर सफल हो सकता है, तुम एक ही इच्छित वर की याचना करो।

देवी से आज्ञा प्राप्त कर विमलशाह अपनी पत्नी के पास पहुंचा और उसे देवी द्वारा कही गई बात बताई। श्रीमती ने कहा, प्राणधन! सन्तति तो जन्म-जन्म में प्राप्त होती है, भवसन्तति के विनाश रूप में जिनमंदिर निर्माण रूप वर देवी से प्राप्त कर लीजिए!

विमलशाह ने वैसा ही किया। देवी के वरदान स्वरूप महामंत्री विमलशाह ने आबू पर्वत पर कलात्मक जिनालय का निर्माण कराया जो स्थापत्य कला का अद्‌भुत उदाहरण है।

श्रीमती ने ममत्व को विसार कर एक ऐसा भव्य पारितोषिक विश्व को प्रदान किया जिसका उदाहरण अन्यत्र मिलना दुष्कर है।

उक्त जिनमंदिर का निर्माण ई. सन् 1032 में हुआ। ई. सन् 1010 से 1062 तक विमलशाह का कार्यकाल रहा।

श्रीमद् रायचंद भाई

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध के एक आदर्श जैन श्रावक। श्रीमद् रायचंद भाई बाल्यकाल से ही अंतर्मुखी थे। जन्म, जीवन और मृत्यु के रहस्यों को जानने की उनमें सघन जिज्ञासा थी। जब वे 6-7 वर्ष के ही थे तो पड़ोस में किसी व्यक्ति की मृत्यु हो गई। मृत्यु के यथार्थ को जानने के लिए बालक रायचंद उस व्यक्ति के अंतिम संस्कार को देखने के लिए श्मशान में जा पहुंचे। बड़े-बुजुर्गों ने बालक रायचंद को बालक समझकर श्मशान परिसर में न जाने दिया। इससे रायचंद की उत्कण्ठा और तीव्र हो गई। कुछ दूरी पर खड़े एक वृक्ष पर वे चढ़ गए और शव दाह क्रिया को एकटक हो निहारने लगे। वे यह देखना चाहते थे कि शरीर से जीव

कैसे अलग होता है। कहते हैं कि उस वृक्ष पर बैठकर एकाग्र चित्त से शवदाह संस्कार को देखते-देखते ही बालक रायचंद को जातिस्मरण ज्ञान हो गया।

अतीन्द्रिय ज्ञान से रायचंद भाई ने आत्मबोध प्राप्त किया। उन्होंने अपने पिछले कई भवों का दर्शन किया। इस प्रकार बाल्यकाल से ही रायचंद भाई अध्यात्म से जुड़ गए। उन्होंने योगियों जैसा जीवन जीया और कई आध्यात्मिक रहस्यों से साक्षात्कार किया। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी श्रीमद् रायचंद भाई से विशेष रूप से प्रभावित थे और कई बार उनके दर्शन करने गए थे।

श्रीमद् रायचंद भाई ने कुछ वर्षों तक मुंबई में जवाहरात का व्यवसाय भी किया। व्यवसाय में सत्यनिष्ठा के साथ ही प्रेम और मानवता के उच्चतम आदर्श उन्होंने स्थापित किए।

श्रीमद् रायचंद भाई जन्मना गुजराती थे। उन्होंने गुजराती भाषा में काफी आध्यात्मिक साहित्य की रचना भी की। उन द्वारा रचित गद्य-पद्य रचनाएं उनके अनुभूत आध्यात्मिक ज्ञान के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

आयु के चतुर्थ दशक में प्रवेश करते ही श्रीमद् रायचंद भाई परलोक को प्रस्थान कर गए।

(क) श्रीयक

महाराज नन्द के प्रधानमंत्री जैन श्रावक शकडाल का पुत्र तथा आर्य स्थूलभद्र का अनुज। परिवार की रक्षा के हित महामंत्री शकडाल ने मृत्यु पथ का आलिंगन किया तो नंद राजा को अपनी भूल ज्ञात हुई। उसने शकडाल के स्थान पर उसके पुत्रों को महामंत्री पद देना चाहा। स्थूलभद्र ने महामंत्री पद को ठुकरा कर दीक्षा धारण कर ली। तब यह दायित्व श्रीयक ने वहन किया। कुछ वर्षों तक उसने इस पद पर रहकर देश का संचालन किया।

उधर स्थूलभद्र की दीक्षा के बाद उसकी सातों बहनों ने भी दीक्षा ले ली। तब श्रीयक को भी वैराग्य हो गया। मंत्रीपद को त्यागकर उन्होंने भी आर्हती प्रव्रज्या अंगीकार कर ली।

कहते हैं कि श्रीयक का शरीर बहुत ही सुकोमल था। क्षुधा और तृषा उनसे सहन नहीं होती थी। सम्वत्सरी पर्व के अवसर पर उन्होंने उपवास किया। क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से उपवास में ही उनका स्वर्गवास हो गया। (देखिए-स्थूलभद्र)

(ख) श्रीयक

नन्दिपुर नगर में रहने वाला एक राज-रसोइया। (देखिए-शौरिकदत्त) —विपाकसूत्र, प्र.श्रु., अ. 8

श्रीवर्म राजा

(देखिए-महापद्म चक्रवर्ती)

श्री विक्रम

एक परम जिनभक्त गंगवंशीय नृप। वह परम जिनभक्त नरेश कुशल राजनीतिज्ञ और वीर भी था। उसका राज्य सुदूर क्षेत्रों में फैला हुआ था।

श्रेणिक राजा

तीर्थंकर महावीर कालीन मगध देश का एक धीर, वीर, न्यायी और प्रजावत्सल नरेश। अपने जीवन के उत्तरार्द्ध भाग में उसने जैन धर्म को अंगीकार किया। वह महावीर का अनन्य उपासक बना। जैन धर्म के

प्रचार और प्रसार में उसने महती योगदान दिया। जिनशासन के प्रति उसके हृदय में अखण्ड आस्था थी। संक्षेप में उसका जीवन परिचय निम्नोक्त है–

कुशाग्रपुर नरेश प्रसेनजित के सौ पुत्र थे जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र थे श्रेणिक। अन्तिम आयु में प्रसेनजित ने एक पल्लीपति की पुत्री से विवाह किया। परन्तु यह विवाह इस शर्त पर हुआ था कि उस कन्या से उत्पन्न संतान ही राज्य की अधिकारी होगी। मन के गुलाम राजा ने पल्लीपति की इस शर्त को मान लिया था पर उसे इस बात का खेद अवश्य था कि उसने अपने सर्वविध योग्य और पितृभक्त पुत्र के अधिकार का हनन किया है। अधिकारी होते हुए भी अनाधिकारी बना दिए गए अपने पुत्र श्रेणिक को प्रसेनजित देखता तो उसे बड़ा कष्ट होता। इस दृष्टि से कि 'श्रेणिक अन्यत्र जाकर अपने भाग्य को चमकाए' प्रसेनजित ने कृत्रिम रोष प्रदर्शित करते हुए उसे अपने राज्य से निकाल दिया।

श्रेणिक चले। एक बौद्ध आश्रम में रुके। आश्रमाधिपति ने शकुनविचार से तथा श्रेणिक की मस्तकीय रेखाओं को पढ़कर जान लिया कि वह अल्पकालावधि में ही अंग और मगध का राजा बनने वाला है। उसने श्रेणिक को यह बात बताई। श्रेणिक ने कहा, अगर ऐसा हुआ तो वह उनका सम्मान करेगा। यहां-वहां भटकते श्रेणिक वेनातट नगर पहुंचे। वहां एक वणिक के अतिथि बने। वणिक ने श्रेणिक को सर्वविध योग्य पाकर उनसे अपनी पुत्री नन्दा का विवाह कर दिया।

उधर प्रसेनजित ने पल्लीपति की कन्या से प्राप्त पुत्र को राजगद्दी पर बैठा दिया। पर वह अयोग्य उत्तराधिकारी सिद्ध हुआ। प्रसेनजित के आदेश पर सचिवों ने श्रेणिक को खोज निकाला और उन्हें ससम्मान आमंत्रित करके मगध देश का राजा बना दिया। श्रेणिक एक सुयोग्य और प्रजावत्सल राजा सिद्ध हुए। उन्होंने अपनी वीरता और बुद्धिमत्ता से अपने राज्य की सीमाओं का विस्तार किया। बौद्ध भिक्षु ने उन्हें शीघ्र ही राजा बनने की बात कही थी फलतः श्रेणिक बौद्ध भिक्षुओं का विशेष आदर-मान करने लगे और उन्होंने बौद्ध धर्म अंगीकार भी कर लिया।

कालान्तर में श्रेणिक राजा ने महाराज-चेटक की पुत्री चेलना से विवाह किया। चेलना के मन-प्राण में जैन धर्म बसा हुआ था। चेलना श्रेणिक को जैन धर्म अंगीकार करने के लिए तथा श्रेणिक चेलना को बौद्ध धर्म अंगीकार करने के लिए प्रेरित करते रहे। दोनों अपने-अपने प्रयत्नों में असफल रहे। लेकिन एक घटना प्रसंग ने श्रेणिक को ऐसा सम्मोहित किया कि वे जैन धर्मावलम्बी बन गए। वह घटना इस प्रकार थी थी–

एक दिन श्रेणिक वन भ्रमण को गए। उन्होंने वहां एक जैन श्रमण–अनाथी मुनि को ध्यानस्थ देखा। मुनि के रूप और यौवन को देखकर राजा गद्‌गद बन गया। उसने श्रमण से कहा, कि वह इस अद्‌भुत रूप और यौवन को जंगलों में अकेला भटक कर क्यों व्यर्थ बना रहा है। वह उसके संरक्षण में रहे और मनचाहे भोग-भोगे। अनाथी मुनि ने अपनी प्रव्रज्या का कारण अपनी अनाथता बताया। इस पर राजा ने कहा कि वह उसका नाथ बनेगा। राजा की बात सुनकर मुनि ने ऐसी बात कही जिसे सुनकर राजा हैरान रह गया। मुनि ने कहा कि वह स्वयं अनाथ है और जो स्वयं अनाथ है वह किसी का नाथ कैसे बन सकता है। राजा ने अपनी दौलत, समृद्धि और सत्ता की बात कही तो मुनि ने पूछा कि क्या ये सब कुछ उसे मृत्यु से त्राण दे सकते हैं। क्या मृत्यु के क्षण में धन, सेना और समृद्धि के बल पर वह उससे बच सकता है ?

राजा को लगा कि मुनि का कथन अक्षरशः सच है। उसने उसी क्षण जैन धर्म को अंगीकार कर लिया। वह सच्चा श्रमणोपासक और भगवान महावीर का अनन्य उपासक बन गया। भगवान महावीर जब भी राजगृह नगर में अथवा पास-पड़ोस के क्षेत्रों में विचरण करते तो श्रेणिक उनके दर्शन किए बिना अन्न-जल

ग्रहण नहीं करता था। भगवान महावीर और उनके संघ के प्रति राजा के हृदय में ऐसी दृढ़ आस्था थी कि उनकी आस्था की अनुशंसा देवलोकों में भी होती थी।

एक बार जब देवराज इन्द्र ने श्रेणिक की श्रद्धा की संस्तुति देवसभा में की तो एक देवता श्रेणिक की परीक्षा लेने आया। राजा जिस मार्ग से गुजर रहे थे उस मार्ग पर वह देवता एक श्रमण का वेश धारण कर जलाशय से मछलियां पकड़ने लगा। श्रेणिक इस दृश्य को देखकर खिन्न बन गए। उन्होंने श्रमण को समझाया। श्रमण बोला, ऐसा कार्य वह अकेला नहीं करता है, महावीर के अन्य श्रमण भी ऐसा ही करते हैं। महावीर के श्रमणों की निन्दना सुनकर श्रेणिक ने उस श्रमण को कठोरता से सजग किया और कहा कि वह अपने पाप को उचित सिद्ध करने के लिए महावीर के शिष्यों की निन्दना कर रहा है। उस श्रमण को समझाकर श्रेणिक कुछ ही आगे बढ़े थे कि उन्हें राजपथ पर एक सगर्भा साध्वी दिखाई दी। श्रेणिक सन्न रह गए। उन्होंने साध्वी को उसके पाप के लिए प्रायश्चित्त करने की सलाह दी तो साध्वी ने आंखें तरेरते हुए कहा, कैसा प्रायश्चित्त लूं ? प्रायश्चित्त तो गौतम आदि श्रमणों को लेना चाहिए जो इस अकार्य के लिए उत्तरदायी हैं।

श्रेणिक का हृदय उस साध्वी के प्रति वितृष्णा से भर गया। उन्होंने सख्त शब्दों में साध्वी के दोषारोपण का प्रतिवाद किया और कहा, कि वह परम चारित्रवान गौतमादि श्रमणों के प्रति अभ्याख्यान करेगी तो उसे कठोर राजदण्ड दिया जाएगा और यदि वह अपने पाप का प्रायश्चित्त कर लेगी तो न केवल उसके समुचित प्रसव की व्यवस्था की जाएगी अपितु बाद में उसके संयम-प्रवेश पर भी उसका समुचित सहयोग किया जाएगा। श्रेणिक की महावीर और उनके श्रमणों के प्रति ऐसी दृढ़ निष्ठा देखकर देवता दंग रह गया। उसने अपने मूल रूप में प्रगट होकर श्रेणिक का अभिनन्दन किया और उनकी मुक्त कण्ठ से संस्तुति की। जाते हुए उपहार स्वरूप एक दिव्य हार और दो स्वर्ण कंकण उसने श्रेणिक को भेंट स्वरूप प्रदान किए।

श्रेणिक ने अपना पूर्वार्द्ध जीवन पूर्ण भोग-विलास और ऐश्वर्य पूर्ण ढंग से जीया परन्तु जीवन का उत्तरार्द्ध भाग उन्होंने पूर्ण धार्मिक मनोवृत्ति के साथ व्यतीत किया। अपनी प्रकृष्ट श्रद्धा और धर्म प्रभावना के कारण उन्होंने तीर्थंकर गोत्र अर्जित किया। धारिणी, नन्दा, काली, चेलना आदि उनकी कई रानियों तथा मेघ, अभय, नंदीसेन आदि कई पुत्रों ने महावीर के धर्मसंघ में दीक्षा धारण की। श्रेणिक ने इनको खुशी-खुशी दीक्षा की आज्ञा प्रदान की।

चेलना से उत्पन्न श्रेणिक का कौणिक नामक पुत्र एक अति महत्वाकांक्षी युवक था। उसने अपने कुछ सोतेले भाइयों को साथ मिलाकर अपने पिता श्रेणिक के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उसने श्रेणिक को कारागार में डाल दिया और स्वयं मगध की राजगद्दी पर आसीन हो गया।

कारागार में ही श्रेणिक का निधन हुआ। सम्यक्त्व स्पर्श से पूर्व ही उनकी भावी गति नरक की बन्ध चुकी थी। फलतः वे प्रथम नरक में गए। वहां से निकलकर आगामी चौबीसी में पद्म नाम के प्रथम तीर्थंकर होंगे।

(क) श्रेयांस (कुमार)

भगवान ऋषभदेव के पौत्र, हस्तिनापुर नरेश सोमप्रभ के पुत्र तथा वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम दातार। ऋषभदेव मुनि बने। उस समय तक जगत दान-धर्म और भिक्षा विधि से अपरिचित था। भगवान भिक्षा के लिए नगर में जाते तो लोग उन्हें बहुमूल्य वस्तुएं देना चाहते पर भोजन देने का विचार किसी को नहीं सूझता। एक वर्ष तक भगवान निराहार घूमते रहे। वे कृशकाय हो गए।

एक रात्रि में श्रेयांस कुमार ने एक स्वप्न देखा—मानो वह काले पड़ते हुए सुमेरु पर्वत को अपने हाथों से अमृत घट से सींच रहा है। उसी रात में महाराज सोमप्रभ ने भी एक स्वप्न देखा—एक दिव्य पुरुष शत्रु सेना द्वारा हराया जा रहा है पर श्रेयांस कुमार के सहयोग से उसने शत्रु सेना को परास्त कर दिया। उसी रात्रि में नगर के एक प्रमुख श्रेष्ठी सुबुद्धि ने भी एक स्वप्न देखा—किरणों से रहित होते हुए सूर्य को श्रेयांस कुमार ने पुनः किरणों से संयुक्त बना दिया है।

दूसरे दिन श्रेयांस कुमार अपने महल के झरोखे में बैठे रात में देखे गए स्वप्न पर चिन्तन कर रहे थे। संयोग से भगवान ऋषभदेव भिक्षार्थ घूमते हुए उधर आए। श्रेयांस ने भगवान को देखा। चिन्तन जगा कि उसने पहले भी ऐसे वेश-विन्यास को कहीं देखा है। यों चिन्तन करते-करते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसे भिक्षा विधि का परिज्ञान मिल गया। उसने प्रभु से भिक्षा लेने की प्रार्थना की। प्रभु को शुद्ध इक्षुरस का दान देकर उसने प्रथम दातार होने का गौरव पाया। प्रभु ने वर्षीतप का पारणा किया। श्रेयांस कुमार का यश चहुं ओर फैल गया। सबके स्वप्न साकार बन गए। वह दिन अक्षय तृतीया के रूप में आज भी तप और दान के साथ मनाया जाता है।

(ख) श्रेयांस (मुनि)

एक अति प्राचीन जैन मुनि।

(ग) श्रेयांस (राजा)

विहरमान प्रभु श्री सीमन्धर स्वामी के जनक । (देखिए-सीमंधर स्वामी)

श्रेयांसनाथ (तीर्थंकर)

प्रभु श्रेयांसनाथ वर्तमान चौबीसी के ग्यारहवें तीर्थंकर थे। सिंहपुर नरेश महाराज विष्णु प्रभु के पिता थे और उनकी महारानी विष्णुदेवी प्रभु की माता थीं। फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन प्रभु का जन्म हुआ। यौवन वय में अनेक राजकुमारियों का प्रभु के साथ विवाह हुआ। प्रभु ने पिता के बाद शासन सूत्र अपने हाथों में संभाला और सुशासन से जनता को प्रसन्न और समृद्ध किया। फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी के दिन प्रभु ने दीक्षा ली। ग्यारह मास की आत्मसाधना के पश्चात् प्रभु केवली बने। तीर्थ स्थापित कर तीर्थंकर पद पर अभिषिक्त हुए। असंख्य भव्यात्माओं के लिए *परम पथ प्रशस्त करके प्रभु श्रावण* वदी तृतीया को सम्मेद शिखर से निर्वाण को उपलब्ध हुए। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

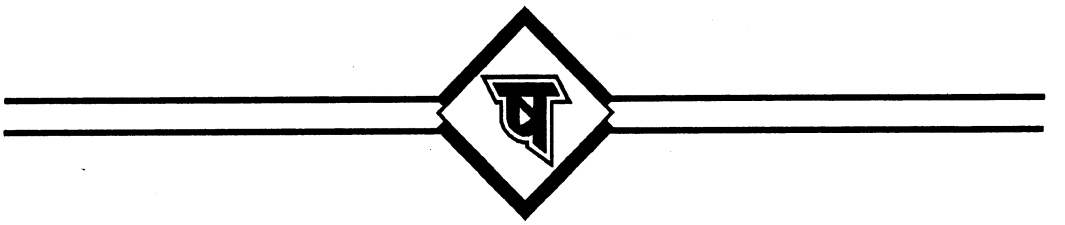

षाण्डिल्य (आचार्य)

अर्हत् परम्परा के युगप्रधान आचार्य। उनका जन्म ब्राह्मण परिवार में हुआ था और उनका गोत्र कौशिक था। वी.नि. 306 में उनका जन्म हुआ और वी.नि. 328 में उन्होंने मुनि-धर्म में प्रवेश किया। वी.नि. 376 में वे प्रधानाचार्य और वाचनाचार्य पदों पर प्रतिष्ठित हुए। 108 वर्ष की अवस्था में वी.नि. 414 में उनका स्वर्गारोहण हुआ।

षाण्डिल्याचार्य ने श्यामाचार्य के पश्चात् संघ का दायित्व संभाला था। हिमवन्त स्थविरावली के अनुसार उनके दो शिष्य थे—आर्य जीतधर और आर्य समुद्र।

षाण्डिल्याचार्य के जीवन दर्शन के सम्बन्ध में प्रचुर सामग्री उपलब्ध नहीं है। पर इतना तो सहज सिद्ध है कि वे अपने समय के एक महान विद्वान और कुशल संघशास्ता आचार्य थे।

—नन्दी स्थविरावली

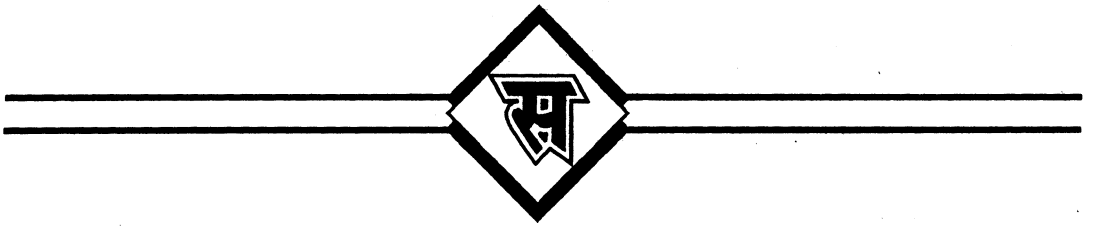

(क) संगम (देव)

सौधर्मेन्द्र का एक सामानिक देव। उसे अपने बल पर बहुत घमण्ड था। एक बार जब इन्द्र ने प्रभु महावीर की समता, समाधि और साधना की गद्‌गद भाव से प्रशंसा की तो उससे यह प्रशंसा सहन न हुई। उसने इन्द्र को चुनौती दे डाली कि वह भगवान को समता समाधि से चलित करके दिखाएगा। संगम धरती पर आया और उसने महावीर पर कष्टों की बरसात कर दी। एक ही रात्रि में बीस प्रकार के मारणान्तिक उपसर्ग उसने उपस्थित किए। पर भगवान की समता-समाधि को वह भंग नहीं कर पाया। इसी से वह संतुष्ट नहीं हुआ और निरंतर भगवान के साथ रहकर उन्हें उपसर्ग देने लगा। छह मास तक वह निरंतर प्रभु के कदम-कदम पर कठिनाइयां उपस्थित करता रहा। पर प्रभु को चलित करने में असफल रहा। अंततः प्रभु से क्षमा मांगकर लौटने लगा तो कहते हैं कि प्रभु के नेत्र आर्द्र हो गए। संगम ने सोचा, साथ रहकर वह जो न कर पाया साथ छोड़ते हुए वह हो गया। उसने प्रभु से उनके आंसुओं का कारण पूछा तो प्रभु ने संगम के अंधकाराछन्न भविष्य की बात कही और कहा, उनके पास आने वाला तो हल्का होकर लौटता है पर वह बहुत भारी बनकर लौट रहा है। महावीर की इस निःशब्द करुणा ने संगम को चौंका दिया। वह कल्पना नहीं कर सकता था कि किसी मानव में करुणा का वैसा विकास भी संभव है। वह प्रभु के चरणों पर नत हो गया और अपने कृत के लिए पुनः-पुनः क्षमा मांगने लगा। महावीर की भगवत्ता से चमत्कृत बना संगम अपने लोक को लौट गया जहां सौधर्मेन्द्र ने उसका स्वागत वज्र से किया और उसे स्वर्ग से बहिष्कृत कर दिया।

—आवश्यक चूर्णि

(ख) संगम (शालिभद्र)

धन्या नामक निर्धन और विधवा महिला का पुत्र। संगम के जन्म लेने से पूर्व धन्या एक भरे-पूरे परिवार वाली महिला थी। उसके पति के पास अनेक गाएं थी। दूध-दही के विक्रय से परिवार-पोषण सानन्द होता था। पर समय बदला तो समस्त पारिवारिक-जन परलोकवासी हो गए। उसके पास रह गया उसका अल्पायुषी पुत्र संगम। उदर पोषण का कोई साधन धन्या के पास शेष न था। ऐसे में अपना गांव छोड़कर वह राजगृह नगर में आ गई। वहां धनाढ्य श्रेष्ठियों की बस्ती के पास ही एक झोंपड़ी डालकर वह रहने लगी। श्रेष्ठियों के घरों में झाड़ू-बर्तन करने से उतना अन्न मिल जाता जिससे वह अपना तथा अपने पुत्र का उदर पोषण कर लेती।

कुछ बड़ा होने पर संगम श्रेष्ठियों के पशु चराने जंगल में जाने लगा। माता मजदूरी करती। ऐसे में समय सरक रहा था। एक दिन किसी उत्सव पर बालक संगम ने हमउम्र बालकों से सुना कि उनके घरों में खीर बनी है। नन्हा बालक झोंपड़ी में आकर खीर के लिए माता से जिद्द करने लगा। नन्हे पुत्र की जिद्द ने माता को रुला दिया। सेठानियों को ज्ञात हुआ तो उन्होंने करुणावश चावल, शक्कर और दूध धन्या को मधुर उपालंभ के साथ उपलब्ध करा दिए। धन्या ने खीर बनाई। आधी खीर उसने थाली में डाली और पुत्र

से यह कहकर कि ठण्डी होने पर वह खीर खाले, स्वयं काम करने चली गई।

संगम ने हमउम्र श्रेष्ठी पुत्रों का शोर सुना तो उसने देखा कि बालक एक मासोपवासी मुनि को अपने-अपने घर चलने की प्रार्थना कर रहे हैं। लपककर संगम भी मुनि के समक्ष पहुंचा और उन्हें अपने घर बुलाने लगा। समस्त प्रार्थनाओं में मुनि ने संगम की प्रार्थना को मान्यता दी और उसकी झोंपड़ी पर आकर अपना पात्र फैला दिया। जिस खीर के लिए कुछ देर पहले संगम रो रहा था उस पूरी खीर को उसने मुनि के पात्र में उंडेल दिया और प्रसन्नता से नाच उठा।

मुनि के जाने के बाद संगम थाली के किनारों पर रही हुई खीर को चाटने लगा। उसी क्षण धन्या लौटी। पूरी बात से अपरिचित धन्या ने सोचा कि उसका पुत्र अभी भूखा है। उसने बर्तन में शेष पूरी खीर को भी संगम की थाली में उंडेल दिया। पूरे भाव से संगम ने खीर का आहार किया। गरिष्ठ भोजन से उसे अपच हो गया। उदरशूल से वह व्याकुल बन गया और कुछ ही देर में उसका देहान्त हो गया। (वस्तुतः संगम ने क्षीरदान से इतना महापुण्य संचित कर लिया था कि उस महान पुण्य के उपभोग के लिए किसी उचित स्थान की अपेक्षा थी। अजीर्ण तो निमित्त मात्र ही बना था।)

वहां से देह छोड़कर संगम उसी मोहल्ले के सबसे समृद्धिशाली सेठ गोभद्र सेठ की पत्नी भद्रा की कुक्षी से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ जहां उसका नाम शालिभद्र रखा गया। (देखिए-शालिभद्र)

संघदत्त

कामपुर नगर का एक धनी व्यापारी। (देखिए-केशरी)

संजय राजर्षि

उत्तराध्ययन सूत्र के संजयीय नामक अध्ययन के नायक। संजय काम्पिल्यनगर के राजा थे। गर्दभाली आचार्य से प्रतिबोध पाकर संजय हिंसा से विरत हुए और मुनि बनकर आत्मकल्याण की साधना में रत बन गए। (देखिए-गर्दभाली)

सम्प्रति (राजा)

मौर्यवंशी सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार में जो महनीय कार्य किए वही कार्य जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में उनके पौत्र और भारतवर्ष के यशस्वी सम्राट् सम्प्रति ने किए। सम्राट् सम्प्रति के हृदय में जैन धर्म के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा थी। उसने जैन धर्म को राजधर्म का दर्जा दिया था। जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए उसने आन्ध्र प्रदेश तक अपने अनुचरों को मुनि वेश पहनाकर भेजा था जिससे जैन श्रमण के वेश-विन्यास से साधारण जनता परिचित हो सके तथा जैन श्रमणों का विचरण सुगम बन सके। मिस्र, अरब, ईरान, यूनान, चीन और जापान आदि देशों में भी जैन धर्म के विद्वान और प्रचारक भेज कर उसने जैन धर्म को विश्वधर्म बनाने के महनीय प्रयास किए थे।

कथा-साहित्य के अनुसार आचार्य सुहस्ती के दर्शन करके सम्राट् सम्प्रति को अपना पूर्वजन्म स्मरण हो आया था। उससे सम्प्रति की जैन धर्म के प्रति आस्था और भी सुदृढ़ बन गई। उसने निर्धनों के कल्याण के लिए अपने राज्य में सात सौ दानशालाएं खुलवाई थीं। उसने कई जिन मंदिर भी बनवाए और कई जिनालयों का जीर्णोद्धार भी कराया—ऐसे उल्लेख प्राप्त होते हैं।

सम्राट् सम्प्रति का शासनकाल ईसा पूर्व 230 से 190 तक का माना गया है।

संभवनाथ (तीर्थंकर)

संभवनाथ जैन परम्परा के तीसरे तीर्थंकर थे। श्रावस्ती नगरी के महाराज जितारि और उनकी रानी सोना देवी संभवनाथ के जनक और जननी थे। भगवान के गर्भ में आते ही राज्य के असंभव से कार्य सहज संभव बन गए इसलिए उनके जन्म लेने पर उनका नाम संभवनाथ रखा गया।

युवा होने पर संभवनाथ ने पिता का उत्तराधिकार संभाला और सुदीर्घ काल तक सुशासन किया। जीवन के अन्तिम भाग में उन्होंने जिन दीक्षा ग्रहण की और केवलज्ञान को साधकर तीर्थंकर पद पाया। उनके धर्मोपदेशों से जगत में नवीन धार्मिक क्रान्ति का उद्घोष हुआ। लाखों भव्य प्राणियों ने सद्धर्म का अमृतपान करके मोक्ष का पथ प्रशस्त किया।

भगवान संभवनाथ के दो पूर्वभवों का वर्णन प्राप्त होता है। दो भव पूर्व भगवान का जीव महाविदेह क्षेत्र की क्षेमपुरी नगरी का राजा था जिसका नाम विमलवाहन था। विमलवाहन का हृदय अत्यन्त कोमल और करुणाशील था। किसी समय उस क्षेत्र मे दुष्काल पड़ा। अन्नाभाव से प्रजा त्रसित बन गई। उस समय करुणाशील राजा ने अपने अन्न भण्डारों के द्वार खुलवा दिए। उन्होंने अपने पाचक को निर्देश दिया कि उनकी रसोई से कोई भी अतिथि खाली न लौटे। ऐसे में कई बार राजा को भूखा भी रहना पड़ा। फलस्वरूप राजा ने तीर्थंकर गोत्र का बन्ध किया। कालान्तर में दुष्काल समाप्त हो गया। पर राजा का मन विरक्त हो चुका था। उन्होंने मुनिव्रत अंगीकार करके अपना शेष जीवन संयम और साधना को समर्पित कर दिया। आयुष्य पूर्ण कर वे आनत देवलोक में गए और वहां से च्यव कर संभवनाथ के रूप में जन्मे।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र

संभूतविजय (आचार्य)

तीर्थंकर महावीर के धर्मशासन के छट्ठे पट्टधर आचार्य और चतुर्थ श्रुतकेवली। उनका जन्म माठर गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में वीर निर्वाण 66 में हुआ था। आचार्य शय्यंभव की उपस्थिति में ही वे दीक्षित हुए और आचार्य श्री यशोभद्र जी के शिष्य बने। आचार्य यशोभद्र जी से ही उन्होंने चतुर्दश पूर्व का अध्ययन किया और उनके स्वर्गवास के पश्चात् वे वी.नि. 148 में युगप्रधान आचार्य के पाट पर आरूढ़ हुए।

आचार्य भद्रबाहु संभूतविजय के लघु गुरुभ्राता थे। इन दो चतुर्दश पूर्वधर महापुरुषों की छत्रछाया में जिनशासन की महती प्रभावना हुई। उस समय मगध पर अंतिम नंद का शासन था और उसके मन्त्री शकडाल एक जैन श्रावक थे। जैन धर्म पर महामन्त्री शकडाल की श्रद्धा अपूर्व और अनन्य थी। उन्हीं के संस्कार उनकी संतानों में भी यथावत् उतरे थे। अपनी प्रामाणिकता की परीक्षा के लिए शकडाल ने इच्छामृत्यु का वरण किया। पितृमृत्यु से आहत स्थूलभद्र का वैषयिक अनुराग क्षीण हो गया और वे मन्त्रिपद के लिए नन्दराजा के प्रस्ताव को अस्वीकार करके आचार्य संभूतविजय के शिष्य बन गए। बाद में यक्षा आदि उनकी आठ भगिनियों ने भी आचार्य संभूतविजय के धर्मसंघ में दीक्षा ग्रहण की। कुछ वर्ष बाद स्थूलभद्र के अनुज श्रीयक भी मन्त्रिपद का त्याग कर प्रव्रजित हो गए। ऐसे एक ही परिवार के नौ सदस्यों ने श्री संभूतविजय के धर्मसंघ में दीक्षा धारण की।

आचार्य संभूतविजय का धर्मसंघ सुविशाल था। उनके अनेक शिष्य, प्रशिष्य और अन्तेवासी श्रमण थे। कल्पसूत्र स्थविरावली में उनके 12 शिष्यों के नामों का उल्लेख हुआ है, यथा —(1) नंदन भद्र, (2) उपनंदन भद्र, (3) तीसभद्र, (4) यशोभद्र, (5) सुमणिभद्र, (6) मणिभद्र, (7) पुण्यभद्र, (8) स्थूलभद्र, (9) उज्जुमई,

(10) जंबू, (11) दीहभद्र, (12) पण्डुभद्र।

आचार्य संभूतविजय 42 वर्षों तक गृहवास में रहे। 40 वर्षों तक वे सामान्य मुनि अवस्था में रहे तथा आठ वर्षों तक युगप्रधान आचार्य पद पर रहे। वी.नि. 156 में उनका स्वर्गवास हुआ।

—परिशिष्ट पर्व, सर्ग -8-9 / उपदेश माला, विशेष वृत्ति / नन्दी सूत्र / कल्पसूत्र

(क) संवर

जयत्थल नगर के श्रेष्ठी विशाखदत्त का पुत्र, एक दृढ़ निश्चयी, आत्मविश्वासी और श्रद्धाशील युवक। संवर के अनुज का नाम धनदेव था। धनदेव अस्थिर चित्त और शंकाशील स्वभाव का युवक था। गृहदायित्व किस पुत्र को प्रदान किया जाए, इस प्रश्न पर श्रेष्ठी विशाखदत्त ने पुत्रों की बुद्धि की परीक्षा के लिए उनको समान धन देकर व्यापारार्थ विदेश भेजा। संवर विदेश गया। कांचीपुर नगर में जाकर उसने ऊंचे दामों पर अपना माल विक्रय किया और राजा का विश्वासपात्र बनकर अपने धन को सूद पर देकर कई गुणा बना लिया। क्योंकि वह राजा का विश्वास पात्र था इसलिए उसके धन को दबाने का दुःसाहस कोई नहीं कर सकता था। कुछ ही वर्षों में उसने प्रभूत धन अर्जित कर लिया।

धनदेव शंकाशील था। वह गज्जनय नगर के लिए रवाना हुआ। मार्ग में उसे कुछ व्यापारी मिले। व्यापारी धूर्त और चतुर थे। धनदेव के स्वभाव को समझते उन्हें देर न लगी। उन्होंने धनदेव को बताया कि उसके माल का मूल्य उसे गज्जनय नगर में कोड़ियों के भाव से मिलेगा। वह चाहे तो वे उसके माल को समान मूल्य पर खरीद सकते हैं। हानि के भय से धनदेव ने अपना पूरा माल उन व्यापारियों को अल्प मूल्य पर बेचकर भारी नुकसान उठाया। बचे धन को लेकर वह आगे बढ़ा और शंकाग्रस्त चित्त के कारण पुनः-पुनः व्यवसाय बदलता रहा। इससे शीघ्र ही उसकी पूंजी समाप्त हो गई और भिखारी बनकर वह अपने घर लौटा।

निर्धारित समय पर संवर भी अपने मूल धन को कई गुणा करके अपने नगर को लौटा। उसके पिता, नगर के राजा और नगर निवासियों ने उसका सम्मान और स्वागत किया। सेठ ने संवर को गृहस्वामी का उत्तरदायित्व प्रदान कर दिया।

—कथारत्न कोष, भाग 1

(ख) संवर

अयोध्या के एक राजा। भगवान अभिनन्दन के पिता।

संवेग

एक सत्यनिष्ठ स्वर्णकार। वह जिनोपासक, अदत्त का त्यागी और पूर्ण प्रामाणिक व्यापारी था। उसकी प्रामाणिकता पर राजा और प्रजा को पूर्ण विश्वास था। फलतः वह धन तो संचित नहीं कर पाया, पर सुयश का उसने प्रभूत अर्जन किया। कालक्रम से उसके चार पुत्र हुए। चार पुत्रवधुएं आईं। परिवार फैला। चारों पुत्र पिता के कार्य में हाथ बंटाने लगे। संवेग सदैव पुत्रों को सत्यनिष्ठा, ईमानदारी और प्रामाणिकता की सीख देता। पर पुत्रों को सत्य पर श्रद्धा न थी, उन्हें तो धन की कामना थी। पर संवेग के समक्ष उनकी एक नहीं चलती थी। पुत्रवधुएं भी आभूषण चाहती थीं। परन्तु मात्र मजदूरी से आभूषण बनें भी तो कैसे? पिता की प्रामाणिकता पर पुत्र खीझते थे।

एक बार राजा ने मोतियों का एक हार पिरोने के लिए संवेग के पास भेजा। एक पुत्रवधू ने राजा के मोतियों में से एक मोती चुरा लिया। इस पर संवेग बहुत नाराज हुआ और पूरे परिवार को एकत्रित करके

मोती मांगा। चारों पुत्र और चारों पुत्रवधू परस्पर एक हो गए और बोले कि वे मोती नहीं लौटाएंगे। उन्होंने कहा, पिताजी ! राजा आप पर आंखें मूंद कर विश्वास करता है। उसे ज्ञात ही नहीं होगा कि इतने मोतियों में कोई नकली मोती भी है। फिर भी यदि कभी राजा को संदेह हो गया तो हम चारों पुत्रों में से चोरी का दायित्व कोई एक अपने सिर पर ले लेगा। आप निश्चिंत रहिए। आखिर पारिवारिक दुराग्रह के समक्ष संवेग ने हार में एक नकली मोती पिरो दिया।

एक बार दरबार में विदेशी रत्नपारखी आए। राजा ने अपना मोतियों का हार उन पारखियों के समक्ष परख के लिए रखा। कुशल पारखियों ने तत्क्षण परख लिया कि हार में एक मोती नकली है। उन्होंने राजा को नकली मोती दिखाया। राजा का क्रोध संवेग पर उमड़ा। राजपुरुष संवेग की गिरफ्तारी के लिए पहुंचे। संवेग राजपुरुषों को देखते ही पूरी बात जान गया। उसने अपने पुत्रों और पुत्रवधुओं को एकत्रित करके पूछा, कहो, कौन है जो चोरी का दायित्व अपने ऊपर लेकर राजदण्ड भोगने को तैयार है। संवेग की बात सुनकर सभी के प्राण सूख गए। सभी ने कहा, पिता जी ! आप वृद्ध हो चुके हैं। यह दायित्व आप ही लीजिए। फिर व्यवसाय का उत्तरदायित्व तो आप पर ही है, हमें कौन जानता है ?

संवेग का मन निर्वेद से भर गया। पुत्रों और पुत्रवधुओं के स्वार्थी चेहरे उसके समक्ष प्रगट हो चुके थे। वह राजदरबार में पहुंचा। राजा ने उसे मृत्युदण्ड दिया। पर अपनी वाग्चातुरी से संवेग ने राजा को यह समझा दिया कि उसने असली मोती के स्थान पर नकली मोती क्यों लगाया। इस पर राजा इतना प्रसन्न हुआ कि उसने वह हार ही संवेग को पुरस्कार स्वरूप प्रदान कर दिया। परन्तु संवेग ने वह हार राजा को लौटा दिया और मोती की सच्ची कथा राजा को सुना दी। साथ ही उसने स्पष्ट कर दिया कि सम्बन्धों की विद्रूपता ने उसके मन में संवेग को जगा दिया है। उसने कहा, महाराज ! अब मैं घर नहीं लौटूंगा। प्रव्रजित होकर आत्मकल्याण करूंगा।

राजा भी विरक्त हो गया। उसी दिन एक मुनि नगर के बाह्य भाग में स्थित राजोद्यान में पदार्पित हुए। राजा और संवेग ने मुनि से प्रव्रज्या धारण की। मुनि का उपदेश सुनकर और पिता को विरक्त देखकर संवेग के पुत्रों और पुत्रवधुओं में भी धर्म निष्ठा जागृत हुई और उन्होंने श्रावक धर्म अंगीकार किया।

राजर्षि और संवेग मुनि चारित्र पर्याय का पालन कर देवलोक में गए। भवान्तर में वे मोक्ष प्राप्त करेंगे।

सकडालपुत्र (श्रावक)

उपासकदशांग सूत्र में सकडाल पुत्र का चरित्र अत्यन्त विस्तार से उपलब्ध है। वह पोलासपुर नगर का एक धनी कुंभकार था। उसने बर्तन निर्माण को एक उद्योग का दर्जा दे दिया था और उससे उसने अथाह धन अर्जित कर लिया था। उसके पास तीन कोटि स्वर्णमुद्राएं और दस हजार गायों का एक गोकुल था। उसकी पत्नी का नाम अग्निमित्रा था। पति-पत्नी दोनों ही गोशालक मत के अनुयायी थे। एक दिन जब सकडालपुत्र अपनी अशोकवाटिका में बैठा धर्म चिन्तन कर रहा था तो किसी देव ने उससे कहा कि कल नगर में महामाहन आएंगे, वे त्रिकालदर्शी और भगवान हैं, उसे उनकी सेवा करनी चाहिए।

सकडालपुत्र ने सोचा कि महामहान तो उसके गुरु गोशालक हैं। देव ने उन्हीं के आगमन की सूचना दी है। दूसरे दिन प्रसन्न चित्त सकडालपुत्र गोशालक के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। पर उसे सूचना मिली कि सहस्राम्रवन में भगवान महावीर पधारे हैं। इस विचार से कि महावीर भी महामाहन ही हैं वह भगवान के दर्शन करने गया। उसे देखकर भगवान ने बीते दिन की बात को प्रगट किया। कहा कि कल देव

ने उसे महामाहन के आगमन की सूचना दी थी। उसने महामाहन से गोशालक का अर्थ समझा था। भगवान द्वारा अपने मन की बात का रहस्योद्घाटन सुनकर सकडालपुत्र बहुत प्रभावित हुआ। उसने विनम्रता से भगवान की बात का समर्थन किया। भगवान ने कहा—अब तो उसे विश्वास हो गया कि देव का संकेत गोशालक के लिए नहीं था। सकडालपुत्र पूर्णतः विश्वस्त हो गया कि महावीर ही महामाहन हैं। उसने सभक्ति भगवान से अपनी कुंभकारापणशाला में विराजने की प्रार्थना की। उसकी प्रार्थना को मान देकर भगवान उसकी कुंभकारापणशाला में विराजित हुए।

गोशालक नियतिवाद का प्रवर्तक था। उसका सिद्धान्त था—जो होने वाला है वह होता है, पुरुषार्थ व्यर्थ है। सकडालपुत्र भी उसी सिद्धान्त को मानता था। उसमें सत्य दर्शन जागृत करने के लिए भगवान ने उससे पूछा कि ये मिट्टी के बर्तन कैसे बने। सकडालपुत्र ने अपनी मान्यता की रक्षा करते हुए उत्तर दिया कि इन्हें बनना ही था, सो बन गए हैं। महावीर ने पुनः प्रश्न किया कि यदि इन बर्तनों को कोई फोड़ दे तो! सकडालपुत्र बोला कि वह इन्हें तोड़ने वाले को दण्डित करेगा। भगवान ने कहा—तुम्हारा तो सिद्धान्त है कि जो हो रहा है वह पूर्व-निश्चित है, फिर व्यक्ति का अपराध ही क्या है ? उसे दण्ड क्यों दोगे?

नियतिवाद की अतार्किकता सकडालपुत्र के समक्ष स्पष्ट हो गई। उसकी प्रार्थना पर भगवान ने उसे सत्य तत्व का बोध दिया। उसने भगवान से बारह श्रावक व्रत अंगीकार कर लिए और पूर्ण निष्ठा से उनका पालन करने लगा। सकडालपुत्र द्वारा धर्म-परिवर्तन की सूचना ने गोशालक को स्तब्ध बना दिया। वह पोलासपुर पहुंचा। सकडालपुत्र के पास गया पर सकडालपुत्र ने उसको गुरु का आदर नहीं दिया। गोशालक ने भेदनीति का सहारा लेकर महावीर की प्रशंसा के पुल बांधे। पर वह सकडालपुत्र से उसकी कुंभकारापणशाला में विश्राम स्थल पाने के सिवा कुछ न पा सका।

किसी समय रात्रि में सकडालपुत्र पौषधशाला में धर्मचिंतन में रत था। एक देव ने उसकी परीक्षा ली। उसके समक्ष उसके पुत्रों की हत्या कर उनके रक्त को उबालकर सकडालपुत्र के शरीर पर उंडेला। मानसिक और शारीरिक व्यथा में भी उसे अविचलित देख देव ने उसकी पत्नी अग्निमित्रा को उसके समक्ष उपस्थित किया और उसे मारने को उद्यत हुआ। इस पर सकडालपुत्र सहम गया और पत्नी की रक्षा के लिए उठकर लपका तो एक खम्भे से टकरा गया। देव अन्तर्धान हो गया। शोर सुनकर अग्निमित्रा दौड़कर आई, पूरी स्थिति से परिचित बनकर उसने पति को धैर्य बंधाया और बताया कि घर में सब कुशलता है। यह किसी देव की माया थी।

सकडालपुत्र स्वस्थ बना। मन में शेष पत्नी के प्रति मोह को साधना से निरस्त करने के लिए कृत्संकल्प बना। अन्त में मासिक संलेखना के साथ देहत्याग कर प्रथम स्वर्ग में गया। वहां से महाविदेह में जन्म लेकर सिद्धत्व को उपलब्ध होगा।

सखा जी

आप दिल्ली के निवासी थे। आप अपने समय के एक प्रतिष्ठित व्यक्तित्व थे। कहा जाता है कि आप बादशाह के वजीर थे। वजारत का परित्याग करके आपने 1550 में लोंकागच्छ में प्रव्रज्या अंगीकार की।

एक अनुश्रुति के अनुसार जब आप दीक्षा लेने को तत्पर हुए तो बादशाह ने आप से कहा, सखा! तुम मुनि क्यों बनना चाहते हो? इस पर सखा जी ने कहा, बादशाह सलामत! इस जगत में जो भी जन्म लेता है उसे अवश्यमेव मरना पड़ता है। जन्म और मरण की अनादिकालीन परम्परा के व्यवछेद के लिए मैं दीक्षा

लेना चाहता हूं। मैं ऐसा मरण चाहता हूं कि पुनः-पुनः न मरना पड़े।

अन्ततः सखा जी ने अपने संकल्प पर कलशारोहण भी किया। कई वर्षों तक शुद्ध संयम की आराधना के पश्चात् एक मास के संथारे के साथ उन्होंने पण्डित मरण का वरण किया।

सगर (चक्रवर्ती)

सगर दूसरे चक्रवर्ती थे। वे भगवान अजितनाथ के चचेरे भाई थे। उनके जनक का नाम सुमित्र और जननी का नाम यशोमती था। अजितनाथ अपना राजपाट सगर को सौंपकर मुनि बन गए तो सगर ने अपने राज्य की सीमाएं समुद्र पार तक विस्तारित कीं और वे चक्रवर्ती सम्राट् कहलाए।

जैन और जैनेतर पुराणों के अनुसार सगर चक्रवर्ती के साठ हजार पुत्र थे। उनके ज्येष्ठ पुत्र का नाम जन्हुकुमार था। किसी समय जन्हुकुमार के नेतृत्व में साठ हजार चक्रवर्ती-पुत्र विश्वदर्शन को चले। वे अष्टापद पर्वत पर पहुंचे तो पर्वत के सौन्दर्य ने उनका मन मोह लिया। पर्वत के सौन्दर्य को सुरक्षित रखने के विचार से उन्होंने उसके चारों ओर गहरी खाई खोद कर उसमें गंगा नदी का प्रवाह मोड़ दिया। इससे नागकुमार देवों के भवनों में पानी भर गया। इससे देवता रोषारुण बन गए। उन्होंने जन्हुकुमार सहित साठ हजार चक्रवर्ती पुत्रों को स्वाहा कर दिया।

चक्रवर्ती सगर के लिए यह समाचार अकल्पित पीड़ादायक था। परन्तु सगर ने अपने धैर्य को डावांडोल नहीं बनने दिया। सकारात्मक चिन्तन ने उनके भीतर वैराग्य के द्वार उद्घाटित कर दिए। वे भगवान अजितनाथ के चरणों में पहुचकर प्रव्रजित हो गए। उत्कृष्ट संयम साधना से केवलज्ञान अर्जित करके उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया।

—त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र / उत्तराध्ययनसूत्र, अध्ययन 18

(क) सज्जन

श्रीबाल नगर का एक दुष्ट युवक। (देखिए-ललितांग कुमार)

(ख) सज्जन कुमार

वीरपुर नगर के राजा चन्द्रशेखर का पुत्र। (देखिए-मृगासुन्दरी)

सती (आर्या)

आर्या सती का समग्र जीवन वृत्त काली आर्या के समान है। विशेष इतना है कि इनका जन्म हस्तिनापुर नगर में हुआ था और मृत्यु के पश्चात् ये शक्रेन्द्र महाराज की पट्टमहिषी के रूप में जन्मी । (देखिए-काली आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 9, अ. 3

सतेरा (आर्या)

सतेरा आर्या का समग्र जीवन वृत्त इला आर्या के समान है। (देखिए-इला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., तृ.वर्ग, अध्ययन 2

सत्यकी (राजा)

विहरमान तीर्थंकर प्रभु सीमंधर स्वामी के जनक। (देखिए-सीमंधर स्वामी)

सत्यनेमि

महाराज समुद्रविजय और शिवादेवी के पुत्र तथा बाईसवें तीर्थंकर अरिहंत अरिष्टनेमि के अनुज। (शेष परिचय जालिवत्)

—अन्तगड सूत्र वर्ग 4 अध्ययन 9

सत्यभामा

वासुदेव श्रीकृष्ण की पटरानी। भगवान अरिष्टनेमि से प्रव्रजित बनकर उसने मोक्ष प्राप्त किया।

—अन्तगडसूत्र वर्ग 5, अध्ययन 6

सत्यभूति

एक चतुर्ज्ञानी मुनि। (देखिए-कैकेयी)

सत्यवती

रत्नपुर नरेश रत्नांगद की पुत्री। नवजात अवस्था में ही किसी पापात्मा पुरुष ने सत्यवती का अपहरण कर लिया और उसे हस्तिनापुर के निकट यमुना नदी के तट पर रख दिया। वहां एक केवट की दृष्टि बालिका पर पड़ी। निःसंतान केवट ने नवजात कन्या को उठाकर कण्ठ से लगा लिया। यही बालिका 'सत्यवती' नाम से जानी गई। यौवनावस्था प्राप्त कर सत्यवती का रूप अत्यधिक खिल उठा। हस्तिनापुर नरेश शान्तनु उसके रूप पर मोहित हुआ और उसने केवट से उसकी याचना की। केवट चतुर था और सत्यवती पर उसका असीम वात्सल्य भी था। प्रत्येक परिस्थिति में वह अपनी पुत्री को प्रसन्न देखना चाहता था। उसने राजा से कहा, महाराज ! इस शर्त पर मैं अपनी पुत्री का पाणिग्रहण आपके साथ कर सकता हूँ कि उसका पुत्र ही युवराज बने। इससे शान्तनु विवश हो गया। क्योंकि गांगेय कुमार उसका पुत्र था और वही हस्तिनापुर का भावी राजा था। विवश होकर शान्तनु अपने महल में लौट गया। परन्तु सत्यवती का रूपाकर्षण उसके लिए व्यथा का कारण बन गया। राजा की क्षुधा और निद्रा विलुप्त हो गई।

आखिर गांगेय कुमार ने पिता की उदासी का कारण ज्ञात किया। गांगेय केवट के पास गए और उन्होंने वचन दिया कि सत्यवती का पुत्र ही हस्तिनापुर का राजा बनेगा। परन्तु इतने भर से केवट सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसने कहा, कुमार ! मैं इस आशंका से भी त्रसित हूँ कि आपकी संतान मेरी पुत्री की संतान को वैर-दृष्टि से देखेंगी। गांगेय ने कहा, प्रश्न पिता की प्रसन्नता का है, उनके सुख के लिए मैं कोई भी मूल्य चुकाने के लिए तैयार हूँ, सुनो केवट! तुम्हारी आशंका को दूर करने के लिए मैं आजीवन ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा करता हूँ।

गांगेय कुमार की इस प्रतिज्ञा से केवट अभिभूत बन गया। अपनी इसी प्रतिज्ञा के कारण गांगेय कुमार का नाम "भीष्म" विख्यात हुआ।

सत्यवती का विवाह महाराज शान्तनु के साथ हुआ। कालक्रम से सत्यवती के दो पुत्र हुए—चित्रांगद और विचित्रवीर्य। युवावस्था में चित्रांगद हस्तिनापुर का राजा बना। चित्रांगद ने कई राजाओं को जीतकर अपना राज्य बढ़ाया। उसकी प्रत्येक विजय में उसके बड़े भाई भीष्म का आशीर्वाद और पराक्रम उसके साथ था। परन्तु चित्रांगद इसे अपने ही पराक्रम का फल मानता था। उसके मस्तिष्क में अहं का सर्प प्रवेश कर गया और उसने भीष्म की उपेक्षा करनी शुरू कर दी।

एक बार नीलांगद नामक राजा ने चित्रांगद पर आक्रमण किया। भीष्म को सूचित किए बिना ही चित्रांगद युद्ध में कूद पड़ा और मारा गया। भीष्म को ज्ञात हुआ तो उन्होंने रणक्षेत्र में पहुंचकर नीलांगद को धराशायी करके भाई की मृत्यु का प्रतिशोध पूर्ण किया।

चित्रांगद की मृत्यु के पश्चात् विचित्रवीर्य को हस्तिनापुर के सिंहासन पर आसीन किया गया। भीष्म के पराक्रम के कारण काशीराज की तीन पुत्रियों—अंबा, अंबालिका और अंबिका के साथ विचित्रवीर्य का

पाणिग्रहण हुआ। कालक्रम से विचित्रवीर्य को तीनों रानियों से तीन पुत्र प्राप्त हुए। अंबिका ने जन्मांध पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम धृतराष्ट्र रखा गया। अंबालिका के पुत्र का नाम पाण्डु और अंबा के पुत्र का नाम विदुर रखा गया।

विचित्रवीर्य काम भोगों में आत्यन्तिक रूप से आसक्त रहने के कारण क्षय रोग से ग्रस्त होकर अकाल में ही कालधर्म को प्राप्त हो गया। जन्मांध होने के कारण धृतराष्ट्र ने राजपद अस्वीकार कर दिया। परिणामतः हस्तिनापुर के सिंहासन पर पाण्डु को आसीन किया गया।

सत्यवती ने सदैव नीति का अनुसरण किया और भीष्म को भी पुत्रवत् स्नेह प्रदान किया।

—जैन महाभारत

सदयवत्स

उज्जयिनी नगरी का युवराज, परम उदार, निर्भय और परदुख-कातर हृदयी युवक। उसमें एक ही दुर्गुण था—द्यूत का शौक। किसी समय युवराज ने मदोन्मत्त प्रधान हस्ती से एक सगर्भा स्त्री के प्राणों की रक्षा की, वैसा करते हुए उसे प्रधान हस्ती को मारना पड़ा। पुरस्कार-स्वरूप युवराज को देश निर्वासन का दण्ड भोगना पड़ा। प्रतिष्ठानपुर की राजकुमारी सावलिंगा युवराज की पत्नी थी। पत्नी ने भी पति का अनुगमन किया। सदयवत्स और सावलिंगा दोनों ने कई वर्षों तक देशाटन किया। उनके यात्रा पथ पर कई आरोह-अवरोह उपस्थित हुए। सदयवत्स ने अपने साहस से अनेक कष्ट क्षणों को सफलतापूर्वक पार किया। कई देशों की राजकुमारियों से उसने पाणिग्रहण भी किया। इस यात्रा में उसने कई बार अपनी उदारता का भी परिचय दिया। एक वीरान नगर को उसने अपने साहस और शौर्य से आबाद किया और वह वहां का राजा भी बना।

कई वर्षों तक देश, प्रदेश और विदेशों में भ्रमण कर वह सावलिंगा, अन्य अनेक परिणीताओं और विशाल ऐश्वर्य के साथ अपने नगर में लौटा। पिता को अपनी भूल का अहसास हो चुका था। उसने पुत्र को राजगद्दी पर बैठाकर संयम का मार्ग चुना।

सदयवत्स उज्जयिनी का एक आदर्श राजा सिद्ध हुआ। उसने अनेक वर्षों तक न्याय और नीतिपूर्वक प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। एक मुनि का उपदेश श्रवण कर उसने और सावलिंगा आदि उसकी रानियों ने श्रावक धर्म अंगीकार किया और जीवन भर एकनिष्ठ भाव से श्रावक धर्म का पालन किया। देहोत्सर्ग करके सदयवत्स स्वर्गलोक में गया। आगे के भवों में वह सर्व कर्म विमुक्त बनकर मोक्ष में जाएगा।

सनत्कुमार (चक्रवर्ती)

प्रवहमान अवसर्पिणी कालचक्र के चतुर्थ चक्रवर्ती और देवदुर्लभ सौन्दर्य के स्वामी पुरुष। हस्तिनापुर नरेश अश्वसेन उनके जनक थे और महारानी सहदेवी उनकी जननी थी। पिता की मृत्यु के पश्चात् सनत्कुमार राजा बने और षडखण्ड को साधकर चक्रवर्ती सम्राट् कहलाए।

सनत्कुमार का रूप ऐसा अद्भुत था कि एक बार देवताओं के अधिपति इन्द्र ने अपने मुख से देवसभा में उनके रूप की भूरि-भूरि प्रशंसा की। दो देवता सनत्कुमार का रूप देखने के लिए धरती पर आए। उस समय सनत्कुमार स्नान करने की तैयारी कर रहे थे। ब्राह्मणों के वेश में देवता उनके पास पहुंचे और उनका रूप देखकर दंग रह गए। उनके मुख से 'अहो रूपं' शब्द निकला। अपने रूप की प्रशंसा होते देख चक्रवर्ती को अच्छा लगा। उन्होंने कहा, अभी क्या देखते हो, तब देखना जब वस्त्राभूषणों से सज्जित बनकर मैं राज्यसिंहासन पर बैठूं।

रूप के अहं रूपी सर्प से दंशित सनत्कुमार विशेष साज-सज्जा से राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए। ब्राह्मण वेशी देव दरबार में आए। राजा ने गर्व से उनकी ओर देखा। पर ब्राह्मणों ने गर्दन हिला दी। बोले, अब वह बात नहीं रही, आपके शरीर की कान्ति विलुप्त हो चुकी है। आप जरा थूक कर तो देखिए!

सनत्कुमार ने थूका तो थूक में असंख्य कृमी कुलबुला रहे थे। एक झटका लगा उन्हें। रूप की अस्थिरता और नश्वरता ने उनमें वैराग्य जगा दिया और उसी क्षण षडखण्ड के ऐश्वर्य को ठुकराकर वे चक्रवर्ती सम्राट् से मुनि बन गए।

सात सौ वर्षों तक सनत्कुमार मुनि का शरीर सोलह महारोगों का केन्द्र बना रहा, पर मुनि की समता इतनी विलक्षण थी कि रोगोपचार का विचार तक उनके मन में नहीं उठा। एक बार इन्द्र ने वैद्य का रूप धर कर राजर्षि से उपचार की प्रार्थना की। मुनि ने कहा कि यदि कर्मों का उपचार हो सके तो ठीक वरन देह रोग तो वे स्वयं शान्त करने में समर्थ हैं। कहकर मुनि ने अपनी अंगुली पर अपना थूक लगाया। कुष्ठ से गलित अंगुली स्वर्ण की तरह चमक उठी। देव दंग रह गया। सात सौ वर्षों की उग्र साधना से सर्व कर्म खपा सनत्कुमार ने निर्वाण प्राप्त किया।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

सन्मति

महावीर का बचपन का एक नाम। सन्मति का अर्थ है सम्यक् और श्रेष्ठ मति—बुद्धि सम्पन्न। महावीर के इस नाम के प्रचलन के पीछे उनके जीवन की एक घटना है—महावीर जब पांच वर्ष के थे तो एक दिन अपने महल की छत पर बैठकर ध्यान मुद्रा में लीन हो गए। उसी समय संजय और विजय नामक दो जंघाचारण लब्धि सम्पन्न मुनि आकाश मार्ग से जा रहे थे। उन्होंने एक तेजस्वी बालक को ध्यानमुद्रा में लीन देखा तो वे आकर्षित होकर राजमहल की छत पर उतर आए। ध्यानस्थ तेजस्वी बालक को मुनिद्वय एकटक दृष्टि से देखने लगे। वर्धमान ने ध्यान पूरा किया और उपस्थित मुनिराजों का अभिनन्दन किया। मुनियों ने अपने ज्ञानबल से जान लिया कि यह बालक महान योगी बनकर जगत का कल्याण करेगा। मुनियों के मन में कुछ संदेह थे जिनका निराकरण वर्धमान ने सहज ही कर दिया। एक पंचवर्षीय बालक के मुख से गूढ़ प्रश्नों के सहज समाधान सुनकर मुनियों के मुख से निकला—सन्मति! सन्मति! उसी समय माता तृषला वहां आ गई। उसने मुनियों को वन्दन किया। मुनियों ने कहा, श्राविके! तुम्हारा पुत्र अद्भुत बुद्धि सम्पन्न बालक है। इसका नाम तो सन्मति होना चाहिए। तब से वर्धमान को "सन्मति" नाम से भी पुकारा जाने लगा।

सप्तर्षि

प्रभापुर के राजा श्रीनन्द और धारिणी के सात पुत्र थे जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार थे—1. सुरनन्द, 2. श्रीनन्द, 3. श्री तिलक, 4. सर्वसुन्दर, 5. जयंत, 6. चामर और 7. जयमित्र। कालान्तर में धारिणी ने आठवें पुत्र को जन्म दिया। जब वह नवजात पुत्र एक मास का हुआ तो राजा श्रीनन्द ने उसका राज्याभिषेक कर दिया और अपने शेष सातों पुत्रों के साथ वह प्रव्रजित हो गया। तपःसाधना द्वारा कर्मराशि को निःशेष करके मुनि श्रीनन्द मोक्ष में गए।

सुरनन्द आदि सातों सहोदर मुनि उग्र तपश्चरण से आत्म आराधना करने लगे। तपःप्रभाव से उन्हें चारण लब्धि प्राप्त हो गई। इतना ही नहीं, बल्कि वे जहां भी विहार करते वहां की जनता रोगमुक्त बन जाती थी। सातों मुनि साथ-साथ विचरते और साथ-साथ तप करते। इससे वे जगत में 'सप्तर्षि' नाम से विख्यात हो गए।

—देखिए जैन रामायण

समन्तभद्र (आचार्य)

दिगम्बर जैन परम्परा के एक विद्वान जैन आचार्य। श्वेताम्बर परम्परा में जो स्थान आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का है, दिगम्बर परम्परा में वही स्थान आचार्य समन्तभद्र का है। समन्तभद्र जन्मना क्षत्रिय थे। वे उरगपुर नरेश के पुत्र थे। मुनिधर्म में प्रव्रजित होकर अध्ययन रुचि और प्रखर मेधा के बल पर वे विद्वद्वर्य बने। वे वादकुशल आचार्य थे। उनके प्रबल तर्कों और युक्तियों के समक्ष प्रतिद्वन्द्वी ठहर नहीं पाते थे। वे भारत भर में विश्रुत थे।

कहते हैं कि समन्तभद्राचार्य को एक बार भस्मक रोग हो गया था। इस रोग से ग्रस्त व्यक्ति जो भी भोजन करता है वह शीघ्र ही भस्म हो जाता है, और रोगी निरन्तर क्षुधातुर रहता है। इस रोग के निदान के सभी उपाय व्यर्थ सिद्ध हुए। आखिर गुरु के आदेश से समन्तभद्र को वेश परिवर्तन करके काफी समय रहना पड़ा। समन्तभद्र ने जाना कि—काशीनरेश शिवकोटि शिवभक्त हैं और उनके आदेश से शिवालय में षडरस युक्त नैवेद्य पर्याप्त मात्रा में चढ़ता है। समन्तभद्र काशी नरेश के पास पहुंचे और उसे अपने पाण्डित्य से प्रभावित करके शिवालय में पुजारी बन गए। पर्याप्त सरस भोजन की नियमित प्राप्ति से समन्तभद्र का रोग उपशान्त होने लगा। किसी ने राजा से समन्तभद्र की चुगली कर दी कि नैवेद्य का भोग वे स्वयं खाते हैं। राजा ने गुप्त रूप से अपने अनुचर मंदिर में तैनात कर दिए। विचक्षण समन्तभद्र ने वस्तुस्थिति को भांप लिया। वे बैठकर जिनदेव की स्तुति करने लगे। राजा ने स्वयं उपस्थित होकर उन्हें धमकी दी, पर उन्होंने अपनी स्तुति को बन्द नहीं किया। भगवान चन्द्रप्रभ की स्तुति क्रम प्रारंभ होते ही शिव पिण्डी से प्रभु चन्द्रप्रभ की स्वर्णमयी प्रतिमा प्रगट हुई। इससे राजा और अन्य दर्शक चकित हो गए। प्रभु वर्धमान पर्यंत स्तुति पाठ पूर्ण कर समन्तभद्र ने अपनी समाधि मुद्रा को विराम दिया। राजा शिवकोटि आचार्य समन्तभद्र का भक्त बन गया। आचार्य श्री ने उसे जिनत्व का अमृतपान कराके जैन उपासक बनाया। बाद में समन्तभद्र आलोचना-प्रायश्चित्त से आत्मशुद्धि करके संघ में लौट आए।

आचार्य समन्तभद्र को स्याद्वाद का प्रखर और सूक्ष्म व्याख्याकार माना जाता है। उनकी रचनाओं में इसकी पुष्टि भी होती है। उन्होंने पर्याप्त साहित्य सृजन किया। देवागम स्तोत्र, स्वयंभू स्तोत्र, युक्त्यनुशासन आदि उनकी कृतियां हैं। उनका 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' श्रावक धर्म का प्रथम ग्रन्थ माना जाता है।

आचार्य समन्तभद्र किसके शिष्य थे, ऐसा स्पष्ट उल्लेख प्राप्त नहीं है। उनके समय के बारे में भी विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। अधिकांश विद्वानों के मत में वे वि. की छठी शताब्दी के आचार्य थे।

समन्तभद्राचार्य

एक प्राचीन जैन आचार्य। (देखिए-अरविन्द राजा)

समर केसरी

नन्दनपुर नरेश। (देखिए-स्वयंभू वासुदेव)

समरादित्य केवली

समरादित्य उज्जयिनी नगरी के महाराज पुरुषसिंह के पुत्र थे। वे पूर्व जन्मों के उत्तम संस्कारों को साथ लेकर जन्मे थे। बचपन से ही वे क्षमामूर्त्ति, करुणावान, विचारशील, विनयी, विवेकी और विरल आध्यात्मिक गुणों के कोष थे। उपशम और शान्ति के वे अवतारी पुरुष थे। अतीत के आठ भवों से वे उपशम की साधना करते आए थे। विगत आठ भवों में एक जीव ने उनकी समता की पुनः-पुनः परीक्षा ली, प्रत्येक भव में उस

जीव ने विभिन्न रूपों में उन्हें कष्ट दिए और प्रत्येक भव में उनकी हत्या की, पर उन्होंने सदैव उसे क्षमा किया। वह जीव आग उगलता रहा और समरादित्य का जीव प्रत्येक बार उस आग में जलकर भी उपशम को साधता रहा ।

वैर परम्परा वर्तमान से आठ भव पूर्व—अर्थात् नवम भव में उस समय शुरू हुई थी जब समरादित्य का जीव क्षितिप्रतिष्ठित नगर का युवराज था। उसका नाम था गुणसेन । गुणसेन समस्त कलाओं में पारंगत रूप और गुण सम्पन्न युवक था। उसमें असंख्य गुण थे, पर एक अवगुण भी था। वह अवगुण था—कौतुक-प्रियता, उपहास्यों को उपहास-पात्र बनाने में उसे विशेष आनन्द आता था। उसी नगर में अग्निशर्मा नामक एक ब्राह्मण-पुत्र रहता था। पूर्व जन्म के पाप-कर्मों के कारण वह विद्रूपता का जीवन्त पर्याय था। युवराज गुणसेन अग्निशर्मा की विद्रूपता का दिल खोलकर उपहास उड़ाता। एक बार तो युवराज ने सभ्यता की सीमाओं को लांघकर अग्निशर्मा को उपहासित किया। उसने अपनी मित्रमण्डली के साथ मिलकर अग्निशर्मा को जूतों की माला पहनाकर और गधे पर बैठाकर नगर में उसका जुलूस निकाल दिया। प्रगट रूप से तो अग्निशर्मा हंसता रहा, पर इस अकारण अपमान ने उसकी आत्मा को कचोट लिया। वह कौडिन्य ऋषि के आश्रम में जाकर तापसी प्रव्रज्या धारण कर कठोर तप करने लगा। उसके कठोर तप से थोड़े समय में ही दूर-दूर तक उसकी ख्याति फैल गई। वह एक-एक मास के उपवास करता और एक घर पर ही पारणा करता । पारणे में जो मिलता उसी से सन्तुष्ट बनकर वह पुनः एक मास का उपवास ग्रहण कर लेता।

उधर युवराज गुणसेन क्षितिप्रतिष्ठित नगर का राजा बन गया। राज्य का दायित्व कंधों पर धारण करते ही उसके जीवन का एकमात्र दुर्गुण—कौतुकप्रियता भी दूर हो गया। वह सागर के समान गंभीर हो गया। एक दिन उसने भी अग्निशर्मा की तपस्विता की प्रशंसा सुनी। वह उसके दर्शनों के लिए गया। उसने पूर्व-उपहासों के लिए अग्निशर्मा से क्षमापना की और प्रार्थना की कि मासोपवास का पारणा वह उसके महल पर करे। अग्निशर्मा ने सहज रूप से स्वीकृति प्रदान कर दी।

पारणे के दिन अग्निशर्मा राजमहल के द्वार पर पहुंचा। पर संयोग ऐसा बना कि गुणसेन यह भूल ही गया कि उसने तापस अग्निशर्मा को आमंत्रित किया है। तापस को द्वार से ही बिना भोजन किए लौट जाना पड़ा। तापस के लौट जाने पर राजा को अपने आमंत्रण की स्मृति जगी। पहरेदारों से उसे ज्ञात हो गया कि तापस आया था और बिना पारणा किए ही लौट गया है। उससे गुणसेन को भारी अनुताप हुआ। वह तापस के पास पहुंचा और अपनी भूल के लिए पश्चात्ताप करने लगा। सच्चे हृदय से उभरे पश्चात्ताप के भाव को अग्निशर्मा ने पहचान लिया और राजा को क्षमा कर दिया। राजा ने भाव भरे हृदय से दूसरे मास के पारणे के लिए अग्निशर्मा से प्रार्थना की, जिसे उसने स्वीकार कर लिया। निर्धारित समय पर द्विमासिक तप के पारणे के लिए तापस महल के द्वार पर पहुंचा। पर कर्मों की विचित्रता अपना खेल खेल रही थी। उस दिन गुणसेन को शिरःशूल हो गया और उसके कारण तापस के आमंत्रण का प्रस्ताव सभी की स्मृति से धुल गया। उस दिन भी तापस को निराहार ही लौटना पड़ा।

तापस के लौटते ही राजा का शिरःशूल शान्त हो गया। पर तापस के लौट जाने के संवाद ने राजा को अधीर बना दिया। किसी तरह राजा तापस को अपनी विवशता समझाने में सफल रहा और त्रैमासिक तप के पारणे की स्वीकृति तापस से ले ली। पर इस बार शत्रु राजा के आकस्मिक आक्रमण के कारण और राजा के युद्धक्षेत्र में चले जाने के कारण तापस का पारणा नहीं हो पाया। इस बार तापस अपने क्रोध पर अंकुश नहीं लगा पाया। उसके मन ने कहा , यह राजा मेरा उपहास कर रहा है, मुझे भूखों मार देने पर तुला है।

यदि मेरे तप का कोई फल हो तो मैं इस राजा को मारने वाला बनूं।

शीघ्र ही शत्रु राजा युद्ध-क्षेत्र छोड़कर भाग खड़ा हुआ। युद्ध से निवृत्त होने पर राजा को तपस्वी के पारणे की बात स्मरण हुई। वह शीघ्र ही तापस के पास गया। गहनतम पश्चात्ताप आंसू बनकर उसके नेत्रों से बहा, पर तापस ने उसे राजा का स्वांग ही माना । यहां से क्रोध और उपशम का विष और अमृत के रूप में द्वन्द्व प्रारंभ हुआ। प्रारंभ हुआ तो यह द्वन्द्व नौ भवों तक तब तक चलता रहा जब तक गुणसेन के जीव ने समरादित्य के भव में केवलज्ञान प्राप्त किया। अग्निशर्मा का जीव कभी पुत्र रूप में गुणसेन की हत्या करता तो कभी मातृरूप में पुत्र का वध करता। कभी उसने पत्नी के रूप में पति गुणसेन की हत्या की तो कभी भाई के रूप में उस का वध किया। प्रत्येक जन्म में अग्निशर्मा का जीव गुणसेन के जीव का अकारण वध करता रहा, उपकार और प्रेम का बदला अपकार और घृणा से देता रहा। अग्निशर्मा के जीव की क्रूरता प्रत्येक नए जीवन में प्रवेश करके सघनतम बनती रही। इसके विपरीत गुणसेन की करुणा, मैत्री और क्षमा सघनतम बनती रही। गुणसेन ने कभी उसे अपने कष्ट का कारण नहीं माना। वह अपने कर्मों को ही अपने कष्टों का कारण मानता रहा।

नौवें भव में गुणसेन उज्जयिनी के युवराज समरादित्य के रूप में जन्मा। इस जन्म तक पहुंचते-पहुंचते उसका उपशम भाव चरम पर पहुंच गया। एक दिन युवराज समरादित्य जब वसन्तोत्सव के लिए नगर से बाहर उद्यान में जा रहा था तो एक रोगी, एक वृद्ध और एक मुर्दे को देखकर वह विरक्त हो गया। उसने संयम ग्रहण करने का महत्संकल्प कर लिया। राजा ने दो राजकुमारियों से समरादित्य का पाणिग्रहण कराया, पर प्रथम रात्रि में ही युवराज ने उन दोनों राजकुमारियों के हृदय परिवर्तन कर दिए। उसने उन राजकुमारियों के हृदय में अपने साथ ही प्रव्रजित होने की उत्सुकता और उमंग जगा दी। वैराग्य के बहते महानद में समरादित्य के पिता और माता भी बह चले। इस प्रकार एक साथ पांच विरक्तात्माओं ने दीक्षा धारण की।

युवराज से मुनि बने समरादित्य ने तप, त्याग और जिन-प्रवचनों से जिनशासन की महती प्रभावना की। एक बार वे उज्जयिनी नगरी के बाह्य भाग में स्थित उद्यान में पधारे। रात्रि में कायोत्सर्ग मुद्रा में लीन हो गए। उधर अग्निशर्मा के जीव ने भी मानव जन्म प्राप्त किया। उसका नाम गिरिसेन रखा गया। एक बार रात्रि में निशाचरी करते हुए गिरिसेन ने ध्यान-लीन मुनि समरादित्य को देखा तो पुरातन वैरभाव से उसका हृदय जलने लगा। तेल से आर्द्र करके कुछ पुराने वस्त्रों से उसने मुनि की देह को ढ़ांप दिया। तदनन्तर वस्त्रों पर अग्निकण फैंक कर वह अपने निवास पर चला गया। वस्त्रों के साथ-साथ मुनि की देह भी जलने लगी। पर मुनि तो वीतराग अवस्था की भाव-भूमिका पर विहरणशील थे। देह ने रौद्र पीड़ा उगली पर मुनि की आत्मा उच्चता के अनन्त शिखरों तक साम्यभाव में उठ गई थी। कैवल्य से मुनि की आत्मा स्नात बन गई। दुंदुभियां बजाकर देवों ने समरादित्य केवली का कैवल्य-महोत्सव मनाया।

असंख्य भव्यों के लिए कल्याण का द्वार बनकर समरादित्य केवली सिद्ध हो गए।

अनुश्रुति है कि मात्र तीन श्लोकों में संगुंफित समरादित्य केवली के इंगितात्मक चरित्र को सुनकर हिंसा के रौरव बड़वानल में प्रवेश को उद्यत आचार्य हरिभद्र सूरि पुनः उपशम के उपासक हो गए थे। तब उन्होंने गद्‌गद भाव से भर दस हजार श्लोकों में 'समराइच्चकहा' ग्रन्थ का प्रणयन करके समारादित्य केवली के परम उपशम भाव की कीर्तिकथा कही और अपने प्रमोद भाव को अमर बना दिया।

—समराइच्च कहा (हरिभद्र सूरिकृत)

(क) समुद्र

इनका सम्पूर्ण परिचय गौतम के समान है। ये गौतम के अनुज थे। इन्होंने भी भगवान अरिष्टनेमि से प्रव्रजित बनकर सिद्धि प्राप्त की थी। (देखिए-गौतम) —अन्तगडसूत्र, प्रथम वर्ग, द्वितीय अध्ययन

(ख) समुद्र (आचार्य)

भगवान महावीर की श्रमण परम्परा के ख्याति प्राप्त आचार्य। नंदी सूत्र स्थविरावली के अनुसार उनका विमल सुयश समुद्र पर्यंत विस्तृत था और समुद्र के समान वे गंभीर व गुणों के अक्षय सागर थे। आचार्य षाण्डिल्य के बाद आर्य समुद्र का शासन काल माना जाता है।

आर्य समुद्र वी.नि. 414 में आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए और वी.नि. 454 में उनका स्वर्गारोहण हुआ। —नंदी सूत्र स्थविरावली

(ग) समुद्र (कुमार)

इनका समग्र परिचय गौतम के समान है। (देखिए-गौतम) —अन्तगडसूत्र, द्वितीय वर्ग, तृतीय अध्ययन

(क) समुद्रदत्त

चम्पानगरी के सुप्रसिद्ध श्रेष्ठी सागरपोत का इकलौता पुत्र। उसकी माता का नाम कमलप्रभा और पत्नी का नाम नन्दा देवी था। समुद्रदत्त भद्र, विनीत और अनेक कलाओं में प्रवीण था। वह अपने द्वार से किसी को रिक्त नहीं जाने देता था। उसकी उदारता नगर भर में विख्यात थी।

माता-पिता का पुत्र पर अनन्य अनुराग था। पर सेठ के मुनीम को समुद्रदत्त की यह उदारता पसन्द नहीं थी। एक दिन उसने कुमार पर व्यंग्य किया, पिता के धन से उदारता अर्जित करना जितना सरल है, स्वोपार्जित धन से उदारता अर्जित करना उतना ही दुष्कर है, स्वयं कमाओगे तो ज्ञात होगा कि कमाना कितना कठिन है।

मुनीम का यह व्यंग्य समुद्रदत्त के हृदय में शल्य की भांति चुभ गया। उसने अपने श्रम से धन अर्जित करने का संकल्प कर लिया। उसके लिए उसने विदेश जाने का निश्चय किया और अपने संकल्प से अपने माता-पिता और पत्नी को परिचित करा दिया। माता-पिता ने पुत्र को अनेक तर्क उपस्थित करके समझाया कि उनके पास धन के अम्बार लगे हैं, उसे विदेश नहीं जाना चाहिए। पर बलवान तर्क प्रस्तुत करके समुद्रदत्त ने माता-पिता से आज्ञा प्राप्त कर ली।

नन्दा और समुद्रदत्त के मध्य अनन्य प्रीतिभाव था। दोनों एक दूसरे के बिना अपने जीवन की कल्पना नहीं कर सकते थे। नन्दा ने पति से साथ चलने का आग्रह किया। पर समुद्रदत्त के इस तर्क के समक्ष कि उसकी अनुपस्थिति में उसके माता-पिता की उसे सेवा करनी है, नन्दा मौन हो गई।

शुभ मुहूर्त्त में समुद्रदत्त ने सागर में पोत बढ़ाए। चार दिन की यात्रा के पश्चात् उसके पोत एक शून्य तट पर लगे। पोतों के नायक ने समुद्रदत्त को सूचना दी कि उन्हें मौसम की अनुकूलता की प्रतीक्षा में कुछ दिन उसी तट पर रुकना होगा। इस समाचार से समुद्रदत्त ने विचार किया, कितना अच्छा हो कि मैं इस समय का उपयोग अपनी पत्नी से पुनः मिलन में करूं! वह अपने विश्वस्त मित्र को साथ लेकर एक तीव्रगामी छोटी नौका में बैठकर अपने नगर में जा पहुचा। रात्रि के तृतीय प्रहर में वह सबकी दृष्टि बचाकर अपनी पत्नी के कक्ष में जा पहुंचा। उसने पत्नी के समक्ष स्पष्ट कर दिया कि समुद्रीद्वीप पर व्यर्थ समय बिताने की

अपेक्षा उसने घर आने को समय का सदुपयोग माना। नन्दा पति के अनुराग भाव को देखकर गद्‌गद बन गई। प्रभात खिलने से पूर्व ही समुद्रदत्त लौटने को तत्पर हुआ। नन्दा ने समुद्रदत्त से विशेषरूप से आग्रह किया कि वह अपने आने की सूचना अपने माता-पिता को अवश्य देकर जाएं, क्योंकि आपकी माता इस तथ्य से भली-भांति परिचित है कि आपके विदेश रवाना होते समय मैं ऋतुमती थी।

समुद्रदत्त संकोचवश अपने माता-पिता से मिले बिना ही लौट गया। समय की विचित्रता वश नन्दा ने भी इस तथ्य को गंभीरता से नहीं लिया, क्योंकि वह अपने सास-श्वसुर को अपने माता-पिता से भी अधिक प्यार करती थी। सास-श्वसुर का भी उस पर पूर्ण वात्सल्य भाव था।

समय अपनी गति से गति करता रहा। चार मास व्यतीत होते-होते गर्भ के लक्षण प्रगट होने लगे। सास का हृदय नन्दा के प्रति दुराशंका से भर गया। उसने अपने पति से उक्त बात कही। कर्मों की गति के कारण कोमल हृदय सास-श्वसुर पाषाण हृदय बन गए। सेठ ने अपने मुनीम से वस्तुस्थिति कही और उक्त स्थिति से निपटने का उपाय पूछा। कुटिल हृदयी मुनीम ने बात को संवारने की अपेक्षा उसे और अधिक विकृत रूप में प्रस्तुत किया। उसने सेठ को समझाया कि ऐसी कुलकलंकिनी स्त्री को जितना शीघ्र हो सके अपने घर से निकाल देना चाहिए।

सास-श्वसुर और मुनीम—तीनों ने मिलकर एक योजना निर्मित की और योजनानुसार नन्दा को भोजन में मूर्च्छा की औषध मिला कर खिला दी। नन्दा भोजन करने के पश्चात् मूर्च्छित हो गई। उसी अवस्था में सेठ ने अपने विश्वस्त अनुचर द्वारा नन्दा को एक रथ में डाल कर भयानक जंगल में छुड़वा दिया।

नन्दा की चेतना लौटी तो उसने अपने आपको घोर-घने जंगल में पाया। सहसा उसे अपनी परिस्थिति पर विश्वास नहीं हुआ। वह स्तंभित बन गई। कुछ निर्णय नहीं कर पाई कि वह जंगल में कैसे आ पहुंची। सोचते, चिन्तन करते हुए वस्तुस्थिति स्पष्ट होने लगी। उसे विश्वास हो गया कि उसे कलंकिनी मान कर जंगल में छोड़ा गया है। पवित्र होते हुए भी उस पर कलंकिनी का मिथ्या दोष लगा, इस विचार ने उसे कंपा दिया। उसके करुण क्रन्दन से वन-प्रान्तर का कण-कण दयार्द्र बन गया। वह बहुत देर तक रोती रही। पर रोना तो उपाय न था। वह विदुषी थी। उसने निर्णय कर लिया कि जब तक उस पर लगा मिथ्या आरोप धुल नहीं जाता तब तक वह अपने किसी परिचित के घर नहीं जाएगी।

नन्दा जंगल में एकाकी भटकने लगी। एकदा कुछ भीलों ने उसे घेर लिया और पल्लिपति के पास ले गए। पल्लिपति ने नंदा को अपनी पत्नी बनाना चाहा। नन्दा के शील का चमत्कार प्रगट हुआ। पल्लिपति कांप उठा। उसने नन्दा को बहन का पद देकर एक नगर के निकट छुड़वा दिया। नगर नरेश पद्मसिंह से नन्दा की भेंट हुई। पद्मसिंह एक न्याय नीति सम्पन्न नरेश था। उसने नन्दा को अपनी बहन बना लिया। राजा के पूछने पर नन्दा ने अपनी पूरी कथा राजा को सुना दी और प्रार्थना की कि जब तक उस पर लगा यह कलंक धुल नहीं जाता है तब तक वह किसी एकान्त पवित्र स्थान में रहकर धर्माराधना करना चाहती है। राजा ने नन्दा को जंगल में स्थित एक आश्रम में छोड़ दिया। आश्रम का कुलपति राजा का गुरु था। वहां रहकर नन्दा अपने गर्भ के पालन के साथ-साथ धर्माराधना में लीन रहने लगी। कालक्रम से उसने एक पुत्र को जन्म दिया। ऋषि पत्नी ने मातृवत् नन्दा की शुश्रूषा की। बालक गुरु के सान्निध्य में अमृत संस्कारों को आत्मसात् करते हुए बड़ा होने लगा।

उधर पांच वर्षों तक विदेशों में रहकर और करोड़ों की संपत्ति कमा कर समुद्रदत्त अपने नगर में लौटा। नन्दा को घर से निकाल देने पर सेठ सागरपोत की आर्थिक दशा डावांडोल बन गई थी। समय का ऐसा

चक्कर चला कि सेठ और सेठानी उदरपोषण भी ठीक से नहीं कर पाते थे। समुद्रदत्त को माता-पिता की यह दुर्दशा देखकर हार्दिक कष्ट हुआ। पर जब उसे नन्दा के निकाल दिए जाने की घटना ज्ञात हुई तो उसका हृदय हाहाकार कर उठा। उसने प्रण कर लिया कि जब तक वह नन्दा को नहीं खोज लेगा तब तक अन्न का एक कण भी ग्रहण नहीं करेगा। एक तीव्रगामी अश्व पर आरूढ़ होकर समुद्रदत्त नन्दा की खोज में निकला। जंगलों की खाक छानता हुआ, भाग्योदय से उसी आश्रम में पहुंच गया जहां नन्दा को संरक्षण प्राप्त था। पति-पत्नी का मिलन हुआ। नन्दा पति के दर्शन कर सारे कष्टों को भूल गई।

पहले ऋषि और बाद में राजा पद्मसिंह के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित कर समुद्रदत्त नन्दा और अपने पुत्र को साथ लेकर अपने नगर में पहुंचा। सास-श्वसुर ने शत-शत अश्रुधाराएं प्रवाहित कर नन्दा से क्षमा मांगी। नन्दा ने सास-श्वसुर को वन्दन किया और कहा कि इसमें वे निर्दोष हैं, मनुष्य के सुख-दुख का कारण स्वयं उसके अपने कर्म ही होते हैं।

कुछ समय बाद आचार्य चरित्रगुप्त चम्पानगरी में पधारे। सेठ ने गृहदायित्व पुत्र समुद्रदत्त को अर्पित कर चारित्र धर्म ग्रहण कर लिया। सेठानी ने भी पति का अनुगमन किया। समुद्रदत्त और नन्दादेवी ने श्रावक के द्वादशव्रत अंगीकार किए। आजीवन विशुद्ध श्रावक धर्म की आराधना करके वे दोनों सद्गति के अधिकारी बने। कालक्रम से दोनों मोक्ष में जाएंगे।

(ख) समुद्रदत्त

कौशाम्बी का राजा। (देखिए-पुरुषोत्तम वासुदेव)

समुद्रपाल

भगवान महावीर के परम भक्त चम्पानगरी के रहने वाले पालित सेठ का पुत्र। समुद्र के मध्य तैरते हुए जहाज में जन्म लेने के कारण उसका नाम समुद्रपाल रखा गया था। समुद्रपाल युवा हुआ तो रूप-गुण सम्पन्न एक श्रेष्ठि कन्या से उसका पाणिग्रहण किया गया। समृद्धि के झूले पर झूलता हुआ वह जीवन व्यतीत करने लगा।

एक दिन अपने महल के झरोखे से समुद्रपाल ने राजपुरुषों द्वारा बन्दी बनाकर ले जाए जाते हुए एक चोर को देखा। उसके भीतर चिन्तन का उत्स फूट पड़ा कि व्यक्ति को उसके कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है। विभिन्न तलों को स्पर्श करता हुआ उसका चिन्तन आत्मकेन्द्रित बन गया और उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। माता-पिता की आज्ञा लेकर वह मुनि बन गया और उत्कृष्ट चारित्र की आराधना करके केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष का अधिकारी बना। —उत्तराध्ययन सूत्र, अ. 21

(क) समुद्रविजय

एक यदुवंशी राजा, दस दशार्हों में प्रथम और भगवान श्री अरिष्टनेमि के जनक। वासुदेव श्रीकृष्ण के पिता वसुदेव इनके लघुभ्राता थे।

(ख) समुद्रविजय

श्रावस्ती नरेश। मघवा चक्रवर्ती के जनक।

समृद्धदत्त

धातकीखण्ड द्वीप के भरत क्षेत्र का रहने वाला एक किसान। वह समृद्ध था, पर था विपरीत मति

वाला। व्यर्थ और अनावश्यक चिन्तन और कार्यों में वह रुचि रखता था। कल्पनाओं की ऊंची उड़ानें भरता रहता था। सोचा करता—भरत क्षेत्र के छह खण्डों को विजय कर वह चक्रवर्ती बनेगा। एक बार पर्याप्त धन व्यय कर उसने एक तीक्ष्ण तलवार बनवाई। चोरों ने उसकी तलवार चुरा ली और उससे कई लोगों का वध कर दिया। चोर भी नगररक्षकों द्वारा मार गिराए गए। तलवार पर अंकित नाम देखकर समृद्धदत्त को भी बन्दी बना लिया गया। समृद्धदत्त कांप उठा। उसने तलवार के चोरों द्वारा चुरा लिए जाने का पूरा विवरण राजा को सुना दिया। पर फिर भी राजा ने उसे दोषी माना और दण्ड दिया।

एक अन्य अवसर पर राज्य के एक शत्रु गुप्तचर ने समृद्धदत्त से विष खरीदकर जल स्रोतों में मिला दिया। विषैले पानी को पीकर कई लोग मर गए। समृद्धदत्त पुनः पकड़ा गया। अनजाने में अपराधी का साथ देने का अपराधी उसे ठहराया गया। राजा ने उसका समस्त धन हरण कर लिया और उसे कठोर दण्ड दिया।

इस सब से भी समृद्धदत्त की वृत्तियों का परिष्कार नहीं हुआ। एक बार उसने एक किसान को देखा जो दो बछड़ों को लेकर जा रहा था। समृद्धदत्त ने उस किसान को बछड़ों को संवारने को प्रेरित किया। उसकी प्रेरणा से किसान ने असमय में ही बछड़ों को संवारना चाहा। बछड़े असह्य यातना को सह न सके और मरण-शरण बन गए। वे दोनों मरकर व्यंतर देव बने। अपनी मृत्यु और भयानक यातना का कारण उन्होंने समृद्धदत्त को माना और प्रतिशोध-स्वरूप उसके शरीर में सोलह महारोग उत्पन्न कर दिए। सुदीर्घ काल तक समृद्धदत्त ने नारकीय जीवन का उपभोग किया। जीवन के संध्यापक्ष में एक मुनि के उपदेश से वह अन्तर्मुखी बना। उसकी वृत्तियां शुद्ध बनीं। साधना से उसका जीवन परिष्कृत बना। संयम पालकर वह देवगति में गया। वहां से च्यवकर साधना द्वारा कर्म-मुक्त बनकर वह सिद्धि प्राप्त करेगा।

(क) सरस्वती

राजा धनमोद की परम पतिपरायणा और परम बुद्धिमती रानी। राजा और रानी की वृत्तियां भी उनके नामानुरूप ही थीं। धनमोद धन में मुदित रहता था और सरस्वती विद्या-व्यसनी थी। रानी जन्मजात विचक्षण और बुद्धि का निधान थी। वह अपने बुद्धिबल से राज्य की अनेक समस्याओं का चुटकियों में समाधान कर चुकी थी। इस पर भी राजा ने सदैव बुद्धिबल पर धनबल को ही श्रेष्ठ माना था। एक बार राजा और रानी परस्पर प्रेमालाप कर रहे थे। वार्ता-प्रसंग यात्रा करते-करते धन और बुद्धि की तुलना तक पहुंच गया। राजा ने धन को बुद्धि से बड़ा सिद्ध करने की कोशिश की, पर रानी ने बुद्धि को ही धन से बड़ा कहा। प्रेमालाप का स्थान संवाद, और संवाद का स्थान विवाद ने ले लिया। रानी ने राजा को शांत करने की लाख चेष्टाएं कीं, पर राजा जिद्द पर डट गया कि वह अपने बुद्धिबल से सिद्ध करे कि बुद्धि धन से बड़ी है। आखिर रानी ने राजा की चेतावनी स्वीकार कर ली। राजाज्ञा से रानी साधारण वस्त्रों में महलों को छोड़ कर चल दी। वह एक नगर में पहुंची। वहां का राजा कहानियां सुनने का शौकीन था। उसकी घोषणा थी कि जो उसे ऐसी कहानी सुनाएगा जिसे सुनकर वह ऊब जाएगा, उस कहानी सुनाने वाले को वह दस सहस्र स्वर्णमुद्राएं देगा। सरस्वती पुरुषवेश धारण कर राजदरबार में पहुंची और उसने राजा को ऐसी कहानी सुनानी प्रारंभ की जिसे सुनकर राजा खीझ और ऊब से भर गया। परिणामतः पुरस्कार जीत कर सरस्वती अपने नगर में आ गई। नगर के बाह्य भाग में उसने आधे धन से एक मकान बनवाया और आधे को व्यापार में व्यय कर अपने बुद्धिबल से अपार धन अर्जित किया। इस पर राजा ने कहा, यह तो कोई बुद्धि प्रमाण नहीं है। बुद्धिबल को तभी श्रेष्ठ माना जाएगा जब उससे धन के अतिरिक्त कुछ अन्य अर्जित किया जाए।

राजा एक बार प्रदेश गया। मार्ग में एक एकाक्ष और एक बूचे ने राजा को ठग लिया। राजा ने दस हजार स्वर्णमुद्राएं देकर जान बचाई। 'धन के बदले जान बची' इसे भी राजा ने धन के बल के रूप में ही देखा। राजा सोवनपुरी नगरी में पहुंचा। वहां की राजकुमारी चौबोली की यह घोषणा थी कि जो पुरुष उसे शतरंज में पराजित करेगा उससे वह विवाह करेगी, पर पराजित होने वाले को कारागार में आयु बितानी पड़ेगी। राजा धनमोद ने चौबोली से शतरंज खेली और पराजित बनकर उसे कारागार का बन्दी बनना पड़ा।

कई वर्षों तक धनमोद नहीं लौटा तो रानी सरस्वती को चिन्ता हुई। पति को खोजने के लिए पुरुषवेश धारण कर वह उसी दिशा में चल दी जिस दिशा में राजा गया था। संयोग से काना और बूचा ठग उसे भी मिले। रानी ने अपने बुद्धिबल से उनको परास्त किया और राजा से ऐंठा हुआ धन उनसे उगलवा लिया और साथ ही उनसे शपथ पत्र भी लिखवा लिया कि वे भविष्य में किसी को नहीं ठगेंगे। वहां से पुरुषवेशी सरस्वती सोवनपुरी पहुंची। अनुमान से उसने जान लिया कि उसके पति चौबोली के कारागार में ही होने चाहिएं। उसने चौबोली से शतरंज खेलना तय किया। प्रथम दिन उसने चौबोली के उस चातुर्य को पकड़ा जिसके बल पर वह अजेय बनी हुई थी। दूसरे दिन वह अपने साथ एक बिल्ली ले गई जिसने चौबोली के चालाक चूहे का आहार कर लिया। चूहा ही चौबोली के पासों को यथावश्यक क्रम में उलट-पुलट करता था। चूहे की अनुपस्थिति में चौबोली पराजित हो गई। उसे पुरुषवेशी सरस्वती से विवाह करना पड़ा। पुरुषवेशी सरस्वती के कहने पर सभी बन्दी राजाओं और राजकुमारों को मुक्त कर दिया गया। मुक्त होने वालों में राजा धनमोद भी था। सरस्वती ने धनमोद और चौबोली को एक साथ बैठाकर अपने स्वरूप का परिचय दिया और चौबोली का विवाह अपने पति धनमोद से करके उसे अपनी छोटी बहन बना लिया। साथ ही सरस्वती ने ठगों द्वारा लिखा गया शपथ पत्र राजा को दिखाया और उनसे प्राप्त दस सहस्र स्वर्ण मुद्राएं राजा को दीं। राजा सरस्वती के बुद्धिबल पर गद्‌गद बन गया। उसने स्वीकार कर लिया कि धनबल पर बुद्धिबल ही भारी है।

राजा धनमोद अपनी दोनों रानियों के साथ अपने नगर में लौट आया और सुखपूर्वक राज्य करने लगा। दो बुद्धि निधान पत्नियों को पाकर वह धन्य था।

एक बार सरस्वती ने राजा से कहा—महाराज! श्रेष्ठ बुद्धि वही है जो व्यक्ति को धर्म के पथ पर ले जाए। मेरी इच्छा है कि मैं शेष जीवन साधना को समर्पित करूं। राजा और चौबोली को सरस्वती की बात युक्तियुक्त लगी। तीनों ने साधना-पथ पर कदम बढ़ाए। आयुष्य पूर्ण कर तीनों देव बने और कालक्रम से मोक्ष प्राप्त करेंगे।

(ख) सरस्वती

एक अत्यन्त बुद्धिमती श्रेष्ठि कन्या। उसके पिता का नाम धन था जो नगर का धनी और मानी सेठ था। सरस्वती की माता का नाम प्रेमवती था। माता के निधन के पश्चात् गृहदायित्व सरस्वती के कन्धों पर आ गया। वह विद्याध्ययन पूर्ण कर चुकी थी और यौवन में प्रवेश ले चुकी थी। एक बार जब वह पानी लेने के लिए कुएं पर गई तो चार प्यासे युवक पानी पीने उसके पास आए। लोगों के कटाक्षों से बचने के लिए सरस्वती ने युवकों को अदेखा कर दिया। पर युवक पानी पीना चाहते थे। प्रथम युवक ने अपना परिचय दिया, मुझे प्रहरी कहते हैं। सरस्वती ने कहा, प्रहरी तो दो हैं, उन्हें ही मैं जानती हूँ, तुम्हें नहीं, इसलिए पानी नहीं पिला सकती हूँ। इसी तरह दूसरे, तीसरे और चौथे युवक ने क्रमशः अपना परिचय रसिक, गरीब और गधे के रूप में दिया। सरस्वती ने प्रत्येक को पूर्व के जवाब की तरह ही कहा, रसिक, गरीब और गधे तो दो

ही हैं, उन्हें ही मैं जानती हूँ, तुम्हें नहीं, इसलिए पानी नहीं पिलाऊंगी। कहकर सरस्वती पानी का घड़ा लेकर अपने घर आ गई और भीतर से द्वार बन्द कर लिया। चारों युवक जिज्ञासा में बंधकर सरस्वती के पीछे-पीछे उसके घर पहुंचे और द्वार पर बैठ गए।

एक पड़ोसी धन श्रेष्ठी से ईर्ष्या करता था। धन को अपमानित करने का उसने इसे सुअवसर माना। उसने राजा के पास जाकर सरस्वती की शिकायत की कि वह दुराचारिणी है, उसके द्वार पर चार-चार युवक बैठे हैं। राजा ने श्रेष्ठी धन को बुलाया और उसकी पुत्री के आचार के बारे में पूछा। श्रेष्ठी धन भयभीत हो गया और कोई उत्तर नहीं दे पाया। आखिर राजा ने सरस्वती के पास आदेश भेजा कि वह दरबार में उपस्थित हो। सरस्वती ने राजा से कहलवाया कि उसके लिए पालकी भेजी जाए तभी वह दरबार में आएगी। राजा ने सरस्वती के लिए पालकी भेजी। सरस्वती पालकी में बैठ कर राजदरबार में पहुंची। राजा ने सरस्वती से पूछा, तुम्हारे द्वार पर जो चार युवक बैठे हैं, वे कौन हैं और तुमसे क्या चाहते हैं? सरस्वती ने कहा, महाराज! यह आप उन युवकों से ही पूछिए! मैं उन्हें नहीं जानती। राजा ने चारों युवकों को बुलाया और उनसे उनका परिचय तथा सरस्वती के द्वार पर बैठने का कारण पूछा। युवकों ने सच-सच बता दिया कि वे प्यासे थे और उन्होंने सरस्वती को अपने-अपने नाम बताकर पानी पिलाने को कहा। पर उसने जो उत्तर दिये उन्हीं का रहस्य जानने के लिए वे उसके द्वार पर आ बैठे। राजा ने सरस्वती से उसके कहे को स्पष्ट करने का आदेश दिया। सरस्वती ने आशंका जाहिर की, महाराज ! मेरा स्पष्टीकरण सुनकर आप क्रोधित हो जाएंगे, इसलिए मैं उत्तर नहीं दूंगी। राजा ने सरस्वती को अभय देते हुए स्पष्टीकरण करने को कहा।

सरस्वती ने स्पष्ट किया, पहले व्यक्ति ने अपना नाम प्रहरी बताया, पर प्रहरी तो दो ही हैं, सूर्य और चन्द्र जो प्रतिक्षण घूमते रहते हैं। दूसरे ने अपने को रसिक बताया। पर रसिक दो ही हैं, अन्न और जल। वे न हों तो सब रस और रसिक मिट जाएं। तीसरे ने अपने को गरीब बताया। परन्तु मैंने कहा कि गरीब तो दो ही हैं, एक लडकी का पिता और दूसरी बकरी। चौथे ने अपने को गधा कहा। पर मैंने कहा, गधे तो दो ही हैं, एक यहां का राजा और दूसरा मेरा पिता।

अंतिम समाधान से राजा चौंक गया। उसने कहा, सरस्वती! प्रथम तीन समाधान तो युक्ति-युक्त हैं पर अंतिम समाधान का आधार क्या है उसे स्पष्ट करो। सरस्वती ने कहा, महाराज ! मैंने अपने पिता को गधा इसलिए कहा कि आपके बुलाने पर वह भयभीत बन गया और मौन हो गया, जबकि उसका सहज दायित्व बनता था कि वह अपने स्तर पर ही उक्त आरोप की तह में जाकर उसका समाधान करता। दूसरे, आपको गधा मैंने इसलिए कहा कि आपने एक पड़ोसी की बात पर आंखें मूंद कर विश्वास कर लिया। जबकि राजा का दायित्व तो यह होता है कि समुचित प्रमाण के आधार पर ही वह आरोप निर्धारित करता है। आपने पड़ोसी के द्वेषपूर्ण वचनों पर विश्वास किया और आरोप तय कर दिया। इसमें मुझे आपकी बुद्धिहीनता दिखाई दी और बुद्धिहीन ही तो गधा होता है।

सरस्वती के समाधान से राजा को अपनी भूल परिज्ञात हो गई। उसने सरस्वती को अपनी पुत्री का मान दिया और अपने अविवेक के लिए उससे क्षमा मांगकर उसे ससम्मान विदा किया।

(ग) सरस्वती

ग्यारहवें विहरमान तीर्थंकर श्री वज्रधर स्वामी की जननी। (देखिए-वज्रधर स्वामी)

(घ) सरस्वती

एक जैन श्रमणी। सरस्वती धारावास नगर के राजा वज्रसिंह की पुत्री थी। उसका एक सहोदर था

जिसका नाम कालक था। भाई और बहन दोनों ने श्रामणी प्रव्रज्या अंगीकार की। यही कालक जैन धर्म के प्रभावक आचार्यों में 'कालकाचार्य' नाम से विख्यात हैं।

एक बार सरस्वती आर्या उज्जयिनी नगरी में पधारीं। वहां पर उस समय गर्दभिल्ल नामक राजा का राज्य था जो स्वभाव से उद्दण्ड था। साध्वी सरस्वती के रूप पर उसकी दृष्टि पड़ी तो वह उस पर मोहित हो गया और उसने अपने अनुचरों से साध्वी का अपहरण कराकर उसे अपने रनिवास में पहुंचवा दिया। सरस्वती अपने धर्म पर अडिग रही।

प्रतिष्ठित नागरिकों और कालकाचार्य ने राजा को उसके अनार्य कार्य के लिए समझाया और निवेदन भी किया कि वह साध्वी सरस्वती को ससम्मान मुक्त कर दे। परन्तु कामान्ध और दर्पान्ध गर्दभिल्ल ने साध्वी सरस्वती को मुक्त करने से इन्कार कर दिया। इससे कालकाचार्य ने जिन शासन के गौरव तथा साध्वी बहन के शील की रक्षा के लिए गर्दभिल्ल को दण्डित करने का संकल्प कर लिया। कालकाचार्य ने दूर देशों की एक लम्बी यात्रा की और कुछ पराक्रमी राजाओं को प्रभावित कर उनसे गर्दभिल्ल पर आक्रमण कराया। अंततः गर्दभिल्ल को उसके किए का दण्ड प्राप्त हुआ और साध्वी सरस्वती को ससम्मान मुक्त कराया गया।

कामान्ध नरेश के बन्धनों में लम्बे समय तक रहने पर भी साध्वी सरस्वती ने अपने शीलधर्म पर आंच नहीं आने दी जो उनकी उत्कृष्ट चारित्र निष्ठा का प्रमाण है। (देखिए-कालकाचार्य)

(ङ) सरस्वती (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 32

सर्वज्ञप्रभा

कंचनपुर के सेठ धनसेन की पुत्री जिसका विवाह नगर सेठ धर्मसेन के पुत्र चन्द्रसेन से हुआ। सर्वज्ञप्रभा के तन-मन-प्राण में धर्म रचा-बसा था। कालक्रम से उसने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम इन्द्रसेन रखा गया। इन्द्रसेन दो वर्ष का हुआ तो एक दिन सर्वज्ञप्रभा उसे गोद में लेकर पितृगृह से श्वसुर गृह जा रही थी। जब वह राजमहल के नीचे से गुजर रही थी तो उसने नगर नरेश कनकसेन को गवाक्ष में बैठे हुए अपनी रानी से आमोद-प्रमोद करते देखा, उन्हें देखकर सर्वज्ञप्रभा के मुख से मुस्कान फूट पड़ी। राजा की दृष्टि सर्वज्ञप्रभा पर ही थी। वह उसकी मुस्कान का कारण जानने को उत्सुक हो गया। उसने सर्वज्ञप्रभा को अपने पास बुलाया और उसकी मुस्कान का कारण पूछा। सर्वज्ञप्रभा ने कहा, महाराज ! इस मुस्कान का कारण मैं आपको फिर बताऊंगी। अभी मुझे शीघ्र जाना है। जौहरी बाजार के मोड़ पर मेरी मृत्यु मेरी प्रतीक्षा कर रही है। यहां से मरकर मैं आपके ही नगर में फलां स्थान पर शूकरी के उदर से जन्म लूंगी। अमुक-अमुक मेरी पहचान होगी। वहां मैं आपके प्रश्न का उत्तर दूंगी। कहकर सर्वज्ञप्रभा चली गई और निर्दिष्ट स्थान पर पहुंचते ही दो सांडों की भिड़ंत में फंसकर उस की मृत्यु हो गई। उसकी गोद में रहा हुआ पुत्र इन्द्रसेन उछलकर एक व्यक्ति की गोद में जा पड़ा और उसकी प्राण रक्षा हो गई।

पूरी घटना जानकर राजा की जिज्ञासा सर्वज्ञप्रभा की हंसी का रहस्य जानने को और अधिक सघन बन गई। उसने अपने विश्वस्त अनुचर को उस स्थान पर नियुक्त कर दिया जहां सर्वज्ञप्रभा ने जन्म लेने की बात कही थी। उधर शूकरी ने प्रसव किया तो राजा वहां पहुंचा और निर्दिष्ट पहचान वाले शूकरी-शावक से उसने

हंसी का रहस्य पूछा। शूकरी-शिशु ने कहा, राजन्! तुम विलम्ब से आए और कुछ ही क्षण में मेरी मृत्यु होने वाली है। यहां से मरकर फलां स्थान पर मैं मृग-शावक के रूप में जन्म लूंगी और तभी तुम्हें हंसी का रहस्य बताऊंगी। कहकर शूकरी-शिशु का निधन हो गया।

निर्दिष्ट समय पर मृगी ने शावक को जन्म दिया। राजा ने वहां पहुंचकर उससे हंसी का रहस्य पूछा। शावक ने कहा, यहां भी मैं पलभर को हूँ। यहां से मरकर मैं तुम्हारे प्रधान की पत्नी के उदर से पुत्री रूप में जन्म लूंगी, वहीं पर हंसी का रहस्य स्पष्ट करूंगी। कहकर शावक के प्राण निकल गए।

चकित, विस्मित राजा के पास प्रतीक्षा के अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं था। उसने अपनी मर्यादा के अनुरूप प्रधान की पत्नी को अपनी धर्मबहन बना लिया। जब उसने पुत्री को जन्म दिया तो दसवें दिन राजा पुत्री को देखने प्रधान के घर गया। प्रधान की पुत्री को गोद में लेकर उसने अपना प्रश्न दोहराया। नवजात कन्या ने कहा, राजन्! अभी थोड़ी प्रतीक्षा और कीजिए। जब मैं पन्द्रह वर्ष की हो जाऊंगी और मेरा विवाह होगा तब विवाह-मण्डप में मैं तुम्हें हंसी का रहस्य बताऊंगी।

निराश होकर राजा अपने महल में आ गया। प्रधान ने अपनी पुत्री का नाम मुक्तिप्रभा रखा। जब मुक्तिप्रभा पन्द्रह वर्ष की हो गई तो उसने उसका सम्बन्ध धर्मसेन के पौत्र इन्द्रसेन से कर दिया। विवाह-मण्डप में राजा पहुंचा और उसने मुक्तिप्रभा से मुस्कान का रहस्य पूछा। मुक्तिप्रभा हंसी और बोली, राजन्! आप इतना कुछ देख चुके हैं, क्या यह सब हंसने योग्य नहीं है। पूर्वजन्म में मैंने जिसे पुत्र रूप में जन्म दिया था, इस जन्म में वही मेरा पति होने जा रहा है। उस क्षण आपको अपनी रानी से आमोद-प्रमोद करते देख कर मुझे जो हंसी आई थी उसका भी एक ऐसा ही कारण था। और वह कारण था, आपकी पत्नी ही पूर्वजन्म में आपकी माता थी। आप जब पांच वर्ष के थे तो आपकी माता का देहान्त हो गया था और उसका जीव ही आपकी वर्तमान रानी है। बस इसी विचार से मुझे हंसी आ गई थी। यदि यह रहस्य उसी क्षण मैं प्रगट कर देती तो आप विश्वास नहीं करते। सत्य की परख के लिए धैर्य और प्रतीक्षा की आवश्यकता होती है। आपने धैर्य रखा और अपनी जिज्ञासा को जीवित रखा, सो आज आपके पास मेरी बात पर अविश्वास का कोई कारण नहीं होना चाहिए।

सुनकर राजा विस्मित बन गया। उसने उपस्थित जन-समूह के समक्ष पूरा इतिवृत्त कहा। इससे राजा, रानी और इन्द्रसेन मुक्तिप्रभा के साथ ही विरक्त बन गए और उसी दिन संसार का त्याग कर निर्ग्रन्थ साधना पथ पर बढ़ गए। उत्कृष्ट संयम का पालन करके चारों ही जीव सिद्ध गति में गए।

सर्वभूति

उन्नीसवें विहरमान तीर्थंकर श्री देवयज्ञ स्वामी के जनक। (देखिए-देवयज्ञ स्वामी)

(क) सर्वानुभूति अणगार

भगवान महावीर के एक शिष्य जिन्हें गोशालक ने तेजोलेश्या से भस्म कर दिया था। (देखिए-गोशालक)

(ख) सर्वानुभूति अणगार

एक तपस्वी अणगार जो निरन्तर मासखमण की तपस्या करते थे। (देखिए-धनपति कुमार)

—विपाक सूत्र, द्वि.श्रु., अ. 6

सर्वार्थ

क्षत्रिय कुण्डग्राम/कुण्डलपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के पिता और चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर

के पितामह। सर्वार्थ भगवान पार्श्वनाथ की धर्म परम्परा के श्रावक थे और शील-सदाचार सम्पन्न जीवन जीते थे।

सर्वार्थ के दो पुत्र हुए—सिद्धार्थ और सुपार्श्व। वैशाली नरेश चेटक की बहन त्रिशला से सिद्धार्थ का पाणिग्रहण हुआ। सिद्धार्थ और त्रिशला से ही जैन धर्म के चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर जैसे धर्म प्रवर्तक और युगान्तकारी परम पुरुष का जन्म हुआ था।

(क) सहदेव

एक काष्ठ शिल्पी का पुत्र, जिसने पिता से काष्ठशिल्प कला पूरे मनोयोग से सीखी और समय आने पर वह अपने पिता से भी श्रेष्ठ कलाकृतियां बनाने में निपुण बन गया। सहदेव ने पिता से कला तो सीखी, पर शुरू-शुरू में उसने उस कला का उपयोग नहीं किया। उसमें आलस्य का महादुर्गुण था। पिता और अग्रज कमाते थे, उनकी कमाई पर ही वह पलता था। उसके जिम्मे इतना ही काम था कि वह खेत पर भाई का भोजन पहुंचाए। पर इस कार्य में भी उसका आलस्य बाधा बनता और वह कभी भी समय पर भोजन नहीं पहुंचाता। इससे भाई और पिता ने नाराज होकर उसे घर से निकाल दिया।

अलक्षित पथ पर बढ़ते हुए सहदेव ने जंगल में पड़ी एक अस्थि को चावलों के रूप में तराशा। उसके चावलों की कलाकारी देखकर पद्मपुर-वासी प्रेमशंकर काष्ठशिल्पी ने अपनी पुत्री गुणवती का विवाह उसके साथ कर दिया। अपने ही पास उसे एक मकान रहने को दे दिया। बिना परिश्रम से ही सहदेव को पत्नी और घर मिल गए तो उसकी आलस्य वृत्ति पुनः जाग गई। वह श्वसुर की कमाई पर उदरपोषण करने लगा। छह मास बीत गए। आखिर श्वसुर ने अपनी पुत्री से सहदेव को कर्त्तव्य के प्रति जागरूक बनने के लिए कहाया। गुणवती ने अपने वाक् चातुर्य से सहदेव को श्रम के लिए प्रेरित किया। पत्नी की प्रेरणा से सहदेव के भीतर प्रसुप्त कर्त्तव्य बोध जागृत हो गया। उसने जंगल में दूर-दूर तक भटककर एक चन्दन के वृक्ष की खोज की। कठिन और सतत श्रम से उसने एक पंलग तैयार किया। पलंग के चारों पायों पर उसने चार पुतलियां बनाईं। उसकी एकनिष्ठ श्रम साधना में एक योगी की साधना ध्वनित बन गई थी। उसकी श्रम निष्ठा से प्रभावित बनकर एक देव ने उसे वरदान दिया कि तुम्हारे द्वारा निर्मित वस्तुएं दिव्य शक्तियों से अधिष्ठित होंगी।

सहदेव का पलंग तैयार हो गया। उसने बेचने के लिए पलंग को बाजार में रखा। पर उसकी कीमत सुनकर कोई भी व्यक्ति उसे खरीदने की सामर्थ्य नहीं जुटा पाया। सहदेव ने पलंग की आंशिक कीमत एक सहस्र स्वर्णमुद्राएं रखी थी। उसका कथन था कि पलंग का पूरा मूल्य चार दिनों में स्वयं पलंग ही बताएगा। राजा का यह नियम था कि जो वस्तु कोई न खरीदे उसे वह खरीदता था। संध्या समय राजा ने एक सहस्र स्वर्णमुद्राएं प्रदान कर सहदेव का पलंग खरीद लिया। रात्रि में राजा उसी पलंग पर सोया। निरन्तर चार रातों में एक-एक कर चारों पुतलियों ने ऐसे कर्त्तव्य किए कि राजा अनेक कष्टों से बच गया। नगर में आतंक फैलाने वाले चोरों को एक पुतली ने मार डाला। दो पुतलियों ने अलग-अलग दुर्घटनाओं से राजकुमार के प्राणों की रक्षा की और चतुर्थ पुतली ने राज्य को आदमखोर सिंह से रक्षित किया। इससे राजा चमत्कृत हो गया। सहदेव को आमंत्रित करके राजा ने उसे अपार धन राशि प्रदान की।

राजा ने सहदेव को अपना मित्र मानकर अपने पास रख लिया। राजा की विशेष उत्सुकता पर सहदेव ने एक काष्ठ अश्व बनाया जो आकाश में उड़ सकता था। उस अश्व पर आरूढ़ होकर राजकुमार ने दूर देशों की यात्रा की और कुसुमपुर की राजकुमारी से पाणिग्रहण भी किया। राजा सहदेव की कला पर मुग्ध था। उसने अपनी पुत्री का विवाह उससे कर दिया और पर्याप्त दहेज प्रदान किया। कई वर्षों तक सहदेव पद्मपुर

में रहने के बाद अपनी दोनों पत्नियों और अपार ऐश्वर्य के साथ अपने नगर में आया। माता, पिता और भाई सहदेव को इस अवस्था में देखकर गद्‌गद बन गए।

जीवन के उत्तरार्ध पक्ष में सहदेव ने अपनी दोनों पत्नियों के साथ संयम की दीक्षा ली और तीनों ही आयुष्य पूर्ण कर स्वर्ग गति में गए।

(ख) सहदेव

महाराज पाण्डु की रानी माद्री का अंगजात और पांचों पाण्डवों में पंचम। (देखिए-नकुल)

(क) सहदेवी

हस्तिनापुर नरेश महाराज अश्वसेन की रानी और चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार की माता।

(ख) सहदेवी

(देखिए-सुकोशल)

सहस्रकला

मोटपल्ली नगर के एक धनी श्रेष्ठी की पुत्री। (देखिए-उत्तमकुमार)

सहस्रमल्ल

कौशाम्बी नगरी का एक वणिक्-पुत्र जो अत्यंत दुर्दान्त और दुःसाहसी था। बचपन से ही दुःसंगति के कारण वह चौर्यकर्म में लिप्त बन गया और युवा होते-होते एक नामी चोर बन गया। वह वेश-परिवर्तन की कला में निष्णात था। विभिन्न वेश बनाकर वह विभिन्न लोगों को ठगता। सेंध लगाकर चोरी करता। उसकी मां उसके लिए दौत्य कर्म करती और चोरी में उसका सहयोग करती थी।

एक बार सहस्रमल्ल ने नगर के प्रतिष्ठित रत्न व्यापारी रत्नसार के घर रत्न चुराने के लिए रोशनदान के रास्ते से प्रवेश किया। जैसे ही रोशनदान से उसने प्रवेश करना चाहा, भीतर से सेठ के पुत्र जग गए और उन्होंने सहस्रमल्ल के पैर पकड़कर खींचे। सहस्रमल्ल सावधान हो गया। सेठ के पुत्र उसे भीतर खींच रहे थे और वह अपना पूरा बल लगाकर बाहर कूदना चाहता था। इससे उसके पैर और पीठ छिल गए। किसी न किसी तरह स्वयं को मुक्त कराके सहस्रमल्ल घर पहुंचा और मां को अपनी दयनीय दशा बताई। मां ने सहस्रमल्ल को सान्त्वना दी और कहा कि यह सब तो उसके कार्य का अंग है। इस कार्य में तो कभी पकड़े जाने पर अंग-भंग कराने को भी तैयार रहना पड़ता है, फांसी की सजा भी हो सकती है। पर तुम हिम्मत मत हारो। अपनी कुशलता और कार्यक्षमता को पैना बनाओ।

मां से प्रोत्साहन पाकर सहस्रमल्ल दोगुणे उत्साह से चौर्य कर्म में लग गया। वह प्रतिदिन चोरी करता। नगर में त्राहि-त्राहि मच गई। राजा के पास नित्य चोरी की शिकायतें आतीं, पर राजपुरुष चोर को गिरफ्तार नहीं कर पाते। एक दिन धनसार नामक वस्त्र व्यवसायी और दिवाकीर्ति नामक नापित ने राजा से कहा कि वे चोर को पकड़ेंगे। सहस्रमल्ल की मां ने बाजार में घूमकर इस बात का भेद प्राप्त कर लिया कि धनसार और दिवाकीर्ति ने सहस्रमल्ल को पकड़ने का बीड़ा उठाया है। उसने लौटकर सहस्रमल्ल को इसकी सूचना दी। सहस्रमल्ल उन दोनों को सबक सिखाने के लिए घर से निकला। उसने धन कुबेर का वेश बनाया और नापित से हजामत करवाने पहुंचा। नापित ने धनी सेठ जानकर पूरे चित्त से उसकी मालिश-मसाज की और हजामत की। सहस्रमल्ल ने जेब में हाथ डाला और चेहरा बनाकर बोला, पैसे तो घर पर ही छूट गए हैं।

अपने बच्चे को मेरे साथ भेज दीजिए मैं इसे पर्याप्त धन दूंगा। नाई ने अपना पुत्र उसके साथ भेज दिया। वहां से सहस्रमल्ल धनसार की दुकान पर पहुंचा। महंगे से महंगे वस्त्र खरीदे। नापित के पुत्र को अपना पुत्र बताकर सहस्रमल्ल ने उसे सेठ के हवाले किया और शीघ्र ही लौटकर धन देने की बात कहकर चम्पत हो गया। आखिर भेद खुला तो नाई और धनसार ने सिर पीट लिया और राजा से तदर्थ शिकायत की।

दूसरे दिन एक विदेशी अश्व व्यापारी और नगरवधू कामपताका ने सहस्रमल्ल को पकड़ने का बीड़ा उठाया। मां ने इसकी सूचना सहस्रमल्ल को दी। सहस्रमल्ल ने बड़े सार्थवाह का वेश धर कर न केवल अश्व व्यापारी से एक कीमती घोड़ा प्राप्त कर लिया बल्कि वेश्या की रत्नमंजूषा भी हथिया ली। अश्व व्यापारी और गणिका ने अपने लुट जाने का समाचार राजा को दिया। राजा हैरान-परेशान बन गया। उसने नगर-रक्षक को बुलाकर सख्त आदेश दिया कि जैसे भी हो सहस्रमल्ल को गिरफ्तार करो। नगर-रक्षक ने नगर के चप्पे-चप्पे पर सैनिक तैनात कर दिए। सहस्रमल्ल ने इस चुनौती को भी स्वीकार किया। एक ब्राह्मण का वेश धर कर वह नगर में निकला। एक वीरान देवालय में कुछ जुआरी जुआ खेल रहे थे। ब्राह्मणवेशी सहस्रमल्ल वहां आया और जुआ खेलने लगा। उधर से नगर रक्षक भी वहां पहुंचा। जुआरियों से चोर का कुछ सूत्र मिले ऐसा सोचकर वह उनसे घुलने-मिलने की दृष्टि से उनके साथ जुआ खेलने लगा। आखिर सहस्रमल्ल और नगर-रक्षक के मध्य जुआ खेला गया। सहस्रमल्ल ने नगर-रक्षक का सारा धन जीत लिया। कहावत है कि हारा हुआ जुआरी कभी पीछे नहीं देखता। नगर-रक्षक के पास जब कुछ भी शेष नहीं रहा तो उसने अंगुली में पहनी अपनी नामांकित मुद्रिका भी दांव पर लगा दी। सहस्रमल्ल का लक्ष्य तो वह मुद्रिका जीतना ही था। उस मुद्रिका को लेकर सहस्रमल्ल नगर-रक्षक के घर पहुंचा और उसकी पत्नी को उसके पति की मुद्रिका देते हुए स्वयं को नगर-रक्षक का विश्वस्त मित्र बताया। उसने कहा, विरोधियों ने मेरे मित्र के विरुद्ध राजा के कान भर दिए हैं। शीघ्र ही राजपुरुष आपका समस्त धन-माल लेने के लिए यहां आने वाले हैं। मेरे मित्र ने यह मुद्रिका देकर मुझे इसलिए आपके पास भेजा है कि सारा गुप्त धन आप मुझे दे दें जिससे उसको किसी सुरक्षित स्थान पर छिपाकर राजा से बचाया जा सके।

नगर-रक्षक की पत्नी पति की मुद्रिका देखकर विश्वस्त बन गई और सारा धन सहस्रमल्ल के हवाले कर दिया, जिसे लेकर सहस्रमल्ल अपने घर पहुंच गया। शाम को नगर-रक्षक घर पहुंचा तो भेद खुला और वह सिर पकड़कर रोने लगा। नगर-रक्षक के लुट जाने का समाचार राजा ने सुना तो उसकी स्थिति भी दर्शनीय बन गई। रोष में भर कर राजा ने स्वयं चोर को पकड़ने का बीड़ा उठाया।

इस से सहस्रमल्ल को अपनी चौर्य और ठग कला पर बड़ा गर्व हुआ कि स्वयं राजा ने उसे पकड़ने का बीड़ा उठाया है। सहस्रमल्ल राजा को ठग कर स्वयं को अपराजेय सिद्ध करने को उतावला बन गया। उसने अंगमर्दक (मालिश करने वाला) का वेश धरा और राजमहल के द्वार पर पहुंचा। उसने द्वारपाल से अपने मालिश करने के कौशल की प्रशंसा की और साथ ही उसे प्रलोभन दिया कि यदि वह राजा की मालिश के लिए उसे नियुक्त कर सका तो उसे मिलने वाले पारितोषिक से आधा धन वह उसे देगा। द्वारपाल को प्रलोभन आ गया। उसने राजा को जाकर सूचित किया कि कोई अद्भुत अंगमर्दक आया है और आपकी सेवा की अनुमति प्राप्त करना चाहता है। राजा ने अनुमति दे दी। सहस्रमल्ल ने इस कुशलता से राजा की मालिश की कि राजा को निद्रा लग गई। राजा के निद्राधीन बनते ही सहस्रमल्ल ने राजा के आभूषण और मुकुट समेटे और एक मुद्रिका द्वारपाल को देकर चंपत हो गया।

राजा की निद्रा टूटी तो उसे अपने लुट जाने का परिज्ञान हुआ। राजा भौंचक्का रह गया। उसने सहस्रमल्ल

के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार कर ली।

सहस्रमल्ल ने चौर्य कर्म में शिखर छू लिए। अथाह धन उसके पास जमा हो गया पर उसके मन से शान्ति कोसों दूर थी। एक बार नगर में विशुद्ध नामक केवली मुनि पधारे। मुनि का उपदेश सुनने सहस्रमल्ल भी गया। जीवन में प्रथम बार उसे शांति का अनुभव हुआ। उसका चिंतन आत्मोन्मुखी बन चला। अशांति फैलाकर भला शांति की आकांक्षा कैसे सफलीभूत बन सकती है। मेरे लिए यही उचित होगा कि मैं लूटा हुआ समस्त धन पुनः धन के मालिकों को लौटा दूं और प्रव्रजित बनकर आत्मकल्याण करूं। उसने अपने मन के भाव मुनि से कहे। मुनि ने उसके चिन्तन की अनुमोदना की। आखिर सहस्रमल्ल ने समस्त धन राजा को अर्पित कर संयमी होने के अपने संकल्प का उसे परिचय दिया। इससे राजा ने उसे क्षमा कर दिया और उसकी दीक्षा का समुचित प्रबन्ध किया।

सहस्रमल्ल की मां ने भी पुत्र के साथ ही प्रव्रज्या धारण की। 'कम्मे सूरा सो धम्मे सूरा' सूत्र के सच को सहस्रमल्ल ने सच सिद्ध किया। वह पापकर्म में जितना शूर था धर्मपथ पर उससे भी बढ़कर शूर सिद्ध हुआ। उसी भव में केवलज्ञान को साधकर मोक्षधाम में जा विराजा। —वर्धमान देशना 3

सहस्रांशु

रावण का समकालीन, महिष्मती नगरी का राजा। सहस्रांशु एक जिनधर्मानुयायी राजा था। वह एक हजार राजाओं का स्वामी था। उसकी रानियों की संख्या भी इतनी ही थी। दिग्विजय के लिए निकला रावण रेवा नदी के किनारे बैठकर ध्यानमुद्रा में लीन बनकर साधना कर रहा था। उधर सहस्रांशु अपनी एक हजार रानियों के साथ रेवा नदी में जलक्रीड़ा के लिए गया। एक साथ एक हजार रानियों के नदी में उतरने से नदी में बाढ़ जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई। रावण की ग्रीवा तक सहसा जल आ गया। उससे उसका ध्यान भंग हो गया। क्रोधित हो रावण ने सहस्रांशु पर धावा बोल दिया। प्रचण्ड युद्ध के पश्चात् सहस्रांशु रावण का बन्दी बन गया। बन्दी सहस्रांशु को रावण की सभा में उपस्थित किया गया। उसी समय शतबाहु नामक मुनि आकाश मार्ग से उस सभा में उतरे। मुनि ने धर्मोपदेश दिया और अपना परिचय देते हुए कहा कि वे महिष्मती के पूर्व शासक और सहस्रांशु के संसार पक्षीय पिता हैं। पितृ-दर्शन से सहस्रांशु विरक्त हो गया। उसके वैराग्य भाव को देखकर रावण ने उसे मुक्त कर दिया और उसकी दीक्षा का आयोजन किया। सहस्रांशु मुनि-धर्म का पालन कर सद्गति का अधिकारी बना। —जैन रामायण

(क) सागर

इनका समग्र परिचय गौतम के समान है। (देखिए-गौतम) —अन्तगडसूत्र, प्रथम वर्ग, तृतीय अध्ययन

(ख) सागर

चम्पानगरी के समृद्ध श्रेष्ठी जिनदत्त का पुत्र। (देखिए-नागश्री)

(ग) सागर (कुमार)

समग्र परिचय गौतमवत् है। (देखिए-गौतम) —अन्तगड सूत्र, द्वितीय वर्ग, द्वितीय अध्ययन

(क) सागरचन्द्र (कुमार)

बलराम का पौत्र और निषधकुमार का पुत्र। सागरचंद्र सुरूप और महत्वाकांक्षी प्रकृति का युवक था। द्वारिका नगरी में ही धनसेन नामक सेठ रहता था जो धनी और मानी था। उसके एक पुत्री थी जिसका नाम

था कमलामेला। कमलामेला अद्भुत लावण्यमती और सुरूपा थी। धनसेन वणिक था, पर चाहता था कि उसकी पुत्री का विवाह राजपरिवार में हो। उसने अपनी पुत्री का सम्बन्ध उग्रसेन के पुत्र नभसेन से सुनिश्चित कर दिया। नभसेन कमलामेला के चित्र को देखकर मन ही मन उसके रूप और लावण्य पर मुग्ध हो गया। वह अहर्निश उसी के विचारों में खोया रहता। एक बार घूमते-घूमते देवर्षि नारद नभसेन के महल में आए। कमलामेला की कल्पनाओं में तल्लीन नभसेन नारद के आगमन को जान नहीं पाया, परिणामतः उसने न तो नारद जी को प्रणाम किया और न ही उन्हें आसन दिया। इससे नारद जी बुरा मान गए। उन्होंने इसे अपना अपमान माना और मन ही मन निश्चय कर लिया कि जिस कन्या के ध्यान में डूबकर यह राजकुमार साधारण नियम और व्यवहार को भी विस्मृत कर बैठा है, उस कन्या के साथ मैं इसका विवाह नहीं होने दूंगा। ऐसा विचार करके नारद जी वहां से चलकर सीधे सागरचन्द्र के महल में पहुंचे। सागरचन्द्र ने नारद जी का भाव-भीना स्वागत किया और उन्हें बैठने के लिए आसन दिया। तब कुमार ने देवर्षि से पूछा, मुने! आप तो तीनों लोकों के विहारी हैं। कुछ विचित्र दर्शन की बात सुनाइए!

नारद ने कहा, विचित्र दर्शन के लिए तीनों लोकों का भ्रमण अनिवार्य नियम नहीं है। विचित्र वस्तु तो तुम्हारे ही नगर में मौजूद है। कुमार की जिज्ञासा प्रबल बन गई और उसने पूछा, वह विचित्र वस्तु क्या है महर्षि? नारद जी ने कहा, वह है कमलामेला! वह तुम्हारी ही नगरी के रहने वाले धनसेन सेठ की पुत्री है। उस जैसी सुन्दरी पृथ्वीमण्डल पर दुर्लभ है। पर धनसेन ने उसका सम्बन्ध उग्रसेन के पुत्र नभसेन से कर दिया है। परन्तु उसकी जोड़ी के तो तुम ही हो। कहकर नारद प्रस्थित हो गए। सागरचन्द्र कमलामेला पर मुग्ध बन गया। उसकी दशा उन्मत्त जैसी हो गई। उसके पितृव्य शाम्बकुमार ने उसकी दशा देखी और कारण पूछा। सागरचन्द्र ने पूरी बात पितृव्य को बता दी और कहा कि वह कमलामेला के बिना जीवित नहीं रह सकता है। शाम्बकुमार ने सागरचन्द्र को वचन दिया कि वह कमलामेला के साथ उसका विवाह अवश्य कराएगा।

उधर नारद जी कमलामेला के पास पहुंचे और उन्होंने उसके हृदय में भी सागरचन्द्र के प्रति अनुराग उत्पन्न कर दिया। शाम्बकुमार अनेक विद्याओं से सम्पन्न थे। उन्होंने एक सुरंग तैयार की जो द्वारिका के बाह्य भाग में स्थित उद्यान से कमलामेला के महल तक जाती थी। उसी सुरंग मार्ग से जाकर सागरचन्द्र कमलामेला को उद्यान में ले आया। शाम्बकुमार के आह्वान पर नारद जी प्रगट हुए और उनकी उपस्थिति में सागरचन्द्र और कमलामेला विवाह-सूत्र में बंध गए।

धनसेन ने अपनी पुत्री को महल में नहीं पाया तो वह चिन्तातुर हो गया। उसने वासुदेव श्रीकृष्ण से इसकी शिकायत की। श्रीकृष्ण के सैनिकों ने शीघ्र ही पता लगा लिया कि कमलामेला उद्यान में है। श्रीकृष्ण वहां पहुंचे। नभसेन भी प्रतिवादी बनकर पहुंचा। शाम्ब ने पक्ष प्रस्तुत किया, भगवन्! कमलामेला और सागरचन्द्र परस्पर एक दूसरे से प्रेम करते हैं और दोनों ने अपनी इच्छा से विवाह किया है इसलिए वे दोनों निरपराध हैं। श्रीकृष्ण को उसका पक्ष न्यायोचित प्रतीत हुआ। पर उन्होंने कहा, इसके लिए सागरचन्द्र को नभसेन से क्षमा मांगनी होगी। सागरचन्द्र नभसेन के कदमों पर अवनत हो गया और उसने उससे क्षमा मांगी। ऊपर से तो नभसेन ने सागरचन्द्र को क्षमा कर दिया, पर उसके हृदय में द्वेष की ग्रन्थी जम गई। वह प्रतिशोध लेने के लिए उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

सागरचन्द्र कमलामेला पर ऐसा मुग्ध बना कि धर्म-कर्म सब कुछ भुला बैठा। कालान्तर में अरिहंत अरिष्टनेमि द्वारिका नगरी पधारे। प्रभु का उपदेश सुनकर सागरचन्द्र के हृदय में आत्मबोध जागृत हुआ।

उसने प्रभु से श्रावक-धर्म अंगीकार किया। एक बार श्रावक-प्रतिमा की आराधना के लिए सागरचन्द्र ने श्मशान में जाने का निश्चय किया। वह श्मशान में जाकर प्रतिमा धारण कर ध्यानावस्थित हो गया।

संयोग से श्मशान भूमि के निकट से नभसेन गुजरा। सागरचन्द्र को प्रतिमा की आराधना में लीन देखकर उसका प्रतिशोध उमड़ आया। उसने पास ही रहे हुए तालाब के किनारे से आर्द्र मिट्टी ली और उससे सागरचन्द्र के सिर पर पाल बांध दी। तदनन्तर चिता से अग्नि लेकर उसने सागरचन्द्र के सिर पर उंडेल दी। ऐसा करके नभसेन भाग खड़ा हुआ।

उधर सागरचन्द्र ने अत्यंत समभावों से अग्नि-परीषह को सहन किया। उन्होंने अपनी प्रतिमा को खण्डित नहीं बनने दिया और नभसेन के प्रति दुर्भाव को अपने हृदय में प्रवेश नहीं लेने दिया। समता साधक सागरचन्द्र ने विमल भावों से देहोत्सर्ग करके देवलोक प्राप्त किया। आगे के भवों में वे मोक्ष जाएंगे।

—उपदेश माला, गाथा 120

(ख) सागरचंद्र (मुनि)

(देखिए-मेतार्य मुनि)

(क) सागरदत्त

प्रभु पार्श्वकालीन ताम्रलिप्ति निवासी एक वणिक पुत्र। सागरदत्त जब युवा हुआ तो उसे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। ज्ञान में उसे अपना पूर्वभव दिखाई देने लगा। पूर्वभव में वह एक ब्राह्मण का पुत्र था। उसकी पत्नी दुराचारिणी थी। पत्नी ने एक बार उसे विष दे दिया और स्वयं एक अन्य पुरुष के साथ चली गई। एक मालिन की सेवा और उपचार से ब्राह्मण-पुत्र स्वस्थ हो गया। पर पत्नी के विश्वासघात ने उसके हृदय में स्त्री जाति के प्रति घृणा भर दी। वह संसार का त्याग करके परिव्राजक बन गया। वहां का आयुष्य पूर्ण कर वह यहां वणिकपुत्र बना। यहां पर भी वह स्त्रियों से घृणा करने लगा। युवा होने पर भी उसने विवाह नहीं किया। पूर्वभव में जिस ग्वालिन ने उसकी सेवा की थी वह भी इसी नगरी में एक श्रेष्ठी कन्या बनी थी। उस कन्या के हृदय में सागरदत्त के प्रति सहज अनुराग जागृत हुआ। सागरदत्त द्वारा उसके प्रेम प्रस्ताव को ठुकराए जाने पर भी वह निराश नहीं हुई। उसने सागरदत्त के स्त्री जाति से घृणा के मूल को जाना। उसने सागरदत्त को पत्र लिखा और स्पष्ट किया कि सभी स्त्रियां बुरी नहीं होती हैं। यह सच है कि एक स्त्री ने तुम्हारे साथ विश्वासघात किया, परन्तु यह भी सच है कि एक स्त्री ने ही तुम्हारे प्राणों की रक्षा भी की।

श्रेष्ठी कन्या की इस युक्ति से सागरदत्त के हृदय में उसके प्रति अनुराग उग आया और उसने उससे विवाह कर लिया। बाद में सागरदत्त ने समुद्री व्यापार शुरू किया। शुरू में वह कई बार असफल हुआ। अंततः व्यापार में उसे सफलता मिली। खोई हुई लक्ष्मी की उसे प्राप्ति हुई। वह पाटलीपथ में रहकर व्यवसाय करने लगा। वहीं पर उसने श्रावक धर्म अंगीकार किया। उन दिनों भगवान पार्श्वनाथ पुण्ड्रवर्धन देश में विचरण कर रहे थे। सागरदत्त भगवान का उपदेश सुनने गया। प्रभु के उपदेश से वह प्रबुद्ध बन गया। दीक्षा लेकर उसने आत्म-साधना का पथ प्रशस्त किया और उत्तम गति का अधिकारी बना।

(ख) सागरदत्त

चम्पानगरी के एक सम्पन्न श्रेष्ठी। (देखिए-नागश्री)

(ग) सागरदत्त

महाविदेह क्षेत्र की पुण्डरीकिणी नगरी के चक्रवर्ती सम्राट् वज्रदत्त और उनकी महारानी यशोधरा का

आत्मज एक तेजस्वी राजकुमार। युवावस्था में अनेक कुलीन कन्याओं के साथ उसका विवाह हुआ। भोगोपभोग के समस्त सुख साधन पूर्व पुण्योदय से उसे सहज रूप में प्राप्त हुए। परन्तु उत्कृष्ट भोग सामग्री के मध्य में रहकर भी राजकुमार का अन्तर्मानस जल कमलवत् निर्लिप्त था। एक बार शरद ऋतु में राजकुमार सागरदत्त अपने प्रासाद के गवाक्ष में बैठा हुआ अपनी पत्नियों के साथ आमोद-प्रमोद कर रहा था। सहसा उसके नेत्र आकाश पर स्थिर हो गए। उसने देखा—आकाश में एक छोटा सा मेघखण्ड देखते ही देखते पूरे आकाश पर फैल गया। काली-काली घटाएं छा गईं। दृश्य अतीव नयनाभिराम बन गया। राजकुमार का मन उस मेघ सौन्दर्य में रम गया। पर शीघ्र ही दक्षिण दिशा से हवा का एक झोंका उठा जिसने कुछ ही समय में मेघों के साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया। इस घटना ने राजकुमार की चिन्तन धारा को बदल दिया। उसने विचार किया, मेघ के साम्राज्य की तरह ही मुझे प्राप्त सुख-साधन और जीवन भी शीघ्र ही छिन्न-भिन्न हो जाने वाला है। बुद्धिमत्ता इसी बात में है कि इससे पूर्व कि मेरा जीवन मेरे हाथों से फिसल जाए मुझे आत्मकल्याण का उपाय कर लेना चाहिए।

राजकुमार सागरदत्त ने राजपाट और मोह ममत्व के आवरणों को हटाकर अभयसार नामक आचार्य से प्रव्रज्या धारण कर ली। आगमों का पारायण कर वे बहुश्रुत मुनि बने। कालान्तर में उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त हुआ। कर्मकल्मष को ध्वस्त कर वे उच्च गति के अधिकारी बने।

(घ) सागरदत्त

वीरपुर ग्राम का एक श्रेष्ठी जिसके लिए धन ही धर्म था। गांव में उसकी इकलौती दुकान थी। वह ग्रामवासियों की अज्ञता और विवशता का भरपूर दोहन करता। पौने-सवाए बाट रखता, असली वस्तु के मूल्य पर नकली वस्तु बेचता। इससे उसने धन तो बहुत कमाया पर मानसिक शान्ति और प्रतिष्ठा खो बैठा। लोग उसकी बेईमानी को पहचानने लगे और उसे 'वंचक बनिया' कहने लगे। परन्तु इस नाम से सागरदत्त को कोई खिन्नता न थी। क्योंकि उसे प्रतिष्ठा से धन प्रिय था।

सेठ का एक पुत्र था। सेठ ने सुलक्षणा नामक कन्या से पुत्र का विवाह किया। सुलक्षणा मात्र नाम से ही सुलक्षणा न थी, गुणों से भी वह सुलक्षणा थी। वह लोगों के मुख से अपने श्वसुर के लिए निन्दा के शब्द सुनती। लोग उसके श्वसुर को 'वंचक वणिक' कहते तो उसे बड़ी खिन्नता होती। उसने श्वसुर के इस उपनाम को बदलने का संकल्प कर लिया। अपने मधुर आचार-विचार से उसने श्वसुर का हृदय तो पहले ही जीत लिया था। एक दिन उचित अवसर देखकर उसने श्वसुर से कहा, पिता जी! लोग आपको वंचक-वणिक कहते हैं, ऐसा क्यों है? क्या इस उपनाम से आपको कष्ट नहीं होता ? सागरदत्त ने कहा, लोग मेरी आमदनी पर ईर्ष्या करते हैं। इसीलिए वे मुझे वंचक-वणिक कहते हैं। पर कहें, इससे मेरा क्या घटता है। व्यक्ति के पास धन हो तो उसके लिए कुनाम भी सुनाम है। सुलक्षणा ने कहा, आपका धन भी बढ़े और लोग आपका सम्मान भी करें, यदि ऐसा हो तो कैसा रहेगा ? सेठ बोला, ऐसा होगा तो बहुत अच्छा होगा। सुलक्षणा ने पूरे विश्वास से कहा—ऐसा अवश्य होगा, पर उसके लिए आपको मेरे कहे के अनुसार चलना होगा। सेठ ने पूछा, वह कौन-सी विधि है जिससे धन और यश दोनों एक साथ सुरक्षित-संचित रह सकते हैं ?

पुत्रवधू ने कहा—वह विधि है प्रामाणिकता। मेरी प्रार्थना पर आप अपने व्यापार में प्रामाणिकता को स्थान दीजिए। उससे आपके धन और यश दोनों में आशातीत वृद्धि होगी।

पुत्रवधू की बात सेठ ने स्वीकार कर ली। वह पूर्ण प्रामाणिकता से नाप-तोल करने लगा। उचित मूल्य पर असली वस्तु ग्राहकों को देने लगा। देखते-ही-दखते ग्रामीणों का विश्वास सेठ के प्रति जाग गया। लोग

सेठ के आचार, व्यवहार और वाणी को प्रमाण मानने लगे। छह माह व्यतीत होते-होते गांव में सेठ का यश फैल गया। प्रामाणिकता के कारण उसके व्यापार में भी आशातीत उछाल आया। पूर्वापेक्षया उसे दोगुणा-तीन गुणा लाभ भी प्राप्त हुआ। लोग 'वंचक वणिक' शब्द को भूल गए और सागरदत्त को 'सेठ जी' कहकर पुकारने लगे।

सुलक्षणा ने श्वसुर और पति के हृदय में धर्म के संस्कारों का बीजारोपण किया। सामायिक-संवर की निष्ठा उनके भीतर जागृत की। सेठ प्रामाणिक और धार्मिक जीवन जीकर सद्गति का अधिकारी बना।

—उपदेश प्रासाद (श्राद्धविधि)

सामज्ज मुनि

प्राचीनकालीन एक जैन श्रमण जो योग-विद्या में कुशल थे। (देखिए-रुद्रसूरि)

सायर

(देखिए-चन्दन राजा)

सारण कुमार

महाराज वसुदेव और महारानी धारिणी के अंगजात, भगवान अरिष्टनेमि के प्रवचन से प्रतिबोध पाकर सारण प्रव्रजित बने। बीस वर्षों तक विशुद्ध संयम पालकर मासिक संलेखना के साथ शत्रुंजय पर्वत से सिद्ध-बुद्ध-मुक्त बने।

—अन्तगडसूत्र, तृतीय वर्ग, सप्तम अध्ययन

सालिहीपिता श्रावक

भगवान महावीर के दस श्रमणोपासकों में से एक। वह श्रावस्ती नगरी का निवासी था। उसके पास बारह कोटि स्वर्णमुद्राएं तथा चालीस हजार गाएं थीं। उसने अपनी पत्नी फाल्गुनी सहित भगवान महावीर से श्रावक धर्म की दीक्षा ली थी। उसने चौदह वर्षों तक विशुद्ध श्रावकाचार की आराधना की। अन्ततः मासिक अनशन सहित देह विसर्जित कर प्रथम देवलोक में गया। वहां से महाविदेह में जन्म लेकर निर्वाण प्राप्त करेगा।

सावियब्बे

गंगकाल की एक जैन महिला। सावियब्बे धर्मप्राण सन्नारी थी। श्रवणबेलगोल के एक पाषाण पर इस वीरांगना का एक चित्र है तथा साथ ही शिलालेख भी है। चित्र में इस वीरांगना को घोड़े पर सवार होकर एक गजारूढ़ योद्धा पर आक्रमण करते हुए दिखाया गया है। लेख में उल्लेख है—सावियब्बे रेवती जैसी दृढ़धर्मिणी श्राविका, सीता जैसी पतिव्रता, देवकी जैसी रूपवती, अरुन्धती जैसी धर्मप्रिया तथा शासनदेवी जैसी जिनेन्द्र भक्त थी।

शिलालेख से सिद्ध है कि सावियब्बे एक योद्धा भी थी। उसने अपने पति के साथ मिलकर राजा रक्कसगंग की सेना की ओर से बगेपुर युद्ध में अपने जौहर दिखाए थे। रणभूमि में ही वह वीरगति को प्राप्त हुई थी।

साहसगति

चक्रांक राजा का पुत्र। उसने सुग्रीव का रूप धारण कर सुग्रीव के लिए विकट स्थितियां उत्पन्न कर दी थीं। (देखिए-तारा)

(क) सिंह

मगधदेश के महालय ग्राम का रहने वाला एक सद्गृहस्थ। उसका एक छोटा भाई था, जिसका नाम वसन्त था। दोनों सहोदरों में प्रगाढ़ प्रीति भाव था। दोनों ईमानदारी और श्रम से आजीविका कमाते और सुखपूर्वक जीवन-यापन करते हुए समय बिता रहे थे। कालक्रम से दोनों भाइयों के विवाह हो गए। कुछ वर्षों तक तो पारिवारिक प्रेम चलता रहा। बाद में वसंत की पत्नी ने पारिवारिक प्रेम में सेंध लगाना शुरू कर दिया। वह अपने पति वसंत को नित-नई काल्पनिक कथाएं सुनाकर बड़े भाई से अलग होने के लिए उकसाने लगी। वह कहती कि उसके बड़े भाई अलग से धन जमा करके रखते हैं, जेठानी पलंग पर विश्राम करती रहती है और वह दिन भर श्रम करती है। धीरे-धीरे पत्नी ने वसंत के हृदय को विषैला बना दिया। उसने बड़े भाई से अलग होने का निश्चय कर लिया। उसने अपने मन के भाव बड़े भाई से कहे। सिंह ने वसंत को ऊंच-नीच समझाई और साथ रहने के लिए मनाने का प्रयास किया। परन्तु वसंत उसके लिए तैयार नहीं हुआ। आखिर सिंह ने उसे आधा धन और आधी जमीन देकर अलग कर दिया।

वसंत की पत्नी को इच्छित-वरदान मिल गया। वह अपने ढ़ंग से खाने, पहनने और व्यय करने लगी। थोड़े ही दिनों में उनका संचित धन समाप्त हो गया। सिंह की पत्नी बुद्धिमती थी। वह आय से कम व्यय करती और धन बचाकर रखती। फलतः अपेक्षाकृत कम श्रम करके भी सिंह का जीवन सुखपूर्वक चलता रहा ।

वसंत की पत्नी ने पति को भड़काया, तुम्हारे बड़े भाई प्रारंभ से ही अलग धन जमा करते रहे थे। इसीलिए तो बिना श्रम किए ही वे सानन्द उस धन का उपभोग कर रहे हैं। अतः तुम उनके पास जाओ और गुप्त रखे धन का हिस्सा मांग लाओ। पत्नी के कहे अनुसार वसंत सिंह के पास गया और गुप्त धन में से हिस्सा मांगने लगा। सिंह ने स्पष्ट किया कि उसके पास कोई गुप्त धन नहीं है। भाई द्वारा संदेह किए जाने पर सिंह को बड़ा कष्ट हुआ और उसने वसंत को इच्छित धन दे दिया। पर वह धन भी कब तक चलता? पत्नी के द्वारा उकसाए जाने पर वसंत भाई की हत्या करने के लिए गया। पर सिंह सचेत था। वह वसंत के प्रहार से बच गया।

भाई के द्वेषपूर्ण व्यवहार को देखकर सिंह विरक्त हो गया। गृह-त्याग कर वह मुनि बन गया। उग्र तपश्चरण करके वह सौधर्मकल्प में देव बना। उधर वसंत को ग्रामीणों का कोप सहन करना पड़ा। वह भी गृह-त्याग कर तापस बन गया और अज्ञान तप करके ज्योतिषी देव बना।

देवभव से च्यव कर सिंह का जीव गजपुर नगर के श्रेष्ठी सुरेन्द्र के पुत्र रूप में जन्मा। युवावस्था में एक मुनि के दर्शन कर उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसे अपना पूर्वभव स्पष्ट दिखाई देने लगा। उसने मुनि से अपने छोटे भाई के बारे में पूछा तो मुनि ने बताया, तापसी जीवन जीकर वह ज्योतिषी देवों में जन्मा है। वहां से कई छोटे-छोटे भव करते हुए वर्तमान में वह अचल नगर के बाह्य भाग में स्थित बहुशाल उद्यान में महाभयंकर विषधर बना है।

कर्मों की विचित्रता को देख-सुनकर श्रेष्ठि पुत्र वसुधर प्रव्रजित हो गया। उग्र तपश्चरण और स्वाध्यायादि से मुनि वसुधर ने अवधिज्ञान और मनःपर्यवज्ञान प्राप्त किया। किसी समय भ्रमण करते हुए मुनि वसुधर बहुशाल उद्यान में पधारे और विषधर को धर्मोपदेश देकर जागृत किया। वसंत के जीव विष-धर को भी जातिस्मरण ज्ञान की उपलब्धि हुई। उसने मुनि की साक्षी से अनशन किया और सौधर्मकल्प में देव बना। वहां से च्यव कर मनुष्य-भव प्राप्त कर वह मोक्ष में जाएगा।

मुनि वसुधर केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्ष में गए।

—भव भावना वृत्ति, नेमि चरित्र / बालावबोध, गौतम कुलक, कथा 16 / जैन कथा कोष-भाग 6

(ख) सिंह

रमणीय नामक नगर का रहने वाला एक दृढ़धर्मी श्रावक । किसी समय वह व्यापार के लिए अपने सार्थ के साथ उत्तरापथ जा रहा था। एक नदी के किनारे उसने पड़ाव डाला। संध्या में वह एकान्त स्थान में जाकर सामायिक की आराधना करने लगा। उस प्रदेश में मच्छरों की बहुलता थी। सार्थ के लोगों ने मच्छरों से बचाव के लिए धुआं किया, श्रावक सिंह एकान्त में सामायिक-साधना में तल्लीन था। विक्षुब्ध मच्छर-सेना ने विशेष रूप से सिंह पर आक्रमण कर दिया। सिंह समता साधना में निमग्न था। उसने अकंप और सुस्थिर रहते हुए सामायिक की। दो घड़ी तक मच्छरों ने निराबाध रूप से उसके रक्त का पान किया।

सामायिक साधना की पूर्णता पर सिंह शिविर में लौटा। दक्षिणाभिमुख हवा के चलने से मच्छरों का प्रकोप शान्त हो गया। पर सिंह का शरीर सूजन से भर चुका था। प्रचलित उपचार से कुछ दिन में उसका शरीर स्वस्थ हो गया।

श्रावक सिंह को व्यापार में आशातीत लाभ हुआ। उसने अपने लिए थोड़ा सा धन रखकर शेष धन दान-दया में अर्पित कर दिया। श्रावक-धर्म का पूर्ण निष्ठा से पालन करते हुए आयुष्य पूर्ण कर सिंह देवलोक में गया। वहां से च्यव कर वह मनुष्यभव प्राप्त करेगा और संयम की आराधना द्वारा सर्व कर्म खपा कर सिद्ध होगा।

सिंह अणगार

महावीर के एक शिष्य जिनका महावीर पर अनन्य अनुराग और श्रद्धाभाव था। भगवान पर गोशालक द्वारा प्रयुक्त तेजोलेश्या के समाचार से सिंह अणगार बहुत पीड़ित हुए और जोर-जोर से रोने लगे। आखिर उन्हीं द्वारा भिक्षा में लाई गई औषधि से प्रभु व्याधिमुक्त हुए। (देखिए-रेवती)

(क) सिंहगिरि

सोपारक नगर का शासक जो मल्लविद्या का प्रेमी था। (देखिए-अट्टणमल्ल)

(ख) सिंहगिरि (आचार्य)

आर्य सुहस्ती की परम्परा के एक आचार्य। वे वी.नि. की चतुर्थ सदी के उत्तरार्द्ध में हुए। आर्यदिन्न उनके गुरु थे।

आर्य सिंहगिरि के चार शिष्य हुए —(1) आर्य धनगिरि (2) आर्य वज्र (3) आर्य समित (4) आर्य अर्हदत्त। इनमें से आर्यवज्र जैन परम्परा में विशेष रूप से विख्यात हैं। —कल्पसूत्र स्थविरावली

सिंहभद्र

वैशाली नरेश गणाध्यक्ष महाराज चेटक के ज्येष्ठ पुत्र। महाराज चेटक के दस पुत्र थे जिनके नाम क्रमश इस प्रकार हैं—सिंहभद्र, दत्तभद्र, धन, सुदत्त, उपेन्द्र, सुकुम्भोज, अकम्पन, सुपतंग, प्रभंजन और प्रभास।

सिंहभद्र शूरवीर योद्धा था। वह लिच्छवियों का प्रधान सेनापति था। उसके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वह अनन्य श्रमणोपासक था। भगवान महावीर के प्रति उसके हृदय में अनन्य आस्था थी।

(क) सिंहरथ

चम्पापुर का एक राजा। (देखिए-श्रीपाल)

(ख) सिंहरथ

प्राचीनकालीन राजगृह नगरी का एक राजा। (देखिए-आषाढ़)

सिंहल कुमार

सिंहलद्वीप के सिंहलपुर नगर के राजा सिंहरथ और रानी सिंहला का आत्मज, एक परम रूपवान, बुद्धिमान और साहसी राजकुमार। वसन्तोत्सव के अवसर पर जब राज्य का प्रधान हस्ती मत्त होकर भाग छूटा और एक कन्या को उसने अपनी सूण्ड में लपेट लिया तो राजकुमार ने ही अपने चातुर्य और साहस से गजराज का सामना किया और उस कन्या के प्राणों की रक्षा की। वह कन्या थी श्रेष्ठी धन की पुत्री धनश्री। धनश्री अपने प्राण रक्षक राजकुमार के प्रति अनुरागिनी बन गई। उसने अपने माता-पिता से स्पष्ट कह दिया कि वह राजकुमार सिंहलकुमार से विवाह करेगी, अन्यथा प्राण त्याग देगी। विवश श्रेष्ठी ने अपनी पुत्री की बात राजा से कही, राजा ने रानी से और रानी ने सिंहलकुमार से। सिंहलकुमार के मौन को स्वीकृति माना गया और उसका विवाह धनश्री से सम्पन्न हो गया।

धनश्री रूप-गुण सम्पन्न और पतिव्रता बाला थी। राजकुमार सुखपूर्वक अपनी पत्नी के साथ समय व्यतीत करने लगा। राजकुमार का रूप-सौन्दर्य कामदेव को लज्जित करने वाला था। वह नगर-भ्रमण को निकलता तो विवाहिता और अविवाहिता स्त्रियां अपने कुलधर्म को भूलकर उसके रूप को देखने लगती थीं। मर्यादाओं के टूटने की सम्भावना से भयभीत वृद्ध नागरिकों ने राजा से तत्सम्बंधी प्रार्थना की। राजा ने पुत्र के लिए आदेश जारी कर दिया कि वह नगर भ्रमण न करे और अपने महल में रहकर ही आमोद-प्रमोद करे। राजकुमार ने इसे अपने लिए परतन्त्रता माना और भाग्य-परीक्षण के लिए देशाटन का संकल्प कर लिया। उसने धनश्री को अपने संकल्प से परिचित कराया। धनश्री आग्रह करके साथ चलने को तैयार हो गई। एक रात्रि में किसी को सूचित किए बिना सिंहलकुमार धनश्री के साथ समुद्रतट पर आ गया और प्रस्थान को तैयार एक जहाज पर वह अपनी पत्नी के साथ सवार हो गया। कई दिनों तक यात्रा सकुशल चलती रही। एक दिन दुर्दैववश जहाज एक चट्टान से टकराकर टुकड़े-टुकड़े हो गया। धनश्री और सिंहलकुमार को अलग-अलग काष्ठ खण्ड हाथ लग गए। धनश्री कुसुमपुर नगर के तट पर लगी। वहां एक यक्षायतन था। एक वृद्धा से उसे ज्ञात हुआ कि यह यक्षायतन 'प्रिय मेलक तीर्थ' नाम से जाना जाता है। जो भी विरहिन यहां बैठकर मौन जप करती है उसे शीघ्र ही उसके प्रियतम से मिलन हो जाता है। धनश्री यक्षायतन में बैठकर मौन जप में लीन हो गई।

उधर सिंहलकुमार रत्नपुर नगर के तट पर आ लगा। एक गरुड़युगल की वार्ता से उसे सर्प विष की औषधि प्राप्त हुई। उसने रत्नपुर की राजकुमारी रत्नवती को विषमुक्त करके उससे पाणिग्रहण किया। जब वह अपने नगर लौटने लगा तो रत्नपुर नरेश ने एक पोत धन-संपदा से भर कर उसे दिया और अपने विश्वस्त मंत्री रुद्र को उसके साथ भेजा। रुद्र रत्नवती के रूप पर मोहित था, सो उसने दांव साधकर सिंहलकुमार को समुद्र में धकेल दिया। रत्नवती ने बुद्धिबल से रुद्र से अपने शील का रक्षण किया और दैवयोग से वह भी प्रियमेलक यक्षायतन में पहुंचकर प्रिय मिलन की आशा से मौन जाप करने लगी। भाग्य बल से सिंहलकुमार तट पर आ लगा। जंगल में एक राजर्षि की कन्या से उसने पाणिग्रहण किया। ऋषि सुता भी सिंहलकुमार

से बिछुड़कर प्रियमेलक तीर्थ पर पहुंचकर मौन जप में लीन हो गई। भाग्य के आरोह-अवरोह से खेलता सिंहल कुमार आखिर कुसुमपुर नगर में पहुंचा। वहां कुसुमपुर नरेश की कन्या से उसने पाणिग्रहण किया और प्रियमेलक तीर्थ पर साधनारत अपनी तीनों पत्नियों से मुलाकात की। आखिर अपनी चारों पत्नियों के साथ सिहंलकुमार सिंहलपुर नगर में पहुंचा। पिता के प्रव्रजित होने पर वह राजा बना और न्यायनीति पूर्वक राज्य संचालन करते हुए जीवन के उत्तरार्ध भाग में प्रव्रजित हो उसने सद्गति प्राप्त की।

—प्रियमेलक तीर्थ कथा

(क) सिंहसेन

चम्पानगरी का राजा। (देखिए-क्षुल्लक मुनि)

(ख) सिंहसेन

सुप्रतिष्ठ नगर का राजा। (देखिए-देवदत्ता)

विपाक सूत्र, प्र.श्रु., अ. 9

सिद्धर्षि (आचार्य)

वी.नि. की 15वीं शताब्दी के एक विद्वान जैन आचार्य। आचार्य सिद्धर्षि के गुरु का नाम गर्गर्षि था जो निवृत्ति गच्छ के आचार्य थे।

आचार्य सिद्धर्षि का जन्म गुजरात के श्रीमालपुर नगर में हुआ था। वे श्रीमाल गोत्रीय थे और राजमंत्री सुप्रभदेव के पौत्र थे। महाकवि माघ को उनका चचेरा भाई भी कुछ विद्वानों द्वारा माना जाता है।

आचार्य सिद्धर्षि का गृह समृद्ध था। उनका विवाह भी हुआ। वे विनम्र और जिज्ञासु थे। जहां कई विरल गुण उनके जीवन में थे वहीं एक अवगुण भी था जिसने उनके समस्त गुणों को आवृत्त कर लिया था। वह अवगुण था—द्यूत का व्यसन। सिद्धर्षि देर रात्रि बीतने तक द्यूत खेलते और पश्चिम रात्रि में घर आते। उनकी पत्नी के म्लान मुख ने उनकी मां का ध्यान आकृष्ट किया। मां सजग हो गई। एक बार देर रात्रि में सिद्धर्षि लौटे तो मां ने द्वार खोलने से इन्कार कर दिया। उसने कहा, मर्यादाओं को अतिक्रमण करने वाले के लिए मेरे घर के द्वार बन्द हैं। जहां तुम्हें द्वार खुले मिलें, वहां चले जाओ। सिद्धर्षि लौट गए और उपाश्रय के द्वार खुले देखकर वहां चले गए। प्रभात के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय-ध्यानरत मुनिजनों को देखकर सिद्धर्षि ने अपने जीवन की तुलना उनके जीवन से की। उसे आत्मग्लानि हो गई। आत्मग्लानि से वैराग्य उभरा और वे वहां विराजित आचार्य गर्गर्षि के शिष्य बन गए।

जैन दर्शन का सांगोपांग अध्ययन कर सिद्धर्षि जिनशासन के समर्थ विद्वानों में गिने जाने लगे। कालान्तर में उनके जीवन में एक ऐसा प्रसंग भी आया जब वे बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर जैनधर्म का परित्याग कर बौद्ध भिक्षु बन गए। उस अवधि में आचार्य गर्गर्षि ने एक भेंट में उनको एक ग्रन्थ पढ़ने को दिया, जिसके अध्ययन से सिद्धर्षि पुनः जैन धर्म में लौट आए। सिद्धर्षि आचार्य पद से अभिमण्डित हुए।

कुछ विद्वान आचार्य सिद्धर्षि को आचार्य हरिभद्र का शिष्य भी मानते हैं। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि सिद्धर्षि जब बौद्धों में दीक्षित हो गए तो वहां उनके लिए आचार्य पद प्रस्तावित किया गया। परन्तु अपने गुरु हरिभद्र से वे वचन बद्ध थे कि वे बौद्ध धर्म में प्रवेश से पूर्व एक बार उनसे मिलने अवश्य आएंगे। सिद्धर्षि आचार्य हरिभद्र से मिलने आए। दोनों में शास्त्रार्थ हुआ जिसमें सिद्धर्षि पराजित हुए और पुनः जैन धर्म में दीक्षित हो गए। ऐसा भी उल्लेख है कि वे इक्कीस बार बौद्ध धर्म में तथा इतनी ही बार जैन धर्म में दीक्षित हुए। परन्तु एक विद्वान मुनिवर का ऐसा अस्थिर चित्त होना अविश्वसनीय प्रतीत होता है।

आचार्य सिद्धर्षि एक कुशल साहित्य साधक थे। 'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' उनकी एक श्रेष्ठ रचना है। —प्रभावक चरित्र

सिद्धसेन दिवाकर (आचार्य)

एक सुप्रसिद्ध और उच्चकोटि के साहित्यकार जैन आचार्य। सिद्धसेन दिवाकर स्वतन्त्र चिन्तक और क्रान्तद्रष्टा आचार्य थे। उनकी लेखनी से निसृत साहित्य श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में प्रामाणिक और आदरास्पद माना जाता है।

जैन दीक्षा लेने से पूर्व ही सिद्धसेन भारत के विश्रुत विद्वान थे। उनका जन्म उज्जयिनी नगरी के कात्यायन गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम देवर्षि और माता का नाम देवश्री था। उस समय उज्जयिनी पर महाराज विक्रमादित्य का शासन था। देवर्षि राजमान्य ब्राह्मण थे। सिद्धसेन बाल्यकाल से ही अध्ययनशील और उत्कृष्ट मेधा सम्पन्न थे। वेदों, वेदांगों और शास्त्रों का उन्होंने तलस्पर्शी अध्ययन किया था। वे संस्कृत के उद्भट विद्वान थे। साथ ही वाद कला में भी वे प्रवीण थे। अपने युग के समस्त वादियों को उन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित कर दिया था। इससे सिद्धसेन में अहंकार भी उत्पन्न हो गया था। उन्होंने घोषणा की थी कि—शास्त्रार्थ में उन्हें जो पराजित करेगा वे उसे अपना गुरु मान लेंगे।

उधर वृद्धवादी नामक जैन आचार्य की ख्याति भी भारत भर में प्रसृत हो रही थी। सिद्धसेन स्वयं के अतिरिक्त किसी की ख्याति कैसे सह पाते? आचार्य वृद्धवादी को शास्त्रार्थ में परास्त करने के लिए वे उतावले बन गए और उन्हें खोजने निकले। आखिर अवन्ती के निकटस्थ वन में सिद्धसेन और वृद्धवादी की परस्पर भेंट हुई। सिद्धसेन ने वृद्धवादी को शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित किया। वृद्धवादी ने उनका आमंत्रण स्वीकार कर लिया। उन्होंने कहा, शास्त्रार्थ के लिए समुचित स्थान तय कर लीजिए, मैं उपस्थित हो जाऊंगा। पर सिद्धसेन तो शीघ्रता में थे। प्रतीक्षा उनके लिए सह्य नहीं थी। उन्होंने कहा, यहां गोपाल हैं, उन्हें ही निर्णायक मानकर शास्त्रार्थ होगा। वृद्धवादी उसके लिए भी सहमत हो गए। अपना पक्ष रखने का प्रथम अवसर सिद्धसेन को प्राप्त हुआ। सिद्धसेन ने सर्वज्ञ-निषेध पर संस्कृत भाषा में धारा प्रवाह बोलना शुरू कर दिया। परन्तु उनका वाग्विलास ग्वालों को कुछ समझ नहीं पड़ा। ग्वालों ने उन्हें अपना वक्तव्य रोक देने के लिए कहा। तब वृद्धवादी ने सर्वज्ञ-सिद्धि पर प्राकृत भाषा में अपनी बात कही। उनकी भाषा में सरलता और माधुर्य था। ग्वालों ने उसे सरलता से समझा और वृद्धवादी को विजेता घोषित कर दिया।

सिद्धसेन का दंभ गल गया और वे वृद्धवादी के शिष्य बनने को तैयार हो गए। इस पर वृद्धवादी ने कहा, राजसभा में विद्वानों के समक्ष भी मैं वाद के लिए तैयार हूँ, क्योंकि विद्वद्सभा में ही सत्य का निर्णय संभव है। अंततः महाराज विक्रमादित्य की सभा में आचार्य वृद्धवादी और सिद्धसेन के मध्य शास्त्रार्थ हुआ। वहां पर भी आचार्य वृद्धवादी विजयी रहे। सिद्धसेन ने ब्राह्मण धर्म का त्याग कर श्रमण धर्म अंगीकार कर लिया और वे वृद्धवादी के शिष्य बन गए। एक विद्वान व्यक्ति को शिष्य रूप में पाकर वृद्धवादी को अपार हर्ष हुआ। कुछ समय बाद उन्होंने सिद्धसेन को आचार्य पद पर आसीन किया तथा स्वतंत्र विहार का आदेश दिया।

आचार्य सिद्धसेन स्वतंत्र विचरण कर जिनधर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। अपने युग के कई राजाओं को उन्होंने प्रभावित कर जैन धर्मी बनाया। एक बार आचार्य सिद्धसेन अवन्ती के राजपथ से कहीं जा रहे थे। भारी जन समूह उनकी जय-जयकार करते हुए उनके पीछे चल रहा था। उधर से विक्रमादित्य की सवारी आ रही थी। विक्रमादित्य ने मन ही मन आचार्य श्री को प्रणाम किया। विक्रमादित्य के निकट आने पर

आचार्य श्री ने उच्च घोष पूर्वक हाथ ऊपर उठाकर उसे आशीर्वाद दिया। विक्रमादित्य बोला—मेरे द्वारा नमन किए बिना ही आप मुझे आशीर्वाद दे रहे हैं? इस पर आचार्य श्री ने कहा, आप द्वारा किए गए मानसिक प्रणाम के बदले में मैं आशीर्वाद दे रहा हूँ।

आचार्य सिद्धसेन की सूक्ष्म ज्ञानशक्ति से विक्रमादित्य बहुत प्रभावित हुआ। उसने प्रचुर धन सिद्धसेन को भेंट किया, जिसे आचार्य श्री ने अस्वीकार कर दिया। धन के प्रति आचार्य श्री की अनासक्ति ने विक्रमादित्य को और अधिक प्रभावित किया। उन्होंने वह समस्त धन जैन धर्म की प्रभावना में व्यय कर दिया। वे आचार्य सिद्धसेन का विशेष मान करने लगे।

एक बार आचार्य सिद्धसेन चित्रकूट पधारे। वहां एक स्तम्भ में ग्रन्थों का विशाल भण्डार था, जिनमें से विशेष प्रयास करने पर आचार्य सिद्धसेन को एक ग्रन्थ का एक ही पृष्ठ प्राप्त हो पाया। स्तम्भ रक्षक देव ने अन्य सामग्री आचार्य श्री को नहीं लेने दी। उस एक पृष्ठ के अध्ययन से सिद्धसेन को सर्षप विद्या और स्वर्णसिद्धि विद्या—ये दो विद्याएं प्राप्त हुईं। प्रथम विद्या के प्रयोग से वे विशाल सशस्त्र सेना को तैयार कर सकते थे और द्वितीय विद्या से इच्छित स्वर्ण प्राप्त कर सकते थे।

विचरण करते हुए आचार्य सिद्धसेन कुर्मारपुर नगर में पधारे। वहां के राजा देवपाल पर आचार्य श्री का बहुत प्रभाव पड़ा। देवपाल उनका अनन्य भक्त बन गया। उसने आचार्य श्री को दरबार में उच्चासन प्रदान किया। कहते हैं कि राजसम्मान पाकर आचार्य श्री सुविधाभोगी बन गए और साधु मर्यादाओं से पतित हो गए। एक बार किसी शत्रु राजा ने देवपाल पर आक्रमण किया। देवपाल शत्रु राजा के समक्ष असहाय था। उसने आचार्य श्री से आत्मरक्षा की प्रार्थना की। आचार्य श्री ने सर्षप विद्या से विशाल सेना निर्मित कर शत्रु राजा को भगा दिया और स्वर्णसिद्धि विद्या से अपार स्वर्ण निर्मित कर राजकोष को भर दिया। आचार्य श्री के इस चमत्कार पर देवपाल गद्‌गद बन गया। उसने आचार्य श्री की प्रशस्ति करते हुए कहा, भगवन् ! शत्रु राजा द्वारा उपस्थित भय रूपी अंधकार से मैं घिर गया था। आपने सूर्य के समान प्रगट होकर मेरे अंधकार का हरण कर लिया। आप वास्तव में दिवाकर तुल्य हो। तब से आचार्य सिद्धसेन उपनाम 'दिवाकर' से ख्यात हुए।

आचार्य वृद्धवादी को ज्ञात हुआ कि सिद्धसेन सुविधा भोगी बनकर श्रमण मर्यादाओं का उल्लंघन कर रहे हैं। वे गुप्त रूप से कुर्मारपुर पहुंचे और सिद्धसेन को प्रतिबोध देकर साध्वाचार के प्रति जागरूक बनाया। आलोचना-प्रायश्चित्त से आत्मशुद्धि करके आचार्य सिद्धसेन पुनः श्रमण मर्यादाओं में स्थिर हो गए।

आचार्य सिद्धसेन संस्कृत भाषा के उद्‌भट विद्वान थे। उस युग में संस्कृत भाषा को विशेष गौरव प्राप्त हो रहा था। एक बार संघ के समक्ष आचार्य श्री ने प्रस्ताव रखा—आगमों को संस्कृत भाषा में अनुदित किया जाना चाहिए। आचार्य श्री के इस प्रस्ताव की संघ में तीव्र आलोचना हुई। श्रमणों ने कहा, क्या तीर्थंकर और गणधर संस्कृत भाषा नहीं जानते थे?

आचार्य सिद्धसेन के प्रति विरोध के स्वर इतने तीव्र हुए कि संघ ने उन्हें बारह वर्षों के लिए संघ और साधु वेश से बहिष्कृत कर दिया। साथ ही कहा, इस अवधि में यदि जैन धर्म की प्रभावना का विशेष कार्य उन द्वारा होता है तो उन्हें उक्त अवधि से पूर्व भी संघ में लिया जा सकता है।

सिद्धसेन सात वर्षों तक विहरण करते रहे। पुनः एक बार अवन्ती नगरी में आए और शिव मंदिर में ठहरे। उन्होंने शिवलिंग को प्रणाम नहीं किया। पुजारी ने उनको पुनः-पुनः शिवलिंग को प्रणाम करने के लिए कहा पर सिद्धसेन ने प्रणाम नहीं किया। पुजारी ने बात राजा तक पहुंचाई। राजा विक्रमादित्य स्वयं वहां

पहुंचे, उन्होंने सिद्धसेन को नहीं पहचाना। उनसे पूछा—तुम देव प्रतिमा को वन्दन क्यों नहीं करते? इस प्रश्न पर सिद्धसेन बोले, सुनो राजन् ! यह प्रतिमा मेरा वन्दन सहन नहीं कर पाएगी। राजा ने कहा, जो भी हो, तुम इसे वन्दन करो।

आखिर सिद्धसेन शिवप्रतिमा के समक्ष बैठ गए और स्तुति पाठ करने लगे। उन द्वारा पढ़ा गया वह स्तुति पाठ 'कल्याण-मंदिर' स्तोत्र के रूप में आज भी मौजूद है। ग्यारहवां पद बोलते ही शिव प्रतिमा फट गई और उसके भीतर से पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रगट हुई। राजा प्रजा इस चमत्कार को देखकर चकित रह गए। जिनधर्म और आचार्य सिद्धसेन के जयगानों से चतुर्दिक् गूंज उठे। महान धर्म प्रभावना का प्रकरण देखकर संघ ने आचार्य सिद्धसेन को संघ में सम्मिलित कर पुनः आचार्य पद पर आरूढ़ किया।

कालान्तर में आचार्य सिद्धसेन भृगुकच्छ नगर में पधारे। वहां के राजा धनंजय ने आचार्य श्री का स्वागत किया। एकदा धनंजय भी शत्रुसेना से घिरा तो आचार्य श्री ने सर्षप विद्या प्रयोग से उसे विजयी बनाया। इस चामत्कारिक घटना से धनंजय राजा आचार्य श्री का अनन्य भक्त और श्रमणोपासक बन गया।

आचार्य सिद्धसेन ने पर्याप्त साहित्य की रचना की। उन द्वारा सृजित कुछ साहित्य वर्तमान में भी उपलब्ध है। बत्तीस द्वात्रिंशिकाएं, सन्मतितर्क, नयावतार, कल्याण मंदिर स्तोत्र उनकी कालजयी रचनाएं हैं।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर निःसंदेह श्रमण परम्परा के क्षितिज के दिवाकर थे। उनका समय वी.नि. की 10वीं-11वीं शताब्दी माना जाता है। —प्रभावक चरित्र

(क) सिद्धार्थ

छम्माणि ग्रामवासी एक धर्मात्मा सद्गृहस्थ। भगवान महावीर के कानों में एक ग्वाले ने कीलें ठोक दी थीं। पारणे के लिए भगवान संयोग से सिद्धार्थ के घर पधारे। प्रभु की दशा देख सिद्धार्थ स्तंभित बन गया। प्रभु के लौटने के पश्चात् वह अपने मित्र खरक वैद्य को साथ लेकर तथा तैल, औषध, संडासी आदि सहित उस स्थान पर गया जहां प्रभु ध्यानावस्थित थे। उसके सहयोग से खरक ने प्रभु का उपचार किया और उन्हें शल्यमुक्त किया।

(ख) सिद्धार्थ (आचार्य)

निषधकुमार के वीरंगत भव के धर्माचार्य।

(ग) सिद्धार्थ राजा

कुण्डलपुर अथवा क्षत्रिय कुण्डग्राम नगर के राजा एवं चौबीसवें तीर्थंकर महावीर स्वामी के पिता। सिद्धार्थ एक न्यायशील नरेश और धर्मपरायण पुरुषरत्न थे। प्रभु पार्श्व की धर्म परम्परा के वे श्रावक थे। अंतिम तीर्थंकर के जनक के रूप में उनकी कीर्ति-कौमुदी सदियों से लोक में परिव्याप्त है और भविष्य में भी रहेगी।

सिद्धार्था

भगवान अभिनन्दन की माता।

(क) सीता

मिथिलाधिपति महाराज जनक की पुत्री, मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम की अर्द्धांगिनी और विश्ववन्द्या

महासती। सीता अनिंद्य सौन्दर्य की स्वामिनी थी। उसके विवाह के लिए महाराज जनक ने स्वयंवर का आयोजन किया था। पृथ्वी के समस्त यशस्वी राजा और राजकुमार उस स्वयंवर में सम्मिलित हुए थे। जब कोई भी राजा और राजकुमार धनुष पर प्रत्यंचा नहीं चढ़ा पाया तब श्री राम ने यह काम बहुत ही सहजता से कर दिया। सीता ने श्री राम को अपना पति चुन लिया। सीता एक आदर्श कन्या तो थी ही, वह एक आदर्श पत्नी भी बनी।

जब पितृवचन की रक्षा के लिए श्रीराम वन जाने लगे तो सीता ने भी पति के साथ वन में जाने का प्रण किया। कोमलांगी होते हुए भी वह वन-बाधाओं से कभी त्रसित नहीं हुई। लंकाधिपति रावण ने छल-वेश धारण कर दण्डकारण्य से सीता का हरण कर लिया। वह उसे लंका ले गया और अशोकवाटिका में उसे बन्दिनी बना दिया। सीता को रावण से उसकी पटरानी बनने के असंख्य प्रस्ताव मिले पर सीता को उन प्रस्तावों को सुनना भी स्वीकार्य न था। आखिर श्री राम और लक्ष्मण ने रावण को परास्त कर सीता को मुक्त कराया।

अयोध्या लौटने पर भी महासती सीता की कष्ट कथा का अन्त न हुआ। वैदिक रामायण के अनुसार एक धोबिन के अपलाप पर और जैन रामायण के अनुसार श्रीराम की अन्य पत्नियों के षडयन्त्र के कारण सगर्भा सीता को पुनः एकाकी वन में धकेल दिया गया। वन में पुंडरीकिणी नरेश वज्रजंघ ने सीता को भगीनी का मान दिया और उसे अपने नगर में ले गया। वहां सीता ने लव और कुश – इन दो पुत्रों को जन्म दिया। किशोरावस्था प्राप्त करते-करते लव और कुश में अद्‌भुत शौर्य उतर आया। जब उन्हें सच्चाई का ज्ञान हुआ तो दोनों नन्हें वीर अयोध्या पर चढ़ आए। अयोध्या की विशाल सेना और सेनापति का उन्होंने देखते ही देखते मान मर्दन कर दिया। लक्ष्मण, राम, हनुमान आदि भी युद्ध में उतरे। पर उनका कोई शस्त्र उन नन्हें वीरों का कुछ अहित न कर सका। राम और लक्ष्मण को लगने लगा कि अब उनकी पराजय सुनिश्चित है। तब देवर्षि नारद ने श्री राम को रहस्य भेद बताया। सारा वातावरण बदल गया। पराजय भी विजय में बदल गई। आखिर पिता पुत्र गले मिले। सीता को ससम्मान लाया गया। जब श्री राम ने सीता से महलों में चलने के लिए कहा तो सीता ने कहा, जिस संदेह के कारण उसे वन में भेजा गया था, उस संदेह का निराकरण तो अब भी शेष है। महासती सीता ने अपनी पवित्रता का प्रमाण देने के लिए अग्निस्नान का संकल्प किया। विशाल अग्नि-कुण्ड तैयार किया गया। सीता ने उच्च घोष पूर्वक कहा, मैंने यदि स्वप्न में भी श्रीराम के अतिरिक्त किसी पुरुष का चिन्तन किया है तो अग्नि मुझे भस्म कर दे। कहकर सीता अग्नि में कूद गई। देखते ही देखते अग्नि कुण्ड नील-सलील जल से पूर्ण हो गया। जल के मध्य प्रगट हुए स्वर्ण सिंहासन पर बैठी सीता मुस्कुरा रही थी। इस प्रकार सीता ने अपनी पवित्रता को प्रमाणित किया।

वैदिक रामायण के अनुसार उक्त घटना के बाद सीता पृथ्वी में समा गई। जैन रामायण के अनुसार सीता ने महलों में चलने के श्रीराम के प्रस्ताव को विनम्रता पूर्वक अस्वीकार करके प्रव्रज्या धारण की और विशुद्ध संयम और कठोर तप की साधना के द्वारा देहोत्सर्ग कर वह बारहवें स्वर्ग में सीतेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुई। भविष्य में वह गणधर पद पर अभिषिक्त बनकर मोक्ष प्राप्त करेगी।

(ख) सीता

द्वारिका नरेश सोम की रानी। (देखिए-पुरुषोत्तम वासुदेव)

सीमन्धर स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

बीस विहरमान तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर जिनका जन्म जम्बूद्वीप के पूर्व महाविदेह क्षेत्र में पुष्कलावती

विजय की पुण्डरीकिणी नगरी के महाराज श्रेयांस की रानी सत्यकी की रत्नकुक्षी से हुआ। यौवन में आप राजा बने और तिरासी लाख पूर्व तक राजपद पर रहने के पश्चात् मुनि बने। केवलज्ञान प्राप्त कर तीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर पद पर अभिषिक्त हुए। आपकी सर्वायु चौरासी लाख पूर्व की है। भरत क्षेत्र में उत्सर्पिणी काल के पन्द्रहवें तीर्थंकर जब विचर रहे होंगे तब सीमंधर स्वामी निर्वाण प्राप्त करेंगे।

सुन्दर राजा

अंगदेश की राजधानी धारापुर नगर का न्यायप्रिय और चारित्रवान नरेश। उसकी रानी का नाम मदनवल्लभा और पुत्रों के नाम कीर्तिपाल और महीपाल थे। यह धर्मनिष्ठ राजपरिवार सुखपूर्वक जीवनयापन कर रहा था। एक रात्रि में कुलदेवी ने राजा को दर्शन दिए और बताया कि राजपरिवार पर संकट आने वाला है और कृत्कर्म दुष्फल देने वाले हैं। राजा ने पूर्व चेतावनी के लिए कुलदेवी को धन्यवाद दिया। दूसरे दिन राजा ने अपनी रानी और पुत्रों को कुलदेवी द्वारा सूचित राजपरिवार के संकटग्रस्त भविष्य की बात बताई और कहा कि श्रेष्ठ पुरुष वही होते हैं जो संकट आने से पूर्व ही उसका सामना करने को तत्पर हो जाते हैं। राजा ने कहा, हमें अपना नगर छोड़कर अन्यत्र चले जाना चाहिए और उदय में आने वाले दुष्कर्मों के फल का सामना करना चाहिए। रानी और राजकुमारों ने राजा के कहे का समर्थन किया। राजा ने अपनी योजना अपने विश्वस्त मंत्री को बताई और राजसिंहासन का दायित्व मंत्री को प्रदान कर यह राजपरिवार प्रदेश के लिए रवाना हो गया। मंत्री ने राजा की खड़ाऊं राजगद्दी पर आसीन की और निष्ठाभाव पूर्वक राज्य का संचालन करने लगा।

सुन्दर राजा अपनी रानी और पुत्रों के साथ सामान्य वेश में यात्रा करते हुए पृथ्वीपुर नगर में पहुंचा। वहां श्रीसार नामक एक श्रेष्ठी ने राजपरिवार को आश्रय प्रदान किया। रानी मदनवल्लभा सेठ के घर में काम करती और बदले में इस परिवार को भोजन और आवास प्राप्त होता था। एक बार सोमदेव नामक एक बनजारा उस नगर में आया। श्रीसार की दुकान पर वह किरयाणे का सामान खरीदने आया तो उसकी दृष्टि मदनवल्लभा पर पड़ गई। बनजारे ने रसोई बनाने के लिए किसी महिला की याचना श्रीसार सेठ से की तो सेठ ने मदनवल्लभा को रसोई बनाने के लिए बनजारे के जहाज पर भेज दिया। रात्रि में बनजारा मदनवल्लभा को साथ लेकर ही आगे के लिए प्रस्थान कर गया। बनजारे ने अपने मन के कलुषित भाव रानी के समक्ष प्रगट किए तो रानी ने परपुरुष के चिंतन मात्र की अपेक्षा मृत्यु वरण को श्रेयस्कर बताकर बनजारे को मौन कर दिया। बनजारे ने विचार किया, आखिर एक न एक दिन यह महिला उसके अनुकूल हो ही जाएगी, इसलिए जोर-जबरदस्ती व्यर्थ है।

उधर सुन्दर राजा और दोनों राजकुमार रानी के न लौटने से बड़े चिन्तित हुए। पर वे जानते थे कि कष्ट की काली घटाएं उन्हें लीलने को उत्सुक हैं जिनका उन्हें साहस पूर्वक सामना करना है। कष्ट की उसी कड़ी में सेठ श्रीसार एक दिन कुमारों पर नाराज हो गया और उसने राजा और दोनों कुमारों को अपने घर से निकाल दिया। राजा अपने दोनों पुत्रों के साथ ग्रामान्तर के लिए प्रस्थित हुआ। मार्ग में एक बरसाती नदी पार करते हुए राजा उसमें बह गया। दोनों कुमार किनारे पर खड़े अपने पिता को नदी में बहता देखते रहे। आयुष्य शेष होने से एक काष्ठखण्ड राजा के हाथ लग गया। कई दिन बाद वह एक नगर के किनारे पर आ लगा। वहां एक सज्जन व्यक्ति के घर पर राजा सेवा-कार्य करने लगा। सज्जन व्यक्ति ने राजा के भोजन और आवास का समुचित प्रबन्ध कर दिया। पर यहां पर गृहस्वामी की पत्नी राजा के रूप पर आसक्त हो गई और राजा से प्रणय प्रार्थना करने लगी। राजा ने उसे मातृपद देकर चुपके से उस घर का त्याग कर

दिया। अनेक दिनों तक अनेक ग्रामों-नगरों में भटकते हुए राजा सुन्दर ने दुष्कर्मों को निर्जीण कर डाला। एक बार वह श्रीपुर नगर में पहुंचा। वहां का राजा निःसंतान अवस्था में ही कालधर्म को प्राप्त हो गया था। पुण्योदय से नवीन राजा के चयन के लिए छोड़ी गई हथिनी ने राजा सुन्दर के गले में पुष्पमाला डालकर राजा के रूप में उसका चयन कर लिया । राजा सुन्दर श्रीपुर नगर के राजसिंहासन पर बैठा और कुशलता से राज्य-संचालन करने लगा।

उधर राजा के दोनों पुत्र भी भटकते हुए श्रीपुर पहुंचे। कोतवाल ने उनकी योग्यता को परखकर उन्हें पहरेदार के रूप में नियुक्त कर दिया। दोनों भाई अपने माता और पिता से पुनर्मिलन की आशा में श्रीपुर में रहकर समय व्यतीत करने लगे।

एक बार सोमदेव बनजारा श्रीपुर नगर में आया। उसने कोतवाल से अपने लिए पहरेदारों की याचना की। संयोग से दोनों राजकुमारों को कोतवाल ने बनजारे को पहरेदार के रूप में प्रदान कर दिया। एक रात्रि में दोनों भाई बनजारे के शिविर के बाहर पहरा देते हुए आप बीती पर चर्चा कर रहे थे। बनजारे की दासी बनी मदनवल्लभा ने राजकुमारों की आप-बीती सुनी तो उसे समझते देर न लगी कि वे दोनों उसके ही पुत्र हैं। वह शिविर से बाहर आकर अपने पुत्रों से लिपट गई। माता और पुत्रों का यह मिलन बनजारे को फूटी आंख न सुहाया। उसने कपोल-कल्पित शिकायत राजा से की। सुन्दर राजा ने दोनों पहरेदारों और बनजारे की दासी को दरबार में बुलाया। सभी ने परस्पर एक-दूसरे को पहचान लिया और इस प्रकार इस राजपरिवार पर आया संकट सदा के लिए समाप्त हो गया। बणजारे को राजा ने अपने देश से निष्कासित कर दिया।

शनैः-शनैः सुन्दर राजा की कीर्ति-सुगन्ध धारापुर तक भी पहुंच गई। वहां का मंत्री गण्यमान्य नागरिकों के साथ राजा सुन्दर की सेवा में पहुंचा और राज्य ग्रहण की उससे प्रार्थना की। राजा सुन्दर ने श्रीपुर और धारापुर का शासन एक साथ वहन किया और आदर्श रामराज्य की स्थापना कर प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। अंतिम-वय में पुत्रों को राजपद देकर सुन्दर राजा और मदनवल्लभा रानी ने संयम पथ पर कदम बढ़ाए और सद्गति का अधिकार प्राप्त किया।

—पार्श्वनाथ चरित्र

सुन्दर सेठ

पाटणपुर नगर का एक धनी सेठ। (देखिए-जयसुन्दरी)

(क) सुन्दरी

सोलह महासतियों में द्वितीया। भगवान ऋषभदेव की सुनंदा रानी से उत्पन्न पुत्री। बाहुबली सुन्दरी के सहोदर थे। उसने अपने पिता ऋषभदेव से गणित कला सीखकर जगत में उसका प्रचार और प्रसार किया। भगवान को जब केवलज्ञान हुआ तो ब्राह्मी के साथ ही सुंदरी भी प्रव्रजित होने को तैयार हुई। पर भरत ने सुन्दरी को एतदर्थ अनुज्ञा प्रदान नहीं की। वह उसे षडखण्ड विजय के पश्चात् स्त्रीरत्न बनाना चाहता था। पर सुन्दरी तो भोगों से विमुख थी। भरत के षडखण्ड विजय अभियान प्रारंभ करते ही सुन्दरी ने घर में रहकर ही उग्र तपश्चर्या शुरू कर दी। उसने कठोर तप से अपनी देह का रक्त और मांस सुखा डाला। भरत को दिग्विजय में साठ हजार वर्ष लगे। जब वह अयोध्या लौटा तो कृशगात्रा सुन्दरी को देखा । बात का भेद जानकर वह खिन्न बन गया। उसने अपने मिथ्याग्रह के लिए सुन्दरी से क्षमायाचना की और उसे प्रव्रजित होने की आज्ञा प्रदान कर दी। सुन्दरी ने संयम लेकर केवलज्ञान साधा और अन्त में मोक्ष प्राप्त किया।

—आवश्यक निर्युक्ति गाथा 196-349 / त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 1

(ख) सुन्दरी

नंदनपुर नगर के राजा समरकेशरी की रानी।

सुन्दरीनन्द

दक्षिणापथ के नासिक नगर का एक इभ्य श्रेष्ठी, जिसका नाम तो नन्द था, पर अपनी पत्नी सुन्दरी पर अत्यधिक स्नेहासक्त हो जाने पर वह 'सुन्दरीनन्द' नाम से जाना जाने लगा था। पत्नी पर उसकी आसक्ति का यह आलम था कि वह धर्म-कर्म तो भूल ही गया था, लोकव्यवहार का भी उसका विवेक कुण्ठित हो गया था। वह जब और जहां जिससे भी बात करता अपनी पत्नी के रूप की ही प्रशंसा करता। इसलिए लोग उसे सुन्दरीनन्द नाम से पुकारने लगे थे।

नन्द का एक भाई भी था जो मुनि बन गया था। वे मुनि एक बार नासिक नगर में आए। सभी लोग मुनि-दर्शन के लिए आए पर नन्द नहीं आया। मुनि ने लोगों से नन्द के बारे में पूछा तो उन्हें उसकी स्थिति का ज्ञान हुआ। मुनि नन्द के घर गए। नन्द ने मुनि का स्वागत किया। मुनि ने नन्द को धर्म-कर्म की प्रेरणा दी। नन्द ने कहा, महाराज! मुझे धर्म का फल सुन्दरी के रूप में प्राप्त है ही, फिर धर्म के उस फल को छोड़कर किस फल की कामना में धर्म करूं ?

मुनि समझ गए कि नन्द की आसक्ति प्रगाढ़ है। नन्द को समझाने के लिए मुनि ने एक विचित्र युक्ति का आश्रय लिया। उन्होंने नन्द से कहा, तुम्हारी सुन्दरी कोई विशेष सुन्दर नहीं है, तुम चाहो तो इससे भी सुन्दर स्त्रियां मैं तुम्हें दिखा सकता हूँ। नन्द की स्वीकृति पर मुनि उसे सुमेरु पर्वत पर ले गए। वहां उन्होंने एक किन्नरी को उसे दिखाया और पूछा, क्या तुम्हारी सुन्दरी इससे भी सुन्दर है? नन्द ने कहा, इससे सुन्दर तो मेरी सुन्दरी नहीं है। फिर मुनि आगे बढ़े। वहां पर वैमानिक देवियां क्रीड़ा कर रही थीं। मुनि ने पूछा, सच बता तुम्हारी सुन्दरी इन सुन्दरियों के समक्ष कैसी है? वैमानिक देवियों की सुन्दरता को देखकर नन्द दंग रह गया। बोला, इनके समक्ष तो मेरी सुन्दरी बन्दरिया के जैसी है। फिर उसने पूछा, महाराज! ये सुन्दरियां कैसे प्राप्त होती हैं ? मुनि ने कहा, नन्द! जैसे इन सुन्दरियों के समक्ष तुम्हारी सुन्दरी बन्दरिया के समान है, ऐसे ही मुक्ति-सुन्दरी के समक्ष ये सुन्दरियां भी बन्दरिया के समान हैं। धर्म के द्वारा ही मुक्ति-सुन्दरी का वरण संभव है।

नन्द प्रबुद्ध बन गया। मुनि ने नन्द को धर्म का स्वरूप समझाया और उसे दीक्षित किया। सुन्दरीनन्द सुन्दरी के मोहपाश से मुक्त होकर परमपद का अधिकारी बन गया। —धर्मोपदेशमाला, विवरण कथा 103

सुकाली

महाराज श्रेणिक की रानी और सुकालकुमार की माता। भगवान के मुख से पुत्र की मृत्यु का संवाद सुनकर दुखगर्भित वैराग्य के परिणामस्वरूप वह दीक्षित हुई। उसने विशेष रूप से कनकावली तप की आराधना की जिसकी चार परिपाटियों को पूर्ण करने में पांच वर्ष नौ मास और अठारह दिन का समय लगता है। प्रत्येक परिपाटी में अठासी दिन पारणे के तथा एक वर्ष दो मास चौदह दिन तपस्या के होते हैं। (शेष परिचय कालीवत्) —अन्तगडसूत्र वर्ग 8, अध्ययन 2

सुकुमारिका

चम्पानगरी के सेठ सागरदत्त की पुत्री। (देखिए-नागश्री)

सुकुमालिका

चम्पानगरी के राजा की रानी। (देखिए-जितशत्रु)

सुकृष्णा

महाराज श्रेणिक की रानी और सुकृष्ण कुमार की माता। उसने प्रव्रजित होकर सप्त-सप्तमिका, अष्ट-अष्टमिका, नव-नवमिका और दश-दशमिका नामक भिक्षु प्रतिमाओं की आराधना की। शेष परिचय काली के समान है। (देखिए-काली)

—अन्तगडसूत्र वर्ग 8, अध्ययन 5

सुकौशल

कुशस्थल के पराक्रमी नरेश और महासती कौशल्या के जनक।

सुकौशल मुनि

अयोध्या नरेश महाराज कीर्तिधर के पुत्र। उनकी माता का नाम सहदेवी था। कीर्तिधर द्वारा दीक्षा धारण कर लेने के पश्चात् वे अयोध्या के सिंहासन पर बैठे और कई वर्षों तक न्याय और नीति पूर्वक शासन करते रहे। आखिर एक घटना ने उन्हें संसार से विमुख बना दिया और उन्होंने दीक्षा धारण कर ली। वह घटना इस प्रकार थी—

एक बार मुनि कीर्तिधर विचरण करते हुए अपने ही नगर अयोध्या में आए। जब भिक्षा के लिए वे राजमार्ग से जा रहे थे, तो उनकी पत्नी सहदेवी ने उन्हें देख लिया। सहदेवी आशंकित बन गई कि कहीं उसका पुत्र भी अपने पिता को देखकर उनके पदचिन्हों पर न चल पड़े। इस आशंका से त्रस्त बनकर उसने कोतवाल से कहकर अपने पति मुनि कीर्तिधर को नगर से बाहर निकलवा दिया। आखिर राजा से यह घटना कैसे छिपी रहती ? धायमाता ने राजा सुकौशल को पूरी बात बता दी। अपनी ही नगरी में अपने पिता मुनि का यह अपमान सुकौशल सह न सका। इस घटना के पीछे "उनकी अपनी ही जननी का हाथ है", इस बात ने तो उसे और भी विचलित बना दिया। वह दौड़कर नगर के बाहर गया और पिता मुनि को कोतवाल से छुड़ाया। संसार के स्वरूप को साक्षात् देखकर सुकौशल भी राजपाट त्याग कर मुनि बन गया। इससे सहदेवी का धैर्य डावांडोल बन गया। पुत्र विरह के आर्त्तध्यान में डूबी हुई मरकर वह जंगल में सिंहनी बनी। उधर एक बार कीर्तिधर मुनि और सुकौशल मुनि उस जंगल से जा रहे थे। सिंहनी ने मुनि सुकौशल पर आक्रमण कर दिया। मुनि सुकौशल ने समता भाव से इस उपसर्ग को सहन किया। समता की पराकाष्ठा के परिणाम-स्वरूप अन्तिम सांस के साथ केवली बनकर वे सिद्ध हुए। अपने ही प्राण-प्यारे पुत्र का मांस खाते हुए सिंहनी को जातिस्मरण ज्ञान हो गया। सत्य को जान / देखकर सिंहनी की देह में रही हुई सहदेवी कांप उठी। उसे अपने आप पर बहुत घृणा हुई। चिन्तन जागा—जिस पुत्र के मोह में उसने प्राण दे दिए आज वह उसी पुत्र के प्राणों की प्यासी बनी हुई है। ऐसे पश्चात्ताप में डूबी हुई उस सिंहनी ने आमरण अनशन कर लिया। विशुद्ध चित्त के साथ देह त्याग कर वह आठवें देवलोक में गई। मनुष्य भव में उसने जिस बात को बिगाड़ा था उसी बात को एक हिंस्र जन्तु की देह में रहते हुए सुधार लिया।

कीर्तिधर मुनि इस पूरे घटनाक्रम को देख रहे थे। समता में स्थिर रहते हुए उन्होंने केवल ज्ञान अर्जित कर सिद्ध गति प्राप्त की।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 7

(क) सुगन्धा

कनकपुर नगर के धनी सेठ जिनदत्त की पुत्री। सुगंधा के शरीर से जन्म से ही सुगन्ध निकलती थी।

सेठ ने अपनी पुत्री का नाम तिलकमती रखा था पर शरीर से सुगन्ध निकलने के कारण वह सुगन्धा कहलाई। उसके शरीर की सुगन्ध एक योजन तक जाती थी इसलिए उसका एक अपरनाम योजनगंधा भी प्रसिद्ध हुआ। सुगन्धा के जन्म के कुछ काल पश्चात् ही उसकी माता का देहान्त हो गया। सेठ ने दूसरा विवाह कर लिया। नई सेठानी बन्धुमती ने भी कालक्रम से एक पुत्री को जन्म दिया जिसका नाम तेजमती रखा गया। विमाता बन्धुमती ने सुगन्धा से सौतेला व्यवहार किया और सदैव उसे कष्ट देती रही। परन्तु भाग्य को कौन मिटा सकता है। बन्धुमती की पुत्री का विवाह एक साधारण श्रेष्ठी के पुत्र के साथ हुआ और सुगन्धा का पाणिग्रहण नगर नरेश कनकप्रभ से हुआ।

एक बार कनकपुर नगर में चार ज्ञान के धनी एक मुनि पधारे। राजा ने मुनि से पूछा, महाराज! मेरी रानी ने ऐसे कौन से शुभ पुण्य किए हैं, जिससे उसके शरीर से सुगन्ध झरती है? मुनि ने फरमाया, तुम्हारी रानी ने पूर्वजन्म में सुगन्धदशमी व्रत की आराधना की थी जिसके पुण्यफल स्वरूप उसके शरीर से सुगन्ध झरती है। साथ ही मुनि ने सुगन्धा के अतीत के कई भव भी सुनाए। उसने अतीत के कई जन्मों में विचित्र आरोह-अवरोह—पुण्यफल और पापफल भोगे थे।

अपने पूर्वभव की कथा सुनकर सुगन्धा की धर्म रुचि अत्यन्त प्रखर बन गई। उसने श्रावक-धर्म अंगीकार किया। पूर्ण निष्ठाभाव से श्रावक-धर्म का पालन करते हुए उसने सुमरण प्राप्त किया और स्त्री वेद का छेद कर वह ईशान स्वर्ग में देवता बनी। देवलोक से च्यव कर सुगन्धा का जीव मनुष्य भव धारण करेगा और मोक्ष में जाएगा।

—सुगन्धदशमी कथा

(ख) सुगंधा

एक राजकुमारी जिसका पाणिग्रहण राजकुमार चन्द्रबाहु (विहरमान तीर्थंकर) से हुआ था। (देखिए-चन्द्रबाहु स्वामी)

(क) सुग्रीव

किष्किन्धाधिपति वानरराज और श्री राम का सखा। जब उसे श्रीराम के दर्शन हुए तो वह अतिकष्टमय समय काट रहा था। साहसगति नाम का विद्याधर उसका रूप धरकर उसकी रानी और राज्य का स्वामी बन बैठा था। तब श्री राम ने उसकी सहायता की और साहसगति को दण्डित कर सुग्रीव को उसकी रानी और राज्य लौटाए। बाद में सग्रीव ने भी अपना सखा धर्म निभाते हुए श्री राम की सहायता की। पहले उसने अपने मित्र हनुमान और अपनी सेना चतुर्दिक् में फैलाकर सीता की खोज कराई और बाद में श्री राम के साथ लंका जाकर रावण से लोहा लिया। जैन, वैदिक और इतर रामचरितों में सुग्रीव का चरित्र पूरे भाव से चित्रित हुआ है। (देखिए-तारा)

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 7

(ख) सुग्रीव (राजा)

काकन्दी नरेश और भगवान सुविधिनाथ के पिता।

(ग) सुग्रीव (राजा)

तृतीय विहरमान तीर्थंकर श्री बाहुस्वामी के जनक। (देखिए-बाहुस्वामी)

सुघोषा (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 29

सुजय राजर्षि

सुजय अयोध्या के राजा विजयराज का पुत्र था। पिता के पश्चात् सुजय सिंहासन पर आसीन हुआ। स्वभाव से ही वह दानी प्रवृत्ति का था। खुले हृदय से और दोनों हाथों से वह दान देता था। उसके पुण्यों से उसके कोष सदा ही धन से भरे रहते थे। एक बार वन-प्रान्तर में विहार करते हुए सुजय को एक तपस्वी मुनि के दर्शन हुए। सुजय को वे मुनि जाने-पहचाने से लगे। वह सोचने लगा कि उसने मुनि को कहीं अवश्य देखा है। चिन्तन करते-करते, स्मृति पर जोर डालते-डालते उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। उसे अपना पूर्वभव हस्तामलकवत् दिखाई देने लगा। उसने देखा, वह पूर्व जन्म में संगमक नामक एक वणिकपुत्र था। व्यापार के लिए वह समुद्र यात्रा पर था तो उसका जहाज हिमशिला से टकराकर टूट गया। पुण्य योग से काष्ठ खण्ड के सहारे वह किनारे पर आ लगा। जंगल में उसने कुछ फल तोड़े और उनको खाने को उद्यत हुआ। उसी क्षण एक शुभ भाव उसके हृदय में प्रगट हुआ कि कितना अच्छा हो कि कोई मुनि-महात्मा उसके हाथ से भिक्षा ग्रहण करे। उसके शुभभाव फलित हुए और एक मुनि उधर पधारे। उच्च भावों से उसने मुनि श्री को प्रासुक फल प्रदान किए। आहार लेकर मुनि श्री लौट गए और उसी रात्रि में संगमक का देहान्त हो गया। वह संगमक ही मैं हूँ और ये मुनि वही हैं जिनको मैंने आहार दान देकर महान पुण्यों का अर्जन किया था।

सुजय ने मुनि को वन्दन किया और अपना परिचय दिया। उसकी प्रार्थना पर मुनिश्री ने उसके हाथ से भिक्षा ग्रहण की। सुजय का हृदय संयम ग्रहण करने के लिए उत्सुक बन चुका था। उसने राजपाट छोड़कर आर्हती दीक्षा ग्रहण कर ली। तप और संयम की निरतिचार साधना करके सुजय राजर्षि अच्युत स्वर्ग में गए। अनुक्रम से मोक्ष जाएंगे। —कथारत्नकोष भाग 1

(क) सुजात कुमार

चम्पानगरी के रहने वाले सम्यक्त्वी श्रमणोपासक धनमित्र और धनश्री का आत्मज, रूप और गुणों का निधान युवक। वह इतना सुरूप था कि नर-नारियों की दृष्टि उसके रूप पर चिपक कर रह जाती थी। उसे देखकर कुंवारी कन्याएं और विवाहित स्त्रियां लोक लाज को विस्मृत कर उसे देखती रह जाती थीं। एक बार महामंत्री धर्मघोष की पत्नियों ने सुजात कुमार को देखा तो वे भी उसके रूप पर मंत्रमुग्ध बन गईं। पर वे कुलीन नारियां थीं। उन्होंने अपने मनों पर विवेक का अंकुश लगाया। पर इतना विवेक वे अवश्य विस्मृत कर बैठीं कि परस्पर एकत्रित होकर मुग्ध भाव से सुजात कुमार के रूप की प्रशंसा करने लगी। उनकी चर्चा के स्वर मंत्री के कानों में पड़ गए। मंत्री बहुत बुद्धिमान था। वह सोचने लगा, सुजात कुमार का रूप मेरी पत्नियों के अनुराग का कारण बन गया है, भविष्य में यही रूप कभी न कभी उसके पारिवारिक जीवन के आधार को खिसका भी सकता है। अतः कोई ऐसा उपाय करना चाहिए, जिससे सुजात को रास्ते से हटाया जा सके। बहुत चिन्तन-मनन करके मंत्री ने एक युक्ति सोची। उस युक्ति के अनुसार उसने राजा के समक्ष यह सिद्ध कर दिया कि सुजात कुमार के हृदय में देशद्रोह का भाव पनप रहा है। राजा और मंत्री—दोनों ही जानते थे कि धनमित्र और उसके पुत्र के विरुद्ध बिना प्रमाण के कुछ भी अनुचित नहीं किया जा सकता है। उससे नागरिकों में असंतोष भड़क जाने की पूर्ण संभावना थी। मंत्री ने एक युक्ति प्रस्तुत की, महाराज! अमरापुरी नरेश चन्द्रध्वज आपके अन्तरंग मित्र हैं। आप एक पत्र देकर सुजात को उनके पास भेज दीजिए और पत्र में लिख दीजिए कि पत्र-वाहक देशद्रोही है उसकी हत्या कर दी जाए।

राजा को मंत्री की युक्ति उचित लगी। उसने उक्त आशय का एक पत्र तैयार किया और सुजात

कुमार को अपने पास बुलाकर कहा, सुजात! तुम मेरे विश्वास-पात्र व्यक्ति हो। मेरा पत्र मेरे मित्र नरेश तक पहुंचा दो।

सुजात ने सरल हृदय से राजा की आज्ञा शिरोधार्य कर ली। वह अमरापुरी पहुंचा और उसने अपने महाराज का पत्र महाराज चन्द्रध्वज को दे दिया। पत्र पढ़कर चन्द्रध्वज चौंक गया। उसने सुजात को देखा, सुजात के सरल और सौम्य मुख पर देशद्रोह की एक भी रेखा नहीं खोजी जा सकती थी। उसने विचार किया, उसका मित्र अवश्य ही किसी धूर्त की बातों में आ गया है। सुजात देश द्रोही होता तो वह स्वयं दण्ड दे सकता था। राजा सुजात को एकान्त में ले गया और उसने उसे पत्र पढ़ाया। पत्र पढ़कर सुजात भी दंग रह गया। पर उसने इतना ही कहा, महाराज! आप मित्र-धर्म का पालन कीजिए, मैं प्रस्तुत हूँ।

चन्द्रध्वज ने कहा, मैं निर्दोष व्यक्ति को दण्ड नहीं दे सकता हूँ। तुम मेरे राज्य में रहो। इससे चम्पानरेश यही मानेगा कि उसका मन्तव्य सिद्ध हो गया है। सुजात ने राजा चन्द्रध्वज का प्रस्ताव अहोभाव से स्वीकार कर लिया। राजा ने एक अन्य प्रस्ताव सुजात के समक्ष रखते हुए कहा, सुजात! मेरी एक प्रार्थना है। उस प्रार्थना को प्रार्थना ही मानना, आदेश नहीं, और तुम बाध्य भी नहीं हो कि उसे तुम्हें मानना ही पड़े। सुजात ने कहा, महाराज ! आप मेरे जीवन दाता हैं। फरमाएं मैं आपके लिए क्या कर सकता हूँ ?

राजा ने कहा, मेरी एक बहन है चन्द्रयशा। उसे कुष्ठरोग है। मैं चाहता हूँ कि तुम उससे विवाह कर लो। यह मेरी प्रार्थना है। तुम इसके लिए बाध्य नहीं हो।

सुजात ने कहा, महाराज! मुझे आपका प्रस्ताव स्वीकार है। मैं चंद्रयशा के रोग का निदान करूंगा और अपनी सेवा से उसे प्रसन्न रखूंगा।

राजा ने अपनी बहन का विवाह सुजात कुमार से कर दिया। सुजात ने पूरे प्रेमभाव से चन्द्रयशा की सेवा की। उसने उसे जिनधर्म का अमृत पान कराया। चन्द्रयशा ने रुग्णावस्था में भी अपने को धन्य माना। वह पूरे मन से जिनधर्म की आराधना करने लगी। पर उसका रोग असाध्य था और कुछ ही वर्षों में उसका निधन हो गया। जिनधर्म के प्रभाव से वह देवलोक में देवरूप में उत्पन्न हुई। अपने उपकारी पति के दर्शन करने के लिए वह सुजात के पास आई। उसने सुजात को प्रणाम किया और बताया कि उसी की कृपा से उसे देवभव की प्राप्ति हुई है, महाभाग! आदेश करें कि मैं आपके लिए क्या कर सकती हूँ।

सुजात ने कहा, मैं दीक्षा लेना चाहता हूँ, पर दीक्षा लेने से पूर्व एक बार अपने माता-पिता के दर्शन करना चाहता हूँ। देव ने कहा, ऐसा ही होगा। देव सुजात कुमार को चम्पानगरी ले गया। उसे उद्यान में बैठाकर देव ने एक विशाल पर्वत अपने हाथों पर उठाया और घोर गंभीर चेतावनी राजा को दी, राजन् ! तुमने निरपराध सुजात कुमार की हत्या का षडयंत्र रचा है। मैं तुम्हे पूरे नगर सहित नष्ट कर दूंगा। देव की चेतावनी से नागरिक कांप उठे। राजा भी भयभीत बन गया। उसने प्रार्थना की, हे देव! मुझे क्षमा कर दो। यदि सुजात कुमार जीवित है तो मुझे बताएं वह कहां है, मैं उससे क्षमा मांग लूंगा और अपना साम्राज्य उसको अर्पित कर दूंगा।

देव ने बता दिया कि सुजात कुमार उद्यान में है। इस उपक्रम के पश्चात् देव ने अपनी माया समेट ली। राजा, मंत्री और पूरा नगर उद्यान में उमड़ा। राजा ने अपना मुकुट सुजात के कदमों में रख दिया। सुजात ने राज्य अस्वीकार कर दिया। वह अपने माता-पिता से मिला। पुत्र मिलन से माता-पिता के हृत्कमल खिल उठे। सुजात ने पूरा घटनाक्रम माता-पिता को सुनाया और अपना संकल्प स्पष्ट कर दिया कि अब वह दीक्षा लेना चाहता है। पुत्र के सम्यक्-संकल्प से माता-पिता भी दीक्षा लेने के लिए संकल्पित बन गए।

सुजात मुनि ने निरतिचार संयम की आराधना द्वारा मोक्ष प्राप्त किया।

राजा और मंत्री को भी अपने आप पर ग्लानि हुई। सच्चे हृदय से संसार का त्याग कर उन्होंने भी मुनिव्रत अंगीकार किए और उत्कृष्ट तप से समस्त कर्मों को निर्जरित कर वे भी परमपद के अधिकारी बने।

—धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 9

(ख) सुजात कुमार

सुजात कुमार वीरपुर नामक नगर का युवराज था। उसके पिता महाराज वीरकृष्णमित्र एक नीतिनिपुण शासक थे। उसकी माता का नाम श्रीदेवी था जो नारी के सभी सद्गुणों से सम्पन्न तथा निर्ग्रन्थ धर्म की अनुगामिनी थी।

युवराज सुजात कुमार के जीवन में समस्त प्रकार की समृद्धि थी। समस्त मानवीय गुण उसके जीवन में मौजूद थे। उसके जीवन में महनीय सद्गुणों की विद्यमानता के साथ-साथ उसका रूप भी अत्यन्त मनोहर था। सहज ही वह सबकी प्रीति और श्रद्धा का केन्द्र बना हुआ था। उसका विवाह बलश्री प्रमुख पांच सौ राजकन्याओं के साथ सम्पन्न हुआ था। उत्कृष्ट सांसारिक भोगोपभोगों का रसास्वादन करते हुए वह जीवन यापन कर रहा था।

एक बार ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए श्रमण भगवान महावीर स्वामी अपने मुनि संघ के साथ वीरपुर नगर में पधारे और मनोरम नामक उद्यान में विराजमान हुए। प्रभु के आगमन का सुसंवाद जानकर राजा और रानी सहित सभी नगर निवासी उनके दर्शन-वन्दन के लिए उद्यान में गए। युवराज सुजात भी भगवान के दर्शनों के लिए उपस्थित हुआ। प्रभु का प्रवचन सुनकर राजा, रानी और नागरिक अपने-अपने स्थान को लौट गए। सुजात कुमार पर प्रभु के वचनों का विशेष प्रभाव पड़ा। प्रभु को वन्दन कर उसने सविनय निवेदन किया—भगवन्! आपके वचन यथारूप और पूर्ण प्रामाणिक हैं। परन्तु मेरे अन्दर अभी इतना सत्त्व नहीं है कि मैं श्रमणधर्म का आराधन कर सकूं। मेरी प्रार्थना है कि आप मुझे श्रावकधर्म में दीक्षित करने की कृपा करें।

सुजात कुमार की प्रार्थना पर भगवान ने उसे श्रावकधर्म में दीक्षित किया। प्रभु को वन्दन कर और व्रत सम्पदा को हृदय में धारण कर उल्लसित चित्त से सुजात कुमार अपने महल में लौट गया।

सुजात कुमार के लौट जाने पर भगवान के प्रमुख शिष्य आर्य इन्द्रभूति गणधर ने भगवान के चरणों में जिज्ञासा प्रस्तुत की—भंते! सुजात कुमार ने ऐसे कौन से शुभ पुण्य कर्म किए जिनके परिणामस्वरूप उसे ऐसे रूप, गुण और समृद्धि प्राप्त हुई है?

भगवान महावीर ने फरमाया—गौतम! पूर्वजन्म में युवराज सुजात कुमार इक्षुसार नगर का ऋषभदत्त नामक गाथापति था। वह सरल और उदार था। एक बार ऋषभदत्त के घर एक मास के उपवासी पुष्पदत्त नामक अणगार पधारे। ऋषभदत्त ने उत्कृष्ट भावों से मुनि को आहार दान दिया। देवताओं ने पांच दिव्यों की वर्षा करके उसके उत्कृष्ट दान की प्रशस्ति की। उसी उत्कृष्ट दान के फलस्वरूप ऋषभदत्त कालक्रम से कालधर्म को प्राप्त कर यहां सुजात कुमार के रूप में जन्मा है। इसे उसी पुण्य के फल रूप में यहां पर उत्कृष्ट ऋद्धि और अनुपम रूप की प्राप्ति हुई है।

भगवान के वचन सुनकर गौतम को अपनी जिज्ञासा का समाधान प्राप्त हो गया।

कालक्रम से भगवान अपने संघ सहित अन्यत्र विहार कर गए।

सुजात कुमार भगवान से प्राप्त श्रावक धर्म का पालन उत्कृष्ट भावों से करता रहा। एक बार वह पौषधशाला में पौषध की आराधना कर रहा था। विभिन्न धर्मतत्वों पर पर्यटन करता हुआ उसका चिन्तन अपने आराध्य धर्मदेव भगवान महावीर पर केन्द्रित हो गया। उसने विचार किया—वे ग्राम, नगर और जनपद धन्य हैं, जहां तीर्थंकर महावीर विचरण करते हैं। वे मनुष्य धन्य हैं जो भगवान महावीर के दर्शन करते हैं और उनकी अमृतवाणी का श्रवण करते हैं। कितना शुभ हो कि भगवान महावीर वीरपुर पधारें! भगवान यदि यहां पधारें तो मैं समस्त सांसारिक ममत्वों का परित्याग कर उनका शिष्य बन जाऊंगा।

इस प्रकार सुजात कुमार आध्यात्मिक चिन्तन द्वारा अपने आराध्य देव को आमंत्रित करता है।

सुजात कुमार के आमंत्रण में बन्धे हुए भगवान महावीर वीरपुर पधारे। प्रभु पदार्पण का सुसंवाद जब सुजात कुमार ने सुना तो उसके हर्ष का पारावार न रहा। वह प्रभु के चरणों में पहुंचा। उपदेश सुना। उसके हृदय में वैराग्य का प्रवाह उमड़ आया। माता-पिता और परिजनों की आज्ञा प्राप्त कर वह भगवान के चरणों में प्रव्रजित हो गया।

सुजात कुमार ने कई वर्षों तक शुद्ध संयम का पालन किया। आयुष्य पूर्ण कर वह सौधर्म कल्प में देवता बना। वहां से वह पुनः मनुष्य भव धारण करेगा। मनुष्य और देव गति के कुछ भव करने के पश्चात् सुजात कुमार महाविदेह क्षेत्र से सिद्ध पद को उपलब्ध होगा। —विपाक सूत्र 2/3

सुजात स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

पंचम विहरमान तीर्थंकर जो धातकी खण्ड के पूर्व महाविदेह क्षेत्र की पुष्कलावती विजय में धर्मोद्योत कर रहे हैं। देवसेन और देवसेना प्रभु के माता-पिता के नाम हैं। तिरासी लाख पूर्व तक प्रभु गृहवास में रहे। तदनन्तर दीक्षित हो तीर्थंकर पद पर आरूढ़ हुए। प्रभु का कुल आयुष्य चौरासी लाख पूर्व का है।

सुजाता

महाराज श्रेणिक की एक रानी। शेष परिचय नन्दावत्। (देखिए-नन्दा)

—अन्तगड सूत्र वर्ग 7, अध्ययन 11

सुतारा

जैन वाङ्मय के अनुसार महाराज उशीनर की कन्या, और वैदिक मान्यतानुसार महाराज शिवि की पुत्री, इसीलिए उसका एक नाम शैव्या भी लोक में प्रचलित है। वह अयोध्याधिपति महाराज हरिश्चन्द्र की रानी और रोहिताश्व की जननी थी। भारत वर्ष में महासती तारा का नाम सर्वाधिक वन्दनीय महासतियों में परिगणित है। (देखिए-हरिश्चन्द्र)

सुतारा देवी

द्वितीय विहरमान तीर्थंकर युगमन्धर की जननी। (देखिए-युगमन्धर स्वामी)

(क) सुदर्शन

हस्तिनापुर नरेश और अठारहवें अरिहंत प्रभु अरनाथ के जनक। —त्रिषष्टी शलाका पुरुष चरित्र

(ख) सुदर्शन

अठारहवें अरिहंत अरनाथ के जनक।

(ग) सुदर्शन (अर्जुनमाली)

अन्तगडसूत्र के अनुसार सुदर्शन सेठ राजगृह नगर का एक धनी और प्रतिष्ठित श्रेष्ठी था। उसकी सबसे बड़ी पहचान थी कि वह एक दृढ़धर्मी श्रावक था। भगवान महावीर के चरणों पर उसकी अगाध और अपार आस्था थी। उसकी श्रद्धा इतनी प्रकृष्ट थी कि प्राणों के मूल्य पर भी वह अपनी श्रद्धा की रक्षा के लिए प्रस्तुत रहता था। वणिक होते हुए भी वह अति साहसी था। वास्तव में उसकी श्रद्धा और भक्ति ने उसे अभय बना दिया था।

एक समय जब पूरा राजगृह नगर अर्जुन माली के रौद्ररूप से आतंकित था और स्वयं महाराज श्रेणिक अपने सैन्यबल से भी अर्जुन का पार नहीं पा सके थे तथा पूरा राजगृह नगर अपनी ही चार दीवारी में बन्दी बनकर रह गया था तब सुदर्शन सेठ ने ही इस भय से नगरी को मुक्त किया था। उन्हीं दिनों नगरी के बाहर भगवान महावीर पधारे। सभी श्रद्धालु भगवान के दर्शनों के लिए जाना चाहते थे, पर अर्जुन के आतंक ने सभी की श्रद्धा-भक्ति को जड़ बना दिया था। पर सुदर्शन की भक्ति जड़ नहीं बनी। उसने भगवान की पर्युपासना के लिए जाने का संकल्प किया। उसके माता-पिता और मित्रों ने अर्जुन के भय की व्याख्या कर उसे उसका संकल्प बदलने के लिए बाध्य किया। परन्तु सुदर्शन ने इस तर्क के साथ कि मृत्यु का क्षण सुनिश्चित है, उसे टाला या निर्मित नहीं किया जा सकता है—सब के प्रश्नों-शंकाओं को निरस्त कर दिया। स्वयं सम्राट् श्रेणिक ने सुदर्शन से उसके संकल्प पर पुनर्विचार करने को कहा, पर विनम्रता से सुदर्शन ने इसे अस्वीकार कर दिया।

सुदर्शन नगर-द्वार से निकला ही था कि रौद्र रूप अर्जुन मुद्गर को लहराता हुआ उसके समक्ष आ गया। सुदर्शन ने निर्भय भाव से महावीर को भाववन्दन किया और सागारी अनशन के साथ ध्यानस्थ बन गया। अर्जुन ने सुदर्शन पर प्रहार करने के लिए मुद्गर ऊपर उठाया पर उसके शरीर में रहा हुआ यक्ष सुदर्शन के तेज को सह न सका। अर्जुन का हाथ ऊपर ही स्तंभित बन गया। उसी क्षण यक्ष उसकी देह से निकल अपना मुद्गर साथ लेकर अपने स्थान पर चला गया। लगभग पांच मास से अधिक का भूखा-प्यासा अर्जुन धड़ाम से जमीन पर आ गिरा। उपसर्ग को अतीत जानकर सुदर्शन ने आंखें खोलीं। उसने अर्जुन के सिर पर हाथ रखा और उसे अपने साथ भगवान के चरणों में ले गया। महावीर के उपदेश से प्रतिबुद्ध बनकर अर्जुन ने मुनिव्रत धारण कर लिया।

सुदर्शन की श्रद्धा के समक्ष यक्ष पराजित हो गया। मानव से दानव बने अर्जुन के लिए वह आत्मसिद्धि का द्वार बना। इस सबसे चहुं ओर सुदर्शन की जय-जयकार हुई। कालान्तर में सुदर्शन ने भी दीक्षा धारण की और आत्मकल्याण के परमयज्ञ में कर्माहुति दे परम गति पाई। —अन्तगड सूत्र 6/3

(घ) सुदर्शन (गाथापति)

वाणिज्य ग्रामवासी एक समृद्ध गाथापति। किसी समय वाणिज्य ग्राम के बाहर द्युतिपलाश नामक उद्यान में भगवान महावीर पधारे। भगवान का उपदेश सुनकर सुदर्शन विरक्त बनकर प्रव्रजित हो गया और शुद्ध संयम पालकर सिद्ध हुआ। —अन्तगडसूत्र वर्ग 6, अध्ययन 10

(ङ) सुदर्शन (नृप)

सुदर्शन नृप को आम्रफल खाने का बहुत शौक था। उसने अपने बगीचे में सभी ऋतुओं में फल देने वाले आम्रवृक्ष लगवाए थे। वह प्रतिदिन पर्याप्त मात्रा में आम्रफल खाता था। परिणाम यह हुआ कि राजा

रुग्ण हो गया। दूर-देशों के वैद्यों ने मिलकर राजा की चिकित्सा की। सभी वैद्यों ने राजा से निवेदन किया कि आम उनके शरीर के लिए विष बन गए हैं। यदि वे भविष्य में आमों की छाया से भी दूर रहें तो उनका जीवन बच सकता है। रुग्णता से खिन्न राजा ने वैद्यों के समक्ष संकल्प किया कि वह भविष्य में आम नहीं खाएगा। राजा को दवा दी गई जिसके सेवन से वह धीरे-धीरे स्वस्थ हो गया।

वैद्यों ने मंत्री को भी एकान्त में बुलाकर चेताया, यदि वे अपने राजा का जीवन चाहते हैं तो उन्हें सदैव आमों से दूर रखा जाए। राजभक्त मंत्री ने अपने पूरे राज्य से आमों के वृक्ष कटवा दिए। धीरे-धीरे राजा और प्रजा भूल ही गए कि आम नामक कोई फल भी होता है।

कई वर्षों के पश्चात् मंत्री को साथ लेकर सुदर्शन राजा घुड़सवारी के लिए जंगल में गया। दोनों बहुत दूर निकल गए। पड़ोसी राजा की सीमा प्रारंभ हो गई। मंत्री ने राजा को लौटने की प्रार्थना की। राजा ने कहा, मैं थक गया हूँ, सामने ही उद्यान है, वहां थोड़ी देर विश्राम करूंगा। मंत्री ने देखा, उस उद्यान में कई आम्रवृक्ष हैं। उसने राजा को चेताया कि उस उद्यान में आम के वृक्ष हैं और वैद्यों का परामर्श है कि आपको आम्रवृक्ष की छाया से भी दूर रहना चाहिए।

राजा ने मंत्री की बात और वैद्यों के परामर्श का उपहास उड़ाया। वह आम्रवृक्ष की छाया में जाकर बैठ गया। एक आम्रफल वृक्ष से टूटकर राजा के समक्ष गिरा। आम्रफल का रंग देखकर राजा के पुराने संस्कार जागृत हो गए। मंत्री राजा को पुनः-पुनः सावधान करता रहा परन्तु राजा की सोच थी कि एक आम खाने से भला उसका क्या बिगड़ेगा ? मंत्री के बार-बार मना करने पर भी राजा ने वह आम खा लिया। आम्ररस के उदर में जाते ही राजा उदरशूल से छटपटाने लगा। राजा को नगर में लाया गया। वैद्यों ने पुनः चिकित्सा की, पर सभी चिकित्साएं व्यर्थ सिद्ध हुईं। व्याधि से छटपटाते हुए राजा का देहान्त हो गया। रसना का वशवर्ती सुदर्शन नृप अकाल में ही काल का ग्रास बन गया। —उत्तराध्ययन वृत्ति

(च) सुदर्शन (बलदेव)

अश्वपुर नरेश महाराज शिव के पुत्र एवं पंचम बलदेव। (देखिए-पुरुषसिंह वासुदेव)

(छ) सुदर्शन (मुनि)

सुदर्शन मुनि पार्श्वनाथ भगवान की परम्परा के मुनि थे। उनकी ध्यान निष्ठा और चारित्र साधना उच्चकोटि की थी। मृत्यु के क्षण उपस्थित करने वालों पर भी उनके हृदय में द्वेष का भाव उत्पन्न नहीं होता था।

एक बार सुदर्शन मुनि विहार कर रहे थे। कुछ तांत्रिक तंत्र विद्या की सिद्धि के लिए बत्तीस लक्षण संपन्न पुरुष की तलाश में थे। उनकी दृष्टि मुनि पर पड़ी। उन्होंने मुनि को पकड़ लिया और बलि स्थान पर ले गए। मुनि को वध-स्थान पर खड़ा कर दिया गया और तांत्रिक मंत्रोच्चारण करने लगे।

इस पूरे घटनाक्रम को देखकर मुनि समझ गए कि उन्हें बलि देने के लिए लाया गया है। मारणांतिक उपसर्ग को समक्ष देखकर भी वे विचलित नहीं हुए। उन्होंने अंतिम समाधि धारण की और ध्यानमुद्रा में खड़े हो गए। भय की सूक्ष्म-सी रेखा भी उनके आनन पर नहीं थी।

प्रधान तांत्रिक ने मुनि के शिरोच्छेदन के लिए तलवार का प्रहार किया। परन्तु सहसा तलवार तांत्रिक के हाथ से छूट गई और उसी की गर्दन पर आ गिरी। मुनि की मृत्यु का कामी स्वयं मृत्यु का ग्रास बन गया।

इस घटना से शेष तांत्रिक घबरा गए। उन्होंने इसे मुनि के धर्म का चमत्कार माना। वे मुनि के चरणों में गिरकर क्षमा मांगने लगे। मुनि ने उनको धर्मोपदेश दिया और हिंसा का त्यागा कराया।

निरतिचार संयम की साधना द्वारा सुदर्शन मुनि सिद्धकाम बने।

(ज) सुदर्शन सेठ (शूली-सिंहासन)

अंगदेश की राजधानी चम्पा का रहने वाला परम सुशील और सुरूप एक समृद्ध श्रेष्ठी। शूली को सिंहासन में बदल देने वाले उनके निष्कलंक चारित्र की गाथा जैन परम्परा में शताब्दियों से प्रचलित है।

सुदर्शन अपार संपदा का स्वामी था। परन्तु उसकी वास्तविक सम्पदा तो उसकी गुणशीलता, सत्यवादिता, सच्चरित्रता आदि सद्गुण थे जिनके कारण उसकी ख्याति दूर-दूर तक फैली हुई थी। इसी कारण चम्पानरेश दधिवाहन ने उसे नगर सेठ की उपाधि से अलंकृत किया था।

उसी नगर का रहने वाला कपिल पुरोहित सुदर्शन का अंतरंग मित्र था। दोनों परस्पर एक-दूसरे के घर आते-जाते रहते थे। किसी समय कपिल की पत्नी कपिला सुदर्शन सेठ की सुरूपता पर मोहित बन गई। एक दिन जब कपिल ग्रामान्तर गया हुआ था तो कपिला ने अपनी विश्वस्त दासी को एक कल्पित समाचार के साथ सुदर्शन सेठ के पास भेजा। दासी ने सुदर्शन के पास जाकर समाचार दिया कि उसके मित्र कपिल काफी बीमार हैं और उन्हें इसी क्षण बुला रहे हैं। सरल चित्त सेठ दासी के षडयन्त्र को कैसे जान पाता ? वह उसी समय कपिल के घर पहुंचा। घर में प्रवेश करते ही दासी ने द्वार जड़ दिए। जब तक सुदर्शन कुछ पूछता, कपिला अपने कुत्सित प्रस्ताव के साथ उसके समक्ष आ खड़ी हुई। अपने साथ हुए छल से सुदर्शन परिचित बना। पर इस क्षण अपने चारित्र की रक्षा करना अहं प्रश्न था। सुदर्शन ने एक युक्ति निकाली। दीनता से स्वयं को नपुंसक बताते हुए उसकी कामना पूर्त्ति में स्वयं को असमर्थ जताया। कपिला को जैसे सांप सूंघ गया। उसने भर्त्सना के साथ सुदर्शन को अपने घर से निकाल दिया।

सुदर्शन को मित्र-पत्नी की इस बात से अत्यन्त कष्ट हुआ, पर उसे प्रसन्नता इस बात की थी कि उसने अपने चारित्र पर आंच नहीं आने दी।

किसी समय कौमुदी महोत्सव पर नगर के सभी नर-नारी अपने-अपने बच्चों के साथ नगर से बाहर आयोजित समारोह में भाग लेने जा रहा थे। सुदर्शन सेठ भी अपनी पतिपरायणा पत्नी मनोरमा और चारों पुत्रों के साथ रथ में बैठ कर उस महोत्सव में भाग लेन जा रहा था। संयोग से उनके रथ के आगे दधिवाहन की रानी अभया का रथ था। अभया और कपिला में अंतरंग मैत्री थी। सो कपिला भी रानी के रथ में ही बैठी थी। सहसा रानी की दृष्टि पीछे आ रहे रथ में बैठे सुदर्शन के पुत्रों पर पड़ी। सुदर्शन के पुत्र अपने पिता के समान सुरूप थे। रानी ने दासी से पूछा—ये किसके पुत्र हैं? दासी ने बताया—ये हमारे नगर सेठ सुदर्शन के पुत्र हैं।

रानी के साथ-साथ यह बात कपिला ने भी सुनी। पूरी तस्वीर उसके समक्ष स्पष्ट हो गई। वह समझ गई कि सुदर्शन ने उससे छल किया है। उसने वह पूरी कथा अपनी सहेली अभया को सुनाई और उसे उकसाया कि वह रूपाभिमानी सेठ का मान-मर्दन करे। वैसा करने के लिए अभया ने कपिला को वचन दिया।

अभया रानी की एक दासी थी पंडिता। अभया को उसकी कुटिलता और स्वयं के प्रति उसकी निष्ठा पर पूर्ण विश्वास था। उसने सुदर्शन को रनिवास तक लाने का दायित्व उसे सौंप दिया। पंडिता ने युक्ति के अनुसार सुदर्शन के आकार-प्रकार की एक प्रतिमा बनवाई और उस पर वस्त्र ढ़ांप कर वह उसे महल में ले जाने लगी। पहरेदारों ने उसे टोका तो उसने प्रतिमा पटक दी और रौब दिखाया कि वह महारानी से उन्हें दण्डित कराएगी। पहरेदार भयभीत बन गए। उन्होंने क्षमायाचना तथा अनुनय-विनय पूर्वक पण्डिता को प्रसन्न करना चाहा तथा कहा कि वे भविष्य में उसे नहीं रोकेंगे।

पूरी पृष्ठभूमि तैयार होने पर एक दिन पण्डिता ने पौषधशाला में ध्यानस्थ सुदर्शन सेठ को अपने सिर पर उठाया और ठीक प्रतिमा की भांति ही उस पर वस्त्र डाल कर महलों में ले गई। आगे का कार्य अभया को पूर्ण करना था। उसे अपने रूप पर घमण्ड था। वह सोचती थी कि वह दुनिया के किसी भी पुरुष को चलित कर सकती है। उसने सुदर्शन को अपने रूपजाल में फंसाने का यत्न किया। सुदर्शन ने उसे 'मां' का सम्बोधन दिया। उसने कहा कि राजा की पत्नी प्रजा के लिए माता होती है। एक माता का अपने पुत्र के प्रति ऐसा विचार निन्दनीय है। पर सुदर्शन की इन बातों का अभया पर कोई प्रभाव न पड़ा। वह उसे रिझाने-मनाने में लगी रही पर उसे सफलता नहीं मिली। उसे जब लगा कि सुदर्शन उसकी बात स्वीकार नहीं करेगा तो उसने त्रियाचरित्र का अन्तिम पासा फैंका। उसने कहा कि यदि वह उसकी बात नहीं मानेगा तो वह उस पर दोषारोपण करके उसे शूली पर चढ़वा देगी, और यदि मानेगा तो उसे न केवल अपने हृदय के सिंहासन पर बैठा लेगी अपितु वृद्ध दधिवाहन को मार्ग से हटाकर उसे अंगदेश के सिंहासन पर भी बैठा देगी।

सुदर्शन ने अभया के इस कुत्सित प्रस्ताव की कड़े शब्दों में भर्त्सना की और स्पष्ट कर दिया कि उसे अपने चारित्र के मूल्य पर स्वर्ग का सिंहासन भी स्वीकार्य नहीं है। अपने चारित्र की रक्षा के साथ वह जन्म-जन्मान्तर में शूली पर चढ़ना पसन्द करेगा। सुदर्शन के इस उत्तर से अभया का क्रोध आकाश छूने लगा। उसने त्रियाचरित्र रचते हुए अपने वस्त्र फाड़ डाले, बाल बिखेर लिए और अपने ही नाखुनों से अपने चेहरे को नोंचते हुए 'बचाओ-बचाओ' के उच्च स्वर से चिल्लाने लगी।

सुदर्शन जानते थे कि ऐसी परिस्थितियों में उनके स्पष्टीकरण को कोई नहीं सुनेगा और सुनेगा तो विश्वास नहीं करेगा। सो उन्होंने तीर्थंकर-सिद्धों को वन्दन करते हुए सागारी अनशन धारण किया तथा अखण्ड मौन समाधि में लीन हो गए। उधर सैनिक दौड़कर महलों में पहुंचे। दधिवाहन भी पहुंचा। अभया ने कल्पित कहानी कहकर सुदर्शन को शूली पर चढ़ाने की राजा से प्रार्थना की। राजा को भी लगा कि सुदर्शन का दुःसाहस अक्षम्य है। उसने जल्लादों को बुलाकर सुदर्शन को शूली पर चढ़ाने का आदेश दे दिया।

सुदर्शन के लिए शूली के दण्ड की बात पूरे जनपद में फैल गई। सुदर्शन को देखने के लिए पूरा नगर उमड़ पड़ा। कोई इसे अन्याय तथा कोई उचित दण्ड कह रहा था। जितने मुंह उतनी बात। अन्ततः सुदर्शन को शूली पर जैसे ही बैठाया गया वैसे ही एक चमत्कार घटित हुआ। शूली स्वर्ण सिंहासन में बदल गई। सत्य और शील की विजय हुई। दधिवाहन दौड़कर आया और सुदर्शन से अपने अविचारपूर्ण दण्ड के लिए क्षमा मांगने लगा।

अभया को पूरी बात ज्ञात हुई तो वह सम्भावित मृत्यु-दण्ड के भय से कांप उठी। उसने महल से कूदकर आत्महत्या कर ली। मरकर वह व्यन्तरी बनी। पण्डिता दासी भी चम्पानगरी से भागकर पाटलिपुत्र पहुंची और वहां देवदत्ता वेश्या की परिचर्या करने लगी।

सुदर्शन सेठ ने अनेक वर्षों तक श्रेष्ठ गृहस्थ जीवन जीने के पश्चात् दीक्षा धारण की। एक बार वे पाटलिपुत्र गए तो वहां पण्डिता ने उन्हें अनेक उपसर्ग दिए। व्यन्तरी बनी अभया ने भी सुदर्शन मुनि के लिए विविध उपसर्ग निर्मित किए। पर सुदर्शन मुनि ने इन समस्त उपसर्गों को समता से सहकर कर्म बीजों को निर्बीज बना दिया और कैवल्य प्राप्त कर मोक्ष में गए। —आवश्यक कथा

(क) सुदर्शना

(देखिए-मेतार्य मुनि)

(ख) सुदर्शना

द्वारिका नरेश सोम की रानी। (देखिए-पुरुषोत्तम वासुदेव)

(ग) सुदर्शना (आर्या)

इनकी सम्पूर्ण कथा कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 4

सुदृढ़ राजा

द्वितीय विहरमान तीर्थंकर प्रभु युगमन्धर स्वामी के जनक। (देखिए-युगमन्धर स्वामी)

सुधर्मा अणगार

एक उत्कृष्ट तपस्वी अणगार, जो निरंतर एक-एक मास का उपवास करते थे। (देखिए-जिनदासकुमार)

—विपाक सूत्र, द्वितीय श्रुत., अ. 5

सुधर्मा स्वामी (गणधर)

तीर्थंकर महावीर के ग्यारह गणधरों में पंचम गणधर। अग्निभूति, वायुभूति आदि नौ गणधर भगवान महावीर की विद्यमानता में ही सिद्ध हो गए थे और प्रथम गणधर इन्द्रभूति गौतम भगवान के निर्वाण प्राप्त करने की रात्रि में केवली बन गए थे। केवली संघीय दायित्व के संवहन से परिमुक्त बन जाते हैं अतः भगवान के प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी बने।

सुधर्मा स्वामी कोल्लाक सन्निवेश वासी वेश्यायन गोत्रीय धनमित्र ब्राह्मण के पुत्र थे। उनकी माता का नाम भद्दिला था। वे अपने युग के एक बहुत बड़े विद्वान थे। वेद-वेदांगों और शास्त्रों के मर्मज्ञ थे। इतना सब होने पर भी उनके मस्तिष्क में एक संदेह कण्टक गड़ा था। उनका संदेह था—प्राणी जैसा इस भव में होता है परभव में वैसा ही रहता है या उसका स्वरूप भिन्न हो जाता है। इस संदेह का वे निवारण नहीं कर पाए थे। इन्द्रभूति आदि विद्वान ब्राह्मण जब भगवान महावीर को परास्त करने उनके पास पहुंचे और स्वयं परास्त बनकर उनके शिष्य बन गए तो सुधर्मा पर ब्राह्मण धर्म के गौरव की रक्षा का दायित्व आ गया। सो वे भी भगवान को शास्त्रार्थ में पराजित करने के लिए अपनी शिष्य मण्डली के साथ भगवान के पास पहुंचे। भगवान ने सुधर्मा को देखकर कहा—सुधर्मा ! तुम स्वयं संदेहशील हो। पहले अपना संदेह तो मिटा लो, बाद में अन्य कुछ सोचना। और भगवान ने उनके संदेह को मिटा दिया।

संदेह के दूर होते ही सुधर्मा का मानस निर्भार और सुनिर्मल बन गया। उन्होंने भगवान को अपना गुरु मान लिया और मुनि बनकर स्व-पर कल्याण की साधना में रत बन गए। भगवान महावीर के श्रीमुख से धर्म के स्वरूप को अर्थ रूप में ग्रहण कर सुधर्मा स्वामी ने उसे सूत्र रूप में ग्रथित किया। गण के नेता होने से वे गणधर कहलाए। भगवान के निर्वाण के बाद सुधर्मा के शिष्य जम्बू स्वामी ने उनसे प्रश्नोत्तर के माध्यम से आगम साहित्य की परम्परा को स्वरूप प्रदान किया। आज जो आगम उपलब्ध हैं वे सुधर्मा प्रणीत हैं। अतः उनका जगत पर महान उपकार है। भगवान के निर्वाण के बारह वर्ष बाद सुधर्मा केवली बने और आठ वर्ष केवली अवस्था में रहकर सम्पूर्ण सौ वर्ष की आयु में सिद्ध हुए। —आवश्यक चूर्णि

सुधासिन्धु

कंचनपुर नगर का धीर, वीर और चारित्र सम्पन्न युवराज। सुधासिन्धु का तन और मन रूप और गुणों

का अपूर्व संगम था। राजपुरोहित की कन्या उसके रूप पर मुग्ध हो गई, पर उसने उसकी ओर आंख तक उठाकर नहीं देखा। इस पर पुरोहित-कन्या ने राजकुमार पर दोषारोपण कर दिया। पुरोहित की शिकायत पर राजा ने राजकुमार से स्पष्टीकरण पाए बिना ही उसे देश-निर्वासन का दण्ड दे दिया। वन में राजकुमार को एक मुनि के दर्शन होते हैं जिनसे वह परधन को मिट्टी के समान तथा परदारा को माता के समान मानने के नियम ग्रहण कर लेता है। उसके बाद राजकुमार अनेक देशों का भ्रमण करता है। उस यात्रा में उसके साहस, शौर्य और परोपकार वृत्ति के पुनः पुनः दर्शन होते हैं। वह स्वयं कष्ट झेलकर भी दूसरों को सुख पहुंचाता है। मधुपुर नगर में वह राक्षस का वध करके नगर की जनता को अभय बनाता है। अन्य अनेक प्रसंगों पर वह परोपकार के लिए अपने जीवन को भी संकट में डाल देता है। मणिपुर नरेश उसका शत्रु बन जाता है और उसकी अनमोल वस्तुओं को पाने के लिए उसकी हत्या के अनेक षडयन्त्र रचता है। परन्तु राजकुमार सुधासिन्धु उस पर भी उपकार ही करता है।

बारह वर्षों तक देशाटन करके तथा अनेक राज्यों और राजकुमारियों का स्वामी बनकर सुधासिन्धु अपने नगर में लौटा। उसने अनेक वर्षों तक पृथ्वी के विशाल भूभाग पर न्याय और नीति से शासन किया। आयु के उत्तर पक्ष में संयम धारण कर वह सौधर्म कल्प में देव बना। वहां से महाविदेह में मनुष्य जन्म धारण करके और चारित्र की आराधना करके वह मोक्ष प्राप्त करेगा।

(क) सुनंद

हस्तिनापुर का एक प्राचीनकालीन नरेश। (देखिए-उज्झित कुमार)

(ख) सुनंद

प्रभु पार्श्वनाथ के प्रमुख श्रावकों में से एक।

(क) सुनन्दा

पृथ्वीभूषण नगर के राजा कनकध्वज की इकलौती पुत्री। सुनन्दा जब बालिका थी तो उसने एक व्यक्ति को अपनी पत्नी की निर्ममता पूर्वक पिटाई करते देखा। उस दृश्य को देखकर राजकुमारी के कोमल मन पर यह विश्वास-रेखा खिंच गई कि पुरुष स्वभावतः ही दुष्ट होते हैं। उसने निर्णय किया कि वह कभी विवाह नहीं करेगी। अपने निर्णय से उसने अपने माता-पिता तथा सहेलियों को भी अवगत करा दिया। पर किसी ने भी उसके निर्णय को गंभीरता से नहीं लिया।

सुनन्दा युवा हुई। एक दिन उसने एक प्रेमीयुगल को प्रेमालाप करते देखा तो उसका बाल निर्णय बालू का तटबन्ध सिद्ध हो गया। उसके मन के आकाश पर वासना का वायु बहने लगा। सहसा गवाक्ष से नीचे झांकते हुए उसकी दृष्टि रूपसेन नामक सर्वांग सुन्दर युवक पर पड़ी। वह उसके प्रेमपाश में आबद्ध बन गई। रूपसेन भी सुनन्दा के रूप पर मोहित हो गया।

कौमुदी महोत्सव के अवसर पर सुनन्दा और रूपसेन बहाना करके नगर में ही रुक गए। सुनिश्चित योजनानुसार सुनन्दा ने महल के पिछवाड़े से रस्सी निर्मित सीढ़ी लटका दी। उधर से एक जुआरी गुजर रहा था। रस्सी की सीढ़ी को महल के पिछवाड़े से लटकते देख कर जुआरी उस सीढ़ी से चढ़कर महल में पहुंच गया। अन्धेरे कक्ष में राजकुमारी ने जुआरी को ही रूपसेन मानकर स्वयं को उसके अर्पित कर दिया। जुआरी राजकुमारी के आभूषणों पर हाथ साफ करके नौ दो ग्यारह हो गया।

रूपसेन घर से महल के लिए चला तो मार्ग में एक खण्डहर के सहसा गिर जाने से उसके नीचे दबकर

मर गया। मरकर वह सुनन्दा के उदर में उत्पन्न हुआ। धीरे-धीरे गर्भ के लक्षण प्रगट होने लगे तो सुनन्दा ने अपनी विश्वस्त परिचारिकाओं के सहयोग से गर्भ गिरवा दिया। रूपसेन का जीव गर्भ से मरकर एक सर्प बना। उधर सुनन्दा का विवाह क्षितिप्रतिष्ठित नगर के राजा के साथ कर दिया गया। पूर्व जन्म के प्रेम-संयोग के कारण सर्प सुनन्दा के निकट पहुंचा और उसे देखकर झूमने लगा। राजा ने सर्प को मार डाला। सर्प मरकर कौवा बना। वह कौवा भी राजा द्वारा मार दिया गया। फिर वह हंस बना और राजा द्वारा मार दिए जाने पर हरिण बना। हरिण भी वन-विहार को आई सुनन्दा को देखकर मोहित हो गया। राजा ने उसे भी मार दिया और अपने पाचक को आदेश दिया कि वह हरिण का मांस पकाकर उन्हें परोसे। हरिण का मांस भक्षण करते हुए राजा और सुनन्दा परस्पर वार्तालाप कर रहे थे कि उन्होंने वैसा मधुर मांस पहले कभी नहीं खाया है।

उधर से दो अतिशय ज्ञानी मुनि गुजर रहे थे। राजा और सुनन्दा का वार्तालाप सुनकर दोनों मुनियों ने जीव और संसार की विचित्रता पर गर्दन हिलाकर आश्चर्य प्रगट किया। सुनन्दा बुद्धिमती थी। वह समझ गई कि मुनि उन्हें देखकर ही गर्दन हिला रहे हैं। वह खाना ज्यों का त्यों छोड़कर अपने पति को साथ लेकर मुनियों के पास आई और विनम्रता पूर्वक उनके गर्दन हिलाने का कारण पूछा। मुनि मौन रहे। पर सुनन्दा के पुनः-पुनः किए गए आग्रह पर मुनियों ने उसके जीवन का आद्योपान्त कथानक सुनाते हुए कहा, जिस गर्भस्थ शिशु को तुमने गिराया वह रूपसेन का ही जीव था, वह सर्प, वह कौवा, वह हंस और वह हरिण भी रूपसेन का ही जीव था। हमारे गर्दन हिलाने के पीछे उस आश्चर्य का भाव था कि रूपसेन मात्र विषय के चिन्तन से ही जन्म-मरण की दुर्लंध्य अटवी में घिर गया है, फिर जो लोग दिन-रात भोगों में लिप्त रहते हैं, उनकी कैसी गति होगी।

सुनन्दा मुनि की बातों से ऐसी प्रभावित हुई कि उसने दीक्षा धारण कर ली। राजा ने भी उसका अनुगमन किया। आखिर सुनन्दा के उपदेश से ही रूपसेन का जीव जो हाथी की योनी में था प्रबुद्ध हुआ। उसे जीवन की सम्यक् दिशा मिली। वह वहां से देवलोक में गया। भविष्य में वह मोक्ष जाएगा। सुनन्दा उग्र तप से समस्त कर्मराशि को अशेष कर सिद्ध हुई। —धन्यचरित्र

(ख) सुनन्दा

भगवान ऋषभदेव की द्वितीय पत्नी, बाहुबली तथा सुन्दरी की माता। (देखिए-ऋषभदेव तीर्थंकर)

(ग) सुनन्दा

सावत्थी नरेश कनककेतु की पुत्री, स्कन्दक कुमार की सहोदरा और कुन्तीनगर के राजा पुरुषसिंह की रानी। (देखिए-स्कन्दक मुनि)

(घ) सुनन्दा

चतुर्थ विहरमान तीर्थंकर श्री सुबाहु स्वामी की जननी। (देखिए-सुबाहु स्वामी)

(ङ) सुनन्दा

प्रभु पार्श्वनाथ की प्रमुख श्राविकाओं में एक। —समवायांग

(च) सुनन्दा

धनगिरि की अर्द्धांगिनी और जैन धर्म के महान प्रभावशाली आचार्य वज्रस्वामी की माता। सुनन्दा

दृढ़धर्मानुरागिणी श्राविका थी। उसके पति धन ने जब उससे प्रव्रज्या की अनुमति मांगी, उस समय वह गर्भवती थी। जिनानुराग/धर्मश्रद्धा की प्रबलता के कारण उसने अपने पति को मुनिदीक्षा धारण करने की अनुमति प्रदान कर दी।

यथासमय उसने पुत्र को जन्म दिया। कहते हैं कि पुत्र को जन्म ग्रहण करने के कुछ समय बाद ही जातिस्मरण ज्ञान हो गया। मातृ-ममत्व से मुक्ति पाने के लिए नवजात शिशु ने अनवरत रोदन प्रारंभ कर दिया। छह मास की अवधि सुनन्दा के लिए छह युगों के समान व्यतीत हुई। आखिर धनगिरि की झोली में पुत्र को रख कर सुनन्दा ने कह दिया कि—पुत्र का दायित्व पिता पर भी होता है, अब वही अपने पुत्र को संभालें। बालक वज्र को जो चाहिए था वह प्राप्त हो गया था। उसने कृत्रिमरोदन बन्द कर दिया। उसका पालन-पोषण जैन संघ की महिलाओं द्वारा हुआ।

कुछ वर्ष बाद अपने तेजस्वी पुत्र को प्राप्त करने के लिए सुनन्दा ने कई प्रयास किए। विवाद राजदरबार तक गया। आखिर बालक वज्र के निर्णयानुसार सुनन्दा को अपने प्रयास में सफलता प्राप्त नहीं हुई। पुत्र के धर्मानुराग को देखकर सुनन्दा भी विरक्त हो गई और उसने भी जिनदीक्षा धारण कर ली। विशुद्ध संयम की परिपालना कर वह सद्गति की अधिकारिणी बनी। (देखिए--वज्रस्वामी)

सुनक्षत्र अणगार

भगवान महावीर का शिष्य जिसे गोशालक ने तेजोलेश्या प्रगट कर भस्म कर दिया था। (देखिए- गोशालक)

सुपार्श्वनाथ (तीर्थंकर)

सप्तम तीर्थंकर। वाराणसी नरेश प्रतिष्ठ और उनकी रानी पृथ्वी के आत्मज। सुपार्श्व ने सुदीर्घ काल तक राज्य का संचालन किया और बाद में दीक्षित होकर केवलज्ञान प्राप्त कर धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया। भगवान के 95 गणधर थे जिनमें विदर्भ नामक गणधर प्रमुख थे।

सुन्दरबाहु के भव में भगवान ने तीर्थंकर गोत्र का अर्जन किया था। वहां से ग्रैवेयक देवलोक का एक भव करके सुपार्श्वनाथ के रूप में जन्मे। पांच सौ मुनियों के साथ भगवान सम्मेद शिखर से सिद्ध हुए।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र 4

सुप्रतिबुद्ध (आचार्य)

कल्पसूत्र स्थविरावली के अनुसार आचार्य सुहस्ती के बाद गणाचार्य के रूप में सुप्रतिबुद्ध का नामोल्लेख हुआ है। जिस एक और आचार्य के नाम का वहां उल्लेख हुआ है वे हैं आचार्य सुस्थित। वस्तुतः आर्य सुप्रतिबुद्ध और आर्य सुस्थित दोनों सहोदर और गुरु बन्धु थे। वे काकन्दी नगरी के राजकुमार और आचार्य सुहस्ती के शिष्य थे। दोनों में अतिशय प्रीति थी। दोनों मुनिवर साथ-साथ तप-जप करते थे और साथ-साथ विचरण करते थे। महाराज खारवेल द्वारा कुमारगिरि पर्वत पर आहूत महाश्रमण सम्मेलन में ये दोनों मुनिवर उपस्थित हुए थे। बन्धुद्वय आचार्य प्रवर ने बहुत वर्षों तक श्रमण संघ को सफल नेतृत्व प्रदान किया और जिनशासन की प्रभूत प्रभावना की।

—कल्पसूत्र स्थविरावली

सुप्रतिष्ठित गाथापति

श्रावस्ती नगरी के एक धनी गाथापति जो भगवान महावीर के पास प्रव्रजित हुए और सत्तावीस वर्ष का संयम पालकर विपुलाचल से सिद्ध हुए।

—अन्तगड़ सूत्र, वर्ग 6, अध्ययन 13

सुप्रभ (बलदेव)

चतुर्थ बलेदव। (देखिए-पुरुषोत्तम वासुदेव)

(क) सुप्रभा

चम्पानगरी निवासी श्रेष्ठि पुत्र गुणभद्र की अर्द्धांगिनी, नारी के समस्त गुणों में दक्षा, सुरूपा और सुशीला नारी। एक बार गुणभद्र को व्यापारिक-कार्य के लिए विदेश जाना पड़ा। पति की अनुपस्थिति में सुप्रभा पर एक विकट कष्ट आन पड़ा। उसी नगरी के रहने वाले भवभूति नामक एक कामी-कपटी क्षत्रिय युवक ने एक क्लीव को अपना सहयोगी बनाकर सुप्रभा को अपनी पत्नी बनाने का षडयन्त्र रचा। षडयन्त्र के अनुसार क्लीव ने एक बन्द रथ में बैठकर नारी स्वर में नगर भर में यह दुष्प्रचार कर दिया कि वह गुणभद्र वणिक की पत्नी सुप्रभा है, वह स्वेच्छा से अपने पति का त्याग कर आज से सातवें दिन भवभूति को अपने पति के रूप में स्वीकार करेगी। क्योंकि रथ चारों ओर से बन्द था इसलिए लोग सत्य को नहीं जान सके और सुप्रभा के निर्णय पर अवर्णवाद करने लगे। उक्त सूचना जब तक सुप्रभा के कानों तक पहुंची तब तक जन-जन के मुख पर उसके लिए घृणा व्याप्त हो चुकी थी। पति की अनुपस्थिति में सुप्रभा के लिए उक्त दुःसह परिस्थिति से पार पाना सरल नहीं था। उसने अपने माता-पिता का आश्रय लिया पर उनसे भी उसे फटकार ही मिली। आखिर अपने पति के एक विश्वस्त मित्र को उसने अपने पति के पास भेजा। वस्तुस्थिति से परिचित बनकर गुणभद्र अविलम्ब अपने नगर में पहुंचा। उसने सुप्रभा को धैर्य बंधाया। रात्रि के अन्धकार में अपनी पत्नी को साथ लेकर वह नगर नरेश यशोवर्म के पास पहुंचा। यशोवर्म एक बुद्धिमान और न्याय परायण नरेश थे। सुप्रभा के दर्शन-वचन से ही वे विश्वस्त हो गए। दूसरे ही दिन उन्होंने अद्भुत बुद्धिमत्ता से क्लीव को रथ से खींच लिया। षडयन्त्र के अनावृत्त होते ही नागरिक सत्य से परिचित बन गए। सुप्रभा का यश सर्वत्र फैल गया। क्लीव और भवभूति को अपमानित, तिरस्कृत और ताड़ित करके राजा ने अपने देश से निर्वासित कर दिया।

(ख) सुप्रभा

महाराज दशरथ की रानी और शत्रुघ्न की जननी। (देखिए-दशरथ)

(ग) सुप्रभा

द्वारिका नगरी के महाराज रुद्र की पटरानी। (देखिए-स्वयंभू वासुदेव)

सुबाहु कुमार

महावीर युगीन हस्तिशीर्ष नगर के राजा महाराज अदीनशत्रु और उनकी रानी धारिणी का पुत्र, एक अत्यन्त सुकुमार और सुरूप राजकुमार। पुष्पचूला प्रमुख उसकी पांच सौ रानियां थीं जिनके साथ रहकर वह देव-दुर्लभ सुखों का भोगोपभोग करता था। एक बार जब भगवान महावीर अपने मुनि संघ के साथ हस्तिशीर्ष नगर में पधारे तो माता-पिता और पत्नियों के साथ सुबाहु कुमार प्रभु के दर्शनों के लिए गया। सुबाहु की सुकुमारता और सुरूपता देखकर गौतम स्वामी सहित सभी अणगार सुप्रसन्न बन गए। अज्ञ-सुज्ञ श्रमणों के मनोभावों के पारखी इन्द्रभूति गौतम ने प्रभु से प्रश्न किया, प्रभु ! सुबाहु कुमार की सुकुमारता और सुरूपता देखकर हम श्रमण भी अत्यन्त हर्ष अनुभव कर रहे हैं। सुबाहु कुमार ने ऐसा क्या पुण्य किया है कि वह निर्मोही अणगारों का भी प्रीतपात्र बन रहा है?

भगवान ने फरमाया, यह सुपात्रदान का सुफल है। सुबाहु कुमार पूर्वजन्म में हस्तिनापुर नगर का सुमुख नामक गाथापति था। वह श्रमणोपासक था और श्रमणों की सेवा भक्ति का विशेष ध्यान रखता था। एक बार उसने धर्मघोष स्थविर के शिष्य सुदत्त अणगार को अत्यन्त उच्च भावों से आहारदान दिया था। उसके अत्युच्च भावों से अभिभूत बनकर देवताओं ने उसके गृहांगन में साढ़े बारह करोड़ स्वर्ण मुद्राएं बरसाई थीं तथा पंचदिव्य प्रगट किए थे। परमोच्च भावों से दिए गए उस सुपात्र दान का फल आज भी सुबाहु कुमार भोग रहा है। इसीलिए यह अणगारों की भी प्रीति का पात्र है।

अपने पूर्वभव की कथा सुनकर सुबाहु कुमार अति आनन्दित हुआ। उसने संसार त्याग कर आर्हती दीक्षा धारण कर ली। उत्कृष्ट चारित्र की आराधना करके वह प्रथम स्वर्ग में गया। भविष्य में महाविदेह क्षेत्र से निर्वाण पद प्राप्त करेगा। —सुखविपाक सूत्र -1

सुबाहु स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

चतुर्थ विहरमान तीर्थंकर। जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह की वपु विजय में वीतशोका नामक नगरी में प्रभु का जन्म हुआ। महाराज निषढ़ और महारानी सुनन्दा आपके माता और पिता हैं। यौवन वय में प्रभु का विवाह किंपुरुषा नामक राजकन्या से हुआ। तिरासी लाख पूर्व की आयु तक प्रभु ने राज्य किया। तदनन्तर प्रव्रजित बने। साधना से केवली बने। तीर्थ स्थापना कर तीर्थंकर बने। वर्तमान में प्रभु वपु विजय में धर्मोद्योत करते हुए विहरणशील हैं। प्रभु का पूर्ण आयुष्य चौरासी लाख पूर्व का है।

(क) सुबुद्धि

क्षितिप्रतिष्ठित नगर का रहने वाला एक सज्जन गृहस्थ। दुःसंयोग से उसकी मैत्री उसी नगर में रहने वाले दुर्बुद्धि नामक युवक से हो गई जो अपने नाम के अनुरूप ही दुर्बुद्धि और दुष्ट स्वभावी था। किसी समय दोनों मित्र व्यापार के लिए गए। वहां पर उनको भूमि में गड़ा हुआ खजाना मिल गया। उस खजाने को लेकर वे अपने नगर की दिशा में चल दिए। पर दुर्बुद्धि अपने स्वभाव वश उस धन पर अकेला ही अधिकार करना चाहता था। उसने युक्ति लड़ाते हुए सुबुद्धि से कहा कि हमें इस धन को वृक्ष की जड़ में छिपा देना चाहिए और समय-समय पर एक साथ मिलकर आवश्यकतानुसार धन ले लेना चाहिए। सरल हृदयी सुबुद्धि ने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। उन्होंने आवश्यकतानुसार सौ-सौ स्वर्ण मुद्राएं अपने पास रखकर शेष धन को एक वृक्ष के मूल में छिपा दिया और नगर में आ गए।

एक रात्रि में अवसर साधकर दुर्बुद्धि ने पूरा खजाना वृक्षमूल से निकाल लिया और अपने घर में लाकर छिपा दिया। कुछ दिन बीतने पर सुबुद्धि को धन की आवश्यकता पड़ी तो वह दुर्बुद्धि को साथ लेकर वृक्ष के पास पहुंचा, पर खोजने पर भी वृक्षमूल में धन प्राप्त नहीं हुआ। दुर्बुद्धि ने रोने-पीटने का स्वांग रचा और धन-अपहरण का दोषारोपण सुबुद्धि पर मढ़ दिया। दोनों में विवाद बढ़ा और बात राजा तक पहुंच गई। जब राजा भी किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुंच पाया तो दुर्बुद्धि ने राजा को एक उपाय सुझाया, महाराज! मनुष्य रूप में तो मेरे पास ऐसा कोई गवाह नहीं है, पर स्वयं वह वृक्ष मेरी गवाही दे सकता है कि धन सुबुद्धि ने ही अपहरण किया है। इस बात पर सुबुद्धि भी सहमत हो गया कि यदि वृक्ष बोलेगा और वह जो निर्णय देगा वह उसे भी मान्य होगा। राजा ने दूसरे दिन वृक्ष से ही निर्णय कराने का आदेश देकर उन दोनों को विदा कर दिया।

दुर्बुद्धि अपने घर पहुंचा। उसके पिता का नाम भद्र था जो स्वभाव से सरल था। दुर्बुद्धि ने जैसे-तैसे

अपने पिता को इस बात के लिए मना लिया कि वह वृक्ष के कोटर में छिपकर सुबुद्धि के विरुद्ध फैसला सुनाएगा। दुर्बुद्धि रात्रि में ही अपने पिता को वृक्ष के कोटर में बैठा आया।

उधर सुबुद्धि को अपनी सत्यता पर पूर्ण भरोसा था। उसे विश्वास था कि यदि वृक्ष पर देवता का वास भी होगा तो वह भी मिथ्या नहीं बोलेगा। दूसरे दिन राजा सहित सैकड़ों लोग वृक्ष के पास पहुंचे। दुर्बुद्धि ने स्वांगपूर्वक वृक्ष की पूजा अर्चना की और कहा, हे वृक्ष देव ! न्याय करो और बताओ कि धन का अपहरण किसने किया है। वृक्ष से स्वर उभरा सुबुद्धि ने।

राजा सुबुद्धि पर बहुत क्रोधित हुआ। उपस्थित जनसमुदाय भी सुबुद्धि को बुरा-भला कहने लगा। इससे सुबुद्धि ने कहा, महाराज ! मुझे भी अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अधिकार दिया जाए। राजा ने उसे अधिकार प्रदान कर दिया। सुबुद्धि ने कहा, मैंने वृक्ष के कोटर में ही धन छिपाया है, अभी वह धन आपके समक्ष प्रस्तुत करता हूं। कहकर सुबुद्धि वृक्ष के पास गया और उसने कोटर में हाथ डालकर वस्तुस्थिति का ज्ञान कर लिया। उसने कोटर में छिपे हुए भद्र सेठ की गर्दन-पकड़कर उसे बाहर खींचा। भद्र सेठ पीड़ा से तिलमिलाता और चिल्लाता हुआ कोटर से बाहर आ गया। सुबुद्धि ने कहा, महाराज! ये है वृक्ष देवता जिसने मेरे विरुद्ध गवाही दी है।

दुर्बुद्धि के पगतलों की जमीन खिसक गई। दूध का दूध और पानी का पानी हो चुका था। राजाज्ञा पर सैनिकों ने दुर्बुद्धि के घर में छिपाया हुआ धन खोज निकाला। राजा ने वह धन सुबुद्धि को प्रदान किया और दुर्बुद्धि को अपमानित और ताड़ित कर अपने राज्य से निकाल दिया।

सुबुद्धि ने उस धन को जनकल्याण में लगा दिया और धर्मध्यान पूर्वक जीवन यापन कर सद्गति को प्राप्त हुआ।

(ख) सुबुद्धि

क्षितिप्रतिष्ठ नगर के मंत्री का पुत्र। सुबुद्धि एक कोमल हृदय कुमार था। लोक सेवा में वह विशेष रुचिशील था। भवान्तर में वह भगवान ऋषभ के पुत्र बाहुबली के रूप में जन्मा और अपूर्व बलशाली बना।

(ग) सुबुद्धि

अवन्ती नगरी के महाराज जितशत्रु का प्रधान। (देखिए-अतूंकारी भट्टा)

(घ) सुबुद्धि

ऋषभकालीन हस्तिनापुर का एक श्रेष्ठी जिसने यह स्वप्न देखा था कि श्रेयांस कुमार किरणों से रहित होते हुए सूर्य को पुनः किरणों से सहित कर रहा है। दूसरे ही दिन श्रेयांस कुमार ने एक वर्ष से निराहारी भगवान ऋषभदेव को भिक्षा दी और सुबुद्धि श्रेष्ठी का स्वप्न फलित हो गया।

(ङ) सुबुद्धि (प्रधान)

चम्पानगरी के राजा जितशत्रु का अत्यन्त चतुर, तत्वज्ञ और जिनोपासक मंत्री। उसने अपनी तत्वज्ञ दृष्टि से राजा को भी तत्वज्ञ बना दिया था। मन्त्री की तत्वपरायणता के दो दृष्टान्त सुश्रुत हैं–

एक बार राजा ने भोज दिया। सुस्वादिष्ट भोजन की सभी मेहमानों ने प्रशंसा की। पर राजा तो सुबुद्धि के मुख से भोजन की प्रशंसा सुनने को उतावला बन रहा था। उसने मंत्री से कहा, तुम भोजन की प्रशंसा नहीं कर रहे हो, क्या तुम्हें भोजन अच्छा नही लगा? मंत्री ने कहा, महाराज ! इसमें अच्छा लगने और अच्छा

न लगने की क्या विशेष बात है। यह तो पुद्गल का स्वभाव है। वह शुभ और अशुभ रूपों में बदलता रहता है। सुनकर राजा मौन हो गया। वह सुबुद्धि की बात की गहराई को नहीं परख पाया।

फिर किसी दिन राजा और मंत्री घूमने निकले। खाई में संचित अशुचि जल से तीव्र दुर्गन्ध प्रकट हो रही थी। राजा नाक-भौं सिकोड़ने लगा, पर मंत्री ने वैसा नहीं किया। राजा के पूछने पर मंत्री ने पुनः वही बात दोहराई कि यह तो पुद्गल का स्वभाव है, वह शुभ से अशुभ में तथा अशुभ से शुभ में बदलता रहता है। राजा ने कहा, तुम अपने कथन को सत्य सिद्ध करके बताओ। मंत्री ने कहा, समय आने दो महाराज ! मैं अपने कथ्य को सत्य सिद्ध करके बता दूंगा।

मंत्री ने अपने विश्वस्त अनुचरों से उस खाई का दुर्गन्धित पानी मंगवाया। विविध प्रयत्नों से उस पानी को साफ करवाया। सुगन्धित पदार्थों से उसे सुस्वादिष्ट और सुवासित बनाकर भोजन के समय राजा को पिलाया। वह जल राजा को बहुत मधुर लगा। उसने कहा, इतना बढ़िया जल मुझे पहले क्यों नहीं पिलाया गया?

इस पर मंत्री ने जल का पूरा रहस्य उद्घाटित कर दिया। सुनकर राजा दंग रह गया। मंत्री का तत्वदर्शन शनै-शनै राजा का जीवन-दर्शन बन गया। अंतिम अवस्था में सुबुद्धि प्रधन और राजा ने संयम धारण कर परमपद को प्राप्त किया। —ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र 12

सुभगा (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 8

सुभद्र सेठ

कंस का पालक पिता, शौरीपुर का एक प्रतिष्ठित श्रेष्ठी।

(क) सुभद्रा

राजगृहवासी गोभद्र सेठ की पुत्री और शालिभद्र की बहन। सुभद्रा का विवाह धन्य सेठ के साथ हुआ था। जब उसे ज्ञात हुआ कि उसका भाई शालिभद्र प्रतिदिन एक-एक पत्नी को समझाकर बत्तीसवें दिन दीक्षा ले लेगा तो वह बहुत उदास हो गई। जब वह अपनी अन्य सात सपत्नियों के साथ अपने पति को स्नान करा रही थी तो भाई के सम्भावित विरह की कल्पना से उसकी आंखों में आंसू आ गए। पति के पूछने पर उसने उन्हें पूरी बात कह सुनाई जिसे सुनकर धन्य जी ठहाका लगा कर हंसे और बोले कि उसका भाई तो कायर है, संयम ही लेना है तो पत्नियों को समझाने के बहाने से बत्तीस दिन रुकने का अर्थ ही क्या है? पति के मुख से भाई के लिए अपमान जनक टिप्पणी सुनकर सुभद्रा को क्रोध आ गया और उसने कह दिया कि कायर उसका भाई नहीं, वे स्वयं हैं जो आठ-आठ पत्नियों के अनुरागी बने हैं। सुभद्रा की बात सुनते ही धन्य जी अर्द्धस्नान के मध्य ही उठ खड़े हुए और बोले, आज से तुम आठों मेरी पत्नियां नहीं, बहनें हो। कहकर वे शालिभद्र के पास पहुंचे और उन्हें साथ लेकर भगवान महावीर के पास जाकर दीक्षित हो गए।

सुभद्रा ने भी बाद में दीक्षा लेकर आत्मकल्याण किया। धन्य जी की शेष सात पत्नियां भी दीक्षित हुईं।

(ख) सुभद्रा

महाराज श्रेणिक की रानी। शेष परिचय नन्दावत्। (देखिए-नन्दा) —अन्तगडसूत्र वर्ग 7, अध्ययन 10

(ग) सुभद्रा

ऋषभ कालीन, विद्याधर विनमि की पुत्री जो भरत चक्रवर्ती की स्त्री रत्न थी।

(घ) सुभद्रा

विजयमित्र सेठ की पत्नी। (देखिए-उज्झित कुमार)

(ङ) सुभद्रा

राजगृही के निकटस्थ श्रवण ग्राम के मंखली नामक चित्र-फलक दिखाकर उदरपोषण करने वाले गृहस्थ की भार्या और गोशालक की माता। (देखिए-गोशालक)

(च) सुभद्रा

अमरपुर नगर के धनाढ्य सेठ की पुत्री, सुलस कुमार की पतिव्रता पत्नी और एक धर्मानुरागिणी युवती। (देखिए-सुलस कुमार)

(छ) सुभद्रा

श्रीकृष्ण की बहन जिसका विवाह पाण्डुपुत्र अर्जुन के साथ हुआ था। अभिमन्यु सुभद्रा का ही अंगजात था। सुभद्रा एक धर्मनिष्ठ और पतिपरायणा नारी थी। —जैन महाभारत

(ज) सुभद्रा (महासती)

सोलह महासतियों में से एक जिसका चरित्र जैन पौराणिक साहित्य के पृष्ठों पर स्वर्णिम अक्षरों में उट्टंकित हुआ है। सुभद्रा वसन्तपुर नगर के जैन धर्मावलम्बी श्रेष्ठी जिनदास की पुत्री थी। उसकी माता का नाम तत्त्वमालिनी था। जिनदास वसन्तपुर नरेश महाराज जितशत्रु के मन्त्री थे। पर मन्त्री होना उनकी वास्तविक पहचान न थी। उनकी वास्तविक पहचान थी दृढ़धर्मी जैन श्रावक होना। उन्होंने यह प्रण किया था कि वे अपनी पुत्री का विवाह जैन परिवार में ही करेंगे।

सुभद्रा बचपन से ही धार्मिक संस्कारों से सम्पन्न कन्या थी। जब वह युवा हुई तो उसका रूप और सौन्दर्य चहुं ओर चर्चित बन गया। उससे विवाह करने के लिए अनेक श्रीसम्पन्न युवक ललचाए। असंख्य वैवाहिक प्रस्ताव जिनदास के द्वार पर आए। पर जिनदास अपनी प्रतिज्ञा पर अडिग थे। सुभद्रा के रूप पर सम्मोहित चम्पानगरी का युवक बुद्धदास किसी भी भांति सुभद्रा से विवाह करना चाहता था। उसने जिनदास की शर्त पूरी करने के लिए कपट पूर्वक जैन धर्म अपना लिया। वह बढ़-चढ़कर जैन श्रमणों की सेवा करने लगा और सबसे आगे रहकर सामायिक-पौषधादि की आराधना करने लगा। वह जिनदास को अपने कपट जाल में फंसाने में सफल हो गया। बुद्धदास को सच्चा श्रमणोपासक मानते हुए जिनदास ने अपनी पुत्री सुभद्रा का विवाह उसके साथ सम्पन्न कर दिया। सुभद्रा बहु बनकर बुद्धदास के घर में आई तो प्रथम दिन ही वह सत्य जान गई कि उसके साथ धोखा हुआ है। पर वह तो भारतीय सन्नारी थी जो जीवन में एक ही बार और एक ही पुरुष को अपने जीवन साथी के रूप में चुनती है। उसने भी बुद्धदास को अपने पतिरूप में चुन लिया था। उसका चिन्तन था—धर्म तो व्यक्तिगत चुनाव है। उसके पति अन्य धर्म की आराधना कर सकते हैं और वह अपने स्वीकृत धर्म की आराधना कर सकती है। परन्तु बुद्धदास तथा उसके परिवार का यह आग्रह था कि सुभद्रा भी उसी धर्म को माने जिस धर्म को वे मानते हैं और जिनधर्म का परित्याग कर दे। उन्होंने सुभद्रा पर इसके लिए दबाव भी बनाया पर सुभद्रा ने जिनधर्म को छोड़ने से विनम्रता पूर्वक इन्कार

कर दिया। परिणामतः उसे पति, सास और ननद की प्रताड़नाएं सहनी पड़ीं। ये प्रताड़नाएं निरन्तर बढ़ती गईं। पर सुभद्रा इसे अपने कर्म फल के रूप में देखती और धर्माराधना में व्यस्त रहती।

सास और ननद सुभद्रा को लांछित करने के लिए अवसर की ताक में रहने लगी। एक दिन उन्हें यह अवसर इस प्रकार मिला—एक जिनकल्पी मुनि एक दिन भिक्षा के लिए सुभद्रा के द्वार पर आए। सुभद्रा ने भक्तिपूर्वक मुनि को आहार बहराया। आहार बहराने के पश्चात् सुभद्रा ने ऊपर देखा तो उसे ज्ञात हुआ कि मुनि की आंख में तृण गिरा हुआ है। मुनि की आंख सूजी हुई थी और ठीक से खुल भी नहीं रही थी। सुभद्रा जानती थी कि जिनकल्पी मुनि किसी भी स्थिति में अपने शरीर की संभाल नहीं करते हैं। उसका हृदय करुणा से भर गया । उसने पूरे विवेक और कुशलता से मुनि का चेहरा अपने हाथों में पकड़ा और अपनी जीभ से मुनि की आंख में गिरा हुआ तृण निकाल दिया। ऐसा करते हुए सुभद्रा के ललाट की बिन्दी मुनि के मस्तक पर लग गई। इस दृश्य को सुभद्रा की सास और ननद ने देख लिया। उन्होंने गली, मोहल्ले और पूरे नगर में सुभद्रा का अपयश फैला दिया। मुनि के भाल पर लगी सुभद्रा की बिन्दी को उन्होंने अपनी बात के प्रमाण के रूप में लोगों को दिखाया। पूरे नगर में सुभद्रा और जैन धर्म का अपयश फैल गया।

महासती सुभद्रा के लिए वे प्रलय के पल थे। वह अपने अपयश को तो सहन कर सकती थी पर जिनधर्म पर लगा कलंक वह सह न सकी। कुछ देर तो उसे कुछ न सूझा। वह आंसुओं और पीड़ा की प्रतिमा बनी रही। पर कौन था वहां जो उसे धैर्य देता? आखिर उसने अपने आत्मबल को जगाया। वह अपने कक्ष में चली गई। अखण्ड समाधि लगाते हुए और महामंत्र नमोकार को अपनी समाधि का सम्बल बनाते हुए उसने प्रण कर लिया कि जब तक उसके धर्म पर लगा कलंक धुल नहीं जाएगा वह समाधि नहीं खोलेगी। महासती निरन्तर तीन दिन तक उसी अवस्था में बैठी रही। देवासन प्रकम्पित बन गए। और चौथे दिन जब चम्पापुरी के लोग निद्रा से जागे तो उन्होंने अपने को अपनी ही नगरी में कैद पाया। नगर द्वार खोले से न खुले। राजाज्ञा से मत्त हाथियों की टक्कर से भी द्वार न तोड़े जा सके। पूरे नगर में भय व्याप्त हो गया। नगर द्वारों को खोलने का कोई उपाय किसी के पास न था। उस समय एक देववाणी हुई—नगर के द्वार तभी खुल सकते हैं जब कोई सती कच्चे सूत से चलनी बांध कर कुएं से जल निकाले और उस जल के छींटे द्वारों पर दे।

राजा ने नगर में घोषणा करवा दी कि कोई सती आगे आकर इस कार्य को करे और नागरिकों का संकट मिटाए। जो सती ऐसा करेगी उसे राजकीय सम्मान दिया जाएगा।

नगर के प्रमुख कुएं पर महिलाओं की भीड़ लग गई, पर कोई भी महिला कच्चे सूत से चलनी बांधकर कुएं से जल न निकाल सकी। कुआं चलनियों से भर गया। इससे सब ओर निराशा छा गई। उस समय महासती सुभद्रा ने अपनी सास से कुएं पर जाने की आज्ञा मांगी। सास ने सुभद्रा को जली-कटी सुनाई। परन्तु सुभद्रा को अपने शील पर पूरा भरोसा था। इस अवसर को उसने अपने धर्म की पवित्रता और उच्चता को सिद्ध करने का सुप्रसंग माना। वह पूरे आत्मविश्वास से कुएं पर पहुंची। नगर की महिलाएं सुभद्रा को कुएं पर देखकर उसका उपहास उड़ाने लगीं। पर किसी की बात की परवाह न करते हुए सुभद्रा ने कच्चे सूत के धागे से चलनी को बांधकर कुएं में उतार दिया। उसने गंभीर घोष पूर्वक घोषणा की—यदि मेरा शील अक्षुण्ण है और मेरा जिनधर्म सच्चा है तो मैं इस कार्य में सफलता प्राप्त करूं।

ऐसा कहकर सुभद्रा ने कच्चे सूत से बंधी चलनी को कुएं से बाहर खींचा। उपस्थित नगर-नरेश सहित हजारों नागरिक यह देखकर दंग रह गए कि सुभद्रा की चलनी जल से पूर्ण थी। सुभद्रा ने क्रमशः नगर द्वारों

पर जाकर जल के छींटे दिए और बिना प्रयास से ही नगर-द्वार खुल गए। आकाश में रहे हुए देवताओं ने सुभद्रा पर पुष्प बरसाए और उसके शीलधर्म की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की।

इस घटना से नगर के आबालवृद्ध सुभद्रा की जय-जयकार करने लगे। राजा ने सुभद्रा को प्रणाम किया और उसके सतित्व की प्रशस्तियां कीं।

अपनी प्रशंसा से निरपेक्ष सुभद्रा ने नगर के तीन द्वारों को खोल दिया। चौथे दरवाजे को बिना खोले ही वह अपने घर लौटने लगी। तब नगर के राजा ने सुभद्रा से प्रार्थना की—बहन ! नगर के चौथे दरवाजे को भी खोलकर नागरिकों पर उपकार कीजिए। सुभद्रा ने कहा, महाराज ! इस दरवाजे को बन्द ही रहने दिया जाए। भविष्य में यदि किसी सती के सतित्व पर कलंक आएगा तो वह इस दरवाजे को खोल कर अपनी पवित्रता की परीक्षा दे सकेगी।

सुभद्रा की इस बात को सुनकर नगर जन भाव-विह्वल हो गए। सुभद्रा की सास, ससुर, ननद और पति सुभद्रा के शील और जिनधर्म की महिमा को साक्षात् देख चुके थे। उन सभी ने सुभद्रा से क्षमा मांगी और उस दिन के बाद वह पूरा परिवार तथा पूरा नगर जिनानुरागी बन गया।

सुभूम (चक्रवर्ती)

हस्तिनापुर नरेश अनन्तवीर्य का पौत्र और कृतवीर्य का पुत्र। बारह चक्रवर्तियों की श्रृंखला का अष्टम चक्रवर्ती। त्रिषष्टि शलाकापुरुष चरित्र के अनुसार तथा जैन पुराणों के अनुसार उसने प्रतिशोध से भरे हृदय के साथ अपने जीवन का अधिकांश भाग जीया। प्रतिशोध के प्रत्येक पड़ाव पर प्राप्त होने वाली सफलता ने उसे अत्यधिक अहंकारी बना दिया। जैन कथा साहित्य के उल्लेख के अनुसार सुभूम का पिता एक दृष्टि से जमदग्नि ऋषि का पुत्र तथा परशुराम का भाई था। जमदग्नि ऋषि की साधना से उत्पन्न दो फलों को ऋषि-पत्नी रेणुका और रेणुका की बहन जो हस्तिनापुर नरेश अनन्तवीर्य की रानी थी ने खाया और फलस्वरूप ऋषि पत्नी ने परशुराम और उसकी बहन ने कृतवीर्य को जन्म दिया। परशुराम का जन्मना नाम राम था, पर एक विद्याधर की सेवा से उसे परशु विद्या मिलने से तथा निरन्तर परशु धारण करने से वह परशुराम नाम से ख्यात हुआ। किसी समय परशुराम की माता रेणुका अपनी बहन से मिलने हस्तिनापुर गई, जहां राजा अनन्तवीर्य से उसके अनुचित सम्बन्ध स्थापित हो गए और उसे एक पुत्र भी हो गया। पुत्र सहित लौटी माता को देखकर परशुराम के क्रोध की सीमा न रही। उसने सहोदर सहित माता का वध कर दिया। यहां से परशुराम हिंसक हो गया। रेणुका के वध का समाचार सुनकर अनन्तवीर्य ने जमदग्नि और परशुराम के आश्रम तुड़वा दिए। परशुराम ने क्रोधित बनकर अनन्तवीर्य को मार डाला। अनन्तवीर्य के पुत्र कृतवीर्य ने जमदग्नि ऋषि का वध कर दिया। परशुराम पिता के वध के समाचार से विह्वल बन गया। उसने कृतवीर्य की तो हत्या की ही, साथ ही पृथ्वी को क्षत्रियहीन करने का प्रण भी कर लिया। कृतवीर्य की रानी तारा उन दिनों गर्भवती थी। अपने गर्भस्थ शिशु की रक्षा के लिए वह वन में चली गई। एक तापस के आश्रम में उसे शरण मिली, वहीं उसने एक पुत्र को जन्म दिया जिसका नाम सुभूम रखा गया।

परशुराम क्षत्रियों का शत्रु बन बैठा था। कहते हैं कि उसने सात बार पृथ्वी को क्षत्रियहीन कर दिया था। सुभूम तापस के आश्रम में पल कर बड़ा हुआ। तापस ने उसके मस्तक की रेखाओं का अध्ययन कर भविष्यवाणी की कि यह चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा। मेघनाथ नामक विद्याधर ने तापस की बात जानी तो उसने सुभूम के साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया। एक दिन जब सुभूम को माता से यह पता चला कि उसके

पिता और दादा की हत्या परशुराम ने की है तो उसके मन में प्रतिशोध की ज्वालाएं धधकने लगीं। परशुराम से बदला लेने के लिए वह हस्तिनापुर पहुंचा जहां परशुराम ने अपना अधिकार जमाया हुआ था। परशुराम को भी किसी नैमित्तिक ने बताया था कि उस द्वारा क्षत्रियों की दाढ़ाओं से भरा थाल जिस पुरुष के समक्ष आते ही खीर में बदल जाएगा वही पुरुष उसकी हत्या करेगा। अपने हत्यारे की खोज के लिए परशुराम ने एक उपक्रम किया था। उसने एक दानशाला खुलवाई थी और उसके द्वार पर क्षत्रिय-दाढ़ाओं से भरा हुआ थाल रखवा छोड़ा था। उसके गुप्तचर वहां तैनात रहकर उस पुरुष को पहचानने के लिए प्रतिक्षण तैयार रहते थे। परशुराम से प्रतिशोध लेने के लिए सुभूम हस्तिनापुर पहुंचा। वह दानशाला के बाहर से निकला तो उसकी दृष्टि पड़ते ही दाढ़ाओं से भरा थाल खीर से भरे थाल में बदल गया। सुभूम भूखा था। वह जिस सिंहासन वह थाल रखा था उसी सिंहासन पर बैठकर खीर खाने लगा। परशुराम को तत्क्षण सूचना दी गई। परशु लिए हुए परशुराम वहां पहुंचा और उसने सुभूम पर परशु से वार किया। पर परशुराम का पुण्य चुक चुका था। परशु सुभूम का कुछ भी अहित न कर सका। सुभूम के पास कोई शस्त्र न था। उसने उसी थाल को जिसमें उसने खीर खाई थी परशुराम पर फैंका। थाल ने चक्र का काम किया और परशुराम का सिर धड़ से अलग कर दिया। पर इतने से ही सुभूम सन्तुष्ट नहीं हुआ। परशुराम ने सात बार पृथ्वी को क्षत्रिय विहीन किया था, उसी के अनुरूप सुभूम ब्राह्मण-जाति का शत्रु बन गया और कहते हैं कि उसने इक्कीस बार पृथ्वी को ब्राह्मण-हीन किया।

भरतक्षेत्र के षडखण्डों पर विजय पताका फहराकर सुभूम चक्रवर्ती बन गया। पर इससे उसे सन्तुष्टि न हुई। उसने धातकी खण्ड के छह खण्डों पर भी विजय पताका फहराने का संकल्प किया। मंत्रियों और बुजुर्गों ने उसे बहुत समझाया, पर वह अहंकार ही क्या जो किसी की समझ को स्वीकार कर ले। सभी के कहे को असुना कर सुभूम ने अपनी विशाल सेना के साथ लवण समुद्र में अपना चर्मरत्न उतार दिया। नौका के रूप में चर्मरत्न लवण समुद्र की सतह पर तैरने लगा। कहते हैं कि एक हजार देवता चर्मरत्न के रक्षक होते हैं। पर जैसे-जैसे चर्मरत्न लवण समुद्र में आगे बढ़ा क्रमशः सभी देवताओं ने चर्मरत्न की सुरक्षा का दायित्व छोड़ दिया। तब भी चर्मरत्न लहरों पर तैरता रहा। सुभूम ने कहा, उसे धातकीखण्ड विजय के लिए देवताओं के सहयोग की अपेक्षा नहीं है। शूरवीरों को अपने बाहुबल पर भरोसा होता है, किसी के सहयोग पर नहीं। यह मेरे ही पुण्य पराक्रम का फल है कि देवताओं के असहयोगी होते हुए भी मेरा चर्मरत्न लवण समुद्र में आगे बढ़ रहा है। तब एक देवता ने प्रगट होकर कहा, यह तुम्हारा पुण्य पराक्रम नहीं है, बल्कि चर्मरत्न पर अंकित नवकार मंत्र की महिमा का फल है और उसी के बल पर यह चर्मरत्न पानी पर तैर रहा है। अहंकारी सुभूम ने अंकित नवकार मंत्र पर तलवार से वार किया जिससे चर्मरत्न में छिद्र बन गया। पलक झपकते ही सुभूम अपनी विशाल सेना सहित लवण समुद्र के गर्भ में समा गया और मरकर सातवीं नरक में गया।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र 6/4

सुमंगल राजा

सुमंगल बसन्तपुर नगर के महाराज जितशत्रु की महारानी अमरसुन्दरी का अंगजात था। वह एक सर्वांग सुन्दर और तेजस्वी राजकुमार था। राजकुमार सुमंगल का एक मित्र था जिसका नाम सेनक था। सेनक मंत्री का पुत्र था और अपने नाम के अनुरूप ही कुरूप था। अपनी कुरूपता के कारण वह सभी जगह उपहास का पात्र बनता रहता था। राजकुमार सुमंगल भी सेनक का उपहास करता रहता था। इससे सेनक का हृदय गहन ग्लानि से भर गया। एक बार वह चुपके से अपने घर से निकल गया और तापसों के एक

आश्रम में पहुंचा। तापसी प्रव्रज्या धारण कर अज्ञान तप करने लगा। मास-मास के तप करते हुए वह उग्र तपश्चरण में लीन हो गया।

उधर कालक्रम से सुमंगल राजा बन गया। संयोग से सेनक तापस एक बार वसन्तपुर आया। मन्त्रि-पुत्र और तपस्वी होने से वसन्तपुर में सेनक को पर्याप्त सम्मान मिला। राजा को सूचना मिली तो वह भी अपने पूर्व मित्र के दर्शन करने गया। उसने सेनक से बचपन में किए गए उपहास के लिए क्षमापना की और साथ ही प्रार्थना की कि मासखमण का पारणा वे राजमहल में करें। सेनक ने अपनी स्वीकृति दे दी।

मासखमण पूरा हुआ तो सेनक तापस राजमहल के द्वार पर पहुंचा। पर संयोग कुछ ऐसा बना कि राजा उस दिन अकस्मात् अस्वस्थ हो गया। अस्वस्थता के कारण राजा भूल ही गया कि तापस पारणे के लिए आने वाला है। तापस आया और द्वार से ही लौट गया। किसी ने उसकी ओर ध्यान नहीं दिया। तापस अपने स्थान पर पहुंचा और बिना पारणा किए ही उसने द्वितीय मासखमण धारण कर लिया।

राजा स्वस्थ हुआ। उसे तापस के पारणे की स्मृति जगी। जांच करने पर राजा को ज्ञात हुआ कि तापस को बिना पारणा किए ही लौटना पड़ा है। पश्चात्ताप से भरे हृदय के साथ राजा तापस के पास पहुंचा। उसने अनजाने में हुई भूल के लिए क्षमा मांगी और दूसरी बार अपने यहां पारणा करने के लिए तापस की स्वीकृति ले ली।

सेनक तापस का द्वितीय मामखमण पूर्ण हुआ। पर भवितव्यता कुछ ऐसी बनी कि इस बार भी राजा अस्वस्थ हो गया और तापस को बिना पारणा किए ही राजमहल के द्वार से लौट आना पड़ा। अपने स्थान पर लौटकर तापस ने तृतीय मासखमण ग्रहण कर लिया। राजा स्वस्थ हुआ तो उसे तापस के पारणे की बात याद आई। वस्तुस्थिति से परिचित बनकर उसे घोर पश्चात्ताप हुआ। वह तापस के पास पहुंचा और अपने प्रमाद से हुए अपराध के लिए क्षमा-याचना करने लगा। इस बार भी तापस शान्त था और उसने राजा को क्षमा कर दिया। राजा ने पुनः पारणे के लिए निवेदन किया जिसे तापस ने स्वीकार कर लिया।

तापस का मासोपवास पूर्ण हुआ। इस बार भी पूर्व की तरह ही घटना घटी और राजा फिर से अस्वस्थ हो गया। द्वार पर आए तापस को देखकर द्वारपाल भड़क उठे और उन्होंने यह कहते हुए कि जब-जब यह तापस यहां आता है तब-तब महाराज अस्वस्थ हो जाते हैं, तापस को अपमानित करके वहां से भगा दिया। इस अपमान को सेनक तापस सहन नहीं कर पाया। उसके मन में यह विश्वास निर्मित हो गया कि यह राजा की ही चाल है और उस चाल के अन्तर्गत ही राजा उसे अपमानित और प्रताड़ित करने पर तुला हुआ है। उसने मन में संकल्प धारण किया—यदि मेरे तप का बल है तो मैं राजा को मारने वाला बनूं।

भवांतर में राजा सुमंगल राजगृह नरेश श्रेणिक बना और सेनक तापस कोणिक नामक उसका पुत्र बना। पूर्वजन्म के संकल्प के कारण ही कोणिक पितृहत्या का निमित्त बना। (देखिए-श्रेणिक राजा)

(क) सुमंगला

पंचम अरिहंत भगवान सुमतिनाथ की माता और महान बुद्धिमति सन्नारी। (देखिए-सुमतिनाथ तीर्थंकर)

(ख) सुमंगला

भगवान ऋषभदेव की पत्नी। वह भरत चक्रवर्ती आदि निन्यानवे पुत्रों तथा ब्राह्मी नामक पुत्री की माता थी।

(ग) सुमंगला

षष्ठम विहरमान तीर्थंकर श्री स्वयंप्रभ स्वामी की जननी। (देखिए-स्वयंप्रभस्वामी)

सुमणिभद्र

छठे पट्टधर आचार्य संभूतविजय के एक शिष्य। —कल्पसूत्र स्थविरावली

सुमतिचन्द्र

राजगृह के राजा पृथ्वीभूषण का बुद्धिशाली और चारित्र का धनी मंत्री। वह जटिल से जटिल समस्याओं को बातों ही बातों में हल कर देता था। उसकी बुद्धिमत्ता के कारण राजगृह की जनता सुखी और सम्पन्न थी।

अवन्ती नरेश पृथ्वीसेन ने भी सुमतिचन्द्र की बुद्धिमत्ता की प्रशस्तियां सुनीं तो उसने अनेक कठिन प्रश्न सुमतिचन्द्र के समाधानार्थ भेजे। पृथ्वीसेन के प्रत्येक प्रश्न, प्रहेलिका और समस्या का समुचित समाधान सुमतिचन्द्र ने किया। पृथ्वीसेन राजगृह को जीतने की कल्पना अपने हृदय में संजोए बैठा था। मंत्री सुमतिचन्द्र की बुद्धिमत्ता को जान लेने के पश्चात् उसने राजगृह पर आक्रमण का विचार त्याग दिया। क्योंकि पृथ्वीसेन स्वयं एक बुद्धिमान राजा था और वह जानता था कि बुद्धिबल के समक्ष सैन्यबल शीघ्र ही परास्त हो जाता है।

एक बार राजगृह के राजोद्यान में एक मुनि पधारे। मुनि ने मंत्री सुमतिचन्द्र को लक्ष्य करके उपदेश दिया। मुनिश्री ने फरमाया, बुद्धि की उत्कृष्टता का लक्षण है कि उसे तत्वचिन्तन, आत्मकल्याण और परमार्थ में नियोजित किया जाए। मुनि के उपदेश से प्रबुद्ध बन कर सुमतिचन्द्र ने प्रव्रज्या धारण कर ली। महाराज पृथ्वीभूषण ने मंत्री का अनुगमन किया और उसने भी प्रव्रज्या धारण कर ली। तप-संयम का पालन कर दोनों देवलोक में गए ।

कई भवों के बाद मंत्री सुमतिचन्द्र का जीव ही वर्तमान अवसर्पिणी काल के पंचम तीर्थंकर सुमतिनाथ के रूप में अवतरित हुआ।

सुमतिनाथ (तीर्थंकर)

वर्तमान चौबीसी के पंचम तीर्थंकर। विनीता नगरी के विश्रुत महाराज मेघ सुमतिनाथ के पिता थे और महारानी सुमंगलादेवी उनकी माता थी। भगवान जब गर्भ में आए तो एक घटना घटी। एक दिन महाराज मेघ के दरबार में दो महिलाएं न्याय कराने आयीं। उनके साथ एक छोटा सा बालक था। वे दोनों महिलाएं उस बालक पर अपना-अपना अधिकार बता रही थीं। बालक इतना छोटा था कि वह ठीक से बोल नहीं सकता था। साथ ही उसे जन्म से ही उन दोनों महिलाओं का समान प्यार प्राप्त हुआ था। वस्तुतः वे दोनों महिलाएं एक सार्थवाह की पत्नियां थीं। सार्थवाह की मृत्यु के पश्चात् यह विवाद उठा। इसके पीछे का रहस्य यह था कि पुत्रवती माता ही पति के धन की स्वामिनी होने वाली थी। महाराज मेघ और उनके बुद्धिमान मंत्री इस विवाद का हल नहीं निकाल पाए। रानी सुमंगला को इस विवाद का पता चला तो उसने इस विवाद को चुटकियों में सुलझा दिया। उसने दोनों महिलाओं को अपने पास बुलाया और मातृहृदय को पहचानने के लिए विचित्र आदेश दिया कि पुत्र को दो हिस्सों में काटकर एक-एक हिस्सा दोनों को दे दिया जाए, इससे दोनों को पुत्र और पति का आधा-आधा धन मिल जाएगा। नकली मां ने महारानी के न्याय को तत्क्षण

स्वीकार कर लिया परन्तु असली मां का हृदय दहल गया। उसने रोते हुए कहा—महारानी ! मुझे पुत्र नहीं चाहिए। यह इसे ही दे दीजिए पर इसे कटवाइए मत। न्याय हो चुका था। मातृहृदय की तड़प को पहचानकर रानी ने उसे उसका पुत्र दे दिया और नकली मां की भर्त्सना की। महारानी के न्याय को देखकर सब दंग रह गए। सभी ने इसे भावी पुत्र का प्रभाव माना। फलतः भगवान के जन्म लेने पर उनका नाम सुमतिनाथ रखा गया।

युवावस्था में सुमति का अनेक राजकन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया गया। पिता ने उन्हें राजपद प्रदान किया। लम्बे समय तक सुमतिनाथ ने राज्य का संचालन किया। बाद में प्रव्रजित होकर कैवल्य साधकर तीर्थंकर पद पाया। तीर्थ की स्थापना कर उन्होंने जगत कल्याण का महायज्ञ प्रारंभ किया। अन्त में सम्मेदशिखर पर्वत से प्रभु ने निर्वाण पद प्राप्त किया। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

सुमति मंत्री

रत्नपुरी का मंत्री। (देखिए-रत्नशिखर)

सुमतिसागर मुनि

भूत, भविष्य और वर्तमान को अपने ज्ञानबल से देखने में समर्थ एक मुनि। स्वाध्याय, ध्यान और तप की निरन्तर साधना से मुनि आंखें मूंद कर भूत और भविष्य को अक्षरशः देख लेते थे। एक बार वे भिक्षा के लिए एक युवा क्षत्राणी के द्वार पर गए जो आंसुओं में डूबी गृहद्वार पर बैठी थी। उसे देखकर मुनि का हृदय करुणा से भीग गया और उन्होंने उसके आंसुओं का कारण पूछा। युवा क्षत्राणी जिसका नाम सुभामा था ने बताया, महाराज! मेरे पति छह मास से युद्ध में गए हैं। तब से उनकी ओर से कोई सूचना नहीं है। यही मेरे आंसुओं का कारण है। मुनि ने आंखें मूंदी और वस्तुस्थिति को जानकर बोले, सुभगे! तुम्हारा पति विजयश्री का वरण करके कल दोपहर से पहले ही लौट आएगा।

सुभामा गद्‌गद बन गई। उसने पति आगमन की प्रसन्नता में पूरा घर साफ किया, शैया सजाई और शृंगार करके सांकेतिक समय से पूर्व ही द्वार पर आ बैठी। उसका पति आया। पत्नी को सुशृंगारित देखकर वह दुराशंका से ग्रस्त बन गया। उसकी भृकुटी टेढ़ी हो गई। उसने पत्नी से गरज कर पूछा कि वह किसकी प्रतीक्षा में शृंगार किए बैठी है। सुभामा पति का प्रचण्ड रूप देखकर क्षणभर के लिए सहम गई। पर उसके हृदय में पाप का कण भी नहीं था इसलिए वह भयभीत नहीं हुई। उसने मुनि की भविष्यवाणी की बात उसे बताई और स्पष्ट किया कि मेरा शृंगार मेरे पति के लिए ही है।

क्षत्रिय युवक को विश्वास नहीं हुआ। वह मुनि के पास पहुंचा और बोला, महाराज! तुमने ज्ञान बल से मेरा आगमन जान लिया, अब अपने ज्ञानबल से यह भी जानकर बताओ कि मेरी इस घोड़ी के गर्भ में बछेड़ा है या बछेड़ी? मुनि ने संदेह निवारण की दृष्टि से स्पष्ट कर दिया कि उसकी घोड़ी के गर्भ में बछेड़ा है। क्रोधान्ध क्षत्रिय ने तलवार के तीव्र प्रहार से घोड़ी का उदर चीर दिया। घोड़ी के उदर से बछेड़ा ही निकला जो क्षणभर बाद ही घोड़ी के साथ ही दम तोड़ गया। क्षत्रिय का संदेह निवारण हो गया। पर इस घटना से मुनि का अन्तरंग गहन पश्चात्ताप से पूर्ण बन गया। उन्होंने अपने आपको ही दो पञ्चेन्द्रिय जीवों की हत्या का दोषी माना। मुनि ने प्रायश्चित्त स्वरूप आमरण अनशन कर लिया।

पूरे घटनाक्रम में सुभामा ने भी अपने आपको दोषी माना। क्षत्रिय युवक ने भी पत्नी और मुनि के प्रति अपने संदेह के कारण स्वयं को दोषी माना। पति-पत्नी मुनि के पास पहुंचे और उनसे श्रावक-धर्म अंगीकार कर लिया।

अनशन और आध्यात्मिक चिन्तन में संलग्न मुनि सुमतिसागर ने केवलज्ञान साध कर मोक्ष प्राप्त किया।

सुमनचन्द्र

महाविदेह क्षेत्र के एक नगर में रहने वाले एक सद्गृहस्थ । उनकी पत्नी का नाम शीलवती था। पत्नी-पति के मध्य सघन प्रीतिभाव और विश्वास था। सुमनचन्द्र पत्नीव्रत धर्म के पालक थे और शीलवती पतिव्रत धर्म पर अपने प्राण न्यौछावर करती थी। एक बार व्यापार के लिए सेठ को देशान्तर जाना पड़ा। उन्होंने अपने मित्र धनदत्त को उनकी अनुपस्थिति में उनका व्यवसाय और पारिवारिक सार-संभाल का दायित्व प्रदान किया। सेठ के विदा हो जाने के बाद धनदत्त उनके व्यवसाय की देखभाल करने लगा। यदा-कदा वह सेठ के घर भी जाता। सेठ के घर जाना धनदत्त के मन में मैल का कारण बन गया। शीलवती की रूप-राशि पर वह मोहित हो गया। एक दिन अवसर देखकर उसने अपने मन के दुर्भाव शीलवती के समक्ष प्रगट कर दिए। पति-मित्र के ऐसे दुर्भाव जानकर शीलवती को हार्दिक कष्ट हुआ। उसने कठोर शब्दों में धनदत्त का तिरस्कार कर दिया और अपने घर पर उसके आने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। इस घटना से धनदत्त का मन ईर्ष्या भाव से भर गया। साथ ही उसे यह भय भी सताने लगा कि शीलवती द्वारा सेठ के समक्ष उसकी वास्तविकता प्रगट कर दिए जाने पर सेठ उस पर क्रोध करेंगे और संभव है उसे दण्ड भी दें। भय और आशंका से भरे धनदत्त ने एक षडयन्त्र रचा और उसके अनुसार उसने एक पत्र सेठ सुमनचन्द्र को लिखा। पत्र में उसने लिखा कि उनकी अनुपस्थिति में सेठानी स्वच्छन्दाचारिणी हो गई है, ऐसे में वे विदेश से शीघ्र ही स्वदेश पधारें।

धनदत्त का पत्र पाकर सुमनचन्द्र का हृदय दग्ध हो गया। उन्हें अपनी पत्नी के पातिव्रत्य पर पूर्ण विश्वास था पर मित्र के कथन पर भी वह अविश्वास नहीं कर सकता था। वह विदेश से स्वदेश लौट आया। नगर प्रवेश किया पर नगर में पहुंचकर भी वह अपने घर नहीं गया और अपने उद्यान में ठहर गया। शीलवती पति के आकस्मिक आगमन से जहां हैरान थी वहीं पतिमिलन—पतिदर्शन के भाव से मुदित भी थी। उसने भोजन तैयार किया और द्वार पर बैठकर पति की प्रतीक्षा करने लगी। पर संध्या तक सेठ सुमनचन्द्र घर पर नहीं आए तो शीलवती ने अपनी विश्वस्त दासी को सेठ के पास उन्हें बुलाने भेजा।

पत्नी की विश्वसनीय दासी से सेठ ने कहा, मैंने तुम्हारी स्वामिनी के चारित्र के सम्बन्ध में कुछ अनर्गल बातें सुनी हैं। जब तक मेरे मन का संदेह-शल्य दूर नहीं हो जाता तब तक मैं घर में नहीं आऊंगा। दासी ने लौटकर सेठ का संवाद शीलवती को सुना दिया। इससे शीलवती को गहरा आघात लगा। पति की आशंका को उसने अपने लिए मृत्यु-तुल्य कष्ट माना। पर वह विदुषी थी। शीघ्र ही उसने अपने भावों पर अंकुश लगा लिया और संकल्प कर लिया कि जब तक उसके पति का संदेह-शल्य दूर नहीं हो जाता, तब तक वह अपना मुख पति को नहीं दिखाएगी

वर्षों पर वर्ष अतीत के गर्भ में विलीन हो गए। कहते हैं कि साठ हजार वर्ष बीत गए। पति-पत्नी एक ही नगर में थे। पर दोनों ने एक-दूसरे का मुख दर्शन नहीं किया। एक बार नगर में आचार्य धर्मघोष पधारे। सेठ भी आचार्य श्री के दर्शनों के लिए गए। शीलवती भी उपस्थित हुई। प्रवचनोपरान्त जब जनता अपने-अपने घरों को लौट गई तो सेठ सुमनचन्द्र ने मुनि श्री से पूछा, भगवन् ! हजारों वर्षों से मैं एक शल्य से बिंधा हुआ हूं। कृपा कर उस शल्य से मुझे मुक्ति दीजिए और फरमाइए कि मेरे मित्र का कथन सच है अथवा मेरी पत्नी का पातिव्रत्य सच है?

आचार्य श्री ने फरमाया, सेठ ! तुम्हारी पत्नी का पातिव्रत्य सच है, वह परम शीलवती नारी है।

शीलवती भी आचार्य श्री के सान्निध्य में उपस्थित थी। सेठ ने सघन पश्चात्ताप में भीगे हृदय से पत्नी से क्षमा मांगी। पति-पत्नी के मध्य की अविश्वास की दीवार ढह गई। धनदत्त भी वर्षों से पश्चात्ताप की ज्वाला में जल रहा था कि उसने अपने पाप को छिपाने के लिए पति-पत्नी के मध्य संदेह शल्य बो दिया है। वह सेठ के समक्ष उपस्थित हुआ। सेठ के चरणों पर गिरकर उसने पूरा प्रकरण सरल हृदय से कह दिया। धर्मप्राण सेठ-सेठानी ने धनदत्त को क्षमा कर दिया।

सुमनचन्द्र सेठ और शीलवती ने आचार्य श्री से श्रावक-धर्म अंगीकार किया और आयुपर्यंत पूर्ण निष्ठाभाव से उसका पालन किया। आयु पूर्ण कर दोनों सद्गति को प्राप्त हुए। कालान्तर में सेठ और सेठानी क्रमशः नाभिराय और मरुदेवी के रूप में अवतरित हुए जो आदिम प्रभु ऋषभदेव के जनक और जननी थे।

सुमनभद्र गाथापति

श्रावस्ती निवासी प्रतिष्ठित गाथापति जो भगवान महावीर का प्रवचन सुनकर प्रव्रजित हुआ और निरतिचार संयम पालकर विपुलाचल से सिद्ध हुआ। —अन्तगड सूत्र, वर्ग 6, अध्ययन12

सुमनायिका

महाराज श्रेणिक की रानी। शेष परिचय नन्दावत्। (देखिए-नन्दा) —अन्तगड सूत्र वर्ग 7, अध्ययन 12

सुमरुता

महाराज श्रेणिक की रानी। शेष परिचय नन्दावत्। (देखिए-नन्दा) —अन्तगड सूत्र वर्ग 6, अध्ययन 6

सुमित्र

सगर चक्रवर्ती के जनक और तीर्थंकर अजितनाथ के चाचा। (देखिए-सगर चक्रवर्ती)

सुमित्रा

महाराज दशरथ की रानी, अष्टम वासुदेव लक्ष्मण की माता और श्रीराम की लघुमाता। भारतीय इतिहास की एक मौन और श्रेष्ठ नायिका।

(क) सुमुख

अन्तगडसूत्र के अनुसार सुमुख महाराज बलदेव और महारानी धारिणी के पुत्र थे। भगवान अरिष्टनेमि के उपदेश से सम्बोधि को प्राप्त कर सुमुख अणगार बने और बीस वर्षों तक विशुद्ध संयम की आराधना कर शत्रुञ्जय पर्वत पर मासिक संलेखना के साथ सिद्ध हुए। —अन्तगड सूत्र वर्ग 3, अध्ययन 9

(ख) सुमुख

कौशाम्बी नगरी का राजा। (देखिए-हरिराजा)

(ग) सुमुख-दुर्मुख

मगधेश श्रेणिक के दो दूत। (देखिए-प्रसन्नचन्द्र राजर्षि)

सुरसुन्दर

एक श्रेष्ठि-पुत्र, जिसका नाम माता-पिता ने बड़े चाव से सुरसुन्दर रखा था पर वह अपनी शरारतों और स्वभाव से इतना उधमी सिद्ध हुआ कि सभी उसे 'नटखट' कहने लगे। बाल्यकाल से ही वह नटखट

स्वभाव का था। सहपाठियों की पुस्तकें फाड़ देना, उनकी पट्टिकाओं को तालाब में फैंक देना आदि कार्यों में उसे बड़ा रस था। परिणाम यह हुआ कि शिक्षक ने उसके पिता से उसकी शिकायत की और विद्यालय से निकाल देने की चेतावनी तक दे डाली। इस पर खीझकर नटखट ने पत्थर मारकर अध्यापक का सिर फोड़ डाला। इससे उसको विद्यालय से निकाल दिया गया।

तिराहों, चौराहों, शून्य गृहों, धर्मशालाओं आदि में घूमकर नटखट अपना दिन पूरा करता और प्रतिदिन अनेक ऐसे कार्य करता जिससे उसके पिता के पास उपालंभों की कतार लग जाती। माता-पिता पुत्र को समझा-बुझाकर थक गए तो उन्होंने लोगों से कह दिया कि वे जैसा चाहें वैसा दण्ड नटखट को दें। लोग सचेत हो गए। कई लोगों ने कई प्रसंगों पर नटखट की पिटाई कर डाली। पर जिसने भी उसे पीटा उसे ही उसने ऐसा सबक सिखाया कि उसे उसके देवता याद आ गए। आखिर लोग नटखट से बचकर चलने में ही अपनी भलाई मानने लगे।

नटखट युवा हुआ, पर उसके स्वभाव में कहीं कोई परिवर्तन नहीं हुआ। पिता ने यह सोचकर उसका विवाह कर दिया कि संभव है पत्नी उसके भीतर कुछ दायित्व-बोध जगा सके। श्रीमती नामक उसकी पत्नी एक आदर्श नारी के गुणों से सम्पन्न और जिनोपासिका थी। उसने पति को सुधारने के अनेक प्रयत्न किए। पर नटखट नहीं सुधरा। इतना अंतर जरूर आ गया कि विवाह के पश्चात् उसकी शरारतों में गुणवत्ता आ गई। वह स्वयं छिपकर लोगों के काम बिगाड़ता और प्रगटतः उनकी सहायता करके वाहवाही लूटता। उसे दो विचित्र जड़ी-बूटियां हाथ लग गईं। उनमें से एक के सुंघाने से व्यक्ति मूर्च्छित हो जाता और दूसरी के सुंघाने से मूर्च्छित व्यक्ति होश में आ जाता। वह प्रतिदिन छिपकर लोगों को मूर्च्छित करता और प्रगटतः उनकी मूर्च्छा का उपचार करता। इससे उसकी ख्याति फैल गई। अनेक लोग उसके मित्र बन गए। श्रीपुर नरेश कुसुम सिंह का पुत्र कुसुमसेन भी उसका परम मित्र बन गया।

एक बार नटखट ने एक विचित्र नाटक किया। उसने राजकुमार को मूर्च्छित कर दिया और रात्रि में उसे नगर की गणिका के द्वार पर खड़ा कर दिया और द्वार पर दस्तक देकर गायब हो गया। गणिका ने द्वार खोला। द्वार खुलते ही द्वार के सहारे खड़ा मूर्च्छित राजकुमार गिर पड़ा। गणिका ने गौर से देखा तो वह सहम गई। उसे अपनी मृत्यु साक्षात् दिखाई देने लगी। वह स्वर्ण मुद्राओं से भरी थैली लेकर नटखट के घर पहुंची और स्वर्ण मुद्राएं नटखट को अर्पित करके बोली किसी तरह राजकुमार का उपचार कर दो अन्यथा मैं निर्दोष मारी जाऊंगी। मन में मुस्काते हुए नटखट ने गणिका को आश्वस्त किया। वह उसके साथ उसके घर गया और राजकुमार को कन्धे पर डालकर बोला, गणिका ! तुम निश्चिन्त रहो। मैं राजकुमार को स्वस्थ करके राजमहल पहुंचा दूंगा। उस रात नटखट ने कई लोगों के द्वारों पर राजकुमार को रखा और पर्याप्त धन अर्जित किया। आखिर में राजमहल के द्वार पर रखा। राजा भी पुत्र की दशा देखकर घबराया और नटखट की शरण में पहुंचा। नटखट ने राजकुमार का उपचार किया। राजा इतना कृतज्ञ हुआ कि उसने नटखट को प्रभूत पुरस्कार दिया और नगरसेठ का पद देकर उसे सम्मानित किया।

प्रचुर धन और पद प्राप्त कर नटखट अपनी पत्नी के पास पहुंचा और उसने अपने चातुर्य की शेखी बघारी। सारी बात सुनकर श्रीमती नटखट के चातुर्य के प्रति वितृष्णा से भर गई।

उसने उपालंभ पूर्ण कठोर वचनों से उसे फटकार पिलाई और कहा कि वह उसके साथ जीवन नहीं बिता पाएगी वह तो दीक्षित होकर आत्मकल्याण करेगी। नटखट का अपनी पत्नी पर अनुराग भाव था। उसकी कठोर फटकार ने उसके हृदय को छू लिया। वह अपनी पत्नी के साथ ही नगर के बाहर उपवन में

विराजित मुनि-दर्शन के लिए गया। अवधिज्ञानी मुनि ने नटखट और उसकी पत्नी को धर्मोपदेश दिया। मुनिवर का उपदेश नटखट के अन्तर्हृदय में पैठ गया। उसे अपने जीवन पर घृणा हो गई। मुनि चरणों में बैठकर उसने आत्मालोचना की और वहीं दीक्षित हो गया। वह जितना वक्र था उससे भी अधिक ऋजु बन गया। उत्कृष्ट चारित्र की आराधना से उसने स्वर्ग पद पाया। वहां से च्यव कर मनुष्य भव धारण कर सुरसुन्दर मोक्ष प्राप्त करेगा।

(क) सुरसुंदरी

एक आदर्श पतिपरायणा राजकुमारी जिसने भारी कष्टों को झेलकर भी अपने सतीत्व की रक्षा की। उसका संक्षिप्त परिचय निम्नोक्त है–

सुरसुंदरी चम्पाधिपति महाराज अरिदमन की इकलौती पुत्री थी। जब वह छह वर्ष की हुई तो उसे विद्याध्ययन के लिए कलाचार्य के पास भेजा गया। कलाचार्य के पास कुछ अन्य कुलीन छात्र-छात्राएं भी विद्याध्ययन करते थे, जिनमें श्रेष्ठीवर्य धनपाल का पुत्र अमर कुमार एक अति सुयोग्य छात्र था। एक दिन आधे अवकाश के समय सभी छात्र-छात्राएं परस्पर क्रीड़ामग्न थे। सुरसुंदरी एक वृक्ष की छाया में लेट कर सो गई। विनोद-विनोद में अमरकुमार ने सुरसुंदरी के पल्लू में बन्धी सात कौड़ियां खोल लीं और उनसे मिठाई खरीद कर सभी छात्र-छात्राओं में बांट दी। सुरसुंदरी को भी अमरकुमार ने मिठाई दी। सुरसुंदरी ने पूछा, अमर ! किस खुशी में मिठाई बांट रहे हो? सुरसुंदरी के इस प्रश्न को सुनकर सभी छात्र-छात्राएं हंसने लगे। हंसी का रहस्य ज्ञात कर सुरसुंदरी गंभीर हो गई और बोली, अमर! श्रेष्ठिपुत्र होकर भी तुमने चोरी की है, यह तुम्हें शोभा नहीं देता है। अमर कुमार बोला, राजकुमारी! तुम नाहक बुरा मान गई हो। सात कौड़ियां ही तो थीं, क्या तुम सात कौड़ियों से राज्य खरीद लेती? राजकुमारी ने कहा, निश्चित ही मैं सात कौड़ियों से राज्य खरीद लेती।

इधर यह वार्ता चल ही रही थी कि कक्षा में कलाचार्य आ गए। बात आई-गई हो गई। अमरकुमार और सुरसुंदरी मिल-जुलकर पढ़ने लगे। कालक्रम से अध्ययन पूरा कर छात्र-छात्राएं अपने-अपने घरों को गए। सुरसुंदरी विवाह योग्य हुई तो उसका विवाह अमरकुमार से कर दिया गया।

सेठ धनपाल का व्यापार विदेशों में फैला हुआ था। एक बार सेठ धनपाल जहाजों में माल भर कर व्यापार के लिए विदेश जाने लगे तो अमरकुमार ने पिता से आग्रह किया कि विदेश वह जाएगा। पुत्र के आग्रह को पिता ने मान लिया। सुरसुंदरी पति का विरह सहन नहीं कर सकती थी अतः उसने भी अनुनय-विनय से सास-श्वसुर को प्रसन्न बना लिया और अमरकुमार के साथ विदेश जाने की अनुमति प्राप्त कर ली।

अमरकुमार ने अपनी पत्नी सुरसुंदरी के साथ जहाज पर सवार होकर प्रस्थान किया। कई दिनों की यात्रा के पश्चात् पेय जल लेने के लिए जहाजों को यक्षद्वीप पर रोका गया। अमरकुमार और सुरसुंदरी यक्षद्वीप पर घूमने लगे। निकट ही वन था। दोनों एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे। संयोग से सुरसुंदरी को निद्रा लग गई। सुरसुंदरी को सोते देखकर अमरकुमार के अचेतन से एक स्मृति उभरी–"निश्चित ही सात कौड़ियों से मैं राज्य खरीद लेती।" अमरकुमार की बुद्धि भ्रमित बन गई। उसने सुरसुंदरी के पल्लू से सात कौड़ियां बांधी और एक पत्र लिखकर उसके पास छोड़ा तथा जहाज पर आ गया। स्वांग रचते हुए उसने अनुचरों को यह कहकर विश्वस्त कर दिया कि सुरसुंदरी को यक्ष खा गया है। अमर ने शीघ्र ही अपने जहाजों को आगे के लिए रवाना कर दिया।

सुरसुंदरी की निद्रा टूटी। पत्र पढ़कर वह ठगी सी रह गई। उसके विलाप से वन-प्रान्तर अनुकंपित बन

गया। पर विलाप व्यर्थ है, यह बात वह जानती थी। वह शीघ्र ही शान्त हो गई। उसने अपनी स्थिति के लिए अमरकुमार को नहीं, अपने कर्मों को ही दोषी माना। उसे कुछ दिन उसी विजन वन में व्यतीत करने पड़े। वह जानती थी कि अवश्य ही कोई व्यापारिक जहाज यहां पर आएगा। हुआ भी वही। एक जहाज वहां पर आया। कमलदत्त सेठ जहाज का स्वामी था। उसने सुरसुंदरी को देखा और वह उसके रूप पर मोहित हो गया। प्रगटतः उसने उसे 'भगिनी' कह कर पुकारा और विश्वास दिया कि वह उसे वेनातट पहुंचा देगा जहां उसका पति व्यापार के लिए गया है। विश्वस्त बनकर सुरसुंदरी जहाज पर सवार हो गई। जहाज आगे बढ़ा। एक-दो दिन बीतने पर कमलदत्त ने सुरसुंदरी के समक्ष अपने कलुषित भाव प्रगट किए। अप्रत्याशित प्रस्ताव पर सुरसुंदरी ने कमलदत्त को फटकार पिलाई। कमलदत्त ने बल प्रयोग की धमकी दी तो अपने शील के रक्षण के लिए सुरसुंदरी ने समुद्र में छलांग लगा दी। तत्क्षण कमलदत्त का पाप फला और उसका जहाज टूटकर समुद्र में समा गया। जहाज के एक तख्ते के सहारे सुरसुंदरी समुद्र में तैरने लगी। उधर से एक अन्य जहाज गुजरा। जहाज के स्वामी सेठ ने सुरसुंदरी की प्राण रक्षा की। उस सेठ ने भी सुरसुंदरी से काम-प्रस्ताव रखा। सुरसुंदरी ने कहा, पर पुरुष के चिन्तन मात्र की अपेक्षा वह मर जाना पसन्द करती है। दाल न गलते देख सेठ ने सोवनकुल नगर में जाकर एक वेश्या के हाथ सुरसुंदरी को बेच दिया। किसी न किसी तरह वेश्या के चंगुल से सुरसुंदरी भागी तो नगर के राजा के चंगुल में फंस गई। राजा की रानी के सहयोग से सुरसुंदरी ने अपने शील को रक्षित किया। वहां से भाग कर वह जंगल में पहुंची। एक चोर पल्लीपति के जाल में उलझ गई। पुनः-पुनः उसके शील पर भिन्न-भिन्न रूपों में पुरुष रूपी राहू उसे ग्रस लेने को उद्यत हुआ, पर अपनी युक्तियों और साहस से उसने अपने शील को अखण्ड रखा। आखिर चन्द्रगति नामक एक विद्याधर के घर उसको शरण मिली। विद्याधर ने न केवल सुरसुंदरी को भगिनी का मान दिया बल्कि उसे कई विद्याएं भी प्रदान कीं।

एक ज्ञानी संत ने एक दिन सुरसुंदरी को बताया कि उसे उसका पति वेनातट नगर में मिलेगा। भाई की अनुमति प्राप्त कर सुरसुंदरी वेनातट नगर पहुंची। विद्याधर प्रदत्त विद्या से उसने पुरुषवेश धारण किया और एक मालिन के घर वह अतिथि बनी। उसने मालिन को सात कौड़ियां प्रदान कीं और उनके बदले में कुछ फूल प्राप्त किए। फूलों से उसने एक पंखा बनाया और मालिन से कहा कि वह इस पंखे को एक लाख स्वर्णमुद्राओं में बेचे। मालिन के पूछने पर उसने पंखे की विशेषता बताई कि उसकी हवा से असाध्य रोग तत्क्षण मिट जाएगा। आखिर नगर-नरेश जो कुष्ठरोग से पीड़ित था उसने पंखा खरीदा और कुष्ठ रोग से मुक्ति प्राप्त की। राजा ने अपनी घोषणा के अनुसार पुरुषवेशी सुरसुंदरी को आधा राज्य प्रदान किया और उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह भी कर दिया। इस प्रकार सुरसुंदरी ने सात कौड़ियों से राज्य प्राप्त किया।

सुरसुंदरी पुरुषवेश में थी, पर थी तो वह नारी ही। राजकुमारी से उसका विवाह हुआ तो उसने राजकुमारी से कहा कि उसका मित्र उससे बिछुड़ गया है और जब तक वह अपने मित्र को प्राप्त नहीं कर लेगा तब तक अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करेगा। राजकुमारी ने पुरुषवेशी सुरसुंदरी के मित्र-प्रेम की प्रशंसा की और ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए उसके साथ रहने लगी।

व्यापार के लिए अमरकुमार वेनातट नगर पहुंचा। सुरसुंदरी ने बन्दरगाह पर अपने अंतरंग व्यक्ति नियुक्त किए हुए थे। आखिर अमर कुमार को कौतुहल आदि से गुजार कर सुरसुंदरी ने उससे भेंट की। अमरकुमार पत्नी को पाकर आनन्दमग्न हो गया। सात कौड़ियों से खरीदे राज्य की कथा सुनकर उसे नारी की नारायणी शक्ति का परिबोध भी प्राप्त हो गया।

दो-दो पत्नियों के साथ रहकर अमरकुमार ने सुदीर्घ काल तक सुशासन किया और अंतिमवय में सुरसुंदरी के साथ प्रव्रजित बनकर उत्तम गति का अधिकार प्राप्त किया। —सुरसुंदरी चरित्र

(ख) सुरसुंदरी

सुरसुंदरी चम्पापुरी के सेठ धनदत्त के चार पुत्रों की चार पत्नियों में सबसे छोटी थी। आयु में छोटी होकर भी विवेक, विचार और बुद्धि में वह सबसे ऊपर थी। एक बार सेठ धनदत्त को स्वप्न में कुलदेवी के दर्शन हुए। कुलदेवी ने उसे बताया कि उसके और उसके पुत्रों के पुण्य चुक गए हैं, आने वाले बारह वर्ष उसके और उसके पुत्रों के लिए कष्ट भरे हैं।

धनदत्त चम्पापुरी का सबसे धनी श्रेष्ठी था और उसे राजदरबार में नगर-सेठ का पद प्राप्त था। पर जब दैव ने पलटा खाया तो न धन रहा और न पद ही रहा । राजकर्मचारियों ने उसकी सभी दुकानों का माल जब्त कर लिया। उसके गोदामों में आग लग गई। जहाज समुद्र में डूब गए। सेठ को कुलदेवी से अग्रिम सूचना मिल ही चुकी थी, सो एक ही दिन में घटी इन घटनाओं पर उसे आश्चर्य नहीं हुआ। उसने अपनी पत्नी, पुत्रों और पुत्रवधुओं को पूरी स्थिति कही और राय दी कि हमें चम्पापुरी को छोड़कर किसी अन्य स्थान पर रहकर ये कष्ट से भरे बारह वर्ष व्यतीत करने चाहिएं। परिवार के सभी सदस्यों ने सेठ की बात का अनुमोदन किया। आधी रात में यह परिवार घर में शेष सम्पत्ति को अपने साथ लेकर अज्ञात दिशा में प्रस्थित हो गया। पर दुर्दैव उनके साथ था। साथ लाए गए धन को चोरों ने चुरा लिया। मेहनत मजदूरी करके उदरपोषण करते हुए ये सभी सदस्य कंचनपुर पहुंचे। वहां पहुंचकर सुरसुंदरी ने अपने श्वसुर के हाथ पर सवा करोड़ मूल्य का एक रत्न रखा और कहा, पिता जी ! ऐसे तीन और रत्न मैं अपने साथ ले आई हूँ। इस एक रत्न को बेचकर ही हम बारह वर्ष सूखपूर्वक बिता सकते हैं। आप इस रत्न को बाजार में बेच आइए।

सेठ अपनी पत्नी के साथ रत्न बेचने गया। दुर्दैव उसके पीछे-पीछे चल रहा था। दुकानदार ने सेठ का रत्न छिपा लिया और उसे धक्के देकर दुकान से निकाल दिया। सेठ-सेठानी—सास-श्वसुर के न लौटने पर सुरसुंदरी ने अपने पति और तीनों ज्येष्ठों को दूसरा रत्न देकर बाजार भेजा। उसी दुकान पर वे चारों भाई पहुंचे और दुकानदार द्वारा ठग लिए गए। सुरसुंदरी और उसकी जेठानियां संध्या तक अपने पतियों के लौटने की प्रतीक्षा करती रहीं। पर न तो वे लौटे और न ही उन्हें लौटना था।

आखिर सुरसुंदरी के निर्देश पर उन चारों महिलाओं ने पुरुष वेश धारण किया और रत्न बेचने के लिए उसी दुकान पर वे पहुंची। दुकानदार ने उन्हें भी ठगने के लिए उनसे रत्न मांगा। इस पर सुरसुंदरी ने उसे डपटते हुए कहा कि क्या उसे दूर से दिखाई नहीं पड़ रहा है। दुकानदार समझ गया कि यहां उसकी ठगी नहीं चलने वाली है। सो उसने साढ़े बासठ लाख रुपए में रत्न को गिरवी रख लिया। पुरुषवेशी चारों महिलाओं ने नगर में एक भव्य भवन खरीद लिया और सुखपूर्वक जीवन यापन करने लगीं।

सुरसुंदरी ने अपना नाम सुरसुन्दर रख लिया। उसने एक रत्न राजा को भेंट किया और दरबार में सम्मानित पद प्राप्त किया। पुरुषवेश में रहते हुए अपने मधु-मिष्ठ और सुशिष्ट स्वभाव से सुरसुन्दर ने राजा और अन्य दरबारियों को अपना बना लिया। राजा उसके कुशल व्यवहार और धर्म निष्ठा से इतना प्रभावित हुआ कि उसने अपनी इकलौती पुत्री रत्नसुंदरी का विवाह सुरसुन्दर से कर दिया। विवाह तो राजा का दबाव मानकर सुरसुन्दर ने कर लिया पर वह इस समस्या से घिर गई कि रत्नसुंदरी को कैसे समझाए कि वह भी एक नारी ही है। आखिर अपने बुद्धिकौशल और वाग्चातुर्य से वह रत्नसुंदरी को एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन

करने के लिए मनाने में सफल हो गई। सुरसुंदरी को विश्वास था कि इस अवधि में उसका पति उसे प्राप्त हो ही जाएगा। उधर बारह वर्ष व्यतीत होने में एक वर्ष से भी कम समय शेष था। राज जामाता के रूप में सुरसुन्दर की ख्याति पूरे नगर में थी ही। सुरसुन्दर ने अपने प्रभाव का उपयोग करते हुए उस दुकानदार से वे दोनों रत्न भी प्राप्त कर लिए जो उसने उसके श्वसुर और पति व ज्येष्ठों से लूटे थे। बारह वर्ष की अवधि बीतते ही परिवार के सभी सदस्य एक ही स्थान पर एकत्रित हो गए। सुरसुंदरी के बुद्धिकौशल को सभी ने प्रशंसित किया। सुरसुंदरी ने अपने पति को राजकुमारी रत्नसुंदरी पत्नी रूप में भेंट की।

परिवार का अपुण्य समाप्त हो चुका था। पुण्य कर्म प्रबल बन चुके थे। पूरा परिवार अपने नगर लौटा और ससम्मान अपना विलुप्त हुआ गौरव पुनः पा गया।

जीवन के उत्तरार्ध भाग में सुरसुंदरी ने साधना पथ पर कदम बढ़ाए और सद्गति प्राप्त की।

(ग) सुरसुंदरी

हरिसेन की अर्द्धांगिनी। (देखिए-भीमसेन)

(घ) सुरसुंदरी

आहड़ नगर की राजकुमारी (देखिए-धनसागर)

(ङ) सुरसुंदरी

(देखिए-श्रीपाल)

सुरादेव (श्रावक)

वाराणसी नगरी निवासी भगवान महावीर का एक अनन्य उपासक और गण्यमान्य धनाधीश श्रेष्ठी। सुरादेव अठारह कोटि स्वर्णमुद्राओं तथा दस-दस हजार गायों के छह गोकुलों का स्वामी था। अर्द्धांगिनी धन्या सहित उसने भगवान महावीर से श्रावक-धर्म अंगीकार किया था। किसी समय रात्रिकाल में जब वह धर्म जागरण कर रहा था तो एक देव ने उसे धर्मच्युत करने के लिए उसकी कड़ी परीक्षा ली। उसके समक्ष उसके तीनों पुत्रों की हत्या की माया फैलायी। पुत्रों के रक्त के शूले पकाकर उसके शरीर पर मले। पर वह अडोल रहा। हताश देव ने उसे चेतावनी दी कि यदि वह अपनी समाधि भंग नहीं करेगा तो वह उसके शरीर में एक साथ सोलह महारोग उत्पन्न कर देगा। इस चेतावनी से सुरादेव चलित हो गया। चिल्लाकर उसने आंखें खोलीं। देव अदृश्य हो चुका था। कोलाहल सुनकर उसकी पत्नी दौड़ कर आई। उसने सुरादेव को बताया कि उसके सभी पुत्र स्वस्थ हैं। यह किसी देव की माया थी जो अब समाप्त हो चुकी है। सुरादेव ने कई वर्षों तक चारित्र धर्म का पालन किया। जीवन के सांध्य पक्ष में मासिक संलेखना के साथ देहोत्सर्ग कर वह प्रथम देवलोक में देव बना। वहां से महाविदेह में जन्म लेकर सिद्ध होगा।

(क) सुरूपा (आर्या)

आर्या सुरूपा का समग्र जीवन वृत्त रूपा आर्या के समान है। (देखिए-रूपा आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., चतुर्थ वर्ग, अध्ययन 2

(ख) सुरूपा (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 7

(क) सुलस

अमरपुर नगर के नगर सेठ वृषभदत्त का पुत्र। बाल्यकाल से ही सुलस कुमार जैन मुनियों के संपर्क में रहा और जैन धर्म के प्रति अनन्य आस्था उसके हृदय में साकार बन गई। उसने श्रावक के बारह व्रतों में से ग्यारह व्रतों को धारण किया। वणिक पुत्र होने से परिग्रह-परिमाण का व्रत उसने नहीं लिया। उसके पिता के पास अब्जों की संपत्ति थी, परन्तु संपत्ति में सुलस को कतई आकर्षण नहीं था। सामायिक, संवर, पौषध आदि की आराधना में वह संलग्न बना रहता और स्वाध्याय से अपने सम्यक्त्व को शुद्ध और परिशुद्ध बनाता रहता था। क्रमशः वह युवा हुआ। यौवनावस्था में भी कामाकर्षण उसे स्पर्श नहीं कर पाया। सेठ ने एक सम्मानित और समृद्ध श्रेष्ठी की जिनधर्मानुरागिनी सुपुत्री सुभद्रा से सुलस का विवाह कर दिया। पर सुलस आत्म-साधना में इतनी सघनता से तल्लीन था कि उसे यह भी अनुभव नहीं हुआ कि उसका विवाह हो गया है। पौषधशाला में स्वाध्याय और सामायिक करते हुए ही उसके अहर्निश अतीत बनते थे। उसके विवाह को कई मास बीत गए पर उसने पत्नी का मुखदर्शन तक नहीं किया।

सुलस के माता-पिता—वृषभदत्त और जिनदेवी पुत्र की इस वैराग्यशीलता से परेशान बन गए। वे चाहते थे कि उनका पुत्र अपनी पत्नी के साथ हंस-खेल कर समय बिताए और थोड़ा समय धर्मध्यान करे। परन्तु सुलस तो पूरे समय ही धर्माराधना में जुटा रहता था। कई बार माता-पिता ने पुत्र को उसकी पत्नी के प्रति उसके दायित्व बोध का स्मरण दिलाया, पर सुलस के मन में संसार के प्रति वे अनुराग नहीं जगा पाए। आखिर गहन-गंभीर विचार विमर्श के पश्चात् माता-पिता ने यह निर्णय किया कि सुलस की संगत को रूपान्तरित किया जाए, उसे ऐसे लोगों के संपर्क में रखा जाए जो उसके भीतर संसार का आकर्षण जगा सकें। योजनानुसार सेठ वृषभदत्त ने कुछ मद्यपों और जुआरियों को अपने पुत्र से मित्रता करने के लिए आकर्षित किया। कुछ मद्यप और जुआरी अहर्निश सुलस के आस-पास मंडराने लगे। शनैः-शनैः सुलस को मदिरा और जुए का शौक लगने लगा। एक दिन उसके मित्र उसे गणिका कामपताका के महल पर ले गए। कामपताका रूपवान और चतुर थी। उसने नगरसेठ के पुत्र सुलस पर ऐसा जादू किया कि सुलस सब कुछ भूल गया। उसे जो स्मरण रहा, वह थी कामपताका। वृषभदत्त के घर से धन की नदी बहकर गणिका के घर पर गिरने लगी। दिन, महीने और वर्ष अतीत हो गए। सेठ वृषभदत्त ने अनेक उपाय किए अपने पुत्र को घर बुलाने के, पर उसे सफलता नहीं मिली। सुभद्रा पति की प्रतीक्षा करती रही। सोलह वर्षों तक सुलस ने गणिका के महल से बाहर कदम नहीं धरा। इस अवधि में सुलस के घर का समस्त धन तो गणिका के घर पहुंचा ही, साथ ही उसके माता-पिता भी चल बसे।

इस प्रलम्ब अवधि में गणिका कामपताका भी सुलस से हृदय से प्रेम करने लगी थी। धन का आगमन बन्द हो जाने पर भी वह सुलस को अपने से विलग नहीं करना चाहती थी। पर गणिका की वृद्धा बूआ को निर्धन सुलस बोझ दिखाई देने लगा। एक दिन कामपताका की अनुपस्थिति में उसकी वृद्धा बूआ ने सुलस को घर से निकाल दिया।

सोलह वर्षों के पश्चात् सुलस जैसे निद्रा से जगा। उसे ज्ञात हुआ कि उसके माता-पिता का निधन हो चुका है। उसे घोर आत्मग्लानि ने घेर लिया। साथ ही उसने जाना कि उसकी पतिव्रता पत्नी एकाकी रहकर आज भी उसकी प्रतीक्षा कर रही है। परन्तु वह सुभद्रा से मिलने का साहस नहीं जुटा पाया। उसने सुभद्रा को पत्र लिखकर अपने व्यवहार के लिए क्षमा मांगी और लिखा कि जहां उसने उसकी सोलह वर्ष तक कठिन प्रतीक्षा की है वहीं कुछ समय और प्रतीक्षा करे। वह शीघ्र ही धन कमाकर उसके पास लौटेगा।

मालिन के द्वारा अपनी पत्नी के पास पत्र पहुंचाकर सुलस प्रदेश के लिए रवाना हो गया। उसने अथक श्रम, प्रामाणिकता और सत्य के बल पर अपार संपत्ति अर्जित की। उस संपत्ति को लेकर जब वह अपने नगर के लिए रवाना हुआ तो समुद्र में एक चट्टान से टकराकर उसका जहाज खण्डित हो गया। उसका सारा धन समुद्र में समा गया। काष्ठ फलक के सहारे वह समुद्र के तट पर पहुंचने में सफल अवश्य हो गया।

सब कुछ गंवा कर भी सुलस ने अपने साहस को नहीं खोया। दूसरी बार उसने फिर से प्रयत्न किया और पर्याप्त धन अर्जित किया। इस बार उसका समस्त धन दावाग्नि की भेंट चढ़ गया। फिर उसने तीसरी बार धन जोड़ा। नगर के लिए रवाना हुआ तो जंगल में चोर-लुटेरों ने उसे लूट लिया। कहते हैं कि कई बार अपनी अर्जित संपत्ति गंवा कर भी सुलस ने हिम्मत नहीं हारी। वह प्रत्येक बार पहले से अधिक निष्ठा और श्रम से व्यापार करता और पहले से अधिक संपत्ति अर्जित करता। आखिर अंतराय कर्म क्षीण हुए और एक मित्र देव की सहायता से पर्याप्त धन अर्जित करके सुलस कुमार अपने नगर में लौटा। स्वयं नगर-नरेश ने सुलस का स्वागत किया और उसके पिता के देहान्त के पश्चात् रिक्त हुआ नगर सेठ का पद उसे प्रदान कर उसका सम्मान किया।

सुलस और सुभद्रा का मिलन हुआ। अश्रु प्रवाह ने समस्त भूलों और कष्टों की कलुषताओं को प्रक्षालित कर डाला। सुलस के जाने के पश्चात् कामपताका भी गणिका-कर्म का परित्याग कर उसके लौटने की प्रतीक्षा कर रही थी। सुलस के लौटने पर वह भी उसके पास आ गई। सुलस ने उसे पत्नी का पद देकर उसका मान किया। सुलस लम्बे समय तक धर्मध्यान पूर्वक जीवन यापन करता रहा। जीवन के पश्चिम भाग में उसने प्रव्रज्या धारण की और उग्र तपश्चरण तथा सुनिर्मल संयम की साधना से केवलज्ञान प्राप्त कर मोक्षपद पाया।

—शान्ति नाथ चरित्र (भावचन्द्र सूरिकृत)

(ख) सुलस

राजगृह नगर के निवासी और कुख्यात कसाई कालसौकरिक का पुत्र। पर कसाई-कुल में जन्म लेकर भी सुलस मृदुहृदयी युवक था। मगधदेश के महामंत्री अभयकुमार की सुसंगति के पश्चात् तो उसके जीवन में अहिंसा और सत्य की सुगंध उतर आई। अभय के संग वह भगवान महावीर के पास गया और उनका अनन्य उपासक बन गया। पिता की मृत्यु के पश्चात् जब गृहपति पद पर सुलस को अभिषिक्त किया जा रहा था तो परिजनों ने उसके हाथ में तलवार देकर भैंसे की गर्दन काटने के लिए उससे कहा। सुलस ने इस हिंसक परम्परा का विरोध किया और कहा कि तलवार चलाना आवश्यक ही है तो मैं अपने पैर पर चला सकता हूं। जैसे ही उसने अपने पैर पर तलवार चलानी चाही, परिजनों ने उसका हाथ पकड़ लिया और उसकी करुणा की प्रशंसा की। कहीं-कहीं यह भी उल्लेख है कि सुलस और पुणिया श्रावक एक ही व्यक्ति के नाम हैं।

—आवश्यक कथा

(क) सुलसा

राजगृह नगर निवासी और मगधेश श्रेणिक के प्रीतपात्र रथिक नाग की अर्द्धांगिनी, तीर्थंकर महावीर की अनन्या उपासिका और परम समता साधिका एक दृढ़धर्मिणी सन्नारी। उसे कोई संतान न थी। पति और पत्नी दोनों की प्रबल इच्छा थी कि उन्हें संतान प्राप्त हो पर अशुभ कर्मोदय के कारण वैसा नहीं हो पा रहा था। लौकिक अनुष्ठान सुलसा को पसन्द न थे। उसे तो महावीर और उनका धर्म पसन्द थे जिनकी आराधना वह सोते-जागते किया करती थी।

एक बार सुलसा की समता की अनुशंसा देवराज इन्द्र ने की। एक देव परीक्षा की दृष्टि से मुनिवेश धारकर सुलसा के घर आया और लक्षपाक तेल की याचना की। सुलसा के इंगित पर उसकी दासी लक्षपाक तेल का घड़ा उठा कर लाई। देवमाया से दासी का हाथ कांपा और घड़ा गिर कर टूट गया। दासी कांपी। सुलसा ने उसे धैर्य देते हुए दूसरा घड़ा लाने को कहा। देव ने वह भी गिरा दिया। सुलसा ने तीसरा घड़ा मंगाया तो देव ने वह भी गिरा दिया। इस पर भी सुलसा के मस्तक पर शिकन न उभरी । मुनिवेशधारी देव ने कहा, मुझे खेद है जो मेरे कारण तुम्हें इतना नुकसान उठाना पड़ा। सुलसा बोली, नुकसान की कोई बात नहीं, मुझे चिन्ता इस बात की है कि मैं आपको इच्छित वस्तु न दे सकी। सुलसा की समता देख देव गद्‌गद हो गया। उसने प्रकट होकर देवराज द्वारा की गई उसकी प्रशंसा की बात कही और कहा कि वह मनोवाञ्छित वस्तु मांग ले। सुलसा ने पुत्र-प्राप्ति की बात कही। देवता ने सुलसा को बत्तीस गोलियां दीं और कहा, प्रत्येक गोली से उसे एक-एक पुत्र प्राप्त होगा। पर सुलसा तो बत्तीस नहीं एक ही पुत्र चाहती थी। इस विचार से कि बत्तीस लक्षणों वाला एक पुत्र हो जाए सुलसा ने सभी गोली एक साथ खा ली। कहते हैं कि एक साथ बत्तीस जीव सुलसा के गर्भ में आए। गर्भ बढ़ने के साथ-साथ सुलसा को असह्य उदरशूल होना स्वाभाविक था। आखिर उसने उसी देव का स्मरण किया और देव के उपाय से उचित समय पर बत्तीस पुत्रों को जन्म दिया। देव ने कहा, ये सभी पुत्र एक ही साथ जन्मे हैं और एक ही साथ कालधर्म को भी प्राप्त होंगे। पुत्र जब शिक्षित-दीक्षित होकर युवा हुए तो महाराज श्रेणिक के अंगरक्षक नियुक्त हुए और चेलना-हरण के प्रसंग पर सुरंग के अंदर ही सभी एक साथ मृत्यु को प्राप्त हो गए।

बत्तीस पुत्रों की एक साथ मृत्यु का समाचार सुनकर भी सुलसा चलित न हुई और अपने धर्म में और अधिक सुदृढ़ बन गई।

एक अन्य घटना के परिप्रेक्ष्य में सुलसा की दृढ़धर्मिता के दर्शन होते हैं। अंबड़ नामक परिव्राजक भगवान महावीर का परमभक्त था। एक बार जब भगवान महावीर चम्पानगरी में विराजमान थे तो वह भगवान के दर्शनों के लिए गया। दर्शनों के पश्चात् वह लौटने लगा तो उसने भगवान से प्रार्थना की कि अवसर लगने पर प्रभु राजगृह पधारें। प्रभु ने अंबड़ से कहा, तुम राजगृह जा रहे हो। वहां सुलसा नामक एक श्राविका रहती है। वह एक दृढ़धर्मिणी सन्नारी है। उसे धर्म संदेश कहें।

प्रभु का धर्मसंदेश लेकर अंबड़ राजगृह आया। उसने विचार किया, जिस नारी की प्रशंसा स्वयं अरिहंत भगवान ने की है, उसकी महिमा देखनी चाहिए। अंबड़ के पास वैक्रिय लब्धि थी। लब्धि का उपयोग कर उसने ब्रह्मा का रूप धारण किया और वह पूर्व दिशा के नगर द्वार पर आकाश में अवस्थित हो गया। सभी नागरिक उसे ब्रह्मा भगवान मानकर उसके दर्शनों के लिए गए, पर सुलसा नहीं गई। दूसरे, तीसरे और चौथे दिन क्रमशः विष्णु, शिव और तीर्थंकर महावीर का रूप धरकर वह नगर के पश्चिम, उत्तर और दक्षिण द्वारों पर अवस्थित हुआ। सब उसके दर्शनों के लिए गए पर सुलसा न गई। अन्तिम दिन महावीर के रूप में अंबड़ सुलसा के घर पहुंचा और रोषारुण होकर उसने कहा, सुलसा! तुम मेरे दर्शन करने नहीं आई, क्या मैं महावीर नहीं हूँ ? सुलसा ने कहा, हां, तुम महावीर नहीं हो। अंबड़ ने पूछा, तुम ऐसा किस आधार पर कह रही हो? सुलसा ने कहा, तुम्हारी आंखें क्रोध से लाल हैं, महावीर की आंखें लाल नहीं हो सकती।

अंबड़ ने अपनी माया समेटी, सुलसा की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की और प्रभु का संदेश उसे दिया। सुलसा गद्‌गद बन गई। वह आयु पूर्ण कर स्वर्ग में गई। आगत चौबीसी में वह अमम नामक पन्द्रहवां तीर्थंकर होगी।

—आवश्यक चूर्णि, पत्र सं. 164

(ख) सुलसा

भद्दिलपुर के नाग गाथापति की पत्नी, अजितसेनादि छह देवकी पुत्रों की पालक माता।

सुलोचना

पूर्वभव में कलावती सुलोचना नाम की राजकुमारी थी। (देखिए-कलावती)

सुवासव कुमार

अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भारतवर्ष में विजयपुर नाम का एक नगर था। वहां के राजा का नाम वासवदत्त और रानी का नाम कृष्णादेवी था। राजा और रानी का एक रूप-गुण सम्पन्न पुत्र था, जिसका नाम सुवासव कुमार था। सुवासव कुमार सर्वकलानिधान और अनुपम रूप राशि का स्वामी था। वह युवराज था। भद्रा प्रमुख पांच सौ श्रेष्ठ राजकन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण हुआ था।

एक बार तीर्थंकर महावीर अपने शिष्य समुदाय के साथ विजयपुर नगर में पधारे और नन्दनवन नामक राजोद्यान में विराजमान हुए। नगर के नर और नारी भगवान के दर्शन करने के लिए तथा उनकी वाणी सुनने के लिए उद्यान में गए। राजा, रानी और युवराज सुवासव कुमार भी भगवान के श्री चरणों में उपस्थित हुए।

भगवान ने धर्मोपदेश दिया। श्रोताओं के हृदय धर्म के रंग से रंग गए। अपनी-अपनी सामर्थ्यानुसार व्रत-पच्चक्खाण लेकर लोग अपने घरों को लौट गए। सुवासव कुमार ने भी भगवान से श्रावक के बाहर व्रतों को अंगीकार किया और आनन्दित चित्त से अपने महल में लौट गया।

सुवासव कुमार के भव्य रूप और उत्कृष्ट समृद्धि को देखकर गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से प्रश्न किया—भंते! सुवासव कुमार ने पूर्व जन्म में ऐसे किन पुण्यों का उपार्जन किया जिनके परिणामस्वरूप उसे ऐसा तेजस्वी रूप और समृद्धि का समागम प्राप्त हुआ?

भगवान महावीर ने युवराज सुवासव कुमार का पूर्वभव सुनाते हुए फरमाया—गौतम! कौशाम्बी नामक नगरी में धनपाल नामक राजा राज्य करता था। राजा होकर भी धनपाल स्वभाव से सौम्य और धर्मरुचि सम्पन्न था। एक बार वैश्रमण भद्र नामक एक मासोपवासी मुनि उसके घर भिक्षा के लिए पधारे। मुनिराज को देखकर धनपाल के हर्ष का पारावार नहीं रहा। उसने अत्युच्च भाव-परिणामों से मुनिराज को शुद्ध आहार का दान दिया। उस दान के फलस्वरूप धनपाल ने उत्कृष्ट पुण्यों का उपार्जन किया। वहां से आयुष्य पूर्ण कर धनपाल का जीव ही वर्तमान भव में सुवासव कुमार के रूप में जन्मा है।

समाधान प्राप्त कर गौतम स्वामी दानादि के उत्कृष्ट फल पर चिन्तन करने लगे। उसके बाद उन्होंने भगवान से पुनः प्रश्न किया, भगवन्! सुवासव कुमार क्या आपके चरणों में दीक्षित होगा? और भवान्तर में उसकी गति क्या होगी?

भगवान ने फरमाया—गौतम! सुवासव कुमार कालान्तर में मेरे पास प्रव्रजित होगा और उत्कृष्ट चारित्र का आराधन करके परमगति का अधिकारी बनेगा।

भगवान का समाधान सुनकर गौतम स्वामी और श्रोतावर्ग सन्तुष्ट व हर्षित हुआ।

अन्यदा किसी समय भगवान महावीर विजयपुर से विहार कर गए और जनपदों में धर्मोद्योत करते हुए विचरने लगे।

एक बार युवराज सुवासव कुमार पौषधशाला में पौषध व्रत की आराधना कर रहे थे। आध्यात्मिक

चिन्तन करते हुए उनके हृदय में यह भाव उत्पन्न हुए कि वे ग्राम और जनपद धन्य हैं जहां अरिहंत देव भगवान महावीर विचरण कर रहे हैं। कितना सुन्दर हो कि भगवान हमारे नगर में भी पधारें। अब की बार जब भी भगवान यहां पधारेंगे तो मैं उनके श्री चरणों में आर्हती दीक्षा धारण कर आत्म-कल्याण करूंगा।

कालान्तर में भगवान महावीर स्वामी विजयपुर नगर में पधारे। युवराज सुवासव ने अपने आध्यात्मिक संकल्प के अनुरूप भगवान महावीर के चरणों में प्रव्रज्या धारण की। निरतिचार संयम की आराधना द्वारा समस्त कर्मकल्मष को खपाकर वे सिद्ध पद के अधिकारी बने। —विपाक सूत्र, द्वितीय, श्रुत. अ. 4

सुविधिनाथ (तीर्थंकर)

वर्तमान चौबीसी के नवम तीर्थंकर। आप काकन्दी नरेश महाराज सुग्रीव की पटरानी रामा देवी के आत्मज थे। आपके गर्भ में आते ही माता ने समस्त विधियों में विशेष कुशलता हस्तगत कर ली, फलतः आपको सुविधिनाथ नाम दिया गया। योग्यवय में आपने शासनसूत्र संभाला और प्रलम्ब समय तक राज्य किया। आपके सुशासन में प्रजा पूर्ण सन्तुष्ट और सुखी थी। अन्तिम वय में आपने जिनदीक्षा धारण की और केवलज्ञान प्राप्त कर धर्म तीर्थ की संरचना की। जगत के लिए कल्याण का द्वार उद्घाटित करके कुछ कम एक लाख पूर्व का चारित्र पर्याय पालकर कार्तिक कृष्णा नवमी के दिन सम्मेद शिखर से मोक्ष पधारे।

'वराह' प्रमुख आपके 88 गणधर थे।

युगबाहु के भव में आपने तीर्थंकर गोत्र का अर्जन किया था। तदनन्तर वैजयन्त देवलोक का एक भव करके आप तीर्थंकर बने और निर्वाण को उपलब्ध हुए।

भगवान के निर्वाण के कुछ काल बाद तक तो धर्मशासन चलता रहा किन्तु बाद में साधु तीर्थ का विच्छेद हो गया। श्रावकों ने तीर्थ संचालन का दायित्व अपने हाथों में लिया। पर वे जैन धर्म की गरिमा को अक्षुण्ण नहीं रख सके। धर्मोपदेश को उन्होंने अर्थार्जन का साधन बना लिया। धर्मोपदेश के बदले वे भूमि, लोह, तिल, स्वर्ण, गौ और कन्या आदि तक का दान लेने लगे थे। तभी से उक्त प्रकार के दानों का प्रचलन प्रारंभ हुआ। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

(क) सुव्रत

सुदर्शनपुर निवासी गृहपति सुभाग और उसकी पत्नी सुजसा का आत्मज। जिनत्व का अमृत जन्मघुट्टी के रूप में सुव्रत को माता-पिता से प्राप्त हुआ था। सुव्रत युवा हुआ। उसके सद्संस्कार भी वृद्धिमान बने। एक बार एक मुनि नगर में पधारे। सुव्रत मुनि के दर्शनों के लिए गया। मुनि का उपदेश सुनकर सुव्रत ने आत्मकल्याण का निश्चय सुस्थिर बना लिया। उसने दीक्षित होने के लिए माता-पिता से आज्ञा मांगी। उसके माता-पिता भी भविकजन थे। पुत्र के उत्कृष्ट भावों को देखते हुए उसे दीक्षित होने की अनुमति माता-पिता ने दे दी।

सुव्रत प्रव्रजित हो गया। उसने ज्ञानाभ्यास किया और गीतार्थ बन गया। गुरु की अनुमति पर उसने एकलविहार प्रतिमा अंगीकार की और अकेला ही जनपदों में विचरण करने लगा। सुव्रत मुनि ने समता भाव की विशेष आराधना की। दिग्-दिगन्तों में मुनि की समता साधना यशस्वी बन गई। देवलोक तक में मुनि की समता साधना की सुगन्ध व्याप्त हो गई। एक बार देवराज इन्द्र ने मुनि की समता की अनुशंसा करते हुए देवसभा में कहा—सुर, नर, किन्नर और देव भी सुव्रत मुनि को समता से विचलित नहीं बना सकते हैं।

दो देव मुनि की परीक्षा लेने के लिए पृथ्वी पर आए। उन्होंने अनेक अनुकूल और प्रतिकूल परीषह और

उपसर्ग उपस्थित करके मुनि की साधना को खण्डित करने का उपक्रम किया, पर असफल रहे। अंततः मुनि की समता का गुणानुवाद करते हुए अपने स्थान पर लौट गए। उत्कृष्ट साधना से केवल-ज्ञान अर्जित कर सुव्रत मुनि ने मोक्षपद प्राप्त किया। —आवश्यक निर्युक्ति / योग संग्रह / जैनकथा रत्न कोष, भाग 6

(ख) सुव्रत

भगवान पद्मप्रभ के ज्येष्ठ गणधर।

सुव्रत (मुनि)

एक श्रेष्ठि-पुत्र जिसे बचपन से ही केसरिया मोदक अत्यधिक प्रिय थे। आचार्य शुभंकर के उपदेश से प्रभावित होकर सुव्रत प्रव्रजित हो गया। ज्ञान, ध्यान और तप में शीघ्र ही वह प्रवीण बन गया। किसी समय आचार्य राजगृह नगरी में पधारे। उस दिन नगरी में मोदकोत्सव था। मोदक को गरिष्ठ भोजन मानते हुए आचार्य श्री ने स्वयं भी उपवास कर लिया और शिष्यों को भी वैसा ही करने की प्रेरणा दी। सुव्रत के अतिरिक्त सभी शिष्यों ने उपवास कर लिया। सुव्रत के मन में छिपा बाल्यावस्था का संस्कार जागृत हो गया। केसरिया मोदक खाने की भावना प्रबल बनी और भिक्षा के लिए चल दिए। पर संयोग कुछ ऐसा बना कि मुनि को कहीं भी केसरिया मोदक का योग न मिला। सुबह से शाम तक मुनि द्वार-द्वार घूमता रहा। उस पर रसगृद्धि इस कद्र सवार हो गई कि उसे यह तक विवेक न रहा कि सूर्यास्त हो गया है। 'केसरिया मोदक—केसरिया मोदक' पुकारते हुए वह मार्गों पर घूम रहा था। जिनभद्र नामक एक श्रमणोपासक की दृष्टि मुनि पर पड़ी। मुनि को देखकर उसने वस्तुस्थिति को समझ लिया। उसने श्रद्धा भक्ति से मुनि को आमंत्रित किया और केसरिया मोदक बहराए। मुनि जब भिक्षा लेकर चलने लगे तो श्रावक जी ने मृदु शब्दों में पूछा, महाराज! समय क्या हुआ है? मुनि ने आकाश की ओर देखा। सितारों भरे आकाश को देखकर मुनि चौंके। गहन पश्चात्ताप में डूब गए। श्रावक की प्रार्थना पर रात्रि व्यतीत करने के लिए उस की पौषधशाला में ही ठहर गए। मुनि का चिंतन आत्मोन्मुखी बन चुका था। भाव विशुद्ध से विशुद्धतर बनते चले गए और उन्हें केवलज्ञान हो गया। देवों और मनुष्यों ने मुनि की साधना और श्रावक जी की अपूर्व सूझ की मुक्त मन से प्रशंसा की।

(क) सुव्रता

रत्नपुर नरेश महाराज भानु की महारानी और पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ की जननी। (देखिए-धर्मनाथ तीर्थंकर)

(ख) सुव्रता (आर्या)

तेतलीपुत्र प्रधान के कथानक में वर्णित साध्वी प्रमुखा। (देखिए-तेतली पुत्र)

(क) सुव्रताचार्य

भगवान मुनिसुव्रत के शासन में हुए एक आचार्य। (देखिए-महापद्म चक्रवर्ती)

(ख) सुव्रताचार्य

एक जैन आचार्य। सुव्रताचार्य शिष्यों को सदैव साध्वाचार की शिक्षाएं देते थे। एक दिन उन्होंने शिष्यों को शिक्षा देते हुए कहा, रात्रि में परठने के स्थान का दिन में ही सूक्ष्म अवलोकन कर लेना चाहिए। इस पर एक अविनीत शिष्य ने कहा, वहां पर क्या ऊंट बैठा है जो अवलोकन करना चाहिए। अविनीत शिष्य के इस अविनीत व्यवहार पर आचार्य मौन रहे। शासनरक्षक देव ने अविनीत शिष्य को यथोचित सीख देने के लिए एक उपाय किया। वह ऊंट का रूप धारण कर परठने के स्थान पर बैठ गया। रात्रि में वह शिष्य परठने गया

तो वहां ऊंट को बैठे देख आश्चर्यचकित हुआ। आचार्य श्री से उसने क्षमा मांगी और स्वयं को विनय धर्म में स्थापित किया। —उत्त. वृत्ति

सुशीला

भीमसेन की रानी, एक आदर्श पतिव्रता सन्नारी। (देखिए-भीमसेन)

सुषमा

राजगृहवासी धन्ना सेठ की इकलौती पुत्री जिसे चिलातीपुत्र अपनी पत्नी बनाना चाहता था। चिलातीपुत्र ने उसका अपहरण भी किया पर पकड़े जाने से भयभीत बनकर उसका सिर काट कर हत्या कर दी। (देखिए-चिलातीपुत्र) —ज्ञाताधर्म कथांग सूत्र

(क) सुसीमा

षष्ठम तीर्थंकर प्रभु पद्मप्रभ की माता।

(ख) सुसीमा

चौदहवें विहरमान तीर्थंकर श्री भुजंग स्वामी की जननी। (देखिए-भुजंग स्वामी)

(ग) सुसीमा

वासुदेव श्री कृष्ण की रानी। भगवान अरिष्टनेमि के प्रवचन से प्रतिबोधित बनकर उसने आर्हती दीक्षा धारण की और विशुद्ध चारित्र पालकर मोक्ष प्राप्त किया। —अन्तगडसूत्र वर्ग 5, अध्ययन 5

सुस्वरा (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 31

सुस्थित (आचार्य)

भगवान महावीर की धर्म संघ परम्परा के एक प्रभावी आचार्य। आचार्य सुहस्ती उनके गुरु थे। गुरु के स्वर्गवास के पश्चात् उन्होंने गण का नेतृत्व संभाला और अपने सहोदर तथा गुरु भ्राता सुप्रतिबुद्ध के आत्मीय सहयोग से संघ का कुशलता पूर्वक संचालन किया।

आर्य सुस्थित काकन्दी नगरी के राजकुमार थे। उनके सहोदर का नाम सुप्रतिबुद्ध था। इन दोनों भाइयों ने जैन धर्म के प्रख्यात श्रुतधर आचार्य सुहस्ती से दीक्षा धारण की। आर्य सुस्थित का जन्म वी.नि. 243 में और दीक्षा संस्कार वी.नि. 274 में हुआ।

आर्य सुस्थित कठोर संयमी, तपस्वी और स्वाध्याय प्रेमी मुनिराज थे। काकन्दी नगरी में सुप्रतिबुद्ध के साथ मिलकर उन्होंने जिनेश्वर देव का कोटि बार जप किया। इससे संघ में अत्यधिक हर्ष हुआ। उनकी उसी साधना के फलस्वरूप उनके गच्छ का नाम कोटिक गच्छ हुआ।

महाराज खारवेल द्वारा आयोजित कुमार गिरि पर्वत पर श्रमण सम्मेलन में आचार्य सुस्थित और आर्य सुप्रतिबुद्ध के उपस्थित होने के भी प्रमाण हैं। आचार्य सुस्थित ने 48 वर्षों तक श्रमण संघ को नेतृत्व प्रदान किया। वी.नि. 339 में उनका स्वर्गवास हुआ। आचार्य सुस्थित के पांच शिष्य थे—(1) इन्द्रदिन्न (2) प्रिय-ग्रन्थ (3) विद्याधर गोपाल (4) ऋषिदत्त (5) अर्हदत्त। —कल्प सूत्र स्थविरावली / हिमवंत स्थविरावली

(ख) सुस्थित (देव)

लवण समुद्र का अधिष्ठाता देव। (देखिए-जिनपाल)

सुस्थिर (आचार्य)

(देखिए-चन्दन राजा)

सुहस्ती (आचार्य)

तीर्थंकर महावीर के दसवें पट्टधर और दस पूर्वधर एक महान प्रभावशाली आचार्य। उन्होंने आचार्य स्थूलभद्र से दीक्षा धारण की थी और आचार्य महागिरि उनके गुरुभाई तथा शिक्षा-गुरु थे। आचार्य स्थूलभद्र ने महागिरि और सुहस्ती—इन दोनों को आचार्य पद प्रदान किया था, पर सुहस्ती सदैव महागिरि को गुरु तुल्य और अपना धर्मनेता मानते रहे। उनकी विरल विनय वृत्ति का यह प्रमाण है।

आर्य सुहस्ती का जन्म वी.नि. 191 में हुआ। उनका गोत्र विशिष्ट था। यक्षा आर्या के सान्निध्य में उन्होंने प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त की। युवक सुहस्ती ने वी.नि. 215 में आचार्य स्थूलभद्र से मुनिव्रत ग्रहण किया। आचार्य स्थूलभद्र के स्वर्गारोहण के पश्चात् वे महागिरि के सान्निध्य में रहे और दस पूर्वों का ज्ञान ग्रहण किया। कालान्तर में आर्य सुहस्ती को सर्वविध सुयोग्य अनुभव करते हुए संघ संचालन के समस्त दायित्व उन्हें देकर आचार्य महागिरि विशिष्ट साधना में संलग्न हो गए। आचार्य सुहस्ती ने कुशलता से संघ के दायित्व का निर्वाह किया। उनके शासन काल में अर्हत् संघ की काफी प्रभावना हुई। सम्राट्-सम्प्रति उनका अनन्य भक्त था। उसने आचार्य श्री के धर्मशासन के प्रचार-प्रसार मे अपूर्व सहयोग प्रदान किया। आचार्य श्री के प्रति सम्प्रति के अनन्य समर्पण और श्रद्धाभाव के पीछे एक तथ्य था, जो इस प्रकार है—

आचार्य सुहस्ती श्रमण संघ के साथ कौशाम्बी नगरी में विराजित थे। उस समय भीषण दुष्काल चल रहा था। प्रजा अन्न के कण-कण के लिए तड़प रही थी। परन्तु इस स्थिति में भी समृद्ध जैन श्रेष्ठी अपने गुरुओं के आहारादि के प्रति विशेष जागरूक थे। श्रमणों के आहार-विहार का समुचित ध्यान रखा जा रहा था। एक दिन आचार्य सुहस्ती के शिष्य श्रेष्ठी गृह से आहार प्राप्त कर रहे थे। एक क्षुधातुर रंक ने आहार दान की इस घटना को देखा। मुनिजन आहार ग्रहण करके उपाश्रय की ओर प्रस्थित हुए। क्षुधातुर रंक मुनियों के पीछे-पीछे चलने लगा। उसने मुनियों से आहार की याचना की। मुनियों ने कहा, हम अपने गुरु की आज्ञा के बिना कोई कार्य नहीं करते हैं। रंक मुनियों का अनुगमन करता हुआ आचार्य सुहस्ती के पास पहुंचा और उनसे आहार की याचना की। आचार्य सुहस्ती ज्ञानी पुरुष थे। उन्होंने रंक के भावी जीवन पर दृष्टिपात किया और जाना कि यह आत्मा भविष्य में जिनशासन की अतिशय प्रभावना करने में सहयोगी होगी। ऐसा जानकर आचार्य श्री ने उस रंक से कहा, बन्धु! यदि तुम मुनि-जीवन स्वीकार करो तो हम साधु-मर्यादानुसार तुम्हें आहार दे सकते हैं।

रंक ने क्षुधा से मरने के बजाय कठोर मुनि जीवन को अंगीकार करना उचित समझा। वह मुनि बनने के लिए तत्क्षण तैयार हो गया। आचार्य श्री ने उसे दीक्षित किया और उसे आहार भी प्रदान किया। वह कई दिनों का भूखा था। उसने भर पेट भोजन किया। मात्रातिक्रान्त भोजन करने से उसकी श्वासनलिका अवरुद्ध-प्रायः हो गई। रात्रि में ही समाधि पूर्वक उसका निधन हो गया। उसकी अल्पकालिक मुनि साधना के परिणाम में उसे राजपुत्र होने का गौरव प्राप्त हुआ। वह सम्राट् अशोक के पौत्र और कुणाल के पुत्र रूप में जन्मा जहां उसे संप्रति नाम प्राप्त हुआ।

एक बार राजकुमार संप्रति ने राजपथ पर विहार करते हुए आचार्य सुहस्ती को देखा। अपने परमोपकारी गुरु को देखकर उसे जातिस्मरण ज्ञान हो गया। प्रासाद से नीचे आकर वह गुरु चरणों पर प्रणत हो गया और उसने अपना परिचय आचार्य सुहस्ती को दिया। उसने कहा, भवगन्! आपकी अकारण करुणा-वत्सलता का ही यह फल है जो आज मैं राजकुमार के रूप में हूँ। मेरे लिए आदेश करें कि मैं आपकी क्या सेवा करूं।

आचार्य श्री ने राजकुमार सम्प्रति को उपदेश दिया और फरमाया कि जिनधर्म उभय लोक में कल्याणकारी है, उसी का तुम अनुगमन करो। सम्प्रति ने आचार्य श्री के कथन को प्रणत भाव से हृदयंगम किया और वह व्रतधारी श्रावक बन गया। राजपद प्राप्त करने के बाद सम्प्रति ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए कई महनीय कार्य किए। उसने आन्ध्र आदि अनार्य प्रदेशों में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार कराया और वह क्षेत्र श्रमणों के विहार के अनुकूल बनाया।

आचार्य सुहस्ती के जीवन से जुड़े कई कथा-प्रसंग प्रचलित हैं जो उनकी महानता को सहज सिद्ध करते हैं। वे असंख्य लोगों के लिए कल्याण का द्वार बने थे। उनके जीवन से सम्बद्ध अयवंती सुकुमाल का प्रसंग भी काफी रोचक है। आचार्य श्री की स्वाध्याय के पद सुनकर भद्रापुत्र अयवंती सुकुमाल को जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और बत्तीस पत्नियों के अनुराग तथा मातृममत्व का परिहार कर वह आचार्य श्री का शिष्य बन गया। आचार्य श्री से विशेष साधना की अनुज्ञा प्राप्त कर वह अवन्ती के श्मशान की दिशा में चल दिया। वह सुकोमल गात्र था। नंगे पैर चलने से पांवों से रक्त बहने लगा। पर समता भावी मुनि ने पूर्ण समता बनाए रखी। वह मुनि श्मशान में जाकर ध्यानस्थ हो गया। रात्रि में रक्त गन्ध से आकृष्ट बनी एक श्रृगाली अपने शिशु परिवार सहित वहां आ पहुंची। वह श्रृगाली मुनि के पैरों पर लगे रक्त को चाटने लगी। मुनि समाधि भाव में लीन रहे और उन्होंने श्रृगाली का प्रतिरोध नहीं किया। श्रृगाली ने मुनि के घायल पैर का भक्षण करना शुरू कर दिया। क्रमशः जंघा और उदर को भी उसने अपने शिशुओं के साथ उदरस्थ कर लिया। महान समता साधक अयवंती सुकुमाल देहोत्सर्ग करके नलिनीगुल्म विमान में देव बने।

दूसरे दिन सुकुमाल की पत्नियों ने मुनि परिषद् में सुकुमाल को नहीं देखा तो आचार्य श्री से उनके बारे में पूछा। आचार्य सुहस्ती ने अथान्त वृत्त का वर्णन किया। श्रोतागण रोमांचित हो उठे। माता भद्रा और उसकी इकतीस पुत्रवधुओं ने उसी दिन प्रव्रज्या धारण कर ली। अयवंती सुकुमाल की एक पत्नी ने सगर्भा होने के कारण प्रव्रज्या नहीं ली। कालक्रम से उसने पुत्र को जन्म दिया। कालान्तर में उस पुत्र ने अपने पिता की महाकालजयी साधना की स्मृति को अक्षुण्ण रखने के लिए श्मशान में एक मंदिर बनवाया। वह मंदिर महाकाल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आज भी उज्जैन में उस मंदिर की भारी मान्यता है।

आचार्य सुहस्ती के कई शिष्य हुए। उनके 12 शिष्यों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं। (1) आर्य रोहण (2) यशोभद्र (3) मेघवाणी (4) कामर्द्धि गणी (5) सुस्थित (6) सुप्रतिबुद्ध (7) रक्षित (8) रोहगुप्त (9) ऋषिगुप्त (10) श्री गुप्त (11) ब्रह्मगणी (12) सोमगणी।

आचार्य सुहस्ती के शासन काल में जिनधर्म का प्रभूत प्रसार हुआ। वे 46 वर्षों तक युगप्रधान पद पर रहे। वी.नि. 292 में उनका स्वर्गारोहण हुआ।

—नन्दी सूत्र / बृहत्कल्प भाष्य, विभाग 3 / परिशिष्ट पर्व, सर्ग 11

सुहाग सुंदरी

श्रीपुर नगर की राजकुमारी (देखिए-धनसागर)

सूर

एक विद्याधर जिसने एक श्रेष्ठी की व्रतनिष्ठा से प्रभावित होकर चौर्यकर्म का त्याग किया और अपने समस्त धन को जनकल्याण में समर्पित कर दिया तथा मरणोपरान्त देव पद पाया। (देखिए-लक्ष्मीपुञ्ज)

सूरप्रभ स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

नवम विहरमान तीर्थंकर। धातकी खण्ड द्वीप के पूर्व महाविदेह क्षेत्र की पुष्कलावती विजय के अन्तर्गत पुण्डरीकिणी नगरी में प्रभु का जन्म हुआ। महाराज विजय प्रभु के जनक और महारानी विजया जननी हैं। प्रभु जब युवा हुए तो नन्दसेना नामक राजकुमारी से उनका पाणिग्रहण हुआ। तिरासी लाख पूर्व तक प्रभु गृहवास और राजपद पद रहे। तदनन्तर वर्षीदान देकर दीक्षित हुए। शीघ्र ही प्रभु ने केवलज्ञान प्राप्त किया और धर्मतीर्थ की स्थापना की। प्रभु असंख्य भव्य जीवों के लिए कल्याण का कारण बने। चौरासी लाख पूर्व का सर्वायु भोग कर प्रभु निर्वाण को प्राप्त होंगे। चन्द्र आपका चिन्ह है।

सूराचार्य

एक सुविख्यात जैन आचार्य। सूराचार्य वादकला में निपुण और विद्वान मुनिराज थे। उनके सान्निध्य में अनेक विरक्त छात्र अध्ययन करते थे। आचार्य श्री उन्हें ज्ञान दान के साथ-साथ वाद-विद्या का प्रशिक्षण भी देते थे।

सूराचार्य का जन्म अणहिल्लपुर (पाटण) नगर में हुआ था। वे जन्मना क्षत्रिय थे। उनके पिता का नाम संग्राम सिंह था। उनके काका द्रोण जैन धर्म में दीक्षित होकर आचार्य पद को शोभायमान कर रहे थे। सूर जब अल्पायुषी ही थे तो उनके पिता का देहान्त हो गया। सूर की मां ने योग्य शिक्षा के लिए पुत्र को द्रोणाचार्य के चरणों में अर्पित कर दिया। द्रोणाचार्य के चरणों में रहकर सूर ने अध्ययन का क्रम प्रारंभ किया। शीघ्र ही वे जैन-जैनेतर दर्शनों के प्रकाण्ड पण्डित बन गए। द्रोणाचार्य ने सूर को आर्हती दीक्षा प्रदान की और यथासमय सूर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए।

वादकुशल सूराचार्य ने वाद के क्षेत्र में पर्याप्त सुयश अर्जित किया। गुर्जर नरेश भीम और मालव नरेश भोज सूराचार्य की विद्वत्ता से विशेष प्रभावित थे। इन दोनों राजाओं की सभा में सूराचार्य को उच्चासन प्राप्त था।

सूराचार्य वी.नि. की 16वीं शताब्दी के आचार्य थे। —प्रभावक चरित्र

सूर्पणखा

रावण की भगिनी। जन्म से उसका नाम चन्द्रनखा था पर सूर्पणखा नाम से ही वह लोक में प्रसिद्ध हुई। उसका एक पुत्र था शंबूक जो तप के द्वारा चन्द्रहास खड़ग को प्राप्त करने की साधना कर रहा था। अनजाने में लक्ष्मण द्वारा उसका वध हो गया। इससे सूर्पणखा जल-भुन उठी। राम-लक्ष्मण को देखकर वह उनके रूप पर भी मुग्ध बनी और प्रणय याचना करने लगी। उसके दुराग्रह पर लक्ष्मण ने उसे अपमानित करके भगा दिया। प्रतिशोध के लिए सूर्पणखा ने अपने भाई रावण को सीता हरण के लिए भड़काया। परिणामतः राम-रावण युद्ध हुआ। वस्तुतः राम और रावण के युद्ध की नींव डालने वाली सूर्पणखा ही थी। (देखिए-राम-रावण)

सूर्यकान्त

राजा प्रदेशी का पुत्र।

सूर्यकान्ता

विजया नगरी के राजकुमार महाभद्र (विहरमान तीर्थंकर) की परिणीता। (देखिए-महाभद्र स्वामी)

सूर्यप्रभा (आर्या)

आर्या सूर्यप्रभा का समस्त वर्णन काली आर्या के समान जानना चाहिए। विशेषता इतनी है कि यह अरक्खुरी नगरी के सूर्याभ गाथापति की पत्नी सूर्यश्री की आत्मजा थी और यहां से कालधर्म को प्राप्त होकर सूर्य नामक ज्योतिष्क इन्द्र की पट्टमहिषी बनी। (देखिए-काली आर्या) –ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 7, अ. 1

सूर्ययश

प्रथम चक्रवर्ती भरत का ज्येष्ठ पुत्र, एक दृढ़ प्रतिज्ञ और सूर्य सम तेजस्वी युवक। एक बार उसने प्रभु ऋषभदेव के प्रमुख शिष्य गणधर उसभसेन से जीवन-पर्यंत अष्टमी और चतुर्दशी के दिन प्रतिपूर्ण पौषध करने का नियम अंगीकार किया। उसकी धर्मरुचि अत्यन्त प्रखर थी। भरत द्वारा केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के पश्चात् वह अयोध्या के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। अपने पूज्य दादा और पिता के समान ही वह भी तेजस्वी सम्राट सिद्ध हुआ। पूरे पृथ्वीमण्डल पर उसका यश फैला हुआ था।

एक बार सूर्ययश की दृढ़धर्मिता की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए देवराज इन्द्र ने कहा, अयोध्या नरेश सूर्ययश अपने धर्म पथ पर सुमेरु के समान अडोल हैं। देव, दानव, मानव कोई भी उन्हें उनके पथ से–ग्रहण किए गए व्रतों से डिगा नहीं सकता है। देव सभा में रंभा और उर्वशी नामक दो देवियां उपस्थित थीं। उन्हें इन्द्र द्वारा की गई प्रशंसा उचित नहीं लगी। उन्हें अपने रूप और चातुर्य पर अतिशय गर्व था। वे दोनों सूर्ययश को उसके व्रतों से भ्रष्ट करने के लिए पृथ्वी पर आईं। दोनों ने विद्याधर-कन्याओं का वेश बनाया और अयोध्या के राजकीय उद्यान में पहुंचीं। उधर भ्रमण करते हुए राजमंत्री भी उद्यान में पहुंचा। उन दोनों कन्याओं के रूप को देखकर मंत्री दंग रह गया। उसने कन्याओं से उनका परिचय और प्रयोजन पूछा। कन्याओं ने अपना परिचय विद्याधर-कन्याओं के रूप में दिया और अपना प्रयोजन स्पष्ट किया कि वे सुयोग्य मानव-वर की तलाश में वहां आई हैं। मंत्री ने अपने महाराज सूर्ययश का परिचय उन कन्याओं को दिया और कहा कि वे पृथ्वी के भूषण नररत्न हैं। उन जैसा वर उन्हें पूरी पृथ्वी पर खोजे से नहीं मिलेगा। कन्याओं ने कहा, आपके महाराज को हमारी एक शर्त माननी होगी। यदि वे वैसा करने का वचन दें तो वे उनसे विवाह के लिए तैयार हैं।

मंत्री सूर्ययश के पास पहुंचा और उसे कन्याओं का परिचय दिया। साथ ही कहा कि ऐसे नारीरत्न पृथ्वी मण्डल पर दुर्लभ हैं। सूर्ययश उद्यान में गया। कन्याओं के रूप और वाग्चातुर्य से प्रभावित बनकर और वचनबद्ध होकर उसने उनसे पाणिग्रहण कर लिया।

अष्टमी के दिन पौषधोपवास की घोषणा हुई। सूर्ययश पौषध की आराधना के लिए पौषधशाला जाने लगा तो रंभा और उर्वशी ने उसका मार्ग रोक लिया और कहा, वे एक पल के लिए भी उनका विरह सहन नहीं कर सकती हैं, इसलिए अपने वर के रूप में उनसे याचना करती हैं कि वे पौषधोपवास न करें और उन्हीं के पास रहें।

विचित्र मांग सुनकर सूर्ययश चौंक गया। उसने कहा, यह नहीं हो सकता है। पौषधोपवास मेरे जीवन की मर्यादा है, मैं उसका त्याग नहीं कर सकता हूं। रंभा और उर्वशी ने कहा, हमने तो सुना था कि क्षत्रिय अपने वचन के लिए प्राण भी दे देते हैं, पर आप तो अपने वचन को भंग कर रहे हैं। सूर्ययश ने कहा, यदि

तुम अपने वर पर अडिग हो तो मैं अपने प्राण देने को तत्पर हूं। रंभा और उर्वशी ने कहा, हमें हमारा वर चाहिए, या तो हमारे वर को पूर्ण कीजिए अन्यथा अपने प्राणों का उत्सर्ग कीजिए।

सूर्ययश ने एक क्षण का विलम्ब किए बिना कटार खींच ली और अपना सिर काटने के लिए प्रहार किया। रंभा और उर्वशी सूर्ययश की व्रत दृढ़ता देखकर दंग रह गई। उन्होंने देवशक्ति से सूर्ययश का प्रहार मिथ्या कर दिया और वे दोनों उनके चरणों पर नत हो गईं। उन्होंने राजा को अपना वास्तविक परिचय दिया और इन्द्र द्वारा उनकी की गई प्रशंसा से लेकर उन द्वारा ली गई परीक्षा तक का पूरा कथानक कह दिया। साथ ही कहा कि उनकी दृढ़-धर्मिता से वे गद्‌गद हैं और उनकी मिथ्या मति सुमति में बदल गई है। दोनों देवियां राजा की प्रशंसा करती हुई अपने स्थान पर चली गईं।

सूर्ययश भी उत्कृष्ट जीवन जीकर पूर्णकाम होकर इस संसार से विदा हुए।

सेठ पूर्णचन्द

ई. की तेरहवीं सदी के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में दिल्ली के नगर सेठ। सेठ पूर्णचन्द दिगम्बर जैन थे। उनकी धर्मनिष्ठा उत्तम थी जिससे सुल्तान भी विशेष रूप से प्रभावित था।

एक बार कुछ नास्तिक लोगों ने सुल्तान के कान भरकर उससे यह फरमान जारी कराया कि दिल्ली के जैन अपने धर्म की परीक्षा दें। तब पूर्णचन्द ने दक्षिणापथ में निवास करने वाले भट्टारक माधवसेन को दिल्ली आमंत्रित किया। माधवसेन दिल्ली आए और उन्होंने अपनी विद्वत्ता और चमत्कारों से सुल्तान को चमत्कृत कर दिया। सुल्तान अत्यन्त प्रभावित हुआ। वह उसके बाद जैन समाज और जैन धर्म का सम्मान करने लगा।

एक बार सेठ पूर्णचन्द ने विशाल संघ के साथ गिरनार तीर्थ की यात्रा की। उधर गुजरात के मान्य जैन श्रेष्ठी पेथडशाह भी संघ-सहित तीर्थ यात्रा के लिए आए थे। जैन धर्म के दो आदर्श श्रावकों का सम्मिलन हुआ और वातावरण में माधुर्य उतर आया।

सेनक तापस

कोणिक (चम्पानरेश) का जीव पूर्वभव में सेनक नाम का तापस था। (देखिए-सुमंगल राजा)

(क) सोना देवी

तृतीय तीर्थंकर संभवनाथ की माता। (देखिए-संभवनाथ)

(ख) सोना देवी

सोलहवें विहरमान तीर्थंकर श्री नेमिप्रभ स्वामी की जननी। (देखिए-नेमिप्रभ स्वामी)

(क) सोम

चम्पानगरी का एक धनाढ्य ब्राह्मण। (देखिए-नागश्री)

(ख) सोम

द्वारिका नगरी का राजा। (देखिए-पुरुषोत्तम वासुदेव)

सोमचन्द्र

एक दृढ़ प्रतिज्ञ सद्‌गृहस्थ जो अति निर्धन था। मेहनत-मजदूरी करके वह अपना और अपनी पत्नी

किरण का जैसे-तैसे उदर-पोषण करता था। एक बार उसे आचार्य सुहस्ती का प्रवचन सुनने का पुण्य-प्रसंग प्राप्त हुआ। प्रवचनोपरान्त सभी श्रोताओं ने कुछ न कुछ नियम-व्रत ग्रहण किए। सोमचन्द्र का क्रम आया तो उसने आचार्य श्री से अपनी दशा का वर्णन किया और प्रार्थना की कि उसके लिए जो उचित हो वैसा नियम करा दें। आचार्य श्री ने उसे अहिंसा भगवती की महिमा बताई और कहा कि वह अच्छी तरह देख-परख कर बनाई गई सब्जी ही खाए, बिना उपयोग से बनाई गई सब्जी न खाए।

नियम ग्रहण कर वह घर गया और पत्नी से उसने अपने नियम की बात बताई। पत्नी प्रचण्ड स्वभाव की थी। उसने सोमचन्द्र को अनेक जली-कटी सुनाई और निर्णय सुना दिया कि उपयोग साधुओं का विषय है, तुम जैसों का नहीं, यहां उपयोग नहीं चलेगा। परिणामतः सोमचन्द्र को आयंबिल-जीवी होकर जीना पड़ा। रूखा-सूखा खाकर भी उसे पूर्ण संतोष था कि उसका नियम अखण्ड है। उसकी दृढ़धर्मिता से उसके अपुण्य शीघ्र ही जल कर खाक हो गए और पुण्यों का उदय हो आया। एक दिन उसे नगर के बाहर यक्षायतन में रात्रि व्यतीत करनी पड़ी जहां से उसे अपार धन प्राप्त हुआ। धन को देखते ही—अथवा पुण्यों के उदय होते ही पत्नी का प्रचण्ड स्वभाव भी सुमधुर बन गया। वह न केवल पति के नियम-पालन में पूर्ण सहयोगी बनी, बल्कि उसने भी आचार्य श्री से सामायिक, संवर, नियमादि ग्रहण किए। पति-पत्नी धर्म पूर्वक जीवन-यापन कर सद्गति के अधिकारी बने।

सोम जी ऋषि

आचार्य लवजी ऋषि के शिष्य और उनके क्रियोद्धार अभियान को कुशलता पूर्वक आगे बढ़ाने वाले एक तेजस्वी मुनि। वी.नि. 2180 (वि. 1710) में उन्होंने मुनि दीक्षा धारण की और उत्कृष्ट आचार का पालन और प्रचार किया। (देखिए-लवजी ऋषि)

(क) सोमदत्त

चम्पानगरी का एक धनी ब्राह्मण। (देखिए-नागश्री)

(ख) सोमदत्त (सोमदेव)

कौशाम्बी नगरी के भगदत्त नामक ब्राह्मण के दो पुत्र थे—सोमदत्त और सोमदेव। सोमदत्त और सोमदेव ने दत्त नामक जैनाचार्य के उपदेश से प्रतिबोध प्राप्त कर दीक्षा ली। शीघ्र ही वे गीतार्थ बन गए। गुरु की आज्ञा प्राप्त कर किसी समय वे दोनों मुनि आचार्य सोमप्रभ के दर्शनों के लिए उज्जयिनी नगरी की दिशा में विहार कर रहे थे। मार्ग में भिक्षा में उन्हें विषमिश्रित अन्न की प्राप्ति हुई। विषाक्त आहार से मुनि-द्वय व्याधि ग्रस्त हो गए। जंगल में एक नदी के किनारे विशाल काष्ठ को प्रासुक जानकर दोनों मुनि अनशन धारण कर उस पर लेट गए। पीछे तेज वर्षा हुई और अकस्मात् नदी में तेज बाढ़ आ गई। मुनियों सहित वह लक्कड़ भी पानी में बह गया। समता साधना में लीन रहते हुए मुनियों ने प्राणोत्सर्ग किया और उच्चगति के अधिकारी बने। भवान्तर में मुनिद्वय सिद्धि प्राप्त करेंगे। —उत्त. वृत्ति

(क) सोमदेव

जैन धर्म के प्रभावक आचार्य आर्यरक्षित के संसारपक्षीय जनक। आर्य रक्षित के उपदेश से उनका भाई फल्गुरक्षित और माता दीक्षित हो गए। सोमदेव ने आर्य रक्षित के साथ रहना तो स्वीकार किया परन्तु ब्राह्मण धर्म के प्रतीक दण्ड-कमण्डल और धोती का त्याग नहीं किया जिसके कारण आचार्य श्री ने उसे दीक्षित नहीं किया। लोग आचार्य श्री और उनके शिष्यमण्डल को वन्दन करते। सोमदेव को कोई वन्दन नहीं करता। वह

लोगों से उसका कारण पूछता तो उसे उत्तर मिलता—हम साधुओं को वन्दन करते हैं, दण्ड कमण्डलधारी गृहस्थ को नहीं। इससे सोमदेव ने दण्ड-कमण्डल का परित्याग कर दिया, परन्तु उसने धोती का त्याग नहीं किया।

आर्य रक्षित अपने ज्ञान में देख रहे थे कि उनके पिता भद्रिक परिणामी हैं। लज्जा उनके दीक्षित होने में बाधा है। आचार्य श्री ने एक उपक्रम किया। श्रावकों के कुछ नन्हे बालकों को समझाकर उन्होंने सोमदेव की धोती छीन लेने के लिए कहा। बालकों ने वैसा ही किया। हैरान होकर सोमदेव ठिठक गया। आचार्य श्री द्वारा प्रेरित एक श्रावक ने तत्काल सोमदेव को चोलपट्ट प्रदान किया। सोमदेव ने चोलपट्ट धारण कर लिया और आचार्य श्री के पास उपस्थित होकर नटखट बच्चों की शिकायत की। तभी एक श्रावक ने कहा, महाशय! आप चाहें तो आपके लिए धोती की व्यवस्था करूं?

सोमदेव ने कहा, अब चोलपट्ट धारण कर ही लिया है तो इसका त्याग नहीं करूंगा। फिर सोमदेव की प्रार्थना पर आचार्य श्री ने उसे प्रव्रज्या का दान दिया। शुद्ध साध्वाचार का पालन कर आर्य सोमदेव देवलोक के अधिकारी बने।

(ख) सोमदेव (आचार्य)

दिगम्बर जैन परम्परा के एक समर्थ विद्वान, साहित्य-स्रष्टा और वादकुशल आचार्य। आचार्य सोमदेव देव संघ के थे और उनके गुरु का नाम नेमिदेव था जो यशोदेव के शिष्य थे।

आचार्य सोमदेव अपने समय के यशस्वी और वादी मुनि थे। उनकी वादकुशलता के समक्ष तत्कालीन विद्वान नतमस्तक थे। आचार्य श्री ने कई शास्त्रार्थों में विजय प्राप्त की थी।

आचार्य सोमदेव उद्भट विद्वान थे। यशस्तिलक चम्पू काव्य उनकी एक श्रेष्ठ रचना है। उन्होंने अन्य कई ग्रन्थों की रचना भी की। उपरोक्त ग्रन्थ के अतिरिक्त उनके दो अन्य ग्रन्थ नीतिवाक्यामृत और अध्यात्म तरंगिणी वर्तमान में उपलब्ध हैं। उन द्वारा रचित तीन अन्य ग्रन्थों की नामावली भी प्राप्त होती है।

आचार्य सोमदेव ने लुप्त प्राय अर्थ बहुल शब्दों का अपने साहित्य में पूर्ण अधिकार के साथ सुन्दर प्रयोग किया है जो उनकी विद्वत्ता को सहज ही सिद्ध करता है। उनका समय वी.नि. की 15वीं शती माना जाता है।

(क) सोमप्रभ (आचार्य)

श्वेताम्बर मंदिरमार्गी परम्परा के एक विश्रुत आचार्य। बड़गच्छ के विजयसिंह सूरि उनके गुरु थे। आचार्य सोमप्रभ पोरवाल वंशज थे। उनके दादा का नाम जिनदेव और पिता का नाम सर्वदेव था। उनके दादा मंत्री पद पर प्रतिष्ठित थे। सोमप्रभ दीक्षा धारण कर अध्ययनशील मुनि बने। विविध भाषाओं और दर्शनों के वे अधिकारी विद्वान थे। उन द्वारा रचित प्रमुख ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है—सुमतिनाह चरिय, कुमारपाल पड़िबोहो, शृंगार-वैराग्य तरंगिनी, सिन्दूर प्रकर, शतार्थकाव्य आदि।

आचार्य सोमप्रभ ने 'कुमारपाल पड़िबोहो' ग्रन्थ की रचना वी.नि. 1711 में की थी। इस उल्लेखानुसार आचार्य सोमप्रभ वी.नि. की 18वीं सदी के पूर्वार्द्ध के आचार्य सिद्ध होते हैं।

(ख) सोमप्रभ (आचार्य)

तपागच्छ के एक प्रभावक जैन आचार्य। धर्मघोषसूरि उनके गुरु थे। आचार्य सोमप्रभ का जन्म वी. नि. 1780 में हुआ था। मात्र 11 वर्ष की अवस्था में ही वे प्रव्रजित हुए। अध्ययन रुचि और श्रेष्ठ मेधा के

कारण वे अपने युग के समर्थ विद्वान मुनि बने। शास्त्रार्थ में उन्हें विशेष कुशलता प्राप्त थी। चित्तौड़ में उन्होंने कई वैदिक विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित किया। उन्होंने जैन धर्म की महान प्रभावना की। ज्योतिष विद्या के भी वे अधिकारी विद्वान थे। उसके द्वारा वे भविष्य की घटनाओं का अध्ययन कर लेने में समर्थ थे।

वी.नि. 1843 में आचार्य सोमप्रभ सूरि का स्वर्गवास हुआ।

(ग) सोमप्रभ (राजा)

भगवान ऋषभदेव का पुत्र, श्रेयांस कुमार का पिता और हस्तिनापुर का राजा।

सोमभूति

चम्पानगरी का धनी ब्राह्मण। (देखिए-नागश्री)

सोमवसु

कौशाम्बी नगरी का रहने वाला एक जिज्ञासु युवक। सोमवसु सत्य का खोजी था और उससे कम पर उसे संतोष नहीं था। अनेक वर्षों तक वह दूर-दूर तक भटकता रहा। अनेक विद्वानों के पास वह गया, अनेक योगियों और ऋषियों के द्वार पर उसने दस्तक दी, पर उसकी सत्य-शोध को सन्तुष्टि नहीं मिली। आखिर एक बार उसे जैन श्रमण आचार्य सुघोष के दर्शनों का सुअवसर प्राप्त हुआ। आचार्य श्री के दर्शन से ही सोमवसु को अनुभव हुआ कि वह अपनी मंजिल के सन्निकट है।

रात्रि में शिष्य श्रमण गुर्वाज्ञा प्राप्त कर निद्रित हो गए। आचार्य श्री वैश्रमण अध्ययन का परावर्तन करने लगे। वैश्रमण देव स्वयं उपस्थित हुआ और आचार्य श्री को वन्दन कर पाठ सुनने लगा। पाठ पूर्ण होने पर देव ने आचार्य श्री को वन्दन किया और प्रार्थना की, भगवन् ! मेरे योग्य सेवा बताकर मुझे धन्य कीजिए! आचार्य श्री ने फरमाया, तुम्हारा हृदय सदैव धर्मदीप से आलोकित रहे।

देव अपने स्थान पर लौट गया। सोमवसु आचार्य श्री की निस्पृहता देखकर गद्‌गद बन गया। उसने विचार किया, जिन देवताओं की कृपा की आकांक्षा में जगत में होड़ लगी रहती है वही देवता इन अकिंचन अणगारों की चरणरज प्राप्त कर स्वयं को धन्य अनुभव करते हैं। इस प्रकार चिन्तन करते-करते सोमवसु ने आचार्य श्री के पास दीक्षा धारण करने का संकल्प कर लिया। वह दीक्षित हुआ। उसने सत्य से साक्षात्कार साधा। नानाविध सुगम-दुर्गम साधनाओं से उसने अपनी आत्मा को भावित किया और सुगति का अधिकार प्राप्त किया।

—धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 92

(क) सोमशर्मा

देवकोटपुर नगर का रहने वाला एक वेदपाठी ब्राह्मण। वह चार वेदों, छह शास्त्रों और अठारह पुराणों का पारगामी पण्डित था। विद्वान होते हुए भी वह अपनी विद्या का उपयोग अर्थ उपार्जन के लिए नहीं करता था। वह व्यापार करता और उसी से अपना तथा अपने परिवार का पालन-पोषण करता था। एक बार उसने विष्णुदत्त शर्मा से कुछ धन उधार लिया और व्यापार के लिए प्रदेश गया। मार्ग में डाकुओं ने उसके धन का हरण कर लिया। इससे सोमशर्मा बड़ा दुखी हुआ। जंगल में उसे एक मुनि के दर्शन हुए। मुनि ने उसको धर्मोपदेश दिया। सोमशर्मा विद्वान तो था ही, परिणामतः उसने सुलभता से मुनि का उपदेश हृदयंगम कर लिया। उसका हृदय वैराग्य से पूर्ण हो गया और उसने मुनि से प्रव्रज्या स्वीकार कर ली। मुनि सोमशर्मा कुछ वर्षों तक गुरु के सान्निध्य में विचरते रहे। गीतार्थ होने पर उन्होंने एकल-विहार प्रतिमा धारण कर ली।

एक बार मुनि सोमशर्मा विचरण करते हुए देवकोटपुर नगर में पधारे। भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए मुनि सोमशर्मा को विष्णुशर्मा ने देखा और पहचान लिया। विष्णुशर्मा वैदिक-पण्डित था और ब्राह्मण धर्म को ही धर्म मानता था। श्रमण धर्म को वह पाखण्ड मानता था। उसके हृदय में रहा हुआ श्रमण-द्वेष जागृत हो गया और बाजार के मध्य में ही उसने मुनि का मार्ग रोक लिया। वह बुलन्द स्वर में मुनि से अपना धन मांगने लगा। मुनि सोमशर्मा ने उसे समझाया कि अब वह मुनिव्रत ग्रहण कर चुका है और अब उसके पास धन नहीं है। इस पर भी विष्णुशर्मा ने अपनी जिद्द नहीं छोड़ी और अपना धन वसूलने के लिए आग्रह पर उतर आया। उधर नगर के मान्य श्रावक वहां पहुंचे और विष्णुशर्मा को समझाने का यत्न करने लगे। पर विष्णुशर्मा अपने धन की रट लगाता रहा। श्रावकों ने मुनि से सविनय बात का रहस्य पूछा तो मुनि ने पूरी घटना वर्णित कर दी कि गृहस्थ अवस्था में उसने कुछ धन विष्णुशर्मा से उधार लिया था और उसका भुगतान किए बिना ही उन्होंने प्रव्रज्या धारण कर ली। वस्तुस्थिति से भिज्ञ बनकर श्रावकों ने विष्णुदत्त से कहा कि उसके धन का भुगतान वे करेंगे। इस पर विष्णुशर्मा रोषारुण बन गया और बोला कि वह भिखारी नहीं है जो उनसे धन ले। वह उसी से धन लेगा जिसको उसने दिया है।

समस्या जटिल थी। विष्णुशर्मा श्रमणधर्म की अवमानना करने पर उतारू था। आखिर मुनि ने कहा कि कल प्रभात में वे उसका धन लौटा देंगे, उन्हें एक दिन का समय दिया जाए। विष्णुदत्त शर्मा बोला, श्रमण के वचन पर विश्वास करके मैं इन्हें एक दिन का समय देता हूँ। कल अपना धन अवश्य वसूल कर लूंगा।

दूसरे दिन प्रभात में मुनि श्मशान में बैठे चिन्तन कर रहे थे कि विष्णुशर्मा को धन लौटाना है, पर कैसे लौटाएं, मैं तो अकिंचन अणगार हूँ। मेरे कारण जिनत्व अपमानित हो रहा है। इस चिन्तन में लीन मुनि के नेत्रों से अश्रुधार बह चली। उधर एक व्यंतरी ने अपने ज्ञान में मुनि की मनोदशा को जाना। उसने मुनि के समक्ष प्रकट होकर प्रार्थना की, मुनिवर! आर्त्तध्यान से बाहर आइए। जिनधर्म आपके कारण कलंकित नहीं प्रशंसित होगा। कहकर व्यंतरी ने हीरों और मोतियों का विशाल ढ़ेर लगा दिया। विष्णुशर्मा और अनेक श्रावक मुनि के पास पहुंचे। रत्नराशि का विशाल ढेर देखकर विष्णुशर्मा चमत्कृत हो गया। श्रावकगण ने मुनि की जय- जयकार की। व्यंतरी ने प्रकट होकर कहा, निस्पृह श्रमण से धन नहीं धर्म की याचना करनी चाहिए। धर्म के समक्ष धन का कुछ भी मूल्य नहीं है। विष्णुशर्मा को और अधिक धन की आकांक्षा है तो अपनी आकांक्षा वह प्रकट करे।

विष्णुशर्मा गद्‌गद बन गया। उसके अन्तर्नेत्र खुल गए। वह उसी क्षण प्रव्रजित होकर श्रमण साधना में रत हो गया। मुनि सोमशर्मा निरतिचार संयम पाल कर मोक्ष में गए।

—बृहत्कथा कोष, भाग 9—(आचार्य हरिषेण)

(ख) सोमशर्मा

बाहड़ देश का रहने वाला एक ब्राह्मण। वह ज्ञानावरणीय कर्म के प्रगाढ़-बन्धन के कारण विद्याध्ययन नहीं कर सका। किसी समय वह घूमते-भटकते मथुरा नगरी में पहुंचा। वहां पर उसे आचार्य प्रवर नन्दिमित्र के दर्शन हुए। आचार्य श्री का उपदेश सुनकर उसे वैराग्य हो आया और उसने प्रव्रज्या धारण कर ली। आचार्य श्री ने जान लिया था कि सोमशर्मा की मेधा स्थूल है। इसलिए उन्होंने उसे स्मरण करने के लिए एक छोटा सा पद दिया। वह पद था—नमः सिद्धम्।

सोमशर्मा उस पद को रटता रहता। अहर्निश रटता रहता। पर पुनः-पुनः उसे विस्मृत हो जाता। विस्मृत हो जाता तो आचार्य श्री से पूछने जाता। पन्द्रह दिन निरन्तर उक्त पद को रट कर भी वह उसे स्मरण नहीं कर पाया। भूल जाने पर आचार्य श्री से पूछने उनके पास पहुंचा। इस बार आचार्य श्री नाराज हो गए, बोले पन्द्रह दिनों में एक पद स्मरण नहीं कर पाए तो ज्ञान की आराधना और तप-संयम की उग्र साधना कैसे कर पाओगे ?

सोमशर्मा खिन्न बन गया। उसे अपने बुद्धि के जड़त्व पर बहुत दुख हुआ। वहां से चलकर वह एक अन्य आचार्य के पास पहुंचा। उसने आचार्य से पण्डित-मरण विधि के बारे में पूछा। आचार्य ने उसकी कामना पूछी। उसने स्पष्ट कर दिया कि वह मरण का वरण करना चाहता है। आचार्य श्री ने अपने ज्ञान में देखा और जाना कि सोमशर्मा का आयुष्य मात्र दो दिनों का ही शेष है। उन्होंने सोमशर्मा को देव-गुरु-धर्म का मर्म समझाया और उसी में चित्त लगाने का निर्देश दिया। सोमशर्मा मुनि ने देव-गुरु-धर्म की शरण में अपने चित्त को एकाग्र बना दिया और मरण प्राप्त कर देवलोक में गया। —बृहत्कथा कोष-भाग 1 (आ. हरिषेण)

(क) सोमश्री

महाराज श्रेणिक की एक पुत्री जिसका विवाह धन्य जी के साथ हुआ था। (देखिए-धन्य जी)

(ख) सोमश्री

सोमा की माता, सोमिल ब्राह्मण की पत्नी। (देखिए-सोमिल ब्राह्मण)

सोमसुन्दर सूरि (आचार्य)

विक्रमी सं. की 15-वीं सदी के एक क्रियोद्धारक आचार्य। वे तपागच्छ परम्परा के मुनि थे। मुनि संघ में व्याप्त शिथिलाचार को देखकर उन्होंने क्रियोद्धार किया और अपना साथ देने वाले मुनिसंघ के लिए उन्होंने कठोर सामाचारी का निर्माण किया। उन्होंनें आगम सम्मत श्रमणाचार का स्वयं भी पालन किया और उसका प्रचार-प्रसार भी किया। शुद्ध धर्म के उनके प्रचार-प्रसार से शिथिलाचारी उनके विरोधी बन गए। उन शिथिलाचारियों ने एक पुरुष को 500 टके (रुपए) देकर उसे सोमसुन्दर सूरि की हत्या के लिए नियुक्त कर दिया।

एक रात्रि में शिथिलाचारियों द्वारा नियुक्त किया गया वह व्यक्ति आचार्य सोमसुन्दर सूरि का वध करने पहुंचा। उस समय आचार्य निद्रा में थे। उस व्यक्ति ने देखा—आचार्य श्री ने निद्रा में ही करवट बदलने से पूर्व प्रमार्जनी से अपने शरीर और आसन का प्रमार्जन किया, उसके बाद करवट बदली। आचार्य श्री की इस सूक्ष्म और महान करुणा को देखकर हत्यारा दंग रह गया। आचार्य श्री के इस उत्कृष्ट आचार ने उसका हृदय-परिवर्तन कर दिया। वह आचार्य श्री के चरणों पर गिर पड़ा और उसने पूरी बात उनके समक्ष खोल दी। आचार्य सोमसुन्दर सूरि ने उस व्यक्ति को सान्त्वना दी और धर्म का मर्म उसे समझाया। आचार्य श्री के आचार ने एक हत्यारे को सद्धर्म का उपासक बना दिया।

(क) सोमा

विदेह देश के रुद्रदेव नामक सार्थवाह की पत्नी, एक सरल हृदय और पतिव्रता सन्नारी। बाल्यकाल में ही उसने श्रमण-सद्गुरु से कई नियम-व्रत ग्रहण किए थे। विवाह के पश्चात् भी उसकी व्रतनिष्ठा और धर्मरुचि यथावत् सुचारु बनी रही। रुद्रदेव का स्वभाव सोमा से पूर्णरूप से विपरीत था। वह भोग प्रिय व्यक्ति था। साथ ही वह चाहता था कि उसकी पत्नी भी भोग-प्रिय बने। पर उसकी निरन्तर प्रेरणा पर भी

उसकी पत्नी भोगों में उसकी अनुगामिनी नहीं बन पाई। इस पर रुद्रदेव खिन्नता से भर गया। वह पुनर्विवाह करके अपनी भोगेच्छा पूर्ण करने की कल्पना करने लगा। पर सोमा के रहते वैसा कर पाना संभव नहीं था। सो उसने सोमा को अपने मार्ग से हटाने का निश्चय कर लिया, और अनुकूल अवसर साधकर उसकी हत्या कर डाली। समता भाव से प्राणोत्सर्ग करके सोमा स्वर्ग में गई। सोमा की मृत्यु के बाद रुद्रदेव ने एक अन्य स्त्री से विवाह किया। भोगों में अहर्निश संलग्न रहकर रुद्रदेव ने प्राण त्यागे और मरकर नरक में गया।

आगे के कई भवों में सोमा और रुद्रदेव विभिन्न सम्बन्धों को धारण कर परस्पर साथ रहे। पर पूर्व ईर्ष्या के कारण रुद्रदेव का जीव सोमा के जीव के अहित की कामना से ही भरा रहा। सोमा का जीव अपने आत्मिक गुणों का निरन्तर विकास करता रहा। परिणामतः स्त्री वेद का छेदन कर सोमा के जीव ने पुरुषवेद प्राप्त किया और कुछ ही भवों के पश्चात् सिद्धत्व प्राप्त कर लिया। रुद्रदेव का जीव निरन्तर ह्रास को प्राप्त होता रहा जिसके फलस्वरूप वह अपरिमित संसारी बन गया। —धर्मतत्व प्रकरण टीका, गाथा 14

(ख) सोमा

(देखिए-गजसुकुमार)

(ग) सोमा

आर्य रक्षित की माता। ब्राह्मण कुल की होते हुए भी सोमा का जैन धर्म के प्रति अनन्य अनुराग था। जब उसका पुत्र रक्षित पाटलिपुत्र से वेद-वेदांगों का अध्ययन करके लौटा तो ब्राह्मण कुल और उसके परिवार में उत्सव मनाया गया। उस उत्सव के समय सोमा सामायिक की आराधना में तल्लीन थी। रक्षित ने माता से पूछा, मां! सभी लोग मेरे आने पर आनन्द मग्न हैं, उन जैसी प्रसन्नता आपके आनन पर नहीं है। ऐसा क्यों?

सोमा ने कहा, पुत्र! कौन माता होगी जो अपने विद्यानिष्णात पुत्र के घर लौटने पर प्रसन्न नहीं होगी! मैं भी प्रसन्न हूं! पर मुझे जो विचार है वह यह है कि तुम ने जो विद्या ग्रहण की है उससे प्रतिष्ठा और आजीविका तो सहज सुलभ हो जाएगी पर उससे आत्मकल्याण की प्राप्ति नहीं होगी! मातृभक्त रक्षित ने उत्सुकता से पूछा, माता! आत्मकल्याणकारी कौनसी विद्या है? वह विद्या मैं किनसे ग्रहण करूं?

सोमा ने कहा, दृष्टिवाद ही आत्मकल्याणकारी विद्या है, उसकी प्राप्ति तुम्हें तोषलिपुत्र जैनाचार्य के सान्निध्य से प्राप्त होगी। माता को प्रणाम कर रक्षित दृष्टिवाद विद्या को सीखने के लिए चल दिए। उसके लिए वे दीक्षित हुए। तोषलिपुत्र और आर्य वज्रस्वामी से उन्होंने दृष्टिवाद का अध्ययन किया। उनका भाई फल्गुरक्षित उन्हें लौटा लाने के लिए गया तो वह भी प्रव्रजित हो गया। कालान्तर में अपने दोनों पुत्रों को मुनि रूप में देखकर सोमा के हर्ष का पारावार न रहा। वह स्वयं भी जिनशासन में प्रव्रजित हो गई।

एक आदर्श मां और साध्वी के रूप में सोमा अमर हो गई। —जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(घ) सोमा

महासती सोमा का जीवन वृत्त पौराणिक जैन साहित्य के पृष्ठों पर भावपूर्ण शब्दों में अंकित हुआ है। सोमा का जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ था। परन्तु बाल्यकाल में ही उसके माता-पिता का निधन हो जाने के कारण उसका पालन-पोषण जिनदत्त नामक एक जैन श्रेष्ठी के घर में हुआ। श्रेष्ठी ने सोमा को अपनी पुत्री तुल्य माना। श्रेष्ठी की एक अपनी पुत्री भी थी जो सोमा की ही आयु की थी। दोनों में श्रेष्ठी का समान वात्सल्य भाव था।

श्रेष्ठी के वात्सल्य के साथ-साथ जैन संस्कार भी सोमा को प्राप्त हुए। उसने एक जैन श्रमण से प्रतिदिन सामायिक करने का नियम लिया। साथ ही उसने एक अन्य नियम लिया कि वह किसी भी कार्य को करने से पहले नवकार मंत्र पढ़ेगी।

सोमा जब युवा हुई तो श्रेष्ठी ने एक संपन्न और सुसंस्कारी ब्राह्मण युवक से उसका विवाह कर दिया। विवाह के पश्चात् भी सोमा सामायिक और नवकार मंत्र की नियमित आराधना करती रही। सोमा की सास को उसका जैन धर्म फूटी आंख नहीं सुहाता था। उसने सोमा को आदेश दिया कि वह जैन साधना को छोड़कर शिव पूजा में ध्यान लगाए। सोमा ने सास को अनुनय-विनयपूर्वक समझाया कि धर्म आत्मा की वस्तु है, वह सामायिक करते हुए भी उनकी पारिवारिक परम्पराओं का सम्मान करेगी।

सास का स्वभाग उग्र था और वह धर्मांध थी। उसने विभिन्न विधियों से सोमा को प्रताड़ित करना शुरू कर दिया। सोमा प्रताड़नाएं झेल कर भी अपने स्वीकृत पथ पर अचल रही।

एक दिन सास का धैर्य डोल गया और उसने निश्चय किया कि वह किसी न किसी विधि से सोमा की हत्या कर देगी। तभी उसकी दृष्टि एक सपेरे पर पड़ी। उसने सपेरे से सर्प की याचना की। सपेरे ने मूल्य प्राप्त कर एक घड़े में बंद कर एक सर्प सास को दे दिया। सास ने घड़े को घर के भीतर कक्ष में रख दिया। सास ने यह कार्य इस चतुराई से किया कि उसके बारे में सोमा कुछ भी नहीं जान पाई

सामायिक की आराधना के पश्चात् सोमा अपने कक्ष से बाहर आई तो सास ने स्वर में माधुर्य घोलते हुए कहा—बेटी! तुम्हारे पति आज तुम्हारे लिए एक सुंदर हार लेकर आए हैं। अंदर कक्ष में रखे घड़े में से निकालकर वह हार तुम धारण कर लो।

सास के मधुर व्यवहार पर सोमा रीझ गई। सरल स्वभाव से वह कक्ष में गई। नियमानुसार नवकार मंत्र पढ़कर उसने घड़े में हाथ डाला। सोमा के महामंत्र की श्रद्धा के कारण शासनदेव ने कृष्णसर्प को फूलों के हार में बदल दिया। हार को गले में धारण कर सोमा सास के पास आई। सोमा के गले में फूलों के हार को देखकर सास दंग रह गई। क्षणभर के लिए वह सर्प की बात को भी भूल गई। बोली—बहू! मुझे भी हार दिखाओ!

सोमा ने हार को गले से निकालकर सास के हाथों में दे दिया। सास के हाथ में जाते ही हार पुनः कृष्ण सर्प में बदल गया और उसने सास को डस लिया। अपने षड्यंत्र का स्वयं शिकार बनकर सास का निधन हो गया।

पति और श्वसुर ने सोमा पर सास की हत्या का आरोप मढ़ दिया। आखिर यह विवाद राजा तक पहुंच गया। राजा ने सोमा से उसका पक्ष रखने को कहा।

सोमा ने सरलतापूर्वक पूरी बात राजा को बता दी। राजा ने सपेरे की खोज कराई। सपेरे ने कहा—एक वृद्धा ने मुझसे सर्प खरीदा था। सोमा के पक्ष को सपेरे की बात से बल मिला। पर सर्प फूलों का हार बन सकता है इस बात पर राजा को विश्वास नहीं हुआ।

राजा ने कहा—सोमा! यदि तुम पुनः सर्प को हार बना सको तो तुम्हें निर्दोष माना जाएगा। सोमा की सहज स्वीकृति पर पुनः एक सर्प को घट में रखा गया। सोमा ने अपने देव-गुरु-धर्म का स्मरण किया और घड़े में हाथ डाला। महामंत्र के चमत्कार से सर्प पुनः हार में बदल गया था। सोमा ने उस हार को गले में धारण कर लिया। राजा और प्रजा ने इस चमत्कार को साक्षात् देखा और सोमा की जय-जयकार की।

तब सोमा ने हार को हाथ में लेकर कहा—महाराज! कथा का पक्ष अभी अधूरा है। यह पक्ष तब पूर्ण होगा जब इस हार को आप मेरे हाथ से ग्रहण करेंगे। राजा झेंप गया। उसने कहा—पुत्री! इसे जमीन पर रख दो!

सोमा ने हार को जमीन पर रखा तो वह पुनः सर्प बनकर जमीन पर रेंगने लगा। इस घटना से सोमा और जैन धर्म की चतुर्दिक् में जय-जयकार हुई। पति और श्वसुर ने सोमा से क्षमा मांगी और उन्होंने भी जैन धर्म अंगीकार कर लिया।

(ङ) सोमा (परिव्राजिका)

चोराक सन्निवेश-वासिनी एक परिव्राजिका। जयंती नामक एक अन्य परिव्राजिका उसकी सहचरी थी। वे दोनों पहले प्रभु-पार्श्व की परम्परा में दीक्षित हुई थीं पर साधना की कठिनता से चलित बनकर वे संयम से च्युत हो गईं और परिव्राजिकाएं बन गईं। चोराक सन्निवेश के अधिकारियों ने जब भगवान महावीर को चोर समझकर गिरफ्तार कर लिया तो इन्हीं परिव्राजिकाओं ने अधिकारियों को महावीर का परिचय दिया जिस पर अधिकारियों ने अपनी भूल का परिहार करते हुए महावीर को मुक्त किया।

सोमाई महत्तरा

अंचलगच्छ की प्रथम साध्वी-प्रमुखा। अंचलगच्छ के संस्थापक आर्यरक्षित सूरि विहार यात्रा में 'बेपाण' नगर में पधारे। वहां एक कोटीश्वर श्रेष्ठी रहते थे जिनका नाम कोडी था। सोमाई कोडी की पुत्री थी। सोमाई का पालन-पोषण अतिशय समृद्धि में हुआ था। वह एक करोड़ मूल्य के सोने के स्वर्णाभूषण धारण करती थी। परन्तु आर्यरक्षित सूरि के उपदेश से उसने शरीर और स्वर्ण की नश्वरता को पहचाना तथा दीक्षा अंगीकार कर ली। आचार्य श्री ने उसका नाम 'समयश्री' रखा।

कालक्रम से समयश्री को 'महत्तरा पद' पर प्रतिष्ठित किया गया और वे सोमाई महत्तरा नाम से विख्यात हुई। समयश्री एक शासन प्रभाविका आर्या थीं। उनकी प्रेरणा से एक हजार एक सौ तीस कन्याओं और महिलाओं ने श्रमणी दीक्षा ग्रहण की थी। —अंचलगच्छ का दिग्दर्शन

(क) सोमिल (ब्राह्मण)

वासुदेव श्री कृष्ण महाराज की राजधानी द्वारिका नगरी में रहने वाला चार वेदों का पण्डित एक ब्राह्मण। उसने मुनि गजसुकुमार के सिर पर अंगारे रखे थे। (देखिए-गजसुकुमार) —अन्तगड, वर्ग 3, अध्ययन 8

(ख) सोमिल (ब्राह्मण)

प्रभु पार्श्वकालीन वाराणसी नगरी का एक ब्राह्मण। वह वेदों और वेदांगों का ज्ञाता तथा वैदिक संस्कृति का संवाहक और समर्थ विद्वान था। एक बार प्रभु पार्श्वनाथ वाराणसी नगरी में पधारे। सोमिल ने विचार किया, मैं प्रभु से विभिन्न प्रश्न पूछूंगा, यदि मेरे प्रश्नों के समुचित उत्तर प्रभु ने दिए तो मैं उनका अनुगामी बन जाऊंगा और यदि वे मेरे प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सके तो मेरी विजय होगी और ब्राह्मण धर्म के यश में वृद्धि होगी।

ऐसा सोचकर सोमिल ब्राह्मण प्रभु पार्श्व के पास पहुंचा। उसने प्रभु से अनेक प्रश्न पूछे। ऐसे प्रश्न भी पूछे जिनके कई उत्तर हो सकते थे। प्रभु ने सोमिल के प्रश्नों के सटीक उत्तर दिए। सोमिल के हृदय में प्रभु के प्रति आस्था का जन्म हुआ। उसने ब्राह्मण धर्म को छोड़कर श्रावक धर्म अंगीकार कर लिया।

कई वर्षों तक सोमिल श्रावक धर्म का पालन करता रहा। कालांतर में असाधु-दर्शन से वह मिथ्या-दृष्टि बन गया। उसने 'दिशाप्रोक्षक' प्रव्रज्या धारण कर ली और गंगा नदी के किनारे रहकर वह तपस्या करने लगा। एक बार अनित्यता का चिन्तन करते हुए उसने महाप्रस्थान का निश्चय किया। उसने काष्ठमुद्रा से अपना मुंह बांध कर उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर दिया। उसका संकल्प था कि चलते-चलते वह जहां भी किसी गड्ढे आदि में गिर गया तो वहां से निकलने का प्रयास नहीं करेगा। उस स्थान पर पड़ा रहकर देहोत्सर्ग कर देगा।

उसके प्रस्थान की प्रथम रात्रि में एक देव उसके पास आया और बोला, सोमिल ! तुम्हारी प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है। देव ने दो-तीन बार ऐसा कहा। पर सोमिल ने देव की उपेक्षा कर दी और वह चलता रहा। निरन्तर चार रात्रियों तक देव उपस्थित होता रहा और सोमिल को उसकी दुष्प्रव्रज्या के प्रति सचेत करता रहा। परन्तु सोमिल देव के कथन को असुना करता रहा। पांचवीं रात्रि में भी देव आया और उसने अपनी बात दो-तीन बार दोहराई। इस बार सोमिल ठहर गया और उसने पूछा, मेरी प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है तो सम्यक्-प्रव्रज्या क्या है?

देव ने कहा, तुमने प्रभु पार्श्वनाथ से श्रावक धर्म अंगीकार किया था, वही सम्यक् धर्म है और वही सम्यक् प्रव्रज्या है। उसका त्याग कर तुमने अच्छा नहीं किया।

सोमिल ने पूछा, आप ही बताइए कि इस समय मेरे लिए क्या उचित है?

देव ने कहा, तुम्हारे लिए यही उचित है कि तुम पुनः श्रावक धर्म को धारण करो और सम्यक् रूप से उसकी आराधना करो।

सोमिल ने देव की बात स्वीकार कर ली और उसने श्रावक धर्म स्वीकार कर लिया। वह उपवास, बेले, तेले और मासखमण तप करते हुए विचरने लगा। अंत में मासार्ध की संलेखना के साथ उसने देहोत्सर्ग किया। पूर्व विराधना की शुद्धि उसने नहीं की। परिणामतः वह शुक्र महाग्रह देव बना।

यही देव भगवान महावीर के दर्शनार्थ एक बार आया और इसने नाना नाट्य विधियां प्रदर्शित कीं। गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान ने फरमाया कि देवभव पूर्ण कर के सोमिल का जीव महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य भव धारण करेगा और निर्ग्रन्थ धर्म का सम्यक् आराधन कर के सिद्धत्व प्राप्त करेगा।

(ग) सोमिल (ब्राह्मण)

महावीर युग का अपापावासी एक संपत्तिशाली और यज्ञों का विश्वासी ब्राह्मण। इन्द्रभूति आदि ब्राह्मण विद्वान उसके यज्ञ के प्रमुख याज्ञिक थे। भगवान महावीर ने जब तीर्थ की स्थापना की तो उसका प्रमुख यज्ञ चल रहा था। सभी मान्य ब्राह्मण विद्वानों के महावीर के पास चले जाने के कारण उसका यज्ञ अपूर्ण ही रह गया था।

सोमिल (मुनि)

प्राचीन कालीन एक जैन मुनि जो निमित्त शास्त्र के पारगामी विद्वान थे। (देखिए-रुद्रसूरि)

सौदामिनी (आर्या)

सौदामिनी आर्या की सम्पूर्ण कथा इला आर्या के समान है। (देखिए-इला आर्या)

—ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., तृ.वर्ग, अध्ययन 3

सौभाग्यमंजरी

कौशाम्बी के महाराज शतानीक की पुत्री। उसका पाणिग्रहण धन्य जी से किया गया था। (देखिए-धन्य जी)

सौभाग्यसुंदरी

(देखिए-श्रीपाल)

(क) स्कंदक (कुमार)

स्कंदक अथवा खंधक कुमार श्रावस्ती नगरी के महाराज जितशत्रु और महारानी धारिणी का अंगजात था। उसकी सहोदरा का नाम पुरन्दरयशा था जो दंडक देश की राजधानी कुंभकटकपुर के राजा दंडक के साथ विवाहित हुई थी। दण्डक राजा के मंत्री का नाम पालक था जो क्रूर और धर्मद्वेषी था। किसी समय पालक श्रावस्ती आया। स्कन्दक और पालक के मध्य सहज वार्ता धर्मचर्चा में बदल गई। पालक ने जैन धर्म की निन्दा की तो स्कन्दक ने जैन धर्म के पक्ष में तर्क पुरस्सर विवेचना प्रस्तुत करते हुए उसे निरुत्तर कर दिया। इससे पालक तिलमिला उठा। स्कंदक कुमार के प्रति द्वेष की गांठ बांधकर वह अपने नगर लौट गया।

वह युग भगवान मुनिसुव्रत स्वामी का शासन काल था। किसी समय भगवान श्रावस्ती नगरी में पधारे तो स्कन्दक भगवान का उपदेश सुनकर विरक्त हो गया और उसने पांच सौ राजपुत्रों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। अल्पकाल में ही वह आगमों का पारगामी वेत्ता बन गया।

स्कंदक मुनि के मन में एक बार यह भाव जगा कि वह अपने पांच सौ साथी मुनियों के साथ विचरण करे और कुंभकटकपुर जा कर अपनी सहोदरा पुरन्दरयशा को प्रतिबोधित करे। उसने एतदर्थ भगवान से अनुज्ञा चाही तो भगवान ने स्पष्ट किया कि वहां उसे मुनिसंघ सहित मरणान्तक उपसर्ग झेलना होगा। आराधक-विराधक के संदर्भ में स्कन्दक द्वारा उपस्थित की गई जिज्ञासा का समाधान करते हुए भगवान ने कहा कि उसके अतिरिक्त सभी मुनि आराधक होंगे। साथी मुनियों के हित पर अपने हित को अदेखा कर स्कन्दक अपने पांच सौ साथी मुनियों के साथ विचरण करते हुए कुंभकटकपुर पधारे। वे नगर के बाह्य भाग में एक उपवन में ठहर गए।

पालक को जब यह ज्ञात हुआ कि राजकुमार स्कन्दक, मुनि बनकर पांच सौ मुनियों के साथ उसके नगर में आया है तो उसके भीतर सोया हुआ द्वेष भाव पूर्ण वेग के साथ जाग उठा। उसने एक षडयन्त्र रचा। उसने उपवन के आस-पास शस्त्रास्त्र गड़वा दिए और अपने राजा दण्डक के कान भर दिए कि उसका साला स्कन्दक मुनिवेश धर कर उसका राज्य छीनने आया है। उसके साथ मुनिवेश में पांच सौ सैनिक हैं। राजा को विश्वास दिलाने के लिए उसने उपवन के आस-पास भूमि में गड़े शस्त्रास्त्र भी दिखा दिए। अविवेकी राजा को पालक की बात पर विश्वास हो गया और उसने उसे ही मुनियों को दण्ड देने का अधिकार दे दिया।

पालक को मुंह मांगा वरदान मिल गया। उसने उपवन के द्वार पर एक बहुत बड़ा कोल्हू लगवाया और उसमें मुनियों को पेलने लगा। स्कन्दक मुनियों को मुनि धर्म की शिक्षा दे रहे थे और पालक के प्रति द्वेष भाव न लाने की सीख दे रहे थे। चार सौ निन्यानवें मुनियों को कोल्हू में पील दिया गया। रक्त के नाले बह चले। मांस की गंध से चीलें और कौवे आकाश में मंडराने लगे।

पांच सौ-वां मुनि लघुवय था। उस पर स्कन्दक का अनुराग भाव प्रगाढ़ था। अपनी आंखों के समक्ष स्कन्दक उसे मरता हुआ नहीं देख सकते थे। उन्होंने पालक से कहा कि वह पहले उन्हें कोल्हू में पेले। वे लघुमुनि की मृत्यु देख नहीं पाएंगे।

पर दुष्ट पालक तो स्कन्दक को अधिकाधिक मानसिक और शारीरिक कष्ट देना चाहता था। उसने अट्टहास करते हुए पहले लघुमुनि को कोल्हू में पेल दिया। उक्त दृश्य देखकर स्कन्दक का अस्तित्व विचलित बन गया। उन्होंने प्रतिज्ञा की कि यदि उनकी तपस्या का कोई फल है तो वे पालक सहित पूरे दण्डक देश को दण्ड देने वाले बनें।

स्कन्दक की बात को असुना करते हुए पालक ने उन्हें भी कोल्हू में पेल दिया। देह त्याग कर स्कन्दक निदानानुसार अग्निकुमार देव बने। अवधिज्ञान से पूरी बात जानकर उन्होंने दण्डक देश पर अग्नि वर्षा करके उसे भस्मीभूत कर दिया। पूरे जनपद में मात्र पुरन्दरयशा जीवित बची जिसे एक देव ने भगवान मुनिसुव्रत की सन्निधि में पहुंचा दिया था।

दण्डक देश जल कर नष्ट हो गया और वह स्थान दण्डकारण्य कहलाया। यह वही दण्डकारण्य था जहां रामायणानुसार श्री राम, सीता और लक्ष्मण आए थे तथा जहां लक्ष्मण के हाथ से अनायास ही शूर्पणखां के पुत्र शंबूक का वध हो गया था। —त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व 7/ निशीथ चूणि

(ख) स्कंदक (परिव्राजक)

स्कंदक अथवा खंधक परिव्राजक भगवान महावीर का समकालीन था। वह गर्दभाली परिव्राजक का शिष्य था और श्रावस्ती नगरी में रहता था। किसी समय पिंगल नामक निर्ग्रन्थ ने उससे कुछ प्रश्न पूछे, जिनके उत्तर वह नहीं दे सका। इससे वह अपने मन में बड़ा खिन्न हुआ। उन्हीं दिनों श्रावस्ती नगरी में भगवान महावीर पधारे। स्कंदक ने उक्त प्रश्नों का समाधान भगवान से प्राप्त किया और वह इतना आल्हादित हुआ कि परिव्राजक प्रव्रज्या से आर्हती प्रव्रज्या में प्रविष्ट हो गया। विपुलगिरि से अनशन सहित पंडित मरण करके बारहवें स्वर्ग में गया। भवान्तर में महाविदेह से सिद्ध होगा। —भगवती सूत्र 2/1

स्कन्दिलाचार्य

वी.नि. की नवम शताब्दी में हुए एक अनुयोग-धर आचार्य। वर्तमान में उपलब्ध आगमों की वाचना उनके ही नेतृत्व में मथुरा नगरी में हुई थी। श्रुत संपदा के संरक्षक के रूप में वे अर्चित-वन्दित हैं।

नन्दी सूत्र स्थविरावली के अनुसार आचार्य ब्रह्मदीपक सिंह के पश्चात् स्कन्दिलाचार्य का क्रम है। संभवतः वे ब्रह्मदीपक सिंह के ही शिष्य थे। उनके दीक्षा गुरु के लिए स्थविर सिंह नामोल्लेख हुआ है जो ब्रह्मद्वीपिका शाखा के स्थविर थे।

स्कन्दिलाचार्य का जन्म मथुरा नगरी में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता का नाम मेघरथ और माता का नाम रूपसेना था। मेघरथ और रूपसेना जैन धर्म के प्रति सुदृढ़ आस्थावान थे। आर्य स्कन्दिल ने सिंह स्थविर से आर्हती प्रव्रज्या अंगीकार कर आगम साहित्य का गंभीर अध्ययन किया। क्रमशः वे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए।

वी.नि. की नवमी शताब्दी के पूर्वार्ध में द्वादश वर्षीय भीषण दुष्काल पड़ा। साधु मर्यादा के अनुकूल आहार-प्राप्ति के अभाव में अनेक श्रुतधर मुनि कालधर्म को प्राप्त हो गए। दुष्काल की परिसमाप्ति पर स्कन्दिलाचार्य ने श्रुत संरक्षा के लिए मथुरा नगरी में श्रमणों का महासम्मेलन आहूत किया। सम्मेलन में

पदार्पित श्रुतधर मुनियों ने स्कन्दिलाचार्य की अध्यक्षता में स्मृत पाठों के आधार पर श्रुत का संकलन किया। आगम वाचना का यह समय वी.नि. 827 से 840 के मध्य का माना जाता है। स्कन्दिलाचार्य के नेतृत्व में होने से इस आगम वाचना को 'स्कंदिली वाचना' और मथुरा नगरी में होने के कारण 'माथुरी वाचना' के नाम से जाना जाता है।

श्रुत संरक्षा का महायज्ञ स्कंदिलाचार्य के नेतृत्व में संपन्न हुआ। लगभग उसी अवधि में आर्य नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी नगरी में भी श्रुत संकलन का महायज्ञ रचा गया। आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में होने के कारण उसे 'नागार्जुनीय वाचना' की संज्ञा मिली और वल्लभी नगरी में होने के कारण उसे 'वल्लभी वाचना' नाम से भी जाना जाता है।

नन्दी सूत्र स्थविरावली में स्पष्ट उल्लेख है कि उस समय अनुयोगधर आचार्य स्कन्दिल का विमल सुयश पूरे भारतवर्ष में व्याप्त था।

स्कन्दिलाचार्य का शासन काल वी.नि. 827 से 840 तक माना जाता है। —नन्दी सूत्र स्थविरावली

स्तिमित

इनका पूर्ण परिचय गौतमवत् है। (देखिए-गौतम) —अन्तगड सूत्र, प्रथम वर्ग, पंचम अध्ययन

स्थूलभद्र (आचार्य)

पाटलिपुत्र नरेश महाराज धननन्द के महामंत्री शकडाल के पुत्र और पट्टपरम्परा के आठवें पट्टधर आचार्य। पौराणिक जैन साहित्य के पृष्ठों पर उनके महनीय चरित्र का महिमापूर्ण संगान हुआ है। वे जब यौवन की सीढ़ियां तलाश ही रहे थे तब उस युग की अनन्य सुंदरी और राजनर्तकी कोशा के प्रेमपाश के बन्दी बन गए। घर और परिवार को भूलकर बारह वर्षों तक उसी के महल में रहे। जब उनके पिता महामंत्री शकडाल वररुचि के षड्यंत्र के निशाने पर आ गए और अपनी स्वामिभक्ति की परीक्षा के लिए उन्होंने स्वेच्छया आत्मबलिदान दे दिया तो राजा ने स्थूलभद्र को बुलाया और उन्हें महामंत्री पद देने का प्रस्ताव किया। स्थूलभद्र पितृ-मृत्यु से विरक्त हो चुके थे। राजा के प्रस्ताव को ठुकरा कर वे आचार्य संभूतविजय के पास दीक्षित हो गए। उग्र संयम का पालन करने लगे। जब उनकी साधना में परिपक्वता आ गई तो उन्होंने कोशा के महल पर वर्षावास की अनुमति गुरु से मांगी। गुरु से अनुमति मिलने पर उन्होंने कोशा के महल पर वर्षावास किया। कोशा चारों ही मास मुनि को अपने अनुकूल बनाने के लिए प्रयास करती रही, पर सफल न हुई। अंत में स्थूलभद्र ने उसे ही बदल डाला और श्रावक धर्म की दीक्षा दे दी। स्थूलभद्र गुरु के पास लौटे तो गुरु ने उनके कार्य की महान अनुशंसा करते हुए उन्हें गले से लगा लिया।

संभूतविजय का एक अन्य शिष्य था जो एक खूंख्वार सिंह की गुफा पर वर्षावास करके लौटा था और उसने अपनी साधना से सिंह जैसे हिंसक जानवर को अहिंसक बना दिया था, उसे गुरु का यह व्यवहार चुभा। उसे लगा कि स्थूलभद्र को जो सम्मान दिया गया है वह सम्मान उसे नहीं, मुझे मिलना चाहिए था। वह मन मसोस कर रह गया और दूसरे वर्ष गुरु के इन्कार करने पर भी वह कोशा के महल पर वर्षावास करने पहुंच गया। पर कोशा का रूप उसके जी का जंजाल बन गया। कोशा को पाने के लिए उसने साध्वाचार की समस्त मर्यादाएं खण्डित कर दीं। कोशा की बुद्धिमत्ता से ही आखिर वह समझ सका। गुरु के पास लौटकर उसने अपने अन्यथा चिंतन और आज्ञा-उल्लंघन के लिए क्षमा मांगी और अतिचारों की शुद्धि कर पुनः संयमारूढ़ हुआ।

उस काल में बारह वर्षों का दुष्काल पड़ा। अनेक श्रुतधर आचार्य काल-कवलित हो गए। चतुर्दशपूर्वी एक ही मुनि बचे थे, वे थे आचार्य भद्रबाहु, जो उन दिनों नेपाल में रहकर महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। संघ के निर्णय पर मुनि स्थूलभद्र को पांच सौ मुनियों के साथ नेपाल में वाचना लेने के लिए भेजा गया। आचार्य भद्रबाहु ने वाचना देनी शुरू की। पूर्वों के दुरूह अध्ययन से घबरा कर पांच सौ मुनि वापिस लौट गए। स्थूलभद्र अकेले डटे रहे। जब वे दशपूर्वों का ज्ञान ग्रहण कर चुके तो एक बार अपनी यक्षा आदि साध्वी बहनों को उन्होंने चमत्कार दिखा कर चकित कर दिया। इसकी सूचना पाकर आचार्य भद्रबाहु ने आगे की वाचना देने से इंकार कर दिया। संघ के विशिष्ट आग्रह पर शेष चार पूर्वों की शाब्दी वाचना देने को तैयार हुए।

ऐसे स्थूलभद्र शब्दार्थ की दृष्टि से दशपूर्वधर तथा शब्द दृष्टि से चतुर्दश पूर्वधर थे। वी.नि. 170 में स्थूलभद्र आचार्य पाट पर विराजित हुए और 45 वर्षों तक इस पद पर रहते हुए स्वर्गवासी हुए।

स्वयंप्रभ स्वामी (विहरमान तीर्थंकर)

छठे विहरमान तीर्थंकर। धातकी खण्ड द्वीप की वपु विजय की विजय नगरी में महाराज मित्रसेन की महारानी सुमंगला की रत्नकुक्षी से प्रभु ने जन्म लिया। यौवन वय में वीरसेन नामक राजकुमारी से प्रभु का पाणिग्रहण हुआ। तिरासी लाख पूर्व तक गृहवास में रहकर प्रभु ने आर्हती प्रव्रज्या ग्रहण की। कैवल्य को साधकर और तीर्थ की स्थापना कर तीर्थंकर पद पर अभिषिक्त हुए। भव्य जीवों के लिए कल्याण का द्वार बने प्रभु वर्तमान में धातकी खण्ड की वपु विजय में विचरणशील हैं।

(क) स्वयंभू

सतरहवें तीर्थंकर प्रभु कुन्थुनाथ के पैंतीस गणधरों में से प्रमुख गणधर।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

(ख) स्वयंभू (वासुदेव)

द्वारिका नगरी के राजा रुद्र और उसकी रानी पृथ्वी का अंगजात। उसके गर्भ में आने पर पृथ्वी ने सात स्वप्न देखे थे, जिससे स्पष्ट था कि जन्म लेने वाला पुत्र वासुदेव बनेगा। राजा की एक अन्य रानी सुप्रभा ने चार स्वप्नों से संसूचित जिस पुत्र को जन्म दिया उसका नाम भद्र रखा गया। युवा होने पर ये दोनों कुमार अत्यन्त तेजस्वी और वीर बने।

पूर्वभव में स्वयंभू बारहवें स्वर्ग में देव था और उससे पूर्व श्रावस्ती नगरी का राजा धनमित्र था। बलि नामक एक राजा उसका मित्र था। एक बार दोनों मित्रों में द्यूत क्रीड़ा हुई जिसमें बलि ने धनमित्र का राजपाट जीत लिया। पराभूत धनमित्र ने वन का मार्ग लिया। सुसंयोग से वहां उसे एक मुनि के दर्शन हुए और वह मुनि बन गया। उत्कृष्ट तप किया। पर मन में पराभव की ग्रन्थी शेष थी। बलि से बदला लेने के भाव को मन में रख कर वह मरा। देवभव करके स्वयंभू बना। उधर बलि भी कई भवों में होता हुआ नंदन पुर नरेश मेरक हुआ। मेरक बलशाली राजा था और प्रतिवासुदेव था। आखिर एक प्रसंग पर स्वयंभू और मेरक के मध्य युद्ध हुआ जिसमें स्वयंभू ने मेरक का वध कर पूर्वभव का बदला लिया। तीन खण्डों को जीत कर वह वासुदेव बना और सुदीर्घ काल तक भोगासक्त और युद्धरत जीवन जीकर मृत्यु को प्राप्त हुआ। भोगासक्ति और युद्ध प्रियता के कारण वह नरक में गया। भाई की मृत्यु के पश्चात् भद्र दीक्षित हुए और सर्व-कर्म-विमुक्त बन निर्वाण को प्राप्त हुए।

—त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, वर्ग 4/3

(क) स्वयंभूदेव

गंगातट नामक नगर में रहने वाला एक किसान। खेती-बाड़ी उसका व्यवसाय था, पर अपनी आय से वह सन्तुष्ट नहीं था। उसने अधिक आय के लिए व्यापार करने का संकल्प किया। छकड़ों में किरयाणा भरकर उसने देशाटन किया। उसने कई नगरों में व्यापार किया, उसे लाभ भी हुआ, पर उसका मन सन्तुष्ट नहीं हुआ। उसी क्रम में वह लक्ष्मीशीर्ष नगर में पहुंचा। वहां कई समृद्ध श्रेष्ठी रहते थे। उसने उन श्रेष्ठियों से अधिक धन कमाने का उपाय पूछा। श्रेष्ठियों ने उसे बताया कि वह चिलात देश में व्यवसाय करे तो उसे पर्याप्त समृद्धि प्राप्त हो सकती है।

अधिक धन कमाने की कामना के वशवर्ती बना स्वयंभू किसान छकड़ों में विभिन्न पदार्थ भर कर चिलात देश के लिए रवाना हुआ। अनेक लोगों को उसने अपने साथ भी लिया। कठिन और क्लिष्ट यात्रा करते हुए उसका काफिला चिलात नगर के निकट पहुंचा। जंगली दस्युओं की दृष्टि उसके काफिले पर पड़ गई। दस्युओं ने उसका माल लूट लिया और उसके साथियों को मार दिया। किसी तरह छिपकर स्वयंभू चिलात नगर पहुंचने में सफल हो गया। यह एक अनार्य लोगों का नगर था। अनार्य बालकों ने अजनबी स्वयंभू को देखा तो उसे रस्सों से बांध दिया और उसे अमानवीय यातनाएं दीं। कई महीनों तक वह अनार्य बालकों का खिलौना बना रहा। वह मृत्यु की कामना करता था पर मृत्यु भी उसे प्राप्त नहीं होती थी। आखिर उसके अशुभ कर्म कम हुए तो वह अनार्य बालकों के बन्धन से किसी तरह मुक्त हो गया और भाग छूटा। कई दिनों तक चलने पर वह आर्य भूमि में पहुंचा। सुसंयोग से उसे एक मुनि के दर्शन हुए। मुनि के उपदेश से उसे आत्मबोध प्राप्त हुआ। आखिर उसने मुनिधर्म की आराधना की और आत्मधन पाकर ही उसे सन्तुष्टि प्राप्त हुई। संयम का सम्यक् पालन कर वह सद्गति में गया।

(ख) स्वयंभूदेव (कवि)

जैन कवियों की शुभ्र-धवल परम्परा में एक नाम महाकवि स्वयंभूदेव का भी है। स्वयंभूदेव ईसा की आठवीं शती के एक जैन श्रावक थे। वे साहित्य की विविध विधाओं और अंगों के पण्डित थे। अपभ्रंश भाषा का उनका ज्ञान अगाध था।

स्वयंभूदेव संभवतः दाक्षिणात्य थे। उनके पिता का नाम मारुतदेव था जो अपने समय के यशस्वी कवि थे। उनकी माता का नाम पद्मिनी था जो एक विदुषी महिला थी। स्वयंभूदेव ने संभवतः कई विवाह किए थे। उनकी तीन पत्नियों के नाम क्रमशः निम्न प्रकार से थे—(1) अइच्चंबा (2) सामिअंब्बा और सुअव्वा। ये तीनों ही पत्नियां सुशिक्षित थीं और पति के लेखन में सहयोग करती थीं। त्रिभुवनस्वयंभू स्वयंभूदेव का उनकी तृतीय पत्नी से उत्पन्न प्रतिभाशाली और कवित्व मेधा सम्पन्न पुत्र था जिसे कई विरुद भी प्राप्त थे।

स्वयंभूदेव अपभ्रंश काव्य के मेधावी कवि थे। उनकी तीन रचनाएं उपलब्ध हैं—(1) पउमचरिउ (2) रिट्ठणेमिचरिउ और (3) स्वयंभूछन्द।

स्वरूपश्री

हस्तिनापुर के नगर सेठ धनसार की पत्नी। (देखिए-भविष्यदत्त)

स्वस्तिका

वीतशोका नगरी के राजकुमार अजितवीर्य (विहरमान तीर्थंकर) की परिणीता। (देखिए-अजितवीर्य स्वामी)

स्वाति (आचार्य)

तीर्थंकर महावीर की धर्म परम्परा के एक प्रभावक वाचनाचार्य। वाचनाचार्य बलिस्सह के बाद उनका कार्यकाल माना जाता है। उनका जन्म हारित गोत्रीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। मुनि जीवन में प्रवेश कर उन्होंने आगमों का गहन गंभीर अध्ययन संपादित किया। परिणामतः उनकी नियुक्ति वाचनाचार्य पद पर हुई। कई वर्षों तक इस पद पर रहकर उन्होंने संघ और समाज में ज्ञान-प्रवाह को प्रवाहित किया।

तत्वार्थ सूत्रकार आर्य उमास्वाती से वाचनाचार्य स्वाति भिन्न हैं। —नन्दी चूर्णि

स्वातिदत्त

एक ब्राह्मण। महावीर स्वामी ने उसकी यज्ञशाला में साधना काल का बारहवां वर्षावास व्यतीत किया था। महावीर की साधना से प्रभावित बनकर पूर्णभद्र और मणिभद्र नामक दो यक्ष भगवान के उपासक बन गए। देववन्दित जानकर स्वातिदत्त भी भगवान के प्रति श्रद्धाशील बना। एक बार उसने भगवान से जीव-आत्मा संबंधित कई प्रश्न पूछे। समाधान पाकर वह प्रभु का अनन्य उपासक बन गया।

●●●

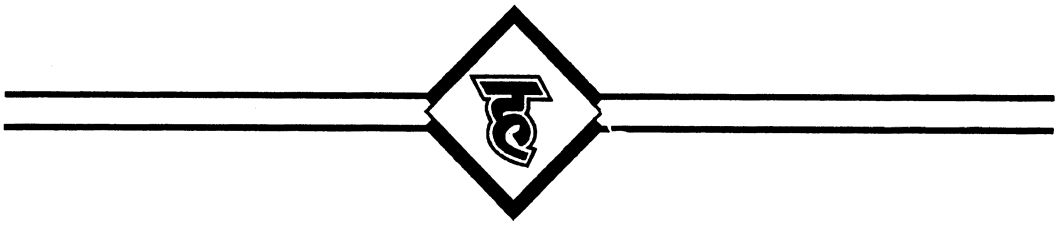

हंस

कुण्डपुर निवासी व्यापारी यशोधर का पुत्र और दृढ़ प्रतिज्ञ केशव का सहोदर। (देखिए-केशव)

हंसराज (वच्छराज)

पैठणपुर नरेश महाराज नरवाहन की प्राणप्रिया रानी हंसावली का अंगजात। उसका एक सहोदर था जिसका नाम वच्छराज था। दोनों भाइयों में परस्पर प्रगाढ़ प्रेम था। दोनों राजकुमार शिक्षा-दीक्षा पूर्ण कर जब यौवन के द्वार पर पांव रख रहे थे तो अकस्मात् घटित एक घटना ने उनका जीवन विचित्र और विकराल घटनाओं से पूर्ण बना दिया। वह घटना थी—एक बार जब दोनों भाई परस्पर गेंद से खेल रहे थे तो उनकी गेंद विमाता लीलावती के महल में चली गई। दोनों भाई गेंद लेने वहां गए तो लीलावती ने उनसे भोगेच्छा पूर्ण करने की प्रार्थना की। दोनों भाइयों के लिए यह अकल्प्य प्रस्ताव था। दोनों ने लीलावती को मातृपद से सम्मानित किया और दुश्चिन्तन को मन से दूर करने का उसे परामर्श दिया। लीलावती ने इसे अपना अपमान माना और अपने वस्त्र फाड़कर कल्पित स्वांग रच दिया कि हंसावली के पुत्रों ने उसे अपमानित किया है। राजा तक सूचना पहुंची। कानों के कच्चे राजा ने बिना पड़ताल किए मंत्री को आदेश दिया कि वह उसके दोनों पुत्रों को जंगल में ले जाकर शूली पर चढ़ा दे।

मंत्री बुद्धिमान था और जानता था कि हंसराज और वच्छराज निरपराध हैं। पर राजाज्ञा के समक्ष वह विवश था। वह दोनों राजकुमारों को जंगल में ले गया और दोनों को द्रुतगामी दो अश्व तथा बहुमूल्य बारह रत्न देकर कहा कि वे पैठणपुर राज्य से दूर निकल जाएं। राजकुमारों ने देवतुल्य मंत्री को प्रणाम किया और अश्वारूढ़ होकर एक दिशा में चल दिए।

दूर जंगल में जाने पर हंसराज को प्यास लग गई। वह एक वृक्ष की छाया में बैठ गया और वच्छराज उसके लिए जल लेने के लिए चला गया। इतनी ही देर में वृक्ष के नीचे लेटे हंसराज को एक विषधर ने डस लिया जिससे उसकी श्वासगति मंद पड़ गई। वच्छराज ने लौटकर देखा तो भाई को मृत पाया। वह शोक सागर में डूब गया। भाई के संस्कार के लिए वह चन्दन की लकड़ियों की व्यवस्था के लिए निकट के नगर कुन्ती नगर में पहुंचा। वहां एक धूर्त सेठ मम्मण ने वच्छराज को अपने वाग्जाल में फंसा कर उससे उसके रत्न और अश्व ले लिए तथा बदले में चन्दन की लकड़ियां उसे दे दीं। लकड़ियों को लेकर वच्छराज जंगल में पहुंचा, पर उसे उसका भाई वहां नही मिला। वस्तुतः घटना ऐसे घटी कि वच्छराज के लकड़ियां लेने के लिए चले जाने के बाद एक गरुड़ पक्षी उस वृक्ष पर आ बैठा और उसके मुख से टपकी लार से हंसराज की देह निर्विष हो गई। हंसराज भाई वच्छराज को खोजते हुए नगरों और जंगलों में भटकने लगा।

उधर वच्छराज को इतना संतोष अवश्य हो गया कि उसका सहोदर जीवित है। वह चन्दन की लकड़ियां लौटाने के लिए मम्मण सेठ के पास पहुंचा तो सेठ ने कपट जाल फैलाकर वच्छराज को चोर ठहरा दिया और

राजा से उसे मुत्युदण्ड दिलवा दिया। चाण्डाल को वच्छराज पर करुणा आ गई और उसे पुत्र मानकर अपने घर के भौंयरे में छिपा लिया।

मम्मण सेठ के पुत्र का नाम पुष्पदत्त था। वह अपने पिता के समान ही धूर्त और कपटी था। वह व्यापार के लिए प्रदेश जाने लगा तो उसके जहाज जल में ही स्तंभित हो गए। मम्मण ने सामुद्रिक वेत्ता को बुलाकर उसका कारण पूछा। सामुद्रिक ने स्पष्ट किया कि सेठ ने किसी की धरोहर दबा ली है। जिसकी धरोहर दबाई है वह व्यक्ति यदि जहाज पर कदम रख दे तो जहाज निरापद हो सकते हैं। मम्मण ने कहा, लेकिन जिस व्यक्ति की धरोहर दबाई गई है वह व्यक्ति तो मर चुका है। इस पर सामुद्रिक ने वच्छराज के जीवित होने की बात बताई। मम्मण ने अपनी कपट पूर्ण चतुरता से चाण्डाल से वच्छराज को प्राप्त कर लिया और उसे जहाज पर ले गया। वच्छराज के स्पर्श से ही जहाज स्तंभन मुक्त हो गए। पुष्पदत्त ने वच्छराज को अपना सेवक बनाकर अपने साथ रख लिया।

पुष्पदत्त के जहाज कनकावती नगरी के तट पर पहुंचे। पुष्पदत्त वच्छराज के मृदु व्यवहार से प्रभावित बन चुका था। अतः वह वच्छराज को प्रत्येक कार्य में अपने साथ रखने लगा था। कनकावती पहुंचकर पुष्पदत्त और वच्छराज राजा से मिले। राजा को यथोचित भेंट देकर व्यापार की अनुमति प्राप्त कर ली गई। वच्छराज के निरन्तर राजदरबार में आने-जाने से किसी दिन राजकुमारी चित्रलेखा ने उसे देख लिया और वह उस पर मोहित हो गई। चित्रलेखा के आग्रह पर राजा ने उसका विवाह वच्छराज से कर दिया। वच्छराज के बढ़ते प्रभाव को पुष्पदत्त सहन नहीं कर सका। वह चित्रलेखा के रूप पर भी मोहित हो गया था। अपने नगर को लौटते हुए उसने धोखे से वच्छराज को समुद्र में फैंक दिया और चित्रलेखा के समक्ष अपना प्रेम-प्रस्ताव प्रस्तुत किया। चित्रलेखा बुद्धिमती कन्या थी। उसने अपनी चतुराई से पुष्पदत्त से कुछ समय मांग लिया।

उधर वच्छराज एक विशाल मत्स्य की पीठ पर बैठकर किनारे पर पहुंच गया। कुन्ती नगर में वह जिस वीरान उद्यान में विश्राम के लिए लेटा, पुण्य प्रभाव से वह उद्यान हरा-भरा हो गया। मालिन ने उसका कारण वच्छराज को माना और उसे अपना पुत्र मानकर अपने पास रख लिया।

हंसराज अनेक ग्रामों और नगरों में भाई को खोजता हुआ कुन्तीनगर में आया। नगर में पहुंचने पर उसके पुण्य चमक उठे। निःसंतान राजा के निधन के पश्चात् सुसज्जित हथिनी ने हंसराज के गले में पुष्पमाला पहनाकर उसे राजा चुन लिया। हंसराज ने सिंहासन पर बैठते ही घोषणा कराई कि जो भी उसके भाई वच्छराज के बारे में सूचना देगा उसे इच्छित धन और पद दिया जाएगा।

उधर पुष्पदत्त कुन्तीनगर पहुंच चुका था। वच्छराज ने मालिन द्वारा पता लगा लिया कि पुष्पदत्त कुन्तीनगर आ चुका है। उसने मालिन के हाथ से अपनी पत्नी चित्रलेखा के पास अपने सुरक्षित होने की सूचना भेजी। चित्रलेखा के हर्ष का पार न रहा। वह अपने पति से मिलने के उपाय पर चिन्तन करने लगी। उसी दौरान उसे राजा द्वारा कराई गई घोषणा सुनाई पड़ी। उसने तत्क्षण उद्घोषक को अपने पास बुलाया और कहा कि वह राजा के भाई का परिचय जानती है। राजा हंसराज को सूचना मिली तो उसने शिविका भेजकर राजकीय सम्मान के साथ चित्रलेखा को राजदरबार में बुलवाया। चित्रलेखा ने हंसराज वच्छराज के पैठण से प्रस्थान से शुरू कर वर्तमान तक का समग्र कथानक सुना दिया और स्पष्ट कर दिया कि वर्तमान में वच्छराज मालिन का पुत्र बनकर इसी नगर में रह रहा है।

वच्छराज को मान-सम्मान के साथ राजभवन में लाया गया। दोनों भाई लम्बे समय बाद मिले। चित्रलेखा भी वच्छराज को प्राप्त हो गई। मम्मण और पुष्पदत्त को देश-निकाला दिया गया।

कई वर्षों तक हंसराज कुन्तीनगर पर शासन करता रहा। कालान्तर में माता-पिता से हंसराज और वच्छराज का मिलन हुआ। असत्य की पराजय हुई। सत्य विजयी हुआ। सुदीर्घ काल तक राजपद पर रहकर हंसराज और वच्छराज ने प्रजा का पुत्रवत् पालन किया। अंतिम वय में संयम साधना की और श्रेष्ठ गति का अधिकार पाया।

हंसावली

पैठणपुर नरेश नरवाहन की रानी तथा हंसराज और वच्छराज की जननी। (देखिए-हंसराज)

हनुमान

हनुमान दशरथ-नन्दन श्री राम के अनन्य भक्त और अंजना व पवनंजय के पुत्र थे। हनुमान का जन्म अत्यन्त विकट स्थितियों में जीवन यापन कर रही अंजना की कुक्षी से एक पर्वत गुफा में हुआ था। हनुमान के जन्म लेते ही माता के कष्टों का अंत हो गया। कहते हैं कि अंजना का मामा हनुपुर नरेश प्रतिसूर्य अपने विमान में उधर से गुजर रहा था। सहसा उसका विमान आकाश में अवरुद्ध हो गया। नीचे आकर प्रतिसूर्य ने अंजना को नवजात शिशु के साथ देखा। उसने उन्हें अपने विमान में बैठाया और अपने नगर की ओर चला। कहते हैं कि हनुमान जन्म से ही बहुत चंचल थे। माता की गोद से उछले और विमान से नीचे गिर गए। विमान को नीचे उतारा गया। देखा कि जिस शिला पर हनुमान गिरे थे वह चूर-चूर हो गई थी, पर हनुमान को कहीं खरोंच तक नहीं आई थी। इसी घटना के कारण हनुमान को वज्रांग, बजरंग आदि नामों से भी पुकारा गया।

सुग्रीव हनुमान के मित्र थे। वहीं पर हनुमान को श्री राम के प्रथम दर्शन हुए। हनुमान श्री राम से इतने प्रभावित हुए कि उनके अनन्य भक्त बन गए। हनुमान ने ही सीता की खोज की और लंकादहन कर रावण को राम भक्त की शक्ति से परिचित कराया। राम-रावण युद्ध में भी हनुमान ने अपूर्व शौर्य दिखाया।

हनुमान एक बार अपने महल की छत पर टहल रहे थे। संध्या का समय था। अस्त होते सूर्य को देखकर वे प्रतिबोध को प्राप्त हुए कि जीवन का सूरज भी एक दिन डूबने वाला है। प्रव्रजित बने। सकल कर्म खपा कर सिद्ध-बुद्ध और मुक्त हुए।

भारत वर्ष में हनुमान लोगों की श्रद्धा का केन्द्र हैं।

हरजसराय (कवि)

एक भक्त हृदय जैन कवि।

कविवर हरजसराय जी का जन्म लगभग दो सौ वर्ष पूर्व कसूर नगर (जिला लाहौर—वर्तमान पाकिस्तान) में एक जैन परिवार में हुआ। वे जाति से ओसवाल और गोत्र से गधैया गोत्रीय थे।

कविवर हरजसराय जी का जीवन जैन संस्कारों से संस्कारित था। अरिहंत देव के प्रति अटूट आस्था और दृढ़ अनुराग उनके हृदय में था। भक्ति के अतल सागर में पैठकर उन्होंने पदों की रचना की। यही कारण है कि उनके द्वारा रचित 'साधु गुण माला' 'देवाधिदेव रचना' तथा 'देवरचना' नामक कृतियों के एक-एक पद को पढ़ते हुए पाठक भक्ति और आत्मचिन्तन की गहराइयों में उतर जाता है।

कविवर हरजसराय की जहां काव्यमयी प्रतिभा उच्चकोटि की थी वहीं उनका व्यक्तिगत जीवन भी जिनत्व के रंग से पूरी तरह रंगा हुआ था। उनके जीवन का एक प्रसंग विश्रुत है—

हरजसराय जी की आर्थिक स्थिति कमजोर थी। परन्तु वे निर्धनता में भी आनन्दित रहते थे। एक बार एक संत भिक्षा के लिए उनके घर पधारे। घर की स्थिति देखकर संत करुणार्द्र बन गए। उन्होंने एक मंत्र जो पत्रखण्ड पर अंकित था हरजसराय जी की ओर बढ़ाते हुए कहा, श्रावक जी! इस मंत्रांकित पत्र को अपनी गद्दी के सिरहाने स्थापित कर लीजिए। इसके अचूक प्रभाव से आपको प्रतिदिन इच्छित धन की प्राप्ति हो जाया करेगी।

हरजसराय जी ने मुनि श्री से मंत्र स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कहा, महाराज! मेरी आर्थिक स्थिति मेरे पूर्वोपार्जित कर्मों के अनुसार है। अपने तुच्छ भौतिक लाभ के लिए मैं आपके संयम को दांव पर नहीं लगाऊंगा।

कर्मसिद्धांत और संयम के प्रति ऐसा विशुद्ध दृष्टिकोण था श्रावक जी का। श्रीयुत हरजसराय जी का एक-एक पद काव्य की रसमयी आत्मा से पगा है। 'साधु गुणमाला' में साधु के इन्द्रियजय का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए उन्होंने गाया था–

लोभ के कारण जाल फंसे, खग मीन मरे कपि कुंजर रोवे।
चोर सहे दुख बन्ध वधादिक, लोभ सों मानव किंकर होवे।।
लोभ विनाश करे शिव मारग, नीच गती गत नीच मुढ़ोवे।
लोभ निवार संतोष गहें ऋषि, ता गुणमाल सुसेवक पोवे।।

–साधु गुणमाला पद 41

कविवर का प्रामाणिक इतिवृत्त अनुपलब्ध है। साधु गुणमाला के अंतिम पद में कविवर का समय संकेत उपलब्ध होता है। पद निम्नोक्त है–

अठ दशंत वरषे चौंसठे चेत मासे, शशि मृग सित पक्षे पंचमी पाप नासे।
रच मुनि-गुण माला मोद पाया कसूरे, हरजस गुण गाया नाथ जी आस पूरे।।

स्पष्ट है कि कसूर निवासी श्री हरजसराय जी ने वि.सं. 1864 में चैत्र मास के मृगशिरा नक्षत्र में 'साधु गुणमाला' नामक स्तवन की रचना को पूर्ण किया।

हरिकेशी मुनि

उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार चाण्डाल कुलोत्पन्न एक मुनि।

हरिकेशी बल नामक चाण्डाल के पुत्र थे। उनकी माता का नाम गांधारी था। बल की एक अन्य पत्नी का नाम गौरी था। हरिकेशी जन्म से ही कुरूप और श्यामवर्णी थे। स्वभाव से भी रूक्ष और रौद्र थे। किसी समय जब चाण्डाल बस्ती में सभी लोग साथ मिलकर आमोद-प्रमोद और क्रीड़ा कर रहे थे तब हरिकेशी अकेला एक कोने में खड़ा यह सब देख रहा था। बच्चे उसे अपने खेल में सम्मिलित नहीं करते थे। सब जानते थे कि वह चण्ड प्रकृति का है। उसी समय वहां एक सर्प निकल आया। बूढ़े-बच्चे और जवानों ने उस सर्प को तत्क्षण विषैला-जन्तु कहते हुए मार दिया। कुछ देर बार एक निर्विष दुमुंही निकली जिसे किसी ने कुछ न कहा। इस घटना से हरिकेशी को यह बोध मिला कि विषैला मार दिया जाता है, निर्विष सुरक्षित रहता है। मैं अपनी जिह्वा के विषैले होने से ही तिरस्कृत जीवन जी रहा हूँ। इस बोध को लेकर हरिकेशी संन्यस्त हो गए और उग्र तप करने लगे। एक यक्ष उनकी सेवा में रहने लगा।

एक बार भद्रा नामक एक राजकन्या ने मुनि हरिकेशी का अपमान किया तो यक्ष ने उसे अचेत कर दिया। राजा द्वारा क्षमा मांगने पर उसने भद्रा का विवाह मुनि से करने को कहा। राजा ने वैसा ही किया। पर ध्यान पूरा होने पर मुनि ने भद्रा को अस्वीकार कर दिया। नीति के अनुसार भद्रा का पुनर्विवाह रुद्रदत्त पुरोहित से किया गया। पुरोहित ने भद्रा के शुद्धिकरण के लिए विशाल यज्ञ किया और विविध भोजन सामग्री भोज के निमित्त से बनवाई। संयोग से हरिकेशी मुनि मासोपवास के पारणे के लिए भिक्षार्थ यज्ञ मण्डप में आ गए। ब्राह्मणों ने मुनि का तिरस्कार कर दिया। क्रोधित होकर यक्ष ने सब ब्राह्मणों को रुग्ण कर दिया। सभी रक्तवमन करने लगे। रुद्रदत्त और भद्रा को घटना की सूचना मिली तो वे मुनि के चरणों में पहुंचे और ब्राह्मणों के अपराध के लिए क्षमा मांगने लगे। यक्ष ने प्रसन्न बन सभी को स्वस्थ कर दिया। हरिकेशी मुनि उग्र तपश्चरण और निरतिचार संयम साधना द्वारा सर्व कर्मों से विमुक्त बनकर निर्वाण को उपलब्ध हुए।

—उत्तराध्ययन-12

हरिचन्दन गाथापति

साकेत नगर के एक सम्पत्तिशाली गाथापति। भगवान महावीर के उपदेश से प्रतिबुद्ध बनकर वे दीक्षित हुए। बारह वर्षों तक निरतिचार संयम पालकर विपुलाचल से सिद्ध हुए। —अन्तगडसूत्र वर्ग 6, अध्ययन 8

हरिनन्दी

उज्जयिनी नगरी का रहने वाला एक वणिक। उसकी एक छोटी सी दुकान थी, जिसके द्वारा वह अपना और परिवार का उदर पोषण करता था। एक बार उसे घेवर खाने का मन हुआ। उसने पत्नी को घेवर बनाने के लिए सभी सामग्री दी और घेवर बनाने को कहा। संध्या समय जब वह घर पहुंचा तो उसकी पत्नी ने प्रतिदिन की भांति उसे खाने को सूखी रोटी दी। उसने घेवर के बारे में पूछा तो पत्नी ने कहा, जंवाई राजा आए थे और सारा घेवर उन्हीं को परोस दिया गया।

घटना छोटी सी थी, पर हरिनन्दी के लिए यह घटना बहुत बड़ी बन गई। उसका मन उचट गया। दूसरे दिन उदास चित्त से वह कहीं जा रहा था तो उसे एक मुनि दिखाई दिए। वह मुनि के चरणों में जाकर बैठ गया। मुनि ने अपने ज्ञानबल से पहचान लिया कि हरिनन्दी भव्य प्राणी है। उसके लिए छोटा सा सूत्र भी भवसागर से पार जाने वाली नौका बन सकता है। मुनि ने उसे संक्षेप में धर्म का सार बताया और स्पष्ट किया—संसार में अर्जित धन को बहुधा दूसरे बांट लेते हैं पर आध्यात्मिक क्षेत्र में अर्जित धर्म रूपी धन को कोई नहीं बांट सकता है, धर्म व्यक्ति की निजी पूंजी बन जाता है। अतः बाह्य धन मिथ्या है, धर्मरूपी धन ही वास्तविक धन है।

मुनि के इस छोटे से उपदेश से ही हरिनन्दी प्रबुद्ध बन गया। उसने संसार को त्याग कर प्रव्रज्या धारण कर ली और निरतिचार संयम साधना से मोक्ष प्राप्त किया। —धर्मरत्न प्रकरण टीका, गाथा 47

हरिबल

हरिबल कंचनपुर नगर का रहने वाला एक निर्धन धीवर था। निर्धन होने पर भी वह साहसी, दृढ़ निश्चयी और गुणानुरागी था। उसकी पत्नी का नाम प्रचण्डा था जो यथानाम तथागुण थी। समुद्र में जाल फैलाकर मछलियां पकड़ना और उन्हें बेचकर उदरपूर्ति करना हरिबल की दिनचर्या थी। एक बार जब हरिबल मछलियां पकड़ने कि लिए सागर तट की ओर जा रहा था तो उसे एक मुनि के दर्शन हुए। मुनि ने हरिबल को अहिंसा की महिमा समझाई और मछली व्यवसाय के परित्याग की प्रेरणा दी। हरिबल ने कहा कि वह

उक्त व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य कोई व्यवसाय नहीं जानता है और उस व्यवसाय को छोड़ देगा तो परिवार सहित भूख से मर जाएगा। मुनि ने कहा, तुम उक्त हिंसामयी वयवसाय का समग्ररूपेण परित्याग नहीं कर सकते तो कम से कम इतना तो कर ही सकते हो कि तुम्हारे जाल में फंसने वाली प्रथम मछली को तुम जीवन दान दे दो। हरिबल ने कहा, इतना मैं अवश्य कर सकता हूँ। मुनि ने उसके लिए हरिबल को नियम दे दिया।

हरिबल ने समुद्र में जाल फैंका। जाल को खींचा और पाया कि एक बड़ा मत्स्य जाल में फंसा है। अपने नियम के अनुसार मत्स्य के गले में एक कौड़ी बांधकर उसने उसे पुनः सागर में छोड़ दिया। तब उसने दूसरी बार जाल फैंका। संयोग से वही मत्स्य इस बार भी जाल में फंसा। उस मत्स्य को हरिबल ने पुनः पानी में छोड़ दिया तथा फिर से जाल फैलाया। हरिबल ने दसों बार जाल फैलाया और प्रत्येक बार वही मत्स्य जाल में उलझता रहा। नियम के पालन के लिए हरिबल पुनः-पुनः उस मत्स्य को जल में छोड़ता रहा। संध्या को रिक्त हाथों से हरिबल लौटने लगा तो समुद्र का अधिष्ठायक देव हरिबल के समक्ष उपस्थित हुआ और बोला, मैं तुम्हारी नियम-दृढ़ता से प्रसन्न हूँ। पुनः-पुनः तुम्हारे जाल में आने वाला मत्स्य मैं ही था और यह मैंने तुम्हारी परीक्षा के लिए किया था। परीक्षा में तुम सफल हुए। मैं तम्हें इच्छित वरदान देना चाहता हूँ ,जो चाहो मांग लो। हरिबल ने कुछ सोचते हुए कहा, देव! मैं जब भी संकट से घिरूं आप मेरी रक्षा करना। तथाऽस्तु कहकर देव अन्तर्धान हो गया।

रिक्त हाथ घर लौटने और पत्नी के क्लेश से बचने के लिए हरिबल मार्ग में एक देवालय के कोने में ही लेटकर रात्रि व्यतीत करने लगा।

उधर राजकुमारी वसंतश्री हरिबल नामक एक विदेशी युवा व्यापारी पर मुग्ध थी और उन दोनों ने रात्रि में उसी देवालय में मिलने और वहीं से रात्रि में ही देशान्तर भाग जाने का निश्चय किया था। अन्धेरी रात्रि में बहुमूल्य हीरे-जवाहरात की मंजूषा और रथ लेकर राजकुमारी मंदिर में पहुंची। परन्तु किसी कारण वश उसका प्रेमी हरिबल वहां नहीं पहुंच पाया। युवा धीवर हरिबल को ही अपना प्रेमी मानकर राजकुमारी उसे रथ में बैठाकर देशान्तर के लिए चल दी। प्रभात होने पर रहस्य स्पष्ट हुआ। आखिर राजकुमारी ने उसे ही अपना वर मानकर उससे विवाह कर लिया और दोनों विशालानगरी में एक भव्य भवन खरीद कर सुखपूर्वक जीवन-यापन करने लगे। इस सुखमय जीवन का कारण हरिबल ने उस नियम को ही माना जो संत ने उसे दिया था। हरिबल विशाला नगरी में रहकर दीन-दुखियों की सहायता करने लगा। शीघ्र ही वह नगर निवासियों की आंखों का तारा बन गया। नगर नरेश मदनदेव से भी उसके मैत्री-सम्बन्ध स्थापित हो गए। किसी समय राजा ने हरिबल को सपत्नीक भोजन पर आमंत्रित किया। वसन्तश्री का रूप राजा की नजरों में समा गया। उसने मंत्री के साथ मिलकर हरिबल को मार्ग से हटाने की योजना बनाई। मन्त्री अत्यन्त कुटिल था और उसने ऐसी कुटिल योजना तैयार की जिसमें हरिबल के बचने की उम्मीद न थी। योजनानुसार राजा ने अपनी पुत्री के स्वयंवर की घोषणा की और हरिबल को आदेश दिया कि वह लंका जाकर महाराज विभीषण को स्वयंवर में आने का निमंत्रण देकर आए। स्पष्ट था कि लंकागमन के लिए समुद्र को तैरना था और समुद्र को तैरने का स्पष्ट अर्थ था समुद्र में डूब मरना। परन्तु हरिबल ने इस चुनौति-पूर्ण कार्य को स्वीकार किया।

समुद्र के अधिष्ठायक देव की सहायता से हरिबल लंका पहुंच गया। वहां पर उसने कुसुमश्री नामक राजमाली पुष्पबटुक की पुत्री से विवाह किया। विभीषण की खड़गहास तलवार कुसुमश्री से पाकर हरिबल प्रसन्न हुआ और कुसुमश्री के साथ विशालानगरी के लिए चल दिया।

उधर राजा ने वसन्तश्री को अपने वश करना चाहा। उसे प्रेम और भय दोनों विधियों से अपनी रानी बनने के लिए मनाया, पर वसन्तश्री की दृढ़धर्मिता के समक्ष राजा की दाल न गली। उचित समय पर हरिबल कुसुमश्री के साथ विशाला लौटा। राजा उसकी सकुशल वापसी पर सन्न रह गया। मन मारकर उसने हरिबल का स्वागत उत्सव आयोजित किया और मनोभाव छिपाकर उसकी सफलता की भी प्रशंसा की।

वसन्तश्री ने पूरी बात हरिबल को कही। हरिबल ने बुद्धिमत्ता इसी में मानी की राजा से सावधान रहा जाए। उधर राजा और मंत्री हरिबल रूपी कांटे को निकालने के लिए नित नई योजनाएं बनाते। अंततः उन्होंने एक योजना बनाई। योजनानुसार राजा ने हरिबल को अपने पास बुलाकर आदेश दिया कि वह यमपुरी नरेश महाराज यमराज को भी स्वयंवर में पदार्पण का निमंत्रण-पत्र देकर आए। हरिबल को अपने मित्र देव पर भरोसा था ही, सो उसने राजा का आदेश स्वीकार कर लिया। घर आकर उसने मित्र देव का स्मरण किया। देव उपस्थित हुआ। पूरी बात सुनकर देव ने कहा, हरिबल! तुम घर पर सानन्द रहो। तुम्हारा रूप धर कर शेष कार्य मैं करूंगा। कहकर देव हरिबल का रूप धरकर राजा के पास पहुंचा। उसने कहा, यमपुरी जाने के लिए देहत्याग करना होगा अतः नगर के बाहर चिता बनवाई जाए जिसमें प्रवेश कर मैं देहोत्सर्ग करूं। सुनकर राजा को लगा कि अब शीघ्र ही उसके मन की मुराद को मंजिल मिलने वाली है। हरिबल के चिता-प्रवेश करते ही उसकी दोनों पत्नियों को वह अपनी रानी बना लेगा। ऐसा सोचते हुए राजा ने शीघ्र ही अनुचरों को आदेश देकर नगर के बाहर चिता तैयार कराई। राजा और नगरजनों की विशाल उपस्थिति में हरिबल रूपी देव ने चिता में प्रवेश कर देहोत्सर्ग कर दिया। राजा के हर्ष का पार न था। रात्रि घिरते ही वह हरिबल के घर पहुंचा। हरिबल छिपकर राजा की करतूत देखने लगा। राजा ने वसन्तश्री और कुसुमश्री से कहा, अब हरिबल लौटने वाला नहीं है। तुम मेरे साथ महलों में चलो और राजरानी बनकर सुख भोगो। वसन्तश्री और कुसुमश्री ने राजा के प्रस्ताव को यह कहते हुए ठुकरा दिया कि उनके पति उनके मन में बसे हैं। पति के अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष का स्वप्न-चिंतन भी उनके लिए पाप है। राजा ने सीधे शब्दों में बात बनते न देखकर लपककर कुसुमश्री का हाथ पकड़ना चाहा। कुसुमश्री ने विद्या बल से अपार बल अपने शरीर में प्रगट किया और पाद प्रहार से राजा को धूल चटा दी। बन्धनों में बांधकर एक कोने में राजा को डाल दिया। राजा सहम गया। उसने अनुनय-विनयपूर्वक अपनी मुक्ति की प्रार्थना की और गिड़गिड़ाते हुए बोला कि अब वह स्वप्न में भी उनका चिंतन नहीं करेगा। आखिर कुसुमश्री ने राजा को मुक्त कर दिया।

उधर कुछ दिन बाद देव के परामर्श पर हरिबल राजदरबार में पहुंचा। उसे देखकर राजा, मंत्री और सभासद दंग रह गए। राजा की प्रार्थना पर हरिबल ने यमपुरी की कल्पित यात्रा-कथा सुनाई और कहा, महाराज यम का आदेश है कि अगर राजा और मंत्री स्वयं उनके पास उपस्थित होकर उन्हें स्वयंवर में आगमन का निमंत्रण देंगे तो वे अवश्य ही स्वयंवर में पधारेंगे।

राजा और मंत्री यमपुरी जाने को तैयार हो गए। चिता सजी। पहले मंत्री ने चिता में प्रवेश किया और जल मरा। राजा चिता में प्रवेश करने लगा तो हरिबल ने उसका हाथ पकड़ लिया और बोला, महाराज! पाप-मंत्रणाएं देने वाला मंत्री अपने अपराध का दण्ड पा चुका है। ऐसे मंत्रियों से आप सावधान रहें। कहकर हरिबल ने वस्तुस्थिति स्पष्ट कर दी। इससे राजा का हृदय परिवर्तन हो गया। उसने हरिबल को गले से लगा लिया और उसी से अपनी पुत्री का विवाह करके उसे राजपद प्रदान किया। संसार त्याग कर राजा प्रव्रजित हो गया।

कई वर्षों तक विशाला नगरी पर हरिबल ने शासन किया। जब उसका पुत्र युवा हो गया तो उसे राजगद्दी का दायित्व देकर अपनी तीनों पत्नियों के साथ वह कंचनपुर आया। अपनी पुत्री वसन्तश्री से मिलकर राजा अतीव प्रसन्न हुआ और उसने हरिबल को राजपाट प्रदान कर प्रव्रज्या धारण कर ली।

अनेक वर्षों तक हरिबल ने सुशासन किया। अंत में राजपाट त्याग कर प्रव्रजित बन गया। उग्र संयम साधना से केवलज्ञान पाकर सिद्ध हुआ। —वर्धमान देशना-1

हरिभद्र (आचार्य)

श्रमण परम्परा के उद्भट विद्वान जैन आचार्य। जैन आचार्यों की परम्परा में आचार्य हरिभद्र का स्थान तारामण्डल के मध्य चन्द्र तुल्य है। उनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार से है—

आचार्य हरिभद्र का जन्म चित्रकूट के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। वे वहां के राजा जितारि के राजपुरोहित थे। वैदिक दर्शन के वे प्रकाण्ड पण्डित थे और अपराजेय वादी थे। अपने युग के समस्त वादियों को उन्होंने शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया था। इससे हरिभद्र के मस्तिष्क में अहंकार व्याप्त हो गया। ज्ञान भार से उदर न फट जाए इसलिए वे अपने पेट पर स्वर्ण पट्ट बांधे रहते थे। जमीन को खोद कर अपने प्रतिद्वन्द्वी को खोज निकालने के लिए अपने कन्धे पर कुदाल रखते थे। आसमान से प्रतिवादी को उतार लेने के लिए सोपान पंक्ति साथ रखते थे। जम्बूद्वीप में उन जैसा अन्य विद्वान नहीं है इसके प्रतीक के लिए जम्बू वृक्ष की शाखा अपने हाथ में रखते थे। वे अपने को कलिकाल सर्वज्ञ मानते थे। उन्होंने घोषणा की थी कि किसी के द्वारा उच्चारित पद का अर्थ यदि वे नहीं समझ पाएंगे तो उसे अपना गुरु मान लेंगे।

एक बार रात्रि में हरिभद्र जैन उपाश्रय के निकट से गुजर रहे थे। उपाश्रय में विराजित याकिनी महत्तरा एक शास्त्रीय गाथा का उच्चघोष पूर्वक स्वाध्याय कर रही थी। गाथा के शब्द विद्वान हरिभद्र के कानों में पड़े। उन्होंने गाथा के अर्थ को समझने की कोशिश की। पुनः-पुनः बुद्धि पर बल दिया, पर समझ न पाए। रात भर वे गाथार्थ के चिन्तन में विकल रहे। अर्थ न निकाल पाने के कारण पूर्ण प्रामाणिकता के साथ वे प्रभात में याकिनी महत्तरा के पास पहुंचे और गाथार्थ पूछा, साथ ही अपना निश्चय भी बताया कि वह उनका शिष्य बनने के लिए प्रस्तुत हैं। याकिनी महत्तरा विद्वान हरिभद्र को लेकर जिनदत्तसूरि के पास पहुंची। जिनदत्तसूरि ने गाथार्थ स्पष्ट किया। उन्होंने हरिभद्र की प्रार्थना पर उन्हें मुनिधर्म में प्रव्रजित किया।

हरिभद्र वैदिक विद्वान तो थे ही। जैनागमों का भी उन्होंने गंभीरता पूर्वक अध्ययन किया। अल्प समय में ही वे आगम साहित्य के पारगामी पण्डित बन गए। गुरु ने उनको आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया।

आचार्य हरिभद्र सूरि सत्य गवेषक श्रमण थे। उन्हें स्वमत से मिथ्यामोह और परमत से मिथ्या विरोध नहीं था। वे स्पष्ट कहते थे—मुझे महावीर के वचन से कोई पक्षपात नहीं है, कपिलादि के वचनों से कोई द्वेष नहीं है। जिनका वचन युक्तियुक्त है—वह ग्राह्य है।

आचार्य हरिभद्र के जीवन से जुड़ी एक कथा विश्रुत है। आचार्य हरिभद्र के दो शिष्यों को बौद्धों ने मार दिया। हंस-परमहंस नामक उन शिष्यों पर आचार्य श्री का विशेष अनुराग भाव था। शिष्यों की हत्या कर दिए जाने से आचार्य हरिभद्र को भारी आघात लगा। वे रोषारुण बन गए। रात्रि में विद्या बल से उन्होंने 1444 बौद्ध भिक्षुओं को बन्धन ग्रस्त कर आहूत किया। उबलते तेल के कड़ाहे में उन भिक्षुओं की बलि देने के लिए हरिभद्र मन्त्र पाठ करने लगे। इस घटना की सूचना से सर्वत्र हलचल मच गई। आचार्य हरिभद्र की धर्ममाता याकिनी महत्तरा रात्रि में ही उपाश्रय में पहुंची और द्वार खटखटाया। आचार्य हरिभद्र ने अन्दर से

ही याकिनी महत्तरा के रात्रि में आने का कारण पूछा। महत्तरा ने कहा, महाराज ! मुझे प्रायश्चित्त लेना है। मेरे पैर के नीचे दबकर एक मेंढ़क की हत्या हो गई है। आचार्य श्री ने कहा, इसका प्रायश्चित्त आप प्रभात में करें। याकिनी महत्तरा ने कहा, महाराज ! जीवन का भरोसा ही कहां है? क्या यह सुनिश्चित है कि मैं प्रभात तक जीवित रहूंगी ही? आचार्य हरिभद्र को द्वार खोलना पड़ा। उन्होंने मातृ स्वरूपा महत्तरा को तीन उपवास का दण्ड प्रदान किया। इस पर याकिनी महत्तरा ने कहा, महाराज! तुच्छ जीव की अजाने में हुई हत्या का इतना बड़ा दण्ड?

आचार्य हरिभद्र ने कहा, पञ्चेन्द्रिय जीव के वध का न्यूनतम यही प्रायश्चित्त है।

उपयुक्त भूमिका तलाश कर याकिनी महत्तरा ने कहा, महाराज ! एक क्षुद्र जीव के अनजाने से हुए वध का यह दण्ड है तो 1444 मानवों की क्रोध पूर्वक की गई हत्या का क्या प्रायश्चित्त होगा?

याकिनी महत्तरा की इस सामयिक बात ने आचार्य हरिभद्र के नेत्र खोल दिए। वे तत्क्षण संभल गए। उन्होंने बौद्ध भिक्षुओं को मुक्त कर दिया और अपने क्रोध और मर्यादा-प्रतिकूल उपक्रम के लिए आलोचना-प्रायश्चित्त द्वारा आत्म-शुद्धि की।

आचार्य हरिभद्र ने कई आगमों पर टीकाएं लिख कर आगमों में प्रवेश को सरल बनाया। वे जैन परम्परा के प्रथम टीकाकार माने जाते हैं। टीका साहित्य के अतिरिक्त भी उन्होंने विभिन्न विषयों पर प्रचुर मात्रा में साहित्य सृजन किया। जैन परम्परा में योग पर कलम चलाने वाले वे प्रथम आचार्य हैं। योग विषय पर उनके कई ग्रन्थ हैं जो अद्भुत हैं।

आचार्य हरिभद्र को 1440 ग्रन्थों का रचयिता माना जाता है। ललिग नामक एक श्रावक रात्रि में उपाश्रय में मणि रख जाता था, जिसके प्रकाश में आचार्य श्री साहित्य सृजन करते थे।

आचार्य हरिभद्र का समय वी.नि. की तेरहवीं शताब्दी माना जाता है। —प्रभावक चरित्र

हरिराजा

हरिवंश का आद्य पुरुष जिसके नाम पर यह वंश चला। हरि कैसे राजा बना यह एक रोचक प्रकरण है। कहते हैं कि पूर्वजन्म में वह कौशाम्बी नगर का राजा सुमुख था। किसी समय वह राजा वीरक नामक माली की पत्नी वनमाला के रूप पर आसक्त हो गया और उसे अपनी रानी बनाकर महल में रख लिया। वीरक वनमाला के विरह में बावला बना गली-गली उसे पुकारता हुआ भटकने लगा। एक बार जब वीरक अपनी पत्नी को पुकारता हुआ राजमहल के नीचे से गुजर रहा था तब राजा वनमाला के साथ महल के गवाक्ष में बैठा था। वीरक की स्थिति देख उसे अपनी भूल पर विचार उत्पन्न हुआ। पर तत्क्षण विद्युत्पात से राजा सुमुख और वनमाला की मृत्यु हो गई। दोनों मरकर हरिवर्ष क्षेत्र में युगल रूप में जन्मे। उधर वीरक मरकर किल्विषी देव हुआ। ज्ञान बल से उसने हरिवर्षीय युगल के रूप में राजा और अपनी पत्नी को देखा। प्रतिशोध लेने के लिए उसने एक विचित्र निर्णय लिया। उसने उस युगल का अपहरण कर भरत क्षेत्र के चम्पापुर में पहुंचाया और घोषणा की कि उक्त युगल को राजा और रानी बनाया जाए। हरिक्षेत्र से आहृत होने से वह हरिराजा कहलाया। देव ने युगल का आकार भरतक्षेत्रानुरूप कर दिया था। देव के इंगित पर नागरिकों ने राजा रानी को मद्य और मांसप्रिय बना दिया। फलतः राजा मरकर नरक में गया। इस प्रकार वीरक ने अपना प्रतिशोध लिया। इसी हरिराजा के नाम पर हरिवंश चला जिसमें आगे चलकर कई बड़े-बड़े राजा और महापुरुष पैदा हुए।

हरिश्चन्द्र राजा

लोक प्रसिद्ध एक सत्यवादी राजा। पुराणों से लेकर वर्तमान साहित्य तक में महाराज हरिश्चन्द्र की सत्यनिष्ठा का यशगान हुआ है। पौराणिक वैदिक साहित्य में महाराज हरिश्चन्द्र की अनेक चरित्र कथाएं प्राप्त होती हैं। जैन श्रमणों और साहित्यकारों ने भी महाराज हरिश्चन्द्र के यशस्वी सत्यनिष्ठ जीवन को स्वर्णाक्षरों में अंकित किया है। जैन परम्परा में उपलब्ध महाराज हरिश्चन्द्र का इतिवृत्त निम्नोक्त है–

हरिश्चन्द्र अयोध्या के राजा थे। वे इक्ष्वाकु कुल के भूषण थे। उनकी रानी का नाम सुतारा और पुत्र का नाम रोहिताश्व था। राजा की सत्य पर अगाध आस्था थी। वे धर्मप्राण पुरुष थे। धर्म उनके तन-मन-प्राण में बसा था। वे जैसा सोचते थे वैसा ही कहते थे और जैसा कहते थे उसे प्राण देकर भी पूरा करते थे। एक बार एक ऋषि राजदरबार में उपस्थित हुआ और उसने राजा से रक्षा की प्रार्थना करते हुए कहा, महाराज! सरयूतट स्थित ऋषि आश्रम को एक जंगली शूकर ने अपना निशाना बनाया है। ऋषि और ऋषि-संतानें उससे भीत हैं। आप आश्रम की रक्षा कीजिए। राजा ने ऋषि को विश्वस्त करके लौटा दिया और स्वयं अश्व पर आरूढ़ होकर आश्रम में पहुंचे। राजा के पूछने पर ऋषियों ने झाड़ी की ओर इंगित करके कहा, शूकर उधर झाड़ियों में छिप गया है। राजा ने आहट पाते ही बाण छोड़ दिया। वहां जाकर देखा तो वहां उनको एक सगर्भा मृगी का शव मिला। इससे राजा को महान खेद हुआ। ग्लानि में गल गए राजा। इतने में ही ऋषि पुत्री ने यह कहते हुए उधम मचा दिया कि राजा ने उसकी पालिता मृगी को मार दिया है।

अजाने में हुए मृगी-वध का यह प्रसंग ही हरिश्चन्द्र के भावी कष्टमय जीवन का आधार बना। ऋषि के शोक और शाप को शान्त करने के लिए महाराज हरिश्चन्द्र ने अपना पूरा साम्राज्य उसे अर्पित कर दिया। इतने से भी ऋषि संतुष्ट नहीं हुआ तो राजा ने गुरु-दक्षिणा के रूप में एक लाख स्वर्ण मुद्राएं अतिरिक्त देने का वचन दिया।

दूसरे ही दिन आश्रम के कुलपति ऋषि ने दरबार में पहुंचकर महाराज हरिश्चन्द्र से राजपद प्राप्त कर लिया और गुरु दक्षिणा के रूप में एक लाख स्वर्ण मुद्राएं मांगी। राजा ने राजकोष से स्वर्ण मुद्राएं मंगानी चाही तो ऋषि ने कड़क कर कहा, तुम पूरा राज्य पहले दान में दे चुके हो। इसलिए राजकोष पर तुम्हारा अधिकार नहीं है। साथ ही उसने यह भी आदेश दिया कि अयोध्या राज्य के किसी गृहस्थ से कर्ज पर लेकर दिया गया धन भी उसे स्वीकार नहीं है। आखिर हरिश्चन्द्र की प्रार्थना पर ऋषि ने उन्हें एक लाख स्वर्ण मुद्राओं की व्यवस्था करने के लिए एक माह का समय दिया।

हरिश्चन्द्र अपनी पत्नी सुतारा और पुत्र रोहिताश्व के साथ भटकते-भटकते काशी नगरी में पहुंचे। वहां पर उन्होंने अपनी पत्नी और पुत्र को एक ब्राह्मण के हाथों बेचा और स्वयं को एक चाण्डाल के हाथों बेचकर ऋषि को एक लाख स्वर्ण मुद्राएं प्रदान कीं। अयोध्या की रानी और राजकुमार ब्राह्मण के घर दासी-दास बने तथा स्वयं अयोध्यापति एक चाण्डाल का दास बना। चाण्डाल के आदेश पर हरिश्चन्द्र श्मशान घाट की रक्षा करते और शव दाह करने वालों से आधा कफन कर के रूप में प्राप्त करते। उसी क्रम में दुर्दैव ने एक बार महारानी सुतारा को राक्षसी सिद्ध कर उसके वध का दायित्व हरिश्चन्द्र पर डाला। इतने से ही सत्य के परीक्षक संतुष्ट नहीं हुए। एक बार वन में फूल तोड़ते हुए रोहिताश्व को एक विषधर ने डस लिया और कुमार की मृत्यु हो गई। अकेली सुतारा अपने पुत्र के दाह-कर्म के लिए श्मशान में पहुंची। आधी रात में बिजली की कड़क से हरिश्चन्द्र ने पत्नी और पुत्र को पहचान लिया। उन प्रलय-पलों में भी हरिश्चन्द्र ने अपने सत्याचरण को नहीं छोड़ा और रानी से कर के रूप में आधा कफन मांगा। रानी ने कहा, महाराज !

जहां कफन ही नहीं है वहां आधे कफन का प्रश्न ही अनुचित है। परन्तु हरिश्चन्द्र ने अपनी मर्यादा की बात दोहराकर रानी को विवश कर दिया कि आधा कफन देकर ही वह अपने पुत्र का अग्नि संस्कार कर सकती है।

पति की मर्यादा की रक्षा के लिए महारानी सुतारा ने अपनी आधी साड़ी को फाड़कर कर रूप में उन्हें प्रदान किया। सत्य के परीक्षक देव उससे आगे न बढ़ सके। प्रस्तर पिघल गए। देवगण हरिश्चन्द्र के चरणों पर अवनत हो गए। रोहिताश्व जीवित हो गया। देवों ने स्पष्ट किया कि उनके सत्य की परीक्षा के लिए यह पूरा उपक्रम किया गया था। पलक झपकते से हरिश्चन्द्र पत्नी और पुत्र के साथ अयोध्या पहुंच गए। वे पूर्ववत् राजा हो गए। देवों ने महाराज हरिश्चन्द्र के चरणों पर अवनत बनकर उन्हें वरदान मांगने को कहा। परन्तु हरिश्चन्द्र तो देना ही जानते थे। मांगना तो उन्होंने जाना ही नहीं था। पर देवों द्वारा बाध्य किए जाने पर महाराज हरिश्चन्द्र ने कहा, देवो ! यदि देना ही चाहते हो तो वचन दो कि ऐसी परीक्षा फिर कभी किसी मनुष्य की नहीं लोगे। गद्‌गद होकर देवों ने वचन दिया और हरिश्चन्द्र का यशगान करते हुए अपने लोक को चले गए। रोहिताश्व के युवा होने पर उसे राजगद्दी पर बैठाकर महाराज हरिश्चन्द्र और महारानी सुतारा संयमपथ के पथिक बन गए। निरतिचार चारित्र की आराधना करके और कैवल्य प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

—हरिश्चन्द्र राजानो रास, श्री कनक सुन्दर कृत

(क) हरिसेन

उज्जयिनी नगरी का राजा। (देखिए-भीमसेन)

(ख) हरिसेन (चक्रवर्ती)

दसवें चक्रवर्ती के रूप में हरिसेन कंपिलपुर नरेश महाहरि की रानी महिषी के गर्भ से उत्पन्न हुए। युवावस्था में राजा बने और फिर षट्‌खण्ड साधकर चक्रवर्ती बने। सुदीर्घ काल तक शासन करने के पश्चात् आत्महित के लिए प्रव्रजित हुए और साधना से कैवल्य को साधकर निर्वाण को प्राप्त हुए।

—त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र

हस्तिपाल राजा

भगवान महावीर का अनन्य उपासक और पावापुरी नगरी का राजा। उसकी भावभीनी प्रार्थना को मान देकर प्रभु ने उसकी रथशाला में अन्तिम वर्षावास किया था और वहीं से निर्वाण पद प्राप्त किया था।

—समवायांग सूत्र

हस्तीमित्र

उज्जयिनी नगरी का एक धनी सेठ। कालान्तर में अपने पुत्र के साथ उसने एक जैन आचार्य से आर्हती प्रव्रज्या अंगीकार की। किसी समय सघन वन में विहार करते हुए मुनि हस्तीमित्र की देह क्लान्त हो गई। यात्रा को जारी रख पाना उनसे संभव नहीं हुआ। आचार्य से आज्ञा प्राप्त कर उन्होंने वहीं संथारा कर लिया। आचार्य आगे विहार कर गए, पर पुत्र मुनि पितृप्रेम वश वहीं रुक गया। वह पितृसेवा में जुट गया। कुछ काल बाद हस्तीमित्र मुनि का स्वर्गवास हो गया। देवलोक में उत्पन्न होकर उन्होंने अवधिज्ञान से देखा, उनका पुत्रमुनि उनके कलेवर की सेवा में रत है। पुत्रमुनि की दृढ़धर्मिता की परीक्षा लेने देव उस कलेवर में प्रविष्ट हो गया। उसने पुत्र मुनि को आदेश दिया कि वह जंगल से कंदमूल खाकर अपनी क्षुधा शान्त कर

ले। पुत्रमुनि ने कहा, यह साध्वाचार के सर्वथा प्रतिकूल है, मैं ऐसा नहीं करूंगा। देव ने विकुर्वित श्रावक समुदाय उपस्थित कर मुनि से भिक्षा की प्रार्थना कराई। मुनि ने देवपिण्ड कहकर आहार अस्वीकार कर दिया। पुत्र मुनि की इस दृढ़धर्मिता से देव गद्‌गद हो गया। वह दिव्य बल के द्वारा मुनि श्री को आचार्य श्री के पास ले गया और मुनि के परीक्षा में उत्तीर्ण होने की पूरी बात आचार्य श्री से कही। आचार्य श्री ने कण्ठ से लगाकर शिष्य का स्वागत किया। उत्कृष्ट चारित्र-धर्म की आराधना द्वारा मुनि ने आत्मकल्याण किया।

—उत्तराध्ययन वृत्ति

हारिल (आचार्य)

वी.नि. की ग्यारहवीं सदी के एक प्रभावक युगप्रधान आचार्य। संभवतः उनका जन्म गुप्तवंश के राजकुल में हुआ था। राज्य का परित्याग कर वैराग्य भाव से उन्होंने श्रमण दीक्षा अंगीकार की। बाद में वे युगप्रधानाचार्य पद पर संघ द्वारा आसीन किए गए।

आचार्य हारिल एक तेजस्वी मुनि थे। उनकी वाणी में ओज था। उनके युग में भारत हूण आक्रान्ताओं से आतंकित था। हूण नरेश तोरमाण ने भारत की जनता पर घोर अत्याचार किए थे। गांव और नगरों को लूटने के पश्चात् वह उन्हें आग लगा देता था। आचार्य हारिल ने हूण नरेश को प्रतिबोध देने का निश्चय किया और वे उसकी राजधानी पव्वइया (पर्वतिका) पधारे। उन्होंने अपने आचार, विचार और उपदेश से हूण नरेश के हिंसक मानस पर अपूर्व प्रभाव छोड़ा। हूण नरेश ने हिंसा का त्याग कर दिया और आचार्य हारिल को अपना गुरु मान लिया।

आचार्य हारिल 'हरिगुप्त' और 'हरिभद्र' इन दो नामों से भी विश्रुत हैं।

हालिक मुनि

एक हल चलाने वाला किसान जो गौतम स्वामी के उपदेश से मुनि बन गया। हालिक को मुनिव्रत देकर गौतम स्वामी चलने लगे। हालिक मुनि ने पूछा, भगवन् ! हम कहां जा रहे हैं ? गौतम स्वामी ने कहा, हम हमारे गुरु के पास जा रहे हैं। हालिक मुनि ने पूछा, भगवन् ! आपसे बढ़कर भी कोई गुरु हो सकता है क्या? गौतम स्वामी ने कहा, मुने ! मेरे गुरु के समक्ष मैं तो कुछ भी नहीं हूँ। मेरे गुरु भगवान महावीर मुनष्यों, नरेन्द्रों, देवों और देवेन्द्रों से वन्दित और पूजित हैं। उनकी महिमा अपरम्पार है।

सुनकर हालिक मुनि गद्‌गद बन गया। मन ही मन अपने गुरु के गुरु की महिमा गाता हुआ और गौतम स्वामी का अनुगमन करता हुआ भगवान के पास पहुंचा। परन्तु भगवान को देखते ही हालिक मुनि सहम गया और मुनिवेश फैंककर भाग गया।

यह सब कुछ देखकर गौतम स्वामी के आश्चर्य का आर-पार न रहा। उन्होंने भगवान से पूछा, भंते! यह हालिक आपको देखते ही डरकर क्यों भाग गया? भगवान ने कहा, गौतम ! यह हालिक उस सिंह का जीव है जिसका वध त्रिपृष्ठ के भव में मैंने किया था। मुझे देखते ही इसके भय के संस्कार जाग गए और यह भाग गया। त्रिपृष्ठ के भव में तुम मेरे सारथि थे और उस समय मरणासन्न सिंह को तुमने मधु-मिष्ठ वचनों से सान्त्वना दी थी। उसी के फलस्वरूप वह तुम्हारे प्रति प्रेम भाव से भर गया था।

गौतम स्वामी ने हालिक का भविष्य पूछा तो प्रभु ने फरमाया, हालिक ने सम्यक्त्व का स्पर्श कर लिया है। उसकी आत्मा अनादिकालीन मिथ्यात्व से एक बार मुक्त बन गई है। अब उचित समय पर उसे पुनः सम्यग्दर्शन का सुयोग प्राप्त होगा और चारित्र की आराधना करके वह सिद्ध पद का अधिकारी बनेगा।

हिडिम्बा

राक्षस कुल में जन्मी एक कन्या, जिसका विवाह वनवास की अवधि में मध्यम पाण्डव भीम से हुआ। हिडिम्बा ने वन के कई उपद्रवों से पाण्डवों की रक्षा कर माता कुन्ती का हृदय जीत लिया था जिसके कारण कुन्ती ने उसे अपनी पुत्रवधू के रूप में स्वीकार किया।

वैदिक महाभारत के अनुसार हिडिम्बा के पुत्र घटोत्कच ने महाभारत के युद्ध में अद्भुत पराक्रम दिखाया था। हिडिम्बा ने भीम से विवाह के पश्चात् अहिंसा धर्म स्वीकार किया था ऐसा जैन महाभारत में उल्लेख है।

—जैन महाभारत

हिमवन्त (आचार्य)

जैन परम्परा के एक प्रभावक आचार्य। नन्दी सूत्र स्थविरावली में उनके व्यक्तित्व का निदर्शन इस प्रकार कराया गया है—

तत्तो हिमवंत-महंत-विक्कमे धिइ-परक्कम-मणंते।
सज्झायमणंतधरे, हिमवंते वंदिमो सिरसा।।

आचार्य हिमवन्त का व्यक्तित्व हिमवान पर्वत के समान था, वे महान विक्रमशाली, असीम धैर्ययुक्त और पराक्रमी तथा भाव की अपेक्षा से अनन्त स्वाध्याय के धारक थे। ऐसे महामहिम हिमवान सदृश आचार्य हिमवन्त को मैं वन्दन करता हूँ।

आचार्य हिमवन्त स्कन्दिलाचार्य के उत्तरवर्ती और नागार्जुनाचार्य के पूर्ववर्ती आचार्य थे। इन तीनों आचार्यों में क्रमशः गुरु शिष्य का सम्बन्ध भी कुछ विद्वान मानते हैं। अनुमानतः ये तीनों आचार्य समकालीन थे।

आचार्य हिमवन्त महान श्रुतधर आचार्य थे। उनके सम्बन्ध में तिथियों और संवत के उल्लेख अप्राप्त हैं।

—नन्दी सूत्र स्थविरावली

हीरविजय (आचार्य)

वी.नि. की 21वीं-22वीं सदी के एक विश्रुत और प्रभावशाली जैन आचार्य। उनका जन्म पालनपुर नगर में ओसवाल परिवार में वी.नि. 2053 में हुआ था। उनके पिता का नाम 'कुरां' और माता का नाम 'नाथाबाई' था। 13 वर्ष की अवस्था में उन्होंने तपागच्छ के आचार्य विजयदान सूरि के पास दीक्षा धारण की। उन्होंने विविध भाषाओं के ज्ञान के साथ-साथ न्यायशास्त्र का विशेष अध्ययन किया। मुनि जीवन में उनका नाम हरिहर्ष था। वी.नि. 2092 में वे तपागच्छ मुनि संघ के आचार्य नियुक्त हुए। आचार्य पद नियुक्ति पर 'हीरविजय' नाम से वे विश्रुत हुए।

आचार्य हीरविजय अपने समय के एक चमत्कारी और प्रभावी आचार्य थे। बादशाह अकबर उनसे विशेष रूप से प्रभावित था। अकबर के दरबार में आचार्य हीरविजय को विशेष सम्मान प्राप्त था। उनके पधारने पर अकबर सिंहासन से खड़े होकर उनका सम्मान करता था। उनके कहने पर अकबर ने पर्युषण के दिनों में शिकार त्याग तथा राज्य में अमारि की घोषणा की थी।

पण्डित, वाचक और जगद्गुरु जैसी उपाधियां आचार्य हीरविजय को प्राप्त हुई थीं। वी.नि. 2122 में गुजरात के ऊना नगर में आचार्यश्री का स्वर्गवास हुआ।

आचार्य हीरविजय के कई चामत्कारिक प्रसंग साहित्यिक पृष्ठों पर अंकित हैं।

भानुचंद्र और सिद्धिचन्द्र आचार्य हीरविजय के प्रमुख शिष्य थे। —पट्टावली समुच्चय

हुकुमचंद जैन कानूनगो (अमर शहीद)

भारत के स्वतंत्रता संग्राम में सभी जातियों और धर्मों के लोगों ने समान रूप से भाग लिया था। स्वतंत्रता संग्राम की बली-वेदी पर अपने जीवन को होम देने वाले अमर बलिदानियों की लंबी शृंखला है। उसी शृंखला में एक नाम है—लाला हुकुमचंद जैन का।

लाला हुकुमचंद जैन हांसी (हरियाणा) के रहने वाले गोयल गोत्रीय अग्रवाल जैन थे। उनका जन्म सन् 1816 में हांसी में हुआ था। वे सुशिक्षित, उदार और वीर थे। वे फारसी भाषा के विद्वान थे। उन्होंने फारसी भाषा में कुछ पुस्तकें भी लिखीं। गणित में भी उनकी रुचि थी। दान-पुण्य और परोपकार के अनुष्ठानों में वे सदैव आगे रहते थे।

लाला हुकुमचंद जैन के मुगल बादशाह बहादुरशाह जफर से मैत्रीपूर्ण संबंध थे। बादशाह ने उनको हांसी और करनाल क्षेत्रों का कानूनगो नियुक्त किया था। इस पद पर रहते हुए लाला जी ने समाज सेवा के प्रशंसनीय कार्य किए।

सन् 1857 में भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध स्वतंत्रता संग्राम प्रारंभ हुआ। उस स्वतंत्रता संग्राम में श्री हुकुमचंद जैन ने अपूर्व शौर्य का परिचय दिया। लाला जी के एक मित्र थे—मिर्जा मुनीर बेग। लाला जी और मिर्जा मुनीर बेग ने बादशाह बहादुर शाह जफर को अपने रक्त से एक पत्र लिखा था जिसमें स्वतंत्रता संग्राम में अपना पूरा सहयोग देने का विश्वास दिलाया गया था। साथ ही उन्होंने बादशाह से संग्राम के लिए शस्त्रास्त्रों की सहायता की मांग की थी।

हुकुमचंद जी ने मित्र मिर्जा बेग के साथ मिलकर हांसी और आस-पास के गांवों के अनेक युवकों को स्वतंत्रता संग्राम में भाग लेने के लिए प्रेरित किया। युवा शक्ति का एक बड़ा संगठन उन्होंने तैयार किया। अंग्रेज सेना दिल्ली पर धावा बोलने के लिए जब हांसी से गुजर रही थी, तब लाला जी और उनके मित्रों ने उसके मार्ग को रोक लिया। सशस्त्र संघर्ष में लाला जी और उनके संगठन ने अंग्रेज सेना को भारी क्षति पहुंचाई। परंतु समय पर बादशाह की ओर से शस्त्रास्त्रों की प्राप्ति न होने के कारण युद्ध में लाला जी को अपने कई मित्रों की प्राणहानि झेलनी पड़ी।

बाद में अंग्रेजों ने दिल्ली पर आक्रमण करके बहादुरशाह जफर को गिरफ्तार कर लिया। बादशाह की निजी फाइलों से श्री हुकुमचंद जी जैन एवं मिर्जा मुनीर बेग द्वारा लिखित पत्र अंग्रेज कमाण्डर ने प्राप्त किया। उसी पत्र को आधार बनाकर अंग्रेजों ने चक्रव्यूह की रचना कर लाला जी और मिर्जा बेग को हांसी से गिरफ्तार कर लिया। लाला जी के 13 वर्षीय भतीजे फकीरचंद को भी गिरफ्तार किया गया। हिसार में स्थित अंग्रेज अदालत में संक्षिप्त मुकदमे के बाद लाला जी और मिर्जा बेग को फांसी की सजा सुनाई गई। फकीरचंद को अदालत ने मुक्त कर दिया।

19 जनवरी 1858 के दिन लाला जी और मिर्जा बेग को हांसी में उनके अपने घर के समक्ष सरे-आम फांसी के फंदे पर लटका दिया गया। जिस समय लाला जी को फांसी के फंदे पर लटकाया गया उस समय उनका 13 वर्षीय भतीजा उक्त दृश्य को देखने के लिए वहां उपस्थित था। अंग्रेज अफसर ने क्रूरता और अन्याय की सीमाओं को पार करते हुए उस निर्दोष बालक को भी पकड़ कर फांसी के फंदे पर लटका

दिया। इतना ही नहीं इन तीनों शवों को कई दिनों तक यथावत् लटकाए रखा गया। बाद में धार्मिक भावनाओं को आहत करने के लिए अंग्रेजों ने लाला जी के शव को भंगियों द्वारा दफन करवाया और मिर्जा बेग के शव को इस्लामिक परम्परा के विरुद्ध अग्नि में जला दिया गया।

स्वतंत्रता की बलिवेदी पर लाला जी और मिर्जा बेग ने अपने प्राणों की आहुति देकर अमर सेनानियों के इतिहास में अपने नाम को अमर कर दिया। इन स्वतंत्रता के दीवानों ने जहां फांसी का फंदा हंसते हुए चूमा था उसी स्थान पर नगर पालिका हांसी ने 22 जनवरी 1961 को "अमर शहीद हुकुमचंद जैन पार्क" की स्थापना की। लाला जी की आदमकद प्रतिमा भी यहां लगाई गई है।

हुक्मीचन्द जी महाराज (आचार्य)

स्थानकवासी सम्प्रदाय में कोटा सम्प्रदाय के एक तपस्वी और क्रियानिष्ठ आचार्य।

आपका जन्म शेखावटी के टोडा नामक गांव में हुआ। कोटा सम्प्रदाय के वरिष्ठ विद्वान मुनिवर श्री लालचन्द जी महाराज के सान्निध्य में आपने वि.सं. 1809 में आर्हती दीक्षा अंगीकार की। कुछ समय पश्चात् गुरु की आज्ञा प्राप्त कर तप और संयम की विशिष्ट आराधना के लिए आपने पृथक् विचरण प्रारंभ किया। आपकी तपःरुचि अद्भुत थी। आपने 21 वर्षों तक बेले-बेले पारणा किया। केवल तेरह द्रव्यों के उपयोग का आगार रखकर शेष समस्त द्रव्यों का आपने आजीवन के लिए त्याग कर दिया था। सर्दियों में आप एक चद्दर का उपयोग करते थे और गर्मियों में सूर्य की आतापना लिया करते थे।

तप के साथ ही जपनिष्ठा भी आपकी स्तुत्य थी। प्रतिदिन 2000 बार नमोत्थुणं के पाठ द्वार आप अरिहंत प्रभु की स्तुति करते थे। शेष समय में आगमों की प्रतिलिपि का लेखन करते थे। आपकी हस्तलिखित 19 आगमों की प्रतियां आज भी सुरक्षित हैं।

श्रेष्ठ और ज्येष्ठ आचार के पालक आचार्य श्री का स्वर्गवास 1918 में जावद ग्राम में समाधि संथारे पूर्वक हुआ। आपके नाम से वर्तमान में सम्प्रदाय प्रचलित है जिसमें अनेक विद्वान और आचार निष्ठ मुनिराज हैं।

हेमचन्द्र आचार्य (कलिकाल सर्वज्ञ)

जैन परम्परा के उद्भट विद्वान आचार्य। वी.नि. की 17वीं शताब्दी में आचार्य हेमचन्द्र ने गुजरात प्रान्त को जैन धर्म का केन्द्र बना दिया था। अपनी बहुमुखी प्रतिभा और विलक्षण विद्वत्ता के कारण आचार्य हेमचन्द्र 'कलिकाल सर्वज्ञ' गुण निष्पन्न उपनाम से सुख्यात हुए। आचार्य हेमचन्द्र के जीवन सम्बन्धी परिचय रेखाएं निम्न प्रकार से हैं–

आचार्य हेमचन्द्र का जन्म गुजरात प्रान्त के धन्धूका नगर में हुआ। वैश्य कुल में मोढ़ वंश अग्रणी चाचिग उनके पिता थे। उनकी माता का नाम पाहिनी था। उनका जन्म का नाम चांगदेव था। आठ वर्ष की अवस्था में चांगदेव ने चन्द्रगच्छ के मुनि देवचन्द्र सूरि के पास आर्हती प्रव्रज्या धारण की। चांगदेव बाल्यावस्था से ही अपूर्व मेधा सम्पन्न थे। कुछ ही वर्षों की संयम पर्याय में वे जैन-जैनेतर दर्शनों के पारगामी विद्वान बन गए। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं पर असाधारण आधिपत्य उन्होंने स्थापित किया। उन्हें सर्व-विध समर्थ और सुयोग्य देखकर श्रीसंघ ने उनको आचार्य पद प्रदान किया। आचार्य पदारोहण के समय उनकी अवस्था मात्र इक्कीस वर्ष थी। आचार्य पद प्रदान के समय गुरु ने उन्हें 'हेमचन्द्र' नाम प्रदान किया।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने नवनवोन्मेषी विपुल साहित्य संरचना तथा उपदेशों द्वारा उस युग की धारा

को बदल दिया था। उस युग का गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह आचार्य हेमचन्द्र के व्यक्तित्व और विद्वत्ता से विशेष प्रभावित था। उसके दरबार में आचार्य श्री को उच्चासन प्राप्त था। नरेश सिद्धराज की प्रार्थना पर ही आचार्य हेमचन्द्र ने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' नामक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ की प्रसिद्धि भारत भर में हुई। हाथी के होदे पर रखकर इस ग्रन्थ को नगर प्रवेश कराया गया था। तीन सौ लिपिकों ने इस ग्रन्थ की कई प्रतियां तैयार कर भारतवर्ष के सभी प्रमुख पुस्तकालयों में इसे पहुंचाया था।

आचार्य हेमचन्द्र ने विपुल साहित्य का सृजन किया। कहते हैं कि अपने जीवन काल में उन्होंने साढ़े तीन करोड़ श्लोकों की रचना की। उस युग में प्रचलित समस्त विषयों पर उन्होंने ग्रन्थों की रचना की। सिद्धहेमशब्दानुशासन, कोषग्रन्थ, काव्यानुशासन, छन्दोनुशासन, द्वात्रिंशिकाएं, द्वयाश्रय महाकाव्य, योगशास्त्र, प्रमाणमीमांसा, परिशिष्ट पर्व, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि ग्रन्थ विभिन्न विषयों के ग्रन्थ हैं। आज का विद्वद्वर्ग आचार्य हेमचन्द्र की सुविशाल और गहन साहित्य साधना पर चकित है।

आचार्य हेमचन्द्र की कृपा के फलस्वरूप ही सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु के पश्चात् कुमारपाल गुजरात के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। कुमारपाल आचार्य श्री का परम भक्त था और उनकी आज्ञाओं का पूरा सम्मान करता था। उसने अपना साम्राज्य आचार्य श्री के चरणों पर अर्पित कर दिया था। आचार्य श्री के कथन पर कुमारपाल ने गुजरात में अमारि की घोषणा की थी। संक्षेप में कहा जा सकता है कि आचार्य हेमचन्द्र का युग जैन धर्म के महान उत्कर्ष का युग था।

84 वर्ष की अवस्था में वी.नि. 1699 में आचार्य हेमचन्द्र का स्वर्गवास हुआ। —प्रभावक चरित्र

हेमचन्द्र मलधारी (आचार्य)

उत्कृष्ट आचार और प्रकृष्ट विचार के संवाहक एक जैन आचार्य। दीक्षा से पूर्व वे राजमंत्री के पद पर प्रतिष्ठित थे। उनकी चार पत्नियां थी। मंत्री पद और पत्नियों के बन्धन को तोड़कर हेमचन्द्र मलधारी अभयदेव सूरि के पास प्रव्रजित हो गए। प्रौढ़ावस्था में दीक्षित होने पर भी उन्होंने अध्ययन के क्षेत्र में काफी प्रगति की और आगम-आगमेतर साहित्य के पाठी बने।

आचार्य हेमचन्द्र की प्रवचन शैली काफी रोचक और प्रभावक थी। जब वे उच्च घोष पूर्वक प्रवचन करते तो राह चलते लोग रुक जाते और उनकी श्रोता परिषद् में आ बैठते। साहित्य सृजन के क्षेत्र में भी आचार्य मलधारी ने पर्याप्त सुयश अर्जित किया। उनके कई ग्रन्थ वर्तमान में भी उपलब्ध हैं।

पाटण नरेश सिद्धराज जयसिंह आचार्य श्री का परम भक्त था। उनके प्रवचनों में वह अक्सर उपस्थित रहता था। आचार्य श्री का स्वर्गवास सात दिन के अनशन के साथ समाधिपूर्वक हुआ। वे वी.नि. की 17वीं शताब्दी के मान्य आचार्य थे।

हैमवन्त कुमार

इनका समग्र परिचय गौतम वत् है। (देखिए-गौतम) —अन्तगडसूत्र, द्वितीय वर्ग, चतुर्थ अध्ययन

होलिका

वसंतपुर नगर के निवासी विप्र देवप्रिय की पुत्री। उसका जन्म शीतऋतु में हुआ था। शीतऋतु में अर्धपक्व धान्य को अग्नि में पकाकर खाया जाता है जिसे होला कहते हैं। होला के अवसर पर जन्म लेने से उक्त बालिका का नाम होलिका प्रचलित हो गया।

होलिका सात भाइयों की इकलौती बहन थी, इसी कारण उसे अत्यधिक लाड़-प्यार प्राप्त हुआ। वह बुद्धिमती भी थी। यौवन द्वार पर पहुंचते-पहुंचते वह स्त्री की चौंसठ कलाओं में पारंगत हो गई। पर अधिक लाड़-प्यार और दुःसंगति के कारण वह चारित्र भ्रष्ट हो गई। नगरजन देवप्रिय विप्र पर थू-थू करने लगे। विप्र ने गोपनीय विधि से ग्रामान्तर में होलिका का एक निर्धन विप्र-पुत्र से पाणिग्रहण कर दिया। पर पतिगृह में भी होलिका अपने स्वच्छन्दाचार के कारण अपमानित हुई। पति ने उसे तिरस्कृत करके निकाल दिया। वह पुनः पितृगृह में आ गई। पर उसका स्वच्छन्दाचार जारी रहा। विवश पिता ने उसे अपने घर से निकाल दिया।

होलिका अपने मित्रदल के साथ नगर के बाह्य भाग में रहकर दुराचार फैलाने लगी। नगर में उसका भारी अपवाद फैल गया। आखिर राजा के आदेश पर होलिका के घर को जला दिया गया। होलिका अपनी मित्र मण्डली सहित जल मरी। मरते हुए उसके मन में अपने दुराचार के प्रति ग्लानि का भाव उभरा। मरकर वह व्यंतरी बनी। उसने अवधिज्ञान में अपने मरण का कारण देखा तो वह वसंतपुर नगर पर रोषारुण बन गई। उसने देव-बल से नगर में महामारी फैला दी। नगरजन त्राहि-त्राहि करने लगे।

उसी अवधि में मुनि अरहंतार्य वसन्तपुर नगर में पधारे। उन्होंने वैर परम्परा और उसके दुष्परिणाम पर अपने प्रवचन में प्रकाश डाला। व्यंतरी होलिका को उससे सद्बुद्धि प्राप्त हो गई। उसने प्रायश्चित्त का एक विचित्र उपाय निकाला। उसने आकाशवाणी की – सकल प्रजा फाल्गुण मास में होलिका का प्रतीक निर्मित कर उसका दहन करे और उसके दहन पर उत्सव मनाए।

प्रजा ने आकाशवाणी को स्वीकार कर लिया। नगरजन स्वस्थ हो गए।

प्रतिवर्ष फाल्गुण मास में होलिका-दहन किया जाने लगा जो धीरे-धीरे एक परम्परा बन गया। आज भी होलिका दहन को भारत में एक त्यौहार की भांति मनाया जाता है, जो दुराचार के दहन का प्रतीक है। होलिका का प्रायश्चित्त आज तक जारी है।

होलिका का जीव व्यंतर भव से मुक्त होकर मानव-भव धारण करके अपनी मंजिल प्राप्त करेगा।

ही (आर्या)

इनका समग्र परिचय कमला आर्या के समान है। (देखिए-कमला आर्या)

–ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र, द्वि.श्रु., वर्ग 5, अ. 23

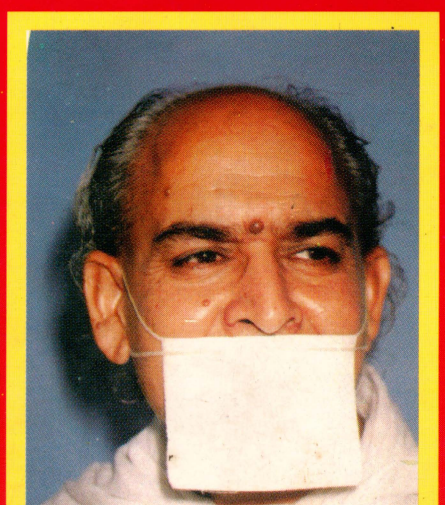

विद्यावाचस्पति गुरुदेव आचार्य श्री सुभद्र मुनि जी म०

'दर्शन और जीवन' परिचय-पंक्ति में अंकित नहीं हो सकता। ठीक इसी प्रकार कृति के सर्जक भी परिचय-पंक्ति की रेखाओं से ऊपर हैं। आचार्य श्री द्वारा रचित अनेक ठोस व चिंतन-प्रधान ग्रन्थ देख कर यह स्वतः प्रमाणित होता है कि वे दार्शनिक मुनि हैं। जीवन के व्याख्याता हैं। मुनित्व उनकी सांसें हैं। दर्शन, जीवन और मुनित्व की सम्पूर्ण व्याख्या का जो स्वरूप बनता है तो वह है - श्री सुभद्र मुनि।

इनकी दृष्टि परम उदार है, साथ ही सत्यान्वेषक भी। सत्यान्वेषण करते हुए इनकी दृष्टि में पर, पर नहीं होता। स्व, स्व नहीं होता। स्व-पर का परिबोध नष्ट हो जाना ही मुनित्व का मूलमंत्र है। स्व और पर युगपद हैं। 'पर' रहा तो 'स्व' अस्तित्व में रहता है। 'स्व' रहेगा, तब तक 'पर' मिट नहीं सकता। दर्शन जितना गूढ़, जीवन-सा सरस और मुनित्व के आनन्द में रचा है, इनका व्यक्तित्व। यह व्यक्तित्व जितना आकर्षक है उतना ही स्नेहसिक्त भी है।

व्यवहार में परम मृदु। आचार में परम निष्ठावान्। विचार में परम उदार। कटुता ने इनकी हृदय-वसुधा पर कभी जन्म नहीं लिया है। इनका सम्पूर्ण जीवन-आचार, दर्शन का व्याख्याता है।

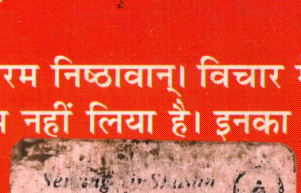

-संपादक